अनुक्रम

□

आचार्य उदयवीरशास्त्री मीमांसा-दर्शन के तीन अध्यायों का ही भाष्य कर पाये। इसे पूरा करने के उद्देश्य से स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती कृत 'षड्दर्शनम्' से मीमांसा-दर्शन के शेष अध्यायों के सूत्र तथा हिन्दी अनुवाद इसमें सम्मिलित कर दिये हैं।

भाष्यकार का निवेदन

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त, इन पाँच दर्शनों के भाष्य तथा सांख्यदर्शन का इतिहास एवं वेदान्तदर्शन का इतिहास और सांख्यसिद्धान्त, इन ग्रन्थों के प्रकाशित हो जाने पर मीमांसादर्शन का भाष्य लिखने का अवसर आया। मीमांसादर्शन का कलेवर अन्य पाँच दर्शनों के मिश्रित कलेवर से भी ड्योढ़ा है। मेरा अनुमान था कि परिश्रमपूर्वक लिखते हुए और ऐसे कार्यों में जो अनेक प्रकार की विघ्न-बाधायें आती रहती हैं उनको लाँघते हुए इस दर्शन का भाष्य लगभग आठ-नौ वर्ष ले लेगा। भविष्यत् का किसी को पता नहीं, फिर भी इस लम्बे और दुरूह कार्य को करने के लिए तत्पर हो गया।

प्रभु का ध्यान करते हुए एवं गुरुचरणों के आशीर्वाद की भावना से प्रेरित होकर दिनांक १४/२/१९८० को यह कार्य प्रारम्भ कर दिया। लगभग साढ़े पाँच वर्ष में जब-जब अन्य कार्यों से समय मिलता रहा, इसके लिखने में लगाता रहा। इतने समय में तीन अध्याय पूरे लिखे जा सके, जिनमें कुल मिलाकर १६ पाद हैं

मीमांसा के कलेवर के अतिरिक्त मेरे सामने बड़ी समस्या यज्ञ में आमिष के प्रयोग की रही है। जिन पशुओं के आमिष का प्रयोग यज्ञों में बताया जाता है, वे हैं अज, मेष और वशा। इनको हिन्दी में बकरा, मेढ़ा और गाय कहते हैं। जिस वातावरण में रहते हुए मैंने शिक्षा प्राप्त की, वहाँ यज्ञों में आमिष के प्रयोग को अतिनिन्दित कार्य माना जाता है। मेरे लिए यज्ञ में आमिष के प्रयोग की समस्या का समाधान अत्यन्त दुरूह था।

ईसवी सन् १९८४ में पानीपत आर्यसमाज का शताब्दी-समारोह आयोजित हुआ था। उसमें वैदिक श्रौत कर्मों के विशेषज्ञ विद्वान् महाराष्ट्र प्रदेश से आमन्त्रित किये गये थे। मुझे भी उस समारोह में उपस्थित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ। महाराष्ट्र के ये विशेषज्ञ कर्मकाण्डी विद्वान् युधिष्ठिर मीमांसक की प्रेरणा से बुलाये गये थे। शताब्दी के अवसर पर मीमांसक जी के सम्पर्क में उन विद्वानों के प्रमुख महानुभाव के साथ चर्चा करने का मुझे अवसर मिला। बातचीत के सिलसिले में उन महानुभाव से ज्ञात हुआ कि यज्ञ में आमिष का जो प्रयोग किया जाता है, उसकी मात्रा तीन-चार माशा या अधिक-से-अधिक छः माशा होती है।

आहुति देते समय आमिष से आठ गुना घृत स्रुवा में रखा जाता है। यह ज्ञात होने पर मेरी अन्तरात्मा में अचानक यह भावना जाग्रत हुई कि यदि इतना ही आमिष यज्ञ के लिए उपयोगी है तो इतने आमिष के लिए पशु को मारा क्यों जाता है ? क्योंकि इतना आमिष तो पशु को बिना मारे ही उससे प्राप्त किया जा सकता है। उन विद्वान् महोदय से तो मैंने उस समय कुछ नहीं कहा, पर मेरा विचार इस ओर को दृढ़ होता गया कि आमिष-आहार के प्रति उत्सुकता व लालसा की पूर्ति के लिए याज्ञिकों ने यज्ञ में आमिष की आहुति देने को निमित्त बना लिया। वैदिक अनुष्ठानों के प्रति सर्वसाधारण जनता में बड़ी उच्च भावना रही है। उन अनुष्ठानों को सम्पन्न करानेवाले याज्ञिकों के प्रति भी जनता का ऊँचा आदरभाव रहा है। याज्ञिकों ने अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए शास्त्रीय सन्दर्भों में ऐसे पदों का सम्मिश्रण किया और अनेक पदों के मनमाने अर्थ किये। यज्ञ के नाम पर की गई हिंसा को अहिंसा बताया।

इन तीन अध्यायों में यज्ञ में आमिष के प्रयोग की चर्चा सर्वप्रथम तृतीय अध्याय के छठे पाद के २७वें सूत्र से प्रारम्भ की गई है। यह उस पाद का सातवाँ अधिकरण है। सूत्रों की व्याख्या जो सूत्र-पदों और प्रसंग के अनुसार समझ में आई है, वह वहाँ लिख दी गई है। पहले व्याख्याकारों ने जिस प्रकार व्याख्या की है उसका विवेचन यहाँ प्रस्तुत है।

व्याख्यात अधिकरण में आचार्यों ने स्पष्ट आमिष का प्रयोग यज्ञ में निर्दिष्ट किया है। इसको 'पशुयाग' कहा गया है। प्रारम्भिक काल में पशुयाग का स्वरूप क्या रहा होगा, यह तो आज ज्ञात नहीं है, पर आज भी समस्त देशव्यापी कुछ संकेत ऐसे उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर प्रारम्भिक काल के पशुयाग के वास्तविक स्वरूप की झाँकी सुझाये जाने में सहयोग मिल सकता है।

शास्त्रीय पद्धति के अनुसार 'दर्श' याग अमावास्या के दिन अनुष्ठित किया जाता है। उसी के अन्तर्गत 'पशुयाग' है। समस्त भारत में पशुसम्बन्धी एक प्रथा है—कृषि तथा कृषि-सम्बन्धी अन्य कार्यों में जिन पशुओं का उपयोग किया जाता है, उनको प्रतिमास अमावास्या के दिन पूर्ण विश्राम दिया जाता है। इतना ही नहीं कि उस दिन उनसे कोई काम नहीं लिया जाता, प्रत्युत ऋतु के अनुसार उन्हें स्नान कराया जाता है, प्रत्येक अंग को मलकर पानी से धूल, गोबर आदि को धोकर साफ किया जाता है। सींगों व खुरों को तेल से चुपड़ दिया जाता है। माथे, पार्श्वभाग व पुट्ठों को रंग से चित्रित किया जाता है। कतिपय प्रान्तों में ग्राम की आबादी के अनुसार एक या अनेक समूहों में पशुओं का सम्मिलित जुलूस निकाला जाता या प्रदर्शन किया जाता है।

ये सब कार्य सर्वत्र एक-समान किये जाते हों, ऐसा तो नहीं है। कहीं सब व कहीं कुछ कम रहते हैं, पर पूर्ण विश्राम सर्वत्र समान है। आज यान्त्रिक काल में

यन्त्रों द्वारा कृषि किये जाने से इस प्रथा में कुछ ढील दिखाई देने लगी है, फिर भी कृषिजीव परिवार में यदि बैल हैं, तो इस प्रथा का आंशिक पालन अवश्य किया जाता है।

यह विशेष ध्यान देने की बात है कि समस्त भारत में एक ही दिन अमावास्या इस कार्य के लिए क्यों निर्धारित है ? क्या अमावास्या के दिन अनुष्ठित होनेवाले 'दर्श' याग के साथ तो इसका सम्बन्ध नहीं है ? शास्त्रीय पद्धति के अनुसार जिसके अन्तर्गत पशुयाग का किया जाना सदा मान्य रहा है। कदाचित् कहा जा सकता है कि अमावास्या मास का अन्तिम दिन होने के कारण कृषिसम्बन्धी पशुओं को विश्राम के लिए निर्धारित किया गया हो। पर यह ऐकान्तिक हेतु संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि उत्तर भारत में पूर्णमासी के दिन महीना पूरा माना जाता है, और उसी के आधार पर महीनों की गणना होती है। पर ज्योतिःशास्त्र के अनुसार मास की पूर्त्ति अमावास्या के दिन ही सर्वत्र मान्य है जो प्राकृतिक स्थिति के सर्वथा अनुकूल है। चन्द्र का एक कला से बढ़ना प्रारम्भ होना, पन्द्रह दिन में पूरा बढ़कर फिर एक-एक कला घटकर पन्द्रह दिन में फिर वहीं आ जाना, यह अमावास्या के दिन महीना पूरा होना है; और 'दर्श' याग के साथ उसका अटूट सम्बन्ध है। समस्त भारत में अमावास्या के दिन समान रूप से कृषिसम्बन्धी पशुओं के पूर्ण विश्राम की अज्ञात काल से प्रचलित निरन्तर परम्परा किसी भी विचारक को इस तथ्य की ओर आकृष्ट होने के लिए बाध्य करती है कि इसका सम्बन्ध प्राचीनकालिक पशुयाग से रहना सम्भव है।

उस समय पशुयाग का स्वरूप क्या रहा होगा ? आइये, उसे समझने का प्रयास किया जाय। मीमांसाशास्त्र में यज्ञिय पशुओं को तीन भागों में बाँटा गया है— १. अग्नीषोमीय; २. सवनीय; ३. अनुबन्ध्य। इनके विषय में यथाक्रम विचार करना आवश्यक है।

१. अग्नीषोमीय— अग्नि और सोम दो देवताओंवाला पशु। पहले समझना है, अग्नि और सोम देवता क्या हैं ? शास्त्रों में देवताओं के विवेचन की लम्बी चर्चा उपलब्ध है, पर प्रस्तुत प्रसंग में सारभूत जो समझा है, वह इस प्रकार है— अग्नि द्युलोकस्थित सूर्य और भूमि के अन्तर्गत विद्यमान ऊष्मा का प्रतीक है। सोम अन्तरिक्ष में विद्यमान चन्द्रमा और भूमिगत जल तथा ऋतु-अनुसार बरसने वाले जलों का प्रतीक है। ये देवता समस्त ओषधि-वनस्पति के प्राण हैं, इन्हीं के आधार पर ये उत्पन्न होतीं, पनपतीं और फूलती-फलती हैं। इनको साथ लेकर ये देवता कृमि-कीट से लेकर विशाल प्राणियों तक सबके जीवनाधार हैं।

ओषधि-वर्ग में वे पौधे आते हैं, जो प्रतिवर्ष अंकुरित होते, फूलते-फलते और नष्ट हो जाते हैं। जंगलों में पैदा होनेवाली जड़ी-बूटियाँ और मानव द्वारा खेतों में बोकर तैयार किये जाने वाले समस्त अन्न ओषधि-वर्ग में आते हैं। जो एक बार

अंकुरित होकर पनपाते, बढ़ते और वर्षों तक फूलते-फलते रहते हैं, वे वनस्पति-वर्ग में आते हैं। इन सबको अविरत बनाये रखने का आधार अग्नि और सोम देवता हैं।

इन देवताओं से सम्बद्ध यज्ञ निरन्तर अनादि काल से चल रहा है, आगे भी इसका कहीं अन्त नहीं है। अचिन्त्य शक्ति प्रभु ने इस प्राकृत जगत् की रचना यज्ञ-रूप में की है। मानव का इसमें कहाँ स्थान है ? इसके लिए गीता (३।१०–१२) के निम्न श्लोक देखिये—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥

प्रजापति ने आदिकाल में यज्ञों के साथ प्रजाओं की रचना करके कहा, इस यज्ञ के द्वारा उत्पन्न करो सब जीवन-साधनों को; यह यज्ञ तुम्हारी अभिलषित कामनाओं को सदा पूरा करनेवाला होवे ॥१०॥

इस यज्ञ से देवों का सत्कार करो; वे सत्कृत देव जीवन-साधन देकर तुम्हारा सत्कार करें। इस प्रकार एक-दूसरे से सम्बद्ध रहते हुए परम कल्याण को प्राप्त करो ॥११॥

यज्ञ से संस्कृत देव तुम्हें तुम्हारे अभिलषित भोगों को प्रदान करेंगे। उन देवों को कुछ भी न देकर जो उनके दिये भोगों का उपभोग करता है, निश्चित ही वह चोर है ॥१२॥

हमें चोर न बनने के लिए यह समझना है कि प्रजापति के द्वारा रचना किया गया यज्ञ क्या है ? यह निश्चित है, जो खाद्य अन्न आज हम प्रयोग में लाते हैं, आदिकाल से ही वह ऐसा रहा हो, यह बात नहीं है। प्राकृत व्यवस्थाओं के अनुसार जंगली रूप में इन अन्नों का प्रादुर्भाव हुआ, इनके प्रादुर्भाव में अग्नि और सोम देवता का पूरा सहयोग रहता है। यह प्रजापति द्वारा रचा गया यज्ञ है। मानव ने जब सर्वप्रथम आँखें खोलीं, और स्वभावतः क्षुधा-तृषा आदि से संतप्त हुआ, उसने क्षुधा आदि की निवृत्ति के लिए उपाय ढूंढ निकाला। ओषधियों और वनस्पतियों के फलों की परीक्षा कर शत-सहस्र वार्षिक यज्ञों से उन्हें जीवनोपयोगी उत्तम खाद्यों के रूप में तैयार किया। सैकड़ों, सहस्रों वर्षों तक कृषि द्वारा परीक्षण व अनुसन्धान करते हुए उन्हें वर्तमान स्थिति तक पहुँचाया। यह प्रजा (मानव) द्वारा किया जानेवाला यज्ञ है। अधिक समय तक चलनेवाले अनुष्ठानों का नाम मीमांसा में 'सत्र' कहा गया है। मीमांसा में जो शत व सहस्र वर्षों के

त्रों का उल्लेख हुआ है, वे यही मानवो द्वारा किये गये यज्ञ हैं। देवों और प्रजा-नों की यज्ञ-सम्बन्धी पारस्परिक भावनाओं से सुपरिपुष्ट कल्याणमय संसार बाध चल रहा है।

मानव-जीवन के सर्वप्रथम आवश्यक वस्तु अन्न-वस्त्र हैं। इनमें अन्न का पहला ीर वस्त्र का दूसरा स्थान है। यह निर्विवाद है, अन्न कृषि द्वारा तैयार किया ाता है। भारत देश अपने आदिकाल से कृषिप्रधान रहा है। वेद का उद्घोष है— **क्षैर्मा दीव्यः कृषिनित्कृषस्व'** (ऋ १०।३४।१३)—जुआ मत खेलो, कृषि का । आश्रय लो। इसका तात्पर्य व मुख्य उद्देश्य यह है कि आलसी बनकर श्रमहीन पायों से धन की आकांक्षा मत करो, कृषि आदि श्रमसाध्य उपायों का सदा ाश्रय लो, और धन-सम्पदाओं में रमण करो (**'वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः,** ऋ० १०।३४।१३)।

इस सब विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्राचीन भारत में हाँ के मूल निवासी आर्यों ने कृषि को जीवनोपयोगी सर्वोत्तम साधन माना। गत ंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है, अग्नि और सोम कृषि के देवता हैं। बीज भूमि ं पड़कर जल और ऊष्मा (सोम+अग्नि) के सहयोग से अंकुरित होकर भूमि के ऊपर को सिर निकालता है। आगे इन्हीं देवों के सहयोग से पनपता, फूलता-फलता अन्न में एक जीवनोपयोगी अनुपम सम्पदा को प्रस्तुत कर देता है।

अब विचारना यह है कि इन देवताओं का पशु कौन-सा है जो इस सम्पदा को उभारने में प्रधान सहयोगी है? यह किसी से छिपा नहीं, सर्वविदित वह पशु बैल है। बैल गाय से पैदा होता है, इसीलिए गाय को भारतीय संस्कृति में सर्व-श्रेष्ठ पूज्य पशु माना गया है। इसकी श्रेष्ठता व पूज्यता में जहाँ उसके दूध का स्थान है, उससे पहले उसके बछड़ों का स्थान है। वह कृषि-जीवन में रीढ़ की हड्डी की तरह है। गीता के अनुसार इन यज्ञों का अनुष्ठान परम कल्याण को प्राप्त कराता है। इसीके अनुसार कृषि-यज्ञ के आधार बैल को कदाचित् पौराणिक कल्पना में शिव (कल्याण) की सवारी बताया है। सवारी आधार और सवार आधेय होता है। तात्पर्य हुआ—सामाजिक कल्याण बैल पर आश्रित है।

मीमांसा के प्रस्तुत अधिकरण (७) में यह विचार किया गया है कि जो पशु-धर्म सुने जाते हैं, वे कौन-से पशु के लिए कहे गये हैं? क्या वे किसी एक अग्नी-षोमीय आदि पशु के लिए कहे हैं? या किन्हीं दो के लिए? (अग्नीषोमीय और सवनीय), अथवा सबके लिए (पहले दोनों में अनुबन्ध्य को मिलाकर)? निर्णय यह दिया गया है कि वे पशु-धर्म केवल अग्नीषोमीय पशु के लिए कहे गये हैं।

पशुधर्म से तात्पर्य है, यज्ञिय पशु के सम्बन्ध में यज्ञ के अवसर पर कर्तव्य-कर्म। वे निम्न रूप में कहे गये हैं—उपाकरण, उपानयन, श्लक्ष्णया बन्ध, यूप-

नियोजन, संज्ञपन, विशसन आदि'। इनके अर्थ निम्न प्रकार किये जाते हैं—

उपाकरण—मन्त्रोच्चारणपूर्वक हाथ से अथवा कुशाओं से पशु का स्पर्श करना 'उपाकरण' कहाता है। एक स्थान से अन्यत्र ले-जाते समय प्रायः प्रत्येक ले-जानेवाला व्यक्ति पशु के पीठ, पार्श्व, पुट्ठे, माथे या सिर आदि पर हाथ फेरता है। मानो उसे प्यार देता हुआ अगले कार्य के लिए प्रेरित करता है, इस साधारण लौकिक व्यवहार का वैदिक रूप उपाकरण है।

उपानयन—पशुशाला से यज्ञमण्डप की ओर पशु का लाया जाना 'उपानयन' है।

श्लक्ष्णया बन्ध—चिकनी मुलायम रस्सी से पशु के अगले दाहिने पैर, सींग या सींगों अथवा गर्दन में पशु को बाँधना। यह कार्य पशुशाला से चलते समय अथवा यज्ञमण्डप पहुँचकर किया जाता है।

यूपनिबन्धन—यज्ञमण्डप के समीप पशु को बाँधने के लिए स्थापित किये गये यूप (खूँटा) में पशु को बाँधना 'यूप निबन्धन' है।

पशु-सम्बन्धी ये कार्य लोक-वेद में समान हैं; एक स्थान से दूसरे पर ले-जाने के लिए ये क्रिया साधारण हैं। यहाँ प्रश्न है, यज्ञमण्डप में पशु क्यों ले-जाये जाते थे? आज के पशुमेलों की तरह तो इन्हें नहीं कहा जा सकता। आज के पशुमेले केवल पशुओं की बिक्री के लिए जुड़ते हैं। परन्तु उस समय के पशुयागों के प्रसंग में उनकी बिक्री का कोई संकेत नहीं मिलता। सुना जाता है, कभी और कहीं सरकार की ओर से ऐसा आयोजन होता है, जहाँ पशुओं के स्वास्थ्य के आधार पर उनमें प्रतियोगिता रक्खी जाती है और सुन्दर-सुपुष्ट पशुओं को पुरस्कृत किया जाता है। ऐसे आयोजनों को पशु-सम्बन्धी याग ही समझना चाहिए।

उस अति प्राचीन काल में जब समस्त समाज का जीवन-आधार मुख्य रूप से केवल कृषि-उद्योग था, उस समय पशु-सम्पदा की सुपुष्टि और सुरक्षा के लिए ऐसे आयोजनों का होना अधिक सम्भव है। ज्योतिष्टोम या सोमयाग आदि ऐसे ही आयोजनों के साथ इसे रक्खा जाता होगा, क्योंकि उन आयोजनों में समाज के सशक्त संचालक व्यक्ति भाग लेते थे, और सर्वसाधारण के लिए उन आयोजनों का द्वार खुला रहता था। आज समस्त भारत में अमावास्या के दिन कृषि-सम्बन्धी पशुओं को पूर्ण विश्राम देना, उन्हें नहलाना, धुलाना, सजाना उसी तरह के पशु-याग का संकेत देता है। उसीका यह खण्डरात समझना चाहिए। इसे तात्कालिक पशुयाग की रूप-रेखा का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

अभी तक की चर्चा से यह जाना कि अग्नीषोमीय पशु बैल है, उपाकरण

---

१. 'उपाकरणम्, उपानयनम्, श्लक्ष्णया बन्धः यूपे नियोजनम्, संज्ञपनम्, विशसनमित्येवमादयः' —शाबरभाष्य।

आदि धर्म उसीके विषय में बताये गये हैं। इससे यह युक्त प्रतीत होता है कि कृषि-जीवी समाज का यह प्रिय एवं प्रधान पशु था। क्या यज्ञमण्डप में ऐसे पशु को मारने के लिए लाया जाता था ? यह कदापि सम्भव नहीं है। अगली पंक्तियों से स्पष्ट होगा कि अन्य पशु-धर्मों का स्वरूप उस समय क्या रहा होगा। आज के भारतीय कृषिजीवी परिवार के—अमावास्या के दिन पशु-सम्बन्धी व्यवहार से जाना जाता है कि उस काल का कृषिजीवी परिवार अपने पशुओं को नहला-धुलाकर, सजाकर उस अवसर पर लाता था, उसमें प्रथम स्थान बैल का, दूसरा स्थान भेड़, बकरी आदि का, अन्तिम स्थान अन्य पशुओं का रहता था, जो केवल दूध देते, तथा बछड़े, बछिया व पठोरे जानवर। इनका विवरण मीमांसाशास्त्र के आधार पर अगली पंक्तियों में दिया गया है। वहाँ लाये गये सुपुष्ट-स्वस्थ पशुओं को पुरस्कृत किया जाता, व प्रशंसा एवं सत्कारपूर्वक विदा कर दिया जाता था। दुर्बल पशुओं के अंग-अंग की परीक्षा की जाती थी। उनकी दुर्बलता को दूर करने के लिए उपाय सोचे जाते, और उन्हें व्यवहार में लाने का पूरा प्रयास किया जाता था। इस प्रकार पशुओं के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए प्रतिमास उनको एकत्र कर स्वास्थ्य-परीक्षा की जाती थी।

यह उपाकरण आदि चार पशुधर्मों के विषय में संक्षिप्त विचार किया। बताये गये शेष पशु-धर्मों पर भी दृष्टि डालिए। शाबरभाष्य के अनुसार शेष पशु-धर्म नामोल्लेखपूर्वक दो बताये हैं— १. संज्ञपन, २. विशसन। आगे 'इत्येवमादयः' कहकर कुछ धर्मों को छिपाकर रक्खा गया है।

संज्ञपन—इस पद का अर्थ सभी व्याख्याकारों ने 'मारना' किया है। कोष-कारों ने बताया, यह पद 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'ज्ञा' धातु से णिच्-ल्युट् प्रत्यय होकर 'पुक्' आगम के साथ निष्पन्न होता है। पाणिनि के धातुपाठ में 'ज्ञा' धातु तीन अर्थों में पढ़ा है— 'मारण तोषण निशामनेषु ज्ञा', तीन अर्थ हैं—मारण, तोषण, निशामन; मारना, तुष्ट करना, दर्शन करना या अवलोकन करना। इतने अर्थों में 'मारना' अर्थ ही क्यों लिया गया ? सन्तुष्ट करना या दर्शन एवं अवलोकन करना अर्थ क्यों नहीं लिये गये ?

ज्ञात होता है, उस अति प्राचीन काल में—जो यज्ञों का प्रारम्भिक काल था—'ज्ञा' धातु का प्रयोग 'मारण' अर्थ में न होकर शेष दो अर्थों में ही होता था। जब उन नृशंस क्रूर रसनालोलुप याज्ञिकों ने जाँच-परीक्षा, दर्शन, अवलोकन के लिए आनेवाले पशुओं में से कतिपय पशुओं को धर्म के नाम पर आहुत करना और खाना प्रारम्भ कर दिया, तब इस धातु के अर्थों के साथ 'मारण' को भी जोड़ दिया गया। यज्ञ की वास्तविक भावना को उपेक्षित कर दिया गया। ये लोग समाज में प्रभावी थे, समाज ने उसको सहन किया। पर इस कुकृत्य का समय-समय पर विरोध बराबर होता रहा है। बौद्ध धर्म का उद्भव इसी कुकृत्य के प्रतिक्रिया-

रूप हुआ। इन्द्रियाँ बड़ी बलवान् हैं। वहाँ भी अब व्यवहार में इसका कोई महत्त्व नहीं है।

तात्पर्य है, 'संज्ञपन' पद के पुराने वास्तविक अर्थ—तोषण व निशामन को भुला दिया गया; पर पाणिनि ने उसे सुरक्षित रक्खा। इससे स्पष्ट होता है, अमावास्या का दिन इस कार्य के लिए निर्धारित था कि उस दिन के इष्टि अनुष्ठानों के अवसर पर स्थानीय पशुओं की—स्वास्थ्य आदि की दृष्टि से—परीक्षा, जाँच-पड़ताल की जाये, जिससे राष्ट्र की पशु-सम्पदा स्वस्थ व सुरक्षित रहे।

ऐसे अवसर पर पशु केवल प्रदर्शनार्थ आते थे या उचित कार्यवाही के अनन्तर वापस कर दिए जाते थे? इसकी सत्यता के लिए अमावास्या के दिन अनुष्ठित इष्टि का नाम प्रमाणरूप में उपस्थित किया जा सकता है। पूर्णमासी के दिन अनुष्ठित होनेवाली इष्टि का नाम तिथि-नाम के आधार पर पूर्णमासेष्टि है। इसी प्रकार अमावास्या के दिन अनुष्ठित होनेवाली इष्टि का नाम तिथि-नाम के आधार पर अमावास्येष्टि होना चाहिये था, पर ऐसा न होकर उसका नाम 'दर्श' है। यह नाम उस समय विशेष निमित्त से रक्खा गया ज्ञात होता है। वह निमित्त है, उस अवसर पर दर्शन-अवलोकन अर्थात् स्वास्थ्य आदि की जाँच-पड़ताल के लिए पशुओं को सामूहिक रूप में एकत्रित किया जाना। यह अर्थ 'संज्ञपन' शब्द के धातु 'ज्ञा' के निशामन अर्थ में अन्तर्हित है। आरम्भ-काल में इस पद का यही अर्थ था, और इसीके अनुसार व्यवहार होता था। अनन्तर-काल में अत्याचारी हत्यारे याज्ञिकों ने इन्द्रियों के दास बनकर पद के अर्थ को बदला, जो आज समझा जा रहा है। यदि इस सतर्क प्रमाण को सबल नहीं समझा जाता, तो शास्त्र के मर्मज्ञ आचार्य यह बतलाने की कृपा करेंगे कि अमावास्या के दिन होनेवाली इष्टि के 'दर्श' नाम का प्रवृत्ति-निमित्त क्या है? वह नाम भी पूर्णमासेष्टि के समान अमावास्येष्टि क्यों नहीं है?

यह पशुधर्म 'संज्ञपन' के विषय में विचार प्रस्तुत किया गया। इसके आगे पशुधर्म बताया—

विशसन—इसका अर्थ है—पशु के एक-एक अङ्ग को काटना। जब 'संज्ञपन' का अर्थ 'मारना' मान लिया गया, तो स्वभावतः उसके आगे यही पशुधर्म हो सकता है। वस्तुतः प्रारम्भ-काल में जब 'संज्ञपन' का अर्थ मारना न होकर पशुओं को सन्तुष्ट करना व प्रदर्शनार्थ एकत्रित करना था, तब 'विशसन' नाम के पशुधर्म का होना सम्भव ही नहीं था। इसका उद्भावन संज्ञपन पद का अर्थ बदले जाने के अनन्तर हुआ है। पशु के दर्शन अर्थात् जाँच-पड़ताल के अवसर पर जिस क्रिया का प्रयोग किया जाता था, उसके कुछ संकेत सवनीय पशु के आधुनिक विवरण में लक्षित होते हैं। उसके स्पष्टीकरण का प्रयास सवनीय पशु के प्रसंग

में किया गया है।

प्रारम्भ-काल में 'संज्ञपन' पशुधर्म के अनन्तर अन्य दो धर्म—'पर्यग्निकरण' और 'विसर्जन' माने जाते थे।

पर्यग्निकरण—इस पद का वास्तविक अर्थ क्या रहा होगा, आज स्पष्ट नहीं है। अनेक सुझाव विचार में आते हैं—(१) अमावास्या के दिन पशुओं को नहला-धुलाकर खूंटों पर बाँध, ऋतु के अनुसार—उन्हें डाँस-मच्छर आदि तंग न करें—उनके इधर-उधर अथवा उचित दिशा में आग जलाकर धुआँ आदि करना अथवा गरमी पहुँचाना पर्यग्निकरण रहा हो। २. यह भी सम्भव है, सरगर्मी से पशुओं के स्वास्थ्य की जाँच-पड़ताल का ही नाम 'पर्यग्निकरण' रहा हो। ३. विशेष निमित्त से यज्ञाग्नि के समीप उपस्थित होना 'पर्यग्निकरण' माना गया हो। आजकल जैसे रोगों के टीके व सूचीवेध के अनन्तर मालूम किया जाता है, कोई व्यक्ति टीके या सूचीवेध के बिना रह तो नहीं गया? इसी प्रकार उस काल में पशुओं के स्वास्थ्य की जानकारी के लिए प्रशासन की ओर से इस नाम पर सूचना प्राप्त की जाती हो कि स्थानीय पशुओं का पर्यग्निकरण नामकरण हो गया, या नहीं? कोई पशु पर्यग्निकरण से रह तो नहीं गया है? ये आधार अथवा इन जैसे अन्य कोई आधार उक्त के सम्भव हैं।

आज पर्यग्निकरण का स्वरूप—पशु को मारने से पहले घास के दो-चार तिनकों के अग्रभाग में आग लगाकर पशु के चारों ओर घुमा देना—समझा जाता है।

विसर्जन—'संज्ञपन' पद का 'मारण' अर्थ समझ लेने पर पशु के विसर्जन—छोड़े जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। मार देने पर छोड़ने का अवसर कहाँ रहा? हाँ, यह कहा जा सकता है कि उसे जीवन से छुड़ा दिया गया। वस्तुतः 'विसर्जन' पशुधर्म का स्वारस्य उसी अवस्था में सम्भव है, जब 'संज्ञपन' पद का अर्थ 'मारण' न कर तोषण व निशामन किया जाता है। जैसा कि पहले निर्देश किया किया जा चुका है, प्रारम्भ में 'ज्ञा' धातु के दो ही अर्थ थे। उनके अनुसार विसर्जन पशुधर्म का सामञ्जस्य उत्पन्न होता है। मारण अर्थ होने पर तो यह (विसर्जन पशुधर्म) मजाक ही है।

अभी तक अग्नीषोमीय पशु के विषय में विवरण प्रस्तुत किया गया। आचार्यों के निर्णयानुसार उपाकरण आदि पशुधर्म केवल अग्नीषोमीय पशु के लिए विधान किये गए हैं। सवनीय आदि पशुओं के प्रसंग में उनका निर्देशमात्र होता है। सवनीय पशु के विषय में विचार प्रस्तुत है।

सवनीय—यह प्रथम कहा जा चुका है ज्योतिष्टोम याग छह दिन में सम्पन्न होता है। पाँचवाँ दिन प्रधान सोमयाग के अनुष्ठान का है। वह तीन सवनों में किया जाता है—प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन, तृतीय सवन। इनमें जो पशु

उपस्थित होते हैं वे सवनीय कहे जाते हैं। अग्नीषोमीय पशु कौन-सा है ? इसका निर्देश किसी आचार्य ने नहीं किया। यदि किया हो, तो मुझे ज्ञात नहीं है। पर इस विषय के विशेषज्ञों से ज्ञात हुआ कि अग्निषोमीय पशु अज है। अब सवनीय पशु कौन-सा है ? इसका निर्देश उपलब्ध होता है। ये पशु मेष-मेषी एवं अज-अजा हैं, अर्थात् भेड़, बकरी, मेढा, बकरा। आचार्यों ने बताया—प्रातःसवन में वपा (चर्बी) की आहुति, माध्यन्दिन सवन में पुरोडाश की और तृतीय सवन में पशु के कटे हुए अङ्गों की। पुरोडाश तो अन्न से तैयार किया जाता है, पर चर्बी और पशु के कटे अङ्ग मेढ़े या बकरे के हो सकते हैं, क्योंकि सवनीय पशु ये ही हैं।

सवन की आहुतियों के विषय में सुझाव आता है। बाहर से आए इस स्तर के सब पशुओं की प्रातःकाल सावधानतापूर्वक स्वास्थ्य-आरोग्य की परीक्षा कर उनमें से मांसल तथा वपाबहुल पशुओं को इस आधार पर अलग छाँट दिया जाता था कि इनसे उत्तम ऊन प्राप्त हो सकता है। कालान्तर में इस वास्तविकता को वपा की आहुति के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। माध्यन्दिन सवन में पुरोडाश की आहुति का तात्पर्य है, बाहर से आये पशुओं को चारा देना। ये बाहर से आए हैं। पूर्वमध्याह्न में उनमें से सुपुष्ट पशुओं को छाँट दिया गया है। चारा लेकर दुर्बल पशु तृतीय सवनकालिक परीक्षा के लिए तैयार हो जाएँ, यह माध्यन्दिन सवन की आहुति का स्वरूप है। तृतीय सवन में दुर्बल पशुओं के प्रत्येक अंग की गहराई से परीक्षा की जाती थी कि अंग में कोई रोग तो नहीं है ? पशु दुर्बल क्यों है ? उसको हटाने के उपायों का पता लगाकर उन्हें व्यवहार में लाने का प्रयास किया जाता था। अंग-अंग की इस परीक्षा को अङ्गों की आहुति के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। यह ज्योतिष्टोम के पाँचवें दिन के पशुयाग का स्वरूप है।

तीनों सवन सवनीय पशुओं से कैसे सम्बद्ध होते हैं ? इसके लिए वचन है 'वपया प्रातःसवने प्रचरन्ति, पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने, अङ्गैस्तृतीये सवने' इसका तात्पर्य है कि 'वपा' से प्रातःसवन में होम करते हैं, पुरोडाश से माध्यन्दिन सवन में और अङ्गों से तृतीय सवन में।

'प्रचरन्ति' क्रियापद का अर्थ "होम करते या आहुति देते हैं।" यह अर्थ किस आधार पर किया जाता है ? इस प्रश्न का कोई सदुत्तर नहीं है। वाक्य के मूल ग्रन्थ का पूर्वापर-प्रसंग भी उक्त अर्थ करने में कोई अनुकूल सहायता नहीं देता।

वास्तविकता यह है कि यज्ञानुष्ठान के प्रारम्भिक काल में यह व्यवस्था निर्धारित की गई कि प्रति मास अमावास्या इष्टि के अवसर पर स्वास्थ्य व सुरक्षा आदि की जाँच-पड़ताल के लिए समस्त स्थानीय पशु यज्ञमण्डप के समीप एकत्रित किये जायें। "**वपया प्रचरन्ति**" का यही तात्पर्य है। 'वपा' पद नीरोग हृष्ट-पुष्ट

पशु का प्रतीक है। लोक में नीरोग पुष्ट व्यक्ति को देखकर मनोरंजन की भावना से कहा जाता है, चर्बी बहुत चढ़ गई है। चर्बी=वपा पद शारीरिक पुष्टि का प्रतीक माना जाता है।

पशुओं की जाँच-पड़ताल के लिए नियुक्त व्यक्ति 'वपा' प्रतीक से प्रचारित कराता है—घोषित करता है—ये "पशु स्वस्थ नीरोग हैं।" उन्हें छाँट दिया जाता है 'वपया प्रचरन्ति' का यही अभिप्राय है।

आगे वाक्य है—"पुरोडाशेन माध्यन्दिने प्रचरन्ति"। 'पुरोडाश' खाद्य अन्न का तैयार किया जाता है; पशु-मांस से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। यहाँ यह पद पशुओं के खाद्य अर्थात् चारे का प्रतीक है। तात्पर्य है कि माध्यन्दिन सवन के अवसर पर अर्थात् दोपहर के समय सब पशुओं को चारे पर बाँध दिया जाय, वे इधर-उधर बाह्य स्थानों से आये हुए हैं, भूखे हो सकते हैं। जिन दुर्बल पशुओं की जाँच-पड़ताल तीसरे पहर के बाद के अवसर पर होनी है उन सबको यथेष्ठ चारा दिया जाय। यह घोषणा 'माध्यन्दिने प्रचरन्ति' का अर्थ है।

सन्दर्भ का अन्तिम वाक्य है—"अङ्गैस्तृतीये सवने प्रचरन्ति"। जो दुर्बल पशु स्वास्थ्य-परीक्षा के लिए शेष रह गए हैं उनके प्रत्येक अंग के साथ सावधानता-पूर्वक जाँच कर अर्थात् गहराई से अंगों की परीक्षा कर उनकी दुर्बलता के कारण और उनकी निवृत्ति के उपायों की घोषणा की जाती है। यह "अङ्गैस्तृतीये सवने" का तात्पर्य है।

"कथं सवनानि पशुमन्ति" इस प्रश्न का उत्तर उक्त रीति पर "वपया प्रातः…" इत्यादि सन्दर्भ से दिया गया है। यदि 'वपा' का अर्थ अलग से निकाली चर्बी और 'अङ्गैः' का अर्थ 'पशुमांस' लिया जाता है, तो तीनों सवन पशुओं से सम्बद्ध नहीं हो पाते। 'माध्यन्दिन सवन' पशु-सम्बन्ध से रहित रह जाता है क्योंकि पुरो-डाश मांस से तैयार नहीं किया जा सकता; वह चावल या जौ का ही बन सकता है। जिन याज्ञिकों ने पवित्र यज्ञमण्डप में इस बूचड़खाने की स्थापना की, निःसन्देह वे धर्म के नाम पर घोर अधर्म व पापाचरण करनेवाले व्यक्ति थे। एक घोर पाप को पुण्य के रूप में संस्थापित करना अपने-आपमें ही महान् पाप है।

इन पशुओं को सामाजिक दृष्टि से यज्ञमण्डप में लाने का क्या प्रयोजन रहा होगा? यह तो आज पूर्णतः स्पष्ट नहीं है, पर 'अग्नीषोमीय' पशु के विवरण के अनुसार सवनीय पशु के विषय में भी कुछ सुझाव दिये जा सकते हैं। यह स्पष्ट है कि अग्नीषोमीय पशु बैल उत्तम स्तर का पशु माना जाता है। गाय की महत्ता का कारण श्रेष्ठ दूध के अतिरिक्त खेती के महत्त्वपूर्ण साधन बछड़ों का पैदा करना था। उसके बाद के स्तर में अर्थात् दूसरे स्तर पर भेड़-बकरी आदि पशु आते हैं। ये समाज को अनेक प्रकार से लाभान्वित करते हैं। सबसे पहला और महत्त्वपूर्ण इनका उपयोग ऊन की उपलब्धि है। साधारण दूधप्राप्ति के पश्चात्

उनका बड़ा उपयोग इनके मल-मूत्र का है, इससे अत्यन्त उपयोगी खाद तैयार किया जाता है जो भूमि की उर्वरा शक्ति को बढ़ाता है, न्यून नहीं होने देता।

अनुबन्ध्य–पशुओं का नम्बर अन्तिम छठे दिन आता है। अनुबन्ध्य पशु कौन-से हैं ? इसका कुछ संकेत प्रतीकरूप से शास्त्र में मिलता है। एक वाक्य है "मैत्रा वरुणीं वशामनु बध्यामालभते"—मित्र और वरुण देवतावाली वशा (गाय) का आलभन करता है, जो पशुओं के अनुबन्ध्य-वर्ग में आती है। इसे स्पष्ट करने के लिए "अनुबन्ध्य" पद का अर्थ समझना होगा। उपसर्ग व धात्वर्थ के अनुसार अर्थ होगा पीछे बँधा हुआ, तात्पर्य हुआ कि पशुओं का एक वर्ग जो पशुओं के बाद में आता है : पिछलग्गू वर्ग। पशु की दृष्टि से 'वशा' पद के दो अर्थ हैं—गाय और हथनी।

वस्तुतः वशा पर यहाँ शेष पशुमात्र का उपलक्षण है। पशुओं के पूर्वोक्त दो वर्गों से अतिरिक्त जो पशु रह गए उन सबको उपस्थित कर आलभन, प्राप्त होता है। यदि वशा का अर्थ केवल गाय लें तो यह प्रश्न दोनों अवस्थाओं के लिए उभर-कर सामने आता है कि गाय और अन्य श्रेष्ठ पशुओं को अन्तिम छठे दिन क्यों उप-स्थित किया जाता है ? उत्तर होगा—आलभन के लिए। तब पुनः प्रश्न उठेगा कि वशा का आलभन क्या मारना-काटना है ? या केवल स्पर्श करना ? यदि पहला है, तो क्या यह स्वीकार्य होगा ? यदि अर्थ दूसरा है, तो केवल स्पर्श करने का प्रयोजन बताना होगा।

प्रतीत होता है 'वशा' पद अवशिष्ट सभी पशुओं का उपलक्षण है। इनमें दूधवाली गाय, बाँझ गाय, दूधपीते बछड़े-बछियाँ, दूधछोड़े बछड़े-बछियाँ, पठोरे बैल, ऊँट, घोड़े, गधे, खच्चर, भेंस आदि सभी आ जाते हैं। इनके उपस्थित करने का प्रयोजन वही है, जो प्रथम दोनों वर्ग के पशुओं की उपस्थिति का बताया है। पर्यग्निकरण के पश्चात् इन्हें अपने-अपने स्थानों को वापस कर दिया जाता है। उन्हें मारने-काटने का कोई प्रश्न नहीं।

ज्योतिष्टोम के चौथे दिन अग्नीषोमीय पशु, पाँचवें दिन सवनीय, छठे दिन अनुबन्ध्य पशु यज्ञमण्डप के साथ स्वास्थ्य-परीक्षा-स्थान पर उपस्थित किये जाते हैं, जहाँ उन्हें बाँधने के लिए यूप स्थापित किये होते हैं। उपाकरण आदि पशुधर्म पूर्णरूप से केवल अग्नीषोमीय पशु के लिए विहित हैं, शेष के लिए उसीका अनुवाद होता है, वह भी आवश्यकतानुसार। जैसे सवनीय पशुओं के लिए तीसरे-चौथे पशुधर्म की आवश्यकता नहीं होती, दो व्यक्ति शब्द करते या डण्डी दिखाते इधर-उधर खड़े रहते हैं, तो ये पशु चुपचाप बीच में घिरे रहते हैं, इधर-उधर निकलने या जाने की कोई चेष्टा नहीं करते। इसलिए श्लक्ष्णया बन्ध या यूप-नियोजन की इनके लिए आवश्यकता नहीं होती। अनुवाद का यही फल है। यदि विधि हो, तो उसके अनुसार पूरा अनुष्ठान करना पड़ता है।

इस विवरण से निम्न परिणाम सामने आते हैं—

(क) आरम्भकाल में यज्ञानुष्ठान के अवसर पर पशु मारे नहीं जाते थे।

(ख) एक निर्धारित दिन अमावास्या इष्टि के अवसर पर स्वास्थ्य आदि परीक्षा के लिए पशुओं को एकत्रित किया जाता था।

(ग) उसी का अवशेष रूप—समस्त भारत में अमावास्या के दिन—कृषि-पशुओं को पूर्ण विश्राम देना पाया जाता है।

(घ) पशुसम्बन्धी ये सब भाव पशुओं के 'संज्ञपन' नामक धर्म में अन्तर्निहित हैं, जो 'संज्ञपन' पद के निर्वचन से स्पष्ट हैं।

यज्ञ में मांसाहुति देने का प्रथम प्रसंगविषयक विवेचन गत पंक्तियों में किया गया। इसी प्रकार का दूसरा प्रसंग तृतीयाध्याय के अन्तिम तीन सूत्रों (४२-४४) में मिलता है। उसका नाम 'शाक्यानामयनम्' बताया गया है। निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह प्रसंग पूर्णतया प्रक्षिप्त है। इसका स्पष्ट विवेचन उसी प्रसंग में कर दिया गया है। पाठक महानुभाव वहीं पर उसे देख सकते हैं।

यज्ञ में मांस के प्रयोग का विधान जब से प्रारम्भ किया गया, इसका विरोध भी तभी से बराबर होता रहा है। पर जिन व्यक्तियों के हाथों में यज्ञानुष्ठानों का सम्पन्न करना रहा, उन्हीं के द्वारा मांस का प्रवेश यज्ञों में किये जाने के कारण यह विचार प्रसार पाता रहा। लम्बी परम्परा से प्रचलित यह विचार प्रबुद्ध व्यक्तियों द्वारा विरोध होते रहने पर भी इतना परिपक्व हो चुका है कि समस्त हिन्दू समाज इसे धर्म का आवश्यक अंग मानता है। यह कैसी विडम्बना है कि जो स्पष्ट रूप से अधर्म और अनाचार है, उसे मान्य धर्म समझ लिया गया!

विरोध करनेवालों की संख्या नगण्य न होने पर भी यहाँ केवल मीमांसा-परम्परा के एक आचार्य भर्तृमित्र का उल्लेख करना चाहता हूँ कि—आमिष-प्रयोग को वह सर्वथा वेदविरुद्ध मानते थे। आचार्य भर्तृमित्र का अपने समय में मीमांसा के क्षेत्र में यह प्रयास सर्वथा ऐसा ही है, जैसा वर्तमान काल में महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का रहा। दोनों ने ही ज्योतिष्टोमादि यागों में आमिष-प्रयोग की उतनी ही कटु आलोचना की है, जितनी मृतक-श्राद्ध की।

विद्वज्जनों से आग्रह है कि वे इस दिशा में मीमांसापरक शाश्वत परम्पराओं को पुनरुज्जीवित करने के लिए अन्ध-परम्पराओं का समूलोच्छेद करें एवं यज्ञ जैसी पावन क्रियाओं का माहात्म्य जन-जन तक पहुँचाने का सत्प्रयास करें।

—उदयवीर शास्त्री

ओ३म्

अथ प्रथमाध्याये प्रथम पादः

आदिकाल से भारतीय समाज निष्ठापूर्ण रीति पर धर्म-प्राण रहा है। ज्ञान की नाना शाखा और समाज के विविध क्षेत्रों में किये गये धर्म-विषयक विवेचन से भारतीय वाङ्मय ओत-प्रोत है। महर्षि कणाद ने अपनी रचना वैशेषिक दर्शन के प्रारम्भिक सूत्र[1] द्वारा धर्म की व्याख्या करने का निर्देश किया है। महामुनि जैमिनि ने धर्म की सूक्ष्म रेखाओं तक विचार करने के लिए अपनी इस बारह अध्यायों में पूर्ण हुई विस्तृत रचना मीमांसाशास्त्र के प्रथम सूत्र[2] द्वारा धर्म-विषयक जिज्ञासा को उभारा है।

यहाँ पर यह स्पष्ट समझ रखना चाहिए कि कणाद के धर्म और जैमिनि के धर्म में अन्तर है। पहला वस्तु-धर्म का उपपादन करता है, जबकि दूसरे ने समाज-धर्म के विश्लेषण को अपना लक्ष्य बनाया है। कणाद के प्रतिपाद्य धर्म का स्पष्ट निर्देश भाष्यकार प्रशस्तपाद मुनि ने अपने प्रथम सन्दर्भ द्वारा इस प्रकार किया है—

प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिं कणादमन्वतः।
पदार्थधर्मसंग्रहः[3] प्रवक्ष्यते महोदयः॥

जैमिनि की भावना ऐसे धर्म का उपपादन करना नहीं है, यह स्पष्ट है। जैमिनि को उन धर्मों का विवेचन करना अपेक्षित है, जिनका निर्देश शास्त्रीय विधिवाक्यों [स्वाध्यायोऽध्येतव्यः, अग्निहोत्रं जुहुयात्, इत्यादि] द्वारा किया गया है। इसके अतिरिक्त मानवधर्मशास्त्र में धर्म के विविध लक्षणों, चिह्नों व स्वरूपों का वर्णन हुआ है।[4] अन्य धर्मशास्त्र भी इस दिशा में एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर

---

१. अथातो धर्मं व्याख्यामः।

२. अथातो धर्मजिज्ञासा।

३. वैशेषिक शास्त्र में—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय—पदार्थ गिने गये हैं, उन्हीं के धर्मों का संग्रह प्रस्तुत करना उक्त शास्त्र का लक्ष्य अथवा प्रतिपाद्य विषय है। उनके साधर्म्य-वैधर्म्य के आधार पर तज्जनित परिणामों का वहाँ विवेचन है।

४. द्रष्टव्य—मनुस्मृति २।१, १२॥ ६।९२॥ ४।२३८॥

दिखाई देते हैं। फिर भी इनमें आंशिक रूप से भी किसी विरोधी भावना को देखने का प्रयास करना अज्ञता का द्योतक होगा। ये सब विवरण, वाङ्मय की विभिन्न शाखाओं द्वारा समस्त विश्व व मानव-समाज की विविध परिस्थितियों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर एक-दूसरे के पूरक हैं। इनमें से किसी एक की भी उपेक्षा, पूर्ण यथार्थता की छवि को धूमिल करना होगा तथा उसको पाने में सबसे बड़ी बाधा। यदि इस तथ्य को अन्तस्तल तक समझ लिया जाता है, तो विश्व में वास्तविक शान्ति व सन्तोष के लिए अन्य कुछ अपेक्षित नहीं रह जाता। इन वास्तविकताओं को समझकर प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा अपने जीवन में उनका उतारना आवश्यक होता है। उसी दशा में इनके शुभ परिणाम सामने आते हैं।

(शंका) 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'—वेद का अध्ययन करना चाहिए, यह शास्त्र का विधान है। जिस विधि के फल का स्पष्ट निर्देश नहीं होता, उसका स्वर्गफल कल्पना कर लिया जाता है।[1] इसके अनुसार वेदाध्ययनमात्र से स्वर्गफल-प्राप्ति की सम्भावना होने पर ऐसे शास्त्र की रचना करना व्यर्थ है, जिसमें केवल उस धर्म का विचार किया गया हो, जिसका फल स्वर्ग की प्राप्ति है; क्योंकि वह वेदाध्ययनमात्र से सुलभ है।

आचार्य सूत्रकार ने इस महान् शास्त्र का प्रारम्भ करते हुए, उक्त शंका के समाधान की भावना से प्रथम सूत्र कहा—

अथातो धर्मजिज्ञासा ॥१॥

[अथ] अनन्तर (वेदाध्ययन के) [अतः] इसलिए (क्योंकि वेदाध्ययन का फल केवल अर्थज्ञान है, स्वर्ग नहीं, इसलिए) [धर्मजिज्ञासा] (धर्म को जानने की इच्छा के अनुकूल विचार प्रारम्भ किया जाता है)।

'अथ' पद उच्चारणमात्र से मांगलिक[2] माना जाता है। मांगलिक भावना को अभिव्यक्त करते हुए 'अथ' पद का अर्थ यहाँ आचार्यों ने 'आनन्तर्य' बताया है। स्वभावतः प्रश्न उठता है, किसके अनन्तर? उत्तर मिला, वेदाध्ययन के अनन्तर। केवल पाठमात्र का पारायण करना वेदाध्ययन नहीं है, प्रत्युत गुरुकुल में वास करते हुए गुरुमुख से अर्थ-ज्ञानसहित विधिपूर्वक वेद का अध्ययन 'वेदाध्ययन' माना जाता है। मीमांसाशास्त्र में यह व्यवस्था की गई है—यदि किसी विधि के फल का निर्देश नहीं किया गया है, तो उस विधि के अदृष्टफल [स्वर्ग] की कल्पना उसी अवस्था में की जानी चाहिए, जब उस विधि का कोई दृष्टफल सम्भव न हो।[3] अध्ययन-

१. अनुपदिष्टफलविधेः स्वर्ग एव फलमिति।

२. ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥ [कस्यचित्]

३. सम्भवति दृष्टफलकत्वे कस्यचिद्विधेरदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात्।

विधि का दृष्टफल वेदार्थज्ञान स्पष्ट है। अध्ययन वेदार्थज्ञान का साधन है, अतः 'वेदार्थज्ञान' अध्ययन का फल है। अध्ययन-विधि का तात्पर्य पाठमात्र का पारायण करना न होने से अध्ययन-विधि के फलरूप में स्वर्गफल की कल्पना करना अनुचित है।

वेदाध्ययन के अनन्तर शास्त्र में स्नातक[1] हो जाने का विधान है। स्नातक होने का तात्पर्य है—गुरुकुल-वास को छोड़कर गृहस्थधर्म में प्रवेश करना। ऐसी दशा में अध्येता व्यक्ति के सन्मुख यह संशयात्मक स्थिति आ जाती है कि वेदाध्ययन के अनन्तर व्यक्ति धर्मजिज्ञासा का विचार करे अथवा स्नातक होकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे ? यदि 'वेदमधीत्य स्नायात्' विधि के अनुसार गृहस्थाश्रम में व्यक्ति प्रवेश करता है, तो प्रस्तुत धर्मजिज्ञासा का विचार ध्वस्त हो जाता है। यदि धर्मजिज्ञासा में प्रवृत्त होता है, तो 'अधीत्य स्नायात्' विधि की बाधा होती है। इस संशयात्मक स्थिति का समाधान आचार्यों ने इस प्रकार किया है—

'अधीत्य स्नायात्' विधिवाक्य के 'अधीत्य' पद में 'क्त्वा' प्रत्यय का अर्थ आनन्तर्य नहीं है, जिससे उसका यह अर्थ समझा जाय कि वेदाध्ययन के तत्काल अनन्तर स्नातक हो जावे। तात्पर्य हुआ—शब्दार्थज्ञानपूर्वक जैसे ही वेदाध्ययन सम्पन्न हो, उसके तत्काल अनन्तर गुरुकुल-वास छोड़कर स्नातक हो जाना चाहिए, ऐसा अभिप्राय उस विधिवाक्य का नहीं है। 'क्त्वा' प्रत्यय पाणिनि-व्यवस्था [३।४।२१] के अनुसार 'पूर्वकाल' अर्थ में होता है। इसका तात्पर्य होता है—स्नातक होने से पूर्वकाल में किसी भी समय वेदाध्ययन सम्पन्न हो जाना चाहिए।

वस्तुतः शब्दार्थज्ञानपूर्वक वेद का अध्ययन केवल शाब्दिक जानकारी तक ही सीमित समझना चाहिए। शास्त्रीय कर्मानुष्ठान की प्रयोगात्मक पद्धति का ज्ञान उतने से सम्पन्न नहीं हो पाता। उसी जानकारी के लिए जैमिनि मुनि ने इस द्वादशाध्यायी मीमांसाशास्त्र का प्रारम्भ किया। अर्थज्ञानसहित वेदाध्ययन के अनन्तर शास्त्रीय यागादि कर्म की प्रयोगात्मक पद्धति को जानने के लिए मीमांसा-शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। वेदाध्ययन की पूर्ण सम्पन्नता के अन्तर्गत ही इसे समझना चाहिए। गुरुकुल में वास करते हुए ही यह समस्त अध्ययन पूर्ण किया जाता है। इसके अनन्तर स्नातक होने का विधान है। फलतः प्रस्तुत सूत्र के साथ 'वेदमधीत्य स्नायात्' विधि का कोई विरोध नहीं है।

सूत्र के 'धर्मजिज्ञासा' पद में धर्म' शब्द अधर्म का भी उपलक्षण समझना चाहिए। अपेक्षित वेदाध्ययनादि के अनन्तर कार्यक्षेत्र में प्रवेश करने के पूर्व जैसे धर्मजिज्ञासा आवश्यक है, वैसे ही अधर्म का जानना भी आवश्यक होता है। धर्म को जानकर उसे अपने जीवन में आचरणरूप से उतारना, व्यक्ति के लिए जैसे

---

१. वेदमधीत्य स्नायात्। [तुलना करें, मनु० ३।२॥]

अभ्युदय का साधन है, उसी प्रकार अधर्म को जानकर अपने आचरण में कभी न आने देना अभ्युदय में सहयोगी है। प्रस्तुत शास्त्र इन्हीं के विवेचन के लिए प्रारम्भ किया जाता है ॥१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, धर्मविषयक विचार प्रारम्भ किया जा रहा है; पर 'धर्म' क्या है ? यह तो बताना चाहिए ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥२॥

[चोदनालक्षण:] चोदना=नोदना=प्रेरणा, जिसका लक्षण—साधन एवं चिह्न है, ऐसा [अर्थः] अर्थ=शास्त्र प्रतिपाद्य अथवा बोधित विषय [धर्मः] धर्म है।

सूत्र में 'चोदना' पद-प्रवर्त्तक वाक्य अथवा विधि-वाक्य का निर्देशक है। जिससे कोई पदार्थ लक्षित हो, बोधित हो, अर्थात् जाना जाय, उसे लक्षण कहते हैं। जैसे धूम से अग्नि जाना जाता है, इस प्रकार धूम अग्नि का लक्षण है। इसे करण या साधन भी कहा जाता है। अग्निज्ञान का करण या साधन धूम है। जैसे अग्नि का लक्षण धूम है, ऐसे ही धर्म का लक्षण 'चोदना', प्रेरणा अथवा प्रवर्त्तक वाक्य है। प्रवर्त्तक वाक्य से धर्म लक्षित, बोधित होता है, जाना जाता है। इस प्रकार प्रवर्त्तक वाक्य से जाना गया 'अर्थ' धर्म का स्वरूप है। 'अर्थ' का तात्पर्य है—जिसमें सुख का आधिक्य हो, और वह दुःख का जनक न हो।

शास्त्रीय प्रवर्त्तक वाक्य में केवल ऐसा सामर्थ्य है, जो वह भूत, वर्त्तमान, भविष्यत् सूक्ष्मव्यवहित तथा दूरस्थित वस्तुतत्त्व का बोध करा सकता है; अन्य किसी इन्द्रिय आदि में ऐसा सामर्थ्य नहीं। यद्यपि अनुमान-प्रमाण तीनों कालों में सूक्ष्मव्यवहित आदि पदार्थ के ग्रहण करने में योग्य माना जाता है, परन्तु पुरुष-प्रयुक्त प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से होनेवाले ज्ञान में पुरुषगत भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा (लोभ) आदि के कारण प्रायः संशय की स्थिति बनी रहती है—वह ज्ञान सत्य होगा अथवा मिथ्या ? फलप्राप्ति पर ही उसकी सत्यता का निश्चय सम्भव है।[1] परन्तु वैदिक वाक्य अपौरुषेय होने से वहाँ भ्रम-प्रमाद आदि दोषों की सम्भावना न होने के कारण धर्म का यथार्थ ज्ञान तादृश वाक्य द्वारा ही सम्भव है।

सूत्र में 'अर्थ' पद का निर्देश एक विशिष्ट स्थिति का बोधक है। 'अग्निहोत्रं जुहुयात्, सोमेन यजेत' इत्यादि प्रवर्त्तक बौद्धिक वाक्यों के समान 'श्येनेव अभिचरन् यजेत'[2] भी प्रवर्त्तक वाक्य है। श्येनयाग हिंसाफलवाला है। यह अन्य की हिंसा

१. जैसे किसी ने किसी को कहा—नदी के किनारे वृक्ष पर पाँच फल लगे हैं, जाओ, ले आओ। यदि वह जाकर फल प्राप्त कर लेता है, तो यह पुरुषोच्चरित वाक्य यथार्थ है; अन्यथा मिथ्या होगा।

२. षड्विंश ब्राह्मण [३।८]।

करने के लिए किया जाता है, अतः व्याख्याकारों ने इसे 'अनर्थ' कहा है। यह अर्थ नहीं। अर्थ वह है, जो कर्त्ता पुरुष को निःश्रेयस=कल्याण, अतिशय सुखस्थिति के साथ जोड़ता है। श्येनयाग इससे विपरीत है। अतः प्रवर्त्तक वाक्य होने पर भी वह 'अर्थ' फलवाला न होने से 'धर्म' की सीमा में नहीं आता। इस प्रकार के अनर्थ-मूलक प्रवर्त्तक वाक्यों से बोधित तत्त्व धर्म न समझा जाय, इसीलिए सूत्र में 'अर्थ' पद का निर्देश किया गया है।

वस्तुतः अभिचार (शत्रु को मारने के लिए विशिष्ट यज्ञादि क्रियानुष्ठान) को वेद में कहीं भी कर्त्तव्य कर्म नहीं कहा गया। जो शत्रु को मारना चाहे, उसके लिए यह उपाय मात्र है; हिंसारूप होने के कारण वेदोक्त कर्त्तव्य से विपरीत है। वेद सर्वत्र अहिंसा को श्रेष्ठ कर्त्तव्य बताता है। इसलिए 'श्येन' आदि विधि लक्षित होने पर भी 'धर्म' नहीं माने जाते।

यद्यपि शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार यह वाक्यभेद नामक दोष माना जाता है, जहाँ एक ही वाक्य के परस्पर विपरीत दो अर्थ किये जायें। प्रस्तुत सूत्र एक वाक्यरूप है; उससे यह दो अर्थ निकालना कि 'ज्योतिष्टोम' धर्म है, तथा 'श्येन' अधर्म है, वाक्यभेद नामक दोष से दूषित है। दोष से बचने के लिए यह मानना चाहिए कि श्येन को भी धर्म स्वीकार किया जाय। इस विषय में आचार्यों ने व्यवस्था की है। उक्त दोष उन्हीं वाक्यों में माना जाता है, जिनका प्रतिपाद्य विषय (कथ्य अर्थ) केवल उन वाक्यों के द्वारा बोधित हो, अन्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से वह न जाना जाता हो। ऐसी स्थिति केवल वैदिक वाक्यों में सम्भव है, सूत्रगत वाक्यों में नहीं। सूत्रों में जो अर्थ कहा जाता है, वह अन्य प्रमाणों द्वारा अवगत होता है। अतः सूत्रगत वाक्य में उक्त दोष की उद्भावना निर्मूल है। ऐसे सूत्रों में यही समझना चाहिए कि वहाँ दो भिन्न[1] वाक्यों से कहे जाने वाले पूरे अर्थ का एकदेश कथन किया गया है।

इस विवेचन के अनन्तर भी यह स्पष्ट नहीं हुआ कि वह 'धर्म'-तत्त्व क्या है जिसका निर्देश इस सूत्र द्वारा किया गया? गोदोहन आदि द्रव्य तथा यागादि क्रियानुष्ठान को भी धर्म कहा जाता है, जो केवल उसके साधन हैं। मीमांसाशास्त्र में वस्तुतः उस धर्म को 'अपूर्व' पद से कहा गया है, जो प्रवर्त्तक वाक्य (चोदना) से लक्षित होता है। वह विभिन्न शास्त्रों में 'अदृष्ट' पद से भी कहा जाता है, जो 'धर्म' तथा 'अधर्म' रूप है। ज्योतिष्टोमादि से जन्य धर्म है, जो कर्ता पुरुष को कल्याण के साथ जोड़ता है। एवं श्येनादि से जन्य 'अधर्म' है, जो कर्ता को अकल्याण, अनिष्ट के साथ जोड़ता है। फलतः गोदोहन आदि द्रव्य तथा यागानुष्ठान

१. दो भिन्न वाक्य इस प्रकार निर्देश्य हैं—**चोदनालक्षण एव धर्मः, न इन्द्रियादिप्रमाणलक्षणः धर्मः। अर्थ एव धर्मः, न अनर्थो धर्मः।**

आदि क्रिया उस अपूर्वसंज्ञक धर्म के साधनमात्र हैं; साक्षात् धर्म नहीं। अतः इनके लिए धर्म पद का प्रयोग औपचारिक ही समझना चाहिए, मुख्य नहीं, क्योंकि गोदोहन आदि में फल-साधनता प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषय नहीं है, उसमें भी प्रवर्त्तक वाक्य (चोदना) ही प्रमाण है। गोदोहन आदि द्रव्य एवं यागानुष्ठान आदि क्रिया को धर्म क्यों कहा जाता है, इसका उपपादन आगे हुआ है। कुमारिल भट्ट ने इस सूत्र पर श्लोकवार्त्तिक[1] में लिखा है—

द्रव्य-क्रिया आदि धर्म हैं, इसकी स्थापना आगे की जाएगी। यद्यपि द्रव्य-क्रिया आदि इन्द्रियग्राह्य हैं, पर इन्द्रियग्राह्य होने के कारण उनको धर्म माना जाता हो, ऐसी बात नहीं है। द्रव्य-क्रिया आदि श्रेयः-साधन हैं, यह तथ्य सदा वेद से जाना जाता है। इसी आधार पर इनको धर्म माना गया है। इसलिए 'धर्म' इन्द्रिय आदि का विषय नहीं है। वह केवल वैदिक विधिवाक्य द्वारा बोधित होता है ॥२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, धर्म के अस्तित्व में प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाण प्रवृत्त होते हैं ? या नहीं ? इस संशय का समाधान होना चाहिए। समाधान की भावना से आचार्य सूत्रकार ने कहा—

तस्य निमित्त[2]परीष्टिः[3] ॥३॥

[तस्य] उस (धर्म) की [निमित्तपरीष्टिः] निमित्तविषयक परीक्षा (प्रारम्भ की जाती है)।

धर्मविषयक यथार्थज्ञान का निमित्त—करण अथवा साधन क्या है ? इसकी परीक्षा अवश्य होनी चाहिए। धर्म के अस्तित्व में केवल वैदिक विधिवाक्य प्रमाण है, अन्य प्रत्यक्षादि नहीं; इस सिद्धान्त की परिपुष्टि के लिए तर्क एवं उपयुक्त

---

१. द्रव्यक्रियागुणादीनां धर्मत्वं स्थापयिष्यते।
तेषामैन्द्रियकत्वेऽपि न ताद्रूप्येण धर्मता ॥१३॥
श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते।
ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः ॥१४॥

२. हलायुधकृत 'मीमांसाशास्त्रसर्वस्व' में सूत्रपाठ है—'तस्य निमित्तं परीष्टिः'। अर्थ किया है—धर्म का निमित्त—प्रमाण चोदना है, उसका परीक्षण इस पाद में किया जाता है। अर्थ में कोई विशेष भेद नहीं।

३. 'परीष्टिः' पद—'परि' उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक 'इष' धातु से 'भतेरनिच्छार्थस्य युज् वक्तव्यः' वार्त्तिक [ण्यासश्रन्थो युच् (३।३।१०७) सूत्र पर पठित] से 'युच्' प्रत्यय प्राप्त होता है। परन्तु इसी सूत्र पर आगे पठित—'परेर्वा' इस वार्त्तिक से वैकल्पिक 'क्तिन्' प्रत्यय होकर सिद्ध होता है।

सत्साधनों द्वारा विचार किया जाना अपेक्षित है।

वस्तुतः अभी तक यह केवल प्रतिज्ञारूप कहा है कि धर्म में प्रमाण, प्रत्यक्षादि न होकर केवल विधिवाक्य हैं। अब प्रसंगप्राप्त उसकी परीक्षा की जायगी कि उक्त कथन कहाँ तक युक्तियुक्त एवं सप्रमाण है ॥३॥

गतसूत्र में प्रतिज्ञात परीक्षा का प्रारम्भ करते हुए, धर्म के अस्तित्व में प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति का निषेध करने की भावना से सूत्रकार सूत्र का अवतरण करता है—

सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्, अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्[1] ॥४॥

[इन्द्रियाणाम्] इन्द्रियों का [सत्सम्प्रयोगे] विद्यमान वस्तु के साथ सम्प्रयोग–सम्बन्ध होने पर [पुरुषस्य] पुरुष को जो [बुद्धिजन्म] ज्ञान उत्पन्न होता है, [तत्] वह [प्रत्यक्षम्] प्रत्यक्ष है [अनिमित्तम्] कारण नहीं है (धर्म के जानने में) [विद्यमानोपलम्भनत्वात्] विद्यमान की उपलब्धि का कारण होने से।

चक्षु आदि इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष प्रमा के साधन हैं,[2] धर्मविषयक प्रमा के साधन होने में असमर्थ हैं। विद्यमान वस्तु का ही ग्रहण करने के कारण इन्द्रियाँ अपूर्व-संज्ञक धर्म के ग्रहण करने में अयोग्य हैं, क्योंकि धर्म का सद्भाव ज्ञानकाल में नहीं है। धर्मज्ञान में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति न होने से प्रत्यक्षमूलक अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों का भी धर्मज्ञान के प्रति साधनता का निराकरण हो जाता है।

प्रश्न होता है, ज्योतिष्टोम आदि यागानुष्ठान से पूर्व जब तक तज्जन्य अपूर्व (धर्म) उत्पन्न नहीं होता, तब तक उक्त प्रत्यक्ष प्रमाण की धर्मज्ञान में अयोग्यता का कहना युक्त है, परन्तु यागानुष्ठान के अनन्तर जब अपूर्व (धर्म) उत्पन्न हो जाता है, तब उसकी विद्यमानता सर्वस्वीकृत होने से धर्मज्ञान में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति होनी चाहिए। सूत्रगत हेतु (विद्यमानोपलम्भनत्वात्) से स्पष्ट है—प्रत्यक्ष से विद्यमान अर्थ की उपलब्धि होना शास्त्रकार स्वीकार करता है।

इसके उत्तर में जानना चाहिए, यागानुष्ठान-कर्त्ता आत्मा में अपूर्व (धर्म) उत्पन्न होता है। अन्य शास्त्रों में इसे धर्म-अधर्म, संस्कार, आशय आदि नामों से कहा गया है। यह एक सर्वमान्य शास्त्रीय व्यवस्था है–किसी एक आत्मनिष्ठ गुण या धर्म का प्रत्यक्ष अन्य किसी आत्मा द्वारा नहीं किया जा सकता। तब यागकर्तृ-आत्मनिष्ठ अपूर्व का प्रत्यक्ष अन्य किसी आत्मा द्वारा किया जाना अशक्य है।

---

१. रामेश्वर सूरि विरचित 'जैमिनिसूत्रवृत्ति' में पाठ है—**'विद्यमानोपलम्भात्'**।

२. तुलना करें, गौतमीय न्यायसूत्र, १।१।४, १४॥

यहाँ स्वभावत: प्रश्न होता है—क्या स्वयं यागकर्त्ता को स्वात्मनिष्ठ अपूर्व का प्रत्यक्ष हो जाता है ? उत्तर स्पष्ट है—नहीं होता। यागकर्त्ता को भी स्वात्मनिष्ठ अपूर्व का प्रत्यक्ष नहीं होता। अपूर्व बाह्य अथवा आन्तर इन्द्रिय द्वारा सर्वथा अग्राह्य है। अपूर्व पूर्णरूप से अतीन्द्रिय अर्थ है। अनुष्ठाता को भी यागानुष्ठान सम्पन्न हो जाने पर जो यह ज्ञान होता है कि मुझ आत्मा में यागजन्य अपूर्व धर्म उत्पन्न हो गया है, यह ज्ञान विधिवाक्य के बल पर ही होता है, याग सम्पन्न होने पर उत्पन्न होता हुआ अपूर्व कभी किसी को प्रत्यक्ष नहीं होता। विधिवाक्य आप्तोपदेश है, अत: धर्म केवल शब्दप्रमाण से बोधित या लक्षित होता है, फलत: द्वितीय सूत्र का कथन पूर्ण रूप से यथार्थ है।

इस विवरण के अनुसार प्रस्तुत सूत्रोक्त हेतु [विद्यमानोपलम्भनत्वात्] का यह अर्थ समझना होगा—इन्द्रियग्राह्य विद्यमान अर्थ की ही चक्षु आदि इन्द्रियों से उपलब्धि होती है, अतीन्द्रिय अर्थ की नहीं। विद्यमान भी अपूर्व अतीन्द्रिय होने से केवल चोदनागम्य माना जाता है।

प्रत्यक्ष लक्षण के विषय में प्रस्तुत सूत्र केवल इतना निर्धारण करता है कि इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष दोनों की विद्यमान अवस्था में ही सम्भव है, अविद्यमान अवस्था में नहीं। ज्ञान, अथवा ज्ञान का उत्पन्न होना या इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष आदि के अवधारण में सूत्र का कोई तात्पर्य नहीं है। इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष होने पर ही प्रत्यक्ष होता है, यह निश्चय करना ही सूत्र का तात्पर्य है। एक वाक्य अथवा कथन के द्वारा विविध विषयों का निर्धारण करने के प्रयास में वाक्यभेद होता है, जो शास्त्र में दोष माना गया है। वस्तुत: जब एक व्यक्ति 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य को पढ़ता है, उस समय ज्योतिष्टोम के अनुष्ठान से जन्य अपूर्वसंज्ञक धर्म अविद्यमान रहता है। अध्येता की यागानुष्ठान में प्रवृत्ति तबतक सम्भव नहीं, जबतक उसे यह निश्चय न हो जाय कि यागानुष्ठानजन्य धर्म उसको नि:श्रेयस् (स्वर्गसुख) के साथ संयुक्त कर देगा। इस निश्चय के लिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाण उस दशा में सर्वथा असमर्थ हैं, जैसा कि सूत्र द्वारा बताया गया। उस समय केवल उक्त विधिवाक्य यह निश्चय कराने में समर्थ है, यह निश्चय ही अध्येता को यागानुष्ठान में प्रवृत्त करता है। यागानुष्ठान के अनन्तर उत्पन्न धर्म, शब्देतर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ग्राह्य है, या नहीं ? इत्यादि प्रश्न का उभारना निष्प्रयोजन है ॥४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, धर्म के अस्तित्व में प्रत्यक्ष आदि प्रमाण स्वीकार नहीं किये जाते। शब्दप्रमाण भी इस विषय में कारगर दिखाई नहीं देता, क्योंकि शब्द और अर्थ की उत्पत्ति के अनन्तर—अमुक शब्द अमुक अर्थ का बोधक माना जाय, यह पुरुषकल्पित संकेत पर आधारित है। अत: शब्द की अर्थबोधकता पुरुष-कल्पना के अधीन होने से, पुरुषगत भ्रम-प्रमाद आदि दोषों के कारण—जैसे प्रत्यक्ष

ज्ञान शुक्तिकादि स्थल में व्यभिचरित हो जाता है, ऐसे ही—शब्दगम्य ज्ञान की सत्यता में व्यभिचार की सम्भावना हो सकती है। अतः धर्म में विधिवाक्य को भी निर्भ्रान्त प्रमाण माना जाना अयुक्त होगा। जो क्या यह मान लेना चाहिए कि धर्म के अस्तित्व में प्रमाण का सर्वथा अभाव है? आचार्य सूत्रकार ने कहा—ऐसा नहीं। क्योंकि—

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ॥५॥

[शब्दस्य] शब्द का [अर्थेन] अर्थ के साथ [सम्बन्धः] सम्बन्ध [तु] तो [औत्पत्तिकः] नित्य—नैसर्गिक है। [तस्य] उसके [धर्म के] [ज्ञानम्[1]], ज्ञान का साधन [उपदेशः] उपदेश (विधिवाक्य) है। [च] और उस (ज्ञानसाधन विधिवाक्य) का [अव्यतिरेकः] कभी विपर्यय नहीं होता। [तत्] वह विधिवाक्य [अनुपलब्धे] अनुपलब्ध—अतीन्द्रिय [अर्थे] अर्थ में [प्रमाणम्] प्रमाण है, [बादरायणस्य] बादरायण आचार्य के मत में, [अनपेक्षत्वात्] अन्य की अपेक्षा से रहित अर्थात् स्वतःप्रमाण होने के कारण।

सूत्र के 'औत्पत्तिक' पद का अर्थ व्याख्याकार आचार्यों ने 'नित्य' अथवा 'स्वाभाविक'[2] किया है। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि वैदिक वाक्यों का अपने उन-उन प्रतिपाद्य अर्थों के साथ शक्तिरूप[3] सम्बन्ध नित्य है। ये वाक्य त्रिकाल में भी उस अर्थ का व्यभिचार नहीं करते, अर्थ का अन्यथा बोधन नहीं करते। यद्यपि लोक में 'पर्वतो वह्निमान्' (पहाड़ में आग है) यह सुनकर भी, जब

---

१. यहाँ सूत्रगत 'ज्ञानम्' पद करणार्थक ल्युट् प्रत्ययान्त है—'ज्ञायतेऽनेनेति, ज्ञानम्' जिससे जाना जाय, अर्थात् ज्ञान का साधन।

२. ऐसा अर्थ आपाततः विपरीत प्रतीत होता है। व्याख्याकारों ने सुझाया—'उत्पत्ति' पद लक्षणा वृत्ति से 'स्वभाव' अर्थ को कहता है। जो स्वयं उत्पन्न न होकर अन्य की उत्पत्ति के लिए हितकर एवं अनुकूल हो, वह नित्य एवं स्वाभाविक ही होगा। अर्थ और शब्द का वाच्य-वाचकभाव नित्य सम्बन्ध शब्दोच्चारण द्वारा अव्यभिचरित अर्थबोध को उत्पन्न करता है। अथवा सर्ग के उत्पत्तिकाल से ही शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचक-सम्बन्ध नियत है। इसमें यह भाव अन्तर्हित है कि सर्गादिकाल में आदिमानव ब्रह्मा द्वारा वेदशब्दों से अर्थ के संकेतरूप में यह सम्बन्ध नियत किया गया हो। अतः 'औत्पत्तिक' पद का 'नित्य' अर्थ साधार है।

३. अमुक शब्द अमुक अर्थ के बोध न कराने में शक्त है, यह अर्थ और शब्द का वाच्य-वाचक-सम्बन्ध ही 'शक्ति' कहा जाता है।

तक श्रोता प्रत्यक्ष से आग न देख ले, उसकी सत्यता में सन्देह बना रहता है। इससे ज्ञात होता है, शब्द अपने प्रामाण्य के लिए प्रत्यक्ष आदि की अपेक्षा रखता है। यह स्थिति धर्मज्ञान में केवल विधिवाक्य को प्रमाण माने जाने के लिए चुनौती है। यहाँ भी सन्देह की सम्भावना बनी रह सकती है। तथापि सूत्रकार ने सूत्र में 'अनुपलब्धे अर्थे' पदों को रखकर इस सम्भावना का निराकरण कर दिया है।

लौकिक वाक्य में प्रतिपाद्य अर्थ इन्द्रियग्राह्य होने से, शब्द द्वारा अर्थ को जान लेने पर भी प्रत्यक्ष से जान लेने की उत्सुकता बनी रहती है, क्योंकि लौकिक वाक्य का प्रवक्ता पुरुष भ्रम-प्रमाद आदि दोषों से युक्त हो सकता है; वहाँ शब्द के अप्रामाण्य का सन्देह सम्भव है। परन्तु वैदिक विधिवाक्य जिस अर्थ का उपपादन करता है, वह शब्देतर प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सर्वथा अनुपलब्ध है; शब्द से अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण की प्रवृत्ति वहाँ सम्भव नहीं। अत: उस अर्थ को प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जानने की उत्सुकता का प्रश्न ही नहीं उठता। वैदिक वाक्य के अपौरुषेय होने से वहाँ भ्रम आदि दोषों की सम्भावना भी नहीं। इसी कारण धर्मज्ञान का साधन विधिवाक्यरूप उपदेश सदा अव्यभिचारी होता है। उसके प्रतिपाद्य अर्थ में कभी किसी प्रकार का विपर्यय नहीं आता। ऐसा वह विधिवाक्य अनुपलब्ध—अतीन्द्रिय अर्थ में प्रमाण है। वैदिक विधिवाक्यरूप शब्दप्रमाण की यह स्थिति बादरायण आचार्य को अभिमत है। क्योंकि वैदिक वाक्य अपने प्रामाण्य में अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखता; वह स्वत:प्रमाण है।[१]

उक्त तीन सूत्रों [३-५] की व्याख्या आचार्य उपवर्ष ने अन्य प्रकार की है। तीसरे सूत्र में 'न' का अध्याहार करके आचार्य का कहना है—धर्मज्ञान के निमित्त की परीक्षा नहीं करनी चाहिए। मीमांसा में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अभाव (अनुपलब्धि) ये छह प्रमाण स्वीकृत हैं, जो शास्त्र व लोक में प्रसिद्ध हैं। इन्हीं में एक 'शब्द' प्रमाण है; वैदिक विधिवाक्यों का उसी में समावेश है। सभी प्रमाणों का प्रामाण्य उनके यथार्थ प्रयोग पर आधारित है। प्रयोक्ता भी भ्रम, प्रमाद आदि दोषों से रहित होना चाहिए।

चक्षु आदि इन्द्रिय तथा अन्य प्रत्यक्ष साधनों के दोषपूर्ण होने पर प्रत्यक्ष का प्रामाण्य दूषित होगा। इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष न होकर प्रत्यक्षाभास ही होगा। अनुमान का प्रामाण्य, हेत्वाभास आदि दोषों से रहित होने पर मान्य होता है। उपमान का प्रामाण्य भी सदृश्यज्ञान में कोई दोष व न्यूनता न

---

१. वेदान्त ब्रह्मसूत्र के प्रारम्भिक तीसरे सूत्र 'शास्त्रयोनित्वात्' द्वारा बादरायण आचार्य ने यह स्पष्ट किया है कि अज्ञेय अतीन्द्रिय अर्थ के जानने के लिए नित्य वेदवाक्य ही प्रमाण माना जाता है, क्योंकि सर्वज्ञ सर्वशक्ति ब्रह्म वेदशास्त्र का उपदेष्टा है।

होने पर स्वीकार किया जाता है। शब्द के प्रामाण्य के लिए उसके उपदेष्टा का 'आप्त' होना आवश्यक है। जैसे लौकिक वाक्य का प्रामाण्य, उपदेष्टा के आप्त होने पर आधारित है, इसी प्रकार वैदिक वाक्य का उपदेष्टा परम आप्त परमेश्वर है; वहाँ भ्रम, प्रमाद आदि दोष की नितान्त सम्भावना नहीं। ऐसी दशा में धर्मज्ञान के निमित्त की परीक्षा करना आवश्यक होगा। आप्तोपदिष्ट वैदिक वाक्य उसका असंदिग्ध निमित्त है।

यहाँ जिज्ञासा होती है—'अग्निहोत्रं जुहुयात्'[1] अथवा 'ज्योतिष्टोमेन यजेत'[2] एवं 'कलञ्जं न भक्षयेत्' इत्यादि समस्त विधि-निषेध वाक्य ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के हैं, जिनके प्रवक्ता अस्मदादि सदृश मानव व्यक्ति हैं। यद्यपि वे उच्च कोटि के लोककर्त्ता पुरुषों में हैं, फिर भी उनमें भ्रम, प्रमाद आदि दोषों का होना सम्भव है, अतः धर्मज्ञान के निमित्त की परीक्षा होनी चाहिए।

इस विषय में आचार्य उपवर्ष के कथन का तात्पर्य है—शब्द का प्रामाण्य सर्वत्र उपदेष्टा की आप्तता पर निर्भर है। भले ही उक्त विधि-निषेध वाक्यों का उपदेष्टा परम आप्त परमेश्वर न हो, पर जो अतिमानव उपदेष्टा हैं, उनकी आप्तता में संशय व विश्वास, उनके प्रति अश्रद्धा व श्रद्धा होने पर निर्भर है। यद्यपि श्रद्धा, आप्तता व प्रामाण्य का निर्णायक नहीं; उस दशा में विधिवाक्यों द्वारा प्रतिपादित अर्थ का मूल परमेश्वरोक्त वेद में देखना होगा। जो अंश वेदानुकूल है, वह अर्थ होने से धर्म है; जो वेदानुकूल नहीं है, वह अनर्थ होने से अधर्म है। इसी आशय के आधार पर सूत्रकार जैमिनि ने पञ्चम सूत्र में बादरायण आचार्य की सहमति का उल्लेख किया है। फलतः धर्मज्ञान के निमित्त की परीक्षा करना निष्प्रयोजन है।

यदि ऐतरेय आदि ब्राह्मणों के मानव-प्रोक्त होने से उनमें भ्रमादि दोष के सम्भव होने के कारण उनके प्रामाण्य में सन्देह हो सकता है, तो उसके निवारण के लिए वेदमूलकता का आश्रय लिया जा सकता है? इससे उक्त विधि-निषेध आदि वाक्यों की प्रामाणिकता के लिए आप्तोक्त होने की रेखा परम आप्त परमेश्वर तक पहुँच जाती है। अतः उनका प्रामाण्य निर्भ्रान्त हो जाता है। तब धर्मज्ञान के निमित्त की परीक्षा करना व्यर्थ है; वह विधि आदि वाक्यों द्वारा असन्दिग्ध रूप में जान लिया जाता है, जो वाक्य 'शब्द' प्रमाण-रूप है, जिसे स्वीकृत छह प्रमाणों में गिना गया है।

आचार्य उपवर्ष के अनन्तर होनेवाले शबर स्वामी, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर आदि मीमांसकों को यह सन्देह सदा सताता रहा प्रतीत होता है कि यदि विधि-

---

१. कौशी० ब्रा० ४।१४॥ काण्ड सं० ६।७॥

२. तुलना करें, तां० ब्रा० १६।१।२॥

वाक्यों को आप्तोक्त माना गया, तो वे आप्त मानव हो सकते हैं, और मानव में स्वभाव-दौर्बल्य से भ्रम, प्रमाद आदि दोषों का उभरना अनायास प्राप्त है। ब्राह्मणादिगत विधिवाक्यों को परम आप्त परमेश्वरोक्त मानना सम्भव न था, अतः इन आचार्यों ने विधिवाक्यों के प्रामाण्य के लिए आप्तोक्तता के आधार को हटाकर, शब्द-अर्थ और उनके सम्बन्ध की नित्यता को आधार ठहराया, उसी के अनुसार प्रस्तुत सूत्रों का व्याख्यान किया जिसके लिए 'औत्पत्तिकः' पद का 'स्वाभाविकः, नित्यः' अर्थ करना उदाहरण है।[1]

शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध, तीनों को नित्य स्वीकार किये जाने से शब्द-प्रामाण्य के लिए आप्त प्रवक्ता की जड़ ही उखड़ जाती है। वैदिक शब्द नित्य है, उसका प्रेरिता या प्रवक्ता कोई नहीं। अर्थ, यह सब संसार है, शब्द के अर्थरूप में वस्तुमात्र का व्यवहार होता है। यह सब भी नित्य है। इस प्रकार वेद-शास्त्र का प्रेरिता व जगत् का स्रष्टा अमान्य हो जाता है। यह स्थिति सूत्रकार जैमिनि को अभिमत प्रतीत नहीं होती, क्योंकि इस मान्यता के अनुसार जैमिनि के उस लेख का विरोध होता है, जो उसने शब्द-प्रामाण्य के लिए प्रस्तुत सूत्र में बादरायण की सहमति का उल्लेख किया है। सहमति तभी सम्भव है, जब शब्दप्रामाण्य का आधार आप्तोक्तता को माना जाए। बादरायण ने वेदान्त के तृतीय सूत्र में ब्रह्म को शास्त्र (वेद) का योनि (कारण) माना है, जो उसके प्रामाण्य का आधार है। शबर स्वामी आदि मध्यकालिक आचार्यों ने इस तथ्य की उपेक्षा की है। इस विचार में ईश्वर का अस्तित्व भी अमान्य हो जाता है।

सर्ग के प्रारम्भिक काल में आदिपुरुष ब्रह्मा द्वारा वेद के शब्दों से वस्तुओं के नाम रक्खे गये; यह मनु ने अपने धर्मशास्त्र[2] में बताया है। इससे स्पष्ट होता है अमुक शब्द अमुक अर्थ (वस्तु) का बोधक हो, ऐसा संकेत सर्गादिकाल में निर्धारित किया गया। 'गो' पद अमुक प्राणी का वाचक हो; 'अश्व' पद अमुक का; इस प्रकार लोक व्यवहार की सिद्धि के लिए यह संकेत किया गया। इसी के अनुसार वाच्य-वाचकभाव-सम्बन्धरूप शक्ति 'पद' में निहित रहती है, जो पद का

---

१. हलायुधकृत 'मीमांसाशास्त्रसर्वस्व' की प्रस्तुत सूत्र-व्याख्या में सूत्र के 'औत्पत्तिकः' पद का अर्थ 'अनित्य' किया है। वहाँ का पाठ है—"…… **साधनार्थमिदं सूत्रम्। अस्यार्थः—औत्पत्तिकोऽनित्यः शब्दार्थसम्बन्धः तस्य धर्मस्य निमित्तं पूर्वसूत्रे समासान्तर्गतो निमित्तशब्द इहानुषज्यते।**' सम्भव है, यह पदप्राप्त अर्थ उपवर्ष की व्याख्या के अनुसार किया गया हो। शब्द को नित्य मानकर, अर्थ के साथ उसके सम्बन्ध को अनित्य मानने में कोई अनिवार्य बाधा नहीं है।

२. द्रष्टव्य—मनुस्मृति, १।२१॥

उच्चारण व दर्शन होने पर नियत अर्थ का बोध कराती है। शब्द के नित्य होने पर भी अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध संकेत-कृत है, अतः नित्य नहीं माना जाना चाहिए। यह आचार्य उपवर्ष का विचार है।

गत अधिकरण में शब्द, अर्थ और उनके परस्पर सम्बन्ध की नित्यता का कथन किया गया। परन्तु शब्द की नित्यता में आचार्यों का विसंवाद है। शब्द नित्य है, या अनित्य ? इसका निर्णय करने के लिए प्रस्तुत अधिकरण का प्रारम्भ किया। मीमांसा में 'शब्द अनित्य है' यह पूर्वपक्ष है, 'शब्द नित्य है' यह उत्तर पक्ष। प्रथम पूर्वपक्ष का उपपादन सूत्रकार ने प्रारम्भ किया—

कर्मैके तत्र दर्शनात् ॥६॥

[कर्म] किया गया, अर्थात् जन्य है (शब्द), [एके] कतिपय आचार्य ऐसा मानते हैं। [तत्र] शब्द की उत्पत्ति के विषय में [दर्शनात्] देखे जाने से (प्रयत्न के)। अथवा, शब्दोच्चारण के प्रयत्न के अनन्तर शब्द के [दर्शनात्] उपलब्ध होने से।

कतिपय आचार्यों का विचार है, शब्द उत्पन्न किया जाता है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति के लिए प्रयत्न किया जाना देखा जाता है।

शब्द दो प्रकार का है—वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। शब्द का पहला प्रकार मानव द्वारा उच्चरित होता है। आभिधानिक आचार्यों ने बताया— जब कोई व्यक्ति कुछ कहना या बोलना चाहता है, तब आत्मा बुद्धि द्वारा वाच्य अर्थों को विचारकर बोलने की इच्छा से अन्तःकरण मन को प्रेरित करता है, शरीर में हरकत करता है, उससे प्राणवायु प्रेरित होकर मुख के कण्ठ, तालु आदि स्थानों में टकराता हुआ यथाक्रम वर्णसमुदाय—शब्द के रूप में उच्चरित होता है।[1] आत्मा की इच्छा के अनुसार आन्तर और बाह्य करणों का यह समस्त प्रयत्नसाध्य व्यापार शब्दोच्चारणरूप में शब्द की उत्पत्ति को स्पष्ट करता है।

ध्वन्यात्मक शब्द मानवेतर प्राणी तथा घण्टा, वेणु, वीणा, मृदंग आदि के सहयोग से उत्पन्न हुआ माना जाता है। वर्णात्मक शब्द न होने की दशा में मानव-मुख द्वारा उच्चरित शब्द भी ध्वन्यात्मक माना जाता है। स्पष्ट है, यह दोनों प्रकार का शब्द प्रयत्नसाध्य देखे जाने से अनित्य है।

---

१. आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युंक्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूच्चरन् मन्दं ततो जनयति स्वरम्॥
—पाणिनीय शिक्षा (श्लोकात्मिका)

इस कारण भी अनित्य है—

अस्थानात् ॥७॥

[अस्थानात्] स्थिर न होने से।

उच्चारण से पूर्व शब्द उपलब्ध नहीं होता; उच्चारण के अनन्तर क्षणमात्र में नष्ट अथवा अनुपलब्ध हो जाता है। शब्द के विषय में यह कहना भी अनुपपन्न है कि वह विद्यमान रहता हुआ उपलब्ध नहीं हो रहा। क्योंकि विद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि में व्यवधान आदि कारण यहाँ कोई दिखाई नहीं देता, इसलिए अस्थिर (उत्पत्ति-विनाशशील) होने से शब्द को अनित्य मानना संगत है।

शब्द के अनित्य होने का अन्य कारण है—

करोतिशब्दात् ॥८॥

[करोतिशब्दात्] 'करोति' क्रियापद (शब्द) के प्रयोग से (शब्द के विषय में)।

घर बनाने के लिए जैसे लोक में 'घटं करोति' पदों का प्रयोग होता है, ऐसे ही शब्द के विषय में प्रयोग होता है—'शब्दं करोति'। 'कृञ्' धातु का अर्थ नव-निर्माण है; जो अब तक नहीं है, उसका नव-निर्माण, नवीन रूप में रचना। यह व्यवहार व प्रयोग अनित्य अर्थों के लिए नियत है। अतः शब्द को अनित्य मानना न्याय्य होगा।

इस कारण से भी शब्द अनित्य है—

सत्त्वान्तरे च[1] यौगपद्यात् ॥९॥

[सत्त्वान्तरे] अन्य पुरुष में (शब्द की) [च] और अथवा विभिन्न देश में [यौगपद्यात्] युगपत् अर्थात् समान काल में उपलब्धि होने से (शब्द अनित्य है)।

सूत्र में 'च' पद से 'देशान्तर' की पूर्ति कर लेनी चाहिए। विभिन्न देशों में अनेक व्यक्तियों को समानकाल में 'गाय ले आओ' (गामानय) आदि समान पदों की उपलब्धि होती है। मथुरा में देवदत्त ने अपने शिष्य को कहा—'गामानय'। उसी समय पाटलिपुत्र में यज्ञदत्त ने अपने पुत्र को कहा—'गामानय'। विभिन्न स्थानों में अनेक व्यक्तियों द्वारा उच्चरित शब्द की यह स्थिति शब्द के अनित्यत्व को सिद्ध करती है। शब्द को नित्य माननेवाले आचार्य लाघव के कारण शब्द के एकत्व को भी स्वीकार करते हैं। एक ही शब्द विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न स्थलों में एक-साथ प्रयुक्त हो, यह व्यवहार्य प्रतीत नहीं होता। उच्चरित एकदेशी

१. रामेश्वर सूरि विरचित 'सुबोधिनी' नामक जैमिनि-सूत्रवृत्ति के सूत्रपाठ में 'च' पद नहीं है।

शब्द में उत्कृष्ट (महत्) परिणाम की कल्पना निर्युक्तिक है। जो शब्द जहाँ उच्चरित होता है, वह अपने रूप में एक इकाई है। अनेक देशों में अनेक व्यक्तियों द्वारा समान काल में उच्चरित शब्द अनेक हो सकते हैं, एक नहीं। इसी कारण वे अनित्य हैं।

इस कारण भी शब्द अनित्य है—

प्रकृतिविकृत्योश्च ॥१०॥

[प्रकृतिविकृत्योः] प्रकृति-विकृति से [च] भी (शब्द अनित्य है)।

वर्णों एवं शब्दों में प्रकृति-विकारभाव देखा जाता है। जहाँ प्रकृति-विकारभाव है, वह निश्चित अनित्य है। जैसे सुवर्ण का विकार कुण्डल एवं मृत् का विकार घट आदि अनित्य हैं, वैसे ही 'दधि-अत्र' में 'दधि' के 'इ' का 'य्' विकार होकर 'दध्यत्र' प्रयोग होता है। यह विकार शब्द की अनित्यता का साधक है। प्रकृति-विकार में परस्पर सादृश्य देखा जाता है। सुवर्ण-कुण्डल, मृद्-घट, काष्ठ-यूप आदि में जैसे परस्पर सादृश्य है, इसी प्रकार 'इ' और 'य्' में दोनों का तालुस्थान होना, तथा स्पष्ट और ईषत्स्पृष्ट प्रयत्नरूप सादृश्य है। यह स्थिति इनके प्रकृति-विकारभाव को स्पष्ट कर अनित्यत्व को सिद्ध करती है ॥१०॥

अन्य वक्ष्यमाण कारण से भी शब्द अनित्य है—

वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य ॥११॥

[वृद्धिः] बढ़ोतरी है [च] और [कर्तृभूम्ना] कर्त्ताओं के बहुत होने से [अस्य] इसकी (शब्द की)।

शब्द उच्चारण करनेवाले बहुत व्यक्ति जब मिलकर एकसाथ उच्चारण करते हैं, तब एक व्यक्ति द्वारा किये गये उच्चारण की अपेक्षा सामूहिक उच्चारण में शब्द की वृद्धि—बढ़ोतरी—महत्ता अनुभव होती है; अर्थात् वह शब्द ऊँचे स्वर में सुनाई देता है। शब्द का इस प्रकार मन्द और तीव्र स्वर उसकी अनित्यता का साधक है। एकमात्र नित्य वस्तु मन्द भी हो और तीव्र भी, यह सम्भव नहीं।

उच्चारण-विषयक ऐसे सामूहिक प्रयत्न को शब्द का अभिव्यंजक नहीं माना जा सकता। क्योंकि अभिव्यंजक चाहे अल्प हो या महान्, वह अभिव्यङ्ग्य के स्वरूप को नहीं बदल सकता। घट आदि पदार्थ के अभिव्यंजक प्रदीप, चाहे एक हो, या सहस्र हों, घट का स्वरूप प्रत्येक दशा में समान दिखाई देता है। फलतः शब्द के उच्चारण में पुरुष का प्रयत्न शब्द का उत्पादक है, अभिव्यंजक नहीं। अतः शब्द को अनित्य मानना प्रमाणसिद्ध है। ऐसी स्थिति में शब्द-अर्थ के सम्बन्ध को नित्य नहीं माना जा सकता। इसके फलस्वरूप धर्मज्ञान में उसे निमित्त बताना प्रामाणिक न होगा ॥११॥

शब्द नित्यत्वाऽनित्यत्वविषयक इस महान् पूर्वपक्ष को उपस्थित कर सूत्रकार ने प्रतिसूत्र (प्रत्येक पूर्वपक्ष का सूत्रानुसार) समाधान प्रस्तुत किया—

समं तु तत्र दर्शनम् ॥१२॥

[समम्] समान है [तु] तो [तत्र] शब्द के विषय में प्रयत्न के अनन्तर [दर्शनम्] दर्शन-ज्ञान।

सूत्र में 'समम्' पद के बल पर 'मतद्वये' पद का तथा प्रयत्न के अनन्तर उच्चरित शब्द के—उच्चारण से पूर्व और पश्चात्—उपलब्ध न होने की स्थिति के अनुसार सूत्रार्थ की पूर्त्ति के लिए 'क्षणं' पद का अध्याहार अपेक्षित है। शब्द नित्य है, या अनित्य ? ये शब्दविषयक दो मत हैं। जो शब्द को नित्य मानते हैं, उनका कहना है कि शब्द का यह उच्चारण या क्षणमात्र उपलब्धि स्थायी शब्द की अभिव्यक्तिमात्र है। जैसे प्रकोष्ठ-स्थित घटादि स्थायी पदार्थ प्रदीपादि प्रकाशरूप साधन के उपस्थित होने पर अभिव्यक्त हो जाते हैं, और साधन के अभाव में पुनः अनभिव्यक्त हैं, इसी प्रकार विवक्षाजन्य कोष्ठ्य वायु को कण्ठ-तालु आदि के साथ अभिघातरूप साधन के उपस्थित होने पर स्थायी शब्द अभिव्यक्त हो जाता है, साधन के अभाव में अनभिव्यक्त रहता है।

जो आचार्य शब्द को अनित्य मानते हैं, वे प्रयत्न के अनन्तर उच्चारण आदि रूप में शब्द को उत्पन्न हुआ बताते हैं। उच्चारण से पहले उसका अभाव था, और उच्चारण के अनन्तर वह ध्वस्त हो जाता है, अर्थात् उच्चारण से पूर्व या पश्चात् शब्द का अस्तित्व नहीं है।

सूत्रकार का तात्पर्य है, उच्चारणरूप में शब्द का क्षणमात्र उपलब्ध होना—नित्य, अनित्य—दोनों पक्षों में समान है। उच्चारण को चाहे शब्द की उत्पत्ति माना जाय या अभिव्यक्ति, इससे शब्द की उपलब्धि में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अतः शब्द का क्षणिक दर्शन, दोनों मतों में से किसी एक का समर्थन नहीं करता। यदि सुपुष्ट प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया जाता है कि शब्द स्थायी है, नित्य है, तो शब्द के क्षणिक दर्शन को निश्चित ही शब्द की अभिव्यक्ति माना जायगा। इसी सन्दर्भ में पूर्वपक्ष के विपरीत तर्कों का समाधान आगे यथाक्रम प्रस्तुत है ॥ १२ ॥

सप्तम सूत्र द्वारा पूर्वपक्ष ने कहा, शब्द स्थायी तत्त्व नहीं है; क्योंकि उच्चारण के पूर्व और पश्चात् अनुपलब्ध है। सूत्रकार ने समाधान किया—

सतः परमदर्शनं[1] विषयानागमात् ॥१३॥

१. कुतूहलवृत्ति में 'परम्' पद का अर्थ 'युक्त' किया है। [सतः] विद्यमान शब्द का [अदर्शनम्] अदर्शन [परम्] युक्त है, उचित है। [विषयानागमात्] विषय—शब्द के साथ अभिव्यंजक (संयोग आदि) की अप्राप्ति (अनागम) के कारण।

[सतः] विद्यमान (शब्द) का [परम्] अभिव्यंजक प्रयत्न के पूर्वोत्तर काल में [अदर्शनम्] उपलब्ध न होना [विषयानागमात्] शब्दग्राहक श्रोत्ररूप विषय को प्राप्त न होने से होता है।

शब्द सदा विद्यमान है, स्थायी है। विवक्षा से प्रेरित अभिव्यंजक वायु के—कण्ठ, तालु आदि में—अभिघात से शब्द अभिव्यक्त हो जाता है। उच्चारणकाल में मुखगत वायु बाह्य स्तिमित (निष्क्रिय) वायु को धकेलता है, अर्थात् अभिघात से उसे सक्रिय कर देता है। अपनी सक्रियता की क्षमता के अनुसार शब्द की तरंग सब ओर फैलती चली जाती है। श्रोत्र द्वारा शब्द का ग्रहण होना शब्द की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार वायु के संयोग-विभाग, शब्द के दर्शन-अदर्शन में निमित्त हैं। जब अभिव्यंजक वायुसंयोग रहता है, शब्द प्रकट होता है, सुनाई देता है। जब वायुसंयोग नहीं रहता, तब विद्यमान भी शब्द सुनाई नहीं देता। अभिव्यंजक के न रहने पर उसके पूर्वोत्तर-काल में विद्यमान भी शब्द का अदर्शन रहता है, उसका प्रत्यक्ष नहीं होता।

संयोग आदि को शब्द का अभिव्यंजक मानने पर आशंका होती है—शब्द आकाश-देश माना जाता है, अर्थात् आकाश में शब्द की अभिव्यक्ति होती है। शब्द का ग्राहक श्रोत्र आकाशरूप है। आकाश सर्वत्र व्याप्त एक तत्त्व है। जो आकाश कर्ण-प्रदेश से सम्बद्ध है, वही समान रूप से सर्वत्र व्याप्त है। ऐसी दशा में शब्द की अभिव्यक्ति मथुरा में होने पर वह पाटलिपुत्र में भी सुनाई देना चाहिए, क्योंकि नित्यत्ववादी शब्द को नित्य एवं एक मानता है। तब एकत्र अभिव्यक्त शब्द सर्वत्र आकाश में सुनाई देना चाहिए।

इस आशंका के समाधान का संकेत प्रथम पंक्तियों में हो गया है। शब्द के अभिव्यंजक संयोग आदि की तथा वायु के वेग आदि की अपनी क्षमता सीमित है। जिस प्रदेश में अभिव्यंजक, शब्द को अभिव्यक्त करता है, उसकी क्षमता के अनुसार उतने प्रदेश में शब्द सुनाई देता है। दूरदेशस्थित श्रोत्र तक अभिव्यंजक संयोग आदि का सम्पर्क न हो सकने के कारण—वहाँ स्थित भी—शब्द अभिव्यक्त नहीं होता। अतः मथुरास्थित अभिव्यंजक का प्रभाव पाटलिपुत्र में भी हो, ऐसी कल्पना करना निराधार है॥ १३॥

अष्टम सूत्रोक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने किया—

प्रयोगस्य परम् ॥१४॥

[प्रयोगस्य] प्रयोग – उच्चारण के [परम्] तात्पर्यवाला है।

शब्द के साथ 'कृ' धातु के निर्देश का तात्पर्य केवल 'शब्द के उच्चारण' में है। 'शब्दं कुरु' का केवल यह अर्थ है—शब्द का उच्चारण करो। 'कृ' धातु का अर्थ केवल नवनिर्माण अथवा अभूत-प्रादुर्भावमात्र नहीं है। इस धातु को अनेक

अर्थों में विभिन्न[1] आचार्यों ने प्रयुक्त किया है। लोक में प्रयोग होता है—'गोमयान् कुरु' इसका अर्थ है—संवाहे गोमयान् एकत्रीकुरु—कुरड़ी (घूरे) पर गोबर को इकट्ठा करो। यहाँ 'कृ' धातु का अर्थ 'नवनिर्माण' न होकर 'एकत्रित करना' है। इसी प्रकार प्रस्तुत में 'शब्दं कुरु' का अर्थ शब्द का उच्चारण करना है, शब्द का निर्माण नहीं ॥ १४ ॥

नवम सूत्र द्वारा प्रस्तुत पूर्वपक्ष का सूत्रकार ने समाधान किया—

आदित्यवद्यौगपद्यम् ॥१५॥

[आदित्यवत्] आदित्य—सूर्य के समान [यौगपद्यम्] युगपत्—एकसाथ (अनेक देशों में) शब्द की उपलब्धि समझनी चाहिए।

देशान्तर-स्थित विभिन्न व्यक्तियों द्वारा समान काल में एक ही शब्द का उपलब्ध होना व्यवहार्य नहीं; यह आक्षेप निराधार है। सूर्य जब प्रातःकाल पूर्व दिशा में उदय होता है, तब पृथिवी के उस भाग पर बसे दूरस्थित विभिन्न व्यक्ति एक ही सूर्य को उस दिशा व देश में देखते हैं। सूर्य एक है, देश भी उसका एक है; उपलब्धा व्यक्ति व उपलब्धि के साधन अनेक हैं। इसी प्रकार शब्द एक है, शब्द का देश (आकाश) भी एक है। व्यक्ति व संयोग आदि साधन अनेक हैं। जैसे एक सूर्य अनेक देशस्थित व्यक्तियों द्वारा साधनों की विद्यमानता में युगपत् उपलब्ध होता है, इसी प्रकार एक महान् (आकाशव्याप्त) शब्द संयोगादि साधनों की विद्यमानता में दूर-स्थित विभिन्न व्यक्तियों द्वारा युगपत् उपलब्ध होता है। शब्द के अभिव्यंजक साधन जहाँ विद्यमान होंगे, शब्द उपलब्ध होगा। इसमें यौगपद्य बाधक नहीं हो सकता। न यह अव्यवहार्य है, और न शब्द के सतत सुनाई देते रहने की सम्भावना हो सकती है ॥१५॥

दसवें सूत्र द्वारा प्रस्तुत पूर्वपक्ष भी निराधार है। सूत्रकार ने बताया—

वर्णान्तर[2]मविकारः ॥१६॥

---

१. सूत्रकार जैमिनि ने स्वयं [४।२।६] सूत्र में 'कृ' धातु का प्रयोग 'आदान' (ग्रहण करने) अर्थ में किया है। व्याकरण महाभाष्य [१।३।१] में 'पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु' प्रयोग द्वारा 'कृ' का उपयोग 'निर्मल (शुद्ध) करने' अर्थ में किया है। ताण्ड्य ब्राह्मण [१३।३।२४] में 'मन्त्रकृत्' का अर्थ 'मन्त्रों के प्रयोक्ता' माना गया है। यहाँ 'कृ' धातु का अर्थ 'प्रयोग करना' है। लोक में 'रखना' अर्थ में भी 'कृ' धातु का प्रयोग देखा जाता है—'घटे कुरु, प्रकोष्ठे कुरु' इत्यादि।

२. 'शब्दान्तरम्' पाठा० रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनी वृत्ति।

[वर्णान्तरम्] एक वर्ण के स्थान में अन्य वर्ण का प्रयोग किया जाना [अविकारः] विकार नहीं है।

'दधि+अत्र' पद में 'इ' के स्थान में व्यवहार के लिए 'य्' का प्रयोग होना, वर्णों में प्रकृति-विकार-भाव का व्यवस्थापक नहीं है। आभिधानकों ने इसे विकार न मानकर 'आदेश' कहा है। एक वर्ण के स्थान में व्यवहारानुकूल अन्य वर्ण के प्रयोग की व्यवस्था आदेश है। इकार और यकार परस्पर सर्वथा भिन्न वर्ण हैं; कोई किसी का विकार या प्रकृति नहीं। जैसे मिट्टी से घड़ा, सुवर्ण से कुण्डल, वीरण नामक तृण (पनी नामक घास की जड़, जो 'खस' नाम से प्रसिद्ध है। यह दुमट किस्म की नमी की जगह में प्रायः पैदा होती है) से चटाई आदि बनाये जाते हैं, इनमें प्रकृति-विकारभाव है, वैसा वर्णों में नहीं।

शब्द को नित्य माननेवाले व्याकरणशास्त्र में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है।[1]

यह तो स्वाभाविक है; परन्तु शब्द को अनित्य माननेवाले न्यायशास्त्र में भी वर्णों के प्रकृति-विकारभाव की मान्यता को स्वीकार न कर आदेशपक्ष को सिद्धान्त माना है।[2] किन्हीं दो वस्तुओं का साधारण सादृश्य उनके परस्पर प्रकृति-विकारभाव का प्रयोजक नहीं होता। कूण्डे में रखे दही और बोइया में रक्खे माघी फूलों के उज्ज्वल श्वेतरूप सादृश्य को क्या उनके परस्पर प्रकृति-विकारभाव का साधक माना जा सकेगा? फलतः वर्णों में प्रकृति-विकारभाव की कल्पना कर शब्द की नित्यता पर जो आक्षेप किया गया, वह नितान्त निराधार है ॥१६॥

ग्यारहवें सूत्र द्वारा प्रस्तुत आक्षेप का सूत्रकार ने समाधान किया—

नादवृद्धिः परा[3] ॥१७॥

[नादवृद्धिः] नादविषयक वृद्धि—बढ़ोतरी है [परा] अतिशय अथवा अन्य।

---

१. महाभाष्यकार पतंजलि ने इस विषय पर चर्चा करते हुए सिद्धान्त बताया—

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षिपुत्रस्य पाणिनेः।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते॥ [१।१।२०]

पाणिनि के मत में पूरे एक पद के स्थान पर दूसरा पद आकर बैठ जाता है। यही आदेश है। पद के एकदेश में विकार मानने पर शब्द का नित्यत्व उपपन्न नहीं होता।

'दधि-अत्र' पूरे पद के स्थान पर 'दध्यत्र' पद का प्रयोग मान्य है।

२. द्रष्टव्य—न्यायदर्शन, सभाष्य [२।२।४०–५६]

३. रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनी व्याख्या के सूत्रपाठ में विसर्ग न होकर समासयुक्त 'नादवृद्धिपरा' पाठ है। शितिकण्ठ कृत 'सुबोधिनी' व्याख्या में दोनों पद पृथक् (नादवृद्धि : परा) रूप में पठित हैं।

सूत्र में दूसरा 'परा' पद पहले पद का विशेषण होने से स्त्रीलिंग में प्रयुक्त है। 'पर' पद के दो अर्थ प्रसिद्ध हैं—अतिशय और अन्य। ग्यारहवें आक्षेप में कहा गया है कि शब्द की मन्दता और तीव्रता, अथवा मृदुता और पटुता उसके अनेक व अनित्य होने के साधक हैं। सूत्रकार का उत्तर है, मृदुता व पटुता धर्म वर्ण अथवा शब्द के नहीं हैं। ये 'नाद' के धर्म हैं; उसी में वृद्धि अथवा वृद्धि का अतिशय रहता है, वर्ण अथवा शब्द में नहीं। एकत्रित होकर अनेक व्यक्तियों द्वारा उच्चरित वर्णों या शब्दों का प्रचय (ढेर) पटुता अथवा तीव्रता हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि शब्द निरवयव है; प्रचय उन्हीं वस्तुओं में सम्भव है, जो सावयव हों। शब्द ऐसा नहीं, अतः शब्द में प्रचय की कल्पना निराधार होने से पटुता या महत्ता उसका धर्म सम्भव नहीं।✓

सूत्रकार का कहना है—यह 'नाद' का धर्म है। 'नाद' क्या है? इसका विवरण व्याख्याकारों ने दिया—शब्द के अभिव्यंजक संयोग-विभाग जब निरन्तर किये जाते हुए शब्द को अभिव्यक्त करते हैं, तब वे (संयोग-विभाग) 'नाद' शब्द से कहे जाते हैं। तात्पर्य हुआ—जब अनेक व्यक्ति मिलकर शब्द उच्चारण करते हैं, अथवा भेरी (नगाड़ा) आदि को निरन्तर अभिहत करते हैं, तब उच्चारण के वे ही अनेक वर्ण व अनेक ध्वनियाँ कान के पूरे पर्दे को व्याप्त कर सुनाई देते हैं। पटुता-मन्दता (ऊँच-नीच), निरन्तर होनेवाले या न होनेवाले संयोग-विभाग का धर्म है। दोनों अवस्थाओं में वर्ण एक ही रहते हैं। 'गामानय' पद चाहे मन्द कहे जायें या तीव्र, इन पदों में कोई अन्तर नहीं आता; 'सुनाई देना, या सुनना' क्रिया में अन्तर हो सकता है, जिसका कारण व्यंजक की तीव्रता-मन्दता है।

जैसे प्रकोष्ठ में रक्खे घटादि पदार्थों में व्यंजक प्रकाश की मन्दता व तीव्रता से कोई अन्तर नहीं आता—'दिखाई देना या देखना' क्रिया में भले ही स्पष्टता व अस्पष्टता का अन्तर रहे, पर स्थायी घटादि में कोई अन्तर नहीं—ऐसे ही स्थायी शब्द सदा एक बना रहता है, उसमें मन्दता-तीव्रता आदि धर्म कभी नहीं होते। ये धर्म, शब्द के अभिव्यंजक संयोग[1]-विभाग के हैं, जो 'नाद' शब्द वाच्य हैं ॥१७॥

शब्द के नित्यत्व में ग्यारह आक्षेपों का समाधान कर सूत्रकार ने वक्ष्यमाण हेतुओं से शब्द को नित्य सिद्ध करने के प्रसंग में प्रथम हेतु प्रस्तुत किया—

---

१. मन्दता-तीव्रता शब्द के धर्म नहीं हैं, व्याख्याकारों ने इसमें शब्द की निरवयवता को हेतु बनाया है। परन्तु संयोग-विभाग भी निरवयव हैं। जो पक्ष शब्द को अनित्य मानता है, वह शब्द व संयोग आदि समान रूप से गुण कहता है। प्रत्येक गुण निरवयव है। सावयव केवल अनित्य द्रव्य होता है। निरवयव शब्द के धर्म मन्दता-तीव्रता न हों, निरवयव संयोग-विभाग के हों, इसमें कोई नियामक प्रतीत नहीं होता। यह विचारणीय है।

नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् ॥१८॥

[नित्यः] नित्य [तु] तो, अथवा—ही [स्यात्] है, शब्द [दर्शनस्य] उच्चारण के [परार्थत्वात्] परार्थ होने से।

शब्द का उच्चारण अन्य व्यक्ति को अर्थविशेष का बोध कराने के लिए किया जाता है। यदि शब्द अनित्य है, और उच्चारण के अनन्तर तत्काल नष्ट हो जाता है, तो अन्य को बोध कराने के लिए उच्चारण किया जाना ही व्यर्थ है; क्योंकि उस दशा में शब्द का उच्चारयिता अन्य को बोध कराने में असमर्थ रहेगा। यदि उच्चारण के अनन्तर भी शब्द रहता है, उसका नाश नहीं होता, तो अनेक बार उसके प्रयोग में आने से बोध कराया जाना तथा बोध होना युक्त है। शब्द को अनित्य मानने पर उसी शब्द के अनेक बार व्यवहार में अथवा प्रयोग में आने की स्थिति कभी नहीं आ सकती; क्योंकि उत्पन्नप्रध्वंसी (उत्पन्न होते ही नष्ट होनेवाला) शब्द उच्चरित होने पर प्रत्येक बार नया होता है। इसी कारण इस पक्ष में एक शब्द का अनेक बार प्रयोग सम्भव नहीं। न वह किसी अर्थ का बोध कराने में समर्थ है।

यह कहना भी युक्त न होगा कि बोद्धा आदि, उस शब्द के सदृश शब्दों का प्रयोग व व्यवहार अनेक बार पहले करते रहे हैं; इसके अनुसार अन्य को अर्थ का बोध कराने का प्रयोजन, शब्द को अनित्य मानने पर भी सिद्ध हो सकता है। शब्द का अर्थ के साथ सांकेतिक(कृत्रिम, किसी के द्वारा बनाया गया, संकेत किया गया) वाच्य-वाचकभाव-सम्बन्ध सादृश्यमूलक माने जाने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।

यह कथन इसलिए अयुक्त है कि शब्द-अर्थ का परस्पर सादृश्यमूलक सांकेतिक सम्बन्ध मानने पर, शाला-माला, सकल-शकल, सकृत्-शकृत आदि सदृश-पदों में व्यामोह (भ्रम) से वाञ्छनीय अर्थ का बोध कराना ही नष्ट हो जायगा।

गो पद के अपभ्रंश रूप 'गावी' आदि पदों से गाय प्राणी का यथार्थ बोध इन पदों की सादृश्यमूलकता पर आधारित नहीं है, प्रत्युत वक्ता 'गो' पद के स्थान पर 'गोवी' पद का प्रयोग करना अभिवांछित मानता है, तथा श्रोता व बोद्धा उसे उसी प्रकार समझता है। अनित्य शब्द मानने पर शब्द-अर्थ के कृत्रिम (सांकेतिक) सम्बन्ध तथा व्यवहार दोनों कार्यों का—उच्चारणरूप एकमात्र प्रयत्न से—किये जाने का कथन अन्याय्य होगा। फलतः शब्द तथा शब्दार्थ-सम्बन्ध को नित्य माने जाने पर 'ही'[1] शब्दोच्चारण अन्य व्यक्ति को अर्थ-बोध कराये जाने में

---

१. सूत्र में 'तु' पद का अर्थ कुतूहलवृत्ति में 'अवधारण' किया है (यु० मी०)। वस्तुतः 'तु' पद का यह तात्पर्य सम्भव है। गत सूत्रों से नित्य पक्ष में ग्यारह आक्षेपों का समाधान कर सूत्रकार अब शब्दनित्यत्व-पक्ष में स्वतन्त्र हेतु

सफल हो सकता है ॥१८॥

सूत्रकार ने शब्दनित्यत्व में दूसरा हेतु प्रस्तुत किया—

सर्वत्र यौगपद्यात् ॥१९॥

[सर्वत्र] सब गायों में (गो पद का उच्चारण किये जाने पर) [यौगपद्यात्] युगपत्—एक-साथ (गोमात्र का) ज्ञान हो जाने से।

किसी पद से उसके अर्थ का बोध होने के अनेक कारण होते हैं।[1] उनमें साधारण जन के बोध के लिए सर्वसुलभ साधन वृद्धव्यवहार है। बड़ों के परस्पर वार्तालाप के अनुसार सक्रिय व्यवहार के द्वारा, समीप बैठा या खेलता हुआ बालक बड़ों के द्वारा उच्चरित पदों के अर्थों को जान लेता है। 'गाय लाओ' कहने पर लाये हुए प्राणी को 'यह गाय है' तथा 'भैंस लाओ' अथवा 'घोड़ा लाओ' कहने पर लाये हुए प्राणी को 'यह भैंस है' अथवा 'यह घोड़ा है' इस प्रकार शब्द और अर्थ के नियत वाच्य-वाचक-सम्बन्ध को अनेक बार के व्यवहार से बालक जान लेता है।

इसमें रहस्य यह है—'गाय लाओ' कहनेवाले वक्ता का तात्पर्य 'गो' पद से गायमात्र का निर्देश करना नहीं है। यह भी नहीं है कि चाहे जिस गाय को ले आओ। यह निर्देश उस समय एक विशिष्ट गाय के लिए किया जाता है। परन्तु यहाँ भी 'गो' पद, समस्त गो-जातिरूप अपने अर्थ की अभिव्यक्ति को खो नहीं देता। यही कारण है—दो-चार बार उक्त वृद्ध-व्यवहार को देखने के अनन्तर बालक को फिर कभी यह बताने की आवश्यकता नहीं होती कि गोपद-बोध्य यह गाय है, घोड़ा नहीं है। वह बिना किसी के बताये संसार-भर की समस्त गायों को पहचानता है, और यह भी जानता है—इसका वाचक पद 'गो' है। इससे स्पष्ट है—'गो' पद व्यक्तिविशेष प्राणी को कहने के साथ 'समस्त जाति' रूप अर्थ को अभिव्यक्त करता है।

प्रस्तुत करना चाहता है। प्रसंग के प्रारम्भ में उक्त पद का प्रयोग शब्द की नित्यता के निश्चय का संकेत करता है। भाष्यकार (शबर स्वामी) ने प्रथम आक्षेप के समाधान में सूचित किया है—यदि शब्द की नित्यता सुपुष्ट प्रमाणों से निश्चित की जाती है, तो आक्षेपों के ये सब समाधान युक्तियुक्त होंगे, उसी का यह अवसर है। इस भावना से उक्त पद का तात्पर्य 'अवधारण' साधार है। सूत्र के 'स्यात्' क्रियापद को वर्तमानार्थक समझना चाहिए।

१. आचार्यों ने शक्तिग्रह (अमुक वाचक पद का अमुक अर्थ वाच्य है, इस) के ये कारण बताये हैं—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

यदि शब्द-अर्थ के इस सम्बन्ध को किसी व्यक्ति द्वारा किया गया कृत्रिम-सांकेतिक माना जाता है, तो वह संकेत अंगुलिनिर्देशपूर्वक किसी विशेष गोपिण्ड व्यक्ति के प्रति ही किया जा सकता है; जातिमात्र के प्रति ऐसा निर्देश सम्भव न होगा, अतः शब्द-अर्थ का यह सम्बन्ध नित्य-नैसर्गिक है, यही मानना न्याय्य है।

इस प्रसंग में यह भी ध्यान रखना चाहिए—यदि शब्द को अनित्य माना जाता है, तो संकेतकर्त्ता ने जिस पद का जिस अर्थ के साथ सम्बन्ध का संकेत किया, वह पद उच्चारण के अनन्तर नष्ट हो गया। तब सम्बन्ध का रहना भी सम्भव नहीं, वह भी नष्ट हो गया। तब प्रत्येक बार 'गो' पद के उच्चारण के साथ सम्बन्ध-संकेत किये जाने की आवश्यकता होगी, क्योंकि प्रत्येक उच्चारण पर पद सर्वथा नवीन होता है, जिसका अर्थ के साथ सम्बन्ध-संकेत कभी नहीं किया गया। इस रूप में लोक-व्यवहार ही नष्ट हो जायगा। इससे स्पष्ट हो जाता है, प्रत्येक बार में उच्चारण किया गया 'गो' पद एक ही है। 'स एवायं गकारः' अथवा 'तदेवेदं गोपदम्' इस प्रकार की निर्बाध प्रत्यभिज्ञा वर्णों एवं पदों के विषय में सर्वविदित है। लोक में सर्वसाधारण द्वारा भी प्रायः ऐसा व्यवहार होता देखा जाता है। सर्वत्र एकसाथ देखा जाता हुआ यह व्यवहार शब्द की नित्यता का साधक है॥१९॥

शब्द की नित्यता में सूत्रकार ने तीसरा हेतु प्रस्तुत किया—

संख्याऽभावात् ॥२०॥

[संख्याऽभावात्] संख्या के अभाव से (शब्द के साथ)।

एक व्यक्ति अपने साथी को कहता है— मैं प्रतिदिन प्रातः सौ बार गायत्री मन्त्र का जप करता हूँ। मन्त्र एक है, जो शब्दरूप है। सौ का सम्बन्ध 'जपना' क्रिया के साथ है, मन्त्र के साथ नहीं। मैंने आपको दस बार कहा है 'घर छोड़कर कहीं न जाओ'। यहाँ शब्द-समूह—वाक्य एक है; दस संख्या का सम्बन्ध 'कहना' क्रिया के साथ है। एक 'गो' शब्द को अनेक बार उच्चारण करने पर व्यवहार यही होता है कि गो शब्द अनेक बार कहा। यह व्यवहार नहीं होता है कि अनेक 'गो' शब्द कहे। इससे स्पष्ट होता है—शब्द स्थायी है, नित्य है। वही शब्द बार-बार उच्चरित होता रहता है। कोई भी शब्द अपने पूर्व-उच्चरित शब्द से भिन्न नहीं होता। साधारणजन भी यह जानते हैं, और व्यवहार भी ऐसा करते हैं, एक ही 'गो' शब्द बार-बार उच्चरित होता रहता है।

शब्द की इस एकता को सादृश्यमूलक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि प्रवक्ता व्यक्ति की जानकारी और व्यवहार में यह कभी नहीं देखा-सुना जाता कि प्रथम उच्चरित गो शब्द के सदृश यह गो शब्द उच्चारण किया जा रहा है; प्रत्युत जानकारी और व्यवहार यही रहता है कि यह वही गो शब्द है जिसको पहले

उच्चरित किया था। अतः शब्द की एकता को सादृश्यमूलक भ्रान्ति नहीं कहा जा सकता। वस्तुओं के भेद का प्रथम स्पष्ट ज्ञान होने पर ही भ्रान्ति हुआ करती है; परन्तु एक गो शब्द अन्य गो शब्द से भिन्न है, इसमें प्रत्यक्ष आदि कोई प्रमाण नहीं है।

एक बार गो शब्द का उच्चारण करने के अनन्तर जब कालान्तर में दुबारा उस पद का उच्चारण किया जाता है, तब स्पष्ट ही दोनों उच्चारणों के अन्तराल-काल तथा पूर्व और पश्चात् शब्द अनुपलब्ध रहता है। इस अनुपलब्धि का कारण, शब्द के अभाव को माना जाना असंगत होगा। कारणान्तरों से शब्द का स्थायी व नित्य होना सिद्ध है। स्थायी पदार्थ यदि एक समय किसी कारणवश उपलब्ध नहीं हो रहा, तो इतने मात्र से वह नष्ट हो गया, या उसका अभाव हो गया, ऐसा नहीं माना जा सकता। यदि कोई व्यक्ति अपने अन्य किसी मित्र से मिलने उसके घर जाता है, घर के पारिवारिक जन कारणवश कहीं बाहर गये हैं, वह उन्हें अनुपलब्ध पाता है। कुछ ही देर में वे वापस आ जाते हैं। तो क्या उनकी उस अनुपलब्धि से यह समझा जा सकता है कि वे नष्ट हो गये थे? और अब नये उत्पन्न हुए हैं? ऐसा कदापि नहीं समझा जा सकता। ठीक यही स्थिति शब्द के विषय में है। फलतः स्थायी एक शब्द का ही अनेक बार उच्चारण होता रहता है। शब्द के भिन्न न होने से शब्द में द्वित्त्वादि संख्या का अभाव है। एकत्व संख्या अखण्ड है, यह भेद की साधक न होकर बाधक है ॥२०॥

शब्द के नित्यत्व में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अनपेक्षत्वात् ॥२१॥

[अनपेक्षत्वात्] अपेक्षित—ज्ञान न होने से (शब्द के नाश का कारण)। शब्दनाश के कारण का ज्ञान न होने से शब्द नित्य है।

यह एक व्यवस्था है—जो पदार्थ उत्पन्न होता है, कालान्तर में वह नष्ट हो जाता है। परन्तु जिस पदार्थ को उत्पन्न होते हुए हम नहीं देख पाते, अर्थात् जिसकी उत्पत्ति को हमने नहीं देखा, ऐसे पदार्थ को देखकर उसके विनाश का निश्चय हो जाता है। नये वस्त्र को देखकर नितान्त ग्रामीण व्यक्ति भी यह जानता है कि धागों के सीधे-आड़े संयोग से यह कपड़ा बना है। संयोग के विच्छिन्न हो जाने पर अथवा धागों के टूट जाने पर यह कपड़ा नष्ट हो जायगा; यद्यपि उस व्यक्ति ने उसे उत्पन्न होते नहीं देखा। परन्तु इसके विपरीत, शब्द के विषय में यह किसी ने नहीं जाना कि ये शब्द के उत्पत्ति-कारण हैं, और इनके विनाश से शब्द का विनाश हो जायगा, शब्दविनाश के कारण उपलब्ध न होने से शब्द नित्य है, यह निश्चय होता है ॥२१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—शब्द के उत्पत्ति-विनाश के कारण उपलब्ध नहीं

हैं, यह कथन संदिग्ध प्रतीत होता है; क्योंकि आन्तरिक वायु उभरकर जब मुख के कण्ठ-तालु आदि स्थानों में अभिघात (संयोगविशेष) करता है, तभी शब्द का उच्चारण होता है। इससे स्पष्ट है—वायु का संयोग, शब्द की उत्पत्ति का तथा उसका अभाव अर्थात् वायु का विभाग, शब्द के विनाश का कारण है। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

प्रख्याऽभावाच्च योगस्य ॥२२॥

[प्रख्याऽभावात्] विशेष ज्ञान के अभाव से [योगस्य] योग=संयोग के। शब्द की अभिव्यक्ति में वायुसंयोग-विषयक विशेष ज्ञान (प्रख्या) के अभाव से यह जिज्ञासा उठी।

गत सूत्र की व्याख्या में व्याख्याकारों के विवरण के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि गत सूत्र में सूत्रकार ने—शब्द का कोई उपादान कारण मानने की दशा में—शब्द-विनाश का कोई कारण उपलब्ध नहीं, ऐसा कहा है। यह सर्वमान्य विचार है कि प्रत्येक कार्यवस्तु का कोई उपादान-कारण अवश्य रहता है, उसके नाश से कार्यवस्तु का नाश हो जाता है। इसी को अन्य तन्त्र के अनुसार जन्य वस्तु के समवायि-असमवायि-निमित्तकारण के रूप में कहा जा सकता है। गत सूत्र में सूत्रकार ने शब्द के उत्पत्ति-विनाश के समवायि-असमवायि कारणों की अनुपलब्धि का निर्देश किया है। तात्पर्य है, शब्द का न कोई समवायि कारण है, न असमवायि कारण। इसलिए समवायि-असमवायि कारण के नाश से शब्द के नाश का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी भावना से गत सूत्र में शब्दविनाश के कारण की अनुपलब्धि का निर्देश किया है। शब्द की अभिव्यक्ति में वायुसंयोग का योग-दान समवायि-असमवायि-कारणता के अन्तर्गत नहीं आता। शब्द के प्रति संयोग-साचिव्य की वास्तविकता को न समझकर जिज्ञासा की गई है, यह प्रस्तुत सूत्र से स्पष्ट किया है।

जिज्ञासु ने वायु एवं वायु-संयोग-विभाग को शब्द की अभिव्यक्ति में उपादान अथवा समवायि-असमवायि कारण समझकर जिज्ञासा की। उसी के अनुसार शिक्षाकार आचार्यों का प्रमाण उपस्थित किया—'वायुरापद्यते शब्दताम्'[1] वायु

---

१. शाबरभाष्य व अन्य व्याख्याओं में यह वाक्य उद्धृत है। मूल-स्थान का निर्देश नहीं दिया गया। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने वैदिक साहित्य से इसी आशय के अनेक सन्दर्भों का संकलन इस सन्दर्भ की टिप्पणी में किया है। ये शाबर-भाष्य हिन्दीरूपान्तर-सहित के पृष्ठ ७७ पर द्रष्टव्य हैं। प्राचीन आचार्यों के इन सन्दर्भों का तात्पर्य—शब्द की अभिव्यक्ति के प्रति वायु की निमित्तता प्रकट करना है। न ये सन्दर्भ पूर्वपक्ष के हैं, न इनका अभि-

शब्दभाव को प्राप्त हो जाता है। इससे प्रतीत होता है—शब्द वायु का परिणाम अथवा विकार है।

आचार्य सूत्रकार ने कहा—शब्द की अभिव्यक्ति के प्रति वायु एवं वायु-संयोग के योगदान की विशेष जानकारी की ओर ध्यान नहीं दिया। शब्द की अभिव्यक्ति में वायु एवं वायुसंयोग निमित्तकारण मात्र हैं, उपादान अथवा समवायि-असमवायि कारण नहीं। यदि ऐसा होता, तो शब्द वायु-अवयवों का संघटनमात्र (सन्निवेश विशेष) होता। परन्तु शब्द का ऐसा स्वरूप जाना नहीं जाता। कारण यह है—वायु का ग्रहण त्वक् (स्पर्शक) इन्द्रिय से होता है; यदि शब्द वायवीय होता, तो उसका ग्रहण त्वक् इन्द्रिय से होना चाहिए था। इसके विपरीत शब्द का ग्रहण श्रोत्र इन्द्रिय से होता है, जो नहीं होना चाहिए था। वायु का ग्रहण श्रोत्र इन्द्रिय से नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट होता है–शब्द वायु का विकार या परिणाम नहीं है। उसकी अभिव्यक्ति के प्रति वायु-निमित्तता की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इस सूत्र के कतिपय पाठभेद उपलब्ध हैं। रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनी नामक व्याख्या में 'प्रख्याभावाच्च योग्यस्य' सूत्रपाठ है। 'योग्य' पद का तात्पर्य है–श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा होनेवाले प्रत्यक्ष का विषय। शब्द का श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है। यदि शब्द को वायु का विकार माना जाता है, तो श्रोत्र इन्द्रिय से उसका ग्रहण न होगा। अतः शब्द वायु-विकार नहीं है।

कुतूहलवृत्ति में सूत्रपाठ है—'प्रेक्षाभावाच्च संयोगस्य'; अर्थ किया है—यदि शब्द वायुविकार हो, तो वायु-अवयवों का संयोग शब्द में दीखना चाहिए; जैसे तन्तुओं के विकार-पट (वस्त्र) में तन्तुओं का संयोग देखा जाता है। परन्तु वहाँ संयोग के (संयोगस्य) न देखे जाने से (प्रेक्षाभावात्) शब्द वायु का विकार नहीं है।

फलतः गत सूत्र में सूत्रकार का यह निर्देश कि शब्द के विनाश-कारण की अनुपलब्धि होने से शब्द नित्य है—सर्वथा यथार्थ है। कार्य का विनाश सर्वदा समवायि-असमवायि कारण के विनाश से होता है, जो शब्द में सम्भव नहीं; अतः शब्द नित्य है ॥२२॥

शब्द के नित्य होने में सूत्रकार ने प्रमाण का संकेत किया—

प्राय शब्द को वायु का विकार या परिणाम बताना है। वे सन्दर्भ इस प्रकार हैं—"वायुः रवात्। शब्दस्तत् (वाज० प्राति० १।६, ७) ऋक् प्रातिशाख्य (१३।१), तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (२।२), भर्तृहरि का वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड में—'वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते' (कारिका १०७), 'स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते' (कारिका १०८)।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२३॥

[लिङ्गदर्शनात्] लिङ्ग (प्रमाण) के देखे जाने से [च] भी (शब्द नित्य है, यह समझना चाहिए)।

ऋग्वेद [८।७५।६] में पाठ है—'वाचा विरूप नित्यया'; ऋचा के इस अंश में शब्दरूप वाक् (वाणी) को नित्य कहा है। इस सूक्त का ऋषि विरूप है। देवता अग्नि है। सूक्त का मुख्य प्रतिपाद्य विषय अग्नि का स्तवन अथवा वर्णन करना है। परन्तु प्रसंगवश वाणी=शब्द की नित्यता भी इससे सूचित हो जाती है। 'लिङ्ग' पद का तात्पर्य है— छिपे अर्थ को प्रसंगतः प्रकट करना—'लीनमर्थं गमयति बोधयति इति लिङ्गम्'। अग्नि-वर्णनपरक ऋग्वाक्य प्रसंगतः वाक्=उच्चारण-रूप शब्द की नित्यता का भी कथन करता है। अतः शब्द को नित्य मानना पूर्णतया प्रामाणिक है ॥२३॥ (इति शब्दनित्यताधिकरणम्—६)

अथ वेदस्यार्थप्रत्यायकत्वम्-अधिकरणम्—७

शिष्य जिज्ञासा करता है—शब्द तथा शब्द-अर्थ के सम्बन्ध को नित्य मानने पर भी विधिवाक्य (चोदना) को धर्म में प्रमाण माना जाना युक्त नहीं; क्योंकि पद और वाक्य परस्पर भिन्न होते हैं। पद ही वाक्य नहीं होता। फलतः एक पदमात्र के अर्थज्ञान से वाक्यार्थज्ञान नहीं होता। तब शब्द व शब्दार्थ-सम्बन्ध का का नित्य होना, विधिवाक्य से धर्मज्ञान की प्रामाणिकता को सिद्ध करना अशक्य होगा। आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

उत्पत्तौ वाऽवचनाः स्युरर्थस्यातन्निमित्तत्वात् ॥२४॥

[उत्पत्तौ] शब्द व शब्दार्थ-सम्बन्ध के औत्पत्तिक—नित्य माने जाने पर [वा] भी [अवचनाः] न कहनेवाले [स्युः] होते हैं (चोदनाः—विधिवाक्यसमूह, धर्मज्ञान के) [अर्थस्य] अर्थ—वाक्यार्थ के [अ-तन्निमित्तत्वात्] पदार्थनिमित्तक न होने से।

पदार्थज्ञान से वाक्यार्थज्ञान भिन्न है तथा पदार्थ, वाक्यार्थ का निमित्त नहीं होता; इसलिए पदार्थज्ञान होने पर भी चोदनारूप विधिवाक्य, धर्म की जानकारी देने में असमर्थ होंगे।

'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यह विधिवाक्य है। इसका अर्थ है—'स्वर्ग की कामना करनेवाला अग्निहोत्र होम करे'। विधिवाक्य का यह इतना अर्थ वाक्य के किसी एक पद—अग्निहोत्र, जुहुयात् या स्वर्गकाम—से अभिव्यक्त नहीं होता। इनके अतिरिक्त इस वाक्य में अन्य कोई चौथा पद या निमित्त नहीं है, जो वाक्यार्थ को प्रकाशित कर सके। यह विधिवाक्यरूप पदसमुदाय लोक में प्रयुक्त नहीं, जिससे वृद्धव्यवहार आदि द्वारा वाक्यार्थ-बोध हो सके। यद्यपि

अग्निहोत्र आदि पदों का पृथक् व्यवहार लोक में होता है। इसलिए समुदाय (चोदना वाक्य) का अर्थ किसी व्यक्ति द्वारा संकेतित माना जा सकता है, जो अनित्य है, एवं भ्रम आदि से ग्रस्त भी हो सकता है।

इसके अतिरिक्त केवल पद (गो, अश्व आदि) सामान्य अर्थ में प्रवृत्त होता है, तथा वाक्य (गामानय, अश्वं नय इत्यादि) की विशेष अर्थ में प्रवृत्ति देखी जाती है। इससे पद और वाक्य की परस्पर भिन्नता स्पष्ट होती है। फलतः पदार्थ वाक्यार्थ का बोध नहीं करा सकता; क्योंकि इनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि बिना ही सम्बन्ध के बोध कराना स्वीकार किया जाए, तब तो किसी एक पद का अर्थ जान लेने पर सबका बोध हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं। अतः पदार्थ से सर्वथा भिन्न है वाक्यार्थ, यह निश्चित समझना चाहिए। इसीलिए वाक्यार्थ को पदार्थ उत्पन्न हुआ नहीं कहा जा सकता। तब अगत्या वाक्यार्थ को कृत्रिम अर्थात् पुरुषविशेष द्वारा संकेतित माना जा सकता है। लोक में सभी पदसमुदाय पुरुषकृत देखे जाते हैं। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि विधिवाक्य भी सब पदसमुदाय हैं। अतः इन वैदिक वाक्यों को भी पुरुषकृत माना जाना उपयुक्त होगा।

रामेश्वर सूरि विरचित 'सुबोधिनी' व्याख्या में सूत्र के 'अवचनाः' पद के स्थान पर 'रचनाः' पाठ है। उसके अनुसार सूत्रार्थ होगा—[उत्पत्तौ] पदार्थज्ञान उत्पन्न हो जाने पर, वाक्य—वाक्यार्थ के सम्बन्ध [रचनाः] पुरुष द्वारा कल्पित [स्युः] होवें, अर्थात् हो सकते हैं, या माने जा सकते हैं। क्योंकि [अर्थस्य] अर्थ का, वाक्यार्थज्ञान का [अ-तन्निमित्तत्वात्] पदार्थज्ञान से भिन्न कोई अन्य निमित्त हो सकता है। पद और वाक्य परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। किसी अर्थ का बोध कराने में पद का अर्थ के साथ जो शक्तिसम्बन्ध है, वही शक्तिसम्बन्ध—वाक्यार्थ का बोध कराने में—वाक्य का अर्थ के साथ नहीं है, वह पुरुषकल्पित अन्य कृत्रिम सम्बन्ध ही माना जा सकता है। ऐसा विधिवाक्य धर्म में प्रमाण माना जाना उपयुक्त न होगा ॥२४॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त जिज्ञासा का समाधान किया—

तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात् ॥२५॥

[तद्भूतानाम्] उन-उन निश्चित अर्थों को अभिव्यक्त करने में समर्थ पदों का [क्रियार्थेन] क्रिया-वाचक पद के साथ [समाम्नायः] पाठ—संगत उच्चारण देखा जाता है। (अतः क्रियावाचक पद के साथ पद-समुदायरूप वाक्य के अर्थ का बोध होता है; क्योंकि) [अर्थस्य] वाक्यार्थ के [तन्निमित्तत्वात्] पदार्थज्ञान निमित्तक होने से।

पूर्वसूत्रोक्त यह विचार निराधार है कि पदार्थ का वाक्यार्थ के साथ कोई

सम्बन्ध नहीं है। पदबोधित अर्थ की उपेक्षा करके वाक्य पृथक् रूप से किसी अन्य अर्थ का बोध कराता है, ऐसा समझना नितान्त असंगत है। पदार्थ को छोड़कर वाक्य किसी अन्य अर्थ का बोध कराये, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। वाक्य में क्रियावाचक पद का होना आवश्यक है। पदसमुदायी वाक्य में किसी निश्चित अर्थ का बोध कराने की शक्ति प्रत्येक पद में निहित रहती है। उससे अतिरिक्त कोई अन्य अर्थबोधक शक्ति वाक्य में निहित हो, ऐसा नहीं है। पदार्थज्ञान ही वाक्यार्थज्ञान में कारण है। वाक्यगत पदों के अर्थों को जबतक नहीं जाना जाता, तबतक वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं होता। पदार्थज्ञान होने पर ही वाक्य का अर्थ जाना जा सकता है। इससे स्पष्ट है, क्रियावाचक पद से युक्त वैदिक पदसमुदाय से ही अपूर्वसंज्ञक धर्म का बोध कराया जाना सम्भव है। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यहाँ पर—अग्निहोत्रसंज्ञक होम के अनुष्ठान द्वारा स्वर्गप्राप्ति की भावना करे—यह वाक्यार्थज्ञान पदार्थज्ञान के बिना सम्भव नहीं। पद द्वारा उपस्थित अर्थों की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए पदसमुदायी वाक्य के पदों में परस्पर आकांक्षा[1], योग्यता, सन्निधि (आसत्ति), तात्पर्य आदि सहयोगी निमित्तों की उपस्थिति का ध्यान रखना आवश्यक है। यह स्थिति वाक्यार्थ-शुद्धि की नियामक है ॥२५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, लोक में पदार्थज्ञान से वाक्यार्थज्ञान—वृद्धव्यवहार आदि द्वारा—होना सम्भव है। पर वैदिक वाक्य में यह कैसे होगा? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

लोके सन्नियमात् प्रयोगसन्निकर्षः स्यात् ॥२६॥

[लोके] लौकिक वाक्य में [सन्नियमात्] प्रमाणान्तर से गृहीत अर्थ की व्यवस्था से [प्रयोगसन्निकर्षः] वाक्य के प्रयोगकार पुरुष के साथ सम्बन्ध [स्यात्] होता है।

लौकिक वाक्यों में—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा—पद-पदार्थ का ज्ञान हो जाता है, तब आकांक्षा आदि के अनुसार पुरुष द्वारा पदसमुदायरूप में अर्थबोध के लिए उनका प्रयोग किया जाता है। इससे लौकिक वाक्यों में पुरुष का सम्बन्ध स्पष्ट है। परन्तु वैदिक स्वर्ग आदि अर्थों में प्रत्यक्षादि प्रमाणों की प्रवृत्ति न होने

---

१. आकांक्षा—एक पद के उच्चरित होने पर अभिमतपूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए पदान्तर की अपेक्षा।
योग्यता—उच्चरित पद में अभिमत अर्थ के बोध कराने का सामर्थ्य।
आसत्ति—पदों का अनुक्रममूलक सामीप्य।
तात्पर्य—प्रसंग के अनुरूप वक्ता के अभिप्राय को जाँचना।
वाक्यार्थ के बोध में ये सब सहयोगी साधन हैं।

से 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:' इत्यादि विधिवाक्य-रचना में पुरुष का सम्पर्क न होने से यह पदसमुदाय पौरुषेय नहीं। अपौरुषेय होने के कारण शब्द व शब्दार्थ-सम्बन्ध के नित्य होने से अतीन्द्रिय अर्थ का बोध कराने में वैदिक वाक्य का सामर्थ्य है।

रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनी वृत्ति में सूत्रार्थ इस प्रकार किया है—लौकिक शब्द में प्रत्यक्षादिगृहीत पदार्थ-ज्ञानपूर्वक वाक्यप्रयोग से वाक्यार्थज्ञान हो जाता है। वेद में भी गुरुपरम्परा द्वारा पदार्थज्ञानपूर्वक वाक्य का प्रयोग वाक्यार्थ का बोध कराने में समर्थ होता है। अत: पदसमुदायरूप वैदिक वाक्य द्वारा अतीन्द्रिय अर्थ का बोध कराना उपपन्न है ॥२६॥ (इति वेदस्यार्थप्रत्यायकत्वाधिकरणम्—७)

अथ वेदापौरुषेयत्वाधिकरणम्—८

शिष्य जिज्ञासा करता है, वेद अपौरुषेय हैं, यह कैसे जाना जाय? जबकि पुरुष-सम्बन्ध से वेदों के नाम उपलब्ध हैं। आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या: ॥२७॥

[वेदान्] वेदों को [च] और [एके] कतिपय जन [सन्निकर्षम्] समीप समय की रचना कहते हैं, क्योंकि वे [पुरुषाख्या:] पुरुषविशेषों के नाम से जाने जाते हैं।

वेद व वैदिक संहिताओं के नाम विभिन्न पुरुषों के नाम के साथ सम्बद्ध हैं—शाकल, वाजसनेयि, कौथुम, आथर्वण, काठक, मैत्रायणी, तैत्तिरीय, कालापक, मौद्गल (मौदक), पैप्पलादक आदि। ये पुरुषविशेष उन संहिताओं के रचयिता प्रतीत होते हैं, जिनका प्रादुर्भाव समीपकाल में सम्भव है। वेदों के साथ उनके नाम का जुड़ा होना, उनकी रचना माने बिना, अन्य कारण से नहीं हो सकता। विधि-वाक्य उसी वाङ्मय के अन्तर्गत होने से पौरुषेय हैं। भले ही उसके कर्त्ता का आज स्मरण न रहा हो, पर इतने से विधिवाक्य को अपौरुषेय नहीं कहा जा सकता। इसीलिए अतीन्द्रिय धर्म की जानकारी में विधिवाक्य को निरपेक्ष प्रमाण कहना संगत न होगा ॥२७॥

उक्त कथन के अतिरिक्त यह भी है—

अनित्यदर्शनाच्च ॥२८॥

[अनित्यदर्शनात्] अनित्य (=जन्म-मरणधर्मा) पुरुषों का उल्लेख देखे जाने से [च] भी (वेद में; वेद पुरुषकृत है)।

वेद में जन्म-मरणधर्मा पुरुषों का उल्लेख पाया जाता है। तैत्तिरीय संहिता

[५।१।१०] में उल्लेख है—'ववरः प्रावाहणिरकामयत' प्रवाहण के पुत्र बवर ने कामना की। इसी प्रकार अन्यत्र [७।२।२] पाठ है—'कुसुरुविन्द्र औद्दालकिरकामयत' उद्दालक के पुत्र कुसुरुविन्द्र ने कामना की। इससे ज्ञात होता है—इस संहिताग्रन्थ की रचना, प्रवाहण तथा उद्दालक के पुत्रों के जन्म से पहले नहीं हुई।

ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में सूत्र से सम्बद्ध ऋषि का नाम निर्दिष्ट रहता है। कतिपय आचार्यों का कहना है कि ये ऋषि वेद-मन्त्रार्थ के द्रष्टा हैं, उनकी स्मृति के लिए नाम निर्देश रहता है। अन्य आचार्यों का कहना है, ये ऋषि मन्त्रों के रचयिता हैं। दोनों अवस्थाओं में इनका मानवशरीरधारी होना निश्चित है। इनमें से लगभग दो-तिहाई ऋषियों के नामों का निर्देश ऋचाओं में उपलब्ध होता है। यह इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि इन व्यक्तियों के प्रादुर्भाव के अनन्तर ऋचाओं की रचना हुई। ऐसे पुरुषों से प्रोक्त होने के कारण विधिवाक्यों का निर्भ्रान्त प्रामाणिक होना संगत नहीं कहा जा सकता ॥२८॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् ॥२९॥

[उक्तम्] कह दिया [तु] तो [शब्दपूर्वत्वम्] शब्द के विषय में नित्य होना। (शब्द नित्य है, यह प्रथम कह तो दिया है।)

सूत्र में 'तु' पद जिज्ञासारूप पूर्वपक्ष की निवृत्ति तथा सिद्धान्तपक्ष के कथन का द्योतक है। उक्त जिज्ञासा में वैदिक साहित्य के कतिपय पदों के प्रयोग के आधार पर वेद का अनित्यत्व सिद्ध करने का प्रयास किया गया। सूत्रकार का कहना है—अध्ययनाध्यापन में प्रयुक्त वेद शब्दमय है। शब्द की नित्यता प्रथम प्रमाणपूर्वक सिद्ध कर दी गई है। तब शब्दमय वेद को अनित्य तथा पुरुषकृति कहना संगत नहीं[1] ॥२९॥

---

१. शबर स्वामी ने इस सूत्र का अर्थ किया—[उक्तम्] कह दी है हमने [शब्द पूर्वत्वम्] अध्येताओं की शब्दपूर्वता। तात्पर्य है—जैसे अध्येता आजकल गुरु से वेद का अध्ययन करते हैं, इसी प्रकार प्रत्येक काल के वर्तमान पुरुषों ने अपने से पूर्ववर्त्ती गुरुओं से वेद पढ़ा। इस प्रकार यह वेदाध्ययन-परम्परा अनादि होने से वेद का प्रथम वक्ता न होने के कारण वेद नित्य है।

इस व्याख्या में भाष्यकार द्वारा 'अस्माभिः' पद का प्रयोग होने से यह असामंजस्य प्रकट होता है—सूत्रकार और भाष्यकार किसी ने पहले यह कहीं नहीं कहा कि अध्येताओं का वेदाध्ययन गुर्वध्ययनपूर्वक है। परन्तु सूत्रकार और भाष्यकार दोनों ने यह कहा है—शब्द और शब्द-अर्थ का सम्बन्ध अनादि काल से गुरुपरम्परा द्वारा जाना जाता रहा है। वस्तुतः यह सब वेदाध्ययन का ही अंश है। अतः भाष्यकार द्वारा किये गये सूत्रार्थ में कोई असामंजस्य नहीं समझना चाहिए।

शिष्य जिज्ञासा करता है—यदि ऐसा है, तो वेद में अनित्य पुरुषों का उल्लेख कैसे है ? सूत्रकार ने समाधान किया—

आख्या प्रवचनात्[1] ॥३०॥

[आख्या] काठक आदि नाम [प्रवचनात्] प्रवचन से हैं।

प्रवचन पद में 'प्र' उपसर्ग का अर्थ—'प्रकृष्ट' है, अर्थात् विशेष, जो कार्य अन्य किसी के द्वारा उस रूप में न किया जाये। 'वचन पद का अर्थ—कथन अथवा अध्यापन है। जिस व्यक्ति ने किसी एकमात्र शाखा का विशेष रूप से अध्यापन कराया, वह शाखा उस प्रवक्ता के नाम से व्यवहृत होने लगी। अतः वैदिक वाङ्मय की विभिन्न शाखाओं के साथ जो विशेष व्यक्तियों के नाम जुड़े हैं, वे केवल उन व्यक्तियों के द्वारा शाखा का प्रवचन (विशेष अध्यापन) के कारण हैं, उनके कर्त्ता या रचयिता होने के कारण नहीं। सम्भव है, उन-उन शाखाओं का अनन्य साधारण प्रवचन कठ, कलाप आदि व्यक्तियों के द्वारा किया गया हो। कहा जाता है—वैशम्पायन (कृष्ण यजुर्वेदीय) सब शाखाओं का अध्यापन कराता था; कठ केवल एक शाखा का अध्यापक था, वह अन्य किसी शाखा का अध्यापन नहीं कराता था। इसी प्रकार कलाप आदि एक-एक शाखा के अध्यापक रहे। उस शाखा के साथ उनका नाम जुड़ गया। कालान्तर में शिष्य-परम्परा द्वारा शाखागत विशिष्ट अनुष्ठानों के सहयोग से कृष्णयजुः की चौरासी शाखा हो गईं। ये व्यक्ति उन शाखाओं के रचयिता नहीं थे ॥३०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—तब बबर व कुसुरुविन्द आदि के नाम वैदिक वाङ्मय में क्यों हैं ? वे तो शाखा-प्रवक्ता नहीं ? सूत्रकार ने समाधान किया—

परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ॥३१॥

[परम्] अन्य (अनित्यदर्शन हेतु जो प्रस्तुत किया, वह) [तु] ठीक नहीं, (क्योंकि ऐसे शब्द) [श्रुतिसामान्यमात्रम्] सुनने में केवल समान प्रतीत होते हैं, (उनका अर्थ वस्तुतः और कुछ रहता है)।

सूत्र में 'तु' पद का प्रयोग प्रायः सर्वत्र पूर्वपक्ष के निराकरण का द्योतक माना जाता है। निराकरण, किसी अर्थ का निषेध करना है। अतः 'तु' पद का सीधा 'निषेध' अर्थ करना उपयुक्त है। वेद के अनित्यत्व और पौरुषेयत्व-सिद्धि के लिए जो हेतु दिया गया, वह युक्त नहीं; क्योंकि 'प्रावाहणि' आदि पदों को अपत्यार्थक मानकर बबर व प्रवाहण आदि को ऐतिहासिक व्यक्तिविशेष माना जाय, यह आवश्यक नहीं। 'प्रावाहणि' आदि पद केवल सुनने—उच्चारण में अथवा लेखन आदि में अपत्यार्थक के समान प्रतीत होते हैं, पर वस्तुतः ये अपत्यार्थक न होकर

---

१. हलायुधकृत 'मीमांसा शास्त्र सर्वस्व' में २९-३० सूत्रों को एक माना है।

अन्य अर्थ के वाचक हैं। धात्वर्थ के आधार पर तीव्रता से बहनेवाला वायु 'प्रवाहण' है। उससे उत्पन्न होनेवाली ध्वनि का अनुकरणमात्र बवर या बर्बर आदि पद हैं। ऐसे उल्लेख ऐतिहासिक व्यक्तिपरक न होकर संसार में नित्य घटनेवाली प्राकृतिक क्रियाओं के विषय में समझने चाहिएँ।

ऋग्वेद में ऋषि-नाम मूलत: किन्हीं विशेष व्यक्तियों के नहीं हैं। ये प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप प्रवक्ता के रूप में रचयिता द्वारा निबद्ध कल्पित नाम हैं। इस प्रकार मूलरूप में ये केवल कविनिबद्ध प्रवक्ता हैं, न मन्त्रार्थ-द्रष्टा, न रचयिता। ये ऐसे नाम हैं, जैसे 'पञ्चतन्त्र' आदि में कवि ने प्रवक्ता के रूप में अनेक कल्पना-जन्य नाम जोड़े हुए हैं। अनन्तर-काल में जिन व्यक्तियों ने वेद के उन-उन अंशों पर मन्त्रार्थ के चिन्तन व दर्शन तथा अध्यापन एवं प्रचार-प्रसार आदि की भावना से कार्य किया, वे लोक-व्यवहार में उन-उन नामों से व्यवहृत होने लगे। वह परम्परा आज तक चालू है। इसलिए अपौरुषेय वेद का प्रामाण्य निर्बाध समझना चाहिए ॥३१॥

शिष्य शंका करता है—उक्त प्रसंगों के अतिरिक्त वैदिक वाङ्मय में अन्य अनेक ऐसे अटपटे व असम्भाव्य प्रसंग कहे जाते हैं, जैसे 'गावो वै सत्रमासत' तथा 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' उनका क्या होगा? सूत्रकार ने समाधान किया—

कृते वा विनियोग:[1] स्यात् कर्मण: सम्बन्धात् ॥३२॥

[कृते] कर्म में—[वा] ठीक नहीं (शंका)—[विनियोग:] विशेष नियोग—अन्वय [स्यात्] होता है (उक्त प्रकार के वाक्यों का) [कर्मण:] कर्म के साथ [सम्बन्धात्] सम्बन्ध से।

सूत्र में 'वा' पद शंका के निवारण का द्योतक है। मीमांसा-शास्त्र की चालू मान्यता के अनुसार अनुष्ठान के प्रवर्त्तक केवल विधिवाक्य प्रमाण हैं, जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:' इत्यादि; जो विधिवाक्य नहीं हैं, जैसे 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि तथा जो वाक्य असम्भाव्य अर्थ का निर्देश करते हैं, जैसे 'गावो वै सत्रमासत' [ऐ० ब्रा० ४।१७, जै० २।३७४] वायु तीव्रगामी देवता है; गायें सत्र में आसीन हुईं, आसन पर बैठीं। इस प्रकार के वाक्य विधिवाक्य न होते हुए तथा आपातत: अटपटे लगते हुए भी अप्रमाण नहीं हैं। ये सन्दर्भ विधिवाक्यों से प्रतिपादित अनुष्ठेय धर्म की स्तुति आदि करने के आधार पर 'अर्थवाद' कहे जाते हैं। ऐसे जितने प्रकार के अर्थवादी वाक्य हैं, वे सब विधिवाक्य-बोधित अर्थ

---

१. रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनी वृत्ति में 'नियोग:' पाठ है; परन्तु अर्थ में कोई अन्तर नहीं।

की स्तुति आदि के द्वारा उनसे सम्बद्ध हैं; उन्हीं का वे अंश हैं। इसलिए विधि-वाक्यों के प्रामाण्य के समान उनका भी प्रामाण्य है[1] ॥३२॥

इति श्री जैमिनीयमीमांसादर्शन-विद्योदयभाष्ये
प्रथमाध्यायस्य प्रथमस्तर्कपादः।

---

१. शब्द के प्रामाण्य के लिए शब्द का नित्य होना इतना महत्त्व नहीं रखता। वस्तुतः शब्द का प्रामाण्य वक्ता के आप्त होने पर निर्भर है। इसी आधार पर लौकिक वाक्य का प्रामाण्य निश्चित होता है। शबरस्वामी कुमारिलभट्ट तथा अन्य अज्ञात पूर्वकालिक मीमांसाचार्यों के द्वारा 'कर्म' को सीमातीत प्रधानता दे देने के कारण कर्मफल एवं समस्त विश्व के नियन्ता सर्वोच्च परमात्मतत्त्व को अनावश्यक ठहरा देने पर वेदादि शब्द के प्रामाण्य की समस्या सामने आई। तब आप्तोक्तता की उपेक्षा कर शब्द व शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता को शब्द के प्रामाण्य का साधन मान लिया गया। अनन्त आकाश में अतीत-अनागत अनन्त शब्द भरे हैं; अर्थबोध के लिए जो अपेक्षित होता है, कण्ठ-तालु आदि साधनों द्वारा उसे अभिव्यक्त कर लिया जाता है। शब्द व शब्दार्थ-सम्बन्ध की यह अनादि परम्परा है; एवं अनादिकाल से ही यह जानकारी का क्रम गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा चालू है। यह संसार इसी रूप में चलता आ रहा है, आगे भी ऐसा ही चलेगा। न कभी सर्गरचना हुई, न कभी प्रलय होना है। मीमांसा का प्रचलित यह सिद्धान्त जैमिनि मुनि को अभिमत रहा हो, इसमें पूर्ण सन्देह है। प्रारम्भिक पंचम सूत्र में इस विषय के बादरायण-मत का निर्देश मान्यता के अनुकूल नहीं है। शब्द के प्रामाण्य का आधार उसकी नित्यता को मानने पर अनाप्तवाक्य भी प्रमाण होना चाहिए, जो शबर स्वामी व कुमारिल भट्ट आदि को भी स्वीकार नहीं है। अन्यथा, बौद्ध-आर्हत आदि आगम को भी प्रमाण मानना होगा, जो उक्त आचार्यों को अभीष्ट नहीं।

अथ प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः

(अर्थवादप्रामाण्याधिकरणम्—१)

शिष्य जिज्ञासा करता है—गत पाद द्वारा धर्म में विधिवाक्य का प्रामाण्य सिद्ध किये जाने पर उन वाक्यों का धर्म में अप्रामाण्य प्राप्त होता है, जो प्रवृत्ति के बोधक न होकर सिद्ध वस्तु का कथन करते हैं, जैसे—"वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्, देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्" इत्यादि वाक्यों का प्रामाण्य खटाई में पड़ जाता है। क्योंकि, इनमें प्रवृत्ति का जनक कोई विध्यर्थक पद नहीं है। जिज्ञास्य को मनोगत कर सूत्रकार ने विस्तार के साथ जिज्ञासा-भावना को सूत्रित किया—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते ॥१॥ (३३)

[आम्नायस्य] आम्नाय—वेद के [क्रियार्थत्वात्] क्रिया-अनुष्ठान प्रयोजन-वाला होने से [आनर्थक्यम्] निष्प्रयोजन हैं वे वेदवाक्य, जिनका [अतदर्थानाम्] प्रयोजन क्रिया—अनुष्ठान-रूप नहीं है। [तस्मात्] इसलिए, ऐसा वाक्य [अनित्यम्] अनित्य (धर्म की जानकारी में अप्रमाण) [उच्यते] कहा जाता है।

आम्नाय अथवा वेद के जिन विधिवाक्यों के विषय में उल्लेख किया जा रहा है, प्रायः वे सब तैत्तिरीय आदि संहिताओं के तथा ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्य हैं, यह शास्त्र इन्हींका विवरण प्रस्तुत करता है। यह सब वाङ्मय ऋषिप्रोक्त है; परन्तु मीमांसाशास्त्र में इनका प्रामाण्य क्रियार्थक, अर्थात् यज्ञादि अनुष्ठान का प्रवर्तक होने के आधार पर माना गया है। जिज्ञासा का यही तात्पर्य है कि जो वाक्य विधि के बोधक नहीं हैं, वे अप्रमाण माने जायेंगे; जैसे उदाहरणरूप में कतिपय वाक्य ऊपर प्रस्तुत किये गए हैं। यदि इनका भी प्रामाण्य अभीष्ट हो, जो आवश्यक है, तो प्रामाण्य की कोई अन्य कसौटी बताई जानी चाहिए, जिसमें सब प्रकार के वाक्यों का समावेश हो जाय। वर्तमान मान्यता में क्रियार्थक वाक्यों के अतिरिक्त शेष वाक्यों का धर्मज्ञान में अप्रामाण्य निश्चित है ॥१॥

अक्रियार्थक वाक्यों के अप्रामाण्य में अन्य कारण है—

शास्त्रदृष्ट[1]विरोधाच्च ॥२॥ (३४)

[शास्त्र-दृष्ट विरोधात्] शास्त्रविरोध से, दृष्टविरोध से [च] और। शास्त्र-विरोध और दृष्ट-प्रत्यक्षविरोध से सिद्धार्थक (अक्रियार्थक) वाक्यों का धर्मज्ञान में अप्रामाण्य है।

सूत्र के 'विरोध' पद का सम्बन्ध 'शास्त्र' और 'दृष्ट' दोनों के साथ है। धर्म-ज्ञान के प्रति सिद्धार्थक वाक्य के अप्रामाण्य में दो अन्य हेतु हैं—शास्त्रविरोध तथा दृष्टविरोध।

१. **शास्त्रविरोध**—शास्त्र में कहा है—'स्तेनं मनः, अनृतवादिनी वाक्' [मैत्रा० सं० ४।५।२]। मीमांसाशास्त्र में यह व्यवस्था है—यदि किसी सिद्धार्थक वाक्य का सम्बन्ध स्तुति आदि अर्थवाद रूप से किसी विधिवाक्य के साथ नहीं है, तो उसके विधिवाक्य की कल्पना कर ली जाती है। 'स्तेनं मनः, अनृतवादिनी वाक्' ऐसे ही वाक्य हैं। तब ये वाक्य लोकव्यवहार-सिद्ध अर्थ का अनुवादमात्र होने से निष्फल हैं। इनकी सफलता—सार्थकता के लिए शब्दविपर्यय से विधि की कल्पना इस प्रकार करनी होगी—'स्तेयं कुर्यात्' 'अनृतं वदेत्'=चोरी करे, झूठ बोले। इस कल्पित विधि का प्रत्यक्ष (दृष्ट) विधि—'स्तेयं न कुर्यात्, अनृतं (असत्यं) न ब्रूयात्' के साथ विरोध होता है। यह शास्त्र द्वारा साक्षात् प्रति-प्रतिपादित विधि है; इसकी बाधा किये बिना कल्पित विधि का अस्तित्व सम्भव नहीं। विरोध स्पष्ट है। यदि विधि की कल्पना नहीं की जाती, तो उन (भूतार्थ) वाक्यों का अप्रामाण्य निश्चित है।

षोडशी[2]-ग्रहण-अग्रहण के समान यहाँ 'चोरी करना-न करना, झूठ बोलना-न बोलना' में विकल्प की सम्भावना भी नहीं, क्योंकि दोनों विधियों में परस्पर वैषम्य है। एक कल्पित विधि है; अन्य शास्त्र-प्रतिपादित साक्षात् विधि है। यदि दोनों समान होते, तो विकल्प सम्भव होता।

२. **दृष्टविरोध**—वाक्य है: 'तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः। तस्मादर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः'—इसलिए अग्नि का धुआँ ही दिन में दीखता है, ज्वाला या लपट नहीं। इसलिए अग्नि की ज्वाला ही रात में दीखती है, धुआँ नहीं। इन वाक्यों में 'एव' पद के प्रयोग से यह निर्धारण किया कि दिन में आग

---

१. रामेश्वर सूरि विरचित 'सुबोधिनी' व्याख्या के सूत्रपाठ में 'दृष्ट' के स्थान पर 'दृष्टि' पाठ है। अर्थ में कोई अन्तर नहीं।

२. 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' के अनुसार 'अति-रात्र' नामक इष्टि में 'षोडशी' का ग्रहण या अग्रहण दोनों शास्त्रानुमोदित हैं। अतः विकल्प सम्भव है।

की ज्वाला और रात में आग का धुआं कदापि नहीं दीखते। यह कथन दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। दिन में आग की ज्वाला और रात में आग का धुआं बराबर दिखाई देते हैं। अतः शब्द के तथा शब्दार्थ-सम्बन्ध के नित्य होने के आधार पर शब्द का प्रामाण्य कहना पूर्णतया सन्दिग्ध है।

सूत्र के 'शास्त्रदृष्टविरोधात्' पद में 'शास्त्र' और 'दृष्ट' पदों का अलग-अलग 'विरोध' पद के साथ संबन्ध से शब्द के प्रामाण्य में दो प्रकार से दोष प्रस्तुत किया। यदि 'शास्त्रदृष्ट' पद को एक माना जाता है, तो भी विरोध स्पष्ट है। सन्दर्भ है—'को हि तद्वेद यदमुष्मिँल्लोकेऽस्ति वा न वा।' यह कौन जानता है—मरकर उस लोक में स्वर्ग है या नहीं? यदि इस सन्दर्भ को प्रश्नरूप माना जाता है, तो क्रियार्थक न होने के कारण यह निरर्थक व अप्रमाण है। यदि यह वाक्य संशयात्मक है, तो उन वाक्यों के साथ इसका विरोध स्पष्ट है, जो मरकर स्वर्ग-प्राप्ति के विश्वास का संकेत करते हैं—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यदि ॥२॥

अक्रियार्थ शब्द के अप्रामाण्य में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

तथा फलाभावात् ॥३॥ (३५)

[तथा] वैसा [फलाभावात्] फल न होने से (जैसा वाक्य में बताया जाता है)।

वाक्य में कहा—'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' जो इस (गर्गत्रिरात्रक्रतु) को इस प्रकार जान लेता है, उसका मुख सुशोभित हो जाता है। यदि यह कथन सिद्ध अर्थ का अनुवादमात्र है, तो क्रियार्थक न होने से अनर्थक है। यदि गर्ग-त्रिरात्रसम्बन्धी अध्ययन के फल का अनुवाद है, तो मिथ्या अनुवाद है। क्योंकि, अध्ययन के अनन्तर अध्येता के मुख पर कोई शोभा दिखाई नहीं देती। कालान्तर में फलप्राप्ति होने के लिए भी कोई प्रमाण नहीं है। यदि स्वभावतः किसी का कुत्सित मुख हो, तो शोभा की सम्भावना ही नहीं। इस प्रकार वाक्य में कहे फल का अध्येता आदि में अभाव देखे जाने से अक्रियार्थ शब्द का प्रामाण्य सन्दिग्ध है ॥३॥

उक्त अर्थ में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अन्या[1]नर्थक्यात् ॥४॥ (३६)

[अन्य आनर्थक्यात्] (विधिवाक्यों के अतिरिक्त) अन्य वाक्यों के अनर्थक होने से (अक्रियार्थक वाक्यों का अप्रामाण्य निश्चित है)। अथवा, एक कर्म से

१. रामेश्वर सूरि विरचित 'सुबोधिनी' नामक व्याख्या के सूत्रपाठ में 'अन्य' पद नहीं है। केवल 'आनर्थक्यात्' सूत्रपाठ है।

सब कामनाओं की पूर्ति होना मानने से अन्य कर्मों के अनर्थक हो जाने के कारण उनका अप्रामाण्य स्पष्ट है।

श्रुति है—'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति'[1]—अग्न्याधान की पूर्णाहुति से यजमान सब कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। यदि यह सत्य है, तो विभिन्न कामनाओं के लिए दर्श पौर्णमास आदि यागों का अनुष्ठान निरर्थक है, अर्थात् उनका प्रामाण्य खटाई में पड़ जाता है। यदि यजमान की उन कामनाओं की पूर्ति के लिये दर्श आदि यागों का अनुष्ठान आवश्यक है, तो 'पूर्णाहुत्या सर्वान्' इत्यादि कथन असत्य होने से अप्रमाण हो जाता है ॥४॥

उक्त अर्थ में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अभागिप्रतिषेधाच्च ॥५॥ (३७)

[अभागि-प्रतिषेधात्] अभागि—अप्राप्त के प्रतिषेध से [च] भी (प्रसंगागत वाक्य अप्रमाण है)।

ब्राह्मण में कहा—'न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि'—अग्नि का चयन पृथिवी पर नहीं करना चाहिए, न अन्तरिक्ष में, न द्युलोक में। प्रत्येक व्यक्ति यह जानता-समझता है कि अन्तरिक्ष और द्युलोक में अग्नि का चयन सम्भव नहीं। पृथिवी पर अग्निचयन सम्भव है उसका निषेध कर दिया। यह निषेध उस विधि की बाधा करता है, जो अग्निचयन का विधायक है—'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्'[2] परस्पर दोनों के विरोध से 'सुन्द-उपसुन्द'[3] न्याय के अनुसार विधि-निषेध दोनों निष्फल हो जाते हैं। यह स्थिति उनके अप्रामाण्य की द्योतक है। इसके अतिरिक्त जहाँ—अन्तरिक्ष और द्युलोक में—अग्निचयन प्राप्त ही नहीं, उसका निषेध निरर्थक होने से अप्रमाण हो जाता है। अन्तरिक्ष व द्युलोक में अग्निचयन सम्भव न होने से यह वाक्य अपने ही अर्थ में अप्रमाण हो जाता है; फलतः ये सन्दर्भ अप्रमाण हैं ॥५॥

अक्रियार्थक वाक्यों के अप्रमाण में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

---

१. तै० ब्रा० में पाठ है—'**पूर्णाहुतिमुत्तमां जुहोति। सर्वं वै पूर्णाहुतिः। सर्वमेवाऽऽप्नोति।**' (यु०मी०)

२. तुलना करें—मैत्रायणी संहिता, ३।२।६॥ तथा तैत्तिरीय संहिता, ५।२।७॥

३. पौराणिक आख्यान है—सुन्द, उपसुन्द नामक दो असुरवर्गीय भाई थे। उन्हें वर-प्रभाव से शक्ति प्राप्त थी—अन्य कोई भी उनका वध नहीं कर सकता था। वे धर्मात्मा प्रजाजन को अप्रत्याशित कष्ट देने लगे। तब उन दोनों में परस्पर युद्ध हो जाने के प्रयासस्वरूप वे आपस में लड़कर नष्ट हो गये। यही स्थिति परस्पर विधि-निषेध वाक्यों की है।

अनित्यसंयोगात् ॥६॥ (३८)

[अनित्य संयोगात्] अनित्य=मरणधर्मा व्यक्ति के सम्बन्ध से (अक्रियार्थक वाक्य अप्रमाण हैं)।

शब्द के नित्य-अनित्य विवेचन के प्रसंग में यह पूर्वपक्ष [१।१।२८] सूत्र में प्रस्तुत किया; तथा सूत्र [१।१।३१] द्वारा इसका समाधान किया। यहाँ शब्द के एक अंश—अक्रियार्थक शब्द को लक्ष्य कर आक्षेप प्रस्तुत किया है। 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' इत्यादि वाक्य मरणधर्मा व्यक्तियों के विवरण से सम्बद्ध होने के कारण अप्रमाण हैं। क्रियार्थक न होना तो ऐसे वाक्यों के अप्रामाण्य का निमित्त है ही; फलतः अक्रियार्थक वाक्यों का प्रामाण्य किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता ॥६॥

इस लम्बे जिज्ञासामूलक पूर्वपक्ष के समाधान के लिए ज्ञातव्य है—अर्थवाद के अनेक प्रकार हैं : १. एक प्रकार के अर्थवाद ऐसे हैं—जिनका यथाश्रुत शब्दानुसारी अर्थ उत्पन्न नहीं होता। जैसे—'सोऽरोदीत्, प्रजापतिरात्मनो वपामुदक्खिदत्' इत्यादि।

२. कतिपय दूसरे अर्थवाद ऐसे हैं—जो विधिवाक्यों के समान प्रतीत होते हैं। जैसे—'औदुम्बरो यूपो भवति, यो विदग्धः स नैर्ऋतः' इत्यादि।

३. तीसरे प्रकार के अर्थवाद वे हैं—जिनमें हेतुत्व का आभास होता है। जैसे—'शूर्पेण जुहोति, तेन ह्यन्नं क्रियते' इत्यादि।

चालू अधिकरण में प्रथम प्रकार के अर्थवादों का विचार किया गया है। इसका प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार ने बताया—

विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः ॥७॥ (३९)

[विधिना] विधिवाक्य के साथ [तु] तो [एकवाक्यत्वात्] एकवाक्यता होने से [स्तुत्यर्थेन] (विधिवाक्यों की) स्तुतिरूप प्रयोजन के द्वारा [विधीनाम्] विधिवाक्यों के अङ्ग [स्युः] होते हैं (अक्रियार्थक अर्थात् सिद्धार्थबोधक वाक्य)।

सूत्र में 'तु' पद जिज्ञासामूलक पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। ब्राह्मण आदि वैदिक वाङ्मय में जितने अक्रियार्थक अर्थात् सिद्धार्थक—सिद्ध वस्तु का कथन करनेवाले वाक्य हैं, उन सबकी विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता है; क्योंकि ऐसे वाक्य—विधिवाक्यों की स्तुति आदि के द्वारा विधिवाक्यों के ही अङ्ग हैं। मीमांसाशास्त्र में ऐसे समस्त सन्दर्भ 'अर्थवाद-वाक्य' कहे जाते हैं। जैसे—विधिवाक्यों का क्रियार्थक होने से प्रामाण्य है, इसी प्रकार विधिवाक्यों की स्तुति आदि के द्वारा अन्य वाक्यों का उनसे (विधिवाक्यों से) सम्बन्ध होने के कारण वे (अक्रियार्थक वाक्य) भी प्रमाण हैं।

'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' यह विधिवाक्य है—कल्याण की कामना

करता हुआ यजमान वायुदेवतावाले श्वेत पशु का आलभन=स्पर्श करे। इस वाक्य में आकांक्षा रह जाती है कि वायुदेवतावाले पशु का स्पर्श करने से कल्याण क्यों प्राप्त होता है ? इस आकांक्षा की पूर्त्ति—'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति, स एवैनं भूतिं गमयति।'[1] इत्यादि स्तुतिपरक अर्थवादवाक्य से होती है। ये दोनों (विधि और अर्थवाद) वाक्य परस्पर साकांक्ष होने से एकवाक्यरूप हैं। अतः विधिवाक्यों के प्रामाण्य से अर्थवादवाक्यों का प्रामाण्य सिद्ध होता है; क्योंकि अर्थवादवाक्य विधिवाक्यों के ही अवयवभूत—अङ्गभूत हैं, उन्हीं के एकदेश हैं; वे सब मिलकर ही एक अङ्गी बनते हैं। अतः एकदेश (अर्थवाद) के प्रामाण्य की अलग खोज करना नितान्त व्यर्थ है।

वैदिक वाङ्मय में कतिपय विधिवाक्य स्तुति आदि अर्थवादवाक्यों से रहित हैं; उनके स्तुति आदि बोधक अर्थवादवाक्य नहीं देखे जाते। इसके विपरीत कतिपय विधिवाक्यों के साथ स्तुतिपरक अर्थवाद वाक्य सन्निहित—संबद्ध देखे जाते हैं। अर्थवाद वाक्यों का प्रयोजन बताया जाता है—विधिवाक्य-बोधित अनुष्ठान में रुचि पैदा करना। जिज्ञासा होती है—अर्थवादरहित विधिवाक्य जब स्वयं विधिबोधित अनुष्ठान में रुचि उत्पन्न कर सकते हैं, तब वे विधिवाक्य स्वयं रुचि क्यों नहीं उत्पन्न कर सकते, जिनके साथ अर्थवाद वाक्य पठित हैं ? तात्पर्य—विधिवाक्य उभयत्र समान हैं, विधि के साथ विधिबोधित अनुष्ठान में भी वे (विधिवाक्य) स्वयं रुचि उत्पन्न करने में समर्थ हैं; तब समस्त अर्थवाद-वाक्य निष्फल व अप्रमाण माने जाने चाहिएँ।

आचार्यों ने सुझाव दिया—यह ठीक है, विधिवाक्य क्रियाविधान के साथ अनुष्ठान के प्रति रुचि भी उत्पन्न कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में अर्थवादसहित विधिवाक्यों का महावाक्य के रूप में निर्देश कोई महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता; परन्तु कहाँ विधिवाक्य प्ररोचना को भी उत्पन्न करता है, यह सचाई हमें अर्थवाद-वाक्यों के द्वारा ही ज्ञात होती है। जिन विधिवाक्यों के साथ अर्थवादवाक्य पठित हैं, वहाँ अर्थवादवाक्यों को सात्म्य करके ही विधिवाक्य प्ररोचना को

---

१. तैत्तिरीय संहिता २।१।१॥ वायु निश्चित ही क्षिप्रकारी=शीघ्रकारी देवता है। वायव्य श्वेत पशु के स्पर्श से यजमान वायु को ही अपने भाग द्वारा प्राप्त होता है। वायु ही इस यजमान को भूति=ऐश्वर्य प्राप्त कराता है। यहाँ श्वेतपशु—मीमांसा-सूत्र [६।८।३३] के अनुसार—छाग ही लिया जाता है। जैसे वायु शीघ्रकारी देवता है, ऐसे ही छाग (बकरा) अपनी वंशवृद्धि में अति शीघ्रकारी होता है। उक्त वाक्यों द्वारा यह भावना दृढ़ होती है—इस पशु का संस्पर्श—सम्बन्ध यजमान (पशुपालन करनेवाले व्यक्ति) के लिए ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाला होता है।

उत्पन्न कर पाते हैं। फलतः अर्थवाद-वाक्य क्रियार्थक विधिवाक्यों का ही स्वरूप हैं, उन्हीं का अङ्ग व एकदेश हैं। ये क्रियानुष्ठान के प्रति प्ररोचना को उभारते हुए अनुष्ठाताओं का उपकार करते हैं। क्रियार्थक विधिवाक्यों का आत्मरूप होने के कारण उन्हीं के प्रामाण्य से इनका प्रामाण्य है, इसके लिए अन्य निमित्त खोजना व्यर्थ है ॥७॥ (४०)

शिष्य जिज्ञासा करता है—पूर्वोक्त युक्ति से प्रतीत होता है, अर्थवादवाक्य वैदिक वाङ्मय में आपाततः सम्मिलित हो गये हैं, इनकी अनिवार्यता नहीं। सूत्रकार ने समाधान किया—

तुल्यं च साम्प्रदायिकम् ॥८॥ (४०)

[तुल्यम्] समान है [च] निश्चय ही [साम्प्रदायिकम्] गुरु-शिष्य-परम्परा (सम्प्रदाय) द्वारा अध्ययन-अध्यापन कर्म।

सूत्र में 'च' पद अवधारण अर्थ में है। यह निश्चय से कहा जा सकता है कि विधिवाक्य और अर्थवादवाक्य दोनों की स्थिति वक्ष्यमाण विषय में समान है। जैसे विधिवाक्यगत पद और उनका अर्थ के साथ सम्बन्ध का ज्ञान अनादि काल से गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा प्राप्त होता आया है, ठीक उसी प्रकार अर्थवादवाक्यों का भी ज्ञान प्राप्त होता आया है। यह स्थिति दोनों प्रकार के वाक्यों के लिए निश्चित रूप से समान है। जैसे विधिवाक्य संप्रदाय द्वारा रक्षित हैं, वैसे अर्थवादवाक्य भी। अतः यह कदापि न समझना चाहिए कि अर्थवादवाक्यों का पाठ आपाततः एवं प्रमादपूर्ण है। फलतः विधिवाक्यों के समान अर्थवादवाक्यों का प्रामाण्य भी सुनिश्चित है ॥८॥

प्रस्तुत पाद के द्वितीय सूत्र में जिज्ञासु द्वारा शास्त्रविरोध व दृष्टविरोध के आधार पर अर्थवादवाक्यों के अप्रामाण्य का निर्देश किया गया है। सूत्रकार शास्त्रविरोध का समाधान करता है—

अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत ॥९॥ (४१)

[अप्राप्ता] प्राप्त नहीं होता [च] और [अनुपपत्तिः] 'सोऽरोदीत्' इत्यादि वाक्यों में अर्थ का—उपपन्न न होना; [प्रयोगे] विधि मानने पर ('सोऽरोदीत्' आदि में 'रोना चाहिए' इत्यादि रूप से) [हि] निश्चय से [विरोधः] विरोध [स्यात्] होता है, [शब्दार्थः] शब्दार्थ ('अरोदीत्' आदि का) [तु] तो [अप्रयोगभूतः] विधिरूप नहीं है ('रोना चाहिए' इस प्रकार) [तस्मात्] इसलिये [उपपद्येत] उपपन्न होगा ('सोऽरोदीत्' इत्यादि वाक्य)।

जिज्ञासु ने द्वितीय सूत्र द्वारा अर्थवादवाक्यों के विषय में जो शास्त्रविरोध

व दृष्टविरोधरूप अनुपपत्ति प्रकट की है, वह 'सोऽरोदीत्' इत्यादि अर्थवाद-वाक्यों में प्राप्त नहीं होती। क्योंकि इन वाक्यों का जो अर्थ है, वह प्रयोगभूत—क्रियारूप नहीं है। असम्भव होने से न यहाँ क्रिया की कल्पना की जा सकती है। 'सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्'—वह रोया, जो रोया अथवा जो रोना है, वह रुद्र का रुद्रत्व (रुद्रपना) है। यहां प्रयोग = क्रिया अथवा विधि की कल्पना इसी प्रकार की जा सकती है—रुद्र रोया, अन्य को भी रोना चाहिए, अथवा 'अन्य भी रोये'। इसी प्रकार 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदक्खिदत्'—प्रजापति ने अपनी वपा (पेट पर चर्बी की झिल्ली) को उखेड़ा, या उचेला; अन्य को भी अपनी वपा उखेड़नी चाहिए, अथवा अन्य भी अपनी वपा उखेड़े। ऐसे ही 'देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्'—देवों ने यज्ञवेदी पर बैठकर यज्ञकाल में दिशाओं को न पहचाना। अन्यों को भी यज्ञकाल में दिशा न पहचाननी चाहिए, अथवा अन्य भी यज्ञवेदी पर दिशाएँ न पहचानें। क्या ऐसे विधिवाक्यों की कल्पना इन अर्थवादवाक्यों में की जा सकती है? यह सर्वथा अशक्य है।

रोना अपनी इच्छा या विधि के द्वारा नहीं होता। अपने आत्मीयजन अथवा प्रिय वस्तु के वियोग एवं शारीरिक या मानसिक आघात आदि से आँसुओं का निकलना 'रोना' है। वह इच्छा या विधि से होना संभव नहीं। न कोई अपनी वपा उखेड़कर या उचेलकर अग्नि में उसे होम कर शृङ्गरहित पशु[1] से यजन कर सकता है। इसी प्रकार देवयजन (यज्ञवेदी) में बैठकर न कोई दिशाओं को भूलता है। शास्त्रविरोध तभी हो सकता है, जब इनमें विधि मानी जाय; पर इन वाक्यों का जो शब्दार्थ है, वह विधिरूप नहीं है। इसीलिए शास्त्रविरोध न होने से ये अर्थवादवाक्य सर्वथा उपपन्न हैं ॥९॥

उपपन्नता किस प्रकार है? सूत्रकार ने बताया—

गुणवादस्तु ॥१०॥ (४२)

[गुणवादः] गुणवाद—गौण कथन है, यह [तु] तो।

सूत्र में 'तु' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। उक्त अर्थवादवाक्य गौण

१. तैत्तिरीय संहिता में पाठ है—**'प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत् सोऽकामयत प्रजाः पशून्त्सृजेयेति स आत्मनो वपामुदक्खिदत् तामग्नौ प्रागृह्णात् ततोऽजस्तूपरः समभवत् तं स्वायै देवताया आलभत ततो वै स प्रजाः पशूनसृजत** ॥२।१।१।

प्रजापति अकेला था, उसने प्रजा और पशुओं को सर्जन करने की कामना की। उसने अपनी वपा को उखेड़ा, आग में डाला, उससे तूपर (शृङ्गरहित) अज (बकरा) पैदा हो गया। उसे उसकी देवता के लिए आलभन (होम) किया। अनन्तर अथवा उससे प्रजा और पशुओं को बनाया। इसका वास्तविक तात्पर्य अगले सूत्र की व्याख्या में द्रष्टव्य है।

कथन हैं। प्रायः सभी अर्थवादवाक्यों द्वारा कथित अर्थ गौण—औपचारिक होता है, अथवा सम्बन्धी के गुण (स्तुति) का कथन करता है।

'सोऽरोदीत्'[1] इत्यादि प्रकार के अर्थवाद शाब्दिक रूप में जिस अर्थ को कहते हैं, वह गौण होता है। यह शब्दों का बाहरी अर्थ है; आन्तरिक मुख्य अन्य रहता है, जो वास्तविक रूप में उस सन्दर्भ का प्रतिपाद्य है। कहा जाता है—अर्थवादवाक्य विधिबोधित अर्थ में—उसकी स्तुति द्वारा, रुचि उत्पन्न करने के लिए होता है; परन्तु जहाँ ऐसा नहीं है, वहाँ समस्या खड़ी होती है कि अर्थवाद का वहाँ क्या प्रयोजन है? जैसे 'वेतसशाखयाऽवकाभिश्चाग्नि विकर्षति'[2]—बेंत की शाखा और अवका=सिरवाल (जल में उत्पन्न होनवाली घास) से अग्नि का विकर्षण करता है, बिखरी अग्नि को समेटता है। यहाँ अग्नि के विकर्षण में वेतस और अवका का विधान है; अर्थात् विधिबोधित अर्थ वेतस और अवका है, परन्तु स्तुति जलों की गई है—'आपो वै शान्ताः'[3] इत्यादि। ऐसे स्थलों में—स्तुति आदि द्वारा अर्थवाद विधेय अर्थ के प्ररोचनार्थ होता है—इस व्यवस्था का उल्लंघन हो जाता है।

ऐसे प्रसंगों में इस दोष के निवारण के लिए सूत्रकार ने 'गुणवाद' का सुझाव देकर समाधान किया। स्तोतव्य (वेतस-अवका) की स्तुति के स्थान पर अन्य सम्बन्धी (आपः) की स्तुति किया जाना गुणवाद अर्थात् गौण कथन है। जलों की यह स्तुति गौण है, मुख्य स्तुति वेतस आदि की है। क्योंकि जल वेतस-अवका के उत्पत्ति-स्थान हैं, उत्पत्ति-प्रदेश की स्तुति व प्रशंसा से वहाँ उत्पन्न होनेवाला प्रशंसित होता है। किसी व्यक्ति के आवास्थ प्रदेश की स्तुति व प्रशंसा से निश्चित ही वह व्यक्ति स्तुत व प्रशंसित होता है। ऐसे ही यहाँ वेतस-अवका का आवास्य-स्थल 'आपस्' की स्तुति से मुख्यरूप में वेतस-अवका की स्तुति प्रस्तुत की जाती है। अतः विधेय की स्तुति द्वारा अर्थवाद उसमें रुचि उत्पन्न करने के लिए हैं—इस व्यवस्था के उल्लंघन की आशंका करना व्यर्थ है।

जिज्ञासा होती है—'सोऽरोदीत्'[4] इत्यादि अर्थवादवाक्यों का विधिबोधित अर्थ क्या है, जिसका यह शेष अथवा अङ्ग समझा जाये? आचार्यों ने बताया—'तस्माद् बर्हिषि (रजतं) न देयम्'—इसलिए यज्ञ में रजत (चाँदी) दान नहीं करना चाहिए—इस 'रजत-अदान' विधि का शेष है 'सोऽरोदीत्' इत्यादि अर्थवाद-

१. तै० सं० २।१।१॥
२. तै० सं० ५।४।४॥
३. तै० सं० ५।४।४॥
४. 'सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्, यदश्रु अशीर्यत, तद्रजतं हिरण्यमभवत्, तस्माद्रजतं हिरण्यमदक्षिण्यम्, अश्रुजं हि, यो बर्हिषि ददाति, पुराऽस्य संवत्सराद्गृहे रुदन्ति, तस्माद् बर्हिषि न देयम्'—तै० सं० १।५।१॥

वाक्य। न्यायसूत्रकार गौतम आचार्य ने अर्थवाद के चार भेद बताये हैं—स्तुति, निन्दा, परकृति, पुराकल्प। मीमांसाशास्त्र इनको इसी रूप में स्वीकार करता है। 'सोऽरोदीत्' इत्यादि सन्दर्भ का समावेश 'पुराकल्प' नामक अर्थवाद में माना जाता है। 'बर्हिषि रजतं न देयम्' विधि का यह शेष है, इसका आधार है—पदों का साकांक्ष होना। 'सोऽरोदीत्' इत्यादि वाक्य में 'सः' (वह) सर्वनाम-पद किसी प्रकृत अर्थ की अपेक्षा रखता है। 'वह' कहने पर आकांक्षा रहती है—वह कौन, जिसके लिए यह अतिदेश है? आगे सन्दर्भ है—'तस्य यदश्रु अशीर्यंत'[1]—उसके जो आँसू टपके व बिखरे—यहाँ 'तस्य' पद भी पूर्व-प्रकृत की अपेक्षा रखता है। यह पहले कहे गये निन्दा-वचन—'बर्हिषि रजतं न देयम्' का उपपादक है। उसका कारण है—जो यज्ञ में चाँदी देता है, वर्ष के अन्दर उसके घर में रोदन होता है। फलस्वरूप—यज्ञ में रजत न देना चाहिए। इस प्रकार सभी साकांक्ष पद गौण कथन द्वारा विधि के उपकारक होते हैं। रोने (अश्रु) से उत्पन्न रजत को यज्ञ में देनेवाले के घर में वर्ष के अन्दर रोदन होता है; यह रजत-दान के प्रतिषेध का गुण है, जो स्वयं वस्तुतः रोदन नहीं है।

ऐसी स्थिति में न रोते हुए रुद्र के लिए 'अरोदीत्' कहना, अश्रु से उत्पन्न न होनेवाले रजत के लिए अश्रु से उत्पन्न होना कथन, तथा संवत्सर के अन्दर यज्ञ में रजत देनेवाले के घर में रोदन न होने पर भी रोदन होने का कथन, ये सब गौण कथन हैं। 'रुद्र' पद के निर्वचन के आधार पर उसका रोना 'सोऽरोदीत्' कहा गया। जल-रूप अश्रु के श्वेत वर्ण की समानता के आधार पर अश्रु से रजत का उत्पन्न होना कहा, रजतदाता के घर में संवत्सर से पूर्व रोदन न होने पर भी धनत्याग में दुःख का अनुभव होने से उसे रोदन के रूप में कहा गया। इस प्रकार ये सब गौण कथन हैं, जिनका तात्पर्य केवल यज्ञ में रजतदान की निन्दा प्रकट करना है। इसलिए ये सब कथन उसी (बर्हिषि रजतं न देयम्) के शेष हैं; यज्ञ में रजतदान की निन्दा द्वारा उस विधेय के अंग हैं।

अन्तर्हित रूप में यह प्रसंग आदिसर्गकालिक सृष्टि-प्रक्रिया का विवरण प्रस्तुत करता है, ऐसा विद्वानों[2] का सुझाव है। जो अर्थवाद 'पुराकल्प' विभाग के अन्तर्गत ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में वर्णित हैं, प्रायः वे सब आंशिक रूप से सृष्टि-प्रक्रिया का विवरण प्रस्तुत करते हैं। वैदिक वाङ्मय में ऐसे उल्लेखों की संख्या शताधिक देखी जा सकती है।

---

१. गत पृष्ठ की सं० ४ टिप्पणी देखें।

२. द्रष्टव्य—जैमिनीय मीमांसा शाबर भाष्य, हिन्दी व्याख्यासहित, पृ० १४८-४९। व्याख्याता—युधिष्ठिर मीमांसक तथा पं० भगवद्दत्त कृत 'वेदविद्या-विमर्श'।

'सोऽरोदीत्' के समान 'स आत्मनो वपामुदक्खिदत्' अर्थवाद भी 'यः प्रजाकामः पशुकामो वा स्यात् स एतं प्राजापत्यं तूपरमालभेत' विधि का शेष है। यह अर्थवादवाक्य भी 'पुराकल्प' विभाग के अन्तर्गत आता है तथा सृष्टि-प्रक्रिया की विशिष्ट अवस्थाओं को अभिव्यक्त करता है।[1]

इसी प्रकार 'देवा वै देवयजनमध्यास्य दिशो न प्राजानन्' अर्थवादवाक्य 'आदित्यः प्रायणीयश्चरुरादित्य उदयनीयश्चरुः' इस विधि का शेष है। सोमयाग के अंगभूत ज्योतिष्टोम में यजमान को दीक्षा देने के अनन्तर उसी दिन प्रारम्भ में अदिति देवतावाले चरु के साथ प्रायणीय इष्टि का अनुष्ठान किया जाता है, सोमयाग की समाप्ति पर 'उदयनीय' इष्टि का प्रयोग होता है।

विधिवाक्य और उसके शेषभूत अर्थवादवाक्यों का परस्पर सान्निध्य वैदिक वाङ्मय में देखा जाता है, परन्तु प्रस्तुत विधिवाक्य और अर्थवादवाक्य का सान्निध्य इसी पठित आनुपूर्वी के साथ कहीं उपलब्ध नहीं है; पर उसी आशय के पदान्तरों अथवा कतिपय पदों की न्यूनाधिकता के साथ पाठ उपलब्ध[2] हैं। इसके अनुसार विधिवाक्य एवं अर्थवादवाक्यों के सान्निध्य का सामंजस्य प्रस्तुत वाक्यों के विषय में भी सम्भावित माने जाने के लिए कोई विशेष बाधा नहीं है[3] ॥१०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—'स्तेनं मनः, अनृतवादिनीवाक्' इन अर्थवादवाक्यों में गुणकथन का निमित्त क्या है? सूत्रकार आचार्य ने समाधान किया—

रूपात् प्रायात् ॥११॥

[रूपात्] रूप से (रूप=स्थिति की समानता से) [प्रायात्] प्रायोवाद से।

पहला हेतु प्रथम वाक्य में—तथा दूसरा हेतु द्वितीय वाक्य में—आपत्ति के समाधान के लिए हैं। सूत्र में 'रूप' पद का तात्पर्य नील, पीत, हरित आदि वर्ण नहीं है; वह चोर की स्थिति का बोधक है। चोर जैसे अपनी स्थिति, अपने-आपको प्रच्छन्न रखता है, कोई उसे जाँच न लेवे, इसी प्रकार मन स्वतः प्रच्छन्न स्थितिवाला है। इस समानता से मन को स्तेन कहा। यहाँ मन के लिए 'स्तेन' शब्द का प्रयोग गौण है, औपचारिक है। यह मन का निन्दावचन 'हिरण्यं हस्ते भवति, अथ गृह्णाति' इस विधिवाक्य के हिरण्य की स्तुति का बोधक है।

मीमांसाशास्त्र में यह स्वीकार किया गया है कि निन्दावाक्य वस्तुतः निन्दा

---

१. द्रष्टव्य–मीमांसा शाबर भाष्य, हिन्दी व्याख्या, पृ० १५०-५३। [यु० मी०]

२. इस विषय में द्रष्टव्य हैं–तै० सं०, ६।१।५॥ मैत्रा० सं०, ३।७।५॥ श० ब्रा०, ३।२।३।६,७॥ ऐ० ब्रा०, २।१॥ [षड्गुरुशिष्य टीका—'सुखप्रदा' संस्करण।

३. इस प्रसंग के आंशिक सृष्टि-प्रक्रिया विवरण के लिए देखें—शाबरभाष्य, हिन्दी रूपान्तर, पृष्ठ १५४। [यु० मी०]

के लिए प्रयुक्त न होकर विधेय की स्तुति के बोधक होते हैं।[1] इसके अनुसार 'स्तेनं मनः' अर्थवाद का तात्पर्य पूर्वोक्त विधेय वाक्यगत सुवर्ण की इस प्रकार स्तुति करता है कि वह सब प्रकार के मल (दोष) से रहित होना चाहिए। इसकी स्पष्टता के लिए विधिवाक्य के प्रसंग को समझना आवश्यक है।

सोमयाग के अवसर पर सोम को कूटकर प्राप्त रस को बढ़ाने के लिए जिस जल का उपयोग किया जाता है, उसका नाम यज्ञ-प्रसंग में 'वसतीवरी' है। यह जल सूर्योदय-दशा में नदी से तथा सूर्यास्त-काल में सुरक्षित घट आदि से लिया जाता है। घट से जलग्रहण करने पर हाथ में अग्नि को लेना होता है, नदी से जलग्रहण-काल में प्रवाह के ऊपर हाथ में सुवर्ण धारण किये हुए जल का ग्रहण किया जाता है। जलग्रहण के समय का विधिवाक्य है—'हिरण्यं हस्ते भवति, अथ गृह्णाति।' इसी प्रसंग में अर्थवादवाक्य है—'स्तेनं मनः' इत्यादि। इसी प्रकार ऋतवादिनी वाणी को 'अनृतवादिनी' गौणरूप में कहा गया; क्योंकि लोक में प्रायः वाणी अनृतवादिनी होती है। ये वाक्य विधेय हिरण्य की स्तुति के लिए हैं। मैले मन की निन्दा की गई; अतः स्वच्छ निर्मल मन के समान सर्वथा निर्दोष सुवर्ण होना चाहिए और सच्चा; खोटा व मिलावटी नहीं। फलतः अर्थवादवाक्यों का प्रामाण्य विधिवाक्यों के समान निर्बाध है ॥११॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—शास्त्रविरोध का परिहार हो जाने पर दृष्टविरोध का परिहार होना चाहिए। सूत्रकार ने कहा—

दूरभूयस्त्वात् ॥१२॥

[दूरभूयस्त्वात्] अधिक दूरी के कारण दिन में धूम का और रात्रि में ज्वाला का दिखाई देना—कथन गुणवाद है।

दिन में अग्नि की ज्वाला या दीप्ति सूर्य के तेजस्वी प्रकाश से अभिभूत रहती है, पर द्रष्टा के दूरदेशस्थित होने पर भी आकाश में ऊँचा उठता हुआ धूम ही दिखाई देता है, अग्नि-दीप्ति नहीं। इसके विपरीत रात्रि में धूम अन्धकार में मिला दिखाई नहीं देता, पर अग्नि का प्रकाश दूरस्थित व्यक्ति को भी स्पष्ट प्रतीत होता है।

'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्राप्तः' इस मन्त्र से प्रातःकाल होम करना चाहिए। 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति' इस मन्त्र से सायंकाल होम करे। होम के लिए सायंकाल और प्रातःकाल कौन-सा समय उपयुक्त है? यह आकांक्षा बनी रहती है। इन मन्त्रों के मिश्रित लिंग होने से अर्थवाद अग्नि और

---

१. मीमांसा में एक 'नहि निन्दा न्याय' है, जिसका खुलासा है—'न हि निन्दा निन्दितुं प्रवर्त्ततेऽपि तु स्तोतुम्' ॥

सूर्य की स्तुति द्वारा होम के काल-निर्धारण में सहायक है। होम का वह काल उपयुक्त है, जब दोनों देवताओं का सान्निध्य हो। अधिक दूर होने के कारण अग्नि और धूम के अदर्शन का कथन गुणवाद है, औपचारिक है, यथाभूत नहीं ॥१२॥

दृष्टविरोध के अन्य उदाहरण 'न[१] वैतद्विद्म ब्राह्मणाः स्मोऽब्राह्मणा वेति' का परिहार सूत्रकार ने किया—

अपराधात् कर्त्तुश्च पुत्रदर्शनम् ॥१३॥

[अपराधात्] अपराध से (स्त्री के) [कर्तुः] कर्ता=उत्पादयिता जार के [पुत्रदर्शनम्]पुत्र का दर्शन होता है। अतः 'ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण' यह संदेहात्मक कथन गुणवाद है।

यज्ञ-प्रसंग में ऋषि प्रवर आदि के वरण करने के अवसर पर ऋषि पितर आदि का निर्देश करना अपेक्षित होता है, जिससे स्पष्ट हो जाय कि यज्ञकर्ता ब्राह्मण है। पर समाज में प्रत्यक्ष से जानने पर यह सन्देह-वचन क्यों ? 'हम नहीं जानते ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण' ?

विधिवाक्य है—'प्रवरे प्रवर्यमाणे ब्रूयात्, देवाः पितरः'[२] इसका अर्थवाद-वाक्य है—'न वैतद्विद्म' इत्यादि। प्रवर के (अनुमन्त्रण) कथन से अब्राह्मण भी ब्राह्मण मान लिया जाता है। किसी पुत्र के विषय में यह जानना अति कठिन है कि यह शुद्ध सन्तान है या नहीं ? स्त्री-माता के अपराध से वह जार-पुत्र है अथवा संस्कृत-पिता का पुत्र ? ऐसा सन्देह होना सम्भव है। प्रवर इस संशय को दूर कर देता है; इस प्रकार प्रवर की स्तुति द्वारा यह उसका अर्थवाद है। संशय अथवा अज्ञान कथन गुणवाद है, औपचारिक है। स्त्री-अपराध से भी पुत्र का होना देखा जाता है, इसीलिए सन्तान के विषय में कहा है—'अप्रमत्ता रक्षत तन्तुमेनम्।'[३] प्रमादरहित होकर पूरी सावधानता से कुलतन्तु की रक्षा की जानी चाहिए ॥१३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—स्वर्ग की कामनावाले के लिए ज्योतिष्टोम याग का विधान किया; अन्यत्र कहा—कौन जानता है ? स्वर्ग है या नहीं ? यह दृष्ट-विरोध है। सूत्रकार ने समाधान किया—

आकालिकेप्सा[४] ॥१४॥

[आकालिकेप्सा] वर्तमान काल में होनेवाले फल की इच्छा उक्त वाक्य से

---

१. मैत्रायणी संहिता, १।४।११॥
२. मैत्रायणी संहिता, १।४।११॥
३. तन्त्रवार्तिक में यह कुमारिल ने सूत्रपाठ दिया है—'अकालिकेप्सा' अर्थ किया है—'अ-कालिक-ईप्सा' कालान्तर में होनेवाले फल की उपेक्षा कर तात्कालिक फल की ईप्सा—इच्छा करना।
४. तैत्तिरीय संहिता, ६।१।१॥

जानी जाती है।

ज्योतिष्टोम याग के अनुष्ठान के लिए 'प्राग्वंशशाला' के निर्माण का विधान है। शाला के आधारभूत मध्य का बाँस पूर्व-पश्चिम डाला जाता है। ज्योतिष्टोम याग का कार्यक्रम निरन्तर चलता है, अधिक समय चलता है। ऐसे याग के समय धुएँ का अधिक होना स्वाभाविक है। यज्ञशाला में धुआँ घुटने न पाये, बराबर निकलता रहे, इसके लिए विधिवाक्य है—'दिक्षु अतीकाशान् करोति' दिशाओं में धुआँ निकलने के लिए झरोखों अथवा खिड़कियों का निर्माण करे। इस विधि-वाक्य का शेष है—'को हि तद्वेद यद्यमुष्मिँल्लोकेऽस्ति वा न वेति'[1] कौन जानता है उस लोक में स्वर्ग है या नहीं ? इसका यही तात्पर्य है कि स्वर्ग का दर्शन तो मरने के बाद होगा, पर यहाँ धुआँ घुटने से मुँह और नाक में धुआँ भरकर तत्काल मृत्यु का दर्शन हो जायगा, इसलिए शाला से धुआँ बाहर निकलने के लिए प्रथम चारों दिशाओं में 'अतीकाश' (झरोखा आदि) बनावें। तात्कालिक दुःख के निवारण के लिए इच्छा का होना स्वाभाविक एवं सर्वानुभव-सिद्ध है। उसके अनुसार कालान्तर में होनेवाले स्वर्ग की निन्दा द्वारा धूम-निर्गमन मार्ग बनाने की आवश्यकता का यह अर्थवाद-वचन स्तावक है। पारलौकिक स्वर्ग-फल में संशय प्रकट करना औप-चारिक मात्र है। अतः यहाँ शास्त्रीय दृष्टविरोध की आशंका व्यर्थ है ॥१४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—चालू पाद के तृतीय सूत्र-प्रसंग में 'शोभतेऽस्य मुखम्' इत्यादि उदाहरण, अक्रियार्थ-वचन के अप्रामाण्य में दिया ; उसका समाधान अपेक्षित है। सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—

विद्याप्रशंसा ॥१५॥

[विद्याप्रशंसा] ज्ञान की प्रशंसा की गई है, उक्त वचन से, अतः 'शोभतेऽस्य मुखम्' इत्यादि वचन गुणवाद है, औपचारिक है।

गर्गत्रिरात्र क्रतु के विधि का यह शेष अर्थात् अंग है। 'शोभतेऽस्य मुखम्' इत्यादि वचन उक्त क्रतु की स्तुति करता है, जब इस क्रतु का विशेषज्ञ होने पर मुख शोभित होता है, तब इसके अनुष्ठान के फल का तो कहना ही क्या ? इस प्रकार उक्त अर्थवादवाक्य क्रतु का स्तावक है। यह ज्ञान की प्रशंसा है। मुख-शोभा का कथन गुणवाद है।

उक्त क्रतु का अंगभूत अन्य उदाहरण है—'आऽस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद' जो इस प्रकार जानता है, उसकी सन्तति में अन्नवाला उत्पन्न होता है। यह वेद के अनुमन्त्रण-विधि का शेष है। वेद के अध्ययन आदि से पूर्ण विद्वान् होकर अन्नप्राप्ति में सुविधा होना, विधि का प्रयोजन नहीं है, यह केवल गुणवाद है, विधि का स्तावक है।

१. तैत्तिरीय संहिता, ६।१।१॥

भट्ट कुमारिल इस वाक्य को अध्ययन-विधि (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) का शेष मानता है। तन्त्रवार्त्तिक की पार्थसारथि मिश्र कृत 'न्यायसुधा' नामक व्याख्या में उक्त अर्थवादवाक्य का पाठ इस प्रकार उद्धृत किया है—

"घृतवन्तं[1] कुलायिनं रायस्पोषं सहस्रिणं वेदो ददातु वाजिनमित्याह प्र सहस्रं पशूनामाप्नोति अस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद।" [१।२।२५]

इस सन्दर्भ के 'वेदो ददातु' वाक्यांश में 'वेद' पद का अर्थ विवेच्य है। ऋगादि मन्त्रसंहिता के लिए प्रयुक्त 'वेद' पद आद्युदात्त माना है। इसके अतिरिक्त यज्ञ में प्रयोग के लिए कुशमुष्टि (कुश घास की एकत्र बाँधी मुट्ठी) का भी यह वाचक है, यह अन्तोदात्त है। तैत्तिरीय संहिता में यह पद अन्तोदात्त पठित है। अतः वेदाध्ययन-विधि का इसे शेष मानना चिन्त्य हो जाता है॥१५॥

प्रस्तुत पाद के चतुर्थ सूत्र से बताया—पूर्णाहुति से सब कामनाओं को प्राप्त हो जाता है, तब अन्य सब अनुष्ठान अनर्थक हैं। इसका समाधान सूत्रकार ने किया—

सर्वत्वमाधिकारिकम् ॥१६॥

[सर्वत्वम्] सबपना—सम्पूर्णता [आधिकारिकम्] अधिकार—प्रसंगप्राप्त विषयक है, अतः औपचारिक है।

'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति' यह अर्थवाद-वचन 'पूर्णाहुतिं जुहोति' इस विधि का शेष है। जो कार्य अधिकृत है, प्रारम्भ किया हुआ है, उसको पूर्णता तक पहुँचाना आवश्यक होता है। किसी अनुष्ठान का फल तभी प्राप्त हो सकता है, जब वह सम्पूर्ण रूप से सम्पन्न कर लिया जाता है; अधूरा कार्य निष्फल होता है। 'पुर्णाहुतिं जुहोति' विधि का यही तात्पर्य है कि जो अनुष्ठान अधिकृत है, प्रारम्भ किया है, उसे पूर्णाहुति तक पहुँचाना चाहिए; तभी कामनाओं की प्राप्ति होती है; अधूरे में छोड़ देने से यथार्थ फलप्राप्ति असम्भव है। इस प्रकार पूर्णाहुति से सब कामनाओं की प्राप्ति होना—अर्थवाद, पूर्णाहुति होमविधि का स्तावक है। वह अपने पदों से बोधित अर्थ को मुख्य-अर्थ के रूप में प्रस्तुत नहीं करता; अतः

---

१. यह पाठ किस मूल ग्रन्थ से लिया गया है, अभी तक अज्ञात है, (यु० मी०)। वाक्य का अर्थ है—घृत आदि से सम्पन्न, कुल में स्थिर रहनेवाला, पारिवारिक सम्पत्ति के पोषक, अनेक प्रकार के अन्न व पशुओं से सम्पन्न पुत्र को वेद हमें देवे, ऐसा कहा है। जो इस प्रकार जानता है, उसकी सन्तति में अनेकानेक अन्न-पशु आदि से सम्पन्न सन्तान उत्पन्न होती है।

यह मूल पाठ आंशिक रूप से तै० सं० १।६।४ तथा काठक सं० ५।४।२४ में द्रष्टव्य है।

गुणवाद है, औपचारिक कथन है। यह ऐसा ही है, जैसे कोई कहे—'समस्त अन्न शुद्ध है, निर्दोष है।' यहाँ 'समस्त' या 'सर्व' पद केवल घर में सुरक्षित अन्न को लक्ष्य करता है। इसी प्रकार जो अनुष्ठेय क्रतु अधिकृत है, प्रकृत है, चालू है, उसी से सिद्ध होनेवाले फल के विषय में अर्थवादवाक्य प्रवृत्त हुआ है। इससे प्रत्येक अनुष्ठान की पूर्णाहुति-विधि का स्तवन होता है; अन्य अनुष्ठानों की निरर्थकता सिद्ध नहीं होती ॥१६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—उक्त समाधान से शेष (अर्थवाद) वाक्य की निरर्थकता स्पष्ट हो जाती है। कहा गया—पूर्णाहुति से सब कामनाओं की प्राप्ति हो जाती है, जब कि उक्त समाधान से पता लगा—उससे प्राप्ति कुछ भी नहीं होती, तब यह मिथ्या कथन हुआ। आचार्य ने पूर्वोक्त आपत्ति का अन्य प्रकार से समाधान किया—

फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः फलविशेषः स्यात् ॥१७॥

[फलस्य] स्वर्गादि फल की [कर्मनिष्पत्तेः] कर्मों के द्वारा सिद्धि होने से [तेषाम्] उन कर्मों के [परिमाणतः] परिमाण से, लघु-गुरु होने के अनुरूप [फलविशेषः] फल-भेद, फल का लघु-गुरु होना [स्यात्] होता है, [लोकवत्] लोक में होनेवाले व्यवहार के समान।

जिस प्रकार लोक-व्यवहार में देखा जाता है—जो अल्प कार्य करता है, वह कार्य का फलरूप पारिश्रमिक भी अल्प पाता है। अधिक कार्य का पारिश्रमिक फल अधिक मिलता है। इसी प्रकार पूर्णाहुति होम-विधि का अर्थवाद सर्वथा निरर्थक न होगा। यदि उतना ही अनुष्ठान कोई करेगा, तो उसे अल्प स्वर्गफल मिलेगा। जो पूर्ण ज्योतिष्टोम अनुष्ठान सम्पन्न करेगा, उसे अधिक अथवा पूर्ण स्वर्गफल प्राप्त होगा। फलप्राप्ति की यह न्यूनाधिकता काल के आधार पर विभाजित समझनी चाहिए। केवल पूर्णाहुति से अल्पकालिक स्वर्ग, तथा पूर्ण ज्योतिष्टोम-अनुष्ठान से चिरकालिक स्वर्गफल-भोग की प्राप्ति होगी। अतः अर्थवादवाक्य नितान्त निरर्थक नहीं है ॥१७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—चालू पाद के छठे सूत्र तक उभारी गई आपत्तियों में से अभी तक अन्त की दो आपत्तियों का समाधान नहीं हुआ। आचार्य ने बताया—

अन्त्ययोर्यथोक्तम् ॥१८॥

[अन्त्ययोः] अन्त की दो आपत्तियों का समाधान [यथोक्तम्] जैसा पहले की अन्य आपत्तियों का कहा है, उसी के समान समझना चाहिए।

पाँचवें सूत्र 'अभागिप्रतिषेधाच्च' द्वारा आपत्ति प्रकट की है—अग्निचयन[1] न पृथिवी पर करे, न अन्तरिक्ष, न द्युलोक में। द्युलोक, अन्तरिक्षलोक में अग्निचयन प्राप्त ही नहीं, सम्भव भी नहीं। जहाँ प्राप्त है—पृथिवी पर—वहाँ भी निषेध कर दिया। अग्निचयन के बिना ज्योतिष्टोम आदि कहाँ होंगे? अतः ये कथन निरर्थक हैं, अप्रमाण हैं।

सूत्रकार कहता है, इस आपत्ति का समाधान, पहली आपत्तियों के समाधान के समान समझना चाहिए। अर्थात् यह अर्थवाद-वचन एक विधि का शेष है। विधिवाक्य है—'रुक्ममुपदधाति' सुवर्ण का उपधान करता है, तकिया लगाता है। अग्निचयन का उपधान—तकिया—है सुवर्ण। इस विधि का शेष है—'न पृथिव्याम्' इत्यादि। अन्तरिक्ष और द्यु में अग्निचयन प्राप्त नहीं; पर नंगी पृथिवी पर भी अग्निचयन अविवक्षित है। सुवर्ण-खण्ड रखकर ही अग्निचयन करना चाहिए। अन्यथा वह श्मशान-अग्निचयन के समान हो जाता है; ऋद्धि-समृद्धि को प्राप्त करानेवाला नहीं रहता। अतः इस सन्दर्भ (न पृथिव्याम्-इत्यादि) के पद अपने मुख्य अर्थ को न कहकर सुवर्णोपधान-विधि के स्तावक हैं, औपचारिक हैं।

अन्तिम छठे सूत्र 'अनित्यसंयोगात्' द्वारा आपत्ति उभारी गई है—वैदिक वाक्यों में अनित्य (कालविशेष में उत्पन्न होनेवाले) व्यक्तियों का उल्लेख देखा जाता है; अतः वैदिक वाङ्मय नित्य, अनादि नहीं कहा जा सकता; इसीलिए अप्रमाण है।

आचार्य सूत्रकार ने इसका समाधान प्रथम पाद के अन्तिम सूत्रों द्वारा कर दिया है—'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्'—व्यक्तिविशेष के लिए लोक में प्रयुक्त

---

१. अर्थवाद वाक्य है—**"न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि इत्याहुः, अमृतं वै हिरण्यम्, अमृते वा एतदग्निश्चीयते, श्मशानचितो वा एते चीयन्ते; चित्यां-चित्यां हिरण्यशकलमुपास्यति, तेन वा एषोऽश्मशानचित्, तेन स्वर्गः।"** [मैत्रा० सं० ३।२।६]

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु में अग्निचयन न करे। 'रुक्ममुपदधाति' विधि द्वारा ऐसा कहा है। हिरण्य अमृत है; अमृत में अग्निचयन किया जाता है। इसके बिना श्मशान-अग्निचयन है। प्रत्येक चयन में सुवर्णखण्ड उपक्षिप्त होता है, तब वह अश्मशान-चयन है। उससे स्वर्ग प्राप्त होता है। इसी के सान्निध्य में 'रुक्ममुपदधाति ऋद्ध्यै' यह विधिवचन है।

इसका व्यवहार-पक्ष है—सुवर्ण आर्थिक नीति व स्थिति का मूल आधार है। व्यापार व उद्योग आदि में सुवर्ण लगाइए, उससे अनेक गुणा सुवर्ण प्राप्त कर स्वर्ग का भोग कीजिए।

कोई नाम-पद वैदिक वाङ्मय में, विशेष रूप से मन्त्रसंहिता-भाग में कहीं उल्लिखित नहीं हुआ। व्यक्तिविशेष के संज्ञारूप में जो नाम-पद उभयत्र (लोक-वेद में) समान देखे जाते हैं, उनकी समानता—उच्चारण किये जाने पर केवल—सुनने मात्र की है। अथवा यह कह सकते हैं कि उन पदों की वर्ण-मात्रानुपूर्वी केवल समान है, उनके अर्थ में कोई समानता नहीं। लोक में प्रयुक्त वह पद व्यक्तिविशेष का वाचक है; वेद में प्रयुक्त वैसा पद धातु-प्रकृति-प्रत्यय आदि के आधार पर अन्य किसी सामान्य अर्थ का अभिधायक होता है। अतः ऐसे पदों के आधार पर वेद का अनित्यत्व एवं अप्रामाण्य कहना सर्वथा असंगत है। इस प्रकार दोनों सूत्रों [५, ६] द्वारा उभारी गई आपत्तियों का समाधान यथायथ कह दिया गया है। यही कारण है—यास्क ने—व्यक्तिविशेष के प्रतीत होनेवाले ऋग्वेदगत—नहुषः, तुर्वशाः, द्रुह्यवः, आयवः, यदवः, अनवः, पूरवः इत्यादि नाम-पदों को निघण्टु [२।२] में सामान्य मनुष्यवाचक माना है। फलतः उक्त प्रकार वैदिक वाङ्मय का प्रामाण्य सिद्ध होता है ॥१८॥

(विधिवन्निगदाधिकरणम्—२)

इस अधिकरण में अर्थवाद के द्वितीय[1] प्रकार का विचार प्रस्तुत किया गया है। इसी आधार का आश्रय लेकर शिष्य जिज्ञासा करता है—अर्थवादवाक्य प्रायः फल का निर्देश करते हैं, तब उनको फलविधि क्यों न मान लिया जाय? इससे उनका प्रामाण्य विधिवाक्य होने से ही सिद्ध हो जायगा, विधि की स्तुति आदि के द्वारा उसका प्रामाण्य मानने के द्रविण-प्राणायाम की क्या आवश्यकता है? आचार्य ने शिष्य की जिज्ञासा को सूत्रित किया—

(पू०) विधिर्वा स्यादपूर्वत्वाद्वादमात्रं ह्यनर्थकम् ॥१९॥

[विधिः] विधिवाक्य [वा] ही [स्यात्] होवे, यह [अपूर्वत्वात्] अपूर्व होने से [वादमात्रम्] स्तुति का कथनमात्र [हि] निश्चय ही, अथवा क्योंकि [अनर्थकम्] अनर्थक है।

यहाँ ऐसे अर्थवादवाक्यों पर विचार है, जो विधि के समान पढ़े गए हैं। उदाहरण है—"औदुम्बरो यूपो भवति, ऊर्ग्वा उदुम्बर ऊर्क् पशवः, ऊर्जैवास्मा ऊर्जं पशूनाप्नोति ऊर्जोऽवरुध्यै।" [तै० सं० २।१।१] औदुम्बर=उदुम्बर—गूलर का बना हुआ यूप होता है, उदुम्बर निश्चय ही ऊर्जा है, शक्ति है; ऊर्जा पशु-अन्न हैं, ऊर्जा से ही ऊर्जा होती है, अतः पशुओं—अन्नों को प्राप्त करता है, ऊर्जा को रोकने के लिए, अर्थात् ऊर्जा यजमान के पास रुकी रहे—ऊर्जा उसे सदा प्राप्त रहे।

---

१. द्रष्टव्य—सूत्र १।२।७ का अवतरणिका-भाग।

विधि के समान पढ़े गये ऐसे वाक्यों के विषय में संशय होता है—क्या यह (औदुम्बरो यूपो भवति) फलविधि है ? अर्थात् इसका निर्देश्य फल का विधान करना है ? अथवा यह यूपविधि का स्तवनमात्र है ? सूत्रकार ने बताया—यह फलविधि का ही निर्देश मानना चाहिए, क्योंकि यह अपूर्व का कथन करता है—जो अर्थ अन्य किसी वाक्य से प्राप्त नहीं है, ऐसे अर्थ का विधान करता है। ऐसी स्थिति में इस प्रकार के वाक्यों को केवल विधि के स्तुतिपरक कहना निश्चय ही निरर्थक होगा। स्तुति करने या न करने से—वस्तु के बढ़ने-घटने के रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता। सूत्र के 'अनर्थक' पद का तात्पर्य निष्प्रयोजन है। यद्यपि स्तुति का भी प्रयोजन शास्त्र में स्वीकार किया गया है, पर यहाँ स्तुति लक्षणावृत्ति से जानी जाती है, उसका बोधक कोई शब्द यहाँ नहीं है। जहाँ सिद्धार्थ-बोधक वाक्य के प्रामाण्य के लिए अन्य कोई मार्ग न हो, वहाँ लक्षणावृत्ति से विधि की स्तुति द्वारा उसके प्रामाण्य का निर्वाह किया जाता है। पर यहाँ ऐसा नहीं है। फलविधि यहाँ श्रुतिबोधित अर्थ है। लक्षणावृत्ति की अपेक्षा श्रुति बलवती होती है, अतः इसे फलविधि मानना युक्त है ॥१६॥

अन्य शिष्य की एतद्विषयक आशंका को आचार्य ने सूत्रित किया—

लोकवदिति चेत् ॥२०॥

[लोकवत्] लोक में प्रयुक्त स्तुति के समान, वैदिक स्तुति सार्थक हो सकती है, [इति चेत्] ऐसा यदि माना जाय, (तो वह निरर्थक न होगी)।

लोकव्यवहार के समान वैदिक व्यवहार में भी वैसा होना स्वीकार किया जाना चाहिए। लोक में व्यवहार देखा जाता है—यदि गाय खरीदनी है, तो देवदत्त की गाय खरीदो। वह बहुत दूध देती है, हर बार बछिया डालती है, उसके बच्चे जीवित रहते हैं। यहाँ 'खरीदो' (विधिवाक्य) कहने पर भी क्रेता गुणों का वर्णन सुनने पर खरीदने के लिए सरलता से तैयार हो जाता है। ऐसे ही वेद में कर्म की स्तुति करने से कर्त्ता की कर्म के प्रति रुचि उत्पन्न होकर वह उसके अनुष्ठान में सरलता से प्रवृत्त हो जाता है। अतः उक्त स्थलों में फलविधि न मानकर उसे अर्थवाद ही समझना चाहिए। इससे सप्तम सूत्रोक्त शास्त्रमर्यादा बनी रहती है ॥२०॥

आचार्य उक्त शंका का निराकरण करता है—

न पूर्वत्वात् ॥२१॥

[न] नहीं ठीक, उक्त कथन [पूर्वत्वात्] अन्य प्रमाणों द्वारा लौकिक व्यवहार की जानकारी होने से।

लोक में केवल विधिवाक्य (गाय खरीदो) से कार्यानुष्ठान में प्रवृत्ति नहीं

होती; वहाँ प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों द्वारा बहुक्षीरत्व आदि की परीक्षा व जानकारी प्राप्त किये जाने से स्तुति का होना सप्रयोजन है। परन्तु वैदिक वाक्य में उदुम्बर ऊर्क्—ऊर्जा है, अन्न ऊर्जा है, उदुम्बर का यूप बनाने से ऊर्क् का प्राप्त होना आदि किसी अन्य प्रमाण से जाना नहीं जाता, वह केवल वैदिक वाक्य से बोधित होता है। अत: प्रमाणान्तर द्वारा न जानने से अपूर्व होने के कारण वह स्तुतिरूप अर्थवाद न होकर फलविधि है, ऐसा मानना युक्त होगा, अर्थात् उदुम्बर का यूप बनाने से ऊर्जारूप फल की प्राप्ति होती है ॥२१॥

मूलजिज्ञासा का सूत्रकार ने समाधान किया—

उक्तं तु वाक्यशेषत्वम् ॥२२॥

[उक्तम्] कह दिया है [तु] तो [वाक्यशेषत्वम्] वाक्यशेष होना। अर्थवादवाक्य विधिवाक्यों के शेष हैं—अंगभूत हैं, यह कह तो दिया है।

सूत्र में 'तु' पद मूल जिज्ञासा के समाधान का द्योतक है। चालू पाद के सप्तम सूत्र [१।२।७] में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि समस्त अर्थवादवाक्य—जो क्रिया का साक्षात् निर्देश नहीं करते—विधिवाक्यों के अंगभूत हैं। विधिवाक्यों द्वारा बोधित अर्थ की स्तुति आदि करना उनका प्रयोजन है। इस रूप में वे विधिवाक्यों के परिवार में आ जाते हैं, उनसे बाहर उन्हें नहीं समझना चाहिए।

'औदुम्बरो यूपो भवति' यहाँ 'भवति' क्रियापद वर्तमानकालिक है, विधिबोधक (लिङ् लकार) क्रियापद नहीं है। इस कारण उक्त वाक्य से यूप का विधान नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त यह निर्देश सोमापौष्ण (सोम और पूषा देवतावाले) पशुयाग के प्रसंग में है[1]। अग्निषोमीय पशुयाग प्रकृतिभूत है, सोमापौष्ण उसका विकृतियाग है। प्रकृतियाग में खादिर (खैर वृक्ष के) यूप का विधान है। 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस सामान्य नियम के अनुसार अग्निषोमीय प्रकृतियाग के समान सोमापौष्ण विकृतियाग में भी यूप खदिर (खैर) वृक्ष का होना चाहिए, पर यहाँ विकृतियाग में उसके स्थान पर उदुम्बर (गूलर) के यूप का विधान किया है। ऐसे वाक्यों को साक्षात् विधिवाक्य नहीं माना जाता। यहाँ 'भवति' इस वर्त्तमानार्थक क्रिया के होने और कामना-बोधक (स्वर्गकाम, इन्द्रियकाम, ग्रामकाम, पशुकाम आदि) शब्द के न होने से यह फलविधि नहीं है। सोमापौष्ण त्रैतयाग[2] के फल की प्ररोचना के लिए ही 'ऊर्ग्वा उदुम्बर' इत्यादि कहा है।

---

१. इसके लिए द्रष्टव्य है—तै० सं० २।१।१॥ वहाँ का पाठ इस प्रकार है—**सोमापौष्णं त्रैतमालभेत पशुकामः'''औदुम्बरो यूपो भवति, ऊर्ग्वा उदुम्बर ऊर्क् पशवः'** इत्यादि।

२. **'सोमापौष्णं त्रैतमालभेत पशुकामः'** इस वाक्य में व्यवहार्य दृष्टि से 'त्रैत'

यद्यपि उदुम्बर अभिधावृत्ति से ऊर्क् (अन्न) नहीं है, पर लक्षणावृत्ति से अपने

पद विचारणीय है। सोम और पूषा देवतावाले त्रैत 'पशु' का आलभन करे, स्पर्श करे, अथवा प्राप्त करे। यहाँ 'पशु' पद का प्रयोग 'अन्न' के लिए हुआ है। 'अन्नं उ वै पशवः' [जै० ३।१४१], 'पशवो वाऽअन्नम्' [माश० ४।६।६।१] 'पशुर्वाऽअन्नम्' [माश० ५।१।३।७] अन्न को ही पशु कहा जाता है। पूर्वोक्त सन्दर्भ में 'पशुकामः' का अर्थ होगा—अन्नकामः; अन्न की कामना करनेवाला 'त्रैत' का आलभन करे, उसके साथ सम्पर्क करे, उसके साथ सान्निध्य व सम्बन्ध स्थापित करे। 'अन्नमु वै पशवः' इत्यादि वाक्यों का यह अर्थ नहीं है कि पशु-प्राणी (अजा-अवि आदि) अन्न अर्थात् खाद्य हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण [३।६।६।२] में लिखा है—**'अपशवो वा एते यदजावयश्चारण्याश्च। एते वै सर्वे पशवः यद्गव्या इति'** ये जो अजा (बकरी) अवि (भेड़) और जितने अरण्याचारी प्राणी हैं, सब निश्चय ही 'अपशव' हैं, अखाद्य हैं। ये सब प्राणी ऐसे ही अखाद्य हैं, जैसे गाय। अन्न का 'पशु'-पद से अभिलापन इसी आधार पर किया गया है कि प्रत्येक प्राणी आँखें खुलते (जीवन-लाभ होते) ही सबसे प्रथम अन्न को देखता है, अनुभव करता है। यह प्रत्येक व्यक्ति जानता है—किसी भी योनि का नवजात वत्स अपने खाद्य की ओर लपकता है। अनेक अर्थों के लिए प्रयुक्त होनेवाले पद का प्रवृत्तिनिमित्त अर्थानुसार विभिन्न होता है। इसी के अनुसार 'पशु' पद का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है; उन्हीं में से अन्यतम अर्थ 'अन्न' है। अन्न का वास्तविक रूप क्या है, एक स्थल पर बताया—**'दधि मधु घृतमापो धाना भवन्ति, एतद्वै पशूनां रूपम्'** [तै० सं० ३।३।२।८] अन्नों–खाद्य वस्तुओं का यथार्थरूप दधि आदि पदार्थ हैं। इसी प्रसंग में आगे लिखा है—**'बहुरूपा हि पशवः'** अन्न अनेक प्रकार के होते हैं। पूर्ववाक्य में 'धानाः' पद उन समस्त अन्नों का उपलक्षण है, जो विभिन्न ऋतुओं में पृथिवी से उत्पन्न होते हैं।

मूल सन्दर्भ का अर्थ है—अन्न की कामनावाला व्यक्ति त्रैत का आलभन—स्पर्श करे। उसके साथ सम्बन्ध जोड़ उसे (अन्न को) प्राप्त करे। यहाँ 'त्रैत' क्या ? और उसके साथ स्पर्श या सम्बन्ध जोड़ना क्या है ? विचारणीय है।

तीन के समूह का नाम 'त्रित' है, त्रित ही 'त्रैत' कहा जाता है। अभिधावृत्ति से 'त्रित' का अर्थ ठीक तीन है। लक्षणावृत्ति से यह पद 'बहुत्व' अर्थ का द्योतन करता है। पहले अर्थ में—तीन ऋतुओं का समूह 'त्रित' है। वर्ष के तीन ऋतु समयानुसार विभिन्न अन्नों के उत्पादन में निमित्त होते हैं। इनके अतिरिक्त तीन का एक समूह और है, जो अन्नों के उत्पादन में

पके फलों के आधार पर उदुम्बर को ऊर्क् कहना कोई अनुपयुक्त नहीं है। यह

मुख्य साधन हैं—पृथिवी (भूमि), वर्षा (पर्जन्य=जल), आतप (सूर्य)। वैदिक वाङ्मय में अनेक प्रकार से इस विषय का उल्लेख हुआ है—

इयं हि (पृथिवी) पशूनां योनिः। मै० सं० ३।७।७॥

अद्भ्यो ह्येष ओषधीभ्यः संभवति यत् पशुः। तै० सं० ६।३।६।४।१।

आग्नेयाः सर्वे पशव उच्यन्ते। काठ० सं० २६।७॥

इयं (पृथिवी) वा अन्नस्य प्रदात्रिका। मै० सं० २।५।७॥

आपश्च पृथिवी चान्नं, एतन्मयानि ह्यन्ना...

प्रशंसा (स्तुति) सोमापौष्ण पशुयाग[1] की हो, अथवा औदुम्बर यूप की, इसमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। तात्पर्य इतना है कि यह फलविधि न होकर स्तुतिरूप अर्थवाद है ॥२२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—जिन वाक्यों में अभिधावृत्ति से विधि सम्भव है, वहाँ लक्षणावृत्ति के आधार पर स्तुति कहना अन्याय्य होगा। आचार्य ने समाधान किया—

विधिश्चानर्थकः क्वचित् तस्मात् स्तुतिः प्रतीयेत, तत्सामान्यादितरेषु तथात्वम् ॥२३॥

[विधिः] विधि है [च] और [अनर्थकः] अनर्थक [क्वचित्] कहीं; [तस्मात्] इसलिए वहाँ [स्तुतिः] स्तुति [प्रतीयेत] जानी जाये, [तत्सामान्यात्]

का अनुष्ठान करनेवाला व्यक्ति अन्न का एक दाना भूमि में डालकर बहुत अन्न को प्राप्त करता है, यह आशय उक्त वाक्य में अन्तर्हित है। आपाततः प्रतीयमान समस्त पशुयाग-प्रक्रिया अन्नोत्पादन की प्रक्रिया के साथ सन्तुलित होती है। यह सामञ्जस्य इस धारणा को पुष्ट करता है कि 'पशुयाग'-पद में 'पशु'-पद अन्न का वाचक है, 'पशु' प्राणी का नहीं।

१. इस पशुयाग अथवा अन्नयाग के देवता सोम और पूषा हैं। सोम—जल तथा पूषा—सूर्य है। पूर्वांकित टिप्पणी में इसका स्पष्ट विवरण कर दिया है। आचार्यों ने बताया—पशुयाग में 'अग्निषोमीय' प्रकृतियाग है, 'सोमापौष्ण' विकृतियाग। वस्तुतः दोनों यागों के देवताओं में कोई अन्तर नहीं है। प्रकृति याग में 'अग्नि' प्रथम और 'सोम' द्वितीय है। विकृतियाग में इनके पौर्वापर्य का विपर्यय हो गया है। यहाँ 'सोम' प्रथम और 'पूषा' [सूर्य=अग्नि] द्वितीय है। देवताओं का यह क्रम अन्नोत्पादन-प्रक्रिया के एक रहस्य का उद्घाटन करता है।

जब अन्नोत्पादन के लिए भूमि में बीजारोपण किया जाता है, वहाँ उसे अंकुरित होने तक के लिए जल की अपेक्षा ऊष्मा (गरमी) की अधिक आवश्यकता रहती है। सर्वत्र बीजारोपण के अवसर पर 'अग्नि' [उष्णता] का प्राधान्य रहता है। बीज के अंकुरित हो जाने और भूमि से बाहर आ जाने तक 'प्रकृति-याग' की सीमा है। आगे 'विकृति-याग' का प्रारम्भ होता है—फल के आ जाने तक। यहाँ देवता के क्रम में विपर्यय हो गया है। 'सोम'=जल का प्रथम स्थान है, आतप-अग्नि-पूषा का द्वितीय। जब फसल भूमि के ऊपर सिर उठा लेती है, तब जल-सेचन के विषय में विशेष सावधानता बरतनी पड़ती है। 'प्रकृति'-यागगत देवताक्रम के 'विकृति'-याग में विपर्यय का यही रहस्य है।

उसी समानता से [इतरेषु] अन्य वाक्यों में [तथात्वम्] वैसा होना=स्तुति का होना जानना चाहिए।

कहीं-कहीं ऐसे वचन हैं, जहाँ विधिबोधित अर्थ सम्भव नहीं। ऐसे स्थलों में—विधि अनर्थक न हो—इस कारण स्तुति की कल्पना कर लेनी चाहिए। उसी समानता के अन्य वाक्यों में भी स्तुति की कल्पना करना अन्याय्य नहीं है।

वाक्य है—'अप्सुयोनिर्वा अश्व:' जल योनिवाला अर्थात् जल से उत्पन्न अश्व है; वाक्यों का अर्थ करने की शास्त्रीय पद्धति के अनुसार इसका अर्थ होगा—'जल योनिवाला अश्व करना चाहिए, अथवा जल से उत्पन्न अश्व की भावना करे' यह विध्यर्थ असम्भव है, क्योंकि जल से घोड़े को उत्पन्न करना अशक्य है। अत: यहाँ स्तुति की कल्पना कर ली जाती है—शान्त करनेवाले शीतल जलों से अश्व का सम्बन्ध यजमान के कष्ट को शान्त करनेवाला होवे। इसी प्रकार अन्यत्र भी जहाँ विध्यर्थ असम्भव हो, और स्तुति सम्भव हो, वहाँ स्तुति की कल्पना कर लेने में कुछ भी अन्याय्य नहीं है।

अन्य प्रसंगों में इस व्यवस्था को लागू करें। वाक्य है—'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' यह वायु में क्षिप्रगामिता की प्रवृत्ति को बोधित करता है। पूर्वनिर्दिष्ट पद्धति के अनुसार इसका अर्थ होगा—वायु को क्षिप्रगामी करना चाहिए अथवा क्षिप्रगामी करे। यह विध्यर्थ असम्भव है, क्योंकि वायु की क्षिप्रगामिता सर्वथा स्वभावसिद्ध है। वह पुरुष के प्रयत्न से साध्य नहीं है। इसलिए पूर्वविहित याग के अङ्गभूत वायु देवता की स्तुति के रूप में इस वाक्य का उपयोग निर्धारित किया गया। ऐसे ही 'यजमान: प्रस्तर:' [श० ब्रा०, १।८।३।११] इत्यादि वाक्यों को विधिपरक माना जाना उपयुक्त नहीं है। यजमान को प्रस्तरकार्य में नियुक्त करे—यजमानं प्रस्तरकार्ये नियोजयेत—ऐसा विधिरूप अर्थ समझना नितान्त अनुपयुक्त है। फलत: इसे स्तुति-वाक्य ही मानना संगत होगा। यह प्रसंग दर्श-पौर्णमास-निरूपण प्रकरण में है। इसका तात्पर्य यजमान की प्रशंसा-रूप स्तुति में है। जैसे प्रस्तर अपने स्वरूप व कार्य में दृढ़ है, ऐसे ही यजमान अपने अभीष्ट अनुष्ठान-कार्यों में दृढ़ व स्थिर रहता है। अत: पूर्वोक्त [सूत्र—१।२।७] व्यवस्था के अनुसार ऐसे प्रसंगों में विशिष्ट वाक्यों को अर्थवाद मानना शास्त्र-सम्मत है ॥२३॥

अन्य प्रसंग में भी एवंभूत वाक्यों को स्तुति माना जाना संगत है, विधि माना जाना नहीं। सूत्रकार ने बताया—

प्रकरणे सम्भवन्नपकर्षो न कल्प्येत, विध्यानर्थक्यं हि तं प्रति ॥२४॥

[प्रकरणे] प्रकरण में—अपने प्रसंग में [च] ही [संभवन्] सम्भव होते हुए, [अपकर्ष:] दूर खींचना अपने प्रकरण को छोड़ अन्य प्रकरण के साथ सम्बन्ध

जोड़ना रूप, [न] नहीं [कल्प्येत] कल्पना करनी पड़े। [विध्यानर्थक्यम्] विधि का आनर्थक्य होगा [हि] क्योंकि [तं प्रति] उस प्रकरण के प्रति जिसमें वह वाक्य पढ़ा है।

जिस प्रकरण में जो वाक्य पढ़ा है, स्तुति मानने पर यदि वह संगत है, तो स्तुति मानना प्रासंगिक है। यदि उसे विधि माना जाता है, और उस प्रकरण में विधि का सम्बन्ध सम्भव न होने पर अन्य तत्सम्बन्धी प्रकरण में उस वाक्य को खींचकर ले-जाया जाता है, तो यह अप्रासंगिक होगा, क्योंकि पठित प्रकरण में विधि अनर्थक है। उसका कोई प्रयोजन नहीं।

दर्श-पौर्णमास-प्रसंग में पाठ है—'यो विदग्धः स नैर्ऋतः, योऽशृतः स रौद्रः, यः शृतः स सदेवः, तस्मादविदहता शृतं कृत्यः स देवत्वाय' [तै० सं० २।६।३], अनुष्ठान में उपयोग होनेवाले पुरोडाश के विषय में यह कथन है। पकाते समय जो पुरोडाश जल जाय, वह निर्ऋति के लिए है; जो कच्चा रह जाय, वह रुद्र के लिए; जो ठीक पका है—न कच्चा रहा न जला—वह देवता के योग्य है। यदि इसे विधि माना जाता है, तो जिस यज्ञकर्म में निर्ऋति देवता के लिए पुरोडाश का कथन है, वहाँ इस विदग्धता के अंश को ले जाना होगा; क्योंकि दर्श-पौर्णमास-कर्म में निर्ऋति देवता के पुरोडाश के अनुपयोग से विदग्ध-वचन निरर्थक होगा। इसी प्रकार पुरोडाश के अशृतता:-वचन का सम्बन्ध उस कर्म अथवा प्रकरण से जोड़ना होगा, जहाँ रुद्रदेवताक पुरोडाश का विधान हो। यहाँ वह अनर्थक है।

यह विदग्धता और अशृतता-कथन अनर्थक न हो, यहाँ इसे स्तुति मानना संगत है। यह पुरोडाश पाक की प्रशंसा है, वह इस चतुराई से पकाया जाना चाहिए कि न वह जले न कच्चा रहे। इससे प्रत्येक पाक-प्रक्रिया के विषय में यह रहस्योद्‌घाटन होता है कि उसका यथावत् होना ही शुभावह है, कल्याणप्रद है। अन्यथा जला हुआ पाक पोषक रसों-तत्त्वों से हीन होकर मिट्टी हो जाता है, वह 'निर्ऋति' देवता के लिए है। 'निर्ऋति' पृथिवी का नाम है, जो मृद्रूप है; जला हुआ पाक मिट्टी में फेंक देने योग्य होता है। अधपका या कच्चा पाक 'रुद्र' देवता के लिए है, रुलानेवाला होता है। ऐसे अन्न का उपयोग किये जाने पर उदर-शूल आदि होकर रोना ही पड़ता है। यथावत् पाक ही देवों के लिए उपयुक्त है। शरीरस्थ इन्द्रिय-प्राण आदि देवों के लिए भी उचित रीति पर पकाया गया पुरोडाश (भोजन) हितकारी होता है, इसी तथ्य का स्तवन उक्त वचनों में किया गया है ॥२४॥

प्रस्तुत प्रसंग में विधि-वचन मानने पर सूत्रकार दोष बताता है—

विधौ च[1] वाक्यभेदः स्यात् ॥२५॥

---

१. रामेश्वर सूरि विरचित 'सुबोधिनी' व्याख्या के सूत्रपाठ में 'च' पद नहीं है।

[विधौ] विधि मानने पर (उक्त प्रसंग में) [च] और [वाक्यभेदः] वाक्य-भेद दोष [स्यात्] होगा।

'अविदहता श्रपयितव्यः' जल न जाय अन्न, इस प्रकार पकाना चाहिए, इस विधिवाक्य का स्तुतिपरक होते हुए भी 'यो विदग्धः स नैर्ऋतः' इत्यादि प्रशंसा-वचन दाहरूप गुण का विधायक भी क्यों न मान लिया जाय ? यह जिज्ञासा होने पर सूत्रकार ने समाधान किया—ऐसा मानने पर वाक्यभेदरूप दोष होगा। कोई वाक्य एक अर्थ को अभिव्यक्त कर चरितार्थ हो जाता है, यदि अन्य अर्थ भी उससे प्रकट किये जाने का प्रयास किया जाता है, तो वाक्यभेद-दोष होगा। शास्त्र में इस प्रकार अर्थाभिव्यक्ति को दोष माना जाता है।

इसी प्रकार 'औदुम्बरो यूपो भवति' को यदि विधि माना जाता है, तो इसके स्तुतिपरक वाक्य—'ऊर्जोऽवरुद्ध्यै' में वाक्यभेद होगा; इसे दो वाक्यों के रूप में प्रस्तुत कर अर्थ प्रकट करना होगा। पहले वाक्य का अर्थ होगा—औदुम्बर यूप प्रशस्त है; दूसरे का होगा—औदुम्बर यूप ऊर्जा के अवरोधन, स्थिर बनाये रखने के लिए है। वाक्यभेद-दोष से बचने के लिए इसे स्तुतिरूप अर्थवादवाक्य माना गया।

पर यहाँ अन्य आशंका उत्पन्न होती है—यदि इसे ('औदुम्बरो यूपो भवति' इत्यादि को) विधि नहीं माना जाता, तो प्रकृतियाग में विहित [खादिरो यूपो भवति] खादिर यूप की यहाँ प्राप्ति होगी; पर वह अभीष्ट नहीं। यहाँ विकृति-याग में औदुम्बर यूप ही अभीष्ट है। इसका समाधान ऐसे समझना चाहिए—यूप का विधान तो प्रकृतियाग से प्राप्त है, उस विहित यूप में प्रस्तुत वाक्य 'खादिरत्व' के स्थान पर औदुम्बरत्व का विधान करता है। इस प्रकार औदुम्बर यूप की प्रशंसा में उक्त वाक्य का तात्पर्य परिनिष्ठित होता है। फलतः विधि के समान दीखनेवाले वाक्यों का अर्थवादरूप वाक्य मानना ही शास्त्रसम्मत होगा॥२५॥

(हेतुमन्निगदाधिकरण—३)

अर्थवाद-विचार के क्रम में प्रथम निर्दिष्ट दो प्रकार के अर्थवादों का गत अधिकरणों (१,२) द्वारा विवेचन किया गया। शेष तीसरे[1] प्रकार के अर्थवादों का विचार चालू अधिकरण में प्रस्तुत करने की भावना से आचार्य सूत्रकार ने पूर्व-पक्ष कहा

हेतुर्वा स्यादर्थवत्त्वोपपत्तिभ्याम् ॥२६॥ (पू०)

[हेतुः] हेतु बताना [वा] ही तात्पर्य [स्तात्] है, प्रसंगगत वाक्यों का, [अर्थवत्त्वोपपत्तिभ्याम्] अर्थवत्ता=अर्थ-प्रयोजनवाला होने से तथा उपपत्ति-युक्ति से।

---

१. द्रष्टव्य—सूत्र (१।२।७) की अवतरणिका।

चातुर्मास्य यज्ञों के प्रसंग में वाक्य है—'शूर्पेण जुहोति', तेन हि अन्नं क्रियते' शूर्प (सूप, छाज) से होम करता है, क्योंकि उससे अन्न सिद्ध किया जाता है। यहाँ संशय है—इस वाक्य को हेतुविधि माना जाय ? अथवा स्तुतिपरक माना जाय ? स्तुतिपरक मानना युक्त न होगा, क्योंकि श्रुतिवचन (=शूर्पेण जुहोति) साक्षात् शूर्प से होम का विधान कर रहा है, अतः इसे हेतुविधि मानना उपयुक्त होगा; सूप होम का हेतु है, यह वाक्य होम के प्रति सूप की हेतुता का विधान करता है।

प्रश्न हो सकता है, सूप से होम कैसे होगा ? श्रुति ने तत्काल उत्तर दिया, 'तेन हि अन्नं क्रियते' क्योंकि उसके द्वारा अन्न शुद्ध-स्वच्छ किया जाता है। यज्ञ में उपयोग होनेवाले अन्न को सूप से जब तक शुद्ध-स्वच्छ न किया जाय, वह यज्ञिय नहीं हो पाता। शुद्ध अन्न के अभाव में यज्ञ न होगा, सूप के बिना अन्न शुद्ध न होगा। अतः सूप होम का साधन है, हेतु है। इसी अर्थ का विधान उक्त वाक्य करता है।

इस हेतुवाद से एक व्याप्ति का रूप सामने आता है—जिस-जिससे अन्न सिद्ध किया जाता है, वह-वह होम का साधन है, हेतु है। इससे चमचा, बटलोई आदि पात्रों का भी ग्रहण हो जाता है, जिनके द्वारा यज्ञिय पुरोडाश आदि पकाया या सिद्ध किया जाता है। 'तेन हि अन्नं क्रियते' इस वाक्य में 'तेन' यह तृतीया विभक्ति की सार्थकता, सप्रयोजनता इसी में निहित है कि अन्न-सिद्धिकारक दर्वी आदि अन्य द्रव्यों की होमसाधनता स्पष्ट हो जाती है। साक्षात् श्रुतिपठित 'शूर्प' पद अन्य होम-साधनों (दर्वी आदि) का उपलक्षण है, यह उपपत्ति भी है। यथाप्रसंग पठित कोई पद अपने समानधर्माओं का उपलक्षण=संग्राहक होता है, यह युक्तिसिद्ध माना जाता है। इन कारणों से 'शूर्पेण जुहोति' इत्यादि वाक्यों को अर्थवाद न मानकर हेतुविधि मानना अधिक संगत होगा ॥२६॥

उक्त वाक्यों में हेतुविधि न होकर ये अर्थवाद ही हैं, यह सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत करने की भावना से सूत्रकार ने कहा—

स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वादचोदना च तस्य ॥२७॥ (उ०)

[स्तुतिः] स्तुति है यह (यज्ञिय अन्नसाधन शूर्प की), [तु] यह पद सूत्र में पूर्वपक्ष के निराकरण के लिए पठित है। तात्पर्य है—'तेन हि अन्नं क्रियते' यह हेतुविधि न होकर शूर्प की स्तुति करता है, [शब्दपूर्वत्वात्] शब्दपूर्वक होने से। [अचोदना] चोदना=विधि न होने से [च] और [तस्य] दर्वी आदि यज्ञिय अन्नसाधन तथा पात्रसमूह की।

'तेन हि अन्नं क्रियते' यह विधिवाक्य नहीं है, जो दर्वी आदि का विधायक

---

१. तै० ब्रा०, १।६।५॥ वहाँ 'शूर्पेण जुहोति' इतना ही पाठ है।

माना जाय; क्योंकि 'तेन' यह तृतीयान्त सर्वनाम अपने प्रकरण में पूर्वपठित 'शूर्प' का परामर्शक है, अन्य दर्वी आदि का विधायक नहीं। होम-साधन की आकांक्षा होने पर 'शूर्पेण जुहोति' से वह आकांक्षा पूरी हो जाती है। होम-साधन के रूप में यह वाक्य 'शूर्प' का विधान करता है, तब अन्य किसी होम-साधन के खोज करने की अपेक्षा नहीं रह जाती। फलतः 'तेन हि अन्नं' इत्यादि वाक्य 'शूर्पेण जुहोति' विधि का स्तुतिपरक है। एक ने कहा—अन्न से होम होता है। दूसरे ने कहा—अजी, अन्न से क्या ? होम शूर्प से होता है। यदि शूर्प यज्ञिय अन्न को स्वच्छ-शुद्ध न करे, तो होम कैसे हो ? इस प्रकार 'तेन हि अन्नं' यह शूर्प की प्रशंसा है। ऐसा मानने पर न तो 'तेन' इस करणार्थक तृतीयान्त सर्वनाम से व्याप्ति की कल्पना करने की अपेक्षा रहती है, और न 'शूर्प' पद को दर्वी आदि का उपलक्षण मानने की आवश्यकता रहती है।

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य है—'शूर्पेण जुहोति' यह साक्षात् शब्द द्वारा निर्देश होने से विधि प्रत्यक्ष है। 'तेन हि अन्नं क्रियते' इसके आश्रय से व्याप्ति की कल्पना कर दर्वी (कर्छी, चमचा), पिठर (बटलोई) आदि को होम-साधन बताना आनुमानिक है। अनुमान की अपेक्षा प्रत्यक्ष बलवान् माना गया है। अतः 'तेन हि अन्नं' को हेतुविधि न मानकर स्तुतिवचन मानना संगत है ॥२७॥

यज्ञिय अन्न की पूर्णसिद्धि (पकाना आदि) के लिए दर्वी, पिठर आदि का उपयोग शूर्प की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'तेन हि अन्नं' से बोधित उनकी हेतुता यदि व्यर्थ है, अर्थात् उसका यह प्रयोजन नहीं है, तो उसे स्तुतिपरक वाक्य कहना भी अनुचित होना चाहिए। शिष्य की आशंका को आचार्य ने सूत्रित किया—

व्यर्थे स्तुतिरन्याय्येति चेत्[1] ॥२८॥

[व्यर्थे] व्यर्थ होने पर ('तेन हि अन्नं' का हेतुविधि प्रयोजन न माने जाने पर), [स्तुतिः] स्तुति है, यह कहना [अन्याय्या] अनुचित है, [इति चेत्] ऐसा यदि कहो—।

यज्ञिय अन्न के उत्कृष्ट साधन (पाक आदि द्वारा) दर्वी-पिठर आदि हैं। शूर्प में तो इस धर्म का नितान्त अभाव है। तब उक्त वचन ('तेन हि अन्नं' इत्यादि) को शूर्प का स्तुतिपरक बताना अनुचित ही कहा जाएगा ॥२८॥

---

१. जिन सूत्रों के अन्त में 'इति चेत्' पद है, उनको अगले सूत्र से मिलाकर एक सूत्र मानना, यह सभी प्राचीन सूत्रकारों की पद्धति है। सूत्रों के भाष्यकार शबर स्वामी ने सूत्रों का योग-विभाग कर व्याख्यान किया है। अनन्तरवर्त्ती व्याख्याकारों के अनुरूप इस रचना में सूत्रों का वही क्रम (भाष्यानुसारी) रक्खा गया है।

आचार्य ने उक्त आशंका का समाधान किया—

अर्थस्तु विधिशेषत्वाद्यथा लोके ॥२९॥

[अर्थः] अर्थ-प्रयोजन है [तु] तो, ('तेन हि अन्नं' इत्यादि का), [विधिशेषत्वात्] विधि का शेष होने से ('शूर्पेण जुहोति' विधिवाक्य का वह शेष—अङ्ग है, उसका स्तावक है, यही उसका ('तेन हि अन्न' इत्यादि का प्रयोजन है), [यथा] जैसे [लोके] लोक में।

'तेन हि अन्नं क्रियते' वाक्य को हेतुविधि न मानने पर व्यर्थ = निष्प्रयोजन बनाना युक्त नहीं; क्योंकि वह वाक्य 'शूर्पेण जुहोति' विधिविहित 'शूर्प' की स्तुति करता है। अनुमानित दर्वी, पिठर आदि से यज्ञिय अन्न का उत्कृष्ट पाक—अपने अर्थ का परित्याग कर, शूर्प द्वारा की गई अन्न-स्वच्छता का निर्देश करता हुआ 'शूर्प' की प्रशंसा करता है। यदि शूर्प द्वारा अन्न स्वच्छ न होता, तो आगे पाक के लिए पिठर आना सम्भव न था। लोक में ऐसा व्यवहार देखा जाता है। 'सिंहो माणवकः' यह बालक सिंह है, कहने पर 'सिंह' पद अपने वास्तविक प्राणिविशेष अर्थ का परित्याग कर बालक में शूरता व साहस आदि गुण दिखाते हुए उसकी प्रशंसा करता है। ऐसी ही स्थिति उक्त वाक्यों में समझनी चाहिए। अतः 'तेन हि अन्नं' इत्यादि वाक्य निष्प्रयोजन नहीं है ॥२९॥

सुजनतोष-न्याय का आश्रय लेते हुए आचार्य का कहना है, यदि यहाँ हेतुविधि मान लिया जाय, तो विधिवाक्यों में अव्यवस्था की सम्भावना बढ़ जायगी। सूत्रकार ने बताया—

यदि च हेतुरवतिष्ठेत निर्देशात्, सामान्यादिति चेदव्यवस्था विधीनां स्यात् ॥३०॥

[यदि] यदि [च] और (यज्ञिय अन्न की सिद्धि में उपयोगी अन्य दर्वी-पिठर आदि पात्रों को) [हेतुः] अन्नकरण—अन्नसाधन माना जाय, तब भी यह हेतुता शूर्प में ही [अवतिष्ठेत] अवस्थित होगी, स्थिर होगी, टिकेगी [निर्देशात्] निर्देश होने से, शब्द (शूर्पेण जुहोति) द्वारा साक्षात् कथित होने से। [सामान्यात्] 'तेन' इस तृतीया विभक्ति की समानता से अन्य पात्रों को अन्नकरण माना जाय [इति चेत्] ऐसा यदि कहा जाता है, तो [अव्यवस्था] अव्यवस्था—व्यतिक्रम [विधीनाम्] विधिवाक्यों का [स्यात्] हो जाये। तात्पर्य है—शूर्प से होम होने के स्थान पर दर्वी-पिठर आदि—जितने भी अन्न-साधन हैं—सबसे होम की प्राप्ति हो जायगी।

यदि 'तेन हि अन्नं क्रियते' वाक्य का सहारा लेकर, जो भी अन्न का साधन पदार्थ है, सबसे होम का विधान माना जाता है, तो यह क्रम दर्वी-पिठर पर ही

समाप्त नहीं हो जायगा; तब मिट्टी, हवा, पानी, हल, बैल, किसान, गाड़ी, जुआ, जांगी आदि अनेक पदार्थों के अन्नकरणत्व में समावेश को कौन रोकेगा ? विधि-वाक्यों की अव्यवस्था हो जायगी। तब 'जुहोति' और 'शूर्पेण जुहोति' में क्या अन्तर रह जायगा ? केवल 'जुहोति' कथनमात्र से होमविधान पूरा हो जायगा; चाहे जिस पात्र व साधन से होम कर लिया जाय। यह अव्यवस्था शास्त्र से सह्य न होने से साक्षात् श्रुतिबोधित शूर्प का ही अन्नकरणत्व में समावेश सम्भव है। वस्तुत: अन्न-करणत्व-कथन से शूर्प की स्तुति किया जाना ही अभिप्रेत है। उससे अन्न सिद्ध किया जाता है (तेन हि अन्नं क्रियते), यह तो केवल लोकव्यवहार का कथन है, जो अनुष्ठान में प्ररोचना के लिए किया जाता है। फलत: हेतु-वचनों का प्रयोजन स्तुति आदि अर्थवाद के रूप में ही समझना चाहिए; बे वाक्य विधि [चोदना] की कोटि में नहीं आते ॥३०॥ (इति हेतुवन्निगदाधिकरणम्—)

(अथ मन्त्राधिकरणम्[1]—४)

प्रस्तुत अधिकरण में—मन्त्र सार्थक हैं, या निरर्थक ? इस विषय पर विचार किया गया है। क्या मन्त्र—अपने शब्दानुसारी अर्थों को बोधित कर—याग के उपकारक हैं ? अथवा उच्चारणमात्र से ? यदि उच्चारणमात्र से उपकारक हैं, तो 'बर्हिर्देवसदनं दामि' (देवसदन[2] बर्हि=कुशा काटता हूँ) का विनियोग नियम से कुशा काटने में ही न होना चाहिए। कुशा काटने से भिन्न कर्म में भी इसका विनियोग हो जाए। यदि मन्त्र को शब्दानुसारी अर्थ-प्रकाशन द्वारा यज्ञ का उपकारक माना जाता है, तो अर्थानुसार जिस प्रसंग में जिस कर्म के साथ मन्त्र का अङ्गभाव जाना जाता है, उससे भिन्न कर्म का वह उपकारक नहीं हो सकता। इसलिए 'बर्हिर्दाति'[3] इस विनियोजक वाक्य के बिना भी उसका विनियोग कुशा के काटने में ही होगा; तब विनियोजक वचन अनावश्यक है। इससे ज्ञात होता है—मन्त्र केवल उच्चारणमात्र से यज्ञ के उपकारक हैं, अतः अनर्थक हैं। सूत्रकार

---

१. हलायुधकृत 'मीमांसा शास्त्र सर्वस्व' नामक व्याख्या में 'मन्त्रलिङ्गाधिकरम्' नाम दिया है। रामेश्वर सूरि विरचित 'सुबोधिनी' व्याख्या में 'मन्त्राणामर्थ-प्रत्यायनार्थत्वम्, अधि० ४' पाठ है।

२. यज्ञशाला के नियत स्थान पर कुशा बिछाकर उसपर यज्ञ-सम्बन्धी हवि अथवा पात्र रक्खे जाते हैं, उसका याम 'देवसदन' है।

३. 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इसका विनियोजक वाक्य 'बर्हिर्दाति' है। द्रष्टव्य मै० सं० ४।१।२॥

जैमिनि[1] ने इस पक्ष को आगामी नौ सूत्रों से प्रस्तुत किया है। उनमें प्रथम सूत्र है—

तदर्थशास्त्रात्[2] ॥३१॥ (पू०)

[तद्-अर्थ-शास्त्रात्] उस अर्थ का शास्त्र=ब्राह्मणग्रन्थ आदि द्वारा बोध कराने से—मन्त्रों का अनर्थक होना ज्ञात होता है।

संशय है—कर्मानुष्ठान के अवसर पर मन्त्रों का उच्चारण क्या उच्चारणमात्र से किसी अदृष्ट धर्म का जनक है? अथवा कर्म-सम्बन्धी अर्थ का स्मारक होने से कर्म में उसका उपयोग है? ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष का कथन है—मन्त्रों का कर्म में उपयोग उनके उच्चारणमात्र में ही समझना चाहिए; वे कर्म-सम्बन्धी अर्थ द्वारा कर्म में उपयोगी हों, ऐसा नहीं है। कारण है, मन्त्रों का उच्चारण किये जाने पर भी कर्म के साथ उनका सम्बन्ध ब्राह्मण आदि अन्य ग्रन्थों के वाक्यों द्वारा बनाया जाता है। उदाहरण है—

---

१. प्रतीत होता है, जैमिनि-काल से पूर्व सम्भवतः अल्पपठित याज्ञिक व पुरोहितों द्वारा इच्छानुसार कोई वेदमन्त्र पढ़कर संस्कारों, यज्ञों के अनुष्ठान की प्रथा चल गई थी। विशेष संस्कार व यज्ञादि कार्यों के साथ मन्त्रार्थ के सामञ्जस्य की उपेक्षा कर दी गई थी। कालान्तर में यह एक दृढ़ सम्प्रदाय बन गया, जिसके पोषक के रूप में यास्क ने निरुक्त [१।१५] में कौत्स नामक व्यक्ति का उल्लेख किया है। यद्यपि जैमिनि ने कौत्स अथवा इस मत के पोषक अन्य किसी आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया, पर दोनों [मीमांसा व निरुक्त] में विषय-प्रतिपादन की पर्याप्त समानता है।

कालिदास ने रघुवंश [५।१] में वरतन्तु के शिष्य कौत्स का उल्लेख किया है, जो राजा रघु के पास गुरुदक्षिणा-निमित्त धन प्राप्त करने की अभिलाषा से पहुँचा। वरतन्तु कृष्ण-यजुर्वेद की एक शाखा का प्रवक्ता है। उसके प्रिय शिष्य कौत्स का यजुःशाखाध्यायी होने के आधार पर याज्ञिक होना अधिक सम्भव है। यास्क और कालिदास द्वारा वर्णित कौत्स यदि एक व्यक्ति सम्भव है, तो उसके ऐतिहासिक काल-निर्णय पर इससे कुछ सहायता मिल सकती है।

२. पं० युधिष्ठिर मीमांसक का यह साधार विचार है कि जैमिनि के एक लम्बे सूत्र को पञ्चमी एकवचनान्त पदों को पृथक् कर भाष्यकार शबर स्वामी ने व्याख्या की सुविधा के लिए नौ सूत्र बना दिये हैं। एक सूत्र का रूप यह होगा—**तदर्थशास्त्राद् वाक्यनियमाद् बुद्धशास्त्रादविद्यमानवचनादचेतनार्थबन्धनादर्थविप्रतिषेधात् स्वाध्यायवदवचनादविज्ञेयादनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम्'**।

१. 'चतुर्भिरभ्रिमादत्ते' [श० ब्रा० ६।३।१।४३] अग्निचयन के अवसर पर चार मन्त्रों से 'अभ्रि'[1] का आदान (ग्रहण) करे। ये मन्त्र हैं—'देवस्य त्वा, गायत्रेण छन्दसा, अभ्रिरसि, हस्त आधाय' [यजु० ११, ९-११] इत्यादि। यदि मन्त्र सार्थक होते, तो मन्त्रगत—'बाहुभ्यां···हस्ताभ्याम्, आददे अभ्रिरसि··· त्वया वयमग्निं शकेम खनितुं सधस्थ आ, हस्त आधाय सविता बिभदभ्रिम्' इत्यादि मन्त्र-समुदाय में 'आददे' क्रिया से अभ्रि का आदान (यज्ञकर्म से कार्य के लिए हाथ से उसका उठाया जाना) सिद्ध था; पर मन्त्रों के सार्थक न होने के कारण ब्राह्मण प्रवक्ता यह निर्देश ('चतुर्भिरभ्रिमादत्ते') करता है।

२. इसी प्रकार 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य पूर्व आयुषि विदथेषु कव्या' [यजु०, २२।२]—जानकार याज्ञिक यज्ञों के अवसर पर यज्ञारम्भ में इस रशना (लगाम) को ग्रहण करते हैं; इस स्पष्ट मन्त्रलिंग से यज्ञ के प्रारम्भ में रशना का ग्रहण करना स्पष्ट हो जाता है, यदि मन्त्रों को सार्थक माना जाय। क्योंकि मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं है, इसीलिए ब्राह्मण में 'अश्वाभिधानीमादत्ते' विधान किया गया। उक्त मन्त्र का उच्चारण करने पर—ब्राह्मणवाक्य से यह जाना जाता है कि इससे अमुक कार्य करे। अतः मन्त्र अनर्थक हैं।

३. इसी प्रकार पकाये पुरोडाश को पात्र में फैलाने के अवसर पर 'उरु प्रथस्व' [यजु० १।२२] मन्त्र का उच्चारण किया जाता है। पर प्रथन का विधान 'इति प्रथयति' इस ब्राह्मणवाक्य द्वारा किया गया है। यदि मन्त्र सार्थक होता, तो कर्मानुष्ठानगत प्रथन-प्रक्रिया का वह बोध कराता। फलतः कर्म में मन्त्र के उच्चारण का प्रयोजन अन्य शास्त्र (ब्राह्मणवाक्य आदि) द्वारा बोध कराये जाने से मन्त्र का निरर्थक होना स्पष्ट हो जाता है ॥३१॥

मन्त्रों के आनर्थक्य में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

वाक्यनियमात् ॥३२॥

[वाक्य-नियमात्] वाक्यों का नियम होने से मन्त्रों में, ज्ञात होता है—मन्त्र निरर्थक हैं।

---

१. 'अभ्रिः स्त्री काष्ठकुद्दालः' अमरकोश, १।१०।१३ (वारिवर्ग) 'अभ्रि' और 'काष्ठकुद्दाल' ये पर्याय पद हैं। इसे भाषा में कुदाली, या कीला कहा जाता है। कुदाली वह है, जिसमें आगे का (लौह) फल लगभग तीन अंगुल चौड़ा, दृढ़ व पैना रहता है, डण्डा पर्याप्त लम्बा रहता है। जब फल चौड़ा न होकर नुकीला हो, तब यह 'कीला' कहाता है। ग्राम के बाहर तालाब के शुष्क भाग से शुद्ध मिट्टी कुछ गहराई से खोदकर यज्ञ में उपयोग के लिए लाई जाती है। मिट्टी का उपयोग चतुष्कोण 'उखा' गर्त को भरने में होता है। 'अभ्रि' का अग्रभाग काष्ठ आदि का हो, यह सन्दिग्ध है। विचार्य—क्या लौह धातु तब न था?

मन्त्रों में पद-क्रम की व्यवस्था, नियत आनुपूर्वी मानी जाती है। 'अग्निमीळे पुरोहितम्' अथवा 'अग्निर्मूर्द्धा दिवः' मन्त्रों के इस पद-क्रम एवं आनुपूर्वी में कोई व्यतिक्रम या विपर्यय नहीं होता। यदि वस्तुतः मन्त्र अर्थ का बोध कराने के लिए हों, तो पदों का व्यतिक्रम = उलट-फेर (ईडेऽग्निं पुरोहितम्, पुरोहितमग्निमीडे, अग्नि पुरोहितमीडे, अथवा दिवोऽग्निर्मूर्द्धा, मूर्द्धाग्निर्दिवः, दिवो मूर्द्धाऽग्निः) होने पर भी अर्थ उसी प्रकार जाना जाता है। यदि मन्त्र अर्थ का बोध कराने के लिए होता, तो पदों की आनुपूर्वी का नियम व्यर्थ हो जाता। अतः पद-क्रम की व्यवस्था से जाना जाता है—मन्त्र अनर्थक हैं ॥३२॥

इसी प्रसंग में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

बुद्धशास्त्रात् ॥३३॥

[बुद्ध-शास्त्रात्] जाने हुए कार्य का शास्त्र से निर्देश किये जाने के कारण ज्ञात होता है, शास्त्र-वाक्य अनर्थक है।

यज्ञानुष्ठान में उसी व्यक्ति का अधिकार माना गया है, जो यज्ञसम्बन्धी क्रिया-कलाप का पूर्ण ज्ञाता हो।[1] 'अग्नीदग्नीन् विहर'[2] यह विधि सोमयाग की है। बहिष्पवमान स्तोत्र के अन्त में अध्वर्यु अग्नीत्—ऋत्विक् को आदेश देता है—हे अग्नीत्! अग्नियों का विहरण करो, आग्नीध्रीय अग्नि से अङ्गारों को धिष्ण्य-संज्ञक निर्दिष्ट स्थानों पर ले जाओ [का० श्रौ० ९।७।४]। अनुष्ठान-प्रक्रिया के जानकार ऋत्विक् को वही बात जताना ऐसा ही है, जैसे कोई जूता-पहने व्यक्ति को और जूता पहनाने का प्रयास करे। जैसे यह निरर्थक है, ऐसे ही कर्म के जानकार ऋत्विक् को मन्त्र द्वारा निर्देश, मन्त्र की निरर्थकता का द्योतक है।

इसी प्रकार 'बर्हि स्तृणीहि' 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि'—बर्हि बिछाओ, प्रज्वलित होते अग्नि के लिए सामिधेनी मन्त्रों का उच्चारण करो, आदि आदेश भी मन्त्रों की निरर्थकता को सिद्ध करते हैं। यदि मन्त्रोच्चारण को धर्म-विशेष अदृष्ट का जनक माना जाता है, तो इसका भी यही तात्पर्य है कि मन्त्र अर्थ द्वारा कर्म का उपकारक न होने से निरर्थक है ॥३३॥

मन्त्र के आनर्थक्य में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अविद्यमानवचनात् ॥३४॥

[अविद्यमान-वचनात्] संसार में अविद्यमान पदार्थ का मन्त्र द्वारा कथन किये जाने से मन्त्र का अनर्थक होना सिद्ध है।

यज्ञोपयोगी अथवा मानव-अभ्युदय के उपयोगी अर्थों का प्रकाशन मन्त्र का

---

१. द्रष्टव्य—मीमांसा सूत्र [३।८।१८]
२. मै० सं०, [३।८।१०, श० ब्रा० ४।२।५।११]

उद्देश्य माना जाता है; परन्तु अनेक ऐसे मन्त्र हैं, जो अनहोने अर्थ का प्रकाशन करते हैं। **'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यानाविवेश।'**[1] ऐसा ही मन्त्र है — 'चार सींग, तीन इसके पैर, दो सिर, सात हाथ इसके हैं, तीन प्रकार से बँधा हुआ वृषभ बार-बार शब्द करता है, ऐसा महादेव मर्त्यों में प्रविष्ट हुआ।' किसी भी प्रकृतियाग या विकृतियाग में ऐसी वस्तु का उपयोग नहीं देखा जाता, न लोक में ऐसा पदार्थ दृष्टिगोचर है। मैत्रायणी संहिता [१।६।२] के अनुसार इस मन्त्र का विनियोग अग्नि के उपस्थान में है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [५।१७।४] के अग्न्याधान-प्रकरण में घृत से लिपटी तीन समिधाओं को इस मन्त्र द्वारा अग्नि में छोड़ने का विधान है। ये विनियोग नितान्त भी मन्त्रार्थ के अनुरूप नहीं हैं। इससे मन्त्र का आनर्थक्य स्पष्ट होता है।

इसी प्रकार **'मा मा हिंसीः'** इस वैदिक मन्त्र का विनियोग चातुर्मास्य इष्टि के अवसर पर यजमान के केश-वपन (क्षौर कर्म) में बताया गया है।[2] 'उस्तरे! मेरी हिंसा मत कर।' परन्तु केशों के काटने में हिंसा होती ही नहीं; ऐसी दशा में हिंसा का प्रतिषेध सर्वथा निरर्थक है। उच्चारणमात्र से मन्त्र का उपयोग अदृष्टार्थ मानने पर मन्त्र का आनर्थक्य स्वतः स्पष्ट हो जाता है ॥३४॥

मन्त्र के आनर्थक्य में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अचेतनार्थ[3]बन्धनात् ॥३५॥

[अचेतन-अर्थ-बन्धनात्] अचेतन पदार्थों को लक्ष्य कर उनसे अर्थ—याच्ञा, प्रार्थना का निबन्धन—सम्बन्ध होने से जाना जाता है—मन्त्र अर्थ-हीन हैं।

वैदिक साहित्य में अचेतन पदार्थों को सम्बोधन विभक्ति से अनेकत्र निर्देश किया गया है। उसका एक उदाहरण है—**'शृणोत ग्रावाणः'**[4] हे सोम को कूटने-पीसनेवाले पत्थरो! सुनो। क्या जड़ पदार्थ ऐसा कथन या प्रार्थना सुन सकते हैं? और सुनकर क्या उसका उत्तर या समाधान दे सकते हैं? कदापि नहीं। इससे ज्ञात होता है, मन्त्र का अर्थ कुछ नहीं, उसका कर्म में अदृष्टार्थक उच्चारणमात्र प्रयोजन है।

अन्य उदाहरण दिया जाता है—**'ओषधे त्रायस्वैनम्'**[5] हे दर्भ नामक ओषधे!

---

१. ऋग्वेद, ४।५८।३॥

२. द्रष्टव्य—कात्यायन श्रौतसूत्र, ५।२।१७॥

३. रामेश्वर सूरि विरचित 'सुबोधिनी' व्याख्या में 'सम्बन्धात्' पाठ है।

४. तैत्तिरीय संहिता, १।३।१३॥

५. " 'ओषधे त्रायस्वैनम्' मन्त्र तैत्तिरीय संहिता में चार [१, २, १॥ १, ३, ५॥ ६, ३, ३॥ ६, ३, ६] स्थानों पर पठित है। प्रथम स्थान [१।२।१] में यह

इसकी रक्षा करो। केश-वपन (बाल काटने) आदि के अवसर पर इस वाक्य को बोला जाता है। यही इसका विनियोग है। वैदिक वाङ्मय में तीन अवसरों पर इसका विनियोग बताया है—१. यजमान के केशवपन; २. यूपच्छेदन, ३. पशु-च्छेदन। दूभ घास के तृण से ऐसी प्रार्थना का कोई सामञ्जस्य न होने के कारण मन्त्र का आनर्थक्य स्पष्ट होता है।

एक अन्य उदाहरण—**'स्वधिते मैनं हिंसीः'** [तै० सं०, १।२।१] प्रस्तुत किया जाता है—हे उस्तरे! इसकी हिंसा मत कर। यजमान के केश-वपन में इसका विनियोग है। उस्तरे से की जानेवाली प्रार्थना के असामञ्जस्य से मन्त्रों का अनर्थक होना सिद्ध है ॥३५॥

मन्त्रों के आनर्थक्य में अन्य हेतु दिया—

अर्थविप्रतिषेधात् ॥३६॥

[अर्थ-विप्रतिषेधात्] अर्थ का विप्रतिषेध—विरोध होने से मन्त्र अनर्थक हैं।

यदि यह माना जाता है कि मन्त्र के पदों का वस्तुतः कोई अर्थ है, तो उससे कहे गये अर्थ में स्पष्टतया परस्पर विरोध प्रतीत होता है। मन्त्र है—**'अदितिर्द्यौ-रदितिरन्तरिक्षम्'** [ऋ० १।८९।१०॥ अथर्व० ७।६।१] यह अदिति द्यौः—

मन्त्र अग्निष्टोम में यजमान के केश काटते समय केशों पर कुशा रखने में; दूसरे स्थान [१।३।५] में तथा तीसरे स्थान [६।३।३] में यूपच्छेदन के समय वृक्ष पर कुशा के दो तृण रखने में; तथा चौथे स्थान [६।३।९] में पशु का पेट छेदन करते समय कुशा के दो तृण रखने में विनियुक्त है।

मैत्रायणी संहिता १।२।१ में यजमान के दीक्षा-प्रकरण में पाठ, तथा ३।६।२ में केश-वपन करते समय केशों पर कुशा के तृण रखने में विनियोग है। मै० सं० १।२।१४ में यूपच्छेदन में पाठ, तथा ३।१।२ में वृक्ष को काटते हुए उसपर कुशा के दो तृण रखने में विनियोग है, और मै० सं० १।२।१६ में पशु-प्रकरण में पाठ, तथा ३।१०।१ में पशु का पेट छेदन करते समय कुशा के दो तृण रखने में विनियोग दर्शाया है।

इस विषय में आपस्तम्ब आदि श्रौतसूत्र भी देखने चाहिएँ। इसी प्रकार शुक्ल यजुः ४।१; ५।४२; ६।१५ में पठित मन्त्र शतपथ ब्राह्मण के अनुसार क्रमशः यजमान के केशवपन, यूपच्छेदन और पशुच्छेदन के समय कुशतृण रखने में विनियुक्त हैं। इन तीन विनियोगों में तृतीय विनियोग विशेष विचारणीय है। इसपर हमने इस भाग के साथ पूर्वमुद्रित 'श्रौतयज्ञ-मीमांसा' के पशुयाग-प्रकरण में विस्तार से विचार किया है। अतः पाठक इस विषय में वहीं देखें।" [प्रस्तुत सूत्र के शाबर भाष्य हिन्दी व्याख्यान के विवरण में—युधिष्ठिर मीमांसक]।

द्युलोक है, अदिति अन्तरिक्ष है। एक ही अदिति—द्युलोक और अन्तरिक्षलोक दोनों होना—सम्भव न होने से परस्पर विरुद्ध होने के कारण मन्त्र की अनर्थकता को सिद्ध करता है। कहीं-कहीं विरुद्धार्थक मन्त्रांश भी देखने में आते हैं। एक स्थान पर कहा—**'एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे'** रुद्र एक है, दूसरा नहीं। इसके विरुद्ध—**'असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्'** कथन करता है। जो रुद्र भूमि पर विद्यमान हैं, वे सहस्रों हैं, असंख्यात हैं। पहले मन्त्र में रुद्र को एक बताया, दूसरे में सहस्रों कहा। ये दोनों मन्त्र परस्पर-विरुद्ध हैं। दूसरे मन्त्र में 'सहस्रों' कहकर 'असंख्यात' कहना भी परस्पर विरोध है। पहले में संख्या परिमित है, दूसरे में अपरिमित; यह स्पष्ट विरोध है। अतः मन्त्रों का उपयोग उच्चारणमात्र में समझना चाहिए, अर्थ-बोधन में नहीं ॥३६॥

मन्त्रों की अनर्थकता में यह अन्य हेतु है—

स्वाध्यायवदवचनात् ॥३७॥

[स्वाध्यायवत्-अवचनात्] स्वाध्याय के समान अर्थ के कथन का विधान न होने से।

मन्त्र का उच्चारणरूप में पाठमात्र करना 'स्वाध्याय' कहा जाता है। स्वाध्याय के लिए शास्त्र में विधि उपलब्ध है—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'[1] [माश० ११।५।७।१०, तै० आ० २।१५।७] स्वाध्याय अर्थात् वेदमन्त्र का उच्चारण करते हुए पाठमात्र से अध्ययन—अक्षराभ्यासरूप में स्मरण करना चाहिए। परन्तु अर्थज्ञान के विधान का निर्देश कहीं उपलब्ध नहीं होता।

वेदाध्ययन के अवसर पर 'पूर्णिका' नाम की स्त्री याज्ञिय उपयोग के लिए धान कूट रही है। आकस्मिक रूप से छात्र धान कूटने में विनियुक्त मन्त्र को उच्च स्वर से बोलते हुए स्मरण कर रहा है। धान कूटना और उसमें विनियुक्त मन्त्र का पाठ करना दोनों समकालिक हैं; फिर भी छात्र द्वारा किये जाते मन्त्रपाठ का प्रयोजन धान कूटने की क्रिया का बोध कराना नहीं है। वह केवल मन्त्र कण्ठस्थ कर रहा है। तात्पर्य है, अर्थबोध के बिना भी धान कूटा जाता है, मन्त्रार्थ का वहाँ कोई उपयोग नहीं। अतः मन्त्र को निरर्थक मानना युक्त है ॥३७॥

मन्त्रों के आनर्थक्य में अन्य हेतु दिया—

अविज्ञेयात् ॥३८॥

[अविज्ञेयात्] अनेक मन्त्रगत पदों के अर्थ जानने योग्य न होने से मन्त्र अनर्थक हैं।

---

१. द्रष्टव्य—श० ब्रा० ११।५।७।१०; तै० आ० २।१५।७॥

अनेक मन्त्र ऐसे हैं, जिनका अर्थ जानना अशक्य है। वहाँ ऐसे पदों का प्रयोग हुआ है, जिनके अर्थ जानने में कोई पद्धति असन्दिग्ध कारगर नहीं रहती। उदाहरणार्थ कुछ मन्त्र हैं—

अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे सनेम्यभ्वं मरुतो जुनन्ति।
अग्निश्चिद्धि ष्मातसे शुशुक्वानापो न द्वीपं दधति प्रयांसि॥
—ऋ० १।१६९।३

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु॥—ऋ०१०।१०६।६
एकया प्रतिधापिबत् साकं सरांसि त्रिंशतम्।
इन्द्रः सोमस्य काणुका॥ —ऋ० ८।७७।४

इन मन्त्रों का क्या कोई यज्ञोपयोगी अथवा मानव-जीवनोपयोगी अर्थ किया जा सकता है ? इससे मन्त्रों की अनर्थकता स्पष्ट है॥३८॥

मन्त्रों के आनर्थक्य में अन्तिम हेतु प्रस्तुत किया—

अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम् ॥३९॥

[अनित्यसंयोगात्] अनित्य पदार्थों का सम्बन्ध होने से मन्त्रों में [मन्त्रा-नर्थक्यम्] मन्त्र अनर्थक हैं।

जब मन्त्र का प्रयोजन, यज्ञोपयोगी आदि अर्थ का अभिव्यक्त करना माना जाता है, तदनुसार अर्थ करने का प्रयास होता है, तब एक अन्य बाधा सन्मुख आती है कि मन्त्रों के साथ अनित्य पदार्थों का सम्बन्ध है। तात्पर्य है, मन्त्रों में स्पष्ट ही ऐसे पदार्थों का वर्णन है, जो अनित्य हैं। जब मन्त्र अनादि-नित्य हैं, तो अनन्तर होनेवाले अनित्य पदार्थों का वर्णन उसमें कैसे सम्भव है ? उदाहरणार्थ एक मन्त्र है—

किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः॥
—ऋ० ३।५३।१४

यहाँ 'कीकट' किसी देशविशेष का नाम है, प्रमगन्द नाम का कोई राजा है, नैचाशाख किसी नगर का नाम है। ऐसा अर्थ इन पदों का किया जाता है। यदि मन्त्र का यही अर्थ है, और अर्थ की अभिव्यक्ति उसका प्रयोजन है, तो इन देश, नगर व राजा की स्थिति से पहले मन्त्र का अस्तित्व माना जाना सम्भव न होगा, जो अभीष्ट नहीं, क्योंकि मन्त्र को अनादि नित्य माना गया है। अतः भलाई इसी में है कि मन्त्र को अनर्थक माना जाय, और यज्ञादि में उच्चारणमात्र उसका प्रयो-जन स्वीकार किया जाय, जो याज्ञिक के प्रति किसी अदृष्ट धर्म-विशेष का जनक होता है॥३९॥

इकत्तीसवें सूत्र से लगाकर उन्तालीसवें सूत्र तक कुल नौ हेतुओं के आधार पर यज्ञों में मन्त्रों के उच्चारणमात्र की उपयोगिता बताई गई और स्पष्ट किया गया कि मन्त्र अपने अर्थ द्वारा यज्ञसम्बन्धी क्रिया का निर्देश करे; ऐसा कोई प्रयोजन उसका नहीं है। यह सम्भावित हेतुओं के आधार पर पूर्वपक्ष की भावना को सूत्रकार ने अभिव्यक्त किया। उसके समाधान की भावना से अब आचार्य सिद्धान्त-सूत्र का अवतरण करता है—

अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः ॥४०॥

[अविशिष्टः] विशिष्ट—भिन्न नहीं है, [तु]तो[वाक्यार्थः]वाक्यार्थ मन्त्रों का। तात्पर्य है—मन्त्रों का वाक्यार्थ लौकिक वाक्यार्थ से भिन्न नहीं होता। जहाँ तक वाक्यार्थ का प्रश्न है, लोक और वेद में यह समान है।

सूत्र में 'तु' पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है। अभी तक गत सूत्रों द्वारा जो विस्तृत पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया गया, वह समाप्त हुआ; अब उसका समाधान किया जाता है। मन्त्र, पद-वाक्य-समूह हैं। प्रत्येक पद का अपना सामान्य अर्थ होता है; जब क्रिया-कारक आदि अनेक पद मिलकर वाक्य बनाते हैं, तब वह एक असाधारण अर्थ का कथन करते हैं। अर्थबोधन की यह पद्धति लौकिक वाक्य एवं वैदिक वाक्य दोनों जगह समान है। इसलिए लौकिक वाक्य यदि अर्थवान् है, तो वैदिक वाक्य के सार्थक होने में कोई बाधा नहीं है।

यदि कहा जाय—लोक में बोद्धा और बोधयिता दोनों चेतन आमने-सामने उपस्थित होकर क्रिया-कारकरूप पद-समूह = वाक्य से अर्थ का बोधन करते-कराते एक-दूसरे के उपकारक होते हैं, परन्तु यह स्थिति वैदिक वाक्य में नहीं है; वेद में अदृश्य देवता और अचेतन यज्ञाङ्गों के साथ वार्त्तालाप यज्ञ का कोई उपकारक नहीं होता। परन्तु मन्त्र का पाठ यज्ञार्थ ही हुआ है, इसलिए यज्ञ से उसका सम्बन्ध अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए। वह सम्बन्ध यज्ञकाल में मन्त्रोच्चारण द्वारा ही सम्भव होगा, जिसका प्रयोजन अदृष्ट धर्मविशेष को उत्पन्न करना है जो गत-सूत्रों द्वारा विस्तार से प्रतिपादित हुआ है।

यह कथन वस्तुतः ठीक नहीं; क्योंकि यज्ञों में मन्त्रों का उच्चारण यज्ञसम्बन्धी अर्थ का ज्ञान कराने के लिए होता है। अदृश्य देवताओं तथा यज्ञाङ्गों का संलाप निरर्थक नहीं है; यज्ञ एवं यज्ञाङ्गों के सम्बन्धी क्रिया-कलाप का प्रकाशन ही उसका प्रयोजन है। यज्ञसम्बन्धी क्रियासमूह के जाने बिना यज्ञ का अनुष्ठान असम्भव होगा। यज्ञ का क्षेत्र महान् विस्तृत है; विश्वरचना में विविध नैसर्गिक परिस्थितियों का क्रमानुक्रम यज्ञ का ही रूप है, जिनकी गहराइयों को मन्त्र द्वारा अभिव्यक्त किया जाना सम्भव होता है। अतः मन्त्रों के सार्थक होने में किसी प्रकार के संशय का अवकाश नहीं ॥४०॥

शिष्य आशंका करता है—तब क्या 'तां चतुर्भिरादत्ते' विधिवाक्य अनर्थक माना जाय ? आचार्य ने समाधान किया—

गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ॥४१॥

[गुणार्थेन] चार की संख्यारूप—गुणलाभ के लिए [पुनः] फिर [श्रुतिः] पाठ किया गया है।

यज्ञोपयोगी कार्य के लिए अभ्रि का आदान 'आददे' इस मन्त्रलिङ्ग से स्पष्ट होने पर भी 'तां चतुर्भिरादत्ते' यह विधान मन्त्रों की चार संख्यारूप गुण के लाभार्थ पुनः पढ़ा गया है। कार्य-सम्पादनार्थ अभ्रि (कुदाली) को हाथ से पकड़ने के अवसर पर यजु[1] के चार मन्त्रभाग विनियुक्त हैं। वहाँ संख्या का कोई निर्देश नहीं है। ऐसी दशा में 'व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत' के समान विकल्प प्राप्त होगा। यज्ञ करने में जैसे धान और जौ का विकल्प है—चाहे धान से यज्ञ करे, चाहे जौ से करे; जो उपस्थित हो, उसी से कर लो, इसी प्रकार मन्त्रों के चार होने पर भी विशेष विधि के अभाव में विकल्प सम्भव है, चाहे एक मन्त्र से अभ्रि का आदान करे, चाहे अधिक से अथवा समुच्चित चारों से। ऐसी स्थिति में 'तां चतुर्भिरादत्ते' यह विधि चारों मन्त्र-भागों के समुच्चय का नियमन करती है।[2] मन्त्रों से अभ्रि का आदान प्राप्त होने पर इस विधि से केवल चार संख्यारूप विशेष गुण का नियमन हुआ है। इसके द्वारा मन्त्र की सार्थकता में कोई बाधा नहीं आती। अभ्रि का आदान मन्त्र-लिंग से ज्ञात हो जाता है। अतः मन्त्र निरर्थक नहीं ॥४१॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है—'इमामगृभ्णन्' इति 'अश्वाभिधानीमादत्ते' विधि में विशेष कथन क्या माना जाएगा ? आचार्य ने समाधान किया—

परिसंख्या ॥४२॥

[परिसंख्या] परिसंख्या, स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, जबकि 'इति अश्वाभिधानीमादत्ते' वाक्य अश्वाभिधानी आदान का प्रत्यक्ष निर्देश कर रहा है।

सन्दिग्ध स्थलों में शास्त्र द्वारा निर्णय के लिए तीन प्रकार या मार्ग सुझाये गये हैं—विधि, नियम, परिसंख्या। कर्मानुष्ठान के अवसर पर किसी विशेष क्रिया की पद्धति आदि के विषय में सन्देह हो जाता है कि अमुक क्रिया को किस प्रकार किया

---

१. द्रष्टव्य—यजुर्वेद, ११।९-११॥ मन्त्रों का निर्देश ३१ सूत्र की व्याख्या में देखें।

२. सूत्रकार ने स्वयं इस विषय में आगे [अ० १२, पा० ३, सूत्र २९-३०॥ यह सूत्र-संख्या 'रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनी व्याख्या के सूत्रपाठानुसार है] विवेचन प्रस्तुत किया है।

जाय ? जहाँ कार्य अन्य किसी प्रकार से प्राप्त न हो, वैदिक वाक्य द्वारा साक्षात् उसका विधान किया जाय, वह 'विधि' नामक प्रकार है। जैसे—'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' स्वर्ग की कामनावाला ज्योतिष्टोम याग करे। 'ऐन्द्र्या गार्हपत्य-मुपतिष्ठते' इन्द्र देवतावाली ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करता है, इत्यादि।

जिस कार्य के लिए समान बलवाले दो आधार हों, वहाँ विकल्प प्राप्त होता है; ऐसे अवसर पर दोनों में से एक का नियमन करना होता है, वह 'नियम-विधि' है। जैसे—'उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति' उदित-अनुदित होम के दोनों वाक्य समान-बल हैं। तब होता एक का नियम करता है—उदित में ही होम करूँगा अथवा अनुदित में ही होम करूँगा। कहीं यदि ऐसा नियमन अपेक्षित नहीं रहता, तो वहाँ 'विकल्प' मान लिया जाता है। जैसे—'व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत' धान अन्न से याग करे; जौ अन्न से याग करे। यहाँ नियमन न होने से विकल्प है; जो उपस्थित हो अथवा सुलभ हो, उसी से याग कर ले। 'परिसंख्या विधि' वह कहाती है, जहाँ इष्ट और अनिष्ट दोनों में कार्य-प्राप्ति होने पर अनिष्ट के परि-त्याग का विधान किया जाता है। जैसे—'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' [यजु० २२।२] मन्त्र के 'अगृभ्णन्' पद से घोड़ा और गदहा दोनों की लगाम (रशना) पकड़ना प्राप्त होता है। घोड़े की लगाम पकड़ना इष्ट है, गदहे की लगाम पकड़ना इष्ट नहीं है। ऐसी दशा में 'अश्वाभिधानीमादत्ते' वाक्य घोड़े की लगाम पकड़ने का विधान करता है। परन्तु घोड़े की लगाम पकड़ना, सामान्यरूप में 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' इस मन्त्र-सामर्थ्य से प्राप्त है। तब 'अश्वाभिधानीमादत्ते' वाक्य का तात्पर्य—गदहे की लगाम न पकड़े—यह करना होगा। ऐसा अर्थ 'परिसंख्याविधि' के आधार पर किया जाता है।

किसी वाक्य का तात्पर्य 'परिसंख्याविधि' के आधार पर निकालने से तीन दोष सामने आते हैं—स्वार्थ का त्याग, पदार्थ की कल्पना, सामान्यतः प्राप्त अर्थ की बाधा। 'अश्वाभिधानीमादत्ते' वाक्य का जब यह तात्पर्य निकाला जाता है कि 'गदहे की लगाम न पकड़े' तब इस वाक्य का जो अपना अर्थ है—'घोड़े की लगाम पकड़ता है' उसका परित्याग करना पड़ता है; यह पहला दोष है। उक्त वाक्य का जो अपना अर्थ नहीं है—'गदहे की लगाम न पकड़े' उसकी कल्पना करनी पड़ती है; यह परार्थकल्पना दूसरा दोष है। मन्त्र-सामर्थ्य से सामान्य रूप में जो अर्थ प्राप्त होता था—'गदहे की लगाम पकड़े' उसे बाधित करना पड़ता है। यह तीसरा दोष है।

सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र द्वारा यह स्पष्ट किया है कि 'अश्वाभिदानीमादत्ते'[1]

---

१. 'अश्वाभिधानीमादत्ते' प्रसंग 'अभ्रि-आदान' के प्रकरण में ही पठित है। आहवनीय के पूर्व में 'उखा' नामक चौकोर गर्त्त को भरने के लिए शुद्ध मिट्टी

वाक्य में 'परिसंख्याविधि' की योजना अनावश्यक है। कारण यह है—'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' केवल इतने सन्दर्भ से अभिमत वाक्यार्थ पूरा नहीं होता, प्रत्युत 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य, इति अश्वाभिधानीमादत्ते' इतने सन्दर्भ से वाक्यार्थ पूरा होता है। इसका अर्थ है—ऋत की इस रशना को पकड़ा, यह बोलते हुए घोड़े की लगाम पकड़ता है। इतने समुच्चित सन्दर्भ का इकट्ठा अर्थ करने पर 'गदहे की लगाम पकड़ना'-रूप सामान्य अर्थ प्राप्त ही नहीं होता, तब उसके परिहार के लिए 'परिसंख्याविधि' का प्रयोग अनावश्यक है, अतः उक्त तीनों दोषों की सम्भावना भी नहीं रहती ॥४२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—'उरु प्रथस्व इति पुरोडाशं प्रथयति' वाक्य के विषय में क्या समझना चाहिए? आचार्य ने बताया—

अर्थवादो वा ॥४३॥

[अर्थवादः] अर्थवाद है यह, [वा] पद पूर्वोक्त पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है।

प्रथम यह कहा गया कि 'उरु प्रथस्व' मन्त्र से ही पुरोडाश का प्रथन = फैलाना ज्ञात हो जाता है, फिर इस मन्त्र को बोलकर 'इति पुरोडाशं प्रथयति' कहना अनावश्यक है, यदि मन्त्र सार्थक हो। क्योंकि मन्त्रोच्चारण के अनन्तर आवश्यक रूप से यह वाक्य बोला जाता है, इससे मन्त्र का निरर्थक होना ज्ञात होता है। इस पूर्वपक्ष का प्रस्तुत सूत्र द्वारा आचार्य ने समाधान किया—'उरु प्रथस्व' मन्त्र से पुरोडाश का प्रथन प्राप्त होने पर 'इति पुरोडाशं प्रथयति' वाक्य का प्रयोजन कर्म की स्तुति करना है, अतः इसे स्तुतिरूप अर्थवाद समझना चाहिए।

ग्राम से बाहर किसी तालाब के शुष्क भाग से खोदकर लाई जाती है। उस मिट्टी को ढोने के लिए वाहन आवश्यक है, जो घोड़े या गदहे के रूप में उपलब्ध रहता है। घोड़े को लगाम लगाकर पकड़े हुए तथा गदहे को बिना लगाम लाया-लेजाया जाता है। उसी विषय में यह विधान है। उस समय और आज घोड़े व गदहे को कार्यनिमित्त लाने-लेजाने का यह क्रम तदवस्थ विद्यमान है।

याज्ञिक प्रसंगों में एक समय ऐसा आया, जब यज्ञ में बाह्य आडम्बरों का बोलबाला हुआ, यज्ञ की मूल भावनाओं को भुला दिया गया। क्रिया-विषयक साधारण बातों को अनावश्यक महत्त्व देकर उनपर लम्बी परिचर्चाएँ चलाई जाती रहीं। उसी का परिणाम यह घोड़ा-गदहा-विषयक सूक्ष्म विवेचन है। केवल मिट्टी ढोकर लाना आवश्यक है। सुविधानुसार दोनों या किसी एक के द्वारा यह कार्य किया जा सकता है। किसी विशिष्ट पद्धति के आश्रय से अनुकूल अदृष्ट की कल्पना दुराशामात्र है।

गोल पुरोडाश पिण्ड को पूरे कपाल (गोल मृत्पात्र—मृण्मय तश्तरी) पर फैलाना 'प्रथन' है। इसमें पुरोडाश का गुरुत्व (भार) तो नहीं बढ़ता, परन्तु परिमाण बढ़ जाता है। जो पुरोडाश-पिण्ड मुट्ठी में आ रहा था, अब पूरे कपाल पर फैलकर उसका परिमाण जैसे बढ़ गया है; उसी प्रकार वह कर्म यज्ञकर्त्ता को पुत्र-पशु आदि प्राप्ति की कामनापूर्ति से बढ़ानेवाला हो, यह प्रथन कर्म की प्रशंसा है। मन्त्र से प्रथन-कर्म प्राप्त होने पर पुनः उसका कथन, प्रथन-कर्म की प्रशंसा द्वारा यज्ञकर्त्ता की वृद्धि का द्योतक होने से अर्थवाद है। इसीलिए कहा—'उरु प्रथस्व, इति पुरोडाशं यत्प्रथयति, यज्ञपतिमेव तत्प्रथयति।'

इस प्रकार 'तां चतुर्भिरभ्रिमादत्ते, इति अश्वाभिधानीमादत्ते, इति पुरोडाशं प्रथयति' इत्यादि वाक्यों के विभिन्न प्रयोजन गत सूत्रों द्वारा स्पष्ट किये गये। इनके आधार पर मन्त्रों का निरर्थक सिद्ध किया जाना नितान्त अयुक्त है ॥४३॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है—मन्त्रों की नियत पदानुपूर्वी का क्या समाधान होगा? आचार्य ने बताया—

अविरुद्धं परम् ॥४४॥

[अविरुद्धम्] विरुद्ध नहीं है [परम्] अगला 'वाक्यनियम' हेतु।

मन्त्रों को सार्थक मानने पर मन्त्रों की नियत पदानुपूर्वी उसका (मन्त्रों के सार्थक होने का) विरोध नहीं करती। मन्त्र का नियत पदानुपूर्वी के साथ उच्चारण करने पर जो अर्थ ज्ञात होता है, वही अर्थ व्यतिक्रम-पाठ में भी रहता है। तात्पर्य है—नियत आनुपूर्वी में पद एवं वाक्यों का अर्थ निरस्त हो जाता हो, तथा व्यतिक्रम पाठ में अभिव्यक्त होता हो, ऐसा नहीं है। अतः मन्त्रों की नियत पदानुपूर्वी मन्त्रों को निरर्थक सिद्ध नहीं करती। यदि गम्भीरतापूर्वक सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाय, तो व्यतिक्रम पाठ में स्वर आदि के आधार पर मन्त्र का यथावत् अर्थ, कहीं अन्यथा हो जाय, ऐसी सम्भावना बनी रह सकती है। नियत पदानुपूर्वी में मन्त्रपाठ के साथ कर्मानुष्ठान, अनुकूल अदृष्ट (अपूर्व धर्म) का जनक हो, यह भी साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों का सुझाव है।

वस्तुतः मन्त्र की नियत पदानुपूर्वी का रहना अत्यावश्यक है। यही मन्त्र की मन्त्रता है; यदि यह न होता, तो आज हमारे सामने मन्त्र न रहा होता, यह कब का विच्छृङ्खलित हो गया होता। मन्त्र की नित्यता का यह एक विशेष आधार है ॥४४॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है, सम्प्रैष—आदेश के विषय में क्या कहा जायगा? जाने हुए को जताना व्यर्थ होता है। आचार्य ने बताया—

सम्प्रैषे कर्मगर्हाऽनुपालम्भः संस्कारत्वात् ॥४५॥

[सम्प्रैषे] सम्प्रैष मन्त्र में [कर्मगर्हा] जाने हुए को जताना-रूप जो कर्म-

विषयक गर्हा-दोष या न्यूनता है, वस्तुतः वह [अनुपालम्भः] उपालम्भ-दोष नहीं है, [संस्कारत्वात्] संस्कार होने से याज्ञिक का।

'अग्नीदग्नीन् विहर' यह प्रैष—आदेश मन्त्र है। अध्वर्यु आग्नीध्र को आदेश देता है—हे अग्नीत्! अग्नियों को—अंगारों को धिष्ण्य-नामक स्थान में ले जाओ। अग्नीत् याज्ञिक जानता है कि इस अवसर पर मुझे क्या कार्य करना है। जाने हुए को फिर जताना दोष है; साधारण लोक-व्यवहार में भी यह दोष समझा जाता है। प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार कहता है कि वस्तुतः यह दोष नहीं है। इस प्रैष—आदेश-रूप कथन से आदिष्ट याज्ञिक का संस्कार किया जाता है। जैसे यज्ञ में उपयोग के योग्य होने पर भी व्रीहि=धान को जल आदि से पुनः प्रोक्षण (धोने के) द्वारा संस्कृत (संस्कारयुक्त) किया जाता है, ऐसे ही प्रैष मन्त्र से अग्नीत् याज्ञिक का संस्कार किया जाना अभिप्रेत होने से इसमें कोई दोष नहीं। अतः मन्त्र के आनर्थक्य का बोधक यह नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार 'प्रोक्षणीरासादय' प्रैष मन्त्र है। प्रोक्षणी[1]-संज्ञक जलों को यहाँ लाकर रक्खो। कर्मिक याज्ञिक यद्यपि अपने कर्तव्य-कार्य को जानता है, फिर भी आदेश द्वारा उसे स्मरण कराना उसका संस्कार है। कार्य के अवसर पर जानकारी में विस्मृति की सम्भावना बनी रह सकती है, वह स्थिति न आवे, यही प्रैष मन्त्र का प्रयोजन है। इसी को स्मृति अथवा स्मर्त्ता का संस्कार होना कहा गया है। याद कराने के अन्य साधन भी हो सकते हैं, पर यज्ञ के अवसर पर मन्त्र द्वारा याद कराया जाय; यही शास्त्रीय व्यवस्था है। इससे मन्त्र का आनर्थक्य सिद्ध नहीं होता ॥४५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है--अनेक मन्त्रों में अविद्यमान पदार्थ का वर्णन है तथा अचेतन पदार्थों को सम्बोधन करके बात कही गई है। इनके विषय में क्या समझा जाय? आचार्य ने बताया—

अभिधानेऽर्थवादः ॥४६॥

[अभिधाने] कथन करने में (अविद्यमान व अचेतन पदार्थविषयक), [अर्थ-वादः] अर्थवाद है।

प्रस्तुत सूत्र द्वारा आचार्य ने उन आक्षेपों का समाधान किया है, जो अविद्यमान पदार्थ का वर्णन तथा अचेतन पदार्थों से प्रार्थना आदि के सम्बन्ध के

१. यज्ञ के अवसर पर व्रीहि आदि अन्न को शुद्ध करने के लिए 'अग्निहोत्रहवणी' नामक पात्र में जो निर्दोष पवित्र जल सुरक्षित रहता है, वह 'प्रोक्षणी' कहाता है।

इन जलों को आपस्तम्बियों के मत में गार्हपत्य के आगे, और कात्या-यनीयों के मत में प्रणीता और आहवनीय के मध्य में रखते हैं। (यु० मी०)

आधार पर किये गये हैं। जिन मन्त्रों में ऐसे वर्णन हैं, वे सब अर्थवाद—स्तुतिरूप गौण कथन हैं। जहाँ गौण अर्थात् औपचारिक वर्णन है, ऐसे मन्त्र के उच्चारण से कोई अदृष्ट धर्मविशेष उत्पन्न होता हो, इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

अविद्यमान अर्थ के वर्णन में 'चत्वारि शृङ्गा'[1] इत्यादि ऋचा का उल्लेख किया जाता है। यह मन्त्र ऋग्वेद, यजुर्वेद दोनों में पठित है। इसका देवता सूर्य अथवा अग्नि है। उन्हीं की स्तुति में मन्त्र का प्रयोग है। 'चत्वारि' आदि पदों से इनके कल्पित अङ्गों व कार्य-वर्णन द्वारा इनकी प्रशंसा की गई है। सूर्यपक्ष में यह वर्णन निम्न प्रकार समझना चाहिए।

चत्वारि शृङ्गा—चार सींग, सूर्य से सम्बद्ध अथवा उपलक्षित दिन के चार याम = प्रहर[2] सूर्य के चार शृंगस्थानीय हैं।

त्रयो अस्य पादाः—इसके तीन पैर—शीतकाल, उष्णकाल, वर्षाकाल तीन प्रधान ऋतु हैं।

द्वे शीर्षे—दो सिर—दो अयन हैं, उत्तरायण और दक्षिणायन।

सप्त हस्तासो अस्य—इसके सात हाथ—सात घोड़े अर्थात् सात प्रकार की रश्मियाँ हैं।

त्रिधा बद्धः—तीन प्रकार से बँधा हुआ है। वे तीन प्रकार तीन सवन हैं—प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन, सायं सवन[3]।

वृषभः—वर्षा का निमित्त होने से वृषभ है।

रोरवीति—शब्द करता है; शब्द का निमित्त है, वृष्टि एवं विद्युत्संपात आदि द्वारा।

महादेवः—यह स्वरूप से महान् देव है।

मर्त्यान् आ विवेश—सभी प्राणी-अप्राणी जगत् को प्रकाश-प्रदान आदि द्वारा उनमें आविष्ट है, उनसे सम्बद्ध है, उनमें जीवनप्रद शक्तियों के आवेशन का तथा उनके अस्तित्व के प्रकाशन का प्रयोजक है।

सूर्य का प्रतीक पृथिवी पर 'यज्ञाग्नि' है, जो उससे अभिन्न माना जाता है। उसको लक्ष्य कर ऋचा के पदों का अर्थ निम्न प्रकार किया जाता है—

'यज्ञाग्नि' के चार सींग के समान चार ऋत्विज् हैं—ब्रह्मा, उद्गाता, अध्वर्यु,

---

१. **चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।**
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्याँ आ विवेश॥
—ऋ० ४।५८।३॥ यजु० १७।९१

२. यह व्याख्या रामेश्वर सूरि विरचित 'सुबोधिनी' टीका से अनुप्राणित है।

३. छहदिनसाध्य ज्योतिष्टोम के पाँचवें दिन प्रधान आहुति सोम की दी जाती है। आहुतियों के लिए दिन तीन भागों में बाँटा, जिनके ये नाम हैं।

होता, जो यज्ञाग्नि के चार ओर बैठते हैं। तीन सवन उसके तीन पैर के समान हैं। पत्नी और यजमान ये दो उसके सिर कहे जाते हैं। इसके सात हाथ हैं—यज्ञाग्नि में अनुष्ठान के अवसर पर उच्चारण किये जाते मन्त्रों के सात छन्द।

यह यज्ञाग्नि तीन प्रकार से बँधा है। समस्त अनुष्ठान यज्ञाग्नि में मन्त्रोच्चारण के साथ किये जाते हैं। वे मन्त्ररचना की दृष्टि से—ऋक्, यजुः, साम—तीन भागों में विभक्त हैं। ऋक्-संज्ञक वे मन्त्र हैं, जो छन्दोबद्ध हैं। जो मन्त्र गद्यरूप हैं, वे 'यजुः' कहे जाते हैं। यज्ञानुष्ठान के अवसर पर जिन मन्त्रों का प्रयोग गीति (संगीत के अनुसार गान) के रूप में होता है, वे मन्त्र 'साम' हैं। इन तीन प्रकारों में चारों वेदों का समावेश हो जाता है।[1] इन तीन प्रकारों से 'यज्ञाग्नि' बँधा हुआ है। यह 'वृषभ' है, वर्षा आदि का निमित्त होता है[2] एवं यजमान की कामनाओं को पूर्ण करने के रूप में समस्त कल्याणों की वर्षा करनेवाला है। मन्त्रोच्चारणरूप में तथा प्रज्वलनरूप में शब्द करनेवाला है। यह मानवमात्र में आविष्ट है। समस्त मनुष्यों को यज्ञाग्नि साधन द्वारा धर्मानुष्ठान का अधिकार है, यह ऋचा के अन्तिम पदों से स्पष्ट होता है।

ऋचा के द्वारा यज्ञ, यज्ञाग्नि एवं सूर्य की यह प्रस्तुति इस प्रकार की है, जैसे कोई कवि नदी की स्तुति करने के लिए कहता है—नदी के दोनों किनारों पर बैठे चकवा-चकवी जिसके स्तनों के सदृश हैं; किनारे पर पंक्तिबद्ध बैठे हंस जिसकी दन्तावलि है; किनारों पर फैला काश (कांस नामक घास) का जंगल जिसके वस्त्र हैं; शैवाल (सिरवाल, जल के अन्दर पैदा होनेवाली घास) जिसके केश हैं; श्वेत फेन जिसका हास्य है; ऐसी यह नदी सुशोभित हो रही है।[3] एक वनिता के रूप में यह नदी की स्तुति है। इसी प्रकार उक्त ऋचा यज्ञ आदि की स्तावक होने से अर्थवाद है। इससे अविद्यमान अर्थ के वर्णन की कल्पना कर मन्त्र को निरर्थक बनाना नितान्त निराधार है।

---

१. गोपथ ब्राह्मण (पू० २।१७) तथा निरुक्त (१३।७) में 'चत्वारि शृङ्गा' पदों का अर्थ चार वेद किया है। 'त्रिधाबद्धः' का अर्थ—मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प—इन तीन से बँधा हुआ बताया है।

२. यज्ञाग्नि में दैव कर्मानुष्ठान से चर-अचर के भरण-पोषण प्रसंग द्वारा मनुस्मृति [३।७६] में कहा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

३. इस आशय का श्लोक साहित्य में उपलब्ध है—

चक्रवाकस्तनी हंसदन्ता शैवालकेशिनी।
काशाम्बरा फेनहासा नदी कापि विराजते॥

इसी प्रकार अचेतन तत्त्वों को सम्बोधन कर प्रार्थना रूप—'शृणोत ग्रावाणः, ओषधे त्रायस्वैनम्, स्वधिते मैनं हिंसीः' इत्यादि वाक्य भी अर्थवाद हैं। ये गौण अर्थात् औपचारिक प्रयोग हैं। अचेतन में चेतन के समान उपचार=व्यवहार से ये प्रयोग किये गये हैं। ऐसे प्रयोगों में उपचार के निमित्त, स्थिति के अनुसार विभिन्न होने से कोई आपत्ति या बाधा नहीं मानी जाती।[1] इन प्रयोगों के आधार पर मन्त्र की निरर्थकता सिद्ध करना अन्याय्य है ॥४६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' इत्यादि में परस्पर विरुद्ध कथन का समाधान क्या होगा? आचार्य ने बताया—

गुणादविप्रतिषेधः स्यात् ॥४७॥

[गुणात्] गुण से—गुणकथन से [अविप्रतिषेधः] विप्रतिषेध—विरोध का न होना, या न रहना [स्यात्] है।

'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' इत्यादि सन्दर्भ में 'अदिति' पद विश्व के मूल उपादानकारण प्रकृति का पर्याय है। द्यु और अन्तरिक्ष लोक में जितनी रचनाएँ हैं, वे सब प्रकृति के कार्य हैं। उक्त सन्दर्भ में अदिति को द्यु और अन्तरिक्ष कहा है। अदिति कारण और द्यु एवं अन्तरिक्ष कार्य हैं। शास्त्रीय विधि के अनुसार यह कारण का कार्य में उपचार=व्यवहार कहा जा सकता है। यदि उक्त सन्दर्भ का यह अर्थ किया जाता है कि द्यु और अन्तरिक्ष 'अदिति' हैं, तो इसे नैमित्तिक (कार्य) का निमित्त (कारण) में उपचार समझना चाहिए। 'आयुर्वै घृतम्, आपो वै प्राणाः' इत्यादि औपचारिक प्रयोग लोक-वेद में उभयत्र बहुत देखे जाते हैं। गत सूत्र की व्याख्या में कहा गया—ऐसे प्रयोगों के निमित्त, स्थिति के अनुसार अनेक होते हैं। प्रकृत में अदिति और द्यु आदि का कारण-कार्यभाव विशेष गुण अभिद्योत्य है, इसी आधार पर ये प्रयोग हैं।[2]

'एको रुद्रः, शतं रुद्राः' इत्यादि वाक्यों में रुद्र की अतिशय शक्ति को अभिव्यक्त करने के लिए 'एक, शत' आदि पदों का प्रयोग होने से ये गौण हैं। ये अपने अभिधावृत्ति बोध्य अर्थ को न कहकर शक्त्यतिशय का बोध कराते हैं, अतः ये गौण प्रयोग हैं। लोक आदि में ऐसे प्रयोग अबाधरूप से होते रहते हैं। गुरु

---

१. द्रष्टव्य—न्यायदर्शन, २।२।६३॥ सुदर्शनाचार्य-व्याख्यासहित वात्स्यायन-भाष्य का गुजराती प्रेस, बम्बई संस्करण, सम्वत् १९७८।

२. इसी के अनुसार परम देव परमात्मा के प्रति भक्ति एवं आत्म-समर्पण की भावना से अतिप्रसिद्ध एक सन्दर्भ इस प्रकार कहा जाता है—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव!!

गोविन्दसिंह ने सिक्खों में समयानुसार एक विशिष्ट आत्म-बल ज्योतिरूप में प्रज्वलित किया था, जिसके अनुसार एक सिक्ख अपने-आपको अन्य साधारण सवा लाख व्यक्तियों के समान समझता व वैसा व्यवहार करता है। यह सब व्यवहार औपचारिक है। व्यक्ति के एक होने पर अनेक व्यक्तियों के साथ उसकी समकक्षता का निर्देशन उसके शक्त्यतिशय का ही अभिव्यञ्जन करता है। ठीक यही स्थिति रुद्रविषयक निर्देशन में समझनी चाहिए। यदि 'रुद्र' पद को 'प्राण' पर्याय समझा जाता है, तो असंख्यात प्राणों में समवेत 'प्राणत्व' जाति के आधार पर रुद्र में एकत्व, तथा व्यक्तियों के आधार पर 'शत, सहस्र' आदि पदों का प्रयोग है, जो प्राण की संख्यातीत स्थिति को अभिव्यक्त करते हैं। इस आधार पर मन्त्र को निरर्थक बताना युक्त न होगा ॥४७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—अध्ययन-विधि के समान अर्थज्ञान के लिए कोई विधान उपलब्ध नहीं; तथा अर्थज्ञान के बिना भी यज्ञिय कार्य होता देखा जाता है, इसका क्या समाधान होगा? आचार्य ने बताया—

विद्यावचनमसंयोगात् ॥४८॥

[विद्या-अवचनम्] विद्या—अर्थज्ञान का अवचन—अकथन (ऐसा विधान नहीं है) तभी सम्भव है, जब [असंयोगात्] स्वाध्याय के साथ अर्थज्ञान का संयोग—सम्बन्ध न हो। स्वाध्याय के साथ अर्थज्ञान का सम्बन्ध न मानने से ऐसा कहा जा सकता है कि अर्थज्ञान का कहीं विधान नहीं है।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह विधिवाक्य मन्त्रपाठ और उसके अर्थज्ञान दोनों का विधान करता है। 'स्वाध्याय' पद का तात्पर्य केवल पाठ रटना नहीं है; पद, पदार्थ को यथावत् रूप में समझना इसी के अन्तर्गत है। स्वाध्याय में मन्त्र और मन्त्रार्थज्ञान दोनों अभिप्रेत हैं। जो ऐसा नहीं समझते, उनके लिए निरुक्त [१।१८] में किसी वैदिक वाङ्मय से उद्धृत सन्दर्भ कहा है—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥

ऐसा व्यक्ति ठूंठ के समान नीरस केवल भार ढोनेवाला है, जो वेद को पाठमात्र पढ़कर उसके अर्थ को नहीं जानता। निश्चित ही जो अर्थ का जानकार है, वह समस्त कल्याण का भोग करता है, तथा अन्त-समय देहावसान पर, वेदज्ञानानुकूल आचरण से सब पापों-बुराइयों को ध्वस्त कर शाश्वत आनन्द को प्राप्त करता है। इसी भावना से तैत्तिरीय ब्राह्मण [३।१२।९] में कहा है—**'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'**—महान् परब्रह्म परमात्मा को नहीं जान पाता, जो वेदार्थ से शून्य है। इससे प्राचीन वैदिक आचार्यों का यह अभिमत स्पष्ट होता है कि स्वाध्याय-विधि में, वेद का अर्थसहित अध्ययन अभिप्रेत है। अतः मन्त्रार्थज्ञान के

लिए विधि का अभाव बताना असंगत है।

यदि माणवक पाठ याद करते समय अवहनन (धान कूटने में विनियुक्त) मन्त्र को उच्च स्वर में बोलता हुआ कण्ठ कर रहा है, तथा उसी समय पूर्णिका धान कूट रही है, इसमें मन्त्रार्थ का कोई उपयोग न होने से धान कूटने के प्रति मन्त्र को निरर्थक बताना भी युक्त नहीं है। क्योंकि माणवक द्वारा मन्त्रोच्चारण का प्रयोजन अवहनन-क्रिया का बोध कराना नहीं है; उसका प्रयोजन केवल मन्त्र का कण्ठस्थ करना है। अतः तात्कालिक क्रिया के साथ उसका कोई सम्बन्ध न होने से (असंयोगात्) मन्त्रों का निरर्थक बताना असंगत है ॥४८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—जिन मन्त्रों का अर्थ सम्भव नहीं—'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' इत्यादि, उनका क्या समाधान है ? आचार्य ने बताया—

सतः परमविज्ञानम् ॥४९॥

[सतः] होते हुए [परम्] अन्य कारण से जो अर्थ का न होना कहा है, वह [अविज्ञानम्] जानने—अर्थग्रहण करने की अयोग्यता के कारण समझना चाहिए।

अनेक बार साधारण मन्त्रों के अर्थ भी हृदयंगम नहीं हो पाते। इसके कारण अन्यमनस्कता, आलस्य, प्रमाद आदि विभिन्न रूप सम्भव हैं। जिन पदों के व्याकरण-निरुक्त आदि प्रक्रिया-सुलभ निर्वचन एवं प्रकृति-प्रत्यय आदि का अनायास पता नहीं लगता, उनको प्रौढ़िवाद से अनर्थक कह दिया जाता है। वेद के पद को अनर्थक कहना दुस्साहसमात्र है; प्रत्येक पद का कुछ-न-कुछ प्रयोजन रहता है। उदाहृत प्रस्तुत मन्त्र में सब पद सार्थक हैं। यह ऋग्वेद के दशम मण्डल का १०६वाँ सूक्तगत मन्त्र है। इस सूक्त का देवता 'अश्विनौ' है, तथा ऋषि का नाम 'भूतांश' है।

'अश्विनौ' दो जुड़े (अन्योन्य मिथुनीभूत) ऐसे देवता हैं, जो कभी एक-दूसरे से अलग नहीं हो सकते। यदि अलग होते हैं, तो उनका अस्तित्व ही नहीं रहता। वेद में देवताओं के जोड़े और भी हैं—'मित्रावरुणौ, अग्नीषोमौ' आदि। परन्तु ये जोड़े टूटनेवाले हैं। जैसे कहीं ये मिलित रूप में वर्णित हैं, वैसे अलग-अलग भी वर्णित हैं। मित्र, वरुण, अग्नि, सोम का स्तुतिरूप वर्णन अनेक सूक्तों में पृथक् रूप से हुआ है, परन्तु 'अश्विनौ' का पृथक् रूप में स्तवन-वर्णन कहीं उपलब्ध नहीं है। यह जोड़ा अटूट है। इस सूक्त का प्रारम्भ ही 'उभौ' पद से होता है। दो मिलकर ही 'अश्विनौ' इकाई बनती है। सूक्त में इसके सब विशेषण द्विवचनान्त हैं। विशेषज्ञ विद्वानों ने सुझाव दिया है—वेद के 'अश्विनौ' आधुनिक विज्ञान के पॉजिटिव-नैगेटिव (Positive, Negative) विद्युत्-सम्बन्धि तत्त्व हैं, जो सदा मिलकर ही अपने अस्तित्व को बनाये रह सकते हैं; इनका पार्थक्य कल्पनातीत है,

क्योंकि उस दशा में इनका अस्तित्व ही खटाई में पड़ जाता है। इस सूक्त का ऋषि नाम 'भूतांशः' इस कथा की पुष्टि की ओर संकेत करता प्रतीत होता है।

यह नाम 'भूत+अंश' दो पदों का समुच्चय है। विद्युत्-सम्बन्धी विवेचन—वर्णन—स्तवन आधिभौतिक विभाग द्वारा किया जाना सर्वथा उपयुक्त है। इस आधार की छाया में प्रस्तुत ऋचा[1] के प्रतिपद-अर्थ पर विचार कीजिए—

सृण्याऽइव—'सृणि' लोक में अंकुश का नाम है, जो हाथी के विचलित हो जाने पर उसे वश में करने तथा कम चलने पर संचालित करने के उपयोग में आता है। ये सृणि के दो कार्य अथवा दो प्रकार हुए—१. बिखरते-विचलित होते हाथी को अपनी सीमा में खींचकर रखना; २. आगे गति बढ़ाने के लिए धकेलना। यह विशेषण अथवा उपमा 'अश्विनौ' के दो प्रकारों—रूपों को बताता है—पकड़ना और धकेलना जो विद्युत् में स्पष्ट पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त 'सृणि'-पद गत्यर्थक 'सृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—सरणशील धारारूप में तीव्र-गति से सरकने के स्वभाववाला। विद्युत् की तीव्रगति सर्वविदित है। इस पद में विद्युत् की समता को प्रकट करने का एक अन्य अन्तर्हित भाव है—सृणि—अंकुश का तीक्ष्ण नुकीला होना; विद्युत् की धारा इतनी नुकीली है कि लक्ष्य में प्रवेश के लिए क्षण भी नहीं लगाती।

जर्भरी—यह पद 'जृभ जृभि गात्रविनामे' धातु से बना है। धात्वर्थ है—शरीर का अदृश्य-जैसा होना। विद्युत्-रूप अश्विनौ का शरीर ऐसा ही है। अथवा यह पद 'भृ' धातु से भी सिद्ध होता है, जिसका अर्थ धारण व भरण-पोषण है। विद्युत् के सदुपयोग पर ये विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं।

तुर्फरीतू—हिंसार्थक 'तृफ' धातु से यह पद निष्पन्न होता है। विद्युत्-रूप 'अश्विनौ' हिंसक भी हो जाते हैं, मार डालते हैं, वस्तु को भस्म कर डालते हैं। यह तभी होता है, जब इनके उपयोग अथवा स्थिति में किसी प्रकार की न्यूनता हो। ऐसी अवस्था में यह तत्काल अपने विरोधी विजातीय तत्त्व पर प्रभावी होकर उसका विनाश कर देता है। यह धातु 'तृप्ति' अर्थ में भी है। उद्योग आदि द्वारा प्रयोक्ता को सम्पदाओं से भरकर तृप्त भी करता है।

नैतोशाऽइव—यह उपमा-पद है। 'नितोश' धातु वध कर देने अर्थ में प्रयुक्त होता है। वध करनेवाला 'नितोश' कहा जाता है। उसकी क्रिया व उसकी परम्परा

---

१. ऋचा है—**सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।**
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु॥

पद-पाठ निम्न प्रकार है—
सृण्याऽइव। जर्भरी। तुर्फरीतू। नैतोशाऽइव। तुर्फरी। पर्फरीका। उदन्य-जाऽइव। जेमना। मदेरू। ता। मे। जरायु। अजरम्। मरायु॥

में आनेवाला 'नैतोश' है। तात्पर्य है—वध की क्रिया तथा उसे करनेवाला उक्त पद का वाच्य है। उसके समान हैं, 'अश्विनौ' [ऐतोशा—'शौ' इव]। उसके समान अश्विनौ क्या करते हैं ? यह अगले पद से बताया—

तुर्फरी—इस पद के धातु का निर्देश प्रथम कर दिया है। हिंसा और वध में थोड़ा अन्तर है। न्यूनाधिक चोट-फेंट आदि लग जाना जैसे हिंसा में आता है, वैसे जीवन से सर्वथा रहित कर देना हिंसा का रूप 'वध' है। हिंसार्थक 'तृफ' धातु के वधरूप अर्थ को यहाँ इस पद से—'नैतोशा' (वधकर्त्ता) की उपमा देकर—स्पष्ट किया है। 'अश्विनौ' की यह विशेषता (चोट-फेंट से लेकर वध-पर्यन्त हिंसा कर देने की क्षमता) मन्त्र में दो स्थानों पर समान पद रखकर अभिव्यक्त की है। एक स्थान पर विशेषण-रहित पद है; दूसरे स्थान पर उपमा-सहित विशेषण के साथ।

पर्फरीका—मन्त्र के पूर्वार्द्ध का यह अन्तिम पद है। 'त्रिफला विशरणे' धातु से 'पर्फरीकादयश्च' [४।२०] उणादि सूत्र के अनुसार सिद्ध होता है। 'विशरण' का तात्पर्य होता है—तोड़-फोड़कर बखेर देना, छिन्न-भिन्न कर देना। पहले व्याख्याकारों ने 'शत्रूणां विदारयितारौ' अर्थ किया है। तात्पर्य है—विरोधी वस्तुओं व तत्त्वों को छिन्न-भिन्न कर देना। विद्युत्-रूप 'अश्विनौ' में यह अपना विशेष सामर्थ्य है।

इस पद की सिद्धि 'पॄ पालनपूरणयोः' धातु से भी की जाती है। जो 'अश्विनौ' के स्तोता यथार्थ ज्ञाता एवं सदुपयोक्ता हैं, उनको ये देवता ऐश्वर्य, सम्पत्तियों एवं विभूतियों से पूर्ण, सम्पन्न करनेवाले हैं। विद्युत्-रूप 'अश्विनौ' की यह क्षमता आज लोकप्रसिद्ध है।

उदन्यजाऽइव—'उदन्यजौ' पद 'उदक' और 'जनी प्रादुर्भावे' धातु से मिलकर निष्पन्न होता है। 'उदन्य' का अर्थ है उदक—जल में होनेवाला। यह जल में होनेवाली एक क्रियाविशेष है। वैसे अपनी सामान्य गति या प्रसरण—बहावरूप क्रिया जल में रहती है, पर यह क्रियाविशेष उससे भिन्न है, जिसका संकेत ऋचा करती है। वह क्रिया है—सामूहिक रूप में जब जल ऊपर से नीचे की ओर बँधा हुआ गिरता है और एक दबाव (प्रैशर=Pressure) को बनाता है। उस दबाव से उत्पन्न होनेवाले हैं—'अश्विनौ', जो ऋचा में 'उदन्यजा' पद से कहे गये हैं। तात्पर्य है—उदक में होनेवाली क्रियाविशेष से उत्पन्न। 'अश्विनौ' का यह विशेषण-पद उनके वास्तविक स्वरूप व स्थिति को स्पष्ट करता है। पानी के दबाव-रूप सहयोग से उत्पन्न की जानेवाली विद्युत्—हाइड्रो-इलैक्ट्रिसिटी (Hydro Electricity) के आज अनेकों प्लाण्ट (Plant) नहरों और नदियों पर छोटे-बड़े रूप में लगे हैं, जो राष्ट्र की अतुल सम्पत्तियों एवं विभूतियों के लिए अनुपम स्रोत हैं।

जेमना—जेमनौ, जयशीलौ (अश्विनौ), सदा विजय की स्थिति में रहनेवाले। तात्पर्य है—ये अन्य पदार्थों पर प्रभावी रहते हैं; अन्य पदार्थ इनपर कोई प्रभाव नहीं डाल पाते।

मदेरू—अतिशय शक्ति के कारण मत्त, उत्कर्षशील स्थितिवाले; अथवा सदा हृष्ट-पुष्ट अवस्था में रहनेवाले। इस रूप में सदा इनकी स्तुति-प्रशंसा की जाती है। 'अश्विनौ' के ये स्वरूप व विशेषताएँ व्यवहार्य विद्युत् में सदा देखे जाते हैं।

ता—तौ—वे अश्विनौ। **मे**—मम—मेरे। **जरायु**—जराजीर्ण तथा शिथिल होनेवाले, अतएव, **'मरायु'**—मरणशील विनाशी शरीर व जीवन को **अजरम्**—जरारहित करनेवाले हों।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में 'अश्विनौ' को देवों का चिकित्सक बताया गया है। 'देव' पद का तात्पर्य चाहे विद्वान् समझा जाय, अथवा कोई अदृश्य आधिभौतिक शक्तियाँ, जो प्राणि-जीवन अथवा विशेष रूप से मानव-जीवन की दीर्घ स्थायिता के लिए महत्त्वपूर्ण प्रयोजक मानी जाती हैं, अश्विनौ उन सबके उपकारक हैं। जब 'देव' पद से हमारे सामने विद्वान् आते हैं, तब स्पष्ट है—'अश्विनौ' के वास्तविक जानकार, उनकी गतिविधियों को अन्तस्तल तक समझनेवाले मर्मज्ञ विद्वान् उनके सहयोग से अपने विविध रोगों—न्यूनताओं का निवारण कर मानव-जीवन के स्थायित्व, सुविधाओं के वैपुल्य के रूप में उत्तम परिणामों को प्रस्तुत करने में समर्थ होते हैं। इस रूप में 'अश्विनौ' देवों के स्पष्ट चिकित्सक हैं। इसके विपरीत यदि 'अश्विनौ' किसी मूर्ख-अनजान के हाथ पड़ जाते हैं, अथवा ऐसा ही कोई उनसे खिलवाड़ करना चाहता है, तो उसे नष्ट करने में भी वे क्षण नहीं लगाते। 'अश्विनौ' के चिकित्सक-रूप को बनाये रखने में विद्वान् ही समर्थ रहता है। अश्विनौ को—देवों का चिकित्सक—कहे जाने में यही रहस्य है।

'देव' पद यदि आधिभौतिक अदृश्य शक्तियों का निर्देशक माना जाता है, तो निस्सन्देह ये 'अश्विनौ' अपने निरन्तर व निरवधिक संचार से उन ओषधि-वनस्पति-गत अथवा वातावरणीय शक्तियों को हृष्ट-पुष्ट व जीवनोपयोगी बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान द्वारा अपने चिकित्सक होने के स्वरूप को प्रमाणित करते हैं। भौतिक जगत् में जिस अनवरत अज्ञातप्राय विद्युत्-संचार—मानव-जीवनोपयोगी तत्त्व—अपने सुस्थ-स्वस्थ रूप में सदा अवस्थित रहते हैं, प्रस्तुत मन्त्र द्वारा उसी स्थिति को अभिव्यक्त करने का प्रयास हुआ है। जैसे यह स्थिति प्रच्छन्न एवं अस्पष्ट-सी रहती है, मन्त्र में पदों का प्रयोग भी प्रायः वैसा ही हुआ है।

अन्य उदाहरण

मन्त्रों को अनर्थक कहनेवाले वादी ने कतिपय अन्य मन्त्रों का उल्लेख किया ।है उनमें एक यह है—

एकया प्रतिधापिबत् साकं सरांसि त्रिंशतम् ।
इन्द्रः सोमस्य काणुका ॥ —ऋ० ८।७७।४

मन्त्र की अनर्थकता दिखाने के लिए व्याख्याग्रन्थों में ऋचा के प्रायः अन्तिम चरण का उल्लेख किया जाता है। उतने अंश के पदों का अपना अर्थ होते हुए भी पदसमूह का कोई उपयुक्त अर्थ नहीं हो पाता, क्योंकि ऋचा के अन्य पदों के साथ सम्बद्ध होकर ही ये पद पूरे अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। अर्थ की स्पष्टता के लिए पदों का अन्वय इस प्रकार होगा—

इन्द्रः सोमस्य त्रिंशतं काणुका सरांसि एकया प्रतिधा साकं अपिबत् ।

लोकभाषा के अनुसार इसका यह अर्थ किया जा सकता है—इन्द्र सोम के भरे तीस कान्तियुक्त कुण्ड एक झटके के साथ, एक-साथ (एक साँस में) पी गया। यह अर्थ स्वतः अटपटा लगता है। इन्द्र कौन है? सोम क्या है? वे तीस कुण्ड या पात्र क्या हैं? कैसे हैं? तीस ही क्यों हैं? न्यूनाधिक क्यों नहीं? यह सब स्पष्ट नहीं होता। कहा जा सकता है—इन्द्र कोई बड़ा मानवाकृति देव है, सोम कोई मद्यसदृश उन्मादकारी पेय पदार्थ है, जो तीस पात्रों में भरा है। इन्द्र उसे एक-साथ एक साँस में पी जाता है। वेदार्थ के साथ वस्तुतः यह मजाक है। इस रूप में कहने को यह भले ही अच्छा लगे, पर साधारण रूप में भी यह व्यवहार्य कदापि नहीं। ऐसे बेसिर-पैर के वेदार्थ को सुनकर निश्चित ही वेद को निरर्थक बताने का साहस उभरकर ऊपर आता है।

मनीषी आचार्यों ने मन्त्र का अर्थ बताया है—वेद में 'इन्द्र' पद प्रायः द्युस्थान सूर्य के लिए प्रयुक्त हुआ माना जाता है। सूक्त के देवता इन्द्र का अपर नाम सूर्य है। सूर्य की नक्षत्रक्रान्ति प्रतिमास होती है। चित्रा नक्षत्र से विशाखा, विशाखा से ज्येष्ठा, ज्येष्ठा से अषाढ़ा आदि। प्रत्येक नक्षत्र में स्थिति का काल प्रायः तीस दिन है। इन दिनों में सूर्य को किरणें और चन्द्रमा की ज्योत्स्ना (जो सूर्य की ही किरणें हैं) ओषधि-वनस्पतियों एवं वातावरण में जीवनी शक्तियों का संचार किया करती हैं; वही सोम है, जो तीस दिन रूपी पात्रों में ओषधि आदि आधार पर भरा जाता है। उतने दिन के अनन्तर वह क्रम एक-साथ एक झटके में समाप्त हो जाता है, जैसे ही सूर्य एक नक्षत्र के क्रान्तिवृत्त को लाँघकर अगले नक्षत्र के वृत्त में दिखाई देने लगता है। यही इन्द्र का त्रिंशत पात्रों के सोम का एक-साथ पी जाना है। अगले नक्षत्रकाल के अनुसार सोमनिर्माण (त्रिंशत पात्रगत सोमपूर्त्ति) का कार्यक्रम पुनः प्रारम्भ हो जाता है। सूर्य जब से चमका, और जब तक चमकता रहेगा, यही क्रम चालू रहता है। वह सोम=जीवनी शक्तियाँ 'काणुका' हैं; पूर्ण कान्तियुक्त हैं, उनका उपयोग प्राणी के लिए कान्तिप्रद एवं जीवन का आधार है। यही सब-कुछ प्रस्तुत ऋचा में बताया गया है। इससे मन्त्र की सार्थकता स्पष्ट होती है।

मन्त्र के निरर्थकवादी ने ऐसा एक और मन्त्र प्रस्तुत किया—

अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे सनेम्यभ्वं मरुतो जुनन्ति।
अग्निश्चिद्धि ष्मातसे शुशुक्वानापो न द्वीपं दधति प्रयांसि॥

—ऋ० १।१६९।३

मन्त्र का पदपाठ इस प्रकार है—

अम्यक्। सा। ते। इन्द्र। ऋष्टिः। अस्मे। सनेमि। अभ्वम्। मरुतः। जुनन्ति। अग्निः। चित्। हि। स्म। अतसे। शुशुक्वान्। आपः। न। द्वीपम्। दधति। प्रयांसि।

सूक्त का ऋषि अगस्त्य और देवता इन्द्र होने से प्रस्तुत ऋचा के ऋषि-देवता वही हैं। ऋचा में शक्तिशाली सूर्य की मेघवृष्टि के द्वारा स्तुति के साथ उसके सहयोगी मरुतों की भी प्रशंसा की गई है—हे इन्द्र! तुम्हारी वह प्रसिद्ध शक्ति (ऋष्टि), हम प्राणियों के कल्याण के लिए उपयुक्त स्थान पर पहुँच गई है (=अम्यक्)। मेघों में भरे पुराने (=सनेमि) जलों (=अभ्वं) को बरसाने के लिए अब मरुत् भी सन्नद्ध हो गये हैं। जैसे सूखे काष्ठ (=अतसे) में अग्नि दीप्त होता है, ऐसे ही तुम (इन्द्र=सूर्य) विद्युत्-रूप से मेघों में दीप्त होते हो। जल जैसे द्वीप (जलों के मध्य में भूस्थल) को घेरे रहते हैं, ऐसे ही मेघों ने जलों को अपने बीच घेरा हुआ है, धारण किया हुआ है। तुम्हारी शक्ति ने मरुतों के सहयोग से वर्षारूप में उसे पृथिवी पर प्राणियों की सुख-सुविधा के लिए बिखेर दिया है।

ऋतु के अनुसार सूर्य की प्रचण्ड किरण पृथिवी-आवरण के अन्तरिक्षस्थ वातावरण को प्रतप्त कर वर्षोन्मुख बना देती हैं। वैदिक वाङ्मय में 'मरुतः' पद से अन्तरिक्षस्थ अनेक वातावरणों का निर्देश अपेक्षित होता है, जिनकी कुल संख्या ४९ है। परन्तु यहाँ केवल उन मरुतों (वात-आवरणों) का निर्देश अभीष्ट है, जो वर्षा को लाने में सहायक होते हैं। उनको आधुनिक भाषा में मॉनसून (Monsoon) और लौकिक संस्कृत में 'पुरोवात' कहा जाता है। इन्द्र (सूर्य) और मरुतों के सहयोग से वर्षा किस प्रकार होती है, इसी का दिग्दर्शन प्रस्तुत ऋचा द्वारा कराया गया है। ऐसी दशा में मन्त्रों को निरर्थक कहना अपनी अज्ञानता प्रकट करना है। आचार्यों ने बताया—

नैष स्थाणोरपराधो यदेवमन्धो न पश्यति।

सामने उपस्थित वस्तु को यदि अन्धा नहीं देख पाता तो वह वस्तु का अपराध, दोष नहीं है। मन्त्रार्थ को जानना भी अध्ययन-चिन्तनादिगत प्रयास-सापेक्ष है ॥४९॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—वेद में अनित्य पदार्थों के वर्णन का समाधान क्या है? आचार्य ने बताया—

उक्तश्चानित्यसंयोगः ॥५०॥

[उक्तः] कह दिया है [च] पूर्व ही [अनित्यसंयोगः] अनित्य पदार्थों के साथ संयोगरूप दोष का समाधान।

प्रथमाध्यायगत प्रथमाह्निक के 'वेद अपौरुषेय हैं' नामक अन्तिम अधिकरण में 'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' [१।१।३१] सूत्र द्वारा वेदार्थ के विषय में इस आक्षेप का समाधान कर दिया गया है कि वेदमन्त्रों में अनित्य पदार्थों का सम्बन्ध अथवा उनका वर्णन है। जैसे 'प्रावाहणि' आदि पद व्यक्तिविशेष के वाचक नहीं हैं, ऐसे ही 'कीकट, प्रमगन्द, नैचाशाख' आदि पद किसी देशविशेष अथवा व्यक्ति-विशेष के वाचक नहीं हैं। प्रथम पद साधारणरूप से उन अनार्य व्यक्तियों का बोधक है, जो वैदिक यज्ञ-यागादि धार्मिक कार्यों में आस्था नहीं रखते तथा 'खाओ, पीओ और मस्त रहो' के सिद्धान्त को माननेवाले हैं, कृपण हैं, अन्य की भलाई में पाई खर्च नहीं करना चाहते।

प्रायः ऐसे लोग आधिक्य से जिस प्रदेश में रहते हों, वह भी 'कीकट' कहा जा सकता है। परन्तु ऋचा में यह अर्थ न होकर पूर्वोक्त सामान्य व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त है।

'मगन्द' पद कुसीदी—सूदखोर व्यक्ति का बोधक है। मेरे पास दुगुना-तिगुना होकर यह धन वापस आयेगा,—इस भावना से धन देनेवाला व्यक्ति 'मगन्द' कहा जाता है। अत्यधिक सूदखोर तथा सूदखोर-परिवारों में उत्पन्न होनेवाला व्यक्ति 'प्रमगन्द' कहा जाता है।

'नैचाशाख' पद भी नीच कुलों में उत्पन्न होनेवाले, धर्माचरण से विमुख, कुत्सित प्रवृत्तियों में डूबे व्यक्तियों के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुआ है। इन पदों के आधार पर मन्त्रों में अनित्य पदार्थों के संयोग को बताना निराधार है। यह सामान्य कथन है, किसी स्थानविशेष या व्यक्तिविशेष आदि का निर्देश नहीं ॥५०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—मन्त्रों को निरर्थक बताने में जो आक्षेप किये गये थे, उनका समाधान हो जाने पर, क्या मन्त्रों की अर्थवत्ता में कोई स्वतन्त्र हेतु भी हैं? आचार्य ने बताया—

लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत्[1] ॥५१॥

[लिङ्गोपदेशः] लिङ्ग=देवताबोधक शब्द का मन्त्र में निर्देश [च] और [तत्] उस मन्त्र के [अर्थवत्] सार्थक होने का बोधक है।

'आग्नेय्यर्चाऽऽग्नीध्रमभिमृशेत्'[2] [तै० सं० ३।१।६] अग्निदेवतावाली ऋचा

१. रामेश्वर सूरि विरचित 'सुबोधिनी' व्याख्या में सूत्रपाठ 'तदर्थत्वात्' है, अर्थ में कोई विशेष भेद नहीं।

२. शाबर भाष्य में 'आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते' पाठ है। इस आनुपूर्वी के पाठ का मूलस्थान अज्ञात है।

से आग्नीध्र[1] का स्पर्श करे। जिस ऋचा का स्तोतव्य अथवा प्रतिपाद्य विषय अग्नि देवता है, उस ऋचा से आग्नीध्र के स्पर्श करने का कथन सिद्ध करता है कि मन्त्र सार्थक है। अमुक ऋचा या मन्त्र का देवता—प्रतिपाद्य विषय या स्तोतव्य अग्नि है, यह कथन तभी सम्भव है, जब मन्त्र को सार्थक माना जाय। इसलिए मन्त्र में लिङ्ग अर्थात् देवताबोधक शब्द का उपदेश मन्त्रों की सार्थकता को सिद्ध करता है ॥५१॥

आचार्य ने इसी की सिद्धि में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

ऊहः ॥५२॥

[ऊहः] ऊह का उपदेश भी मन्त्र के सार्थक होने का बोधक है।

गत सूत्र से 'उपदेशश्च तदर्थवत्' पदों की अनुवृत्ति प्रस्तुत सूत्र में समझनी चाहिए। इसी के अनुसार सूत्रार्थ निर्दिष्ट है।

इस प्रसंग में 'ऊह' का समझना आवश्यक है। वैदिक कर्मकाण्ड में याग 'प्रकृतियाग' और विकृतियाग' नाम से दो भागों में विभक्त कहे जाते हैं। 'प्रकृतियाग' बड़े याग हैं; उन्हीं के अवान्तर होनेवाले अनेक अनुष्ठान 'विकृतियाग' कहे जाते हैं। अवान्तर यागों में होनेवाली अनेक क्रियाओं का वहाँ निर्देश नहीं होता, पर वे अनुष्ठित की जाती हैं। निर्देश न होने की दशा में यह व्यवस्था है कि प्रकृति के अनुरूप वह विकृति में कर लिया जाय—'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'। परन्तु ऐसा करने में कभी असामञ्जस्य उपस्थित हो जाता है, जैसे—ज्योतिष्टोम प्रकृतियाग में अग्निषोमीय पशु-सम्बन्धी मन्त्र है—**'अन्वेनं मातानुमन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः'** [तै० ब्रा० ३।६।६]। जब किसी विकृति में 'बहुपशुकयाग' होता है, तब प्रकृतियाग के अनुरूप पूर्वोक्त मन्त्र का ही उच्चारण करना प्राप्त होता है। परन्तु उस दशा में एक असामञ्जस्य सामने आता है। वह है—प्रकृतियाग में सामान्य रूप से पशु एक है, उसके अनुसार मन्त्र में 'एनं, माता, पिता, भ्राता' आदि एकवचनान्त पद उपयुक्त हैं; परन्तु विकृति में पशु अनेक होने से एकवचनान्त पद का प्रयोग असामञ्जस्यपूर्ण होगा। तब 'ऊह' का अवसर आता है—मन्त्रगत एकवचनान्त पदों के स्थान पर बहुवचनान्त पदों—'एनान्, मातरः, पितरः, भ्रातरः, सखायः' का ऊह कर लेना चाहिए। इस प्रकार 'ऊह' का स्वरूप हुआ—प्रकृतिगत मन्त्र का विकृति में प्रयोग होने पर, विकृति-विषयक अर्थ

---

१. उत्तरवेदि के दक्षिण में चात्वाल-संज्ञक स्थान की मृत्तिका से एक हाथ चौकोर चार हाथ ऊँचा जो स्थान बनाया जाता है, वह आग्नीध्र खर कहाता है। (श्रौत पदार्थ निर्वचन, पृ० १५४, सन्दर्भ १६७ की अन्तिम दो पंक्तियाँ, यु० मी०)।

के अनुरूप पदों का मन्त्र में प्रक्षेप करना। परन्तु आचार्यों ने इस प्रसंग में 'ऊह' का निषेध किया है। प्राप्त का ही निषेध होता है (प्राप्तौ सत्यां निषेध:) इस व्यवस्था के अनुसार 'ऊह' की प्राप्ति उसी दशा में सम्भव है, जब मन्त्रगत पदों को सार्थक माना जाता है। अन्यथा ऊह और उसके निषेध का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार ऊह का उपदेश मन्त्र की सार्थकता को सिद्ध करता है।

इसी प्रकार प्रकृतियाग दर्श-पौर्णमास में आग्नेय हवि के निर्वाप (आहुति-दान के लिए हवि का तैयार करना आदि) का विधान है; उसके लिए विनियुक्त मन्त्र का भाग है—**'अग्नये जुष्टं निर्वपामि'**[1] [तै० सं० १।१।४]। दर्श-पौर्णमास की विकृति में ब्रह्मवर्चस्काम के लिए सौर्येष्टि का विधान है—**'सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः'**[2]। 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस व्यवस्था के अनुसार सौर्येष्टि में प्रकृतिगत 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' मन्त्र प्राप्त होता है। प्रकृति में अग्निदेवताक पुरोडाश-निर्वाप के लिए 'अग्नये' पद अर्थ के अनुरूप है। परन्तु विकृति सौर्येष्टि में सूर्य देवता होने के कारण 'अग्नये' पद अर्थानुरूप नहीं है। ऐसी स्थिति में मन्त्र को सौर्येष्टि के अनुरूप बनाने के लिए 'अग्नये' पद के स्थान में 'सूर्याय' पद का प्रक्षेप किया किया जाता है। यही 'ऊह' है। इसके अनेक भेदों में एक 'विभक्ति-ऊह' अथवा 'वचन-ऊह' है, जहाँ विभक्ति अथवा वचन का परिवर्तन हो जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में पहला उदाहरण—'अन्वेनं मातानुमन्यताम्' इत्यादि 'वचन-ऊह' का है, जिसमें एकवचन का बहुवचन में परिवर्तन किया जाता है। ऊह की कल्पना मन्त्र को सार्थक माने बिना सम्भव नहीं, अतः ऊह का निर्देश मन्त्र की अर्थवत्ता को सिद्ध करता है ॥५२॥

आचार्य ने इसी की पुष्टि में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

विधिशब्दाश्च ॥५३॥

[विधिशब्दाः] विधिशब्द [च] भी मन्त्रों की सार्थकता के साधक हैं।

किसी अर्थतत्त्व का विधान करनेवाले शब्द प्रायः मन्त्रों के व्याख्यानभूत होते हैं अथवा उसी अर्थ का अनुवाद करते हैं, जो मन्त्रों द्वारा विवक्षित व उपपादित होता है। जैसे—**'शतं हिमाः'** [यजु० ३।१८] मन्त्र के पदों का अर्थ करते हुए कहा—'शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्यास्म—इत्येतदेवाह'[3] मन्त्र के 'शतं हिमाः'

---

१. पूरा मन्त्र है—**'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि।'**

२. **सौर्यं घृते चरुं निर्वपेत् शुक्लानां व्रीहीणां ब्रह्मवर्चसकामः।** मै० सं० २।२।२॥ **यो ब्रह्मवर्चसकामः स्यात्, तस्मा एतं सौर्यं चरुं निर्वपेत्।** तै० सं० २।३।२॥

३. श० ब्रा० [२।३।४।२१] में पाठ है—**'शतं हिमा'**···**इति शतं वर्षाणि जीव्यास्म-इत्येवैतदाह।'** [तै० सं० १।५।८] में पाठ है—**"यथा यजुरेवैतत्— 'शतं हिमा' इत्याह—शतं त्वा हेमन्तान् इन्धिषीय, इति।"**

इन पदों से यही कहा गया है कि मैं सौ वर्ष तक जीवित रहूँ। यहाँ विधिशब्द यह स्पष्ट करते हैं कि 'शतं हिमाः' मन्त्रपदों का अर्थ है—सौ वर्ष तक जीवित रहने की आशंसा करना। इससे मन्त्रों की सार्थकता सिद्ध होती है।

इस यजुर्मन्त्र का विनियोग आहवनीय अग्नि के उपस्थान में बताया गया है। उसी के अनुसार पूर्व-टिप्पणी में दिया तैत्तिरीय संहिता के एतद्विषयक पाठ में बताया—'शतं हिमाः' मन्त्र यह कहता है कि मैं (यजमान) तुझ अग्नि को सौ हेमन्त (ऋतु पर्यन्त, अर्थात् सौ वर्ष) तक प्रदीप्त रक्खूँ। संहिता के ये विधिशब्द यजुर्मन्त्र की अर्थवत्ता का बोध कराते हैं।

गत विस्तृत प्रसंग से—कौत्स आदि याज्ञिकों के—मन्त्र-निरर्थकताविषयक विचारों का विवेचन कर आचार्य सूत्रकार ने यह स्थापित किया कि मन्त्र सार्थक हैं, एवं मानवमात्र के चतुरस्र अभ्युदय का निर्देशन करते हैं ॥५३॥

इति जैमिनीय मीमांसादर्शन-विद्योदयभाष्ये
प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

अथ प्रथमाध्याये तृतीयः पादः

(स्मृतिप्रामाण्याधिकरणम्[1]—१)

गत अधिकरण में वेद एवं वैदिक वाङ्मय के प्रामाण्य का निरूपण किया गया; अब स्मृति के प्रामाण्य का निरूपण प्रस्तुत है। जिस क्रियानुष्ठान आदि के विषय में कोई वैदिक शब्द विधायक उपलब्ध नहीं होता, परन्तु स्मृतिकार उसका विधान करते हैं— अमुक अनुष्ठान इस प्रकार किया जाना चाहिए, इसका यह प्रयोजन है—इत्यादि रूप में जो स्मृति-कथन उपलब्ध होते हैं, उनके प्रामाण्य का विचार करना अपेक्षित है। उन अनुष्ठानों को क्या उसी प्रकार किया जाय जैसे वे स्मृति में कथित हैं, अथवा उन्हें अवैदिक होने से उपेक्षित किया जाए? उन क्रियानुष्ठानों में कतिपय उदाहरणार्थ निम्नलिखित हैं—अष्टका-संज्ञक कर्म करना चाहिए; गुरु का अनुगमन करना—उसकी आज्ञानुसार चलना चाहिए; तालाब का निर्माण कराना चाहिए; प्याऊ बैठानी चाहिए; क्षौर कर्म कराना चाहिए—इत्यादि ऐसे कर्त्तव्य हैं, जिनका विधान वेद-शब्दों में उपलब्ध नहीं है, पर लोक में ये सब कर्म अभीष्ट माने जाते हैं और केवल स्मृति-विहित हैं।

इस विषय पर ऊहापोहपूर्वक विवेचन की भावना से सूत्रकार ने प्रथम पूर्व-पक्ष सूत्र कहा—

धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्षं[2] स्यात् ॥१॥

[धर्मस्य] धर्म के [शब्दमूलत्वात्] शब्दमूलक=वेदमूलक होने से [अशब्दम्] जो कर्म अशब्द—शब्दमूलक—वेदमूलक नहीं है, वह [अनपेक्षम्] अनपेक्षित—अनावश्यक—अकर्तव्य [स्यात्] है।

लोककर्त्ता मार्गदर्शक आचार्यों ने बताया है—'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' [मनु० २।६] धर्म का मूल सम्पूर्ण वेद है। जब धर्म का मूल आधार वेद को माना गया, तो जो कर्म वेदप्रतिपादित नहीं है, उसे कर्त्तव्य—आचरण के योग्य नहीं माना जाना चाहिए। स्वयं सूत्रकार ने प्रारम्भ [१।१।२] में ही निर्देश किया है—वेद

१. 'स्मृतिप्रामाण्यम्। अधि० १।' सुबोधिनीवृत्ति का पाठ।

२. सुबोधिनीवृत्ति में 'अनपेक्ष्यं' पाठ है। अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं।

जिस कर्म की प्रेरणा देता है, वही धर्म है। धर्म का आचरण करना मानव का श्रेष्ठ कर्त्तव्य है।

यदि कहा जाय—इन कर्मों के अनुष्ठाता उनकी पद्धति आदि को यथावत् जानते हैं और वह सब परम्पराप्राप्त है, तब उसके प्रामाण्य को क्यों न मान लिया जाय ? यह कहना युक्त न होगा। क्योंकि किसी कर्म और उसके अनुष्ठान की पद्धति का जानना तथा उसकी परम्परा का चालू रहना, उसके प्रामाण्य के प्रयोजक नहीं माने जा सकते। जानकारी और परम्परा अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के कार्यों की हो सकती है। चोर चोरी करने की और डकैत डाका डालने की पद्धतियों के अच्छे जानकार होते हैं; यह परम्परा भी पुरानी है; फिर भी इसे धर्म नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह वैदिक शब्द से प्रेरित नहीं है। अष्टका-संज्ञक आदि कर्म भी इसी प्रकार के हैं; अतः अवैदिक होने से कर्तव्य-कर्म की श्रेणी में उन्हें नहीं माना जाना चाहिए। अच्छे-बुरे अथवा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेचन वेद-शब्द पर ही आधारित है।

वेद में अपठित अष्टका नामक आदि कर्मों के परम्परानुगत अनुष्ठाताओं की स्मृति (अनुभवजन्य स्मरण—क्रमानुगत याददाश्त) के आधार पर भी—वेद की अविच्छिन्न परम्परा के समान—इनका प्रामाण्य स्वीकार किया जाना युक्त न होगा। क्योंकि ऐसी स्मृति का होना अनुभव के अभाव में सर्वथा असम्भव है। वेद की अविच्छिन्न परम्परा का उदाहरण इस प्रसंग में अनुपयुक्त है; क्योंकि वेदग्रन्थों की विद्यमानता में उनका अनुभव और तज्जन्य स्मृति का होना सम्भव है; परन्तु अष्टका कर्म और उसकी पद्धति आदि के विधायक वेद शब्द का अभाव होने से उसके अनुभव का प्रश्न ही नहीं उठता, तब उसकी स्मृति का होना कैसे सम्भव है ? यह ऐसा ही कथन है, जैसे कोई जन्मान्ध कहे कि मुझे फूल के सुन्दर रूप का स्मरण है। अथवा वन्ध्या अपना स्मरण बताये—यह मेरे दौहित्र (लड़की के लड़के) का किया हुआ कार्य है। फलतः वेद में अपठित अष्टका-संज्ञक आदि कर्मों का प्रामाण्य संदिग्ध ही समझना चाहिए ॥१॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त आक्षेप का समाधान किया—

अपि वा कर्तृसामान्यात् प्रमाणमनुमानं स्यात् ॥२॥

[अपि वा] पद पूर्वपक्ष के निराकरण का निर्देश करते हैं, अर्थात् स्मार्त कर्म अप्रमाण नहीं हैं। हेतु दिया—[कर्त्तृसामान्यात्] कर्त्ता—अनुष्ठाताओं के समान होने से [प्रमाणम्] प्रमाण है, स्मार्त कर्म। इससे इसके मूलभूत शब्द का [अनुमानम्] अनुमान [स्यात्] होता है।

स्मार्त कर्म वे हैं, जो केवल स्मृति-प्राप्त हैं। 'स्मृति' पद के यहाँ दो अर्थ हैं—१. वेदानुयायी धर्मशास्त्र; २. स्मरण। कतिपय स्मार्त कर्म वे हैं, जिनका प्रेरणार्थक

वैदिक पद से साक्षात् विधान उपलब्ध नहीं होता, परन्तु स्मृतिरूप सूत्रग्रन्थों—(श्रौत, गृह्य, कल्प, धर्मसूत्रों) में उल्लेख किया गया है। ऐसे स्मार्त कर्म पहले विभाग में आते हैं, क्योंकि ये ग्रन्थ वेदानुगामी हैं, तथा उन अनुष्ठाताओं द्वारा ही इनका अनुष्ठान किया जाता है, जो साक्षात् प्रेरक वैदिक शब्द द्वारा विहित कर्मों का अनुष्ठान करते हैं। इस आधार पर इन स्मार्त कर्मों का प्रामाण्य मानना चाहिए; और इनके मूलभूत प्रेरक वैदिक पदों का अनुमान कर लेना चाहिए। वे पद इन कर्मों के प्रारम्भ होने के समय रहे होंगे, पर अब सम्भवतः अध्येताओं आदि के आलस्य-प्रमाद आदि के कारण विस्मृत हो चुके हैं।

अन्य कतिपय स्मार्त कर्म ऐसे संभव हैं, जिनका उल्लेख सूत्रग्रन्थों में भी नहीं है, जो केवल स्मरण के आधार पर परम्परा द्वारा चले आ रहे हैं क्योंकि इनके भी अनुष्ठाता वे ही व्यक्ति हैं, जो वैदिक कर्मों के अनुष्ठाता हैं, अतः 'कर्त्तृसामान्य' के आधार पर इनका प्रामाण्य भी स्वीकार किया जाना चाहिए, तथा इनके भी प्रेरक वैदिक वाक्यों के अस्तित्व का अनुमान कर लेना चाहिए, जो वाक्यसमूह आज अध्येताओं के आलस्य-प्रमाद तथा उन कुलों के नष्ट हो जाने से लुप्त हो चुका है।

इसमें सन्देह नहीं कि समय-समय पर अनेक तात्कालिक कारणों से बहुसंख्य वैदिक ग्रन्थों का विलोप हुआ है, जो आज नाममात्र शेष हैं, तथा अनेकों के नाम का भी पता नहीं। परन्तु इस वैदिक वाङ्मय के विनाश की आड़ में चाहे जिस वाद के लिए वैदिक आधार ढूंढने या कहने की कल्पना करना सर्वथा अनुचित है।[1]

---

१. वस्तुतः केवल स्मरण-परम्परा के आधार पर अनुष्ठेय स्मार्त्त कर्मों के प्रामाण्य का कोई औचित्य नहीं है। "आज के वैदिकों में अनेक कर्म ऐसे व्यवहृत हैं जिन्हें वे दृढ़तर स्मरण के आधार पर अनुपलब्ध श्रुतिमूलक मानते हैं।, उदाहरण के लिए मूर्तिपूजा को ही लीजिए। मूल वेद, शाखायें, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषत् और श्रौत-गृह्य-धर्मसूत्ररूप जितना वैदिक वाङ्मय है, इनके परिशिष्ट भागों को छोड़कर, मूलग्रन्थों में कहीं भी मूर्तिपूजा के विधान का लेशमात्र भी नहीं है। दर्शनशास्त्रों में भी इसकी गन्ध तक नहीं है। फिर भी साम्प्रतिक विद्वान् इसे वैदिक कर्म मानते हैं। यहाँ तक कि अद्वैतवादी, जिनके मत में जगत् भी मिथ्या है, तथा नवीन संन्यासी जिनके लिए सन्ध्या-अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म भी अकर्त्तव्य हो जाते हैं, विशेष करके शांकरमतानुयायी संन्यासी भी मूर्तिपूजा में लिप्त देखे जाते हैं। क्या इन लोगों का दृढ़तर स्मरण मूर्तिपूजा के प्रामाण्य-बोधन में प्रमाण हो सकता है? हमारा अपना मत है कि इस हेतु में यदि वैदिक ग्रन्थों के अन्तिम प्रवचन की सीमा स्वीकार कर ली जाए, तो केवल एक पशुयाग को छोड़कर समस्त विवादग्रस्त मन्तव्य स्वयं अप्रमाण हो जाते हैं। इस प्रवचन में शाखाओं, ब्राह्मणग्रन्थों एवं कल्पसूत्रों के परिशिष्ट की गणना त्याज्य होगी, क्योंकि वे मूलग्रन्थ के भाग नहीं हैं।" [यु० मी०]

अष्टका-संज्ञक कर्म का उल्लेख गृह्यसूत्रों में उपलब्ध है। आश्वलायन गृह्यसूत्र [२।४।१] में पाठ है—'हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्टकाः।' कौषीतकि गृह्यसूत्र में पाठ है—'ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्तिस्रोऽष्टमीष्वष्टकास्वपरपक्षेषु।' इसके अनुसार अगहन की पौर्णमासी के अनन्तर (अमान्त मास के क्रम से) अगहन-पौष-माघ-फागुन महीनों के कृष्ण पक्ष की चार अष्टमी तिथियों में इस कर्म का अनुष्ठान किया जाता है। दर्श-पौर्णमास के अन्तर्गत निर्दिष्ट पितृयज्ञ के समान यह एक पितृकर्म है। उणादि कोष [३।१४८] सूत्र की व्याख्या में ऋषि दयानन्द ने 'अष्टका वैदिककर्मविशेषो वा' लिखकर स्पष्ट किया कि यह एक वैदिक कर्म है। इसका उल्लेख अन्य गृह्यसूत्रों में भी उपलब्ध होता है। 'अष्टका' देवतावाला एक सूक्त[३।१०]अथर्ववेद में उपलब्ध है। ऐसे वेदानुसारी कर्मों का प्रामाण्य स्वीकार किया जाना चाहिए, भले ही उनके प्रेरक वैदिक वाक्य सम्प्रति उपलब्ध न होते हों। इसी प्रकार गुरु-अनुगमन, तड़ाग-निर्माण, प्रपा-प्रवर्त्तन (प्याऊ बैठाना) आदि के विषय में समझना चाहिए।

गुरु-अनुगमन—यह एक शिष्टाचारमूलक व्यवस्था है। इसका दृष्ट प्रयोजन है। इससे कोई अपूर्व धर्म की उत्पत्ति होती हो, ऐसा एकान्त कथन नहीं है। गुरु का अनुसरण, गुरु की आज्ञा का पालन करना, उसके प्रति निष्ठापूर्ण आदरभाव रखना, स्वयं को विनयसम्पन्न बनाना आदि गुरु की प्रसन्नता के ये कारण होते हैं। प्रसन्न गुरु शास्त्र की गहन ग्रन्थियों को शिष्य के लिए स्पष्ट कर देता है, यह दृष्ट प्रयोजन है। यही इसके प्रामाण्य का आधार है।

यदि यहाँ 'गुरु' पद का अर्थ वृद्धजन (बुजुर्ग) समझा जाता है, तो भी इनके अनुसरण से प्रयोजन में कोई विशेष अन्तर नहीं आता। वृद्धजनों के अनुसरण का दृष्ट प्रयोजन मनु के कतिपय श्लोकों से स्पष्ट होता है—

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥२।१२०॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥२।१२१॥

वृद्धजन को आते देखकर युवावर्ग के प्राण बाहर निकलने लगते हैं; पर उनके प्रति आदरभाव से खड़े हो जाने और अभिवादन कर लेने से फिर वापस आ जाते हैं।

अभिवादनशील और वृद्धोपसेवी व्यक्ति को चार फलों की प्राप्ति होती है—आयु, विद्या, यश और बल। यह गुरु एवं वृद्धजनों के अनुसरण का दृष्ट प्रयोजन स्पष्ट है। इन कर्मों के प्रामाण्य का यही आधार है। भारतीय समाज में साधारण शिष्टाचार की यह एक व्यवस्था रही है।

इसी प्रकार तड़ाग-निर्माण, प्रपा-प्रवर्तन आदि के भी दृष्ट प्रयोजन सर्वजन-

विदित हैं। शिखा-कर्म अथवा चूडाकर्म एक वर्णाश्रमगत शास्त्रानुकूल सामाजिक धर्म है। वह वर्ण एवं आश्रम की स्थिति को प्रकट करता है।

प्रस्तुत सूत्र के 'कर्त्तृसामान्यात्' हेतु पद का महत्त्व केवल इस आधार पर नहीं समझना चाहिए कि कर्त्ता— वैदिक कर्मों के अनुष्ठाता हैं, वे ही स्मार्त कर्मों के हैं, अतः स्मार्त कर्मों का प्रामाण्य स्वीकार्य माना जाय; क्योंकि वैदिक कर्मों का अनुष्ठाता भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों के कारण ऐसे कर्मों का अनुष्ठाता भी हो सकता है, जो वांछनीय अथवा अभिनन्दनीय नहीं कहा जा सकता, तथा जिसके लिए कोई मूलभूत दृढ़ आधार उपलब्ध नहीं। इसलिए 'कर्त्ता' की समानता का आधार वैदिक कर्मानुष्ठाता के साथ न जोड़कर स्मृति-ग्रन्थों (श्रौत, गृह्य, कल्प, धर्मसूत्रों) के प्रवक्ताओं के साथ जोड़ना अधिक उचित-उपयुक्त व निर्दोष होगा।

इस विचार में वेद और स्मृतियों के प्रतिपाद्य विषय की समानता अभिव्यक्त होती है, जिससे वेद के स्वतःप्रामाण्य की छाया में वेदानुसारी स्मृतिरूप वैदिक वाङ्मय का प्रामाण्य सुस्पष्ट होता है। गौतमीय न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि ने प्रसंगवश भाष्य में दो स्थलों पर इसका संकेत किया है। भाष्यकार का लेख है—

१. **द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम्। य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेद प्रभृतीनाम् ॥२।१।६८॥**

२. **द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चाप्रामाण्यानुपपत्तिः। य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति ॥**

—४।१।६२॥

द्रष्टा और प्रवक्ता के समान होने से स्मृतिवाङ्मय के प्रामाण्य का अनुमान किया जाता है। जो साक्षात्कृतधर्मा ऋषि वेदार्थ के द्रष्टा हैं, वे ही आयुर्वेद, श्रौत-धर्मसूत्र आदि के प्रवक्ता हैं। वेदार्थ का गम्भीर अध्ययन करने के अनन्तर लोकोपकार की भावना से विभिन्न आप्तपुरुषों ने विविध विषयों को लक्ष्य कर ग्रन्थों का प्रवचन किया। वेद परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान होने से स्वतः प्रमाण है। उस ज्ञान को आत्मसात् कर ऋषियों ने श्रौत, गृह्य आदि स्मृति-वाङ्मय का प्रवचन किया, अत वेदमूलक होने से इसका प्रामाण्य है। वेदार्थ के द्रष्टा तथा स्मृतिवाङ्मय के प्रवक्ताओं के समान होने से स्मृतिवाङ्मय का अप्रामाण्य अनुपपन्न है। श्रौत-स्मार्त कर्मों के प्रामाण्य का यही मुख्य आधार है। इसी भावना की छाया में सूत्रार्थ को समझने का प्रयास प्रामाणिक होगा। वात्स्यायन मुनि ने शब्द-प्रामाण्य के लिए आप्तोक्तता पर ही बल दिया है। उसकी चरम-सीमा परब्रह्म परमात्मा है, यह स्पष्ट किया है ॥२॥ (इति स्मृतिप्रामाण्याधिकरणम्—१)

(श्रुतिविरोधे[1] स्मृत्यप्रामाण्याधिकरणम्—२)

शिष्य जिज्ञासा करता है—जहाँ श्रुति के साथ स्मृति का विरोध हो, वहाँ स्मृति के प्रामाण्य का क्या आधार होगा ? आचार्य ने समाधान किया—

विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम् ॥३॥

[विरोधे] श्रुति-स्मृति का परस्पर विरोध होने पर [तु] तो [अनपेक्ष्यम्] अपेक्षा—आदर के योग्य नहीं, अर्थात् अप्रमाण [स्यात्] होती है— स्मृति। [असति] विरोध न होने पर [हि] निश्चयपूर्वक [अनुमानम्] अनुमान कर लिया जाता है—स्मृतिमूलक श्रुति का।

जहाँ श्रुति-स्मृति का परस्पर विरोध हो, वहाँ स्मृति अनादरणीय है, अप्रमाण है। यदि स्मृति का श्रुति के साथ कहीं कोई विरोध नहीं है, तो स्मृति के श्रुति-मूलक प्रामाण्य के लिए सम्प्रति अनुपलब्ध श्रुति की सम्भावना मान ली जाती है। ऐसी स्मृति का प्रामाण्य अक्षुण्ण रहता है।

व्याख्याकारों ने इस विषय के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, परन्तु उनमें अनेक का मूल वर्तमान वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध नहीं है। एक उदाहरण है—'औदुम्बर्याः सर्ववेष्टनम्' उदुम्बर—गूलर की शाखा को कपड़े से पूरा लपेट देना चाहिए; यह याज्ञिकों की स्मृति के आधार पर है। सोमयाग के अन्तर्गत मण्डप के मध्य यजमान-प्रमाण एक गूलर की शाखा गाड़ी जाती है। उसका भूमिगत भाग यजमान-प्रमाण से कुछ अधिक रहता है।[2] उसपर पूरा कपड़ा लपेटने की प्रथा केवल याज्ञिकों के स्मरण के आधार पर है। इसके लिए कोई वैदिक वचन उपलब्ध नहीं। परन्तु अन्य वैदिक वचन—'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेत्'[3] उसके विरुद्ध जाता है। औदुम्बरी शाखा का स्पर्श करते हुए उद्गाता सामगान करे। शाखा का कपड़े से लपेटे जाने पर— स्पर्श किया जाना सम्भव नहीं। अतः साक्षात् स्पर्शविधि के साम्मुख्य में 'कपड़े से लपेटे जाना' स्मृतिप्राप्त कथन अनादरणीय हो जाता है। शाखा-पर्यवेष्टन स्मृतिमूलक श्रुति की कल्पना, अथवा सम्भावना की अपेक्षा साक्षात् पठित स्पर्शविधि बलवान् होने से स्मृतिबोधित कार्य अप्रमाण हो जाता है।

इसी प्रकार का अन्य उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है—सोमयाग में दीक्षित यजमान के अन्न का ग्रहण करना साधारण रूप से निषिद्ध है–**'तस्माद्वा एतस्यान्न-**

---

१. सुबोधिनी व्याख्या में 'श्रुतिप्राबल्यम्। अधि० २' पाठ है।

२. इसका विधि-विधान द्रष्टव्य है—कात्या० श्रौ० सू०, ८।५।२६॥

३. वर्तमान वैदिक वाङ्मय में यह वाक्य उपलब्ध नहीं, परन्तु शबर स्वामी आदि व्याख्याकारों ने इसे श्रुतिवाक्य बनाया अथवा माना है।

मनाद्यम् (०मन्नाद्यम्)' [मै० सं०, ३।६।७]। उसके अपवादरूप में याज्ञिक स्मरण के आधार पर व्यवस्था है—'क्रीतराजको भोज्यान्नः'—जब यजमान सोम-राजा का क्रय कर ले, तब उसके अन्न का ग्रहण किया जा सकता है। सोमक्रय यजमान के दीक्षित होने से दूसरे दिन हो जाता है। परन्तु इसके विपरीत—'**तस्मादाग्नीषोमीये संस्थिते यजमानस्य गृहे अशितव्यम्**' [मै० सं० ३।७।८] श्रुति के अनुसार दीक्षा से चौथे दिन होनेवाले अग्निष्टोमीय कर्म के अनन्तर यजमान के घर अन्न-ग्रहण की अनुमति दी गई है। स्पष्ट ही इससे स्मार्त-व्यवस्था का विरोध है। उस (स्मार्त) व्यवस्था के अनुसार दीक्षा के दूसरे दिन यजमान के घर अन्न-ग्रहण किया जाना प्राप्त होता है; साक्षात् श्रुति [मै० सं० ३।७।८] के आधार पर चौथे दिन। इस प्रकार श्रुति के विरोध में स्मृति अनादरणीय-अप्रमाण है।

ऐसे स्थलों में विधि के विकल्प की सम्भावना नहीं की जा सकती कि चाहे दूसरे दिन अन्न-ग्रहण कर ले, चाहे चौथे दिन। विकल्प वहीं सम्भव होता है, जहाँ समानबल श्रुति उपलब्ध हों। जैसे 'व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत' व्रीहि से याग करे, जौ से याग करे। यहाँ तुल्यबल श्रुति होने से विकल्प मान्य है।[1] यथोपलब्ध व्रीहि अथवा जौ से याग किया जा सकता है। पूर्व-प्रसंग में ऐसा नहीं है; क्योंकि वहाँ स्मार्त व्यवस्था की मूलभूत श्रुति की कल्पना, साक्षात् पठित श्रुतिबोधित विधि व व्यवस्था से बाधित हो जाती है। फलतः श्रुति-विरोध में स्मृति का अप्रमाणित होना निश्चित है ॥३॥

श्रुति के विरोध में स्मृति के अप्रामाण्य के लिए सूत्रकार ने अन्य निमित्त प्रस्तुत किया—

हेतुदर्शनाच्च ॥४॥

[हेतुदर्शनात्] हेतु देखे जाने से [च] भी, श्रुति के विरोध में स्मृति अप्रमाण है।

इस विषय में प्रथम उदाहरण दिया गया है—औदुम्बरी शाखा का पूर्णरूप में कपड़े से लपेटा जाना। सम्भव है, कपड़े के लोभी किन्हीं याज्ञिकों ने यह प्रथा प्रारम्भ की; उसी ने कालक्रम से स्मृति का रूप धारण कर लिया। कपड़े के लोभ में उन्होंने यह न सोचा कि ऐसी स्थिति में श्रुति-बोधित शाखा-स्पर्श कैसे सम्भव

---

१. इस आशय की भावना मनुस्मृति [२।१४] में अभिव्यक्त की है—

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥

जहाँ दो प्रकार की श्रुति उपलब्ध हों, वहाँ दोनों धर्मों को मननशील आचार्यों ने ठीक बताया है।

होगा ? ऐसे स्मार्त्त कर्म का हेतु लोभ हो सकता है।

इसी प्रकार किन्हीं क्षुधार्त याज्ञिकों ने दीक्षा के दूसरे ही दिन सोमक्रय-विधि के अनन्तर यजमान का अन्न ग्रहण कर लिया; उसी को स्मार्त्त कर्म का रूप मिल गया। चौथे दिन अग्निष्टोमीय कर्म के अनन्तर श्रुतिबोधित यजमान-अन्न के ग्रहण की अनुज्ञा को उपेक्षित कर दिया। यहाँ भी स्मार्त्त कर्म का हेतु क्षुधार्त्त होना सम्भव है। इन निमित्तों से श्रुति-बोधित कर्त्तव्य की उपेक्षा किया जाना सम्भव है। अतः श्रुति के साम्मुख्य में इन तात्कालिक निमित्तों के आधार पर उभारे गये स्मार्त्त कर्म सर्वथा अमान्य हैं।

तृतीय पाद के इन प्रारम्भिक दो अधिकरणों में श्रुत्यनुसारिणी स्मृति का प्रामाण्य तथा श्रुतिप्रतिगामिनी स्मृति का अप्रामाण्य बताया गया है। परन्तु इसके अतिरिक्त मन्त्र तथा उसके व्याख्यानभूत ब्राह्मण एवं संहिता-ग्रन्थों का परस्पर विरोध-अविरोधमूलक अप्रामाण्य तथा प्रामाण्य का विवेचन भी इन अधिकरणों का प्रतिपाद्य विषय सम्भव है। पहले विवेचन में 'श्रुति' और 'स्मृति' पदों से क्या विवक्षित है, वहाँ स्पष्ट कर दिया गया है। प्रस्तुत विवेचन में 'मन्त्र' एक कोटि है, जो 'श्रुति'-पदबोध्य है। दूसरी कोटि ब्राह्मण तथा संहिता-(तैत्तिरीय संहिता आदि)-ग्रन्थ हैं। इनमें पहली कोटि स्वतः-प्रमाण और दूसरी कोटि, पहली के आनुकूल्य में प्रमाण तथा प्रातिकूल्य (विरोध) में अप्रमाण समझनी चाहिए[1] ॥४॥

(इति श्रुतिविरोधे स्मृत्यप्रामाण्याधिकरणम्, श्रुतिप्राबल्याधिकरणं वा—२)।

(दृष्टमूलक[2] स्मृत्यप्रामाण्याधिकरणम्—३)

व्याख्याकारों ने अकेले चतुर्थ सूत्र का भिन्न अधिकरण भी स्वीकार किया है। गत अधिकरण में अनुपलब्ध श्रुतिमूलक स्मार्त कर्म के अप्रामाण्य, अथवा दोनों के विरोध में श्रुति के प्राबल्य का निरूपण किया गया। परन्तु जिन स्मार्त कर्मों को श्रुतिमूलक कहा जाता है, उनके अप्रामाण्य को सूत्रकार ने बताया—

हेतुदर्शनाच्च ॥४॥

[हेतुदर्शनात्] कारण के देखे जाने से [च] और, जिन स्मार्त कर्मों की प्रवृत्ति में लोभ आदि कारण देखा जाय, उन्हें अप्रमाण मानना चाहिए।

वचन है—'वैसर्जनहोमीयं वासोऽध्वर्युर्गृह्णाति'। वैसर्जनहोम-सम्बन्धी वस्त्र

---

१. इस विषय में जो महानुभाव अधिक विस्तार से जानना चाहें, उन्हें पं० युधिष्ठिर मीमांसककृत मीमांसा शाबर भाष्य के हिन्दी रूपान्तर का प्रस्तुत प्रसंग देखना अपेक्षित होगा।

२. 'दृष्टमूलकस्मृत्यप्रामाण्यम्। अधि० ३।' सुबोधिनीवृत्ति में ऐसा पाठ है।

को अध्वर्यु ले लेता है। इसी प्रकार अन्य वाक्य है—'यूपहस्तिनो दानमाचरन्ति' यूप पर लपेटे वस्त्र का दान कर दिया जाता है। ये कर्म उन्हीं व्यक्तियों के द्वारा किये जाते हैं, जो श्रौत-स्मार्त कर्मों के अनुष्ठाता हैं, अतः इन स्मार्त्त कर्मों को प्रमाण मानना चाहिए, इस आशंका पर 'हेतुदर्शनात्' सूत्र का अवतरण होता है।

वैसर्जनहोमीय वस्त्र—अग्निष्टोम याग में चौथे दिन मध्याह्नोत्तर विसर्जन-होम का विधान है।[1] होम प्रारम्भ होने से पहले यजमान अपने समान-दायभागी अथवा सपिण्ड यजमान का स्पर्श करता है और अध्वर्यु सपिण्ड यजमानों को वस्त्र ओढ़ाता है।[2] सपिण्डों को जो वस्त्र ओढ़ाये जाते हैं, उन्हीं का नाम है—'वैसर्जन-होमीय वस्त्र'। अध्वर्यु इन वस्त्रों को होम के अनन्तर ग्रहण करता है, अर्थात् ये वस्त्र उसी के हो जाते हैं।

इसी प्रकार यूप पर लपेटे वस्त्र का नाम—'यूपहस्ती' है। उसके दान कर देने का तात्पर्य यही है कि वह यज्ञ करानेवाले ऋत्विजों को दे दिया जाता है। याज्ञिकों ने इन स्मार्त कर्मों अथवा प्रथाओं को चलाया। इन प्रवृत्तियों के पीछे लोभ—कारण देखे जाने से ऐसे स्मार्त कर्म शास्त्रीय दृष्टि से अभिनन्दनीय न होने के कारण अप्रमाण माने जाते हैं ॥४॥ (इति दृष्टमूलकस्मृत्यप्रामाण्याधिकरणम्—३)।

(पदार्थप्राबल्याधिकरणम्—४)

शिष्य जिज्ञासा करता है—आचमन, यज्ञोपवीत-धारण आदि यज्ञ-प्रारम्भ से पूर्व करने चाहिएँ तथा यज्ञ-कार्य में दक्षिण हाथ का उपयोग होना चाहिए, ऐसे वचन उपलब्ध होते हैं—'आचान्तेन कर्त्तव्यम्, यज्ञोपवीतिना कर्त्तव्यम्, दक्षिणाचारेण कर्त्तव्यम्' इत्यादि। क्या इनको श्रुति के अनुकूल माना जाए? या विरुद्ध? आचार्य ने पूर्वपक्षरूप में समाधान किया—

शिष्टाऽकोपेऽविरुद्धमिति चेत् ॥५॥

[शिष्टाऽकोपे] शिष्ट-शास्त्र द्वारा उपदिष्ट कर्म के अकोप-अकुपित-सुव्यवस्थित रहने पर [अविरुद्धम्] अविरुद्ध—श्रुति के विरुद्ध नहीं हैं आचमन आदि स्मार्त कर्म [इति चेत्] ऐसा यदि कहो—(तो वह ठीक नहीं; यह अगले सूत्र के साथ सम्बद्ध है)।

रचना के आधार पर पाँचवाँ-छठा एक ही सूत्र है। पर शबर स्वामी भाष्यकार ने व्याख्या की सुविधा का विचार कर सूत्र को विभक्त कर व्याख्यान किया है। प्रायः समस्त शास्त्र में भाष्यकार ने इसी पद्धति को अपनाया है। सूत्र का

१. द्रष्टव्य—शतपथ ब्राह्मण ३।६।३।१-४॥
२. इस विधि के लिए द्रष्टव्य—कात्यायन श्रौतसूत्र, ८।६।२०-२१; ३४-३५॥

तात्पर्य है—आचमन आदि स्मार्त कर्म से शास्त्र द्वारा उपदिष्ट वैदिक कर्मानुष्ठान में कोई प्रकोप-अव्यवस्था आने की सम्भावना नहीं है, अर्थात् वैदिक कर्मानुष्ठान में इन (आचमन आदि) कार्यों से कोई बाधा-गड़बड़ नहीं होती, अतः इन्हें श्रुति के अविरुद्ध समझकर प्रमाण मानना चाहिए।

इस विचार का निराकरण पूर्वपक्षी अपनी ओर से करता है, यदि ऐसा (पूर्वोक्त विचार) मानो, तो वह —॥५॥

न शास्त्रपरिमाणत्वात् ॥६॥

[न] नहीं, पूर्वोक्त विचार युक्त नहीं, [शास्त्रपरिमाणत्वात्] शास्त्र द्वारा परिमित—सीमित—सुबद्ध होने से, वैदिक कर्मानुष्ठान के।

आचमन आदि से वैदिक कर्मानुष्ठान में कोई बाधा न आएगी, यह कथन युक्त नहीं है। कारण यह है कि वैदिक कर्मानुष्ठान शास्त्रीय व्यवस्था से बँधा हुआ है। शास्त्र में कर्मानुष्ठान का जो क्रम बँधा हुआ है, उस निर्धारित क्रम के अनुसार ही उसका अनुष्ठान होना चाहिए। आचमन आदि से उसमें बाधा का आना सम्भव है। जैसे—'वेदं कृत्वा वेदिं कुर्वीत' वाक्य है। 'वेद' पद का यहाँ अर्थ है—कुशा या दर्भ घास की मुट्ठी (गुच्छा) बाँध देना, या बना देना। तात्पर्य है—कुशा की मुट्ठी बनाकर वेदि का निर्माण करे। यहाँ 'कृत्वा' पद का प्रयोग होने से वेद (कुशामुष्टि) के निर्माण के तत्काल अनन्तर—अर्थात् बिना किसी भी व्यवधान के—उत्तरकाल में वेदि का निर्माण किया जाना मान्य है। 'आचान्तेन कर्तव्यम्' इस स्मार्त विधान के अनुसार वेदि-निर्माण से पूर्व यदि आचमन किया जाता है, तो वेद-वेदि-निर्माण का अव्यावहित क्रम टूट जाता है, एवं व्यवस्थित वैदिक कर्मानुष्ठान में बाधा आ जाती है। बाधा न आय, इसके लिए आवश्यक है, स्मार्त विधान का प्रामाण्य स्वीकार न किया जाय। यज्ञोपवीत-धारण के विषय में भी यही बात समझनी चाहिए। अकेले दाहिने हाथ से यज्ञिय पदार्थों के उठाने-धरने या व्यवस्था करने में प्रधान कर्मानुष्ठान के लिए काल-विलम्ब की सम्भावना हो सकती है। प्रधान कर्म अपने निर्धारित काल में ही होना चाहिए। अध्वर्यु द्वारा अकेले हाथ से कार्य करने पर हाथ थक सकता है, भारी वस्तु के स्थानान्तरण में हाथ के धीरे चलने से प्रधान कर्म के काल का उल्लंघन हो जाना सम्भव है। अतः इस स्मार्त विधान की उपेक्षा कर दोनों हाथों का उपयोग वाञ्छनीय है, जिससे प्रधान कर्मानुष्ठान में कोई बाधा न आए। इस प्रकार उक्त स्मार्त विधियों का अप्रामाण्य मानना उपयुक्त होगा ॥६॥

उक्त जिज्ञासा का यथावत् समाधान सूत्रकार ने बताया—

अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन् ॥७॥

'अपि वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिए हैं। प्रस्तुत शास्त्र में इन पदों का उक्त अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए प्रायः प्रयोग हुआ है। तात्पर्य है—आचमन, यज्ञोपवीत-धारण आदि कर्म अप्रमाण नहीं हैं। [कारणाग्रहणे] लोभ आदि किसी कारण के अग्रहण—न देखे जाने पर, ये कर्म [प्रयुक्तानि] याज्ञिक आदि शिष्ट पुरुषों द्वारा प्रयोग में लाए गये, प्रवृत्त किए गये हैं, ऐसा [प्रतीयेरन्] जानना चाहिए। ऐसे स्मार्त कर्मों का—जिनके प्रवृत्त होने में कोई लोभ आदि निन्दित भाव कारण नहीं जाने जाते, उनका—प्रामाण्य अभीष्ट है।

यथार्थता यह है कि आचमन, यज्ञोपवीत-धारण आदि कर्मों से किसी वैदिक कर्मानुष्ठान का विरोध नहीं होता। ये सब कार्य अपने अवसर पर होते हैं। जो अनुष्ठान अवान्तर कार्यों के अनुक्रम में बँधे हैं, वे उसी रूप में किए जाते हैं। आचमन आदि यज्ञ के विशिष्ट अङ्ग हैं; जहाँ अपेक्षित हों, वहाँ इनका किया जाना उपयुक्त है। यज्ञ में क्रियारूप जो अर्थ जहाँ प्राप्त है, वहाँ उसका होना आवश्यक है। यज्ञ में वह अर्थ प्रधान तथा क्रम गौण माना जाता है। अपेक्षित क्रियानुष्ठान के साम्मुख्य में क्रम की उपेक्षा की जा सकती है। वस्तुतः इस प्रकार के अपेक्षित अनुष्ठानों से क्रम में कोई विशेष बाधा नहीं आती। आचमन मध्य में हो भी जाय, तो वेद-वेदि-निर्माण के पौर्वापर्य में कोई वैपरीत्य नहीं आता। तब बाधा का प्रश्न कहाँ रहा ? क्रियानुष्ठान के क्रम का प्रसंग तब आता है, जब उससे सम्बद्ध सब पदार्थ (क्रिया के विषय अथवा क्रिया में उपयोगी वस्तुसमूह) प्राप्त हो जाते हैं। उनकी प्राप्ति के अवसर पर क्रम का प्रसंग ही नहीं, तब उसमें आचमन आदि से बाधा का अवकाश कहाँ ?

इसी प्रकार काल की अनुकूलता रहते यदि कर्म में दक्षिण हाथ का उपयोग न किया जाय, तो इससे वास्तविक क्रियानुष्ठान में कोई विकार नहीं आता। फलतः आचमन, यज्ञोपवीतधारण, दक्षिण हाथ से व्यवहार आदि सब कर्त्तव्य-कर्म यागादि के अंग हैं, उसमें व्यवधान डालनेवाले ये नहीं होते। इसलिए इनका प्रामाण्य शास्त्रसम्मत है ॥७॥ (इति पदार्थ-प्राबल्याधिकरणम्—४)।

(शास्त्रप्रसिद्धपदार्थ-प्राबल्याधिकरणम्—५)

शिष्य जिज्ञासा करता है—कतिपय यज्ञिय पदार्थ ऐसे हैं, जिनके अर्थ-विषय में दो प्रकार की प्रसिद्धि से विकल्प होना सम्भव है। यहाँ मान्य क्या होगा ? निर्धारण की दृढ़ता के लिए आचार्य ने प्रथम शिष्य-जिज्ञासा को स्पष्ट किया—

तेष्वदर्शनाद् विरोधस्य समा विप्रतिपत्तिः स्यात् ॥८॥

[तेषु] उन 'यव' आदि पदों में [अदर्शनात्] न देखे जाने से [विरोधस्य] विरोध के, [समा] समान, बराबर [विप्रतिपत्तिः] विशेष ज्ञान [स्यात्] होना चाहिए।

यज्ञोपयोगी वस्तुओं के विषय में कतिपय वाक्य हैं—'यवमयश्चरुः'—जौ का बनाया गया 'चरु' होता है। 'वाराही उपानहौ'—वराह=सूअर की खाल से बने जूते। 'वैतसे कटे संचिनोति'—वैतस चटाई पर इकट्ठा करता है। इन सन्दर्भों में 'यव, वराह, वेतस' पद पठित हैं। विभिन्न वर्ग अथवा व्याख्याता इन पदों परस्पर भिन्न अर्थ करते हैं। 'यव' पद का अर्थ एक ने 'जौ' किया, दूसरे ने 'मालकंगनी'। 'वराह' पद का एक ने सूअर अर्थ किया, दूसरे ने काला पक्षी अर्थात् काला कौआ। 'वेतस' पद का अर्थ एक ने बेंत किया, दूसरे ने जामुन। इन अर्थों में किसी के सबल-दुर्बल न देखे जाने से दोनों प्रकार के अर्थ समानबल प्रतीत होते हैं। अतः दोनों अर्थों के स्वीकार्य होने पर, यज्ञ में यथावसर अथवा यथोपलब्ध कहीं पहले और कहीं दूसरे अर्थ का उपयोग किए जाने से इन विधियों में विकल्प स्वीकार किया जाना उपयुक्त होगा ॥८॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त जिज्ञासा का समाधान किया—

शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात् ॥९॥

[शास्त्रस्था] शास्त्रगत—शास्त्रबोधित अथवा शास्त्रज्ञबोधित अर्थज्ञान-रीति प्रमाण है; 'वा' पद पूर्वपक्ष के निराकरण का द्योतक है—अर्थात् दोनों प्रकार के वर्गों अथवा व्याख्याकारों में प्रसिद्ध अर्थ समानबल होने के आधार पर प्रमाण नहीं माने जा सकते; क्योंकि [तन्निमित्तत्वात्]पदों के अर्थज्ञान में शास्त्र अथवा शास्त्रज्ञ शिष्टजनों के निमित्त होने से।

किसी पद का अर्थ इस आधार पर निश्चित नहीं किया जा सकता कि यह अर्थ अमुक वर्ग में प्रसिद्ध है, अथवा किसी व्याख्याता ने ऐसा अर्थ किया है। प्रत्युत पद के वास्तविक अर्थ का निश्चय शास्त्र-प्रतिपादित पद्धति शिष्टजन-व्यवहार के अनुसार प्रमाण माना जाता है। पहले उदाहृत वाक्य में 'यव' पद का निश्चित अर्थ 'जौ' है, जिसकी बाल पर तीखे लम्बे तूड़ (दीर्घ शूक) उभरे रहते हैं। यह कहना प्रामाणिक न होगा कि यव और प्रियंगु (मालकगनी) में—अन्य सस्यों (अन्नों) के सूख जाने पर भी हरे-भरे बने रहने की—समानता के आधार पर दोनों का प्रामाण्य माना जाय; क्योंकि प्रामाण्य का आधार केवल शास्त्र है, और शास्त्र में जहाँ यवमय चरु अथवा पुरोडाश के पात्रों का विधान है, उस प्रसंग में पाठ है—'यत्रान्या ओषधयो म्लायन्ति तदैते मोदमाना वर्धन्ते' [श०ब्रा० ३।६।-१।१०] जब अन्य ओषधियाँ मुरझा जाती हैं, तब ये [दीर्घशूक यव) हरे-भरे बढ़ते दिखाई देते रहते हैं। उक्त सन्दर्भ में 'एते [यवाः] पद 'जौ'-अन्न के लिए स्पष्ट निर्देश है, जो अटूट परम्परा से इसी अर्थ के अभिव्यक्त करने में प्रयुक्त होता आ रहा है। अतः प्रियङ्गु (मालकंगनी) के अर्थ में इसका प्रयोग गौण है। फलतः चरु या पुरोडाश जौ का बनाया जाना चाहिए,—यह निश्चित होता है।

इसी प्रकार 'वाराही उपानहौ उपमुञ्चते' [तै० ब्रा० १।७।६] सन्दर्भ राजसूय प्रकरण में पठित है। राजा वराह[1]-चर्म-निर्मित जूतों को 'मन्युरसि' [तै० सं० १।८।१५] मन्त्र को पढ़ते हुए उतारता है। यहाँ 'वराह' पद का अर्थ सूअर (शूकर) समझना चाहिए क्योंकि अन्यत्र 'तस्माद्वराहं[2] गावोऽनुधावन्ति'

---

१. कतिपय व्याख्याकारों ने 'वराह' पद का अर्थ—'कृष्णशकुनि = वायस अर्थात् 'कौआ' किया है। कौए के दो भेद देखने में आते हैं—एक, मैदानी इलाकों में हल्के काले रंग, गर्दन पर और भी हल्के मटियाले (धुएँ जैसे) रंग का पाया जाता है; दूसरा, पहाड़ी कौआ शरीर में कुछ भारी और पूरे शरीर पर गहरे काले रंग का होता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के वाक्य में वाराही जूते का उल्लेख है। कौए की खाल से जूता बनना सम्भव नहीं। अतः उक्त प्रसंग में वराह पद का 'सूअर' अर्थ समझना प्रामाणिक है।

इस विषय के विशेषज्ञ से जिज्ञासा करने पर ज्ञात हुआ—शूकर का चर्म उतारना बड़े हस्तलाघव का कार्य है। इस चर्म का सन्धान व मार्जन (Tanning) और भी कठिन है। इसके लिए उपयोगी विशिष्ट साधन-सामग्री एवं शिल्पी का अनुभव व चातुर्य अपेक्षित होता है। सन्धित चर्म मखमल-जैसा कोमल हो जाता है। राजा के जूते के लिए इसका उपयोग नितान्त अनुकूल है। इससे इतना स्पष्ट होता है—उस अति प्राचीन काल में चर्मसन्धान की प्रक्रिया कितने उच्च स्तर पर थी जबकि श्रम व शिल्प-साध्य कोमल चर्म का संस्कार [सन्धान-मार्जन, Tanning] भी सुविधापूर्वक किया जा सकता था।

जिन व्याख्याकारों ने 'वराह' पद का अर्थ—'कृष्णशकुनि = वायस, कौआ किया है, कदाचित् उनकी यह भावना रही हो कि 'वाराही उपानहौ' का अर्थ वराह चर्म के रूप-रंग (Colour) का जूता होना चाहिए, उसका उपादानतत्त्व कुछ भी हो। इस भावना में कौए का रंग भी अटपटा नहीं लगेगा।

२. सन्तुलित करें—'तस्माद्वराहे गावः संजानते' [श० ब्रा० ५।४।३।१९]—इसलिए वराह के विषय में अथवा वराह की उपस्थिति में गायें चौंकती हैं, सतर्क हो जाती हैं। गाय और वराह के सम्बन्ध में ब्राह्मण का यह खण्ड अच्छा प्रकाश डालता है। वहाँ बताया—देवों ने अग्नि में घृतकुम्भ प्रविष्ट किया। उससे वराह प्रकट हुआ। इसलिए वराह मेदुर (चर्बी से भरा) घृत-पूर्ण कुम्भ है। अतः वराह के विषय में गायें हैरान रहती हैं। वे इस रस (मेदस्) को अपना समझती हैं। जिस रस (घृत) को हम पैदा करती रही हैं, उससे भरा-पुरा यह कहाँ से आ टपका? यही उनके चौंकने और उसे दूर भगाने के प्रयास का कारण है।

वाक्य में 'वराह' पद का सूअर अर्थ प्रमाणित होता है। 'वराह के पीछे गायें दौड़ती हैं' का तात्पर्य है—सूअर के समीप (अपनी ओर) आने पर गायें उसे मारने दौड़ती हैं, यह शाश्वतिक विरोध[1] का उदाहरण है। यहाँ 'वराह' पद का अन्य अर्थ किया जाना सम्भव नहीं।

इसी प्रकार 'वेतस' पद बेंत, नरसल या नरकुल तथा सरकण्डा आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में उसका अर्थ 'बेंत' किया जाना प्रमाणित होता है। सरकण्डा शुष्क मैदान का उत्पादन है। नरसल या नरकुल पानी के किनारे के समीप-भागों में प्रायः पैदा होता है। परन्तु बेंत पानी के अन्दर तटीय भूभाग से सटा हुआ अच्छा पनपता है। ये सब समानजातीय पौधे हैं। जम्बू (जामुन) का इनके साथ कोई मेल नहीं। शास्त्रज्ञ आचार्यों ने बताया—'वैतसः कटो भवति,···अप्सुजो वेतसः' [तै० सं० ५।३।१२]; कट=चटाई बेंत की बनाई जाती है। बेंत जलों में पैदा होता है। इसी के अनुसार 'वैतसे कटे सञ्चिनोति' वाक्य में 'वेतस' पद से बेंत का ग्रहण किया जाना प्रामाणिक है ॥६॥ (इति शास्त्रप्रसिद्धपदार्थ-प्रामाण्याधिकरणम्—५)।

(पिकनेमाधिकरणम्, म्लेच्छ प्रसिद्धा[2]र्थप्रामाण्याधिकरणं वा—६)

शिष्य जिज्ञासा करता है—अनेक पद आर्यों के द्वारा किसी अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त नहीं होते, अपितु वे पद अनार्यों द्वारा विशिष्ट अर्थ में प्रयोग किए जाते हैं। क्या उन पदों को उसी रूप में स्वीकार कर लिया जाय? अथवा व्याकरण, निरुक्त आदि के आधार पर प्रकृति-प्रत्यय के अनुसार उनका अर्थ निश्चित किया जाय? क्योंकि गत अधिकरण में शास्त्रज्ञ शिष्टजनों द्वारा बोधित पद-पदार्थ के प्रामाण्य का निर्देश किया गया है, अतः अनार्य-प्रयुक्त पदों को उसी रूप में स्वीकार न कर निरुक्त, व्याकरण आदि के अनुसार ही उनके अर्थ का निश्चय किया जाना चाहिए। ऐसे कतिपय शब्द हैं—पिक, नेम, सत, तामरस आदि। आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में निर्णय दिया—

चोदितं तु प्रतीयेताविरोधात् प्रमाणेन ॥१०॥

[चोदितम्] प्रेरित—बोधित अर्थ, अनार्यों के द्वारा [तु] भी, [प्रतीयेत]

---

१. 'येषाञ्च विरोधः शाश्वतिकः' [२।४।६] पाणिनि-सूत्र के उदाहरण—'अहि-नकुलम्, श्व-शृगालम्, उष्ट्र-महिषम्, मूषक-मार्जारम्' आदि के समान 'गो-शूकरम्' भी सम्भव है। इस विरोध का सम्भावित मूल, शतपथ ब्राह्मण के उक्त खण्ड [५।४।३।१९] में संकेतित है।

२. '०द्धपदार्थ प्रामाण्यम्। अधि० ६' रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनी टीका में ऐसा पाठ है।

प्रमाणित माना जाना चाहिए, [अविरोधात्] विरोध न होने के कारण [प्रमाणेन] प्रमाण-शास्त्र से।

प्रमाणभूत शास्त्र से विरोध न होने की दशा में अनार्यों द्वारा भी प्रयुक्त पद-पदार्थ का प्रामाण्य स्वीकार किया जाना चाहिए। आर्यों द्वारा उसके अप्रयोग की दशा में उन प्रयोगों की उपेक्षा करना अन्याय्य होगा। शास्त्रज्ञ शिष्टों के निर्देश वहाँ चरितार्थ हैं जहाँ अर्थ, प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अप्रत्यक्ष विषयों में शास्त्र का निर्बाध प्रामाण्य है। लोक-व्यवहार्य विषयों में अनार्यों द्वारा प्रयुक्त पद-पदार्थ स्वीकार कर लेने में कोई अनौचित्य नहीं है जबकि शास्त्रीय पद्धति से उसका कोई विरोध भी न हो।

यह कहना भी अयुक्त होगा कि पद-पदार्थ के संरक्षण में अनार्य अथवा म्लेच्छों का कोई प्रयास नहीं है, जबकि आर्यों का इस दिशा में प्रयास देखा जाता है। उनके प्रयास में यही सबसे बड़ा प्रमाण है कि उनके द्वारा प्रयुक्त अनेक पद-पदार्थों को स्वीकार्य माना गया है। यह उनके प्रयास का ही परिणाम है, जो अनेक स्वीकार्य पद उन भाषाओं में संरक्षित हैं।

वस्तुत: जिनको अनार्य अथवा म्लेच्छ कहा गया, वे सब वर्ग आर्यों के वंशज हैं। समय-समय पर विभिन्न कारणों से अपने पूर्व-समाज से विच्छिन्न हो जाने के कारण उनकी भाषा व आचार में भेद हो जाना नितान्त स्वाभाविक है। उन भाषाओं में प्रयुक्त शतश: शब्दों के मूल आज भी प्राचीन आर्यभाषा में अनायास ढूंढे जा सकते हैं, तथा अनेक ऐसे पदों का प्रयोग उन भाषाओं में उपलब्ध होना सम्भव है, जो भारतीय प्राचीन आर्यभाषा में अप्रयुक्त हो गये। यह असम्भव नहीं; अनेक प्रयुक्त पद कालान्तर में अप्रयुक्त होकर पुन: प्रयोग में आ जाते हैं।

इसके उदाहरण के लिए कोकिल-पर्याय 'पिक' पद को प्रस्तुत किया जा सकता है। यजुर्वेद [२४।३९] में सन्दर्भ है—'वाजिनां कामाय पिक:' यहाँ 'पिक' पद असंदिग्ध रूप से कोयल का पर्याय है। कामशास्त्र के अनुसार 'वाजी' और 'काम' पदों के छिपे अर्थ पर ध्यान देने से यहाँ 'पिक' पद का कोयल पक्षी अर्थ स्पष्ट होता है। कोयल के बोल और बोल का एकमात्र ऋतु बसन्त कामी जनों की कामुकता को उद्दीपित करते हैं, यह सर्वजनविदित है। इससे ज्ञात होता है, 'पिक' पद का प्रयोग आर्यों द्वारा कोयल के अर्थ में होता रहा है। कालान्तर में अव्यवहृत हो गया। शबर स्वामी व उसके पूर्वापर समीप का काल ऐसा ही था, जब उसने उक्त पद को म्लेच्छ-समाज में व्यवहृत बताया। अनन्तर किसी काल में पुन: इसका प्रयोग आर्य-लोकव्यवहार में आ गया।

'नेम' पद अन्तवाचक वेद में अनेकत्र मिलता है। अर्द्ध-(आधा)-वाचक 'नेम' पद का प्रयोग काठक संहिता [१४।९] में उपलब्ध है—'नेमे देवा नेमेऽसुरा:'। फारसी भाषा का नीम पद आधे अर्थ में प्रयुक्त होता है, जो 'नेम' का अपभ्रंश

सम्भव है।

'तामरस' पद कमल अर्थ का वाचक संस्कृत-कोशग्रन्थों में देखा जाता है; उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में नहीं देखा गया। परन्तु अनार्यों या म्लेच्छों की किस भाषा में इस पद का प्रयोग उक्त अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए होता है, यह भी पता नहीं लग सका। सम्भव है, इस पद को अन्य किसी भाषा से संस्कृत में स्वीकार कर लिया गया हो।

'सत' पद यज्ञ में उपयोगी, गोलाकार छलनी के समान दारुमय पात्र के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। शतपथ ब्राह्मण [१२।८।३।१४-१५] में इसका उल्लेख है। वहाँ यह भी बताया है कि 'सत'-संज्ञक पात्र बेंत का बनाया जाता था—'वैतसः सतो भवति'। 'सत' नामक यज्ञिय पात्र का उल्लेख कात्यायन श्रौतसूत्र [१९।२।९] में भी उपलब्ध है। निश्चित है—शतपथ ब्राह्मण की रचना शबरस्वामी से पर्याप्त पूर्व हुई है।

सम्भव है, उस काल में उक्त पद का प्रयोग आर्यों में व्यवहार्य न रहा हो। फिर भी आर्यों में भाषा-सम्बन्धी संकोच नहीं रहा। जो शब्द जहाँ भी जैसा प्रयुक्त होता रहा है, उसको वैसा स्वीकार करने में आर्य-परिवार कभी कृपण नहीं रहा।

यास्क के निरुक्त [२।२] में उल्लेख है—'अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते विकृतय एकेषु। शवतिः गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते, विकारमस्यार्येषु भाषन्ते—शव इति।' कतिपय वर्गों में प्रकृति अर्थात् आख्यात रूपों का प्रयोग होता है, और कहीं उसके विकार का। गत्यर्थक 'शव' धातु का आख्यातरूप में प्रयोग केवल कम्बोज देश में पाया जाता है। आर्यों में इसका विकार केवल कृदन्तरूप 'शव' पद प्रयुक्त है। 'शव' मृत देह का नाम है, जिसे छोड़कर आत्मा सदा के लिए चला गया हो।

यास्क के उक्त निर्देश के आधार पर आज यह निर्णय किया जा सका है कि कम्बोज किस प्रदेश का नाम है। यह लिखे जाने के समय निश्चित ही भारत और कम्बोज के मध्य गहरा सम्पर्क रहा होगा। समय-समय पर घटित कारणों से कालान्तर में वह सब विच्छिन्न हो गया। अब लगभग पाँच सहस्र वर्ष के अनन्तर उस भाषा की खोज हुई, जहाँ गत्यर्थक 'शव' धातु का आख्यातरूप में आंशिक भी व्यवहार आज चल रहा है। खोजों के फलस्वरूप जाना गया कि गल्चा क्षेत्र की बोलियों में आज भी वह सुरक्षित है। डॉ० ग्रियर्सन ने उस क्षेत्र की जितनी बोलियों के नमूने दिए हैं, उनमें 'शवति' धातु आज भी साधारण गति के अर्थ में व्यवहृत होता देखा जाता है। उसको अग्रांकित रूप में प्रस्तुत कर देना जानकारी के लिए सुविधाजनक होगा—

गल्चा बोली	धातुरूप	अर्थ
शिग्नी या खुग्नी	सुत: (भूतकालिक आख्यात रूप)	गया
सरीकोली	सैत—(विधि लकार)	जाना
	स्यूत—(भूत लकार)	गया
	सोम—(भविष्यत् लकार)	जाऊँगा
जेबाकी या इश्काशिमी	शुद—(भूत लकार)	गया
मुंजानी या मुंगी	शिआ—(विधि)	जाना
युइद्‌गा	शुई—(भूत)	गया

इसके आधार पर कम्बोज देश की स्थिति कश्मीर के ठीक उत्तर में—पामीर पठार का पच्छिमी भाग, सिङ्कियांग प्रदेश का बड़ा भाग, चायनीज़ तुर्किस्तान तथा वंक्षु (ऑक्सस) नदी के इधर-उधर का भूभाग—कही जा सकती है। यास्क-कालिक उस अति प्राचीन समय में भारत का उस प्रदेश के साथ गहरा सम्बन्ध रहा; यह भाषा-सम्बन्धी उक्त निर्देश से स्पष्ट होता है। यह विवेचन इस परिणाम पर पहुँचाता है, पर्याप्त प्राचीनकाल से तथाकथित म्लेच्छ अथवा अनार्य वर्गों की भाषाएँ भारतीय भाषा से सम्बद्ध एवं प्रभावित रही हैं। फलत: शास्त्रीय प्रमाणों के अनुरूप म्लेच्छभाषागत पदों का प्रामाण्य स्वीकार किए जाने में किसी बाधा की आशंका करना व्यर्थ होगा ॥१०॥ (इति पिकनेमाधिकरणम्, म्लेच्छ-प्रसिद्धार्थप्रामाण्याधिकरणं वा—६)।

(कल्पसूत्राणा[१]मस्वत:प्रामाण्याधिकरणम्—७)

शिष्य जिज्ञासा करता है—बौधायन आपस्तम्ब आदि कल्प-सूत्रों को अपौरुषेय मानकर उनका स्वत:प्रामाण्य स्वीकार किया जाय, अथवा पौरुषेय होने से परत:-प्रामाण्य ? सूत्रकार ने विषय की स्पष्ट एवं दृढ़ प्रतिपत्ति के लिए प्रथम पूर्वपक्ष कहा—

प्रयोगशास्त्रमिति चेत् ॥११॥

[प्रयोगशास्त्रम्] प्रयोगशास्त्र है, समस्त कल्पसूत्र [इति चेत्] ऐसा यदि कहो, तो।

जो वैदिक कर्म यज्ञ-याग आदि अनुष्ठानरूप वेद में कहे हैं, उनके समान ही उन कर्मों का प्रयोगात्मक विवरण कल्पसूत्रों में बताया गया है; अत: उनके प्रामाण्य के समान कल्पसूत्रों का प्रामाण्य भी स्वत: अपौरुषेय रूप में स्वीकार

---

१. सुबोधिनी व्याख्या में 'कल्पसूत्राणां स्वत:प्रामाण्याभाव:। अधि० ७' ऐसा पाठ है।

किया जाना चाहिए। इसी कारण इन्हें 'श्रौत' पद से व्यवहृत किया जाता है। ये भी अपौरुषेय अनादि नित्य माने जाने चाहिएँ। उसी आधार पर इनका प्रामाण्य हो। ऐसा यदि कहा जाय, तो वह—(अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)॥११॥

नासन्नियमात् ॥१२॥

[न] कथन ठीक नहीं, क्योंकि [अ-सन्-नियमात्] वेद के सदृश स्वर आदि से भली-भाँति नियमित सुसंबद्ध न होने के कारण, वेद के समान कल्पसूत्रों का प्रामाण्य अपौरुषेयत्व के आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता।

स्वर एवं पदानुपूर्वी के आधार पर वेद का नियमन, सम्यक् प्रकार से निबन्धन जैसा सुदृढ़ है, कहीं से भी चरमरा जाने का अवसर उसमें नहीं है; इसी कारण उसे अनादि-नित्य-अपौरुषेय माना जाता है। यह स्थिति कल्पसूत्रों में कदापि नहीं। इनका ढाँचा (निबन्धन) अटूट-अविच्छिन्न नहीं है। यहाँ पदों के पौर्वापर्य में भेद हो जाने पर भी अभिधेय अर्थ में अन्तर आने की सम्भावना नहीं रहती। अतः कल्पसूत्र पुरुषरचना होने से इनका स्वतःप्रामाण्य न होकर परतःप्रामाण्य ही माना जाना युक्त है। बौधायन, आपस्तम्ब आदि नामों से प्रसिद्ध कल्पसूत्र, स्पष्ट है—ये व्यक्ति इनका नियमन = निर्माण करनेवाले हैं, इनके जीवन से पूर्व ये कल्पसूत्र नहीं थे। इनका स्वतः प्रामाण्य अमान्य है ॥१२॥

उक्त अर्थ की सिद्धि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अवाक्यशेषात् ॥१३॥

[अ-वाक्यशेषात्] वाक्यशेष न होने से, कल्पसूत्रों के, ब्राह्मणग्रन्थों के समान।

ब्राह्मणग्रन्थ, विधिवाक्यों के अंगभूत अर्थवाद आदि से युक्त हैं, इसलिए विधिवाक्यों के शेष होने के कारण उन्हीं के समान उनका प्रामाण्य माना जाता है, परन्तु कल्पसूत्र विधिवाक्यों के शेष (अङ्गभूत) न होने के कारण ब्राह्मणग्रन्थों के समान कल्पसूत्रों का प्रामाण्य स्वीकार्य नहीं है ॥१३॥

यह कथन भी युक्त नहीं कि सत्यवक्ता आचार्यों के द्वारा कथित होने से कल्पसूत्रों का प्रामाण्य माना जाय; क्योंकि—

सर्वत्र च[१] प्रयोगात् सन्निधानशास्त्राच्च ॥१४॥

[सर्वत्र] सब जगह कल्पसूत्रों में [प्रयोगात्] प्रयोग से, [सन्निधानशास्त्रात्] सन्निधिशास्त्र से (विरुद्ध अर्थ के, कल्पसूत्र स्वतःप्रमाण नहीं)।

---

१. 'च' इति नास्ति, सुबोधिनीवृत्ति।

सन्निधिशास्त्र से तात्पर्य संहिता व ब्राह्मणग्रन्थ आदि हैं, जहाँ अनुष्ठेय कर्मों का मूलतः प्रतिपादन किया गया है। सूत्रार्थ को स्पष्ट करने के लिए मध्य में 'विरुद्धस्य' पद का अध्याहार कर लेना चाहिए। सूत्रपदों का अन्वय होगा—'कल्पसूत्रेषु प्रायः सर्वत्र सन्निधानशास्त्रात् विरुद्धार्थकस्य प्रयोगात् कल्पसूत्राणां न स्वतः प्रामाण्यम्।' कल्पसूत्रों में प्रायः ब्राह्मणग्रन्थ आदि के विरुद्ध अर्थ का प्रयोग—कथन किया गया है, अतः उनका स्वतःप्रामाण्य अमान्य है। आपस्तम्ब-सूत्र में बताया—'सर्वाणि हवींषि पर्यग्नि करोति' सब हवि-द्रव्यों का पर्यग्निकरण होता है। परन्तु 'पुरोडाशं पर्यग्नि करोति' इस प्रत्यक्षश्रुति के वह विरुद्ध है; क्योंकि पर्यग्निकरण केवल पुरोडाश का शास्त्रसिद्ध है, अन्य हवि-द्रव्य का नहीं।

अन्य उदाहरण दर्श और पौर्णमास इष्टि का है। दर्श-इष्टि का अनुष्ठान अमावास्या के दिन[१] किया जाना शास्त्रविहित है, इसी प्रकार पौर्णमास-इष्टि का पूर्णमासी के दिन। यदि उन दिनों में उक्त अनुष्ठान न किए जाएँ, तो उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान है। एकाधिक वार अनुष्ठान का समय चूक जाने पर कभी उस ओर से उपेक्षा की भावना भी जागृत हो सकती है। ऐसी स्थिति न आये, इस कारण कर्मकाण्ड के व्यवस्थापक प्राचीन आचार्यों ने नियम किया कि दर्श-इष्टि का अनुष्ठान अमावास्या को तथा पौर्णमास-इष्टि का पूर्णमासी को होना ही चाहिए; अन्यथा व्यक्ति प्रायश्चित्तीय[२] हो जाता है। इससे अनुष्ठाता व्यक्ति के व्यवस्था में बँधे रहने की अधिक सम्भावना बनी रहती है। परन्तु कालान्तर में अनन्तरवर्ती आचार्यों ने इस व्यवस्था में ढील दे दी। काल-अतिक्रमण हो जाने पर प्रायश्चित्त भी न करना पड़े, और अनुष्ठान की प्रक्रिया भी किसी प्रकार चलती रहे, क्रिया का सर्वथा लोप न हो जाय, इस भावना से उन्होंने व्यवस्था की—

दर्श (आमावास्य) इष्टि यदि किसी कारणवश अमावास्या के दिन न हो सके, तो अगली पूर्णमासी से पहले, अर्थात् शुक्लपक्ष की चतुर्दशी तक किसी भी दिन सुविधानुसार कर सकता है। इसी प्रकार पौर्णमास्येष्टि यदि निर्धारित समय पूर्णमासी के दिन किसी कारण सम्पन्न न हो सके, तो आगे आनेवाली अमावास्या से पहले अर्थात् कृष्णपक्ष की चतुर्दशी तक सुविधानुसार किसी भी दिन वह अनुष्ठान[३] कर सकता है।

---

१. पुरोडाश तैयार हो जाने पर दाभ (दर्भ घास) के तीन-चार लम्बे तिनकों के सिरों को प्रज्वलित कर उन्हें हाथ में लेकर पुरोडाश की तीन प्रदक्षिणा करना, पुरोडाश का पर्यग्निकरण है।

२. द्रष्टव्य—तै० सं० २।२।२॥ मैत्रा० सं० २।१।१०॥ काठक सं० १०।५॥

३. इस प्रकार की छूट या ढील देने के लिए द्रष्टव्य हैं—निदान सूत्र २।५॥ बोधा० श्रौ० सू० २८।१२॥ गोभिल गृह्य सूत्र १।६।१३॥

यह सब आलसी यजमानों पर याज्ञिक आचार्यों की अनुग्रह-भावना का स्वरूप है। ऐसा अनुग्रह निश्चित ही कर्मानुष्ठान में अव्यवस्था का उत्पादक होता है। मीमांसासूत्रकार जैमिनि, सर्वप्रथम सूत्रों के वृत्तिकार उपवर्ष और भाष्यकार शबरस्वामी आदि प्राचीन आचार्य शास्त्रनिर्देशानुसार कर्मानुष्ठान के लिए बल देते रहे हैं; उसमें कभी प्रमाद नहीं होना चाहिए। ऐसी शास्त्रीय व्यवस्था के प्रतिकूल जिन कल्पसूत्रकार आचार्यों ने कर्मानुष्ठान में कालातिपात की ढील दी है, उसका प्रामाण्य अस्वीकार्य है; यही निर्णय इस अधिकरण द्वारा किया गया है ॥१४॥ (इति कल्पसूत्राणामस्वतः प्रामाण्याधिकरम्—७)।

[देशाचारेषु सामान्यतः[1] श्रुतिकल्पनाधिकरणम्, होलाकाधिकरणं वा—८]

विभिन्न देशों में विभिन्न आचारविषयक प्रामाण्य-अप्रामाण्य का विवेचन करने की भावना से सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का सूत्र कहा—

अनुमानव्यवस्थानात् तत्संयुक्तं प्रमाणं स्यात् ॥१५॥

[अनुमानव्यवस्थानात्] अनुमान के व्यवस्थान से, आचार आदि के विषय में, [तत्संयुक्तम्] उस व्यवस्थान से संयुक्त-संबद्ध जो आचार है, वह [प्रमाणम्] प्रमाण [स्यात्] होता है, माना जाता है।

स्मृति व अन्य आचार आदि के प्रामाण्य के लिए यह व्यवस्था कर दी गई है[2] कि समस्त प्रामाण्य श्रुति पर आधारित है। यदि स्मृति-प्रतिपादित किसी कर्म के लिए प्रत्यक्ष श्रुति उपलब्ध नहीं है, तो स्मृत्यनुकूल श्रुति का अनुमान कर लेना चाहिए। जिन आधारों पर स्मृति-प्रतिपादत कर्म के प्रामाण्य के लिए श्रुति का अनुमान किया जाता है, उन्हीं आधारों पर विभिन्न आचारमूलक श्रुति के अनुमान से आचार के प्रामाण्य को स्वीकार किया जाना चाहिए।

चालू पाद के प्रारम्भ से सूत्रकार ने स्मृति तथा श्रौत-गृह्य-धर्मसूत्ररूप कल्प-सूत्रों के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य के विषय में विवेचन प्रस्तुत किया है, जो गत अधिकरण [१४ सूत्र] तक पूरा हो जाता है। प्रस्तुत अधिकरण द्वारा विभिन्न देशाचार के विषय में विवेचन किया गया है। यह अधिकरण सूत्र २३ तक चला है। देशाचार देशभेद के साथ, एक ही आचार के विभिन्न वर्गों द्वारा प्रशस्त व निन्दित माने जाने पर भी व्यवस्थित है। उदाहरण के लिए महिलाओं में पर्दा-

---

१. 'सामान्यश्रुतिकल्पनाधिकरम्' इत्येव पाठः। हलायुधकृत मीमांसासार-सर्वस्व।

'सामान्यश्रुतिकल्पनम् ॥ अधि० ८॥' सुबोधिनीवृत्ति।

२. द्रष्टव्य—सूत्र १।३।२-३॥

प्रथा तथा नृत्य आदि विचार्य हैं। इस व्यवस्था पर विचार करने के लिए सूत्र [१।३।४] के अनुसार कारणों का निरीक्षण करना अपेक्षित होगा। उत्तर भारत में पर्दा-प्रथा के कारणों का अन्वेषण करने पर यह सम्भव है—खुले मुँह रहने पर प्रतिबन्ध, मुस्लिम शासनकाल में उनकी कामुकता व अपहरण आदि के भय से बचने के लिए लगाया गया हो। यही कारण खुले रूप में नृत्य के लिए कहा जा सकता है। राजस्थान में विवाह आदि अवसरों पर कुलीन महिलाओं द्वारा अन्य जनों के बीच नृत्य निन्दनीय नहीं माना जाता। गुजरात का गर्बा नृत्य जानकार महिलाओं द्वारा किसी भी प्रकार के सांस्कृतिक अवसरों पर निन्द्य नहीं माना जाता।

देशाचार व सामाजिक प्रथा समय के अनुसार बदलते रहते हैं। आज के युग में महिलाओं का खुले मुंह रहना तथा कन्याओं द्वारा सांस्कृतिक-शैक्षिक मञ्च पर नृत्य निन्दनीय नहीं समझा जाता। अन्य अभिनन्द्य कलाओं के समान नृत्य एक कला है, इसका आचरण अप्रशस्य नहीं है; इतना अवश्य होना चाहिए कि इसमें अश्लीलता न आने पाये, तथा कला के बहाने से इसे अनाचार की सीमा तक न पहुँचाया जावे। विभिन्न देशाचार-परम्पराओं की खोज करने पर मूल में इनके आस्थावान् आधारों का पता लगता है, जो इस तथ्य का अनुमान कराते हैं कि इनकी मूलभूत श्रुति की कल्पना में कोई बाधा नहीं मानी जानी चाहिए। तब इनका प्रामाण्य भी अन्य स्मृतियों के समान समझा जाय ॥१५॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष समाधान करते हुए बताया—

अपि वा सर्वधर्मः स्यात् तन्न्यायत्वाद् विधानस्य ॥१६॥

'अपि वा' पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के द्योतक हैं। तात्पर्य है—उक्त विषय में यह वास्तविकता समझनी चाहिए। क्या ? [सर्वधर्मः] वह देशाचार सबका धर्म [स्यात्] होता है। [तन्न्यायत्वात्] उस विषय में उचित होने से [विधानस्य] विधान के।

होली-दिवाली आदि का मनाना किसी देशविशेष का आचार नहीं है, प्रत्युत समस्त देश के उस पूरे समाज का धर्म है, जो इस विषय की मान्यता का समान रूप से अनुयायी है। इसको मनाने की प्रक्रिया में कहीं किसी देश में साधारण अवान्तर भेद का होना सम्भव है, वह देशविशेष का आचार है, उसके लिए शब्द-मूलकता की खोज व्यर्थ है। मुख्य आचार धर्म वाञ्छनीय रूप में होली मनाना है, वह समस्त समाज का धर्म है, इसी रूप में इसकी श्रुतिमूलकता न्याय्य है, इसमें देशविशेष अथवा दिशाविशेष का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इस प्रकार के आचार-सम्बन्धी छोटे-मोटे विभेदों की शब्दमूलकता को खोजना नितान्त व्यर्थ है ॥१६॥

पारिवारिक एवं वर्गीय लघु आचार किन्हीं निमित्तविशेषों से किसी काल में प्रारम्भ हो गये, यह सम्भव है। उनके हेतु का अनुमान किया जा सकता है; इसी अर्थ को सूत्रकार ने कहा—

दर्शनाद् विनियोगः स्यात् ॥१७॥

[दर्शनात्] दर्शन से—दृष्ट हेतु से [विनियोगः] विशेष नियम व व्यवस्था, ऐसे आचारों में [स्यात्] होती है; तात्पर्य है—दृष्ट निमित्तों के आधार पर इन आचार-धर्मों की व्यवस्था समझ लेनी चाहिए।

बालकों की एक, दो या तीन शिखाओं का रखाया जाना, यज्ञोपवीत अथवा धारण किये वस्त्रों का रंगविशेष होना, दण्ड व मेखला के उपादानतत्त्वों का विभेद होना—आदि आचार का निमित्त साक्षात् जाना जाता है; इनके प्रारम्भ किये जाने का यही आधार रहा होगा। इस आचार-धर्म से यह बिना प्रश्न व खोज-बीन किये—जान लिया जाता है कि अमुक बालक किस वर्ण अथवा किस परिवार-विशेष का है। इसी कारण स्मृतियों[1] में इनका विधान किया गया है। परन्तु होली आदि ऋतु-सम्बन्धी आचार के विषय में दिशा या देश-विशेष में होनेवाले विभेदों के लिए कोई ऐसे प्रत्यक्ष कारण नहीं देखे जाते, जिससे उनके मूल कारणों की खोज करना अपेक्षित हो, तथा उसके आधार पर उनके शब्दमूलक होने की कल्पना आवश्यक हो ॥१७॥

ऐसे लघुवर्गीय आचार व धर्मों का पूर्णरूप में व्यवस्थित किया जाना सम्भव नहीं; क्योंकि कोई ऐसे साधन हमारे पास या समाज के पास नहीं हैं, जिनसे इन्हें नियमित किया जा सके। इसी अर्थ को सूत्रकार ने बताया—

लिङ्गाभावाच्च नित्यस्य ॥१८॥

[लिङ्गाभावात्] लिङ्ग-साधन के अभाव से [च] और [नित्यस्य] नित्य-नियमित व्यवस्था के लिए।

होलाका आदि के दैशिक आचार-सम्बन्धी विभेदों के नियमन व व्यवस्थापन के लिए कोई साधन उपलब्ध न होने के कारण इनकी व्यवस्था तथा उसकी शब्द-मूलकता की कल्पना के लिए प्रयास व्यर्थ है। देश-काल के भेद से इन आचार-धर्मों में अवान्तर विभेदों का हो जाना स्वाभाविक है; उनको नियमित व समान रूप में नियन्त्रित करने का कोई भी प्रयास सदा असफल रहेगा। समाज-महानद का प्रवाह सदा निर्बाध चलता है। न केवल सामने की बाधाओं को, अपितु पार्श्व-वर्त्ती तटीय बाधाओं को तोड़कर स्वच्छन्द बहता है। समय इसी बहाव को कुछ काल के लिए नियमित-जैसा कर देता है; कालान्तर में उसके लिए भी पहले-जैसी

१. द्रष्टव्य—मनुस्मृति, अ० २, श्लो० ३१—५०।

अवस्था प्राप्त हो जाती है। कालक्रमानुसार आचार आदि विषयक सामाजिक क्रान्तियों का अनुक्रम सदा चला करता है; यही समाज-महानद का अनवरत प्रवाह है। जिन आचार-धर्मों का सूत्रकार इन सूत्रों में विवेचन प्रस्तुत कर रहा है, वह सब आज कहाँ है ? शिखा, सूत्र, मेखला, दण्ड आदि तथा इनके विशेष रंग, उपादानतत्त्व तथा नाप आदि किसी का भी आज नाम-निशान नहीं है। यह इस तथ्य का सुपुष्ट प्रमाण है कि सूत्रकार समाज की वास्तविक स्थिति को किस चरम सीमा तक समझने की क्षमता रखता था। तभी उसने कहा—इस प्रकार के दैशिक अवान्तर आचार-धर्मों को नियमित करने के प्रयास की उपेक्षा ही करनी चाहिए; क्योंकि उसके लिए किसी के पास कोई साधन नहीं हैं ॥१८॥

इसी तथ्य की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने बताया—

आख्या हि देशसंयोगात् ॥१९॥

[आख्या] नाम=संज्ञा (प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य आदि) [हि] निश्चय से [देशसंयोगात्] देश के सम्बन्ध से होते हैं। उनके आधार पर आचार की व्यवस्था नहीं होती।

किसी भी देश के केन्द्रस्थान की अपेक्षा से दिशाओं के आधार पर उस ओर के प्रदेश का नाम दिशा के नाम पर रख दिया जाता है। उस प्रदेश में निवास के सम्बन्ध से व्यक्ति का नाम भी प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य, दाक्षिणात्य आदि कहा जाता है। यदि दाक्षिणात्य व्यक्ति उत्तर दिशा में जाकर रहता है, तो इतने से—दक्षिण देश के साथ सम्बन्ध न रहने पर भी वह अपने वर्गीय व पारिवारिक आचार का ही अनुष्ठान करता है, उदीच्य आचार का नहीं। ऐसे ही विभिन्न देशीय व्यक्तियों के विषय में समझना चाहिए। तात्पर्य है—देश के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध न रहने पर भी देशाचार के बने रहने से आचार की व्यवस्था देश-सम्बन्ध पर आधारित नहीं है ॥१९॥

संज्ञा देश-सम्बन्ध के कारण है; इस आंशिक कथन को लक्ष्य कर शिष्य जिज्ञासा करता है—देशान्तर में चले जाने पर भी पूर्व-संज्ञा बनी रहती है, अतः देश-संयोग से संज्ञा (=आख्या) का होना युक्त प्रतीत नहीं होता। आचार्य ने शिष्य की जिज्ञासा को सूत्रित किया—

न स्याद् देशान्तरेष्विति चेत् ? ॥२०॥

[न] नहीं [स्यात्] होवे या रहे वह संज्ञा, [देशान्तरेषु] अन्य देश में चले जाने पर; यदि वह देशसंयोग के कारण हो। [इति चेत्] ऐसा यदि कहा जाय, तो यह ठीक नहीं—(इसका सम्बन्ध अगले सूत्र के साथ है)।

दाक्षिणात्य, प्राच्य, उदीच्य आदि संज्ञा यदि देशविशेष के साथ संयोग के

कारण मानी जाती हैं, तो उस देश का संयोग न रहने पर, अर्थात् देशान्तर में चले जाने पर वह संज्ञा नहीं रहनी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता; मथुरा में निवास के कारण व्यक्ति 'माथुर' कहा जाता है; परन्तु मथुरा के साथ सम्बन्ध न रहने पर, अर्थात् अन्यत्र चले जाने पर भी वह 'माथुर' कहा जाता है। अतः आख्या (संज्ञा) देशसंयोग के कारण है, यह कथन अनैकान्तिक होने से संगत प्रतीत नहीं होता ॥२०॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

स्याद् योगाख्या हि माथुरवत् ॥२१॥

[स्यात्] होवे, या रहे; प्राच्य देश से बाहर गए हुए की भी प्राच्य आदि संज्ञा; क्योंकि यह [योगाख्या] योग-संयोग-सम्बन्ध के कारण आख्या [हि] ही है, अथवा निश्चय से है [माथुरवत्] माथुर संज्ञा के समान।

किसी ग्राम, नगर या देश के सम्बन्ध से व्यक्ति व समाज का नाम पड़ जाने के अनेक निमित्त व परिस्थितियों का उल्लेख आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी[1] ग्रन्थ में किया है। उसके अनुसार मथुरा में जन्मा, रहा, रहने को उद्यत, रहता हुआ आदि किसी निमित्त के होने पर व्यक्ति के लिए 'माथुर' पद का प्रयोग सर्वथा उपयुक्त है। जिस व्यक्ति का मथुरा के साथ सम्बन्ध के लिए इनमें से कोई निमित्त न हो, वह माथुर नहीं कहा जायगा। उक्त निमित्तों के रहते, ऐसी संज्ञा में न काल का निबन्धन है, न देश का। परन्तु पारिवारिक व वर्गीय (सामाजिक) आचार परिवार व वर्ग से उपनिबद्ध हैं, देश से नहीं। किसी व्यक्ति व वर्ग का देश छूट जाने पर भी आचार-धर्म नहीं छूटता; वह उसी रूप में अनुष्ठित किया जाता रहता है। तात्पर्य है, किसी व्यक्ति आदि के माथुर, अथवा प्राच्य, प्रतीच्य, दाक्षिणात्य आदि संज्ञाओं के निमित्त भिन्न हैं, तथा आचार-धर्म के भिन्न। आचार-धर्म में देश-सम्बन्ध निमित्त नहीं होता, यही बताना अभीष्ट है। मथुरा छोड़कर भी माथुर नाम रहने से आचार-धर्म में कोई अन्तर नहीं आता ॥२१॥

प्रस्तुत अधिकरण में भाष्यकार शबर स्वामी ने कतिपय ऐसे आचार-धर्मों का उल्लेख किया है, जिनका प्रचलन किसी प्रदेशविशेष में देखा जाता है, सर्वत्र नहीं। इनमें 'आह्नीनैबुक' आचार दाक्षिणात्यों का तथा 'उद्वृषभयज्ञ' उदीच्यों का बताया है। 'आह्नी नैबुक' के विषय में आचार्यों का बहुत मतभेद[2] है, जो

१. इसके लिए द्रष्टव्य हैं—अष्टाध्यायी, अध्याय ४, पाद तृतीय के निम्नांकित सूत्र—२५, ३६, ४१, ५३, ७४, ८३, ८५, ८६, ८६, ६०, ६५, १२० H

२. **'करञ्जादिपूजनात्मकम्—'आह्नीनैबुकम्' इति मीमांसाकौस्तुभे**

इस सन्देह को पुष्ट करता है कि यह प्रादेशिक आचार-धर्म, आचार्य जैमिनी के

[१।३।१५] भट्टखण्डदेवः। स्वस्वकुलागतं करञ्जार्कादिस्थावरदेवता-पूजनम्—'आह्लीनैबुक' शब्देनोच्यत इति मीमांसान्यायमालाविस्तरेऽत्रैव माधवः। गोमयमयीं देवता दूर्वादिभिरभ्यर्च्य ज्ञातित्वकल्पनम्—'आह्लीनैबुकम्' इत्येके। मङ्गलवारे दधिमन्थनम्, इत्यन्ये। प्रतिदिनं तण्डुलमुष्टि मासमेकं भाण्डे निःक्षिप्य घृतेन तेनापूपमेकं कृत्वा देवतापूजनमित्यपरे, इति न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धौ (१।१।१, पृष्ठ २६७तमे) उदयनः।" [यु०मी०,मीमांसाशाबरभाष्य, पृ० २५२; टिप्पणी—१]

करञ्ज (करंजवा—एक पेड़, जिसका विशेष प्रयोग विविध औषध बनाने में होता है) आदि की पूजा 'आह्लीनैबुक' है, यह भट्ट खण्डदेव ने [१।३।१५] सूत्र की व्याख्या पर मीमांसाकौस्तुभ में लिखा है।

अपने कुलक्रमागत नियम के अनुसार करञ्ज व आक आदि स्थावर देवता का पूजन 'आह्लीनैबुक' है; यह आचार्य माधव ने मीमांसान्याय-मालाविस्तर में बताया है।

न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि (१।१।१, पृष्ठ २७६) में आचार्य उदयन ने लिखा है—गोबर से बनाई देवता-प्रतिमा की दूर्वा आदि से पूजा करके उसमें बन्धु-बान्धवभाव की कल्पना 'आह्लीनैबुक' कर्म है, ऐसा कुछ लोग मानते हैं। दूसरे लोग कहते हैं—मंगलवार में दही का मथना (बिलोना) 'आह्लीनैबुक' है। अन्य व्यक्तियों का कहना है—प्रतिदिन एक मुट्ठी चावल एक मास तक पात्र में डालकर अनन्तर घृत के सहयोग से उनका पुआ (अपूप) बनाकर उससे देवता की पूजा करना 'आह्लीनैबुक' कर्म है।

भाष्यकार ने यह कर्म दाक्षिणात्यों का बताया है। आजकल इसका अनुष्ठान दाक्षिणात्यों द्वारा होता है, या नहीं ? यदि होता है, तो किस रूप में ?—यह ज्ञातव्य है। दाक्षिणात्यों में आजकल एक अन्य आचार-धर्म प्रचलित है—'हल्दीकुंकुम'। यह आधुनिक नाम है। कब से चला, और पूर्वरूप क्या रहा ? कहना कठिन है। यह आचार केवल सधवा महिलाओं द्वारा प्रायः नवरात्र (आश्विनगत) में मनाया जाता है। अन्य अनेक ऐसे आचार-धर्म हैं, जो विशिष्ट वर्गों में मान्य हैं, सर्वत्र नहीं। उन सबके विषय में प्रस्तुत विवेचन लागू होता है।

भाष्यकार ने एक अन्य विशिष्ट देशाचार उदीच्य (उत्तर-देशवर्त्ती) व्यक्तियों का बताया है—'उद्वृषभयज्ञ'। मीमांसान्यायमालाविस्तर के उक्त प्रसंग में माधव ने लिखा है—**'ज्येष्ठमासस्य पौर्णमास्यां बलीवर्दानभ्यर्च्य धावयन्ति, सोऽयमुद्वृषभयज्ञ इति।'** ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा के दिन

काल में रहा होगा, या नहीं ? यदि रहा हो, तो कालानुसार उसमें परिवर्त्तन होते रहे, जिसका मूलरूप आज सन्दिग्ध अथवा अज्ञात है। अथवा, प्रदेशभेद व परिवारभेद से यह भेद रहा हो। फलतः उदाहरण कोई भी रहा हो, उस पृष्ठ-भूमि पर शिष्य जिज्ञासा करता है—देश आचार का निमित्त न हो, पर उसे आचार-कर्म का अङ्ग क्यों न मान लिया जाय ? सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

कर्मधर्मो वा प्रवणवत् ॥२२॥

[कर्मधर्मः] कर्म—देशाचार कर्म का धर्म—अङ्ग रहे देश, [वा] अथवा, [प्रवणवत्] जैसे प्रवण—निम्नता—भूमि के ढलान को कर्म का अङ्ग (धर्म) माने जाने के समान।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [८।१।५] में वाक्य है—'प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत'[1]—पूर्व की ओर ढलानवाले देश में 'वैश्वदेव' नामक याग से यजन करे। जैसे यहाँ ढालू देश, कर्म का अङ्ग है, इसी प्रकार आह्नीनैबुक कर्म प्रायः काली मिट्टीवाले देश में किये जाने से, वहाँ भी देश को कर्म का अङ्ग माना जाना चाहिए। व्यवस्था दोनों के लिए समान होने से, देश को कर्म का नियामक मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए ॥२२॥

बैलों की पूजा करके उन्हें दौड़ाते हैं। यह आचार-धर्म कृषकसमुदाय में रहा, यह ज्ञात होता है। नाम में 'यज्ञ' पद का प्रयोग विशेष ध्यान देने योग्य है। इससे प्रतीत होता है—ऐसे प्रादेशिक आचार-धर्मों को यज्ञ का मान्य स्तर प्राप्त रहा। यह आचार-धर्म भारत के पश्चिमोत्तर भाग में अब से चालीस-पचास वर्ष पहले उत्साहपूर्वक मनाया जाता रहा है। किसी प्रदेश में दिवाली के पीछे गोवर्द्धन-पूजा के बाद, तथा अन्यत्र विभिन्न पूर्णमासी अथवा अमावास्या के दिन मनाये जाने का प्रचलन रहा है। अब यह व्यवस्थित व सामूहिक रूप से नष्ट हो गया है। अब खेती में बैलों का स्थान ट्रैक्टर ने ले लिया है। जहाँ बैल रह गये हैं, वहाँ भी जीवन-निर्वाह की कमरतोड़ कठिनाइयों ने ऐसे मनोरञ्जनपूर्ण आचारों की ओर रुचि निष्प्राण कर दी है।

१. तुलना करें—मैत्रायणी संहिता, १।१०।७; 'प्रवणे यष्टव्यम्'। चातुर्मास्य याग के प्रारम्भिक भाग में वैश्वदेव याग से यजन करने का 'प्रवण'—ढलान-भूमि पर विधान ध्यान देने योग्य है। क्या इसका यह तात्पर्य रहा होगा कि यज्ञ-भूमि पर पानी न रुक सके ? भले ही यज्ञमण्डप आच्छादित रहता हो।

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

तुल्यं तु कर्त्तृधर्मेण ॥२३॥

[तुल्यम्] तुल्य–समान है, देश श्यामादि कर्माङ्गता, [तु] तो [कर्तृधर्मेण] कर्त्ता के श्यामादि धर्म के साथ।

उक्त आचार-धर्म के कर्त्ता-अनुष्ठाता पुरुष का वर्ण (रूप) यदि श्याम है, तो वह आचार-धर्म के अनुष्ठान में नियामक–व्यवस्थापक नहीं है। कर्त्ता श्याम न होकर गौर भी हो सकता है। इसी प्रकार देशगत श्यामता को आचार-धर्म का व्यवस्थापक नहीं माना जा सकता। उक्त आचार-धर्म पारिवारिक अथवा वर्गीय हैं। उस वर्ग के व्यक्ति यदि पीली मिट्टीवाले देश में रहते हैं, तो वहाँ भी वे उक्त आचार-धर्म का पालन करते हैं। यदि काली मिट्टीवाले देश में उक्त वर्ग से भिन्न वर्गवाले लोग रहते हैं, तो वे वहाँ भी उक्त आचार-धर्मों का पालन नहीं करते। अत: अनैकान्तिक (व्यभिचारी) होने से देशविशेष, किन्हीं आचार-धर्मों के पालन में व्यवस्थापक हेतु नहीं माना जा सकता।

गत सूत्र द्वारा उक्त मान्यता (आचार-धर्म की व्यवस्था में देश नियामक व व्यवस्थापक है) के लिए जो 'प्रवण' उदाहरण दिया, वह प्रस्तुत प्रसंग में असंगत है; क्योंकि प्रवण में वैश्वदेव यजन के लिए श्रुति का साक्षात् निर्देश उपलब्ध है। आचार-धर्म के विषय में ऐसा कोई निर्देश उपलब्ध नहीं। अत: इस प्रसंग में उक्त उदाहरण का कोई सांगत्य नहीं ॥२३॥ (इति देशाचाराणां सामान्यतोऽनुमानाधिकरणम्, होलाकाधिकरणं वा—८)

(साधुशब्दप्रयुक्त्य[1]धिकरणम्—९)

गत अधिकरण (६) में आर्यवर्ग द्वारा अव्यवहृत शब्दों के—म्लेच्छवर्गीय प्रसिद्ध—अर्थों का प्रामाण्य प्रतिपादित कर दिया गया है। प्रस्तुत अधिकरण में शिष्ट एवं अशिष्ट जनों द्वारा प्रयुक्त शब्दों के व्यवहार्य-अव्यवहार्य विषय पर विचार करना अभीष्ट है। इस सन्दर्भ में शिष्य जिज्ञासा करता है—पशुविशेष के लिए जैसे 'गो' पद का प्रयोग है, वैसे गाय, गावी, गोवी आदि का। क्या इन सबका प्रयोग समानरूप से व्यवहार्य माना जाना चाहिए, अथवा नहीं? आचार्य सूत्रकार ने प्रथम शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वाच्छब्देषु न व्यवस्था स्यात् ॥२४॥

[प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वात्] प्रयोग–उच्चरित शब्द की उत्पत्ति-अभिव्यक्ति

---

१. 'साधुपदप्रयोगनियमः। अधि० ९' सुबोधिनीवृत्ति-पाठ।

शास्त्र से बँधी नहीं है, अतः [शब्देषु] शब्द-प्रयोगों में [न] नहीं [व्यवस्था] शास्त्र द्वारा नियन्त्रण [स्यात्] है।

शब्द का उच्चारण अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये किया जाता है, और यह लोकव्यवहार पर आधारित है। शास्त्र से यह बँधा हुआ नहीं है। जैसे गो शब्द के उच्चारण से जिस प्रकार के पशु का बोध होता है, वैसे ही गावी आदि पदों के उच्चारण से होता है। एक ही अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए अनेक पदों का प्रयोग देखा जाता है, जैसे—हाथ के लिए—'हस्तः, करः, पाणिः' इत्यादि। इस आधार पर यह मानने में कोई संकोच नहीं कि सब शब्द समान रूप से नित्य हैं, शब्दार्थ-सम्बन्ध का कोई कर्त्ता नहीं है, यह पूर्वकाल से व्यवस्थित है। यह कहना भी कोई महत्त्व नहीं रखता कि केवल 'गो' पद निर्बाध परम्परा से अर्थ को अभिव्यक्त करता है, अन्य 'गावी' आदि पद अपभ्रंश हैं। क्योंकि इन सभी पदों से एक ही अर्थ की अभिव्यक्ति समान रूप से होती है, फलतः प्रत्येक शब्द जो अभिमत बोध्य अर्थ को अभिव्यक्त करता है, वह प्रमाणभूत है, साधु है, व्यवहार्य है ॥२४॥

आचार्य सूत्रकार जिज्ञासा का समाधान करता है—

शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेरपराधस्य भागित्वम् ॥२५॥

[शब्दे] 'गावी' आदि असाधु शब्द के विषय में, [प्रयत्ननिष्पत्तेः] 'गो' आदि साधु शब्दों के प्रयत्नपूर्वक निष्पत्ति–उच्चारण किये जाने से [अपराधस्य] 'गावी' आदि असाधु उच्चारणरूप अपराध के [भागित्वम्] भागी होना सम्भव है।

साधु शब्दों के उच्चारण में भलाई और असाधु शब्दों के उच्चारण में बुराई समझी जाती है। लोकव्यवहार में साधु शब्दों का प्रयोग हो, असाधु का नहीं; इस निमित्त शब्द की साधुता को सीखने के लिए प्रयत्न अपेक्षित होता है। समाज का जो अंग इस विषय में प्रयत्नशील नहीं रहता, वह प्रशस्य नहीं समझा जाता। असाधु शब्द का प्रयोग ही एक अपराध के समान है। ऐसा व्यक्ति उस अपराध का भागी अवश्य होता है। यह ठीक है कि अर्थाभिव्यक्ति में समर्थ शब्द व्यवहार्य है, पर उसकी साधुता-असाधुता की ओर से उपेक्षा करना निन्दनीय है।

सूत्र के 'प्रयत्ननिष्पत्ति' पदों को केवल इतने अर्थ में सीमित नहीं समझना चाहिए कि—वायु नाभि से उठ के उरःस्थान में विस्तार पाता हुआ कण्ठ, मूर्द्धा, तालु आदि स्थानों में विचरता हुआ साधु शब्दों को अभिव्यक्त करता है[1]।

---

१. आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूच्चरन् मन्द्रं ततो जनयति स्वरम्॥
—बाल्यकाल में वर्णोच्चारणशिक्षा से संस्मृत संदर्भ।

क्योंकि ऐसा प्रयत्न तो असाधु शब्दों के उच्चारण में भी समान रहता है। इसलिये मुख्य रूप में यहाँ वह प्रयत्न अपेक्षित समझना चाहिए, जिससे शब्द की साधुता-असाधुता को पहचानने में सहायता मिलती है, जिसके आधार पर प्रयोक्ता अर्थाभिव्यक्ति के लिए केवल साधु शब्द का प्रयोग करे, असाधु शब्द के प्रयोग से अपने-आपको बचा सके, जिससे अपराध का भागी न बनना पड़े।

सूत्रकार के काल में 'गावी' आदि पदों का प्रयोग रहा हो, इसमें सन्देह है। भाष्यकार शबर स्वामी ने अपने समय के अनुसार इन पदों का उल्लेख किया है। यह अधिक सम्भव है, उस काल में अशिक्षित व्यक्ति 'गो' पद के विविध साधुरूपों के स्थान पर उन्हें विकृतरूप में बोलते रहे हों; उसी स्थिति को लक्ष्य कर सूत्रकार ने यह निर्देश किया—शब्द की साधुता-असाधुता को प्रयत्नपूर्वक (शिक्षा आदि द्वारा) जानो; तब साधु शब्द का प्रयोग करो; असाधु शब्द का प्रयोग न कर अपराध से बचो। इस विषय में केवल लोकव्यवहार पर आधारित न रहो। लोकव्यवहार शिशु-व्यवहार के समान है। शिशु द्वारा तुतली बोली में उच्चरित शब्द अर्थाभिव्यक्ति में समर्थ हैं, माता द्वारा उनको पूर्णरूप में समझना, इसका प्रमाण है; परन्तु वे सर्वदा व्यवहार्य नहीं; शिक्षित होने पर बालक उन्हें छोड़ देता है। शिशु-सुलभ असामर्थ्य उसे अपराध से बचाये रखता है। पर सामर्थ्य होने पर प्रयत्न के प्रति आलस्यादिमूलक उपेक्षा से शब्द की साधुता को न जानना अपराध है; सूत्रकार ने इस दिशा में प्रयोक्ता का ध्यान आकर्षित किया है ॥२५॥

यह जो कहा गया कि एक अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए अनेक पदों का प्रयोग देखा जाता है, उसी के समान गो-अर्थ के लिए गावी-गोणी आदि अनेक पदों का प्रयोग उचित है। इस विषय में सूत्रकार ने बताया—

अन्यायश्चानेकशब्दत्वम् ॥२६॥

[अन्यायः] न्याययुक्त नहीं है [च] तथा यह, जो [अनेकशब्दत्वम्] अनेक शब्दों का होना, एक अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए कहा गया है।

'गावी' आदि असाधु शब्द का प्रयोग होने पर श्रोता को शब्द की समानता से 'गो' पद का स्मरण हो आता है, तब वह उस पद से बोध्य अर्थ को जान लेता है। तात्पर्य है—असाधु शब्द में अर्थाभिव्यक्ति का सामर्थ्य नहीं है। 'गावी' असाधु पद के ध्वनि-साम्य से श्रोता 'गो' पद का स्मरण कर बोध्य अर्थ को जान पाता है। इससे स्पष्ट है—अर्थाभिव्यक्ति का सामर्थ्य केवल साधु शब्द में है। इसी कारण प्रत्येक साधु-असाधु शब्द की अविच्छिन्न परम्परा अनादि काल से प्रवृत्त है, यह कहना असंगत है। यह परम्परा केवल साधु शब्द की है; असाधु शब्द उसका अपभ्रंशमात्र है। ऐसी स्थिति में एक अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए 'गावी, गोणी' आदि अनेक पदों के प्रयोग की मान्यता सर्वथा अप्रा-

माणिक है।

एक अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए अनेक साधु शब्दों के प्रयोग के विषय में यदि ध्यानपूर्वक गम्भीरता से विचार किया जाय, तो स्पष्ट होगा कि प्रत्येक पद अपने विभिन्न प्रवृत्तिनिमित्त के आधार पर एक-दूसरे से सूक्ष्म भेद रखता है। जगत् के उपादान-कारण के लिए शास्त्र में मुख्य रूप से दो पदों का समानरूप से प्रयोग होता है—प्रकृति और प्रधान। परन्तु पहला पद जगत् के निर्माण को आश्रय कर प्रवृत्त है; जबकि दूसरा—पहले के विपरीत जगत् के धारण अथवा अन्तर्लय (**प्रकर्षेण धीयते अन्तर्लीयते सर्वं जगत् यस्मिन् तत् प्रधानम्**) को लेकर प्रवृत्त हुआ है। साधारण व्यवहार में इस सूक्ष्मता की उपेक्षा से दोनों पदों का समान रूप से प्रयोग होता रहता है। ये पद ऐसे हैं, जिनकी ध्वनि में कोई साम्य नहीं है।

भाष्यकार ने इस प्रसंग में उदाहरण के लिए तीन शब्द दिये हैं—'हस्तः, करः, पाणिः'। इन पदों का समान रूप से प्रयोग 'हाथ' के लिए होता है। परन्तु इनमें प्रत्येक पद का प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न है, जो इनके अर्थगत सूक्ष्मभेद का नियामक है। 'हस्त' शब्द हिंसार्थक 'हन्' धातु से निष्पन्न होता है। इसमें किसी को चोट आदि पहुँचाना विशिष्ट अर्थ है। 'कर' शब्द 'कृ' धातु से निष्पन्न है, जिसका साधारण अर्थ 'करना' है। प्रत्येक कार्य हाथ द्वारा किया जाता है। 'पाणि' शब्द स्तुति-अर्थवाले 'पण' धातु से निष्पन्न है। जब किसी की स्तुति करना अभीष्ट है, तब दोनों हाथ आपस में जुड़कर सामने आ जाते हैं। यह अर्थ प्रथम पद से अभिव्यक्त भावना के सर्वथा विपरीत है। साधारण प्रयोग में इन सूक्ष्मताओं की उपेक्षा रहती है। परन्तु नितान्त उपेक्षा से इनका अन्यथा प्रयोग प्रशस्त नहीं माना जाता। साधारण व्यवहार में ऐसे पदों के प्रयोग को आभिधानिक आचार्यों ने अभीष्ट माना है॥२६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—गो-गावी आदि साधु-असाधु शब्दों की वास्तविकता को कैसे जाना जाय ? सूत्रकार ने बताया—

तत्र तत्त्वमभियोगविशेषात् स्यात् ॥२७॥

[तत्र] वहाँ—गो, गावी आदि शब्दों के विषय में [तत्त्वम्] तत्त्व को—कौन साधु और कौन असाधु है, इस वास्तविकता को [अभियोगविशेषात्] प्रयत्नविशेष से, जानना [स्यात्] होता है, अथवा प्रयत्नविशेष से जाना जाता है।

कठिन से कठिन कार्य एवं ज्ञातव्य अर्थ विशेष प्रयत्न करने पर सुविधापूर्वक सम्पन्न एवं बोधगम्य हो जाते हैं। जो शिष्टजन प्रयत्नशील होकर अविच्छिन्न परम्परा से शब्दसमूह की रक्षा में संलग्न व तत्पर रहे हैं, वे जिस शब्द को साधु

बतायें, वह निर्बाध रूप से साधु तथा शेष असाधु एवं अपभ्रंश समझने चाहिएँ। इस प्रकार विस्तृत वाङ्मय में प्रयुक्त शब्द साधु हैं; शिष्टजन-समुदाय ने उन्हें मान्यता दी है। फलतः 'गो' पद के अतिरिक्त 'गावी' आदि पदों को अपभ्रंश माना जाता है ॥२७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—गो शब्द के समान 'गावी' शब्द से भी अर्थाभि-व्यक्ति वही होती है, तब 'गावी' आदि पदों का भी अर्थ के साथ सम्बन्ध अनादि क्यों न माना जाय ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तदशक्तिश्चानुरूपत्वात् ॥२८॥

[तदशक्तिः=तत्-अशक्तिः] 'गो' पद के उच्चारण में अशक्ति (कारण है—गावी आदि पदों के उद्भव का) [च] तथा, अथवा क्योंकि [अनुरूपत्वात्] अनुरूप—समान होने से (गावी आदि पदों की ध्वनि 'गो' पद के समान होने के कारण)।

कभी किसी ने अशिक्षित होने के कारण 'गो' पद के शुद्ध उच्चारण के असामर्थ्य से उसके स्थान पर 'गावी' उच्चारण कर दिया; वैसे ही किसी सुनने-वाले ने उसका अनुकरण किया। धीरे-धीरे 'गो' पद के स्थान पर अशिक्षित जनों में इसी का चलन हो गया। इससे स्पष्ट होता है—'गो' पद पशु-विशेष (सास्ना आदि वाले गाय) के अर्थ में अनादि अविच्छिन्न परम्परा से प्रचलित है; कालान्तर में किन्हीं कारणवश अशक्त होने से अज्ञात व्यक्ति द्वारा उच्चरित 'गावी' पद अपभ्रंश है। ध्वनि में गो पद के अनुरूप–समान होना, उसके अपभ्रंश होने का निश्चायक है। उससे अभीष्ट पशु का बोध भी हो जाता है ॥२८॥

इसी आधार पर सूत्रकार ने बताया कि साधु शब्द के उच्चारण के समय विभक्ति आदि का व्यत्यय (विपर्यय—उलट) हो जाने पर भी अभीष्ट अर्थ का बोध हो जाता है। सूत्र कहा—

एकदेशत्वाच्च विभक्तिव्यत्यये स्यात् ॥२९॥

[एकदेशत्वात्] एकदेश होने से (पद का), [च] और अथवा इसी प्रकार [विभक्तिव्यत्यये] विभक्ति आदि का विपर्यय हो जाने पर (अभीष्ट अर्थ की प्रतीति) [स्यात्] हो जाती है।

सूत्र में 'विभक्ति' पद वचन व लिङ्ग आदि का उपलक्षण हैं। साधु शब्द का इच्छापूर्वक प्रयोग करने के प्रयास में यदि कभी असावधानता या अन्य कारण से वक्ता द्वारा विभक्ति आदि का विपर्यय हो जाने पर श्रोता द्वारा—शब्द के एक-देश की विद्यमानता से—अर्थबोध में कोई असुविधा नहीं होती। किसी ने आगन्तुक से पूछा—'कुत आगतो भवान् ?' आप कहाँ से आ रहे हैं ? आगन्तुक

ने उत्तर दिया—'**अश्मकैरागच्छामि**'। 'अश्मक' देश का नाम है; यहाँ पञ्चमी विभक्ति—'अश्मकेभ्यः' का प्रयोग होना चाहिए था, पर वक्ता द्वारा किसी कारण तृतीया का प्रयोग हो गया। फिर भी श्रोता ने पद के एकदेश 'अश्मक' शब्द को सुनकर ठीक अर्थ समझ लिया—यह अश्मक देशों से आया है। तात्पर्य है—असाधु शब्द के एकदेश से साधु शब्द का श्रोता द्वारा स्मरण हो जाने पर ठीक अर्थ समझ लिया जाता है। अर्थात् अर्थबोधन-शक्ति केवल साधु शब्द में है, असाधु शब्द का एकदेश-समानता के कारण साधु शब्द का स्मरणमात्र कराता है।

इसी प्रकार 'गावी' आदि पदों से पदैकदेश वर्ण (ग आदि) की समानता के कारण साधु 'गो' पद का स्मरण हो आने पर श्रोता गो-पदवाच्य विशिष्ट पशु का बोध कर लेता है। अतः अर्थबोधन-शक्ति केवल साधु पदों में मान्य है, असाधु पदों में नहीं।

विचारणीय है, साधु-असाधु पदों के सम्बन्ध में ऐसा विवेचन उसी काल में सम्भव है, जब साधु शब्दों के स्थान पर असाधु—अपभ्रंश पदों के प्रयोग का प्रारंभिक काल रहा है; वक्ता और श्रोता को साधु शब्दों की जानकारी भी हो। अन्यथा असाधु शब्दश्रवण से साधु शब्द का स्मरण होना सम्भव न होगा। अतः कालान्तर में वृद्धव्यवहार द्वारा अपभ्रंश पदों से अर्थबोध होना एवं उनमें अर्थबोध-शक्ति का अस्तित्व स्वीकार होना चाहिए।

भाष्यकार शबर स्वामी के इस विवरण से उसके काल पर विशेष प्रकाश पड़ता है। भाष्यकार का वह समय सम्भव है, जब साधारण जनता की बोलचाल की भाषा संस्कृत अपने साधुरूप से धीरे-धीरे विकृत होकर असाधु—अपभ्रंश पदों के रूप में विकृत होकर परिवर्तन-पथ पर प्रवृत्त थी। बलात् यह भावना जागृत होती है कि ऐसा विवरण भाष्यकार अपने काल का दे सकता है। यदि उस समय साधारण जनता की भाषा पूर्णरूप से विकृत होकर किसी प्राकृत व अपभ्रंश के रूप में परिनिष्ठित हो चुकी हो, तो भाष्यकार द्वारा उपर्युक्त विवरण का दिया जाना सम्भव प्रतीत नहीं होता।

भाषा के सम्बन्ध में ऐसा काल महाभारत-युद्ध के अनन्तर सौ वर्ष से दो सौ वर्ष के अन्तराल में होना सम्भव है। इसमें थोड़ा-बहुत काल आगे-पीछे जोड़ा जा सकता है। इस काल का सर्वाधिक प्रारम्भिक काल वह है, जब पाणिनि ने भाषा के इस द्रुतगति विकार को समझकर तथा कालान्तर में मूलभाषा के नष्ट हो जाने के भय से संत्रस्त होकर घोर परिश्रमपूर्वक तात्कालिक संस्कृत भाषा के पूर्ण एवं परिमार्जित व्याकरण का निर्माण किया। उस समय भाषाविषयक विकार की द्रुतगति का इससे कुछ अनुमान किया जा सकता है कि पाणिनि के अनधिक काल के अनन्तर कात्यायन को उन पदों के साधुत्व के लिए प्रयास करना पड़ा, जो इन दोनों आचार्यों के अन्तराल-काल में विकृत होकर अथवा अन्य प्रकार से किन्हीं

विशिष्ट अर्थों का बोध कराने में प्रयुक्त होने लगे थे। फलत: शबर स्वामी का काल महाभारतयुद्ध के अनन्तर दो सौ वर्ष के आस-पास माने जाने की सम्भावना की जा सकती है ॥२६॥ (इति साधुपदप्रयुक्त्यधिकरणम्—६)

(आकृत्यधिकरणान्तर्गत—'लोकवेदशब्दतदर्थैक्याधिकरणम्—१०)

शिष्य जिज्ञासा करता है—साधु-असाधु शब्दों के विषय में जाना; परन्तु साधु शब्द 'गो' आदि जाति के वाचक हैं, या व्यक्ति के? यह ज्ञातव्य है। इसपर भी अन्य ज्ञातव्य है—क्या लौकिक-वैदिक शब्द समान हैं, अथवा पृथक्-पृथक्? समान होने पर क्या इनका अर्थ भी समान है या भिन्न-भिन्न? यह सब ज्ञातव्य है। प्रतीत होता है—लौकिक-वैदिक शब्द एक-दूसरे से भिन्न हैं, क्योंकि इनका कथन भिन्न नामों (लौकिक, वैदिक) से होता है। इनके स्वरूप में भी भेद है—वेद में 'अग्नि' शब्द नियत स्वर-वर्णानुपूर्वी वाला है, लोक में वह स्वरादि से हीन बोला जाता है। अर्थों में भी भेद प्रतीत होता है। लोक में 'गो' पद सास्ना वाले पशुविशेष का बोधक है; परन्तु वैदिक वाङ्मय में कहीं का वाक्य है—'उत्ताना वै देवगवा वहन्ति'[2]—देवों की गायें ऊपर को पैर करके चलती हैं। इससे लोक, वेद में 'गो' पद के विभिन्न अर्थों का पता लगता है। अन्य भी—**'देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्ण प्रदिवस्ते [3]अर्थम्'**—हे सोने के पत्तोंवाली वनस्पति! देवों के लिए हवियों का वहन करो। यह सुनहरे पत्तोंवाली वनस्पति वेद में वर्णित है, लोक में नहीं। इसी प्रकार वेद में—**'एतद् वै दैव्यं मधु यद् घृतम्'** यही देवताओं का मधु=शहद है, जो घृत है—घृत के लिए मधु शब्द का प्रयोग देखा जाता है। इससे ज्ञात होता है—वैदिक, लौकिक शब्द भिन्न हैं, उनके अर्थ भी भिन्न हैं; क्या यह ठीक है? इन जिज्ञासाओं का समाधान अपेक्षित है। सूत्रकार ने समाधान किया—

प्रयोगचोदनाभावाद् अर्थैकत्वम् अविभागात् ॥३०॥

[प्रयोगचोदनाभावात्] प्रयोग—कर्म की चोदना-विधि के उपपन्न होने से, लौकिक-वैदिक शब्दों के [अर्थैकत्वम्] अर्थों का एक-समान होना युक्त है, क्योंकि [अविभागात्] लौकिक, वैदिक शब्दों का विभाग न होने से। तात्पर्य है—जो वैदिक शब्द हैं, वे ही लौकिक हैं उनके अर्थ भी समान हैं।

---

१. 'लोकवेदयो: शब्दार्थैक्यम्। अधि० १०।' इत्येव पाठः। सुबोधिनीवृत्ति।

२. शबरस्वामी ने भाष्य में दिया है; मूलग्रन्थ का पता नहीं।

३. द्रष्टव्य—मै० सं० ४।१३।७॥ तै० ब्रा०, ३।६।११।२॥

प्रस्तुत सूत्र से जिज्ञासा के दो अंशों का समाधान किया गया। एक– -लौकिक-वैदिक शब्द परस्पर भिन्न नहीं हैं; जो वैदिक शब्द हैं, वे ही लौकिक शब्द हैं; अर्थात् लोक-वेद में समान शब्दों का ही प्रयोग होता है। दूसरा है—उन शब्दों के अर्थ लोक या वेद में भिन्न नहीं, अर्थ भी उभयत्र समान हैं। कारण यह है कि वेद में जिन शब्दों द्वारा और जिस अर्थ की अभिव्यक्ति के अभिप्राय से कर्मों का विधान किया गया है, लोक में उन्हीं शब्दों द्वारा वही अभिप्राय जाना जाता है; इन दोनों स्थितियों में लोक-वेदगत कोई भेद नहीं रहता। प्रतीत होता है, सूत्रकार द्वारा की गई यह व्यवस्था उस काल की सम्भव है, जब वेद-शब्दों[1] के आधार पर ही लोकव्यवहार संचालित रहा। उस काल में भेद प्रकट करने की भावना से यदि 'लौकिक' एवं 'वैदिक' पदों का प्रयोग हुआ हो, तो वह गौण ही समझना चाहिए। कालान्तर में वेदगत पदों के लिए 'वैदिक' और लोकव्यवहार में प्रयुक्त होनेवाले पदों के लिए 'लौकिक' पद का प्रयोग भेदमूलक मुख्य अर्थ में होता रहा, यह सम्भव है।

अधिक समय बीतने पर लोकव्यवहार में प्रयुक्त होनेवाले पद-समूह में पर्याप्त परिवर्त्तन का हो जाना स्वाभाविक था। व्यवहार की भाषा को संकुचित चौखटे में सीमित रखना बड़ा कठिन होता है; कठिन क्या, असम्भव-जैसा ही समझना चाहिए। इसी का परिणाम हुआ कि लौकिक भाषा जब मूल वेदगत पदों से छिटककर अपने लौकिक रूप में परिमार्जित हो गई—जिसका व्याकरण आदि द्वारा सुघटित कलेवर 'लौकिक संस्कृत' के नाम से आज भी सुरक्षित है—उस भाषा का आमूलचूल पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया हुआ मूर्द्धन्य विद्वान् भी वेद को समझने में लड़खड़ा जाता है। लौकिक शब्दों की जानकारी के आधार पर—उस समय से लेकर, जब वैदिक व लौकिक पदों में पर्याप्त अन्तर आ गया था, आज तक—वेदों का अर्थ करने के प्रयास में उनका अनर्थ ही होता रहा है।

आज की प्रादेशिक प्राकृत भाषाएँ उसी लौकिक संस्कृत भाषा के **अपभ्रंशरूप** हैं जो अब से लगभग पाँच सहस्र पूर्व विकृत होनी प्रारम्भ हो गई थी, और अपभ्रंश, पाली, प्राकृत आदि अनेक धाराओं में प्रवाहित होती हुई वर्त्तमान रूपों में उपलब्ध है। इन प्रादेशिक प्राकृत भाषाओं में नैसर्गिक प्रवाह के साथ बहते हुए अनेक ऐसे पद हैं, जो सीधे वैदिक पदों से वर्त्तमान रूप में आए हैं। इनके मध्यगत विकारों की नितान्त भी सम्भावना नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए यहाँ

१. उक्त भावना को मनुस्मृति [१।२१] के श्लोक द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥

केवल एक पद प्रस्तुत है—'उस्रिया'[1]। ऋग्वेद में इस पद का अनेक विभक्ति व वचनों में प्रयोग उपलब्ध होता है। निघण्टु में यह गो-नामों में पठित है। यह पद साधारण गाय के लिए न होकर केवल उस गाय के लिए प्रयुक्त माना गया है, जो पहली बार ब्याई हो। लौकिक संस्कृत में इसके लिए 'गृष्टि'[2] पद का प्रयोग होता रहा है। हिन्दी में आजकल इसके लिए 'पहलौन' या 'पहलोठी' पदों का प्रयोग होता है। ब्रजभाषा के पर्याप्त विस्तृत प्रदेश में इसके लिए 'ओसरिया' पद का प्रयोग है, जो सीधा वैदिक पद का अपभ्रंश है।

वेद का गम्भीर अध्ययन करनेवाले आधुनिक अनुसन्धाता का सुझाव है कि वेद में 'पुर' शब्द का अर्थ नगर या ग्राम न होकर वह स्थान है, जहाँ खेत से अन्न (लांक) काटकर गाहने के लिए इकट्ठा किया जाता है; उसे पशु आदि हानि न पहुँचायें, उसके चारों ओर बाड़ (प्रायः कँटीली झाड़ियों आदि की) कर दी जाती है। इसे आजकल लोकभाषा में 'खलिहान' कहा जाता है। परन्तु ब्रजभाषा-प्रदेश में इसके लिए 'पैर' शब्द का प्रयोग होता है। यदि उक्त सुझाव ठीक हो, तो वह शब्द भी वैदिक 'पुर' शब्द का—तदर्थवाचक—सीधा अपभ्रंश माना जा सकता है। ये निर्देश इसी अभिप्राय से किये गये हैं कि वैदिक शब्द लौकिक बोलचाल में आकर धीरे-धीरे किस प्रकार परिवर्त्तित होते रहे हैं। लौकिक-वैदिक शब्दों और उनके अर्थों के भेदाभेद-विचार के अवसर पर शब्दार्थविषयक, इन परिस्थितियों को दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिए। लोक और वेद में शब्दों का अर्थभेद बताने के लिए जो उदाहरण दिये गये हैं, वे अभेद मान्यता की दशा में विचारणीय हैं। उनमें पहला उदाहरण 'गो' पद का है—'उत्ताना वै देवगवा वहन्ति'—देवों की गायें ऊपर को पैर करके चलती हैं। वेद में 'गो' पद का प्रयोग गाय पशुविशेष के अतिरिक्त अन्य अनेक अर्थों में हुआ है। प्रस्तुत प्रसंग में 'गो' पद का अर्थ है 'सूर्य-किरण', जो जहाँ से चलती हैं उधर को सिर और आगे की ओर पैरों की कल्पना की जाती है। इस अर्थ का लोक से कोई भेद नहीं है। पशु-विशेष एक अर्थ सर्वत्र अधिक प्रसिद्ध है; प्रसंगानुसार अन्य अर्थों में भी प्रयोग होता है। किसी कवि की उक्ति है—

> यदीच्छसि वशीकर्त्तुं जगदेकेन कर्मणा।
> परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय॥

यहाँ श्लेष से 'गो' पद का प्रयोग 'वाणी' अर्थ में हुआ है। इसी प्रकार 'राजा गां भुनक्ति' वाक्य में 'गो' पद पृथिवी अर्थ में प्रयुक्त है—राजा पृथिवी का भोग

१. निघण्टु (२।११।३) में यह गो-नामों में पठित है।
२. द्रष्टव्य—पाणिनीय अष्टाध्यायी, २।१।६५॥

करता है ।

द्वितीय उदाहरण में 'हिरण्यपर्ण' पद को लेकर अर्थभेद प्रकट किया है। वाक्य है—'**देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्ण प्रदिवस्ते अर्थम्**' हे सोने के पत्तों-वाली वनस्पति ! देवों के लिए हवियों का वहन करो। यह आलंकारिक वर्णन आहवनीय अग्नि का है। ऊपर को उभरने की समानता के आधार पर इसे 'वनस्पति' नाम दिया गया। जल, वायु आदि देवों को पहुँचाने के इसमें घृत, दुग्ध, दधि, सामग्री आदि हवि-द्रव्यों की आहुति दी जाती हैं। इसके सुनहरी पत्ते इसकी चमचमाती लपटें हैं। लोकव्यवहृत अर्थ से इसका कोई भेद नहीं है।

तृतीय उदाहरण में घृत के लिए 'मधु' पद का प्रयोग दिखाकर अर्थभेद की आपत्ति प्रकट की है। वाक्य है—'एतद् वै दैव्यं मधु यद् घृतम्'; यहाँ 'मधु' पद को घृत के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त नहीं किया गया, प्रत्युत यह भाव प्रकट किया गया है कि देवों के लिए घृत ही मधु के समान मीठा, अनुकूल व प्रिय है। यज्ञिय अग्नि में आहुत घृत से देव अधिक प्रसन्न होते हैं। जल, वायु, ओषधि, वनस्पति आदि देवों को शुद्ध, पवित्र एवं अधिकाधिक जीवनी शक्तियों से सम्पन्न होने के लिए घृत सर्वश्रेष्ठ उपादान है। यही भाव उक्त वाक्य में है। इसीलिए वैदिक वाङ्मय में 'आयुर्वै घृतम्' कहा गया है। इसका लोक-व्यवहार से कोई भेद या विरोध नहीं है ॥३०॥ (कवि आकृत्यधिकरणान्तर्गत—लोकवेदशब्दतदर्थैक्याधिकरणम्—१०)

(आकृत्यधिकरणम्—११)

गत सूत्र के अवतरणिकारूप में पूर्वपक्ष की भावना से तीन जिज्ञासा प्रस्तुत की गईं—(१) शब्द जाति का वाचक है, या व्यक्ति का ? (२) लौकिक व वैदिक शब्द एक (समान) ही हैं, अथवा भिन्न ? (३) अभेद होने पर क्या उन शब्दों के अर्थ भी अभिन्न हैं, या भिन्न ? इस बाह्य पूर्वपक्ष को प्रस्तुत कर गत सूत्र द्वारा संख्या २, ३ जिज्ञासा का समाधान किये जाने से वह उत्तरपक्षीय सूत्र है। भाष्यकार ने प्रथम जिज्ञासा के समाधान के लिए इसी सूत्र को पूर्वपक्ष मानकर विचार प्रारम्भ किया। वह केवल सूत्र के प्रथम पद में सन्धिच्छेद के आधार पर किया गया। इस पूर्वावतरण के सन्दर्भ में जिज्ञासा है—'गो' आदि साधु शब्द जाति के वाचक हैं, अथवा व्यक्ति के ? केवल 'गो' पद उच्चारण करने पर सामान्य गाय (जाति) मात्र का बोध होता है, पर जब 'गो' पद के साथ 'आनय' [लाओ] आदि क्रिया का सम्बन्ध होता है, तब व्यक्तिविशेष (किसी एक गाय) का बोध होता है। जिज्ञासा है—इनमें से कौन-सा ठीक है ? समस्त व्यवहार क्रियासम्बद्ध होने से यही ठीक होगा कि 'गो' आदि शब्द व्यक्ति के वाचक हैं, क्योंकि—

प्रयोगचोदनाऽभावात् अर्थैकत्वम् अविभागात् ॥३०॥

[प्रयोगचोदना-अभावात्] कर्मविधि में आकृति—जाति के अभाव से [अर्थैकत्वम्] शब्द का—एक व्यक्ति—अर्थ होना ठीक है, [अविभागात्] व्यक्ति से पृथक् आकृति के न होने से।

कर्मविषयक विधान है—'व्रीहीन् अवहन्ति'—धान कूटता है। यहाँ 'व्रीहि' पद से व्यक्तिरूप विशेष राशि का ग्रहण होता है, समस्त व्रीहिमात्र का नहीं, क्योंकि अवघात (कूटना) अपेक्षित सीमित व्रीहि का सम्भव है, यावन्मात्र व्रीहि का नहीं। अतः शब्द का अर्थ व्यक्ति माना जाना चाहिए, जाति नहीं। विधान से अन्यत्र भी शब्द का आकृति अर्थ मानना युक्त न होगा; क्योंकि एक शब्द का अनेक अर्थ मानना अन्याय्य है। शब्द का आकृति अर्थ माने बिना भी सामान्य गोमात्र का 'गो' पद से बोध होने में कोई बाधा नहीं है, यह बता देने पर कि ऐसी आकृति जिस पशु की हो, वह गौ है। शरीर के ज्ञाता उस प्रकार के अवयव-संस्थान (अंगों के गठन) को देखकर—यह पशु गाय है—जान लेता है। जिस पशु को वह देखता है, और समझ लेता है यह 'गौ' है, वहाँ गौ व्यक्तिमात्र दृष्टिगोचर होता है; वह आकृति (सींग, कान, मुख, सास्ना, पूंछ, खुर आदि से युक्त अंगों का विशिष्ट गठन) व्यक्ति से अतिरिक्त कुछ नहीं। यह आकृति, सामान्य (जाति) का बोध कराती है, इस कारण उसे सामान्य का चिह्न (लिङ्ग) कहा जा सकता है।[१] जिसके पास दण्ड होता है, उसे 'दण्डी' कहते हैं। दण्डी व्यक्ति दण्ड नहीं; अर्थात् दण्डी शब्द का प्रयोग दण्ड के लिए नहीं होता, दण्ड तो दण्डी का चिह्नमात्र है; ऐसे ही 'आकृति' गोसामान्य का चिह्न है, 'गो' पद का अर्थ नहीं। अतः शब्द का अर्थ व्यक्ति मानना युक्त है, आकृति नहीं ॥३०॥

व्यक्ति ही शब्द का अर्थ है, इसमें अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अद्रव्यशब्दत्वात् ॥३१॥

[अ-द्रव्यशब्दत्वात्] (शब्द का अर्थ आकृति—जाति मानने पर) द्रव्य—व्यक्ति शब्द का वाचक न होने से अन्वय सम्भव न होगा।

यदि शब्द का अर्थ आकृति–जाति है, तो 'षड् देया द्वादश देयाश्चतुर्विंशति-र्देयाः' छह गाय दक्षिणा में दे, बारह दे, चौबीस दे, इत्यादि वाक्यों में छह आदि संख्या का अन्वय आकृति या जाति के साथ सम्भव नहीं, क्योंकि आकृति या जाति समान है, एक है; उसका एकाधिक किसी संख्या के साथ अन्वय असम्भव है।

---

१. द्रष्टव्य—गौतमीय न्यायसूत्र, तथा वात्स्यायनभाष्य [२।२।६८] पञ्चनदीय सुदर्शनाचार्यकृत प्रसन्नपदा टीका संस्करण।

अतः व्यक्ति ही शब्द का अर्थ मानना चाहिए। व्यक्ति अनेक हैं, प्रत्येक संख्या के साथ उसका अन्वय सम्भव है ।।३१।।

इसी मान्यता की पुष्टि में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अन्यदर्शनाच्च ।।३२।।

[अन्यदर्शनात्] अन्य के देखे जाने से [च] भी, व्यक्ति शब्द का अर्थ है, जाति नहीं।

वैदिक वाङ्मय में वाक्य है—'यदि पशुरुपाकृतः पलायेत, अन्यं तद्वर्णं तद्वय-समालभेत'[1]–उपाकृत पशु यदि भाग जाय, तो उसी वर्ण और उसी आयुवाले अन्य पशु का आलभन (यूपबन्धन) करे। उपयुक्त अवसर पर मन्त्रोच्चारणपूर्वक कुशा से पशु का स्पर्श करना उसका 'उपकरण' कहा जाता है। इस प्रकार उपाकृत पशु यूप में बाँधे जाने से पूर्व यदि भाग जाय, तो उसी वर्ण और उसी आयु-वाले अन्य पशु को उसके स्थान पर उपाकरण कर यज्ञ का शेष कार्य सम्पन्न किया जाता है। प्रसंग में ज्ञातव्य यह है कि 'पशु' शब्द का अर्थ यदि जाति है, तो जाति का न तो भागना सम्भव है, और जाति के एक होने से न उसका 'अन्य' पद के साथ अन्वय सम्भव है। क्योंकि शब्द का अर्थ जाति होने पर यह कैसे कहा जायगा कि यह अन्य है, जबकि दोनों पशुओं की जाति एक है? फलतः शब्द का अर्थ 'व्यक्ति' माना जाना युक्त है; उसमें भाग जाना भी सम्भव है, और व्यक्तियों के परस्पर भिन्न होने से 'अन्य' पद के साथ 'पशु' पद का अन्वय भी युक्तियुक्त है ।।३२।।

पूर्वपक्षरूप उक्त जिज्ञासा का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात् ।।३३।।

[आकृतिः] आकृति, शब्द का वाच्य है, [तु] यह पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है, अर्थात् व्यक्ति को शब्द का वाच्य नहीं माना जाना चाहिए। हेतु दिया [क्रियार्थत्वात्] क्रियाप्रयोजन होने से।

वैदिक वाङ्मय में वाक्य है 'श्येनचितं चिन्वीत'[2] श्येन के समान, यज्ञिय स्थण्डिल (चबूतरा = वेदि) का चयन—ईंट आदि से निर्माण—करे। विचारणीय है—'श्येन' पद का वाच्य व्यक्ति है, या आकृति? निश्चित है—यहाँ श्येन पद 'आकृति' का वाचक है। व्यक्तिवादी को भी यहाँ श्येन पद आकृतिवाचक मानना होगा। यदि ऐसा न माना जाय, तो उक्त वाक्य का कोई अर्थ ही सिद्ध न होगा।

---

१. द्रष्टव्य—कात्यायन श्रौतसूत्र, २५।६।१।।

२. द्रष्टव्य—तै० सं०, ५।४।११।।

इसके विवेचन के लिए प्रश्न उठता है—क्या श्येन, चयनक्रिया के साथ करणरूप से अन्वित होगा, अथवा कर्मरूप से ? तात्पर्य है—श्येन चयनक्रिया का करण—साधन है ? अथवा कर्मक्रिया का विषय—लक्ष्य है ? पहला विकल्प अयुक्त है, क्योंकि श्येन पक्षियों से चयनक्रिया का होना असम्भव है। ऐसा कथन उपहासमात्र होगा। इसके अतिरिक्त पाणिनीय[1] व्यवस्था के अनुसार 'श्येनचित्' पद की सिद्धि श्येन को कर्म कारक मानकर ही उपपन्न होती है। कर्म (श्येन) उपपद होने पर 'चि' धातु ये क्विप् प्रत्यय होकर 'श्येनचित्' पद सिद्ध होता है।

यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है—जब 'श्येनचितं चिन्वीत' वाक्य सर्वप्रथम अर्थबोध के लिए उच्चारण किया गया, तब यदि श्येन पद का अर्थ व्यक्ति समझा गया होता, तो वह व्यक्तिविशेष पक्षी तो कालान्तर में रहा नहीं; तब यह वाक्य निरर्थक हो जायगा, उसके वाच्य अर्थ का अभाव हो जाने के कारण यदि 'श्येन' पद से हम अब भी उस पक्षी के समान अन्य पक्षियों का बोध कर सकते हैं, तो इसका तात्पर्य है—प्रथम उच्चारण में भी इस पद का अर्थ व्यक्ति नहीं था, प्रत्युत आकृति अर्थ अभिप्रेत रहा। उस पक्षी का—अन्य समस्त पक्षियों के साथ—सादृश्य 'आकृति' पर ही आधारित है।

इसी प्रकार 'श्येनचित्' नामक स्थण्डिल (यज्ञवेदि) के चयन का अर्थ है—श्येन आकृति की वेदि का निर्माण। यह निर्माण ईंट आदि उपादान-तत्त्वों से किया जाता है। यहाँ चयनक्रिया का कर्म—'श्येन' व्यक्ति नहीं है। उपादान-तत्त्वों से किसी श्येन व्यक्ति का निर्माण नहीं होता; प्रत्युत निर्माण इस प्रकार किया जाता है कि वहाँ वेदि, श्येन पक्षी की आकृति के रूप में अभिव्यक्त हो। जो वादी केवल व्यक्ति को शब्द का अर्थ कहता है, वेदि के निर्माण में क्या वह समस्त व्यक्तियों के सादृश्य का होना स्वीकार करेगा ? अथवा किसी एक व्यक्ति का ? एक जगह समस्त व्यक्तियों का सादृश्य सम्भव न होने से पहला पक्ष त्याज्य है। एक व्यक्ति का सादृश्य माने जाने पर उस व्यक्ति का अभाव हो जाने पर चयन-क्रिया के अनुष्ठान का ही लोप हो जायगा। जिस व्यक्ति का सादृश्य वैदिक वाक्य के तात्पर्य के अनुसार अभीष्ट है, वह व्यक्ति तो अब रहा नहीं, तब उसके सादृश्य को चयनक्रिया में कैसे उभारा जा सकेगा ? इसलिए यही मानना निरापद होगा कि शब्द का अर्थ 'आकृति' है, जो सामान्य रूप से समस्त (—अतीत, वर्त्तमान, अनागत) व्यक्तियों में एक जातिविशेष को अभिलक्षित करती है, प्रकट करती है।

वस्तुत: शब्द का अर्थ व्यक्ति और आकृति दोनों हैं। किसी भी एक अर्थ को मानकर व्यवहार का सामञ्जस्य सम्भव नहीं। शब्दों या वाक्यों के प्रयोग एवं

१. पाणिनिसूत्र 'कर्मण्यग्न्याख्यायाम्' [३।२।९२]।

वक्ता के तात्पर्य से यह स्पष्ट हो जाता है—कहाँ शब्द का अर्थ व्यक्ति अभिप्रेत है, कहाँ आकृति। एक अर्थ के कथन के अवसर पर दूसरा अर्थ केवल तिरोहित—अप्रकट रहता है; ऐसा नहीं कि वह शब्द का अर्थ ही न हो। शब्द का अर्थ वे सब हैं, आवश्यकतानुसार उभार में आते हैं। इसी आशय से न्यायसूत्र तथा वात्स्यायन-भाष्य आदि व्याख्या-ग्रन्थों में 'व्यक्ति, आकृति, जाति' सभी को शब्द का वाच्य माना है।[1] आचार्य पतञ्जलि ने भी व्याकरण-महाभाष्य में इस विषय का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है[2] ॥३३॥

गत ३०-३२ सूत्रों द्वारा—शब्द का वाच्य आकृति मानने में—जो न्यूनता व दोष बताये हैं, सूत्रकार उनके समाधान के लिए प्रथम उनका स्मरण कराता है—

न क्रिया स्यादिति चेदर्थान्तरे विधानं न द्रव्यमिति चेत् ॥३४॥

इस सूत्र के तीन भाग हैं—(१) 'न क्रिया स्यादिति चेत्'; 'न स्यादिति चेत्' का सम्बन्ध दूसरे वाक्य के साथ भी है, तब दूसरा वाक्य बनता है—(२) 'अर्थान्तरे विधानं न स्यादिति चेत्'; तीसरा वाक्य है—(३) 'न द्रव्यमिति चेत्'। यथाक्रम इनका अर्थ इस प्रकार है—

१. यदि शब्द का अर्थ 'आकृति' माना जाता है, तो 'व्रीहीन् प्रोक्षति' आदि वाक्यों द्वारा विहित प्रोक्षणक्रिया न होगी। ऐसा यदि कहो, तो (वह ठीक नहीं; यह अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)। (इसका विवरण सूत्र ३० में देखें)।

२. अर्थान्तर—द्रव्यान्तर में विधान न होगा, ऐसा यदि कहो, तो—(वह ठीक नहीं; अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)। इसका विस्तृत विवरण सूत्र ३२ में देखें।

३. नहीं जाने जायेंगे, गो आदि द्रव्य षट् आदि संख्याओं से युक्त, ऐसा यदि कहो, तो (वह ठीक नहीं, आगे के सूत्र से सम्बन्ध है।) इसका विवरण

---

१. न्यायसूत्र २।२।६५—'व्यक्त्याकृतिजातयस्त पदार्थः।' अत्रैव वात्स्यायन-भाष्यम्—"तु शब्दो विशेषणार्थः। किं विशिष्यते? प्रधानाङ्गभावस्यानियमेन पदार्थत्वमिति। यदा हि भेदविवक्षा विशेषगतिश्च, तदा व्यक्तिः प्रधानम्, अङ्गन्तु जात्याकृती। यदा तु भेदोऽविवक्षितः सामान्यगतिश्च, तदा जातिः प्रधानम्, अङ्गन्तु व्यक्त्याकृती। तदेतद्बहुलं प्रयोगेषु।" (यदा पुनः प्रथमं जातिपरिचयोऽपेक्ष्यते तदा प्रधानमाकृतिः, अङ्गन्तु व्यक्तिजाती, उ० वी० शा०)।

२. द्रष्टव्य—'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' [अष्टा० १।२।६४] सूत्र पर पातञ्जल महाभाष्य।

सूत्र ३१ के भाष्य में देखें।

इसके अनुसार सम्पुटित सूत्रार्थ निम्न प्रकार होगा—

आकृति को शब्द का अर्थ मानने पर प्रोक्षण (भिगोना), अवहनन (कूटना) आदि क्रिया न होंगी; अर्थान्तर में—प्रथम उपाकृत पशु से अन्य पशु में विधान न होगा; तथा गो आदि द्रव्य में छह, बारह आदि संख्याओं का अन्वय न होगा; ऐसा यदि कहो, तो वह ठीक नहीं। सूत्र में 'चेत्' पद के सहयोग से अपेक्षित 'न' पद का अध्याहार कर सूत्रार्थ सम्पन्न होता है ॥३४॥

उक्त कठन ठीक न होने का कारण सूत्रकार ने बताया—

तदर्थत्वात् प्रयोगस्याविभागः ॥३५॥

[तद्-अर्थत्वात्] शब्द के आकृति अर्थवाला होने से [प्रयोगस्य] प्रयोग—प्रोक्षण आदि कर्म के अनुष्ठान में [अ-विभागः] कोई बाधा नहीं आती।

शब्द का 'आकृति' अर्थ मानने पर प्रोक्षण आदि कर्म के अनुष्ठान में कोई बाधा नहीं आती। कारण है—आकृति यज्ञिय द्रव्य को विशेषित करती है, निर्धारित व सीमित करती है। तात्पर्य है—'व्रीहि' पद उच्चारण होने पर तत्काल जो अर्थ अभिव्यक्त होता है, वह 'व्रीहि' बनावट है, अवयवसंस्थानविशेष = द्रव्यावयवों का एक विशेष संघटन; ऐसा संघटन, जो अन्य किसी द्रव्य में उपलब्ध नहीं, सम्भव नहीं, उसी बनावट का नाम 'आकृति' है। यही आकृति व्रीहि द्रव्य को अन्य समस्त द्रव्यों से विशेषित करती है, भिन्न करती है। यदि 'व्रीहि' पद का उच्चारण करते ही वह आकृति न उभरे, तो व्रीहि द्रव्य (व्यक्ति) का बोध होना असम्भव है। यह ठीक है कि प्रोक्षण उस आकृति या बनावट का नहीं होता, द्रव्य का होता है; पर उस द्रव्य का निर्धारण आकृति-ज्ञान के बिना सम्भव नहीं; अतः 'व्रीहीन् प्रोक्षति' आदि वाक्यों में आकृति-वाचक व्रीहि आदि पदों को आकृति के आश्रयभूत द्रव्य का उपलक्षण समझना चाहिए। इससे शब्द का अर्थ आकृति मानने पर भी कर्म—क्रियानुष्ठान में कोई बाधा नहीं आती।

इसी प्रकार **'उपाकृतः पशुः पलायेत'** इत्यादि वाक्य में 'पशु' पद आकृति-वाचक माने जाने के कारण ही समान वर्ण, समान आयुवाले अन्य द्रव्य=पशु का निर्धारण किया जाना सम्भव है।

'षड् गावो देयाः' इत्यादि वाक्यों में भी आकृति-वाचक 'गो' पद आकृति के आश्रयभूत द्रव्य का उपलक्षण होने से संख्या के अन्वय में कोई बाधा नहीं है।

वस्तुतः शब्द के 'आकृति-जाति-व्यक्ति' तीनों अर्थ अभीष्ट हैं, परन्तु शब्दोच्चारण होने पर—प्रसंग आदि निमित्तान्तर-सापेक्ष—जो अर्थ अभिव्यक्त होता है, उसी से व्यवहार सम्पन्न किया जाता है; अन्य अर्थ तिरोहित रहते है। ऐसा नहीं कि वे शब्द के अर्थ न हों। व्यवहार्य एक अर्थ की अभिव्यक्ति में अन्य

अर्थ का आश्रय लेकर विवाद खड़ा करना 'छल'-प्रयोग की कोटि में आ जाता है। शास्त्रीय चर्चा में इससे बचना ही श्रेयस्कर है। पर शिष्य-शिक्षण के लिए सहज मानकर आचार्य इसे यथावसर प्रस्तुत करते रहते हैं ॥३५॥

इति जैमिनीयमीमांसादर्शनविद्योदयभाष्ये
प्रथमाध्यायस्य स्मृतिपादाभिधस्तृतीयः पादः ।

अथ प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः

(उद्भिदादिशब्दानां यागनामधेयताऽधिकरणम्; उद्भिदधिकरण वा—१)

विधिवाक्यों का प्रामाण्य अपूर्व अर्थ के विधान से, अर्थवाद-वाक्यों का प्रामाण्य विधिवाक्यों के स्तुतिपरक होने से तथा मन्त्र का प्रामाण्य अनुष्ठेय अर्थ के प्रकाशक होने से गत अधिकरणों द्वारा प्रतिपादित किया गया। इस पृष्ठभूमि में शिष्य जिज्ञासा करता है—**'उद्भिदा यजेत, बलभिदा यजेत, अभिजिता यजेत, विश्वजिता यजेत'** इत्यादि वैदिक वाङ्मयगत वाक्यों को क्या विधिवाक्य अर्थात् अपूर्व अर्थ का विधायक वाक्य माना जाय? अथवा इन्हें गुणविधि—अर्थात् अन्य प्रकृतयाग में गुणविशेष का निर्देश करनेवाला माना जाय? इनमें प्रथम सिद्धान्त-पक्ष है, दूसरा पूर्वपक्ष है। जिज्ञासा के पूर्ण समाधान के लिए सूत्रकार ने प्रथम पूर्वपक्ष को प्रस्तुत किया—

उक्तं समाम्नायैदमर्थ्यं तस्मात् सर्वं तदर्थं स्यात् ॥१॥

[उक्तम्] कह दिया है [समाम्नायैदमर्थ्यम्] समाम्नाय—वेद का यह कर्म प्रयोजन होना, [तस्मात्] इसलिये [सर्वम्] समस्त वेद [तदर्थम्] कर्म के लिए अर्थात् विधि, स्तुति, अनुष्ठेय अर्थ के प्रकाशन के लिए [स्यात्] होना चाहिए।

मीमांसा प्रथम अध्याय के दूसरे पाद में समस्त वेद का प्रयोजन याग का निष्पन्न किया जाना बताया है। वह विधि, स्तुति, अनुष्ठेय अर्थ का प्रकाशन, इन तीन विधाओं में माना गया है। वेद का एक भाग विधिरूप है, जैसे—'सोमेन यजेत' यह अपूर्व अर्थात् पहले से अविदित अर्थ का ज्ञान कराता है। यहाँ 'सोम' नामक याग तथा यागसाधन सोमद्रव्य, दोनों किसी अन्य प्रकार से ज्ञात नहीं हैं; अतः इस वाक्य से सोमद्रव्य-सहित याग का विधान आचार्यों ने स्वीकार किया है—**'सोमद्रव्यवता यागेन इष्टं भावयेत्'**—सोमद्रव्य से सम्पन्न होनेवाले सोमयाग से अभिलषित की भावना करे।

वेद का दूसरा भाग अर्थवादरूप है। यह अनुष्ठेय विधि की स्तुति द्वारा उसमें रुचि उत्पन्न करता है। जैसे—'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' वायु अतिशीघ्र गति-वाला देवता है। तीसरा मन्त्रभाग वह है, जो कर्मानुष्ठान-काल में विहित अर्थ को प्रकाशित करता है, जैसे—'वर्हिर्देवसदनं दामि'—देवसदन वर्हि (कुश, घास) को काटता हूँ। काटने की क्रिया करते समय यह मन्त्र बोला जाता है। 'उद्भिदा यजेत' इत्यादि वाक्य भी इन्हीं तीन विधाओं में से किसी में अन्तर्हित होने चाहिएँ।

विचार करने पर जाना जाता है, ये वाक्य अर्थवाद के अन्तर्गत नहीं आते, क्योंकि अर्थवाद के प्रयोजन को पूरा नहीं करते। अर्थवाद किसी विधिवाक्य के शेष (=अङ्ग) होते हैं। उद्भिदादि वाक्य किसी अन्य विधि के शेष नहीं हैं। इनका अन्तर्भाव मन्त्रभाग में भी नहीं हो सकता; क्योंकि किसी क्रिया के प्रयोग-काल में उसके अर्थ का प्रकाशन ये वाक्य नहीं करते। तब परिशेष से इन्हें गुण-विधि मानना चाहिए। गुणविधि क्या है? इसे समझ लेना उपयुक्त होगा।

गुण का विधान करनेवाला वाक्य 'गुणविधि' कहा जाता है। जहाँ याग आदि कर्म अन्य प्रकार—किसी विधिवाक्य अथवा प्रकरण आदि द्वारा—प्राप्त है, उस याग के उद्देश्य से जिस वाक्य द्वारा–किसी विशेष [1]गुण-साधन द्रव्य आदि का—विधान किया जाय, ऐसा वाक्य 'गुणविधि' कहाता है, जैसे—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' वाक्य से विहित अग्निहोत्र होम-कर्म प्राप्त है। उसी होम-कर्म को लक्ष्य कर कहा गया—'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्'–इन्द्रियों की दृढ़ता व सुस्थिरता की कामनावाले व्यक्ति का वह होम-कर्म दही से करे। यहाँ प्रकारान्तर से प्राप्त होम-कर्म में उसके साधनभूत दधिद्रव्यरूप गुणविशेष का विधान प्रस्तुत वाक्य द्वारा किये जाने से यह 'गुणविधि' है।

इसी प्रकार 'उद्भिदा यजेत' इत्यादि वाक्य ताण्ड्य[2]ब्राह्मण में पठित हैं। सोमयागों के ज्योतिष्टोम-प्रसंग में इनका निर्देश है। ज्योतिष्टोम प्रकृतिभूत याग प्रकारान्तर से प्राप्त है। उक्त वाक्य उसके साधनभूत उद्भिद् आदि

---

१. 'गुण' पद विभिन्न शास्त्रों में नितान्त पारिभाषिक है। व्याकरणशास्त्र में 'अ, ए, ओ' ये तीन वर्ण गुण हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन में 'गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द' आदि चौबीस गुण हैं। राजनीतिशास्त्र में 'सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव' ये छह गुण कहे जाते हैं। धर्मशास्त्र में दया, क्षमा, धैर्य, वदान्यता आदि गुण माने जाते हैं। मीमांसाशास्त्र में प्रसंगागत 'गुण' पद का ऐसा कोई अर्थ अभीष्ट नहीं है। यहाँ केवल कर्म-सम्पादन के लिए निर्दिष्ट साधनभूत द्रव्यविशेष 'गुण' पद से कहे गये हैं।

२. ताण्ड्य ब्रा०, १६।७।३॥

द्रव्यों का गुणविशेष के रूप में विधान करते हैं। इस प्रकार इन वाक्यों को गुण-विधि के अन्तर्गत मानना चाहिए। 'उद्भिद्' पद का तात्पर्य है—भूमि को फाड़कर उगनेवाले लता-ओषधि-वनस्पति आदि द्रव्य, जो याग के साधन हैं ॥१॥

उक्त विवेचन के अनुसार 'उद्भिदा यजेत' इत्यादि वाक्यों में गुणविधि मानना प्राप्त होने पर सूत्रकार ने सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

अपि वा नामधेयं स्याद् यदुत्पत्तावपूर्वमविधायकत्वात् ॥२॥

[अपि वा] पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के द्योतक हैं—उक्त वाक्यों में गुण-विधि मानना युक्त नहीं। तब क्या युक्त है?—[नामधेयम्] नामधेय मानना युक्त [स्यात्] है; उद्भिद् आदि पद कर्म के नाम हैं। [यद्-उत्पत्तौ] जिसकी उत्पत्ति में, जिसके निर्देश में [अपूर्वम्] अपूर्व—पहले से अविदित कर्म का विधान होता है। उद्भिद् आदि पद यागविशेष के नाम हैं, ऐसी सम्भावित स्थिति में इन पदों के [अविधायकत्वात्] गुण का विधायक न होने से।

यह प्रथम स्पष्ट कर दिया गया है—गुणविधि वहाँ स्वीकार्य है, जहाँ मुख्य कर्म प्रकारान्तर—अन्य विधिवाक्य आदि के द्वारा प्राप्त है, जैसे—अग्निहोत्र होम 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' वचन से विधान किया हुआ प्रथम प्राप्त है। उसी होम के उद्देश्य से इन्द्रिय-कामनावाले पुरुष का 'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्'—दही द्रव्य से होम किया जाय,— इस वचन में दधि द्रव्य का विधान गुणविधि है। इसके विपरीत प्रस्तुत प्रसंग में 'उद्भिद्' आदि पदों से जो अर्थ जाना जाता है, वह अन्य किसी वचन के द्वारा पहले से अविदित है, अर्थात् अन्य किसी विधिवाक्य आदि से उसका विधान नहीं हुआ है, अतः इन वाक्यों को गुणविधि मानना अन्याय्य होगा।

यदि इन वाक्यों को गुणविधि माना जाता है, तो इसमें वैय्यधिकरण्य दोष भी है। उस दशा में **'उद्भिद्'** पद यागविशेष का नाम न होकर प्रकारान्तर से प्राप्त याग में उसके साधनभूत उद्भिद्-द्रव्य के विधान-रूप से गुण का विधायक होगा। ऐसी स्थिति में 'उद्भिदा यजेत' वाक्य के 'उद्भिद्' पद में मतुबर्थ की कल्पना करनी होगी—"उद्भिद्वता यागेन इष्टं भावयेत्'—उद्भिद् साधन-सामग्रीवाले याग से अभीष्ट प्राप्ति की कामना करे। 'उद्भिद्' पद का 'यजेत' के साथ अन्वय करने के लिए वहाँ लक्षणा द्वारा [1]मतुबर्थ की कल्पना करना

१. 'उद्भिदा यजेत' इत्यादि वाक्यों को गुणविधि मानने पर उद्भिद् द्रव्य का याग के साथ सीधा सामानाधिकरण्य सम्पन्न न होने की दशा में 'उद्भिद्' पद का अर्थ 'उद्भिद् द्रव्यवान् याग' ऐसा करना होगा। जहाँ शब्द के साथ

वैय्यधिकरण्य दोष है। जब कोई पद अन्वित अर्थ का बोध कराने में पूर्ण समर्थ है, तब वहाँ व्यर्थ लक्षणामूलक कल्पना करना संगत नहीं माना जाता।

'उद्भिद्' आदि पद यागविशेष का नाम माने जाने पर ऐसा कोई दोष सामने नहीं आता। 'उद्भिदा यजेत' वाक्य में 'यजेत' पद का अर्थ है—'यागेन इष्टं भावयेत्'; यहाँ 'याग' करण है और 'उद्भिदा' आदि पद भी तृतीया विभक्ति के साथ निर्देश से करण हैं। इस प्रकार 'उद्भिदा यागेन इष्टं भावदेत्' रूप में अन्वय करने पर सामानाधिकरण्य का सामञ्जस्य हो जाता हैं। यदि उक्त वाक्यों को याग का नामधेय न मानकर इन्हें गुणविधि माना जाता है, तो उद्भिद् आदि पदों को याग के साधन-द्रव्य का वाचक माने जाने से वाक्य में सामानाधिकरण्य के सामञ्जस्य के लिये 'उद्भिद्' आदि पदों में मत्वर्थलक्षणा के सिवाय और कोई मार्ग नहीं है। श्रुति तथा लक्षणा के परस्पर प्रतियोगिता में आने पर श्रुति बलवती मानी जाती है। तब लक्षणा अपाहृत होकर हट जाती है, और श्रुतिमूलक सामानाधिकरण्य के बल पर उद्भिद् आदि पद याग के नामधेय हैं, यह निश्चित होता है।

इस विवेचन के अनुसार यह आक्षेप भी निराधार होगा कि उक्त वाक्य नामधेय का विधान करते हैं, अथवा याग का? एक वाक्य—एक का ही विधायक हो सकता है। यदि नामधेय का विधान करता है, तो याग का विधान न होगा। यदि याग का विधान करता है, तो नामधेय का विधान न होगा। दोनों का विधान मानने पर वाक्यभेद-दोष प्रसक्त होगा। यह आक्षेप इसलिये निराधार है, क्योंकि ये पद नामधेय का विधान कहीं करते; विधान तो याग का करते हैं, नामधेय तो इनका उक्त पदों से ही अभिव्यक्त हो जाता है। 'उत्' शब्द के सामर्थ्य और 'भिद्' शब्द के सामर्थ्य से 'उद्भिद्' पद क्रिया का वाचक है। इस कर्म से किसी का उद्भेदन—प्रकाशन किया जाता है। इसी प्रकार बल-प्रकाशन से 'बलभिद्' अभिमुख होने पर जय से 'अभिजित्', विश्व के जय से 'विश्वजित्' आदि यागविशेषों के नाम हैं—यह सिद्धान्त है ॥२॥ (इति उद्भिदादिशब्दानां याग[1]नामधेयताऽधिकरणम्—१)।

'मतुप्' प्रत्यय का योग न होने भर भी अर्थ-सामञ्जस्य के लिए उसके (मतुप् प्रत्यय के) अर्थ को स्वीकार किया जाता है, उसे 'मत्वर्थलक्षणा' कहते हैं, जैसे 'यष्टीः भोजय' वाक्य में यष्टि (लाठी) को भोजन कराना सम्भव न होने से उसका अर्थ 'यष्टिमतः' किया जाता है।

१. हलायुधकृत 'मीमांसाशास्त्रसर्वस्व' में गत दो सूत्रों पर यथाक्रम पृथक् दो अधिकरणों का निर्देश निम्न प्रकार किया है—

(क) उद्भिदादिशब्दानां यागनामतया प्रामाण्याधिकरणम् ॥

(ख) उद्भिदादिशब्दानां यागनामधेयताऽधिकरणम् ॥

(चित्रादिशब्दानां यागनाम[1]धेयताऽधिकरणम् । चित्राज्याधिकरणं वा—२)

गत अधिकरण में 'उद्भिद्' आदि यौगिक शब्दों के विषय में विवेचन प्रस्तुत किया गया। इस परिप्रेक्ष्य में शिष्य जिज्ञासा करता है—कतिपय पद यौगिक न होकर गुण-शब्द एवं जाति-शब्द वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त हैं, जैसे—**'चित्रया यजेत पशुकामः[2], त्रिवृद् बहिष्पवमानम्, पञ्चदशान्याज्यानि, सप्तदश पृष्ठानि'**—पशु-कामनावाला चित्रा से यजन करे, बहिष्पवमान त्रिवृत् होता है, पन्द्रह आज्य होते हैं, सत्रह पृष्ठ होते हैं। यहाँ चित्रा और पवमान गुण-शब्द हैं, आज्य और पृष्ठ जाति-शब्द हैं। जिज्ञासा है—ये गुणविधि हैं या कर्म के नाम हैं? कर्म के नाम से ये कहीं प्रसिद्ध नहीं हैं; फलविशेष की कामना से मुख्य याग में प्रवृत्ति के प्रेरक हैं, अतः ये गुणविधि माने जाने चाहिएँ। जैसे—प्रकारान्तर (=**अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः**) से होमयाग प्राप्त है, **'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्'** से केवल 'दधि' गुण विधान होने से यह गुणविधि है; इसी प्रकार **'अग्निषोमीयं पशुमालभेत'** से पश्वालम्भन प्राप्त है; **'चित्रया यजेत'** से केवल चित्रारूप गुण का विधान होने से इन्हें गुणविधि मानना उपयुक्त होगा। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

यस्मिन् गुणोपदेशः प्रधानतोऽभिसम्बन्धः ॥३॥

[यस्मिन्] जिस वाक्य में गुणविधि या नामधेय का सन्देह हो, और उसमें [गुणोपदेशः] गुण का उपदेश—निर्देश हो, उसका [प्रधानतः] प्रधान धात्वर्थ के साथ [अभिसम्बन्धः] अभीष्ट सम्बन्ध होता है। 'यज्' धात्वर्थ 'याग' कर्म के साथ सम्बन्ध का तात्पर्य है—धात्वर्थ से सम्बद्ध वाक्यगत पद कर्मविशेष का नाम होता है।

इसके उदाहरणरूप में वाक्य है—**'चित्रया यजेत पशुकामः'**। इस वाक्य में चित्रगुण का विधान स्त्रीपशुविषयक है। यह विधान **'अग्निषोमीयं पशुमालभेत'** वाक्यगत पशुविषयक होना सम्भव नहीं, लिङ्गभेद इसका नियामक है। इसी आधार पर उसके फल में भी यह विधान नहीं होगा। अतः अग्निषोमीय याग का

---

१. **'चित्रादिशब्दानां यागनामताधिकरणम्–२।' इत्येव पाठः। सुबोधिनी वृत्ति, रामेश्वरसूरिकृत**। 'मीमांसाशास्त्रसर्वस्व' में उक्त पाठ के साथ इसे तीसरा अधिकरण लिखा है।

२. द्रष्टव्य—तै० सं० २।४।६॥ अगले तीनों वाक्यों के लिए द्रष्टव्य—**ताण्ड्य ब्रा० २०।१।१॥**

इसे गुणविधि न मानकर कर्मविशेष का नाम मानना ही युक्त होगा।

यदि इसे गुणविधि माना जाता है, तो इसमें वाक्यभेद-दोष का प्राप्त होना अनिवार्य है। गुणविधि मानने की दशा में 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' वाक्य के अनुसार पहले तो नरपशु की प्रप्ति में स्त्रीपशु का विधान होगा; उसके अतिरिक्त पशुरूप फल का विधान मानना होगा; फिर चित्रगुण का विधान होगा। एक ही वाक्य से तीनों का विधान सम्भव नहीं। अतः वाक्यभेद की स्थिति अनिवार्य होगी, जो शास्त्रीय दृष्टि से दोष है। अतः इसे कर्म का नाम मानना ही निर्दोष तथ्य है।

दूसरा उदाहरण इस विषय में 'त्रिवृद् बहिष्पवमानम्' दिया गया है। पवमान अर्थवाले मन्त्रों का जिस स्तोत्र में गान किया जाता है, वह पवमान स्तोत्र है। यह गान सदोमण्डप से बाहर किया जाता है, अतः इसका नाम बहिष्पवमान है। ज्योतिष्टोम याग में 'सदस्' एक शालाविशेष का नाम है, जहाँ बैठकर ऋत्विज् स्तोत्रगान करते हैं। उसके मध्य में औदुम्बरी (गूलर वृक्ष की) शाखा गाड़ी जाती है, जो पूरे एक वस्त्र से लपेट दी जाती है। उसको स्पर्श कर उद्गाता स्तोत्रगान करते हैं; वह 'सदोमण्डप' कहा जाता है। उससे बाहर होकर पवमान-स्तोत्र किया जाता है, अतः यह बहिष्पवमान है। जिन ऋचाओं का गान किया जाता है, वे सामवेद उत्तरार्चिक के प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड की नौ ऋचा हैं। उनमें यथाक्रम प्रत्येक तीन ऋचाओं का एक वर्ग है। स्तोत्रगान करते समय प्रत्येक वर्ग का तीन बार क्रमिक उच्चारण किया जाता है। इस स्थिति को 'त्रिवृत्' पद से स्पष्ट किया है। तीन ऋचाओं की तीन वार वर्त्तनी (क्रमिक उच्चारण करना) 'त्रिवृत्' है। इस रूप में 'बहिष्पवमान' एक कर्म-विशेष का नाम है, किसी अन्य कर्म का गुणविधि नहीं।

इस विषय में तीसरा उदाहरण 'पञ्चदशान्याज्यानि' दिया है। पन्द्रह आज्य होते हैं। 'आज्य' पद मूल 'आजि' पद से बना है। 'आजि' पद का लोक-प्रसिद्ध एक अर्थ 'युद्ध' अथवा 'युद्धभूमि' है। दूसरा अर्थ है—वह सीमा या मर्यादा, जिसको प्रथम निर्धारित कर लोग उस तक—मन्द या तीव्रगति से चलकर—प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में दूसरा अर्थ अभिप्रेत है। उक्त वाक्य आज्यों में पञ्चदश संख्या का विधान करता है—आज्य पन्द्रह होते हैं। 'आज्य' यह एक कर्मविशेष का नाम है, यह—'यदाजिमीयुस्तद् आज्यानाम् आज्यत्वम्' (जिस कारण मर्यादा को प्राप्त हुए, वह आज्यों का आज्यत्व है)—इस अर्थ-वाद-वाक्य से सिद्ध है। अर्थवाद किसी विहित कर्म-विषयक होता है। अन्य कोई विधायक वाक्य न होने से यह पञ्चदश संख्या विशिष्ट आज्य का विधायक है। वस्तुतः आज्य को उद्देश कर उसमें पञ्चदश संख्या का विधान उक्त वाक्य से किया जाता है। आज्यस्तोत्र कर्म में सामवेद उत्तरार्चिक, प्रथम अध्याय के

द्वितीय खण्ड की तीन-तीन ऋचाओं का एक वर्ग बनाकर गान के लिए उपयोग किया जाता है। यदि इसे गुणविधि माना जाय, तो आज्यों का स्तोत्रों के साथ सम्बन्ध तथा पञ्चदश संख्या का सम्बन्ध, इन दोनों अर्थों का विधान एक वाक्य से किया जाना अशक्य होगा। इससे वाक्यभेद-दोष की आपत्ति स्पष्ट है।

चौथा उदाहरण इस प्रसंग में 'सप्तदश पृष्ठानि'[1] है। पृष्ठ नामक कर्म का संकेत ताण्डच ब्राह्मण [७।८।१] में उपलब्ध होता है। शाबर भाष्य में 'पृष्ठैः स्तुवते' पृष्ठसंज्ञक कर्म से स्तुति करते हैं, वाक्य कहीं का उद्धृत किया है; परन्तु इसके मूल स्थान का पता नहीं। पृष्ठ नामक स्तोत्र-कर्म में रथन्तर, वामदेव्य, नोधस आदि का समावेश है। इस गान में—सामवेद उत्तरार्चिक प्रथम अध्याय के चतुर्थ खण्ड की—ऋचाओं का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार चित्रा, बहिष्पवमान, आज्य, पृष्ठ, ये सब कर्मविशेष के नाम हैं। इन्हें गुणविधि मानना युक्त नहीं ॥३॥ (इति चित्रादिशब्दानां यागनामधेयताऽधिकरणम्—२)।

(अग्निहोत्रादिशब्दानां यागनामधेयताऽधिकरणम्, तत्प्रख्याधिकरणं वा—३)

गत अधिकरण में कतिपय वाक्यों के कर्मविधि माने जाने का निर्णय किया गया। इस सन्दर्भ में शिष्य जिज्ञासा करता है—अन्य अनेक वाक्य—**'अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः'** तथा **'आघारमाघारयति'** इत्यादि होते हैं, जहाँ सन्देह है—'अग्निहोत्र' शब्द तथा 'आघार' शब्द गुणविधि हैं ? अथवा कर्म के नामधेय हैं ? इन्हें गुणविधि मानना उपयुक्त होगा, क्योंकि 'अग्निहोत्र' शब्द का अर्थ—'जिसमें अग्नि देवता के लिए होम किया जाय, ऐसा कर्म' प्राप्त होता है। यहाँ देवता-रूप गुण का विधान ज्ञात होता है। इसी प्रकार 'आघार' पद का अर्थ 'क्षरण' अर्थात् 'टपकना' है। इससे टपकनेवाले तरल घृत आदि का विधान प्रतीत होता है। क्योंकि दर्विहोम में अग्निदेवतारूप गुण का निर्देश तथा दर्श-पौर्णमास के अन्तर्गत उपांशुयाग में होमद्रव्य का निर्देश नहीं है। अतः इन प्रसंगों में गुण-विधान का प्रयोजन है। गुणविधि मानने की दशा में 'उद्भिदा यजेत' इत्यादि के समान यहाँ लक्षणा-दोष भी प्राप्त नहीं है, क्योंकि 'अग्निहोत्र' शब्द में अग्नि-

---

१. मीमांसाकोष (पृ० २६०२) में इस कर्म का अनुष्ठान—वाजपेय याग के अन्तर्गत—प्राजापत्य पशुयाग से सम्बद्ध बताया है। यद्यपि वहाँ 'पृष्ठ' पद का उल्लेख नहीं है। **'सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभते, सप्तदशो वै प्रजापतिः'** इत्यादि सन्दर्भ दिया है। इसका सन्तुलन ताण्डच ब्राह्मण [७।८।१] में दिये गए उपाख्यान के साथ करना चाहिए। यह पशुयाग, वस्तुतः 'अन्नयाग' है। इसमें यजुर्वेद (१८।१२) भी विचारणीय है।

देवतारूप गुण का विधान **'अग्नये होत्रं होमो यस्मिन्'** इस समास द्वारा जान लिया जाता है। आघार शब्द में भी 'आघारमाघारयति' = 'आघार को निष्पन्न करता है' इस श्रुति से गुण का विधान प्राप्त हो जाता है। अतः इन वाक्यों को गुणविधि क्यों न माना जाय ? आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत कर जिज्ञासा का समाधान किया—

तत्प्रख्यञ्चान्यशास्त्रम् ॥४॥

[तत्प्रख्यम्] उस अग्निहोत्र में अग्निदेवतारूप गुण की, तथा उपांशुयागगत आघार में घृत-द्रव्यरूप गुण की प्रख्यापना—जानकारी देनेवाला [च] निश्चित [अन्यशास्त्रम्] अन्य शास्त्र है। अतः ये गुणविधि न होकर कर्म-नामधेय हैं।

अपूर्व अर्थात् अविदित अर्थ का निर्देश करनेवाला वाक्य विधिवाक्य कहा जाता है। 'दर्विहोम'[1]-प्रसंग में यद्यपि अग्निदेवतारूप गुण का निर्देश नहीं, पर अन्य वाक्य—**'यदग्नये[2] च प्रजापतये च सायं जुहोति'**—जो अग्नि के लिए और प्रजापति के लिए सायं होम किया जाता है, इत्यादि वाक्य द्वारा देवता का विधान होने से अग्नि देवता प्राप्त है, विदित है; अतः **'अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः'** वाक्य अग्निदेवतारूप गुण का विधायक न होने से 'गुणविधि' नहीं है।

इसी प्रकार **'चतुर्गृहीतं वा एतदभूत् तस्याघारमाघार्य'**—यह निश्चित चार बार करके ग्रहण किया आज्य था, उससे आघार का आघरण (क्षरण) करके, इत्यादि वाक्य से आघार में द्रव्य का विधान किया जा चुका है; अतः प्रकारान्तर से विदित होने के कारण उक्त वाक्य—'आघारमाघारयति' में आज्य-द्रव्यरूप गुण का विधान मानना अयुक्त है। अतः ये कर्म-विशेष के नामधेय हैं, यह निश्चित होता है। जिस कर्म में अग्नि के लिए होत्र—होम हो, वह 'अग्निहोत्र' कर्म कहा जाता है। लम्बी धारवाली क्षरणक्रिया ही आघार है; यह क्रिया, कर्म ही तो है! कर्म के रूप में ये प्रसिद्ध हैं, तथा उसमें प्रवृत्ति के प्रेरक हैं, अतः इनकी कर्म-नामधेयता निश्चित है ॥४॥ (इति अग्निहोत्रादिशब्दानां यागनामधेयताऽधिकरणम्—३)।

(श्येनादिशब्दानां यागनामधेयताऽधिकरणम्—४)

गत अधिकरणों में अनेक पदों की याग-नामधेयता का निर्णय किये जाने पर

---

१. 'दर्विहोम' यज्ञविशेष का नाम है, इसका विवेचन स्वयं सूत्रकार ने अष्टम अध्याय के चतुर्थ पाद में 'दर्विहोमो यज्ञाभिधानं होमसंयोगात्' इत्यादि सूत्रों द्वारा किया है।

२. द्रष्टव्य—मै० सं०, १।८।७॥

भी अन्य कतिपय शब्द—'अथैष श्येनेन अभिचरन् यजेत, अथैष सन्दंशेन'[1] अभिचरन् यजेत, अथैष गवाऽभिचरन् यजेत' इत्यादि वाक्यों में—'श्येन, सन्दंश, गो' पठित हैं। क्या श्येन आदि शब्द गुणविधि हैं ? अथवा कर्म के नामधेय हैं ? यह सन्देह है। 'उद्भिद्' आदि पद क्रियानिमित्त वाले हैं, उद्भेदन आदि क्रिया को निमित्त मानकर प्रवृत्त होते हैं, अत: याग कर्मविशेष के नाम हो सकते हैं, परन्तु श्येन आदि शब्द जातिविशेष को निमित्त मानकर प्रवृत्त हुए हैं, अत: याग को नहीं कह सकते। इन्हें गुणविधि मानना उपयुक्त होगा। इस जिज्ञासा का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तद्व्यपदेशञ्च ॥५॥

[तद्व्यपदेशम्] उन श्येन आदि का व्यपदेश—कथन उनके नामधेय होने में निमित्त है, [च] तथा।

यह समझना चाहिए, श्येन आदि प्रसिद्ध शब्द शास्त्र में यागविशेष का कथन करते हैं। यह याग का नाम है, ऐसा मानने पर 'श्येनेन यजेत' इत्यादि श्रुतिबोधित मुख्य अर्थ का ग्रहण होता है—**'श्येन नाम्ना यागेन इष्टं भावयेत्।'** यह श्येन का याग के साथ सामानाधिकरण्य स्पष्ट है। यदि इन्हें गुणविधि माना जाता है तो मत्वर्थलक्षणा द्वारा ही सामानाधिकरण्य सम्भव होगा—**'श्येनवता यागेन इष्टं भावयेत्'**। श्रुतिबोधित अर्थ के स्पष्ट रहते हुए, लक्षणा करना अन्याय्य है।

यह कहना भी अयुक्त है कि श्येन आदि शब्द जातिवाचक होने से याग का कथन नहीं करते। श्येन-क्रिया के साथ सादृश्य के आधार पर ये शब्द याग का कथन करते हैं—**'यथा वै श्येनो निपत्य आदत्ते, एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्य आदत्ते, यमभिचरन्ति श्येनेन'**—जिस प्रकार बाज पक्षी अपने शिकार अन्य पक्षी को झपट्टा मारकर दबोच लेता है, उसी प्रकार यह श्येनयाग विरोधी शत्रु को

---

१. विरोधी को मारने के लिए जो तथाकथित शास्त्रीय कर्म किया जाता है, उसे 'अभिचार' कर्म कहते हैं। साक्षात् शस्त्र द्वारा अथवा किसी अन्य व्यक्ति द्वारा विरोधी को मरवा देने के अतिरिक्त यह 'अभिचार' शास्त्रीय उपाय बताया जाता है। श्येन एक प्रकार के पक्षी का नाम है। 'संदंश' संडासी को कहते हैं। समान अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले दो वाक्यों के बीच—तत्सम्बन्धी आकांक्षा आदि की निवृत्ति के लिए—जो कथन किया जाता है, वह 'संदंश' कहाता है। गो पशुविशेष का नाम है। ये जातिवाचक शब्द होने से अभिचार-कर्म में इनका याग-साधनरूप से विधान है; अत: याग-साधन द्रव्यरूप गुण के विधायक होने से इन्हें गुणविधि माना जाना चाहिए।

झपट्टा मारकर प्राणों से वियुक्त कर देता है, जिसके लिए अभिचार-कर्म करते हुए श्येनयाग से यजन किया जाता है। 'झपट्टा मारकर पकड़ने' सादृश्य के आधार पर 'श्येन' शब्द का प्रयोग याग-कर्म में किया जाता है। जैसे देवदत्त में—पराक्रम, क्रूरता, शूरता आदि सादृश्य के आधार पर—सिंह शब्द का प्रयोग लोक-प्रसिद्ध है। फलतः 'श्येन' कर्म का नाम है, यह निश्चित होता है।

यही आधार सन्दंश में समझना चाहिए। **'यथा' सन्दंशेन दुरादानन्नादत्ते'**—कठिनाई से पकड़े जानेवाले पदार्थ को जैसे संडासी से जकड़ लिया जाता है, ऐसे ही दुर्धर्ष शत्रु को सन्दंश-याग से वश में कर नष्ट कर दिया जाता है।

यही भाव 'गो' पद में समझना चाहिए। भाष्यकार ने वाक्य दिया है—**'यथा गावो गोणयन्ति'**—जैसे गायें अपने बच्चों की—हिंसक प्राणियों से—रक्षा करने के लिए बच्चों को बीच में रख, उनके चारों ओर घिरकर शत्रु का प्रबल प्रतिरोध करती हैं, वैसे ही गोयाग अपने यजमान को—शत्रु द्वारा प्रयुक्त अभिचार-कर्म से—सुरक्षित रखता है। पहले दो कर्म शत्रु को मारने के लिए अनुष्ठित होते हैं। उसके विपरीत यह तीसरा कर्म शत्रु से अपनी रक्षा के लिए किया जाता है। फलतः श्येन आदि कर्मविशेषों[2] के नाम हैं, गुणविधि नहीं ॥५॥ (इति श्येनादिशब्दानां यागनामधेयताऽधिकरणम्—४)।

(वाजपेयादिशब्दानां यागनामधेयताऽधिकरणम्—५)

शिष्य जिज्ञासा करता है—गत अधिकरणों में अनेक शब्दों की याग-नामधेयता का निर्धारण किया गया, पर वाजपेय आदि शब्दों के विषय में सन्देह बना है; क्योंकि यह शब्द स्वयं अपने निर्वचन से याग में अन्नरूप गुण का विधान

---

१. श्येन, सन्दंश-सम्बन्धी वाक्य अथवा तदर्थबोधक वाक्य द्रष्टव्य हैं—षड्विंश-ब्राह्मण, ३।८।१॥ तथा ३।१०।१॥

२. शबर स्वामी आदि प्राचीन मीमांसक आचार्यों ने आभिचारिक यागों को विधायक नहीं माना; क्योंकि ये धर्मार्जन के लिए किसी अनुष्ठेय कर्म का विधान नहीं करते। इसके विपरीत हिंसा आदि अनर्थ के उद्भावक हैं। एक अन्य प्राचीन आचार्य भर्तृमित्र ने अपने समय में यज्ञिय हिंसा आदि का घोर विरोध कर अनामिष यज्ञप्रक्रिया का स्थापन किया था। मीमांसा के व्याख्या-ग्रन्थों में इसके प्रमाण उपलब्ध हैं। (द्रष्टव्य—आचार्य उदयवीर शास्त्रीकृत 'वेदान्त-दर्शन का इतिहास', पृष्ठ २१३–२२२)। अनन्तर-काल में भट्ट कुमारिल आदि आचार्यों ने यज्ञिय हिंसा आदि को वैध बताने का पुनः प्रबल प्रचार किया और भर्तृमित्र आदि को लोकायत (चार्वाक) सदृश बताया, जो चिन्त्य है।

करता है। वाज = अन्न —यवागू —का पान जिस याग में होता है, वह वाजपेय है। इसके अनुसार श्रुतिबोधित अन्न-गुण का विधान होने से इसे गुणविधि क्यों न माना जाय ? आचार्य ने जिज्ञासा को स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए स्वयं सूत्रित किया—

नामधेये गुणश्रुतेः स्याद् विधानमिति चेत् ॥६॥

[नामधेये] आपाततः नामधेयरूप से प्रतीयमान वाजपेय शब्द में [गुणश्रुतेः] अन्नरूप गुण का श्रवण होने से [स्यात्] है यह [विधानम्] गुण-विधि, [इति चेत्] ऐसा कहो, तो—(अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है। 'इति चेत्' पदोंवाले सूत्रों में सर्वत्र यही व्यवस्था समझनी चाहिए)।

सूत्र की अवतरणिका में सूत्रार्थ स्पष्ट है। भाष्यकार ने वैदिक वाङ्मय के किसी स्थल का वाक्य दिया है—'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो[1] यजेत'—स्वाराज्य कामनावाला व्यक्ति, अर्थात् स्वयं—स्व-सामर्थ्य से प्रकाशित होनेवाला व्यक्ति, अथवा स्वर्ग में राज्य की कामनावाला व्यक्ति वाजपेय याग से यजन करे। यहाँ 'वाज' पद-बोध्य अन्न-गुण का विधान होने से इसे गुणविधि मानना उपयुक्त होगा॥६॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

तुल्यत्वात् क्रिययोर्न ॥७॥

[तुल्यत्वात्] तुल्य होने से [क्रिययोः] दोनों क्रियाओं—कर्मों = वाजपेय और दर्शपौर्णमास के, [न] वाजपेय में सप्तदश दीक्षा आदि की उपपत्ति न होगी।

यदि वाजपेय को गुणविधि माना जाता है, और इसके अनुसार उसे अन्न-साधनयाग स्वीकार किया जाता है, तो वाजपेय और दर्शपौर्णमास दोनों याग समानरूप से अन्न-साधनयाग हो जाते हैं। दर्शपौर्णमास का साधनद्रव्य

---

१. इस आनुपूर्वी का वाक्य वर्त्तमान वैदिक वाङ्मय में न मिलने पर भी सन्तुलित वाक्य आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [१८।१।१] में है— शरदि वाजपेयेन यजेत ब्राह्मणो राजन्यो वा ऋद्धिकामः'—समृद्धि की कामनावाला ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय शरद् ऋतु में वाजपेय से यजन करे। समृद्धि या ऐश्वर्य स्वयं प्रकाशित होने का साधन है। इस प्रकार 'ऋद्धिकामः' तथा 'स्वाराज्यकामः' पदों के तात्पर्य में कोई भेद नहीं है। ब्राह्मण के लिए स्वयं प्रकाशित होना, तथा क्षत्रिय के लिए वहाँ भी राज्य-प्रशासन की कामना नैसर्गिक है। सोमयाग से केवल स्वर्गप्राप्ति, तथा वाजपेय से वहाँ भी राज्य की प्राप्ति का निर्देश इनके फल में न्यूनातिशयता का संकेत करता है।

पुरोडाश है, जो अन्नमय होता है। ऐसी स्थिति में वाजपेय, दर्शपौर्णमास का विकृतियाग होगा। 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' – प्रकृति के समान विकृतियाग किया जाना चाहिए, इस शास्त्रीय व्यवस्था के अधीन वाजपेय में वही क्रियाकलाप प्राप्त होंगे, जो दर्शपौर्णमास प्रकृतियाग में हैं। इसका परिणाम यह होगा कि 'सप्तदशदीक्षो वाजपेयः' तथा 'सप्तदशोपसत्को वाजपेयः' इन वाक्यों के अनुसार वाजपेय में विहित दीक्षा व उपसत् की उपपत्ति सम्भव न हो सकेगी। क्योंकि इनका विधान दर्शपौर्णमास में नहीं है, पर गुणविधि मानने पर दर्शपौर्णमास के क्रियाकलाप ही वाजपेय में प्राप्त होंगे, जो शास्त्रानुसार इष्ट नहीं है। अतः वाजपेय को गुणविधि न मानकर कर्म का नामधेय मानना ही युक्त है।

अथवा—सूत्रार्थ की अन्य प्रकार योजना—

[तुल्यत्वात्] तुल्य होने से [क्रिययोः] दोनों क्रियाओं—कर्मों=वाजपेय और ज्योतिष्टोम के, [न] वाजपेय में गुणविधि नहीं है।

वाजपेय को गुणविधि न माने जाने की स्थिति में ही वाजपेयक्रिया और ज्योतिष्टोमक्रिया का तुल्य होना सम्पन्न होता है। ज्योतिष्टोम सोमयाग में यजमान-दम्पती को दीक्षा देने तथा उपसत् नामक इष्टि का अनुष्ठान किए जाने का विधान है। वाजपेय में भी 'सप्तदशदीक्षो वाजपेयः' तथा 'सप्तदशोपसत्को वाजपेयः' इन शास्त्रीय वचनों के अनुसार वाजपेय में—ज्योतिष्टोमगत दीक्षा आदि के अनुरूप—सत्रह दीक्षा और सत्रह उपसत्संज्ञक[1] इष्टि का विधान उपपन्न होकर इन दोनों (वाजपेय-ज्योतिष्टोम) के समान होने का प्रयोजक है। फलतः वाजपेय को गुणविधि मानना युक्त नहीं है। सोमयागों के अन्तर्गत वाजपेय याग-विशेष का नाम है, यह निश्चित होता है ॥७॥

इसी मान्यता की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने बताया—

ऐकशब्द्ये[2] परार्थवत् ॥८॥

'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' को गुणविधि माने जाने की स्थिति में गुण-विधान के लिए [एकशब्द्ये] एक शब्द 'यजेत' क्रिया के उच्चारण होने पर उसे गुणविधान के लिए [परार्थवत्] पर अर्थ = विधि से भिन्न अनुवादरूप अर्थ-वाला मानना पड़ता है, जो शास्त्रीय व्यवस्था के अनुरूप नहीं है।

---

१. सोमयाग के अन्तर्गत ज्योतिष्टोम याग के दीक्षादिवस और सोमाभिषव-दिवस के अन्तराल में जिन इष्टियों का अनुष्ठान विहित है, उनका नाम 'उपसत्' है। ये इष्टियाँ यागों में विभिन्न अवसरों पर विभिन्न संख्याओं (दो, तीन, छह, बारह, आदि) में अनुष्ठित होती हैं।

२. 'एकशब्दे' पाठ है। रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनी वृत्ति।

मुख्य रूप से 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' वाक्य स्वाराज्य की कामनावाले के लिए वाजपेय नामक याग का विधान करता है। 'यजेत' क्रिया में 'यज्' धातु याग, और प्रत्ययविधि का द्योतक है। अर्थ होगा—'यागेन इष्टं भावयेत्'—याग से इष्ट की भावना करे। 'केन' यागेन'? किस याग से? अर्थात् उस याग का नाम क्या है? 'वाजपेयेन' वाजपेय नामक याग से। यह भावना कौन करे? उत्तर वाक्य में सन्निहित है—'स्वाराज्यकाम:' स्वाराज्य की कामना करनेवाला व्यक्ति वाजपेय नामक याग से इष्ट की भावना करे; यह वाक्य निर्बाध समन्वित हो जाता है।

इसके विपरीत यदि वाजपेय को गुणविधि माना जाता है, तो 'वाजपेय' पद का अर्थ होगा—अन्न, जो किसी यागरूप कर्म का साधन है। तब अन्न-रूप गुण का याग के साथ अन्वयं मत्वर्थलक्षणा के बिना सम्भव न होगा। उसका अन्वय—'वाजवता यागेन इष्टं भावयेत्' इस प्रकार करना होगा। ऐसी दशा में यह गुण-विधान किस याग में होगा? इसका विधायक कोई पद यहाँ नहीं है। 'यजेत' क्रियापद मत्वर्थलक्षणा से गुणविधान के साथ अन्वित है; वह किसी मुख्य याग का विधायक नहीं हो सकता। यदि 'वाजपेय' पद के एक अवयव 'वाज' को अन्न-गुण का, और 'वाजपेय' शब्द को कर्म का द्योतक मानकर एक ही शब्द में कर्म-नाम और गुणविधि दोनों का विधान स्वीकार किया जाय, तो यह संभव न होगा; क्योंकि एक ही क्रिया 'यजेत' के साथ एक समय में—कर्मनाम मानने पर कर्म-रूप से तथा गुण-विधि मानने पर से 'वाजपेय' का अन्वय सर्वथा अशास्त्रीय है। इसमें वाक्यभेद स्पष्ट है। तब 'स्वाराज्यकामो वाजपेयेन यजेत' वाक्य को इस प्रकार दो वाक्यों के रूप में समझा जायगा—(१) 'स्वाराज्यकामो वाजपेयेन यागेन इष्टं भावयेत्'; (२) 'स्वाराज्यकामो वाजवता यागेन इष्टं भावयेत्'। एक जगह कर्मनाम मानकर—वाजपेय नामक याग से इष्ट की भावना करे; दूसरी जगह गुणविधि मानने पर—वाज=अन्न-साधनवाले याग से इष्ट की भावना करे; ये दो वाक्य बनाने पड़ेंगे। वाक्यार्थ, योजना में वाक्यभेद-दोष माना जाता है। ये सब दोष कर्मनाम मानने पर प्राप्त नहीं होते; अत: 'वाजपेय' कर्मनाम सिद्ध होता है ॥८॥ (इति वाजपेयादिशब्दानां नामधेयताऽधिकरणम्, वाजपेयाधिकरणं वा—५)।

(आग्नेयादीनामनामताधिकरणम्, आग्नेयाधिकरणं वा—६)

तैत्तिरीय संहिता [२।६।३] में पढ़ा है—'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां च पौर्णमास्यां च अच्युतो भवति सुवर्गस्य लोकस्याभिजित्यै'—आठ कपालों में संस्कृत जो आग्नेय पुरोडाश अमावास्या में और पौर्णमासी में च्युत नहीं होता, अर्थात् निरन्तर बना रहता है, स्वर्गलोक की जीत के लिए, इत्यादि वाक्यों में

सन्देह है—क्या आग्नेय और अग्निषोमीय[1] गुणविधियाँ हैं ? अथवा कर्मनामधेय हैं ? गुणविधि होने पर अनेक गुणों—अग्नि, पुरोडाश और कपाल—का विधान मानना पड़ता है; अतः इन्हें गुणविधि न मानकर कर्म-नामधेय मानना युक्त होगा। सन्देह का समाधान करते हुए सूत्रकार ने सिद्धान्त बताया—

तद्गुणास्तु विधीयेरन् अविभागाद् विधानार्थे, न चेदन्येन शिष्टाः ॥६॥

[तद्गुणाः[2]] वे कर्म और कर्म के गुण, [तु] पद संशय की व्यावृत्ति के लिए है, अर्थात् कर्मनाम-विषयक सन्देह ठीक नहीं; क्योंकि [विधीयेरन्] वे (कर्म-गुण) विधान किए गए हैं [अविभागात्] विभागरहित होने से, अर्थात् साथ-साथ उच्चरित होने से [विधानार्थे] विधान के लिए प्रयुक्त तद्धितप्रत्ययान्त शब्दों में। [न चेद् अन्येन शिष्टाः] यदि अन्य किसी वचन से न कहे गये हों।

यदि वे कर्म-गुण अन्य किसी वचन से विहित नहीं हैं, तो विधान के लिए प्रयुक्त तद्धित-प्रत्ययान्त (आग्नेय, अष्टाकपाल) शब्दों में, साथ-साथ उच्चरित होने के कारण यहाँ उनका विधान किया गया है।

कोई शब्द, कर्म का नामधेय उस अवस्था में माना जाता है, जब गुण का विधान किसी अन्य वाक्य से कर दिया गया हो। प्रस्तुत प्रसंग में ऐसा नहीं है। यहाँ 'आग्नेय' पद अग्नि देवता का विधान करता है—'अग्निर्देवताऽस्य इति आग्नेयः'—अग्नि इसका देवता है, इसलिए यह 'आग्नेय' है। 'अष्टाकपालः' पद से—'अष्टसु कपालेषु संस्कृतः इति अष्टाकपालः' कपाल का विधान प्राप्त होता है। आठ कपालों—विशेष मृत्पात्रों—में ही पकाया गया हव्य-द्रव्य अग्नि देवता के लिए विहित है, अन्य प्रकार से पकाया गया द्रव्य विहित नहीं। अतः कपाल का विधान भी इस पद से प्राप्त है। अग्नि देवता के उद्देश्य से कपालों में जो द्रव्य पकाया जाता है, वह पुरोडाश द्रव्य—'आग्नेय, अष्टाकपाल' पदों में प्रयुक्त—तद्धित प्रत्ययों के सामर्थ्य से प्राप्त है। इस प्रकार प्रस्तुत वाक्यद्वारा अग्नि, कपाल, पुरोडाश तीनों का समन्वित विधान प्राप्त होता है, इनका अन्य किसी वचन से

---

१. प्रस्तुत अधिकरण के नाम में तथा भाष्यकार द्वारा प्रयुक्त 'आदि' पद से—तैत्तिरीय संहिता (२।५।२) गत 'अग्निषोमीय' प्रसंग का यहाँ संग्रह कर लिया है। इसका विवेचन आगे सूत्र [२।२।३] में किया गया है।

२. सूत्र में 'तत्' पद 'कर्म' अथवा 'याग' का अतिदेश करता है। कर्म की दृष्टि से 'तच्च गुणाश्च इति तद्गुणाः' यह द्वन्द्व समास है। याग की दृष्टि से 'स च गुणाश्च तद्गुणाः' होगा। प्रस्तुत प्रसंग में कर्म=याग तथा गुण दोनों का विधान स्वीकार्य है।

कथन या विधान नहीं किया गया, अतः अपूर्व कथन है, अन्य से अविदित है। 'आग्नेय' और 'अष्टाकपाल' पदों का परस्पर विशेष्य-विशेषणभाव सम्बन्ध है। अग्निदेवता के उद्देश्य से आठ कपालों में सिद्ध किया गया पुरोडाश, याग के बिना निरर्थक है। देवता के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग ही 'याग' कहा जाता है। इस प्रकार देवता, द्रव्य और याग सबका समन्वितरूप में यहाँ विधान है। याग-कर्म का विधान, देवता व द्रव्य के विधान के बिना समर्थ नहीं होता। देवता व द्रव्यगुण अन्य वचन से प्राप्त नहीं। अतः प्रस्तुत प्रसंग में उक्त वाक्य से कर्म-विधान के साथ देवता व द्रव्यगुण का विधान मानने में कोई असांगत्य नहीं है ॥९॥ (इति आग्नेयादीनामनामताधिकरणम्—६)।

(बर्हिराज्यादिशब्दानां जातिवाचित्वाधिकरणम्, बर्हिराज्याधिकरणं वा—७)

शिष्य जिज्ञासा करता है—गत अधिकरणों में अनेक सन्दिग्ध शब्दों के विषय में सिद्धान्त का निर्धारण करने पर भी 'बर्हिः, आज्य, पुरोडाश' आदि ऐसे शब्द हैं, जिनमें यह सन्देह है कि क्या ये यज्ञिय कार्यों में प्रयुक्त 'बर्हिः' आदि शब्द, संस्कारविशेष से संस्कृत द्रव्यों के नाम हैं? अथवा सामान्य रूप से संस्कृत-असंस्कृत सबके लिए प्रयुक्त होनेवाले जातिवाचक शब्द हैं? क्योंकि यज्ञिय कर्मों में संस्कृत बर्हि आदि का प्रयोग मान्य है। जहाँ असंस्कृत में भी 'बर्हि' आदि का प्रयोग देखा जाता है, वह संस्कृत बर्हि के सादृश्य के आधार पर ही समझना चाहिए। वे केवल एकदेशीय प्रयोग हैं। तब 'बर्हिः' आदि नाम संस्कार-निमित्तक क्यों न माने जायँ? आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

बर्हिराज्ययोरसंस्कारे शब्दलाभादतच्छब्दः[1] ॥१०॥

[बर्हिः-आज्ययोः] बर्हि और आज्य में [असंस्कारे] संस्कार न होने पर भी [शब्दलाभात्] बर्हि और आज्य शब्द का व्यवहार होने से [अ-तच्छब्दः] संस्कार-निमित्तक शब्द ये नहीं हैं।

यज्ञिय कर्म में उपयोग के लिए जब बर्हि=कुशा को काटा जाता तथा मन्त्रोच्चारणपूर्वक संस्कृत किया जाता है, उसके पहले असंस्कृत दशा में भी उसके लिए 'बर्हिः' पद का ही प्रयोग लोक में देखा जाता है। संस्कृत पद के सादृश्य से लोक में ऐसा प्रयोग होता हो, यह सम्भव नहीं है। लोक में उक्त पद का प्रयोक्ता व्यक्ति उसके संस्कार तथा संस्कार की पद्धति नितान्त भी न जानता हुआ

---

१. रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनी वृत्ति में '०च्छब्दः' के आगे 'स्यात्' पद अधिक पठित है।

उसका प्रयोग करता है। संस्कार के अनन्तर 'कुशा' का नाम 'बर्हिः' होता हो, ऐसा नहीं है। संस्कार से पहले बर्हिःपद-प्रयोगपूर्वक व्यवहार रहते, अनन्तर संस्कार का अवसर आता है। अतः बर्हिः पद सामान्य जातिवाचक है, संस्कार-निमित्तक नहीं।

यद्यपि घृत और आज्य पदों का समानार्थक प्रयोग देखा जाता है। नवनीत (ताज़ा मक्खन) तथा थोड़ा पिघला हुआ—जिसमें साधारण छाछ के झाग-से भर गये हों, 'घृत' कहा जाता है। यह जमने पर थोड़ा कठिन हो जाता है। नवनीत को अच्छी तरह पकाने पर, जब छाछ का नितान्त अंश उसमें नहीं रहता, तब वह 'आज्य' है। यह शीत ऋतु में भी कठिन नहीं जमता, कुछ ढीला-सा रहता है; अँगुली से छूने पर उतनी ही ऊष्मा पाकर पिघल जाता है। इतना साधारण अन्तर होने पर भी दोनों 'घृत-आज्य' पदों का प्रयोग समान अर्थ में किया जाना मान्य है। 'बर्हिः' पद के समान घृत एवं आज्य पद भी संस्कृत-असंस्कृत दोनों अवस्थाओं में उसी एक द्रव्य के लिए प्रयुक्त होते हैं; अतः ये संस्कारनिमित्तक नाम नहीं हैं; इन्हें जातिवाचक शब्द मानना उपयुक्त है ॥१०॥ (इति बर्हिराज्यादिशब्दानां जातिवाचित्वाधिकरम्—७)।

(प्रोक्षणीशब्दस्य यौगिकत्वाधिकरणम्, प्रोक्षण्यधिकरणं वा—८)

शिष्य जिज्ञासा करता है—'प्रोणक्षीरासादय'—'प्रोक्षणी को यथास्थान रक्खो' वाक्य वैदिक वाङ्मय [तै० ब्रा० ३।२।६॥ आप० श्रौ० २।३।१०] में पठित है। क्या यहाँ 'प्रोक्षणी' पद 'बर्हिः' आदि के समान जातिवाचक माना जाय? अथवा संस्कार-निमित्तक? या यह शब्द यौगिक है? प्रोक्षणी पद का प्रयोग संस्कारों के होने पर देखा जाता है; अतः संस्कारनिमित्तक प्रतीत होता है। असंस्कृत जलों में भी 'प्रोक्षणीभिरुद्वेजिताः स्मः' (जलों से हम भयभीत या बेचैन हो गये हैं) इत्यादि प्रादेशिक प्रयोगों से साधारण जलों के अर्थ में प्रयुक्त 'प्रोक्षणी' शब्द जातिवाचक प्रतीत होता है। इस विषय में सिद्धान्त-पक्ष क्या होना चाहिए? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

प्रोक्षणीष्वर्थसंयोगात् ॥११॥

[प्रोक्षणीषु] प्रोक्षणी शब्द में [अर्थ-संयोगात्] उपसर्ग-धातु-प्रत्यय-समुदाय के अर्थ का सम्बन्ध होने से यह शब्द यौगिक है।

'प्रोक्षणीः' स्त्रीलिंग द्वितीया बहुवचनान्त पद है। संस्कृत में जल-पर्याय 'आपस्' पद स्त्रीलिंग बहुवचन में प्रयुक्त होता है। 'प्रोक्षणीः' पद से जल बोधित होते हैं। इस पद में स्त्रीलिंग प्रत्यय (ङीप्), केवल विशेष्य पद 'आपस्' की सन्तुलना के विचार से प्रयुक्त हुआ है, मुख्य रूप से परीक्षा (विवेचना) का विषय 'प्रोक्षण' प्रातिपदिक है। व्याकरणानुसार 'प्र + उक्ष् + ल्युट् = अन' समुदाय

से 'प्रोक्षण' पद बनता है। यहाँ 'प्र' उपसर्ग, 'उक्ष्' धातु (प्रकृति), 'ल्युट्' प्रत्यय है, करण अर्थ में 'ल्युट्' को 'अन' आदेश होकर 'प्रोक्षण' पद का अर्थ होता है—प्रकृष्ट रूप से सेचन—आपेक्षिक आर्द्रीकरण का साधन। जैसे यज्ञिय हवि आदि का सेचन जलों से होता है, ऐसे ही अनेकत्र घृत, दधि आदि से 'हवि' के सेचन का विधान है। यदि 'प्रोक्षणी' पद जातिवाचक माना जाता है, तो सर्वत्र जल का ग्रहण होगा, दधि आदि का नहीं। परन्तु जब धात्वर्थ के आधार पर 'प्रोक्षण' का यौगिक अर्थ—हवि के सेचन का साधन द्रव्य–किया जाता है, तो इससे साधन-रूप में जहाँ जो द्रव्य—'जल-घृत-दधि' आदि अपेक्षित है, उसका ग्रहण हो जाता है। इसमें किसी तरह का असामञ्जस्य नहीं रहता। लोक में जल के लिए 'प्रोक्षणी' या 'प्रोक्षण' पद की प्रवृत्ति का भी निर्वाह हो जाता है।

'प्रोक्षणी:' पद जैसे 'आप:' पद के सन्तुलन के लिए स्त्रीलिंग में प्रयुक्त है, ऐसे ही जहाँ प्रोक्षण-कार्य के लिए साधनद्रव्य घृत होता है, वहाँ अग्नीत नामक ऋत्विक् के प्रति अध्वर्यु का प्रैष (आदेश) द्रव्य-लिङ्ग के अनुसार 'प्रोक्षणम् आसादय' दिया जायगा। ब्रह्मवर्चस की कामनावाले के लिए काम्येष्टि प्रकरण में 'घृतं प्रोक्षणं भवति' [मैत्रा० सं० २।१।५] वचन पढ़ा है। इस इष्टि में सोम और रुद्र देवता के लिए सफेद धान के चावल का चरु घृत में मिलाकर बनाया जाता है। दर्शपौर्णमास आदि इष्टियों में वेदि पर पात्रस्थापन के प्रसंग से 'प्रोक्षणी: आसादय' ऐसा आदेश-वचन है। वहाँ जल के सम्बन्ध से जो कार्य किये जाते हैं, वे सब कार्य ब्रह्मवर्चस काम्येष्टि में घृत से किये जाते हैं। इस विवेचन के अनुसार 'प्रोक्षणी' आदि पदों में—'उपसर्ग+प्रकृति+प्रत्यय'-समुदाय के आधार पर अर्थाभिव्यक्ति स्वीकार करने पर कोई असामञ्जस्य सन्मुख नहीं आता; अत: इन पदों को यौगिक मानना न्याय्य है ॥११॥ (इति प्रोक्षणीशब्दस्य यौगिकत्वाधिकरणम्—८)।

(निर्मन्थ्यशब्दस्य यौगिकत्वाधिकरणम्; निर्मन्थ्याधिकरणं वा—९)

शिष्य जिज्ञासा करता है—'प्रोक्षणी' शब्द के समान एक अन्य शब्द 'निर्मन्थ्य' है। यह शब्द अग्नि के लिए प्रयुक्त देखा जाता है—**'निर्मन्थ्येनेष्टका: पचन्ति'**—निर्मन्थ्य-अग्नि से ईंटें पकाते हैं। सन्देह है—क्या यह संस्कारनिमित्तक शब्द है? या जातिनिमित्तक? मन्थन द्वारा संस्कार किये अग्नि से ईंट पकाये जाने का कथन इसे संस्कारनिमित्तक शब्द प्रकट करता है। असंस्कृत अग्नि के लिए भी प्रयोग देखा जाता है—"**निर्मन्थ्यमानय ओदनं पक्ष्याम:'** आग ले आओ, भात पकायेंगे। इससे 'निर्मन्थ्य' पद—संस्कृत-असंस्कृत सब प्रकार की आग के लिए प्रयोग के कारण—जातिनिमित्तक प्रतीत होता है। इस विषय में सिद्धान्त

क्या है ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तथा निर्मन्थ्ये ॥१२॥

[तथा] उसी प्रकार—जिस प्रकार प्रोक्षणी शब्द के सम्बन्ध में कहा है—[निर्मन्थ्ये] निर्मन्थ्य—अग्नि के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

यह प्रसंग अग्निचयन-यागविषयक है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [१६।१३।७] में पाठ है—**'निर्मन्थ्येन लोहिनीः पचन्ति'**—निर्मन्थ्य-अग्नि से लाल-रंगी ईंटें पकाते हैं। तात्पर्य है—पककर ईंट लाल हो जानी चाहिए। यही भाव 'निर्मन्थ्ये-नेष्टकाः पचन्ति' वाक्य का है। यदि यह पद संस्कारनिमित्तक माना जाता है, तो केवल संस्कारविशेष से उत्पन्न अग्नि में ईंट पकाना प्राप्त होगा। यदि इसे जातिवाचक माना जाता है, तो जैसे-तैसे किसी भी प्रकार से प्राप्त अग्नि में ईंटें पकाना स्वीकार्य होगा। परन्तु इस पद का यह तात्पर्य नहीं है। इसका तात्पर्य है—मन्थन करके सद्यः=तत्काल प्रादुर्भूत अग्नि में ईंटें पकाना। यह अर्थ 'मन्थ' धातु के मन्थनरूप धात्वर्थ पर आधारित है। अतः इसे प्रोक्षणी पद के समान यौगिक शब्द मानना न्याय्य है। यद्यपि अग्नि सदा ही मन्थन द्वारा प्राप्त होता है, परन्तु अन्य दाह्य द्रव्य में पहले से सुरक्षित अग्नि में ईंटें पकाना अभीष्ट नहीं माना गया। यदि ऐसा होता, तो 'निर्मन्थ्येनेष्टकाः पचन्ति' के स्थान पर, 'अग्निनेष्टकाः पचन्ति' अधिक स्पष्ट होता। साक्षात् 'निर्मन्थ्य' पद का प्रयोग मन्थन से सद्यः प्रादुर्भूत अग्नि का बोधक है, जो इसके यौगिक शब्द होने का आधार है ॥१२॥ (इति निर्मन्थ्यशब्दस्य यौगिकत्वाधिकरणम्—९)।

(वैश्वदेवशब्द[१]स्य नामधेयताधिकरणम्, वैश्वदेवाधिकरणं वा—१०)

शिष्य जिज्ञासा करता है—गत अधिकरणों द्वारा अनेक सन्देहों का निवारण होने पर 'वैश्वदेवेन यजेत' वाक्य में वैश्वदेव-विषयक सन्देह बना है—क्या 'वैश्वदेव' याग का नामधेय है ? अथवा गुणविधि है ? चातुर्मास्य यागों के वैश्वदेव नामक प्रथम पर्व में आग्नेय आदि यागों के अनन्तर साथ ही 'वैश्वदेवेन यजेत' वाक्य है। इससे प्रतीत होता है, 'अग्नि' आदि देवों का विश्वेदेवों के साथ विकल्प है। इस प्रकार देवतारूप गुण का विधान होने से इसे गुणविधि मानना उचित होगा। स्पष्ट प्रतिपादन की भावना से आचार्य ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

वैश्वदेवे विकल्प इति चेत् ॥१३॥

[वैश्वदेवे] वैश्वदेव में [विकल्पः] विकल्प है, देवता का, [इति चेत्]

---

१. **'वैश्वदेवादिशब्दानां'** इति रामेश्वरसूरिविरचित-सुबोधिनीवृत्ति पाठः।

ऐसा यदि कहो (तो यह ठीक नहीं; इसका अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)।

मैत्रायणी संहिता [१।१०।१] में चातुर्मास्य यागों का वर्णन है। यह चातुर्मास्य याग चार पर्वों (भागों) का माना गया है। ये चार-चार महीने के अन्तर से किए जाते हैं। इनके नाम निम्न प्रकार हैं—

१. **वैश्वदेव**—चातुर्मास्य याग का यह प्रथम पर्व फाल्गुन मास की पूर्णिमा को किया जाता है।

२. **वरुण प्रघास**—यह दूसरा पर्व आषाढ़ की पूर्णिमा को सम्पन्न किया जाता है।

३. **साकमेध**—यह चातुर्मास्य याग का तीसरा पर्व कार्त्तिक की पूर्णिमा को अनुष्ठित होता है।

ध्यान देने पर ज्ञात होता है, ये याग ऋतुओं की सन्धियों में किए जाते हैं। वर्ष में साधारणरूप से तीन मुख्य ऋतु देश में प्रसिद्ध हैं—ग्रीष्म, वर्षा, शीत। ग्रीष्म ऋतु का प्रारम्भ शीत के अनन्तर आता है। चातुर्मास्य याग के 'वैश्वदेव' नामक पहले पर्व का समय फाल्गुन पौर्णमासी शीत और ग्रीष्म का सन्धिकाल है। दूसरे पर्व 'वरुण प्रघास' का काल आषाढ़ की पूर्णिमा ग्रीष्म और वर्षा की सन्धि का काल है। तीसरे पर्व 'साकमेध' के अनुष्ठान का काल कार्त्तिक मास की पूर्णिमा है, जो वर्षा और शीत ऋतु की सन्धि में है, जब वर्षा समाप्त हो जाती है। ऋतुओं का यह सन्धिकाल प्रायः रोगोत्पादक होता है। ऐसे समय में ऋतु-अनुसारी हवि-द्रव्यों से यागों का अनुष्ठान जल-वायु आदि की शुद्धि द्वारा रोग-निवारण में अत्युपयोगी होता है; इसी आधार पर चातुर्मास्य यागों को 'भैषज्य यज्ञ' नाम भी दिया गया है।[१] यागों की यह परम्परा तो न जाने कब से नष्ट हो चुकी है, पर तीन यागों के अनुष्ठान के अनन्तर अपनी आरोग्य-स्थिति से हर्षोत्फुल्ल अवस्था में बड़े उल्लास के साथ पवित्र नदियों व सरोवरों में स्नान आदि का जो कार्यक्रम रहता है, सम्भवतः उसी परम्परा को निभाने के रूप में आज भी कार्त्तिकी पूर्णिमा का स्नान अपने ऐतिहासिक महत्त्व की याद दिलाता है।

४. **शुनासीरीय** नामक चातुर्मास्य याग का चौथा पर्व कार्त्तिक पूर्णिमा के अनन्तर इच्छानुसार फाल्गुन पूर्णिमा से पहले की चाहे जिस पूर्णिमा में कर लिया जाता है।

मैत्रायणी संहिता [१।१०।१] के 'चातुर्मास्य याग' प्रकरण के प्रारम्भ में पाठ

---

१. 'भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि। तस्माद् ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषु हि व्याधिर्जायते।' कौषी० ब्रा० ५।१॥ इस विषय में गोपथ ब्राह्मण [२।१।१९] भी द्रष्टव्य है।

है—"**आग्नेयोऽष्टाकपालः, सौम्यश्चरुः, सावित्रो द्वादशकपालः, सारस्वतश्चरुः, पौष्णश्चरुः, मारुतः सप्तकपालः, वैश्वदेव्यामिक्षा, द्यावापृथिवीया एककपालः।**" यह वचन वैश्वदेव पर्व में—अग्नि, सोम, सविता, सरस्वती, पूषा, मरुत्, वैश्वदेव, द्यावापृथिवी—इन आठ देवताओं के उद्देश्य से आठ यागों का विधान करता है। इन यागों में अग्नि, सोम, सविता आदि जो देवता कहे हैं, उनके स्थान पर 'वैश्वदेवेन यजेत' वाक्य विश्वेदेव देवता का विधान करता है। इस प्रकार 'आग्नेयोऽष्टाकपालः' आदि वाक्य से अग्नि आदि का विधान किया; 'वैश्वदेवेन यजेत' से विश्वेदेव का। दोनों का विधान होने से 'व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत' के समान यहाँ विकल्प प्राप्त होता है। अग्नि आदि के स्थान पर विश्वेदेव के आने से 'यह वैश्वदेव पर्व है' यह प्रसिद्धि भी सार्थक होती है। तात्पर्य है—अग्नि आदि देवों के स्थान पर 'वैश्वदेवेन यजेत' यह वाक्य 'विश्वेदेव'-देवतारूप गुण का विधायक होने से इसे गुणविधि क्यों न माना जाय? आचार्य सूत्रकार ने बताया—॥१३॥

न वा प्रकरणात् प्रत्यक्षविधानाच्च न हि प्रकरणं द्रव्यस्य ॥१४॥

[न वा] नहीं है—गुणविधि—वैश्वदेव शब्द, [प्रकरणात्] प्रकरण से [च] और [प्रत्यक्षविधानात्] अग्नि आदि देवों के प्रत्यक्ष विधान से, [न] नहीं है [हि] क्योंकि [प्रकरणम्] साधारण प्रकरण [द्रव्यस्य] हवि आदि द्रव्य का।

वैश्वदेव शब्द गुणविधि नहीं है, यह चातुर्मास्य यागों के इस प्रकरण से ज्ञात होता है; क्योंकि यह प्रकरण द्रव्य या देवतारूप गुण का विधान नहीं करता। 'आग्नेयोऽष्टाकपालः' वाक्य साक्षात् ही अष्टाकपाल पुरोडाश साधनवाले अग्नि-देवताक याग का विधान करता है। इस वाक्य का अर्थ होगा—'**अष्टाकपालेन पुरोडाशेन—यागसाधनेन देवमग्निं भावयेत्**'। इसी प्रकार सोम, सविता आदि प्रत्येक देवता की भावना से यहाँ आठ यागों का कथन है। इन्हीं आठ में विश्वेदेव देवता भी हैं—[—वैश्वदेव्यामिक्षा]। ज्योतिष्[1] शास्त्र में गणना के अवसर पर १३ संख्या के लिए 'विश्वेदेव' पद का प्रयोग किया जाता है। इससे ज्ञात होता है, तेरह विश्वेदेव हैं। यहाँ पर आठ के उल्लेख से तेरहों का ग्रहण 'छत्रि-न्याय' अथवा 'दण्डि-न्याय' से हो जाता है। पाँच-सात व्यक्ति जा रहे हैं; उनमें

---

१. ज्योतिष्-ग्रन्थों में कतिपय विशेष पदों का किसी निर्धारित संख्या के लिए प्रयोग किया जाता है। इसका आधार उस पद से बोध्य अर्थ की निर्धारित संख्या है। जैसे—'चन्द्र' पद एक संख्या के लिए, 'नेत्र' दो के, 'गुण' तीन के, 'वेद' चार के, 'प्राण' पाँच के, 'ऋतु' छह के, 'ऋषि' सात के, 'वसु' आठ के, 'अङ्क' नौ के लिए, इत्यादि।

से दो-एक के पास छतरी या लाठी है। उसी के कारण वे सब छतरीवाले या दण्ड (लाठी) वाले कहे जाते हैं। इसी आधार पर यह आठों का समुदाय 'वैश्वदेव' नामक कहा जाता है। इन आठों में 'विश्वेदेव' के होने से 'छत्रि-न्याय' के अनुसार 'वैश्वदेव' में सबका ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार चातुर्मास्य यागों का प्रथम पर्व 'वैश्वदेव'-संज्ञक निश्चित होता है। इसी कारण 'वसन्ते वैश्वदेवेन' अथवा 'वैश्वदेवेन यजेत' इत्यादि वाक्यों का सामञ्जस्य है। अतः ये याग के नामधेय हैं, गुणविधि नहीं॥१४॥

'वैश्वदेव' शब्द के गुणविधि न होने में सूत्रकार ने अन्य प्रकार प्रस्तुत किया—

मिथश्चानर्थसम्बन्धः ॥१५॥

[मिथः] एक-साथ, वैश्वदेव शब्द का [अनर्थसम्बन्धः] दोनों के साथ अर्थ-सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता [च] और यह भी वैश्वदेव के गुणविधि मानने में बाधक है।

'वैश्वदेव' शब्द को यदि गुणविधि माना जाता है, तो यह चातुर्मास्य के आग्नेय आदि यागों का वाचक सान्निध्यमूलक लक्षणा वृत्ति के आधार पर ही हो सकता है। जैसे—'गंगायां घोषः' वाक्य में 'गंगा' पद—धारा में घोष की सम्भावना न होने से—गंगातीर का वाचक होता है; उसी काल वह गंगा की जलधारा का वाचक नहीं होता। इसी प्रकार चातुर्मास्य आग्नेय आदि यागों के मध्य पठित 'वैश्वदेवी-आमिक्षा' में 'वैश्वदेव' शब्द सान्निध्यमूलक लक्षणा से आग्नेय आदि का वाचक होता है, तो उसी समय वह वैश्वदेव याग का विधायक नहीं हो सकता, क्योंकि चातुर्मास्य के चार पर्वों में प्रथम पर्व वैश्वदेव की सम्भावना केवल 'वैश्वदेवी-आमिक्षा' याग में न होने से—उस शब्द को लक्षणा वृत्ति से आग्नेय आदि यागों का वाचक मानना पड़ता है। तब एक बार पठित वह शब्द एक अर्थ को कहकर चरितार्थ हो जाता है। उसी काल में वह 'वैश्वदेव' याग का विधायक नहीं हो सकता। इसलिए चातुर्मास्य यागों के प्रथम पर्व में आग्नेय-आदि जितने याग हैं, उन सबका यह नामधेय है, यही मानना युक्त होगा।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है, चातुर्मास्य यागों में प्रथम पर्व के आग्नेय आदि याग अपने रूप में नितान्त निराकांक्ष हैं। 'आग्नेयोऽष्टाकपालः' प्रथम याग में द्रव्य व देवता दोनों पठित हैं। इसका यही अर्थ है—'अष्टाकपालेन पुरोडाशेन अग्निं देवं भावयेत्'; इसमें अन्य कहीं से द्रव्य-देवता की आकांक्षा नहीं है। ऐसे ही अगले वाक्यों 'सौम्यश्चरुः, सावित्रो द्वादशकपालः' आदि में समझना चाहिए। तब यहाँ गुणविधि की कल्पना कर 'वैश्वदेव'-देवतारूप गुण का विधान असंगत है। देवता व द्रव्य के अविहित होने पर उनकी आकांक्षा की पूर्ति के लिए गुणविधि की

कल्पना की जाती है। पर यहाँ चातुर्मास्य यागों के प्रथम पर्व में पठित आग्नेय आदि यागों की ऐसी स्थिति नहीं है, अतः गुणविधि की कल्पना निराधार है। इसके फलस्वरूप यही मानना पड़ता है कि—'वसन्ते वैश्वदेवेन यजेत' वाक्य में 'वैश्वदेव' शब्द वसन्त में अनुष्ठेय समस्त 'आग्नेय' आदि यागों का नामधेय है। गुणविधि से उनका संग्रह करना अन्याय्य है ॥१५॥

'वैश्वदेव' शब्द के गुणविधि न होने में अन्य हेतु सूत्रकार ने प्रस्तुत किया—

परार्थत्वाद् गुणानाम् ॥१६॥

[परार्थत्वाद्] पर—अन्य-प्रधान याग के लिए होने से [गुणानाम्] गुणों के=गुणविधियों के।

गुणविधि वाक्य, प्रधान यागों में द्रव्य (यागसाधन-सामग्री-द्रव्य), देवता आदि गुण का विधान करने के लिए होते हैं। यदि 'वैश्वदेव' शब्द को गुणविधि माना जाता है, तो वह अन्य आग्नेय आदि प्रधान यागों में 'विश्वदेव'-देवतारूप गुण का विधान करेगा। वहाँ 'अग्नि' आदि अन्य सात देवताओं के स्थान में 'विश्वदेव' एक देवता को लक्ष्य कर हविद्रव्य की आहुतियाँ दी जायेंगी। वैश्वदेव पर्व के प्रधान आठ यागों के लिए अग्नि-सोम-सविता आदि देवों के उद्देश्य से अष्टाकपाल आदि हविद्रव्यों का अलग-अलग विधान होने के कारण उन-उन द्रव्यों की आठ आहुतियाँ दी जाती हैं। पर अब गुणविधि मानने पर एक ही देवता 'विश्वदेव' के उद्देश्य से आहुति दिये जाने की स्थिति में अष्टाकपाल आदि हविद्रव्य के आधार पर याग का आवर्त्तन नहीं किया जा सकता। तात्पर्य है—देवता एक होने पर यदि आहवनीय हविद्रव्य अनेक हैं, तो उन सबको मिलाकर एक आहुति दे देने की शास्त्रीय[1] व्यवस्था है। ऐसी दशा में वैश्वदेव पर्व की आठ आहुतियों के स्थान में एक आहुति रह जायगी।

'वैश्वदेव' पर्व में कुल तीस आहुतियाँ होती हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण [१।६।३] में ये इस प्रकार बताई हैं—६ प्रयाज की, ६ अनुयाज की, ८ मुख्य याग की, २ आघार और २ आज्यभाग की; इस प्रकार तीस[2] आहुतियाँ होती हैं। ऐसी दशा में 'वैश्वदेव' को गुणविधि माने जाने पर मुख्य याग की आठ आहुतियों के

१. जैसे पौर्णमास में आग्नेय पुरोडाश, उपांशु याग और अग्निषोमीय पुरोडाश का विधान होने से प्रधान याग की तीन आहुतियाँ होती हैं, पर दर्श-इष्टि में ऐन्द्र दधि, ऐन्द्र पयः और उपांशु यागरूप में तीन का विधान होने पर भी दधि और पयः हविद्रव्यों (दही-दूध) का इन्द्र एक देवता होने से दोनों को मिलाकर एक आहुति दे दी जाती है।

२. द्रष्टव्य—तै० ब्रा० १।६।३॥ तथा मैत्रा० सं० १।१०।८॥

स्थान पर एक आहुति रह जाने से तीस की जगह तेईस ही आहुतियाँ रह जायेंगी, जो शास्त्रीय विधान के प्रतिकूल होगा। अतः वैश्वदेव को गुणविधि न मानकर याग का नामधेय मानना संगत होगा। ऐसी स्थिति अग्नि आदि आठ देवताओं के उद्देश्य से 'अष्टाकपाल' आदि आठ हविद्रव्यों की पृथक् एक-एक आहुति दिये जाने से सब प्रकार शास्त्रीय अनुकूलता बनी रहती है ॥१६॥ (इति वैश्वदेवादि-शब्दानां नामधेयताधिकरणम्—१०)।

(वैश्वानरेऽष्टत्वादीनामर्थवादताधिकरणम्, वैश्वानरेष्टयधिकरणं वा—११)

शिष्य जिज्ञासा करता है—तैत्तिरीय संहिता [२।२।५] में पाठ है—'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते' इत्यादि। यह वैश्वानर इष्टि, काम्येष्टि प्रकरण में पठित है। पुत्र के उत्पन्न होने पर वैश्वानर देवतावाले बारह कपालों में संस्कार किये गये (पकाये गये) पुरोडाश का निर्वाप[1] करे। उसी प्रसंग में आगे पाठ है—"**यदष्टाकपालो भवति गायत्रियैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति, यन्नवकपालस्त्रिवृतैवास्मिन् तेजो दधाति, यद्दशकपालो विराजैवास्मिन्नन्नाद्यं दधाति, यदेकादशकपालस्त्रिष्टुभैवास्मिन्निन्द्रियं दधाति, यद् द्वादशकपालो जगत्यैवास्मिन् पशून् दधाति, यस्मिन् जात एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव तेजस्वी अन्नाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति।**"

यहाँ आठ कपाल, नौ कपाल आदि में संस्कृत पुरोडाश का निर्वाप विभिन्न फलों का देनेवाला बताया है। यहाँ अष्टत्व आदि कपालों का विकल्प सन्देह का जनक है। क्या अष्टत्व आदि को गुणविधि माना जाय? अथवा अर्थवाद? विस्तृत विवेचन की भावना से सूत्रकार ने प्रथम पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—इन्हें गुणविधि मानना चाहिए, क्योंकि—

पूर्ववन्तोऽविधानार्थास्तत्सामर्थ्यं समाम्नाये ॥१७॥

[पूर्ववन्तः] पहले से ज्ञात अर्थ को कहनेवाले वाक्य [अविधानार्थाः]

---

१. 'निर्वाप' पद मीमांसा में पारिभाषिक जैसा है। गार्हपत्य अग्नि जहाँ स्थापित है, उसके पच्छिम की ओर किसी पात्रविशेष [लकड़ी, चमड़े या मिट्टी आदि के बने] में धान या जौ यज्ञिय उपयोग के लिए लाकर रक्खा जाता है। उस पात्र में से पुरोडाश बनाने योग्य अन्न का मन्त्रोच्चारणपूर्वक एक-एक मुट्ठी भरकर चार बार 'अग्निहोत्र हवणी' नामक पात्र में ग्रहण करना, उसका पुरोडाश तैयार कर निर्दिष्ट देवता के उद्देश्य से त्याग करना, अर्थात् अग्नि में आहुति देना,—इस सब प्रक्रिया का नाम 'निर्वाप' है।

विधान के लिए नहीं होते, अर्थात् वे विधायक न होकर अर्थवाद माने जाते हैं। परन्तु [तत्-सामर्थ्यम्] अज्ञात अर्थ के विधान का सामर्थ्य है, [समाम्नाये] अष्टाकपाल, नवकपाल आदि के समाम्नान में।

'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' वाक्य—पुत्र उत्पन्न होने पर बारह कपालों में संस्कृत पुरोडाश के निर्वाप का निर्देश करता है। आगे जो 'यदष्टाकपालो भवति' इत्यादि सन्दर्भ से आठ कपाल एवं नौ कपाल आदि में संस्कृत पुरोडाश के निर्वाप का निर्देश अन्य किसी वाक्य से प्रथम जाना हुआ नहीं है, यदि किसी अन्य वाक्य से जाना हुआ होता, तो यह निर्देश उस वाक्य का शेष=अर्थवाद माना जाता। इससे स्पष्ट होता है, यह सन्दर्भ वैश्वानर याग में प्रथम प्राप्त द्वादशकपाल होने के स्थान पर अष्टाकपालतारूप आदि गुण का विधान करता है। इसलिए इन्हें गुणविधि मानना उपयुक्त है।

विभिन्न संख्यावाले कपालों में संस्कृत पुरोडाश के निर्वाप का फल उक्त सन्दर्भ में पृथक्-पृथक् बताया है। उस-उस फल की कामना की इष्टि से आठ, नौ आदि संख्यारूप गुण का विधान यहाँ किया है। इस प्रकार द्वादश संख्या के साथ वैश्वानर याग में अष्ट, नव, दश, एकादश संख्या विकल्प को प्राप्त होती हुई गुणविधियाँ हैं। इनके फल क्रमशः पूत (८), तेजस्वी (९), अन्नाद्य (१०), इन्द्रियावी (११), पशुमान् (१२) हैं। वस्तुतः गुणविधिपक्ष में प्रत्येक संख्या-विशिष्ट वाक्य को गुणविधि मानने पर उत्तरवाक्य उसका अर्थवाद जानना चाहिए। अर्थवादोक्त फल भी फलरूप से मीमांसा में स्वीकृत है।[1] इसलिए अर्थ-वाद से प्राप्त होनेवाले उस-उस फल की कामना की दृष्टि से अष्टत्व आदि संख्या गुण का विधान वैश्वानर याग के अष्टत्व आदि विकल्प में मानना युक्त है॥१७॥

वैश्वानरयागविषयक विकल्प के सम्बन्ध में सूत्रकार ने सिद्धान्तपक्ष बताया—

गुणस्य तु विधानार्थेऽतद्गुणाः प्रयोगे स्युरनर्थका न हि तं प्रत्यर्थवत्ताऽस्ति॥१८॥

सूत्र में [तु] पद पूर्वपक्ष के निवारण के लिए है। [गुणस्य] अष्टाकपाल आदि वाक्य से, अष्टाकपाल पुरोडाश गुण के [विधानार्थे] विधान के लिए माने जाने पर [अ-तद्गुणाः] ये (अष्टाकपाल आदि) वैश्वानर याग के गुण नही होंगे; क्योंकि श्रुति में वैश्वानर याग की द्वादशकपालता प्रत्यक्षनिर्दिष्ट है—(=वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्)। अतः अष्टाकपाल आदि के [प्रयोगे] अन्य

१. द्रष्टव्य—मीमांसा सूत्र, १।२।१६; तथा इसका भाष्य।

याग का विधान करने में असमर्थ [illegible] से [स्युः] हो जायेंगे, ये—अष्टाकपाल आदि [अनर्थकाः] अनर्थक। [ि[illegible] योंकि [तं प्रति] अन्य याग-विधान के प्रति [अर्थवत्ता] प्रयोजनता=फलवत्ता [न-अस्ति] नहीं है, इन अष्टाकपाल आदि की।

काम्य इष्टियों के प्रकरण [तै० सं० २।२।५] में प्रजाकाम व पशुकाम व्यक्ति के लिए वैश्वानर याग का निर्देश है। बारह कपालों में पकाये पुरोडाश हविद्रव्य से इस याग का अनुष्ठान किया जाता है। पुत्र-फल के उत्पन्न होने पर 'अष्टाकपाल' आदि का उल्लेख है। यहाँ केवल कपाल-संख्या का विकल्प है। हवि-द्रव्य वही रहता है, उसमें कोई अन्तर नहीं। केवल कपाल-संख्या-भेद के आधार पर ये वाक्य किसी अन्य याग के विधान का सामर्थ्य नहीं रखते। अष्टत्व आदि संख्यायें द्वादश संख्या में अन्तर्भुक्त हैं। प्रथम पठित श्रुतिवाक्य—'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' से द्वादशकपाल वैश्वानर प्रधान याग का साक्षात् निर्देश है। अष्टाकपाल आदि वाक्यों से इसमें किसी द्रव्य व देवता आदि गुण की प्राप्ति ही नहीं। ऐसी दशा में यदि इन्हें मुख्य वैश्वानर इष्टि का स्तावक अर्थवाद नहीं माना जाता, तो ये वाक्य अनर्थक हो जाते हैं।

इनके—पूत, तेजस्वी, अन्नाद्य आदि—फलविशेष-निर्देश के आधार पर भी इनकी अर्थवत्ता=फलवत्ता या प्रयोजनता स्वीकार नहीं की जा सकती; क्योंकि आठ-नौ आदि संख्याओं के साथ जो यह फल-निर्देश है, वह सब द्वादशकपाल वैश्वानर याग का ही स्तावक है। आठ, नौ, दस, ग्यारह संख्या, बारह संख्या में अन्तर्निहित हैं, उनसे अतिरिक्त इनका स्वतन्त्र रूप से कोई अस्तित्व नहीं। इसलिए यह फलनिर्देश मुख्य काम्य—पुत्र व पशुरूप फल की स्तुति प्रस्तुत करता है। वे पुत्र-पशुरूप फल इस प्रकार के होते हैं। यह द्वादशकपाल वैश्वानर याग की स्तुति है; अतः ये अष्टाकपाल आदि अर्थवाद हैं, गुणविधि नहीं।

अर्थवाद का स्वार्थ कुछ नहीं होता; वह मुख्य विधि का स्तावक होता है। मीमांसाशास्त्र में अर्थवाद के साथ कथित फल, उसी दशा में फलरूप से स्वीकार किया जाता है, जब मुख्य विधिवाक्य के साथ फल का निर्देश न हुआ हो। उस दशा में तत्सम्बन्धी अर्थवाद के साथ पठित फल को मुख्य विधि का फल मान लिया जाता है ॥१८॥

शिष्य यथार्थ को न समझता हुआ पुनः आशंका करता है—बारह और आठ आदि संख्यायें परस्पर नितान्त भिन्न हैं, तब अष्टाकपाल आदि को द्वादशकपाल वाक्य का शेष अर्थात् अर्थवाद कहना युक्त प्रतीत नहीं होता। सूत्रकार ने आशंका को सूत्रित किया—

तच्छेषो नोपपद्यते ॥१९॥

[तत्-शेषः]द्वादशकपाल वाक्य का, अष्टाकपाल आदि वाक्य शेष=अर्थवाद है, यह [न] नहीं [उपपद्यते] उपपन्न होता।

'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' इस विधिवाक्य का, 'अष्टाकपालो भवति' इत्यादि वाक्य अर्थवाद है, यह कथन युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता; क्योंकि 'द्वादशकपाल' पद में स्थित द्वादश (=बारह) संख्या के साथ 'अष्टाकपाल, नवकपाल' आदि पदों में स्थित आठ, नौ आदि संख्याओं का कोई सम्बन्ध नहीं है। तब 'अष्टाकपाल' आदि वाक्य पहले वाक्य के शेष=अर्थवाद हैं, उसकी स्तुति करनेवाले हैं, यह कैसे उपपन्न होगा?

यहाँ यह याद रखना चाहिए—प्रस्तुत प्रसंग में 'द्वादशकपाल' अथवा 'अष्टा-कपाल' आदि पदों का अर्थ—बारह कपालों एवं आठ कपालों आदि में पकाया गया—पुरोडाश है। तात्पर्य है—'द्वादशकपाल' पद, द्वादश कपालों में संस्कृत किये गये—पुरोडाश हविद्रव्य का वाचक है। इसी प्रकार 'अष्टाकपाल' आदि पदों में समझना चाहिए ॥१९॥

आचार्य सूत्रकार ने आशंका का समाधान किया—

अविभागाद् विधानार्थे स्तुत्यर्थेनोपपद्येरन् ॥२०॥

[अविभागात्] अविभक्त—सम्मिलित—अन्तर्हित होने से अष्ट आदि संख्याओं के [विधानार्थे] विधायक वाक्यगत द्वादश संख्या में, उनके निर्देश [स्तुत्यर्थेन] स्तुति के प्रयोजन से [उपपद्येरन्] उपपन्न हो जाएँगे।

'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' यह वैश्वानर याग का विधायक वाक्य है। यहाँ 'द्वादशकपाल' पद में पठित द्वादश (बारह) संख्या के अन्तर्गत आ जाती हैं—आठ, नौ, दस, ग्यारह संख्या, जो उक्त विधायक वाक्य के आगे 'अष्टाकपालः, नवकपालः' आदि वाक्यों में पठित हैं। साक्षात् श्रुतिबोधित विधायक वाक्य की उपस्थिति में हविद्रव्य के एक होने के कारण ये वाक्य ('अष्टाकपालः' आदि) अन्य वैश्वानर याग का विधान करने में असमर्थ रह जाते हैं। अनन्यगतिक होने से इनकी सार्थकता का एक ही मार्ग है—इनको वैश्वानर विधिवाक्य का अर्थवाद माना जाय। आठ आदि संख्यायें (८-११) क्योंकि बारह संख्या के ही अवयव हैं, इसलिए उनके नाम पर की गई स्तुति अवयवी=बारह संख्या की ही समझनी चाहिए। जैसे पहिये के अवयवों की स्तुति—इसके पुट्ठी, अरे और नेमि बड़े दृढ़ और सुन्दर हैं—इस प्रकार की जाती है, वह पहिए की स्तुति है। तथा, जैसे पैदल, घुड़सवार, हाथीसवार, रथसवार सेनानियों का समूह सेना है,—जब घोड़े, हाथी, रथ व पैदल सिपाहियों की प्रशंसा व उनके कार्यकलापों की स्तुति की

जाती है, तो वह सेना के अवयवभूत हाथी-रथ-घोड़ों की नहीं, अपितु उनके समूह सेना की स्तुति होती है। आजकल सेना के अंगों में मुख्य नौसेना, वायुसेना एवं स्थलसेना की गणना होती है। इनमें दोनों प्रकार के जहाज़ व पैदल सेना के अन्य विशिष्ट साधनों की स्तुति व निन्दा, उन अंगों की न होकर सामूहिक सेना की मानी जाती है। इसी प्रकार वैश्वानर द्वादशकपाल अङ्गी के, अङ्गभूत अष्टकपाल आदि की स्तुति को अङ्गी की स्तुति ही समझना चाहिए ॥२०॥

अष्टाकपाल पुरोडाश आदि में कामनाविशेष के आधार पर इन्हें स्वतन्त्र विधि माने जाने की शिष्य-आशंका को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

कारणं स्यादिति चेत् ॥२१॥

[कारणम्] कारण-विशेष प्रवृत्तिनिमित्त ब्रह्मवर्चस आदि [स्यात्] है, अष्टाकपाल आदि के स्वतन्त्र विधि माने जाने का, [इति चेत्] ऐसा यदि कहा जाय तो (यह उपयुक्त न होगा; अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)।

'अष्टाकपाल' आदि वाक्य स्वतन्त्र याग के विधायक हैं, इस विचार का निश्चायक कारण उसी प्रसंग में विद्यमान है। वह है—ब्रह्मवर्चस आदि विशेष फल की कामना, और यागानुष्ठान से फलप्राप्ति का निर्देश। तैत्तिरीय संहिता [२।२।५] में स्पष्ट निर्देश है—ब्रह्मवर्चस की कामनावाले का अष्टाकपाल पुरोडाश होता है, तेजस् की कामनावाले का नवकपाल, अन्नाद्य की कामना-वाले का दशकपाल, ऐन्द्रिय कामनावाले का एकादशकपाल तथा पशुकामनावाले का द्वादशकपाल। 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' वाक्य में द्वादशकपाल पुरोडाश का विधान केवल पशुकामनावाले के लिए है। अष्टाकपाल पुरोडाश आदि इससे भिन्न ब्रह्मवर्चस, तेज आदि कामनावालों के लिए हैं, इस कारण इन्हें कामविधि मानना संगत है। इससे यह भी लाभ होगा कि इन्हें गुणविधि मानने में जो पुरोडाश का आनर्थक्य प्राप्त होता है, वह न होगा; और लक्षणावृत्ति से इनके द्वारा द्वादशकपाल की स्तुति की जो कल्पना की जाती है, वह भी नहीं करनी पड़ेगी। अतः 'अष्टाकपाल' आदि को स्वतन्त्र कामविधि मानना चाहिए ॥२१॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त मान्यता को शास्त्रीय औचित्य न देकर उक्त आशंका का समाधान किया

आनर्थक्यादकारणं कर्त्तुर्हि कारणानि गुणार्थो हि[1] विधीयते ॥२२॥

[आनर्थक्यात्] अनर्थक हो जाने से 'अष्टाकपाल' आदि वाक्यों के, [अकारणम्] कारण नहीं हैं, वे अष्टाकपाल आदि पूत आदि के [कर्त्तुः] कर्त्ता

१. 'हि' इति नास्ति, 'गुणार्थे विधीयन्ते' इति पाठः; रामेश्वरसूरि विरचिता सुबोधिनी व्याख्या। अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

के फल के प्रति [हि] क्योंकि, [कारणानि] कारण होते हैं—गुण, [गुणार्थः] स्तुतिरूप गुण प्रयोजन के लिए [हि] ही [विधीयते] विधान किये जाते हैं।

'यदि 'यदष्टाकपालो भवति' इत्यादि वाक्यों को स्वतन्त्र काम्य विधि माना जाता है, तो यहाँ विभिन अनेक वाक्य हो जायेंगे, परन्तु संहिता [तै०सं०२।२।५] में इसको एक वाक्य के रूप में पढ़ा है। वहाँ पाठ है—**"वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते यदष्टाकपालो भवति"** यहाँ से प्रारम्भ होकर **'यद् द्वादशकपालो भवति जगत्यैवास्मिन् पशून् दधाति, यस्मिन् जाते एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव तेजस्व्यन्नाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति।"** इसके मध्य पठित 'अष्टाकपाल' आदि को विधिवाक्य मानने पर वाक्यभेद-दोष स्पष्ट है,–'अष्टाकपाल-नवकपाल' आदि वाक्यों का द्वादशकपाल वैश्वानर याग के साथ तब सम्बन्ध न रहेगा। वाक्यभेद होने पर प्रसंग के उपक्रम व उपसंहार की एकवाक्यता का भी भङ्ग हो जायगा।

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने की बात है कि 'अष्टाकपाल' आदि को गुणविधि मानने पर ये वाक्य वैश्वानर याग के द्वादश के स्थान पर अष्टत्व आदि गुण का विधान करेंगे, तो अष्टाकपाल आदि के पूतत्व आदि फल यागकर्त्ता से ही सम्बद्ध माने जायेंगे। पुत्र की कामना से वैश्वानर याग का कर्त्ता तो जायमान पुत्र का पिता है। ऐसी स्थिति में वास्तविकता का सर्वथा विपर्यास हो जायगा, क्योंकि प्रस्तुत प्रसंग में पूतत्व आदि फल जातपुत्र के कहे गये हैं। तब यागकर्त्ता के साथ पूतत्व आदि फलों का सम्बन्ध न होने से 'अष्टाकपाल' आदि वाक्यों को वैश्वानर याग का गुणविधि मानना व्यर्थ होगा; क्योंकि गुणविधि मुख्य विधि-वाक्य का उपकारक होता है; यहाँ यह सम्भव नहीं। ऐसी अवस्था में इन वाक्यों का आनर्थक्य स्पष्ट हो जाता है। इनकी सार्थकता के लिए इसके सिवाय अन्य कोई मार्ग नहीं रह जाता कि इन अष्टाकपाल आदि वाक्यों को द्वादशकपाल वैश्वानर याग का स्तुतिरूप अर्थवाद माना जाय।

वैश्वानर याग के अनुष्ठान से अनुष्ठाता के घर उत्पन्न हुआ पुत्र पूतत्व आदि से सम्पन्न होता है। इसी तथ्य को संहिता में बताया—इस उत्पन्न पुत्र को जिस कारण गायत्री द्वारा पवित्र करता है, उससे वह पूत = पवित्र है। जिस कारण त्रिवृत् द्वारा इसमें तेज को स्थापित करता है, उससे यह तेजस्वी है। जिस कारण विराट् से इसमें अन्नाद्य को स्थापित करता है, उससे यह अन्नाद्य है। जिस कारण त्रिष्टुप् से इसमें इन्द्रिय को स्थापित करता है, उससे यह इन्द्रियावी—श्रेष्ठ इन्द्रियोंवाला होता है। जिस कारण जगती से इसमें पशुओं को स्थापित करता है, इससे वह पशुमान्[1] होता है। इस प्रकार अष्टाकपाल आदि कामनामूलक

---

१. संहिता के इस विवरण में गायत्री, विराट्, त्रिष्टुप्, जगती छन्दों के नाम हैं। त्रिवृत्—तीन आवृत्तिरूप 'स्तोम' का नाम है। एक साम गान, तीन

विधिवाक्य नहीं हैं। यदि इन्हें विधिवाक्य का स्तुतिरूप अर्थवाद भी न माना जाय, तो ये अनर्थक ही रह जाएँगे। स्पष्ट है—ब्रह्मवर्चस आदि के—अष्टाकपाल आदि कारण नहीं हैं। अथवा यह कहें कि ब्रह्मवर्चस आदि—अष्टाकपाल आदि के फल नहीं हैं। तात्पर्य है—**ब्रह्मवर्चसकामोऽष्टाकपालेन पुरोडाशेन यजेत'**—ब्रह्मवर्चस की कामनावाला अष्टाकपाल पुरोडाश से यजन करे—इस प्रकार का गुणविधिपरक अभिप्राय इन वाक्यों का सम्भव नहीं है। इसलिए 'यदष्टाकपालो भवति' इत्यादि वाक्यों को अर्थवाद मानना ही शास्त्रसम्मत है॥२२॥ (इति वैश्वानरेऽष्टत्वाद्यर्थवादताऽधिकरणम्—११)।

(यजमानशब्दस्य प्रस्तरादिस्तुत्यर्थताधिकरणम्, तत्सिद्ध्याधिकरणं वा—१२)

शिष्य जिज्ञासा करता है—गत सन्देहों का समाधान हो जाने पर 'यजमानः प्रस्तरः, यजमान एककपालः' इत्यादि वाक्यों में सन्देह है—क्या इन्हें गुणविधि माना जाय, अथवा अर्थवाद? प्रस्तर यजमान है, एवं एककपाल में संस्कृत पुरोडाश यजमान है,—ये वाक्य प्रस्तर में एवं एककपाल-संस्कृत पुरोडाश में यजमानरूप गुण का विधान करते प्रतीत होते हैं। यहाँ पहले से अविदित अर्थ का, अर्थात् अपूर्व अर्थ का विधायक होने से इन वाक्यों को गुणविधि क्यों न माना जाय? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तत्सिद्धिः ॥२३॥

[तत्-सिद्धिः] उससे=प्रस्तर व एककपाल-संस्कृत पुरोडाश से यजमान के कार्य की सिद्धि होती है।

गौण अर्थ के आश्रय से प्रस्तर व एककपाल में संस्कृत पुरोडाश को यजमान कहकर उसकी स्तुति की है, इस कारण ये अर्थवाद-वचन हैं।

दर्शपौर्णमास इष्टि में वेदि पर बिछाने के लिए खड़ी हुई कुशा को मुट्ठी में

ऋचाओं पर गाया जाता है। इसकी तीन आवृत्तियाँ की जाती हैं, जिनका नाम 'पर्याय' है। पर्यायों में मन्त्रावृत्ति के संख्याभेद के आधार पर किये जानेवाले गान का नाम 'स्तोम' है। छन्दों में गायत्री छन्द त्रिपाद २४ अक्षर का, विराट् (पंक्ति) चतुष्पाद ४० अक्षर का, त्रिष्टुप् चतुष्पाद ४४ अक्षर का, जगती चतुष्पाद ४८ अक्षर का होता है। द्वादशकपाल वैश्वानर-इष्टि में इनके उपयोग के वैज्ञानिक आधार को समझने का प्रयास करना चाहिए।

इस विषय में अधिक जानकारी के लिए द्रष्टव्य है—शाबरभाष्य का हिन्दी अनुवाद, युधिष्ठिर मीमांसक-कृत; पृष्ठ १४१–४३॥

बाँधकर चार मुट्ठी कुशा 'बर्हिर्देवसदनं दामि' [मै० सं० १।१।२] मन्त्र का उच्चारण करते हुए काटी जाती हैं। इनमें पहली मुट्ठी की कुशाओं का 'प्रस्तर' है। इसे एक ओर सुरक्षित रख, शेष तीन मुट्ठी कुशाओं को वेदि में इस प्रकार बिछा दिया जाता है कि उनका अग्रभाग पूर्व की ओर रहे। इन कुशाओं के ऊपर दो कुशातृण आड़े, अर्थात् उत्तर-दक्षिण रख दिये जाते हैं, जिनमें एक पूर्व और दूसरा पच्छिम की ओर रक्खा जाता है। इनके ऊपर पहली मुट्ठी की काटी हुई 'प्रस्तर'-संज्ञक कुशाओं को—उनका सिरा पूर्व की ओर कर—बिछा दिया जाता है। इन दोनों बिछावनों के बीच में आड़े रक्खे गए दो तृणों का नाम 'विधृति' इस कारण है कि 'प्रस्तर'-संज्ञक बिछावन को अपने ऊपर धारण कर दोनों बिछावनों को आपस में मिलने नहीं देते, क्योंकि इष्टि के सम्पन्न हो जाने पर 'प्रस्तर'-संज्ञक कुशाओं को होमाग्नि में आहुत कर दिया जाता है। प्रस्तर का उपयोग यज्ञिय पात्र–जुहू, उपभृत्, स्रुचा आदि को–रखने के लिए होता है। प्रस्तर पर इनके रक्खे जाने से इनमें लगा हव्य-द्रव्य प्रस्तर पर लग जाता है। इसीलिए इसे इष्टि सम्पन्न होने पर होमाग्नि में आहुत कर दिया जाता है, ताकि हविद्रव्य अन्यथा नष्ट न हो। इसी प्रकार एककपाल में संस्कृत पुरोडाश इष्टि सम्पन्न हो जाने पर होमाग्नि में त्याग दिया जाता है।

अब विचारना चाहिए, यदि इन्हें गुणविधि माना जाता है, तो प्रस्तर-कार्य में यजमानगुण का विधान होगा, अथवा दोनों के सामानाधिकरण्य से यजमान में प्रस्तरकार्य-रूप गुण का विधान होगा? इनमें पहला विधान इसलिए सम्भव नहीं कि यजमान के द्वारा किए जानेवाले अनुष्ठेय कर्म का प्रस्तर द्वारा किया जाना असम्भव है। दूसरा विधान इसलिए संगत नहीं कि प्रस्तर-कार्य यजमान द्वारा किए जाने पर जुहू-स्रुवा-उपभृत् आदि यज्ञिय पात्र यजमान के देह पर रक्खे जाएँगे; यजमान द्वारा अनुष्ठेय कार्य कौन करेगा? तथा अन्त में इष्टि सम्पन्न होने पर यजमान को होमाग्नि में आहुत कर दिया जायगा। तब इष्टि का स्वरूप व अस्तित्व ही नष्ट हो जायगा। अतः इन वाक्यों को गुणविधि कहना सर्वथा असंगत है। इष्टि के सम्पन्न होने पर पुरोडाश को भी होमाग्नि में आहुत कर दिया जाता है। तब क्या यजमान को भी आहुत कर दिया जाएगा? फलतः ये वाक्य अर्थवाद हैं, यही संगत है। प्रस्तर या पुरोडाश यजमान के इष्टि-सम्बन्धी कार्य में उत्तम सहयोग देते हैं; इसी आधार पर यजमान कहकर उनकी स्तुति की गई है। ऐसा मानने पर ही प्रस्तर-सम्बन्धी तथा पुरोडाश-सम्बन्धी इष्टिगत कार्य—यज्ञिय पात्रों का रक्खा जाना, एककपाल में संस्कृत होना तथा अन्त में आहुत होना आदि—यथायथ सम्पन्न हो सकते हैं।

इनको नामविधि कहना भी संगत नहीं। प्रस्तर यजमान का अथवा यजमान प्रस्तर का नामधेय है; इसी प्रकार यजमान पुरोडाश का अथवा पुरोडाश यजमान

का नामधेय है, यह भी सम्भव नहीं, क्योंकि इन पदों की भिन्नार्थता सर्वत्र ज्ञात है, जो नामधेय माने जाने में सर्वथा बाधक है। इस प्रकार इन वाक्यों का अर्थवाद होना निश्चित होता है ॥२३॥ (इति यजमानशब्दस्य प्रस्तरादिस्तुत्यर्थताऽधिकरणम्—१२)।

(अग्न्यादिशब्दानां ब्राह्मणादिस्तुत्यर्थताऽधिकरणम्, जात्यधिकरणं वा—१३)

शिष्य जिज्ञासा करता है—संहिता एवं ब्राह्मणग्रन्थों में 'आग्नेयो वै ब्राह्मणः' [तै० सं० २।३।३॥ तै० ब्रा० २।७।३॥ ताण्ड्य ब्रा० १५।४।८], 'ऐन्द्रो वै राजन्यः' [ताण्ड्य ब्रा० १५।४।८॥ तै० ब्रा० ३।८।२३], 'वैश्वदेवो हि वैश्यः' [तै० ब्रा० २।७।२] इत्यादि वाक्य पठित हैं। इन्हें तो गुणविधि मानना चाहिए। ये अपूर्व अर्थ के विधायक होंगे। ये वाक्य यथाक्रम—ब्राह्मण के साथ अग्नि देवता के सम्बन्ध का, क्षत्रिय के साथ इन्द्र देवता के सम्बन्ध का तथा वैश्य के साथ विश्वेदेव देवता के सम्बन्ध का—विधान करेंगे। तब इन्हें गुणविधि क्यों न माना जाय? अर्थवाद मानने पर तो ये अनर्थक रह जाएँगे, क्योंकि तब इनका कोई सामञ्जस्य नहीं बैठता। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

जातिः ॥२४॥

[जातिः] जन्म अर्थात् उत्पत्ति समान होने के कारण गुणभूत अर्थ के आधार पर यहाँ ब्राह्मण आदि को आग्नेय आदि कहकर उनकी स्तुति की गई है; अतः ये अर्थवाद हैं।

इस विषय की स्पष्टता के लिए तैत्तिरीय संहिता [७।१।१] का प्रसंग द्रष्टव्य है। वहाँ बताया है, प्रजापति के किस अंग से कौन-कौन अर्थ उत्पन्न हुए। उन्हें निम्न प्रकार जानना चाहिए—

१. **प्रजापति के मुख से**—त्रिवृत् स्तोम, अग्नि देवता, गायत्री छन्द, रथन्तर नामक साम, मनुष्यों में ब्राह्मण, और पशुओं में अज (बकरा)। ये मुख से उत्पन्न होने के कारण मुख्य हैं। यह इनके पारस्परिक सम्बन्ध का द्योतक है।

२. **प्रजापति के उर (छाती) व बाहुओं से**—पञ्चदश स्तोम, इन्द्र देवता, त्रिष्टुप् छन्द, बृहत्-नामक साम, मनुष्यों में राजन्य—क्षत्रिय, तथा पशुओं में अवि (—भेड़)। छाती और बाहुओं से उत्पन्न होने के कारण ये वीर्यवान्, शक्तिशाली व अतिशय सामर्थ्य के प्रतीक हैं। उत्पत्ति का समान कारण, इनके पारस्परिक सम्बन्ध का परिचायक है।

३. **प्रजापति के मध्यभाग ऊरुओं (जंघाओं) से**—प्रथम सप्तदश स्तोम, विश्वेदेव देवता, जगती छन्द, वैरूप-नामक साम, मनुष्यों में वैश्य और पशुओं में गाय। जंघाओं से उत्पन्न होने के कारण—जंघा जैसे शरीर का आधार हैं, ऐसे

ही समाज-शरीर का अन्नाधान के कारण आधार है। यह आर्थिक दृष्टि से समाज का मेरुदण्ड है, इसीलिए समाज में सदा प्रतिष्ठित है।

संहिता का यह प्रसंग आलंकारिक रूप में जिस प्रकार महत्त्वपूर्ण सामाजिक संघटन का प्रतीक है, वहाँ वेद के उन मन्त्रों का वास्तविक अर्थ समझने में पूर्ण सहयोगी है, जिन मन्त्रों में देवता का साक्षात् स्पष्ट निर्देश नहीं रहता। वहाँ देवता के इन सहयोगियों (स्तोम, छन्द आदि) के सहारे देवता को जानने का प्रयास किया जाता है, क्योंकि देवता का ज्ञान मन्त्रार्थ को समझने का मुख्य आधार है। निरुक्तकार यास्क ने सप्तम अध्याय [खण्ड, ८—११] में संहिता की भावना के अनुरूप उक्त पदार्थों का विशेष प्रकार से वर्गीकरण प्रस्तुत किया है।

संहितागत उक्त वर्गीकरण के आधार पर 'आग्नेयो वै ब्राह्मणः' इत्यादि वाक्यों द्वारा अग्नि-सम्बन्ध से ब्राह्मण की तेजस्विता, क्षत्रिय के—इन्द्र-सम्बन्ध से—शक्ति-बल व प्रशासन-सामर्थ्य, तथा विश्वेदेव देवता के सम्बन्ध से वैश्य के अर्थाधानता की प्रशंसा की गई। इसलिए ये स्तुति-रूप अर्थवादवाक्य हैं ॥२४॥ (इति आग्नेयादिशब्दानां ब्राह्मणादिस्तुत्यर्थताऽधिकरणम्—१३)।

(यजमानादिशब्दानां यूपस्तुत्यर्थाऽधिकरणम्, सारूप्याधिकरणं वा—१४)

शिष्य जिज्ञासा करता है—'यजमानो यूपः' [का० सं० २६।६], 'आदित्यो यूपः' [तै० ब्रा० २।१।५] इत्यादि वाक्यों में सन्देह है, क्या इन्हें गुणविधि माना जाय? अथवा अर्थवाद? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

सारूप्यात्[1] **॥२५॥**

[सारूप्यात्] समान रूप होने से यूप को यजमान कहकर स्तुति की गई है। तेजस्विता गुण से यूप को आदित्य कहा गया है, अतः यह स्तुतिरूप अर्थवाद है।

पशुबन्धन के लिए यूप की स्थापना होती है, यजमान याग का अनुष्ठाता है। 'यजमानो यूपः' यहाँ 'यजमान' और 'यूप' दोनों समानाधिकरण पद हैं। यहाँ गुणविधि मानने पर यजमान में यूपगुण का, अथवा यूप में यजमानगुण का विधान प्राप्त होता है, जो दोनों रूपों में अशक्य है। यथाक्रम न यजमान में पशु-बन्धन शक्य है, और न यूप में याग का अनुष्ठान किया जाना। यूप ऊँचाई आदि (आरोह-परिणाम=लम्बाई-चौड़ाई आदि) में पुरुष के प्रमाण का बनाया जाता है। इसी समानता से यूप को यजमान कहकर उसकी स्तुति की गई है। यूप बन जाने पर 'देवस्य त्वा' [कात्या० श्रौ०, ६।३।२] इत्यादि मन्त्र को बोलते हुए उसे

१. 'सारूप्यम्' पाठ है, रामेश्वर सूरि विरचित 'सुबोधिनी' व्याख्या में।

घृत से अभ्यक्त किया (चुपड़ा) जाता है, इससे यूप में चमक आ जाती है। इसी तेजस्विता की समानता से यूप को आदित्य कहकर उसकी स्तुति की गई है। अतः ये स्तुतिरूप अर्थवादवाक्य हैं ॥२५॥ (इति यजमानादिशब्दानां यूपस्तुत्यर्थताधिकरणम्—१४)।

(अपश्वादिशब्दानां गवादिप्रशंसाऽधिकरणम्, प्रशंसाधिकरणं वा—१५)

शिष्य जिज्ञासा करता है—'अपशवो वा अन्ये गो-अश्वेभ्यः पशवो गो अश्वाः' [तै० सं० ५।२।९], 'अयज्ञो वा एष योऽसामा' [तै० सं० १।५।७], 'असत्रं वा एतद् यदच्छन्दोयम्' [तै० सं० ७।३।६, ८] इत्यादि वाक्यों में सन्देह है, क्या ये गुणविधि हैं ? अथवा अर्थवाद ? अपूर्व विधान होने से इन्हें गुणविधि मानना क्या युक्त न होगा ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

प्रशंसा ॥२६॥

[प्रशंसा] गाय-घोड़े से अन्य अजा-महिषी को अपशु कहकर गाय-घोड़े की प्रशंसा—स्तुति की गई है, अतः यह अर्थवाद है।

तैत्तिरीय संहिता के उक्त उद्धृत वाक्यों में यथाक्रम अन्य पशुओं की निन्दा कर उनके मुक़ाबले में गो-अश्व की प्रशंसा की गई है। सामरहित यज्ञ की निन्दा कर उनके साम्मुख्य में सामयुक्त यज्ञ की प्रशंसा की है। छन्दोम-संज्ञक स्तोमों से रहित सत्रों की निन्दा कर छन्दोम-संज्ञक स्तोमों से युक्त सत्रों की प्रशंसा के लिए यह वाक्य है। अतः ये सब स्तुतिरूप अर्थवाद हैं।

यदि इन्हें गुणविधि माना जाता है, तो गो-अश्व से अन्य अज-महिष आदि में अपशुत्व का विधान होगा, जो नितान्त असंगत व अस्वीकार्य है। इसी प्रकार सामरहित दर्शपौर्णमास आदि में अयज्ञत्व प्राप्त होकर उनके विधायक वाक्य अफल हो जायेंगे; यह अशास्त्रीय होगा। ऐसे ही छन्दोम नामक स्तोमों से रहित सत्रों के असत्र होने का विधान मानने पर उनके विधायक वाक्य निष्प्रयोजन हो जायेंगे; जो अशास्त्रीय होगा। यह अनर्थ प्रसक्त हो जाने के कारण इन्हें गुणविधि मानना अयुक्त होगा। ये ऐसे ही वाक्य हैं, जैसे लोक में कहा जाता है—'जो घृतरहित है, वह भोजन नहीं है; जो मलिन है, वह वस्त्र नहीं है'। यह भोजन में घृत होने और वस्त्र के स्वच्छ होने की प्रशंसामात्र है।[1] यहाँ अज आदि अन्य

---

१. अभी भट्टिकाव्य का एक श्लोक याद आ गया, जिसमें ऐसे ही लौकिक उदाहरण हैं, तथा पद्य में 'एकावली' अलंकार है। श्लोक है—

पशुओं की निन्दा में वास्तविक तात्पर्य न होकर गो-अश्व आदि की प्रशंसा द्योतन करना मुख्य तात्पर्य है ॥२६॥ (इति अपश्वादिशब्दानां गवादिप्रशंसार्थताधिकरणम्—१५)।

(बाहुल्येन सृष्टिव्यपदेशाधिकरणम्, भूमाधिकरणं वा—१६)

शिष्य जिज्ञासा करता है—'सृष्टीरुपदधाति' [तै० सं० ५।३।४] वाक्य संहिता में पठित है। इसे गुणविधि माना जाय, अथवा अर्थवाद? यह सन्देह है। अपूर्व अर्थ का विधायक होने से इसे गुणविधि क्यों न माना जाय? सूत्रकार ने समाधान किया—

भूमा ॥२७॥

[भूमा] उक्त प्रकरण में 'सृज्' धातुयुक्त मन्त्रों के बाहुल्य से यह वाक्य उस प्रकरण में पठित 'सृज्' धातुरहित मन्त्रों द्वारा भी इष्टकाओं के उपधान का विधान करता है।

'सृष्टीरुपदधाति' वाक्य में 'सृष्टीः' पद 'सृष्टि' पद के द्वितीया बहुवचन का रूप है। 'सृष्टि' पद 'सृज्' धातु से—'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' [महाभाष्य, ३।३।१०८] इस नियम के अनुसार—'श्तिप्' प्रत्यय होकर सिद्ध होता है। इसका तात्पर्य है, जहाँ धातु का निर्देश करना हो, वहाँ विभक्तिपूर्वक निर्देश किया जा सके, इस सुविधा के लिए धातु के आगे 'इक्' अथवा 'श्तिप्' प्रत्यय लगाकर उसे पद का रूप दे दिया जाता है। तब उसका विभक्त्यन्त प्रयोग करने में कोई अड़चन नहीं रहती। फलस्वरूप प्रस्तुत प्रसंग में 'सृष्टि' पद से केवल 'सृज्' धातु का निर्देश करना अभिप्रेत है। वह 'सृज्' धातु—'असृज्यत, असृज्येताम्, असृज्यन्त' इत्यादि रूप से जिन मन्त्रों में पठित है, वे सृष्टिमत् मन्त्र'—अर्थात् 'सृज' धातु वाले मन्त्र—कहे जाते हैं। यागनिमित्त स्थण्डिल या वेदि बनाने के लिए इष्टकाओं के उपधान (= रखने) में इन मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। यहाँ 'सृष्टिमत्' पद में—पाणिनीय [४।४।१२५] नियम के अनुसार उपधान अर्थ में, यदि

न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजम्,
न पङ्कजं तद् यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलम्,
न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः॥

वह जल नहीं, जहाँ सुन्दर कमल न खिले हों; वह कमल नहीं, जिस पर भौंरे न लिपटे हों; वह भौंरा नहीं, जो सुन्दर गूँज न रहा हो; वह गुञ्जन नहीं, जो मन को हरण न करे।

उपधानीय इष्टकाएँ हैं, तो—'यत्' प्रत्यय होकर 'मतुप्' का लोप हो जाता है; तथा 'यत्' प्रत्यय का भी छान्दस लोप होकर वाक्य के 'सृष्टि' पद का अर्थ वे इष्टकाएँ हैं, जो वेदि बनाने के लिए उक्त मन्त्र बोलकर रक्खी जाती हैं।

ये मन्त्र शुक्ल[1] यजुर्वेद माध्यन्दिनीय शाखा के १४ अध्याय की २८—३१ तक की चार कण्डिकाओं में पठित हैं। इनकी संख्या कुल १७ है। 'एकयाऽस्तुवत' से प्रारम्भ होकर 'त्रयस्त्रिंशत्' संख्या तक विषम संख्या—'एक, तीन, पाँच, सात' आदि सत्रह बनती हैं। यह रहस्य यहाँ अन्वेष्य है कि एक से तेतीस तक की सत्रह विषम संख्याओं के साथ पठित मन्त्रों का आधार क्या है? प्रस्तुत प्रसंग में केवल इतना जानना है कि इन सत्रह मन्त्रों में से पहले, चौदहवें और सत्रहवें में 'सृज्' धातु का 'असृज्यत'[2] आदि कोई रूप प्रयुक्त नहीं है; शेष सबमें उपयुक्त रूप प्रयुक्त हैं।

ऐसी दशा में यदि 'सृष्टीरुपदधाति' वाक्य को गुणविधि माना जाता है, तो इसका अर्थ होगा—सृष्टि (='सृज्' धातुयुक्त) मन्त्रवाली इष्टकाओं को रखता है। इष्टकाओं के अपने रूप में कोई भेद नहीं है कि इस रूपवाली इष्टकाएँ सृज् धातु (सृष्टि) मन्त्रवाली हैं, और इस प्रकार की सृष्टिमन्त्रवाली नहीं हैं। तब उक्त वाक्य से सृष्टि (='सृज्' धातुयुक्त) मन्त्ररूप गुण का विधान मानने पर इष्टकाओं के उपधान में सृष्टिलिङ्गवाले मन्त्र ही प्राप्त होंगे; शेष अनर्थक हो जायेंगे। तात्पर्य है—यज्ञाग्नि के लिए स्थण्डिल (—वेदि) निर्माण-निमित्त आवश्यक सभी इष्टकाओं का सृष्टिलिङ्ग मन्त्रों से उपधान हो जाने पर उस प्रकरण में पठित सृष्टिलिङ्गरहित मन्त्र निष्प्रयोजन हो जायेंगे। यदि सृष्टिलिङ्ग-मन्त्रों को सृष्टिलिङ्गरहित मन्त्रों का उपलक्षण माना जाता है, अर्थात् प्रकरण-पाठ-सान्निध्यरूप लक्षणा से सृष्टिलिङ्गरहित मन्त्रों का ग्रहण हो जायगा; तो यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि विधिवाक्य में लक्षणा को मीमांसक दोष मानते हैं। अनुवाद में लक्षणा को दोष नहीं माना जाना; इसलिए 'सृष्टीरुपदधाति' में मन्त्रगत 'सृज्' का प्रयोग अग्नि-चयन प्रकरण के लिए सर्जन कर्म का अनुवाद-कथन है, अर्थात् सर्जन कर्म का स्तावक है। सृष्टिलिङ्ग-मन्त्रों का बाहुल्य, अत्यल्प सृष्टिलिंगरहित मन्त्रों को अन्तर्भुक्त कर लेता है। मीमांसकों का एक 'दण्डि-न्याय' है। जब अधिक व्यक्तियों के हाथों में दण्ड हों, और थोड़े व्यक्ति दण्डरहित हों, ऐसा गिरोह जब कहीं जा रहा हो, तो 'दण्डिनो यान्ति' प्रयोग होता है। अधिक दण्डधारियों में अत्यल्प दण्डरहित उन्हीं में अन्तर्हित हो जाते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में

---

१. तैत्तिरीय संहिता [४।३।१०] में भी इन मन्त्रों को पढ़ा गया है।

२. पहला, चौदहवाँ और सत्रहवाँ, जिनमें 'सृज्' धातु का कोई उपयुक्त रूप प्रयुक्त नहीं है।

ऐसी ही स्थिति है। अतः उक्त वाक्य अर्थवाद है, गुणविधि नहीं ॥२७॥ (इति बाहुल्येन सृष्टिव्यपदेशाधिकरणम्, भूमाधिकरणं वा—१६)।

(प्राणभृदादिशब्दानां स्तुत्यर्थताधिकरणम्, लिङ्गसमवायाधिकरणं वा—१७)

शिष्य जिज्ञासा करता है—गत वाक्यों के अतिरिक्त अन्य वाक्य हैं—'प्राणभृत उपदधाति', अज्यानीरुपदधाति' इत्यादि। इनमें सन्देह है—क्या ये गुणविधि हैं? अथवा अर्थवाद? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

लिङ्गसमवायात्[2] ॥२८॥

[लिङ्गसमवायात्] 'प्राण' रूप लिङ्ग के समवाय से अर्थात् सम्बन्ध से 'प्राण' लिङ्गरहित मन्त्रों का भी कथन हो जाता है।

प्राणभृत् नामक इष्टकाएँ पचास हैं। इन इष्टकाओं के मन्त्र शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिनी शाखा[3] के अध्याय तेरह की पाँच कण्डिकाओं [५४ से ५८ तक] में पठित हैं। प्रत्येक कण्डिका के दस टुकड़े करके, अथवा दस बार आवृत्ति करके प्रत्येक मन्त्र से एक-एक इष्टका का उपधान किया जाता है। इस प्रकार पाँच कण्डिकाओं के पचास [५ × १० = ५०] टुकड़े अथवा आवृत्ति से प्राणभृत्-संज्ञक पचास इष्टकाओं का उपधान होता है। इन पाँच कण्डिकाओं में से केवल पहली कण्डिका के दूसरे, तीसरे तथा दसवें टुकड़े या मन्त्र में 'प्राण' पद पठित होने से इन्हीं में 'प्राण' लिङ्ग का सम्बन्ध है। शेष सैंतालीस 'प्राण' लिङ्ग से रहित हैं। ऐसी स्थिति में यदि 'प्राणभृत उपदधाति' को गुणविधि माना जाता है, तो जिन मन्त्रों में 'प्राण'-लिङ्गरूप गुण विद्यमान है, उन्हीं के द्वारा इष्टकाओं का उपधान प्राप्त होगा; शेष मन्त्र अनर्थक हो जाएँगे। अतः इसे गुणविधि न मानकर अर्थवाद मानना उपयुक्त होगा। उस दशा में प्रथम कण्डिका-पठित 'प्राण' लिङ्ग का,

---

१. इन वाक्यों का मूल स्थल यथाक्रम द्रष्टव्य है—तै० सं० ५।२।१०॥ तथा ५।७।२॥

२. हलायुध-कृत 'मीमांसा शास्त्र सर्वस्व' में २३ से २८ तक छह सूत्रों को एक सूत्र मानकर पाठ इस प्रकार दिया है—**'तत्सिद्धिजातिसारूप्यप्रशंसाभूमलिङ्गसमवाया इति गुणाश्रयाः'** [बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी का जर्नल, सन् १९३१, पृष्ठ २७९ के अनुसार]। शाबर भाष्य में सूत्र के पदों को पृथक् सूत्ररूप में रखकर व्याख्या की है। पर शाबर भाष्य में 'गुणाश्रयाः' पद सूत्रगत नहीं है।

३. मन्त्रों के लिए तैत्तिरीय संहिता, ४।३।२ भी द्रष्टव्य है।

प्रथम पाठ-प्राधान्य से आगे पठित सभी कण्डिकागत मन्त्रों के साथ सम्बन्ध माना जायगा। पचास मन्त्रों में से तीन में पठित 'प्राण'-लिङ्ग शेष संतालीस को भी लक्षित करेगा। यह व्यवस्था 'छत्रिन्याय' के अनुसार समझनी चाहिए। दस व्यक्तियों में यदि एक-दो के पास छतरी है, शेष सब छतरी से रहित हैं, तब भी 'छत्रिणो यान्ति' छतरीवाले जा रहे हैं, प्रयोग होता है। एक-दो छतरीवाले से ही सब लक्षित हो जाते हैं।

इसी प्रकार 'अज्यायीरुपदधाति' दूसरा वाक्य है। अज्यानि नामक इष्टकाएँ केवल पाँच हैं। तैत्तिरीय संहिता [५।७।२] में वे मन्त्र हैं, जिनसे इन इष्टकाओं का उपधान किया जाता है। उन मन्त्रों के प्रथम प्रतीक पद इस प्रकार हैं—शतायुधाय; ये चत्वारः; ग्रीष्मो हेमन्तः; इदु वत्सराय; भद्रान्नः श्रेयः। इन मन्त्रों के निर्देश के अनन्तर वहाँ पढ़ा है—'अज्यानीरेता उपदधाति'—अज्यानि नामक इन इष्टकाओं का उपधान करता है। इसके आगे यह अर्थवाद पठित है—**'एता वै देवता अपराजितास्ता एव प्रविशति, नैव जीयते'**—उक्त मन्त्रों में निर्दिष्ट इन्द्र आदि देवता अपराजित हैं; याग का अनुष्ठाता यजमान इन्हीं देवताओं में प्रवेश करता है, वह किसी से जीता नहीं जाता। इन पाँचों मन्त्रों में से केवल दूसरे मन्त्र[1] में 'अज्यानिम्' पद पढ़ा है। यदि 'अज्यानीरेता उपदधाति' को गुणविधि माना जाता है, तो पाँचों इष्टकाओं का उपधान उक्त मन्त्र की आवृत्ति द्वारा उसी एक मन्त्र से किया जाना प्राप्त होगा, शेष मन्त्र निरर्थक हो जाएँगे। अर्थवाद मानने पर दृष्टलिंग एक मन्त्र, शेष चार का भी उपलक्षण होगा। पाँच मन्त्रों के समुदाय में एक मन्त्रगत भी दृष्टलिङ्ग का सम्बन्ध शेष अलिङ्ग मन्त्रों को भी लक्षित करेगा, जैसे अनेक व्यक्ति-समुदाय में एक व्यक्ति के साथ छाते का सम्बन्ध, छातारहित अन्य सभी साथी व्यक्तियों को भी लक्षित करता है। छाताधारी एक ही होने पर 'छत्रिणो यान्ति' व्यवहार सर्वमान्य होता है ॥२८॥ (इति प्राणभृदादिशब्दानां स्तुत्यर्थताधिकरणम्—१७)।

(वाक्यशेषेण सन्दिग्धार्थनिरूपणाधिकरणम्, वाक्यशेषाधिकरणम्, अक्ताधिकरणं वा—१८)

शिष्य जिज्ञासा करता है—'अक्ताः शर्करा उपदधाति' वाक्य वैदिक साहित्य [तै० ब्रा० ३।१२।५] में पठित है। इसके उपसंहार में 'तेजो वै घृतम्' घृत का स्तुतिवाक्य है। चातुर्होत्र चयन याग में सुवर्ण इष्टकाओं का उपधान होता है।

---

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण [३।१२।५] का पाठ इस प्रकार है—**'हिरण्येष्टको भवति। यावदुत्तममंगुलिकाण्डं यज्ञपरुषा सम्मितम्। तेजो हिरण्यम्। यदि हिरण्यं न विन्देत्, शर्करा अक्ता उपदध्यात्, तेजो घृतम्। स तेजसमेवाग्निं चिनुते।'**

अंगुलि के तीसरे पर्व के परिमाण की सुवर्ण इष्टकाएँ उपलब्ध न होने पर चिकनी की गई रोड़ी (—शर्करा) का वेदि में उपधान किया जाता है।[1] यहाँ उपक्रम में शर्करा का 'अक्ता:' विशेषण है, जिसका अर्थ है—'चिकनी की हुई'। यह सामान्य वचन है; चिकनी घृत से भी की जा सकती हैं, और तैल आदि से भी। परन्तु उपसंहार में चिकनाई के एक साधनद्रव्य घृत की स्तुति की गई है। यह चिकनाई के साधनद्रव्य घृत का विशेष कथन है। एक ही वाक्य के उपक्रम—आरम्भ में सामान्यकथन और उपसंहार में विशेषकथन होने से परस्पर विरुद्ध है। प्रस्तुत प्रसंग में यही सन्देह का कारण है। क्या उपक्रम के सामान्यकथन से उपसंहार के विशेषकथन 'घृत' को सामान्य चिकनाई-साधन द्रव्यपरक माना जाय? अथवा उपसंहार के चिकनाई-साधन विशेष द्रव्य घृत के कथन से उपक्रम के सामान्य कथन को उलटकर उसके स्थान पर विशेष कथन को स्वीकार किया जाय?

उपक्रम के अवसर पर विरोध का कोई आधार नहीं है; विरोध की भावना उपसंहार पर उभरती है। तब विरोध के परिहार के लिए यह उचित होगा कि उपक्रम के अनुसार उपसंहार के चिकनाई-साधन विशेष द्रव्य घृत को चिकनाई-साधन सामान्य द्रव्यपरक क्यों न मान लिया जाय? इससे चिकनाई-साधन घृत, तैल आदि सभी द्रव्यों का ग्रहण हो जाता है। यह ऐसा ही कथन है, जैसे—'सृष्टीरुपदधाति' में 'सृज्' धातु-सिद्ध सृष्टि शब्द सृष्टिपदघटित तथा सृष्टिपद-रहित सभी मन्त्रों के लिए व्यवहृत है; ऐसे ही 'घृत' पद घृत, तैल आदि सभी चिकनाई-साधन द्रव्यों के लिए प्रयुक्त माना जाय। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात् ॥२६॥

[सन्दिग्धेषु] उपक्रम और उपसंहार के विरोध होने से सन्देहयुक्त वाक्यों में [वाक्यशेषात्] वाक्यशेष से अर्थात् उपसंहार-वाक्य से अर्थ का निश्चय करना चाहिए। उपसंहार में चिकनाई-साधनद्रव्य घृत की स्तुति होने से यह श्रुति-बोधित अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि शर्कराओं का अञ्जन (चिकनापन) घृत से किया जाना चाहिए। घृत तेजोरूप है, घृताक्त शर्करा का चयन में उपधान यज-मान में तेजस्विता का आधान करता है। अतः 'अक्ताः शर्करा उपदधाति' वाक्य स्तुतिरूप होने से अर्थवाद है, गुणविधि नहीं।

उपक्रम-उपसंहार में विरोध-परिहार के लिए यह कथन उपयुक्त न होगा कि 'अक्ताः शर्करा उपदधाति' में वर्तमानकालिक 'उपदधाति' क्रिया होने, तथा विधि-

---

१. वही, तै० ब्रा०

क्रिया के न होने से उपक्रम में जो अञ्जन का सामान्य कथन है, वह विधि-निर्देश नहीं है। उपसंहार में अञ्जन-साधन विशेष द्रव्य घृत का स्तवन होने से वह श्रुति द्वारा अञ्जन-साधन बोधित होता है। ऐसी दशा में उपक्रम-उपसंहार के विरोध की सम्भावना ही नहीं रहती; तब यह अधिकरण-निर्देश अनावश्यक हो जाता है।

विरोध के परिहार की यह कल्पना युक्त नहीं है, क्योंकि वैदिक वाङ्मय में विधि-अर्थ के लिए 'लेट्' लकार का प्रयोग भी होता है। भाष्यकार शबर स्वामी ने प्रस्तुत उद्धृत वाक्य में लेट् लकार का प्रयोग किया प्रतीत होता है। विध्यर्थक लेट् लकार में 'उपदधाति' क्रियापद सिद्ध है; उस दशा में यह वाक्य विधायक होने से उपक्रम-उपसंहार के विरोध का उद्भावक होगा। तैत्तिरीय ब्राह्मण [३।१२।५] में 'उपदध्यात्' यह विधि लकार का ही क्रियापद है। इसलिए ऐसे विरोध-स्थलों में उसके परिहार का उपाय यही है कि उपसंहार-वाक्य के अनुसार अर्थ का निश्चय किया जाय।

इसी प्रकार के अन्य वाक्य हैं—**'वासः परिधत्ते; एतद्वै सर्वदेवत्यं वासो यत् क्षौमम्'** यहाँ उपक्रम में साधारण रूप से वस्त्र-धारण का विधान है; इससे यज्ञ में किसी भी प्रकार का वस्त्र धारण करना प्राप्त होता है; परन्तु उपसंहार में क्षौम वस्त्र की स्तुति होने से 'वासः परिधत्ते' वाक्य का 'वासः' पद क्षौम वस्त्र का विधायक है, अन्य किसी वस्त्र का नहीं। क्षुमा अतसी या लोकप्रसिद्ध अलसी पौधे का नाम है। उसके रेशों से बना वस्त्र 'क्षौम' कहा जाता है। इसके अनुसार यज्ञ में क्षौम वस्त्र के परिधान का विधान सिद्ध होता है। 'क्षौम' का अर्थ रेशमी वस्त्र नहीं है, क्योंकि वह कीड़े के द्वारा बनाये गये कोश के तन्तुओं से तैयार किया जाता है। उसके निर्माण में हिंसा के अनिवार्य होने से वह यज्ञिय परिधान के योग्य नहीं माना जाता। 'क्षौम' पद का अर्थ प्रायः रेशमी वस्त्र किया जाता है। उसका तात्पर्य क्षुमा = अलसी के रेशे से बनाये गये नकली रेशमी वस्त्र समझना चाहिए।

ऐसा ही एक अन्य वाक्य है—**'इमां स्पृष्ट्वा उद्गायेत्, इमां हि औदुम्बरीं विश्वाभूतान्युपजीवन्ति।'**—इसको स्पर्श कर सामगान करे; इस औदुम्बरी = गूलर वृक्ष की शाखा का सब प्राणी सहारा लेते हैं। यहाँ भी उपक्रम में 'इमां' सर्वनाम पद से सामान्य रूप में किसी भी वृक्ष की शाखा का स्पर्श—सामगान प्रारम्भ करने से पूर्व प्राप्त होता है। परन्तु उपसंहार में औदुम्बरी शाखा की स्तुति किये जाने से उपक्रम के 'इमां' सर्वनाम पद का—उदुम्बर शाखा के विधान में—तात्पर्य निश्चित होता है ॥२६॥ (इति वाक्यशेषेण सन्दिग्धार्थनिरूपणाधिकरणम्—१८)।

(सामर्थ्यानुसारेणाव्यवस्थितानां व्यवस्थाधिकरणम्, सामर्थ्याधिकरणं वा—१६)

शिष्य जिज्ञासा करता है—अन्य कतिपय वाक्य ऐसे हैं, जिनमें सन्देह है—**'स्रुवेणाऽवद्यति, स्वधितिनाऽवद्यति, हस्तेनाऽवद्यति'** आदि—स्रुव से अवदान करता है, स्वधिति=छुरी से अवदान करता है, हाथ से अवदान करता है, इत्यादि। रक्खे हुए पूरे आहवनीय द्रव्य में से उसका कुछ अंश अलग करने का नाम 'अवदान' है। आहवनीय द्रव्य तरल घृत आदि, दृढ़ पका हुआ पुरोडाश आदि, तथा ढेर के रूप में (संहत) रक्खा हुआ सामग्री आदि है। यहाँ सन्देह है, क्या प्रयोजन के अनुसार विशिष्ट आहवनीय द्रव्य का किसी स्रुव आदि विशिष्ट साधन से अवदान किया जाय, ऐसी व्यवस्था मानी जाय ? अथवा अव्यवस्थित रूप में किसी भी साधन से किसी भी आहवनीय द्रव्य का अवदान किया जा सकता है ? प्रस्तुत प्रसंग में इस विषय का कोई विशेष निर्देश न होने सामान्य रूप में यही प्राप्त होता है कि स्रुव आदि किसी भी साधन से किसी भी आहवनीय द्रव्य का अवदान कर लेना चाहिए। क्या यह युक्त है ? आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात् ॥३०॥

[अर्थात्] अर्थ से—पदसामर्थ्य से [वा] ही, (अथवा 'वा' पद पूर्वोक्त अव्यवस्था के निराकरण का द्योतक है), तात्पर्य है—प्रयुक्त पद के सामर्थ्यानुसार जिस साधन से जिस द्रव्य का अवदान सम्भव है, उसकी [कल्पना] कल्पना करना युक्त है, क्योंकि [एकदेशत्वात्] सामर्थ्य, पदबोध्य वस्तु का एकदेश—अङ्ग होता है।

'स्रुवेण अवद्यति' आदि पदों में स्रुव आदि साधनों से किये जानेवाले कार्य के विषय में जो अव्यवस्था की बात कही गई, वह ठीक नहीं है। स्रुव आदि साधनगत सामर्थ्य के अनुसार जिस साधन से जिस आहवनीय द्रव्य का अवदान सम्भव है, उसके अनुरूप कार्य किया जाना चाहिए।

नामपद अथवा आख्यातपद जिस अभिधाशक्ति के आधार पर अभिमत अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, अर्थ के स्पष्ट करने अथवा निश्चय करने में उसका सहयोग बराबर बना रहता है। अवदान के साधन स्रुव की बनावट यह स्पष्ट करती है कि उसके द्वारा—द्रव पदार्थ को उसमें भरकर, राशि से पृथक् कर सुविधापूर्वक उसका (आहवनीय द्रव्य का) यथोचित उपयोग किया जा सकता है। जो पुरोडाश आदि आहवनीय द्रव्य दृढ़ व कठिन है, उसके अवदान के लिए स्रुव-साधन सर्वथा अनुपयुक्त है; वहाँ तो स्वधिति—छुरी का ही प्रयोग करना

उपयुक्त होगा। आज्य आदि द्रव पदार्थ के लिए स्वधिति का प्रयोग सर्वथा अनुपयुक्त है। इसी प्रकार चरु=सामग्री आदि शुष्क-बिखरे आहवनीय द्रव्य उचित मात्रा में उठाकर प्रयोग के लिए हस्त-साधन अधिक उपयुक्त होगा। चरु के अवदान के लिए स्रुव अथवा स्वधिति-साधन नितान्त अनुपयुक्त हैं। ऐसे ही हस्त-साधन तरल आज्य तथा दृढ़ पुरोडाश आदि के अवदान के लिए अनुपयुक्त है। फलतः स्रुव आदि साधन जिस आहवनीय द्रव्य के अवदान के लिए उपयुक्त है, उसका प्रयोग वहाँ करना चाहिए; अन्य साधन का नहीं।

जैसे लोक में कहा जाता है—'कटे भुङ्क्ते' चटाई पर खाता है; इसका यही तात्पर्य है—थाली में परोसे खाद्य पदार्थ को चटाई पर बैठकर खा रहा है; अन्य कोई अर्थ नहीं। इसी प्रकार 'स्रुवेण अवद्यति' जब कहा जाता है, उसका यही तात्पर्य है—तरल आज्य का स्रुव-साधन के द्वारा अवदान करता है; अन्य कोई अर्थ इसका सम्भव नहीं। ऐसे ही 'स्वधितिना अवद्यति' का अर्थ है—दृढ़ पुरोडाश आदि द्रव्य का स्वधिति से अवदान करता है; अन्य अर्थ नहीं। इसी प्रकार 'हस्तेन अवद्यति' का अर्थ है—शुष्क-बिखरे चरु-सामग्री आदि का अवदान हस्त-साधन से करता है; उपयुक्त समझ से इस अर्थ का निर्धारण हो जाता है। यह साधन के अनुसार द्रव्य की अथवा द्रव्य के अनुसार साधन की व्यवस्था है ॥३०॥ (इति सामर्थ्यानुसारेणाव्यवस्थितानां व्यवस्थाधिकरणम्—१६)।

इतिश्री पूर्णसिंहतनुजनुषा तोहफादेवीगर्भजातेन बलियामण्डलान्तर्गत 'छाता' नगरनिवासी श्रीकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्ध-विद्योदयेन, बुलन्दशहरमण्डलान्तर्गत-महाद्रूपकण्ठ-बनैल-ग्रामाभिजनेन, साम्प्रतं गाजियाबादनगरनिवासिना—उदयवीर शास्त्रिणा समुन्नीते जैमिनीयमीमांसादर्शन विद्योदयभाष्ये प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः।

सम्पूर्णश्चायं प्रथमोऽध्यायः।

अथ द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः

(अपूर्वस्याऽऽख्यातपदप्रतिपाद्यताऽधिकरणम्—१)

प्रथम अध्याय में प्रेरणात्मक धर्म-प्रमाण का निरूपण सम्पन्न हुआ। उन प्रसंगों में विधि, अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति का तात्त्विक निर्णय तथा गुणविधि एवं कर्मनामधेय का विवेचन किया गया। सन्दिग्ध अर्थों का वाक्यशेष के आधार पर निर्णय किया जाना बताया। आगे के प्रसंगों को यथायथ समझने के लिए उनका स्मरण रखना आवश्यक है।

प्रथम अध्याय में प्रेरणात्मक धर्म-प्रमाण का निरूपण सम्पन्न हुआ। सूत्रकार द्वारा साक्षात् न कहने पर भी मीमांसाशास्त्र में अन्य आचार्यों द्वारा यद्यपि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि छह प्रमाण स्वीकृत हैं, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में 'प्रमाण' पद से प्रत्यक्षादि का ग्रहण अभिप्रेत न होकर प्रेरणालक्षण धर्म को ही प्रमाण कहा है। वह प्रेरणालक्षण प्रमाण वेद है। सूत्रकार ने इसका निर्देश प्रारम्भिक पाँचवें सूत्र में किया है। वेद के शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध की नित्यता तथा उनसे सम्बद्ध प्रसंगागत अन्य विषयों का वर्णन प्रथम पाद में किया है। वह प्रेरणालक्षण धर्मरूप प्रमाण विधि, अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति आदि भेद से अनेक प्रकार का है। तदनुसार द्वितीय पाद में विधि, अर्थवाद एवं मन्त्र-विषयक विचार किया है। अनन्तर तृतीय पाद में स्मृतियों के प्रामाण्य-अप्रामाण्य का विवेचन है। चतुर्थ पाद में गुणविधि और नामधेय पदों की परीक्षा तथा सन्दिग्धार्थ पदों के यथार्थ निर्णय के लिए वाक्यशेष को आधार बताया गया है। इस प्रकार प्रथम अध्याय **'प्रमाणलक्षण'** नाम से पुकारा जाता है।

अब द्वितीय अध्याय में कर्म के प्राधान्य-अप्राधान्य एवं भेद-अभेद के विषय में विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

प्रेरणालक्षण धर्म क्रियानुष्ठानरूप माना गया है। क्रिया अथवा कर्म के भेदबोधक साधन छह प्रकार के बताये हैं। उनके आधार पर कर्म का भेद छह प्रकार का कहा जाता है। उन साधनों का निर्देश भाष्यकार ने—शब्दान्तर, अभ्यास, संख्या, गुण, प्रक्रिया, नामधेय के रूप में किया है। ये कारण जहाँ भी

आएँ, उनका विवेचन इस अध्याय में किये जाने से द्वितीय अध्याय को 'नाना-कर्मलक्षण' नाम दिया गया है।

प्रथम विचारणीय है, शास्त्र के प्रारम्भ में प्रेरणा-क्रियारूप वाक्य को धर्म कहा गया है। वे वाक्य हैं—'सोमेन स्वर्गकामो यजेत, अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्ग-कामः, अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इत्यादि। क्रिया अनुष्ठानरूप होने से अनित्य है। यह देखा जाता है, सोमयाग, अग्निहोत्र, सन्ध्योपासना के सद्यः अनन्तर स्वर्ग आदि फल प्राप्त नहीं होता। इससे सोमयाग आदि क्रिया तथा स्वर्ग आदि फल परस्पर असम्बद्ध हो जाते हैं। अनुष्ठान तक यागादि क्रिया का अस्तित्व है; कालान्तर में जाकर स्वर्ग आदि फल प्राप्त होता है। क्रिया के नष्ट हो जाने पर फलप्राप्ति कैसे सम्भव है? जब कारण (क्रियारूप) ही न रहा, तो फल (स्वर्गादि) कैसे प्राप्त होगा? तब क्या ये वैदिक वाक्य अनर्गल हैं? नहीं; ये वाक्य सर्वथा युक्त हैं।

शास्त्रकार आचार्यों ने बताया है—कर्मानुष्ठान से अनुष्ठाता-आत्मा में धर्मविशेष की उत्पत्ति होती है। मीमांसा में उसको 'अपूर्व' पद से कहा जाता है। क्रियानुष्ठान 'अपूर्व' को उत्पन्न करता है, और अपूर्व स्वर्गादि फल को। इस प्रकार वह चोदनालक्षण क्रियानुष्ठान अपूर्वोत्पत्ति द्वारा स्वर्गादि फलप्राप्ति का कारण होता है।

उस प्रेरणालक्षण प्रत्येक वाक्य में पद अनेक होते हैं, और पदों का अपना अर्थ है। यहाँ सन्देह होता है, क्या वाक्यगत प्रत्येक पद पृथक्-पृथक् उस अपूर्व-संज्ञक धर्म का निर्देश करता है, अथवा वाक्य के सब पद मिलकर एक ही धर्म का निर्देश करते हैं? इसका समाधान करते हुए शास्त्रकार आचार्यों ने बताया, प्रत्येक वाक्य में पद दो प्रकार के होते हैं—एक नाम-पद, दूसरे आख्यात-पद। जैसे उक्त वाक्यों में सोम, अग्निहोत्र, सन्ध्या आदि नाम-पद हैं; यजेत, जुहुयात्, उपासीत आदि आख्यात-पद हैं। वह अपूर्व आख्यात-पदों से कहा जाता है। केवल आख्यात-पद क्रिया, भाव, भावना, उत्पादना का निर्देश करता है; वाक्यगत अन्य पद उसके सहयोगी रहते हैं। यद्यपि उक्त वाक्यों को किसी पद का साक्षात् अर्थ 'अपूर्व' नहीं है, परन्तु क्रिया के अनित्य होने, अर्थात् अनुष्ठानक्षण तक ही अवस्थायी होने एवं फल के कालान्तर में होने के कारण—वैदिक वाक्यों के सार्थकताहेतु—उनके पारस्परिक सम्बन्ध के लिए क्रिया और फल के अन्तराल में अपूर्व के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार द्रव्य या गुण के वाचक नाम-पद क्रिया के निर्देशक न होकर केवल आख्यात-पद क्रिया का निर्देश करते हैं, इसी तथ्य को सूत्रकार ने स्पष्ट किया—

भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत, एष ह्यर्थो विधीयते ॥१॥

[भावार्थाः] भाव=क्रिया अर्थवाले 'यजेत, जुहुयात्' इत्यादि आख्यात-पद [कर्मशब्दाः] क्रिया के बोधक शब्द हैं। [तेभ्यः] उनसे [क्रिया] फल का किया जाना [प्रतीयेत] प्रतीत होवे, जाना जाए (तात्पर्य है, 'यजेत, जुहुयात्' आदि पद याग होम से सम्बद्ध स्वर्गादि फलों की सिद्धि को कहते हैं)। [एषः] यह [हि] क्योंकि [अर्थः] अर्थ—उक्त क्रियारूप धर्म [विधीयते] विधान किया गया है।

'यजेत' इत्यादि आख्यात-पद याग आदि अनुष्ठानरूप कर्म का बोध कराते हैं। वे कर्मानुष्ठान, उनसे (—कर्मों से) होने अर्थ के प्रयोजक हैं। सूत्र में 'क्रिया' पद कर्मानुष्ठानों से उत्पन्न होनेवाले 'अपूर्व' का संकेत करता है। 'तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत'—इस पूरे वाक्य का यही अर्थ होता है कि—उन कर्मानुष्ठानों से उत्पन्न होनेवाला [क्रिया=किया जानेवाला]अपूर्व बोधित होता है। आख्यात-पदबोध्य याग आदि कर्मों का अनुष्ठान धर्म है, वह धर्म अपूर्व को उत्पन्न करता है, अपूर्व द्वारा स्वर्ग प्राप्त होता है, स्वर्ग की कामनावाला व्यक्ति इसी अभिप्राय से कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होता है। 'श्येनेन अभिचरन् यजेत, चित्रया यजेत पशुकामः, दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यों में आख्यात-पद के अतिरिक्त जो द्रव्य या गुणवाचक पद हैं, उनके अपने जो भी अर्थ हैं, उनके साथ—स्वर्ग या पशु आदि किसी भी कामनावाले व्यक्ति का सीधा सम्बन्ध नहीं होता; उसका सीधा सम्बन्ध आख्यात-पदबोध्य याग आदि के साथ होता है। द्रव्य या गुणवाचक पद भी कोई साधनरूप से, कोई इतिकर्त्तव्यतारूप से याग के साथ सम्बद्ध होते हैं; वे अपूर्व के विधायक नहीं होते। फलतः आख्यात-पद अपूर्व के बोधक हैं, अन्य अपने निजी रूप से यागादि के सहयोगी ॥१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—यदि द्रव्य-गुणवाचक पद याग आदि के सहयोगी हैं, तो उनको भी अपूर्व के विधायक व भावार्थक क्यों न माना जाय? आचार्य सूत्रकार ने शिष्यजिज्ञासा को सूत्रित किया—

सर्वेषां भावोऽर्थ इति चेत् ॥२॥

[सर्वेषाम्] 'सोमेन यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्यगत द्रव्यवाचक एवं गुणवाचक सभी पदों का [भावः] भाव-भावना-उत्पादना, क्रिया [अर्थः] अर्थ है, [इति चेत्] यदि ऐसा कहो तो—(वह ठीक नहीं, अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)।

जिज्ञासु का अभिप्राय है—'यजेत' इस आख्यात-पद में 'यज्' धात्वर्थ 'याग'

प्रत्यय 'त' से बोधित भावना की अपेक्षा करता है—'यजेत=यागेन भावयेत्'—याग से निष्पन्न करे, कुछ उत्पन्न करे। जैसे धात्वर्थ भावना की अपेक्षा करता है, ऐसे ही उक्त वाक्यों में—'श्येन, दर्श-पूर्णमास, स्वर्गकाम, सोम, अभिचरन्, चित्रा, पशुकाम' आदि पठित द्रव्यवाचक, गुणवाचक, कामनापरक आदि पद भी 'त' प्रत्ययबोधित भावना की अपेक्षा करते हैं। यदि ऐसा न माना जाय, तो वाक्य में इनका पठित होना असंगत हो जायगा। इसलिए 'यजेत' के समान श्येन आदि अन्य पदों को भी भावार्थक, अर्थात् अपूर्व का विधायक मानना चाहिए। धात्वर्थ के समान सोम, श्येन आदि पद भी अपने प्रयोग की सार्थकता के लिए साकांक्ष हैं; इनके उपयोग के बिना न क्रियानुष्ठान सम्भव है, न स्वर्गादि फलसिद्धि की आशा। अतः आकांक्षारूप उक्त समानता के रहते, आख्यात की सीमा से अन्य पदों को बाहर निकाल देना उचित न होगा ॥२॥

जिज्ञासा के आधार को लक्ष्य कर नाम और आख्यात के स्वरूप का यथाक्रम उपपादन करते हुए सूत्रकार ने अग्रिम दो सूत्रों से जिज्ञासा का समाधान किया—

येषामुत्पत्तौ स्वे प्रयोगे रूपोपलब्धिस्तानि नामानि, तस्मात्तेभ्यः पराकाङ्क्षा भूतत्वात् स्वे प्रयोगे ॥३॥

[येषाम्] जिन 'सोमेन-यजेत' आदि पदों के [उत्पत्तौ] उत्पत्ति—अभिव्यक्ति—उच्चारण में [स्वे] अपने सोम आदि अर्थ को प्रकट करते समय [प्रयोगे] प्रयोग किये जाने पर [रूपोपलब्धिः] अपने अभिधेयरूप सोम की उपलब्धि हो जाती है, अर्थात् उसमें प्रत्यक्ष योग्यता होती है, [तानि] ऐसे पद [नामानि] नाम कहे जाते हैं। [तस्मात्] इस कारण (रूपोपलब्धि हो जाने के कारण) [तेभ्यः] उनके लिए [पराकाङ्क्षा] पर-अ-कांक्षा अन्य की=अन्य निष्पाद्य की काङ्क्षा नहीं रहती, [भूतत्वात्] सिद्ध होने से [स्वे प्रयोगे] अपने अभिधेय अर्थ की अभिव्यक्ति-समय प्रयोग किये जाने पर।

प्रत्येक पद का अपना अभिधेय अर्थ होता है; उस अर्थ को प्रकट करने के लिए जब उस पद का प्रयोग उच्चारण आदि रूप में किया जाता है, तब उसका वह अभिधेय अर्थ विद्यमान होने से प्रत्यक्ष रूप में उपलब्ध होने के योग्य है, तो वह पद अपने विद्यमान अर्थ को अभिव्यक्त कर निराकांक्ष हो जाता है। अपने विद्यमान अर्थ की अभिव्यक्ति कर देना पद-प्रयोग का प्रयोजन है। यही उसकी आकांक्षा है। अर्थ बोधित हो जाने पर उसकी आकांक्षा की पूर्त्ति हो जाती है। ऐसे सोम, श्येन, चित्रा, स्वर्गकाम, पशुकाम आदि पदों के अर्थ स्थायी हैं, विद्यमान हैं। इन पदों के प्रयोग होने पर इन अर्थों को उत्पन्न करने की अपेक्षा नहीं रहती। ऐसी दशा में जिज्ञासु ने ऐसे पदों को आख्यात-पदों की सीमा में लाने के लिए जो

एतत्सम्बन्धी आकांक्षा का निर्देश किया था, वह निराधार व असंगत हो जाता है ॥३॥

इसी प्रसंग में आख्यात का स्वरूप क्या है ? सूत्रकार ने बताया—

येषां तूत्पत्तावर्थे स्वे प्रयोगो न विद्यते तान्याख्यातानि, तस्मात्तेभ्यः प्रतीयेताश्रितत्वात् प्रयोगस्य ॥४॥

[येषाम्] जिन पदों का [तु] तो [उत्पत्तौ] उच्चारणरूप उत्पत्ति के अवसर पर [अर्थे स्वे] अपने वाच्य अर्थ में [प्रयोगो न विद्यते] प्रयोग नहीं होता, अर्थात् पदों के उच्चारण-काल में उनका अर्थ विद्यमान नहीं रहता [तानि आख्यातानि] वे पद आख्यात = भाववाचक कहे जाते हैं। [तस्मात्] इस कारण [तेभ्यः] उन आख्यात-पदों से अपूर्व की [प्रतीयेत] प्रतीति–जानकारी की जाती है, [आश्रितत्वात्] आश्रित होने से, पुरुष के अधीन होने से [प्रयोगस्य] प्रयोग–यागानुष्ठान के।

'यजेत' पद के उच्चारण-काल में इसका अर्थ—क्रियानुष्ठानरूप याग तथा उससे निष्पाद्य अपूर्व—अपने वस्तु सत्-रूप में विद्यमान नहीं रहते। वह यागानुष्ठान पुरुष-प्रयत्न के अधीन है। पुरुष द्वारा यागानुष्ठान किये जाने पर ही उससे अपूर्व (संस्कारविशेष) की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार 'यजेत' पद स्वर्गकामनावाले पुरुष को प्रेरित करता है कि वह यागानुष्ठान द्वारा अपूर्व को उत्पन्न करे। 'यजेत' का यही अर्थ है—'यागेन भावयेत्'—यागसाधन से 'भावना' करे। भावना = अपूर्व का निष्पादन, यागानुष्ठान से अपूर्व का उत्पादन होकर, वह स्वर्गकामना को पूर्ण कराता है। इसके विपरीत सोम आदि द्रव्यवाचक एवं अन्य गुणवाचक पदों के अर्थ—सोम आदि द्रव्यों की वस्तुसत्ता—विद्यमानता—अपने अस्तित्व में आना अथवा अस्तित्व का लाभ करना पुरुष-प्रयत्न के अधीन नहीं है। सोम पद के उच्चारण से पहले ही उसके अर्थ सोम-वस्तु का अस्तित्व बना रहता है, उच्चारण के समय वह विद्यमान है। उस अर्थ की सत्ता के लिए पुरुष को कोई प्रयत्न नहीं करना, फलतः वह पद अपने अर्थ को बोधित कर निराकांक्ष हो जाता है, पुरुष को अपनी सिद्धि में प्रेरित नहीं करता; जबकि 'यजेत' पद धात्वर्थ—याग से निष्पाद्य 'अपूर्व' (जो अभी तक अपने अस्तित्व में नहीं है, इसीलिए अपूर्व है) के निष्पादन के लिए पुरुष को प्रेरित करता है। इसी कारण आख्यात-पदों को अपूर्व का उपपादक माना गया है। अन्य द्रव्य-गुणवाचक पद याग के साधनद्रव्यों व प्रक्रिया आदि को प्रस्तुत कर यागानुष्ठान में सहायक होते हैं ॥४॥ (इति अपूर्वस्य आख्यातपदप्रतिपाद्यताधिकरणम्—१)।

(अपूर्वस्यास्तित्वाधिकरणम्—२)

शिष्य जिज्ञासा करता है— अपूर्व आख्यात-पद प्रतिपाद्य है, यह तो बाद की बात है; पहले यह तो निश्चय किया जाय कि अपूर्व का अस्तित्व भी है, या नहीं ? सूत्रकार ने बताया—

चोदना पुनरारम्भः ॥५॥

[चोदना] अपूर्व है, [पुनः] क्योंकि [आरम्भः] वैदिक वाङ्मय में स्वर्ग-साधन याग (=स्वर्गकामो यजेत) का आरम्भ=उपदेश किया गया है।

सूत्र के प्रथम पद का अर्थ यहाँ वह 'अपूर्व' है, जो यागानुष्ठान से निष्पन्न किया जाता अथवा उभारा जाता है। इस पद का कर्मवाचक विग्रह करने से उक्त अर्थ का लाभ होता है—'चोद्यते-आक्षिप्यते-उद्भाव्यते या सा चोदना'। यागानुष्ठान से चोदित, आक्षिप्त अथवा उद्भावित होती है, वह चोदना है। ऐसा तत्त्व केवल वह अपूर्व है। 'पुनः' पद 'यतः' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह आज के भाषागत प्रयोगों से अनुमोदित है। अपूर्व का अस्तित्व क्यों मानना पड़ता है ? क्योंकि वैदिक वाङ्मय में स्वर्ग की कामनावालों के लिए याग का विधान किया गया है। याग अनुष्ठानरूप क्रिया है; क्रिया केवल अनुष्ठान तक जीवित है, अपना अस्तित्व रखती है, आगे नष्ट हो जाती है। परन्तु वैदिक वाङ्मय में बताया गया याग का फल स्वर्ग, कालान्तर में प्राप्त होता है; उससे बहुत पहले यागरूप क्रियानुष्ठान के न रहने से स्वर्गफल का लाभ असम्भव होगा, क्योंकि कोई फल-कार्य बिना कारण के नहीं मिलता। तब वैदिक वाक्य—'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि अनर्थक—असंगत हो जाएगा, जो अभीष्ट नहीं, अथवा अनिष्ट है। उसकी सार्थकता व संगति को अक्षुण्ण रखने के लिए यह मानना न्याय्य है कि कर्मानुष्ठान अपूर्व-उद्भावन द्वारा स्वर्गफल को लाभ कराने में कारणरूप से विद्यमान रहता है।

यदि द्रव्य-गुणवाचक पदों को अपूर्व का विधायक माना जाता है, तो वह द्रव्यादि ही विधायक होगा, जिसका नामोल्लेखपूर्वक निर्देश किया गया है। यदि वह संस्कृत द्रव्य नष्ट हो जाय, अथवा उपलब्ध ही न हो, जैसे अब सोम उपलब्ध नहीं है, अथवा किसी प्रकार दूषित हो जाय, तो आधार द्रव्य आदि के न रहने से अपूर्व की उद्भावना ही न हो पाएगी। ऐसी अवस्था में आचार्यों ने यज्ञानुष्ठान की पूर्त्ति के लिए तो नष्ट, दूषित या अनुपलब्ध द्रव्य के प्रतिनिधि अन्य द्रव्य का विधान किया है; परन्तु वे यथाश्रुत द्रव्यादि न होने पर अपूर्व के उद्भावक नहीं माने जा सकते, अतः भाववाचक (=आख्यात) पद ही अपूर्व के बोधक हैं, यह सिद्धान्त निश्चित होता है। इससे अपूर्व का अस्तित्व निर्बाध प्रमाणित है ॥५॥ (इति अपूर्वस्यास्तित्वाधिकरणम्—२)।

(कर्मणां गुणप्रधानभावविभागाधिकरणम्—३)

शिष्य जिज्ञासा करता है—यह तो ज्ञात हो गया कि भाव पद ही कर्मजन्य अपूर्व के बोधक हैं; परन्तु भाव पद अनेक प्रकार के हैं—'यजति, जुहोति, ददाति' इत्यादि एक प्रकार है, तथा 'दोग्धि, पिनष्टि, विलापयति' इत्यादि दूसरा प्रकार है। उनमें सन्देह है—क्या ये सब प्रधान कर्मजन्य अपूर्व के बोधक हैं? अथवा इनमें कतिपय संस्कार-कर्म के ज्ञापक हैं? भावार्थक होने की समानता से सभी को प्रधान कर्म का वाचक क्यों न माना जाय? सूत्रकार आचार्य ने समाधान किया—

तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि ॥६॥

[तानि] आख्यातपद-बोधित वे कर्म [द्वैधम्] दो प्रकार के हैं—[गुणप्रधान-भूतानि] गुणभूत=गौण और प्रधानभूत=मुख्य।

दो प्रकार के जो भाववाचक पद बताये हैं, उनमें कतिपय 'यजति, जुहोति, ददाति' प्रधान कर्म के वाचक हैं; कतिपय—'दोग्धि, पिनष्टि, विलापयति' संस्कार-कर्म के वाचक हैं। ये दो विभाग हैं—पहला मुख्य, दूसरा गौण। ये सभी भाववाचक पद अर्थवाले हैं, अथवा विशेष प्रयोजन रखते हैं। जैसे प्रधान भाववाचक पद स्वर्गसाधन अपूर्व का बोध कराते हैं, ऐसे ही गौण भाव-वाचक पद याग में उपयोगी द्रव्यों के संस्कार आदि से आंशिक अपूर्व का बोध कराते हैं। संस्कृत होकर निर्दोष द्रव्य का ही याग में उपयोग किया जाना शास्त्र-विहित है। प्रधान कर्म के अङ्गभूत होने से ये कर्म तत्सम्बन्धी अपूर्व के ज्ञापक तो होते हैं, परन्तु स्वर्ग के साधन अपूर्व के साक्षात् बोधक नहीं होते ॥६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—इसमें निश्चायक हेतु क्या है कि एक प्रकार स्वर्ग-साधन अपूर्व का बोधक है, दूसरा नहीं? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते तानि प्रधानभूतानि द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥७॥

[यैः] आख्यात-पदबोध्य जिन कर्मों के द्वारा [द्रव्यम्] याग-होम आदि में आहुति आदि रूप से प्रयुक्त होनेवाले द्रव्य—घृतसामग्री, चरु, पुरोडाश आदि [चिकीर्ष्यते] संस्कृत किए जाने के रूप में चिकीर्षित [न] नहीं हैं, [तानि] वे आख्यात-पद [प्रधानभूतानि] प्रधानभूत माने जाते हैं। क्योंकि याग, होम आदि की दृष्टि से [द्रव्यस्य] द्रव्य के [गुणभूतत्वात्] संस्कार आदि कार्य गौण होने से।

पूर्वोक्त आख्यात-पदों के विभाग के अनुसार कतिपय आख्यात-पदबोध्य कर्म

उन द्रव्यों के—कूटने, छानने, शोधने, पकाने आदि का विधान करते हैं, जो द्रव्य याग आदि अनुष्ठान के समय उपयोग में आते हैं। इसके विपरीत जो आख्यात-पद द्रव्य-संस्कार आदि कार्यों का विधान नहीं करते, ऐसे आख्यात-पदों से बोध्य कर्म प्रधान विभाग में आते हैं। उनका अनुष्ठान साक्षात् अपूर्वोत्पत्ति द्वारा स्वर्गफल-प्राप्ति का साधन होता है। यह प्रधान कर्म का लक्षण किया गया ॥७॥

अब गुणकर्म का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत तस्य द्रव्यप्रधानत्वात् ॥८॥

[यैः] जिन आख्यात-पदों के द्वारा [तु] तो फिर [द्रव्यम्] द्रव्य-सम्बन्धी [चिकीर्ष्यते] संस्कार आदि करना अभीष्ट होता है, [गुणः] गुणकर्म [तत्र] वहाँ—ऐसे आख्यात-पदों में [प्रतीयेत] जाना जाता है। [तस्य] उस आख्यात-पदबोध्य कर्म के [द्रव्यप्रधानत्वात्] द्रव्यप्रधान होने से, द्रव्य का संस्कार ही उनका मुख्य लक्ष्य होने से।

ऐसे आख्यात-पदबोध्य कर्म गौण विभाग में आते हैं, जिनका मुख्य लक्ष्य—याग आदि प्रधान कर्मों के उपयोग में आनेवाले द्रव्यों का संस्कारमात्र है, जैसे—'व्रीहीन् अवहन्ति' वाक्य है—धान कूटता है। यहाँ 'अवहन्ति' आख्यात का अर्थ धान कूटने तक सीमित है, इसका इतना ही प्रयोजन है—धान कूटकर चावल अलग और तुष—छिलका अलग कर दिया जाय। इसी प्रकार अन्य वाक्य है—'तण्डुलान् पिनष्टि'—चावल पीसता है। यहाँ 'पिनष्टि' क्रिया चावल के पिस जाने पर सार्थक, सफल हो जाती है। ये इनके इष्ट फल हैं। अपने प्रयोग का फल सम्पन्न हो जाने से ये अन्य किसी फलोत्पत्ति की कल्पना के लिए षण्ढ हैं। ये केवल प्रधान कर्म के लिए संस्कृत द्रव्यों को प्रस्तुत कर उनके उपयोगी मात्र हैं, परार्थ हैं। अतः ये गौण कर्म माने जाते हैं ॥८॥ इति कर्मणां गुणप्रधानभाव-विभागाधिकरणम्—३)।

(सम्मार्जनादीनामप्रधानताधिकरणम्—४)

शिष्य जिज्ञासा करता है—कर्मों के गुण-प्रधान भाव का विभाग होने पर भी कतिपय वाक्यों में सन्देह है। वाक्य हैं—'स्रुचः सम्मार्ष्टि, अग्निं सम्मार्ष्टि, परिधिं सम्मार्ष्टि'—स्रुचों का, अग्नियों का, परिधियों का सम्मार्जन करता है, उन्हें साफ़ करता है; तथा 'पुरोडाशं पर्यग्निकरोति'—पुरोडाश का पर्यग्निकरण करता है, अर्थात् पुरोडाश के चारों ओर अंगारों को प्रदक्षिणा के समान दाहिनी ओर से लगाकर चारों ओर घुमाता है। इनके विषय में सन्देह है—क्या ये सम्मार्जन और पर्यग्निकरण प्रधान कर्म हैं, अथवा गुणकर्म? सातवें सूत्र में

बताए नियम के अनुसार इनका कोई दृष्टफल प्रतीत न होने से इन्हें प्रधान कर्म क्यों न माना जाय ? सूत्रकार ने प्रथम शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

धर्ममात्रे तु कर्म स्यादनिर्वृत्तेः प्रयाजवत् ॥६॥

[धर्ममात्रे] धर्म—अपूर्व की उत्पत्ति के विषय में [तु] तो [कर्म] सम्मार्जन आदि कर्म [स्यात्] होवें, अर्थात् सम्मार्जन आदि कर्म भी अपूर्व के उत्पादक होने से प्रधानकर्म माने जाने चाहिएँ। [अ-निर्वृत्तेः] सम्मार्जन आदि स्रुच् आदि द्रव्य के उपकारक हैं, इस बात की निर्वृत्ति—सिद्धि न होने से।

स्रुच्=जुहू, उपभृत् और ध्रुवा नामक तीनों यज्ञिय पात्रों का कुशा-तृणों से सम्मार्जन किया जाता है, इनके आगे-पीछे कुशा-तृण फिराकर इन्हें साफ किया जाता है। इसी प्रकार अग्नि के अंगारों पर राख आदि आ जाने से कुशा-तृणों द्वारा उसे झाड़ दिया जाता है, यही उसका सम्मार्जन है। ऐसे ही परिधियों का सम्मार्जन[1] होता है। पुरोडाश के पर्यग्निकरण[2] में तथा स्रुच् आदि के सम्मार्जन में कोई दृष्ट फल प्रतीत नहीं होता; अतः सप्तम सूत्र में बताई व्यवस्था के अनुसार इन कर्मों को अदृष्ट (अपूर्व) का उत्पादक प्रधानकर्म मानना चाहिए। जैसे 'प्रयाजान् यजति' वाक्य में 'प्रयाज कर्म से अपूर्व का उत्पादन करे' यह अर्थ जाना जाता है, ऐसे ही 'स्रुचः सम्मार्ष्टि' इत्यादि वाक्यों में 'स्रुच् आदि पात्रों के सम्मार्जन से अपूर्व को उत्पन्न करे' अर्थ विदित होता है; अतः इनको भी अपूर्वोत्पादक कर्म के विधायक वाक्य माना जाना उपयुक्त होगा ॥६॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

तुल्यश्रुतित्वाद्वा इतरैः सधर्म[3] स्यात् ॥१०॥

[तुल्यश्रुतित्वात्] तुल्यश्रवण होने से, द्रव्यों में द्वितीया विभक्ति का, [वा] पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है—सम्मार्जन आदि प्रधान कर्म नहीं।

---

१. स्रुच् आदि के सम्मार्जन के विषय में वैदिक वाङ्मय के ये स्थल द्रष्टव्य हैं— श० ब्रा०, १।३।१।१॥ तै० ब्रा० ३।३।१।१॥ कात्या० श्रौत० ३।१।१२॥ तै० ब्रा० ३।३।७।४॥ परिधि उन बसाद व ढाक की समिधाओं का नाम है, जो यज्ञकुण्ड के चारों पात्रोपयोग के लिए रक्खी जाती हैं।

यज्ञकुण्ड की आग को सुरक्षित रखने के लिए उसे ढाँपने के साधन या पात्र की नाम भी 'परिधि' है।

२. कात्या० श्रौत० २।५।२२॥ श्रौत पदार्थ निर्वचन, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १८, संख्या १४४; यु० मी०।

३. 'सधर्मा' इति सुबोधिनीपाठः।

[इतरैः] अन्य 'अवहनन' आदि गौण कर्मों के साथ [सधर्म] समान धर्मवाल [स्यात्] है।

'स्रुचः सम्मार्ष्टि' आदि वाक्यों में 'स्रुच्' आदि पद द्वितीया विभक्ति के साथ प्रयुक्त हैं। इन वाक्यों में द्वितीया विभक्ति 'व्रीहीन् अवहन्ति, तण्डुलान् पिनष्टि इत्यादि वाक्यों के समान ही सुनी जाती है। इन वाक्यों के सम्बन्ध में यह निश्चय किया गया है[1] कि द्वितीया विभक्ति कर्म कारक में होती है; पाणिनीय नियम [१।४।४९] के अनुसार 'कर्म' संज्ञा उसकी है, जो कर्त्ता को ईप्सिततम हो; अर्थात् कर्त्ता के अत्यन्त अभिलषित साधनद्रव्य की कर्म संज्ञा होती है। 'व्रीहीन् अवहन्ति' में कर्त्ता को—अवहनन=कूटना क्रिया द्वारा—व्रीहि-धानों को तुषरहित करना ही अत्यन्त अभीष्ट है, यह द्वितीया विभक्ति का प्रयोग स्पष्ट करता है। अवहनन द्वारा व्रीहि का यह संस्कार दृष्टफल है। जहाँ दृष्टफल क्रिया का स्पष्ट प्रतीत होता है, वहाँ अदृष्ट (अपूर्व) की कल्पना अन्याय्य मानी गई है। इस प्रकार जैसे 'व्रीहीन् अवहन्ति' इत्यादि वाक्य द्रव्य-संस्कार के विधायक होने से द्रव्यप्रधान हैं, और इसी आधार पर गौण कर्म माने जाते हैं, ठीक इसी प्रकार 'स्रुचः सम्मार्ष्टि' इत्यादि वाक्यों में भी 'स्रुच्' आदि पदों के साथ द्वितीया विभक्ति का श्रवण यह स्पष्ट करता है कि कर्त्ता को सम्मार्जन-क्रिया के प्रति 'स्रुच्' आदि साधनद्रव्य अत्यन्त अभिलषित हैं, और सम्मार्जन आदि द्वारा उनका संस्कार करना (सफाई आदि करना) ही उसे अभीष्ट है। अतः सम्मार्जन आदि का दृष्टफल स्पष्ट प्रतीत होने से उनके अदृष्ट फल की कल्पना करना अन्याय्य होगा। फलतः 'व्रीहीन् अवहन्ति' इत्यादि वाक्यों के समान 'स्रुचः सम्मार्ष्टि' इत्यादि वाक्यों में भी द्वितीया विभक्ति के तुल्य श्रवण से उनके समान इन्हें भी प्रधान कर्म नहीं माना जा सकता ॥ १०॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है—क्या द्वितीया विभक्ति प्रधानकर्म में ही होती है, गौण कर्म में नहीं ? सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

द्रव्योपदेश इति चेत् ॥११॥

[द्रव्योपदेशः] द्रव्य का उपदेश=द्रव्य की प्रधानता का निर्देश 'स्रुचः सम्मार्ष्टि' इत्यादि वाक्यों में है, [इति चेत्] ऐसा यदि मानते हो, तो यह ठीक नहीं।

द्वितीया विभक्ति सर्वत्र प्रधान कर्म में ही हो, ऐसा नियम नहीं है; गुणभूत कर्म में भी द्वितीया विभक्ति देखी जाती है, जैसे—'सक्तून् जुहोति' वाक्य है—सत्तुओं को आहुत करता है, अग्नि में उनकी आहुति देता है। यहाँ 'सक्तु' पद

१. द्रष्टव्य—चालू पाद का तृतीय अधिकरण।

गुणभूत है, प्रधान नहीं; क्योंकि यह याग या होम के लिए है; याग या होम प्रधान है, सक्तु नहीं। यहाँ गुणभूत में द्वितीया विभक्ति है। ऐसा ही 'स्रुच: सम्मार्ष्टि' आदि वाक्यों में मान लेना चाहिए। इसी प्रकार अन्य भी वाक्य हैं—'मारुतान् जुहोति'—मरुतों के लिए उद्दिष्ट पुरोडाशों को अग्नि में होमता है। यहाँ पर भी मारुत पुरोडाश होम के लिए हैं, होम प्रधान है, द्रव्य गुणभूत है; वहाँ द्वितीया विभक्ति है। ऐसा ही अन्य वाक्य—'एककपालं जुहोति' है। एक कपाल में संस्कृत पुरोडाश को अग्नि में होमता है। यहाँ होम के प्रधान होने पर गुणभूत द्रव्य पुरोडाश के लिए प्रयुक्त पद 'एककपाल' में द्वितीया विभक्ति है।

गुणभूत द्रव्य में द्वितीया विभक्ति के माने जाने से द्रव्य की अप्रधानता और सम्मार्जन-क्रिया की प्रधानता अवगत होती है। इससे सम्मार्जन को अपूर्व का उत्पादक क्यों न माना जाय? ॥११॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

न तदर्थत्वाल्लोकवत् तस्य च शेषभूतत्वात् ॥१२॥

[न] गुणभूत में द्वितीया विभक्ति होती है, यह कथन ठीक नहीं, [तदर्थत्वात्] होम के लिए होने से, [लोकवत्] लोक के समान, लोक में भी तदर्थ में द्वितीया विभक्ति देखी जाती है। [तस्य च] और उस स्रुच् आदि के [शेषभूतत्वात्] अङ्गभूत होने से; याग के लिए उपयोगी साधन आज्य आदि हवि के धारण करने में स्रुच् आदि अपेक्षित होने से उसके अङ्ग हैं।

द्वितीया विभक्ति गुणभूत में नहीं होती, यह प्रथम स्पष्ट किया जा चुका है। द्वितीया विभक्ति कर्म कारक में होती है; कर्म संज्ञा उसी पद की होती है, जिसका बोध्य अर्थ कर्त्ता को अत्यन्त अभिलषित[1] हो। प्रश्न उठता है—याग या होम में द्रव्य गुणभूत है, और गुणभूत में द्वितीया विभक्ति नहीं होती, तो 'सक्तून् जुहोति' वाक्य में गुणभूत 'सक्तु' द्रव्य पद से द्वितीया विभक्ति कैसे? उत्तर स्पष्ट है—'सक्तून् जुहोति' वाक्य का अर्थ है—'सक्तुभिर्हविर्द्रव्यैः होमं भावयेत्' सक्तु-संज्ञक हविद्रव्यों से होम को भावित करे—सिद्ध करे। 'जुहोति' क्रियापद में 'हु' का अर्थ 'होम' और 'ति' का अर्थ 'भावना' है। यहाँ पर कर्त्ता को अत्यन्त अभिलषित अर्थ होम है, जो 'जुहोति' में अन्तर्हित है। उस अत्यन्त ईप्सित होम का अनिवार्य साधनद्रव्य सक्तु हैं। यहाँ होम प्रधान और सक्तु गुणभूत हैं; परन्तु सक्तुओं के होमार्थ होने के कारण [तदर्थत्वात्] सक्तु पद के आगे द्वितीया विभक्ति औपचारिक है, गौण है। होम का अनिवार्य साधन होना ही यहाँ औपचारिकता है। तात्पर्य है—होम अपूर्व का उत्पादक है, वह प्रधानभूत है, सक्तु

---

१. द्रष्टव्य—पाणिनि सूत्र [२।३।२ तथा १।४।४९]

होम का अनिवार्य साधन होने से होम का प्राधान्य सक्तु में उपचरित है, अतः यहाँ द्वितीया प्रवृत्त हुई। होम का सम्पादन कर सक्तु का प्रयोजन पूरा हो जाता है। आगे कुछ भी उत्पन्न करने के लिए वह षण्ढ है।

यदि होम-सम्पादन के लिए कर्त्ता को सक्तु ईप्सिततम है, तो द्वितीया विभक्ति के प्रयोग में कोई बाधा नहीं। परन्तु इस प्रसंग में प्रधानभाव और गुण-भाव का आधार अपूर्वोत्पादन है। अपूर्व का उत्पादक प्रधान, अन्य गौण है। इस प्रकार क्रियापदबोध्य याग या होम ही प्रधान हैं; अन्य उनके साधनभूत द्रव्य आदि गौण हैं। 'स्रुचः सम्मार्ष्टि' आदि वाक्यों के विषय में दसवें सूत्र पर विवरण दे दिया गया है ॥१२॥ (इति सम्मार्जनादीनामप्रधानताकरणम्—४)।

(स्तोत्र-शस्त्रप्राधान्याधिकरणम्—५)

शिष्य जिज्ञासा करता है—देवताओं का स्तवन और शंसन किया जाता है। क्या यह देवता के प्रति गुणभूत है? अथवा प्रधान है? स्रुचों के सम्मार्जन आदि के समान इन्हें भी गुणभूत क्यों न माना जाय? सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो याज्यावत् देवताऽभिधानत्वात् ॥१३॥

[स्तुतशस्त्रयोः] स्तवन = सामगान द्वारा स्तुति, और शस्त्र-शंसन = यथाभूत ऋङ्मन्त्र का पाठ, ये दोनों [तु] तो [संस्कारः] संस्कार कर्म हैं, [याज्यावत्] याज्या के समान, जैसे याज्या संस्कार-कर्म है, ऐसे ही [देवताऽभिधानत्वात्] देवता का कथन करने से स्तोत्र और शस्त्र को संस्कार-कर्म मानना चाहिए।

सामगान द्वारा देवता की स्तुति के रूप में उसका वर्णन या कथन 'स्तोत्र' कहा जाता है। यथापठित ऋग्मन्त्र का उच्चारण करते हुए देवता के गुणकथन को 'शस्त्र'[1] कहते हैं। सूत्र में उदाहरण 'याज्यावत्' दिया गया है। श्रौत यागों में हव्य-द्रव्य की आहुति देने के लिए विभिन्न दो मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। पहले मन्त्र का प्रयोजन है—अभिप्रेत देवता का मन्त्रोच्चारणपूर्वक स्मरण करना; अन्य मन्त्र से उसी देवता को उद्देश्य कर हवि-द्रव्य की आहुति दी जाती है। इनमें पहला मन्त्र 'पुरोऽनुवाक्या' और दूसरा 'याज्या' कहा जाता है। जैसे याज्या में देवताकथन यागसाधन में उपकारक है, और वह संस्कारकर्म—गुणकर्म

---

१. प्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं स्तोत्रम्—गाये जाते ऋग्मन्त्रों से गुणी के गुण का कथन स्तोत्र, तथा अप्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं शस्त्रम्। बिना गाए यथापठित ऋग्मन्त्रों से गुणी के गुण का कथन शस्त्र कहा जाता है।

माना जाता है, ऐसे ही स्तोत्र और शस्त्र हैं। स्तवन और शंसन में याज्या के समान देवता का कथन होने से इन्हें भी संस्कारकर्म–गुणकर्म माना जाना चाहिए। स्तवन और शंसनविषयक वाक्य वैदिक 'वाङ्मय में देखे जाते हैं—'आज्यैः स्तुवते, पृष्ठैः स्तुवते' आज्यसंज्ञक एवं पृष्ठसंज्ञक स्तोत्रों से देवता की स्तुति करता है; इसी प्रकार 'प्रउगं शंसति, निष्केवल्यं शंसति'—प्रउगसंज्ञक शस्त्र को पढ़ता है, निष्केवल्य शस्त्र को पढ़ता है,—ये स्तवन और शस्त्र गुणवचन हैं। ये ऐसे ही वाक्य हैं, जैसे—'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्' (ऋ० १।३२।१) 'इन्द्र के पराक्रम का वर्णन करता हूँ', इत्यादि वाक्य हैं। ये स्तवन और शंसन-कर्म भी देवता के गुणों का वर्णन करते हैं, यही इनका प्रयोजन है। देवता-सम्बन्धी गुणों के प्रकाशनरूप संस्कार से इन्हें गुणकर्म मानना युक्त होगा ॥१३॥

आचार्य सूत्रकार जिज्ञासा का समाधान करता है—

अर्थेन त्वपकृष्येत देवतानामचोदनार्थस्य गुणभूतत्वात् ॥१४॥

[अर्थेन] अर्थ के अनुसार अर्थात् देवताप्रकाशनरूप प्रयोजन से [तु] तो (यह पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है), [अपकृष्येत] अन्यत्र ले-जाया जायेगा [देवतानामचोदना] देवतावाचक नाम से युक्त मन्त्र द्वारा किया जाने वाला स्तवन और शंसन का यह विधान, [अर्थस्य] स्तवन और शंसनरूप कर्म के [गुणभूतत्वात्] देवता के प्रति गुणभूत होने से।

सोमयाग के अन्तर्गत माहेन्द्र (महेन्द्र देवता के उद्देश्य से किए जानेवाले) ग्रहयाग की सन्निधि में 'इन्द्रप्रगाथ' पठित है। 'इन्द्रप्रगाथ' पद का अर्थ है—इन्द्र का स्तवन व प्रशंसन करनेवाले मन्त्र। ये मन्त्र ऋ० ७।३२।२२,२३ हैं। जब इन मन्त्रों द्वारा सामगान के रूप में देवता की स्तुति की जाती है, तब इसका नाम 'स्तोत्र' तथा जब यथापठित मन्त्र द्वारा पाठ करके देवता की प्रशंसा की जाती है, तब 'शस्त्र' कहा जाता है। ये स्तोत्र व शस्त्र देवता के स्तवनरूप स्वतन्त्र कर्म हैं, एवं अपूर्व के उत्पादक हैं। परमात्मा की स्तुति करने से आत्मा में धर्म-विशेष का उद्रेक होता है; वही अदृष्ट व अपूर्व की उत्पत्ति है।

यदि स्तोत्र और शस्त्र को संस्कारकर्म माना जाता है, तो यह मन्त्रनिर्देश गौण होगा, तथा देवता प्रधान। संस्कारकर्म का तात्पर्य है—प्रकृत अनुष्ठान में मन्त्र द्वारा देवता को प्रस्तुत करना। देवता के वर्णन के लिए प्रयुक्त होने के कारण मन्त्र, देवता की प्रतियोगिता में गुणभूत तथा देवता प्रधान है। ऐसी स्थिति में इन्द्र देवताविषयक स्तोत्र-शस्त्र को माहेन्द्र ग्रहयाग के सामीप्य से हटाकर वहाँ स्थानान्तरित करना होगा, जहाँ इन्द्र देवता के उद्देश्य से अनुष्ठान का विधान हो; क्योंकि स्तोत्र आदि द्वारा देवता का प्रस्तुत करना वहीं अपेक्षित होगा। ऐसी दशा में 'इन्द्रप्रगाथ' (इन्द्रविषयक स्तोत्र-शस्त्र) जिस क्रम में पढ़ा है, उसकी

बाधा होगी; तथा स्थानान्तरित होने से माहेन्द्र ग्रहयाग के सामीप्य का भी अवरोध होगा, अर्थात् यह सामीप्य भी बाधित होगा। अतः प्रस्तुत स्तोत्र-शस्त्र को संस्कारकर्म माने जाने के पक्ष का—दोषपूर्ण होने से—परित्याग करना ही उचित है।

फलतः ये स्वतन्त्र कर्म हैं, जो इन्द्ररूप परमात्मा की स्तुति आदि द्वारा आध्यात्मिक भावनाओं के उद्भावनरूप अपूर्व के उत्पादक हैं ॥१४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—ऐन्द्र स्तोत्र-शस्त्र को संस्कारकर्म ही क्यों न माना जाय? माहेन्द्र ग्रहयाग की सन्निधि में इन्द्रप्रगाथ (ऐन्द्र स्तोत्र-शस्त्र) के पठित होने मात्र से उक्त पक्ष का परित्याग करना आवश्यक न होगा; क्योंकि महेन्द्र और इन्द्र एक ही देवता है। शिष्य की जिज्ञासा को आचार्य ने सूत्रित किया—

वशावद्वा गुणार्थं स्यात् ॥१५॥

[वशावत्] वशा के समान [वा] निश्चित रूप से [गुणार्थम्] गुणनिर्देश के लिए [स्यात्] है, ऐन्द्रप्रगाथ।

माहेन्द्र ग्रहयाग प्रसंग में पठित ऐन्द्र स्तोत्र-शस्त्र को स्थानान्तर करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि महेन्द्र और इन्द्र पदों से बोधित देवता एक ही है। यह स्पष्ट है, 'महेन्द्र' पद महत्त्व-गुणसहित इन्द्र का कथन करता है, जबकि केवल 'इन्द्र' पद महत्त्व-गुणरहित इन्द्र का। परन्तु शास्त्र में अन्यत्र ऐसा देखा जाता है कि गुणनिर्देश से रहित पद भी गुणसहित अर्थ के निर्देश के लिए प्रयुक्त होता है। अतिदेश वाक्य है—'छागस्य[1] वपाया मेदसोऽनुब्रूहि' छाग की वपा और मेद के लिए कथन करो। यहाँ 'छाग' पद जातिवाचक होने से पुंल्लिंग-स्त्रीलिंग सबका बोधक है। अतः 'छाग' पद यहाँ 'छागी' का वाचक है, जिसके लिए कहा गया है—'सा वा एषा सर्वदेवत्या यदजा वशा' निश्चय ही वह सब देवताओं वाली है जो यह वशा (वन्ध्या) अजा है। मूल में 'छाग' पद उक्त प्रकार से छागी का वाचक गुणरहित प्रयुक्त भी वशा = (वन्ध्यात्वगुणयुक्त) अजा का निर्देश करता है। इसी प्रकार माहेन्द्र ग्रहयाग प्रसंग में पठित ऐन्द्रप्रगाथ का 'ऐन्द्र' पद गुणरहित भी, महत्त्व—गुणसहित इन्द्र (महेन्द्र) का बोधक होगा। अतः ये एक देवता होने से ऐन्द्रप्रगाथ का इन्द्र देवतावाले कर्म में स्थानान्तरण अपेक्षित नहीं है। अतः पूर्वोक्त कोई दोष न होने से इन्द्र-सम्बन्धी इस स्तोत्र-शस्त्र को संस्कारकर्म मानना उपयुक्त होगा ॥१५॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त जिज्ञासा का समाधान किया—

---

१. तै० ब्रा० ३।६।८॥ यजु० २१।४१॥

न श्रुतिसमवायि[1]त्वात् ॥१६॥

[न] संस्कार कर्म मानने पर ऐन्द्रप्रगाथ का स्थानान्तरण अपेक्षित न होगा, यह कथन युक्त नहीं है; क्योंकि [श्रुतिसमवायित्वात्] 'महेन्द्र' पद का श्रूयमाण तद्धित प्रत्यय के साथ स्पष्ट सम्बन्ध होने से।

'अभि त्वा शूर नोनिम' [ऋ० ७।३२।२२, २३] इत्यादि ऐन्द्रप्रगाथ (स्तोत्र, शस्त्र) की ऋचाओं में 'इन्द्र' पद श्रूयमाण है, अर्थात् श्रुतिपठित है, 'महेन्द्र' पद नहीं। इसके अतिरिक्त 'ऐन्द्रः प्रगाथः' में 'इन्द्र' पद से तद्धित 'अण्' प्रत्यय 'साऽस्य देवता' [४।२।२४] इस पाणिनि-नियम के आधार पर होता है—'इन्द्रो देवता अस्य प्रगाथस्य, इति ऐन्द्रः प्रगाथः' इन्द्र देवता है इस प्रगाथ का, इसलिये यह प्रगाथ 'ऐन्द्र' है। यहाँ तद्धित प्रत्यय की प्रकृति 'इन्द्र' है; प्रत्यय जिस प्रकृति के आगे होता है, उससे मिलकर उसी का बोध कराता है, अन्य का नहीं—यह प्रत्यय का स्वभाव है। इस प्रकार 'महेन्द्र' पद के आगे तद्धित प्रत्यय महेन्द्र प्रकृति का बोध करायेगा; उसके एकदेश 'इन्द्र' का नहीं—'महेन्द्रो देवता अस्य ग्रहस्य, इति माहेन्द्रो ग्रहः'। ग्रह नामक यागविशेष ज्योतिष्टोम के अङ्ग हैं। यहाँ 'महेन्द्र' समस्त (समासयुक्त महांश्चासौ इन्द्रः महेन्द्रः) प्रातिपदिक अर्थवान् है; उसका एकदेश 'इन्द्र' नहीं। यह केवल तद्धितार्थ को अभिव्यक्त करता है, अर्थात् इन्द्र को हवि का देवता होना। एक बार के उच्चारण में समासार्थ—इन्द्र का महत्त्व, और तद्धितार्थ—हवि का देवता होना, ये दोनों अर्थ अभिव्यक्त नहीं हो सकते। फलतः महेन्द्र से इन्द्र भिन्न देवता है, यह स्पष्ट होता है। इस कारण ऐन्द्र प्रगाथ= स्तोत्र-शस्त्र को संस्कारकर्म मानने पर इसका स्थानान्तरण वहाँ प्राप्त होगा, जहाँ इन्द्र देवता के उद्देश्य से याग का विधान हो। ऐसा होने पर सन्निधि की बाधा और अपकर्ष (स्थानान्तरण) आदि दोष प्रस्तुत होंगे। अतः प्रक्रान्त स्तोत्र-शस्त्र को संस्कारकर्म माने जाने का पक्ष सर्वथा त्याज्य है ॥१६॥

आचार्य सूत्रकार ने इन्द्र और महेन्द्र देवता के भिन्न होने में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

व्यपदेशभेदाच्च ॥१७॥

[व्यपदेशभेदात्] व्यपदेश=निर्देश के भेद से [च] भी, यह जाना जाता है कि इन्द्र महेन्द्र से भिन्न देवता है।

दर्श-पूर्णमास इष्टि के प्रसंग में गो-दोहन के अनन्तर इन्द्र और महेन्द्र भिन्न-

---

१. रामेश्वर सूरि विरचित 'सुबोधिनी' नामक वृत्ति में सूत्र का पाठ 'न श्रुति-समवायत्वात' है।

पदघटित कथन से दोनों का भेद स्पष्ट होता है। वहाँ पर वाक्य हैं—'बहु दुग्धीन्द्राय देवेभ्यो हविः' तथा 'बहु दुग्धि महेन्द्राय देवेभ्यो हविः'[1] गो-दोहन के अनन्तर उक्त प्रकार वाणी का उच्चारण किया जाता है। यदि इन्द्र और महेन्द्र देवता एक ही हो, तो दोनों पदों से पृथक् कथन करना व्यर्थ होगा। इसके अतिरिक्त मन्त्र में विकल्प-दोष भी प्राप्त होगा। इन्द्र और महेन्द्र दोनों को एक देवता मानने पर मन्त्रों पर विकल्प हो जायगा कि किसी भी एक मन्त्र से वाणी का विसर्जन करे। यह अशास्त्रीय होगा; क्योंकि ऐसे विकल्प का कोई संकेत यहाँ नहीं है ॥१७॥

आचार्य सूत्रकार ने इन्द्र-महेन्द्र देवताओं के भिन्न होने में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

गुणश्चानर्थकः स्यात् ॥१८॥

[च] और इन्द्र तथा महेन्द्र को एक देवता मानने पर [गुणः] महत् गुण [अनर्थकः] अनर्थक—व्यर्थ [स्यात्] हो जायगा।

विधि शब्द से यह जानने पर कि अमुक कर्म में इन्द्र देवता है, उसको हवि दी जानी है, तो इन्द्र-महेन्द्र के एक होने पर जहाँ महेन्द्र देवता है, वहाँ भी इन्द्र को हवि दी जायगी, तब इन्द्र के महत् गुण का कथन निष्प्रयोजन होगा। किसी विशेष्य पद का कोई विशेषण पद उस विशेष्य को अन्य विशेष्य से पृथक् रखता है। यदि 'इन्द्र' का महत् विशेषण उसको अन्य विशेष्य से पृथक् रखता, तो वह व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त यह भी द्रष्टव्य है कि ग्रह के ग्रहण प्रसंग में 'माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति' कहा है। उसका सम्बन्ध इन्द्र से नहीं है। यदि ऐसा होता, तो 'ऐन्द्रं ग्रहं गृह्णाति' कहा जाता। तब 'महत्' गुण का कथन व्यर्थ होता। इससे स्पष्ट है—इन्द्र और महेन्द्र पृथक् देवता हैं ॥१८॥

सूत्रकार ने इनके भिन्न होने में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

तथा याज्यापुरोरुचोः ॥१९॥

[तथा] उसी प्रकार–जिस प्रकार 'व्यपदेशभेदाच्च' सूत्र में 'बहु दुग्धि' मन्त्रों में इन्द्र और महेन्द्र का पृथक् निर्देश होने से उनका भिन्न देवता होना सिद्ध है, तथा उन्हें अभिन्न मानने पर मन्त्र का विकल्प-दोष दिया गया है—[याज्या पुरोरुचोः] याज्या और पुरोऽनुवाक्या में इन्द्र और महेन्द्र का पृथक् निर्देश है।

---

१. द्रष्टव्य—तै०ब्रा० ३।२।३॥ तथा सन्तुलन करें–**'तिसृषु दुग्धासुः बहु दुग्धीन्द्राय देवेभ्यो हविरिति त्रिरुक्त्वा वाचं विसृजते। माहेन्द्रायेति वा॥** मानव श्रौ० सू० १।१।३।२९॥

इन्द्र देवता की याज्या और पुरोऽनुवाक्या, तथा महेन्द्र देवता की याज्या और पुरोऽनुवाक्या के भेद से भी इन देवताओं का परस्पर भिन्न होना प्रमाणित होता है। इन्द्र देवता की पुरोऽनुवाक्या 'एन्द्र सानसिं रयिम्' [ऋ० १।८।१] ऋचा है तथा याज्या 'प्र ससाहिषे पुरुहूत शत्रून्' [ऋ० १०।१८०।१] ऋचा है। इसके विपरीत महेन्द्र की याज्या 'भुवस्त्वमिन्द्र ब्रह्मणा महान्' [ऋ० १०।५०।४] ऋचा है, एवं पुरोऽनुवाक्या 'महाँ इन्द्रो य ओजसा' [ऋ० ८।६।१] ऋचा है[1]। इससे इन्द्र और महेन्द्र का भेद स्पष्ट प्रतीत होता है। यदि इन्द्र और महेन्द्र को एक देवता माना जाता है तो याज्या पुरोऽनुवाक्या में विकल्प प्राप्त होगा। ऐसी अवस्था में किसी एक याज्या पुरोऽनुवाक्या का बाध स्वीकार करना होगा, जो अशास्त्रीय है ॥१६॥

सूत्र १५ में जिज्ञासु द्वारा प्रस्तुत 'वशावत्' दृष्टान्त के विषय में आचार्य सूत्रकार ने बताया—

वशायामर्थसमवायात् ॥२०॥

[वशायाम्] मन्त्र में पठित 'छाग' पद का प्रयोग—'अजा वशा' के अर्थ में किया गया—युक्त है, [अर्थसमवायात्] अर्थ—प्रयोजन से सीधा सम्बन्ध होने के कारण।

'अग्नये छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि' मन्त्र में 'छाग' पद जातिवाचक होने से छागी के लिए प्रयुक्त है, यह प्रथम कहा गया। परन्तु छाग या छागी पद से किसी कर्म का विधान नहीं है, सोमयाग के अन्तर्गत अग्निषोमीय पशुयाग का विधान सर्वत्र बताया है। वहाँ लिखा है—सा वा एषा, सर्वदेवत्या यदत्रा वशा, वायव्यामालभेत'—निश्चय ही वह सब देवोंवाली है, जो यह अजा वशा है, वायु देवतावाली अजा का आलभन करे। यहाँ कर्म का निर्देश अथवा विधान 'अजा वशा' पद से किया गया है। प्रश्न यह है कि पशुयाग के विधिवाक्य 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' में सामान्यपशु पद का प्रयोग होने से किसी भी पशु का आलभन किया जाय? अथवा केवल अज = बकरा पशु का? इस बिषय में आचार्यों ने सिद्धान्त किया है[2]—'छागो वा मन्त्रवर्णात्। अग्नये छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि' मन्त्र में छाग का निर्देश है। परन्तु 'छाग' पद के निर्देश द्वारा किसी कर्म का विधान न होने से यदि छाग पदबोध्य 'अज' का ग्रहण यहाँ न किया जाय, तो छाग के प्रयोग में 'समर्थ मन्त्र का पाठ व्यर्थ हो जायगा। इसलिए विधिवाक्य में पठित 'पशु' पद से

१. द्रष्टव्य—आश्वलायन श्रौतसूत्र, (१।६।१)।

२. इसका विस्तृत वर्णन आगे मीमांसा-दर्शन के अध्याय ६, पाद ८, अधिकरण १० तथा सूत्र ३० से ४२ तक में किया गया है।

छाग=अज पशु का ग्रहण ही अभीष्ट है।

पशुयाग प्रसंग में कर्म का विधान करते हुए 'अजा वशा' का निर्देश पूर्वोक्त वाक्य में उपलब्ध है। 'वशा' पद का अर्थ 'वन्ध्या' है। वन्ध्या होने की विशेषता 'अजा' में ही सम्भव है, 'अज' में नहीं। इसलिए निगमपठित 'छाग' पद सीधा अजा का बोध करायेगा, अज का नहीं। वन्ध्या होने रूप अर्थ का सम्बन्ध स्वभावतः अजा के साथ है। यहाँ गुणरहित या गुणसहित होने का प्रश्न नहीं उठता, अतः माहेन्द्रग्रह और ऐन्द्रप्रगाथ के प्रसंग में 'वशा' का दृष्टान्त प्रस्तुत करना असंगत है। इन्द्र अपने रूप में पूर्ण देवता है, उसे हवि के लिए अन्य किसी विशेषण की अपेक्षा नहीं है। इसलिए ऐसी दशा में यदि 'ऐन्द्र प्रगाथ' को संस्कारकर्म माना जाता है, तो इन्द्र देवतावाले कर्म में उसका स्थानान्तरण आवश्यक होगा, जो दोषपूर्ण है। अतः इसे प्रधान कर्म मानना उपयुक्त होगा।

रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनी वृत्ति में उक्त अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए 'प्रत्यक्ष' पद का अध्याहार स्वीकार किया है। अभिप्राय है—मन्त्र में श्रूयमाण छाग-पदबोधित जो छागी है, उससे अभिन्न अर्थात् तद्रूप ही 'वशा' है, यह प्रत्यक्ष से जाना जा सकता है, परन्तु इन्द्र पद से उपस्थाप्य देवता में महत्त्व-गुण केवल शास्त्र से जाना जाता है, यह दृष्टान्तगत वैषम्य है। फलतः उक्त प्रसंग में १५वें सूत्र से प्रस्तुत 'वशा'-दृष्टान्त असंगत है ॥२०॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है—'ऐन्द्र प्रगाथ' को संस्कारकर्म मानने पर यदि प्रयोजन की पूर्ति के लिए स्थानान्तरण होता है, तो हो जाय, इसमें क्या हानि है? आचार्य ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

यच्चेति वाऽर्थवत्त्वात् स्यात् ॥२१॥

[वा] पद पूर्वप्रतिपादित सिद्धान्त-पक्ष की निवृत्ति का अथवा जिज्ञासा के प्रकारान्तर का द्योतक है। तात्पर्य है—ऐन्द्र स्तोत्र-शस्त्र (प्रगाथ) प्रधानकर्म नहीं है। [यत्-च-इति] और यह जो कहा कि संस्कारकर्म मानने पर इन्द्रप्रगाथ का स्थानान्तरण हो जायगा, सो वह [अर्थवत्त्वात्] प्रयोजनवाला होने से [स्यात्] हो जाय।

ऐन्द्र स्तोत्र-शस्त्र को संस्कारकर्म मानने पर यदि इन्द्र देवता के उद्देश्य से किये जानेवाले कर्म के प्रसंग में उनका स्थानान्तरण होता है तो वह सप्रयोजन होने से दोषावह नहीं होगा। इन्द्र की स्तुति व प्रशंसा इसी प्रयोजन से है कि वह इन्द्र देवतावाले कर्म में सम्बद्ध हो, तब प्रगाथ के स्थानान्तरण में कोई दोष नहीं; क्योंकि इसी प्रयोजन के लिए वह है।

कुतूहलवृत्ति और सुबोधिनीवृत्ति में सूत्र के 'यच्चेति' पदों के स्थान पर 'यत्रेति' पाठ है। यह निर्देश उस स्थान का संकेत कर रहा है, जहाँ 'ऐन्द्र प्रगाथ'

के स्थानान्तरण होने का प्रथम उल्लेख किया। तात्पर्य है—जहाँ ऐन्द्र प्रगाथ का प्रयोजन पूरा होता है, वहाँ उसका उत्कर्ष या अपकर्ष हो जाय; इसमें कोई हानि नहीं। इन्द्र देवता के उद्देश्य से जहाँ कर्म का विधान है, उस लिङ्ग के आधार पर 'ऐन्द्र प्रगाथ' अपने क्रम व सान्निध्य को छोड़कर वहाँ उपस्थित किया जाता है, तो यह शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार है[1]। अतः ऐन्द्र स्तोत्र-शस्त्र को गुणकर्म मानने में कोई दोष नहीं ॥२१॥

सूत्रकार ने जिज्ञासा का आंशिक समाधान किया—

न त्वाम्नातेषु ॥ २२ ॥

[तु] सूत्र में 'तु' पद पूर्वोक्त ऐन्द्रप्रगाथ के स्थानान्तरण का बाधक है। [आम्नातेषु] प्रत्यक्ष पठित कर्मों में जहाँ अन्य प्रयोजन [न] नहीं है, वहाँ उत्कर्ष सम्भव नहीं।

उक्त प्रकार से यदि उत्कर्ष सर्वत्र माना जाता है, तो अनेकत्र ऐसे स्थलों में वह निरर्थक होगा; क्योंकि उसका प्रयोजन अथवा उपयोग वहाँ (स्थानान्तर में) नहीं है। इसलिए जहाँ वे मन्त्र पठित हैं, वहीं पर वे देवता (परमात्मदेव) की स्तुति (स्तोत्र) व प्रशंसा (शस्त्र) द्वारा अदृष्ट के जनक होने से प्रधान कर्म हैं, यही मानना उपयुक्त होगा।

कतिपय मन्त्र 'यम'[2] देवता विषयक हैं। वैदिक वाङ्मय में[3] इनके स्तोत्र-शस्त्र होने का कथन है। शाबरभाष्य में कतिपय निर्देश हैं—'याम्याः शंसति; शिपिविष्टिवतीः शंसति; पितृदेवत्याः शंसति; आग्निमारुतं शंसति'—'यम देवता-वाली ऋचाओं को पढ़ता है; शिपिविष्ट[4] पद से युक्त ऋचाओं को पढ़ता है; पितृ देवतावाली[5] ऋचाओं को पढ़ता है; अग्नि और मरुत् देवतावाले[6] मन्त्र पढ़ता

---

१. द्रष्टव्य—**'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम्, अर्थविप्रकर्षात्'** [मीमांसा, ३।३।१४] श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या में से किन्हीं दो की जब किसी कार्य में एकसाथ प्राप्ति हो, तो उनमें पूर्व की अपेक्षा पर दुर्बल होता है। लिङ्ग के मुकाबले स्थान (सन्निधि) के दुर्बल होने से स्थान-सान्निध्य को बाधकर लिङ्ग के बल पर ऐन्द्र प्रगाथ इन्द्र-देवताक कर्म में स्थानान्तरित हो जायगा।

२. द्रष्टव्य—ऋ० १०।१४।१३–१६॥ तथा ऋ० १०।१३५॥

३. द्रष्टव्य—ऐ०ब्रा०, ३।३५॥ आश्व०श्रौ० ६।१०॥ शांखा० श्रौ० ८।६।१३॥

४. द्रष्टव्य—ऋ० ७।९९।७ तथा ७।१००।६, ७॥

५. द्रष्टव्य—ऋ० १०।१५ सूक्त ॥

६. शाबर भाष्य में केवल 'आग्निमारुते' पाठ है, इसका पूर्वापर से कोई स्पष्ट

है।' यदि ये प्रसंग केवल देवता को प्रस्तुत करते हैं, तो इनका उत्कर्ष (स्थानांतरण) उन प्रसंगों में होना चाहिए, जहाँ उन देवताओं के उद्देश्य से कर्मों का विधान हो; परन्तु ऐसा सम्भव न होने के कारण इनका उत्कर्ष अभीष्ट नहीं है। क्योंकि इन ऋचाओं का कहीं अन्यत्र उपयोग नहीं, इसलिए ऐसे स्तोत्र-शस्त्र को यथास्थान ही देवता के रूप में परमात्मा के स्तवन-शंसनरूप प्रधान कर्म मानकर अदृष्टजनक स्वीकार करना उपयुक्त होगा। इन्हीं के समान 'ऐन्द्रप्रगाथ' का उत्कर्ष भी अभीष्ट नहीं माना जाना चाहिए। वह भी अपने रूप में प्रधान कर्म है।

शाबर भाष्य में कतिपय सूक्तों का उल्लेख किया है, जिनका कहीं अन्यत्र कर्म आदि में उपयोग नहीं है। ये हैं—कुषुम्भक सूक्त (ऋ० १।१९१), अक्ष सूक्त (ऋ० १०।३४), मूषिका सूक्त इत्यादि। इनका भी अन्यत्र कर्म में उपयोग न होने से इन्हें भी यथास्थान अध्ययन या पाठ आदि द्वारा अदृष्ट का जनक मानना चाहिए ॥२२॥

अन्यत्र उपयोग न होने के कथन पर जिज्ञासु ने तत्काल आपत्ति की, जिसको सूत्रकार ने सूत्रित किया—

दृश्यते ॥२३॥

[दृश्यते] देखा जाता है, उक्त प्रसंगों का उपयोग अन्यत्र।

उक्त प्रसंग वेद में जहाँ पढ़े गये हैं, वहाँ से अन्यत्र प्रसंगों में उनका उपयोग देखा जाता है। इसलिए उनके उत्कर्ष में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। इससे उनकी अर्थवत्ता (प्रयोजनवाला होना) सिद्ध है। ऐसे कतिपय स्थलों की अर्थवत्ता भाष्य में बताई है—अक्षसूक्त की राजसूय याग में। राजसूय प्रसंग में अक्षसूक्त का उत्कर्ष होने से उसकी वहाँ अर्थवत्ता है। कहा जाता है कि राजसूय में इसके अनुसार द्यूतक्रीड़ा का विधान है। परन्तु यह कथन नितान्त असंगत है; क्योंकि अक्षसूक्त में तो जुआ खेलने का स्पष्ट निषेध है—'अक्षैर्मा दीव्यः' पासों से मत खेलो। अक्षसूक्त का राजसूय में यही उपयोग माना जाना चाहिए कि राजसूय—जैसा भी याग है उसे—जुए का खेल न बनाया जाय। यदि किन्हीं स्तोत्र-शस्त्र या ऋचाओं की अर्थवत्ता अन्यत्र कहीं कर्म में स्पष्ट प्रतीत नहीं होती, तो उनकी

सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। कुतूहलवृत्तिकार ने 'आग्निमारुते शस्त्रे याम्याः शंसति पित्र्याः शंसति' ऐसा निर्देश कर पूर्व-पदों के साथ सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया है। अग्नि और मरुत् देवता सम्बन्धी शस्त्र में यम देवतावाली और पितृ देवतावाली ऋचाओं को पढ़ता है। यहाँ पाठ ऐ० ब्रा० (३।३५) के अनुसार दिया है।

अर्थवत्ता 'वाचस्तोम'[1] कर्म में बताई गई है। सभी ऋग्, यजुः, साम का 'वाचस्तोम' कर्म में पाठ का विधान है। इसी प्रकार अश्वमेध प्रकरण में 'पारिप्लव' आख्यान का कथन है। इसका तात्पर्य है—याग के चालू प्रसंग में अवकाश के अवसरों पर किसी भी वेद के मन्त्रों का पाठ होते रहना चाहिए। इसके लिए शास्त्रीय विशेष निर्देश या व्यवस्था नहीं है, इसीलिए इसका नाम 'पारिप्लव' है, जिसका भावार्थ होता है—अव्यवस्था।

इसी के अनुसार सोमयाग में प्रसंग है—अश्वि देवतावाली ऋचाओं से सूर्योदय तक शंसन (शस्त्र=यथापाठ उच्चारण) करे। यदि इस शस्त्र के पढ़ते हुए सूर्योदय न होवे, तो ऋग्वेद के किन्हीं भी सूक्तों या ऋचाओं का पाठ सूर्योदय होने तक करते रहना चाहिए। इस सबका यही तात्पर्य है—अनुष्ठानों के चालू प्रसंग में अवकाश के अवसरों पर मनुष्य-वाणी का प्रयोग नहीं होना चाहिए। ऐसे अवसरों पर उन स्तोत्र-शस्त्र अथवा ऋचाओं का पाठ किये जाने से अर्थवत्ता—उपयोगिता सिद्ध हो जाती है, जिनका अन्यत्र कर्मों में उपयोग होने का स्पष्ट निर्देश शास्त्र में न हुआ हो। फलतः सभी स्तोत्र-शस्त्र की अर्थवत्ता अन्यत्र सम्भव होने से उनका उत्कर्ष माने जाने में कोई बाधा न रहने के कारण यह कथन निराधार हो जाता है कि अनेक आम्नात=पठित स्तोत्र-शस्त्र की अन्यत्र अर्थवत्ता–उपयोगिता सम्भव न होनेसे उत्कर्ष माने जाने पर उनकी निरर्थकता हो जायगी।

रामेश्वरसूरिविरचित सुबोधिनी व्याख्या में उक्त दो (सं० २२, २३) सूत्रों की गणना व व्याख्या नहीं है। २१वें सूत्र के बाद वहाँ २२वाँ सूत्र वह है, जो यहाँ संख्या २४ पर निर्दिष्ट है। वस्तुतः ऐसा ज्ञात होता है कि ये सूत्र मूल रचना के नहीं हैं। सम्भवतः मध्यकालिक व्याख्याकारों ने २१वें सूत्र में उठाई जिज्ञासा का—अन्य बाधक आपत्ति उठाकर—समाधान करने का प्रयास किया, तथा उस प्रयास को अगले (२३वें) सूत्र से निरस्त किया। इसके पीछे उनकी यह भावना स्पष्ट ज्ञात होती है कि वे समस्त वेद की अर्थवत्ता या उपयोगिता को केवल कर्मकाण्ड में प्रयोग होने की सीमा के अन्तर्गत मानते रहे हैं, जो मूल शास्त्रीय मान्यता के अनुकूल नहीं है। क्योंकि वेद समस्त सत्य विद्याओं के ग्रन्थ हैं, इसी कारण सम्भवतः अनेक व्याख्याकारों ने इनको मूल सूत्र होने की मान्यता नहीं दी[2] ॥२३॥

सूत्र २१ में जो जिज्ञासा उभारी गई है, सूत्रकार उसका यथावत् समाधान

---

१. 'वाचस्तोम' कर्म क्या है? यह स्पष्ट नहीं हो सका। सम्भव है, अपेक्षित अवसरों पर ऋचाओं का अनवरत पाठ करना उक्त नाम का कर्म हो। इसका शब्दार्थ है, स्तुति एवं प्रशंसापूर्ण वाणियों का ढेर।

२. परन्तु हमने यहाँ शाबर भाष्य के अनुसार परम्परामूलक रहने दिया है।

प्रस्तुत करता है—

अपि वा श्रुतिसंयोगात् प्रकरणे स्तौतिशंसती क्रियोत्पत्तिं विदध्याताम् ॥२४॥

[अपि वा] ये पद, स्तोत्र-शस्त्र के पूर्वोक्त—संस्कारकर्म होने—का निरास कर उन्हें प्रधानकर्म बताने के द्योतक हैं। प्रधानकर्म होने में हेतु दिया—[श्रुति संयोगात्] श्रूयमाण सप्तमी विभक्ति के सम्बन्ध से। इसलिए [प्रकरणे] माहेन्द्र ग्रह प्रसंग में पठित [स्तौति शंसती] स्तौति और शंसति ये क्रियापद धात्वर्थ के आधार पर [क्रियोत्पत्तिम्] क्रिया—कार्य = अपूर्व रूप की उत्पत्ति का [विदध्याताम्] विधान करते हैं।

स्तोत्र-शस्त्र के प्रसंग में 'कवतीषु स्तुवते, शिपिविष्टवतीषु स्तुवते' इत्यादि में सप्तमी विभक्ति का सम्बन्ध श्रूयमाण है। तात्पर्य है—'क' वाली ऋचाओं पर स्तवन करता है, अर्थात् 'क' वाली ऋचाओं[1] का सामगान-रूप में उच्चारण करते हुए स्तुति करता है। इसी प्रकार 'शिपिविष्ट' पद[2] वाली ऋचाओं का सामगान-रूप में उच्चारण करता हुआ देवता का स्तवन करता है। 'स्तौति-शंसति' धातुओं का मुख्य अर्थ स्तुति करना है। स्तुति क्या है ? गुणी के विद्यमान और अविद्यमान गुणों का प्रकाश करना। यह स्तुति मुख्य कर्म है, और अपूर्वोत्पत्ति का विधायक है। यहाँ कर्मान्तर के लिए देवता को उपस्थित करना, इसका नितान्त भी तात्पर्य नहीं है। इसलिए जहाँ माहेन्द्र ग्रह प्रकरण में यह स्तोत्र-शस्त्र (ऐन्द्र प्रगाथ) पठित है, वहीं पर यह अदृष्ट (अपूर्व) का जनक प्रधान कर्म है। इसलिए यह कहना निराधार है कि यदि ऐन्द्र प्रगाथ के उत्कर्ष का कोई प्रयोजन है, तो उत्कर्ष हो जाय। वस्तुतः अपने प्रकरण में ही अपूर्व का जनक होने से प्रधान कर्म होने के कारण ऐन्द्र प्रगाथ के उत्कर्ष का अवकाश ही नहीं रहता।

यह कोई आवश्यक नहीं है कि अपूर्व का जनक (साधन = करण) होने से 'कवतीषु स्तुवते' में 'कवतीभिः स्तुवते' यह तृतीया विभक्ति का श्रवण हो। विभक्ति कोई भी हो 'स्तौति' धात्वर्थ के आधार पर स्तुति के लिए ही देवता का नाम लिया जाता है। धात्वर्थ के प्रधान होने से स्तवन-शंसन प्रधान कर्म हैं, देवता को प्रस्तुत करनेवाले संस्कारकर्म नहीं।

'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्' इत्यादि में, श्रूयमाण षष्ठी विभक्ति देवता

---

१. द्रष्टव्य—ऋ० ४।३१।१-३॥ तथा साम०, ६८२, ६८३, ६८४, का त्रिक, (सातवलेकर संस्करण)।

२. द्रष्टव्य—ऋ० ७।९९।७, ७।१००।७॥ साम० १६२७। ऋ० ७।१००।६॥ साम० १६२५। (सातवलेकर संस्करण)

की स्तुति का ही प्राधान्य अभिव्यक्त करती है। यदि देवता (इन्द्र आदि) पद के प्रथमान्त होने पर भी स्तुति का ही प्राधान्य रहता है, जैसे—'इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा' इन्द्र जंगम और स्थावर का राजा है—यहाँ स्तुति ही प्रधान है, देवता का कथन वाक्य-सम्बन्ध से स्तुति के लिए ही है। अतः ये स्तोत्र-शस्त्र अपूर्वोत्पत्ति का विधान करने के कारण प्रधान कर्म हैं, यही मान्य सिद्धान्त है ॥२४॥

स्तोत्र-शस्त्र के प्रधान कर्म होने में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

शब्दपृथक्त्वाच्च ॥२५॥

[शब्दपृथक्त्वात्] शब्द से पृथक्त्व = नियत नानात्व का बोध होने के कारण [च] भी, स्तोत्र-शस्त्र प्रधान कर्म हैं।

अग्निष्टोम नामक याग में बारह स्तोत्र और बारह शस्त्र होते हैं, यह शब्द-प्रमाण से जाना जाता है। यदि इन्हें प्रधान कर्म नहीं माना जाता, तो नियत बारह संख्या का होना सम्भव न होगा; क्योंकि स्तोत्र-शस्त्र को संस्कारकर्म माने जाने पर इनका प्रयोजन देवता का प्रकाशन करना ही होगा। उस दशा में देवता का स्तवन व शंसन एक ही गिना जायगा। तीन ऋचाओं का साम एक 'स्तोत्र' होता है, इसी प्रकार यथापठित तीन ऋचाओं का एक 'शस्त्र'। प्रधान कर्म मानने पर स्तोत्र-शस्त्र की संख्या नियत रहती है। यदि ऐसा न माना जाय, और भेद का आश्रय लिया जाय तो प्रत्येक ऋचा एक स्तोत्र-शस्त्र के रूप में गिनी जाने से इनकी नियत बारह संख्या का होना सम्भव न होगा। स्तोत्र-शस्त्र की बारह संख्या होने का शास्त्रीय[1] निर्देश [तै० ब्रा० १।२।२] इनके प्रधान कर्म होने को सिद्ध करता है ॥२५॥

---

१. तै० ब्रा० १।२।२ में कहा है, 'द्वादशाग्निष्टोमस्य स्तोत्राणि' इसके भाष्य में सायणाचार्य ने द्वादश स्तोत्रों का परिगणन इस प्रकार किया है—प्रातः सवन में—'बहिष्पवमान' नाम का एक स्तोत्र, और चार 'आज्य'-संज्ञक स्तोत्र (१+४=५)। माध्यन्दिन सवन में—'माध्यन्दिन पवमान' नाम का एक स्तोत्र, और 'पृष्ठ'-संज्ञक चार स्तोत्र (१+४=५)। तृतीय सवन में—'आर्भवपवमान'-संज्ञक एक स्तोत्र, और 'यज्ञायज्ञीय' नाम का दूसरा। इस प्रकार तीनों सवनों में ५+५+२=१२ स्तोत्र होते हैं।

स्तोत्रों के समान ही शस्त्रों की भी संख्या जाननी चाहिए। द्वादश शस्त्रों के नाम इस प्रकार हैं—प्रातः सवन में—(१) आज्य, (२) प्रउग, (३) मैत्रावरुण, (४) ब्राह्मणाच्छंसी, (५) अच्छावाक। माध्यन्दिन सवन में—(१) मरुत्वतीय, (२) निष्केवल्य, (३) मैत्रावरुण, (४) ब्राह्मणाच्छंसी, (५) अच्छावाक। तृतीय सवन में—(१) वैश्वदेव,

स्तोत्र-शस्त्र के प्रधान कर्म होने में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अनर्थकञ्च तद्वचनम् ॥२६॥

[अनर्थकम्] अनर्थक हो जाता है [च] तथा [तद्वचनम्] स्तोत्र-शस्त्र का कथन, अग्निष्टोम में।

यदि स्तोत्र-शस्त्र को संस्कारकर्म माना जाता है, तो अग्निष्टोम याग में आग्नेय ग्रह का कथन करने पर बताया, अग्नि देवतावाली ऋचाओं के आधार पर—अर्थात् उनका उच्चारण करते हुए स्तवन करते हैं; अग्नि देवतावाली ऋचाओं में शंसन करते हैं—स्तोत्र-शस्त्र का यह विधान अनर्थक हो जाता है।

'अग्निष्टोम' पद का अर्थ है—वह कर्म, जिसमें अग्नि का स्तवन किया जाय। अग्निस्तुति से कर्म की समाप्ति होने के कारण इसका नाम 'अग्निष्टोम' है। सोमयाग की समाप्ति सात प्रकार से होती है, उनके नाम हैं—अग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय, आप्तोर्याम। समाप्ति के कारण होने से—सन्तिष्ठतेऽनया—इनको 'संस्था' कहा जाता है। सोमयाग कर्म की जिस नाम से समाप्ति होती है, उसी के आधार पर यह नामकरण है। यदि स्तोत्र-शस्त्र संस्कारकर्म हैं, अर्थात् देवता का प्रकाशनमात्र करते हैं, तो आग्नेय ग्रहकर्म में ग्रहों के आग्नेय (अग्नि देवतावाले) होने से उसी अग्नि देवता के प्रकाशनरूप स्तोत्र-शस्त्र स्वभावतः आग्नेयी (अग्नि देवतावाली) ऋचाओं से ही सम्बद्ध होंगे, फिर वहाँ 'आग्नेयीषु स्तुवन्ति, आग्नेयीषु शंसन्ति' यह स्तोत्र-शस्त्र का विशेष विधान करना निष्प्रयोजन हो जाता है। अतः यह विधान स्तोत्र-शस्त्र के प्रधान कर्म होने को सिद्ध करता है। इन्हें प्रधान कर्म मानने पर ही उक्त विधि की सफलता है; क्योंकि अदृष्टोत्पत्ति की साधनता आग्नेयी ऋचाओं में सम्भव

---

(२) आग्निमारुतः। तीनों सवनों में ५+५=२=१२ शस्त्र।

स्तोत्र-शस्त्र को प्रधान कर्म न मानने की दशा में उनका प्रयोजन देवता का प्रकाशन या प्रस्तावन ही रह जाता है; तब स्तोत्र-शस्त्र की संख्या बारह न रहकर प्रकाशनरूप एकमात्र रहेगी। यदि फिर भी भेद स्वीकार किया जाता है, तो प्रति ऋचा स्तवन और शंसन होने से स्तोत्र-शस्त्रों की संख्या १२ तक ही सीमित नहीं रहेगी। प्रत्येक स्तोत्र का गान 'तृचे साम गीयते' नियम से तीन-तीन ऋचाओं पर गाया जाता है। स्तोत्र-शस्त्र को प्रधान कर्म मानने पर जितनी ऋचाओं में स्तोत्र या शस्त्र पूर्ण हो जाता है, उसे एक स्तोत्र व शस्त्र माना जाता है। इस प्रकार द्वादश संख्या उपपन्न हो जाती है।

(यु०मी०, इसी सूत्र की व्याख्या पर)।

है, यह केवल शास्त्रैकगम्य है, इसी कारण 'आग्नेयीषु स्तुवन्ति' इत्यादि विधान किया ॥२६॥

इसीकी पुष्टि में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अन्यश्चार्थः प्रतीयते ॥२७॥

[अन्यः] अन्य—भिन्न [च] तथा [अर्थः] अर्थ=प्रयोजन अर्थात् फल [प्रतीयते] जाना जाता है।

शास्त्र से यह जाना जाता है कि स्तोत्र का फल भिन्न है और शस्त्र का भिन्न। मैत्रायणी संहिता [४।८।७] में बताया है—'सम्बद्धे वै स्तोत्रं च शस्त्रं च' इसके अनुसार स्तोत्र और शस्त्र परस्पर भिन्न हैं, ऐसा जाना जाता है, क्योंकि सम्बद्ध बताये जाने की भावना का मूल, इनका परस्पर भिन्न होना है। सम्बन्ध दो भिन्न वस्तुओं में ही सम्भव है। इसी आधार पर स्तोत्र और शस्त्र भिन्न-भिन्न अपूर्व (अदृष्ट-फल) के उत्पादक हैं। यदि ऐसा नहीं माना जाता है, तो स्तोत्र-शस्त्र दोनों का एक ही देवता—स्मरण प्रयोजन होने से, जो स्तोत्र है वही शस्त्र है, ऐसा माना जायगा। इस दशा में शास्त्र का सम्बन्धविधायक कथन अनुपपन्न होगा।

कुतूहल-वृत्तिकार ने दोनों के भेद का उपपादक एक अन्य वाक्य उदाहृत किया है—'स्तुतमनुशंसति'। स्तोत्र के अनु=पश्चात् शंसन (शस्त्र) का यह निर्देश दोनों के भेद को स्पष्ट करता है। इससे स्तोत्र-शस्त्र के स्वतन्त्र कर्म होने पर प्रधान कर्म होना सिद्ध होता है ॥२७॥

इसी प्रसंग में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अभिधानं च कर्मवत् ॥२८॥

[अभिधानम्] अभिधान=कथन=निर्देश [च] भी [कर्मवत्] कर्म के समान देखा जाता है।

प्रधान कर्म के समान ही स्तोत्र-शस्त्र का निर्देश शास्त्र में देखा जाता है। प्रधान कर्म का निर्देश कर्म, कारक विभक्ति अर्थात् द्वितीया विभक्ति के साथ देखा जाता है। 'अग्निहोत्रं जुहोति, सन्ध्याम् उपासीत, समिधो यजति' अग्निहोत्र आदि प्रधान कर्मों का जैसे द्वितीया विभक्ति के साथ निर्देश है, ऐसे ही स्तोत्र-शस्त्र का निर्देश शास्त्र में उपलब्ध होता है, जैसे स्तोत्र का—'पृष्ठानि उपयन्ति'। यहाँ 'पृष्ठ'-संज्ञक स्तोत्र का द्वितीयान्त निर्देश है। इसी प्रकार 'प्रउगं शंसति, निष्केवल्यं शंसति' में 'प्रउग'-संज्ञक तथा 'निष्केवल्य'-संज्ञक शस्त्र का द्वितीया विभक्त्यन्त निर्देश है। इस आधार पर भी स्तोत्र-शस्त्र को प्रधान कर्म मानना युक्त है ॥२८॥

इसी अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

फलनिर्वृत्तिश्च ॥२६॥

[फलनिर्वृत्तिः] फल की सिद्धि [च] भी, स्तोत्र-शस्त्र के प्रधान कर्म होने को स्पष्ट करती है।

स्तोत्र और शस्त्र के नाम से अपूर्वोत्पत्तिरूप फल की सिद्धि का निर्देश शास्त्र में देखा जाता है। 'एष वै स्तुतशस्त्रयोर्दोहः' —यह निश्चित ही स्तोत्र और शस्त्र का दोह=फल है। स्तोत्र-शस्त्र से फलसिद्धि होने का निर्देश, इनको प्रधान कर्म माने जाने की पुष्टि करता है। यहाँ देवता के नाम से फल का निर्देश नहीं है। यह तभी सम्भव होता, जब स्तोत्र-शस्त्र को केवल देवता के गुण-कथन द्वारा उन्हें देवता का स्मारकमात्र माना जाता।

तैत्तिरीय संहिता (३।२।७) में स्तोत्र-शस्त्र से फलसिद्धि का स्पष्ट निर्देश उपलब्ध है। वह यजमान-सम्बन्धी वचन है। उसका भावार्थ है—उद्गाताओं से गीयमान हे स्तोत्र ! तू स्तोत्रों में उत्तम है, तू मेरे लिए श्रेष्ठ फल का दोहन कर, अर्थात् मुझे फल प्राप्त करा। इसी प्रकार शस्त्र के विषय में कहा—होताओं से उच्चरित हे शस्त्र ! तू शस्त्रों में उत्तम है, तू मेरे लिए सुफल का दोहन कर; अर्थात् मुझे प्राप्त करा। यहाँ स्तोत्र-शस्त्र से फलसिद्धि का निर्देश है, देवता के नाम से नहीं। अतः स्तोत्र-शस्त्र के अदृष्टफलोत्पादक स्वतन्त्र कर्म होने से उन्हें प्रधान कर्म मानना सर्वथा न्याय्य है।

यहाँ इस उपपादन का केवल इतना प्रयोजन है कि स्तोत्र-शस्त्र के प्रधान कर्म होने से इनका उत्कर्ष (स्थानान्तरण) देवता के अनुसार नहीं होगा। प्रधान कर्म होने का अन्य प्रयोजन एतद्विषयक सन्देह-स्थल में देखा जाता है। जहाँ ग्रहयाग का देवता भिन्न हो, और स्तोत्र-शस्त्र का भिन्न, वहाँ सन्देह होता है—क्या ग्रहयाग के देवता के अनुसार स्तोत्र-शस्त्र में देवता का ऊह (=परिवर्तन) किया जाय, अथवा नहीं ? जैसे अग्निष्टुत् नामक एकाह याग में आग्नेय ग्रह कहे गये हैं। उससे सम्बद्ध स्तोत्र-शस्त्र के देवता, ग्रह के देवता अग्नि से भिन्न हैं। क्या यहाँ स्तोत्र-शस्त्र के देवता के स्थान पर ग्रह देवता का परिवर्तन कर लिया जाय ? इस सन्देह का समाधान यही किया गया है कि स्तोत्र-शस्त्र के प्रधानकर्म होने से उनमें किसी प्रकार का ऊह=परिवर्तन या विकार नहीं किया जा सकता। इनके प्रधान कर्म माने जाने का यह भी प्रयोजन है ॥२६॥ (इति स्तोत्र-शस्त्र-प्राधान्याधिकरम्—५)।

(मन्त्राऽविधायकत्वाधिकरणम्—६)

शिष्य जिज्ञासा करता है—जो क्रियापद (आख्यात) मन्त्र में प्रयुक्त हैं, वे

ही वैदिक वाङ्मय के ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में देखे जाते हैं। मन्त्रभाग में क्रियापद केवल धात्वर्थ का अभिधायक माना जाता है, जबकि वही क्रियापद ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में विधायक=विधि के अनुष्ठान में प्रेरित करनेवाला कहा जाता है। ऐसा क्यों?

गुरु—इस विषय में तुम्हारा क्या विचार है?

शिष्य—जब दोनों स्थानों में क्रियापद समान हैं, तो अर्थाभिव्यक्ति—अर्थ के प्रकाशित करने में भी समानता होनी चाहिए। मन्त्रभाग में प्रयुक्त क्रियापद को भी विधायक माना जाना चाहिए। सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात्[1] ॥३०॥

[विधिमन्त्रयोः] विधि–विधायक ब्राह्मणग्रन्थ और मन्त्र में पठित क्रियापदों का [ऐकार्थ्यम्] समान अर्थ होता है, [ऐकशब्द्यात्] उभयत्र समान शब्द होने से।

ऋग्वेद [६।२८।३] में मन्त्र है—

न ता नशन्ति दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवाँश्च याभिर्यजति ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह॥

यह सूक्त गायों के विषय का है; सूक्त का देवता गाय हैं। वे गाय नष्ट नहीं होती, चोर उन्हें दुःखी नहीं करता, शत्रु द्वारा प्रेरित प्रतिकूलता भी उनपर आक्रमण नहीं करती। देवों को लक्ष्य कर जिन गायों (गोघृत-दुग्ध आदि) से यजन करता व दान करता है, गोपति चिरकाल तक उन गायों के साथ संगत रहे। गायों का विछोह गोपति को कभी अनुभव न करना पड़े।

इस मन्त्र में 'यजति, ददाति' आख्यात-पद उदाहरण के रूप में यहाँ प्रस्तुत हैं। मन्त्र में इनका केवल इतना अर्थ है कि यजन एवं दान करना चाहिए, यह अभीष्ट कर्म है। परन्तु ब्राह्मण में इसका अर्थ— द्रव्य, देवता, क्रिया अर्थात् अनुष्ठान आदि समस्त विधि-विधान अभिहित होता है। ऐसा न होकर सर्वत्र समान अर्थ होना चाहिए, क्योंकि 'यजति' आदि आख्यात-पद उभयत्र समान रूप से प्रयुक्त हैं। तात्पर्य है, मन्त्र में भी आख्यात-पदों को विधायक (विधि का बोधक) माना जाना चाहिए ॥३०॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

---

१. रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनी व्याख्या में 'एकशब्दात्' पाठ है।

अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात् ॥३१॥

[अपि वा] ये पद पूर्वोक्त कथन की आंशिक निवृत्ति के द्योतक हैं—अथवा ऐसे भी मान लेना चाहिए [प्रयोगसामर्थ्यात्] प्रयोग के सामर्थ्य = साफल्य से [मन्त्रः] मन्त्रगत आख्यात-पद [अभिधानवाची] धात्वर्थमात्र का बोधक अर्थात् क्रियमाण कर्म (याग, दान आदि) का केवल बोध करानेवाला [स्यात्] होता है। इसी में उसकी सफलता है।

उदाहृत प्रसंग में मन्त्रगत 'यजति, ददाति' आदि आख्यात-पदों का—गाय के घृत-दुग्ध आदि से याग का अनुष्ठान करना चाहिए, एवं गोदान करना चाहिए, यह बोध कराना ही—फल है, अर्थात् इन पदों का इतना ही प्रयोजन है। ब्राह्मण-भाग में प्रयुक्त आख्यात-पदों का यदि इतना ही अर्थ हो, तो वह निष्फल है; वह तो मन्त्रगत पदों से अभिव्यक्त हो चुका है, इसलिए वहाँ आख्यात-पद याग एवं दान आदि का विधायक माना जाता है। तात्पर्य है—वह आख्यात-पद धात्वर्थ-मात्र को न कहकर यागसम्बन्धी 'द्रव्य, देवता, क्रिया' आदि सबके विधान को अभिव्यक्त करता है। मन्त्र कर्म की केवल उपादेयता को बताता है, ब्राह्मण उसके विधि-विधान को। अतः मन्त्र को अविधायक माना गया है।

मध्यकालिक मीमांसकों की परम्परा में उक्त मान्यता रही है; वस्तुतः यह सिद्धान्त प्रायिक है। मन्त्रगत आख्यात-पद भी विधायक देखे जाते हैं। इस विषय में यजुर्वेद का चौबीसवाँ अध्याय द्रष्टव्य है, विशेषकर संख्या बीस से लेकर आगे के कतिपय मन्त्र। इनमें 'आलभते' आख्यात-पद को विधायक माना जाता है। मीमांसा में धर्म का लक्षण 'चोदना' कहा है, इसका अर्थ है—प्रेरक वाक्यबोधित कर्त्तव्य। प्रेरणा निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों के लिए होती है, 'सुरां न पिबेत्' सुरा न पिये, यह निवृत्ति के लिए प्रेरणा है। 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' अग्निहोत्र होम करे, यह प्रवृत्ति के लिए प्रेरणा है। इनको विधायक वाक्य माना जाता है। इसी प्रकार **'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व'** [ऋ० १०।३४।१३] ये मन्त्रगत वाक्य भी पूर्वोक्त वाक्यों के समान ही निवर्त्तक और प्रवर्त्तक हैं। अतः इन्हें भी विधायक माने जाने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसी कारण सूत्रकार ने गत सूत्र में मन्त्र का जो लक्षण किया कि—मन्त्र अविधायक होता है, वस्तुतः यह लक्षण प्रायिक है। अगले सूत्र [३२] में शबर स्वामी भाष्यकार ने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार किया है ॥३१॥ (इति मन्त्राऽविधायकत्वाधिकरणम्—६)।

(मन्त्रनिर्वचनाधिकरणम्—७)

शिष्य जिज्ञासा करता है—गत सूत्र में 'मन्त्र' को अभिधानवाची अर्थात् धात्वर्थमात्र का बोधक कहा गया, पर यह नहीं बताया कि मन्त्र है क्या? सूत्र-

कार ने मन्त्र का लक्षण बताया—

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ॥३२॥

[तत्—चोदकेषु] कर्म की उपादेयता के प्रेरक वाक्यों में [मन्त्राख्या] 'मन्त्र' संज्ञा का व्यवहार होता है।

गत सूत्र में मन्त्र का जो स्वरूप बताया गया—मन्त्र अभिधानवाची है, इसका यही तात्पर्य है कि—कर्म की उपयोगिता का कथन करनेवाला मन्त्र है। हमारे विचार से मन्त्र का यह लक्षण यथार्थ है, निर्दोष है। उसी भाव को—सूत्रकार ने अधिक स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत सूत्र द्वारा पदान्तरों से अभिव्यक्त किया है। सूत्र के 'तत्' सर्वनाम पद का अर्थ है—कर्म की उपादेयता-अनुपादेयता। कौन कर्म उपादेय है, कौन अनुपादेय, इतने मात्र अर्थ का बोध करानेवाले वाक्यों में 'मन्त्र' संज्ञा का व्यवहार किया जाता है। वेद अर्थात् मूल संहिताभाग में प्रयुक्त आख्यात-पद कर्म की केवल उपादेयता-अनुपादेयता का बोध कराते हैं। ऐसे आख्यात-पदों से युक्त वाक्यसमूह 'मन्त्र' कहा जाता है।

अनेक बार ऐसे वाक्यों में भी 'मन्त्र' पद का व्यवहार होता देखा जाता है, जहाँ आख्यात-पद केवल धात्वर्थ का निर्देश न कर, याग-होम-दान आदि के विधि-विधान का बोधक होता है। ऐसे वाक्यसमूह में मन्त्र पद का प्रयोग औपचारिक ही समझना चाहिए, 'सिंहो माणवकः' के समान। समस्त मन्त्रभाग में प्रयुक्त आख्यात-पद—चाहे वह सिद्ध अर्थ का बोध कराने के लिए प्रयुक्त है, अथवा क्रियमाण कर्म की उपादेयता या अनुपादेयता का बोध कराने के लिए, इतने मात्र से अतिरिक्त उसका अन्य कोई बोध्य अर्थ नहीं होता। मन्त्र का यह लक्षण केवल मूल वेदसंहिता में घटित होता है।

फलतः मन्त्रगत आख्यात-पद—याग, दान, होम, उपासना, कृषि प्रभृति क्रियमाण कर्मों की उपादेयता—एवं अनेक निषेधयुक्त आख्यात-पद कर्म की अनुपादेयता—मात्र का बोध कराते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक आख्यात-पद सिद्ध वस्तुओं के अस्तित्व का—उनकी विशेषताओं के साथ—बोध कराते हैं। इसमें उनके शुद्ध धात्वर्थ का ही अभिव्यञ्जन होता है। इस प्रकार मन्त्र अर्थात् मूल वेद-संहिता का यह लक्षण अपने रूप में पर्याप्त व निर्दोष है।

अनेक विस्तृत वस्तु (=आख्यात) समुदाय के स्वरूप का लक्षण द्वारा निरूपण करने पर उसके समझने में बड़ी सुविधा होती है। सर्वत्र बिखरे आख्यात-पदों का—एक-एक का नाम लेकर यह बताना—कि, यह विधायक है और यह अविधायक—सम्भव नहीं। इसके आधार पर मन्त्र-ब्राह्मण का विभाजन भी असम्भव होगा। अतएव आचार्यों ने लक्षण के महत्त्व को समझते हुए बताया है—

ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः ।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः ॥

ऋषिजन भी पृथक्-पृथक् रूप से पदार्थों का अन्त नहीं पाते, परन्तु लक्षण से सिद्ध = निर्दिष्ट—निरूपित वस्तुओं का बुद्धिजीवी जन भी अन्त पा जाते हैं। इस प्रकार लक्षण द्वारा 'मन्त्र' पद से चार संहिताओं—ऋक्, यजुः, साम, अथर्व का बोध होता है; क्योंकि इन संहिताओं में किसी कर्म के विधि-विधान प्रकार का निरूपण नहीं है। यहाँ आख्यात-पद केवल कर्म की उपादेयता आदि को बताता है। विधि-विधान का प्रकार बताना ब्राह्मण आदि ग्रन्थों का विषय है ॥ ३२ ॥ (इति मन्त्रनिर्वचनाधिकरणम्—७)।

(ब्राह्मणनिर्वचनाधिकरणम्—८)

गत सूत्र से मन्त्र का लक्षण कर आचार्य ने ब्राह्मण का लक्षण बताया—

शेषे ब्राह्मणशब्दः ॥ ३३ ॥

[शेषे] मन्त्र से अतिरिक्त जो भाग आम्नाय का बच जाता है, उसमें [ब्राह्मण-शब्दः] ब्राह्मण पद का व्यवहार समझना चाहिए।

यज्ञादि कर्मों की निष्पत्ति में जिन ग्रन्थों का प्रयोग किया जाता है, उनको सूत्रकार ने [१।२।१ सूत्र में] 'आम्नाय' पद से कहा है। 'श्रुतिस्तु वेद आम्नाय' कोश[1] के अनुसार श्रुति, वेद, आम्नाय पद समान अर्थ को कहते हैं। कौशिक सूत्र (१।३) में कहा है—**'आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च'** इसके अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को आम्नाय अथवा वेद पद से कहा जाना चाहिए। वस्तुतः इन पदों का प्रयोग मुख्य रूप से चार मूल संहिताओं—ऋक्, यजुः, साम, अथर्व के लिए होता है। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत ब्राह्मणभाग के लिए 'वेद' पद का प्रयोग नितान्त पारिभाषिक है; जैसे पाणिनीय व्याकरण अष्टाध्यायी में वृद्धि और गुण-पदों का प्रयोग है। इसलिए 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्यादि वाक्यों का क्षेत्र केवल यज्ञसम्बन्धी ग्रन्थों के व्यवहार तक सीमित है। अन्यत्र व्यवहार में यदि ऐसा प्रयोग किया जाता है, तो उसे नितान्त औपचारिक ही समझना चाहिए।

अब प्रश्न होता है, यदि सूत्रकार को मुख्य रूप में मन्त्र-ब्राह्मण दोनों के लिए वेद पद का प्रयोग अभिप्रेत होता, तो गत सूत्र से मन्त्र का लक्षण कर देने पर 'ब्राह्मण' का लक्षण करना अनावश्यक था, क्योंकि वह परिशेष से स्वतः सिद्ध हो जाता। जो मन्त्र-लक्षण के अन्तर्गत नहीं आता, वह शेष अर्थात् बचा हुआ ब्राह्मण है। फिर भी सूत्रकार ने पृथक् सूत्र लिखकर लक्षण किया, इसमें 'शेष' पद का क्या

१. अमरकोश

अभिप्राय है ? यह विवेच्य है।

चालू प्रसंग में मन्त्र-ब्राह्मण-स्वरूप को समझने के लिए मुख्य आधार आख्यात-पदप्रयोग को माना है। जहाँ आख्यात केवल अभिधेयवाची अर्थात् धात्वर्थमात्र का बोधक है, केवल कर्म की उपादेयता-अनुपादेयता का बोध कराता है, वह मन्त्र है। तथा वैदिक वाङ्मय के जिन ग्रन्थों में बाहुल्य से आख्यातपद केवल धात्वर्थ को न कहकर योगसम्बन्धी द्रव्य, देवता, क्रिया आदि सबके विधान को अभिहित करता है, वह ब्राह्मण है। सूत्र में 'शेष' पद का यही अर्थ है; आख्यात-पद के धात्वर्थमात्र से अतिरिक्त बचा हुआ अर्थ। यह द्रव्य, देवता, क्रिया आदि आख्यात का अर्थ अधिकता से जिन ग्रन्थों में अभिहित हुआ है, उन्हें ब्राह्मण जानना चाहिए।

ऐसे प्रयोग के आधार को संकेत मानकर वृत्तिकार उपवर्ष ने जिज्ञासुओं की सुविधा के लिए अन्य अनेक प्रकार के साधन बताये हैं, जिनसे ब्राह्मण-ग्रन्थों की पहचान होती है। उनको सम्भवतः उपवर्ष ने स्वयं, अथवा किसी अन्य आचार्य ने निम्न प्रकार श्लोकबद्ध किया है—

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना॥
उपमा च दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य हि।
एतद्वै सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्॥[1]

हेतु—जहाँ हेतु, साधन का निर्देश किया गया हो वह ब्राह्मण जानना चाहिए, जैसे—'शूर्पेण जुहोति, तेन हि अन्नं क्रियते' सूप से होम करता है, क्योंकि उससे अन्न साफ किया जाता है। यहाँ होम का साधन–हेतु सूप कहा है, यह ब्राह्मणग्रन्थ की पहचान है; अथवा ऐसा कथन जहाँ हो, वह ग्रन्थ ब्राह्मण कहा जाता है।

निर्वचन—किसी पद का अर्थ बताना, जैसे—'तद् दध्नो दधित्वम्' वह दही का दहीपन है। यहाँ दही अर्थ को स्पष्ट किया गया है।

निन्दा—बुराई या दुर्बलता का कथन होना जैसे—'उपवीता वा एतस्याग्नयः इसकी अग्नियाँ निश्चित निर्वीर्य—अशक्त हो गई हैं, बुझ गई हैं। होम—अग्नि-कार्य का न होना निन्दा है।

प्रशंसा—स्तुति करना, जैसे—'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' केवल वायु अत्यन्त शीघ्रकारी देवता है। यह वायु देवता की स्तुति है।

संशय—किसी विषय में सन्देह प्रकट करना, जैसे—'होतव्यं गार्हपत्ये न

---

१. इन श्लोकों के विषय में ब्रह्माण्ड पुराण [१।३३।४७-४८]; तथा वायुपुराण [५९।१३३–१३९] द्रष्टव्य हैं।

होतव्यम्' गार्हपत्य अग्नि में होम करना चाहिए अथवा नहीं ? ऐसा कथन **ब्राह्मण-ग्रन्थ** का चिह्न माना जाता है।

विधि—विधान करना, किसी कार्य का निर्देश करना, जैसे—'यजमान-सम्मिता औदुम्बरी भवति' औदुम्बरी = उदुम्बर—गूलर वृक्ष की शाखा यजमान के बराबर ऊँची होती है। यह शाखा के परिमाण का विधान है।

सोमयाग के सदोमण्डप में गूलर वृक्ष का बना एक स्तम्भ बीच में गाड़ा जाता है, जिसे छूकर उद्गाता सामगान करता है। यजमान के बराबर ऊँचाई भूतल से ऊपर नापी जाती है; जो भाग स्तम्भ का भूमि के अन्दर गड़ा रहता है, वह अतिरिक्त है। अनेक यजमान होने पर, किसी एक यजमान के साथ स्तम्भ की समता अन्यों के लिए भी वही उपयुक्त मानी जाती है।

परक्रिया—अथवा परकृति, अन्य के किए कार्य का निर्देश करना, जैसे—'माषानेव मह्यं पचत' मेरे लिए माष = उड़द ही पकाओ। यह अन्य के कार्य का कथन है।

पुराकल्प—पहले की किसी घटना का उल्लेख करना, जैसे—'उल्मुकैर्ह स्म पूर्वे समाजग्मुः' उल्मुकों—अंगारों के साथ ही पूर्वजन आए थे।

स्तुति, निन्दा, परकृति, पुराकल्प का अर्थवाद के रूप में निर्देश गौतमीय न्यायसूत्र [२।१।६४] में भी किया गया है। परकृति की व्याख्या करते हुए वात्स्यायन में लिखा है—अन्य कर्त्ताओं द्वारा अनुष्ठित परस्पर-विरुद्ध विधि का कथन करना 'परकृति' है। उदाहरण दिया है—**'हुत्वा वपामेवाग्रेऽभिघारयन्ति, अथ पृषदाज्यम्; तदु ह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिघारयन्ति अग्नेः प्राणाः पृषदाज्यं स्तोममित्येवमभिदधति।'** तात्पर्य है—कतिपय होता हवन प्रारम्भ करके वपा का ही प्रथम अग्नि में सेचन करते हैं। परन्तु चरक शाखा के अध्वर्यु जन दधिमिश्रित घृत (= पृषदाज्यम्) की ही प्रथम आहुति अग्नि में देते हैं; स्तुत्य दधि-घृत अग्नि के प्राण हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हैं। इस सन्दर्भ में भिन्नकर्त्तृक परस्पर-विरोधी दो विधियों का उल्लेख किया गया है।

पुराकल्प-अर्थवाद की व्याख्या करते हुए वात्स्यायन-भाष्य में लिखा है—

पुराकल्प वह है—जिसमें बीते हुए अर्थों का इतिहास के समान विवरण प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरण दिया है—**'तस्माद्वा एतेन ब्राह्मणा बहिष्पवमानं सामस्तोममस्तौषन्—योने यज्ञं प्रतनवामहे'** इत्यादि। तात्पर्य है—इस कारण उक्त क्रम के अनुसार वेदज्ञ ऋत्विजों ने बहिष्पवमान नामक साम स्तोत्र के द्वारा स्तुति की। यह इतिहास के समान प्रतीत होनेवाला—बीते हुए अर्थ का-विवरण है।

कुमारिल भट्ट ने एकपुरुषकर्तृक उपाख्यान को 'परकृति' तथा बहुपुरुष-कर्तृक उपाख्यान को 'पुराकल्प' कहा है। यथाक्रम उदाहरण हैं—**'तदु ह स्माहापि**

बर्कुर्वार्ष्णो माषान् मे पचत न वा एतेषां हविर्गृह्णन्तीति' [शत० १।१।१।१०]। बर्कु वार्ष्ण ने कहा—मेरे लिए उड़द पकाओ, क्योंकि इनकी हवि देवता ग्रहण नहीं करते। यह बर्कु वार्ष्ण नामक एकपुरुषकर्त्तृक उपाख्यान 'परकृति' है। दूसरे पुराकल्प का उदाहरण दिया है—**'उल्मुकैर्ह स्म पूर्वे समाजग्मुः'** अंगारों (उल्मुक) के साथ पूर्वकालिक जन आए थे। यह बहुपुरुषकर्त्तृक उपाख्यान 'पुराकल्प' है। फिर भी इन आचार्यों के विभिन्न विवरणों में कोई विशेष तात्त्विक भेद नहीं है। वात्स्यायन द्वारा निर्दिष्ट परकृति के उदाहरण में बहुबचन का प्रयोग वैशम्पायन (चरकाध्वर्यु) के लिए आदरार्थ समझना चाहिए। तब भट्ट के अनुसार भी वह उदाहरण समञ्जस है।

वृत्तिकार आचार्य उपवर्ष ने ब्राह्मणग्रन्थ की पहचान के लिए यह अतिरिक्त बताया है कि जहाँ 'इत्याह' का बहुतायत से प्रयोग हुआ है, वह ब्राह्मण है, तथा जो आख्यायिका-स्वरूप है, वह भी ब्राह्मण है। परन्तु यह सब प्रायिक है। अनेक पदों का प्रयोग न्यूनाधिक रूप में सर्वत्र (मन्त्र, ब्राह्मण, उभयत्र) पाया जाता है; उपाख्यान का रूप अनेकत्र मन्त्रभाग में भी उपलब्ध है, भले ही वह कल्पनामूलक अथवा प्रतीकमात्र हो ॥३३॥ **(इति ब्राह्मणनिर्वचनाधिकरणम्—८)।**

(ऊहाद्यमन्त्रताधिकरणम्—९)

शिष्य जिज्ञासा करता है—ऊह, प्रवर और नामधेय में पद आदि के परिवर्त्तन को मन्त्र या ब्राह्मण माना जाय या नहीं? अथवा इनमें से ऊह आदि को क्या माना जाय? आचार्य ने समाधान किया—

अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वम्, आम्नातेषु हि विभागः ॥३४॥

[अनाम्नातेषु] जो पूर्वपठित नहीं हैं उनमें [अमन्त्रत्वम्] मन्त्र नाम होने का अवकाश नहीं। [आम्नातेषु] पूर्वपठितों में [हि] क्योंकि [विभागः] मन्त्र है या ब्राह्मण? यह विभाग स्वीकार किया गया है।

ऊह और प्रवर के विषय में सूत्र [१।२।५२ तथा १।२।१३] की व्याख्या देख लेनी चाहिए। जब यजमान यज्ञानुष्ठान के लिए संकल्प लेता है, तब संकल्पमन्त्र—'अग्निर्देवो दैव्यो होता देवान् यक्षद् विद्वाँश्चिकित्वान्' के आगे अपने गोत्र-ऋषि पूर्वज का नाम जोड़कर पढ़ता है, यह प्रवर का उच्चारण है। जब यजमान होता का वरण करता है, तब प्रवरोच्चारण के अनन्तर यजमान अपना नाम जोड़कर उच्चारण करता है; इसको नामधेय कहा जाता है। जिज्ञासा है, इन ऊह, प्रवर और नामधेय को मन्त्र या ब्राह्मण क्या माना जाय? क्योंकि जैसे मन्त्र या ब्राह्मण विशेष अर्थ का अभिधायक है, इसी प्रकार ऊह आदि भी विशेष अर्थ का अभिधान

करते हैं।

सूत्रकार ने समाधान किया—यह ठीक है कि ऊह आदि अर्थ के अभिधायक हैं, परन्तु इन्हें न मन्त्र कहा जाता है, न ब्राह्मण। क्योंकि आचार्यों ने जिनके विषय में यह निर्देश कर दिया है कि ये मन्त्र हैं और ये ब्राह्मण, उन्हीं के लिए इन पदों का प्रयोग किया जाता है। ऊह आदि के विषय में आचार्यों ने उन्हें मन्त्र या ब्राह्मण माने जाने का कोई निर्देश नहीं किया; इसलिए इन्हें मन्त्र या ब्राह्मण कोई नाम नहीं दिया जाता।

तात्पर्य है—ऊह, प्रवर या नामधेय से युक्त मन्त्र वेद-संहिताओं में कहीं पठित नहीं हैं; इसलिए इन्हें मन्त्र नहीं कहा जाता। इसका प्रयोजन है। वेदमन्त्र के वर्ण, पद या स्वर आदि का भ्रष्ट उच्चारण हो जाय, तो उसके लिए शास्त्र में प्रायश्चित्त का विधान है। वह ऊह आदि के ऐसे प्रसंग में नहीं किया जाता। इस कारण इनका मन्त्र न होना स्पष्ट होता है ॥३४॥ (इति ऊहाद्यमन्त्रताऽधिकरणम्—९)।

(ऋग्लक्षणाधिकरणम्—१०)

सूत्र के अन्तिम पदों—'आम्नातेषु हि विभागः' का सम्बन्ध अर्थान्तर के साथ अगले सूत्रों से समझना चाहिए। अर्थान्तर है—[आम्नातेषु] मन्त्र नाम से आम्नात=पठित वाङ्मय में [विभागः] वक्ष्यमाण रीति से विभाग समझना चाहिए। उसी को सूत्रकार ने बताया—

तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥३५॥

[तेषाम्] उन आम्नात मन्त्रों के मध्य [ऋक्] वे ऋक्=ऋचा हैं [यत्र] जहाँ [अर्थवशेन] अर्थ के अनुरोध से [पादव्यवस्था] पादों–चरणों की व्यवस्था देखी जाती है।

वैदिक वाङ्मय तथा अन्यत्र भी—ऋक्, यजुः, साम—नामों से वेदसंहिताओं का उल्लेख हुआ है। उनका विचार करते हुए सूत्रकार ने ऋक् आदि के लक्षणों का निर्देश किया। पादव्यवस्था का तात्पर्य छन्दोबद्ध रचना से है। किसी छन्द में तीन पाद, जैसे गायत्री में, किसी में चार, जैसे अनुष्टुप् में, किसी में पाँच, जैसे पंक्ति में होते हैं। इस प्रकार जिन मन्त्रों में पादव्यवस्था है, उनका नाम ऋक् है। यह ऋग्वेद के नाम से प्रसिद्ध है।

सूत्रकार ने यह पादव्यवस्था अर्थानुरोध के अनुसार बताई है। तात्पर्य है—प्रत्येक पाद में क्रियापद के प्रयोगपूर्वक अर्थ पूरा हो जाना चाहिए, जैसे—'अग्निमीडे पुरोहितम्' पुरोहित अग्नि की स्तुति करता हूँ। इसमें अर्थ पूरा हो जाता है, अर्थानुरोध के अनुसार एक पाद है; एक पाद में अक्षरों की संख्या आठ रहती है।

क्रियापद का अगले पादों में सम्बन्ध हो जाने से उन पादों में क्रियापद का प्रयोग न होने पर भी अर्थ पूरा हो जाता है, जैसे—'यज्ञस्य देवमृत्विजम्' यज्ञ के देव ऋत्विज् अग्नि की स्तुति करता हूँ, 'होतारं रत्नधातमम्' रत्नों का धारण करने वाले होता अग्नि की स्तुति करता हूँ। यह अर्थ के अनुसार पादों की व्यवस्था है। छन्दःशास्त्र के अनुसार यह त्रिपदा गायत्री है।

कहीं ऐसा देखा जाता है, जहाँ आठ अक्षर पूरे हो जाने पर एक पाद माना जाना चाहिए, पर वहाँ क्रियापद न होने से अर्थ पूरा नहीं हो पाता, जैसे 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः' यहाँ आठ अक्षर पूरे हो गए, पर क्रियापद नहीं है; तब अर्थ की अभिव्यक्ति पूर्ण न होने से यहाँ पाद की व्यवस्था कैसे होगी? छन्दःशास्त्र के प्रामाणिक आचार्यों ने इसका उपाय बताया है—गायत्री छन्द के एक पाद के आठ अक्षरों की जगह बढ़कर दश अक्षर तक हो सकते हैं, और आवश्यकतानुसार घट-कर पाँच या चार अक्षर तक रह सकते हैं। इस व्यवस्था के अनुसार 'अग्निः पूर्वे-भिर्ऋषिभिरीड्यः' इतना दश अक्षरवाला एक पाद होगा, इसमें 'ईड्यः' क्रियापद आ जाने से अर्थ पूर्ण हो जायगा। अगला पद—'नूतनैरुत' पाँच अक्षर होगा, इसमें 'ईड्यः' का सम्बन्ध अर्थानुरोध से पूर्ववत् रहेगा। इसका तीसरा पाद है—'स देवानेह वक्षति' यह आठ अक्षर का यथार्थ एक पाद है। इस प्रकार पादों की अक्षर-व्यवस्था से तीन पादों का अस्तित्व अर्थ के अनुसार बना रहता है, और त्रिपदा गायत्री छन्द में कोई विसंगति नहीं आती ॥३५॥ (इति ऋग्लक्षणाधिकरणम्—१०)।

(सामलक्षणाधिकरणम्—११)

शिष्य-जिज्ञासानुसार सूत्रकार आचार्य ने साम का लक्षण बताया—

गीतिषु सामाख्या ॥३६॥

[गीतिषु] गान के साथ उच्चरित किए जानेवाले मन्त्रों में [सामाख्या] साम यह नाम होता है।

गीतिशास्त्र के अनुसार गाए जाते हुए मन्त्रवाक्यों में प्रामाणिक जन 'साम' नाम का प्रयोग करते हैं। ऐसे मन्त्रों को गाए जाने पर वे कहते हैं—यह हम सामों को पढ़ते-पढ़ाते हैं। जब तक किसी ने दही या गुड़ नहीं खाया, तब तक वह अनु-भवी प्रामाणिक व्यक्ति के कथनानुसार ही इसे जानता है। खा लेने पर वह स्वयं दही की खटास व गुड़ की मिठास का अनुभव कर लेता है। इसी प्रकार संगीत का विशेषज्ञ होकर जब कोई व्यक्ति मन्त्रों के गान की पद्धति को सीख लेता है, तब वह स्वयं साम को जान जाता है। 'गीति' पद का अर्थ केवल 'गान' है, परन्तु सूत्र में गीति पद का प्रयोग गीतियुक्त मन्त्र के लिए हुआ है। गान साम नहीं है; जो मन्त्र

गाया जाता है, उस मन्त्र का नाम साम है। ऐसे गाए जानेवाले मन्त्रों की संहिता 'सामवेद' के नाम से प्रसिद्ध है ॥३६॥ (इति सामलक्षणाधिकरणम्—११)।

(यजुर्लक्षणाधिकरणम्—१२)

शिष्य-जिज्ञासानुसार आचार्य सूत्रकार ने यजुष् का लक्षण बताया—

शेषे यजु:शब्दः ॥३७॥

[शेषे] ऋक् और साम-संज्ञक मन्त्रों से जो शेष=बचे रह जाते हैं, उनमें [यजु:शब्दः] यजुः शब्द का व्यवहार होता है।

सूत्रकार ने यजुष् के पृथक् लक्षण करने की आवश्यकता नहीं समझी; क्योंकि ऋक् और साम का पृथक् लक्षण कर देने से—जो उन दोनों के विपरीत संहिता-भाग है, अर्थात् जो न ऋक् है न सामवत् यजुष् हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। इसलिए जो मन्त्रभाग न गीतिरूप है न पादबद्ध, वह यजुर्वेद नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि इसमें कतिपय मन्त्र पादबद्ध पठित हैं, फिर भी दोनों के विपरीत प्राचुर्य से इसका यजुर्वेद नाम उपयुक्त है ॥३७॥ (इति यजुर्लक्षणाधिकरणम्—१२)।

(निगदानां यजुष्ट्वाधिकरणम्—१३)

शिष्य जिज्ञासा करता है—निगद नामवाले मन्त्रों को क्या यजुः के अन्तर्गत मानना चाहिए? या यजुः आदि से भिन्न इनका चौथा प्रकार माना जाय? सिद्धांत-पक्ष को अधिक पुष्ट करने की भावना से सूत्रकार ने प्रथम पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—

निगदो वा चतुर्थः स्याद्धर्मविशेषात् ॥३८॥

[निगदः] निगद-संज्ञक मन्त्र—[वा] 'वा' पद विकल्पार्थ न होकर यहाँ निगदों की यजुः संज्ञा की निवृत्ति का द्योतक है;—[चतुर्थः स्यात्] पूर्वोक्ति तीनों से भिन्न चौथा प्रकार होना चाहिए [धर्मविशेषात्] धर्मविशेष के कारण।

शास्त्र में बताया है—'उच्चैर्ऋचा क्रियते,[1] उच्चैः साम्ना, उपांशु यजुषा, उच्चैर्निगदेन' ऋक् से प्रयोग ऊँचे उच्चारण के साथ किया जाता है, साम से ऊँचे उच्चारण के साथ, यजुः से उपांशु, निगद से ऊँचे स्वर के साथ। यजुः के साम्मुख्य में निगद का यही धर्मविशेष है, जो यजुः से उपांशु और निगद से ऊँचे स्वर में प्रयोग किया जाता है। उपांशु का अर्थ है—जिसमें तालु-जिह्वा-ओष्ठ आदि का प्रयोग अथवा कम्पन तो प्रतीत हो, पर शब्द का उच्चारण समीप बैठे व्यक्ति को भी सुनाई न पड़े। तालु आदि के प्रयोग का तात्पर्य है कि वह केवल मानसिक उच्चारण न होना चाहिए।

---

१. तुलना करें—मैत्रा० सं०, ३।६।५; तथा ४।८।७॥

यजुः से निगद की यह विशेषता ठीक है कि यजुः का उपांशु और निगद का ऊँचा उच्चारण होता है, परन्तु ऋक् और साम के साथ निगद की उच्चैः प्रयोग की समानता निगद को ऋक् अथवा साम में अन्तर्भूत नहीं कर सकती, क्योंकि निगद न पादबद्ध होता है, न गीतिरूप; इसलिए यह मन्त्र का चतुर्थ प्रकार माना जाना चाहिए ॥३८॥

सूत्रकार ने इसी की पुष्टि के लिए अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

व्यपदेशाच्च ॥३९॥

[व्यपदेशात्] व्यपदेश से [च] भी, निगद-मन्त्र चौथे प्रकार के हैं, ऐसा जाना जाता है।

कथनमात्र से लोक में व्यवहार किया जाना 'व्यपदेश' है। यजुः पढ़े जा रहे हैं निगद नहीं, निगद पढ़े जा रहे हैं यजुः नहीं,—यह लोकव्यवहार निगदों को यजुओं से भिन्न सिद्ध करता है ॥३९॥

आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत किया—

यजूंषि वा तद्रूपत्वात् ॥४०॥

[यजूंषि] यजुः [वा] ही हैं वे निगद [तद्रूपत्वात्] यजुओं के समान रूप होने से।

सूत्र में 'वा' पद विकल्पार्थक न होकर पूर्वपक्ष के निवारण का द्योतक होकर सिद्धान्तरूप निश्चय अर्थ को अभिव्यक्त करता है। यजुओं का स्वरूप ऋक् और साम से भिन्न है; न इनमें पादव्यवस्था है, न ये गाए जाते हैं। पादव्यवस्था के कारण ऋक् छन्दोबद्ध रचना है। जो ऋग्मन्त्र यज्ञादि के अवसर पर गीतिरूप में प्रयोग किए जाते हैं, वे साम हैं। उनसे भिन्न यजुओं के स्वरूप का तात्पर्य हुआ जो मन्त्र छन्दोबद्ध न होकर गद्यरूप हैं, वे यजुः हैं; निगद-संज्ञक मन्त्र भी ऐसे ही हैं, अर्थात् गद्यरूप हैं। इसलिए इनकी गणना यजुओं में ही होती है। इनका उच्चारण उपांशु न होने से इनकी विशेष संज्ञा निगद है। इसके निम्नलिखित पाँच विशिष्ट निमित्त हैं—

१. **आश्रावण**—यज्ञसम्बन्धी कोई कार्य आवश्यकतानुसार अन्य साथी को सुनाना।

२. **प्रत्याश्रावण**—पूर्व-सुने का प्रत्युत्तर सुनाना।

३. **प्रवरनिर्देश**—गोत्र-वंश आदि कथन के अवसर पर आवश्यक मन्त्रपाठ।

४. **सम्वाद**—मन्त्रोच्चारणपूर्वक यज्ञसम्बन्धी वार्त्तालाप।

५. **सम्प्रैष**—अध्वर्यु द्वारा उद्गाता को मन्त्रोच्चारणपूर्वक यज्ञसम्बन्धी निर्देश।

इन प्रसंगों में कथन को दूसरे तक पहुँचाना आवश्यक होता है, जो उपांशु उच्चारण में सम्भव नहीं है। ऐसे अवसरों पर आवश्यक रूप से गद्य-मन्त्रों का उच्चारण ऊँचे स्वर से करना होता है, अतः इन मन्त्रों की विशेष संज्ञा 'निगद' रख दी गई है। स्वरूप में ये यजुओं से भिन्न नहीं हैं ॥४०॥

निगद मन्त्रों का उच्चैस्त्व धर्मविशेष क्यों है ? सूत्रकार ने बताया—

वचनाद् धर्मविशेषः ॥४१॥

[वचनात्] वचन से—'उच्चैर्निगदेन' इस शास्त्रीय कथन से, निगद-मन्त्रों का [धर्मविशेषः] उच्चैस्त्व धर्मविशेष स्वीकार किया जाता है।

यजुओं में कतिपय मन्त्रों का उपांशु उच्चारण न होकर उच्चैः उच्चारण करना किसी का मनघड़न्त नहीं है; शास्त्र इसका प्रतिपादन करता है। इतने मात्र से निगद-संज्ञक मन्त्रों का यजुष्ट्व भ्रष्ट नहीं हो जाता। यह शास्त्रीय प्रतिपादन निरर्थक नहीं, इसका प्रयोजन है ॥४१॥

आचार्य सूत्रकार ने वह प्रयोजन बताया—

अर्थाच्च ॥४२॥

[अर्थात्] अर्थ—प्रयोजन होने से [च] भी निगद-मन्त्रों का उच्चैस्त्व धर्मविशेष मान्य है।

वह प्रयोजन है—अन्य पुरुषों को निगद-मन्त्रों का बोध कराना, जो उपांशु उच्चारण में सम्भव नहीं। वे मन्त्र ऊँचा उच्चारण किये बिना अन्य पुरुष को यज्ञसम्बन्धी कार्य का बोध नहीं करा सकेंगे, इसी प्रयोजन से निगद मन्त्रों का उच्चैस्त्व धर्मविशेष अनिवार्य रूप से स्वीकार्य माना गया है। स्वयं 'निगद' पद इसका बोधक है। 'नि' उपसर्ग प्रकर्ष–आधिक्य का वाचक है। 'गद' धातु का अर्थ है—व्यक्त वाणी द्वारा उच्चारण करना। तात्पर्य हुआ—पाठ अथवा उच्चारण का प्रकर्ष। ऐसे उच्चारण के अवसरों का निर्देश गत सूत्र के भाष्य में कर दिया है।

यदि कहा जाय—उपांशुत्व यजुओं का शास्त्रबोधित (=उपांशु यजुषा) गुण है, उसे हटाया नहीं जा सकता, तब यजुओं का ही उच्चैस्त्व कैसे ? इस विषय में समझना चाहिए—गुण क्या है ? गुण वह है, जो अपना कार्य करते हुए का उपकारक हो। निगद-मन्त्र परबोधनरूप अपना कार्य कर रहे हैं; उपांशुत्व उनका उपकारक होने के विपरीत विघातक है, क्योंकि उपांशु उच्चारण होने पर परबोधन असम्भव है। उपांशुत्व की चरितार्थता उन यजुओं में स्पष्ट है, जो परबोधन में प्रयुक्त नहीं हैं। शास्त्र-प्रतिपादित उपांशुत्व अथवा उच्चैस्त्व अपनी सीमा में गुण है, उसका ह्रास कहीं नहीं होता ॥४२॥

इसी तथ्य को सूत्रकार ने स्पष्ट किया—

गुणार्थो व्यपदेशः ॥४३॥

[गुणार्थः] गुणबोधन के लिए होता है [व्यपदेशः] शास्त्रीय कथन।

निगद-मन्त्रों का यजुष्ट्व सामान्य गुण (=धर्म) होने पर भी उच्चैस्त्व एक विशेष गुण है। एक ही स्थान में भिन्न कार्यों का होना कोई असमञ्जस नहीं है, विसंगति का द्योतक नहीं है। जैसे एक ही स्थानविशेष में—इधर ब्राह्मणों को भोजन कराओ, इधर संन्यासियों को—यह व्यवहार होता है। इसी प्रकार यजुः मन्त्र ही उच्चैस्त्व गुण से निगद कहे जाते हैं ॥४३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—यदि उच्चैस्त्व गुण निगद संज्ञा का प्रयोजक है, तो सभी—उच्चैःस्वर से बोले जानेवाले—मन्त्रों का निगद नाम होना चाहिए। शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

सर्वेषामिति चेत् ॥४४॥

[सर्वेषाम्] ऊँचे स्वर से बोले जानेवाले सभी मन्त्रों का [इति चेत्] ऐसा निगद नाम यदि कहा जाय, तो (यह युक्त नहीं, अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)।

ऐसी मान्यता में ऋक् और साम—सभी मन्त्र—जो ऊँचे स्वर से बोले जाते हैं—निगद-संज्ञक माने जाने चाहिएँ ॥४४॥

सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

न ऋग्व्यपदेशात् ॥४५॥

[न] नहीं, ऋक् निगद नहीं [ऋग्व्यपदेशात्] 'ऋक्' ऐसा पृथक् कथन होने से।

याज्ञिक परम्परा में 'अयाज्या वै निगदाः' ऐसा सिद्धान्त माना जाता है। निगद-मन्त्रों से यज्ञ नहीं होता। दूसरा कथन है—'ऋचैव यजन्ति' ऋचा से ही यजन करते हैं। इस प्रकार विशिष्ट निमित्त के साथ ऋक् का निगद से स्पष्ट ही पृथक् कथन है। निगद सदा अपादबद्ध होते हैं, ऋक् पादबद्ध; इसलिए ऋक् का निगद नाम निराधार है। जो पद जिस अर्थ के बोधन के लिए निर्धारित है, वहीं उसका प्रयोग अभीष्ट है ॥४५॥ (इति निगदानां यजुष्ट्वाधिकरणम्—१३)।

(एकवाक्यत्वलक्षणाधिकरणम्, अर्थैकत्वाधिकरणं वा—१४)

शिष्य जिज्ञासा करता है—ऋचाओं में अर्थ के अधीन पादव्यवस्था होने से

अर्थानुसार वाक्य का प्रयोग निर्धारित रहता है, परन्तु यजुओं के पादबद्ध न होने से प्रश्लिष्ट पाठ में, अर्थात् परस्पर मिलित संहितापाठ में कितना अंश एक वाक्य है, जिसके आधार पर अर्थबोधपूर्वक कोई कर्म किया जा सके, यह पहचानना—निर्णय करना कठिन होता है। वहाँ प्रश्लिष्ट पाद का कितना अंश एक यजुः है, अर्थात् एक वाक्य है, जिसके अनुसार विशिष्ट कर्म के लिए उसका प्रयोग किया जाय ? सूत्रकार ने इसका समाधान किया—

अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद्विभागे स्यात् ॥४६॥

[अर्थैकत्वात्] अर्थ–प्रयोजन के एक होने से [एकम्] एक माना जाता है [वाक्यम्] वाक्य। [साकांक्षम्] आकांक्षा-सहित [चेत्] यदि [विभागे] विभाग—पृथक् हो जाने पर [स्यात्] होवे, या रहे।

पदों का कोई ऐसा समुदाय, जो अर्थानुसार एक प्रयोजन को पूरा करता है, वह एक वाक्य अर्थात् एक यजुः माना जाता है; पर शर्त यह है कि उस पद-समुदाय से कोई अंश पृथक् कर दिया जाय, तो शेष पदसमुदाय को पूर्ण अर्थाभिव्यक्ति के लिए आकांक्षा बनी रहे; अर्थात् पृथक् किए गए अंश के बिना वह भाग अपने अर्थानुकूल प्रयोजन को पूरा करने में असमर्थ रहे। तात्पर्य है—जितना पदसमुदाय अर्थाभिव्यक्तिपूर्वक एक प्रयोजन को सिद्ध करता है, प्रश्लिष्ट पाठ में उतना पदसमुदाय-अंश एक वाक्य अथवा एक यजुः समझना चाहिए।

लौकिक उदाहरण के अनुसार छोटे से छोटा वाक्य है—'देवदत्तः गच्छति' देवदत्त जा रहा है। यदि इसमें अन्य कुछ भी जानने की आकांक्षा = इच्छा नहीं है, तो यह निराकांक्ष एक वाक्य है। ये दो पद 'देवदत्तः' और 'गच्छति' स्वतन्त्ररूप से पृथक् होने पर वाक्य सम्भव नहीं, क्योंकि देवदत्त कर्त्ता को किसी क्रिया की तथा 'गच्छति' क्रिया को किसी कर्त्ता की आकांक्षा अर्थपूर्त्ति के लिए बनी रहती है। परन्तु इस वाक्य में जब गमन-क्रिया के लक्ष्यस्थान की आकांक्षा होगी, तब यह निराकांक्ष न रहने से वाक्य नहीं माना जायगा; उस आकांक्षा को पूरा करने के लिए 'ग्रामं' इत्यादि पद इसमें जोड़ना होगा—'देवदत्तः ग्रामं गच्छति' देवदत्त गाँव को जा रहा है। इसमें भी यदि जाने के साधन की आकांक्षा होगी, तो इतना पदसमुदाय भी अधूरा वाक्य होगा। तब देवदत्त पैदल गाँव जा रहा है ? या किसी सवारी से ? इस आकांक्षा की पूर्त्ति के लिए वाक्य में स्थिति के अनुसार 'पद्भ्याम्, अश्वेन, रथेन' इत्यादि कोई पद रखने पर वाक्य निराकांक्ष होगा—'देवदत्तः पद्भ्यां (अश्वेन, रथेन) ग्रामं गच्छति'। तात्पर्य है—जितने पूर्ण अर्थ को अभिव्यक्त करना अभीष्ट है, उतने के लिए जितना पदसमुदाय समर्थ है, वह एक वाक्य माना जाता है।

अब इसके लिए शास्त्रीय उदाहरण लीजिए—तैत्तिरीय संहिता [१।१।४] में मन्त्र है—'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि।' इस मन्त्र का एकमात्र प्रयोजन है—हवि के निर्वाप का प्रकाशन करना। उसी विशिष्ट अर्थ का वाचक जो इतना पदसमुदाय है, वह एक वाक्य अथवा एक यजुः है। तात्पर्य है—जितना पद-समुदाय क्रियमाण कर्म का कथन करता अथवा स्मरण कराता है, उतना पदसमुदाय उस अर्थ को अभिव्यक्त करने में सक्षम होने के कारण वाक्य कहा जाता है।

हविनिर्वाप क्या है? सूत्रग्रन्थों[1] में बताया गया है—पुरोडाश, चरु आदि—प्रत्येक याग की—हवियों को सिद्ध करने के लिए उनका मूल अन्नद्रव्य, धान या जौ आदि हविर्धान शकट में भरा रहता है, उसे उपयोगी मात्रा में वहाँ से लेना है। उसका प्रकार है—शकट के दाएँ पहिए पर अपना दायाँ पैर रखकर प्रत्येक आहुति के लिए चार-चार मुट्ठी अपेक्षित अन्न अग्निहोत्र-हवणी (यज्ञिय पात्र-विशेष, जो इसी कार्य के लिए होता है) अथवा शूर्प (सूप, छाज,) में रखकर नीचे उतारा जाता है; इस क्रिया का नाम 'हविनिर्वाप' है। इस क्रिया में पहली तीन मुट्ठी अन्न ग्रहण करते हुए 'देवस्य त्वा' मन्त्र का उच्चारण किया जाता है। तात्पर्य है—प्रत्येक मुट्ठी अन्न ग्रहण करते समय 'देवस्य त्वा' पूरा मन्त्र बोला जाता है। चौथी मुट्ठी अन्न बिना मन्त्रपाठ के ग्रहण किया जाता है।

मन्त्र के अन्त में 'निर्वपामि'[2] क्रियापद है—मैं हवि का निर्वाप करता हूँ—प्रकाशन अथवा कथन करता हूँ। पूरे मन्त्र का अर्थ है—'सविता देव की अनुज्ञा में अश्वियों के बाहुओं से और पूषा के हाथों से तुझ प्रिय हवि का निर्वाप करता हूँ।' यह क्रियानुष्ठान इतने पदसमुदाय से बोधित, कथित या प्रकाशित होता है, इसका यही एक प्रयोजन है। अतः इतना पदसमुदाय एक यजुः अथवा एक वाक्य है। इसी प्रकार क्रियासम्बन्धी एक प्रयोजन को सिद्ध करनेवाला कोई पदसमुदाय एक वाक्य अथवा एक यजुः माना जायगा।

ऋक् के लक्षण में अर्थ के अधीन (अर्थवशेन) पाद (एक चरण) व्यवस्था कही है। यहाँ भी यजुः की एकता का निर्धारण अर्थ के अधीन बताया। इसमें इतना अन्तर है—पहले स्थल में 'अर्थ' पद प्रत्येक पद के व पदसमुदाय के वस्तुगत अर्थ को प्रकट करता है, दूसरे स्थल में पदसमुदाय के प्रयोजन को। इसलिए कोई विसंगति इसमें नहीं है।

---

१. द्रष्टव्य—आप० श्रौत० १।१०।४–११।

२. वाजसनेयि संहिता [६।९] में इस मन्त्र के अन्तर्गत 'निर्वपामि' क्रियापद के स्थान पर 'नियुनज्मि' क्रियापद है। अर्थ है—हवि का नियोजन करता हूँ। दोनों में अर्थ का कोई विशेष अन्तर नहीं है।

उक्त मन्त्र में 'निर्वपामि' क्रिया का मन्त्र के प्रत्येक भाग के साथ अनुषङ्ग[1] कर 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे निर्वपामि', 'अश्विनोर्बाहुभ्यां निर्वपामि', 'पूष्णो हस्ताभ्यां निर्वपामि' इस प्रकार अनेक वाक्यों की कल्पना करना संगत न होगा, क्योंकि यहाँ निर्वाप प्रधान कर्म है, शेष समस्त मन्त्रभाग उसके साधनरूप में है। निर्वाप को गुणभूत मानने पर ही मन्त्र के विभिन्न भागों के साथ क्रियापद का अनुषङ्ग सम्भव है; क्योंकि गौण का अस्तित्व प्रधान के लिए होता है। उस दशा में मन्त्र का दृष्ट प्रयोजन हविनिर्वाप न रहने से क्रियानुष्ठान के अवसर पर मन्त्रपाठ का अदृष्ट प्रयोजन अथवा फल मानना पड़ेगा, जो शास्त्रीय दृष्टि से न्याय्य नहीं है; क्योंकि दृष्ट प्रयोजन के रहते अदृष्ट की कल्पना को अन्याय्य माना गया है। अतः समस्त मन्त्र प्रधान कर्म हविनिर्वाप में समन्वित होने से इतना पदसमुदाय एक वाक्य अथवा एक यजुः है। इसमें अनेक वाक्य की कल्पना निराधार है। यह सर्वत्र के लिए वाक्य का साधारण लक्षण नहीं है। इसे केवल प्रासंगिक कथन समझना चाहिए ॥४६॥ (इति एकवाक्यत्वलक्षणाऽधिकरणम्, अर्थैकत्वाऽधिकरणं वा—१४)।

(वाक्यभेदाऽधिकरणम्—१५)

शिष्य जिज्ञासा करता है—'इषे त्वा, ऊर्जे त्वा' तथा 'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्, प्राणो यज्ञेन कल्पताम्' इत्यादि पदसमुदाय को एक वाक्य माना जाय, अथवा भिन्न वाक्य? 'इषे त्वा, ऊर्जे त्वा' इत्यादि का कोई दृष्ट प्रयोजन न होने के कारण समस्त पदसमुदाय का एक अदृष्ट प्रयोजन मानने पर क्या इन्हें एक वाक्य मान लिया जाय? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

समेषु वाक्यभेदः स्यात् ॥४७॥

[समेषु] समान वचनों में [वाक्यभेदः] वाक्य का भेद [स्यात्] होता है।

जिन वाक्यों में परस्पर आकांक्षा नहीं है, वहाँ गुण-प्रधान भाव न होने से वे समान हैं। ऐसे वाक्य भिन्न माने जाने चाहिएँ। उक्त वाक्यों में 'इषे त्वा' से एक प्रयोजन सिद्ध होता है, 'ऊर्जे त्वा' से दूसरा; इसलिए ये सब पदसमुदाय एक वाक्य नहीं; अर्थ-(प्रयोजन)-भेद से भिन्न वाक्य हैं, यद्यपि प्रत्यक्ष-अनुमान से से दृष्ट प्रयोजन उपलब्ध न होने पर भी वह श्रुतिबोधित है। 'इषे त्वा, इति छिनत्ति'—'इषे त्वा' यह उच्चारण करता हुआ पलाश (ढाक वृक्ष) की शाखा को काटता है; तथा 'ऊर्जे त्वा, इति अवमार्ष्टि'—'ऊर्जे त्वा' उच्चारण करता हुआ

---

१. वाक्यार्थ की पूर्ति के लिए जहाँ प्रकरण-पठित पद अन्त में जोड़ा जाता है, उसे 'अनुषङ्ग' तथा जहाँ बाहर से जोड़ा जाय, उसे 'अध्याहार' कहते हैं।

शाखा का अवमार्जन—शोधन करता है; शाखा पर धूल, मलिनता या बीठ आदि को साफ़ करता है। वैदिक वाक्य के अनुसार उक्त पदसमूहों के पृथक् प्रयोजन होने से ये एक वाक्य न होकर भिन्न वाक्य हैं।

इसी प्रकार 'आयुर्यज्ञेन' इत्यादि वाक्य भी एक प्रयोजन की सिद्धि में परस्पर आकांक्षारहित होने के कारण भिन्न वाक्य हैं। यदि कहा जाय कि पूर्वसूत्र में हविनिर्वाप के समान यहाँ भी क्लृप्ति (सिद्धि, शक्ति-सामर्थ्यप्राप्ति) एक दृष्ट प्रयोजन है, तब इन्हें भी एक वाक्य माना जाना चाहिए। यह कहना युक्त न होगा; क्योंकि यहाँ प्रसंग में 'क्लृप्तीर्वाचयति' वाक्य उपलब्ध होता है, जिसका अर्थ है—क्लृप्तियों का वाचन—कथन करता है। यहाँ क्लृप्तियाँ बहुत कही गई हैं। एक निर्वाप के साथ अनेक क्लृप्तियों की समानता नहीं हो सकती। 'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्' में आयुसम्बन्धी एक भिन्न क्लृप्ति है, तथा 'प्राणो यज्ञेन कल्पताम्' में प्राणसम्बन्धी क्लृप्ति भिन्न। इसलिए वे सब पदसमुदाय एक वाक्य न होकर भिन्न वाक्य माने जाने चाहिएँ। ऐसे प्रसंगों में सर्वत्र वाक्यभेद शास्त्रकारों ने स्वीकार किया है ॥४७॥ (इति वाक्यभेदाऽधिकरणम्—१५)।

(अनुषङ्गाऽधिकरणम्—१६)

शिष्य जिज्ञासा करता है—वैदिक[1] वाङ्मय में पाठ है—'या ते अग्नेऽयाशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा, उग्रं वचो अपावधीत् त्वेषं वचो अपावधीत् स्वाहा। या ते अग्ने रजाशया, या ते अग्ने हराशया।'[2] यहाँ सन्देह है—क्या सन्दर्भ का 'तनूर्वर्षिष्ठा' आदि भाग 'या ते अग्ने रजाशया' तथा 'या ते अग्ने हराशया' का अनुषङ्ग है? अर्थात् यज्ञानुष्ठान के अवसर पर 'तनूर्वर्षिष्ठा' आदि भाग को पहले भाग के समान 'या ते अग्ने रजाशया' इत्यादि प्रत्येक के अनन्तर पढ़ना चाहिए? अथवा उक्त पाठ का अनुषङ्ग न मानकर लौकिक वाक्य बोलकर इसे पूरा

---

१. तुलना करें—मैत्रा० सं० १।२।७॥ तैत्ति० सं० [१।२।११] में 'या ते अग्नेऽयाशया रजाशया हराशया' इन तीनों का पाठ कर अनन्तर 'तनूर्वर्षिष्ठा' पठित है। काठक सं० [१।२।८] में 'या ते अग्नेऽयाशया' इत्यादि पूरा सन्दर्भ देकर आगे 'या ते अग्ने रजाशया हराशया तनूर्वर्षिष्ठा' इत्यादि पाठ उपलब्ध हैं।

२. इस सन्दर्भ का अर्थ है—हे अग्ने! जो तुम्हारा 'अयाशया'—लोहे में सोने वाला शरीर है, वह अत्यन्त विस्तृत, छिपा हुआ देशव्यापी है, वह कठोर वचन को नष्ट करे, वह दीप्त धमकीभरे वचन को नष्ट करे। हे अग्ने! जो तुम्हारा 'रजाशया'—चाँदी में सोनेवाला शरीर है, हे अग्ने! जो तुम्हारा 'हराशया'—सुवर्ण में सोनेवाला शरीर है, इत्यादि।

करना चाहिए ? नियमानुसार 'तनूर्वर्षिष्ठा' आदि भाग—'या ते अग्ने रजाशया' इत्यादि के अनन्तर पठित न होने से उसका वाक्यशेष न होने के कारण—वह अनुषङ्ग रूप में पठित न होना चाहिए। सूत्रकार ने समाधान किया—

अनुषङ्गो वाक्यसमाप्तिः सर्वेषु तुल्ययोगित्वात् ॥४८॥

[अनुषङ्गः] 'या ते अग्ने रजाशया' इत्यादि के साथ पीछे से सम्बद्ध होने-वाला वाक्यशेष [वाक्यसमाप्तिः] वाक्य की समाप्ति करता है, अर्थात् उससे वाक्य पूरा होता है, [सर्वेषु] सब वाक्यों में [तुल्ययोगित्वात्] समान सम्बन्ध-वाला होने से।

'या ते अग्नेऽयाशया' के आगे 'स्वाहा'-पर्यन्त जो पाठ है, वह 'या ते अग्ने रजाशया' तथा 'या ते अग्ने हराशया' इन दोनों के आगे पूरा पढ़ना चाहिए, क्योंकि इससे ही वाक्यार्थ पूर्ण होता है। अग्नि देवता के विषय में इन तीनों वाक्यों का समान सम्बन्ध है।[1] एक पूर्ण वाक्यसमुदाय में अवान्तर वाक्य-समुदायियों का व्यवधान नहीं माना जाता; ऐसी दशा में 'या ते अग्ने रजाशया' तथा 'या ते अग्ने हराशया' के साथ 'तनूर्वर्षिष्ठा' आदि भाग का सम्बन्ध होने में किसी व्यवधान की आशंका करना व्यर्थ है। अर्थ की परिपूर्त्ति प्रधान है, उसे पूर्ण करने के लिए समुदायी का व्यवधान उपेक्षित हो जाता है।

इसके अतिरिक्त यह भी है कि 'या ते अग्नेऽयाशया' और 'या ते अग्ने रजाशया' इन दोनों के मध्य जो पाठ है, उसका सम्बन्ध दोनों के साथ है। एक के वह आगे पठित है, दूसरे के पहले। अर्थ को पूरा करने की भावना से इसका दोनों के साथ सम्बन्ध है, दोनों के साथ समान सान्निध्य है। आगे या पहले लिखा जाना उस दशा में कोई महत्त्व नहीं रखता, जब वाक्यार्थ की पूर्त्ति उस पदसमुदाय के बिना न होती हो। इसलिए 'या ते अग्ने रजाशया' के प्रथम पठित भी 'तनूर्वर्षिष्ठा' आदि पदसमुदाय यज्ञानुष्ठान के अवसर पर उसके आगे पूरा उच्चारण किया जायगा। जब उसका 'या ते अग्ने रजाशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा···त्वेषं वचो अपावधीत् स्वाहा' इस प्रकार पाठ किया जायगा, तब ठीक उसके आगे 'या ते अग्ने हराशया' पठित है, उसके साथ भी इसका सान्निध्य सम्पन्न हो जायगा; तब उसका भी वाक्यशेष होने में कोई बाधा नहीं रहती। यह कहा जा चुका है कि पाठ का पूर्व या पर लिखा जाना वाक्य-शेष होने में

१. माध्यन्दिन [५।८] और काण्व [५।२।८] संहिताओं में तीनों सन्दर्भों का पृथक्-पृथक् पूरा पाठ उपलब्ध होता है। परन्तु इन संहिताओं में 'अयाशया, रजाशया, हराशया' पदों के स्थान पर यथाक्रम 'अयःशया, रजःशया, हरिःशया' पाठ है।

बाधक रूप से कोई महत्त्व नहीं रखता।

सन्निधि एवं आनन्तर्य का तात्पर्य भी यहाँ स्थान की समीपता न होकर वाक्यार्थ की अनुकूलता व पूर्त्ति के किसी पदसमुदाय की अपेक्षा होना है। जिस पदसमुदाय को अर्थ की पूर्त्ति के लिए अन्य पदसमुदाय की अपेक्षा है, वही उसका सान्निध्य है; अनपेक्षित पदसमुदाय का व्यवधान वहाँ तिरस्कृत हो जाता है। इसी आधार पर आचार्यों का कथन है—

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ॥

जिस पद या पदसमुदाय का जिसके साथ अर्थ-कृत सम्बन्ध है, वह दूर बैठा हुआ भी उसके समीप ही है। जिनमें अर्थ के आधार पर परस्पर सम्बन्ध नहीं है, उनका समीप होना भी व्यर्थ है। 'या ते अग्ने रजाशया' तथा 'या ते अग्ने हराशया' के दूरस्थित होने पर भी 'तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा' आदि के साथ उनका अर्थकृत दृढ़ सम्बन्ध है; 'या' सर्वनाम पद का अर्थ अपूर्ण रह जाता है, जब तक 'तनूर्वर्षिष्ठा' आदि के साथ सम्बन्ध न जोड़ा जाय। फलतः आगे पठित दोनों (रजाशया, हराशया) पदसमुदायों के साथ 'तनूर्वर्षिष्ठा' आदि का अनुषङ्ग माना जाना चाहिए।

आकांक्षा (अपेक्षा), योग्यता, आसत्ति (सन्निधि) वाक्यार्थ-बोध में सहायक होते हैं, यह ठीक है; परन्तु जहाँ आकांक्षा नहीं है, ऐसे निराकांक्ष पदसमुदाय का सान्निध्य रहने पर, अर्थ को पूर्ण करने में समर्थ पदसमुदाय देखा जाता है। जैसे—

चित्पतिस्त्वा पुनातु, वाक्पतिस्त्वा पुनातु, देवस्त्वा सविता
पुनातु, अच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः।[1]

यहाँ तीन पृथक् पदसमुदाय हैं, जिनके अन्त में 'पुनातु' क्रियापद है; ये पूर्ण अर्थ प्रकट करने में समर्थ हैं, किसी की आकांक्षा नहीं करते। परन्तु 'अच्छिद्रेण'

---

१. द्रष्टव्य—तैत्ति० सं० १।२।१॥ इस मन्त्र का विनियोग अग्निष्टोम में यजमान के प्राग्वंश नामक मंडप में प्रवेश के समय, प्राग्वंश के बाहर दर्भ-समूह से यजमान के पवित्रीकरण में है। मन्त्र का अर्थ है—हे यजमान! ज्ञान का स्वामी तुझे पवित्र करे, वाणी का स्वामी तुझे पवित्र करे, सविता देव तुझे पवित्र करे—छिद्र-(दोष)-रहित 'पवित्र' से, वास करानेवाले सूर्य की रश्मियों से। दर्भपुञ्ज का नाम 'पवित्र' है।

वाजसनेय-माध्यन्दिन शाखा (यजुर्वेद ४।४) में उक्त मन्त्र के 'त्वा' पद के स्थान पर 'मा' पाठ है, जिसका अर्थ है—'मुझे'।

आदि पदसमुदाय आकांक्षा करता है; तब प्रथम तीन वाक्यों में से किसके साथ इसका सम्बन्ध माना जाय ? यह जिज्ञासा उभरती है। समाधान है—जिस वाक्य के साथ अव्यवहित सान्निध्य है, उसी के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिए। 'देवस्त्वा सविता पुनातु' के साथ सम्बन्ध होने से वह निराकांक्ष हो जाता है।

ऐसी दशा में पहले दो वाक्यों के साथ 'अच्छिद्रेण' आदि का सम्बन्ध न होगा। पर वस्तुतः विचारपूर्वक देखा जाय, तो पहले वाक्यों को भी निराकांक्ष कहना युक्त प्रतीत नहीं होता। भले ही वे वाक्य की दृष्टि से निराकांक्ष हों, और एक सीमित अर्थ को भी पूरा करते हों, पर पूर्ण अर्थ को अभिव्यक्त करने में वे साकांक्ष ज्ञात होते हैं। जब कहा जाता है—'चित्पतिस्त्वा पुनातु'—ज्ञान का स्वामी तुझे पवित्र करे, तब आकांक्षा रहती है—केन साधनेन पुनातु ? किस साधन से पवित्र करे ? क्योंकि साधन के बिना पवित्रीकरण कैसे सम्भव होगा ? तब 'अच्छिद्रेण पवित्रेण' आदि पदसमुदाय उस आकांक्षा को पूरा करता है। ऐसी दशा में प्रत्येक प्रथमपठित वाक्य के साथ 'पुनातु' क्रिया के अनन्तर इसका ('अच्छिद्रेण' आदि का) अनुषङ्ग माने जाने में किसी प्रकार की शास्त्रीय बाधा प्रतीत नहीं होती ॥४८॥ (इति अनुषङ्गाधिकरणम्—१६)।

(व्यवेताननुषङ्गाधिकरणम्—१७)

शिष्य जिज्ञासा करता है—गत सूत्र में निर्धारित मान्यता के अनुसार क्या 'सं ते वायुर्वातेन गच्छताम्, सं यजत्रैरङ्गानि, सं यज्ञपतिराशिषा' [मैत्रा० सं०, १।२।१५] सन्दर्भ में 'गच्छताम्' क्रियापद का अनुषङ्ग अगले वाक्यों में होना चाहिए ? सन्निकृष्ट वाक्य में 'अङ्गानि' बहुवचनान्त पद होने से, एकवचनान्त 'गच्छताम्' क्रियापद का उसके साथ सम्बन्ध सम्भव नहीं। उससे व्यवहित होने पर भी अन्तिम वाक्य में 'यज्ञपतिः' एकवचनान्त पद के साथ अनुषङ्ग प्राप्त होता है। आचार्य सूत्रकार ने इस प्रसङ्ग में समाधान किया—

व्यवायान्नानुषज्येत ॥४९॥

[व्यवायात्] व्यवधान होने से, पूर्वपठित का [न] नहीं [अनुषज्येत] अनुषङ्ग = सम्बन्ध होवे।

गत सूत्र में समान रचनाक्रम के पदसमुदाय को मध्य में आ जाने पर व्यवधान-कोटि में न मानकर आगे पठित या पूर्वपठित पदसमुदाय के साथ अनुषङ्ग स्वीकार किया गया है। परन्तु प्रकृत सन्दर्भ में ऐसा नहीं है। प्रथम पदसमुदाय में एकवचनान्त 'गच्छताम्' क्रियापद एकवचनान्त 'वायुः' कर्त्तृपद के साथ प्रयुक्त हुआ ठीक है। अगले पदसमुदाय में 'अङ्गानि' बहुवचनान्त कर्त्तृपद होने से रचनाक्रम पूर्वपठित वाक्य से विषम हो गया, अतः इस व्यवधान की उपेक्षा

करना उचित न होगा। इसलिए 'गच्छताम्' क्रियापद का अनुषङ्ग अन्तिम वाक्य में एकवचनान्त 'यज्ञपतिः' कर्तृपद के साथ नहीं होगा। वहाँ 'गच्छताम्' क्रियापद का अध्याहार करना ही संगत है ॥४८॥ (इति व्यवेताननुषङ्गाधिकरणम्—१७) ॥

इति जैमिनीयमीमांसादर्शनविद्योदयभाष्ये
द्वितीयाध्यायस्य (उपोद्घाताभिधेयः)
प्रथमः पादः ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः

(अङ्गाऽपूर्वभेदाधिकरणम्—१)

प्रथम पाद में कतिपय पदों के गौण-प्रधान भाव, ऋक्-यजुः-साम का विभाग तथा पदों के पूर्वापर सम्बन्ध के विषय में विवेचन प्रस्तुत किया गया। चालू द्वितीय पाद में कतिपय आख्यात-पदों के आधार पर कर्मभेद का निरूपण प्रारम्भ किया जाता है।

अग्निष्टोम कर्म के अन्तर्गत कतिपय वाक्य प्रयुक्त हैं—'सोमेन यजेत' सोम से याग करे। 'दाक्षिणानि जुहोति' दक्षिणा-सम्बन्धी होम करता है। 'हिरण्य-मात्रेयाय ददाति' आत्रेय के लिए हिरण्य=सुवर्ण देता है। यहाँ याग-होम-दान आदि विभिन्न अर्थोंवाले धातुओं का निर्देश है। इसमें संशय है— क्या ये सब मिलकर एक कार्य करते हैं ? अर्थात् सब मिलकर एक अपूर्व को सम्पन्न करते हैं, अथवा पृथक्-पृथक् कार्य करते हैं ? अर्थात् याग-होम-दान से अलग-अलग अपूर्व की उत्पत्ति होती है ?

लोक में दोनों प्रकार का व्यवहार देखा जाता है। एक छोटी घड़ोंची (पानी का घड़ा ऊँचे पर रखने का आधार) लकड़ी या लोहे की बनी तीन पायों पर आधारित रहती है। उपयोग की अन्य विविध वस्तुएँ ऐसी बनाई जाती हैं, जो अनेक पायों पर आश्रित रहती हैं। इसी प्रकार अनेक व्यक्ति मिलकर छान उठाना, नाव खींचना आदि विविध प्रकार के एक कार्य का सम्पादन करते हैं। दीवार में गड़ी खूँटी या कील, अथवा छत में लगा कुण्डा, ये अकेले ही पृथक्-पृथक् कार्य सम्पादन करते हैं। इस लोक-व्यवहार की स्थिति के आधार पर पूर्वोक्त आख्यात-पदों के विषय में संशय होता है—ये मिलकर एक कार्य सम्पादन करते हैं अथवा पृथक्-पृथक् ?

कतिपय आधारों पर यह स्पष्ट होता है कि ये मिलकर एक कार्य का सम्पादन करते हैं।

(क) अग्निष्टोम आदि कर्म शास्त्र से अबोधित हों, ऐसी बात नहीं है। ये कर्म विविध क्रियाओं से पूरित हैं, अनेक क्रियाओं का समुदाय। कर्मानुष्ठान

का कोई दृष्ट फल प्रत्यक्षादि से दिखाई नहीं देता। शास्त्रबोधित अनुष्ठान के निरर्थक होने की शंका भी नहीं की जा सकती; तब इसके अदृष्ट (अपूर्व) फल की कल्पना की जाती है। सब क्रियाओं के मिलकर एक ही कार्य (अपूर्व, अदृष्ट) के उत्पन्न करने में लाघव है। पृथक्-पृथक् कार्य मानने पर अनेक अपूर्वों की कल्पना, गौरव (भारभूत) दोष से दूषित होगी।

(ख) 'यजेत, जुहोति, ददाति' क्रियापदों के आरम्भिक 'यज्, हु, दा' धातु-भाग का अर्थ 'याग-होम-दान' है, जो उनके परस्पर अलग अस्तित्व को प्रकट करता है। परन्तु उनका (क्रियापदों का) अन्तिम 'त' या 'ति' प्रत्यय-भाग केवल एक अर्थ 'भावना' को अभिव्यक्त करता है। सम्पूर्ण क्रियापद का यथाक्रम अर्थ होगा—यागानुकूल भावना, होमानुकूल भावना, दानानुकूल भावना। देखते हैं, याग आदि के परस्पर पृथक् होने पर भी उनका मिलकर किया गया एकमात्र कार्य 'भावना' है। इससे ज्ञात होता है, ये आख्यात-पद मिलकर एक कार्य सम्पादन करते हैं। ऐसा प्राप्त होने पर आचार्य सूत्रकार ने वस्तुस्थिति को स्पष्ट करने के लिए बताया—

शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्ध[1]त्वात् ॥१॥

[शब्दान्तरे] शब्द का अन्तर—भेद होने पर यजति-जुहोति-ददाति के रूप में, [कर्मभेदः] कर्म का भेद हो जाता है, [कृतानुबन्धत्वात्] प्रत्ययार्थ भावना का धात्वर्थ के साथ निश्चित किया गया सम्बन्ध होने से।

'यज्' धातु से अनुबद्ध=जुड़ा हुआ है 'त' प्रत्यय। धातु का अर्थ है—याग, प्रत्यय का अर्थ है—भावना। यह भावना याग के साथ जुड़ी है; होम आदि के साथ नहीं। 'हु' धातु से जो प्रत्यय 'ति' जुड़ा है, उसका अर्थ 'भावना' होम से अनुबद्ध है, याग आदि से नहीं। इसी प्रकार 'दा' धातु से अनुबद्ध प्रत्यय का भावना अर्थ धात्वर्थ दान के साथ जुड़ा है, याग-होम के साथ नहीं। अतः यागानुकूल भावना, होमानुकूल भावना, दानानुकूल भावना एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। यजति-जुहोति-ददाति इन विभिन्न आख्यात-पदों से बोधित करने के कारण ये कर्म=याग-होम-दान एक-दूसरे से भिन्न हैं; इनके अनुष्ठान से जो 'अपूर्व' उत्पन्न होते हैं, वे भी पृथक्-पृथक् हैं। उनके मूल में यद्यपि प्रत्ययार्थ 'भावना' पद एक है, पर वे भावना यागादि के अनुसार सब पृथक् हैं। फलतः ये मिलकर एक अपूर्व को उत्पन्न करते हों, ऐसा नहीं है। इनसे विभिन्न अपूर्वों की उत्पत्ति होती है, यही व्यवस्था मान्य है ॥१॥ [इति अङ्गाऽपूर्वभेदाधिकरणम्—१]

---

१. रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनीवृत्ति में 'कृतानुबन्धित्वात्' पाठ है।

(समिदाद्यपूर्वभेदाधिकरणम्—२)

शिष्य जिज्ञासा करता है—गत सूत्र में क्रियाभेद से अपूर्व का भेद बताया; इसका तात्पर्य होता है—जहाँ क्रियाभेद न हो, वहाँ अपूर्व का भेद न होगा। प्रयोग है—'समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति' [तै० सं० २।६।१], यहाँ पाँच बार एक ही क्रियापद 'यजति' का प्रयोग है, इससे एक ही अपूर्व की उत्पत्ति माननी चाहिए। ऐसा मानने पर 'यजति' क्रियापद का अभ्यास निरर्थक होगा, यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि अनेक बार उच्चारण किया गया भी पद किसी अन्य अर्थ का बोधक नहीं होता; न केवल पाँच बार, सौ बार कहने पर भी पद का अर्थ वही जाना जाता है, जो एक बार कहने पर। इसलिए अभ्यास के निरर्थक होने की आशंका निराधार है। वैसे भी अभ्यास समित् तनूनपात आदि देवताओं का विधायक होने से अनर्थक नहीं है। अतः इनसे एक अपूर्व होना प्राप्त होता है। आचार्य ने समाधान किया—

एकस्यैवं पुनः श्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात् ॥२॥

[एकस्य] एक 'यजति' क्रियापद का [एवम्] इस प्रकार [पुनः] फिर—दुबारा [श्रुतिः] श्रवण [अ-विशेषात्] विशेष-भेद=कर्मभेद न माने जाने से [अनर्थकम्] अनर्थक [हि] निश्चित रूप से [स्यात्] हो जाय।

'समिधो यजति, तनूनपातं यजति' इत्यादि प्रसंग में पाँच बार पठित एक ही क्रियापद का इस प्रकार पुनः-पुनः श्रवण [अभ्यास] इस तथ्य का प्रयोजक है—ये सब याग परस्पर भिन्न कर्म हैं। यदि कर्मभेद न माना जाय, तो यह पुनः श्रवण (='यजति' का अभ्यास) निश्चित ही अनर्थक होगा। अतः कर्म-भेद होने से ये सब कर्म पृथक्-पृथक् अपूर्व को उत्पन्न करते हैं, एक ही अपूर्व को नहीं।

'समिधो यजति' इत्यादि वाक्य 'समित्, तनूनपात' आदि देवता का विधान करने से सार्थक हैं, यह कथन संगत नहीं; क्योंकि 'समिधो यजति' आदि सब याग 'दर्श-पौर्णमास' प्रकृति-याग के विकृति अर्थात् अङ्गभूत याग हैं। समित् आदि ये पाँचों याग 'प्रयाज' नाम से कहे जाते हैं। प्रकृति अर्थात् प्रधान याग के पूर्व जिन यागों का अनुष्ठान किया जाय, उनकी संज्ञा 'प्रयाज' है; जो प्रकृति-याग के अनन्तर किये जाते हैं, उन्हें 'अनुयाज' कहते हैं। दर्श-पौर्णमास प्रकृति-याग के पाँच प्रयाज और तीन अनुयाज होते हैं। सभी प्रकृति यागों में ऐसा नियम नहीं है; इनमें न्यूनाधिकता रहती है।

यह व्यवस्थित होने पर कि समित् आदि याग दर्श-पौर्णमास के विकृति हैं, इनको देवता का विधायक नहीं माना जा सकता, क्योंकि विकृति याग का

देवता वही होता है, जो प्रकृति याग का बताया गया हो। 'यदाग्नेयोऽष्टा-कपालः' [तै०सं० २।६।३] इत्यादि श्रुति के द्वारा दर्श-पौर्णमास याग में देवता अग्नि है; तथा इसी के अनुसार अष्टाकपाल पुरोडाश द्रव्य है। ऐसी स्थिति में यदि 'समिधो यजति' इत्यादि को देवता या द्रव्य का विधायक मानकर इनकी सार्थकता कही जाती है, तो देवता व द्रव्यविषयक विकल्प प्राप्त होता है; अर्थात् चाहे यहाँ अग्नि के उद्देश्य से याग किया जाय, चाहे समित् देवता के। इसी प्रकार द्रव्यविषयक विकल्प होगा, चाहे अष्टाकपाल पुरोडाश द्रव्य का उपयोग किया जाय, चाहे समित् द्रव्य का।

परन्तु यह विकल्प न्याय्य नहीं है; क्योंकि इन 'समिधो यजति' इत्यादि में समित् आदि देवता या द्रव्य केवल इन वाक्यों अथवा प्रकरण से प्राप्त हैं, श्रुतिबोधित नहीं। वाक्य, प्रकरण आदि की अपेक्षा श्रुति के बलवान् होने से वाक्य आदि की बाधा हो जायगी। ऐसी दशा में यागविषयक किसी द्रव्य या देवता आदि गुणविशेष के विधायक न होने से ये वाक्य अनर्थक हो जायेंगे। अतः इनकी सार्थकता के लिए आवश्यक है, इन्हें किसी विशेष गुण का विधायक माना जाय। आचार्यों ने बताया, ये वाक्य समित् तनूनपात आदि देवता व द्रव्य के याग से सम्बन्ध के विधायक हैं। यागबोधक 'यजति' क्रियापद के सर्वत्र समान होने पर भी, जो याग समित् देवता व द्रव्य के सम्बन्ध से किया जाता है, वही तनूनपात देवता के सम्बन्ध से नहीं किया जाता, क्योंकि समित् और तनूनपात आदि देवता व द्रव्य परस्पर भिन्न हैं। याग के अनुष्ठान पर ही देवता व द्रव्य का सम्बन्ध याग के साथ किया जा सकता है। इसी सम्बन्ध का विधान 'समिधो यजति' इत्यादि वाक्यों से किया है। अतः ये परस्पर भिन्न कर्म हैं, एवं विभिन्न अपूर्व के निमित्त हैं।

प्रस्तुत वाक्यों से देवता व द्रव्य विधान किया जाना वक्ष्यमाण कारण से भी संगत नहीं है। शास्त्र में प्रायः सर्वत्र देवता का विधान चतुर्थी विभक्ति तथा तद्धित प्रत्यय द्वारा किया जाता है, जैसे—'अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा' इत्यादि में देवता का चतुर्थी विभक्ति से निर्देश है, 'आग्नेयोऽष्टाकपालः' इत्यादि में तद्धित प्रत्यय द्वारा। द्रव्य का निर्देश सर्वत्र तृतीया विभक्ति से होता है, जैसे—'सोमेन यजेत, दध्ना जुहोति' इत्यादि। परन्तु 'समिधो यजति' इत्यादि में यह कुछ नहीं है। ये 'समिधः' आदि समस्त—द्वितीया विभक्त्यन्त—कर्म-पद हैं, जो अपने स्वतन्त्ररूप में कर्म होने के प्रयोजक हैं— समिद्याग, तनूनपात याग आदि।

'यजति' के अभ्यास की सार्थकता के लिए यह कहना भी संगत न होगा कि पहला वाक्य 'समिधो यजति' याग का विधान करता है, और अगले वाक्य उसका अनुवाद हैं। क्योंकि 'दर्श-पौर्णमासाभ्यां यजेत' यह श्रुति-विधिवाक्य

याग का विधायक है; 'समिधो यजति' इत्यादि पाँचों वाक्य इसी प्रधान विधि के अङ्गभूत प्रयाज होने से इसके अनुवाद हैं। इसलिए प्रथम वाक्य को याग का विधायक कहना संगत नहीं। फलतः 'यजति' के अभ्यास की सार्थकता के लिए यह उपाय निराधार है। इसलिए सब ओर से निरुपाय होकर आचार्यों का यह सुझाव ही मान्य है कि ये वाक्य देवता व द्रव्य का याग के साथ सम्बन्ध का विधान करते हैं। प्रत्येक 'यजति' पद के साथ भिन्न देवता आदि का सम्बन्ध होने से ये सब परस्पर भिन्न याग हैं, एवं प्रत्येक विभिन्न अपूर्वों को उत्पन्न करते हैं; सब मिलकर एक अपूर्व को नहीं ॥२॥ (इति समिदाद्यपूर्वभेदाधिकरणम्—२)।

(आघाराद्याग्नेयादीनामङ्गाङ्गिभावाऽधिकरणम्—३)

शिष्य जिज्ञासा करता है—शास्त्र में निम्नलिखित प्रसंग आते हैं—

'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्याञ्च अच्युतो भवति'।
[तै० सं० २।६।३]

यह जो अग्नि देवता के लिए अष्टाकपाल पुरोडाश है, वह अमावास्या और पौर्णमासी में अच्युत (त्रुटिरहित) धर्मवाला होता है।

अन्यत्र कहा—

'तावब्रूतामग्नीषोमावाज्यस्यैव नौ उपांशु पौर्णमास्यां यजन्'

वे अग्नि और सोम देवता बोले—हमारे लिए आज्य (घृत) का ही पौर्णमासी में उपांशु (ध्वनिरहित मन्त्र द्वारा) यजन करें।

'ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पौर्णमासे प्रायच्छत्'।
[तै० सं० २।५।२]

उन अग्नि और सोम देवता के लिए यह अग्नि और सोम देवतावाला एकादशकपाल पुरोडाश पौर्णमास में दिया। फिर कहा—

'ऐन्द्रं दधि अमावास्यायाम्' [तै० सं० २।५।४]

इन्द्र देवतावाला दही अमावास्या में होता है। अन्यत्र वाक्य है—

'ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्'।

इन्द्र देवतावाला दूध अमावास्या में होता है। इसी प्रकार—

'आघारमाघारयति' [तै० सं० २।५।११]

आघार कर्म के नाम[1] को धार बाँधकर छोड़ता है।

'आज्यभागौ यजति' [तै०सं० २।६।२]

दो आज्य भागों का यजन करता है।

'स्विष्टकृते समवद्यति' [तै०सं० २।६।६]

स्विष्टकृत् देवता के लिए अवदान करता है।

'पत्नीसंयाजान्[2] यजति'

पत्नीसंयाजों का यजन करता है।

'समिष्टयजुर्जुहोति' [शत०ब्रा० १।९।२।२५]

समिष्टयजु का होम करता है।

आगे पुनः [तै०सं० २।६।९] में लेख है—

'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते,
'य एवं विद्वान् अमावास्यां यजते'

[तै०सं० २।६।९]

जो इस प्रकार जाननेवाला व्यक्ति पौर्णमास याग करता है; जो इस प्रकार जाननेवाला अमावास्या याग करता है।

इन प्रसंगों में संशय इस प्रकार है—ये सब कर्म—आग्नेय पुरोडाश से लगाकर 'ऐन्द्रं पयः' तक—समान रूप से प्रधान कर्म हैं? तथा आघार आदि कर्म प्रधान के समीप होने से उसके उपकारक अङ्ग हैं? दूसरा संशय यहाँ इस प्रकार है—'य एवं विद्वान्' ये दोनों संयुक्त वाक्य प्रकृत में कहे गये कर्मों के अनुवादक हैं? अथवा ये अपूर्व कर्म के विधायक हैं? तथा अन्य कर्म गुणविधि हैं?

प्रतीत होता है—उक्त प्रसंग में 'अच्युतो भवति, प्रायच्छत्, आघारयति, अवद्यति, जुहोति' आदि विधि के बोधक क्रियापद एक-दूसरे से भिन्न हैं। जहाँ इस प्रकार विधिबोधक क्रियापद परस्पर पृथक् होते हैं, वे अपूर्वोत्पादक कर्म हैं, यह प्रथम अधिकरण में अभी कहा गया है। द्वितीय अधिकरण में अभ्यास होने पर कर्मभेद माना गया है। प्रस्तुत प्रसंग में भी 'यजन्, यजति, यजते' आदि 'यज्' धातु का अभ्यास—बार-बार कहना—स्पष्ट है। इस कारण इन कर्मों को बराबरी

१. द्रष्टव्य—मीमांसा सूत्र, १।४।४॥

२. द्रष्टव्य—यत्पत्नीसंयाजा इज्यन्ते, शत०ब्रा० ११।२।७।३०॥
अथ पत्नीः संयाजयन्ति, शत० ब्रा० २।९।२।४॥

के प्रधान कर्म मानना उपयुक्त होगा। ऐसा प्राप्त होने पर आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

प्रकरणं तु पौर्णमास्यां रूपावचनात् ॥३॥

[तु] सूत्र में यह पद निश्चय अर्थ को कहता है। [पौर्णमास्याम्] पौर्णमासी पद साहचर्य से अमावास्या का भी बोधक है; अर्थ हुआ—पौर्णमासी और अमावास्या पद जिन वाक्यों—'यं एवं विद्वान्' इत्यादि—में पढ़े हैं; वे वाक्य—[प्रकरणम्] प्रकरण-प्राप्त 'यदाग्नेयोऽष्टाकपाल:' आदि वाक्यों से विधान किये गये कर्मों के अनुवादक [तु] ही है। क्योंकि [रूपावचनात्] इन वाक्यों में याग के रूप = द्रव्य व देवता का कथन न होने से।

कात्यायन श्रौत सूत्र [१।२।२] में याग का स्वरूप बताया है—'द्रव्यं देवता त्याग:' देवता के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग 'याग' कहा जाता है। 'य एवं विद्वान्' आदि वाक्यों में—इन तीनों में से त्यागरूप अंश का निर्देश 'यजते' क्रियापद से हो जाता है, शेष द्रव्य और देवता का कथन इन वाक्यों में नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि इन वाक्यों को अपूर्वोत्पादक विधि के रूप में प्रधान याग माना जाता है, तो यह निरर्थक होगा, क्योंकि यह त्याग किस द्रव्य का किस देवता के लिए है, यह तो ज्ञात ही नहीं; उक्त वाक्यों में—इनमें से किसी का—निर्देश ही नहीं, तब केवल त्याग का कथन निष्प्रयोजन होगा। इसलिए यह त्याग किस द्रव्य का किस देवता के लिए है, यह प्रकरण से जानना होगा। प्रकरण-पठित 'यदाग्नेयोऽष्टाकपाल:' से लगाकर 'ऐन्द्रं पय:' तक त्याग की भावना से देवता और द्रव्य दोनों का निर्देश होने से ये अपूर्वोत्पादक छह प्रधान याग हैं। इन्हीं को लक्ष्य कर कहा गया है—'य एवं विद्वान्' इत्यादि। इस प्रकार ये विद्वद्-वाक्य 'यदाग्नेय:' इत्यादि वाक्य विहित छह यागों के अनुवादक हैं। इस रूप में वे सार्थक हैं।

यह कहना संगत नहीं कि विद्वद्वाक्यों में 'पौर्णमासीं अमावास्याम्' एकवचनान्त पदों से बहुत यागों का ग्रहण कैसे होगा? क्योंकि इन पदों का एकवचनान्त प्रयोग यागों के एक समुदाय के आधार पर है; जैसे शास्त्र व लोक में वन, कुल, यूथ, सभा, परिषद् आदि पदों का प्रयोग सर्वमान्य है॥३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—यदि विद्वद्वाक्य आग्नेय आदि याग के अनुवादक माने जाते हैं, तो समीप में पठित होने से प्रयाज आदि याग का भी उन्हें अनुवादक माना जाना चाहिए। ऐसी स्थिति सान्निध्य समान हेतु से प्रयाज आघार आदि को भी प्रधान कर्म क्यों न माना जाय? सूत्रकार ने समाधान किया—

विशेषदर्शनाच्च सर्वेषां समेषु ह्यप्रवृत्तिः स्यात् ॥४॥

[विशेषदर्शनात्] विकृतियागों में प्रयाज आदि के अतिदेश-विशेष के देखे जाने से [च] भी [सर्वेषाम्] आग्नेय, आघा प्रयाज आदि सबके [समेषु] समान-रूप से प्रधान होने पर [हि] निश्चयपूर्वक, विकृतियागों में प्रयाज आदि की [अप्रवृत्तिः] अप्राप्ति [स्यात्] हो जावे।

आग्नेय याग प्रधान कर्म है। प्रधान कर्म का अतिदेश नहीं होता। यदि सान्निध्य से प्रयाज आदि को प्रधान कर्म माना जाता है, तो सौर्य आदि विकृति-यागों में प्रयाज आदि की प्राप्ति नहीं होगी; परन्तु सौर्य याग में शास्त्र द्वारा प्रयाज की प्राप्ति बताई है। तैत्तिरीय संहिता [२।३।२] में निर्देश है—'यो ब्रह्मवर्चसकामः स्यात्, तस्मा एतं सौर्यं चरुं निर्वपेत्' जो ब्रह्मवर्चस की कामना-वाला होवे, उसके लिए इस सूर्य देवतावाले चरु से याग करे। इस वाक्य-निर्दिष्ट सौर्य याग में अतिदेश है—'प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति।' गुञ्जा (रत्ती = चूंटली) परिमित सुवर्ण के दाने का प्रतिप्रयाज होम करता है, इस वचन से प्रकृत सौर्य याग में प्रतिप्रयाज कृष्णल की आहुति देने का विधान है। यदि प्रयाज आदि प्रधान कर्म हों, तो उनकी प्राप्ति प्रकृत सौर्य विकृतियाग में नहीं होनी चाहिए। क्योंकि प्रधान कर्म का अतिदेश विकृतियागों में नहीं होता, यह सर्व-मान्य सिद्धान्त है। इसलिए विकृतियागों में प्रयाज आदि का श्रवण होने से इन्हें आग्नेय आदि प्रधान कर्मों के सान्निध्यमात्र से प्रधान कर्म नहीं माना जायगा। ऐसी स्थिति में 'य एवं विद्वान्' इत्यादि विद्वद्वाक्य प्रयाज आदि का अनुवादक नहीं माना जायगा; केवल आग्नेय आदि छह प्रधान कर्मों का ही अनुवादक होगा ॥४॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है–विद्वद्वाक्य को अनुवादक इसलिए बताया गया कि इसमें याग के रूप द्रव्य, देवता का निर्देश नहीं है। इसके विपरीत यह क्यों न माना जाय कि विद्वद्वाक्य अपूर्व विधि है, प्रधान कर्म है? उसके लिए द्रव्य, देवता गुण का विधान 'यदाग्नेय' आदि वाक्यों से होता है; अतः 'यदाग्नेय' आदि को विद्वद्वाक्य प्रधान कर्म की गुणविधि क्यों न माना जाय? सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

गुणस्तु श्रुतिसंयोगात् ॥५॥

[तु] सूत्र में यह पद गत सूत्र में निर्दिष्ट पक्ष को ठुकराता है, [गुणः] 'यदाग्नेय' आदि गुण कर्म हैं, प्रधान कर्म नहीं। [श्रुतिसंयोगात्] 'स एवं विद्वान्' इत्यादि श्रुति के साथ सम्बन्ध होने से।

'य एवं विद्वान्' इत्यादि पौर्णमासी, अमावास्या पदों से याग के विशिष्ट

काल का निर्देश कर उस काल में अपूर्व कर्म का विधान करता है। वहाँ द्रव्य, देवता-गुण की पूर्त्ति उक्त श्रुति (य एवं विद्वान्) के सम्बन्ध से 'यदाग्नेय' आदि वाक्य करता है। अत: ये वाक्य गुणविधि और विद्वद्वाक्य अपूर्वविधि अर्थात् प्रधान कर्म माने जाने चाहिएँ ॥५॥

आचार्य सूत्रकार जिज्ञासा का समाधान करता है—

चोदना वा गुणानां युगपच्छास्त्राच्चोदिते हि तदर्थत्वात् तस्य तस्योपदिश्येत ॥६॥

[चोदना] चोदक है—प्रेरक है—कर्मविधायक वाक्य है—'यदाग्नेयोऽष्टा-कपाल:' इत्यादि, [वा] निश्चित ही; हेतु दिया—[गुणानां युगपत् शासनात्] उक्त वाक्य में गुणों (द्रव्य और देवता) के एकसाथ विधान-कथन करने से। [चोदिते हि] क्योंकि यदि ऐसा माना जाय कि विद्वद्वाक्य कर्मविधि है, और गुण का कथन 'यदाग्नेय:' इत्यादि वाक्य से होने के कारण वह गुणविधि है, तो [तदर्थत्वात्] विद्वद्वाक्यविहित कर्म के लिए होने से [तस्य तस्य] उस-उस अग्नि देवता और अष्टाकपाल पुरोडाश द्रव्य का पृथक्-पृथक् [उपदिश्येत] उपदेश किया जाना चाहिए।

शास्त्रीय मान्यता है, गुणविधिवाक्य अन्य कर्मविधि के लिए द्रव्य या देवता किसी एक ही गुण अथवा किसी एक विशेषता का ही विधान कर सकता है, एक वाक्य दो गुणों का विधान नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए आघार-संज्ञक कर्म है—'आघारमाघारयति'—आघार का आघारण (सेचन) करता है। आघा-रण की रीति विशेष है। विशेषता है—आघारण का ऋजुत्व और सातत्य। इन दो गुणों का पृथक्-पृथक् दो वाक्यों से विधान किया जाता है—'ऋजुमाघारयति, सततमाघारयति'। आघारण में आज्य की धारा ऋजु=सरल, सीधी होनी चाहिए; तथा सतत–निरन्तर चलती रहनी चाहिए, बीच में टूट-टूटकर आघारण नहीं होना चाहिए। यह शास्त्रीय मान्यता के अनुसार है।

अब यदि विद्वद्वाक्य को कर्मविधि मानकर 'यदाग्नेय' वाक्य को उसका गुण-विधि माना जाता है, तो यह सम्भव नहीं, क्योंकि उक्त शास्त्रीय मान्यता के यह विरुद्ध हो जाता है। कारण यह है कि 'यदाग्नेय' एक ही वाक्य 'अग्नि' देवता और 'अष्टाकपाल पुरोडाश' द्रव्य दोनों रूपों का युगपत् विधान करता है; अत: इसे गुणविधि मानना सम्भव नहीं। यह वाक्य द्रव्य और देवता उभयरूपविशिष्ट अपूर्व कर्म का विधायक है। फलत: विद्वद्वाक्य ('य एवं विद्वान्' इत्यादि वाक्य) में याग के रूप–द्रव्य और देवता का कथन न होने से पौर्णमासी-अमावास्या संयुक्त वाक्य अपूर्व कर्म के विधायक नहीं हैं। यदि विद्वद्वाक्यस्थित पौर्णमासी-अमावास्या पद अभिधावृत्ति से आग्नेयादि यागों का कथन नहीं करते, तो लक्षणा वृत्ति से

कथन करने में कोई दोष नहीं है। ऐसे प्रयोग मान्य समझे जाते हैं। जैसे—'अग्नौ तिष्ठति' आग में ठहरता है; 'अवटे तिष्ठति' गड्ढे में ठहरता है; इन वाक्यों का तात्पर्य अभिधावृत्ति से संगत न होने पर लक्षणावृत्ति से यही होता है कि आग के समीप या गड्ढे के समीप ठहरता है। इसमें असामञ्जस्य नहीं माना जाता। फलतः 'य एवं विद्वान्' इत्यादि विद्वद्वाक्य, आग्नेयादि प्रधान कर्मों का अनुवादक है, यही मान्यता सामञ्जस्यपूर्ण है ॥६॥

'यदाग्नेयः' आदि वाक्यों के गुणविधि न होने में सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

व्यपदेशश्च तद्वत् ॥७॥

[व्यपदेशः] व्यवहार एवं कथन [च] भी [तद्वत्] वैसा ही है, जिससे आग्नेय आदि यागों के समुच्चय का बोध होता है।

इन यागों के विषय में वाक्य है—'उग्राणि ह वा एतानि हवींषि अमावास्यायां सम्भ्रियन्ते—आग्नेयं प्रथमम्, ऐन्द्रे उत्तरे'। निश्चय ही ये उग्र हवियाँ अमावास्या-कर्म एकसाथ अनुष्ठित की जाती हैं, जो पहली हवि आग्नेय है, और उसके आगे की दो ऐन्द्र हवियाँ। यह कथन इन हवियों=यागों के समुच्चय को प्रकट करता है।

यदि 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः' आदि वाक्यों को 'य एवं विद्वान्' आदि वाक्य-विहित पौर्णमासी-अमावास्या-याग में गुणविधि माना जाय, तो आग्नेय आदि हवियों के गुण होने पर आग्नेय पुरोडाश, ऐन्द्र-दधि तथा ऐन्द्र-पय हवियों में विकल्प प्राप्त हो जायगा—पौर्णमासी-अमावास्या याग चाहे आग्नेय पुरोडाश से सम्पन्न किया जाय, चाहे ऐन्द्र दधि से, चाहे ऐन्द्र पय से। ऐसी अवस्था में 'आग्नेयं प्रथमम्, ऐन्द्रे उत्तरे द्वे' यह कथन असंगत हो जायगा, क्योंकि विकल्प होने पर हवियों का पौर्वापर्य क्रम—जो 'प्रथम' और 'उत्तर' पदों से स्पष्ट बताया गया है—उपपन्न न होगा। यह हवियों के समुच्चय में ही सम्भव है। अतः 'यदाग्नेयः' आदि यागों को गुणविधि मानना संगत नहीं ॥७॥

सूत्रकार उक्त अर्थ में अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

लिङ्गदर्शनाच्च ॥८॥

[लिङ्गदर्शनात्] आग्नेय आदि हवियों के समुच्चय में लिङ्ग के उपलब्ध होने से [च] भी, आग्नेय आदि हवियों का समुच्चय है, विकल्प नहीं।

'लिङ्ग' पद का तात्पर्य है—प्रमाणभूत उल्लेख। शास्त्र में ऐसे प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध हैं, जिनमें आग्नेयादि हवियों का समुच्चय स्पष्ट होता है। उल्लेख है—**"चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो हूयन्ते, त्रयोदशामावास्यायाम्"**। चौदह

आहुतियाँ पौर्णमास याग में दी जाती हैं, और तेरह आहुतियाँ अमावास्या याग में। पौर्णमास-याग की चौदह आहुतियाँ इस प्रकार हैं—५ प्रयाज, ३ अनुयाज, ३ प्रधान याग की आहुतियाँ (=आग्नेय पुरोडाश, अग्नीषोमीय उपांशुयाग, अग्नीषोमीय पुरोडाश), २ आज्य भाग, १ स्विष्टकृत् = १४। अमावास्या-याग की १३ आहुतियाँ हैं—५ प्रयाज, ३ अनुयाज, २ आज्यभाग, १ स्विष्टकृत् = ११, तथा प्रधान याग के तीन द्रव्यों में से १ आग्नेय पुरोडाश की और ऐन्द्र दधि तथा ऐन्द्र पय दोनों द्रव्यों को मिलाकर एक आहुति २+११=१३। ऐन्द्र दधि और ऐन्द्र पय का देवता एक इन्द्र होने के कारण दोनों द्रव्यों को मिलाकर आहुति एक दी जाती है। इस कारण अमावास्या-याग में प्रधान आहुतियाँ केवल दो होती हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में इस कथन का कारण यह है कि पौर्णमास-याग में चौदह और अमावास्या-याग में तेरह आहुतियों की संख्यापूर्त्ति उसी अवस्था में हो सकती है, जब 'यदाग्नेय:' आदि वाक्यों को प्रधान कर्म का विधायक माना जाता है। यदि विद्वद्ववाक्य का इन्हें गुणविधि माना जाय, तो 'य एवं विद्वान्' इत्यादि वाक्य में इन आहुतियों के लिए कोई विधायक पद नहीं है। यह इस मान्यता में लिङ्ग है कि 'यदाग्नेय:' आदि वाक्य गुणविधि नहीं हैं; प्रत्युत अपूर्व कर्म के विधायक हैं ॥८॥ (इति आघाराद्याग्नेयादीनामङ्गाङ्गिभावाधिकरणम्—३)।

(उपांशुयाजाऽपूर्वताऽधिकरणम्—४)

वैदिक वाङ्मय में वाक्य हैं—**"जामि वा एतद्यज्ञस्य क्रियते, यदन्वञ्चौ पुरोडाशौ, उपांशुयाजमन्तरा यजति"** [तैति० सं० २।६।६] इति। **"विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, प्रजापतिरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, अग्निषोमावुपांशु यष्टव्यावजामित्वाय"** इति। इस प्रकार यज्ञ का किया जाना आलस्यजनक ही है, जो क्रमानुसार दो पुरोडाशों का यजन निरन्तर करता है। अत: दोनों पुरोडाशों के मध्य में उपांशुयाज का यजन करे। आलस्य दूर करने के लिए विष्णु का उपांशु-यजन करे; आलस्य-निवारण के लिए प्रजापति का उपांशु यजन करे; आलस्य दूर करने को अग्नीषोम का उपांशु यजन करे।

इन वाक्यों के विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—जैसे विद्वद्वाक्य में 'पौर्णमासी' पद 'आग्नेय' आदि याग-समुदाय का अनुवादक है, ऐसे ही 'जामि वा' इत्यादि वाक्य में पठित उपांशुयाज क्या विष्णु आदि गुणवाले तीन प्रकृत यागों के समुदाय का अनुवादक है? अथवा अपूर्व याग का विधायक है? पाठ की समानता के आधार पर विद्वद्वाक्य के 'पौर्णमासी' पद के तुल्य उपांशुयाज को विष्णु आदि यागों का अनुवादक मानना उपयुक्त होगा। आचार्य ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

पौर्णमासीवदुपांशुयाजः स्यात् ॥९॥

[पौर्णमासीवत्] 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते' वाक्य में जैसे 'पौर्णमासी' पद 'आग्नेय' आदि यागों के समुदाय का अनुवादक है, ऐसे ही [उपांशुयाजः] 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' वाक्य-पठित उपांशुयाज 'विष्णुरुपांशु यष्टव्यः' आदि वाक्यों से विहित विष्णु आदि यागों का अनुवादक [स्यात्] होना चाहिए।

जैसे 'य एवं विद्वान्' इत्यादि वाक्यों में द्रव्य, देवता आदि याग के रूप का निर्देश न होने से वह 'आग्नेय' आदि याग-समुदाय का अनुवादक है, इसी प्रकार 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' वाक्य में याग के रूप द्रव्य-देवता का निर्देश न होने से यह अपूर्व कर्म का विधायक नहीं माना जा सकता। 'विष्णुरुपांशु यष्टव्यः' इत्यादि वाक्यों में याग के रूप देवता आदि के निर्देश तथा 'यष्टव्यः' इस विधि-निर्देश से विष्णु आदि यागों का अपूर्व कर्म मानना उपयुक्त होगा। उपांशुयाज को उन्हीं यागों का अनुवादक मानना चाहिए ॥९॥

आचार्य सूत्रकार जिज्ञासा का समाधान करता है—

चोदना वाऽप्रकृतत्वात् ॥१०॥

[वा] सूत्र का 'वा' पद पूर्वोक्त पक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है, अर्थात् 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' वाक्यगत 'उपांशुयाज' को विष्णु आदि देवतावाले कर्म-समुदाय का अनुवादक नहीं माना जा सकता; प्रत्युत [चोदना] अपूर्व कर्म का विधायक है। विष्णु आदि देवतावाले यागों के—[अप्रकृतत्वात्] प्रस्तुत प्रकरण में न होने से। तात्पर्य है, विष्णु आदि देवतावाले यागों का यहाँ कोई विधायक वाक्य नहीं है; जब उनका विधान ही नहीं, तो उपांशुयाज उनका अनुवादक कैसे होगा ?

विष्णु आदि गुणवाले याग, प्रकरणगत विधि नहीं हैं; प्रत्युत अर्थवाद हैं, क्योंकि इनके विषय में 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' यह विधि कही गई है। यह लम्बा वाक्य 'जामि वा एतत्' से प्रारम्भ होकर अन्तिम 'अजामित्वाय' पर पूरा होता है। उसमें 'उपांशु यजति' यह विधिवाक्य है। यदि 'विष्णुरुपांशु' आदि को भी विधिवाक्य माना जाय, तो यह वाक्यभेद-दोष उपस्थित हो जायगा। 'बिष्णुरुपांशु' आदि वाक्य उस लम्बे वाक्य के मध्य पठित होने पर 'उपांशुयाज-मन्तरा यजति' इस वाक्य के 'उपांशु' पंद से सम्बद्ध हैं, अर्थात् उसी के सम्बन्ध की बात कहते हैं, कोई नई बात नहीं; इसलिए उस विधि के ये अर्थवाद हैं। इनको अपूर्व विधि मानने पर वाक्यभेद-दोष हटाया नहीं जा सकता।

'विष्णुरुपांशु' इत्यादि वाक्यों के अर्थवाद होने का तात्पर्य यही है कि आग्नेय एवं अग्निषोमीय याग निरन्तर किये जाते हैं—आग्नेय पहले और अग्नीषोमीय उसके अनन्तर। इनमें समय का व्यवधान नहीं किया जाता। दोनों यागों में मन्त्रों

का उच्चारण ऊँचे स्वर से किया जाता है। इससे प्रथम यागानुष्ठान में उच्चारयिता ऋत्विक् के थक जाने की सम्भावना बनी रहती है। थक जाने से दूसरे अग्नीषोमीय यागानुष्ठान के अवसर पर मन्त्रों के उच्चारण में विकृति आ जाने पर अनुष्ठान दूषित हो सकता है। इन यागों के निरन्तर अनुष्ठान के अवसर पर थकावट से मन्त्रोच्चारण में आलस्य भी न हो, और अनुष्ठानों का नैरन्तर्य भी बना रहे, इस कारण दोनों के अन्तराल में उपांशुयजन कर लिया जाता है। इससे इनमें जामिता—आलस्य आने की सम्भावना नहीं रहती है। यागानुष्ठान के अवसर पर आलस्य की स्थिति को दोषपूर्ण माना जाता है। इस दोष के निवारण के लिए उन यागों के अन्तराल में विष्णु आदि का उपांशुयजन कहा गया है। ये अपूर्व विधि नहीं हैं ॥१०॥

प्रसंगवश शिष्य जिज्ञासा करता है—यह उपांशुयजन क्या है? आचार्य ने समाधान किया—

गुणोपबन्धात् ॥११॥

[गुणोपबन्धात्] उपांशु गुण के उपबन्ध=निर्देश से जाना जाता है—उपांशुयजन यह याग का नाम है।

'उपांशु' पद का अर्थ है—होठों के अन्दर ही उच्चारण करना। उपांशु-उच्चारण होठों के बाहर सुनाई नहीं देना चाहिए। उपांशुयाज नामक याग का कथन 'उपांशु पौर्णमास्यां यजन्' इस वाक्य द्वारा किया गया है। सूत्रकार ने उपांशुयाजस्य पौर्णमासीकर्त्तव्यताऽधिकरणम्'—[१०।८।१७] नामक अधिकरण में इसका उपादान किया है। यह याग केवल पूर्णमासी के दिन किया जाता है, अमावास्या[1] को नहीं।

उपांशुयाज नामक याग में आहुतियाँ तीन देवताओं के उद्देश्य से दी जाती हैं—विष्णु, प्रजापति, अग्नीषोम। अग्नीषोम और प्रजापति की उपांशुधर्मता का उल्लेख वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध है।[2] विष्णु की उपांशुता का उस रूप में उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु मन्त्र में समाम्नान (कथन) से विष्णु का समावेश देवताओं की इस सूची में किया जाता है। आचार्य सूत्रकार ने [१०।८।५२-५३] सूत्रों में विष्णु देवता विषयक विवेचन किया है। अमावास्या का निर्देश करके वहाँ

१. द्रष्टव्य—मीमांसा सूत्र, १०।८।५३॥

२. **'तावब्रूतामग्नीषोमावाज्यस्यैव नावुपांशु पौर्णमास्यां यजन्'** इति, गत सूत्र के शाबरभाष्य के अन्त में निर्दिष्ट। 'अनिरुक्तो वै प्रजापतिः' [ऐ० ब्रा० ६।३०; तै० ब्रा० १।३।८; श० ब्रा० १।१।१।१३; तां० ब्रा० १८।६।८॥]

शाबर भाष्य में हौत्र कर्म पढ़ा है—'इदं विष्णुर्विचक्रमे' [ऋ० १।२२।१७]; 'प्र नद् विष्णुः स्तवते वीर्येण' [ऋ० १।१५४।२]। सूत्रानुगत भाष्य का यह पाठ तभी संगत व सार्थक हो सकता है, जब उपांशुयाज विष्णु देवतावाला स्वीकार किया जाय। यहाँ मन्त्रगत विष्णु के आम्नान-कथन से उपांशुयाजवाले देवताओं में विष्णु की गणना होती है। इस प्रकार आचार्यों ने यह व्यवस्था की है कि आहुति प्रदान करते समय सम्पूर्ण मन्त्र का उच्चारण उपांशु किया जाय, अथवा देवता नाम-पद का ? निर्णय किया है, प्रधान होने से केवल देवता के नामपद का उच्चारण उपांशु होना चाहिए; मन्त्र के शेष भाग का उच्चारण उच्च स्वर से किया जाय। इस सब विवरण का सारभूत कथन आपस्तम्ब श्रौत सूत्र [२।१८।२३-२४] में इस प्रकार है—'उपांशुयाजः पौर्णमास्यामेव भवति वैष्णवोऽग्नीषोमीयः प्राजापत्यो वा'—उपांशुयाज पौर्णमासी तिथि में ही होता है, चाहे वह विष्णु देवता के उद्देश्य से किया जाय, चाहे वह अग्नीषोम या प्रजापति के उद्देश्य से। उक्त श्रौत-सूत्र में आगे कहा—'प्रधानमेवोपांशु'—प्रधान अर्थात् केवल देवता नाम का उपांशु उच्चारण होता है।

फलतः 'उपांशु' गुण-सम्बन्ध से उपांशुयाज अपने रूप में स्वतन्त्र याग का नाम है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में आग्नेय और अग्नीषोमीय यागों के नैरन्तर्य को अबाधित रखने और थकावट से बचने-रूप निमित्त से उनके अन्तराल में इसका उपयोग किया गया है; अतः यहाँ यह उनका अर्थवाद है; इसमें कोई दोष नहीं ॥११॥

उपांशुयाज अपने रूप में स्वतन्त्र अथवा प्रधान कर्म है, इसकी पुष्टि के लिए सूत्रकार ने बताया—

प्राये वचनाच्च ॥१२॥

[प्राये] प्रधान की पंक्ति में [वचनात्] कथन होने से [च] भी यह एक प्रधान कर्म है।

प्रधान कर्मों के प्रकरण में उपांशुयाज का पाठ होने से इसके प्रधान कर्म होने की पुष्टि होती है। लोक में भी यह व्यवहार देखा जाता है कि श्रेष्ठ व्यक्तियों के नाम-ग्रहण में जो गिने जाते हैं, वे सभी श्रेष्ठ व प्रधान व्यक्ति माने जाते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में भी 'आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति' यहाँ से लगाकर 'ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्' तक का समस्त प्रक्रम—सिलसिला प्रधान कर्मों का है। उसी के अन्तर्गत 'तावब्रूताम्—अग्नीषोमावाज्यस्यैव नावुपांशु पौर्णमास्यां यजन्' यह वचन है। अतः यहाँ पठित उपांशुयाज प्रधान कर्म माना जाना चाहिए।

अन्यत्र पाठ है—'तस्य वा एतस्याग्नेय एव शिरः हृदयमुपांशुयाजः पादावग्नीषोमीयः'—उस प्रक्रान्त पौर्णमास याग का सिर आग्नेय याग है, हृदय उपांशु-

याज तथा पर अग्नीषोमीय है। यहाँ प्रधानभूत कर्म आग्नेय तथा अग्नीषोमीय के मध्य में पठित उपांशुयाज प्रधान कर्म है, यह निश्चित होता है। फलतः 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' वाक्य में उपांशुयाज कर्म आगे पठित 'विष्णुरुपांशु यष्टव्यः' इत्यादि वाक्यगत देवसमुदाय का अनुवादक नहीं है। परन्तु मुख्य विधि होने पर भी यहाँ उसका प्रयोग आग्नेय और अग्नीषोमीय के नैरन्तर्य को अक्षुण्ण बनाये रखने तथा श्रमजनित दोष के निवारण के लिए हुआ है ॥१२॥ (इत्युपांशुयाजाऽपूर्वताऽधिकरणम्—४)।

(आघाराद्यपूर्वताऽधिकरणम्—५)

शिष्य जिज्ञासा करता है—वैदिक वाङ्मय में **'आघारमाघारयति'** [तै०सं० २।५।११] यह वाक्य सुना जाता है। आघार का आघारण करता है, अर्थात् घृत का अग्नि में सेचन करता है। इसके विषय में अन्य वाक्य हैं—'ऊर्ध्वमाघारयति' ऊर्ध्व—ऊँचे से आघारण करता है। 'सन्ततमाघारयति' सन्तत—एकतार, घृत की धारा टूटे बिना आघारण करता है। 'ऋजुमाघारयति' घृत की धारा ऋजु—सरल-सीधी रहते आघारण करता है। पहले वाक्य में घृत के सेचन का विधान है; अगले वाक्यों में बताया गया—घृत का वह आघारण=सेचन किस प्रकार होना चाहिए।

ऐसा ही वाक्य है—**'अग्निहोत्रं जुहोति'** [तै० सं० १।५।९] अग्निहोत्र होम करता है। इसी के विषय में अन्य वाक्य कहे गये—'दध्ना[1] जुहोति' दही से होम करता है। 'पयसा जुहोति'[2] दूध से होम करता है।

ये सब वाक्य दो वर्गों में विभक्त हैं। पहला वर्ग 'आघार'-विषयक है; दूसरा 'अग्निहोत्र'-विषयक। यहाँ सन्देह होता है, प्रत्येक वर्ग के पहले वाक्य (='आघारमाघारयति' तथा 'अग्निहोत्रं जुहोति') अपने वर्ग के अगले वाक्यों के अनुवादक हैं, अथवा अपूर्व विधि हैं? इन्हें अनुवादक मानना उपयुक्त होगा; क्योंकि अगले वाक्यों से आघार और अग्निहोत्र का जो विशेष प्रकार बताया है, ये पहले वाक्य उसी का सामान्य रूप से कथन करते हैं। शिष्य की इस जिज्ञासा को सूत्रकार ने अगले तीन सूत्रों से विस्तार के साथ सूत्रित किया, जिनमें पहला सूत्र है—

---

१. सन्तुलन करें, 'दध्ना इन्द्रियकामस्य' तै० ब्रा० २।१।५॥

२. द्रष्टव्य—''यत् पयसाग्निहोत्रं जुहोति अमुमेव तदादित्यं जुहोति' कपिष्ठल कठ संहिता, क ४, २॥ (ब्राह्मणोद्धार कोष के अनुसार)। **'पयसा जुहुयात् पशुकामस्य'** तै० ब्रा० २।१।५॥

आघाराग्निहोत्रमरूपत्वात् ॥१३॥

[आघाराग्निहोत्रम्] आघार-वाक्य और अग्निहोत्र-वाक्य अपूर्वविधि नहीं, अनुवादक हैं, [अरूपत्वात्] अपूर्वविधि-रूप न होने से।

अपूर्वविधि में द्रव्य-देवता आदि का कथन होता है; यहाँ ऐसा नहीं है। जहाँ वाक्य द्रव्य, देवता व इतिकर्त्तव्यता आदि से युक्त होता है, वह अपूर्वविधि माना जाता है। यह उसका स्वरूप व विशेष गुण है। अतः पूर्वोक्त प्रत्येक वर्ग का पहला वाक्य अपने वर्ग के अगले वाक्यों द्वारा विहित प्रकृत कर्म का अनुवादक है। उन वाक्यों में इतिकर्त्तव्यता व द्रव्यगुण का निर्देश है ॥१३॥

अनुवादक होने में सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

संज्ञोपबन्धात् ॥१४॥

[संज्ञोपबन्धात् = संज्ञा-उपबन्धात्] प्रत्येक वर्ग के प्रथम वाक्य (आघारमाघारयति, अग्निहोत्रं जुहोति] में आघार और अग्निहोत्र संज्ञा का उपबन्ध—निर्देश होने से संज्ञाविशिष्ट आघार और अग्निहोत्र 'आघारमाघारयति' तथा 'अनिहोत्रं जुहोति' उक्त दोनों वाक्य कर्म के केवल नाम का निर्देश करते हैं, स्वरूप का नहीं। पहले से विद्यमान वस्तु का नाम रक्खा जाता है। तात्पर्य है, केवल नाम का निर्देश करनेवाले ये वाक्य यह स्पष्ट करते हैं कि ये कर्म स्वरूपतः वाक्यान्तर से सिद्ध हैं; उन्हीं वाक्यों के ये वाक्य अनुवादक हैं। अतः नाममात्र का निर्देश इन वाक्यों के अपूर्वविधि होने में बाधक है ॥१४॥

सूत्रकार ने इन वाक्यों के अनुवादक होने में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अप्रकृतत्वाच्च ॥१५॥

[अप्रकृतत्वात्] उक्त वाक्यों में द्रव्य देवता के प्रकृत न होने से [च] भी ये वाक्य अपूर्व कर्म के विधायक नहीं हैं।

समीप में स्थित किसी अन्य वाक्य से इन (आघारमाघारयति, अग्निहोत्रं जुहोति) वाक्यों में द्रव्य, देवता की प्राप्ति नहीं होती। अपूर्वविधि के लिए द्रव्य, देवता का निर्देश आवश्यक है। यहाँ ऐसा न होने से इन्हें अपूर्वविधि नहीं माना जाना चाहिए[1] ॥१५॥

गत त्रिसूत्री से प्रस्तुत की गई जिज्ञासा का आचार्य सूत्रकार ने समाधान

---

१. तेरहवें और पन्द्रहवें सूत्रों में दिये गये हेतुओं में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता। एक ही हेतु को दो प्रकार से प्रस्तुत कर दिया गया है। अपूर्व-विधि के लिए द्रव्य, देवता की अपेक्षा होना दोनों हेतुओं में समान है।

किया—

चोदना वा शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्, तत्सन्निधेर्गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ॥१६॥

सूत्र में 'वा' पद उक्त जिज्ञासारूप पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—'आधारमाधारयति, अग्निहोत्रं जुहोति' ये वाक्य अनुवादक नहीं हैं, प्रत्युत [चोदना] अपूर्व कर्म के विधायक वाक्य हैं, [शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्] उक्त वाक्यों के शब्दार्थ के प्रयोगभूत होने से; अर्थात् 'आधार कर्म करे' तथा 'अग्निहोत्र कर्म करे'[1] इस प्रकार विधायक अर्थवाला होने से। अतएव [तत्सन्निधेः] उन चोदना-(विधि)-वाक्यों के सामीप्य से (ऊर्ध्वमाधारयति, दध्ना जुहोति, आदि वाक्यों में) [गुणार्थेन] ऊर्ध्व एवं दधि आदि गुणविधान के प्रयोजन से [पुनः श्रुतिः] (आधारयति, जुहोति का) पुनः श्रवण होता है।

'आधारमाधारयति' तथा 'अग्निहोत्रं जुहोति' ये वाक्य अनुवादक न होकर अपूर्व कर्म के विधायक हैं। 'आधारयति' और 'जुहोति' इन आख्यात-पदों में लकार का अर्थ विधि तथा धातु का अर्थ आधारण और होम है, इस प्रकार इन वाक्यों से आधार-संज्ञक एवं अग्निहोत्र-संज्ञक अपूर्व कर्मों का विधान किया गया है। ये वाक्य केवल कर्म के नाम (संज्ञामात्र) का निर्देश न कर आधार एवं अग्निहोत्र कर्मान्तर के विधायक हैं। 'ऊर्ध्वमाधारयति' इत्यादि वाक्य आधार-कर्म के आधारण के साथ ऊर्ध्व, ऋजु और सन्तत गुणों के सम्बन्ध का विधान करते हैं, अर्थात् आधारण की इतिकर्त्तव्यता के विधायक हैं कि आधारण किस प्रकार किया जाना चाहिए। ये वाक्य आधार-कर्म का विधान नहीं करते; प्रत्युत 'आधारमाधारयति' वाक्य में विहित आधार-कर्मान्तरगत आधारण की केवल इतिकर्त्तव्यता का निर्देश करते हैं। इन पदों में कर्म का निर्देश ही नहीं है।

इसी प्रकार 'दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति' वाक्य केवल अग्निहोत्र-कर्मान्तरगत होमक्रिया के साथ द्रव्य के सम्बन्ध का विधान करते हैं, अग्निहोत्र कर्म का नहीं। यहाँ अग्निहोत्र कर्म का निर्देश ही नहीं। वह अपूर्व कर्म 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य से विदित है। ये वाक्य केवल द्रव्यान्तर के विधायक हैं।

यह आक्षेप उचित नहीं है कि 'आधारमाधारयति' वाक्य अपूर्व कर्म का विधायक नहीं हो सकता; क्योंकि यहाँ द्रव्य, देवता निर्देश नहीं है, जो अपूर्व-विधि के लिए–उसका स्वरूप होने से–आवश्यक माना जाता है। भाष्यकार शबर

---

१. 'आधारयति, जुहोति' लिङर्थ में लेट् लकार का प्रयोग है।

स्वामी ने लिखा है—'चतुर्गृहीतं[1] वा एतदभूत् तस्याघारमाघार्य' इति आज्यमस्य द्रव्यम्। निश्चित ही यह (एतत्) चार से गृहीत होता है। 'एतत्' सर्वनाम पद 'आज्य' के लिए प्रयुक्त हुआ है। उस आज्य का आघार याग में आघारण करके; इसके अनुसार आघार याग का द्रव्य-आज्य है। देवता का विधान मन्त्रवर्ण से जाना जाता है। मन्त्र है—'इन्द्र ऊर्ध्वोऽध्वरो दिवि स्पृशतु महतो यज्ञो यज्ञपते इन्द्रवान् स्वाहा' इति आघारमाघारयति। 'इन्द्र ऊर्ध्वो०···इन्द्रवान् स्वाहा' इस मन्त्र से आघार का आघारण करता है। मन्त्रार्थ है—हे इन्द्र! ऊर्ध्व अध्वर द्युलोक का स्पर्श करे; हे यज्ञपते! तुझ महान् का इन्द्रवान् यज्ञ सुहुत होवे। इससे स्पष्ट है, आघार-कर्म इन्द्रवान् होता है, इसका देवता इन्द्र है। इस प्रकार द्रव्य और देवता दोनों से सम्पन्न होने के कारण आघार अपूर्व विधि है, अनुवादक नहीं। 'आघारमाघारयति' के समान 'अग्निहोत्रं जुहोति' भी अपूर्व विधि है, उसका देवता अग्नि और द्रव्य-आज्य दूध-दही आदि स्पष्ट है। फलतः जिज्ञासा-प्रसंग से कहे गये आक्षेप अयुक्त हैं ॥१६॥ (इत्याघाराद्यपूर्वताऽधिकरणम्—५)।

(पशुसोमापूर्वताऽधिकरणम्—६)

शिष्य जिज्ञासा करता है—वैदिक वाङ्मय में पढ़ा है—'यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते।'—कर्मानुष्ठान के लिए दीक्षित व्यक्ति अग्नीषोम देवतावाले पशु का आलभन करता है। उसी प्रसंग में पाठ है—**'हृदयस्याग्रेऽवद्यति, अथ जिह्वाया अथ वक्षसः'** [तै० सं० ६।१।११]—पहले हृदय का अवदान करता है, अनन्तर जिह्वा का, तदनन्तर वक्ष का।

इसी प्रकार अन्य वाक्य है—'सोमेन यजेत' सोम से याग करे। वहाँ आगे पाठ है—'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति, मैत्रावरुणं गृह्णाति, आश्विनं गृह्णाति'—इन्द्र-वायु देवतावाले का ग्रहण करता है, मित्र-वरुण देवतावाले का ग्रहण करता है, अश्वी देवतावाले का ग्रहण करता है।

इन प्रसंगों में सन्देह है, क्या 'अग्नीषोमीयं पशुमालभते' तथा 'सोमेन यजेत' वाक्य अपूर्व कर्म का विधान करते हैं? अथवा अपने प्रसंग में पठित 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति' आदि, तथा 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' आदि वाक्यसमुदाय के अनुवादक हैं?

---

१. 'चतुर्गृहीतं' का शब्दार्थ है—चार से गृहीत। यह आज्य का विशेषण है। जब आज्यस्थाली से आज्य को स्रुक् से भरकर स्रुवा में डाला जाता है, तब स्रुक् और स्रुवा को पकड़ने में कनिष्ठिका अंगुलि का उपयोग नहीं किया जाता। इसीलिए आज्य चतुर्गृहीत होता है—तीन अंगुलि, चौथा अँगूठा।

ऐसा प्रतीत होता है, ये समुदाय के अनुवादक हैं, कर्मान्तर के विधायक नहीं। कारण है—समुदाय-वाक्यों में 'अवद्यति' और 'गृह्णाति' पदों से—अवदान करने तथा ग्रहण करने-रूप क्रियानुष्ठान के निर्देश द्वारा कर्म का विधान कर दिया गया है। ये वाक्य ('अग्नीषो०—लभते' तथा 'सोमेन यजेत') तो अवदान और ग्रहण से यथाक्रम पशु और सोम के सम्बन्धमात्र का निर्देश करते हैं, अतः ये उस वाक्य-समुदाय के अनुवादक हो सकते हैं। क्या यह युक्त है? आचार्य ने समाधान किया, यह कथन युक्त नहीं, क्योंकि—

द्रव्यसंयोगाच्चोदना पशुसोमयोः प्रकरणे ह्यनर्थको द्रव्यसंयोगो न हि तस्य गुणार्थेन ॥१७॥

[पशुसोमयोः] पशु और सोम से सम्बद्ध—'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' तथा 'सोमेन यजेत' वाक्यों में [द्रव्यसंयोगात्] पशु और सोम द्रव्य का संयोग होने से, ये वाक्य [चोदना] अपूर्व कर्म के विधायक हैं। [प्रकरणे] प्रकरण में पठित 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति' आदि तथा 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' आदि वाक्यों से याग का विधान माना जाता है, तो [द्रव्यसंयोगः] 'पशुमालभेत' वाक्य में तथा 'सोमेन यजेत' वाक्य में पशु और सोम द्रव्य का संयोग [हि] निश्चय से [अनर्थकः] निष्प्रयोजन हो जायगा। [तस्य] उक्त वाक्यों में पशु और सोम द्रव्य का [गुणार्थेन] गत अधिकरण में वर्णित 'दध्ना जुहोति' के समान—गुणविधान के प्रयोजन से निर्देश [हि] कदापि [न] नहीं है।

'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' एवं 'सोमेन यजेत' वाक्य अपूर्व कर्म के विधायक हैं; प्रकृत में पठित 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति' एवं 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' वाक्यों से अग्नीषोमीय पशुयाग एवं सोमयाग का बोध अथवा विधान नहीं होता; क्योंकि न तो हृदयादि अङ्ग पशु है, और न ऐन्द्रवायव सोमरस सोम है। 'पशुमालभेत' वाक्य में पशु पद से एवं 'सोमेन यजेत' वाक्य में सोम पद से यथाक्रम सींग, पूंछ, चार पैर वाले आकृतिविशेषमूलक द्रव्य का बोध होता है, समस्त लोकव्यवहार तथा शास्त्रीय निर्देश इसके प्रमाण हैं। प्रकृत में पठित पशु-अवयवों = हृदय-जिह्वा-वक्ष आदि का पशु-पद उच्चारण से बोध नहीं होता, तब ये पद पशुयाग के विधायक नहीं माने जा सकते। अतः 'पशुमालभेत' वाक्य को अपूर्व कर्म का विधायक मानना न्याय्य है।

इसी प्रकार 'सोमेन यजेत' वाक्य में सोम-पद मूल रूप से आकृतिविशेष के आधार पर सोमलता का वाचक है। उसके टहनी-पत्तों की विशेष आकृति, ऋतु-विशेष में उसका पल्लवित होना आदि सोम-पद के उच्चारण से अभिव्यञ्जित होते हैं। अभिधाशक्ति-बोध्य अर्थ सोम-पद का यही है। यदि कहीं सोम-पद का सोम-रस अर्थ अभिलक्षित होता है, तो वह औपचारिक अथवा गौण ही समझना

चाहिए। प्रकृत में पठित 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' आदि वाक्यों में 'ऐन्द्रवायव' आदि पद सोम-रस को अभिलक्षित करते हैं, सोमलता के वाचक नहीं हैं। अतः उनको सोमयाग का विधायक नहीं माना जा सकता। फलतः 'पशुमालभेत' एवं 'सोमेन यजेत' वाक्य अपूर्व कर्म के विधायक हैं, प्रकृत में पठित वाक्यों के अनुवादक नहीं।

प्रकृत-पठित वाक्यों में द्रव्य का जो निर्देश है, वह उनके यज्ञोपयोगी संस्कार-विशेष का बोध कराता है। इस प्रकार उक्त विधिवाक्यों के ये केवल अङ्गभूत हैं। संस्कार का बोध कराने तक ही उनका क्षेत्र है। कर्मान्तर की विधायकता की क्षमता उनमें नहीं है। इसलिए केवल द्रव्य के संस्कारबोधक वाक्यों को विधायक कहना और विधिवाक्यों को गुण का विधान करनेवाले कहकर गौण मानना वस्तुस्थिति का शीर्षासन कर देने के समान है ॥१७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है–'पशुमालभेत' तथा 'सोमेन यजेत' वाक्य अनुवादक नहीं हैं, यह ठीक है, परन्तु प्रकृत-पठित 'हृदयस्याग्रे' तथा 'ऐन्द्रवायवं' आदि वाक्यों में भी द्रव्य का निर्देश होने से उन्हें भी विधिवाक्य क्यों न माना जाय ?

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अचोदकाश्च संस्काराः ॥१८॥

[च] और [संस्काराः] प्रकृत-पठित वाक्यों में निर्दिष्ट अवदान तथा ग्रहण-रूप संस्कार [अचोदकाः] यागकर्मों के विधायक नहीं हैं।

'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' आदि वाक्यों में ग्रहण तथा 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति' आदि में अवदानरूप संस्कार अपूर्व यागों के विधायक नहीं है। 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' आदि वाक्य इन्द्रवायु आदि देवताओं के लिए संस्कृत द्रव्यदान के संकल्पमात्र का बोध कराते हैं, इतना ही इनका क्षेत्र है। पर देवता के लिए द्रव्यदान का संकल्प याग के बिना सम्पन्न न होगा। तब याग के विधान को देखना होगा; वह विधान 'सोमेन यजेत' वाक्य से किया गया है। इसलिए प्रकृत में पठित ये वाक्य किसी यागकर्म के विधायक नहीं हैं। विधिवाक्य से बोधित यागकर्म के अनुष्ठान में अपेक्षित द्रव्य के संस्कारमात्र का निर्देश करते हैं। संस्कृत द्रव्य का देवता-विशेष से सम्पर्क का निर्देश अदृष्टार्थक सम्भव है।

इसी प्रकार 'पशुमालभेत'[1] के प्रकरण में पठित 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति' आदि

---

१. पशुयाग में पशु का 'आलभन' और हृदय आदि अङ्गों का 'अवदान' क्या हैं? इस विषय में पर्याप्त प्राचीन काल से इस याग की मूल भावनाओं को भुलाकर अनेक भ्रान्त धारणाएँ चली आ रही हैं, जिनके कारण इस लम्बे अन्तराल-काल में अनेक साम्प्रदायिक, बौद्धिक, व दैहिक संघर्ष चलते रहे हैं। आज भी जहाँ-तहाँ उन यागों के विकृत रूप एवं उनसे उभरे छुट-पुट संघर्ष

वाक्यों द्वारा पशुयाग में अपेक्षित हृदय, जिह्वा, वक्ष एवं इनसे उपलक्षित अन्य

दृष्टिगोचर होते रहते हैं। यज्ञविषयक उन भ्रान्त धारणाओं के कारण आर्यों के प्राचीन भारतीय समाज से विच्छिन्न होकर बौद्ध सम्प्रदाय प्रादुर्भाव में आया। इस संघर्ष का उस समय में अवसादपूर्ण अन्त बौद्ध सम्प्रदाय के अनुयायियों को अपने देश बलात् छोड़ देने के रूप में परिणत हुआ। उन भ्रान्त धारणाओं का रूप—यागों में पशुहिंसा का करना—रहा है। यद्यपि इन धारणाओं के लम्बे समस्त अन्तराल-काल में अनुकूल-प्रतिकूल चर्चा लेख व मौखिक रूप में बराबर चलती रहीं, पर एक समय इन धारणाओं का इतना प्राबल्य बढ़ा कि वैदिक वाङ्मय का बहुत बड़ा भाग उन धारणाओं की पुष्टि के रूप में भर दिया गया जिसके फलस्वरूप समाज के बहुत बड़े भाग को अपना देश तक छोड़ना पड़ा। उस काल में भी भर्तृमित्र जैसे महान् मीमांसक हुए, जिन्होंने मीमांसाशास्त्र से इसे निकालने का अथक प्रयास किया; पर समाज का पतनाला उसी जगह रहा। कुमारिल भट्ट और आद्य आचार्य शंकर जैसे महान् व्यक्ति भी अपने-आपको उस कलुष से बचाकर न रख सके।

आधुनिक काल में ऋषि दयानन्द ने उन धारणाओं के विरुद्ध कठोर कदम उठाया। उन यागों की वास्तविक मूल भावनाओं को उभारकर ऐसे सुझाव सामने रक्खे, जिनसे उन भ्रान्त धारणाओं की असत्यता एवं निराधारता का मार्ग प्रशस्त होता है। ऋषि का अपने जीवन में कार्यकाल बहुत थोड़ा रहा, केवल दश वर्ष के लगभग। कार्य-तरु की शाखाएँ अनेक रहीं। किसे कितना समर्थन मिल सका, इसका लेखा-जोखा उनकी रचनायें प्रस्तुत करती हैं। उनपर आगे कार्य करना—ऋषि के अनन्तर होनेवाले—बुद्धिजीवियों का लक्ष्य होना चाहिए। छुट-पुट कार्य अनेक विद्वानों ने किया है, पर जिसकी ऊँचे स्तर पर गणना की जाय, ऐसा कार्य मेरी दृष्टि में केवल पं० युधिष्ठिर मीमांसक का आया है। यदि अन्य किसी विद्वान् ने उस स्तर का कार्य किया हो, तो उसे अभी देख नहीं पाया। इस विषय में उनकी रचनायें द्रष्टव्य हैं, जो निम्नलिखित हैं—

१. श्रौत यज्ञ मीमांसा
२. जैमिनीय मीमांसा सूत्रों के शाबर भाष्य का हिन्दी रूपान्तर; तथा विशेष रूप से उसके अन्तर्गत लिखे गये विवरण।

इस विषय में उनके विचारों को पाठक उनकी रचनाओं को गम्भीरतापूर्वक पढ़कर जानने का प्रयास करेंगे। इस विषय में मेरी जो कुछ धारणा बनी, अति संक्षेप में उनको प्रस्तुत करना चाहूँगा।

अङ्गों को शुद्ध-सुन्दर-स्वच्छ बनाने रूप अवदान-संस्कार का निर्देश हुआ है। इन

प्रारम्भिक भारतीय समाज—

भारत के प्राचीनतम साहित्य से ज्ञात होता है, अपने आदिकाल से ही भारत देश कृषिप्रधान रहा है। आज भी स्थिति इससे अधिक विपरीत नहीं है। आवश्यकतानुसार धीरे-धीरे अन्य अनेक संस्थाओं की स्थापना होती रही। मुख्य रूप से निम्न संस्थाएँ अतिप्राचीन काल से प्रचलित हैं—शिक्षा, रक्षा, व्यापार (स्थानीय तथा देशान्तर तक; स्थलीय व्यापार के अतिरिक्त नौकाओं द्वारा सागरीय व्यापार के उल्लेख भी प्राचीनतम वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं), विविध प्रकार के शिल्प, जिनमें गृहनिर्माण, लकड़ी तथा विभिन्न धातुओं (सोना, चाँदी, तांबा, लोहा आदि) के आधार पर आभूषण, पात्र तथा रक्षा, कृषि एवं अन्य कार्यों में अपेक्षित औज़ार आदि का निर्माण।

आधुनिक पुरातत्त्वानुसन्धाता उछल-उछलकर पुरजोश यह घोषणा करते हैं कि प्राचीन भारत में लोह अथवा अयस् धातु का अस्तित्व न था। पुराने स्थानों के खनन में अब से लगभग साढ़े तीन-चार हज़ार वर्ष तक के काल में लोहा मिलता है, इससे पहले का नहीं।

इस विषय पर जब पहले-पहल अनुसन्धाताओं ने प्रकाश डाला, तब कहा गया, अब से लगभग दो-ढाई हज़ार वर्ष से पहले समय में लोहा भारत में नहीं मिलता। पर धीरे-धीरे विभिन्न स्थानों के अनेक खनन-कार्यों के अनन्तर वह समय प्राचीनता की ओर बढ़ता-बढ़ता चार हज़ार वर्ष पूर्व समय के दामन में जा लगा है। यह क्रम बताता है, सम्भवतः भविष्यत् की खुदाइयों के बाद यह समय अन्य अनेक सहस्रों वर्ष पहले तक जा सकता है।

यह भी विचारणीय है, खनन में सोना, चाँदी आदि के प्रायः मिलने और लोहे के न मिलने का बुद्धिसंगत कुछ कारण है। खनन वहाँ होता है, जहाँ पुरानी आबादियाँ नष्ट हो गईं। नष्ट होने के अनेक कारण होते हैं—दैवी प्रकोप—भूकम्प, भयंकर बाढ़, संक्रामक भयावह रोग का प्रकोप आदि; मानवीय प्रकोप—शत्रु का अचानक आक्रमण, डाकू-लुटेरों का आए-दिन हल्ला आदि। इनमें कतिपय कारण ऐसे हैं, जिनसे आतंकित व्यक्ति जान बचाकर एकदम भागता है, सामान उठाकर ले-जाने की ओर ध्यान नहीं देता; अथवा जान व सामान के साथ वहीं समाप्त हो जाता है। ऐसे नष्ट हुए स्थानों के खनन में थोड़ी-बहुत सब प्रकार की धातु मिल जाने की सम्भावना रहती है।

स्वभावतः मानव मूल्यवान् धातुओं को रक्षा की दृष्टि से भूमि में गाड़ देता है। पर लोहे का सामान न मूल्यवान् है, तथा दैनिक कार्यों में निरन्तर

वाक्यों का क्षेत्र पशु-अङ्गों के अवदानरूप संस्कारमात्र का बोध कराना है; ये

उपयोग में लाया जाता है। आतंक के अवसर पर व्यक्ति गड़े सामान को खोदने में समय नष्ट नहीं करना चाहता; ऊपर के दैनिक उपयोगी सामान को लेकर तत्काल स्थान छोड़ने का प्रयास करता है। ऐसे अवसर पर गड़ी चीज़ को छोड़ने का कभी-कभी यह भी कारण होता है कि व्यक्ति उसे जान-बूझकर छोड़ जाता है—इस भय से, कि दूसरे सुरक्षित स्थान पर पहुँचने से पहले ही मार्ग में लुट न जाय। वह सोचता है, भयरहित अवसर आने पर उस वस्तु को उखाड़कर सुरक्षित रूप में ले-जाया जा सकेगा। ऐसा अवसर कभी मिलता है, कभी नहीं। जब नहीं मिलता, तो गड़ी हुई कीमती धातु वहीं रह जाती है, जो खनन करने पर आकस्मिक रूप से अनुसन्धाताओं के हाथ लगती है। ऐसे स्थानों पर लोहा मिलने की कोई सम्भावना नहीं रहती।

इन परिस्थितियों के अतिरिक्त यह विशेष ध्यान देने योग्य है—आदिकाल से ही भारत कृषिप्रधान देश है। कदाचित् आधुनिक पुरातत्त्वानुसन्धाता उस समय में अन्य संस्थाओं की विद्यमानता को न माने, पर कृषि की विद्यमानता से नकार नहीं कर सकेगा। कृषि से परिचय व सम्पर्क रखने-वाला व्यक्ति यह कभी स्वीकार नहीं करेगा कि कृषि-कार्य लोहे के उपयोग-बिना हो सकता है। कृषि में लोहे का सहयोग अवश्यम्भावी है। लोहे के साथ असहयोग करके कृषि का किया जाना असम्भव है। कृषि और लोहे का चोली-दामन का सम्बन्ध है। कदाचित् आधुनिक पुरातत्त्वानुसन्धाता शुद्ध नागरिक प्राणी है, कृषि-कार्य से सर्वथा अपरिचित; अन्यथा वह ऐसी सम्मति न देता—लोहे को कृषि से अलग न रखता। भूमि का फाड़ना और लकड़ी का काटना-छीलना लोहे के बिना सम्भव नहीं। भारत में जब से कृषि है, उस समय से लोहा है।

निवेदन है, ऐसे अनुसन्धाता जब भारत में लोहे की विद्यमानता के लिए अपनी सम्मति प्रकट करें, तो उन्हें इन परिस्थितियों पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर लेना चाहिए। इससे उनके कथन को सच्चा आधार और बल मिलेगा, तथा वास्तविकता खुले रूप में सामने आएगी।

प्रसंग है—वैदिक वाङ्मय व मीमांसाशास्त्र में प्रतिपादित पशुयाग। इस विषय में अपने विचार प्रकट करना अभीष्ट है। मध्यकालिक साहित्य इस विषय का जिस रूप में उल्लेख करता है, उससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि पशु के अंगों को काटकर उनकी कुछ अत्यल्प आहुतियाँ होमाग्नि में और शेष समस्त जठराग्नि में दी जाती रही हैं। गत पंक्तियों में यह स्पष्ट किया

यागकर्म के विधायक वाक्य नहीं हैं। पर यागकर्म के बिना संस्कार की सार्थकता

गया कि भारत देश आदिकाल से कृषिप्रधान रहा है। भारत में कृषि का मूल आधार गौ है। कहना चाहिए, भारतीय अर्थतन्त्र का मूल आधार गाय है। वह मानव को अमृत-तुल्य दूध देती है, जो सशक्त मानव-जीवन के लिए श्रेष्ठ साधन है। गाय के बछड़े भारत में सदा से कृषि का आधार रहे हैं। इनका मूत्र व गोमय आज विज्ञान के हल्ले में भी खेती की उपज बढ़ाने के लिए सर्वोत्तम खाद माना जाता है। गाय द्वारा प्राप्त दूध और कृषि-उपज सब प्रकार के खाद्य एवं विविध प्रकार के व्यापार व उद्योग की रीढ़ है। समाज के सर्वतोमुखी अभ्युदय-साधनों के दो ही मूल आधार हैं—एक कृषिजन्य उपज, दूसरे खनिज पदार्थ। यहाँ केवल कृषि-सम्बन्धी चर्चा उपादेय है।

जाना गया, कृषि-सम्पादन के लिए आवश्यक व मुख्य साधन गौ हैं। इसको ध्यान में रखते हुए पशुयाग पर विचार कीजिए। याग के विषय में वाक्य हैं—

अग्नीषोमीयं पशुमालभेत। हृदयस्याग्रेऽवद्यति,
अथ जिह्वायाः, अथ वक्षसः।

अग्नीषोम देवता से सम्बद्ध पशु का आलभन करे। पहले हृदय का अवदान करे, तत्पश्चात् जिह्वा का, उसके अनन्तर वक्षस् का।

सन्दर्भ में दो क्रियापद हैं—'आलभेत' और 'अवद्यति'। अर्थ है—आलभन करना और अवदान करना। यहाँ 'आलभन' और 'अवदान' पद विचार्य हैं—इनका तात्पर्य क्या है? यथाक्रम इनका अर्थ—जान से मारना, और काटना = टुकड़े-टुकड़े किया जाना—किया जाता है। परन्तु 'आलभन' पद में धात्वर्थ यह नहीं है। 'प्राप्ति' अर्थवाले लभ् [डुलभष् प्राप्तौ], धातु से भाव अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय होने पर यह पद सिद्ध होता है। 'आङ्' उपसर्ग लगा है। सब मिलकर अर्थ होता है—अच्छी तरह प्राप्त होना, सम्बद्ध होना, स्पर्श करना आदि। धात्वर्थ में 'मारना' अर्थ का संकेत भी नहीं है। इस क्रियापद [आलभते] का वैदिक वाङ्मय में प्रयोग 'स्पर्श करने' अर्थ में देखा जाता है।

'अवदान' पद 'दैप् शोधने' (भ्वादि०) और 'दो अवखण्डने' [दिवा०] धातुओं से पूर्ववत् ल्युट् प्रत्यय होने पर सिद्ध होता है। पहले का अर्थ है—सुन्दर, स्वच्छ, पवित्र, साफ़-सुथरा आदि। दूसरे का अर्थ है—काटना = टुकड़े-टुकड़े करना। 'अवद्यति' क्रियापद 'दो अवखण्डने' (दिवा०)

सम्भव नहीं। उस यागकर्म का विधान 'पशुमालभेत' वाक्य से किया गया है।

का सम्भव है, 'दैप् शोधने' [भ्वा०] का नहीं। भ्वादिगणी 'दैप्' धातु का रूप 'अबदायति' होगा, 'अवद्यति' नहीं।

विचारणीय है, 'अग्नीषोमीयं पशुमालभते' वाक्य के साथ 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति' आदि वाक्य एकसाथ ग्रन्थ में पठित नहीं हैं। पहला वाक्य तैत्तिरीय संहिता [६।१।११] में पठित है; दूसरा [६।३।१०] में। पहला प्रसंग वर्षा-सम्बन्धी है। आलंकारिक रूप में वर्णन है—अग्नि और सोम की सहायता से इन्द्र ने वृत्र को मारा। अग्नि और सोम परस्पर मिश्रित हुए वर्षा लानेवाले पुरोवात का प्रतीक है। इन्द्र विद्युत् है, उसने पुरोवात के सहयोग से मेघरूप वृत्र को मारा। वर्षा ऋतु प्रारम्भ हो गया। कृषक-वर्ग में चहल-पहल प्रारम्भ हो गई, यही अवसर अग्नीषोमीय पशु के प्राप्त होने का है। अग्नि और सोम कृषि के देवता हैं। उनसे सम्बद्ध अग्नीषोमीय पशु बैल है। भूमि वर्षा से आर्द्र हो उठी है। भूमि को तैयार कर उसमें बीजवपन का समय आ गया है। तब उसके लिए पशु, बैल उपस्थित होता है। यह अग्नीषोमीय पशु का आलभन है, प्राप्त होना है। उसकी गर्दन पर जुआ रक्खा जाता है। यहाँ से दूसरे प्रसंग का वर्णन प्रारम्भ होता है।

बैल की गर्दन पर जब जुआ रक्खा जाता है, तब यह जुए का व्यवधान मानो उसके सिर को धड़ से अलग कर देता है। यही पशु का शिरश्छेदन है। हल में जुते हुए बैल के द्वारा भूमि के फाड़ने में जो परिश्रम (थकान) होता है, उससे बैल की जीभ व हृदय (वक्षस्) प्रतिकूल दिशा में प्रभावित होते हैं। यही जिह्वा और वक्षस् का अवदान है। तब गर्दन से जुआ हटाकर उन्हें थोड़ी चिकनाई दी जाती है, जो उनके प्राण-अपान को पुष्ट करती है। भूमि फाड़ते समय श्रमजन्य कष्टरूप जो राक्षस आ घिरे थे, अब उनका अपघात हो जाता है। तात्पर्य है, उसकी थकावट दूर हो जाती है, और उसे खूँटे (यूप) पर बाँधकर उपयुक्त चारा (आहवनीय) दिया जाता है। इस प्रकार के अवदान से देवों ने स्वर्ग प्राप्त किया, अर्थात् कृषि द्वारा प्रचुर अन्न आदि विविध उपभोग्य सामग्री का उत्पादन कर समाज के लिए सुख-सम्पदाओं को प्राप्त किया। 'अवद्यति' क्रियापद-बोधित अवदान यहाँ उक्त रीति पर औपचारिक रूप से वर्णित है। अमावास्या के दिन इष्टि के अवसर पर उन स्थितियों का स्मरण करते हुए स्थानीय सब पशुओं को—उनके स्वास्थ्य आदि की परीक्षा व जाँच-पड़ताल के लिए एकत्रित किया जाता था।

पशुयाग अमावास्या को किया जाता है। समस्त देश के कृषक अपने-

उस याग के अनुष्ठान में उपयोगी होने से ये वाक्य उसके अङ्ग अथवा शेष हैं ॥१८॥

अपने स्थानों में मास के इस नियत एक दिन कृषि-कार्य में सहयोग देनेवाले पशुओं को न केवल पूर्ण विश्राम ही देते थे, अपितु घर के सब पशुओं (गाय, बैल आदि) को सरोवर या नदी आदि में ले-जाकर स्वच्छ जल से अच्छी तरह स्नान कराते थे, गीले कपड़े आदि से मलकर उनके देह का सब मैल साफ करते थे। इस प्रकार स्नान कराने के अनन्तर उनके सींगों व खुरों आदि पर चिकनाई की मालिश करते थे। उनके शरीर के विभिन्न अंगों—हृदय, बक्खियाँ, माथे आदि पर सिन्दूर अथवा अन्य किसी तरल रूपी से माङ्गलिक चिह्न आदि बनाते थे। अनन्तर स्वयं स्नान कर, स्वच्छ वस्त्र धारण कर, बस्ती के सब कृषक मिलकर बस्ती के मार्गों में पशुओं का जुलूस निकालते थे; जिस घर के सामने से वह जुलूस गुज़रता, घर की महिलायें व बच्चे दीप-धूप आदि से सत्कृत-पूजित करते, तथा कुछ खाद्य सामने आए पशु के मुंह में दे दिया जाता। यह उनका पर्यग्निकरण था। इस प्रकार पल्ली की परिक्रमा कर सब अपने-अपने स्थानों में जाकर विश्राम करते।

उसी पशुयाग का आधुनिक रूप समस्त देश में पाया जाता है। यह आश्चर्य की बात है कि आदिकाल से आज तक समस्त भारत के पूरे कृषि-जीवी समाज में यह परम्परा अटूट रूप में चली आ रही है। अमावस के दिन प्रत्येक कृषिजीवी-वर्ग का व्यक्ति अपने कृषि-उपयोगी पशुओं को पूर्ण विश्राम देता है। उस दिन उनसे किसी प्रकार का कोई काम नहीं लिया जाता; नहलाया-धुलाया जाता है। किन्हीं प्रदेशों में नीराजना का भी प्रचलन है।

कालान्तर में धीरे-धीरे यह व्यावहारिक परम्परा कर्मकाण्ड-सम्बन्धी धार्मिक रूप धारण कर गई। आज्य एवं शाकल्य आदि से सम्पन्न होने वाले यज्ञ-याग आदि के स्तर तक इसे पहुंचा दिया गया। प्रारम्भ में उस परम्परा को यह रूप देने में समाज के कुछ प्रभावी बुद्धिजीवी, पर दम्भी, स्वार्थी, रसनालोलुप, विषयलम्पट व्यक्तियों का मुख्य हाथ रहा, अनंतर-काल में इस गड्डलिका-प्रवाह के अन्दर अच्छे उदात्त विचार के व्यक्ति भी बह गए। यज्ञयाग के फलों को अलौकिक रूप दिया गया। एक सच्चा-सीधा लौकिक व्यवहार पशुयाग भी अलौकिक रूप धारण कर गया। इस सम्पर्क से उन पवित्र कर्मों के मञ्च को बूचड़खाना बना दिया गया। पर यह एक शुभ लक्षण है कि उस प्राचीन परम्परा को शुद्ध रूप—भले ही आंशिक रूप में रह गया हो—आज भी कृषिजीवी-वर्ग में विद्यमान है, जो उसके

गत सूत्र में पशुयागविषयक विवेचन प्रस्तुत किया गया। इस विषय में अन्य

वास्तविक प्राचीन रूप का प्रतीक है।

आज इन मान्यताओं को माननेवाले समाज के सर्वोच्च धार्मिक नेता यह कहने में नितान्त संकोच का अनुभव नहीं करते कि हम पशु को मार कर, अङ्गों को होमाग्नि में आहुत कर उनके कल्याण की भावना से ही ऐसा करते हैं; हमारा इसमें कोई स्वार्थ न होकर यह एक प्रकार का परमार्थ ही है।

ऐसे नेताओं के इन लचर कथनों का सहस्रों वर्ष पहले बृहस्पति और उसके शिष्यों ने अच्छा उत्तर दे दिया था। उस विचारधारा के साहित्य को इन-जैसे लकीर के फ़कीर नेताओं ने—नष्ट करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। फिर भी इधर-उधर बिखरे सन्दर्भ दूरदर्शी व्यक्तियों ने एकत्र किए। उन्हीं में एक सन्दर्भ है—

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते ॥

ज्योतिष्टोम याग में मारा हुआ पशु यदि स्वर्ग को चला जाएगा, तो यजमान-यज्ञकर्त्ता अपने बाप को मारकर सीधा स्वर्ग क्यों नहीं पहुँचाता?

वस्तुतः याग जैसे लोकहितकारी पवित्र कार्य को ऐसे व्यक्तियों ने नितान्त निन्दनीय बना डाला है। समस्त उन्नत वैदिक वाङ्मय को इसने दूषित कर डाला है।

इन वास्तविकताओं की छाया में हम विचार के निम्नांकित धरातल पर पहुँचते हैं—अमावास्या के दिन होनेवाली इष्टि का 'दर्श' नाम इसी आधार पर हुआ ज्ञात होता है कि उस दिन समस्त स्थानीय पशुओं को उनके स्वास्थ्य आदि की देख-भाल, उपयुक्त जाँच-पड़ताल के लिए इष्टि-मण्डप के समीप परिसर में एकत्रित किया जाता था। इष्टि के अनुष्ठाता व्यक्ति समाज के मूर्द्धन्य व गण्य-मान्य होते थे। प्रशासन के साथ उनका सम्पर्क रहता था। स्वयं भी वे अपना कर्त्तव्य समझते थे कि समाज के सुचारु रूप से निर्बाध सञ्चालन में उनका उपयुक्त योगदान बना रहे। नियतकालिक इष्टि-अनुष्ठान के अवसर को स्थानीय पशुओं के स्वास्थ्य-परीक्षणार्थ इसी कारण उन लोगों ने चुना कि सब श्रेष्ठ अधिकृत व्यक्तियों के साक्ष्य में यह कार्य भी सुगमता से सम्पन्न हो जाय; उसके लिए अन्य अतिरिक्त समय लगाना न पडे। कृषिप्रधान समाज होने के कारण उसकी

कथन आगे [१०।७।१-२; अधिकरण १ में] किया जाएगा। अब सोमयाग के

उपेक्षा किया जाना भी सम्भव न था।

सुविधा की दृष्टि से सब पशुओं को तीन भागों में बाँटा गया था, जिनके नाम हैं—अग्नीषोमीय, सवनीय, अनुबन्ध्य। छह दिन में सम्पन्न होनेवाला ज्योतिष्टोम याग कृष्ण पक्ष की एकादशी से प्रारम्भ होकर शुक्ला प्रतिपदा को पूरा होता था। पहले तीन दिन केवल विविध इष्टियों का अनुष्ठान होकर चौथे दिन कृष्ण चतुर्दशी से पशुओं की स्वास्थ्य-परीक्षा प्रारम्भ होती थी। इष्टि-अनुष्ठान यज्ञमण्डप में चलता रहता था। उसी के समीप परिसर में नियत व्यक्ति पशुओं के स्वास्थ्य की जाँच-पड़ताल करते थे। पहले दिन चतुर्दशी को अग्नीषोमीय पशु उपस्थित होते थे। अग्नीषोमीय पशु बैल हैं, जो सीधे कृषिकार्य में उपयुक्त होते हैं। दूसरे दिन अमावास्या को सवनीय पशु उपस्थित होते थे। सवनीय पशु हैं—मेष (मेंढ़ा), मेषी (भेड़), अज (बकरा), अजा (बकरी)। अमावास्या के दिन प्रधान आहुतियाँ सोम की दी जाती हैं, जो प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन, तृतीय सवन अथवा सायं सवन—तीन भागों में सम्पन्न होती हैं। इसी के अनुसार अमावास्या में उपस्थित होनेवाले पशुओं का 'सवनीय' नाम हुआ। इन पशुओं की संख्या पर्याप्त अधिक होने के कारण इनकी परीक्षा भी तीन भागों में बाँटी गई। प्रातः सवन के अवसर पर समस्त स्वस्थ पशुओं को छाँटकर अलग कर दिया जाता था। जिन पशुओं के विषय में रोग का सन्देह रहता, तथा जिनपर रोग का निश्चय रहता, उनको माध्यन्दिन सवन-काल में चारे पर घेर दिया जाता था, जो स्वास्थ्य-परीक्षा में उपयोगी था। ऐसे पशुओं की संख्या बहुत कम रहती थी। तृतीय सवन-काल में उनकी परीक्षा कर चिकित्सा आदि का प्रबन्ध कर दिया जाता था।

ज्योतिष्टोम का अन्तिम (शुक्ल प्रतिपदा) दिन पशुयाग का तीसरा दिन है। इस दिन 'अनुबन्ध्य' पशु उपस्थित किए जाते थे। 'अनुबन्ध्य' पद का अर्थ है—परीक्षित पशुओं के पीछे शेष रहे पशु। इन्हें 'पिछलग्गू' कह सकते हैं। शेष रहे सभी पशुओं का इनमें समावेश हो जाता है—दूध देने, न देने वाली गाएँ, बछड़े-बछियाँ, पठोरे बहड़े-बहड़ियाँ, घोड़ा-घोड़ी, ऊँट-ऊँटनी, हाथी-हथनी, कुत्ता-कुतिया आदि। परीक्षा के अनन्तर सब पशु अपने-अपने स्थानों पर चले जाते थे। इसी व्यवस्था का नाम 'पर्यग्निकरण' एवं विसर्जन अथवा उत्सर्जन था। यज्ञ के आरम्भकाल में पशुयाग का यह स्वरूप रहा। इससे आलम्भन और अवदान पदों का अर्थ स्पष्ट होता है। पशुओं का स्वास्थ्य-परीक्षार्थ यज्ञीय परिसर में प्राप्त होना—पहुँचना

विषय में वक्तव्य अपेक्षित है।

शिष्य जिज्ञासा करता है—यह एक शास्त्रीय व्यवस्था है कि यदि अनेक विधिवाक्य समान बल रखते हों और सबका प्रयोजन एक हो, तो उन विधियों में विकल्प हो जाता है। जैसे—यज्ञिय पशु को बाँधने के लिए यूप [खूँटा] के विषय में उल्लेख हैं—'खादिरे बध्नाति, पालाशे बध्नाति, रोहितके बध्नाति'—खैर की लकड़ी के बने यूप में बाँधता है, ढाक के यूप से बाँधता है, बहेड़े के यूप में बाँधता है। ये सब विधियाँ समानबल हैं, और इनका एक ही प्रयोजन है–पशु को बाँधना। इसलिए इन विधियों में विकल्प है, इनमें से किसी भी एक लकड़ी का यूप होना चाहिए।

इसी प्रकार सोमयागीय ग्रहों के विषय में सुना जाता है—'दशैतान् अध्वर्युः प्रातःसवने ग्रहान् गृह्णाति'—अध्वर्यु इन दश ग्रहों को प्रातःसवन में ग्रहण करता है। इसके अनुसार यहाँ ग्रहों का समुच्चय देखा जाता है। दश ग्रह हैं—(१) ऐन्द्रवायव, (२) मैत्रावरुण, (३) शुक्र, (४) मन्थी, (५) आग्रायण, (६-७-८) अतिग्रह [आग्नेय-ऐन्द्र-सौर्य], (९) उक्थ, (१०) आश्विन। ये दस ग्रह क्रमशः प्रातःसवन में ग्रहण किये जाते हैं। तात्पर्य है, विभिन्न देवताओं के उद्देश्य से पात्रों में सोमरस भरा जाता है। 'आश्विनो दशमो गृह्यते' के अनुसार ग्रहण-क्रम में आश्विन ग्रह दसवाँ है; परन्तु 'तृतीयो हूयते—द्विदैवत्यश्चरति [कात्या० श्रौत० ९।९।११] के अनुसार पहले दो-दो देवतावाले ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण और

'आलम्भन' है और परीक्षा से स्वास्थ्य का शोधन 'अवदान' है।

संहिता-ग्रन्थों में इन प्रसंगों का वर्णन करने के अवसर पर कतिपय पदों का प्रयोग चिन्तनीय अवश्य है। सम्भव है, आरम्भकाल में इन प्रसंगों के वर्णन के अवसर पर 'अवदायति' क्रियापद प्रयुक्त होता रहा हो। कालान्तर में रसनालोलुपता की शान्ति के लिए धर्म की आड़ लेकर यज्ञ-अवसर पर–शुद्ध व्यावहारिक जनहितकारिणी पद्धति को भुलाकर–आमिष-प्रयोग का प्राधान्य हो जाने पर 'अवदायति' का स्थान 'अवद्यति' ने ले लिया हो। संहिताओं के लेख इसी अनन्तर-काल के हैं, इस सम्बन्ध की सभी खुराफ़ात से भरे हैं।

इन प्रसंगों पर विचार करते हुए अमावास्या में होनेवाली इष्टि के 'दर्श' नामकरण के प्रवृत्तिनिमित्त को कभी भूलना नहीं चाहिए। अभी तक पशुओं के 'स्वास्थ्य-दर्शन' के अतिरिक्त अन्य किसी प्रवृत्ति-निमित्त का पता नहीं लगा। जिसको पता हो, वह बताने की कृपा करेंगे। आज भी उसी का आंशिक रूप प्रतीक मात्र से समस्त भारत में अमावास्या के दिन कृषि में प्रयुक्त होने वाले पशुओं को 'पूर्ण विश्राम' देना है।

आश्विन ग्रह से क्रमशः यजन होता है। इस प्रकार आश्विन 'ग्रह ग्रहण' (सोमरस भरे जाने) में दसवें और यजन में तीसरे स्थान पर आता है। इस प्रकार ग्रहों में समुच्चय और क्रम दोनों देखे जाते हैं।

यहाँ जिज्ञास्य है—यदि 'सोमेन यजेत' को अनुवादक न मानकर अपूर्वविधि माना जाता है, तो 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' आदि वाक्यों में 'व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत' के समान विकल्प माना जाना चाहिए, क्योंकि इनका देवता-निर्देश-रूप एक प्रयोजन है, और समानबल वाक्य हैं। विकल्प माने जाने पर ग्रहों के विषय में प्रथम निर्दिष्ट क्रम-समुच्चय उपपन्न न होंगे। फलतः 'सोमेन यजेत' को अपूर्वविधि मानना युक्त न होगा। आचार्य ने समाधान किया—

तद्भेदात् कर्मणोऽभ्यासो द्रव्यपृथक्त्वादनर्थकं हि स्याद् भेदो द्रव्यगुणीभावात् ॥१६॥

[तद्भेदात्] देवता के भेद से [कर्मणः] कर्मयाग का [अभ्यासः] अभ्यास=आवर्त्तन होता है; [द्रव्यपृथक्त्वात्] ग्रहसंज्ञक पात्रों में रक्खे सोम-रस द्रव्य के पृथक्-पृथक् होने से संस्कार का भेद है [द्रव्यगुणीभावात्] सोमरस द्रव्य के प्रति ग्रहण के गुणभूत होने से उसका भी [भेदः] भेद=अभ्यास होता है। [हि] यतः—क्योंकि एक बार ग्रहण करके याग करने पर [अनर्थकम्] 'आश्विनो दशमो गृह्यते' इत्यादि क्रमविधि अनर्थक [स्यात्] हो जाता है।

'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति, मैत्रावरुणं गृह्णाति' आदि वाक्यों में ऐसा कोई निर्देश नहीं है, जिससे यह ज्ञात हो कि इन्द्रवायु देवता के लिए याग करो, मित्र-वरुण देवता के लिए याग करो। ये वाक्य केवल द्रव्य के साथ देवता के सम्बन्ध का द्योतन करते हैं। इन्द्रवायु देवता-सम्बन्धी सोमरस का ग्रहण करता है, मित्र-वरुण देवता-सम्बन्धी सोमरस का ग्रहण करता है--केवल इतना अर्थ प्रकाश करने में इनका तात्पर्य है। यदि 'सोमेन यजेत' को अपूर्वविधि नहीं माना जाता, तो यह सोमरस का ग्रहणरूप संस्कार अनर्थक हो जाता है, क्योंकि विधि के अभाव में ग्रहसंज्ञक पात्रों में गृहीत सोमरस से यजन तो किया नहीं जायगा; अतः सोम-रस का यह संस्कार व्यर्थ होगा।

जिस देवता का संकल्प करके विशेष पात्र में सोमरस भरा जाता है, वह सोमरस उसी देवता के लिए यजन किया जाता है। इन्द्रवायु देवता के संकल्प से पात्र में भरा सोमरस, उस सोमरस से भिन्न है, जो मित्रवरुण देवता के संकल्प से पात्र में भरा गया है। देवता-भेद एवं पात्र-भेद से यह द्रव्य का भेद स्पष्ट है। 'सोमेन यजेत' को अपूर्वविधि मानने पर देवताभेद से एक ही सोमयाग की आवृत्ति माने जाने से दस ग्रहों का समुच्चय संगत होता है। यदि इन वाक्यों को विधायक मानकर 'सोमेन यजेत' को इनका अनुवादक कहा जाता है, तो इसका

तात्पर्य होता है अकेली देवता से ही याग का सम्पन्न हो जाना। इस दशा में ग्रहों का समुच्चय अनर्थक हो जाता है।

यदि कहा जाय, सोमरस-ग्रहणरूप संस्कार के प्रति देवता का विधान अदृष्ट के लिए है, तो उस दशा में यह स्पष्ट है कि इन्द्रवायु-संकल्प से जनित अदृष्ट, मित्रावरुण-संकल्प से जनित अदृष्ट से भिन्न होता है। इसी प्रकार अन्य सब ग्रहणों में उस-उस देवता का संकल्प विभिन्न अदृष्टों को उत्पन्न करता है। इस अवस्था में भी ग्रहों का समुच्चय संगत होता है। ग्रहणवाक्यों को विधायक मानने का पर्यवसान याग के प्रति देवता के विकल्प पर होता है। तात्पर्य है—किसी एक देवता से याग के उपपन्न हो जाने के कारण यागों का समुच्चय न रहता।

भाष्यकार ने १७वें सूत्र की अवतरणिका में 'सोमेन यजेत' वाक्य देकर चर्चा का प्रारम्भ किया है; परन्तु इस सूत्र के भाष्य में 'ज्योतिष्टोमेन यजेत' वाक्य दिया है। इनमें कोई अन्तर नहीं है, दोनों समानार्थक वाक्य हैं। ज्योति का अर्थ है—सोम, स्तोम का अर्थ है—स्तुति करना। जहाँ सोम के लिए स्तुति की जाती है, वह ज्योतिष्टोम है। यही अर्थ 'सोमेन यजेत' का है। इन वाक्यों में देवता का निर्देश न होने पर भी इनको अपूर्वविधि मानने में कोई बाधा नहीं आती; क्योंकि प्रकरण में पठित 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति, मैत्रावरुणं गृह्णाति' आदि वाक्यगत देवताओं से उक्त वाक्यों की देवताविषयक आकांक्षा की पूर्ति हो जाती है, अन्य किसी देवता की अपेक्षा नहीं रहती। फलतः 'सोमेन यजेत' को अपूर्वविधि मानना युक्त है ॥१९॥

'खादिरे बध्नाति' आदि के समान ग्रहण-वाक्यों में जो विकल्प की आशंका की गई, वह युक्त नहीं; क्योंकि—

संस्कारस्तु न भिद्येत परार्थत्वात्, द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥२०॥

[संस्कारः] 'खादिरे बध्नाति' आदि वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट पशुबन्धनरूप संस्कार [तु] तो [न] नहीं [भिद्येत] भिन्न होवे। [द्रव्यस्य] यूप द्रव्य के [परार्थत्वात्] परार्थ होने से, अर्थात् बन्धनरूप प्रयोजन के लिए होने से, [गुणभूतत्वात्] सोमयाग के प्रति यूप के गुणभूत=अंगरूप होने के कारण पशुबन्धनरूप संस्कार का खादिर आदि यूपों में अभ्यास नहीं होगा।

पशुबन्धन के लिए यूप-निर्माणार्थ खैर, ढाक, बहेड़ा आदि लकड़ियों के विकल्प के समान 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' आदि वाक्यों में भी ऐन्द्रवायव-सोमरस मैत्रावरुण-सोमरस आदि का विकल्प होना चाहिए,—जो यह आपत्ति प्रथम उठाई गई है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि ग्रहपात्रों में सोमरस-ग्रहणरूप संस्कार सोमयाग के प्रति गौण नहीं है, वह सोमयाग का प्रधान साधन है; वहाँ विकल्प सम्भव

नहीं, अन्यथा ग्रहण-संस्कार ही व्यर्थ हो जाएगा,–यह गत सूत्र में स्पष्ट कर दिया गया है। परन्तु पशुबन्धन में यूप की वह स्थिति नहीं है; पशुबन्धनरूप संस्कार खैर, ढाक आदि उपादानों से निर्मित यूपों में से किसी में भी किया हुआ सिद्ध हो जाता है, क्योंकि खादिर आदि यूप पशुबन्धन के लिए श्रुत हैं। इन्द्रवायु आदि देवता यागकर्म के प्रति श्रुत नहीं हैं; ग्रह-ग्रहण (ग्रहसंज्ञक पात्रों में सोमरस भरने) के प्रति श्रुत हैं। अतः इनका समुच्चय होगा, विकल्प नहीं ॥२०॥ (इति पशुसोमापूर्वताधिकरणम्—६)।

(संख्याकृतकर्मभेदाधिकरणम्—७)

वैदिक वाङ्मय में पठित है—'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' स्वाराज्य—परतन्त्रता के अभाव की कामनावाला व्यक्ति वाजपेय से यजन करे। वाजपेय के अन्तर्गत पशुयाग-प्रसंग में कहा—'सप्तदश प्राजापत्यान् पशून् 'आलभते' प्रजापति देवतावाले सत्रह पशुओं का आलभन करे। अन्यत्र कहा—'सप्तदशो वै प्रजापतिः, प्रजापतेराप्त्यै' प्रजापति सत्रह अवयववाला है, प्रजापति की प्राप्ति के लिए। 'श्यामास्तूपरा एकरूपा भवन्ति,...एवमेव हि प्रजापतिः समृद्ध्यै' श्यामवर्ण शृङ्गरहित समान आकृतिवाले सत्रह पशु होते हैं; इस प्रकार का प्रजापति ही समृद्धि के लिए है। शिष्य आशंका करता है, ये सत्रह क्या पृथक् अपूर्वविधि हैं? अथवा ऐन्द्रवायव आदि दस ग्रह-ग्रहणों के समुच्चय के समान सत्रह पशु-समूहवाला एक कर्म है? जैसे—इन्द्रवायु आदि देवता के लिए ग्रहपात्र में गृहीत सोमरस संकल्पित होता है, ऐसे ही प्रजापति देवता के लिए सत्रह पशु संकल्पित किये जाते हैं। इस प्रकार दस ग्रह-ग्रहणों के समुच्चय के समान यहाँ भी एक कर्म मानना उपयुक्त होगा। अतः सत्रह पशुओं से किया जानेवाला यह एक याग है। आचार्य ने जिज्ञासा का समाधान किया—

पृथक्त्वनिवेशात् संख्यया कर्मभेदः स्यात् ॥२१॥

[पृथक्त्वनिवेशात्] पार्थक्य का बोध कराने में विद्यमान रहने से, अर्थात् पार्थक्य का प्रतीक होने से [संख्यया] सप्तदश संख्या के द्वारा [कर्मभेदः] कर्म का भेद [स्यात्] है, यहाँ।

'सप्तदश प्राजापत्यान् पशून् आलभते' इस विधिवाक्य में पठित 'सप्तदश' संख्या सत्रह पशुयागों का विधान करती है। पशु अलग-अलग हैं; एक पशु-प्रदान से किया गया याग पूरा हो जाता है। सत्रह संख्या की सार्थकता उसी अवस्था में सम्भव है, जब प्रत्येक पशुयाग को पृथक् माना जाय। अतः यहाँ संख्या के

१. द्रष्टव्य—तै० ब्रा०, १।३।२,४॥

आधार पर कर्मभेद मानना न्याय्य है।

यद्यपि चातुर्मास्य याग में 'एकादश प्रयाजान् यजते' वाक्यगत एकादश संख्या श्रुत है, परन्तु यह 'प्रयाज ग्यारह हैं' इतना-मात्र बोध कराने में सीमित है। यह कर्म के भेद का विधान नहीं करती। इसी प्रकार 'दशैतान् अध्वर्युः प्रातः-सवने ग्रहान् गृह्णाति' वाक्य में दश संख्या देवताभेद से ग्रह-पात्रस्थित सोमरस का भेद बताने तक सीमित है; कर्मभेद की विधायिका नहीं है।

सोमयाग के अन्तर्गत अग्नीषोमीय पशुयाग समस्त पशुयागों की प्रकृति है। वाजपेय-प्रसंग में पठित हैं—सत्रह प्राजापत्य पशु। एक पशु के ग्यारह अवदानों =अवयवों से याग सम्पन्न किया जाता है। द्वितीयादि पशु के अवदान प्रथम याग के लिए अनपेक्षित हो जाते हैं। यागसिद्धि के लिए एक पशु के ग्यारह अवदान= अवयव निम्न प्रकार बताये जाते हैं—

(१) हृदय, (२) जिह्वा से उपलक्षित मुख-माथा आदि, (३) वक्षस्, छाती का मध्यभाग, (४) यकृत्, जिगर, (५-६) दोनों वृक्क, दोनों ओर के गुर्दों के पिण्ड, (७) अगली टाँगों के मूल व मध्य-भाग, (८-९) दोनों ओर के पसलियों के भाग, (१०) बक्खियाँ व कटि-भाग कमर तक, (११) गुदा व उससे नीचे के भाग।

एक पशु के इन अवयवों से एक कर्म सम्पन्न, सिद्ध हो जाता है। अग्नीषोमीय पशुयाग-प्रसंग में 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति' आदि वाक्यों में 'अवद्यति' क्रियापद दिवादिगणी 'दो अवखण्डने' धातु का रूप है। उसका अर्थ है—पहले हृदय का अवदान करता है। 'अवदान' पद का अर्थ है—अवयव विभाग करना, अथवा टुकड़ा काटकर अलग करना। आज यह दूसरा अर्थ ही ठीक समझा जाता है। इसके विपरीत आदिकाल के कृषिजीवी-वर्ग में पशुयजन अर्थात् पशुपूजन की पद्धति भिन्न प्रकार की थी। वे प्रतिमास एक दिन, अमावास्या को कृषि-उपयोगी पशुओं को विशेषतः, तथा अन्य सब पशुओं को साधारणतः, विश्राम देते तथा उनके प्रत्येक अंग को शुद्ध जल से धोकर स्वच्छ करते थे। ग्यारह पशु-देहांगों का जो प्रथम उल्लेख किया है, उसमें समस्त शरीर आ जाता है; कोई अंग शेष नहीं रहता। प्रत्येक अंग के मालिन्य को रगड़-धोकर अलग कर दिया जाता था। आश्चर्य है, पशुपूजा की यह पद्धति आज भी समस्त भारत के कृषिजीवी-वर्ग में प्रचलित है।

अनन्तर-काल में समाज के प्रभावी बुद्धिजीवी, पर-स्वार्थी विषयलम्पट रसनालोलुप कुछ लोगों ने समाज व देश के इतने उपयोगी पशु को, अदृश्य कल्पित देवता के नाम पर यज्ञ-मण्डप जैसे पवित्र धार्मिक कार्य के केन्द्रस्थान को पशु-वधशाला बना डाला। अवसर पाकर कालान्तर में इसी को धर्म का अंश समझा जाने लगा। 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति' आदि वाक्य ऐसे ही काल में लिखे गये प्रतीत होते हैं।

प्रचार एवं अन्ध परम्परा के बल पर समाज में स्थान पा जाने पर भी इस मान्यता का प्रबल विरोध करनेवाले व्यक्ति समय पर प्रादुर्भूत होते रहे हैं, जिन्होंने यागसदृश पवित्र कार्यों में हिंसा के प्रयोग को स्पष्ट अधर्मजनक बताकर पाप-कोटि में रक्खा है, तथा अनेक विद्वन्मूर्द्धन्य व्यक्तियों के द्वारा जड़मूल से ही यज्ञिय हिंसा को उखाड़ डालने का प्रयास किया जाता रहा है। तात्पर्य है, समाज में स्थान पा जाने पर भी इसका विरोध बराबर होता रहा है। समाज के पर्याप्त बड़े भाग ने इस मान्यता को कभी नहीं स्वीकारा।

प्रजापति देवता से सम्बद्ध सत्रह पशु क्या हैं? विचारणीय है।[1] ज्ञात होता है, सत्रह का सम्बन्ध कालकृत है। प्रजापति सूर्य का नाम है। सूर्य के चारों ओर पृथिवी एक परिक्रमा जितने समय में पूरा करती है, वह एक संवत्सर है। काल की गणना करनेवाले ज्योतिर्विदों ने उस परिक्रमा के काल को बारह भागों में बाँटा। ये 'बारह आदित्य' नाम से समस्त वैदिक वाङ्मय में ज्ञात हैं। ये बारह प्रजापति हैं। संवत्सर का आगे स्थूल विभाग ऋतु हैं। पूरे संवत्सर में छह ऋतु माने जाते हैं। परन्तु संहिता व ब्राह्मण आदि वैदिक वाङ्मय में अनेक स्थानों पर यह वाक्य आता है—'पञ्चर्तवः हेमन्तशिशिरयोः समासेन' हेमन्त और शिशिर को एक मानकर ऋतु पाँच हैं। इस प्रकार संवत्सर के बारह आदित्य और संवत्सर की पाँच ऋतु मिलाकर सत्रह संख्या पूरी हो जाती है। इस काल-विभाग से उपलक्षित पशु सत्रह कहे गये; उनकी वास्तविक संख्या चाहे जितनी रही हो। इसका तात्पर्य है— संवत्सर का कोई भी अवसर हो, अमावास्या का दिन पशुयजन अर्थात् पशुपूजा का है—चाहे पशु एक हो, अथवा अनेक। यदि किसी कृषिजीवी के पास एक ही पशु है, तो वह उसी की पूर्वोक्त पद्धति से पूजा कर व्यवस्थित याग को सम्पन्न करता है। अनेक पशु होने पर वही पद्धति अलग-अलग सबके साथ बरती जाती है। इसलिए संख्या के आधार पर यह कर्मभेद है—प्रत्येक पशु का उसी प्रकार नहला-धुलाकर संस्कार करना। इस कार्य का देवता प्रजापति है।

यह रहस्य अभी अन्वेष्य है कि इस कार्य के लिए अमावास्या का दिन ही क्यों निर्धारित किया गया? यह साधारण बात है कि चान्द्रगणना से महीने का अन्तिम दिन होने के कारण इसका चुनाव किया गया हो। पर इसमें अन्य—अभी तक अज्ञात–रहस्य की भी सम्भावना हो सकती है, क्योंकि उस दिन हमारा

---

१. पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने शाबर भाष्य के हिन्दी रूपान्तर में इसी प्रसंग पर सत्रह संख्या का सामञ्जस्य आधिदैविक स्थिति के साथ बहुत सूझ-बूझ व विद्वत्तापूर्ण रीति पर प्रस्तुत किया है। जिज्ञासु पाठक वहीं से पढ़कर उन तथ्यों को समझने का प्रयास करें।

पृथिवी-भाग चन्द्रमा की शीतल किरणों से वञ्चित रहता है। सम्भव है ऐसी स्थिति में किसी प्रतिकूल प्रभाव से बचने के लिए यह दिन चुना गया हो, जो पशुओं की सुरक्षा व स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगी हो ॥२१॥ (इति संख्या-कृतकर्मभेदाधिकरणम्—७)।

(संज्ञाकृतकर्मभेदाधिकरणम्—८)

वैदिक वाङ्मय में पाठ आता है—'अथैष ज्योतिः, अथैष विश्वज्योतिः, अथैष सर्वज्योतिः। एतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत।'[1]—यह ज्योति, यह विश्वज्योति है, यह सर्वज्योति है; इस एक सहस्र गायों की दक्षिणावाले याग से यजन करे। इस विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या ज्योतिष्टोम प्रकरण में पढ़े जाने से 'ज्योतिः' आदि पद ज्योतिष्टोम के प्रतीक होकर उसके अनुवादक हैं, और सहस्रदक्षिणारूप गुण का उसमें विधान करते हैं, अथवा ये अपूर्वविधि हैं? अर्थात् इन नामों के ये स्वतन्त्र विधि हैं? ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित होने से इन्हें ज्योतिष्टोम के अनुवादक क्यों न माना जाय? आचार्य ने समाधान किया—

संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगात् ॥२२॥

[उत्पत्तिसंयोगात्] उत्पत्तिवाक्य के संयोग से, अर्थात् विधिवाक्य में सुने जाने से [संज्ञा] 'ज्योतिः' आदि नाम [च] निश्चय से कर्म के भेदक हैं।

'अथैष ज्योतिः' इत्यादि विधिवाक्यों में पठित ज्योतिः, विश्वज्योतिः, सर्वज्योतिः पद अपूर्व कर्म के विधायक हैं। यह कहना युक्त नहीं कि ये नाम ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पठित होने से ज्योतिष्टोम के प्रतीक हैं, और उसी के अनुवादक हैं। कारण यह है कि इनका कथन 'अथ' पद से प्रारम्भ हुआ है, इसका तात्पर्य है कि इनका पहले कथन कहीं नहीं किया गया। तब इन नाम-पदों को ज्योतिष्टोम का प्रतीक नहीं कहा जा सकता। विधिवाक्य से 'ज्योतिः' आदि कर्मान्तरों का विधान है। प्रकरण-बल से इन्हें ज्योतिष्टोम का प्रतीक इस कारण भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि वाक्य प्रकरण की अपेक्षा बलवान् होता है। एक-दो वर्णों की समानता से ज्योतिष्टोम का इन्हें प्रतीक बताना नितान्त अयुक्त है। क्या गृहवाची शाला पद के 'ला' वर्ण की समानता 'माला' पद के साथ होने पर 'माला' पद को गृहवाची कहा जा सकता है? कदापि नहीं। ऐसा ही 'ज्योतिः' आदि संज्ञा-पदों में समझना चाहिए।

---

१. द्रष्टव्य—ताण्ड्य ब्रा० १६।८।१—अथैष ज्योतिः। १६।१०।१—अथैष विश्वज्योतिः। १६।६।१—अथैष सर्वज्योतिः।

इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि ज्योतिष्टोम याग की दक्षिणा ताण्ड्य ब्राह्मण [१६।१।११] तथा आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [१३।५।१] में १०१२ (=द्वादशं सहस्रं दक्षिणा=द्वादश अधिक सहस्र अर्थात् १०१२) बताई है। परन्तु इन 'ज्योतिः' आदि यागों की दक्षिणा एक सहस्र गायों का दान है। यदि इनको ज्योतिष्टोम का अनुवादक माना जाता है, तो दक्षिणा-सम्बन्धी इस कथन से ब्राह्मण और सूत्र में कही गई ज्योतिष्टोम की दक्षिणा का बाध होगा, जो अनिष्ट है। अतः ज्योतिः' आदि पदों को ज्योतिष्टोम का अनुवादक कहना असंगत है। ज्योतिष्टोम की दक्षिणा १०१२ बताई गई है, तथा 'ज्योतिः' आदि यागों की १०००। इससे स्पष्ट होता है, 'ज्योतिः' आदि ज्योतिष्टोम से भिन्न अपूर्व कर्म हैं।

ज्योतिष्टोम के उपसंहार प्रसंग में कहा— **'त्रिवृदादीन्यस्य ज्योतींषि'** [तै० ब्रा० १।५।११]—त्रिवृत् आदि स्तोम इस ज्योतिष्टोम के ज्योति हैं, जो इसका स्तवन करते हैं। प्रश्न किया— 'कतमानि तानि ज्योतींषि, य एतस्य स्तोमाः' —ये कौन-से ज्योति हैं, जो इसका स्तवन करते हैं? बताया—'त्रिवृत् पञ्चदश सप्तदश एकविंशः। एतानि वाव तानि ज्योतींषि, य एतस्य स्तोमाः।'—त्रिवृत् स्तोम, पञ्चदशस्तोम, सप्तदशस्तोम, एकविंशस्तोम, ये वे ज्योति हैं, जो इसका (ज्योतिष्टोम का) स्तवन करते हैं।

इस विषय में यह कहना युक्त नहीं है कि वाक्यशेष में उल्लिखित त्रिवृत् आदि स्तोम अग्निष्टोम की ज्योतियाँ हैं, और उन्हीं का निर्देश 'विश्वज्योतिः' तथा 'सर्वज्योतिः' पदों से यहाँ किया गया है; इसलिए 'विश्वज्योतिः' और 'सर्वज्योतिः' पदों को ज्योतिष्टोम का प्रतीक मानकर उसका अनुवादक माना जाना चाहिए।

इस कथन की अयुक्तता में निश्चित कारण यही है, त्रिवृत् आदि पदों में ज्योतिः शब्द प्रसिद्ध नहीं है। तात्पर्य है, ज्योतिः पद अभिधाशक्ति से त्रिवृत् आदि का बोध नहीं कराता। अतः 'विश्वज्योतिः' आदि पद त्रिवृत् स्तोम आदि का परामर्श नहीं कर सकते। त्रिवृत् आदि स्तवन ज्योतिष्टोम के बिना अनुपपन्न होंगे, इस प्रकार अर्थापत्ति के आधार पर ज्योतिष्टोम की उपस्थिति लाक्षणिक है, लक्षणाशक्ति से प्राप्त है। अभिधाशक्ति-बोध्य अर्थ के विधान में लाक्षणिक अर्थ का प्रवेश नहीं होता। 'सिंहो माणवकः' वाक्य में माणवक [पठोरा, किशोर] के लिए सिंह शब्द का प्रयोग शौर्य आदि गुण के कारण गौण है, औपचारिक है। यदि कहा जाय, सिंह को मार डालो, तो माणवक को नहीं मार डाला जाता। जहाँ अभिधाबोध्य अर्थ अनुपपन्न हो, वहाँ लक्षणा की जाती है; पर लाक्षणिक अर्थ अभिधाबोध्य अर्थ की सीमा में प्रवेश नहीं करता। ऐसी स्थिति में त्रिवृत् आदि स्तोम, ज्योतिः-पदबोध्य अर्थ की सीमा से बाहर रहते हैं। अतः

'विश्वज्योतिः, सर्वज्योतिः' पद त्रिवृत् आदि स्तोमों के परामर्शक या निर्देशक नहीं कहे जा सकते। फलतः अग्निष्टोम के अनुवादक न होकर ये वाक्य कर्मान्तर के विधायक हैं, यह स्थिर होता है। ॥२२॥ (इति संज्ञाकृतकर्मभेदाधिकरणम्—८)।

(देवताभेदकृतकर्मभेदाऽधिकरणम्—९)

चातुर्मास्य याग के वैश्वदेव पर्व में पाठ है—'तप्ते पयसि दध्यानयति, सा वैश्वदेवी आमिक्षा, वाजिभ्यो वाजिनम्।'—गरम दूध में दही डालता है, उससे फटकर दूध के दो भाग हो जाते हैं—एक गाढ़ा भाग, दूसरा तरल भाग; जो गाढ़ा भाग है उसका नाम आमिक्षा, जो तरल भाग है उसका नाम वाजिन है। उक्त वाक्य में बताया, आमिक्षा वैश्वदेवी है, अर्थात् विश्वेदेव देवताओं के लिए है, और वाजिन वाजी देवताओं के लिए। इस विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या वाजी पद विश्वेदेव देवताओं का अनुवादक होकर उसमें वाजिन गुण का विधान करता है? अथवा ये दोनों भिन्न कर्म हैं? इन्हें एक कर्म मानना उपयुक्त होगा। इससे आमिक्षा और वाजिन दोनों द्रव्य विश्वेदेव देवतावाले होंगे। इस प्रकार आमिक्षा गुणवाले कर्म में वाजिन द्रव्यरूप गुण का विधान होगा। यह रीति अन्यत्र देखी जाती है, जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस विहित अग्निहोत्र-कर्म में 'दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति' वाक्यों द्वारा दही और दूधरूप द्रव्य-गुण का विधान होता है। क्या ऐसा ही प्रस्तुत प्रसंग में युक्त है? आचार्य ने समाधान किया—

गुणश्चापूर्वसंयोगे वाक्ययोः समत्वात् ॥२३॥

[अपूर्वसंयोगे] अपूर्व संयोग अर्थात् कर्म के विधान होने में [गुणः] देवता-रूप गुण [च] भी कर्म का भेदक होता है। [वाक्ययोः] दोनों 'सा वैश्वदेवी आमिक्षा' तथा 'वाजिभ्यो वाजिनम्' वाक्यों के [समत्वात्] समान होने से। तात्पर्य है— 'वैश्वदेवी' पद में तद्धित प्रत्यय—तथा 'वाजिभ्यः' पद में चतुर्थी विभक्ति—के द्वारा समानरूप से देवतारूप गुण का विधान होने के कारण इनमें कोई एक वाक्य दूसरे का अनुवादक नहीं हो सकता।

जहाँ देवता प्रकरण से प्राप्त नहीं है, वहाँ देवता के कथन से सम्बन्ध रखने-वाला गुण (कोई विशेषता) कर्मान्तर का विधान करेगा। उक्त दोनों वाक्य समान हैं, और दोनों में देवता का कथन अपनी-अपनी विशेषता के साथ हुआ है; अतः अपने रूप में ये स्वतन्त्र वाक्य हैं; अपूर्व कर्म का विधान करते हैं।

'वैश्वदेवी आमिक्षा' देवता का निर्देश करनेवाला 'वैश्वदेवी' पदबोध्य 'विश्वेदेवा देवता अस्याः'—विश्वेदेव हैं देवता इसके—इस अर्थ में 'सास्य देवता'

[अष्टा० ४।२।२३] सूत्र से विहित 'अण्' प्रत्ययरूप श्रुति से विश्वेदेवों में देवतात्व का कथन होता है। परन्तु देवता का द्रव्यविशेष के साथ सम्बन्ध वाक्य द्वारा जाना जाता है। यद्यपि देवता अर्थ में विहित प्रत्यय से वह द्रव्य भी कहा जाता है, जिसकी वह देवता है, पर उस द्रव्य का 'अस्याः' या 'अस्य' सर्वनाम से देवता के साथ सामान्य सम्बन्ध ही जाना जाता है; विशेष 'आमिक्षा' आदि अर्थ नहीं जाना जाता। वह वाक्य (=वैश्वेदेवी आमिक्षा) से बोधित होता है। 'विश्वेदेव हैं देवता इसके' ऐसा वह द्रव्यविशेष आमिक्षा है। इस प्रकार प्रथम वाक्य में देवता श्रुतिबोधित है, और देवता के साथ द्रव्यविशेष का सम्बन्ध वाक्यबोधित।

दूसरे वाक्य (वाजिभ्यो वाजिनम्) में दोनों वाक्यबोधित हैं। 'वाजिभ्यः' इस चतुर्थी विभक्ति के निर्देश से केवल इतना जाना जाता है कि 'वाजी' देवताओं के लिए कुछ दिया जाना है। 'वाजिनम्' इस कर्मकारक पद से केवल इतना जाना जाता है कि यह किसी का ईप्सिततम द्रव्य है। फलतः इस वाक्य में उस वाजी का देवतात्व, तथा उसके साथ 'वाजिन' द्रव्य का सम्बन्ध, दोनों वाक्य से जाने जाते हैं।

ऐसी स्थिति में यदि दूसरे वाक्य के चतुर्थ्यन्त 'वाजी' पद को विश्वेदेव देवताओं का अनुवादक माना जाय, तो देवतात्व के प्रति श्रुति और वाक्य का विरोध प्रस्तुत होता है। दोनों के विरोध में श्रुति बलवती होती है [द्रष्टव्य, मी० सू० ३।३।१४]। अतः विश्वेदेव देवताओं के श्रुतिगम्य देवतात्व से वाक्यबोधित देवतात्व बाधित हो जायगा। फलतः द्वितीय वाक्य का चतुर्थ्यन्त 'वाजी' पद विश्वेदेव देवताओं का अनुवादक नहीं हो सकता। दोनों वाक्य अपने में स्वतन्त्र हैं, एवं कर्मान्तर के विधायक हैं ॥२३॥

'वाजिभ्यो वाजिनम्' को गुणविधि बताने के लिए जो उदाहरण—'अग्निहोत्रं जुहोति, दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति' दिया गया, उसके विषय में आचार्य सूत्रकार ने बताया—

अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयेत ॥२४॥

[अगुणे] गुणरहित, [कर्मशब्दे] कर्म के विधायक 'अग्निहोत्रं जुहोति' में [तु] तो [तत्र] वहाँ=उसके समीप में पठित 'दध्ना जुहोति' आदि वाक्यों में [गुणः] गुण का विधान [प्रतीयेत] जाना जाये।

तात्पर्य है—यदि किसी कर्म-विधायक वाक्य में देवता या द्रव्यरूप गुण का निर्देश नहीं रहता, तो वहाँ समीप-पठित वाक्य में गुण का विधान देख लिया जाता है।

'दध्ना जुहोति' आदि वाक्यों में द्रव्यरूप गुण का विधान युक्त है, क्योंकि

अग्निहोत्र होम के विधायक वाक्य 'अग्निहोत्रं जुहोति' में द्रव्यरूप गुण का निर्देश नहीं है। वहां द्रव्य गुण की आकांक्षा समीप-पठित 'दध्ना जुहोति' आदि वाक्यों से पूरी होती है। परन्तु 'वाजिभ्यो वाजिनम्' में वह स्थिति नहीं है। यहां द्रव्य, देवता, दोनों का निर्देश उपलब्ध है। अतः प्रस्तुत प्रसंग में उक्त दृष्टान्त विषम उपन्यास है ॥२४॥ (इति देवताभेदकृतकर्मभेदाधिकरणम्—९)।

(द्रव्यविशेषानुक्तिकृतकर्मैक्याऽधिकरणम्—१०)

'दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति' में विकल्प के परित्याग की भावना से २४वें सूत्र का अर्थ—इसे भिन्न अधिकरण मानकर दधिहोम और पयो होम को कर्मान्तर मानने का सुझाव सामने आता है। उसके समाधान के लिए यह अधिकरण है। 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस अग्निहोत्र होम-कर्म के विधायक वाक्य में द्रव्य की आकांक्षापूर्त्ति के लिए समीप-पठित वाक्यों (दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति) से द्रव्यगुण का विधान माना जाता है, तो चाहे दही से होम करे, चाहे दूध से,–यह द्रव्य का विकल्प प्राप्त होता है। विकल्प न मानना पड़े, इसलिए अच्छा है, इनको कर्मान्तर मान लिया जाय। इसका समाधान सूत्रकार ने किया—

अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयेत ॥२४॥

सूत्रार्थ पहले के समान समझना चाहिए। तात्पर्य है—'दध्ना जुहोति' आदि वाक्यों में 'जुहोति' पद से वही कर्म जाना जाता है, जो 'अग्निहोत्रं जुहोति' से विहित है। इस वाक्य में अनुक्त द्रव्य का 'दध्ना जुहोति' आदि वाक्यों से कथन किया गया है। इसलिए ये भिन्न कर्म न होकर एक ही कर्म हैं। द्रव्यनिर्देश के पृथक् वाक्य (दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति) होने से दधि और पयस् द्रव्य का विकल्प होना युक्त है। इसमें कोई दोष नहीं ॥२४॥ (इति द्रव्यविशेषानुक्तिकृत-कर्मैक्याऽधिकरणम्—१०)।

(दध्यादिद्रव्यसफलत्वाधिकरणम्—११)

अग्निहोत्र प्रकरण में पाठ है—'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्'—इन्द्रिय की कामनावाले के लिए दही से होम करे। शिष्य जिज्ञासा करता है—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' कहकर आगे इन्द्रिय कामनावाले के लिए दधिहोम का विधान किया। क्या यह दधिहोम कर्मान्तर है? अथवा प्रकृत अग्निहोत्र-कर्म में इन्द्रिय-फल के लिए दधि-द्रव्यरूप गुण का विधान करता है? शिष्य ने कहा, यह कर्मान्तर प्रतीत होता है, क्योंकि इन्द्रिय-फल का निर्देश, फल के साधन किसी कर्म का बोध कराता है। कोई फल कर्म के बिना नहीं होता, अतः दधिहोम कर्मान्तर होना चाहिए। शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

फलश्रुतेस्तु कर्म स्यात् फलस्य कर्मयोगित्वात् ॥२५॥

[फलश्रुतेः] फल का श्रवण होने से, 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' वाक्य में इन्द्रियरूप फल का निर्देश होने से [तु] तो [कर्म] यह दधिहोम अपूर्व कर्म [स्यात्] होना चाहिए। [फलस्य] फल के [कर्मयोगित्वात्] कर्मयोगी=कर्म से सम्बद्ध—होने के कारण। तात्पर्य है, इन्द्रियरूप फल, दधिहोम कर्म से सम्बद्ध होने पर सम्भव है, फल किसी का ही होता है।

लोक में देखा जाता है, कृषि आदि कर्म का फल व्रीहि आदि की प्राप्ति है; बिना कृषिकर्म के व्रीहि आदि फल की प्राप्ति सम्भव नहीं। इसी प्रकार दधिहोम का फल इन्द्रियपुष्टि है। यह दधिहोम को कर्मान्तर माने बिना सम्भव नहीं। यदि इसे अग्निहोत्र कर्म का अङ्ग मानकर उसी में इन्द्रिय-कामनावाले के लिए दधिद्रव्यरूप गुण का विधान इस वाक्य से माना जाता है, तो इन्द्रिय-फल और होम, दोनों को एकसाथ कहने में 'दधि' पद असमर्थ होगा। तात्पर्य है—'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्' यह एक वाक्य है। गुणभूत मानने पर 'दध्ना' का—इन्द्रिय और होम दोनों के साथ—एकसाथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि 'दध्ना इन्द्रियं भावयेत्'-'दही से इन्द्रिय फल को सिद्ध करे' ऐसा कहते हैं, तो दही से होम कहना रह जाता है, वह नहीं कहा जाता। यदि 'दध्ना होमं भावयेत्'-'दही से होम सिद्ध करे' कहते हैं, तो यह वाक्य फल को नहीं कहेगा। तब 'दध्ना इन्द्रियं भावयेत्, दध्ना होमं भावयेत्' दोनों को कहने में वाक्यभेद होता है। एक वाक्य को तोड़कर दो बनाना शास्त्र में दोष माना जाता है। फलतः इसको अग्निहोत्र का अंग मानकर—अग्निहोत्र-कर्म में दहीरूप गुण से फल का विधायक कहना ठीक नहीं है। इसलिए अग्निहोत्र होम से दधिहोम पृथक् कर्म है। अपूर्व कर्म होने पर वाक्य से अनेक गुणों का एकसाथ कथन शास्त्र में स्वीकार किया जाता है। तब प्रस्तुत वाक्य का अर्थ होगा—'इन्द्रियकामः दधिहोमेन इन्द्रियरूपं फलं भावयेत्'—इन्द्रिय कामनावाला दधिहोम से इन्द्रियरूप फल सिद्ध करे। अतः दधिहोम को कर्मान्तर मानना युक्त है ॥२५॥

जिज्ञासा का आचार्य ने समाधान किया—

अतुल्यत्वात्तु वाक्ययोर्गुणे तस्य प्रतीयेत ॥२६॥

[अतुल्यत्वात्] समान न होने से [वाक्ययोः] 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' और 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इन दोनों वाक्यों के। [तु] तो दधिहोम को कर्मान्तर बताना ठीक नहीं है। [तस्य] उस—दधिहोम का [गुणे] इन्द्रियरूप गुण में फलसम्बन्ध [प्रतीयेत] जानना चाहिए।

दधिहोम कर्मान्तर नहीं है, अपितु अग्निहोत्र होम में दधिद्रव्यरूप गुण से

फल-सम्बन्ध का कथन है। ये दोनों वाक्य समान नहीं हैं। 'अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकामः' वाक्य में अग्निहोत्र-कर्म के साथ स्वर्ग-फल का कथन है, अर्थात् स्वर्ग की कामनावाला अग्निहोत्र होम से स्वर्गरूप फल को सिद्ध करे। इसके विपरीत 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' वाक्य में दधिद्रव्यरूप गुण के साथ फल का कथन है, कर्म के साथ नहीं। यदि कर्म के साथ फल का कथन होता, तो यह भी प्रथम वाक्य के समान कर्मान्तर का विधायक होता। इस वाक्य में 'इन्द्रियरूप फल के लिए होम करे' ऐसा अर्थ प्रतीत नहीं होता; किन्तु 'इन्द्रिय की कामनावाले का दही से होम होता है' इतना-मात्र अर्थ इससे ज्ञात होता है। होम का विधान—'=होम करे' ऐसा—नहीं जाना जाता। तात्पर्य है, इन्द्रियकाम व्यक्ति के लिए दधिद्रव्यरूप गुण के द्वारा होम की प्राप्ति होती है। अतः यह वाक्य मुख्यरूप से दधिद्रव्यरूप गुण का विधायक है। जिस अग्निहोत्र होम का प्रसंग है, उसी में इन्द्रियकाम व्यक्ति के लिए दधिद्रव्यरूप गुण का विधान यह वाक्य करता है। अतः दधिहोम कर्मान्तर नहीं है।

'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' वाक्य में 'जुहोति' क्रियापद का अर्थ अनुवाद-रूप है। तात्पर्य है—'अग्निहोत्रं जुहुयात्' से विहित अग्निहोत्र होम का अनुवादक है। तब वाक्यभेद-दोष का अवकाश नहीं रहता। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' से विहित होम में दधिद्रव्यरूप गुण के सन्निवेश से इन्द्रियरूप फल प्राप्त होता है, यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है ॥२६॥ (इति दध्यादिद्रव्यसफलत्वाधि-करणम्—११)।

(वारवन्तीयादीनां कर्मान्तराधिकरणम्—१२)

ताण्डच ब्राह्मण [१७।६।१-२] में पाठ है—

'त्रिवृदग्निष्टुद् अग्निष्टोमः, तस्य वायव्यासु एकविंशम् अग्निष्टोमसाम त्वा ब्रह्मवर्चसकामो यजेत।'—अग्निष्टोम सामवाला अग्निष्टुत्[1] नामक कर्म

---

१. सोमयाग की निम्नांकित सात संस्था हैं—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय, आप्तोर्याम। अग्निष्टोम आदि नाम 'अग्निष्टोम'-संज्ञक सामगान पर सोमयागीय उस संस्था की समाप्ति के आधार पर हैं, अर्थात् सोमयाग की जिस संस्था की समाप्ति, जिस नाम-वाले सामगान से होती है, उसी नाम से वह संस्था जानी जाती है। इनमें अग्निष्टोम संस्था के अन्तर्गत छह अग्निष्टुत् याग तां० ब्रा० [१७।५–९] में विहित हैं। इनमें पहले दो त्रिवृत् अग्निष्टोम हैं, अर्थात् उनमें त्रिवृत् साम से समापन होता है। प्रस्तुत सूत्र के शाबर भाष्य में उद्धृत पहला वचन तृतीय अग्निष्टुत् का विधायक है। निदान सूत्र [३।१०] में बताया—

है; उसकी वायुदेवतावाली[1] ऋचाओं में एकविंश अग्निष्टोम साम करके ब्रह्मवर्चस की कामनावाला यजन करे। आगे [ताण्डच ब्रा० १७।७।१] पाठ है—'एतस्यैव रेवतीषु[2] वारवन्तीयम् अग्निष्टोम साम कृत्वा पशुकामो ह्येतेन यजेत।' इस अग्निष्टोम की ही रेवती-संज्ञक ऋचाओं में वारवन्तीय अग्निष्टोम साम करके पशुकामनावाला इससे यजन करे। तात्पर्य है—जो व्यक्ति पशुकामना वाला है, वह रेवती प्रतीकवाली आदि ऋचाओं में वारवन्तीय साम को अग्निष्टोम साम बनाकर यजन करे।

यहाँ सन्देह है—क्या उसी सोमयागीय अग्निष्टोम संस्था के अन्तर्गत चौथे अग्निष्टुत् का—वारवन्तीय सामरूप गुण से—पशुरूप फल होने का निर्देश है? और 'एतेन यजेत' इससे यजन करे, यह अग्निष्टुत् अग्निष्टोम का अनुवाद है? अथवा 'एतेन यजेत' से वारवन्तीय साम को कर्मान्तिर बताने का कथन है?

प्रतीत होता है, दूसरा वाक्य पहले का अनुवादक है, कर्मान्तर नहीं; क्योंकि दूसरे वाक्य के आरम्भ में 'एतस्य' सर्वनाम पद के साथ निर्धारणार्थक 'एव' पद दिया हुआ है, जिसका अर्थ है—'इसका ही'। इसका, किसका? पूर्वपठित समीपस्थित वाक्य का, यही अर्थ यहाँ सम्भव है। इससे स्पष्ट होता है, यह अपूर्व विधान नहीं है; पहले विधान किये गये अर्थ का ही अनुवाद है। इसलिए रेवती-संज्ञक ऋचाओं में वारवन्तीय साम को अग्निष्टोम साम बनाकर वह व्यक्ति यजन करे, जो पशु की कामना रखता है। यह पहले विहित अग्निष्टुत् अग्निष्टोम में वारवन्तीय सामरूप गुण से पशुफल का निर्देश है। अतः इसे अपूर्वविधि न मानकर

'यज्ञायज्ञीयमग्निष्टोम साम' यज्ञायज्ञीय साम अग्निष्टोम साम है। 'यज्ञायज्ञ' पद से पाणिनि सूत्र [५।२।५६] द्वारा 'छ=ईय' प्रत्यय होकर 'यज्ञायज्ञीय' बनता है। तात्पर्य है—'यज्ञायज्ञा' पदवाली ऋचा में दृष्ट साम 'यज्ञायज्ञीय' साम अग्निष्टोम है। ऋचा है—**'यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरा गिरा च दक्षसे।'** [ऋ० ६।४८।१; साम० ७०३]।

१. तृतीय अग्निष्टुत् में अग्निष्टोम साम का गान 'यज्ञायज्ञा वो अग्नये' के स्थान पर वायुदेवतावाली ऋचाओं 'उप त्वा जायवो गिरो०, यस्य त्रिधात्ववृतं०, पद देवस्य मीढुषो' [ऋ० ८।१०२।१३–१५] में सामगान किया जाता है।

२. 'रेवती' पद 'रेवतीर्नः' ऋचा का प्रतीक है। बहुवचन 'आदि' अर्थ में है। वे ऋचा हैं—'रेवतीर्नः सधमाद०, आ घ त्वावान्, आ यद् दुवः [ऋ० १।३०।१३–१५; साम० १०८४–१०८६]। 'एतस्यैव' इत्यादि वाक्य चौथे अग्निष्टुत् अग्निष्टोम का विधायक है। 'वारवन्तीय' का अर्थ है—'वारवन्त पद है जिस साम में' वह वारवन्तीय साम। ऋचा है—**"अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः'** ऋ० १।२७।१; साम १७, अथवा १६३४॥

गुणविधि मानना उपयुक्त होगा। ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार ने समाधान किया—

समेषु कर्मयुक्तं स्यात् ॥२७॥

[समेषु] परस्पर भिन्न होते हुए भी एक-जैसे वाक्यों में [कर्मयुक्तम्] कर्म से युक्त फल [स्यात्] होना चाहिए। तात्पर्य है—ऐसे वाक्यों में अपूर्वविधि के साथ फल का निर्देश होता है।

जैसे पहले वाक्य में ब्रह्मवर्चस की कामनावाले व्यक्ति के लिए अग्निष्टुत् अग्निष्टोम साम करके यजन का विधान है, ऐसे ही प्रस्तुत द्वितीय वाक्य में पशु-कामनावाले व्यक्ति के लिए वारवन्तीय साम करके यजन का विधान है। 'एतस्य' सर्वनाम पद केवल प्रसंग का स्मारक है, पूर्वविहित विधि का परामर्श नहीं करता। कारण यह है कि पूर्वपठित अग्निष्टुत् अग्निष्टोम साम की रेवती-संज्ञक ऋचा है ही नहीं। तब उसका यहाँ परामर्श निराधार होने से असंगत होगा। अतः यह अपने रूप में स्वतन्त्र कर्म है।

यदि इस दूसरे वाक्य को पशुरूप फल की सिद्धि के लिए पूर्वपठित याग में वारवन्तीय सामरूप गुण का विधायक माना जाता है, तो इसमें वाक्यभेद-दोष उपस्थित होता है। एक वाक्य होगा—वारवन्तीय सामरूप गुण याग का साधन है। दूसरा वाक्य होगा—याग पशुरूप फल का साधन है। वाक्य को गुण और फल दोनों का विधायक मानना होगा; क्योंकि अन्य कोई वाक्य पशुरूप फल का विधायक दृष्ट नहीं है। शास्त्र में वाक्यभेद-दोष माना जाता है। अतः प्रथम वाक्य-विहित याग में—प्रस्तुत द्वितीय वाक्य को—गुण का विधायक न मानकर, प्रथम याग से भिन्न पशुफलवाले वारवन्तीय साम-गुणविशिष्ट अपूर्व कर्म का विधायक मानना युक्त होगा।

अपूर्वविधि मानने में वाक्यभेद क्यों नहीं है? विचारणीय है। अपूर्व रेवती ऋचाओं का विधान और वहाँ अग्निष्टोम साम के कार्य में वारवन्तीय साम का विधान, ये दो विधान एक वाक्य से माने जाने पर अपूर्वविधि होने पर भी वाक्यभेद प्रसक्त होगा। यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अपूर्व यागविधि में सब प्रकार के विशेषणों से विशिष्ट कथन होने के कारण वाक्यभेद नहीं होता। वाक्य-भेद वहाँ होता है, जहाँ किसी पूर्ववाक्य से विहित याग का अनुवाद करके अन्य वाक्य द्वारा एक से अधिक गुणों का विधान किया जाय। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' वाक्य द्वारा विहित अग्निहोत्र का अनुवाद करके 'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्' वाक्य में होम को उद्देश करके दधिगुण का विधान करें, तो इन्द्रियरूप फल का उससे सम्बन्ध नहीं जाना जायगा। यदि इन्द्रियफल का विधान करें, तो दधि का सम्बन्ध नहीं होगा। यदि 'जुहुयात्' क्रियापद के साथ दोनों का सम्बन्ध जोड़ें, तो

'दध्ना जुहुयात्' तथा 'इन्द्रियकामो जुहुयात् = इन्द्रियरूपं फलं भावयेत्' ये दो वाक्य हो जाएँगे। अपूर्वविधि में वाक्य के सब पद परस्पर साकांक्ष रहते हैं; अर्थ-पूर्ति के लिए बाह्य सहयोग की आकांक्षा वहाँ नहीं रहती, इसलिए एकवाक्यता निर्बाध बनी रहती है। फलतः परस्पर भिन्न भी समान प्रकार के वाक्यों में अपूर्वविधि स्वीकार करना स्पष्ट हो जाता है ॥२७॥ (इति वारवन्तीयादीनां कर्मान्तरताधिकरणम्—१२)।

(सौभरनिधनयोः कामैक्याऽधिकरणम्—१३)

ताण्ड्य ब्राह्मण [८।८।१०] ज्योतिष्टोम की षोडशी संस्था के अवान्तर प्रकरणगत उक्थ्य स्तोत्र में सौभर ब्रह्मसाम का कथन है। जिस ऋचा **'वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोऽवस्यवः। वाजे[1] चित्रं हवामहे'** [ऋ० ८।२१।१; साम ४०८, ७०८] में यह साम देखा या गाया जाता है, उसका ऋषि सोभरि है; इस आधार पर यह सौभर साम कहा जाता है। प्रत्येक साम के पाँच—प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव, निधन—अवयवों में निधन अन्तिम अवयव है। इसका अर्थ है समाप्ति। प्रत्येक साम प्रस्ताव से प्रारम्भ होकर निधन पर समाप्त होता है। सौभर ब्रह्म साम के अनन्तर ब्राह्मण [८।८।१८–२०] में पाठ है—

यो वृष्टिकामः स्याद् योऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः सौभरेण स्तुवीत। हीष् इति वृष्टिकामाय निधनं कुर्याद् ऊर्ग् इत्यन्नाद्यकामाय, ऊ इति स्वर्ग-कामाय। सर्वे वै कामाः सौभरम्।

जो वृष्टि की कामनावाला हो, जो अन्नाद्य की कामनावाला हो, जो स्वर्ग की कामनावाला हो, वह सौभर साम से स्तवन करे। इसके अनन्तर पाठ का अर्थ है—वृष्टि की कामनावाले पुरुष के लिए सौभर साम की समाप्ति 'हीष्' पद से करे; अन्नाद्य की कामनावाले पुरुष के लिए सौभर साम की समाप्ति 'ऊर्ग्' पद से करे; स्वर्ग की कामनावाले पुरुष के लिए सौभर साम की समाप्ति 'ऊ' पद से करे। अन्त में पढ़ा—सौभर साम सब कामनाओं का पूर्ण करनेवाला है।

शिष्य जिज्ञासा करता है—आनुपूर्वी से पठित इन दोनों वाक्यों में एक ही कर्म का विधान है? अथवा दोनों वाक्य पृथक् कर्मान्तर के विधायक हैं? प्रतीत होता है, ये कर्मान्तर के विधायक हैं। शिष्य की भावना को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

सौभरे पुरुषश्रुतेर्निधने कामसंयोगः ॥२८॥

[सौभरे] सौभर साम सम्बन्धी [निधने] निधन के विषय में [पुरुषश्रुतेः]

१. ऋग्वेद के 'वाजे' पद के स्थान पर सामवेद में उभयत्र 'वज्रि' पाठ है।

'कुर्यात्' क्रियापद-बोध्य कर्त्ता पुरुष के प्रयत्न का श्रवण होने से [कामसंयोगः] फल-विषयक कामना का सम्बन्ध ज्ञात होता है। तात्पर्य है, सौभर साम से एक फल, और निधन से दूसरा फल होता है। फल दोनों जगह वृष्टि है, पर दुहरा होने से अच्छी वृष्टि का विधान है।

यदि दोनों वाक्यों को एक ही कर्म का विधायक मानें, तो—वृष्टि, अन्नाद्य, स्वर्ग—इन फलों का विधान प्रथम वाक्य से हो जाने पर दूसरा वाक्य निरर्थक हो जाता है। निधन-वाक्य की सार्थकता के लिए आवश्यक है, इसे कर्मान्तर माना जाय। इस प्रकार जैसे सौभर साम वृष्टि आदि फलों का साधन है, इसी प्रकार 'हीष्' आदि पद-संकेतित निधन भी वृष्टि आदि फलों का साधन है। फलतः इन्हें स्वतन्त्र पृथक् कर्म मानना उपयुक्त होगा। वही फल दुहरा प्राप्त होता है ॥२८॥

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-भावना को अधूरा बताते हुए जिज्ञासा का समाधान किया—

सर्वस्य वोक्तकामत्वात् तस्मिन् कामश्रुतिः स्यान्निधनार्था पुनः श्रुतिः ॥२९॥

[वा] वा पद गतसूत्र-बोध्य अर्थ के निवारण के लिए है, अर्थात् 'हीष्' आदि पद-संकेतित निधन अतिरिक्त फल के विधायक नहीं हैं। [सर्वस्य] प्रस्ताव से लेकर निधन-पर्यन्त सम्पूर्ण सौभर साम का [उक्तकामत्वात्] तथाकथित—वृष्टि, अन्नाद्य एवं स्वर्ग-कामनावाला होने से [पुनः श्रुतिः] 'हीष् इति वृष्टिकामाय' इत्यादि द्वितीय वाक्य में पुनः वृष्टि आदि फल का श्रवण [निधनार्था] निधन के व्यवस्थापन के लिए [स्यात्] हुआ है।

'वा' पद इस पूर्वोक्त का निवारण करता है कि निधन में दूसरा फल होता है। निधन-वाक्य का यह अर्थ नहीं है कि वृष्टि की कामना के लिए 'हीष्' पद का उच्चारण करे; प्रत्युत उसका अर्थ है—'हीष्' पद सौभर साम की समाप्ति का द्योतक है। प्रश्न होता है—कौन-से सौभर साम की समाप्ति का द्योतक है? क्योंकि सौभर साम वृष्टिकाम, अन्नाद्यकाम और स्वर्गकाम, इन तीन कामनाओंवाला कहा है। उत्तर है—वृष्टि कामनावाले सौभर साम का निधन (समापन) 'हीष्' पद के उच्चारण के साथ किया जाता है।

निधन-वाक्य को कर्मान्तर मानकर उसका दूसरा वृष्टिफल बताना इस कारण युक्त नहीं है कि वह वृष्टिफल 'यो वृष्टिकाम···सौभरेण स्तुवीत' वाक्य से प्रथम ही विहित कर दिया गया है, उसको दुहराना निष्प्रयोजन है। तब प्रश्न होता है—'हीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्यात्' वाक्य में वृष्टिफल का निर्देश प्रमादपाठ है? उत्तर है, नहीं। यह प्रमादपाठ नहीं है। अनेक कामनाओंवाले सौभर साम के निधन के लिए अन्य अनेक पदों के प्रयोग प्राप्त हो सकते हैं। यह

वाक्य इस बात की व्यवस्था करता है कि वृष्टि-कामनावाले सौभर साम का निधन 'हीष्' पद के उच्चारण के साथ ही होगा, अन्य पद के नहीं। इसी प्रकार अन्नाद्य-कामनावाले सौभर साम का निधन 'ऊर्क्' पद के साथ होगा, अन्य के नहीं; तथा स्वर्ग की कामनावाले सौरभ साम का निधन 'ऊ' पद के साथ होगा, अन्य के नहीं। इसी व्यवस्था के लिए प्रत्येक निधन के साथ पुनः फल का निर्देश किया गया है। इसलिए दुबारा फल का निर्देश न प्रमादपाठ है, और न अतिरिक्त फल का विधायक है। इस प्रकार सौभर साम प्रस्ताव से प्रारम्भ होकर निधन-पर्यन्त अपने सब अवयवों को सम्पन्न करता हुआ यथाकाम हीष्, ऊर्क्, ऊ पदों के साथ पूरा हो जाता है। यह एक ही कर्म है। निधन-वाक्य कर्मान्तर का विधायक नहीं है ॥२६॥ (इति सौभरनिधनयोः कार्मैक्याऽधिकरणम्—१३)।

इति जैमिनीय मीमांसासूत्राणां विद्योदयभाष्ये
द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः।

अथ द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः

(ग्रहाग्रताया ज्योतिष्टोमाङ्गताधिकरणम्—१)

गत पाद के छठे अधिकरण में ग्रह-संज्ञक दस काष्ठ-पात्रों का प्रसंगवश उल्लेख हुआ है। इन पात्रों में विभिन्न देवताओं के उद्देश्य से संस्कृत सोमरस भरा जाता है। एकसाथ सब पात्रों का भरा जाना सम्भव न होने से यह कार्य क्रमपूर्वक होता है। किस प्रसंग में कौन-से देवता के उद्देश्य से पात्र प्रथम भरा जाय, यह इस अधिकरण में विवेचन करना है।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [१०।२।१] में पाठ है—'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत'—स्वर्ग की कामनावाला ज्योतिष्टोम से यजन करे; यह प्रारम्भ कर आगे पाठ आता है—'यदि रथन्तरसामा सोमः स्याद् ऐन्द्र वायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात्, यदि बृहत्सामा शुक्राग्रान्, यदि जगत्सामा आग्रयणाग्रान्।' ज्योतिष्टोम और सोम पर्यायवाची पद हैं—जो ज्योतिष्टोम है, वही सोम है। इसी के अनुसार बताया—यदि सोम अर्थात् ज्योतिष्टोम रथन्तर सामवाला हो, तो सबसे प्रथम इन्द्रवायु देवतावाले ग्रह-संज्ञक पात्र में सोमरस का ग्रहण करे, यदि बृहत् सामवाला ज्योतिष्टोम हो, तो सबसे प्रथम शुक्र देवतावाले ग्रह-पात्र में सोमरस भरा जाय; यदि ज्योतिष्टोम जगत्-सामवाला हो, तो सबसे प्रथम आग्रयण देवतावाला ग्रह-पात्र सोमरस भरने के लिए ग्रहण किया जाता है।

ये ग्रह-पात्र संख्या में दस होते हैं। उनका साधारण क्रम निम्न प्रकार है—(१)ऐन्द्रवायव, (२)मैत्रावरुण, (३)शुक्र, (४)मन्थी, (५)आग्रयण, (६-७-८) अतिग्रह (=आग्नेय, ऐन्द्र, सौर्य), (९)उक्थ, (१०)आश्विन। इस सामान्य क्रम को आधार मानकर, जब ज्योतिष्टोम रथन्तरसामगान[1] के साथ सम्पन्न होता हो, तब सबसे प्रथम इन्द्रवायु देवतावाला ग्रहपात्र सोमरस से भरा जाता है, अनन्तर

---

१. रथन्तरसाम की ऋचा, 'अभि त्वा शूर नोनुमः' [ऋ० ७।३२।२२; साम० २३३; ६८०]।

सामान्य क्रम के अनुसार शेष पात्र भरे जाते हैं। जब ज्योतिष्टोम बृहत्सामगान[1] के साथ सम्पन्न हो, तब सबसे प्रथम सोमरस भरने के लिए शुक्र देवतावाला ग्रह-पात्र लिया जाता है। अनन्तर शेष ग्रहपात्र सामान्य क्रम के अनुसार भर लिये जाते हैं। इसी प्रकार जगत् सामवाले ज्योतिष्टोम में सर्वप्रथम आग्रयण[2] देवता-वाला पात्र भरा जाता है, शेष उसके आगे के सामान्य क्रम से भरे जाते हैं।

उक्त वाक्यों के विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या ये वाक्य ज्योतिष्टोम क्रतु के ऐन्द्रवायव आदि ग्रहों के यथानिर्देश अग्रतारूप गुण का विधान करते हैं? अथवा रथन्तरसामा और बृहत्सामा क्रत्वन्तर के विधायक हैं? प्रतीत होता है, रथन्तरसामा और बृहत्सामा पद बहुव्रीहि समास के अनुसार क्रतु का विशेषण होने से—ऐन्द्रवायव-ग्रहाग्रता-विशिष्ट एवं शुक्र-ग्रहाग्रता-विशिष्ट—उक्त नाम-वाले क्रतुविशेषों के विधायक हैं। ऐन्द्रवायव-ग्रहाग्रता आदि ज्योतिष्टोम के गुण नहीं हैं। सूत्रकार ने प्रथम इसी शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

गुणस्तु क्रतुसंयोगात् कर्मान्तरं प्रयोजयेत् संयोगस्याशेषभूतत्वात् ॥१॥

सूत्र में 'तु' पद निषेधार्थक है। [गुणः-तु] रथन्तरसामा और बृहत्सामा पद गुण नहीं हैं; अर्थात् ये पद ऐन्द्रवायव-ग्रहाग्रतारूप गुण के विधायक नहीं हैं। [क्रतु-संयोगात्] पदों में बहुव्रीहि समास के आधार पर इनका क्रतु के साथ सीधा सम्बन्ध होने से। [कर्मान्तरं प्रयोजयेत्] क्रतु के साथ सम्बन्ध इनके कर्मान्तर=क्रतुविशेष होने का प्रयोजक है। [संयोगस्य] क्रतु के साथ सम्बन्ध के [अशेषभूतत्वात्] पूर्ण क्रतु का रूप होने के कारण।

तात्पर्य है, रथन्तरसामा एवं बृहत्सामा पद से वही क्रतु अभिप्रेत है, जिसका

---

१. बृहत्साम की ऋचा, 'त्वामिद्धि हवामहे साता' [ऋ० ६।४६।१; साम० २३४; ८०९], 'साता' पद के स्थान पर सामवेद में 'सातौ' पाठ है।

२. जगत्साम के लिए जगती छन्द की 'ज्योतिर्यज्ञस्य पवते मधुप्रियं' [ऋ० ९।८६।१०; साम० १०३१] आदि तीन ऋचा बताई जाती हैं। प्रस्तुत विचार में 'यदि जगत्सामा आग्रयणाग्रान्' वाक्य प्रसंग-(अग्रता-सामान्य)-वश यहाँ पढ़ा गया है। क्योंकि जैसे रथन्तर-साम और बृहत्साम का ज्योतिष्टोम में साक्षात् विधान है, वैसे जगत्साम का साक्षात् विधान नहीं है। सूत्रकार ने स्वयं आगे 'जगत्साम्नि सामाभावाद् ऋक्तः साम तदाख्यं स्यात्' [१०।५।५८] सूत्र से कहा है—'यदि जगत्सामा' वाक्य द्वारा विकृतिरूप क्रत्वन्तर का विधान है। इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में जो विचार किया गया है, उसका मुख्य आधार केवल 'रथन्तरसामा' और 'बृहत्सामा' पद हैं।

इन दो सामों के अतिरिक्त अन्य कोई साम न हो। तभी उसका पूर्णक्रतु होना स्पष्ट होता है। परन्तु ज्योतिष्टोम के गायत्र, त्रिवृत् आदि अन्य भी अनेक साम हैं। अतः रथन्तरसामा एवं बृहत्सामा क्रतु ज्योतिष्टोम से भिन्न कर्म हैं।

प्रस्तुत चर्चा के प्रमुख आधार रथन्तरसामा और बृहत्सामा ये दो पद हैं। इनमें बहुव्रीहि समास है —'रथन्तर साम यस्मिन् क्रतौ सः'—रथन्तर साम है जिसमें ऐसा क्रतु। इसी प्रकार 'बृहत्साम यस्मिन् क्रतौ सः बृहत्सामा क्रतुः'— बृहत्साम है जिसमें ऐसा क्रतु। इस प्रकार ये पद ऐसे क्रतुविशेष को कहते हैं, जिसमें ये ही दो साम प्रयुक्त हों। इसके अनुसार ज्योतिष्टोम ऐसा क्रतु न होने से वे रथन्तरसामा और बृहत्सामा नामक क्रतुविशेष ज्योतिष्टोम से भिन्न कर्म हैं,— यह ज्ञात होता है। ऐन्द्रवायव आदि ग्रहों के अग्रतारूप गुण का ज्योतिष्टोम के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि जगत्सामा सोम को निःसन्दिग्ध कर्मान्तर माना गया है; उसकी समानता से इन दोनों को भी कर्मान्तर मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए।

यह कहना भी ठीक नहीं कि उक्त वाक्यों में कर्मान्तर का विधायक कोई पद नहीं है, तथा ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पठित होने से ऐन्द्रवायव-ग्रहाग्रता एवं शुक्र-ग्रहाग्रता को ज्योतिष्टोम का गुण माना जाय।

कर्मान्तर का विधायक पद उक्त वाक्य में विद्यमान है। वाक्य है—'यदि रथन्तरसामा सोमः स्याद् ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात्'। इसका 'स्यात्' लिङ् क्रियापदघटित प्रथम वाक्यांश कर्मान्तर का विधायक है। इसमें 'यदि' पद का प्रयोग कर्मान्तर के विधान में बाधक नहीं है। यदि पद की अविवक्षा करके शेष अवान्तर वाक्य 'रथन्तरसामा सोमः स्यात्' इसके कर्मान्तर होने का विधान करेगा।

अथवा, यहाँ लिङ् विभक्ति को हेतुहेतुमद्भाव (कार्य-कारण-भाव) अर्थ में माना जाता है, तो यह कहना होगा कि रथन्तरसामा सोम ऐन्द्रवायव-ग्रहाग्रता का हेतु है, कारण है, तथा ऐन्द्रवायव-ग्रहाग्रता कार्य है। इसके अनुसार ऐन्द्र-वायव-ग्रहाग्रता को रथन्तरसामा सोम (—ज्योतिष्टोम) का गुण मानना चाहिए। पर ज्योतिष्टोम के विषय में यह कार्य-कारण-भाव लागू नहीं होता। कारण है, ज्योतिष्टोम के तीन सवन हैं—प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन, सायं सवन। ग्रह-संज्ञक पात्रों में सोमरस का ग्रहण प्रातः सवन में किया जाता है, रथन्तरसाम का गान माध्यन्दिन सवन में होता है। यह कार्यकारणभाव का शीर्षासन हो जाता है, कार्य—ग्रहाग्रता पहले, और कारण—रथन्तरसाम बाद में। इस प्रकार यह लिङ् ऐन्द्रवायव-ग्रहाग्रता को ज्योतिष्टोम का गुण बताने में असमर्थ रहता है। फलतः रथन्तरसाम और बृहत्साम को कर्मान्तर मानना उचित होगा।

ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पठित होने पर भी कर्मान्तर-विधिवाक्य बोधित हैं। प्रकरण से वाक्य बलवान् होता है, अतः इन्हें कर्मान्तर मानना युक्त है।

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा का समाधान किया—

एकस्य तु लिङ्गभेदात् प्रयोजनार्थमुच्येतैकत्वं गुणवाक्यत्वात् ॥२॥

[तु] यह पद जिज्ञासा-निवारण का द्योतक है—रथन्तरसामा आदि कर्मान्तर नहीं हैं। वे [एकस्य] एक प्रकृतियाग ज्योतिष्टोम का अङ्ग हैं। [लिङ्गभेदात्] रथन्तरसाम और बृहत्साम के निमित्तभेद से [प्रयोजनार्थम्] ग्रहपात्रों के अग्रता-विशेष—विधानरूप प्रयोजन के लिए [उच्येत] 'यदि रथन्तरसामा' आदि वाक्य—कहे गये समझने चाहिएँ। अतः [एकत्वम्] कर्म का एकत्व है, रथन्तर-सामा आदि ज्योतिष्टोम से अतिरिक्त कर्म नहीं हैं, उसी का अङ्ग हैं। [गुणवाक्य-त्वात्] ग्रहाग्रतारूप विशेष गुण के विधायक वाक्य होने से।

रथन्तरसामा, बृहत्सामा पद ज्योतिष्टोम का ही कथन करते हैं। रथन्तर-साम है जिस क्रतु में और बृहत्साम है जिस क्रतु में—इस बहुव्रीहि समास के अनुसार वह क्रतु ज्योतिष्टोम ही है। उसी के ये विशेषण पद हैं। जैसा वाक्य में निर्देश है—'रथन्तरसामा सोमः, बृहत्सामा सोमः' ज्योतिष्टोम प्रसंग में इनका कथन विशेष प्रयोजन के लिए हुआ है। वह प्रयोजन है—किस सामगानवाले ज्योतिष्टोम के अवसर पर कौन-सा ग्रह-संज्ञक पात्र सोमरस से प्रथम भरा जाय—यह बताना। ग्रहपात्र में सोमरस भरने के प्राथम्य का निमित्त (लिङ्ग) रथन्तर-सामगान और बृहत्सामगान हैं। जिस ज्योतिष्टोम में रथन्तरसाम गाया जाता है, भले ही वह माध्यन्दिन सवन में गाया जाय, उस ज्योतिष्टोम में ऐन्द्रवायव-ग्रहपात्र सबसे पहले सोमरस से भरा जाता है, यद्यपि उसके भरे जाने का समय प्रातः सवन है। याज्ञिकों को यह मालूम रहता है कि माध्यन्दिन सवन में कौन-सा सामगान होना है, उसी के अनुसार प्रातः सवन में विशिष्ट देवतावाले ग्रहपात्र में सोमरस भरे जाने की प्राथमिकता निर्धारित होती है। सामगान कोई वस्तुसत् पदार्थ नहीं है। क्रियाओं या भावनाओं में उनकी जानकारी के आधार पर कार्य-कारणभाव की कल्पना में कोई बाधा नहीं रहती।

वस्तुसत् पदार्थों के कार्यकारणभाव में भी यह देखा जाता है। वर्षा कृषि का कारण है। भविष्यत् में होनेवाली वर्षा की सम्भावित जानकारी के आधार पर कृषक कृषिवपन आदि कार्य को पहले कर देता है। ऐसा ही प्रस्तुत प्रसंग में समझना चाहिए।

'यदि रथन्तरसामा सोमः स्यात्' वाक्य में 'यदि' पद की अविवक्षा कर शेष वाक्यांश को विधिवाक्य बताना सर्वथा अयुक्त है। वाक्य में लिङ् प्रयोग 'यदि'

के योग में है[1]। 'यदि' पद स्थिति की अनवक्लृप्तता = असम्भावनामूलक अपूर्णता को बतलाता है। रथन्तरसामवाला ज्योतिष्टोम पूर्ण ज्योतिष्टोम नहीं है। ज्योतिष्टोम के विस्तृत क्षेत्र में से उसके एक अंश (रथन्तरसामवाले) को 'यदि' पद सीमित करता है। अनेक सामगानवाले ज्योतिष्टोम में ऐन्द्रवायव-ग्रहाग्रता तभी होगी, जब उसमें रथन्तर सामगान हो; 'यदि' पद की अविवक्षा कर देने पर वाक्य का यह वास्तविक अर्थ अभिव्यक्त नहीं हो पाएगा। अतः वाक्य के आधार पर कर्मान्तर की कल्पना करना नितान्त निराधार है। फलस्वरूप ज्योतिष्टोम-प्रकरण में पठित होने तथा सन्दर्भ में 'सोमः' (=ज्योतिष्टोमः) का विशेषण होने से रथन्तरसाम और बृहत्साम ज्योतिष्टोम के अङ्ग हैं, इन पदों से ज्योतिष्टोम का ही कथन होता है। अतः यह एक याग है, कर्मान्तर नहीं।

जगत्साम के अतिरिक्त कर्म होने से, उसके साथ समानरूप में पठित रथन्तरसाम और बृहत्साम को भी अतिरिक्त कर्म मानना चाहिए,—यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि ज्योतिष्टोम के अङ्गरूप होने में जगत्साम के असम्भव होने से वह कर्मान्तर हो सकता है। असम्भावना का कारण यही है कि प्रकृतियाग ज्योतिष्टोम में जगत्साम का साक्षात् विधान नहीं है। ज्योतिष्टोम में जगत्साम के लिए समस्त सामवेद में कोई ऋक् नहीं कही है। इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में 'यदि जगत्सामा' वाक्य विकृतिरूप कर्मान्तर का विधायक है। यह स्वयं सूत्रकार ने आगे [१०।५।५८] सूत्र में बताया है। इसलिए उसकी समानता रथन्तरसाम और बृहत्साम में नहीं कही जा सकती ॥२॥ (इति ग्रहाग्रताया ज्योतिष्टोमाङ्गताधिकरणम्—१)।

(अवेष्टेः क्रत्वन्तरताधिकरणम्—२)

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [१८।८।१] में पाठ है—'राजा स्वर्गकामो[2] राजसूयेन यजेत।' स्वाराज्य (पूर्ण स्वतन्त्रक अथवा परतन्त्रता का अभाव) की कामनावाला राजा राजसूय से यजन करे। राजसूय यज्ञ का प्रारम्भ कर आगे राजसूय के अन्तर्गत अवेष्टि नामक कतिपय इष्टि इस प्रकार उल्लिखित हैं—'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति, हिरण्यं दक्षिणा १; ऐन्द्रमेकादशकपालम्, ऋषभो दक्षिणा २;

---

१. द्रष्टव्य—पाणिनि सूत्र [३।३।१४७] पर वार्त्तिक 'जातु यदोर्लिङ् विधाने यदायद्योरूपसंख्यानम्' अनवक्लृप्ति और अमर्ष अर्थ अनुवृत्त हैं। अवक्लृप्ति—सम्भावना, सम्भाव्यता, उपयोगिता। असम्भाव्य एवं अनुपयोगी दूर हो जाता है, स्थिति के लिए उपयोगी रह जाता है,—इस अर्थ के परिप्रेक्ष्य में 'यदि' पद स्थिति को सीमित करता है।

२. 'स्वाराज्यकामः' शाबरभाष्य।

वैश्वदेवं चरुम्, पिशङ्गी पष्ठौही दक्षिणा ३; मैत्रावरुणीमामिक्षाम्, वशा दक्षिणा ४; बार्हस्पत्यं चरुम्, शितिपृष्ठो दक्षिणा ५।

इस अवेष्टि नामक इष्टि में पांच याग हैं-- आग्नेय, ऐन्द्र, वैश्वदेव, मैत्रावरुण, बार्हस्पत्य। इनकी पांच हवि और दक्षिणा पृथक्-पृथक् हैं। उन्हें इस प्रकार समझना चाहिए—

याग	हवि	दक्षिणा
आग्नेय	अष्टाकपाल पुरोडाश	हिरण्य (सुवर्ण)
ऐन्द्र	एकादशकपाल पुरोडाश	ऋषभ (बैल)
वैश्वदेव	चरु	ललाई लिये भूरे रंग की पठोरी गाय, गोरी पहली ग्याभन गाय
मैत्रावरुण	आमिक्षा	वशा (वन्ध्या गाय)
बार्हस्पत्य	चरु	शितिपृष्ठ(?)मोर, हंस अथवा रतनाल या मनाल नामक पक्षी जो ठण्डे पर्वतीय प्रदेशों में पाया जाता है।

अवेष्टि के प्रसंग में आगे विधान है—'यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधाय आहुतिमाहुतिं हुत्वा अभिघारयेत्, यदि राजन्य ऐन्द्रम्, यदि वैश्यो वैश्वदेवम्'—यदि ब्राह्मण यजन करे, तो बार्हस्पत्य हवि (चरु) को मध्य में रखकर, अन्य हवियों की प्रत्येक आहुति देने के पश्चात् उसका (बार्हस्पत्य चरु का) आघारण करे; यदि राजन्य (क्षत्रिय) यजन करे, तो ऐन्द्र हवि को मध्य में रखकर, अन्य हवियों की आहुति के पश्चात् उसका आघारण करे; यदि वैश्य यजन करे, तो वैश्वदेव हवि को मध्य में रखकर, अन्य हवियों की आहुति देने के पश्चात् उसका आघारण करे।[1]

---

१. वर्ण के अनुसार वेदि पर हवियों के रखने का विशेष क्रम है—

ब्राह्मण हवि—पूर्व—आग्नेय, दक्षिण—ऐन्द्र, पश्चिम—वैश्वदेव, उत्तर—मैत्रावरुण, मध्य—बार्हस्पत्य।

राजन्य हवि—पूर्व—आग्नेय, दक्षिण—वैश्वदेव, पश्चिम—मैत्रावरुण, उत्तर—बार्हस्पत्य, मध्य—ऐन्द्र।

वैश्य हवि—पूर्व—आग्नेय, दक्षिण—ऐन्द्र, पश्चिम—मैत्रावरुण, उत्तर—बार्हस्पत्य, मध्य—वैश्वदेव।

वर्णानुसार जिस क्रम से वेदि पर हवि रक्खी गई हैं, उसी क्रम से उनकी आहुतियाँ दी जाती हैं।

इस प्रसंग में शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या 'यदि ब्राह्मणो यजेत' इत्यादि वाक्य राजसूय याग के अन्तर्गत ब्राह्मणादि वर्णों का निर्देश—तदनुसार हविविशेष को वेद के मध्य में रक्खे जाने रूप गुण के विधायक हैं ? अथवा ये अपूर्वविधि हैं ? अर्थात् राजसूय से असम्बद्ध स्वतन्त्र याग हैं ?

प्रतीत होता है, गत अधिकरण में जिस प्रकार 'यदि रथन्तरकामा स्तोमः स्यात्' इत्यादि वाक्यों को ज्योतिष्टोम का अङ्ग माना गया है, उसी प्रकार 'यदि ब्राह्मणो यजेत' इत्यादि वाक्यों को राजसूय का अङ्ग मानना चाहिए। राजसूय में ब्राह्मण आदि वर्णानुसार हविविशेष को वेदि के मध्य रक्खे जाने रूप गुण का—ये वाक्य—विधान करते हैं। अतः गुणविधि होने से राजसूय के अङ्ग हैं, अपूर्वविधि नहीं। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अवेष्टौ यज्ञसंयोगात् क्रतुप्रधानमुच्यते ॥३॥

[अवेष्टौ] अवेष्टि नामक इष्टि में [यज्ञसंयोगात्] राजा का यज्ञ (राजसूय) के साथ संयोग-सम्बन्ध अर्थात् अधिकार होने से, 'यदि ब्राह्मणो यजेत' इत्यादि वाक्यों में ब्राह्मण आदि का श्रवण इनके [क्रतुप्रधानम्] प्रधान-क्रतु अपूर्वविधि होने को [उच्यते] प्रकट करता है।

अवेष्टिसंज्ञक इष्टि राजसूय क्रतु का अङ्गभूत कर्म है। 'राजा राजसूयेन यजेत' विधान के अनुसार राजसूय यज्ञ करने का केवल राजा को अधिकार है। इस वाक्य में 'राजन्' पद क्षत्रिय-वर्णविशेष का वाचक है। यद्यपि लोक में वह व्यक्ति भी राजा कहा जाता है, जो प्रजा का परिरक्षण व प्रशासन करता है, पर क्षत्रिय वर्ण का नहीं होता; ऐसे व्यक्ति को राजसूय यज्ञ करने का अधिकार नहीं माना गया। यदि क्षत्रिय वर्ण का व्यक्ति प्रजापालन अथवा प्रशासन न भी करता हो, उसे राजसूय यज्ञ करने का अधिकार स्वीकार किया गया है। इसलिए लोक में क्षत्रिय से अतिरिक्त वर्ण के व्यक्ति के लिए राजा शब्द का प्रयोग नैमित्तिक होने से औपचारिक है, गौण है। इस कारण 'यदि ब्राह्मणो यजेत' इत्यादि वाक्यों से बोधित कर्म राजसूय याग में गुणविशेष का विधायक न होकर कर्मान्तर है, यह निश्चित होता है। इसके विपरीत यदि इन्हें गुणविधि माना जाय, तो ब्राह्मण आदि द्वारा अनुष्ठान किए जाने का विधान असंगत होगा, तथा राजसूय विधान के विरुद्ध भी।

'यदि ब्राह्मणो यजेत' इत्यादि वाक्यों में भी ब्राह्मण आदि पद वर्णविशेष के ही वाचक हैं। 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः' आदि के सदृश निर्वचन के आधार पर इनका अर्थ करना संगत न होगा, क्योंकि उस अवस्था में यह सब विधान ही निराधार हो जायगा। फलतः केवल क्षत्रिय द्वारा अनुष्ठेय राजसूय यज्ञ से इन कर्मों ('यदि

ब्राह्मणो यजेत' इत्यादि वाक्यबोधित) को भिन्न कर्म मानना उचित है।[1] गत अधिकरण के वाक्यों के साथ प्रस्तुत अधिकरण के विचारणीय वाक्यों की समानता—दोनों जगह के वाक्यों में 'यदि' पद के प्रयोग के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। उभयत्र 'यदि' पद का प्रयोग केवल औपपातिक है, ऊपरी बात है; सैद्धान्तिक चर्चा के लिए वह कोई सबल आधार नहीं है ॥३॥ (इति अवेष्टेः क्रत्वन्तरताऽधिकरणम्—२)।

तैत्तिरीय ब्राह्मण [१।१।२] में पाठ है—**'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्य आदधीत, शरदि वैश्य आदधीत।'**—वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्नि का आधान करे, ग्रीष्म में क्षत्रिय आधान करे, वैश्य शरद् ऋतु में आधान करे। इन वाक्यों के विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या ये वाक्य ब्राह्मण आदि का अनुवाद करके अग्न्याधान के लिए वसन्त आदि कालविशेष के विधायक हैं? अथवा ब्राह्मणादिकर्तृक वसन्तादि कालविशेष-युक्त अग्न्याधान के विधायक हैं?

वाक्यों से दोनों बातें प्राप्त होती हैं। जब ब्राह्मण आदि पदों के सहोच्चरित ऋतुवाचक पदों के साथ ब्राह्मणादि पदों के सम्बन्ध को महत्त्व दिया जाता है, तब ये वाक्य ब्राह्मणादि-निमित्त से कालविशेष के विधायक हैं, ऐसा ज्ञात होता है। परन्तु जब ब्राह्मण आदि पदों का 'आदधीत' क्रियापद के साथ सम्बन्ध को महत्त्व दिया जाता है, तो ये पद अग्न्याधान के विधायक हैं, ऐसा ज्ञात है।

इनमें पहला पक्ष उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि पदों की यह स्थिति अविदित अर्थ का बोध कराती है। अग्नि का आधान तो, 'अग्निहोत्रं जुहुयात्, दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इत्यादि वाक्यों से प्रथम प्राप्त है। अग्नि के बिना ये अनुष्ठान सम्पन्न नहीं किए जा सकते; इन अनुष्ठानों का विधान अग्नि की स्थापना का आपादक है। इसलिए अग्न्याधान अप्राप्त नहीं है। पर ब्राह्मणादि द्वारा कर्मानुष्ठान के लिए काल अविदित है, उसका विधान आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त यह भी बात है कि आधान अग्नि की प्राप्ति के लिए किया जाता है, पर यह आवश्यक नहीं कि अग्नि आधान से ही प्राप्त हो। उसकी प्राप्ति अन्य उपायों से सम्भव है। अन्य से माँगकर लाई जा सकती है। लोक में यह व्यवहार सर्वत्र देखा जाता है। यज्ञोपयोगी अन्य द्रव्यों के समान अग्नि को क्रय करके प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए अग्नि-प्राप्ति के लिए आधान कोई

---

१. प्रस्तुत प्रसंग में ब्राह्मण आदि व्यक्ति वही माना गया है, जिसने ब्राह्मण वंश में जन्म लिया हो। नैमित्तिक ब्राह्मण आदि के लिये केवल एक निर्दिष्ट कर्म को छोड़कर अन्य सब प्रकार के अनुष्ठानों का अधिकार अक्षुण्ण रहता है।

अनिवार्य साधन नहीं है। फलतः उक्त वाक्यों को वसन्तादि कालविशेष का विधायक मानना उपयुक्त होगा। आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा का समाधान किया—

आधानेऽसर्वशेषत्वात् ॥४॥

[आधाने] आधान के विषय में पढ़े गए 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत' आदि वाक्य अग्न्याधान के प्रतिपादक हैं। [असर्वशेषत्वात्] अग्न्याधान के— सब कर्मों के प्रति शेष = अङ्ग न होने से।

सूत्र के हेतु पद का स्पष्ट अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए—केवल इतना कहना कुछ अटपटा लगता है कि अग्नि अथवा अग्नि का आधान सब कर्मों का शेष नहीं है। 'शेष' पद 'अङ्ग' अर्थ में प्रयुक्त होता है। अग्नि तो सब कर्मों का अङ्ग है; क्योंकि उसके बिना कोई यागानुष्ठान सम्पन्न नहीं होता। तब उसे सब कर्मों का अङ्ग न कहना, युक्त प्रतीत नहीं होता। इस हेतु पद का वास्तविक अर्थ है—एक अनुष्ठाता व्यक्ति के द्वारा आधान किए गए अग्नि में—अन्य अनुष्ठाता द्वारा अनुष्ठेय कर्म—नहीं किए जा सकते। प्रत्येक कर्मानुष्ठाता के लिए आवश्यक है कि वह स्वानुष्ठेय कर्मों के लिए स्वयं अग्नि का आधान करे। यह तथ्य उक्त वाक्यों में आत्मनेपदी 'आदधीत' क्रियापद से अभिव्यक्त होता है। किसी क्रिया के अनुष्ठान का फल उस क्रिया के अनुष्ठाता को ही प्राप्त हो, तभी वह क्रियापद आत्मनेपद में प्रयुक्त हो सकता है। तात्पर्य है, एक व्यक्ति के द्वारा किया गया अग्न्याधान उसी के अपने कर्मानुष्ठान के लिए होता है, अन्य के लिए नहीं। अतः अग्नि की प्राप्ति याचना अथवा क्रय आदि अन्य उपाय से करना सर्वथा अशास्त्रीय है।

'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत' आदि वाक्यों का मुख्य तात्पर्य अग्नि के आधान में ही है। ये वाक्य ब्राह्मण आदि वर्णों के लिए कालविशिष्ट अग्न्याधान का विधान करते हैं। 'अग्निहोत्रं जुहोति' आदि वाक्यों से अग्नि का सम्बन्ध तो ज्ञात होता है, पर उससे अग्नि के आधानरूप अर्थ की प्राप्ति नहीं होती। उसका विधान उक्त वाक्यों से किया गया है। अन्य उपायों से प्राप्त अग्नि में किया गया अनुष्ठान निष्फल है। फलतः अग्न्याधान के उक्त वाक्य विधायकवाक्य हैं, यह स्पष्ट होता है ॥४॥ (इति अग्न्याधानस्य विधेयत्वाऽधिकरणम्—३)।

(दाक्षायणादीनां गुणताऽधिकरणम्—४)

दर्श-पूर्णमास यागों का प्रकरण प्रारम्भ कर वैदिक वाङ्मय में पाठ है—

'दाक्षायणयज्ञेन यजेत प्रजाकामः[1]; साकम्प्रस्थायीयेन[2] यजेत पशुकामः, संक्रमयज्ञेन यजेत अन्नाद्यकामः।'—प्रजा की कामनावाला व्यक्ति दाक्षायण यज्ञ से यजन करे, पशु की कामनावाला साकम्प्रस्थायीय से यजन करे, अन्नाद्य की कामनावाला संक्रम यज्ञ से यजन करे। इन वाक्यों के विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या ये वाक्य दर्श-पौर्णमास यागों में ही दाक्षायण आदि निमित्त से फल का निर्देश कर प्रकृत यागों के गुणविधि हैं? अथवा इन नामोंवाले ये कर्मान्तर हैं? दर्श-पौर्णमास के प्रकरण में पठित होने पर भी भिन्न नाम तथा इसी प्रकार के अन्य कारणों से ये कर्मान्तर प्रतीत होते हैं। आचार्य सूत्रकार ने अग्रिम कतिपय सूत्रों द्वारा शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

अयनेषु चोदनान्तरं संज्ञोपबन्धात् ॥५॥

[अयनेषु] 'अयन'-संज्ञक इन वाक्यों में [चोदनान्तरम्] भिन्न कर्म का विधान है, [संज्ञोपबन्धात्] संज्ञा=विशिष्ट नाम से इनका निर्देश होने के कारण। तात्पर्य है, दर्श-पौर्णमास के प्रकरण में पठित होने पर भी 'दाक्षायण' आदि नाम दर्श-पौर्णमास के नहीं हैं, अतः ये कर्म दर्श-पौर्णमास से भिन्न हैं।

सूत्रकार ने इन वाक्यों का निर्देश 'अयन' पद से किया है। प्रथम वाक्य 'दाक्षायण' में 'अयन' पद आया है। एक वाक्य के 'अयन' पद-युक्त होने से साथ में पठित अन्य वाक्यों को भी यह नाम दे दिया गया। लोक में ऐसा व्यवहार देखा जाता है। चार-पाँच व्यक्ति एकसाथ इकट्ठे जा रहे हैं, उनमें से केवल एक ने छतरी लगा रक्खी है। समीप से देखनेवाले व्यक्ति उनके विषय में बोलते हैं—देखो, ये छतरीवाले जा रहे हैं। एक ही छतरी से—इकट्ठे साथ रहने के कारण सभी छतरीवाले कहे जाते हैं। इसी प्रकार एक नाम में 'अयन' पद आने से—साथ पठित—सभी वाक्य 'अयन' नाम से कह दिए गए हैं। इसी कारण सूत्रकार ने सूत्र में 'अयनेषु' बहुवचनान्त पद का प्रयोग किया है। दाक्षायण आदि नाम दर्श-पौर्णमास के न होने से स्पष्ट होता है, ये कर्म उनसे भिन्न हैं ॥५॥

कर्मान्तर होने में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

---

१. 'प्रजाकामः' के स्थान पर 'सुवर्गकामः' पाठ है, तै० सं०, २।५।५॥

२. द्रष्टव्य—तै० सं०, २।५।४॥ शां० ब्रा०, ४।६ में 'साकम्प्रस्थाय्य' पाठ उपलब्ध है।

अगुणाच्च[1] कर्मचोदना ॥६॥

[च] और [अगुणात्] किसी गुण का निर्देश न होने से [कर्मचोदना] अपूर्व कर्म के विधायक हैं, उक्त 'दाक्षायणयज्ञेन यजेत' आदि वाक्य।

उक्त वाक्यों के साथ किसी गुण का कथन नहीं किया गया। यदि इन्हें कर्मान्तर का विधायक न माना जाय, तो इनका उपदेश अनर्थक होगा। यदि गुण की कल्पना किसी प्रकार की जाय, तो याग और गुण के सम्बन्ध को जानकर उसके अनुष्ठान का विधान माना जाय। पर गुणनिर्देश के अभाव में यहाँ याग-मात्र के अनुष्ठान का विधान ज्ञात होता है॥६॥

उक्त वाक्यों को कर्मान्तर का विधायक मानने में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

समाप्तं च फले वाक्यम् ॥७॥

[च] और [फले] प्रजा=सन्ततिरूप फल के निर्देश में [वाक्यम्] 'दाक्षा-यण०' आदि वाक्य [समाप्तम्] समाप्त हो जाता है, पूरा हो जाता है; अतः उक्त वाक्यों को कर्मान्तर का विधायक मानना युक्त होगा।

'दाक्षायणयज्ञेन यजेत प्रजाकामः' वाक्य फल के निर्देश के साथ पूरा हो जाता है। फल किसी कर्म-विशेष का सम्भव है। आगे भी प्रत्येक वाक्य फल-निर्देश पर पूर्ण होता है। अतः प्रजा, पशु और अन्नाद्य-फलों के उपायरूप में यहाँ 'दाक्षायण' आदि कर्मविशेषों का विधान है, यह निश्चित होता है ॥७॥

इस लम्बी हेतुपूर्ण जिज्ञासा का समाधान सूत्रकार कतिपय अग्रिम सूत्रों से प्रस्तुत करता है—

विकारो वा प्रकरणात् ॥८॥

[वा] यह पद जिज्ञासा की निवृत्ति का सूचक है, अर्थात् 'दाक्षायण' आदि वाक्य कर्मान्तर के विधायक नहीं, प्रत्युत [प्रकरणात्] दर्शपौर्णमास प्रकरण में पठित होने से [विकारः] उसी का विकृतिरूप कर्म है, अर्थात् उसी के गुणविशेष का विधायक है।

दाक्षायण यज्ञ आदि प्रत्येक वाक्य दर्शपूर्णमास का विकार है, उसी के गुण-

---

१. रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनी व्याख्या में 'अगुणा च' पाठ है। अर्थ में विशेष अन्तर नहीं। 'अगुण' पद हेतुरूप न रहकर 'कर्मचोदना' का विशेषण बन जाता है। [कर्मचोदना] कर्म का विधायक वाक्य [अगुणा] गुण-रहित है।

विशेष का विधायक है। इनको गुणविधि मानने में प्रकरण का सामंजस्य भी बना रहता है ॥८॥

सूत्रकार ने उक्त वाक्यों को गुणविधि मानने में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

लिङ्गदर्शनाच्च ॥९॥

[लिङ्गदर्शनात्] उक्त वाक्यों के विकार होने में लिङ्ग देखे जाने से [च] भी उक्त वाक्य दर्शपूर्णमास की गुणविधि हैं, कर्मान्तर नहीं।

वैदिक वाङ्मय में पाठ है—'त्रिंशतं वर्षाणि दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत। यदि दाक्षायणयाजी स्याद्, अथो अपि पञ्चदशैव वर्षाणि यजेत। अत्र ह्येव सा सम्पद् सम्पद्यते। द्वे हि पौर्णमास्यौ यजेत द्वे अमावास्ये। अत्र ह्येव खलु सा सम्पद् भवति।'[1]

'दर्शपौर्णमास से तीस वर्ष यजन करे। यदि वह दाक्षायण यज्ञ करनेवाला हो, तो पन्द्रह वर्ष ही यजन करे। दाक्षायणयाजी पन्द्रह वर्ष के अनुष्ठान में ही उस सम्पदा को प्राप्त हो जाता है, जो तीस वर्ष में प्राप्त की जाती है; क्योंकि वह दो पौर्णमास प्रातः-सायं यजन करता है, और दो अमावास्या प्रातः-सायं।' इस कथन का सामंजस्य उसी अवस्था में सम्भव है, जब दाक्षायण यज्ञ को दर्श-पौर्णमास का अंग माना जाय। दर्श-पौर्णमास याग का जो अनुष्ठान तीस वर्ष में होता है, वह दाक्षायणयाजी का—प्रत्येक पूर्णमासी और अमावास्या में दो-दो याग करने से पन्द्रह वर्ष में पूर्ण हो जाता है। यह कथन इस तथ्य को समझने में लिंग = हेतु है कि दाक्षायण यज्ञ दर्श-पौर्णमास से भिन्न कर्म नहीं है ॥९॥

इनके नाम-निर्धारण पर जो इन्हें कर्मान्तर बताया, सूत्रकार उसका समाधान करता है—

गुणात् संज्ञोपबन्धः ॥१०॥

[गुणात्] गुण से [संज्ञोपबन्धः] दाक्षायण आदि संज्ञा बाँधी गई हैं। तात्पर्य है, गुणविशेष के आधार पर इन नामों का निर्धारण किया गया है।

जिज्ञासा-प्रसंग में कहा गया था कि दाक्षायण आदि नाम दर्श-पौर्णमास के नहीं हैं, इसलिए इन्हें दर्श-पौर्णमास का अंग न मानकर कर्मान्तर मानना चाहिए, यह कथन ठीक नहीं है। दर्श-पौर्णमास के वे नाम किस आधार पर हैं, यह समझिये।

इनमें पहला नाम 'दाक्षायण' है। यह 'दक्ष' और 'अयन' इन दो पदों के मेल से बना है। दक्ष व्यक्तिविशेष का नाम है, 'अयन' का अर्थ गति या प्रवृत्ति है।

---

१. द्रष्टव्य—श० ब्रा०, ११।१।२।१३॥

दक्ष व्यक्ति के द्वारा प्रवृत्त किये जाने के कारण इसका नाम दाक्षायण यज्ञ है।

शांखायन ब्राह्मण [४।४] के दर्श-पौर्णमास प्रकरण में ऐसे कतिपय यज्ञों का वर्णन है। वहाँ ग्रन्थकार 'अथातो दाक्षायणयज्ञस्य' यह प्रारम्भ कर आगे कहता है—'दक्षो ह वै पार्वतिरेतेन यज्ञेनेष्ट्वा सर्वान् कामान् आपतत्'—पर्वत के अपत्य दक्ष ने इस यज्ञ से यजन करके सब अभीष्ट कामनाओं को प्राप्त किया। इसी प्रकरण [४।६–८] में सार्वसेनि यज्ञ, शौनक यज्ञ, वासिष्ठ यज्ञ आदि कतिपय उन-उन ऋषियों एवं विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा किये गये यज्ञों का वर्णन[1] है। व्यक्ति-विशेष के अनुष्ठान द्वारा फल-निर्देशरूप गुण से संज्ञा का उपबन्ध है। यज्ञों के ये नाम उन व्यक्तिविशेषों के नामों पर आधारित हैं, जिन्होंने दर्श-पौर्णमास का अनुष्ठान कर अभीष्ट फल प्राप्त किया। प्रस्तुत प्रसंग में दर्श-पौर्णमास उस नाम से व्यवहृत हुए।

'साकम्प्रस्थायीय' अथवा 'साकंप्रस्थाय्य' यज्ञ का नाम भी ऐसे ही गुण-विशेष के आधार पर है। शांखायन ब्राह्मण [४।९] में पाठ है—'तद्यत् साकं सं-प्रतिष्ठन्ते साकं संप्रयजन्ते साकं भक्षयन्ते, तस्मात् साकंप्रस्थाय्य:'—जो व्यक्ति इसी अमावास्या, इसी पूर्णमासी-कर्म में साथ ही इस कर्म का अनुष्ठान करते हैं, साथ ही यजन करते हैं, साथ ही यज्ञशेष का भक्षण करते हैं, इसी कारण यह यज्ञ साकंप्रस्थाय्य है। इससे स्पष्ट होता है, इस प्रसंग में दर्श-पौर्णमास याग का ही यह नाम है। इसी प्रकार 'संक्रम' यज्ञ नाम भी सम् = समान क्रम = अनुष्ठान-रूप अर्थ के अनुसार समझना चाहिए। तात्पर्य है, दर्श-पौर्णमास का यह नाम समान रूप से इन कर्मों का अनुष्ठान गुण के आधार पर है। फलत: प्रस्तुत प्रसंग में ये सब नाम दर्श-पौर्णमास के हैं, जो याग-सम्बद्ध किसी गुणविशेष के कारण प्रसिद्ध हुए, जिस गुण का विधान उक्त वाक्यों द्वारा हुआ है। फलत: इस नाम को कोई भिन्न (= दर्श-पौर्णमास से अतिरिक्त) कर्म नहीं हैं ॥१०॥

कर्मान्तर होने में वाक्य की समाप्ति अर्थात् निराकांक्ष होने का जो हेतु प्रस्तुत किया गया, सूत्रकार ने उसका समाधान किया—

समाप्तिरविशिष्टा ॥११॥

[समाप्ति:] फलनिर्देश पर वाक्य की समाप्ति = पूर्णता = निराकांक्षता, [अविशिष्टा] समान है, कर्मफल-सम्बन्ध और गुणफल-सम्बन्ध दोनों में।

तात्पर्य है—फल का निर्देश होने पर वाक्य की पूर्णता दोनों अवस्थाओं में समान रहती है। चाहे कर्मविधि का फलनिर्देश हो, चाहे गुणविधि का, इसमें

---

१. द्रष्टव्य—पं० युधिष्ठिर मीमांसक-कृत—मीमांसा शाबर भाष्य का—हिन्दी विवरण। पृष्ठ ५५६।

कोई भेद नहीं होता। जिन गुणविधि-वाक्यों में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, जैसे—'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्'—इन्द्रिय की कामनावाले का दधि से होम करे। यहाँ दधिरूप गुण से इन्द्रिय-फल का विधान है। ठीक इसी प्रकार 'दाक्षायणयज्ञेन यजेत प्रजाकामः' आदि वाक्य हैं। दाक्षायण यज्ञ में दर्श-पूर्णमास की आवृत्तिरूप गुण का विधान है। यहाँ दर्श-पूर्णमास से अनुष्ठान करे, ऐसा न कहकर—प्रजा की कामनावाला आवृत्ति-यज्ञ का अनुष्ठान करे, ऐसा कहा है। यह आवृत्ति-गुण दर्श-पूर्णमास का ही है। अतः इस रूप में दाक्षायण-यज्ञ दर्श-पूर्णमास से भिन्न कर्म नहीं है। इसी प्रकार साकंप्रस्थाय्य में सह-प्रतिष्ठान आदि, तथा संक्रम यज्ञ में समान अनुष्ठान आदि गुण का विधान है। ये सब कर्मान्तर नहीं हैं ॥११॥ (इति दाक्षायणादीनां गुणताधिकरणम्—४)।

(द्रव्यदेवतायुक्तानां यागान्तरताधिकरणम्—५)

कतिपय ऐसे वचन उपलब्ध होते हैं, जो किसी कर्म-विशेष के प्रकरण में नहीं पढ़े गये; उनसे विहित गुण आदि का सम्बन्ध प्रकृतियाग के साथ होता है (द्र० ३।६, अधि० १)। इसके अनुसार निम्नांकित कतिपय वाक्य हैं, जो किसी कर्म-विशेष का विधान न करके पढ़े गये हैं—**'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः** [तै० सं० २।१।१]। **'ब्रह्म[1]वर्चसकामः सौर्यं चरुं निर्वपेत्'** [तै० सं० २।३।२]। भूति—कल्याण चाहनेवाला व्यक्ति वायु देवतावाले श्वेत पशु का आलभन करे। ब्रह्मवर्चस की कामनावाला व्यक्ति सूर्य देवतावाले चरु का निर्वाप करे।

इसी प्रकार दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पढ़ा है—'ईषा[2]मालभेत' ईषा का आलभन=स्पर्श करे। तथा 'चतुरो[3] मुष्टीन्निर्वपति' चार मुट्ठी हवनीय द्रव्य का निर्वाप करता है। इन वाक्यों के विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या दर्श-पूर्णमास प्रकरण में अपठित आलम्भ और निर्वाप यथाक्रम दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पठित आलम्भ और निर्वाप के गुणविधि हैं? अथवा दर्श-पूर्णमास-प्रकृतियाग की अपेक्षा नहीं रखते? अर्थात् वे भिन्न कर्म हैं? तथा जब प्रकृति-निरपेक्ष भिन्न कर्म हैं, तब भी क्या जितना कहा है, उतने ही में कर्म पूरा हो जाता है? अथवा ये यागवाले कर्म हैं?

प्रतीत होता है, प्रकरण में अपठित वाक्य 'वायव्यं श्वेतं' तथा 'सौर्यं चरुं' यथाक्रम प्रकरणपठित 'ईषामालभेत' तथा 'चतुरो मुष्टीन्' वाक्यों के गुणविधि

१. द्रष्टव्य—मैत्रा० सं०, २।२।२॥
२. द्रष्टव्य—उत्तरामीषामालभ्य जपति, आप० श्रौ० १।१७।७॥ भार० श्रौ० १।१६।६॥
३. द्रष्टव्य—चतुरो मुष्टीन् निरूप्य, आप० श्रौ० १।१८।२॥

हैं। क्योंकि विधिवाक्य वे होते हैं, जो अविदित अर्थ का कथन करते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में प्रकरणपठित वाक्यों से आलम्भ और निर्वाप विदित हैं। शिष्य-जिज्ञासा को पूर्वपक्ष-रूप से आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

संस्कारश्चाप्रकरणेऽकर्मशब्दत्वात् ॥१२॥

[अप्रकरणे] प्रकरण में अपठित वचन [अकर्मशब्दत्वात्] कर्मविधायक शब्द के वहाँ न होने से, वे वचन [संस्कारः] संस्कार कर्म [च] ही हैं; अर्थात् किसी विधिकर्म में संस्कारविशेष के विधायक होने से गुणविधि हैं।

दर्शपूर्णमास के प्रकरण में अपठित 'वायव्यं श्वेतं' तथा 'सौर्यं चरुं' वाक्य विधिवाक्य नहीं हैं। आचार्यों ने बताया—'अज्ञातार्थबोधको विधिः' जो वाक्य अज्ञात अर्थ का बोध कराता है, वह विधिवाक्य है। इन वाक्यों में कोई ऐसा विधायक पद नहीं है, जो इनके विधिवाक्य होने का साधक हो। उक्त वाक्यों में 'आलभेत' और 'निर्वपेत्' पद भी अज्ञात अर्थ के बोधक नहीं हैं। यह आलम्भ और निर्वाप अर्थ-प्रकरण में पठित 'ईषामालभते' तथा 'चतुरो मुष्टीन्निर्वपति' वाक्यों से ज्ञात हैं। अतः प्रकरण में अपठित उक्त वाक्य उसी का अनुवाद कर उनमें संस्कार-विशेष का विधान करते हैं।

प्रकरणपठित 'ईषामालभते' का अर्थ है—ईषा का आलम्भ=स्पर्श करता है। पूर्वाभिमुख खड़े द्रव्याहरण-शकट के अग्रभाग को ऊँचा (पिछले भाग के समान स्तर में) रखने के लिए जुए की सन्धि के समीप अग्रभाग में संयुक्त दो लम्बी स्निग्ध लकड़ियों या बाँसों की टेक का नाम 'ईषा' है, जिनमें एक उत्तर और दूसरी दक्षिण को रहती है। प्रकरण में अपठित पहला वाक्य (वायव्यं श्वेतं) इस (ईषा-सम्बन्धी) आलम्भ-कर्म में श्वेत गुण का तथा दूसरा (सौर्यं चरुं) वाक्य इस (चतुरो मुष्टीन्निर्वपति) निर्वाप-कर्म में चरु का विधान करने के लिए हैं, इसलिए 'वायव्यं श्वेतं' और 'सौर्यं चरुं' में अन्य आलम्भ और निर्वाप नहीं हैं। वे प्रकृतियाग दर्श-पौर्णमास में विहित आलम्भ और निर्वाप की गुणविधि हैं॥१२॥

प्रथम जिज्ञासा में दूसरा विकल्प है, जब प्रकरण में अपठित वाक्य—प्रकरणस्थ आलम्भ-निर्वाप कर्म की अपेक्षा न करते हुए—भिन्न कर्म माने जाते हैं, तब भी क्या वाक्य से जितना कहा है—उतने ही में कर्म पूरा हो जाता है? अथवा निर्दिष्ट देवता के उद्देश्य से द्रव्य की आहुति भी उसमें दी जाती है? इस विषय में सूत्रकार ने कहा—

यावदुक्तं वा कर्मणः श्रुतिमूलत्वात् ॥१३॥

[वा] सूत्र का 'वा' पद विकल्पान्तर का निर्देश करता हुआ पूर्वसूत्रोक्त अर्थ

का बाध करता है । [यावदुक्तम्] वाक्य में जितना कहा है, उतना ही कर्त्तव्य है। [कर्मणः] कर्म के [श्रुतिमूलत्वात्] श्रुतिमूलक होने से; श्रुति जितना कहती है, उतने ही में वह कर्म पूरा सम्पन्न हुआ समझना चाहिए।

दर्शपूर्ण के प्रकरण में अपठित आलम्भ (वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः) तथा निर्वाप (सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः) प्रकरणपठित आलम्भ (ईषामालभते), तथा निर्वाप (चतुरो मुष्टीन् निर्वपति) के अनुवाद नहीं हैं। प्रकरणपठित इन आलम्भ तथा निर्वाप से वे आलम्भ-निर्वाप भिन्न हैं; इस प्रकरण से उनका कोई सम्बन्ध नहीं।

कतिपय कर्म ऐसे होते हैं, जिनमें—जितना विधान किया है, उतना ही कर्त्तव्य कर्म होता है, इनमें प्रकृतियाग से धर्मों का अतिदेश नहीं होता। उसी के समान 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' वाक्य से विहित कर्म, पशु के आलम्भ-पर्यन्त ही है। इसी प्रकार 'सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः' वाक्य से विहित कर्म व्रीही के निर्वाप तक पूरा हो जाता है। तात्पर्य है, इन हविद्रव्यों से याग नहीं होता। यह द्वितीय जिज्ञासा का प्रथम अंश है। द्वितीय अंश का तात्पर्य है—'वायव्यं श्वेतं' वाक्य में श्वेत पशु का वायु देवता के साथ, और 'सौर्यं चरुं' वाक्य में चरु द्रव्य का सूर्य देवता के साथ सम्बन्ध जाना जाता है। इसलिए जब तक इन द्रव्यों से वायु और सूर्य देवता के लिए याग = द्रव्य-त्याग नहीं करेंगे, तब तक द्रव्य-देवता का सम्बन्ध उपपन्न नहीं होगा। अतः प्रतीयमान द्रव्य-देवता सम्बन्ध की उपपत्ति के लिए याग आवश्यक है। इस प्रकार द्वितीय जिज्ञासा का रूप होता है—यदि प्रकरण में अपठित वाक्य भिन्न कर्म हैं, तो क्या जितना विधान उनसे किया गया उतना ही वह कर्म है ? अर्थात् उतने ही में वह पूर्ण हो जाता है ? अथवा वहाँ कहे गये द्रव्य से याग भी किया जाता है ? इस जिज्ञासा का समाधान सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र से किया—जितना वाक्य से कहा गया, उतना ही वह कर्म कर्त्तव्य है; क्योंकि कर्म का स्वरूप श्रुति के अनुसार जाना जाता है। इसलिए प्रकरण में अपठित वाक्य, प्रकरणपठित वाक्यों के अनुवादक न होकर स्वतन्त्र कर्म हैं, और वे उतने ही हैं, जितने वाक्यों द्वारा कहे गए। वहाँ कहे गए द्रव्यों से याग नहीं होता।

यदि 'वायव्यं श्वेतं' और 'सौर्यं चरुं' को अपूर्वविधि न मानकर दर्शपूर्णमास-स्थित आलम्भ-निर्वाप का अनुवादक माना जाता है, तो वाक्यभेद होता है। प्रथम प्रकरण में अपठित वाक्य प्रकरणपठित आलम्भ-निर्वाप को लक्षित करेंगे। फिर आलम्भ में श्वेतगुण और निर्वाप में चरु द्रव्य का विधान करेंगे। अनन्तर आलम्भ में भूति के लिए वायुदेवता और निर्वाप में ब्रह्मवर्चस के लिए सूर्य देवता को प्रस्तुत करेंगे। इस प्रकार का वाक्यभेद शास्त्र में दोषावह माना जाता है। अतः दर्शपूर्णमास प्रकरण में अपठित आलम्भ-निर्वाप को अपूर्वविधि मानना

युक्त होगा।

यदि वाक्यभेद की उपेक्षा की जाय, तो भी उन वाक्यों को अनुवाद नहीं माना जा सकता। 'आलभेत' और 'निर्वपेत्' पद यदि दर्शपूर्णमासस्थित आलम्भ-निर्वाप को लक्षित करते हैं, तो विधायक नहीं हो सकते। एक ही पद लक्षण और विधान दोनों को नहीं कह सकता। एक पद एक अर्थ को कहकर चरितार्थ हो जाता है; अन्य अर्थ के कहने में वह असमर्थ रहता है। यदि धात्वर्थ=आलम्भ-निर्वाप को अनुवाद मानें, और 'लिङ्' प्रत्यय को विधायक मानें, तो 'जो आलम्भ करना है, वह इस (श्वेत) गुणवाला किया जाय' ऐसा कहने पर दर्श-पूर्णमासस्थ आलम्भ लक्षित नहीं होगा, क्योंकि प्रथम कहा जा चुका है—आलम्भ उससे अतिरिक्त लौकिक भी है। प्रत्ययार्थ (=आलम्भः कर्त्तव्यः) के अनूद्यमान होने पर दर्शपूर्णमासस्थ आलम्भ अनूदित हो सकेगा; क्योंकि [ईषामालभेत-वचनानुसार] कर्त्तव्यरूप से वही ज्ञात है; लौकिक आलम्भ ज्ञात नहीं है। इस कारण दर्शपूर्णमासस्थ आलम्भ और निर्वाप का अनुवाद हैं—प्रकरण में अपठित आलम्भ और निर्वाप, यह उपपन्न नहीं होता। इसलिए वहाँ जितना कहा है [—यावदुक्तम्] आलम्भमात्र और निर्वापमात्र, उतना ही अपूर्वविधि समझना चाहिए। वही श्रुतिमूलक है। फलतः दर्शपूर्णमास प्रकरण में अपठित आलम्भ और निर्वाप कर्मान्तर हैं॥१३॥

पूर्वपक्षरूप से प्रस्तुत उभयविध-विकल्प की जिज्ञासा का सूत्रकार समाधान करता है—

यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृसंयोगादेतेषां कर्मसम्बन्धात्॥१४॥

[तु] यह पद पूर्वपक्ष के निराकरण का द्योतक है। तात्पर्य है—दर्शपूर्णमास प्रकरण में अपठित आलम्भ और निर्वाप यावदुक्त कर्म नहीं हैं, प्रत्युत [यजतिः] याग हैं, [द्रव्यफल-भोक्तृसंयोगात्] द्रव्य (—श्वेतपशु, चरु) फल (—भूति, ब्रह्मवर्चस), भोक्ता (—भूतिकाम, ब्रह्मवर्चसकाम) का संयोग होने से [एतेषाम्] इन द्रव्य, फल और भोक्ता के [कर्मसम्बन्धात्] याग कर्म के साथ सम्बन्ध होने से।

गत सूत्र में जो यह कहा गया कि 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' तथा 'सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः' वाक्य प्रकरणपठित आलम्भ (ईषामालभते) तथा निर्वाप (चतुरो मुष्टीन्निर्वपति) के गुणविधि नहीं हैं,—यह सर्वथा युक्त है। परन्तु साथ ही जो यह कहा गया कि ये वाक्य यावदुक्त हैं, अर्थात् आलम्भ-मात्र और निर्वापमात्र का विधान करते हैं, द्रव्ययाग का विधान नहीं करते,—यह कथन युक्त नहीं है। सूत्रकार कहता है, ये याग हैं; द्रव्य-त्यागपूर्वक आहुति दिए जाने का ये विधान करते हैं।

कारण यह है कि इन वाक्यों में द्रव्य, देवता, फल, भोक्ता का निर्देश है। ये सब इन आलम्भ-निर्वाप के पूर्ण याग होने के प्रयोजक हैं। यद्यपि सूत्र में 'देवता' पद का उल्लेख नहीं, पर याग के स्वरूप में द्रव्य-देवता का नियत सम्बन्ध माना जाता है, इसलिए सूत्र में 'द्रव्य' पद के निर्देश से देवता का भी ग्रहण समझना चाहिए। फलतः द्रव्य, देवता, यागानुष्ठान का फल और अनुष्ठाता का उक्त वाक्यों में स्पष्ट निर्देश होने से ये याग के विधायक हैं, आलम्भमात्र एवं निर्वाप-मात्र के नहीं।

आलम्भ-वाक्य में वायु देवता का, श्वेत पशु द्रव्य का, भूति फल का और 'आलभेत' पद से यागानुष्ठाता पुरुष के प्रयत्न का स्पष्ट निर्देश है। इसी प्रकार निर्वाप-वाक्य में सूर्य देवता, चरु द्रव्य, ब्रह्मवर्चस फल, एवं 'निर्वपेत्' पद से अनुष्ठाता पुरुष के प्रयत्न का स्पष्ट उल्लेख है। ये याग के प्रयोजक होने से उक्त वाक्य कर्मान्तर के विधायक हैं, यह निश्चित होता है। ✓

इन वाक्यों में द्रव्य, देवता अथवा गुण के आधार पर वाक्यभेद की आशंका करना निराधार होगा, क्योंकि इन वाक्यों में प्रत्येक पद एक-दूसरे के प्रति आकांक्षा रखता है। वाक्य के पूरे अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए किसी पद में औदासीन्य दिखाई नहीं देता, प्रत्येक पद अहमहमिकया अर्थाभिव्यक्ति के लिए दौड़ता-सा दिखाई दे रहा है। भूति की कामनावाला पुरुष वायुदेवतासम्बद्ध श्वेत पशु का आलभन करे, यह पूरा एक अर्थ वाक्य से अभिव्यक्त होता है। इसी प्रकार निर्वाप-वाक्य में समझना चाहिए। ब्रह्मवर्चस फल की कामनावाला पुरुष सूर्यदेवतासम्बद्ध चरु द्रव्य का निर्वाप करे, यह एक अर्थ अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार इन वाक्यों की अपने-आप में एकार्थता स्पष्ट है। देवता के लिए द्रव्य का संकल्प याग के बिना उपपन्न नहीं होता, यह व्यवस्था निश्चायक है कि प्रस्तुत आलम्भ और निर्वाप यागरूप कर्म हैं ॥१४॥

इसी विषय में सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१५॥

[लिङ्गदर्शनात्] उक्त अर्थ के उपपादन में अन्य प्रयोजक हेतु के देखे जाने से [च] भी, प्रकृत आलम्भ-निर्वाप-वाक्यों में कथित विधि यागरूप हैं, ऐसा जाना जाता है।

अन्य प्रयोजक हेतु से भी यह जाना जाता है कि 'वायव्यं श्वेतम्' और 'सौर्यं चरुं' वाक्यों में 'आलभेत' तथा 'निर्वपेत्' पद-विहित आलम्भ और निर्वाप याग-रूप कर्म हैं। तैत्तिरीय संहिता [२।२।१०] में पाठ है—'सोमारौद्रं चरुं निर्वपेत्' —सोम और रुद्र देवतावाले चरु का निर्वाप करे। आगे पाठ है—'परिश्रिते याजयति'—चारों ओर से घिरी वेदि में याग कराता है। यह परिश्रयण है। इस

इस पद का अर्थ है—चारों ओर से घिराव होना। तदनुसार इस परिश्रयण=घिरावरूप विधि—के वाक्य में 'यजति' पद से विधिकथन का सामञ्जस्य तभी हो सकता है, जब इसे यागरूप कर्म माना जाय। यदि इन्हें प्रकृतियाग में गुण का विधायक अथवा यावदुक्त कर्म माना जाता है, तो 'यजति' पद से उसका पुनः कथन उपपन्न नहीं होता; क्योंकि इन दोनों पक्षों से याग होगा ही नहीं। तब 'यजति' पद का प्रयोग क्या प्रमादपाठ ही कहा जायगा ? अतः यह निश्चित जाना जाता है—'आलभेत' और 'निर्वपेत्' पद-घटित कर्म यागरूप हैं; गुणविधि या यावदुक्त कर्म नहीं ॥१५॥ (इति द्रव्यदेवतायुक्तानां यागान्तरताऽधिकरणम्—५)।

(वत्सालम्भादीनां संस्कारताऽधिकरणम्—६)

मैत्रायणी संहिता [१।५।६] के अग्निहोत्र प्रकरणान्तर्गत गोदोहन-प्रसंग में वाक्य है—'वत्समालभते, वत्सनिकान्ता हि पशवः'—बछड़े का स्पर्श करता है, निश्चय ही पशु वत्सप्रिय होते हैं। शिष्य जिज्ञासा करता है—यह वत्सालम्भ गत प्रकरण के समान क्या यागरूप है ? अथवा संस्कारमात्र है ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

विशये प्रायदर्शनात् ॥१६॥

[विशये]—अग्निहोत्र-प्रसंग में श्रुत 'वत्समालभते' यह आलम्भ, 'वायव्यं श्वेतमालभेत' के समान यागरूप है या संस्कारकर्म है, यह—संशय होने पर, समाधान किया—[प्रायदर्शनात्] गोदोहन आदि संस्कारप्राय कर्मों के मध्य 'वत्समालभते' का दर्शन पाठ होने से यह संस्कारकर्म है। तात्पर्य है—इस अवसर पर वत्स का स्पर्शमात्र संस्कार अभीष्ट है।

यागकर्म में देवता का निर्देश आवश्यक है। प्रस्तुत प्रसंग में देवता का श्रवण न होने से यह यागकर्म नहीं। इसका (वत्सालम्भ का) फल भी दृष्ट है। याग का फल अदृष्ट माना जाता है। अतः यह आलम्भ यागकर्म नहीं है; वत्स का संस्कारमात्र है। गाय पशुओं को बछड़ा (या बछड़ी) बहुत प्यारे होते हैं। गोदोहन के समय बछड़े को खूँटे से खोलकर उसपर प्यार से हाथ फेरता हुआ गाय के नीचे थनों में लगाये। उस समय गाय गर्दन टेढ़ी करके बछड़े के पिछले हिस्से को बराबर चाटती रहती है। पुरुष को भी उसके पास बैठकर बछड़े पर प्यार से हाथ फेरते रहना चाहिए। इससे गाय जल्दी दूध उतारती है। जब गाय पसवा जाती है, और गोदोहन-कार्य प्रारम्भ होने को है, तब बछड़े को गाय के आगे बाँध दिया जाय, जिससे गाय उसे प्यार से चाटती रहे। यदि पुरुष पकड़कर बैठता है, तो वह भी प्यार से बछड़े पर हाथ फेरता रहे। इससे गाय प्रसन्न रहती है, गोदोहन

निर्बाध चलता रहता है। वत्स का यह आलभन उसका स्पर्शरूप संस्कार है। इस क्रिया से बछड़ा गाय का दूध उतारने में सहायक होता है ॥१६॥

इसी अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अर्थवादोपपत्तेश्च ॥१७॥

[अर्थवादोपपत्तेः] अर्थवाद की उपपत्ति—समञ्जसता से [च] भी, 'वत्समालभते' वाक्यपठित आलभति क्रिया स्पर्शरूप संस्कारमात्र है, यह निश्चित होता है।

जहाँ 'वत्समालभते' कहा है उसी के साथ 'वत्सनिकान्ता हि पशवः' यह अर्थवाद-वाक्य पठित है। प्रायः सभी पशु वत्सप्रिय होते हैं। वत्सप्रिय होने में गाय सबसे अधिक है। भैंस आदि का बच्चा मर जाय, तो साधारण उपाय से दूध निकाला जा सकता है। पुरुष आदि व्यक्ति के द्वारा भी भैंस सरलता से पसवा जाती है, पर गाय नहीं। ऐसा देखा जाता है कि गाय का बछड़ा मर जाने पर उसे पसवाने के लिए बछड़े की खाल में अन्य भुस आदि पदार्थ भरकर बछड़े की तरह उसे गाय के पास खड़ा कर दिया जाता है, उसे ही वह चाटती रहती है। इस अर्थवाद का सामञ्जस्य उसी अवस्था में उपपन्न होता है, जब 'आलभति' क्रिया का अर्थ स्पर्शमात्र संस्कार किया जाता है। वत्स का आलभन=मारना, अर्थवाद की भावना से नितान्त विपरीत है। इसलिए भी यहाँ आलम्भ=स्पर्शमात्र संस्कार है, यह निश्चित होता है ॥१७॥ (इति वत्सालम्भादीनां संस्कारताऽधिकरणम्—६)।

(नैवारचरोराधानार्थताऽधिकरणम्—७)

पञ्चम अधिकरण में 'आलभेत' और 'निर्वपेत्' की यागरूपता सिद्ध की है। छठा अधिकरण उसका अपवाद है, जिसमें 'वत्समालभते' वाक्यगत आलम्भ का स्पर्शमात्र संस्कार सिद्ध किया गया है। तैत्तिरीय संहिता [५।६।२] के अग्नि-चयन प्रकरण में पाठ है, 'एतत् खलु वै साक्षादन्नं यदेष चरुः, यदेतं चरुमुपदधाति' इसी प्रसंग में आगे '···मध्यत उपदधाति···, बार्हस्पत्यो भवति'—यह साक्षात् अन्न है, जो यह चरु है, इस चरु का उपधान करता है,···मध्य में उपधान करता है,···यह चरु बृहस्पति देवतावाला है।

इस प्रसंग को लक्ष्य कर शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या यह नीवार धान्य से तैयार किया गया चरु याग के लिए है और याग से बचे चरु का उपधान बताता है? अथवा चरु के उपधानरूप संस्कारमात्र का विधायक है? प्रतीत होता है—याग के लिए चरु का विधान है और अवशिष्ट के उपधान का कथन है, क्योंकि चरु की यागार्थता सर्वत्र प्रसिद्ध है। किसी कर्म की यागरूपता के लिए द्रव्य और

देवता का निर्देश आवश्यक होता है। यहाँ प्रसंग के अन्त में अर्थवादरूप से बृहस्पति देवता का निर्देश है। अतः चरु द्रव्य और बृहस्पति देवता दोनों की उपस्थिति से—यह चरु यागार्थ है, अवशिष्ट चरु का उपधान कर दिया जाता है। इससे दोनों (याग और उपधान) का सामञ्जस्य हो जाता है; यह समझना चाहिए।

सूत्रकार आचार्य ने जिज्ञासा का समाधान किया—

संयुक्तस्त्वर्थशब्देन तदर्थः श्रुतिसंयोगात् ॥१८॥

[तु] पद चरु की यागार्थता के निवारण के लिए है; 'चरुमुपदधाति' वाक्य याग के लिए चरु का विधान नहीं करता। [अर्थशब्देन] 'उपदधाति' क्रिया के अर्थ उपधान से [संयुक्तः] संयुक्त है, सम्बद्ध है चरु पद; अतः [तदर्थः] उपधान के लिए है चरु; [श्रुतिसंयोगात्] श्रुति 'उपदधाति' के साथ साक्षात् सम्बद्ध होने से चरु केवल उपधान के लिए जाना जाता है।

'उपधान' का अर्थ है—रखना। अग्निचयन के लिए इष्टका रक्खी जाती हैं, उन्हीं पर अग्निचयन होता है। नीवार जंगली धान्य है, इसे भाषा में नेर या कोदों भी कहते हैं। कोदों 'कदन्न' का अपभ्रंश प्रतीत होता है। जंगल में—अथवा खेतों में बिना बोये—उत्पन्न हुए कई प्रकार के धान्य 'कदन्न' में गिने जाते हैं, उनमें एक नीवार है। इस प्रकार के अन्नों को अनेकत्र साहित्य में 'मुनियों का अन्न' कहा गया है। नीवार से तैयार किया गया चरु अग्निचयन-इष्टकाओं के मध्य रक्खा जाता है–'मध्यत उपदधाति'। यह चरु का संस्कारमात्र है। 'चरुमुपदधाति' वाक्य में चरु का सम्बन्ध सीधा उपधान के साथ है। यहाँ 'यजति' का श्रवण नहीं है। उसकी कल्पना करना भी निराधार होगा; क्योंकि इससे साक्षात् 'चरुमुपदधाति' श्रुतिबोधित अर्थ की बाधा प्रसक्त होगी। अतः साक्षात् श्रुति के साम्मुख्य में कल्पना हेय होगी।

चरु की यागार्थता के लिए बृहस्पति देवता का चरु से सम्बन्ध बताना भी ग्राह्य नहीं है। संहिता में वह कथन केवल अर्थवाद है, चरु की प्रशंसा के लिए। वहाँ याग-निमित्त से द्रव्य-देवता के सम्बन्ध का कोई संकेत नहीं है। इस सब विवेचन के फलस्वरूप निश्चित होता है, उक्त वाक्य चरु के उपधानमात्र संस्कार का विधायक है; चरु की यागार्थता का विधान नहीं करता। फलतः छठा और सातवाँ अधिकरण पञ्चम अधिकरण के अपवाद हैं, यह समझना चाहिए ॥१८॥ (इति नैवारचरोराधानार्थताऽधिकरणम्—७)।

(त्वाष्ट्रपात्नीवतस्य पर्यग्निकरणगुणकत्वाऽधिरणम्—८)

पात्नीवत[1] कर्मविशेष का नाम है। तैत्तिरीय संहिता [६।६।२,६] में इसका विवरण उपलब्ध होता है। उस प्रसंग में इस आशय का लेख है—'त्वाष्ट्रं पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्ति' पर्यग्निकरण संस्कार किए गये त्वष्टा देवतावाले पशु को छोड़ते हैं। इस विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या त्वष्टा देवता-वाले पर्यग्निकृत पशु के उत्सर्ग का यह विधान है ? अथवा त्वाष्ट्र पशुयाग से यह पात्नीवत-कर्म भिन्न याग है ?

सन्देह का कारण त्वाष्ट्र पशु के दो विशेषण हैं—'पर्यग्निकृतम्' और 'पात्नी-वतम्'। जब 'उत्सृजन्ति' क्रियापद से 'पर्यग्निकृतम्' पद सीधा सम्बद्ध किया जाय, तो यहाँ पशु के उत्सर्ग का विधान होगा। जब 'पात्नीवतम्' पद क्रियापद से सीधा सम्बद्ध होता है, तब त्वाष्ट्र पशुयाग से—यह पात्नीवत कर्म—भिन्न याग है, ऐसा जाना जाता है। उस कर्म के अनन्तर उत्सर्ग होगा।

---

१. पात्नीवत कर्म के विषय में आचार्यों के मतभेद का उल्लेख करते हुए मीमांसाशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने जो महत्त्वपूर्ण [पृ० ५७३-७४] टिप्पणी लिखी है, यह कर्म के वास्तविक स्वरूप को सम-झने के लिए आवश्यक होने से अविकल उद्धृत है—

"आचार्यों के मतभेद का मूल—तै० सं० ६।६।६ के 'इन्द्रः पत्निया मनुमयाजयत्, तां पर्यग्निकृतामुदसृजत्' (=इन्द्र ने मनु को पत्नी से याग कराया, उस पत्नी को पर्यग्निकरण के पश्चात् छोड़ दिया)–इस परकृतिरूप अर्थवाद में निहित है। इसमें पत्नी का सम्बन्ध होने से यह कर्म पात्नीवत हुआ। इसी के स्थान में त्वाष्ट्र पशु के आलभन का विधान होने से तत्स्था-नीय त्वाष्ट्र पश्चालम्भ कर्म भी पात्नीवत नाम से जाना जाता है। पत्नी से याग करने पर उसे जिस यूप से सम्बद्ध किया (=पास में बैठाया) उस यूप का नाम भी पात्नीवत हुआ। त्वाष्ट्र पशु के पत्नीस्थानीय होने से त्वाष्ट्र पशु भी पात्नीवत नाम से व्यवहृत हुआ। यतः मनु की पत्नी का पर्यग्निकरण के पश्चात् उत्सर्ग किया गया, अतः तत्स्थानी त्वाष्ट्र पशु का भी उत्सर्ग होता है। तै० सं० निर्दिष्ट वचन अर्थवाद है। **अर्थवादानां स्वार्थे प्रामाण्यं नास्ति** (अर्थवाद-वचनों का स्वार्थ में प्रामाण्य नहीं होता है)–इस मीमांसक सिद्धान्त से—इन्द्र ने मनु को उसकी पत्नी से याग कराया था—यह प्रतीय-मान अर्थ प्रमाणभूत नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि—

वैवस्वत मनु इस पृथिवी का प्रथम शासक हुआ था। राजा पृथिवी का पालक होने से पृथिवीपति कहाता है और पृथिवी राजा की पालिका

प्रतीत होता है, पात्नीवत कर्म त्वाष्ट्र पशुयाग से भिन्न है, क्योंकि त्वाष्ट्र पशु के दो विशेषणों—'पर्यग्निकृतं' और 'पात्नीवतं' का सामञ्जस्य भिन्न कर्म मानने पर सम्भव है। विहित कर्मानुष्ठान के अनन्तर उत्सर्जन हो जायगा। यदि उत्सर्ग का विधान मानकर उत्सर्जन कर दिया जाय, तो 'पात्नीवत' विशेषण निष्फल—व्यर्थ रह जाता है। इसलिए पर्यग्निकृत त्वाष्ट्र पशु के पात्नीवत होने का यह विधान है। वही याग है। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

होने से राजा की पत्नी होती है। इन्द्र ने मनु को···उसकी पत्नी पृथिवी से याग कराया—इसका तात्पर्य है—'इन्द्र ने मनु को पृथिवीरूप पत्नी से संगत किया=मनु को राज्याधिकार दिया।' मनु की पुत्री का नाम इळा था। इळा पृथिवी का नाम भी है। मनु ने प्रजा की समृद्धि के लिए रत्नगर्भा पृथिवी का दोहन किया। अतः इळा=पृथिवी उसकी दुहिता हुई। परन्तु आवश्यक दोहन के पश्चात् उसे छोड़ दिया, जिससे वह रिक्त हुई पुनः समृद्ध हो जावे। प्राचीन राजा लोग पृथिवी से धनधान्य वा रत्नादि की प्राप्ति के लिए उतना ही दोहन करते थे, जिससे उसको क्षति न पहुँचे।"

पशुयागों के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए मीमांसक महोदय का विचार बड़ा उत्तेजक है। पृथिवी का दोहन करनेवाला सर्वाधिक मानव-समुदाय कृषिजीवी-वर्ग है। मानव-जीवन के निर्वाह के लिए सर्वोच्च और सर्वाधिक साधन-सामग्री कृषिजन्य उपज है। इसमें भी उत्खनन अपेक्षित है, पर ऊपरी। कृषि की निर्बाध पूर्णता के लिए गहरा उत्खनन आवश्यक हुआ; लोहे के बिना कृषि सम्भव नहीं। जितना पुराना कृषि-कार्य है, उतना पुराना लोहा है। फिर अन्य धातु व रत्न आदि सामने आ गये। मानव-समाज का समस्त उद्योग इन्हीं दो प्रकार की उपजों पर आधारित है। भारत में कृषि-उपज आदिकाल से गोवंश पर आधारित रही है। दूध और कृषि-उपज के लिए बछड़े गाय की देन हैं। यह सम्भव है, यदि समस्त पशुयागों का कृषि-सम्बन्ध से विचार किया जाय, तो इसकी मूलभूत वास्तविकता सामने आए, क्योंकि कृषि और गोवंश का अपरिहार्य सम्बन्ध भारत में सदा से रहा है। वस्तुतः भूमि को कुरेदने-खोदने का कार्य मुख्य रूप में कृषिजीवी-वर्ग करता है, राजा तो उसका केवल व्यवस्थापक व प्रबन्धक रहता है। कृषक जिस खेत में से एक वर्ष गहरी भारी फ़सल ले लेता है, अगले वर्ष उसे जोतकर खाली छोड़ देता है, यह उसका उत्सर्जन है; इससे भूमि में सूर्य-किरणों और वर्षा-जलों से उर्वरा शक्ति संचित होती है। यही पात्नीवत-कर्म में पशु के उत्सर्जन का रूप है।

पात्नीवते तु पूर्ववत्वाद् अवच्छेदः ॥१९॥

[पात्नीवते] 'पर्यग्निकृतं पात्नीवतं' वाक्य में [तु] तो [पूर्ववत्वात्] पहले वाले कर्म के होने से, अर्थात् 'त्वाष्ट्रं पात्नीवतमालभेत' इस पूर्वनिर्दिष्ट कर्म के ही यहाँ समझे जाने से [अवच्छेदः] उसी पूर्व-कर्म के साथ इसका सम्बन्ध है। उसी का यह अनुवाद है। तात्पर्य है, त्वाष्ट्र पात्नीवत कर्म की ही यहाँ 'उत्सृजति' पद से उत्सर्जनरूप में समाप्ति कही है।

'पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्ति' वाक्य में पात्नीवत कर्मान्तर नहीं है। प्रथम पठित 'त्वाष्ट्रं पात्नीवतमालभेत' वाक्य-विहित त्वष्टा देवतावाले पश्वालम्भ का अनुवाद है। पर्यग्निकृत पशु के उत्सर्जन का विधान है। पशु का आलम्भ- अपेक्षित स्पर्श कर पर्यग्निकरण के अनन्तर उसे छोड़ दिया जाय। इसके मानने पर न तो पात्नीवत के भिन्न कर्म होने की कल्पना करनी पड़ेगी, और न 'उत्सृजन्ति' पदबोधित—पशु के उत्सर्ग का विधानरूप—अर्थ किसी वाक्य से बाधित होगा। इस वाक्य से—पर्यग्निकृत पशु का—पात्नीवत कर्म सम्बद्ध होने का विधान अनावश्यक भी है; क्योंकि पशु का पात्नीवत-सम्बन्ध पहले ही 'त्वाष्ट्रं पात्नीवतमालभेत' वाक्य से विदित है। इस कारण यहाँ उसका पुनः विधान निष्प्रयोजन है। दो विशेषणों से विशिष्ट अर्थ का एक विशेषण से अनुवाद होना दोषावह नहीं है। विशेषण की समानता में अन्यतर विशेषण विशिष्ट अर्थ के अनुवचन में समर्थ रहता है। इसमें किसी बाधा की आशंका निराधार है। इससे निश्चित है, यह वाक्य (—पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्ति) त्वाष्ट्र पात्नीवत वाक्य (त्वाष्ट्रं पात्नीवतमालभेत) का अनुवाद है, कर्मान्तर नहीं ॥१९॥ (इति त्वाष्ट्रपात्नीवतस्य पर्यग्निकरणगुणत्वाऽधिकरणम्—८)।

(अदाभ्यादीनां ग्रहनामताऽधिकरणम्—९)

तैत्तिरीय संहिता [३।३।४] में पाठ है—'एष वै हविषा हविर्यजति, योऽदाभ्यं गृहीत्वा सोमाय जुहोति'—यह निश्चय ही हवि से हवि का यजन करता है, जो अदाभ्य का ग्रहण कर सोम के लिए होम (—याग) करता है। इसी के आगे पढ़ा है—'परा वा एतस्यायुः प्राण एति, योऽशुं गृह्णाति'—इसकी आयु वा प्राण दूर चला जाता है, जो अंशु का ग्रहण करता है। इन वाक्यों के विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या ये अदाभ्य और अंशु इस नाम के ग्रहों में ग्रहणवाले यागान्तर हैं? अथवा ज्योतिष्टोम याग में ग्रहविधि है? प्रतीत होता है, यागान्तर हैं, क्योंकि ज्योतिष्टोम प्रसंग में अदाभ्य अंशु नामवाला कोई याग नहीं है। न कोई ग्रह है, जिससे उसका दुबारा यहाँ स्मरण या अतिदेश किया जाय। इसलिए अदाभ्य और अंशु नामवाले ये भिन्न याग हैं। द्रव्य, देवता

का यहाँ निर्देश न होने पर भी 'यजति' का साक्षात् प्रयोग है, जो इनके याग होने का प्रयोजक है। इसलिये इन वाक्यों द्वारा 'अदाभ्य' और 'अंशु' नामक यागों का विधान माना जाना युक्त होगा। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

अद्रव्यत्वात् केवले कर्मशेषः स्यात् ॥२०॥

[अद्रव्यत्वात्] द्रव्य और देवता का निर्देश न होने से [केवले] केवल नाम-मात्र के सुने जाने पर [कर्मशेषः] ज्योतिष्टोम कर्म के शेष=अङ्ग [स्यात्] हैं, अदाभ्य और अंशु नामक ग्रह।

सूत्र में पठित 'द्रव्य' पद देवता का भी उपलक्षण है। याग वही कर्म माना जाता है, जिसमें द्रव्य, देवता दोनों का निर्देश हो। याग के लिए द्रव्य-देवता का नियत साहचर्य माना जाता है। सूत्र में अपठित भी देवता का—उक्त व्यवस्था-नुसार—द्रव्य पद से ग्रहण हो जाता है। प्रस्तुत वाक्यों में द्रव्य और देवता किसी का भी निर्देश न होने से ये यागान्तर अर्थात् स्वतन्त्र याग नहीं हैं। ज्योतिष्टोम याग सोमयाग का एक भाग (=संस्था) है। ज्योतिष्टोम अनुष्ठान के अवसर पर जिन पात्रों में सोम का ग्रहण किया जाता है, उनका नाम 'अदाभ्य' और 'अंशु' है। फलतः ये वाक्य ज्योतिष्टोम में ग्रहसंज्ञक पात्र-विशेष का विधान करते हैं। पात्र का भेद याग के भेद का प्रयोजक नहीं होता।

इन्हें यागान्तर मानने के लिए 'यजति' प्रयोग की जो बात कही है, वह युक्त नहीं; क्योंकि अदाभ्य और अंशु पद का 'यजति' या 'जुहोति' के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत सीधा सम्बन्ध ग्रह धातु के साथ है—'अदाभ्यं गृहीत्वा' तथा 'अंशुं गृह्णाति'। इससे स्पष्ट होता है, ज्योतिष्टोम के अवसर पर इन पात्रों में सोम ग्रहण किया जाता है। ये वाक्य उसी ग्रहण-क्रिया के विधायक हैं। इन पदों का सम्बन्ध—व्यवधान होने से—'यजति' तथा 'जुहोति' के साथ होना सम्भव नहीं। उक्त वाक्य में पदान्तरों का व्यवधान स्पष्ट है। फलतः 'यजति' के श्रवणमात्र से यागान्तर का विधान नहीं माना जा सकता। 'सोमेन यजेत' अथवा 'सोमाय यजते' में 'यजति' पद का कोई भिन्न अर्थ नहीं है; उभयत्र एक ही अर्थ है। वह प्रकृतियाग में पठित 'सोमेन यजेत' से विदित है। अविदित अर्थ का विधायक वाक्य यागविधि माना जाता है, इसलिए भी यहाँ 'यजति' यागान्तर का विधायक नहीं।

भाष्यकार शबर स्वामी ने सूत्र की अवतरणिका के प्रारम्भ में बताया कि ये वाक्य किसी के प्रकरण में नहीं सुने जाते। तात्पर्य है, किसी प्रकृतियाग का प्रारम्भ करके उसके प्रसंग में इन वाक्यों का उल्लेख हुआ हो, ऐसा नहीं है। परन्तु तैत्तिरीय संहिता में ज्योतिष्टोम के प्रकरण में ही इनका पाठ है। उसमें

नगण्य पाठभेद अवश्य है। परन्तु इससे भाष्यकार के लेख में किसी असांगत्य की उद्भावना करना निराधार होगा। सम्भव है, भाष्यकार ने शाखान्तर में उसी प्रकार पाठ देखा हो, जैसा उल्लेख किया। इससे 'प्रकृत अर्थ' के विवेचन में कोई अन्तर नहीं पड़ता ॥२०॥ (इति अदाभ्यादीनां ग्रहनामताऽधिकरणम्—९)।

(अग्निचयनस्य संस्कारताऽधिकरणम्—१०)

शिष्य जिज्ञासा करता है—अग्नि-कर्मविषयक अनेक वाक्य सुने जाते हैं, तद्यथा—'य एवं विद्वान् अग्निं चिनुते'—'जो इस प्रकार जानता हुआ अग्नि का चयन करता है' इत्यादि का विधान कर आगे कहा—'अथातो अग्निमग्निष्टोमेनैवानुयजति, तमुक्थेन, तमतिरात्रेण, तं षोडशिना।'—इसके अनन्तर अग्नि का अग्निष्टोम से अनुयजन करता है, उसका उक्थ से, उसका अतिरात्र से, उसका षोडशि से, इत्यादि।

यहाँ सन्देह है, क्या यह 'अग्नि' पद ज्योतिष्टोमादि कर्मों से भिन्न अग्नि-संज्ञक कर्मविशेष का वाचक है, जो 'चिनुते' आख्यात से कहा गया है? अथवा द्रव्यविशेष का वाचक होता हुआ ज्योतिष्टोमादि में अग्निरूप गुण का विधान करता है? प्रतीत होता है, अग्नि पद यागविशेष का वाचक है। इसमें हेतु है—अग्नि के स्तोत्र, शस्त्र और उपसद् का होना। '**अग्नेः स्तोत्रम् अग्नेः शस्त्रम्, षड् उपसदोऽग्नेश्चित्यस्य भवन्ति।**'—अग्नि का स्तोत्र है, अग्नि का शस्त्र है, अग्नि-चयन के छह उपसत् होते हैं। ये सब याग के होते हैं; अतः अग्नि पद यागवाचक है। इनकी हेतुता 'अथातोऽग्निमग्निष्टोमेनैवानुयजति' आदि वाक्यों से पुष्ट होती है—अनन्तर इस अग्नि का अग्निष्टोम से अनुयजन करता है, अर्थात् याग को सम्पन्न करता है। अगले वाक्यों में भी 'तम्' सर्वनाम 'अग्नि' को बोधित करता है। इससे प्रतीत होता है, यह अग्निसंज्ञक याग है। इसी मान्यता में 'यजति' के साथ 'अनु' उपसर्ग उपपन्न होता है। तात्पर्य है, अग्नि के याग माने जाने पर ही अग्निष्टोम से किया गया याग अनुयाग हो सकता है। अतः अग्नि को याग मानना युक्त है। शिष्य की भावना को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष-रूप में सूत्रित किया—

अग्निस्तु लिङ्गदर्शनात् क्रतुशब्दः प्रतीयेत ॥२१॥

[अग्निः] उक्त वाक्य में अग्नि पद [तु] तो [लिङ्गदर्शनात्] 'अग्नेः स्तोत्रम्' आदि हेतुओं के देखे जाने से [क्रतु शब्दः] यागवाचक शब्द [प्रतीयेत] प्रतीत होता है, जैसा सूत्र की अवतरणिका में स्पष्ट कर दिया गया है।

'य एवं विद्वान् अग्निं चिनुते' वाक्य तैत्तिरीय संहिता [५।५।२] में उपलब्ध है। भाष्यकार ने अन्य जितने वाक्य उस सम्बन्ध में उद्धृत किए हैं, वे संहिता में

उपलब्ध नहीं। सम्भव है, भाष्यकार ने अन्य शाखाओं के आधार पर ये पाठ दिये हों ॥२१॥

सूत्रकार ने उक्त जिज्ञासा का समाधान किया—

द्रव्यं वा स्याच्चोदनायास्तदर्थत्वात् ॥२२॥

[वा] पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है—अग्नि पद यागवाचक नहीं है। [द्रव्यम्] द्रव्यवाचक [स्यात्] है। [चोदनायाः] 'चिनुते' इस प्रेरणा-पद के [तदर्थत्वात्] अग्नि के लिए होने से। तात्पर्य है, 'चिनुते' आख्यात-पद—अग्नि को चयन से संस्कृत करके स्थापित करता है—इस अर्थ को कहनेवाला होने से।

'अग्नि' पद उक्त वाक्य में प्रसिद्ध दाहक द्रव्य का वाचक है, किसी याग का नहीं। वाक्य में 'चिनुते' यह विधायक आख्यात-पद अग्नि का चयन करने के लिए है—चिनुते=चयन करता है। 'यजति' के अर्थ को कहने में यह असमर्थ है। इष्टकाओं से निर्मित स्थण्डिल पर अग्नि का चयन करना—व्यवस्थापूर्वक स्थापित करना अग्नि का संस्कार है। अग्निचयन के सम्पन्न हो जाने पर अग्निष्टोम याग से यजन करता है,—यह अर्थ 'अथातोऽग्निमग्निष्टोमेनैवानुयजति' से स्पष्ट किया गया है। 'अनुयजति' अनु उपसर्ग 'पश्चात्' अर्थ को कहता है। अग्नि के चयन-संस्कार के अनन्तर अग्निष्टोम से यजन किए जाने का कथन है। फलतः उक्त वाक्य में 'अग्नि' पद याग का वाचक न होकर अग्निष्टोम में अग्निचयनरूप संस्कारगुण का विधान करता है ॥२२॥

उसी अर्थ को सूत्रकार अगले सूत्र से पुष्ट करता है—

तत् संयोगात् क्रतुस्तदाख्यः स्यात्तेन धर्मविधानानि ॥२३॥

[तत्संयोगात्] चयन द्वारा संस्कार किए अग्नि के संयोग से, उस अग्नि में किया जानेवाला [क्रतुः] याग [तदाख्यः] उस नामवाला, अर्थात् अग्नि नामवाला [स्यात्] होता है। [तेन] इस कारण [धर्मविधानानि] उस अग्निसंज्ञक कर्म के धर्मों=विशेषताओं का विधान करते हैं,'अग्नेःस्तोत्रम्' आदि स्तोत्र-शस्त्र-उपसत्। तात्पर्य है, स्तोत्र-शस्त्र-उपसत् उस क्रतु के धर्म हैं, जो चयन द्वारा संस्कृत अग्नि में किए जाने के कारण अग्नि नामवाला है।

इस अधिकरण का सार इस प्रकार समझना चाहिए, 'य एवं विद्वान् अग्नि चिनुते' वाक्य चयन द्वारा अग्नि के संस्कार का विधायक है। इसी कार्य के लिए ईंटों से निर्मित स्थण्डिल=वेदि पर विधिपूर्वक अग्नि की स्थापना करना अग्नि का चयनरूप संस्कार है। प्रत्येक याग इसी संस्कृत अग्नि में किया जाता है। चूल्हे या भाड़ आदि से अग्नि लेकर उसमें याग करना शास्त्रीय विधान के अनुकूल नहीं है। उस संस्कृत अग्नि में जो याग किया जाता है, वह याग भी अग्नि पद से लक्षित

होता है। 'अग्नेः स्तोत्रम्' आदि में अग्नि पद उसी अग्निपदलक्षित क्रतु का बोधक है, दाहरूप अग्नि द्रव्य का नहीं। इसलिए जिज्ञासा-प्रसंग में इन पदों के आधार पर जो बात कही गई है, वह युक्त नहीं है। फलतः स्तोत्र-शस्त्र आदि याग के ही धर्म हैं। अग्नि का चयनरूप संस्कार याग नहीं है ॥२३॥ (इति अग्निचयनस्य संस्कारताऽधिकरणम्—१०)।

(मासाग्निहोत्रादीनां क्रत्वन्तरताऽधिकरणम्—११)

कुण्डपायियों के अयन में पाठ है—'मासमग्निहोत्रं जुहोति, मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते'—महीनाभर अग्निहोत्र होम करता है, महीनाभर दर्शपूर्णमासों से यजन करता है। इस विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—अग्निहोत्र और दर्श-पूर्णमास नियतकाल में होनेवाले कर्म हैं। अग्निहोत्र नित्य प्रातः-सायं किया जाता है; दर्श अमावास्या तिथि में तथा पूर्णमास पौर्णमासी तिथि में किया जाता है। तब क्या ये वाक्य नियतकालिक अग्निहोत्र और दर्श-पूर्णमास में महीनाभर काल-गुण का विधान करते हैं? अथवा ये भिन्न कर्म हैं? प्रतीत होता है, उक्त कर्मों में ये काल-गुण के विधायक हैं; क्योंकि नियतकालिक वाक्यों में यह मास काल-गुण का विधान उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त उक्त कर्म वाक्यान्तरों से विदित हैं, मासभर काल का सम्बन्ध अविदित है, अतः उन्हीं अग्निहोत्र होम और दर्श-पूर्णमास यागों में मासभर काल-गुण का विधान यहाँ मानना चाहिए। सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम् ॥२४॥

[प्रकरणान्तरे] भिन्न प्रकरण में पठित वाक्यों का [प्रयोजनान्यत्वम्] अन्य प्रयोजन है, अर्थात् ये वाक्य, अग्निहोत्रादि वाक्यों से भिन्न कर्म हैं।

कुण्डपायि-अयन नामक क्रतुविशेष है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी [३।१।१३७] में इस क्रतु का 'कुण्डपाय्य' नाम से उल्लेख किया है। वैदिक सूत्र-साहित्य [लाट्या० श्रौ० १०।१२।१३] से ज्ञात होता है, सोम-पान के चमस से हटया अलग कर जो याज्ञिक कूण्डे के समान चौकोर पात्र से यागकाल में सोमपान करते थे, वे कुण्डपाय्य अथवा कुण्डपायी नाम से जाने जाते रहे हैं। उस वर्ग द्वारा प्रस्तुत प्रकरणों में जो मासभर अग्निहोत्र और मासभर दर्श-पूर्णमास के होम-याग का उल्लेख है, वे उस अग्निहोत्र-होम और दर्श-पूर्णमास याग से सर्वथा भिन्न कर्म हैं, जिनका अन्यत्र वैदिक साहित्य में विधान है। इसलिए कुण्डपायियों के वर्ग में पठित वाक्यों का अन्यत्र पठित 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' तथा 'दर्श-पूर्णमासाभ्यां यजेत' वाक्यों से कोई सम्बन्ध न होने के कारण यह समझना नितान्त निराधार है कि कुण्डपाय्य प्रकरण में पठित वाक्य अग्निहोत्र व दर्श-पूर्णमास विधियों में मास-

काल-गुण के विधायक हैं। वस्तुतः वे कर्म अग्निहोत्रादि विधियों से सर्वथा भिन्न कर्म हैं।

इसका मुख्य आधार कुण्डपाय्य प्रकरण में कहा है। वहाँ 'उपसद्भिश्चरित्वा' कहकर 'मासमग्निहोत्रं' आदि पढ़ा है [आप०श्रौत०, २३।१०।८,६]। तात्पर्य है, उपसत्-कर्म करके मास-अग्निहोत्र आदि का अनुष्ठान करना है। परन्तु यह उपसत्-कर्म नियतकालिक अग्निहोत्र तथा दर्श-पूर्णमास में नहीं होता। अतः कुण्डपाय्य प्रकरण में पठित कर्म, नियतकालिक अग्निहोत्रादि से भिन्न हैं ॥२४॥ (इति मासाग्निहोत्रादीनां क्रत्वन्तरताऽधिकरणम्—११)।

(आग्नेयादि काम्येष्टचधिकरणम्—१२)

शिष्य जिज्ञासा करता है—कतिपय वाक्य किसी कर्मविशेष का आरम्भ न करके पढ़े गए हैं, जैसे—'अग्नये पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेद् रुक्कामः [तै० सं० २।२।३]—रुक्=कान्ति की कामनावाला व्यक्ति अग्निदेवतार्थ अष्टाकपाल में संस्कृत हवि का निर्वाप करे। इसी प्रकार अन्य वाक्य है 'अग्नीषोमीयमेकादशकपालं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः' [मै०सं० २।१।४]—ब्रह्मवर्चस की कामनावाला व्यक्ति अग्नि और सोम देवतावाले—एकादश कपाल में संस्कृत—हवि का निर्वाप करे। अन्य वाक्य है—'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः' [तै० सं० २।२।१]—प्रजा की कामनावाला व्यक्ति इन्द्र और अग्नि देवतावाले—एकादश कपाल में संस्कृत—हवि का निर्वाप करे।

यहाँ सन्देह है, क्या ये आग्नेय आदि स्वतन्त्र कर्मान्तर हैं? अथवा दर्श-पूर्णमास में अनुष्ठेय आग्नेय आदि कर्मों में रुक् आदि फलों के विधायक हैं? प्रतीत होता है, ये फलविधि हैं, क्योंकि प्रकृतियाग दर्श-पूर्णमास में विहित आग्नेय आदि प्रथम विदित हैं; उन्हीं का यहाँ अनुवाद कर उनमें फल-सम्बन्ध का यह विधान है। सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

फलं चाकर्मसन्निधौ ॥२५॥

[अकर्मसन्निधौ] कर्मविशेष की समीपता न होने पर, केवल [फलम्] फल-निर्देश [च] भी भिन्न कर्म होने का प्रयोजक होता है।

कर्म-समीपता का तात्पर्य है, कर्म-विधायक पद का होना। प्रस्तुत वाक्यों में कोई कर्म-विधायक पद नहीं है। पर प्रत्येक वाक्य में यथाक्रम रुक् (कान्ति), ब्रह्मवर्चस और प्रजारूप फल का निर्देश है। कर्मविधायक पद के न होने पर भी केवल फल का निर्देश कर्मविशेष का प्रयोजक होता है, क्योंकि फल किसी कर्म का ही सम्भव है। प्रकृतियाग दर्श-पूर्णमास में श्रूयमाण आग्नेयादि कर्मों का यहाँ अनुवाद सम्भव नहीं, क्योंकि कान्ति आदि उनके फल नहीं हैं। इसलिए ये आग्नेय

आदि कर्म उनसे भिन्न हैं।

इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि ये आग्नेयादि कर्म काम्येष्टि हैं। विशेष कामना से इनका अनुष्ठान किया जाता है। कान्ति-कामना से आग्नेय, ब्रह्मवर्चस-कामना से अग्नीषोमीय, प्रजा-कामना से ऐन्द्राग्न। दर्श-पूर्णमास में कहे गये आग्नेय आदि कर्म काम्येष्टि नहीं हैं; वे नियतकालिक नित्यकर्म हैं। कामना कभी होने कभी न होने के कारण अनित्य हैं। नित्यकर्म का अनित्यकर्म-स्थान में अनुवाद कहे जाने का कोई सामञ्जस्य नहीं है। इस प्रकार प्रस्तुत वाक्यों में विशिष्ट फल का निर्देश इस तथ्य का प्रयोजक है कि ये वाक्य—दर्श-पूर्णमास में श्रूयमाण आग्नेयादि कर्मों से—भिन्न कर्म के विधायक हैं ॥२५॥ (इत्याग्नेयादि काम्येष्ट्यधिकरणम्—१२)।

(अवेष्टेरन्नाद्यफलकत्वाऽधिकरणम्—१३)

राजसूय की अङ्गभूत अवेष्टि नामक इष्टि है 'आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति' अग्नि देवतावाला आठ कपालों में पकाया पुरोडाश होता है। उस अवेष्टि का आरम्भ करके कहा—'एतया अन्नाद्यकामं याजयेत्' इससे—अन्नभक्षण में क्षमताप्राप्ति की कामनावाले को—यजन कराये। इस विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या यह 'एतया''''' वाक्यविहित कर्म अवेष्टि याग से भिन्न कर्म है? अथवा अवेष्टि का ही यह फलनिर्देश है? प्रतीत होता है, यह अवेष्टि से भिन्न कर्म है; जैसाकि गत सूत्र में निर्णय किया गया है, फल का निर्देश भी कर्मान्तर का प्रयोजक होता है। सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

सन्निधौ त्वविभागात् फलार्थेन पुनः श्रुतिः ॥२६॥

[सन्निधौ] अवेष्टि कर्म के सामीप्य में पढ़ा गया 'एतया''''' आदि वाक्य [तु] तो [अविभागात्] अवेष्टि-विधायक वाक्य से अलग न होने के कारण [फलार्थेन] फलनिर्देश के प्रयोजन से [पुनः श्रुतिः] अवेष्टि का ही 'एतया' पद से यहाँ पुनः श्रवण होता है।

'आग्नेयोऽष्टाकपालः''''' इत्यादि के रूप में अवेष्टि का आरम्भ करके समीप ही 'एतयाऽन्नाद्यकामं याजयेत्' वाक्य पढ़ा गया है। 'एतत्'-पद समीपस्थ का परामर्श करता है। वह अवेष्टि-याग के लिए कहा गया है। यहाँ उसी के फल=अन्नभक्षण-क्षमताप्राप्ति का निर्देश है। अर्थ होगा—अन्नाद्य कामनावाले के लिए अवेष्टि से याग कराए, इसलिए यह कर्मान्तर न होकर अवेष्टि का ही फलविधि है। इसे अवेष्टि-याग मानने पर अवेष्टि के लिए विहित हविद्रव्यों की उपस्थिति होगी, जो प्रसंग में निर्दिष्ट हैं। यदि इसे कर्मान्तर मानते हैं, तो अन्य हवियों का विधान मानना होगा, जो कहीं उपलब्ध नहीं है। यदि कहीं 'एतत्'-

पद असन्निहित [द्र० २।२।२७] का परामर्शक कहा है, तो वह लाक्षणिक ही समझना चाहिए ।।२६।। (इत्यवेष्टेरन्नाद्यफलकत्वाऽधिकरणम्—१३)

(आग्नेयद्विसक्तेः स्तुत्यर्थताऽधिकरणम्—१४)

दर्श-पूर्णमास यागों के विषय में कहा—'आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति'[1] अग्नि देवतावाला आठ कपालों में संस्कृत हविद्रव्य अमावास्या और पौर्णमासी में छुटा हुआ कभी नहीं रहता; अवश्य हुत किया जाता है। ऐसा विधान कर आगे पुनः कहा—'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति'[2]—आग्नेय अष्टाकपाल अमावास्या में होता है। शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या अमावास्या में दो आग्नेय यागों से यजन करना चाहिए ? अथवा एक बार ही आग्नेय याग करना चाहिए ? दो बार कहे जाने से दो बार किया जाना प्रतीत होता है। शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप से सूत्रित किया—

आग्नेयस्तूक्तहेतुत्वादभ्यासेन प्रतीयेत ।।२७।।

[आग्नेयः] 'आग्नेयोऽष्टाकपालः....' इत्यादि वाक्यविहित आग्नेय याग [तु] तो [उक्तहेतुत्वात्] (२।२।२ सूत्र में कहे गये) हेतु से [अभ्यासेन] अभ्यासरूप से, अर्थात् दो बार किया जाना [प्रतीयेत] प्रतीत होता है।

मीमांसा के [२।२।२] सूत्र में अभ्यास अर्थात् वाक्य के पुनः श्रवण को दो बार यजन का प्रयोजक बताया है; वैसा ही कथन यहाँ है। यदि यजन दो बार नहीं किया जाता, तो कर्म का पुनः-श्रवण यजन के अभाव में व्यर्थ हो जाता है। तात्पर्य है, ये दोनों भिन्न कर्म हैं, एक नहीं ।।२७।।

आचार्य ने जिज्ञासा का आंशिक समाधान किया—

अविभागात्तु कर्मणो[3] द्विरुक्तेर्न विधीयते ।।२८।।

[तु] 'तु' पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिए है—आग्नेय याग का दो बार अभ्यास नहीं करना चाहिए। [कर्मणः] कर्म के [अविभागात्] विभक्त=अलग-अलग न होने से। [द्विरुक्तेः] दो बार कथन से [न विधीयते] विधान दो बार नहीं किया जाता।

---

१. तै० सं० २।५।२ में यह वाक्य बिखरा हुआ मिलता है। इसी आनुपूर्वी में उपलब्ध नहीं।

२. द्रष्टव्य—तै० सं० २।५।३।।

३. 'कर्मणा' क्वाचित्कः पाठः। 'कर्मणो द्विरुक्तो न विधीयेत' पाठ सुबोधिनी वृत्ति में है। अर्थ में कोई अन्तर नहीं। पद-योजना से अर्थ अपनी वास्तविक उसी रेखा के अन्तर्गत आ जाता है, जो स्वीकार्य है।

पूर्वोक्त विभिन्न दो वाक्यों के अनुसार अमावास्या में आग्नेय याग का दो बार अनुष्ठान युक्त नहीं है। यद्यपि वे वाक्य दो हैं—'आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति' तथा 'आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति'। परन्तु इन दोनों का अर्थ एक ही है। यहाँ आग्नेय याग के दो बार अनुष्ठान के लिए कोई विधायक पद नहीं है। दो बार पाठमात्र से यह अर्थ नहीं निकल सकता कि आग्नेय का अमावास्या में दो बार अनुष्ठान किया जाय। वाक्य का जितना प्रतिपाद्य अर्थ है, सौ बार उच्चारण करने पर भी अर्थ उतना ही रहता है। उक्त वाक्यों से दो बार अनुष्ठान किया जाना अर्थ अभिव्यक्त नहीं होता। अतः ये भिन्न कर्म न होकर आग्नेय एक ही कर्म अमावास्या में अनुष्ठेय होता है ॥२८॥

यदि ऐसा है, तो वह प्रथम वाक्य से विहित है; उसी का वाक्यान्तर से पुनः विधान करना निरर्थक है। आचार्य सूत्रकार ने इसका समाधान किया—

अन्यार्था वा पुनः श्रुतिः ॥२९॥

[वा] 'वा' पद अवधारण—निश्चय अर्थ में है। निश्चय ही [पुनः श्रुतिः] आग्नेय याग का पुनः श्रवण [अन्यार्था] अन्य प्रयोजनवाला है।

'आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति' इस वाक्य से विहित जो आग्नेय याग है, उससे भिन्न है वह याग, जो 'आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति' वाक्य से विहित हुआ है। भिन्न कर्म मानने पर इनमें विकल्प की कल्पना की गई कि अमावास्या में अन्यतर=दोनों में से किसी एक—याग से अनुष्ठान करे। इन दोनों का समाधान गत सूत्र में किया गया कि ये आग्नेय भिन्न कर्म नहीं हैं। एक प्रकरण में पठित हैं, तथा जो प्रथम वाक्य से आग्नेय याग अभिहित है, वही द्वितीय वाक्य से कहा गया है, इस प्रत्यभिज्ञा के अनुसार कर्म-भेद का निराकरण किया गया।

वस्तुतः यह आंशिक समाधान है, क्योंकि इसमें यह अन्य जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है कि जब प्रथम वाक्य से आग्नेय याग का विधान हो गया, तब उसी का विधायक अन्य वाक्य निरर्थक हो जाता है। इसी के समाधान के लिए प्रस्तुत सूत्र द्वारा सूत्रकार ने बताया—आग्नेय याग के पुनः श्रवण का प्रयोजन अन्य है, आग्नेय याग का विधान इसका प्रयोजन नहीं है। वह प्रयोजन है—ऐन्द्राग्न याग का स्तुतिरूप अर्थवाद। तात्पर्य है, आग्नेय हविद्रव्य के साथ ऐन्द्र हविद्रव्य भी—अमावास्या में अनुष्ठेय याग में—आहुत होना चाहिए। ऐन्द्र हवि दधि[1] है।

१. द्रष्टव्य—तै० सं० २।५।३ में वृत्रवध के अनन्तर इन्द्र के वृद्ध (=देवता और इन्द्रिय से रहित) हो जाने का निर्देश करके कहा है—"स एतमाग्नेय-

'ऐन्द्राग्न' से तात्पर्य यहाँ 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्' तथा 'स एतमेन्द्राग्न-मेकादशकपालममावास्यायामपश्यत्' आदि वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट इन्द्र और अग्नि देवतावाले यागविशेष से नहीं है। यह आग्नेय याग में—ऐन्द्र हवि के स्तुतिरूप अर्थवाद के साथ आग्नेय हवि में ऐन्द्र हवि के सहभाव का निर्देश करता है। तात्पर्य है, अमावास्या में आग्नेय याग होता ही है, पर अकेले अग्नि हवि से वह समीचीन रूप में सम्पन्न नहीं होता; इन्द्रहवि-सहित अग्निहवि से वह साधु सम्पन्न होता है। पुन: श्रुति का यही प्रयोजन है।

भाद्रमास का उत्तरार्द्ध वर्षा ऋतु के अन्तिम दिन होते हैं। त्याग की भावना याग है। आग्नेय याग में अग्नि का त्याग अभिलषित है। वृत्रवध के अनन्तर आग्नेय याग से इन्द्र (सूर्य) समृद्ध—तीव्र तापयुक्त हो गया है। उसका त्याग अपेक्षित है; उस समय की धूप से बचना चाहिए। पर स्वास्थ्य के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं। ऐन्द्र हवि दधि का भी त्याग हो, तो यह स्वास्थ्य रूप समीचीन होता है। लोक-व्यवहार भी भादों की धूप और भाद्र में दधि को त्याज्य—अनाहार्य बताता है ॥२६॥ (इत्याग्नेयद्विरुक्तेः स्तुत्यर्थताऽधिकरणम्—१४)।

इति जैमिनीय मीमांसादर्शन विद्योदयभाष्ये
द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

मष्टाकपालममावास्यायामपश्यत्, ऐन्द्रं दधि, तं निरवपत्, तेन वै स देवताश्चेन्द्रियं चावारुन्ध। यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति ऐन्द्रं दधि देवताश्चैव तेनेन्द्रियं च यजमानोऽवरुन्धे" पाठ मिलता है। इससे विदित होता है कि आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश का विधान—सान्नाय्य पक्ष में—ऐन्द्र दधि पक्ष में किया है। इसके अनुसार सान्नाय्य पक्ष में अमावास्या-कर्म में इन्द्र के साथ अग्निदेवता के सहभाव के लिए जानना चाहिए। (यु० मी०)

अथ द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः

(यावज्जीवाग्निहोत्राऽधिकरणम्—१)

वैदिक वाङ्मय में पठित 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य सुना जाता है, —जब तक जीवन है, तब तक अग्निहोत्र करे। इसी प्रकार अन्य वाक्य है—'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत'—जीवनपर्यन्त दर्श-पूर्णमास यागों से यजन करे। शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या यह यावज्जीवन किया जाना कर्म का अभ्यासरूप है ? जिज्ञासा का कारण है—'जुहोति, यजेत' पदों के विषय में यह सन्देह है कि इनको अन्य विधिवाक्य का अनुवाद माना जाय ? अथवा स्वयं इन्हें विधिवाक्य माना जाय ? यदि इन्हें अनुवाद माना जाता है, तो अन्य विधिवाक्य से विहित अग्निहोत्र और दर्श-पूर्णमास याग में—ये वाक्य—यावज्जीविकता (यावज्जीवन होना) का विधान करेंगे; तब यावज्जीविकता कर्म का—अभ्यास रूप—धर्म होगा। यदि इन वाक्यों को अग्निहोत्र व दर्श-पूर्णमास के विधायक माना जाता है, तो यावज्जीविकता कर्त्ता का धर्म होगा। कर्त्ता यावज्जीवन अग्निहोत्र एवं दर्श-पूर्णमास का नियमितरूप से अनुष्ठान करे। तात्पर्य है, क्या इन वाक्यों से अग्निहोत्र होम आदि को उद्देश करके यावज्जीविकता का विधान किया जाता है ? अथवा यावज्जीवन को उद्देश करके अग्निहोत्र होम आदि का विधान किया जाता है ? प्रतीत होता है, अग्निहोत्र होम आदि को उद्देश करके उनमें यावज्जीवन गुण के विधायक हैं ये वाक्य। सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को पूर्वपक्ष-रूप से सूत्रित किया—

यावज्जीविकोऽभ्यासः कर्मधर्मः प्रकरणात् ॥१॥

[यावज्जीविकः] 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' में जीवनपर्यन्त होनेवाला [अभ्यासः] अभ्यास=कर्म की आवृत्ति [कर्मधर्मः] अग्निहोत्र कर्म का धर्म है, [प्रकरणात्] अग्निहोत्र प्रकरण में पठित होने से।

यावज्जीवन अग्निहोत्र करने का तात्पर्य है—अग्निहोत्र का अभ्यास, अर्थात् समयानुसार निरन्तर नित्य अग्निहोत्र करते रहना। इस रूप में यह अभ्यास कर्म

का धर्म है, यह स्पष्ट होता है। क्योंकि अग्निहोत्र कर्म ही नित्य किया जाता है, यह उसी का अभ्यास है। इस वाक्य के अग्निहोत्र प्रकरण में पठित होने से उक्त मान्यता को पुष्टि मिलती है। इसी प्रकार दर्श-पूर्णमास का यावज्जीवन अभ्यास समझना चाहिए। इस रूप में यह अभ्यास दर्श-पूर्णमास कर्म का धर्म सम्भव है। जो याग दीर्घकालिक होते हैं, उनको 'सत्र' कहते हैं। उसकी प्रशंसा में कहा जाता है, बुढ़ापा आने तक अथवा मृत्यु आने तक 'सत्र'-संज्ञक यागों का अनुष्ठान किया जाना चाहिए। सत्र के समान ही अग्निहोत्र और दर्श-पूर्णमास की स्तुति की गई है—'जरामर्यं वा एतत् सत्रं यदग्निहोत्रं दर्श-पूर्णमासौ चेति।' यह अर्थवाद दीर्घ-काल तक किये जानेवाले अग्निहोत्र एवं दर्श-पूर्णमास की प्रशंसा करता है। इस कारण यह अभ्यास अग्निहोत्र आदि कर्मों का धर्म समझना चाहिए। फलतः 'यावज्जीवम्' आदि वाक्यों में 'जुहोति, यजेत' पद अन्य विधायक वाक्यों—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' तथा 'दर्श-पूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः' के अनुवाद हैं। उनमें यावज्जीविता गुण का विधान करते हैं ॥१॥

जिज्ञासा का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

कर्त्तुर्वा श्रुतिसंयोगात् ॥२॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिए है, यावज्जीवन अभ्यास कर्म का धर्म नहीं है, [कर्त्तुः] कर्त्ता का धर्म है, [श्रुतिसंयोगात्] श्रुतिबोधित अर्थ के साथ सम्बद्ध होने से।

अग्निहोत्र आदि कर्मों का अभ्यास अर्थात् आवृत्ति कर्त्ता का धर्म है, अग्नि-होत्र की आवृत्ति अग्निहोत्र करनेवाला व्यक्ति करता है। आवृत्ति का विषय अग्निहोत्र अवश्य है, पर आवृत्ति करना कर्त्ता का धर्म है। अग्निहोत्र का सायं-प्रातः नित्य अनुष्ठान ही अग्निहोत्र का अभ्यास व आवृत्ति है, वह धर्म अनुष्ठाता का है। ये वाक्य अग्निहोत्र होम और दर्श-पूर्णमास याग का विधान करते हैं। क्योंकि श्रुति-वाक्य में पठित 'जुहोति' तथा 'यजेत' पदों का अभिधाशक्ति-बोधित अर्थ यही है।

वाक्यों में 'यावज्जीवम्' पद क्रियाविशेषण है। क्रिया के नैरन्तर्य को लक्षणा-वृत्ति से बोधित करते हैं, क्योंकि क्रिया का नैरन्तर्य=अभ्यास 'यावज्जीवं' पद का अभिधाशक्ति-बोध्य अर्थ नहीं है। क्रिया=होम आदि का यह अभ्यास अनुष्ठाता=कर्त्ता के अधीन रहता है। अतः कर्त्ता का वह धर्म है; यदि कर्त्ता क्रिया—होम आदि का अनुष्ठान न करे, तो स्वयं उसका अभ्यास होना असम्भव है।

प्रतिसायं-प्रातः किया जानेवाला अग्निहोत्र एक ही कर्म है। कालभेद कर्म-भेद का प्रयोजक नहीं है; ऐसा नहीं कि सायंकाल का अग्निहोत्र भिन्न कर्म तथा

प्रातःकाल का भिन्न। यदि ऐसा हो तो कर्मविषयक अभ्यास का कथन असंगत होगा। भिन्न कर्मों का कालभेद से अनुष्ठान 'अभ्यास' नहीं कहा जा सकता। एक ही कर्म का पुनः-पुनः किया जाना 'अभ्यास' कहाता है। यही बात दर्श-पूर्णमास में समझनी चाहिए। प्रत्येक अमावास्या में एक ही दर्श-याग का अभ्यास, तथा प्रत्येक पौर्णमासी में एक ही पूर्णमास-याग का अभ्यास होता है। अतः प्रथम वाक्य अग्निहोत्र होम का विधायक होते हुए उसमें कर्मभेद का प्रयोजक नहीं है। इसी प्रकार दर्श-पौर्णमास यागों के विषय में समझना चाहिए।

'जरामर्य' अर्थवाद सूत्र के समान दीर्घकालिक होने से अग्निहोत्र व दर्श-पूर्णमास कर्मों की स्तुति करता है; पर उससे यह सिद्ध नहीं होता कि 'यावज्जीवं आदि वाक्य अनिहोत्र होम और दर्श-पूर्णमास याग के विधायक नहीं हैं। फलतः कर्मों का अभ्यास कर्त्ता का धर्म है, यह स्पष्ट होता है ॥२॥

यावज्जीवन अभ्यास कर्म का धर्म नहीं है, इसकी पुष्टि के लिए सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

लिङ्गदर्शनाच्च कर्मधर्मे हि क्रमेण नियम्येत तत्रानर्थकमन्यत् स्यात् ॥३॥

[लिङ्गदर्शनात्] अन्य हेतु के देखे जाने से [च] भी 'यावज्जीवन' वाक्य-बोधित कर्माभ्यास कर्त्ता का धर्म जाना जाता है। [हि] क्योंकि [कर्मधर्मे] कर्म का धर्म मानने पर यावज्जीविता = जीवनपर्यन्त होना [प्रक्रमेण] कर्म के प्रारम्भ से लगाकर अन्त तक [नियम्येत] नियमित होने से नियन्त्रित रहेगा, कर्म आवश्यक रूप से होगा [तत्र] उस दशा में [अन्यत्] कर्म के उल्लंघन में कथित प्रायश्चित्त [निरर्थकम्] व्यर्थ [स्यात्] हो जाता है।

तैत्तिरीय संहिता [२।२।५] में पाठ है—**'अव वा एष सुवर्गाल्लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी सन्नमावास्यां वा पौर्णमासीं वाऽतिपादयति'**—वह यजमान निश्चय ही स्वर्गलोक से च्छिन्न हो जाता है = कट जाता है, अर्थात् स्वर्गलोक का अधिकारी नहीं रहता, जो दर्शपूर्णमासयाजी होकर अमावास्या एवं पौर्णमासी का अतिपाद—त्याग करता है; याग किये बिना छोड़ देता है। यावज्जीवन किये जाने को कर्म का धर्म मानने पर अग्नि का आधान होने के साथ ही प्रारम्भ होकर यावज्जीवन-काल से ही सम्पन्न होगा। उसमें काल का उल्लंघन, अर्थात् अमावास्या व पौर्णमासी का बिना याग छूट जाना होगा ही नहीं। तब तैत्तिरीय वाक्य में याग के उल्लंघन से कथित प्रायश्चित्त निरर्थक होगा। तात्पर्य है, कर्म का धर्म मानने पर कर्म काल का त्याग नहीं कर सकता। कर्म कर्त्ता के अधीन है; कर्त्ता कर्म के करने, न करने, तथा अन्यथा करने में समर्थ रहता है। इसलिए कर्त्ता का धर्म मानने पर कर्म-काल का उल्लंघन तथा उस कारण प्रायश्चित्तीय

होना कर्त्ता के लिए समञ्जस है। अतः प्रायश्चित्त-विधान निरर्थक नहीं रहता। यह इस वास्तविकता का प्रयोजक है कि यावज्जीवन कर्माभ्यास कर्त्ता का धर्म है, कर्म का नहीं ॥३॥

उक्त अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

व्यपवर्गञ्च दर्शयति कालश्चेत् कर्मभेदः स्यात् ॥४॥

[व्यपवर्गम्] विशेष कर्म के अपवर्ग = समाप्ति, तथा [च] पद से कर्मान्तर के आरम्भ को [दर्शयति] दिखाता है। [चेत्] यदि [कालः] यावज्जीव काल उद्देश्य होता है, तो वह [कर्मभेदः] वाक्य-बोधित कर्मभेद [स्यात्] उपपन्न होता है।

तैत्तिरीय संहिता [२।५।६] में पाठ है—**'यो दर्शपूर्णमासाविष्ट्वा सोमेन यजते'** इत्यादि—जो दर्श-पूर्णमास यागों को करके सोम से यजन करता है। इस वाक्य में दर्श-पूर्णमास को समाप्त कर, कर्मान्तर सोमयाग के करने का निर्देश है। यह कर्मभेद का निर्देश उसी अवस्था में उपपन्न होता है, जब विचार्यमाण उक्त 'यावज्जीव' वाक्यों में यावज्जीव को उद्देश कर अग्निहोत्र और दर्श-पूर्णमास का विधान माना जाता है। इस मान्यता में 'यावज्जीव' कर्म का धर्म न होकर कर्त्ता का धर्म रहता है। यदि इसे कर्म का धर्म माना जाता है, तो तैत्तिरीय संहिता में उक्त कर्मभेद का निर्देश उपपन्न नहीं होता; क्योंकि यावज्जीव कर्म की समाप्ति जीवन की समाप्ति के साथ सम्भव है। तब दर्श-पूर्णमास की समाप्ति [दर्शपूर्णमासाविष्ट्वा] दिखाकर कर्मान्तर सोमयाग के आरम्भ का निर्देश असंगत होगा, क्योंकि दर्श-पूर्णमास कर्म तो यावज्जीवन में समाप्त होना है। यदि कर्त्ता का धर्म 'यावज्जीव' माना जाता है, तो यह आपत्ति नहीं होती; क्योंकि कर्त्ता नियत समय पर दर्श आदि का अनुष्ठान कर कर्मान्तर का अनुष्ठान भी कर सकता है। फलतः तैत्तिरीय संहिता का उक्त वाक्य 'यावज्जीव' के कर्तृधर्म का प्रयोजक है।

कर्म दो प्रकार के होते हैं—एक काम्य कर्म, दूसरे नियत कर्म अर्थात् नित्य कर्म। कामना से किये जानेवाले कर्म पहले, और नियमित रूप से किये जानेवाले कर्म दूसरे हैं। मैत्रायणी संहिता [३।६।६] में पाठ है—**"आहिताग्निर्वा एष सन् नाग्निहोत्रं जुहोति न दर्शपूर्णमासौ यजते, तद् या आहुतिभाजो देवतास्ता अनुध्यायिनीः करोति"**—जो यह यजमान आहिताग्नि होकर न अग्निहोत्र होम करता है, न दर्श-पूर्णमास यजन करता है, वह उन देवताओं को अनुध्यायिनी करता है, जो आहुतिभाक् हैं। तात्पर्य है, अग्निहोत्र और दर्श-पूर्णमास से जिन देवताओं को आहुति प्राप्त होनी होती है, अग्निहोत्रादि न करने पर उन देवताओं को—यह स्थिति—हमें आहुति मिलेगी—ऐसा चिन्तन करनेवाली बना देती

है। संहिता का यह अनुध्यायिनी कथन उसी अवस्था में उपपन्न होता है, जब अग्निहोत्र और दर्श-पूर्णमास को नियत (=नित्य) कर्म माना जाता है। 'यावज्जीवं' वाक्यों में यदि होम-याग को उद्देश करके यावज्जीवन काल का विधान माना जाता है, तो ये वाक्य काम्य कर्मों की कोटि में आ जाते हैं—काल की कामना से होम-याग का अनुष्ठान होना। काम्यपक्ष में कामना न होने पर कर्म का आरम्भ न करके, अथवा जब तक इच्छा हुई तब तक कर्म करके इच्छा न रहने पर छोड़ देने से भी कर्म का त्याग सम्भव है। ऐसी स्थिति में अनियत आहुति-भाग का देवता—यह हमारा भाग होगा—ऐसा अनुध्यन नहीं करता। इसलिए 'यावज्जीवं' वाक्यों में यावज्जीवन को उद्देश करके अग्निहोत्र और दर्श-पूर्णमास के अनुष्ठान का विधान है, यह निश्चित होता है।

इसी प्रकार 'जरामर्यं वा' इत्यादि वाक्य में—अग्निहोत्र और दर्श-पूर्णमास सत्रों के अनुष्ठान से छुटकारा—बुढ़ापा या मृत्यु होने पर ही सम्भव है, यह अवधारणात्मक कथन उक्त कर्मों को नियत कर्म माने जाने पर ही उपपन्न होता है। काम्य कर्म चाहे जब छोड़े जा सकते हैं, उनके लिए ऐसा अवधारण कथन उपेक्षित नहीं। अतः उक्त वाक्यों में नियत अग्निहोत्र व दर्श-पूर्णमास का विधान मानना युक्त है ॥४॥

इसी अन्तिम उपपत्ति को सूत्रकार ने अग्रिम सूत्र से स्वयं स्पष्ट किया—

अनित्यत्वात्तु नैवं स्यात् ॥५॥

सूत्र का 'तु' पद अन्वाचय अर्थ में है। मुख्य अर्थ को कहकर उसके साथ गौण अर्थ को जोड़ देना 'अन्वाचय' है, यह समुच्चय का साथी है। [अनित्यत्वात्] 'यावज्जीवं' को कर्म का धर्म मानने पर उसके काम्य कोटि में आने से, अनित्य होने के कारण [तु] भी [एवम्] 'जर्रामर्य वाक्य में कहा' ऐसा अवधारण उपपन्न [न] नहीं [स्यात्] होता।

'जरामर्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च, जरया ह वा एताभ्यां निर्मुच्यते मृत्युना च' [श० ब्रा० १२।४।१।१]—अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास सत्र जरामर्य हैं, इनके अनुष्ठान से छुटकारा तभी होता है, जब या तो बुढ़ापा=अत्यन्त शारीरिक शैथिल्य आ जाय, या फिर मरण हो जाय। ये नित्य कर्म हैं। मनु [२।१०६] ने बताया—'नैत्यके नास्त्यनध्यायः' नित्य कर्म में अनध्याय नहीं होता। यथासमय उनका अनुष्ठान निरन्तर होना ही चाहिए। कर्मानुष्ठान का यह अवधारण उसी अवस्था में उपपन्न हो सकता है, जब 'यावज्जीवं' वाक्यों में काल (सायं-प्रातः अमावास्या-पौर्णमासी) को उद्देश कर अग्निहोत्र होम और दर्श-पूर्णमास का विधान माना जाता है। यदि इसके विपरीत अग्निहोत्र व दर्श-पूर्णमास को उद्देश करके उक्त वाक्यों में काल (अमावास्या आदि) का विधान

न माना जाय, तो उसके काम्य होने से कामना के न होने पर वह अनित्य होगा; अर्थात् अनुष्ठान उपेक्षित हो जायगा। तब जरामर्य वाक्य में निर्दिष्ट अनुष्ठान का यावज्जीवन अवधारण अनुपपन्न होगा। इससे ज्ञात होता है, जरामर्य-वचन यावज्जीविका को कर्त्ता का धर्म माने जाने का प्रयोजक है। यह मुख्य अर्थ गत सूत्रों (२–४) द्वारा कह दिया गया है, उसी में प्रस्तुत सूत्र से जरामर्य-वाक्य-बोधित प्रयोजक प्रसंग को जोड़ दिया गया है। सूत्रगत 'तु' पद का यही प्रयोजन है।

मान लीजिए, 'यदि यावज्जीवं' वाक्यों में काल [अमावास्या आदि] गुण का विधान है, तो काल की कामना से विधि होने के कारण ये काम्य कर्म होंगे। काम्य कर्म अनित्य होते हैं, कामना के अभाव में उनका प्रयोग नहीं होता। इन वाक्यों के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा वाक्य उपलब्ध नहीं है, जो अग्निहोत्र होम और दर्श-पूर्णमास यागों को नित्यविधि बतानेवाला हो। ऐसी अवस्था में 'जरामर्य' वचन नितान्त निरर्थक हो जायगा। इसलिए 'यावज्जीवं' वाक्यों को गुणविधि मानना उपयुक्त है ॥५॥

उक्त अर्थ की परिपुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य उपोद्बलक हेतु प्रस्तुत किया—

विरोधश्चापि पूर्ववत् ॥६॥

[च] और यावज्जीविका को कर्म का धर्म मानने पर [विरोधः] विरोध [अपि] भी [पूर्ववत्] पहले के समान प्राप्त होता है।

इसपर भी ध्यान देना आवश्यक है कि पूर्वोक्त अग्निहोत्र और दर्श-पूर्णमास का—'यावज्जीवं' वाक्यों को—गुणविधि मानकर यावज्जीविता को कर्म का धर्म माना जाता है; तो दर्श-पूर्णमास के विकृतियाग सौर्यादि इष्टियों में भी यावज्जीवन अनुष्ठान की प्राप्ति होगी। 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'—प्रकृति के समान विकृति में क्रिया की जानी चाहिए, इस व्यवस्था के अनुसार दर्श-पूर्णमास के यावज्जीवन अनुष्ठान का विधान सौर्यादि इष्टियों के लिए भी मान्य होगा। परन्तु सब इष्टियों का यावज्जीवन अनुष्ठान किया जाना अशक्य है; क्योंकि शास्त्र में इन्हें यावज्जीवन अनुष्ठान के अयोग्य माना गया है, क्योंकि ये काम्य इष्टियाँ हैं। कामना के न होने पर इनका त्याग सम्भव है। इसलिए सौर्यादि इष्टियों का यावज्जीवन अनुष्ठान का विधान शास्त्रविरुद्ध है। फलतः 'यावज्जीवं' वाक्यों में यावज्जीवन को कर्म का धर्म न मानकर कर्त्ता का धर्म मानना युक्त है ॥६॥

अधिकरण का उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने कहा—

कर्त्तुस्तु धर्मनियमात् कालशास्त्रं निमित्तं स्यात् ॥७॥

[कर्त्तुः] कर्त्ता के [धर्मनियमात्] धर्मनियम से [तु] तो [कालशास्त्रम्] काल की अवधि का विधायक शास्त्र, अग्निहोत्रादि के अनुष्ठान का [निमित्तम्] निमित्त—प्रयोजक [स्यात्] है।

कर्त्ता यजमान आहिताग्नि होकर धर्मानुष्ठान के लिए प्रतिज्ञा करता है—समस्त जीवन अग्निहोत्र दर्श-पूर्णमास धर्मों का नियमपूर्वक यथासमय अनुष्ठान करता रहूँगा। 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति, यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' यह 'कालशास्त्र' है—काल की अवधि का निर्देश करनेवाला शास्त्र। यह कालावधिनिर्देश किस कार्य के लिए है? इसका प्रयोजन क्या है? उत्तर है, यह अग्निहोत्रादि धर्मानुष्ठान के लिए है। धर्मानुष्ठान का यह (जीवनकाल) निमित्त है। जब तक जीवन है, तब तक धर्मानुष्ठान है। जीवन न रहे, तो धर्मानुष्ठान भी न होगा। धर्मानुष्ठान करनेवाले कर्त्ता का यह धर्म है। यावज्जीवन कर्तृधर्म है। 'यावज्जीवं' वाक्यों में, यावज्जीवन को उद्देश्य बनाकर—लक्ष्य बनाकर—अग्निहोत्र और दर्श-पूर्णमास का कर्त्तव्यरूप से विधान किया गया है। जीवन के निमित्त होने पर कर्म-धर्म का विधान किया जाता है। वहाँ प्रत्येक प्रयोग पर कर्म समाप्त हो जाता है। इस स्थिति में व्यपवर्ग—अर्थात् एक कर्म की समाप्ति और अन्य का आरम्भ—भी उपपन्न होता है। फलतः 'यावज्जीवं' कर्त्तृधर्म है, यह निश्चित होता है ॥७॥ (इति यावज्जीविकाग्निहोत्राऽधिकरणम्—१)

(सर्वशाखाप्रत्ययैककर्मताऽधिकरणम्—२)

अग्निहोत्र आदि नित्यकर्म हैं, यह निश्चित हो जाने पर शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या अग्निहोत्र आदि कर्म प्रत्येक शाखा में एक ही है? अथवा शाखाभेद से कर्मभेद है? प्रतीत होता है, शाखाभेद से कर्मभेद होना चाहिए, अन्यथा शाखाभेद व्यर्थ है। आचार्य ने शिष्य-जिज्ञासा को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनप्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनाच्छाखान्तरेषु कर्मभेदः स्यात् ॥८॥

[नाम-रूप-धर्मविशेष-पुनरुक्ति - निन्दा-अशक्ति-समाप्तिवचन-प्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनात्] (१) नाम, (२) रूप, (३) धर्मविशेष, (४) पुनरुक्ति, (५) निन्दा, (६) अशक्ति, (७) समाप्तिवचन, (८) प्रायश्चित्त, (९) अन्यार्थदर्शन हेतुओं से [शाखान्तरेषु] भिन्न शाखाओं में [कर्मभेदः] कर्म का भेद [स्यात्] है।

काठक, कालापक, पैप्पलादक, तैत्तिरीय, मैत्रायणी आदि अनेक शाखा देखी जाती हैं। इनमें सन्देह होता है, एक शाखा में जो अग्निहोत्र आदि कर्म विहित हैं,

क्या शाखान्तर में भी वही कर्म हैं ? अथवा शाखाभेद से कर्म का भेद है ? निम्नांकित हेतुओं के आधार पर शाखाभेद से कर्म का भेद मानना युक्त होगा—

(१) **नामभेद**—एक काठक का कर्म है, एक कालापक शाखा का। इस प्रकार शाखा के नामभेद से कर्म का भेद होता है। काठक, कालापक आदि केवल ग्रन्थों के नाम हैं, कर्मों के नहीं,—यह कहना ठीक न होगा, क्योंकि ये कर्मों के भी नाम हैं। यह काठक अग्निहोत्र है, यह कालापक अग्निहोत्र, आदि व्यवहार शास्त्र एवं लोक में प्रत्यक्ष है।

(२) **रूपभेद**—इससे कर्मभेद होता है। यह कर्म के स्वरूप का भेद है। एक शाखा में पढ़ा है—**'अग्नीषोमीयमेकादशकपालं··· प्रायच्छन्'**—अग्नि-सोम देवता वाला पुरोडाश एकादश कपाल में संस्कृत कर प्रयोग में लाया जाता है। अन्य शाखा में 'द्वादश कपालं' पढ़ा जाता है। वह पुरोडाश बारह मृत्पात्रों में संस्कृत किया जाना चाहिए। इससे प्रतिशाखा कर्म का भेद स्पष्ट होता है।

(३) **धर्मविशेष**—इसका अर्थ है—आचरण में भेद। वृष्टि की कामना से किये जानेवाले याग का नाम 'कारीरी' है। कारीरी इष्टि का अध्ययन करने के दिनों में तैत्तिरीय शाखा के छात्र भूमि पर बैठकर भोजन करते हैं; अन्य शाखा-वाले ऐसा आचरण नहीं करते। इसी प्रकार अग्निचयन का अध्ययन करते समय किन्हीं शाखावाले छात्र उपाध्याय के लिए घड़ों में जल भरकर लाते हैं, अन्य शाखावाले ऐसा आचरण नहीं करते। ऐसे ही अश्वमेध का अध्ययन करनेवाले कुछ लोग अश्व के लिए घास लाते हैं, और इसे अपने कार्य में उपकारक होने की अभिलाषा रखते हैं; दूसरे लोग अन्य धर्म का आचरण करते हैं। यदि प्रत्येक शाखा में कर्म एक-समान हों, तो ऐसा आचरणभेद नहीं हो सकता। अतः शाखा-भेद से कर्मभेद मानना युक्त है।

(४) **पुनरुक्ति**—यदि सब शाखाओं में पढ़ा गया कर्म एक हो, तो एक शाखा में विहित कर्म का शाखान्तर में कथन होना पुनरुक्त होगा। पुनरुक्त वाक्य निरर्थक होता है। शाखाशास्त्र को निरर्थक कहना युक्त न होगा। अतः प्रत्येक शाखा में कर्म का कथन कर्म के भेद का साधक है।

(५) **निन्दा**—निन्दावचन विभिन्न शाखाओं में कर्मभेद के बोधक हैं। अनुदित होम = सूर्योदय से पहले किये जानेवाले अग्निहोत्र होम की निन्दा में निम्न सन्दर्भ उपलब्ध है—

प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम्।
दिवाकीर्त्यमदिवा कीर्तयन्तः सूर्यो ज्योतिर्न तदा ज्योतिरेषाम्॥

सवेरे-सवेरे वे झूठ बोलते हैं, जो सूर्य निकलने से पहले अग्निहोत्र होम करते हैं। जो दिन में बोलना चाहिए—'सूर्यो ज्योतिः' उसे दिन निकलने से पहले रात

में बोलते हैं, तब इनकी सूर्यज्योति नहीं होती।

अन्य शाखावाले उदित होम = सूर्योदय के अनन्तर होनेवाले अग्निहोत्र—की निन्दा करते हैं। कहते हैं—

यथाऽतिथये प्रद्रुतायान्नमाहरेयुस्तादृक् तद् यदुदिते जुहृति'—सूर्योदय के अनन्तर होम करनेवालों का कार्य ऐसा ही है, जैसे घर में आकर लौट गये अतिथि के लिए अन्नप्रदान का प्रयास करना। ये निन्दावचन उसी अवस्था में उपपन्न हो सकते हैं, जब प्रतिशाखा कर्मभेद माना जाय।

(६) **अशक्ति**—समस्त शाखाओं में प्रकृति, विकृति, अङ्ग, उपाङ्ग आदि रूप में जो कर्मों का विधान किया गया है, यदि वह अभिन्न है, एक है, तो उसका एकत्र संग्रह करके अनुष्ठान करना किसी भी व्यक्ति की शक्ति से बाहर है। ऐसे अशक्य = अव्यवहार्य कर्म का विधान व्यर्थ होगा। फलतः प्रतिशाखा कर्मभेद मानना युक्त है।

(७) **समाप्तिवचन**—समान नामवाले कर्म में उसके विभिन्न अंशों पर समाप्ति का कथन कर्म के अभेद का बाधक है। एक शाखावाले कहते हैं—हमारा अग्निचयन-कर्म यहाँ समाप्त होता है। अन्य शाखावाले समाप्ति अन्यत्र बताते हैं। किसी एक कर्म की समाप्ति प्रक्रिया के दो अवसरों पर नहीं हो सकती। समाप्तिभेद के कथन से कर्म का भेद ज्ञात होता है। एक ही कर्म दो जगह समाप्त हो, यह सम्भव नहीं।

(८) **प्रायश्चित्त**—किसी एक शाखावाले अनुदित होम के समय पर न किये जाने की स्थिति में प्रायश्चित्त का विधान करते हैं। अन्य शाखावाले उदित होम के विषय में ऐसा कहते हैं। कर्म यदि विधि-अनुसार समय पर नहीं किया जाता है, तो उसके लिए प्रायश्चित्त का कथन है। प्रायश्चित्त तभी किया जाता है, जब किसी कर्म के अनुष्ठान में कोई न्यूनता या अन्य दोष हो जाय। ऐसी स्थिति—उदित-अनुदित होम आदि को सब शाखाओं में एक मानने पर सम्भव नहीं, क्योंकि सर्वत्र कर्म के अभेद में अग्निहोत्र के उदित और अनुदित दोनों काल विहित होते हैं। तब प्रायश्चित्त क्यों? इससे ज्ञात होता है, उदित अग्निहोत्र होम भिन्न है और अनुदित अग्निहोत्र होम भिन्न। कर्म का भेद मानने पर अग्निहोत्र के दोनों प्रकारों में—विधि-अनुसार अनुष्ठान करने पर—प्रायश्चित्त का विधान उपपन्न होता है।

(९) **अन्यार्थदर्शन**—इसका तात्पर्य है, किसी एक शाखा या ब्राह्मण में जो बात कही है, अन्य शाखा आदि में उससे भिन्न बात का कहना। वैदिक[1] वाङ्मय

१. द्रष्टव्य—निदानसूत्र, ५।१३।२३ (यु० मी०)। वहाँ पाठ है—**'अथापि ब्राह्मणमेव भवति—तेषां ये पुरस्ताद्दीक्षाणाः स्युर्यस्तु वैषां गृहपतिरिति।'**

में सन्दर्भ है—**'यदि पुरा दिदीक्षाणाः स्युः, यदि वा एषां गृहपतिः, गृहपतेर्वाऽनु-सत्रिण इति, त एनमेव बृहत्सामानं क्रतुमुपेयुः, उपेतं ह्येषां रथन्तरम्। अथ यदि अदिदीक्षाणाः'**—यदि सत्रयाजी गृहपति एवं उसके अनुयायी सब यजमान पहले से दीक्षित हो चुके हैं, तो वे इस 'बृहत्सामा' क्रतु का अनुष्ठान करें; क्योंकि इनका 'रथन्तरसामा' क्रतु अनुष्ठित किया जा चुका है। यदि प्रथम दीक्षित नहीं हुए हैं, तो रथन्तरसाम का अनुष्ठान करते हैं।

द्वादशाह (बारह दिन में सम्पन्न होनेवाले) सत्र ज्योतिष्टोम के पृष्ठसंज्ञक स्तोत्र में समुच्चयरूप से रथन्तरसाम और बृहत्साम का प्रयोग होता है। ये दोनों साम ज्योतिष्टोम के अङ्ग हैं। उक्त सन्दर्भ में बताया गया कि सत्रयाजी यजमान प्रथम दीक्षित है, अथवा अदीक्षित है, इस सत्र के अनुष्ठान का अधिकारी है। यह एक बात कही गई।

ताण्डक ब्राह्मण में बताया—**'एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञाना यज्ज्योतिष्टोमः, य एतेनानिष्ट्वाऽन्याऽन्येन यजेत, गर्त्तपत्यमेव तज्जायेत, प्र वा मीयते'**—यज्ञों में प्रथम यज्ञ यही ज्योतिष्टोम है; इससे यजन न करके जो अन्य-अन्य से यजन करता है, वह गड्ढे में गिर जाने के समान है, अथवा मर जाने के समान। यह नियम सर्वत्र ज्योतिष्टोम से प्रथम यजन करना स्थिर करता है। यह दूसरी बात है, अर्थात् पहले कथन से अन्य अर्थ का कथन है। इसके अनुसार अदीक्षित यज-मान का द्वादशाह सत्र में अनुष्ठान के लिए उपस्थित होना उपपन्न नहीं होता। इसकी उपपत्ति व सामञ्जस्य के लिए आवश्यक है, प्रत्येक शाखा में कर्म का भेद माना जाय। इससे ताण्डक शाखा का नियम उसी शाखावालों के लिए लागू होगा। तब इन दोनों कथनों में अनुपपत्ति या असामञ्जस्य की कोई आशंका न रहेगी।

सूत्रकार ने प्रतिशाखा कर्मभेद की सिद्धि के लिए उक्त नौ हेतु प्रस्तुत किये हैं। परन्तु भाष्यकार शबर स्वामी ने भाष्य में यहाँ पाँच अन्य हेतुओं का कर्मभेद की सिद्धि के लिए उल्लेख किया है। प्रतीत होता है, सूत्रकार ने 'अन्यार्थदर्शनम्' हेतु में इनको अन्तर्हित मानकर पृथक् निर्देश नहीं किया। क्योंकि आगे समाधान-सूत्रों में समाधान की दृष्टि से इनका उल्लेख है। इसी भावना से भाष्यकार ने पूर्वपक्षरूप में उनका यहाँ स्पष्ट निर्देश कर दिया है।

(१०) **अन्यार्थदर्शन** (क)—प्रतिशाखा कर्मभेद का अन्य उपोद्बलक हेतु है, सुपर्ण अथवा श्येन याग के अग्निचयन-सम्बन्धी कर्मविशेष में ग्यारह यूपों की स्थापना का अन्तराल-परिमाण, अर्थात् यूपों के अन्तराल की नाप। इस याग में ग्यारह पशुओं को बाँधने के लिए ग्यारह यूप गाड़े जाते हैं। सुपर्णयाग का अग्नि-**स्थण्डिल** (=वेदि) पंख फैलाये श्येन की आकृति के समान होता है। उस स्थण्डिल पर ग्यारह यूप गाड़ने के स्थान और उनके अन्तराल के विषय में वैदिक

वाङ्मय के लेख परस्पर भिन्न हैं, जो प्रतिशाखा कर्मैक्य के बाधक हैं।

मैत्रायणी संहिता [३।४।८] में पाठ है—**'यत्पक्षसंमिता मिनुयात् कनीयांसं यज्ञक्रतुमुपेयात् कनीयसीं प्रजां कनीयसः पशून् कनीयोऽन्नाद्यं, पापीयान् स्यात्। अथ यद्वेदिसंमितां मिनोति ज्यायांसं चिनुते ज्यायांसमेव यज्ञक्रतुमुपैति भूयसीं प्रजां भूयसः पशून् भूयोऽन्नाद्यम्।'**

एकादशिनी इष्टि में यजमान यदि फैले पंखों के समानस्थल में यूपों की नाप स्थापित करता है, तो छोटे क्रतु को, छोटी प्रजा को, छोटे पशुओं को, छोटे अन्नाद्य को एवं पाप को प्राप्त होता है। पर यदि वेदि के समानस्थल में यूपों की नाप स्थापित करता है, तो बड़े क्रतु को, बड़ी प्रजा को, बड़े (—बहुत) पशुओं को, पर्याप्त अन्नाद्य को प्राप्त होता है।[1] इस सन्दर्भ में पक्षसम्मित मान (—नाप) का निन्दापूर्वक प्रतिषेध कर वेदिसम्मित मान को स्तुतिपूर्वक स्वीकारा है। ये ग्यारह यूप-स्थापना के परस्पर विरुद्ध लेख, प्रतिशाखा कर्म-भेद के द्योतक हैं।

अन्य शाखावाले पढ़ते हैं—**'रथाक्षमात्राणि यूपान्तरालानि भवन्ति'** [आप० श्रौत० ८।५।१७]—रथ के धुरा की बराबर दूरी पर यूप स्थापित होते हैं। यदि इस विधान को सर्वत्र लागू किया जाता है, तो न पक्षसम्मित नाप की—और न वेदिसम्मित नाप की—मान्यता रहती है। ये सब लेख उसी अवस्था में उपपन्न व समञ्जस रहते हैं, जब प्रतिशाखा कर्म का भेद माना जाता है।

---

१. "सुपर्णयाग का अग्निस्थण्डिल पंख फैलाये श्येन के समान होता है। उत्तर-दक्षिण पंखभाग, मध्य में आत्मस्थानीय भाग, पूर्व में चञ्चुस्थान और पश्चिम में पुच्छस्थान होता है। आहवनीय की पूर्वरेखा के मध्य में एक यूप गाड़ा जाता है, और पाँच-पाँच यूप दोनों ओर गाड़े जाते हैं। इन यूपों को कितने स्थान में गाड़ें, इसके लिए प्रथम पक्ष है—उत्तर-दक्षिणस्थ पंखों का फैलाव जितने स्थान में है उतनी बराबर दूरी रखकर गाड़ें। यह पक्ष-सम्मान [=पक्ष बराबर=दक्षिण और उत्तर प्रत्येक ओर चार हाथ और २२ अंगुल (इस पक्षपरिमाण और अगले वेदिपरिमाण के लिए देखें—कात्या० श्रौत विद्याधर टीका, भूमिका, पृष्ठ ६३) परिमाण] से यूपों का मान है। दूसरा पक्ष है—वेदि का जितना पूर्व दिशा में स्थान है, उसमें बराबर दूरी रखकर यूपों को गाड़ें। चयन में वेदि का परिमाण इस क्रतु में ४० पद=कदम=साढ़े सात पुरुष=सवा छब्बीस हाथ होता है। तीसरा पक्ष है—रथ के अक्ष-परिमाण (=१०४ अंगुल=चार हाथ ८ अंगुल) मध्य दूरी छोड़कर गाड़ना चाहिए।···पंख बराबर सम्मान की निन्दा से उसका प्रतिषेध और वेदिसम्मान की स्तुति से उसकी विधि जानी जाती

(११) **अन्यार्थदर्शन** (ख) — ज्योतिष्टोम-प्रसंग से किसी शाखा में पाठ है—**'द्वे संस्तुतानां विराजमतिरिच्येते'**—स्तोत्रों में प्रयुक्त की गई ऋचाओं में विराट् से दो ऋचा अतिरिक्त शेष रह जाती हैं। अन्य शाखावाले कहते हैं—'तिस्रः संस्तुतानां विराजमतिरिच्यन्ते'—स्तोत्रों में प्रयुक्त की गई ऋचाओं में विराट् संख्या से तीन ऋचा अतिरिक्त शेष रह जाती हैं। विराट् पद दस संख्या का पर्याय है। स्तोत्रों में प्रयुक्त ऋचाओं की संख्या को १० से विभाजित करने पर

है।···एक विधि का प्रतिषेध और एक विधि का विधान कर्मभेद मानने पर सम्भव होता है।···रथाक्षमात्र यूपों का अन्तराल होने पर न पक्षसम्पान हो सकता है, न वेदिसम्मान।

पक्षसम्मित पक्ष में दक्षिणपक्ष = ४ हाथ २२ अंगुल, उत्तर पक्ष = ४ हाथ २२ अंगुल, दोनों के मध्य का भाग = ७ हाथ, सब मिलाकर १६ हाथ २० अंगुल स्थान होता है।

वेदिसम्मित में वेदी का परिमाण २६ हाथ ६ अंगुल कह चुके हैं। ११ यूपों के मध्य के १० अन्तराल = १० रथाक्षप्रमाण = १०४० अंगुल बराबर ४३ हाथ ८ अंगुल होता है। इसके साथ ११ यूपों की मोटाई न्यून से न्यून एक वितस्ति = १२ अंगुल होने पर ५ हाथ १२ अंगुल होगी। अतः ११ यूप अन्तराल-सहित ४८ हाथ २० अंगुल लम्बे स्थान में स्थित होंगे। इस प्रकार रथाक्षप्रमाण अन्तराल मानने पर न पक्षसम्मित यूप-निखनन उपपन्न होता है, और ना ही वेदिसम्मित। कात्यायन श्रौत ८।८।६-७-८ में रथाक्ष-अन्तराल वेदिसम्मित और पक्षसम्मित तीनों पक्ष स्वीकार किये हैं।" (यु० मी०)।

उक्त टिप्पणी में यह स्पष्ट किया गया कि—सुपर्णयाग के अग्निचयन अवसर पर अग्निस्थण्डिल की रचना पंख फैलाये श्येन के समान होती है, उसपर एकादश यूपों का निखनन कहाँ होना चाहिए। ये यूप एकादश पशुओं को बाँधने के लिए गाड़े जाते हैं, इसलिए सुपर्णयाग के इस अंग का नाम एकादशिनी इष्टि कहा जाता है।

देहरादून मण्डल के विकासनगर (पुराना नाम—चूहड़पुर) और कालसी यमुना पुल के मध्य—चकरौता को जानेवाले मोटर-मार्ग पर—पूर्व की ओर पहाड़ी के समतल-सदृश ढलान पर फैली उक्त प्रकार की एक वेदि—केन्द्रीय सरकार के पुरातत्त्वानुसन्धान-विभाग द्वारा खुदाई कराये जाने पर—उपलब्ध हुई है। लेखक ने स्वयं जाकर उसे देखा है। यह खुदाई उस समय विभाग के उच्चपदस्थ कार्यरत श्री रामचन्द्रन् की देखरेख में कराई गई थी।

पूर्ण विराट् संख्या से जितनी ऋचा शेष रह जाती हैं, उनकी संख्या एक शाखा के अनुसार दो है, अन्य शाखा के अनुसार तीन। यदि प्रत्येक शाखा में कर्म का अभेद माना जाय तो विरोध होगा। कर्मों का भेद मानने पर एक शाखा के अनुसार किसी ज्योतिष्टोम में दो का, तथा अन्य शाखा के अनुसार किसी में तीन का विराट् पूर्ण संख्या से अतिरेक उपपन्न हो जाता है। इसलिए प्रतिशाखा कर्म का भेद मानना उपयुक्त है।

निरुक्त [७।१३] में बताया—**'विराड् विराजनात् सम्पूर्णाक्षरा।'** 'विराट्' पद 'वि' उपसर्गपूर्वक 'दीप्ति' अर्थवाली 'राजृ' धातु से निष्पन्न होता है। यह विराट् सम्पूर्णाक्षर है। अक्षर=संख्या के प्रतीक अंक जितने में सम्पूर्ण हो जाते हैं, वह एक विराट् है। अङ्कों के समस्त प्रतीक एक से दस तक पूर्ण हो जाते हैं। एक से नौ तक अङ्क, दसवाँ शून्य है। यह एक विराट् है, एक दशक। यह इसलिए पूर्ण है, क्योंकि इसके आगे संख्या बढ़ाने के लिए फिर दस के आगे १, २, ३ को ही दुहराया जाता है। फिर बीस पर पूरा होनेवाला दूसरा विराट् है, दूसरा दशक, जो दो पर शून्य लगाकर अभिव्यक्त किया जाता है। विभिन्न स्तोत्रों में प्रयुक्त ऋचाओं की संख्या को विराट् (=१० संख्या) से विभाजित करने पर जितने पूर्ण दशक बन जाते हैं, उनसे अतिरिक्त—एक शाखा के अनुसार दो तथा अन्य शाखा के अनुसार तीन ऋचा शेष रह जाती हैं। यही उक्त विरोध का स्वरूप है। इनका विवरण समाधान-सूत्र (२६) में किया जायगा।

(१२) **अन्यार्थदर्शन** (ग)—सारस्वत सत्र में सुना जाता है—**'ये पुरोडाशिनस्ते उपविशन्ति, ये सान्नायिनस्ते वत्सान् वारयन्ति'**[1] जो पुरोडाश से दर्श करनेवाले हैं, वे चुपचाप बैठते हैं; जो सान्नायी हैं, अर्थात् दूध-दही की मिश्रित हवि से दर्श करनेवाले हैं, वे वत्सों (लवारों) को गायों से हटाते हैं। सारस्वत सत्ररूप सोमयाग है। सत्र निरन्तर किये जाने वाले यज्ञ हैं, जो कम-से-कम बारह दिन, और अधिक सहस्र वर्ष (=दिन) तक चलते हैं। इनमें सत्रह सत्रयाजी व्यक्ति मिलकर अनुष्ठान करते हैं, जिनमें एक यजमान और सोलह ऋत्विक् बनकर अपना-अपना कार्य बाँट लेते हैं। वस्तुतः वे सब यजमान ही होते हैं—कर्म के स्वयं अनुष्ठाता और फल के भागी। सोमयाग में एक यजमान कर्म का अनुष्ठाता और फल का भागी होता है, और सोलह ऋत्विक् दक्षिणा द्वारा नियत काल के लिए क्रीत (खरीदे हुए) के समान होते हैं। सत्र और सोमयाग का यही भेद है। सत्र के अनुष्ठान में उसी का अधिकार है, जिसने पहले सोमयाग किया है। जो सोमयाग करके दर्शपूर्णमास याग करता है, वह

---

१. द्रष्टव्य—**'उत्सर्गिणामयने श्रूयते—तेषां ये पुरोडाशिनस्ते उपवसन्ति, ये सान्नायिनस्त एतदहर्वत्सान् अपाकुर्वन्ति।'** सत्या० श्रौत १६।८।२१॥

दर्श के अनुष्ठान में दूध-दही की मिश्रित (=सान्नाय) हवि देता है। परन्तु उक्त वाक्यों द्वारा सारस्वत सत्रान्तर्गत दर्श में—सोमयाग किये हुए और न किये हुए—दोनों का अधिकार बताया। यह प्रतिशाखा कर्मभेद मानने पर ही उपपन्न होता है।

(१३) **अन्यार्थदर्शन** (घ)—अन्य वचन सुने जाते हैं। किसी शाखा में कहा—**'उपहव्योऽनिरुक्तः, अग्निष्टोमो यज्ञः, रथन्तरसामा, अश्वः श्यावो दक्षिणा'**—उपहव्य नामक यज्ञ—ज्योतिष्टोम का अङ्ग,[1] एक दिन में सम्पन्न होनेवाला सोमयाग है,—यह अनिरुक्त है, अर्थात् इसमें देवता नाम का उच्चारण प्रत्यक्षरूप में न होकर[2] परोक्षरूप से किया जाता है; यह अग्निष्टोम यज्ञ है—अग्निष्टोम संस्थावाला सोमयाग, अर्थात् जिस सोमयाग की संस्था=समाप्ति आग्नेय स्तोम से होती है; यह रथन्तर सामवाला है और इसकी दक्षिणा गहरे भूरे (धूसर) रंग का अश्व है।

अन्यत्र शाखा में कहा—**'उपहव्योऽनिरुक्तः, उक्थो यज्ञः, बृहत्सामा, अश्वः श्वेतो रुक्मललाटो दक्षिणा'**—उपहव्य अनिरुक्त है, उक्थ संस्थावाला सोमयाग है, अर्थात् इसकी समाप्ति उक्थ-संज्ञक स्तोत्र से होती है, यह बृहत्सामवाला है, और श्वेत अश्व इसकी दक्षिणा है, जिसके ललाट पर सुवर्ण का पत्रा (वर्क) लगा है।[3]

यदि सब शाखाओं में कर्म का अभेद हो, तो उपहव्य सोमयाग के ये दो प्रकार के वर्णन असंगत होंगे। यह स्थिति कर्मभेद मानने पर उपपन्न होती है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने की बात है कि प्रतिशाखा कर्म का एकत्व होने पर यहाँ रथन्तरसाम अथवा बृहत्साम का विधान व्यर्थ है, क्योंकि यह उपहव्य के प्रकृतियाग ज्योतिष्टोम से—'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' नियम के अनुसार—प्राप्त है। इससे भी स्पष्ट होता है—प्रतिशाखा कर्म का भेद मानना युक्त है ॥८॥

जिज्ञासापूर्ण विस्तृत पूर्वपक्ष का सर्वसाधारण समाधान सूत्रकार प्रस्तुत करता है—

एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याऽविशेषात् ॥९॥

[वा] यह पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिए है, विभिन्न शाखाओं में कर्मभेद

१. द्रष्टव्य—ताण्ड्य ब्रा० १८।१।१, ३, १८॥ कात्या०श्रौत० २२।१।२, ८॥
२. द्रष्टव्य—**'उपहव्ये देवतानामधेयानि परोक्षं ब्रूयुः स्वस्थानासु'** लाट्या० श्रौत० ८।९।१॥
३. कोई व्याख्याकार सुनहरी टीका (चन्दोवा) वाला अर्थ करते हैं।

नहीं है, प्रत्युत [एकम्] एक=समान हैं कर्म विभिन्न शाखाओं में, [संयोगरूप-चोदनाख्याऽविशेषात्] कर्म के साथ द्रव्य-देवता-सम्बन्ध के बोधक विधिवाक्यों तथा उनके नामों की समानता से।

विभिन्न शाखाओं में कर्म-विधायक वाक्य कर्म के साथ समान द्रव्य और समान देवता का बोध कराते हैं। कर्मों का नाम भी सर्वत्र समान पाया जाता है। इसलिए विभिन्न शाखाओं में कर्म के एकत्व में कोई बाधा नहीं है। शाखा, संहिता व ब्राह्मण आदि वैदिक वाङ्मय में यज्ञ-कर्म का प्रयोजन अर्थात् फल सर्वत्र समान उपलब्ध होता है। यज्ञ का रूप द्रव्य और देवता है, उनका उल्लेख भी सर्वत्र समान है। यज्ञों के नाम—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम, कारीरी आदि भी सर्वत्र समान हैं। तब प्रतिशाखा कर्मभेद का अवकाश कहाँ रहता है? यह सभी आक्षेपों का साधारण समाधान है ॥९॥

साधारण समाधान कर सूत्रकार क्रमशः प्रत्येक आक्षेप का समाधान प्रस्तुत करता है। पहला आक्षेप 'नामभेद' है। समाधान किया—

न नाम्ना स्यादचोदनाऽभिधानत्वात् ॥१०॥

[नाम्ना] काठक, कालापक आदि नाम से [न स्यात्] नहीं होता, कर्मभेद [अचोदनाऽभिधानत्वात्] चोदना=कर्मों के विधिवाक्यों का अभिधान=कथन काठक आदि नाम से न होने के कारण।

काठक, कालापक आदि नाम ग्रन्थों के हैं, कर्मों के नहीं। यह काठक कर्म है; और यह कालापक कर्म, इत्यादि व्यवहार—उन ग्रन्थों में—इनका वर्णन आदि होने के कारण होता है। ऐसा नहीं है कि कर्मों का नाम काठक-कालापक आदि हो, और उनके आधार पर ग्रन्थों को ये नाम दिये गए हों। स्थिति सर्वथा इसके विपरीत है। मूलतः ये ग्रन्थों के नाम हैं, कर्मों के नहीं। इन सभी विभिन्न शाखाओं में कर्मों के नाम, द्रव्य, देवता, फल आदि का वर्णन समान होने से ग्रन्थों के नाम का भेद कर्मों का भेदक नहीं कहा जा सकता ॥१०॥

उसी अर्थ को प्रकारान्तर से सिद्ध करने की भावना से सूत्रकार ने कहा—

सर्वेषाञ्चैककर्म्यं स्यात् ॥११॥

ग्रन्थ का नाम भिन्न होने से यदि वहाँ प्रतिपादित कर्मों में भेद माना जाता है, तो ग्रन्थ का नाम एक होने से वहाँ पठित [सर्वेषाम्] सब कर्मों—अग्निहोत्र, दर्श-पूर्णमास, ज्योतिष्टोम आदि—का [ऐककर्म्यम्] एक कर्म होना [स्यात्] प्राप्त होता है। काठक नाम के एक होने से सबको एक कर्म माना जाय,—यह इष्ट नहीं। इसलिए ग्रन्थनाम न कर्म के भेद का साधक है, और न अभेद का साधक ॥११॥

उक्त अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

कृतकं चाभिधानम् ।।१२।।

[कृतकम्] कृतक=अनित्य [च] भी है [अभिधानम्] अभिधान=नाम, काठक, कालापक आदि।

काठक, कालापक आदि ग्रन्थ नामों का प्रचलन उस समय से प्रारम्भ हुआ, जब कठ, कलाप आदि ऋषियों ने अग्निहोत्रादि कर्मों का प्रवचन किया, अथवा ग्रन्थरूप में ग्रथित किया; उसके अनन्तर ही अग्निहोत्र आदि कर्मों के साथ काठक, कालापक आदि नाम जुड़े। उससे पहले भी अग्निहोत्रादि कर्मों का अनुष्ठान बराबर होता था। तब ग्रन्थ-नामभेद से इनमें कोई भेद न था। प्रवचन किए जाने पर भेद माना जाय, यह वास्तविकता के विरुद्ध है। अत: अनेक ऋषियों ने अपने शब्दों में उन्हीं कर्मों का प्रवचन किया है, जो पहले से एक रूप में प्रचलित रहे हैं। इसलिए नामभेद को कर्मभेद का साधक कहना अयुक्त है ।।१२।।

रूपभेद भी कर्मभेद का साधक नहीं; सूत्रकार ने बताया—

एकत्वेऽपि परम् ।।१३।।

[एकत्वे] विभिन्न शाखाओं में पठित कर्म के एक होने पर [अपि] भी, [परम्] अगला—कर्मभेद-साधक हेतु—रूपभेद उपपन्न हो जाता है।

अग्नीषोमीय याग को कहीं 'एकादशकपाल' और कहीं 'द्वादशकपाल' कहा। तात्पर्य है, अग्नीषोमीय यागानुष्ठान के पुरोडाश-द्रव्य को एकादश पात्रों में संस्कृत किया जाय, यह किसी एक शाखा में कहा; अन्यत्र द्वादश पात्रों में पुरोडाश-द्रव्य पकाने का उल्लेख किया। प्रामाणिक ग्रन्थों में ऐसा कथन होने से पात्रों की संख्या में विकल्प मानकर ये कथन उपपन्न हो जाते हैं। सामर्थ्यानुसार चाहे ग्यारह पात्रों में द्रव्य संस्कृत करे, चाहे बारह में, इससे अग्नीषोमीय कर्म में कोई भेद नहीं आता ।।१३।।

कर्मभेद में तीसरा हेतु धर्मभेद कहा। सूत्रकार समाधान करता है—

विद्यायां धर्मशास्त्रम् ।।१४।।

[विद्यायाम्] विद्याग्रहण के अवसर पर [धर्मशास्त्रम्] विशिष्ट धर्मों के पालन का शासन=विधान आचार्यों ने किया है। उनका कर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं।

भूमि पर बैठकर भोजन करना, जल-भरा घड़ा, एवं घास आदि का लाना, ये सब धर्मविशेष छात्रावस्था में—विभिन्न विद्याओं का अध्ययन करते हुए—

छात्रों द्वारा किए जाने वाले आचरण हैं। उन-उन अध्ययन की जानेवाली शाखाओं में प्रतिपादित कर्म के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं। तात्पर्य है, छात्र जिस कर्म का अध्ययन कर रहा है, उस समय का उसका वह आचरण कर्म के अनुष्ठान में उपकारक नहीं होता। अतः छात्रावस्था के ये आचरण कर्मभेद के साधक नहीं कहे जा सकते। ये सब अध्ययन-सम्बन्धी धर्म हैं, यह उन्हीं प्रसंगों में पठित 'अधीयानाः' आदि पदों से स्पष्ट हो जाता है। ऐसे आचरणों के कर्म का उपकारक होने में कोई प्रामाणिक उल्लेख भी नहीं है ॥१४॥

पुनरुक्त-दोष-निवारण के विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—गत चतुर्दश अधिकरण [२।३।२७-२९] में पुनरुक्त-दोष का समाधान अनुवाद मानकर किया है, 'आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति' यह विधान कर जो पुनः 'आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति' कहा है, वह पुनरुक्त न होकर आग्नेय में ऐन्द्र हवि 'दधि' का स्तुतिपूर्वक अनुवाद करता है,—यह सिद्धान्त किया है। इसी प्रकार एक शाखा में विहित अग्निहोत्र आदि का शाखान्तर में विधान अनुवाद क्यों न मान लिया जाय? इससे न पुनरुक्त-दोष की आपत्ति होगी, न कर्मभेद की आशंका रहेगी। सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को पुनरुक्त-दोष के आंशिक समाधान के रूप में सूत्रित किया—

आग्नेयवत् पुनर्वचनम् ॥१५॥

[आग्नेयवत्] आग्नेय वाक्य के समान है [पुनर्वचनम्] शाखान्तरों में कर्मों का पुनः कथन।

विभिन्न शाखाओं में अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनेकत्र जो विधान किया गया है, उस पुनरुक्त अथवा असकृत् कथन का समाधान आग्नेय वाक्य के समाधान के समान समझना चाहिए। तात्पर्य है, वह कथन पुनरुक्ति-दोष न होकर एक शाखा के विधान का अन्यत्र अनुवाद है। इस प्रकार न शाखान्तरों में कर्मभेद की आशंका रहती है, न पुनरुक्ति-दोष की।

अनुवाद में फल का निर्देश असंगत हो जाता है, इस भावना से सूत्रकार ने शाखाओं में कर्मों के पुनर्वचन का पूर्ण वास्तविक समाधान किया—

अद्विर्वचनं वा श्रुतिसंयोगाविशेषात् ॥१६॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष के निवारण के लिए है, अर्थात् कर्म के पुनर्वचन से कर्म का भेद होता है, यह कथन युक्त नहीं। वस्तुतः [अद्विर्वचनम्] कर्म का दो प्रकार से शाखान्तरों में कथन नहीं है, [श्रुतिसंयोगाविशेषात्] श्रुति-सम्बन्ध के सर्वत्र समान होने से। तात्पर्य है, जैसा एक शाखा में अग्निहोत्र आदि का विधान है, वैसा ही अन्य शाखाओं में है।

शाखान्तरों में सर्वत्र अग्निहोत्र आदि कर्मों का विधान निश्चित ही पुनरुक्त नहीं है। अपनी-अपनी शाखाओं में एक ही शाखा-प्रवक्ता व्यक्ति ने एक ही अग्निहोत्र आदि कर्मों का विधान किया है। जब एक शाखाध्यायी अन्य शाखा को पढ़ता है, तो अपनी शाखा में पढ़े अग्निहोत्र-कर्म से वहाँ भी अग्निहोत्र-कर्म में कोई भेद प्रतीत नहीं होता। उसे उभयत्र शाखाओं में अग्निहोत्र-कर्मविषयक एकत्व की ही बुद्धि उत्पन्न होती है। वह इसी परिणाम पर पहुचता है कि उन शाखाओं में अग्निहोत्र-कर्म एक ही है।

एक ही अर्थ को विभिन्न स्थानों में जब अनेक व्यक्ति कहते हैं, तो वह पुनरुक्त नहीं होता। चैत्र, मैत्र, विष्णु अपने-अपने घरों में 'गां दोग्धि=गाय दुह लो' कहते हैं, तो यह पुनरुक्त नहीं है। पर यदि चैत्र, चैत्र का पुत्र, चैत्र की पत्नी, चैत्र का भ्राता अपने ही घर में सद्यः 'गां दोग्धि' कहते हैं, तो यह पुनरुक्त है। इसलिए प्रत्येक शाखा या ब्राह्मण में उन-उन प्रवक्ताओं द्वारा विहित अग्निहोत्र आदि कर्म सर्वत्र एक ही हैं। न यह पुनरुक्त है, न कर्मभेद।

सुबोधिनी वृत्ति में सूत्रपाठ 'अश्रुतिसंयोगाविशेषात्' अज्ञात अर्थ का बोधक वाक्य विधिवाक्य कहा जाता है। अश्रुति-संयोग अर्थात् सब शाखाओं में 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' आदि वाक्यों का अज्ञातार्थ के साथ सम्बन्ध समान रूप से होने के कारण ये वाक्य अनुवाद नहीं, सर्वत्र विधिवाक्य हैं ॥१६॥

पुनरुक्ति-आक्षेप का सूत्रकार ने अन्य समाधान किया—

अर्थासन्निधेश्च ॥१७॥

[अर्थासन्निधेः] अध्ययनादि-रूप सन्निधि=सामीप्य के न होने से [च] ही शाखान्तरों में कर्मभेद कहना अयुक्त है।

एक व्यक्ति अनेक शाखागत अर्थों (अग्निहोत्रादि कर्मों) के साथ अध्ययनादि-रूप सामीप्य प्राप्त नहीं कर पाता, उनसे दूर या वञ्चित रह जाता है, तो इससे न शाखान्तरों का आनर्थक्य प्राप्त होता है, और न यह कर्मभेद का द्योतक है। प्रत्येक शाखा को जानना न जानना अलग बात है, परन्तु 'शाखा' पद स्वयं से इस तथ्य को अभिव्यक्त करता है कि वहाँ सर्वत्र अर्थ (अग्निहोत्रादि कर्म) बिखरा हुआ भी एक है, वह पुनरुक्त नहीं। जिस प्रकार एक वृक्ष की शाखा पर जैसे पत्ते, फूल, फल होते हैं, वैसे ही अन्य सब शाखाओं पर होते हैं। ऐसा होना सर्वथा असम्भव है कि एक ही वृक्ष की एक शाखा पर आम और दूसरी पर निबोली लगें। काठक, तैत्तिरीय आदि सब शाखा भी एक वेद-वृक्ष की हैं। इनमें प्रतिपादित अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि अर्थ सर्वत्र समान हैं। किसी भी शाखा से उनका अध्ययन कर लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। इसमें पुनरुक्ति की कल्पना व्यर्थ है। वेद-वृक्ष की शाखा-प्रशाखाओं एवं अवान्तर विभागों का महान्

विस्तार है। उसको आचार्यों ने मुख्य रूप से चरण और शाखा-रूप में विभाजित किया है। ये सब मूल वेद के व्याख्यान हैं। जैसे वृक्ष के तने से प्रथम मुख्य शाखायें फूटती हैं वैसे वेद के सीधे प्रथम व्याख्यान 'चरण' और आगे उनके अवान्तर विभाग—वृक्ष की प्रमुख टहनियों के समान—अन्य शाखायें हैं। यह आवश्यक नहीं कि इस समस्त का अध्ययन करके ही अग्निहोत्रादि अर्थ की प्राप्ति हो। यह तो मीठी रोटी के समान है, चाहे जिधर से काटो, आस्वाद एक-सा मिलेगा। अग्निहोत्र आदि कर्म भी सब शाखाओं में समान हैं। अध्येता या अनुष्ठाता जहाँ से चाहे, प्राप्त कर सकता है।

यद्यपि विभिन्न शाखाओं में एक ही विषय पर पाठभेद तथा कहीं यज्ञादि प्रक्रिया में भी भेद पाया जाता है, पर इससे मूलभूत अग्निहोत्रादि कर्म में कोई अन्तर नहीं आता। पाठभेद प्रायः व्याख्यामूलक होते हैं। प्रक्रिया में देशाचार आदि के कारण साधारण भेद सम्भव है। पर इतने से अग्निहोत्रादि कर्म विभिन्न शाखाओं में भिन्न हैं, ऐसा नहीं है। कर्मैकत्व सर्वत्र अबाधित रहता है ॥१७॥

आचार्य सूत्रकार ने पुनरुक्ति का अन्य समाधान किया—

न चैकं प्रति शिष्यते ॥१८॥

[एकम् प्रति] विभिन्न शाखाओं में पठित कर्म, एक उसी शाखा के अध्येता या अनुष्ठाता के लिए [न] नहीं [शिष्यते] कहा गया है, प्रत्युत सबके लिए कहा गया है।

काठक, कालापक, तैत्तिरीय आदि शाखाभेद प्रवक्ता के भेद के कारण हैं, कर्मभेद इसका कारण नहीं है। प्रत्येक प्रवक्ता ने मानव-मात्र की भलाई के लिए वैदिक कर्मों का अपने-अपने समय में उपदेश किया। यदि किसी शाखा में किसी कर्म के अङ्ग का उपदेश है, अन्यत्र अन्य अङ्ग का, तो उनका उभयत्र अध्याहार होना अभीष्ट है। इससे समस्त शाखाओं में कर्म की एकता प्रमाणित होती है। किसी भी शाखा में ऐसा कहीं नहीं लिखा कि यह इतना ही कर्म है, और किसी विशिष्ट व्यक्ति के लिए है। काठक शाखा में जो काठक-शाखाध्येता के लिए है, वह तैत्तिरीय-शाखाध्येता के लिए भी है। इसी प्रकार तैत्तिरीय-शाखागत कर्मोपदेश काठक-शाखाध्येता के लिए भी है। कर्म की पूर्णता के लिए एक-दूसरी शाखा से अङ्गों का परस्पर उपसंहार कर लेना अभीष्ट है। इस प्रकार जो अग्निहोत्र काठक शाखा का है, वही तैत्तिरीय शाखा का है। इनको भिन्न कहनेवाला कोई वाक्य शाखाओं में उपलब्ध नहीं होता। फलतः सब शाखाओं में कहा गया अग्निहोत्र मिलकर एक पूर्ण कर्म है। ऐसे ही अन्य दर्श-पूर्णमास आदि कर्मों के विषय में समझना चाहिए। सूत्र में 'च' पद युक्त्यन्तर का निदेशक है ॥१८॥

समाप्तिवचन-आक्षेप के समाधान में सूत्रकार ने कहा—

समाप्तिवच्च सम्प्रेक्षा ॥१६॥

[च] और [समाप्तिवत्] समाप्तिवाला कथन [सम्प्रेक्षा] उत्प्रेक्षामात्र है, कल्पनामूलक ।

एक शाखावाले कहते हैं, हमारा अग्निचयन-कर्म यहाँ समाप्त होता है; अन्य शाखावाले कहते हैं, हमारा अग्निचयन-कर्म यहाँ समाप्त नहीं होता; ऐसा कथन उत्प्रेक्षामात्र है। तात्पर्य है, वास्तविक नहीं है। जब कर्म की समाप्ति होनेवाली होती है, कुछ अंश शेष रह जाता है, तब भी कर्म की समाप्ति का कथन व्यवहार में आता है। कर्म की आसन्न-समाप्ति में—बस अब यह समाप्त हुआ ही समझो, मान लो अब यह समाप्त हो गया, अब समाप्त होने में कमी ही क्या है?—आदि व्यवहार प्रायः होता रहता है। यह वास्तविक न होकर उत्प्रेक्षामूलक व काल्पनिक ही समझना चाहिए। समाप्ति के भिन्न अवसर होने पर भी इससे इतना तो स्पष्ट है कि दोनों शाखाओं में एक ही अग्निचयन-कर्म अभीष्ट है।

यह व्यवहार अशास्त्रीय नहीं है। अग्निष्टोम में आध्वर्यव-कर्म समाप्त होने पर 'अग्निष्टोमः समाप्तः' यह व्यवहार देखा जाता है, यद्यपि अध्वर्यु द्वारा किये गये कर्म के अनन्तर अभी होता द्वारा किया जानेवाला शस्त्र-कर्म अवशिष्ट रहता है। इसी प्रकार अग्निचयन-कर्म में समाप्ति का निर्देश समझना चाहिए। कहीं समाप्ति बताना, कहीं न बताना, अग्निचयन-कर्म के भेद को सिद्ध नहीं करता ॥१६॥

इसके साथ ही सूत्रकार निन्दा आदि आक्षेपों का समाधान प्रस्तुत करता है—

एकत्वेऽपि पराणि निन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनानि ॥२०॥

[एकत्वे] विभिन्न शाखाओं में कर्मों के एक होने पर [अपि] भी [पराणि] अगले [निन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनानि] निन्दावचन, अशक्तिवचन, समाप्तिवचन उपपन्न होते हैं; तब भेद साधक कैसे ?

अग्निहोत्र होम के उदित, अनुदित, समयाध्युषित कालों के प्रसंग से 'प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति' आदि द्वारा उदित आदि होम की जो निन्दा की गई है, उसकी वास्तविकता इस प्रकार है—

आचार्यों ने अग्निहोत्र होम के तीन काल बताये—उदित, अनुदित, समयाध्युषित। सूर्य उदय हो जाने पर पहला काल है; उस समय नक्षत्रों का दिखाई देना सम्भव नहीं रहता। अनुदित काल वह है, जब नक्षत्र दिखाई देते रहें। तीसरा समयाध्युषित काल इन दोनों के बीच में है—जब नक्षत्र भी दिखाई न दे रहे हों,

और सूर्य भी उदय न हुआ हो। यह काल-विभाजन में अरुणोदय-काल कहाता है।

जो व्यक्ति अग्निहोत्र होम के लिए अग्नि का आधान यह व्रत लेकर करता है कि वह अनुदित काल में होम करेगा, यदि वह अपने व्रत को आलस्य-प्रमादवश भंग करता है, और अनुदित में होम न कर उदित आदि में करता है, उसकी यह निन्दा है। उसने अपने व्रत को तोड़ा है, इससे कर्मानुष्ठान में उसकी अश्रद्धा का भाव ध्वनित होता है; तभी उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान है, जिसकी चर्चा अग्रिम सूत्र में की गई है। ये निन्दावचन अग्निहोत्र-कर्म के विषय में नहीं हैं।

इसी प्रकार जो उदित होम का व्रती है, वह अपने व्रत का भंग कर अनुदित आदि में होम करता है, उसकी यह निन्दा है। ऐसे ही अध्युषित काल का व्रती अपने व्रत-नियम को तोड़कर अन्य समय में करता है, उसकी यह निन्दा है। यह निन्दा न पवित्र कर्म अग्निहोत्र की है, और न यह शाखान्तरों में कर्मभेद का कारण है।

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने की बात है कि व्रती के नियम-भंग की निन्दा द्वारा श्रद्धापूर्वक नियम-पालन की प्रशंसा में ही इसका तात्पर्य है। अतः यह किसी प्रकार से दोषावह नहीं।

अशक्तिवचन भी कर्मभेद का कारण नहीं कहा जा सकता। यदि अशक्त व्यक्ति किसी कार्य को नहीं कर पाता, तो इससे कार्य को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। असमर्थ व्यक्ति के लिए एक शाखा में विहित कर्म भी सर्वाङ्गपूर्ण रूप में अनुष्ठेय नहीं हो पाते; तब जितना हो पाता है, उतना करना चाहिए। नित्य कर्मों में उतना करना भी अभीष्ट का साधक होता है। काम्य कर्म का सर्वाङ्गपूर्ण सम्पन्न होना आवश्यक है, क्योंकि कामना की पूर्ति उसी में सम्भव है। परन्तु समर्थ व्यक्ति सब शाखाओं में विहित कर्मों के अनुष्ठान में भी सक्षम रहते हैं। अधिक करने का फल भी अधिक मिलता है। यह स्थिति न कर्मों में किसी न्यूनता को अभिव्यक्त करती है, और न शाखान्तरों में कर्मभेद का कारण है।

समाप्तिवचन शाखान्तरों में कर्मभेद का कारण नहीं है, इसका उपपादन गत सूत्र के भाष्य में कर दिया गया है ॥२०॥

निन्दावचन के समाधान में शिष्य जिज्ञासा करता है—उदित-अनुदित होम के विषय में प्रायश्चित्त का विधान होने से कर्मों में न्यूनता व दोष का होना ज्ञात होता है। उदित आदि होम का विधान कर उसमें दोष का कथन परस्पर-विरुद्ध है। इस विरोध का परिहार कर्मभेद मानने पर सम्भव है। इसका समाधान होना चाहिए।

शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष-रूप से प्रथम सूत्रित किया—

प्रायश्चित्तं निमित्तेन ॥२१॥

[प्रायश्चित्तम्] उदित, अनुदित होम में प्रायश्चित्त का विधान [निमित्तेन] किसी कारणविशेष से किया गया है। यह प्रायश्चित्त-विधान कर्मभेद का प्रयोजक है।

उदित, अनुदित होम में प्रायश्चित्त का विधान होने से इन कर्मों में न्यूनता आदि दोष का पता लगता है, उसका निवारण शाखान्तर में कर्मभेद मानने पर सम्भव है। यदि विभिन्न शाखाओं में उदित होम आदि एक ही कर्म माना जाता हैं, तो उसका विधान और प्रतिषेध परस्पर-विरुद्ध हैं। प्रतिशाखा कर्मभेद स्वीकार करने पर विधान अपनी शाखा में मान्य रह जाता है; शाखान्तरगत विरोध अन्य किसी उदितादि होम का हो सकता है ॥२१॥

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

प्रक्रमाद्वा नियोगेन ॥२२॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष का निवारण करता है—प्रायश्चित्त के विधान से शाखान्तरों में कर्मभेद कहना अयुक्त है। [नियोगेन] अपने पूर्वनिर्धारित कर्त्तव्य से [प्रक्रमात्] इधर-उधर हट जाने के कारण प्रायश्चित्त का विधान है, जो शाखान्तरों में एक कर्म मानने पर भी उपपन्न होता है।

पूर्वनिर्धारित कर्त्तव्य का स्पष्टीकरण २०वें सूत्र के भाष्य में कर दिया है। अग्निहोत्र होम के लिए अग्नि-आधान करते समय व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार यह स्वीकार करना होता है कि होम-अनुष्ठान के तीन कालों में से उसे कौन-सा काल अनुकूल रहेगा। उसका उल्लंघन करने पर प्रायश्चित्त का विधान है। प्रतिशाखा कर्म का अभेद मानने पर भी कर्म के विधान और प्रतिषेध का सामञ्जस्य बना रहता है। अग्निहोत्र होम सब शाखाओं में कर्म एक है; इसके अनुष्ठान-काल में अनुदित आदि विकल्प हैं। यज्ञ-सम्बन्धी वैकल्पिक पदार्थों में इच्छानुसार कर्त्ता द्वारा कोई एक पक्ष स्वीकार कर लिया जाता है। उसका उल्लंघन ही दोषावह माना गया है।

इस विषय में समबल-वाक्य 'व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत' उदाहरण-रूप में द्रष्टव्य हैं। आचार्यों ने यहाँ विकल्प माना है, चाहे व्रीहि से यजन करे, चाहे यवों से। जो व्यक्ति कर्मारम्भ में व्रीहि से यजन करना स्वीकार कर व्रीहि की अप्राप्ति में यवों से यजन करता है, वह प्रायश्चित्ती होता है। व्रीहि के अभाव में उसे व्रीहि के प्रतिनिधि अन्न नीवार आदि से होम करना चाहिए; यवों से नहीं। इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने कर्मारम्भ में यवों से यजन करना स्वीकार किया है, वह यदि यवों की अप्राप्ति में व्रीहि से यजन करता है, तो वह प्रायश्चित्ती होता है।

यवों की अप्राप्ति में उसे यवों के प्रतिनिधि आरण्य (जंगली) यवों से यजन करना चाहिए। प्रतिनिधि का विधान शास्त्रीय है। इसी के अनुसार उदित होम आदि में प्रायश्चित्त का प्रसंग समझना चाहिए, जो गत (२०वें) सूत्र के भाष्य में स्पष्ट कर दिया है ॥२२॥

समाप्तिवचन के विषय में सूत्रकार ने और अधिक कहा—

समाप्तिः पूर्ववत्त्वाद् यथाज्ञाते प्रतीयेत ॥२३॥

[समाप्तिः] समाप्ति-विषयक वचन 'अत्रास्माकमग्निः समाप्तः' इत्यादि [पूर्ववत्त्वात्] पहले से प्रारम्भ हुए होने के कारण, उन कर्मों के [यथाज्ञाते] जैसे प्रारम्भ हुए ज्ञात हैं, उसके अनुसार समाप्ति [प्रतीयेत] जाननी चाहिए उन कर्मों की।

समाप्ति सदा प्रारम्भ की अपेक्षा करती है। जिस कर्म के पूरा होने पर समाप्ति का निर्देश है, यह आवश्यक है कि वह कर्म प्रारम्भ होकर अभी तक चालू रहा है। प्रारम्भ होकर चालू रहते जहाँ कर्म पूरा होता है, वहीं समाप्ति का निर्देश यह स्पष्ट करता है कि यह समाप्ति उसी जाने हुए कर्म की है। समाप्ति-विषयक यह निर्देश कर्मभेद का प्रयोजक नहीं है।

विशेष—समाप्तिवचन-आक्षेप का समाधान करने के लिए सूत्रकार ने दो सूत्र बनाये। दो सूत्र क्यों बनाये गये ? इसका समाधान अस्पष्ट रहा है।

आठवें आक्षेप-सूत्र के भाष्य में 'समाप्ति वचन' का जो विवरण प्रस्तुत किया है, वहाँ दो वाक्य निर्दिष्ट हैं—एक—'अत्रास्माकमग्निः परिसमाप्यते'—यहाँ हमारा अग्निचयन-कर्म परिसमाप्त होता है; दूसरा है—'अपरेऽन्यत्र परिसमाप्ति व्यपदिशन्ति'—अन्य शाखावाले समाप्ति का अन्यत्र कथन करते हैं। भाष्यकार ने इस प्रसंग में पहला वाक्य लिखा है—'असमाप्तेऽपि समाप्तेर्वचनं भवति'—समाप्त न होने पर भी समाप्ति का कथन कर्म में होता है। आक्षेप का मुख्य आधार यही है कि एक ही अग्निचयन-कर्म में किसी शाखावाले कर्म के बीच किसी एक जगह कर्म की समाप्ति कहते हैं, अन्य शाखावाले दूसरी जगह। इस विरोध का सामञ्जस्य कर्मभेद मानने पर सम्भव है।

इसका समाधान सूत्रकार ने १६वें सूत्र में किया। वहाँ भी इस मान्यता के साथ किया है कि कर्म के समाप्त न होने पर भी समाप्ति का कथन हो जाता है। भाष्यकार ने एक वाक्य लिखा—'अन्वारोहेषु मैत्रायणीयानामग्निः परिसमाप्यते, अस्माकं तेषु न परिसमाप्यते'—मैत्रायणी शाखावाले अग्निचयन-कर्म की समाप्ति अन्वारोह के अनन्तर मानते हैं। 'अन्वारोह' उन मन्त्रों का नाम है, जो अग्नि-स्थापना के लिए निर्मित स्थण्डिल पर अग्निस्थापना के समय बोले जाते हैं। अग्निचयन-कर्म यहीं समाप्त माना जाता है। दूसरी शाखावाले उस अवसर पर

समाप्ति नहीं मानते। इस रहस्य को किसी व्याख्याता ने स्पष्ट नहीं किया कि अन्य शाखावाले अग्निचयन-कर्म की समाप्ति अन्वारोह पर न मानकर किस अवसर पर मानते हैं।

उन्नीसवें सूत्र में सभी व्याख्याताओं ने समाप्तिवचन-आक्षेप का समाधान तर्कमूलक आधार पर किया है। वह तर्क है—यदि मैत्रायणी शाखावालों और अन्य शाखावालों का अग्निचयन-कर्म एक न हो, तो वे 'अस्माकम्' पद का प्रयोग कैसे करेंगे? इस पद का प्रयोग तभी उपपन्न होता है, जब मैत्रायणी शाखा-वालों के अग्निचयन-कर्म को अन्य शाखावाले भी अपना कर्म मानें। तात्पर्य है अग्निचयन-कर्म सब शाखाओं में एक है, पर उसकी समाप्ति का निर्देश क्रिया के विभिन्न अवसरों पर माना गया है। इससे अग्निचयन-कर्म की—सब शाखाओं में—एकता नष्ट नहीं होती। इस प्रकार उक्त तर्क के आधार पर समाप्तिवचन-आक्षेप का समाधान १९वें सूत्र में किया है।

इस व्यवस्था को और अधिक स्पष्ट करने के लिए उदाहरण भी दिया गया है। उदाहरण है, ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत आध्वर्यव-कर्म की समाप्ति पर ज्योति-ष्टोम-कर्म की समाप्ति का निर्देश। प्रधान कर्म ज्योतिष्टोम का अवान्तर कर्म आध्वर्यव कर्म है। अध्वर्यु द्वारा सम्पन्न किये जाने के कारण इसका उक्त नाम है। इस अवान्तर कर्म के सम्पन्न होने पर प्रधान कर्म ज्योतिष्टोम की समाप्ति का निर्देश है, यद्यपि ज्योतिष्टोम का एक अन्य अवान्तर कर्म किया जाना अभी शेष रहता है। वह है—होता द्वारा किया जानेवाला शस्त्र-कर्म। यहाँ ज्योति-ष्टोम के समाप्त न होने पर भी जैसे समाप्ति का निर्देश है, ऐसे ही अग्निचयन-कर्म में समझना चाहिए।

यहाँ इतना और जानना चाहिए, ज्योतिष्टोम में समाप्ति के काल्पनिक और वास्तविक दोनों अवसरों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है; ऐसा उल्लेख अग्नि-चयन-कर्म के दोनों अवसरों का स्पष्ट नहीं मिलता। अन्वारोह पर मैत्रायणी द्वारा निर्दिष्ट अग्निचयन की समाप्ति वास्तविक है या काल्पनिक? यह सन्देह बना रहता है।

इस प्रकार १९वें सूत्र द्वारा प्रतिपादित समाप्तिवचन के समाधान से प्रस्तुत [२३] सूत्र द्वारा प्रतिपादित समाधान में कुछ अन्तर है। सूत्रकार इस सूत्र द्वारा यह कहना चाहता है कि जिस प्रकृत कर्म के अनन्तर समाप्तिवचन का निर्देश है, उसी की समाप्ति वहाँ समझनी चाहिए। प्रधान कर्म ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत आध्वर्यव अवान्तर कर्म की समाप्ति पर ज्योतिष्टोम की समाप्ति का निर्देश है। यहाँ ज्योतिष्टोम प्रधान कर्म और आध्वर्यव अवान्तर कर्म दोनों प्रकृत हैं। पर यहाँ वस्तुतः समाप्ति आध्वर्यव कर्म की है, ज्योतिष्टोम की नहीं। तब सान्निध्य से यहाँ मुख्य रूप में आध्वर्यव कर्म की समाप्ति समझनी चाहिए। प्रधान कर्म

होने के कारण ज्योतिष्टोम की समाप्ति का निर्देश औपचारिक है। औपचारिक—अस्थान में निर्दिष्ट भिन्न—समाप्तिवचन शाखान्तरों में कर्मभेद का प्रयोजक नहीं हो सकता। तात्पर्य है, किसी भी कर्म की वास्तविक समाप्ति एक ही अवसर पर होती है; तब समाप्तिवचन-भेद निरस्त हो जाता है, वह कर्मभेद का घटक कैसे सम्भव है ?

फलतः १६वें सूत्र में समाप्तिवचन का तर्कमूलक समाधान आंशिक समाधान है। प्रस्तुत २३वें सूत्र में समाप्तिवचन का पूर्ण वास्तविक समाधान है। यही दोनों सूत्रों के प्रतिपाद्य में अन्तर है। यह समाधान अग्निचयन-कर्म में भी लागू होता है। मैत्रायणी शाखा के अनुसार अन्वारोह के अनन्तर अग्निचयन-कर्म की समाप्ति 'मुख्य समाप्ति' होना सम्भव है। 'सम्भव' पद का प्रयोग इसलिए किया है, क्योंकि अन्य शाखावालों ने अग्निचयन-कर्म की समाप्ति किस अवसर पर मानी है, यह स्पष्ट नहीं है। जहाँ भी कहीं मानी हो, वह औपचारिक हो सकती है। अतः समाप्तिवचन में भेद न रहने से उसकी कर्मभेद-प्रयोजकता भी नष्ट हो जाती है। फलतः शाखान्तरों में अबाध कर्मैक्य सिद्ध होता है। समाप्तिवचन उसमें बाधक नहीं ॥२३॥

क्रमप्राप्त अन्यार्थदर्शन-आक्षेप का समाधान सूत्रकार प्रस्तुत करता है—

लिङ्गमविशिष्टं सर्वशेषत्वान्नहि तत्र कर्मचोदना, तस्माद् द्वादशाहस्याहारव्यपदेशः स्यात् ॥२४॥

[लिङ्गम्] ज्योतिष्टोम-विषयक प्राथम्य लिङ्ग [अविशिष्टम्] समान है, कर्मभेद और कर्मैक्य दोनों पक्षों में, [सर्वशेषत्वात्] सब प्रकार से ज्योतिष्टोम का अङ्ग होने के कारण। [हि] क्योंकि [तत्र] वहाँ ताण्ड्य ब्राह्मण में [कर्मचोदना] ज्योतिष्टोम कर्म का विधान [न] नहीं है। [तस्मात्] इसलिए 'अथ यदि दिदीक्षाणाः' आदि निर्देश [द्वादशाहस्य] द्वादशाह सत्र के विषय में [आहारव्यपदेशः] सम्पर्क के कथन करनेवाला [स्यात्] है, ऐसा जानना चाहिए।

अन्यार्थदर्शन के प्रसंग से 'दिदीक्षाणाः' आदि वाक्यों के आधार पर द्वादशाह-सत्र में दीक्षित, अदीक्षित, दोनों के अधिकार तथा ज्योतिष्टोम के प्राथम्य को लेकर विरोध की कल्पना से जो प्रतिशाखा-कर्मभेद की स्थापना का प्रयास किया गया, वह युक्त नहीं है। कारण यह है, 'दिदीक्षाणाः' आदि पदों का ज्योतिष्टोम के साथ कोई सीधा सम्पर्क नहीं है। उनका सम्बन्ध द्वादशाह सत्र के साथ है। जो द्वादशाह सत्र से दीक्षित हो चुका है, वह बृहत्सामा क्रतु का अनुष्ठान करे, क्योंकि वह रथन्तरसामा क्रतु का यजन कर चुका है। जो अदीक्षित है, वह रथन्तरसामा क्रतु का अनुष्ठान करे। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है, द्वादशाह सत्र में प्रथम रथन्तरसामा क्रतु का यजन होना चाहिए तदनन्तर बृहत्सामा क्रतु का।

'रथन्तरसामा' और 'बृहत्सामा' क्रतु वे कर्म हैं, जिनकी समाप्ति या पूर्णता यथाक्रम रथन्तर सामगान एवं बृहत्सामगान द्वारा होती है।

ताण्डच ब्राह्मण सामवेद का ब्राह्मण है। सामवेद में ज्योतिष्टोम का विधान नहीं है। उसका विधान यजुर्वेद में है। परन्तु उसके प्राथम्य का कथन सामवेद के ब्राह्मण ताण्डच में किया गया है। सामवेद में विधान न होने पर जहाँ भी ज्योतिष्टोम का विधान होगा, वहाँ यह प्राथम्य वचन लागू होगा। सामवेद ब्राह्मण का 'एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः' वचन यजुर्वेद-विहित कर्म में लागू हो रहा है; यह स्थिति इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि प्रतिशाखा एवं प्रतिब्राह्मण कर्म का एकत्व है, भेद नहीं। यजुर्वेद में विहित ज्योतिष्टोम-कर्म समस्त वैदिक वाङ्मय में एक ही है, शाखान्तर से इसमें किसी प्रकार का भेद नहीं ॥२४॥

अन्यार्थदर्शन (क)-सूत्रपठित अन्यार्थदर्शन पर आधारित आशंका के पेटे में जो अन्य—कर्मभेद के—उपोद्बलक हेतु उभारे गये हैं, सूत्रकार यथाक्रम उनका समाधान प्रस्तुत करता है—

द्रव्ये चाचोदितत्वाद् विधीनामव्यवस्था स्यान्निर्देशाद् व्यवतिष्ठेत, तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ॥२५॥

[च] और [द्रव्ये] अग्निचयन-प्रसंग में, पक्षादिसम्मान का [अचोदितत्वात्] विधान न करने से [विधीनाम्] पक्षसम्मान आदि विधियों की यह [अव्यवस्था] अव्यवस्था [स्यात्] हो जाती है। [निर्देशात्] निर्देश=विधि के सामर्थ्य से [व्यवतिष्ठेत] व्यवस्था बन जाती है, अर्थात् अग्निचयनरहित वाचस्तोम आदि क्रतुओं में एकादशिनी इष्टि का कथन होने से यूप-स्थापना के रथाक्षपरिमाण-अन्तराल की व्यवस्था है। [तस्मात्] इसलिए, पक्षसम्मान-विधि का [नित्यानुवादः] नित्य अप्राप्त-रूप अनुवाद [स्यात्] है।

श्येनयाग के अग्निचयन-प्रसंग में पक्षसम्मान आदि का विधान नहीं किया है। वाचस्तोम आदि क्रतुओं में एकादश पशुओं को बाँधने के लिए एकादश यूपों की स्थापना का विधान है। एकादशिनी कर्म इसी का नाम है। यूपों का अन्तराल (मध्य में छूटा स्थान) कितना होना चाहिए? इसी के लिए पक्षसम्मान, वेदिसम्मान आदि का निर्देश है। श्येनयाग के अग्निचयन में उसी का अनुवाद है। अग्निचयन में एक ही यूप की स्थापना की जाती है। पर्याय से ग्यारह पशुओं का उसी में बांधा जाना आचार्यों ने स्वीकार किया है।

जिज्ञासा है, श्येनयाग के अग्निचयन में पक्षसम्मान आदि का विधान न होने से उसकी प्राप्ति ही यहाँ नहीं है, तब उसका उल्लेख क्यों किया गया? आचार्यों

ने ऐसा माना है कि अप्राप्त का भी अनुवाद—किसी आंशिक प्रसंग को लेकर कथन—हो जाता है। जैसे वाक्य है—'न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो न दिवि नान्तरिक्षे'—अग्निचयन न पृथिवी (नग्न भूभाग) पर करना चाहिए, न द्युलोक में, न अन्तरिक्ष में। यहाँ द्युलोक और अन्तरिक्षलोक में अग्निचयन असम्भव होने से प्राप्त ही नहीं है, तो यह निषेध क्यों किया गया? आचार्य ने निर्णय दिया [१।२।१८]—सर्वथा अप्राप्त का भी प्रसंगवश प्रतिषेध करने में कोई बाधा नहीं है। नंगे भूभाग पर अग्निचयन-निषेध-प्रसंग में द्यु आदि में भी निषेध कर दिया गया। इसी को नित्य अप्राप्त का अनुवाद कहा जाता है।

श्येनयागीय अग्निचयन-कर्म में एक यूप की स्थापना की जाती है। इसी आंशिक प्रसंग से एकादश यूपस्थापना विषय के पक्षसम्मान एवं वेदिसम्मान-अन्तराल का यहाँ उल्लेख हो गया है, उसका यहाँ वास्तविक उपयोग नहीं है। एक यूप की स्थापना में अन्तराल का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी रूप में यह केवल अप्राप्त का नित्यानुवादमात्र है। पक्षसम्मान की निन्दा और वेदि-सम्मान की प्रशंसा अर्थवाद है। अग्निचयन में इनके उल्लेख एवं विरोध-रूप असामञ्जस्य के आधार पर इसके समाधान के लिए आक्षेपकर्त्ता ने जो प्रतिशाखा-कर्मभेद का सुझाव दिया, वह उक्त स्थिति में अनवकाशग्रस्त हो जाता है। ऐसे सुझाव का अवकाश तभी सम्भव था, जब अग्निचयन में पक्षसम्मान का विधान होता है। फलतः प्रतिशाखा-कर्म का अभेद ही मान्य है ॥२५॥

क्रमप्राप्त (११) अन्यार्थ दर्शन (ख)-आक्षेप का समाधान सूत्रकार ने प्रस्तुत किया—

विहितप्रतिषेधात् पक्षेऽतिरेकः स्यात् ॥२६॥

[विहितप्रतिषेधात्] अतिरात्र याग में षोडशी पात्र के ग्रहणरूप विधान और अग्रहणरूप प्रतिषेध से [पक्षे] पक्ष में, अर्थात् ग्रहण अथवा अग्रहण पक्ष में तीन या तीन ऋचाओं का [अतिरेकः] विराट् से अतिरेक—अधिक या शेष रह जाना [स्यात्] होता है।

ज्योतिष्टोम के अङ्ग अतिरात्र कर्म के विषय में कहा—'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'—अतिरात्र कर्म में षोडशी ग्रह (पात्र) का ग्रहण करता है, अर्थात् उसको सोमरस से भरता है। उसकी आहुति दी जाती है। अन्य वाक्य है—'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'—अतिरात्र में षोडशी का ग्रहण नहीं करता। दोनों वाक्यों के समानबल होने से अतिरात्र कर्म में षोडशी पात्र के ग्रहण-अग्रहण का विकल्प है, अर्थात् एक पक्ष में षोडशी पात्र को सोमरस से भरकर उसकी आहुति दी जाती है; अन्य अग्रहण-पक्ष में षोडशी पात्र न सोमरस से भरा जाता है, न

आहुति दी जाती है। विधान और प्रतिषेध दोनों समानबल होने से कर्म=आहुति-प्रदान में विकल्प होने के कारण इनमें कोई विरोध नहीं है। फलतः इस स्थिति को प्रतिशाखा-कर्मभेद का प्रयोजक नहीं कहा जा सकता। यह व्यवस्थित कर्म के एकत्व में भी उपपन्न रहती है।

इस प्रसंग में प्रयुक्त होनेवाली स्तोत्रीय ऋचाओं में दो और तीन का अतिरेक किस प्रकार है? इसका विवरण निम्नलिखित के अनुसार समझना चाहिए :

सोमयाग की सात संस्थाएँ हैं—ज्योतिष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय, आप्तोर्याम। इनमें उत्तरोत्तर स्तोत्र-संख्या अधिक होती जाती है। प्रस्तुत सूत्र के शाबर भाष्य के अनुसार विवरण इस प्रकार है—

ज्योतिष्टोम संस्था के स्तोत्र—

प्रातः सवन में—त्रिवृद् (त्रिगुण) बहिष्पवमान ३ × ३ =	९
पञ्चदश आज्य चार = १५ × ४ =	६०
माध्यन्दिन सवन में—सप्तदश पृष्ठ चार = १७ × ४ =	६८
पञ्चदश माध्यन्दिन पवमान एक =	१५
सायं सवन में—सप्तदश आर्भव पवमान एक =	१७
एकविंश यज्ञायज्ञिय एक =	२१
ज्योतिष्टोम की पूर्ण स्तोत्र-संख्या	=१९०

उक्थ्य संस्था के स्तोत्र—

ज्योतिष्टोम संस्था के तीनों सवनों के समस्त स्तोत्र उक्थ्य संस्था में होते हैं—	=१९०
तृतीय (सायं) सवन में इतना अधिक है— एकविंश उक्थ्य तीन = २१ × ३ =	६३
उक्थ्य संस्था की स्तोत्र-संख्या	=२५३

षोडशी संस्था के स्तोत्र—

उक्थ्य संस्था के तीनों सवनों के समस्त स्तोत्र षोडशी संस्था में रहते हैं—	=२५३
तृतीय सवन में इतना अधिक है— एकविंश षोडशी एक—	= २१
षोडशी संस्था की स्तोत्र-संख्या—	=२७४

अतिरात्र संस्था के स्तोत्र—जब अतिरात्र में षोडशी का ग्रहण होता है—

षोडशी संस्था के तीनों सवनों के समस्त स्तोत्र
अतिरात्र संस्था में रहते हैं— २७४
पञ्चदश रात्रि पर्याय चार-चार स्तोत्रों
के तीन = १५ × ४ × ३ = १८०
त्रिवृत् रथन्तर = ३ × ३ = ९

षोडशी सहित अतिरात्र की स्तोत्र-संख्या = ४६३

इस प्रकार षोडशी ग्रहण-पक्ष में अतिरात्र संस्था की समस्त स्तोत्रीय संख्या ४६३ होती है। इसको विराट् = १० संख्या से विभाजित कर देने पर ३ स्तोत्र अतिरिक्त बचे रह जाते हैं। षोडशी के अग्रहण-पक्ष में, अर्थात् जब षोडशी का ग्रहण अतिरात्र संस्था में नहीं किया जाता, तब षोडशी के विशिष्ट २१ स्तोत्र निकालकर अतिरात्र संस्था के ४६३—२१=४४२ शेष रहते हैं। इनको विराट् = १० संख्या से विभाजित कर देने पर २ स्तोत्र शेष बचे रह जाते हैं।

उक्त प्रकार से दो और तीन का अतिरेक स्पष्ट हो जाता है। यह एक नियत व्यवस्था होने से भेदपक्ष में भी अस्वीकार्य नहीं है। अतः इसको प्रतिशाखा-कर्मभेद का प्रयोजक नहीं कहा जा सकता ॥२६॥

क्रमानुसार (१२) अन्यार्थदर्शन (ग)-आक्षेप का समाधान सूत्रकार प्रस्तुत करता है—

सारस्वते विप्रतिषेधाद् यदेति स्यात् ॥२७॥

[सारस्वते] सारस्वत सत्र में [विप्रतिषेधात्] परस्पर विरोध होने से [यदा-इति] यदा-'यत्' पद के प्रयोग द्वारा यह निश्चय [स्यात्] होता है।

आक्षेप-सूत्र (८) की व्याख्या में १२ संख्या पर सारस्वत-सत्र को लक्ष्य कर परस्पर-विरोध का सामञ्जस्य प्रतिशाखा-कर्मभेद मानने के आधार पर बताया है। प्रस्तुत सूत्र द्वारा सूत्रकार उसका समाधान करता है—सारस्वत-सत्रविषयक कथन में कोई विरोध नहीं है, इसका निश्चय वहाँ प्रयुक्त 'यत्' पद के द्वारा होता है। वहाँ पाठ है—'ये पुरोडाशिनस्ते उपविशन्ति ये सान्नायिनस्ते वत्सान् वारयन्ति', यहाँ 'ये पुरोडाशिनः···ये सान्नायिनः' यह 'यत्' पद का प्रयोग इस बात का निश्चायक है कि इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है।

विरोध का स्वरूप है—बारह दिन में सम्पन्न होनेवाला सारस्वत-सत्र होमयाग का अङ्ग है। सोमयाग की एक संस्था ज्योतिष्टोम है, जिसके विषय में ब्राह्मणग्रन्थ बताता है—यह प्रथम यज्ञ है, जो ज्योतिष्टोम है। इससे यजन न करके जो अन्य से यजन करता है, वह गर्त्त में गिरता है।[1] सारस्वतसत्र के अन्तर्गत

१. एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः। य एतेनाऽनिष्ट्वाऽन्येन यजते, गर्ते पतति।

दर्श-पूर्णमास में 'ये पुरोडाशिनः' इत्यादि वाक्य द्वारा उन दोनों का प्रवेश बताया, जिसने ज्योतिष्टोमादिरूप सोमयाग किया है, और जिसने नहीं किया। न करनेवाले का दर्शपूर्णमास में प्रवेश 'एव वाव प्रथमो यज्ञः' इत्यादि वाक्य के विरुद्ध हो जाता है; क्योंकि यह वाक्य सोमयाग का यजन न किए हुए व्यक्ति का सत्र में प्रवेश निषिद्ध करता है।

सूत्रकार ने समाधान किया—सारस्वत-सत्र द्वादशाह-कर्म है, अर्थात् बारह दिन में पूरा होता है। द्वादशाह-कर्म की सत्र-संज्ञा विकल्प से मानी गई है। जिस पक्ष में वह सत्र-संज्ञक नहीं है, तब पुरोडाशयाजी व्यक्ति भी उसमें प्रवेश पाने का अधिकारी है। परन्तु दूसरे सत्रसंज्ञक पक्ष के रहने या मानने पर वह दर्श-पूर्णमास में अनुष्ठान का अधिकारी नहीं होता। इस तथ्य का निश्चय 'ये पुरोडाशिनः···ये सान्नाय्ययाजिनः' आदि वाक्य में 'यत्' पद के प्रयोग से स्पष्ट होता है। जो पुरोडाशयाजी हैं, वे चुपचाप बैठे रहते हैं। द्वादशाह के असत्र-पक्ष में उनका दर्श-पूर्णमास के अवसर उपस्थित होना अशास्त्रीय नहीं है। अनुष्ठान में सक्रिय भाग न लेना, 'एष वाव प्रथमो यज्ञः' के साथ विरोध को उभरने नहीं देता। जो सान्नाय्ययाजी हैं, वे अनुष्ठान में सक्रिय भाग लेते हैं। यही उक्त वाक्य में स्पष्ट किया है। यहाँ किसी प्रकार के विरोध की स्थिति नहीं है।

सूत्र में "यदेति' पद का च्छेद 'यदा-इति' है। 'यदा' पद कालवाचक अव्यय नहीं है, अपितु 'यत्' सर्वनाम पद का तृतीया विभक्ति एकवचन के साथ स्वरूप-निर्देश है। अर्थ होगा—'ये पुरो०' इत्यादि वाक्य में 'यत्' पद के प्रयोग द्वारा जैसा प्रथम सूत्रार्थ में किया है। 'इति' पद विरोध के स्वरूप को हटाकर निश्चय अर्थ का द्योतक है ॥२७॥

उक्त बारह आक्षेपों का समाधान समझने पर शिष्य अन्तिम आक्षेप को लक्ष्य कर दृढ़तापूर्वक जिज्ञासा करता है—उपहव्य नामक कर्म के विषय में शास्त्र द्वारा जो कहा गया है, वह प्रतिशाखा-कर्मभेद मानने पर ही उपपन्न होता है। अधिक स्पष्टता के लिए शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

उपहव्येऽप्रतिप्रसवः ॥२८॥

[उपहव्ये] उपहव्य नामक एकाह-कर्म में रथन्तरसाम और बृहत्साम का [अप्रतिप्रसवः] प्रतिप्रसव—पुनःकथन निष्प्रयोजन है, अनावश्यक है; क्योंकि प्रतिशाखा एक कर्म मानने पर उपहव्य में उसके प्रकृतियाग अग्निष्टोम से बृहत्साम और रथन्तरसाम की विकल्प से प्राप्ति हो ही जाती है। इसका समाधान होना चाहिए ॥२८॥

अन्तिम (१३) अन्यार्थदर्शन (घ)-आक्षेप का समाधान सूत्रकार ने किया—

गुणार्था वा पुनः श्रुतिः ॥२६॥

[वा] यह पद पूर्वपक्ष के परिहार के लिए है, उपहव्य में बृहद् रथन्तरसामों का पुनःश्रवण निष्प्रयोजन अथवा अनावश्यक नहीं है। अतः [पुनः श्रुतिः] उपहव्य में बृहद्-रथन्तर सामों का पुनःश्रवण [गुणार्था] श्याव अश्व-दक्षिणा एवं श्वेत अश्व-दक्षिणारूप गुण के विधान के लिए है।

जब उपहव्य-कर्म रथन्तर सामवाला होता है, तब उसकी दक्षिणा श्याव अश्व है, तथा जब उपहव्य बृहत्सामवाला होता है, तब उसकी दक्षिणा श्वेत अश्व है। इस गुणविधान के लिए उपहव्य-कर्म में बृहत्साम एवं रथन्तरसाम का पुनः कथन है ॥२६॥

आक्षेपों के उपयुक्त समाधान के अनन्तर प्रतिशाखा-कर्म के एक होने में सूत्रकार ने अतिरिक्त हेतु प्रस्तुत किया—

प्रत्ययञ्चापि दर्शयति ॥३०॥

[प्रत्ययम्] सब शाखाओं में कर्म एक है, इस प्रत्यय = जानकारी को [चापि[1]] भी [दर्शयति] आम्नाय दिखाता है—बतलाता है।

वैदिक वाङ्मय का परस्पर व्यवहार अर्थात् कर्मविषयक विवरण इस तथ्य का बोध कराता है कि सब शाखाओं में सोमयाग अथवा ज्योतिष्टोम आदि पदों से कहा गया कर्म एक है। तात्पर्य है—विभिन्न शाखाओं में सोमयाग पद से कहा गया कर्म सर्वत्र एक है। इसीप्रकार ज्योतिष्टोम-कर्म सर्वत्र एक है। अग्निहोत्र आदि अन्य सब कर्मों के विषय में भी यही समझना चाहिए। इसी कारण वैदिक वाङ्मय में यह देखा जाता है कि एक शाखा में किसी एक कर्म का विधान किया जाता है और दूसरी शाखा में उसके गुणों का विधान। यह स्थिति सब शाखाओं में कर्म के एकत्व को सिद्ध करती है। जहाँ कर्म का कथन नहीं, वहाँ अन्य शाखा से कर्म का उपसंहार कर लिया जाता है; जहाँ गुण का विधान नहीं, वहाँ अन्य शाखा से गुण का उपसंहार हो जाता है। जहाँ दोनों का विधान है, वह सभी अन्य शाखाओं को मान्य होता है। तात्पर्य है, कर्म का कोई अङ्ग यदि किसी शाखा में पठित नहीं है, तो जहाँ पठित है, वहाँ से उसकी पूर्त्ति कर लेनी चाहिए। जैसे मैत्रायणी[2] शाखा में समित् आदि पाँच प्रयाज पठित नहीं हैं[3], परन्तु उनके गुण

१. 'चापि' यह निपात समुदाय-समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त है। 'चापीति निपात-समुदाय उक्तसमुच्चये' (कुतूहल वृत्ति), यु० मी०।

२. मैत्रायणी संहिता, १।४।१२॥

३. पाँच प्रयाज याग हैं—समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति।

वहाँ सुने जाते हैं—'ऋतवो वै प्रयाजा:'—निश्चय ही प्रयाज ऋतुएँ हैं। 'समानत्र होतव्या:'—यथास्थान बैठकर प्रयाज होम किए जाने चाहिएँ, आगे-पीछे हटना नहीं चाहिए। यहाँ केवल गुण-विधान है; जिस शाखा में प्रयाज-कर्म का विधान है, उसका यहाँ उपसंहार कर लेना चाहिए। इस प्रकार सब शाखाओं में कर्म का एकत्व सिद्ध होता है ॥३०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—विभिन्न शाखाओं में कर्मों के अङ्गों का पाठक्रम एक-दूसरे से भिन्न है। उसके अनुसार कर्मानुष्ठान का क्रम होने पर कर्म का एकत्व सम्भव नहीं। सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

अपि वा क्रमसंयोगाद् विधिपृथक्त्वमेकस्यां[1]
व्यवतिष्ठेत ॥३१॥

[अपि वा] 'अपि वा' निपात-समुच्चय सब शाखाओं में ज्ञात कर्मैकत्व के प्रतिषेध के लिए है। तात्पर्य है, सब शाखाओं में जाना गया कर्म एक नहीं है, [क्रमसंयोगात्] विभिन्न शाखाओं में विहित कर्मों व तत्सम्बन्धी अङ्गों के क्रम का संयोग-सम्बन्ध उसी शाखा से [व्यवतिष्ठेत] व्यवस्थित होगा। शाखान्तरों के साथ उनका कोई सम्बन्ध न होगा।

विभिन्न शाखाओं में कर्मों व अङ्गों का पाठ-क्रम परस्पर भिन्न देखा जाता है। सर्वत्र समान नहीं है। कर्मों का अनुष्ठान उसी क्रम से होना उचित है। यदि ऐसा नहीं किया जाता, तो पाठक्रम टूट जाता है, जो युक्त नहीं। ऐसी स्थिति में प्रतिशाखा-पाठक्रम के अनुसार कर्मानुष्ठान किए जाने से कर्म का एकत्व खण्डित हो जाता है। जो क्रम जिस शाखा में पठित है, वह वहीं व्यवस्थित माना जाना चाहिए। शाखान्तरों में उपसंहार सम्भव नहीं ॥३१॥

जिज्ञासा का सूत्रकार ने समाधान किया—

विरोधिना त्वसंयोगादैककर्म्ये तत्संयोगाद् विधीनां
सर्वकर्मप्रत्ययः स्यात् ॥३२॥

[तु] 'तु' पद पूर्वपक्ष के परिहार के लिए है; विभिन्न शाखाओं में कर्मभेद नहीं है। [विरोधिना] विरोधी क्रम के साथ [असंयोगात्] वाक्यविहित कर्म का सम्बन्ध न होने से [ऐककर्म्ये] विभिन्न शाखाओं में कर्म की एकता का बोध हो जाने पर [विधीनाम्] सर्वशाखा-पठित अङ्गविधियों के [तत्संयोगात्] उस कर्म के साथ सम्बन्ध होने के कारण [सर्वकर्मप्रत्ययः] सब शाखाओं में विहित अङ्ग कर्मों के साथ सम्बन्ध की जानकारी [स्यात्] हो जाती है।

---

१. अत्र 'शाखायां' इत्यधिकः पाठः। सुबोधिनी वृत्ति।

'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः, दर्श-पूर्णमासाभ्यां यजेत, वाजपेयेन यजेत' इत्यादि विधिवाक्यों से बोधित कर्मों का एकत्व सब शाखाओं-ब्राह्मणों आदि में समान रूप से उपलब्ध है; न इनमें कहीं कोई भेद है, न विरोध। प्रतिशाखा-कर्म के अभेद का यह मूल आधार है। यदि कहीं किसी शाखा आदि में किसी कर्म का कोई अङ्ग विशेष शाखान्तर से पाठक्रमभेद आदि के कारण भिन्न प्रतीत होता है, तो यह भेद मुख्य कर्म — अर्थात् प्रकृतिभूत कर्म —के भेद में प्रयोजक नहीं होता, क्योंकि शाखान्तरों में विहित मुख्य कर्म के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। तात्पर्य है, प्रकृतिभूत याग-कर्म अपने रूप में सर्वत्र अक्षुण्ण बना रहता है। उस शाखा का अनुयायी प्रकृतियाग का अनुष्ठान उसी अङ्ग के साथ कर सकता है, जो उसकी शाखा में पठित है।

कर्म का अनुष्ठान अनुष्ठाता के सामर्थ्य पर अवलम्बित है। यदि वह समर्थ है, तो अपनी शाखा में अपठित कर्मांग का शाखान्तर से उपसंहार कर अनुष्ठान करने में किसी तरह की कोई बाधा नहीं है। असमर्थ होने पर केवल स्वशाखा-पठित कर्म का अनुष्ठान करे। ऐसी व्यवस्था शास्त्रानुसार प्रामाणिक आचार्यों ने की है। यह स्थिति सब शाखाओं में कर्म की एकता को स्पष्ट करती है।

इसके अतिरिक्त अन्य व्यवस्था है—जब कोई विधिवाक्य समानबल होते हैं, तब वहाँ विकल्प माना जाता है। वह न विरोध है, न कर्म के भेद का घटक। दोनों में से किसी एक का—अपने सामर्थ्य व स्वेच्छानुसार—अनुष्ठान किया जा सकता है। इसमें कर्म की पूर्णता सम्पन्न होती है; न वहाँ कर्मविषयक किसी विकार की आशंका है, न किसी न्यूनता की। कर्म का एकत्व सर्वत्र निर्बाध बना रहता है ॥३२॥ (इति सर्वशाखाप्रत्ययैककर्मताऽधिकरणम्—२)।

इति श्री पूर्णसिंहतनूजेन तोफादेवी - गर्भजेन बलियामण्डलान्तर्गत 'छाता' - वासि श्री गुरुवरकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्ध-विद्योदयेन, बुलन्दशहर मण्डलान्तर्गत पहासूपकण्ठ 'बनैल-ग्रामाभिजनेन साम्प्रतं गाजियाबाद नगर निवा-सिना विद्यावाचस्पतिना उदयवीर शास्त्रिणा' समुन्नीते जैमिनीय मीमांसादर्शन विद्योदयभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः।

समाप्तश्चायं नानाकर्मलक्षणो द्वितीयाध्यायः ॥

खवेदखनेत्रमिते वैक्रमे वत्सरे शुभे।
भाद्रमासाऽसिते पक्षे चतुर्दश्यां तिथौ तथा ॥
समाप्तिमागादध्यायो द्वितीयो भौमवासरे।
प्रीयन्तां तेन गुरवः पूज्याश्च पितृदेवताः ॥

अथ तृतीयाध्याये प्रथमः पादः

(प्रतिज्ञाऽधिकरणम्—१)

द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में की गई प्रतिज्ञा के अनुसार गत अध्याय में कर्म-भेद के छह प्रयोजक—शब्दान्तर, अभ्यास, संख्या, गुण, प्रक्रिया (=प्रकरण), नामधेय (=संज्ञा) के आधार पर कर्मविषयक विवेचन प्रस्तुत किया गया, तथा उनके अपवाद एवं सब शाखाओं में कर्म की एकता का उपपादन सम्पन्न हुआ। अब शेष का विवरण प्रस्तुत करने के लिए तृतीय अध्याय प्रारम्भ किया जाता है, जिसका प्रथम सूत्र है—

अथातः शेषलक्षणम् ॥१॥

[अथ] नानाकर्मलक्षण के अनन्तर [अतः] यहाँ से अवसरप्राप्त [शेष-लक्षणम्] शेष का लक्षण निरूपण करेंगे।

कर्म के भेदाभेद को प्रकट करनेवाले लक्षणों—प्रमाणों का प्रतिपादन हो चुका है। अब शेष का लक्षण निरूपित किया जायगा। शेष क्या है? किस कारण वह शेष कहा जाता है? उसका विनियोग—शास्त्र में व्यवहार—किस प्रकार होता है? विनियोग के कारण श्रुति आदि हैं, इन सबका विवरण प्रस्तुत किया जायगा। श्रुति आदि प्रमाणों में कौन बलवान्—अधिक प्रामाणिक तथा कौन निर्बल—न्यून प्रामाणिक है, इसके विवेचन के साथ अन्य प्रासंगिक विषयों का उपयोगी उपपादन किया जायगा ॥१॥ (इति प्रतिज्ञाऽधिकरणम्—१)।

(शेषलक्षणाऽधिकरणम्—२)

उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार सूत्रकार ने शेष का लक्षण प्रस्तुत किया—

शेषः परार्थत्वात् ॥२॥

[शेषः] शेष=अङ्ग अथवा अप्रधान कहा जाता है, [परार्थत्वात्] दूसरे के लिए होने से; उसका अस्तित्व अन्य=प्रधान के लिए होता है।

'शेष' सम्बन्धी पद है। मीमांसाशास्त्र में यह पद 'अङ्ग' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। कोई भी शेष या अङ्गभूत कार्य अपने शेषी अथवा अङ्गी के लिए होता है। इन दोनों के सम्बन्ध को 'शेषशेषिभाव' अथवा 'अङ्गाङ्गिभाव' कहा जाता है। अनेक अङ्गों के सहयोग से अङ्गी का कलेवर पूर्ण अथवा सम्पन्न होता है, इसी भावना से अङ्गी प्रधान और अङ्ग अप्रधान है। सब अङ्ग मिलकर अङ्गी को पूर्ण अस्तित्व में लाते हैं, इसीलिये अङ्ग परार्थ हैं, अङ्गी के लिए है,—यह कहा जाता है। जो सर्वथा अन्य के प्रयोजन को सिद्ध करनेवाला हो, वह शेष है; इसको स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार शबरस्वामी ने 'गर्भदास' का उदाहरण दिया है। दास का पुत्र[1] गर्भ में आते ही स्वामी के निमित्त अपने जीवन को सर्वात्मना अर्पण कर देने के लिए बाधित होता है। इसी प्रकार याग आदि कार्य में जो क्रिया पूर्णरूप से केवल यागादि-सम्पादन में उपयोगी है, उपकारक है, वह मीमांसा में 'शेष' पदवाच्य है।[2]

---

१. "गर्भदास—जब तक भारत में वैदिक व्यवस्था चलती रही, तब तक यहाँ दासप्रथा नहीं थी। शूद्रों को भी सभी मानवाधिकार प्राप्त थे, क्योंकि वैदिक धर्म की घोषणा है—'न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' [महा० शान्ति० २०६।२०], अर्थात् मानव से श्रेष्ठ इस संसार में कोई नहीं है। मानवता के नाते ही वेद में स्पष्ट आदेश है—'अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय' [ऋ० ५।६०।५], अर्थात् मानवों में न कोई श्रेष्ठ है और न कोई हीन; सब भाई-भाई हैं और मिलकर अपने सौभाग्य के लिए आगे बढ़ते हैं। उत्तरकाल में जब धनधान्य से समर्थ व्यक्ति मद-मोह-लोभ-अहंकार के वशीभूत हो गया, तो उसने अपने से हीन सामर्थ्यवालों पर अपना आधिपत्य जमाया और अन्त में धनहीन व्यक्तियों को अपना दास (=गुलाम) बनाया। इस जघन्य प्रथा की यहाँ तक प्रवृत्ति हुई कि दास-दासी की सन्तानें भी दास-दासी माने जाते रहे। भाष्यकार के समय यह जघन्य प्रथा अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी, यह गर्भदास शब्द से ही स्पष्ट है। वैदिक काल में शूद्रवर्ग विविध कार्य करनेहारे कर्मकर तो होते थे, परन्तु दास नहीं माने जाते थे। ऋत्विक् जो ब्राह्मण होता है वह भी दक्षिणा द्वारा यजमान से क्रीत होने से कर्मकर ही होता है।...स्वामी गर्भदास के योग-क्षेम की व्यवस्था भी इसलिए करता है कि यदि वह स्वस्थ और बलवान् रहेगा, तो मेरा अधिक कार्य करेगा। गर्भदास के प्रति अनुकम्पा से प्रेरित होकर स्वामी उसका ध्यान नहीं रखता है। इस प्रकार गर्भदास के प्रति उपकार में भी स्वामी का अपना ही स्वार्थ होता है।" (यु० मी०)।

२. इसके उदाहरण अग्रिम सूत्रों में यथावसर दिए गए हैं।

यह कहना उचित नहीं कि कभी प्रधानभूत भी अन्य के लिए उपकारक होता है। जैसे प्रधानभूत गुरु शिष्यों को विद्वान् और विनयशील बनाने के लिए प्रयत्न करता है, इसी प्रकार प्रधानभूत स्वामी को—दास के जीवन-निर्वाह के लिए धनादि व्यय द्वारा—दासनिमित्त कर्म करनेवाला कहा जा सकता है। इस कथन में अनौचित्य इसी कारण है कि स्वामी दास के लिए जो धनादि व्यय करता है, वह पूर्णरूप से अपने स्वार्थ की भावना से करता है, जिससे कि दास स्वस्थ व बलवान् रहकर उसकी अधिकाधिक सेवा में संलग्न रह सके। गुरु-शिष्य-भाव में भी गुरु के आंशिक स्वार्थ की कल्पना भी निराधार नहीं है। इसी प्रकार मीमांसा में व्रीहिप्रोक्षण आदि अङ्ग सर्वात्मना याग के लिए होते हैं। याग प्रधान है, शेषी है, अङ्गी है। यहाँ शेष वही है, जो अत्यन्त परार्थ है।

यह प्रथम [मी० २।१।७] निर्देश किया जा चुका है कि जो वाक्यगत क्रिया-पद द्रव्य के संस्कार व गुण आदि के विधायक हैं, वे उतने ही दृष्ट प्रयोजन का बोध कराते हैं; 'अपूर्व' के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इस प्रकार के समस्त आख्यात=क्रियापद अङ्गभूत कर्म के विधायक होते हैं। इस शास्त्र में शेष का यही लक्षण है। इसके अन्तर्गत सब प्रकार के शेष आ जाते हैं। तात्पर्य है, जिस कर्म का 'अपूर्व' के साथ किसी प्रकार का कोई सीधा सम्बन्ध न हो, वह शेष अथवा अङ्गभूत कर्म माना जाता है ॥२॥ (इति शेषलक्षणाऽधिकरणम्—२)।

(शेषलक्ष्याऽधिकरणम्—३)

शिष्य जिज्ञासा करता है—शेष लक्षण के अनन्तर यह स्पष्ट होना चाहिए कि शेष के लक्ष्य प्रदेश कौन हैं ? सूत्रकार ने बादरि आचार्य के मुख से वह अर्थ स्पष्ट कराया—

द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः ॥३॥

[बादरिः] बादरि आचार्य [द्रव्यगुणसंस्कारेषु] द्रव्य, गुण और संस्कार में शेषत्व=परार्थता मानता है।

बादरि आचार्य का कहना है कि 'शेष' पद का व्यवहार द्रव्य, गुण और संस्कार विषय में होता है, अर्थात् द्रव्य, गुण, संस्कार शेष के लक्ष्य हैं, क्षेत्र हैं। द्रव्य, गुण और संस्कार परार्थ हैं, अन्य के लिए हैं। इसलिए वे 'शेष' पद से व्यवहृत होते हैं। वे अन्य कौन हैं जिसके लिए ये हैं ? वे हैं—याग, फल और अनुष्ठाता पुरुष। ये शेष=अङ्ग नहीं हैं; प्रत्युत शेषी=अङ्गी हैं। मीमांसावर्णित समस्त क्रियाकलाप में जो कुछ अनुष्ठेय होता है, वह सब इन्हीं के लिए होता है।

द्रव्य—व्रीहि, यव, आज्य आदि हैं, तथा अन्य विविध प्रकार की सामग्री, जो याग-सम्पादन के लिए आहित अग्नि में आहुत की जाती है। ये सब याग के

लिए हैं, इनके बिना याग सम्पन्न नहीं होता। उसकी सिद्धि के लिए द्रव्य अपेक्षित होता है; इसलिए द्रव्य याग आदि क्रिया के लिए है, यह स्पष्ट होता है।

गुण—व्रीहि के श्वेत आदि रूप गुण हैं। व्रीहि लाल, धूसर (मटमैला जैसा) आदि कई रूप का होता है। याग के लिए शुक्लरूप व्रीहि प्रशस्त माना जाता है। शुक्ल गुण उस विशिष्ट द्रव्य को लक्षित करता है, जो क्रिया का साधन है। इस-लिए वह गुण भी द्रव्य-प्रस्तुति द्वारा यागादि क्रिया का उपकारक है। फलतः उसी के लिए होने के कारण वह शेष है।

संस्कार—वह है, जिसके निष्पन्न हो जाने पर द्रव्य किसी प्रयोजन के लिए उपयोगी हो पाता है। व्रीहि का प्रोक्षण—जल से धोकर साफ करना, मिट्टी-धूल-कूड़ा आदि उसमें न रहे, फिर उसका अवहनन=कूटना, छड़ना आदि, जिससे तुष=छिलका अलग हो जाय, शुद्ध चावल निकल आये; यह व्रीहि का संस्कार है। इससे वह याग के लिए उपयोगी बन जाता है। यह संस्कार उक्त रूप में याग के लिए द्रव्य के प्रस्तुतीकरण द्वारा याग का उपकारक है। अन्य सामग्री में छुहारा, गोला, दाख आदि मेवा कीड़ों के खाये न हों, उनमें कहीं मैल-जाला आदि लगा न हो, जल आदि से धोकर उन्हें साफ-स्वच्छ कर लेना उनका संस्कार है। यह द्रव्य को यागोपयोगी बनाकर याग का उपकारक होने से शेष है। इसी प्रकार आज्य=घृत को तपाकर छानना, अच्छी तरह देख लेना, उसमें कोई अन्य वस्तु या कीट आदि न गिर गया हो, यह आज्य का संस्कार है। पिघलाये हुए घी का नाम 'आज्य'[1] है। इस रूप में यह याग का उपकारक है, अतः शेष पदार्थ की सीमा में आता है।

याग मुख्य कर्त्तव्य है, पुरुष उसका अनुष्ठाता है, तथा याग सम्पन्न हो जाने पर फल का भोक्ता है। ये अन्य किसी के लिए नहीं होते, प्रत्युत अन्य संभार (तैयारियाँ) इन्हीं के लिए होते हैं; इसलिए ये किसी के शेष नहीं। ये शेषी या अङ्गी कहे जाते हैं। फलतः परार्थता या शेषत्व द्रव्य, गुण, संस्कार में ही है, ऐसा बादरि आचार्य का विचार है ॥३॥

बादरि आचार्य के उक्त विचार में आचार्य जैमिनि ने सुझाव प्रस्तुत किया—

कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात् ॥४॥

[कर्माणि] याग आदि कर्म [अपि] भी [फलार्थत्वात्] फल के लिए होने के कारण शेषभूत सम्भव हैं, यह [जैमिनिः] जैमिनि आचार्य का कहना है।

---

१. 'आज्य' पद का 'अजा' से सम्बन्ध जोड़ना नितान्त अशास्त्रीय है। अजा-दुग्ध से सम्पन्न घृत का याग के लिए प्रयोग होने में कोई प्रमाण नहीं है। गोघृत के स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं।

शेष पद का व्यवहार्य अर्थ बताने के लिए जिस पद्धति का आश्रय आचार्य बादरि ने लिया, उसके अनुसार याग आदि भी शेषभूत माने जा सकते हैं। जैसे व्रीहि आदि द्रव्य याग के लिए होने के कारण शेषभूत हैं, वैसे ही याग आदि कर्म भी अपूर्व द्वारा स्वर्ग आदि फल के लिए होने के कारण शेषभूत क्यों न माने जायें ? जैसे व्रीहि आदि द्रव्य के बिना याग सम्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार याग के बिना स्वर्ग सम्पन्न नहीं होता; अतः याग स्वर्गादि फल का शेष है।

प्रायः समस्त याग कामनामूलक होते हैं। उस कामना की सम्पन्नता याग के बिना सम्भव नहीं। जो अग्निहोत्र आदि कामनारहित नित्यकर्म माने जाते हैं, उनके अनुष्ठान का भी प्रत्यवाय—परिहार[1] फल है। वह अग्निहोत्र आदि कर्म के बिना सम्भव नहीं। अतः सभी कर्म भी शेष के पेटे में आ जाते हैं। अतः बादरि आचार्य का कथन चिन्तनीय है ॥४॥

शेष पद के व्यवहार्य अर्थ को खोजने का यह क्रम फल पर समाप्त न होकर आगे भी चलता है। सूत्रकार ने कहा—

फलं च पुरुषार्थत्वात् ॥५॥

[फलम्] स्वर्ग आदि फल [च] भी शेषभूत सम्भव है, [पुरुषार्थत्वात्] पुरुष के लिए होने के कारण।

शास्त्र में स्वर्ग आदि फल का उपदेश पुरुष के लिए है। स्वर्गफल की कामना पुरुष को होती है—मुझे स्वर्ग प्राप्त हो। फलप्राप्ति की कामना करनेवाले पुरुष के लिए स्वर्गफल-साधन याग का विधान है। जो पुरुष याग का अनुष्ठाता है, याग से होनेवाला फल उसी को प्राप्त होता है। अतः फल पुरुष के लिए है, यह स्पष्ट होता है। तब फल भी शेष के पेटे में आ जाता है।

अनुष्ठाता पुरुष के लिए फल की प्राप्ति-निमित्त ही याग का अनुष्ठान किया जाता है। ऐसा समझना कि याग सम्पन्न हो जाने पर फल स्वतः प्राप्त हो जाता है, ठीक नहीं; क्योंकि स्वयं 'फल' यह पद इस तथ्य को स्पष्ट कर रहा है कि किसी के प्रयोजन को पूरा करने के लिए अपने उपयुक्त कारणों से इसे उत्पन्न किया गया है। याग उसका साधन है, इसी रूप में पुरुष के लिए फल-प्राप्ति-निमित्त याग का विधान है। केवल स्वर्ग के आत्म-लाभ के लिए याग का विधान नहीं है। तात्पर्य है, स्वर्ग के अपने रूप में उभर आने मात्र के लिए याग का विधान

---

१. अग्निहोत्र आदि नित्य कर्मों का अनुष्ठान न करने में आचार्यों ने प्रत्यवाय—न्यूनता दोष, पाप अथवा अपराध बताया है। अनुष्ठान करते रहने पर वह प्रत्यवाय नहीं हो पाता, अतः नित्य कर्मानुष्ठान का फल—प्रत्यवाय परिहार—युक्त है।

हो, ऐसी बात नहीं है। याग स्वर्ग का साधन है, तथा स्वर्ग की कामनावाले पुरुष के द्वारा अनुष्ठित होने के कारण यागसाध्य फल साधयिता पुरुष के लिए है, यह स्पष्ट होता है ॥५॥

इसी क्रम को सूत्रकार जैमिनि ने आगे बढ़ाया—

पुरुषश्च कर्मार्थत्वात् ॥६॥

[पुरुषः] पुरुष [च] भी [कर्मार्थत्वात्] कर्म के लिए होने के कारण कर्म के प्रति शेषभूत है।

पुरुष को कर्म के प्रति शेषभूत बताने में सूत्रकार का 'कर्म' पद से तात्पर्य सामान्य याग आदि कर्म नहीं है, प्रत्युत विशेष याग से तात्पर्य है। सोमयागों में सदो मण्डप के बीच गूलर वृक्ष की एक शाखा गाड़ी जाती है। उसका स्पर्श करने के अनन्तर सामगानकर्त्ता उससे पीठ लगाकर साम का गान करता है। उस विषय में यह प्रश्न उठने पर कि गूलर की शाखा कितनी ऊँची गाड़ी जाय? इसका समाधान किया गया है—'यजमानसम्मिता औदुम्बरी भवति'—गूलर शाखा की ऊँचाई यजमान पुरुष के बराबर होनी चाहिए। यहाँ यजमान का उपयोग गूलर शाखा की ऊँचाई नापने के लिए किया गया है, अतः यजमान पुरुष भी इस कर्म के प्रति शेषभूत है।

ऐसी स्थिति में बादरि आचार्य का यह कथन कि शेष पद के अर्थ का क्षेत्र—द्रव्य, गुण, संस्कार, इन तीन में सीमित है—सन्देह में पड़ जाता है। क्योंकि द्रव्य, गुण, संस्कार जिन याग, फल, पुरुष के प्रति शेषभूत बताये गये, वे याग आदि भी अन्य-अन्य के प्रति शेषभूत हैं, यह गत सूत्रों में सूत्रकार ने बताया। इस सब चर्चा से सूत्रकार का तात्पर्य 'परार्थ' हेतु में कुछ सुझाव देना प्रतीत होता है। सुझाव है—जो कर्म केवल परार्थ हैं, वे शेष पद के क्षेत्र में आते हैं। तात्पर्य है, जो कर्म केवल अन्य के लिए शेषभूत हैं, पर उनके लिए अन्य कोई शेषभूत नहीं हैं, ऐसे कर्म ही शेष के क्षेत्र में आते हैं। याग, फल, पुरुष—द्रव्यादि के लिए—शेषी हैं, पर द्रव्य, गुण, संस्कार किसी के भी प्रति शेषी नहीं हैं; वे नियमित रूप से 'शेष' मात्र हैं। इसी आधार पर बादरि आचार्य ने उनका नाम लेकर शेष पद के अर्थ की अवधारणा की है। भाष्यकार शबर स्वामी ने जैमिनीय सूत्रों के प्राचीन व्याख्याकार भगवान् उपवर्ष का प्रमाण देकर उक्त भावना को सुपुष्ट किया है।

समस्त नैमित्तिक कर्म 'अपूर्व'-उत्पत्ति के लिए किये जाते हैं। उस 'अपूर्व' के साथ जिनका किसी भी प्रकार का सीधा सम्बन्ध है, वे शेषी हैं; उनसे बचे हुए अन्य सब कर्म शेषभूत हैं; उक्त चर्चा का इतना ही सार है। याग अपूर्व का जनक होने से, फल स्वर्गादि-जन्य होने से, पुरुष आश्रय होने से अपूर्व के साथ सीधे सम्बद्ध हैं, अतः शेषी हैं। इनसे अतिरिक्त जो बचे, वे सब शेष हैं। द्रव्य, गुण,

संस्कार ऐसे ही हैं; उनका अपूर्व के साथ किसी प्रकार का भी सीधा सम्बन्ध नहीं है, अत: वे केवल शेष हैं ॥६॥ (इति शेषलक्ष्याऽधिकरणम्—३)।

(निर्वपणादीनामर्थानुसारेण व्यवस्थितविषयताऽधिकरणम्—४)

प्रत्येक प्रधान याग के अवसर पर शास्त्रीय नियम[1] के अनुसार चार-चार मुट्ठी व्रीहि आदि हव्य द्रव्य का ग्रहण करना 'निर्वाप' कहाता है।

शिष्य जिज्ञासा करता है—दर्श-पूर्णमास प्रकरण में व्रीहि आदि यागोपयोगी द्रव्यों के निर्वाप[1], प्रोक्षण, अवहनन आदि धर्म; आज्य के विलापन, उत्पवन, ग्रहण, आसादन आदि धर्म; तथा सान्नाय्य के शाखाहरण, गायों का प्रस्थापन एवं पसुआना आदि धर्म कहे गये हैं। इनमें सन्देह है, क्या ये सब कार्य व्रीहि, आज्य और सान्नाय्य में सर्वत्र सम्मिलित कर्त्तव्य हैं, अथवा जहाँ जिसका प्रयोजन हो, वहाँ करने चाहिएँ?

सूत्रकार आचार्य ने समाधान किया—

---

१. निर्वाप='चतुरो मुष्टीन् निर्वपति' [आप० श्रौ० १।१८।२] के अनुसार प्रत्येक प्रधान याग के लिए चार-चार मुट्ठी व्रीहि आदि का ग्रहण करना निर्वाप है। प्रोक्षण=विशेष पात्र में रक्खे जल से दाएँ हाथ द्वारा व्रीहि का सेचन अथवा धोना 'प्रोक्षण' है। अवहनन=व्रीहि को ओखली में डालकर छिलका उतारने के लिए मूसल से कूटना 'अवहनन' है। यह केवल व्रीहि-सम्बन्धी वितुषीकरण कर्म हैं; व्रीहि—धान का तुष—छिलका उतारकर शुद्ध चावल अलग करना इन कर्मों का प्रयोजन है।

आज्य के धर्म—विलापन=घृत को ताना, पिघलाना। उत्पवन=घृत को छानना, जिससे उसमें कोई तिनका आदि न रहे। ग्रहण=दोनों हाथों से उठाना। आसादन=ले-जाकर वेदि में रखना। ये धर्म केवल आज्य-सम्बन्धी हैं।

सान्नाय्य धर्म—दही-दूध की मिलित आहुति 'सान्नाय्य' है। इसके लिए गोदोहन आवश्यक है। इसमें उपयोग के लिए शाखाहरण=पलाश (ढाक) की हरी शाखा काटकर लाना। प्रस्तावन—गायों का पसुआना=दूध उतारने के लिए बछड़ों को थनों में लगाना; इस अवसर पर तथा पसुआने के अनन्तर बछड़े को हटा लेने पर पलाश शाखा से उसका स्पर्श किया जाता है। यह क्रिया बछड़े को सहलाने के लिए की जाती है, जिससे वह अधिक उछल-कूद न करे। प्रस्थापन=गोदोहन के अनन्तर गायों को चरने के लिए छोड़ना। ये धर्म केवल सान्नाय्य से सम्बद्ध हैं; अन्य व्रीहि आदि द्रव्यों के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं।

तेषामर्थेन संयोगः ॥७॥

[तेषाम्] उन निर्वाप, अवहनन आदि कार्यों का [अर्थेन] प्रयोजन के अनुसार ब्रीहि, आज्य व सान्नाय्य के साथ [संयोगः] सम्बन्ध समझना चाहिए, सर्वत्र नहीं।

अवहनन=कूटना आदि धर्मों का फल तुषविमोक-छिलका उतर जाना आदि फल केवल ब्रीहि में व्यवस्थित देखा जाता है; इसका आज्य या सान्नाय्य द्रव्यों में कोई प्रयोजन नहीं है। इसी प्रकार गायों के नीचे बछड़ों को छोड़कर पसुआना, दोहन आदि धर्मों का दूध आदि फल केवल गायों में देखा जाता है; न ब्रीहि में न आज्य में। ऐसे ही पिघलाना, छानना आदि धर्मों का शुद्धता आदि फल केवल आज्य में व्यवस्थित है; इसका (विलापन, उत्पवन आदि का) न कोई प्रयोजन ब्रीहि में देखा जाता है, न सान्नाय्य में। फलतः अवहनन, विलापन, प्रस्तावन आदि धर्मों का प्रयोजन किसी एक विशिष्ट द्रव्य के साथ पूरा होता है। सब धर्मों का सब द्रव्यों के साथ सम्बन्ध हो, ऐसा सम्भव नहीं; भले ही वे समान प्रकरण में पढ़े गये हों। ये सब दृष्टफलवाले धर्म हैं; एक प्रकरण में सबका श्रवण होना, अनुचित व निष्प्रयोजन बात को उचित व सप्रयोजन बताने का साधक नहीं कहा जा सकता। इसलिए ये धर्म उसी द्रव्य के शेष हैं, जहाँ उनका उपयोग सम्भव है, जैसा गत पंक्तियों में स्पष्ट किया गया ॥७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—साक्षात् या परम्परा से सभी धर्म अपूर्व के साधन में उपयोगी होते हैं; तो इन धर्मों का सब द्रव्यों के साथ सम्बन्ध—सम्भव है किसी अपूर्व का साधक हो? शिष्य-जिज्ञासा को आचार्य ने सूत्रित किया—

विहितस्तु सर्वधर्मः स्यात् संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणविशेषाच्च ॥८॥

[तु] 'तु' पद पूर्वोक्त पक्ष के निराकरण के लिए है। तात्पर्य है, अवहनन आदि धर्म जिस द्रव्य के साथ प्रयोजनवान् हैं, वहीं किए जावें,—यह कथन ठीक नहीं है। [विहितः] विधान किया गया अवहनन आदि [सर्वधर्मः] सब द्रव्यों—ब्रीहि, आज्य, सान्नाय्य—का धर्म [स्यात्] होना चाहिए, [संयोगतोऽविशेषात्] समानरूप से परम—अपूर्व के साथ सभी धर्मों का सम्बन्ध होने के कारण, [च] तथा [प्रकरणविशेषात्] एक ही प्रकरण—दर्श-पूर्णमास में पठित होने से।

अनुष्ठानों में सभी क्रियाकलाप परम—अपूर्व की सिद्धि के लिए किए जाते हैं, जो स्वर्गादि प्राप्ति का एकमात्र साधन माना गया है। किसी कर्म का अपूर्व की उत्पत्ति में सीधा सम्बन्ध होता है; जैसे याग आदि का। यह 'स्वर्गकामो यजेत' इस विधान से प्राप्त है। ब्रीहि, आज्य आदि द्रव्य याग के साधन हैं; 'ब्रीहिभिर्य-

जेत' इस विधिवाक्य से प्राप्त हैं। 'ब्रीहीन् अवहन्ति, पिनष्टि' आदि वाक्यों से धानों का कूटना, पीसना आदि संस्कार विहित है; संस्कृत धान से पुरोडाश तैयार होता है, जो याग का साधन है। परम्परा से अन्तिम—अपूर्व की उत्पत्ति में उक्त प्रकार सभी धर्म-साधन हैं, अतः अवहनन, पेषण, उत्पवन, शाखाहरण आदि धर्मों का ब्रीहि, आज्य, गोदोहन आदि सभी के साथ सम्बन्ध माना जाना चाहिए। अपूर्वोत्पत्ति में सभी का सहयोग सम्भव है। ये सभी धर्म शास्त्र द्वारा विहित हैं। इनका विधान इस तथ्य का प्रयोजक है कि ये अपूर्वोत्पत्ति में साधन हैं। प्रतीत होता है, इसी कारण इन सब धर्मों का एक ही दर्श-पूर्णमास प्रकरण में श्रवण है, जो ब्रीहि आदि सभी के धर्म होने को पुष्ट करता है। फलतः ये धर्म सभी के उपकारक हैं, यह निश्चित होता है ॥८॥

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा का समाधान किया—

अर्थलोपादकर्म स्यात् ॥९॥

[अर्थलोपात्] अर्थ=प्रयोजन का लोप होने से, अर्थात् अवहनन आदि का जहाँ—आज्य आदि में कोई प्रयोजन नहीं है, वहाँ वह क्रिया [अकर्म] अकरणीय [स्यात्] है।

धान का अवहनन=कूटना धान के छिलके को उतारकर अलग कर दिये जाने पर शुद्ध-स्वच्छ चावल के दाने को निकालना प्रयोजन है। यह क्रिया आज्य तथा सान्नाय्य में निष्प्रयोजन है; इसलिए उनमें इस क्रिया का किया जाना नितान्त अनावश्यक है। यह कहना सर्वथा निराधार है कि आज्य आदि में अव-हनन क्रिया का किया जाना अपूर्व की उत्पत्ति में उपकारक होगा। शास्त्र में कहीं कोई ऐसा संकेत उपलब्ध नहीं, जिसे आज्य आदि में अवहनन अपूर्व का साधक जाना जाय। अतः जहाँ जो क्रिया उपकारक है, वहीं उसका किया जाना योग्य है ॥९॥

उक्त अर्थ को सूत्रकार ने अधिक स्पष्ट किया—

फलं तु सह चेष्टया शब्दार्थोऽभावाद् विप्रयोगे स्यात् ॥१०॥

[फलम्] धान के छिलके को अलग करना रूप फल [तु]तो [चेष्टया सह] चेष्टा=अवहनन आदि क्रिया के साथ स्पष्ट देखा जाता है। तात्पर्य है, धान के कूटने से उसका छिलका उतरकर शुद्ध चावल का प्राप्त होना अवघात क्रिया का स्पष्ट दृष्ट फल है। [विप्रयोगे]तुषरहित होना=दृष्ट फल के सर्वथा न होने पर [अभावात्] दृष्ट फल के अभाव से [शब्दार्थः] अवघात कथनमात्र [स्यात्] हो जायगा।

'ब्रीहीन् अवहन्ति' धानों को कूटता है, इस वाक्य का यदि केवल यह तात्पर्य

माना जाता है कि धान में मूसल की हल्की दो-चार चोट देकर छोड़ दिया जाय, छिलका न उतारा जाय, तथा उस अवघात को अपूर्व की उत्पत्ति में उपकारक माना जाय, तो आज्य, सान्नाय्य में भी अवघात अपूर्व का उपकारक हो, ऐसी कल्पना की जा सकेगी। परन्तु यह सर्वथा अशास्त्रीय एवं अप्रामाणिक है, क्योंकि धान का वितुषीकरण किसी प्रयोजन के लिए होता है। वह प्रयोजन है—शुद्ध चावल से पुरोडाश तैयार करना, जो याग का मुख्य हव्य द्रव्य है। इसलिये धान का वितुषीकरण अवघात-क्रिया का प्रत्यक्षसिद्ध दृष्ट फल है। आज्य आदि में यह प्रयोजन असम्भव है।

प्रकरण में पाठ की उपपत्ति के लिए यह आवश्यक नहीं कि कूटना, पिघलाना आदि का व्रीहि, आज्य, सान्नाय्य सबके साथ सम्बन्ध माना जाय; अवघात का व्रीहि के साथ, पिघलाने का आज्य के साथ तथा शाखाहरण का सान्नाय्य के साथ सम्बन्ध माने जाने पर भी प्रकरण-पाठ की उपपत्ति में कोई बाधा नहीं है। फलतः अवघात, विलापन, शाखाहरण आदि—अव्यवस्थित रूप से व्रीहि, आज्य, सान्नाय्य सबके—धर्म न होकर पूर्वनिर्देशानुसार व्यवस्थित धर्म हैं, एवं उन्हीं के शेष हैं। निर्वाप आदि व्रीहि के, विलापन आदि आज्य के तथा शाखाहरण आदि सान्नाय्य के शेष हैं ॥१०॥ (इति निर्वपणादीनामर्थानुसारेण व्यवस्थितविषयताऽधिकरणम्—४)।

(स्फ्यादीनां संयोगानुसारेण व्यवस्थितत्वाधिकरणम्—५)

शिष्य जिज्ञासा करता है—दर्श-पूर्णमास याग के प्रसंग में कतिपय यज्ञपात्रों अथवा उपकरणों का निर्देश है। वे हैं—स्फ्य, कपाल, अग्निहोत्र-हवणी, शूर्प, (छाज), कृष्णमृगचर्म, शम्या, उलूखल, मुसल, दृषद् [शिला, चावल पीसने की], उपल [लोढ़ा या बट्टा], ये दस उपकरण यज्ञ के आयुध कहे जाते हैं। इनके सहयोग से यज्ञानुष्ठान सम्पन्न किया जाकर विजित होता है।

यहाँ संशय है—क्या ये उपकरण, यज्ञ में जो कर्मांश जिसके सहयोग से किया जा सकता है, उस-उस के लिए पठित हैं? अथवा उत्पत्ति-वाक्य में जो उपकरण जिस कर्म के साथ सम्बद्ध है, उसी के लिए पठित है? 'स्फ्येन उद्घन्ति'—स्फ्य से उद्घनन, उत्पाटन करता है, वेदि के लिए खूँड या चिह्न बनाता है; यह उत्पत्ति-वाक्य है। सन्देह का स्वरूप है—यज्ञ में जो भी कार्य जिस उपकरण से किया जा सके, उससे कर लिया जाय? अथवा उत्पत्ति-वाक्य में निर्दिष्ट कार्य ही किया जाय? पहले विकल्प में कार्य की व्यवस्था नहीं है; दूसरे में कार्य व्यवस्थित है। कर्त्तव्यरूप में प्रथम विकल्प प्राप्त होता है; क्योंकि दर्श-पूर्णमास प्रसंग में पठित ये सब उपकरण उसी अवस्था में सप्रयोजन होते हैं, जब जो कार्य इनसे किया जा सके, वह कर लिया जाय; अन्यथा प्रसंग में इनका श्रवण व्यर्थ हो जायगा।

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात् तदर्थमेव चोद्येत ॥११॥

[द्रव्यम्] द्रव्य=स्फ्य, कपाल आदि उपकरण [उत्पत्तिसंयोगात्] उत्पत्ति=विधायक—'स्फ्येनोद्धन्ति, कपालेषु पुरोडाशं श्रपयति' आदि वाक्यों में उद्धनन, श्रपण आदि क्रियाओं के सम्बन्ध से [तदर्थम्] उसी उद्धनन, श्रपण आदि प्रयोजन के लिए [एव] ही [चोद्येत] कहे जायेंगे। तात्पर्य है, उत्पत्ति-वाक्य में जिस द्रव्य=उपकरण के साथ जो क्रिया विहित है, उसी क्रिया के लिए उस उपकरण का उपयोग होगा, तथा उस क्रिया के लिए उसी उपकरण का प्रयोग हो सकेगा।

उत्पत्ति-वाक्य में प्रत्येक उपकरण किसी विशिष्ट क्रिया के साथ सम्बद्ध है। तब उस उपकरण का उपयोग उसी क्रिया के लिए किया जाना चाहिए, जैसे—'स्फ्येनोद्धन्ति' उत्पत्ति-वाक्य है, स्फ्य-संज्ञक उपकरण से वेदि का खूँड बनाता है। यह उद्धनन-क्रिया स्फ्य नामक साधन से ही की जानी चाहिए, अन्य किसी से नहीं। एवं इस उपकरण का उपयोग उद्धनन-क्रिया में ही होना चाहिए, अन्य किसी कार्य में नहीं; यह व्यवस्था है।

इसी प्रकार अन्य उत्पत्ति-वाक्य है—'कपालेषु पुरोडाशं श्रपयति' मृत्पात्रों में पुरोडाश को पकाता है। पुरोडाश पकाने के लिए बनाये गये कपालों (मृत्पात्रों) में ही वह पकाया जाना चाहिए, अन्य पात्रों में नहीं; तथा उन पात्रों में पुरोडाश ही पकाना चाहिए, अन्य कोई कार्य उनमें नहीं किया जाना चाहिए।

'अग्निहोत्रहवण्या हवींषि निर्वपति' अग्निहोत्रहवणी पात्र से हवियों का निर्वाप करता है। तात्पर्य है, एक-एक करके चार मुट्ठी धान निकालता है। इस पात्र का प्रयोग—चार मुट्ठी धान उसमें प्रक्षेप करना, और उपयुक्त समय पर निकालना—इसी कार्य के लिए होता है।

'शूर्पेण विविनक्ति' सूप—छाज से—कुटे हुए धानों को—फटकता है। सूप केवल इसी कार्य के लिए व्यवस्थित है, तथा यह कार्य अन्य किसी उपकरण से नहीं लेना चाहिए।

'कृष्णाजिनमधस्तादुलूखलस्यावस्तृणाति' काले मृगचर्म को ऊखल के नीचे बिछाता है। मृगचर्म केवल इसी कार्य के लिए है, और कृष्ण मृगचर्म के स्थान पर अन्य किसी का उपयोग न करना चाहिए।

'शम्यायां दृषदमुपदधाति' शम्या पर शिला को रखता है। यह 'ट्रे' के समान आयताकार यज्ञिय पात्र है। इसमें रक्खी हुई शिला पर चावल पीसा जाता है जिससे छिटककर इधर-उधर गिरा द्रव्य शम्या पर सुरक्षित रहे, और सुविधापूर्वक शुद्धरूप में उठाया जा सके। यह इसी कार्य के लिए व्यवस्थित पात्र है।

'उलूखलमुसलाभ्यामवहन्ति' ऊखल-मूसल से व्रीहि को कूटता है। इन

उपकरणों का इसी कार्य में उपयोग व्यवस्थित है।

'दृषदुपलाभ्यां पिनष्टि' शिला और बट्टे से चावलों को पीसता है। इनका यह उपयोग निर्धारित है।

यद्यपि ये सब कर्म प्रकरण में समानरूप से पठित हैं, पर पीछे कहे उत्पत्ति-वाक्यों में जो कार्य जिस उपकरण का कहा है, उसका सम्बन्ध उसी के साथ व्यवस्थित है। इन सब कर्मों का दृष्ट प्रयोजन प्रत्यक्षसिद्ध है। इनका सर्वत्र विनियोग न होकर उत्पत्तिवाक्य के अनुसार निर्धारित कार्य में ही विनियोग माना जाना शास्त्रीय सिद्धान्त है।

गत अधिकरण के साथ विषय-विवेचन की आंशिक समानता होने पर प्रस्तुत अधिकरण की यह विशेषता है कि यहाँ 'स्फ्य' आदि द्रव्यों = उपकरणों का एकाधिक बार उल्लेख हुआ है। तात्पर्य है, उत्पत्तिवाक्यों के अतिरिक्त भी प्रकरण में उनका उल्लेख हुआ है, जबकि गत अधिकरण में ब्रीहि आदि द्रव्यों का उल्लेख केवल उत्पत्तिवाक्यों में है ॥११॥ (इति स्फ्यादीनां संयोगानुसारेण व्यवस्थितत्वाधिकरणम्—५)।

(अरुणादीनां गुणानामसंकीर्णताऽधिकरणम्—६)

शिष्य जिज्ञासा करता है—ज्योतिष्टोम याग में सोम के क्रय का आरम्भ कर कहा है—'अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणाति' अरुण = लाल-पीले मिले रूपवाली, अर्थात् सायंकाल सूर्य छिपने के अवसर पर पश्चिम दिशा के समान रूपवाली, पीली आँखोंवाली, तथा एक वर्ष की अवस्थावाली गाय मूल्यरूप में देकर सोम खरीदता है। यहाँ सन्देह है—क्या इस अरुण रूप का सम्बन्ध समस्त क्रय-प्रकरण के साथ है? अथवा यह केवल—क्रय में एक वर्ष अवस्थावाली—गाय में ही सम्बद्ध है?

यद्यपि उक्त वाक्य में तीनों तृतीयान्त पदों का सीधा सम्बन्ध 'क्रीणाति' क्रिया के साथ है। कर्म, करण आदि अर्थ को कहनेवाले कारक का सम्बन्ध क्रिया के साथ हुआ करता है। यहाँ भी तीनों पदों में तृतीया विभक्ति से निर्दिष्ट करण कारक हैं; तात्पर्य है, ये सोम को खरीदने के साधन हैं—'अरुणया क्रीणाति, पिङ्गाक्ष्या क्रीणाति, एकहायन्या क्रीणाति' इस स्पष्ट वचन से इसमें सन्देह का कोई अवकाश नहीं होना चाहिए; पर पहले वाक्य [अरुणया क्रीणाति] में सन्देह बना रहता है। कारण यह है, अगले दोनों पदों में बहुव्रीहि समास है—'पिङ्गे अक्षिणी यस्याः सा पिङ्गाक्षी, तया पिङ्गाक्ष्या' पिङ्ग पद गुणवाचक है, अमूर्त है, पर बहुव्रीहि समास अन्य-पदार्थ-प्रधान होता है, पिङ्ग पद और अक्षि पद अपने अर्थ को छोड़कर अन्य गायरूप प्रधान द्रव्य-अर्थ का बोध कराते हैं। उसका 'क्रीणाति' क्रिया के साथ सम्बन्ध युक्त एवं व्यवहार्य है। पीली आँखवाली गाय मूल्यरूप में

देकर सोम खरीदा जाता है।

'एकहायन्या' पद भी ऐसा ही है—'एकं हायनं वयो यस्याः सा एकहायनी तया—एकहायन्या' हायन पद भी अमूर्त्त गुण वय का बोधक है; पर बहुव्रीहि समास में अपने अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ=एक वर्ष वयवाली गाय प्रधान द्रव्य का बोध कराते हैं। इसका 'क्रीणाति' क्रिया के साथ सम्बन्ध युक्त एवं व्यवहार्य है।

परन्तु पहले वाक्य—'अरुणया क्रीणाति' में 'अरुणया' के मूलपद 'अरुणा' में बहुव्रीहि समास नहीं है; अतः यह पद अपने अर्थ को नहीं छोड़ता, यह अरुणरूप गुण का बोधक बना रहता है। 'अरुणया क्रीणाति' में अरुणरूप गुण के अमूर्त्त होने से सोम के मूल्यरूप में उसका दिया जाना अयुक्त एवं अव्यवहार्य है। पर यह वाक्य प्रमाणभूत है। प्रमाणवाक्य किसी ऐसी अटपटी बात को कहे, जो अयुक्त एवं अव्यवहार्य हो, ऐसा सम्भव नहीं। अतः इस वाक्य की सार्थकता के लिए अरुण गुण का सम्बन्ध 'क्रीणाति' क्रिया के साथ न जोड़कर समस्त क्रय-प्रकरण के साथ समझना चाहिए। इसका तात्पर्य होगा—क्रय प्रकरण में वर्णित—सोम खरीदने के—वस्त्र आदि साधनों का अरुण रूप होना चाहिए, उक्त वाक्य यह विधान करता है। इस प्रकार सन्देह का स्वरूप बनता है—'अरुणया क्रीणाति' में आरुण्य का सम्बन्ध समस्त क्रय-प्रकरण के साथ माना जाना चाहिए? अथवा एकहायनी पिङ्गाक्षी गाय के साथ? आशंकावादी का कहना है—अरुण पद अपने अर्थ को न छोड़ने के कारण एकहायनी गाय का बोध कराने में अशक्त होगा, तब 'क्रीणाति' के साथ सम्बन्ध अव्यवहार्य होने से समस्त क्रय-प्रकरण के साथ इसका सम्बन्ध मानना चाहिए। आचार्य ने शिष्य-आशंका का समाधान किया—

अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात् ॥१२॥

[ऐककर्म्यात्] जिस कर्म में, एक ही क्रिया के साध्य होने के कारण [द्रव्य-गुणयोः] द्रव्य और गुण के [अर्थैकत्वे] एक प्रयोजनवाला होने पर, द्रव्य और गुण का परस्पर [नियमः] निश्चित सम्बन्ध [स्यात्] हो जाता है।

प्रस्तुत वाक्यबोधित कर्म में सोमक्रयरूप एक क्रिया साध्य है। आरुण्य गुण तथा पिङ्गाक्षी, एकहायनी द्रव्य, इन सबका एक ही प्रयोजन है—उस क्रिया को सिद्ध करना। ऐसी स्थिति में गुण और द्रव्य का परस्पर नियत सम्बन्ध होना अनिवार्य है। यदि इनका परस्पर सम्बन्ध न माना जाय, तो सोमक्रयरूप क्रिया का सम्पन्न होना सम्भव न होगा। श्रुत वाक्य में ये करण अर्थात् साक्षात् साधन-रूप से निर्दिष्ट हैं। यदि एकहायनी के साथ 'अरुणया' पदबोधित आरुण्य के सम्बन्ध की उपेक्षा की जाती है, तो करणसामग्री में न्यूनता होने से सोमक्रय न हो सकेगा। पूरा मूल्य न देने पर सौदा कहीं मिलता नहीं। फलतः जैसे एकहायनी के

साथ पिङ्गाक्षी का सम्बन्ध है, ऐसे ही आरुण्य गुण का एकहायनी के साथ सम्बन्ध अनिवार्य है।

आशंकावादी ने यह कहकर इस सम्बन्ध को हटाने का प्रयास किया है कि गुणवाचक पद ने अपने अर्थ को नहीं छोड़ा; पर अगले दोनों पद बहुव्रीहि समास-युक्त होने से स्वार्थ को छोड़कर अन्य गायरूप अर्थ का बोध कराते हैं। यह स्थिति गुणवाचक अरुण पद की न होने से उसका सम्बन्ध द्रव्यबोधक पदों के साथ मानना युक्त न होगा। पर यह कथन संगत नहीं है, क्योंकि गुण का सम्बन्ध सर्वत्र द्रव्य के साथ रहता है। प्रस्तुत प्रसंग में पिङ्गाक्षी, एकहायनी द्रव्यवाचक पद विशेष्यरूप हैं, गुणवाचक अरुण पद विशेषणरूप है। सोमक्रय करने के लिए उसका मूल्य पिङ्गाक्षी एकहायनी गाय द्रव्य है; पर वह उपयुक्त मूल्य उसी स्थिति में माना जायगा, जब वह रूप से अरुण हो। 'अरुणया' पद से बोध्य आरुण्य गुण सोमक्रय का अपने स्वतन्त्र रूप में मूल्य नहीं है, और न इस रूप में पिङ्गाक्षी तथा एकहायनी। फलतः सोमक्रय के मूल्य के लिए इनमें से किसी को छोड़ा नहीं जा सकता। अतः इनका परस्पर नियत सम्बन्ध सोमक्रयरूप एक क्रिया की सिद्धि के लिए स्वीकार किया जाना अनिवार्य है। विशेष्य-विशेषण के परस्पर सम्बन्ध में—भले ही उनमें कोई गुण या कोई द्रव्य हो—किसी प्रकार की बाधा नहीं होती।

यह स्पष्ट हो जाने पर कि—'अरुणया' का 'क्रीणाति' के साथ सीधा सम्बन्ध न होकर 'एकहायनी' विशेष्य द्वारा होता है; तात्पर्य है—आरुण्य-गुण-विशिष्ट एकहायनी सोमक्रय का साधन है; वह करणरूप से क्रीणाति के साथ अन्वित है—यह कथन निराधार हो जाता है कि अमूर्त्त आरुण्य का 'क्रीणाति' के साथ सम्बन्ध अनुपपन्न है। ऐसी स्थिति में क्रय-प्रकरणपठित अन्य वस्त्रादि साधनों के साथ आरुण्य गुण के अन्वय की कल्पना अनावश्यक हो जाती है। वे चाहे अरुण हों, अथवा अन्य-गुण-विशिष्ट हों, उनके लिए इस प्रकार की कोई शास्त्रीय व्यवस्था नहीं है। फलतः 'अरुणया' पद 'एकहायन्या' से अन्वित है, यह निश्चित सिद्धान्त है॥१२॥ (इति आरुण्यादि गुणानामसंकीर्णताऽधिकरणम्—६)।

(सर्वेषां ग्रहादीनां सम्मार्गाद्यधिकरणम्—७)

शिष्य जिज्ञासा करता है—ज्योतिष्टोम याग है, वहाँ कहा—'य एवं विद्वान् सोमेन यजते' जो विद्वान् इस प्रकार सोम से यजन करता है। उस सोमयाग में सुना जाता है—'दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि' दशापवित्र[1] से अर्थात् सोम को

१. 'दशापवित्र' समासयुक्त पद है। 'पवित्र' सोमरस छानने के वस्त्र का नाम है। हिन्दी में 'छन्ना' और पञ्जाबी में 'पुनना' कहते हैं, जो संस्कृत पद का अपभ्रंश प्रतीत होता है। 'दशा' वस्त्र के 'छोर' का नाम है, जिसमें धागे बिन

छाननेवाले वस्त्र से ग्रह को पोंछता है। ऐसे ही अग्निहोत्र-प्रसंग में कहा है—'अग्नेस्तृणान्यपचिनोति' अग्निस्थण्डिल पर बिखरे पड़े तिनकों को दूर हटाता है। इसी प्रकार दर्श-पूर्णमास प्रसंग में वाक्य है—'पुरोडाशं पर्यग्निकरोति' पुरोडाश के चारों ओर दहकती अंगारी या जलते हुए कुशतृणों को घुमाता है। इनके विषय में संशय है—क्या यह एक ग्रह के सम्मार्जन, एक अग्निस्थण्डिल के तृण हटाने, तथा एक पुरोडाश के पर्यग्निकरण के विषय में कहा गया है? अथवा सब ग्रहों, सब अग्निस्थण्डिलों और सब पुराडाशों के विषय में? प्रतीत होता है, उक्त वाक्यों में एकवचन का प्रयोग देखे जाने से एक ही ग्रह आदि के सम्मार्जन आदि का कथन हुआ है। शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात् ॥१३॥

[एकत्वयुक्तम्] उक्त प्रत्येक कर्म एकवचन से युक्त है, अतः [एकस्य] एक ग्रह, एक अग्नि, एक पुरोडाश का होना चाहिए, [श्रुतिसंयोगात्] इन द्रव्यों का एकवचन श्रुति से संयोग होने के कारण।

'दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि, अग्नेस्तृणान्यपचिनोति, पुरोडाशं पर्यग्निकरोति' इन श्रुतिवाक्यों में ग्रह, अग्नि, पुरोडाश द्रव्य एकवचन से सम्बद्ध पठित हैं; इनमें संख्या की दृष्टि से एक ही द्रव्य सुना जाता है। शब्द-प्रमाण से बताये गये कर्म के विषय में वही बात मान्य है, जो शब्द कहता है। इसलिए यहाँ एक ग्रह का सम्मार्जन, एक अग्निस्थण्डिल के तिनकों का हटना, एक पुरोडाश का पर्यग्निकरण होना युक्त है। शास्त्र में अन्यत्र भी ऐसा देखा जाता है, 'पशुमालभेत' वाक्य में 'पशुम्' एकवचनान्त पठित होने से केवल एक पशु का आलभन (स्पर्श—विसर्जन) किया जाता है। ऐसा ही यहाँ किया जाना चाहिए ॥१३॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

सर्वेषां वा लक्षणत्वाद् अविशिष्टं हि लक्षणम् ॥१४॥

[वा] 'वा' पद जिज्ञासा की व्यावृत्ति के लिए है। तात्पर्य है, एक ग्रह, एक अग्नि, एक पुरोडाश का सम्मार्जन आदि संस्कार नहीं करना चाहिए, प्रत्युत [सर्वेषाम्] सब ग्रहों, सब अग्नियों, सब पुरोडाशों के यथाक्रम सम्मार्जन, तृणापचय,

---

बुने रह जाते हैं। इन पदों का समास है—'पवित्रस्य दशा इति दशापवित्रम्' पाणिनि [२।२।३१] के अनुसार 'दशा' पद का पूर्वप्रयोग हो जाता है। यह पवित्र ऊन का बना होता है। 'ग्रह' वह पात्र है, जिसमें सोमरस छाना जाता है। पात्र के मुख पर यह वस्त्र रखकर उसमें सोमरस छानते हैं। जो बूँद पात्र पर गिर जाती है, उन्हें वस्त्र के छोर से पोंछ दिया जाता है।

तथा पर्यग्निकरण संस्कार किये जाने चाहिएँ, [लक्षणत्वात्] एकवचन द्वारा जातिरूप लक्षण का कथन होने से। [हि] क्योंकि, अथवा निश्चय से [लक्षणम्] ग्रहत्व, अग्नित्व, पुरोडाशत्वरूप जातिचिह्न, सर्वत्र [अविशिष्टम्] समान रूप से विद्यमान है।

'ग्रहं सम्मार्ष्टि' आदि वाक्यों में जो ग्रह, अग्नि, पुरोडाश द्रव्यों का एकवचनान्त निर्देश है, वह जाति की भावना से किया गया है। सभी समान व्यक्तियों में जाति-धर्म एक ही रहता है। जैसे 'गोत्व'-जाति-धर्म से गोमात्र का ग्रहण होता है, ऐसे ही 'ग्रहत्व'-जाति से समस्त ग्रहों का, 'अग्नित्व'-जाति से समस्त अग्नियों का, 'पुरोडाशत्व'-जाति से समस्त पुरोडाशों का ग्रहण अभीष्ट है। इसलिए सभी ग्रहों का सम्मार्जन, सभी अग्निस्थण्डिलों से तिनकों का हटाना, सभी पुरोडाशों का पर्यग्निकरण-संस्कार शास्त्रीय दृष्टि से कर्त्तव्य हैं, एक ही एक ग्रह आदि के नहीं।

यहाँ सम्मार्जन-संस्कार ग्रहों के लिए है, तृणापचय अग्नियों के लिए, पर्यग्निकरण पुरोडाशों के लिए। जिसके लिए कोई कार्य किया जाता है, वह प्रधान होता है, किया गया कार्य गौण। इस प्रकार सम्मार्जन-संस्कार ग्रह का शेष है, ग्रह शेषी है। तृणापचय अग्नियों का शेष है, अग्नि शेषी है। पर्यग्निकरण पुरोडाशों का शेष है, पुरोडाश शेषी है।

प्रथम [१।३।३०—३५; अधि० ११] यह निर्णय किया गया है कि शब्द का अर्थ जाति है, व्यक्ति नहीं। इसके अनुसार प्रस्तुत प्रसंग में 'ग्रह' आदि पदों को जातिवाचक मानने में कोई शास्त्रीय बाधा नहीं है। फिर भी सुजनतोष-न्याय से यदि शब्द का अर्थ व्यक्ति माना जाता है, और 'ग्रह' आदि पदों को एक व्यक्ति का वाचक माना जाय, तो भी द्वितीय-तृतीय आदि ग्रहों के संस्कार किये जाने में कोई बाधा नहीं आती। यह ठीक है, एकवचनान्त 'ग्रह'-पद अपने एकत्व अर्थ का बोध कराता है; पर वह द्वितीय आदि ग्रहों के संस्कार में बाधक नहीं होता। वह अपने एकत्व अर्थ का कथन कर चरितार्थ है। द्वितीय आदि ग्रहों के संस्कार में बाधा करनेवाला यहाँ कोई विधान नहीं है। द्वितीय आदि ग्रहों के संस्कार में भी वाक्य की प्रवृत्ति अक्षुण्ण बनी रहती है।

आशंका की जा सकती है, एक द्रव्य में और द्वितीय आदि द्रव्यों में सम्मार्जन-संस्कार के प्राप्त होने पर श्रुतिबोधित इष्ट एक द्रव्य परिसंख्याविधि के अनुसार द्वितीयादि अनिष्ट द्रव्यों का प्रतिषेध कर देगा। यदि ऐसा नहीं माना जाता, तो एकवचन अनर्थक होता है। इसलिए वह एकवचन द्वितीय आदि द्रव्यों के निवारण में समर्थ है। यह स्थिति अन्यत्र वाक्य में स्वीकार की जाती है। एक वाक्य है—'अश्वाभिधानीमादत्ते' घोड़े की लगाम पकड़ता है। यह वचन गदहे की लगाम पकड़ने का प्रतिषेध करता है। ऐसे ही यहाँ एकत्व के विषय में समझना

चाहिए। श्रूयमाण ग्रह का एकत्व द्वितीयादि ग्रहों का प्रतिषेध करेगा।

आपाततः यह आशंका भले ही युक्त प्रतीत हो, पर गम्भीरता से विचारने पर इसकी असारता स्पष्ट हो जाती है। कारण यह है, प्रस्तुत प्रसंग के साथ 'अश्वाभिधानी' दृष्टान्त की समानता = उपयुक्तता नहीं है। घोड़े की लगाम के आदानरूप सम्बन्ध का विधान करनेवाला—'इमामगृभ्णन् इत्यश्वाभिधानीम्' यह वचन है। 'आदत्ते' (ग्रहण करे) इस लिङ्ग से ही लगाम का आदान प्राप्त होता है। यहां मन्त्र की परिसंख्या[1] संगत है। तात्पर्य है, 'इमामगृभ्णन्' मन्त्र से लगाम न पकड़े। गदहे की लगाम पकड़ने के प्रतिषेध में यहां परिसंख्या-विधि लागू होती है। परन्तु 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' आदि वाक्यों में ग्रहादि द्रव्यों के साथ श्रूयमाण भी एकवचन किसी विधिवाक्य से विहित नहीं है। इसलिए द्वितीय ग्रह आदि के निवर्त्तन में वह समर्थ नहीं रहता।

यह स्थिति निम्नांकित दृष्टान्त से स्पष्ट होती है। जैसे कोई कहे, 'इस भात को कुत्ता-बिल्ली द्वारा खाने से बचाना' ऐसा विधान भक्षणकर्म-निवारण के निमित्त किया जाता है; कुत्ता-बिल्ली का सम्बन्ध निमित्तरूप से विहित नहीं है; इसलिए कौवा आदि अन्य कोई खाने आये, उसे भी हटाया जायगा। कुत्ता-बिल्ली के सुने जाने पर भी उनका सम्बन्ध निमित्तरूप से विधीयमान न होने के कारण काक आदि का भी निवारण किया जाता है। ऐसे ही प्रस्तुत प्रसंग में ग्रहादि के साथ एकत्वसम्बन्ध के विधीयमान न होने के कारण एकत्व के सुने जाने पर भी सभी ग्रहों का सम्मार्जन किया जाता है।

ऐसी स्थिति में भी एकवचन का आनर्थक्य नहीं है। कोई भी प्रातिपदिक जब क्रिया के साथ सम्बद्ध प्रयुक्त किया जाता है, तब उसका किसी भी कारक के रूप में प्रयोग किया जाना अनिवार्य है, जो किसी विभक्ति एवं वचन के रूप में सम्भव है। इसी में एकवचन की सार्थकता है। ग्रह आदि के सम्मार्जन आदि में एकवचन अविवक्षित रहता है। फलतः सम्मार्जन आदि सभी ग्रह आदि में होते हैं; यही शास्त्रीय मान्यता है ॥१४॥

सूत्र १३ में आशंकावादी ने 'पशुमालभेत' वाक्य को दृष्टान्तरूप में प्रस्तुत कर कहा था कि जैसे एकत्व और पुंस्त्व इस वाक्य में विवक्षित है, ऐसे ही 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' में एकत्व को विवक्षित मानना चाहिए, तब द्वितीयादि ग्रहों का सम्मार्जन अभीष्ट न होगा, उसका समाधान सूत्रकार ने किया—

---

१. परिसंख्या-विधि को अधिक स्पष्ट समझने के लिए देखें—मी० सू० १।२।४२, का विद्योदय भाष्य।

चोदिते तु परार्थत्वात् यथाश्रुति प्रतीयेत ॥१५॥

[चोदिते] 'पशुमालभेत' इस विधिविहित कर्म में [तु] तो [परार्थत्वात्] पशु के परार्थ = यागार्थ अथवा आलम्भनार्थ होने के कारण (यथाश्रुति) श्रुति के अनुसार एकत्व, पुंस्त्व का ग्रहण (प्रतीयेत) जानना चाहिए।

'पशुमालभेत' और 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' इन वाक्यों के अर्थ-प्रतिपादन में भेद है। जो स्थिति पहले वाक्य में है, वह दूसरे में नहीं है। कारण यह है—जिसको उद्देश्य करके कर्म का विधान किया जाता है, वह एकत्वादि संख्या विवक्षित नहीं होती। तात्पर्य है, उद्देश्यगत संख्या अविवक्षित रहती है। 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' में ग्रह को उद्देश्य करके सम्मार्जन-कर्म का विधान है। 'ग्रहम्' में एकत्व-संख्या अविवक्षित है, ग्रह का सम्मार्जन विवक्षित है। ग्रह चाहे एक हो, दो हों, तीन हों, सभी का सम्मार्जन प्राप्त हो जाता है।

यह स्थिति 'पशुमालभेत' वाक्य में नहीं है। यहाँ पशु पदार्थ है, याग के लिए है, अर्थात् याग को उद्देश्य करके पशु का विधान है। यहाँ पशु उद्देश्य न होने के कारण 'पशुम्' इस प्रयोग में एकत्व और पुंस्त्व अविवक्षित न होगा। यहाँ जैसा कहा है, उसी के अनुसार कार्य होगा, अर्थात् एक पुरुष-पशु ही आलम्भन के लिए प्रस्तुत किया जायगा। वह याग के साधनों में एक अङ्ग है। फलतः 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' के प्रसंग में उक्त दृष्टान्त को प्रस्तुत करना असंगत है। फलस्वरूप सभी ग्रहों का सम्मार्जन, सब अग्नियों का तृणापचय एवं सब पुरोडाशों का पर्यग्निकरण सिद्ध होता है। 'ग्रह'-विषयक इस विवेचन के आधार पर शास्त्र में 'ग्रहैकत्व न्याय' एक कहावत बन गई है, जिसका प्रयोग अनेकत्र होता रहा है ॥१५॥ (इति सर्वेषां ग्रहादीनां सम्मार्गाद्यधिकरणम्—७)।

(चमसादौ सम्मार्गाद्यप्रयोगाऽधिकरणम्—८)

गत अधिकरण में ज्योतिष्टोम प्रसंग के 'दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि' आदि वाक्यों पर विचार किया गया। वहाँ 'ग्रहं' के एकत्व को अविवक्षित मानकर सभी ग्रहों के सम्मार्जन का विधान किया गया। इसपर शिष्य जिज्ञासा करता है—एकत्व के समान ग्रह पद को भी अविवक्षित मानकर सोमरस से सम्बद्ध अन्य चमस आदि पात्रों के सम्मार्जन का भी विधान क्यों न माना जाय? क्योंकि उनका भी सोम से सम्बन्ध है, और समान प्रकरण में पठित हैं। आचार्य ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

संस्काराद्वा गुणानामव्यवस्था स्यात् ॥१६॥

[वा] 'वा' पद पूर्वसूत्र-प्रतिपादित पक्ष की निवृत्ति के लिए है। [गुणानाम्]

सम्मार्जन आदि गुणों के [संस्कारात्] संस्काररूप कर्म होने के कारण [अव्यवस्था] व्यवस्था नहीं [स्यात्] होनी चाहिए। तात्पर्य है—ग्रह-पात्रों का ही सम्मार्जन हो, चमस आदि का न हो, यह व्यवस्था नहीं होनी चाहिए।

सम्मार्जन एक संस्कार है। वह जैसे सोमरस-सम्बन्धी ग्रहपात्रों के लिए अपेक्षित है, ऐसे ही चमस के लिए अपेक्षित है; वह भी सोमरस-सम्बन्धी पात्र है। ग्रहपात्र में सोमरस छाना जाता एवं भरा जाता है। चतुष्कोण मध्य में खुदे हुए कुछ गहरे चमस नामक पात्र से सोमरस की आहुतियाँ दी जाती हैं। सोमरस से दोनों का समान सम्बन्ध है। जिस प्रकार प्रकरण में ग्रह श्रुत हैं, उसी प्रकार चमस भी श्रुत हैं। इसलिए ग्रह, चमस आदि का सर्वत्र सम्मार्जन करना चाहिए।

इस प्रसंग में यह कहना संगत न होगा कि 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' वाक्य में साक्षात् पठित 'ग्रह' पद चमसों का निवर्त्तक होगा; केवल ग्रहों का सम्मार्जन होना चाहिए, चमसों का नहीं, क्योंकि 'ग्रह' पद उपलक्षणमात्र है। वस्तुतः वह सोम-सम्बन्धी सभी पात्रों को उपलक्षित करता है। 'ग्रह' पद का अर्थ होगा—ग्रहादि समस्त सोम-सम्बन्धी पात्र। लोक में ऐसा व्यवहार देखा जाता है, जब कहा जाता है—'भोजन का समय है, सब थालों को साफ कर लो।' उस अवसर पर जो भी पात्र भोजन में उपयोगी होते हैं, सबको साफ किया जाता है; थाल का ग्रहण प्रदर्शन-मात्र = उपलक्षणमात्र होता है। ऐसे ही प्रस्तुत प्रकरण में समझना चाहिए।

यहाँ यह कहना भी युक्त न होगा कि लोक में प्रयोजनवश उपलक्षण व्यवहार होता रहता है, पर वैदिक कर्म तो केवल शब्द-प्रमाण पर आधारित है। वहाँ शब्द में जैसा निर्देश है, वही कर्त्तव्य होगा। शब्द केवल ग्रह का सम्मार्जन कहता है। तब यहाँ श्रुत्यर्थ के ग्रहपात्र-सम्मार्जन में सम्भव होने से लक्षणा की कल्पना क्यों की जाय? इस कथन के अयुक्त होने में कारण यह है—'सम्मार्ष्टि' आख्यात-पद सम्मार्जन में पुरुष के प्रयत्न को विधान करने में श्रवणमात्र से समर्थ है; इसके लिए उसे ग्रह आदि की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती। ग्रह आदि तो अनन्तर वाक्य के द्वारा सम्मार्जन से सम्बद्ध होते हैं। शास्त्र में वाक्य की अपेक्षा श्रुति बलवती मानी जाती है। अतः सम्मार्जन-विहित हो जाने पर ग्रह आदि सभी पात्र सम्बद्ध होते रहते हैं। तब 'ग्रह' पद अन्य पात्रों का उपलक्षण सम्भव है। इसलिए सम्मा-र्जन-संस्कार के योग्य जो पात्र हैं, उन सबका सम्मार्जन करना चाहिए, केवल ग्रहों का नहीं। सम्मार्जन-गुण सभी पात्रों के लिए समान है ॥१६॥

आचार्य सूत्रकार उक्त जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत करता है—

व्यवस्था वाऽर्थस्य श्रुतिसंयोगात् तस्य शब्दप्रमाणत्वात् ॥१७॥

[वा] 'वा' पद उक्त आशंका के निवारण के लिए है। तात्पर्य है—चमसों का भी सम्मार्जन करना चाहिए, यह कथन युक्त नहीं है। [अर्थस्य] 'ग्रह'-रूप

अर्थ का [श्रुतिसंयोगात्] श्रुति के साथ
शब्दप्रमाणत्वात्] विधि के विषय में शब्दप्र
सम्मार्ष्टि' से सम्मार्जन ग्रहों में ही व्यवस्थि

'ग्रहं सम्मार्ष्टि' में 'ग्रह'-पद 'सम्मार्ष्टि'
पठित है। श्रुतिबोधित अर्थ–ग्रह को छोड़क
के लिए इधर-उधर नहीं झाँक सकता। यदि
सम्मार्ष्टि' कथन प्रमत्तगीत के समान मा
इसलिए 'ग्रह'-पद ग्रहों से अतिरिक्त अन्य
करेगा; केवल ग्रहों को लक्षित कर उनके
वचन है, यह निश्चित होता है।

अपूर्व के सम्बन्ध और प्रकरण की
सम्मार्जन की प्राप्ति कही, वह युक्त नहीं है
अपूर्व की कल्पना व्यर्थ है। प्रकरणगत प
होने पर उन पदार्थों में सम्मार्जन का वि
सम्मार्जन की एकवाक्यता साक्षात् श्रुतिबो
पदार्थों के साथ प्रकरण से अनुमित होती है,
उससे सम्मार्जन का विधान नहीं होता।

श्रुतिबोधित प्रथम उपस्थित ग्रह अ
विधान कर श्रुत्यर्थ को उपपन्न करता है।
के तात्पर्य—अथवा पदों में अन्वय—की अनु
सिर उठाती है। पर 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' वचन
इसलिए लक्षणा के उभरने का यहाँ कोई अव
ग्रहों में व्यवस्थित समझना चाहिए।

वैदिक वाक्यों के तात्पर्य को समझने के लि
गर नहीं रहते। 'भोजन-समय आ गया है,
में वक्ता का तात्पर्य भोजन में उपयोगी सभी पा
—यह 'भोजन-समय आ गया है' कथन से स्पष्ट है।
भोजनोपयोगी पात्रों का उपलक्षण माना जा सकता है।
के तात्पर्य की उपपत्ति में सहयोग मिलता है। वहाँ
की कल्पना ठीक है। इसके विपरीत वैदिक वाक्यों में
'यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्' के अनुसार पठित
श्रुत्यर्थ को समझने का प्रयास किया जाता है। उसकी
की कल्पना व्यर्थ रहती है, फलतः सम्मार्जन केवल ग्रहों
चमसादौ सम्मार्गाद्यप्रयोगाऽधिकरणम्—८)।

(सप्तदशारत्नितायाः पशुधर्मताऽधिकरणम्—६)

शिष्य जिज्ञासा करता है—वाजपेय याग के विषय में सुना जाता है—'सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्य यूपो भवति' सत्रह अरत्नि-परिमाणवाला वाजपेय याग का यूप होता है। यहाँ सन्देह है—क्या यह सत्रह अरत्नि[1]-परिमाण वाजपेय याग के षोडशिपात्र का है जो ऊपर को अधिक ऊँचा उठा हुआ यूप के समान दिखाई देता है? अथवा वाजपेय याग में पशु के यूप का परिमाण है? प्रतीत होता है यह परिमाण वाजपेय याग के षोडशिनामक ऊर्ध्वपात्र का होना चाहिए; क्योंकि वाजपेय याग में पशुयूप का अभाव है। इसलिए वाजपेय याग के षोडशिनामक यूप-सदृश ऊर्ध्वपात्र का यह परिमाण हो सकता है। यह पात्र खैर की लकड़ी से बना, ऊँचा होने के कारण यूप की तरह दिखाई देता है। ऐसा मानने पर वाजपेय याग के अङ्गभूत पशुयाग में वास्तविक यूप के उपस्थित होने पर भी वाजपेय पद की लक्षणावृत्ति से पशुयाग में प्रवृत्ति की आवश्यकता न होगी।

यहाँ ऐसा कहना उपयुक्त न होगा कि यूप पद भी तो लक्षणावृत्ति से षोडशिनामक खादिर ऊर्ध्वपात्र के बोध कराने में प्रवृत्त हो रहा है। तब वाजपेय पद लक्षणावृत्ति से पशुयाग अर्थ का बोध कराये, तो इसमें क्या अन्तर है? वस्तुतः इसमें अन्तर है, यह प्रकरण वाजपेय-याग का है। उसमें वाजपेय पद के मुख्यार्थ को स्वीकार करना ही चाहिए। इससे प्रकरण उपपन्न व अनुगृहीत रहता है। इसलिए वाजपेय-प्रसंग में अरत्नि-परिमाण 'यूप'-पदबोध्य खादिर ऊर्ध्वपात्र का होना सम्भव है। आचार्य सूत्रकार ने सन्देह का निर्णयात्मक समाधान किया—

आनर्थक्यात् तदङ्गेषु ॥१८॥

[आनर्थक्यात्] प्रधान कर्म में किसी विधि के अनर्थक होने से [तदङ्गेषु] उस प्रधान कर्म के अङ्गभूत कर्मों में उसका विधान जानना चाहिए।

वाजपेय याग सोमयागविशेष है; उसमें यूप का कोई उपयोग नहीं होता। परन्तु उसके अङ्गभूत पशुयाग में पशु को बाँधने के लिए यूप का उपयोग होता है। जब वाजपेय में यूप का अभाव है, तब 'सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्य यूपो भवति' सत्रह अरत्नि परिमाणवाला वाजपेय का यूप होता है, यह कथन अनर्थक हो जाता है। क्योंकि जब वाजपेय में यूप होता ही नहीं, तो धर्मी यूप के अभाव में उसके धर्म—'सत्रह अरत्नि-परिमाण' का कथन करना व्यर्थ है। सूत्रकार ने बताया—

---

१. 'अरत्नि' परिमाण (नाप) कितना होता है? इसमें विभिन्न विचार हैं। सम्भव है, वह भेद कालभेद के कारण रहा हो। पर अब यह परिमाण—हाथ को फैलाकर कनी अंगुली के सिरे से अंगूठे के सिरे तक—माना जाता है, जो लगभग बारह अंगुल होता है।

ऐसी स्थिति आने पर प्रधानभूत कर्म के अङ्गभूत कर्मों में उस विधि का प्रयोग कर लिया जाता है, यदि अङ्गभूत कर्म में उसके उपयोग का अवसर है।

प्रस्तुत प्रसंग में वाजपेय-याग के अङ्गभूत पशुयाग में पशु को बाँधने के लिए यूप का उपयोग है। उसी यूप का परिमाण सत्रह अरत्नि बताया गया है। यह पशुयाग वाजपेय-याग का अङ्ग होने से वाजपेय-याग की सीमा से बाहर न होने के कारण उसे वाजपेय नाम से कहे जाने में कोई बाधा नहीं है। ऐसा मानने पर 'वाजपेय' या 'यूप' किसी पद के मुख्यार्थ का परित्याग कर लक्षणावृत्ति से अर्थ करने या समझने की आवश्यकता नहीं रहती। फलतः सप्तदशारत्निता वाजपेय-याग के किसी पात्रविशेष का धर्म न होकर वाजपेय-याग के अङ्गभूत पशुयाग-सम्बन्धी यूप का धर्म है, यह निश्चित है ॥१८॥ (इति सप्तदशारत्नितायाः पशुधर्मताऽधिकरणम्—९)।

(अभिक्रमणादीनां प्रयाजमात्राऽङ्गताधिकरणम्—१०)

शिष्य जिज्ञासा करता है—दर्शपूर्णमास के प्रयाजयाग-सम्बन्धी वाक्यों के विषय में कहा है—'अभिक्रामं जुहोति अभिजित्यै' आगे बढ़ते हुए आहुति देता है, सब ओर से जय के लिए। यहाँ सन्देह है—क्या यह अभिक्रमण (आहुति देते समय आगे बढ़ना) केवल प्रयाजों का धर्म है? अथवा दर्शपूर्णमास-प्रकरण में विहित सभी कर्मों का? यह केवल प्रयाजयागों का धर्म हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। कारण यह है, अभिक्रम=आगे बढ़ना, क्रिया है। क्रिया अमूर्त्त है, यह प्रयाजयागों का उपकारक या साधक नहीं हो सकती। क्रिया का साधन क्रिया नहीं होती। द्रव्य, देवता, यजमान (=कर्त्ता) मूर्त्त तत्त्व यागादि क्रिया के साधन माने जाते हैं। समस्त कर्म इन्हीं से सिद्ध होते हैं।

यह भी ध्यान देने की बात है, प्रकरणगत पाठ केवल 'अभिक्रामं जुहोति' है; सामान्य कथन है। यदि इसका प्रयाजयागों के साथ सम्बन्ध जोड़ा जाय, तो वाक्यभेद होगा। तब वाक्य ऐसा मानना होगा—'अभिक्रामं जुहोति प्रयाजयागेषु' जो अशास्त्रीय है। अतः अभिक्रमण को दर्श-पूर्णमास प्रकरण का धर्म मानना युक्त है। आचार्य ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

कर्त्तृगुणे तु कर्मासमवायाद् वाक्यभेदः स्यात् ॥१९॥

[कर्तृगुणे] अभिक्रमण कर्त्ता का गुण होने पर [तु] तो [कर्मासमवायात्] अभिक्रमण कर्म का 'जुहोति' कर्म के साथ सम्बन्ध न होने से [वाक्यभेदः] वाक्यभेद [स्यात्] प्राप्त होगा।

'अभिक्रामं जुहोति' में 'अभिक्रामं'-पद क्रियाविशेषण है—'अभिक्रामं यथा स्यात् तथा जुहोति' आगे बढ़ना जैसे हो, वैसे होम करता है। इससे स्पष्ट है,

आगे बढ़ना कर्त्ता का गुण है। इससे यह अर्थ ज्ञात नहीं होता कि केवल प्रयाजयागों में आगे बढ़कर आहुति दी जाय। इसलिए प्रयाजों के साथ अभिक्रमण की एकवाक्यता न मानकर समस्त दर्शपूर्णमास-प्रकरण के साथ मानी जानी चाहिए। तात्पर्य है, प्रकरण-मात्र में आहुति देना आदि जो भी कार्य किया जाय, वह अभिक्रमणपूर्वक किया जाना चाहिए। केवल प्रयाजयागों के लिए ऐसा मानना युक्त न होगा, क्योंकि वहाँ 'जुहोति' आख्यात-पद आहुति देने में पुरुष-प्रयत्न को कह सकता है; पुरुष के अतिक्रमण-सम्बन्ध को नहीं कह सकता। यहाँ पर यह कहना संगत न होगा कि प्रकरण में अन्यत्र भी पुरुष के अभिक्रमण-सम्बन्ध का विधान क्यों माना जाय? क्योंकि प्रकरण में पठित होने से उसका अङ्ग होने के कारण वह कथन अभिक्रमण की कर्त्तव्यता को बतायेगा। प्रकरण में जहाँ अपेक्षित हो, तदनुसार कार्य करना चाहिए।

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

साकाङ्क्षं त्वेकवाक्यं स्याद् असमाप्तं हि पूर्वेण ॥२०॥

[तु] 'तु' जिज्ञासा के निवारण का द्योतक है। तात्पर्य है, अभिक्रमण का सम्पूर्ण दर्श-पूर्णमास प्रकरण में सम्बन्ध बताना युक्त नहीं है। क्योंकि [साकाङ्क्षम्] एक-दूसरे की आकांक्षा रखनेवाला पद-समुदाय [एकवाक्यम्] एकवाक्य [स्यात्] होता है। [पूर्वेण] पहले 'अभिक्रामम्' पद के साथ [हि] निश्चय से [असमाप्तम्] वाक्य समाप्त नहीं होता है।

'अभिक्रामं जुहोति' यह पूरा वाक्य है। अपने पूरे अर्थ को प्रकट कर ये पद निराकांक्ष हो जाते हैं; अर्थाभिव्यक्ति के लिए अन्य किसी पद की चाहना नहीं रखते। पर केवल 'अभिक्रामं' पद के साथ वाक्य की समाप्ति नहीं होती; अर्थात् उतना ही पद किसी पूरे अर्थ को प्रकट नहीं करता। यदि वाक्य की समाप्ति वहाँ हो जाती, तो उसका सम्बन्ध पूरे दर्श-पूर्णमास प्रकरण के साथ कहा जा सकता था, क्योंकि वह प्रकरण में पठित है। इसलिए साकांक्ष 'अभिक्रामं'-पद अपने साथ अव्यवहित पठित 'जुहोति' के साथ सम्बद्ध हो जाता है। यद्यपि प्रकरण दर्शपूर्णमास का है, पर प्रकरण से वाक्य बलवान् होता है; और यह वाक्य प्रयाजयागों के साथ पठित है, अतः प्रयाजों में ही अभिक्रमण होगा; दर्श-पूर्णमास प्रकरण के अन्य कार्यों में नहीं।

अभिक्रमण अमूर्त होने से होम की सिद्धि में उसे असमर्थ बताना युक्त नहीं। भले ही वह अपने रूप में अमूर्त्त हो, पर कर्त्ता के साथ सम्बद्ध होकर मूर्त्त-जैसा होता हुआ होम का उपकारक होता है। अभिक्रमण करता हुआ अर्थात् आगे बढ़ता हुआ यजमान आहवनीय के समीप जाकर आहुति-प्रदान द्वारा होम को सिद्ध करता है। फलतः अभिक्रमण का सम्बन्ध प्रयाजयागों से जानना चाहिए,

अन्यत्र नहीं। वह केवल प्रयाजयागों का धर्म है ॥२०॥ (इति अभिक्रमणादीनां प्रयाजमात्राऽङ्गताऽधिकरणम् — १०)।

(उपवीतस्य प्राकरणिकाङ्गताऽधिकरणम्—११)

शिष्य जिज्ञासा करता है—तैत्तिरीय संहिता [काण्ड २, प्रपाठक ५] के सप्तम-अष्टम ब्राह्मण-अनुवाक में दर्श-पूर्णमास की सामिधेनियाँ कही हैं। नवम अनुवाक में निवित् नामक मन्त्र पठित हैं। दशम अनुवाक में सामिधेनियों के विविध पक्ष बताये गए हैं कि विभिन्न कामनावालों की कितनी-कितनी सामिधेनियाँ बोली जानी चाहिएँ। एकादश अनुवाक में यज्ञोपवीत का कथन है—'उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते' जो उपव्यान करता है, अर्थात् दायाँ हाथ बाहर निकालकर बाएँ कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण करता है, वह देवों के चिह्न को प्रकट करता है। इस प्रसंग में सन्देह है—क्या केवल सामिधेनी मन्त्रों को पढ़ता हुआ वाम कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण करे? अथवा दर्श-पूर्णमास प्रकरण में सभी कर्मों का अनुष्ठान करते हुए उपव्यान (=दायाँ हाथ बाहर निकालकर वाम कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण) करे? सन्देह का कारण इस स्थिति का पता न लगना है कि उपवीत सामिधेनी के प्रकरण में पढ़ा है? अथवा सामिधेनियों का प्रकरण समाप्त हो जाने पर पढ़ा है?

प्रतीत होता है, दशम अनुवाक तक सामिधेनियों का प्रकरण चालू है। उसके अनन्तर उपवीती होने का उल्लेख है। नवम अनुवाक में निवित् मन्त्रों के पाठ से सामिधेनियों के प्रकरण में कोई व्यवधान नहीं होता। उसके अव्यवहित समीप-पठित है उपवीत वाक्य। तब 'सामिधेनीरनुब्रूयात्' वाक्य को यह आकाङ्क्षा रहती है कि सामिधेनियों को किस प्रकार बोले? यह आकाङ्क्षा समीप-पठित उपवीत वाक्य से निवृत्त हो जाती है। उपवीति[1] होकर सामिधेनी

---

१. "उपवीत=यज्ञोपवी=जनेऊ का स्वरूप—'कर्तुश्च वासोविन्यासमात्रं गुणो भवत्युपवीतं नाम' इससे स्पष्ट होता है—यज्ञोपवीत=जनेऊ का जो त्रिवृत् तन्तुस्वरूप है, वह अर्वाचीन है। प्राचीन काल में दुपट्टे को धारण करने की ही तीन विधियाँ—उपवीत, प्राचीनावीत और निवीत कहाती थीं। मानुष कर्म=सभा आदि में उपस्थिति के समय दुपट्टे को गले में डालकर दोनों छोर आगे लटकाये जाते थे [ऐसी प्रथा अभी भी कहीं-कहीं है]। यज्ञकर्म और पितृकर्म करते समय दुपट्टे के लटकनेवाले दोनों छोर कर्म में बाधक न होवें, इसलिए यज्ञकर्म के समय दाहिने कन्धे पर आनेवाले छोर को पीछे की ओर दाहिने हाथ के नीचे से निकालकर बायें कन्धे पर डाला जाता था। यही दुपट्टा-धारण का रूप 'उपवीत' कहाता था। पितृकर्म में उक्त

ऋचाओं को पढ़े। इससे ज्ञात होता है, उपवीति होना सामिधेनियों का धर्म

विधि से उलटा बाएँ हाथ के नीचे से उस छोर को निकालकर दाहिने कन्धे पर डाला जाता था। यह स्वरूप 'प्राचीनावीत' था। मानुष कर्म में दुपट्टे के दोनों छोर आगे को लटकाना 'निवीत' कहाता था।"

अन्य प्रमाण—धर्मशास्त्रों में स्नातक-नियमों में उत्तरीय वस्त्र (=शरीर ढाँपने का वस्त्र चादर) के अभाव में द्वितीय यज्ञोपवीत धारण करने का विधान उपलब्ध होता है। उत्तरीय वस्त्र का प्रयोजन तन्तुरूप यज्ञोपवीत से सिद्ध नहीं हो सकता है। इससे विदित होता है कि पुराकाल में यज्ञोपवीत दुपट्टा-जैसा वस्त्रविशेष ही था, जिसे आवश्यकता पड़ने पर उत्तरीय वस्त्र के रूप में धारण किया जा सकता था। 'महाभारत' में भीष्म के वर्णन में लिखा है—'श्वेतयज्ञोपवीतवान् शुशुभे च पितामहः।' 'उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते' [तै० सं० २।५।११] से भी इसे देवचिह्न कहा है। 'कादम्बरी' में भी महाश्वेता के वर्णन में 'यज्ञोपवीतेनालंकृताम्' यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है। वहाँ भी यज्ञोपवीत को अलंकारक कहा है। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं, एक—यज्ञोपवीत वस्त्र के ऊपर धारण किया जाता था; दूसरी—यह शोभा का कारण भी बनता था। तन्तुरूप यज्ञोपवीत सूक्ष्म होने से शोभा वा अलंकार का कारण उपपन्न नहीं होता है। इससे स्पष्ट है कि तन्तुरूप यज्ञोपवीत का स्वरूप अर्वाचीन है। उसका वस्त्र के नीचे धारण करना तो सम्भवतः मध्यकाल में हुआ है। इस दृष्टि से जो लोग तन्तुरूप यज्ञोपवीत के विधान के लिए मन्त्रों में प्रयुक्त त्रिवृत् शब्द का आश्रय लेते हैं, और इसके एक-एक तन्तु के प्रयोजन वा माहात्म्य के वर्णन में आकाश-पाताल एक कर देते हैं, वह सब यज्ञोपवीत के प्राचीन स्वरूप को यथावत् न जानने से चिन्त्य है। वस्त्ररूप यज्ञोपवीत दैव, पितर वा मानुष कर्म के समय में ही धारण किया जाता था। शयनकाल में वह वस्त्र खूंटी पर टाँग दिया जाता था।

शौचादि के समय कान पर जनेऊ लपेटने का कारण—जयपुर के राजगुरु स्व० श्री पं० मधुसूदन जी ओझा ने सन् १९३१ में शतपथ ब्राह्मण पढ़ाते हुए, एक शिष्य द्वारा शौचादि के समय कान पर जनेऊ लपेटने का कारण पूछने पर आपने कहा था—'शौचादि के समय कान की नस से ब्रह्मप्राण बाहर निकलता है, उसे रोकने के लिए कान पर जनेऊ लपेटा जाता है।' यज्ञोपवीत-संस्कार से पूर्व या संन्यास के समय यज्ञोपवीत त्यागने पर भी ब्रह्मप्राण निकलता रहेगा, ऐसा मेरे पूछने पर कहा कि यज्ञोपवीत-संस्कार के समय ही ब्रह्मप्राण उत्पन्न होता है, और संन्यास-संस्कार से

माननना चाहिए; समस्त दर्शपूर्णमास-प्रकरण का नहीं। आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में निर्णय दिया--

सन्दिग्धे तु व्यवायाद् वाक्यभेदः स्यात् ॥२१॥

[तु] 'तु' पद पूर्वकथन की निवृत्ति के लिए है, अर्थात् उपवीत का केवल सामिधेनियों के साथ सम्बन्ध है, यह ठीक नहीं। [सन्दिग्धे] प्रकरण की समाप्ति-विषयक सन्देह होने पर [व्यवायात्] निवित् पदों के व्यवधान से [वाक्यभेदः] यज्ञोपवीत-विधायक वाक्य का सामिधेनी से भेद [स्यात्] हो जाता है। तात्पर्य है, यज्ञोपवीत वाक्य केवल सामिधेनी के साथ सम्बद्ध न होकर समस्त दर्श-पूर्णमास प्रकरण के साथ सम्बद्ध होता है।

सन्देहमूलक जिज्ञासा में कहा गया है कि सन्देह का कारण सामिधेनियों के प्रकरण की समाप्ति का पता न लगना है। सूत्रकार ने बताया, ऐसा सन्देह होने पर सामिधेनी-प्रकरण की समाप्ति का निश्चय निवित् मन्त्रों के व्यवधान से हो जाता है। सप्तम-अष्टम अनुवाक में सामिधेनी ऋचा पठित हैं। नवम अनुवाक में निवित्-संज्ञक मन्त्रों का कथन है। ये सामिधेनी ऋचाओं से भिन्न हैं। इससे स्पष्ट होता है, सामिधेनी-प्रकरण समाप्त है। उपवीत का विधान आगे एकादश अनुवाक में हुआ है। निवित् का व्यवधान सामिधेनी-वाक्यों और उपवीत-वाक्यों को एक-दूसरे से अलग कर देता है। इस कारण उनकी एकवाक्यता न हो सकने के कारण उपवीत का सम्बन्ध सामिधेनियों से नहीं जोड़ा जा सकता।

दशम अनुवाक में सामिधेनियों के काम्य-मूलक विविध संख्याओं का जो निर्देश है, उसका सम्बन्ध केवल संख्याविषयक विकल्पों के साथ कहा जा सकता है। वह निर्देश सामिधेनियों की अनुवृत्ति का प्रयोजक नहीं है। उस अनुवाक में केवल इतना निर्देश है कि अमुक कामनावाला व्यक्ति इतनी सामिधेनी ऋचाओं का पाठ करे, तथा अमुक कामनावाला इतनी ऋचाओं का। यह कामना के अनुसार सामिधेनी ऋचाओं की संख्या के विकल्पों का उल्लेख है। इसका सम्बन्ध केवल संख्या-विकल्पों से है, सामिधेनी-प्रकरण से नहीं। तात्पर्य है, यह कथन सामिधेनियों का यहाँ अनुवर्त्तन नहीं कर सकता। अतः इस आधार

समाप्त हो जाता है। स्त्री और शूद्रों में ब्रह्मप्राण होता ही नहीं है। ऐसी बिना सिर-पैर की कल्पना भी सर्वथा हेय है। कान पर जनऊ लपेटने में सीधा-सादा दृष्ट प्रयोजन है। अशुचि-अवस्था में सम्भाषण आदि का धर्मशास्त्रों में निषेध किया है। कान पर जनेऊ लपेटने से यह विदित हो जाता है कि यह व्यक्ति सम्प्रति अशुचि है, अतः इससे सम्भाषण नहीं करना चाहिए।" (यु० मी०)।

पर कि दशम अनुवाक के समीप एकादश अनुवाक में उपव्यान का विधान है, नवम अनुवाक में पठित सामिधेनियों के साथ उपव्यान का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता।

फलतः समस्त दर्श-पूर्णमास प्रकरण में तथा अन्यत्र भी जो यज्ञिय कर्म अनुष्ठेय हैं, उन सब कर्मों में उपवीती होकर ही यजमान प्रवृत्त होगा। सामिधेनी ऋचाओं के पाठ उसी में अन्तर्गत है ॥२१॥ (इति उपवीतस्य प्राकरणिकाऽङ्गताऽधिकरणम्—१२)।

(वारणवैकङ्कतादिपात्राणां कृत्स्नयागगुणताऽधिकरणम्—१२)

शिष्य जिज्ञासा करता है—अग्न्याधेय प्रकरण में वारण, वैकङ्कत नामक पात्रों का उल्लेख है। वरण (वरना) नामक वृक्ष की लकड़ी से बना पात्र वारण है। उसके विषय में लिखा—'तस्माद् वारणो वै यज्ञावचरः स्यात्, न त्वेतेन जुहुयात्' वरण की लड़की का बना यज्ञसाधन पात्र होता है, इससे होम न करे, यह अहोम है। ऐसे ही कहा—'वैकङ्कतो यज्ञावचरः स्यात्, जुहुयादेतेन' विकङ्कत (बाँझ) की लड़की से बना यज्ञसाधन पात्र होता है, इससे होम करे। वारण, वैकङ्कत पात्र यद्यपि अग्न्याधेय प्रकरण में पठित हैं, पर ये अग्न्याधेय से सम्बद्ध नहीं हैं। क्योंकि उक्त वाक्यों में इनको 'यज्ञावचरः'=यज्ञसाधन कहा गया है। यज्ञ तो अग्नि का आधान हो जाने पर आहवनीय अग्नि में हो सकता है। प्रकरण की अपेक्षा वाक्य के बलवान् होने से अग्न्याधेय में इनका प्रयोग नहीं होता; ये यज्ञ-साधना पात्र हैं। यहाँ सन्देह है—क्या समीप-पठित होने से इन पात्रों का प्रयोग केवल अग्न्याधेय की पवमान-संज्ञक इष्टियों में होता है? अथवा दर्श-पूर्णमास आदि सभी यागों में? प्रतीत होता है, इनका प्रयोग पवमान इष्टियों में होना चाहिए। यह एक शास्त्रीय व्यवस्था है—प्रधान कर्म में जिसका उपयोग न हो, वह उसके [प्रधान कर्म के] गुणभूत कर्म का अङ्ग माना जाता है। अग्न्याधेय प्रधान कर्म में इन पात्रों का उपयोग न होने पर अग्न्याधेय के गुणभूत कर्म पवमान-संज्ञक इष्टियों में इनका उपयोग माना जाना चाहिए, अन्यत्र नहीं। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

गुणानां च परार्थत्वाद् असम्बन्धः समत्वात् स्यात् ॥२२॥

[गुणानाम्] गुणों के [परार्थत्वात्] परार्थ=यज्ञ के लिए होने के कारण [च] और [समत्वात्] अग्नि के संस्कार में अग्न्याधान तथा पवमान हवियों के समान होने के कारण [असम्बन्धः स्यात्] वारण, वैकङ्कत पात्रों का पवमान हवियों के साथ सम्बन्ध नहीं होता।

पवमान हवियों को अग्न्याधेय का अङ्ग बताकर जो उक्त पात्रों का सम्बन्ध

केवल पवमान हवियों के साथ कहा, वह इसलिए अयुक्त है, क्योंकि आचार्य सूत्रकार ने आगे[1] स्वयं बताया है कि पवमानेष्टि अग्न्याधेय का अङ्ग नहीं है। ये दोनों समान प्रयोजनवाले कर्म हैं, इनमें कोई किसी का अङ्ग नहीं। जैसे अग्निसंस्कार के लिए अग्न्याधान होता है, वैसे ही अग्निसंस्कार के लिए पवमान हवियाँ हैं। इसलिए इन गुणभूत कर्मों के समान होने के कारण इनका परस्पर अङ्गाङ्गिभाव-सम्बन्ध नहीं है। ये दोनों अग्निसंस्कार के लिए होने के कारण अग्नि के प्रति गुणभूत हैं। तात्पर्य है, ये दोनों अग्निसंस्कार के अङ्ग हैं। फलतः अग्न्याधेय के अङ्ग होने के आधार पर पवमान हवियों के साथ उक्त पात्रों का सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।

अग्नि का आधान और पवमान हवियों के परस्पर सम्बन्ध का प्रश्न व्यर्थ है, क्योंकि इन दोनों कर्मों का एक प्रयोजन—अग्निसंस्कार—है; यही इनका सम्बन्ध है। यह कहना ठीक है कि ये पात्र अग्न्याधेय-प्रकरण में पठित हैं; पर प्रकरण की बाधा कर वाक्य उनका सम्बन्ध आहवनीय अग्नि के साथ जोड़ता है। वाक्य है—'यदाहवनीये जुहोति तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति' जो आहवनीय अग्नि में आहुति देता है, उससे यह यजमान अग्नि का अभीष्ट और प्रिय होता है।

इस वाक्य में आहवनीय अग्नि को याग का आधार बताने का तात्पर्य यही है कि याग आहवनीय अग्नि के लिए है। पवमान हवियों का भी प्रयोजन आहवनीय अग्नि का संस्कार है; अतः वे भी आहवनीय अग्नि के लिए हैं। उनकी सार्थकता इसी में है। ये सब प्रधानभूत आहवनीय अग्नि के अङ्ग होकर यागादि द्वारा स्वर्ग के साधनभूत अपूर्व को उत्पन्न करते हैं। फलतः उक्त पात्रों का आहवनीय अग्नि के साथ सीधा सम्बन्ध होने से अग्निसाध्य समस्त दर्श-पूर्णमास आदि कर्मों में उनका उपयोग होता है, केवल पवमान हवियों में नहीं, भले ही उनका पाठ आधान-प्रकरण में हुआ हो। दर्श-पूर्णमास-सम्बन्धी समस्त कर्मों में इन पात्रों का उपयोग होने से पवमान हवियों में भी प्राप्त हो जाएगा, क्योंकि पवमानेष्टि दर्श-पूर्णमास का विकृतिरूप है, उनके अन्तर्गत आ जाती है ॥२२॥
(इति वारणवैकङ्कतादिपात्राणां कृत्स्नयागगुणताऽधिकरणम्—१२)।

(वार्त्रघ्न्याद्यनुवाक्यानामाज्यभागाङ्गताऽधिकरणम्—१३)

शिष्य जिज्ञासा करता है—दर्श-पूर्णमास प्रकरण में वाक्य पठित हैं—'वार्त्रघ्नी पौर्णमास्यामनूच्येते, वृधन्वती अमावास्यायाम्।' वृत्रघ्न-सम्बन्धी दो अनुवाक्या पौर्णमासी में पढ़ी जाती हैं; 'वृध' वाली अमावास्या में। यहाँ सन्देह है—दो

---

१. द्रष्टव्य—मीमांसा सूत्र, ३।६।११-१५, अधि० ४ ॥

अनुवाक्या पढ़े जाने का सम्बन्ध प्रधान कर्म के साथ है ? अथवा आज्यभाग के साथ ? प्रधान कर्म = पौर्णमास व दर्श के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है, क्योंकि वाक्य में 'पौर्णमासी' 'अमावास्या' पद पढ़े हैं, जो प्रधान कर्म के द्योतक हैं। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

मिथश्चानर्थसम्बन्धात् ॥२३॥

[च] 'च' पद भिन्नक्रम है, अर्थात् जिज्ञासा में प्रतिपादित अर्थ से भिन्न अर्थ का द्योतक है। तात्पर्य है, दो वार्त्रघ्नी अनुवाक्या और दो वृधन्वती अनुवाक्या का सम्बन्ध प्रधान कर्म से नहीं है; [मिथः] युगल का प्रधान कर्म के साथ [अनर्थसम्बन्धात्] अर्थपूर्ण = सप्रयोजन सम्बन्ध न होने के कारण।

(क) वार्त्रघ्नी = वृत्रघ्न-सम्बन्धी दो अनुवाक्या ऋचा हैं—

१. अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया।
समिद्धः शुक्र आहुतः ॥—ऋ० ६।१६।३३ ॥
—तै० सं० ४।३।१३।१॥ मै० सं० ४।१०।१॥

यह वार्त्रघ्नी आग्नेयी = अग्निदेवतावाली अनुवाक्या है।

२. त्वं सोमासि सत्पतिस्त्वं राजोत वृत्रहा।
त्वं भद्रो असि क्रतुः ॥ ऋ० १।९१।५॥
—तै० सं० ४।३।१३।१॥ मै० सं० ४।१०।२॥

यह वार्त्रघ्नी सौमी = सोम देवतावाली अनुवाक्या है।

(ख) वृधन्वती = 'वृध' धातु के रूप से युक्त दो अनुवाक्या ऋचा हैं—

१. अग्निः प्रत्नेन मन्मना शुम्भानस्तन्वं स्वाम्।
कविर्विप्रेण वावृधे ॥ ऋ० ८।४४।१२॥
—तै० ब्रा० ३।५।६।१॥ मै० सं० ४।१०।१।१६॥

यह वृधन्वती आग्नेयी = अग्नि देवतावाली अनुवाक्या है।

२. सोम गीर्भिष्ट्वा वयं वर्धयामो वचोविदः।
सुमृडीको न आ विश ॥ ऋ० १।९१।११॥
—तै० ब्रा० ३।५।६।१॥ मै० सं०४।१०।१।१६॥

यह वृधन्वती सौमी = सोम देवतावाली अनुवाक्या है।

मिली हुई (युगल) दो-दो अनुवाक्याओं का प्रधान कर्म में कोई कार्य नहीं है। जिस कर्म में दो अनुवाक्याओं का कार्य है, वहाँ इनका विधान जानना चाहिए। आज्यभाग में दो आहुतियाँ दी जाती हैं, वहाँ दो अनुवाक्या आग्नेयी (एक वार्त्रघ्नी, एक वृधन्वती) और दो अनुवाक्या सौमी (एक वार्त्रघ्नी, एक वृधन्वती) प्राप्त हैं। इसलिए आज्यभाग में ही इनका सम्बन्ध जानना चाहिए; प्रधान कर्म में नहीं।

यद्यपि ये युगल अनुवाक्या प्रधान कर्म के प्रकरण में पठित हैं, पर अमावास्या के दिन सौमी = सोम देवतावाली अनुवाक्या से दर्श-याग में आहुति नहीं दी जाती; क्योंकि उस दिन सोम देवता है ही नहीं। इसलिए एक आहुति वार्त्रघ्नी आग्नेयी अनुवाक्या से और एक वृधन्वती आग्नेयी अनुवाक्या से दी जाती है। प्रधान कर्म में युगल का उपयोग सम्भव नहीं है। वहाँ एक ही एक आहुति का विधान है।

पूर्णमासी के दिन भी सौमी अनुवाक्या अग्नीषोमीय याग में ही विधान की जाती हुई विहित होगी। पर वहाँ भी एक सोम देवतावाली सौमी अनुवाक्या देवताओं के द्वित्व में कार्य नहीं कर सकेगी। तात्पर्य है, एक देवतावाली सौमी अनुवाक्या दो देवतावाले कर्म की अनुवाक्या नहीं बन सकेगी। यद्यपि आग्नेयी और सौमी दोनों अनुवाक्या अग्नीषोमीय याग में प्राप्त होती हैं, पर वहाँ एक याग में दो अनुवाक्याओं से कोई प्रयोजन नहीं; क्योंकि एक याग की एक ही अनुवाक्या होती है। आवश्यकतानुसार ही अनुवाक्या का उपादान किया जाता है। वहाँ एकत्व विहित है। इससे भी अग्नीषोमीय याग में दो अनुवाक्या मान्य नहीं हैं। फलतः आज्यभाग में दो वार्त्रघ्नी और दो वृधन्वती अनुवाक्याओं का सम्बन्ध सामञ्जस्यपूर्ण है।

अनुवाक्या के लिए प्रायः पुरोनुवाक्या पद का व्यवहार होता है। याज्या से पूर्व पढ़े जाने के कारण इसका नाम पुरोनुवाक्या है। इस अधिकरण में प्रसंगवश जिन ऋचाओं का उल्लेख हुआ है, वे 'सामिधेनी ऋक्' नाम से भी व्यवहृत होती हैं। इनका उच्चारण कर आहवनीय अग्नि में समिधा की आहुति दी जाती है। उक्त नामकरण का यही कारण है ॥२३॥ (इति वार्त्रघ्न्याद्यनुवाक्यानामाज्य-भागाङ्गताऽधिकरणम्—१३)।

(मुष्टीकरणादीनां कृत्स्नप्राकरणिकाङ्गताऽधिकरणम्—१४)

शिष्य जिज्ञासा करता है—ज्योतिष्टोम-प्रकरण में कतिपय वाक्य इस प्रकार पठित हैं—'मुष्टी करोति वाचं यच्छति, दीक्षितमावेदयति' इति, तथा 'हस्ता-ववनेनिक्ते, उलपराजिं स्तृणाति'—मुट्ठी बाँधता है, वाणी संयम करता है अर्थात् मौन होता है, दीक्षित को आवेदन करता है। यहाँ सन्देह है—मुट्ठी बाँधना, मौन

होना क्या दीक्षित के आवेदन के लिए है ? अथवा समस्त प्रकरण के साथ इसका सम्बन्ध है ? इसी प्रकार हाथ धोता है, घास के तिनकों की पंक्ति बिछाता है। यहाँ हाथ धोना क्या घास-तृणों की पंक्ति बिछाने के साथ सम्बद्ध है ? अथवा समस्त प्रकरण के साथ सम्बद्ध है ?

प्रथम तीनों वाक्य अव्यवहित रूप में पठित हैं। मुट्ठी बाँधना, और वाक्-संयम का क्या प्रयोजन है ? यह आकांक्षा होती है। इसका निराकरण अथवा आकांक्षा की पूर्ति समीप-पठित वाक्य — दीक्षितमावेदयति' से तत्काल हो जाती है। इससे प्रतीत होता है—मुट्ठी बाँधना और मौन होना, दीक्षित के आवेदन से सम्बद्ध है।

जब कोई व्यक्ति ज्योतिष्टोम याग के लिए दीक्षा लेता है, तब अन्य प्रथम दीक्षित व्यक्ति ऊँचे स्वर से घोषणा करता है —'दीक्षितोऽयं ब्राह्मणः' यह वैदिक कर्म में निष्ठा रखनेवाला व्यक्ति ज्योतिष्टोमादि अनुष्ठान के लिए दीक्षित हो गया है। हाथ और वाणी की चपलता से दूर होकर यह घोषणा की जानी चाहिए, इसी प्रयोजन से मुष्टीकरण और वाक्संयम का विधान है, दीक्षित आवेदन से ये सम्बद्ध हैं।

इसी प्रकार हाथ धोने का विधान कर अव्यवहित अनन्तर घास-तृणों के बिछाने का उल्लेख है। हाथ धोना हाथ का संस्कार है। आकांक्षा होती है, यह किसलिए है ? इसका प्रयोजन क्या है ? इस आकांक्षा की पूर्त्ति अव्यवहित सान्निध्य में पठित 'उलपराजिं स्तृणाति' वाक्य से हो जाती है, हाथ धोकर घास-तिनकों की पंक्ति बिछाने का विधान है। इस प्रकार मुष्टीकरण, वाग्यमन दीक्षित-आवेदन का धर्म है, तथा हस्तप्रक्षालन उलप-संस्तरण का; प्रकरण से इनका कोई सम्बन्ध नहीं। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

आनन्तर्यमचोदना ॥२४॥

[आनन्तर्यम्] आनन्तर्य=अव्यवधान होना, किसी समीप-स्थित पदार्थ के साथ सम्बन्ध करने में [अचोदना] प्रेरक नहीं होता।

उक्त वाक्यों से जो अर्थ अभिव्यक्त किये गये हैं, वे अपने में पूर्ण हैं। उनकी अर्थपूर्त्ति के लिए कोई आकांक्षा वहाँ नहीं उभरती। अव्यवहित सान्निध्य भी इसका प्रेरक नहीं होता कि समीप-स्थित वाक्य के साथ उसका सम्बन्ध मान लिया जाय, जबकि प्रथम वाक्य अपनी अर्थाभिव्यक्ति में पूर्ण है, निराकांक्ष है। अन्यथा 'घटमाहर, गां नय'—'एक घड़ा पानी भर लाओ, गाय ले जाओ' इनका भी परस्पर सान्निध्य होने सम्बन्धी माना जाना चाहिए। जैसे ये वाक्य अपने अर्थ को प्रकट करने में पूर्ण हैं, ऐसे ही 'मुष्टी करोति' आदि वाक्य अपने अर्थ को प्रकट करने में पूर्ण हैं। समीप-पठित वाक्य से उनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है

इसलिए जिस प्रकरण में पठित हैं, उस समस्त प्रकरण के साथ उनका सम्बन्ध है; केवल दीक्षित-आवेदन तथा उलप-संस्तरण के साथ नहीं। यदि ऐसा नहीं माना जाता, तो क्या मुष्टीकरण, वाग्यमन केवल दीक्षित-आवेदन में सीमित होगा? तथा अन्य सब कर्मों में हाथ और वाणी की चञ्चलता चालू रक्खी जायगी? और क्या इसी प्रकार उलप-संस्तरण के अतिरिक्त अन्य कर्मों में हाथ मलिन या गन्दे ही रक्खे जाएँगे? ऐसा होना पवित्र कर्मानुष्ठान के प्रति अश्रद्धा एवं उपेक्षा की भावना को अभिव्यक्त करेगा। फलतः यह स्पष्ट होता है कि उक्त वाक्यों द्वारा जो अर्थ अभिव्यक्त किये गये हैं, उनका सम्बन्ध प्रकरणगत समस्त कर्मों के साथ है। दीक्षितावेदन, उलप-संस्तरण भी उसी के अन्तर्गत आ जाता है ॥२४॥

उक्त वाक्यों की पूर्णता को आचार्य सूत्रकार ने स्वयं स्पष्ट किया—

वाक्यानाञ्च समाप्तत्वात् ॥२५॥

[च] और [वाक्यानाम्] वाक्यों के अपने पदसमूह में अर्थाभिव्यक्ति के [समाप्तत्वात्] समाप्त अर्थात् पूर्ण हो जाने के कारण, इन वाक्यों का परस्पर कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।

जितने वाक्य गत-सूत्र की अवतरणिका में उद्धृत किये गये हैं, उनमें प्रत्येक वाक्य अपने पदसमूह से अर्थाभिव्यक्ति में परिपूर्ण है। इसलिए प्रत्येक वाक्य का अपना अर्थ स्पष्ट है। वे सब एक-दूसरे से भिन्न हैं, इसलिए निराकाङ्क्ष हैं, समान रूप से प्रकरण में पठित हैं, अतः प्रकरणगत समस्त कर्मों के साथ उनका सम्बन्ध है ॥२५॥ (इति मुष्टीकरणादीनां कृत्स्नप्राकरणिकाङ्गताऽधिकरणम्—१४)।

(चतुर्धाकरणस्याग्नेयमात्राङ्गताऽधिकरणम्—१५)

शिष्य जिज्ञासा करता है—दर्श-पूर्णमास प्रकरण में कहा है—'आग्नेयं चतुर्धा करोति' अग्निदेवतावाले पुरोडाश के चार भाग करता है। यहाँ सन्देह है—क्या अग्निदेवतावाले, अग्नीषोमीय देवतावाले तथा इन्द्राग्नि देवतावाले सभी पुरोडाशों में चार विभाग करने चाहिएँ? अथवा केवल अग्निदेवतावाले पुरोडाश में? जहाँ भी अग्निदेवता का सम्बन्ध है, उन सभी पुरोडाशों में चतुर्धाकरण होना चाहिए, इस शिष्य-जिज्ञासा को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

शेषस्तु गुणसंयुक्तः साधारणः प्रतीयेत
मिथस्तेषामसम्बन्धात् ॥२६॥

[तु] आग्नेय पुरोडाश का चतुर्धाकरण तो [शेषः] शेष कर्म है। [गुण-

संयुक्तः] अग्निदेवतारूप गुण से सम्बद्ध है वह चतुर्धाकरण; अतः [साधारणः] सर्वत्र समान [प्रतीयेत] जानना चाहिए। [तेषाम्] उन पुरोडाशों के बीच [मिथः] केवल आग्नेय और चतुर्धाकरण का परस्पर [असम्बन्धात्] सम्बन्ध न होने के कारण, चतुर्धाकरण का सम्बन्ध अग्नीषोमीय ऐन्द्राग्न आदि में सर्वत्र होगा।

चतुर्धाकरण आग्नेय पुरोडाश का अङ्गभूत कर्म है। इसलिए अग्निदेवता का साधारण सम्बन्ध चतुर्धाकरण के साथ होगा। तब अग्निदेवता चाहे सोम के साथ है, अथवा इन्द्र के साथ, उनके उद्देश्य से बने पुरोडाश में भी चतुर्धाकरण प्राप्त होता है; क्योंकि वहाँ भी अग्निदेवता बैठा है। सर्वत्र पुरोडाशों में अग्निदेवता का निर्बाध सम्बन्ध है। अतः सर्वत्र चतुर्धाकरण होना चाहिए। इसलिए चतुर्धाकरण में यह व्यवस्था नहीं है कि वह केवल आग्नेय पुरोडाश में ही हो।

ऐसा व्यवहार शास्त्र में अन्यत्र देखा जाता है। वाक्य है—'आग्नेयस्य मस्तकं विभज्य प्राशित्रमवद्यति' आग्नेय पुरोडाश के ऊपरी भाग को तोड़कर प्राशित्र-भाग का ग्रहण करता है। यह प्राशित्र-भाग यद्यपि वाक्य में आग्नेय पुरोडाश से लेने को कहा गया है, पर अग्नीषोमीय और ऐन्द्राग्न पुरोडाशों से भी उसका ग्रहण किया जाता है। यह भाग ब्रह्मा के प्राशन=भक्षण के लिए प्राशित्रहरण नामक पात्र में रक्खा जाता है। इसी आधार पर पुरोडाश के इस भाग का 'प्राशित्र' नाम है। जैसे यहाँ आग्नेय पुरोडाश के लिए कहा गया कार्य अग्नीषोमीय और ऐन्द्राग्न पुरोडाशों में भी व्यवहार्य है, ऐसे ही चतुर्धाकरण भी सर्वत्र पुरोडाशों में जानना चाहिए॥२६॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

व्यवस्था वाऽर्थसंयोगाल्लिङ्गस्यार्थेन सम्बन्धाल्लक्षणार्था गुणश्रुतिः ॥२७॥

[वा] 'वा' पद जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए है। तात्पर्य है, चतुर्धाकरण सर्वत्र पुरोडाशों में नहीं होता। [अर्थसंयोगात्] अर्थ=पुरोडाश के साथ अग्नि-देवता का सम्बन्ध होने से; और [लिङ्गस्य] अग्निदेवतारूप लिङ्ग का (अर्थेन) अर्थ=पुरोडाश के साथ [सम्बन्धात्] सम्बन्ध होने से चतुर्धाकरण उसी पुरोडाश का होगा, जो केवल अग्निदेवता के उद्देश्य से तैयार किया गया है। (गुणश्रुतिः) देवतारूप गुण का श्रवण यहाँ (लक्षणार्था) लक्षित—चिह्नित—सीमित करने के लिए है—चतुर्धाकरण को। तात्पर्य है—चतुर्धाकरण आग्नेय पुरोडाश का ही होता है, अन्य किसी पुरोडाश का नहीं।

सूत्र में पठित 'वा' पद अग्नीषोमीय और ऐन्द्राग्न पुरोडाशों में चतुर्धाकरण की व्यावृत्ति का द्योतक है, क्योंकि चतुर्धाकरण केवल आग्नेय पुरोडाश में

व्यवस्थित है; पुरोडाशमात्र में सर्वसाधारण नहीं। 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' वाक्य में 'आग्नेय' पद पुरोडाश का विशेषण है। वह अग्नि एक देवतावाले पुरोडाश को विशेषित करता है, अन्य पुरोडाशों से भिन्न करता है। वाक्य-निर्देश के अनुसार चतुर्धाकरण उसी पुरोडाश में प्रवृत्त होगा, जो एकमात्र देवता अग्नि से विशेषित है। 'आग्नेयम्' पद में पाणिनि [४।२।२३; ४।२।३२] नियम के अनुसार 'अग्नि' प्रातिपदिक से 'ढक्' प्रत्यय उसी अवस्था में होता है, जब वह समर्थ हो। 'समर्थानां हि वा उच्यते' तद्धित प्रत्ययों की उत्पत्ति पाणिनि [४।१।८२] के नियम के अनुसार समर्थ प्रातिपदिक से कही है। समर्थ के विषय में एक सामान्य नियम है—'निराकाङ्क्षं समर्थं साकाङ्क्षं चासमर्थम्'—जो पद निराकाङ्क्ष है, अपने खड़े होने के लिए दूसरे की आकाङ्क्षा=अपेक्षा नहीं करता, वह समर्थ, और जो अन्य की आकाङ्क्षा करता है, वह असमर्थ माना जाता है। 'अग्नीषोमीयम्' और 'ऐन्द्राग्नम्' पदों में अग्निदेवता की पंक्ति में खड़े होने के लिए सोम और इन्द्र की आकाङ्क्षा रखता है, इसलिए वह असमर्थ है। इस कारण तद्धित-प्रत्ययान्त निरपेक्ष अग्निदेवतावाले 'आग्नेय' पद से दो देवतावाले पुरोडाश का कथन नहीं होता। इसलिए अग्नीषोमीय और ऐन्द्राग्न पुरोडाश में चतुर्धाकरण विधान प्रवृत्त न होगा।

सब पुरोडाशों में चतुर्धाकरण के लिए जो प्राशित्र के ग्रहण का दृष्टान्त दिया है, वह यहाँ संगत नहीं होता। सब पुरोडाशों से प्राशित्र-भाग ग्रहण करना युक्त है। कारण यह है—जैसे 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' वाक्य पुरोडाश के चतुर्धाकरण का है, वैसा 'आग्नेयस्य प्राशित्रमवद्यति' वाक्य यहाँ नहीं है। तात्पर्य है—इस वाक्य की योजना चतुर्धाकरण वाक्य के समान नहीं है। यहाँ 'आग्नेयस्य मस्तकं विभज्य' एक वाक्य है। 'प्राशित्रमवद्यति' दूसरा वाक्य है। उसका सम्बन्ध अन्य पुरोडाश-वाक्यों से हो जाता है। अतः प्राशित्र का ग्रहण सब पुरोडाशों से युक्त है। दर्श-पूर्णमास में ऐसा नहीं है। यदि वहाँ एक अग्निदेवतावाले पुरोडाश का कथन न होता, तो 'आग्नेयस्य मस्तकं विभज्य' की अनर्थकता के परिहार के लिए दो देवतावाला पुरोडाश भी गृहीत होता ॥२७॥ (इति चतुर्धाकरणस्याग्नेयमात्राङ्गताऽधिकरणम्—१५)।

इति जैमिनीय मीमांसादर्शनविद्योदयभाष्ये

तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः।

अथ तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः

(लवनप्रकाशकमन्त्राणां मुख्ये विनियोगाऽधिकरणम्—१)

गत पाद में श्रुति के आधार पर विवादास्पद विधियों का निर्णय किया गया। लिङ्ग क्योंकि श्रुति पर आधारित रहता है, अतः श्रुतिविनियोग के अनन्तर प्रस्तुत पाद में लिङ्ग के आधार पर वचनविनियोग बताया जाता है। लिङ्ग का तात्पर्य है—उन वचनों में अर्थविशेष के बोध कराने का सामर्थ्य। इस अधिकरण में विचारार्थ उदाहरणरूप 'बर्हिर्देवसदनं दामि' वचन है। यहाँ 'बर्हिः' मुख्य पद है, 'देवसदनम्' उसका विशेषण, 'दामि' क्रियापद है। 'देव' पद का अर्थ यहाँ यज्ञ के साधनभूत पदार्थ व पात्र आदि हैं। उनके सदन=आश्रयरूप बर्हि=कुशा को काटता हूँ। अनुष्ठान के समय इन पात्र आदि को नंगी भूमि पर नहीं रक्खा जाता, कुशा बिछाकर उसके ऊपर रक्खा जाता है। अर्थ हुआ—यज्ञपात्र आदि के आश्रयभूत कुशाओं को काटता हूँ।

शिष्य जिज्ञासा करता है—इस प्रकार के वचनों का विनियोग क्या मुख्य अर्थ में ही होता है? अथवा गौण अर्थ में भी होता है? जब व्यक्ति सामने से आता दिखाई देता है, पर दूर है, तब उसका पहले-पहल मुख ही दिखाई देता है। इसी प्रकार वचन के सुनने या देखने पर उसका जो अर्थ सहसा सर्वप्रथम अभिव्यक्त होता है, वह मुख के समान होने से मुख्य है। जब व्यक्ति समीप आ जाता है, तब उसके अधोभाग के अङ्ग जंघा आदि दिखाई देते हैं। ऐसे ही वचन के मुख्य अर्थ की अभिव्यक्ति हो जाने पर जो अर्थ किसी गुणविशेष के कारण बाद में अभिव्यक्त होता है, वह जंघा के समान होने से जघन्य कहाता है। गुणविशेष के सहारे उभरने के कारण उसे गौण या अप्रधान कहा जाता है।

लोक में व्यवहार होता है—'अग्निर्माणवकः' यह किशोर बालक अग्नि है। 'अग्नि' शब्द ज्वलन अर्थ में जाना जाता है। उक्त व्यवहार में माणवक को अग्नि कहा। यहाँ अग्नि का मुख्य अर्थ माणवक नहीं है। उसका मुख्य अर्थ ज्वलन ही है। उस अर्थ की अभिव्यक्ति हो जाने पर उसके सदृश क्रोध, तेजस्विता आदि गुणों के आधिक्य से माणवक के लिए अग्नि पद का प्रयोग गौण है। ये दोनों प्रकार के

प्रयोग मान्य समझे जाते हैं। इसी कारण जिज्ञासा है कि वैदिक वचनों में शब्द का प्रयोग मुख्य अर्थ की अभिव्यक्ति में ही माना जाय ? अथवा गौण अर्थ की अभिव्यक्ति में भी ? क्योंकि ये दोनों प्रकार के अर्थ शब्द-सामर्थ्य से ही उभरते हैं।

आचार्य ने जिज्ञासा का समाधान किया—

अर्थाभिधानसामर्थ्यान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्
तस्मादुत्पत्तिसम्बन्धोऽर्थेन नित्यसंयोगात् ॥१॥

[अर्थाभिधानसामर्थ्यात्] अर्थ के अभिधान—कथन में—अर्थात् अभिव्यक्त करने में समर्थ होने के कारण [मन्त्रेषु] मन्त्रों में—शास्त्रीय वचनों में [शेषभावः] क्रतु के प्रति अङ्गभाव [स्यात्] होता है। [तस्मात्] इस कारण कि शब्द का [अर्थेन] मुख्य अर्थ के साथ [नित्यसंयोगात्] नित्य सम्बन्ध होने से [उत्पत्तिसम्बन्धः] शब्द की उत्पत्ति = अभिव्यक्ति के साथ-ही-साथ अर्थ-सम्बन्ध जाना जाता है। तात्पर्य है, शब्द-अर्थ का परस्पर, नित्य सम्बन्ध होने से शब्द की अभिव्यक्ति के साथ ही अर्थ अभिव्यक्त हो जाता है; अर्थाभिव्यक्ति में शब्द किसी बाह्य-साधन की अपेक्षा नहीं रखता, वह अकृत्रिम है, स्वाभाविक है। शब्द के साहचर्य को अर्थ छोड़ नहीं सकता। शब्द का यह सामर्थ्य है कि जैसे ही शब्द अभिव्यक्त होता है, वह अर्थ को अभिव्यक्त कर देता है, यह अनिवार्य स्थिति है।

प्रसंग में विचारास्पद शास्त्रीय वचन 'बर्हिर्देवसदनं दामि' है। यहाँ 'बर्हि' पद अपने मुख्य अर्थ कुशा-तृण के अर्थ में प्रयुक्त है, कुशा-सदृश के अर्थ में नहीं। क्योंकि एक पद एक ही समय दोनों अर्थों का बोध नहीं करा सकता। उच्चारण के साथ ही पद अपने मुख्य अर्थ को अभिव्यक्त कर देता है। बर्हि पद कुशा-तृण अर्थ को प्रकट कर क्रतु में उपकारक होता है। ऐसी स्थिति में गौण अर्थ के उभरने का अवसर ही नहीं आता। गौण अर्थ तभी उभरता है, जब मुख्य अर्थ की उपपत्ति सम्भव न हो। 'अग्निर्माणवकः' अथवा 'सिंहो माणवकः' आदि वाक्यों में अग्नि अथवा सिंह पद का तेजस्विता या साहस अर्थ तभी उभरता है, जब माणवक में अग्निरूपता व सिंहरूपता असम्भव रहती है। 'बर्हिः' वाक्य में ऐसा नहीं है। कुशातृण द्वारा यज्ञोपयोगी कार्य के सम्पादन में कोई बाधा या असम्भावना नहीं है। फलतः गौण अर्थ की अभिव्यक्ति में उक्त पद असमर्थ है, तब गौण अर्थ में उसका विनियोग—प्रयोग नहीं माना जा सकता।

शब्द के उच्चरित होते ही मुख्य अर्थ तत्काल उपस्थित होता है, तथा शास्त्रीय वचन के प्रयोजन को पूरा कर देता है। इससे शास्त्रीय वचन सार्थक होकर अन्य (गौण) अर्थ के बोधन में निराकांक्ष हो जाता है। यद्यपि शब्द मुख्य और गौण दोनों अर्थों को अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य रखता है, पर गौण अर्थ

उसी अवस्था में अभिव्यक्त होता है, जब मुख्य अर्थ बाधित या असम्भावित हो। उक्त वचन में ऐसा न होने से गौण अर्थ में शब्द का विनियोग करना अयुक्त है। मुख्य और गौण दोनो प्रकार के अर्थों की उपस्थिति होने पर मुख्य अर्थ में ही कार्य-सम्पादन किया जाता है,—ऐसी शास्त्रीय व्यवस्था है ॥१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—दर्शपूर्णमास में—यजमान द्वारा जिन देवताओं को आहुति दी गई हैं, उनसे आशीर्वाद लेने के लिए—कतिपय मन्त्र पठित हैं। उनमें पूषा और आदित्य के भी अनुमन्त्रण (आशीर्वचन) मन्त्र[1] पठित हैं। परन्तु दर्शपूर्णमास में पूषा आदि देवता आहुत नहीं हैं। तब उन मन्त्रों का वहाँ उत्कर्ष होगा, अर्थात् उन मन्त्रों का उपयोग वहाँ करना होगा, जहाँ दर्शपूर्णमास के विकृतियागों में पूषा आदि देवता आहुत हैं। यदि शब्द (बर्हि आदि) का विनियोग गौण अर्थ में भी माना जाता है, तो इन मन्त्रों का उत्कर्ष नहीं करना पड़ेगा। तब 'पूषा' आदि पद पुष्टि आदि अर्थ को अभिव्यक्त करते हुए गौणी वृत्ति से अग्नि आदि देवताओं को ही कहेंगे, जो दर्शपूर्णमास में आहुत हैं। इसलिए गौण अर्थ में भी वचन का विनियोग मानना चाहिए।

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

संस्कारकत्वादचोदिते न स्यात् ॥२॥

[संस्कारकत्वात्] पूषा आदि देवता-सम्बन्धी अनुमन्त्रण मन्त्र देवता के स्मरणरूप संस्कार के जनक होने से [अचोदिते] अविहित याग में उनका विनियोग [न स्यात्] नहीं होता।

पूषा आदि देवता दर्शपूर्णमास में आहुति के लिए विहित नहीं हैं। परन्तु वहाँ इनके आशीर्वचन के लिए मन्त्र पठित हैं। ये मन्त्र इस बात का स्मरण कराते हैं कि पूषा आदि देवता यजमान द्वारा आहुति के लिए कहीं अवश्य पठित हैं। यदि ऐसा न हो, तो आशीर्वचन निरर्थक होते हैं। इसलिए जहाँ विकृतियाग में पूषा आदि देवता आहुत हैं, वहाँ अनुमन्त्रण मन्त्रों का उत्कर्ष करना ही होगा। इनकी अर्थवत्ता वहीं है।

आचार्यों ने इन मन्त्रों (=आशीर्वचनों) की संज्ञा 'इष्टानुमन्त्रण' अथवा 'यागानुमन्त्रण' कही है। पर दर्शपूर्णमास में पूषा आदि देवता 'इष्ट' नहीं है, तथा उनके लिए दर्शपूर्णमास में याग का विधान नहीं है, और मन्त्र में 'देवयज्यया' पद

---

१. द्रष्टव्य—काठक संहिता: (५।१), 'अग्नीषोमाभ्यां यज्ञश्चक्षुष्माँस्तयोरहं देवयज्यया चक्षुषा चक्षुष्मान् भूयासम्'। इसी प्रसंग में पूषा और आदित्य के अनुमन्त्रण मन्त्र हैं—'पूष्णोऽहं देवयज्यया पुष्टिमान् पशुमान् भूयासम्। आदित्या अहं देवयज्यया प्रतिष्ठां गमेयम्' इत्यादि।

के सामर्थ्य से पूषा आदि का याग-सम्बन्ध बोधित होता है। इसलिए जहाँ विकृति-यागों में पूषा आदि देवताओं के लिए याग का विधान हो, वहाँ इन मन्त्रों (आशीर्वचनों) का उत्कर्ष उपयुक्त है। इसी में इनकी सार्थकता है, इसमें कोई आपत्तिजनक बात नहीं है। इस अधिकरण का निर्णय मीमांसा में 'बर्हिन्याय' नाम से व्यवहृत होता है ॥२॥ (इति लवनप्रकाशकमन्त्राणां मुख्ये विनियोगाऽधि-करणम्—१)।

(इन्द्रप्रकाशकमन्त्राणां गार्हपत्ये विनियोगाऽधिकरणम्—२)

अग्निचयन-प्रसंग में पाठ है—'निवेशनः संगमनो वसूनाम्—इति ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' [मैत्रा० सं० ३।२।४]—'निवेशनः संगमनो वसूनाम्' इस इन्द्रदेवतावाली ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करता है, अर्थात् समीप स्थिर होकर उसका स्तवन करता है। यद्यपि स्तवनकर्त्ता का ईप्सिततम होने से उपस्थान का कर्म गार्हपत्य अग्नि है, उसी का स्तवन प्राप्त है, पर इन्द्रदेवता-वाली ऋचा से अग्नि का स्तवन सम्भव नहीं। इस आधार पर शिष्य जिज्ञासा करता है—

यहाँ इन्द्र का स्तवन होना युक्त है? अथवा गार्हपत्य अग्नि का? प्रतीत होता है, मन्त्र का देवता इन्द्र होने से इन्द्र का स्तवन होना चाहिए, गार्हपत्य अग्नि का नहीं। उपस्थान का कर्म कारण होने से गार्हपत्य अग्नि का स्तवन होना चाहिए, यह कथन कुछ बल नहीं रखता; क्योंकि कर्त्ता का ईप्सिततम ही कर्म-कारक हो, ऐसा कोई निर्बाध नियम नहीं है। ईप्सित की अविवक्षा होने, अनी-प्सित कारक में भी पाणिनि-नियम [१।४।५०] के अनुसार द्वितीया विभक्ति देखी जाती है। 'विषं भक्षयामि', 'चौरान् पश्यति' आदि ऐसे ही सर्वस्वीकृत प्रयोग हैं। विष मारक होने से तथा चोर हिंसक व लुटेरा होने से कर्त्ता के ईप्सित अर्थ नहीं हैं। यहाँ विभक्ति कारक-सम्बन्धमात्र को प्रकट करती है, जैसे 'सक्तून् जुहोति' [तै० सं० ३।३।८] वाक्य में द्वितीया विभक्ति तृतीय 'सक्तुभिर्जुहोति' के अर्थ में प्रयुक्त है। ऐसे ही 'गार्हपत्यम्' में द्वितीया विभक्ति तृतीया या सप्तमी के अर्थ में समझनी चाहिए—गार्हपत्य के साथ अथवा गार्हपत्य के समीप बैठकर इन्द्र का स्तवन करता है। इन्द्र पद का मुख्यार्थ इन्द्र देवता ग्रहण करने पर उससे गार्हपत्य अग्नि का कथन न होने से गार्हपत्य का 'गृह सम्बन्धी' ऐसा गौण अर्थ करना होगा। गृहपति-सम्बन्धी इन्द्र देवता का स्तवन करता है, ऐसा समझना युक्त होगा।

अथवा गार्हपत्य शब्द यज्ञसाधनरूप सम्बन्ध से उपस्थान क्रिया का विशेषण होगा। गार्हपत्य यज्ञ का साधन है, इन्द्र देवता भी यज्ञ का साधन है। इस सम्बन्ध

से जहाँ गार्हपत्य है, अर्थात् जिस स्थान में गार्हपत्य अवस्थित है, वहाँ इन्द्र देवता का स्तवन करता है। इस प्रकार मन्त्र का मुख्य विधेय इन्द्र का उपस्थान करना होगा।

इस विवृत शिष्य-जिज्ञासा का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

वचनात् त्वयथार्थमैन्द्री स्यात् ॥३॥

[तु] सूत्र का 'तु' पद जिज्ञासारूप से प्रस्तुत पक्ष की व्यावृत्ति के लिए है। तात्पर्य है, पूर्व-अधिकरण-न्याय से प्राप्त ऐन्द्री का मुख्य अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है। [वचनात्] 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' वाक्य में द्वितीया विभक्ति के स्पष्ट कथन से [ऐन्द्री] इन्द्र देवतावाली ऋचा [अयथार्थम्] अयथा = असदृश = बाधित अर्थवाली [स्यात्] होती है, या है।

सूत्र में 'अयथार्थम्' पद क्रियाविशेषण है। तात्पर्य है—तथाकथित इन्द्र देवतावाली ऋचा में 'इन्द्र' पद अभिधावृत्ति से बोधित इन्द्र देवतारूप अर्थ को छोड़ देता है, अर्थात् मन्त्र में इन्द्र पद इन्द्र देवता का वाचक न होकर धात्वर्थ [इदि परमैश्वर्ये] के आधार पर 'परम ऐश्वर्यवाला' अर्थ का बोधक है, गार्हपत्य अग्नि के ज्वलनरूप विशेष अर्थ को अभिव्यक्त करता है। तात्पर्य है—प्रदीप्त गार्हपत्य अग्नि का उक्त मन्त्र से स्तवन करे। यह तात्पर्य प्रस्तुत वचन 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' से स्पष्ट होता है। 'गार्हपत्यम्' पद में द्वितीया विभक्ति उसकी प्रधानता का साक्षात् निर्देश करती है। इस वचन-सामर्थ्य से उपस्थान = स्तवन गार्हपत्य अग्नि का किया जाता है ॥३॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है—पहले कहा कि इन्द्र देवतावाली ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का स्तवन अयुक्त है। यदि कहा जाय कि उक्त वचन [= ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते] सामर्थ्य से ऐसा हो जायगा, तो यह सर्वथा असम्भव है; क्योंकि 'इन्द्र' पद 'अग्नि' अर्थ को कहे, यह नितान्त विरुद्ध होगा। वह ऐसा ही होगा, जैसे कोई कहे—अग्नि से सींचता है, जल से काष्ठ प्रज्वलित करता है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है, वह किसी शास्त्रीय वचन से बदल नहीं सकता। उक्त वाक्य शब्दार्थ-सम्बन्ध का विधायक नहीं है कि गार्हपत्य का इन्द्र नाम है। यह वाक्य केवल इतना कहता है कि इन्द्र पद से गार्हपत्य का उपस्थान करे। पर अन्य अर्थ के वाचक पद से किसी अन्य अर्थ का कथन नहीं किया जा सकता। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

गुणाद्वाप्यभिधानं स्यात् सम्बन्धस्याशास्त्रहेतुत्वात् ॥४॥

[वा] सूत्र में 'वा' पद 'इन्द्र शब्द से गार्हपत्य अग्नि का कथन नहीं होगा' इस पक्ष की व्यावृत्ति के लिए है। [गुणात्] गुण से [अपि] भी [अभिधानम्]

कथन [स्यात्] होता है। [सम्बन्धस्य] शब्दार्थ-सम्बन्ध के [अशास्त्रहेतुत्वात्] शास्त्रनिमित्तक न होने से; तात्पर्य है—शब्दार्थ-सम्बन्ध नित्य है, शास्त्र उसमें बाधक नहीं।

'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' यह वाक्य यद्यपि इन्द्र पद का गार्हपत्य अग्नि के लिए प्रयोग किये जाने का विधायक नहीं है, फिर भी इन्द्र पद से गार्हपत्य अग्नि का कथन किया जा सकता है। इन्द्र पद अभिधा शक्ति से इन्द्र देवता का वाचक होने पर भी गुण के संयोग से गार्हपत्य अग्नि को कहेगा। गुण के संयोग से भी कथन होता है। ज्वलनशील अग्नि के तेजस्विता गुण का सादृश्य माणवक में देखे जाने से 'अग्नि' पद माणवक के लिए प्रयुक्त होता है—'अग्निर्माणवकः'। ऐसे ही गार्हपत्य अग्नि के लिए इन्द्र पद का प्रयोग होगा। जैसे इन्द्र यज्ञ का साधन है, ऐसे ही गार्हपत्य अग्नि यज्ञ का साधन है। इस यज्ञसाधनरूप सादृश्य गुण से इन्द्र पद अग्नि को कहेगा।

अथवा परम ऐश्वर्य अर्थवाली 'इदि' धातु से इन्द्र पद की निष्पत्ति होने से—जो परम ऐश्वर्यवाला है वह इन्द्र है, ऐसा ईश्वरत्व—अपने कार्य में गार्हपत्य अग्नि का भी है। इसलिए जो अर्थ इन्द्र पद से बोधित होता है, वह गार्हपत्य अग्नि में होने से इन्द्र पद उसका बोध करायेगा। फलतः यज्ञसाधन-सादृश्य से अथवा ऐश्वर्य-सम्बन्ध से इन्द्र पद गार्हपत्य अग्नि का बोध करायेगा। शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध होने से इन्द्र पद का यह मुख्य अर्थ न होकर गौण अर्थ होगा।

यह ध्यान देने की बात है, 'निवेशनः संगमनो वसूनाम्' ऋचा में 'इन्द्र' पद देवताविशेष का वाचक है, वह देवता अग्नि से भिन्न है। फिर भी उस ऋचा से अग्नि का उपस्थान=स्तवन किया जाता है, तो यह विनियोग स्पष्टतः अयथार्थ है। तात्पर्य है, ऋचा जिस अर्थ का प्रतिपादन कर रही है, यह विनियोग उसके प्रतिकूल है। ब्राह्मण [ऐत० ६।४; गोपथ २।२।६] वचनों के अनुसार यज्ञ की यथार्थता इसी बात में है कि ऋचा आदि जिस अर्थ को कहें, उसी के अनुसार क्रियमाण कर्म का अनुष्ठान होना चाहिए। किसी सीमा तक निरुक्तकार यास्क [७।२०] एवं शाकपूणि आदि आचार्यों तथा मीमांसक याज्ञिकों ने गौण विनियोग को स्वीकार किया है, जैसा कि प्रस्तुत प्रसंग में माना गया। पर कालान्तर में ऐसे अयथार्थ विनियोग की ऐसी बाढ़ आई कि पद या वर्ण की समानता पर ही मन्त्रों का विनियोग किया जाने लगा; जिसे देखकर कतिपय विचारकों को उस काल में ही मन्त्रों को निरर्थक कहना पड़ा। एक प्रकार से उनका कहना ठीक ही था। इस रूप में मन्त्रों का विनियोग विनियोक्ताओं की

अज्ञानता के कारण सर्वथा उपहासास्पद बन गया है।[१] याज्ञिक मीमांसकों को इस पर ध्यान देना चाहिए ॥४॥ (इति इन्द्रप्रकाशकमन्त्राणां गार्हपत्ये विनियोगाधिकरणम्—२)

प्रस्तुत अधिकरण में किये गये विवेचन के आधार पर मीमांसा में 'गार्हपत्यन्याय' प्रचलित है।

(आह्वानप्रकाशकमन्त्राणां आह्वाने विनियोगाऽधिकरणम्—३)

दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पाठ है—'हविष्कृदेहीति त्रिरवघ्नन् आह्वयति'—'हविष्कृदेहि' [यजु० १।१५] इस मन्त्र से—अवघात करता हुआ तीन बार बुलाता है। धान का छिलका उतारने के लिए धान कूटने के समय अध्वर्यु उक्त मन्त्र बोलकर यजमान-पत्नी को तीन बार बुलाता है। शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या इस मन्त्र का विनियोग अवघात-कर्म (धान के वितुषीकरण) में है? अथवा अवहननकाल को लक्षित कर आह्वान में है? यह सन्देह है। यदि अवघात-कर्म में विनियोग है, तो श्रुति (हविष्कृदेहि) उपकृत होती है—हे हविष्कृत्! आओ! हवि को तैयार करनेवालो आओ! हवि का तैयार करना धान का वितुषीकरण करना है, वही अवहनन है। श्रुति उसी का निर्देश कर रही है। इसलिए अवहनन में विनियोग मानने से श्रुति उपकृत होगी। यदि आह्वान में विनियोग माना जाता है, तो 'अवघ्नन्' में लक्षणा करनी होगी। यह पद अपने अभिधान-बोध्य अर्थ अवहनन को न कहकर अवहनन-काल को कहेगा। उक्त मन्त्र से अवहनन-काल में आह्वान करता है। 'त्रिः' पद का सम्बन्ध पहले पक्ष में 'अवघ्नन्' के साथ, तथा दूसरे पक्ष में आह्वान के साथ होगा। श्रुति का उपकारक होने से यहाँ प्रथम पक्ष मान्य होना चाहिए। आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

तथाऽऽह्वानमपीति चेत् ॥५॥

जैसे गत अधिकरण में ऐन्द्री ऋचा गौणी वृत्ति से गार्हपत्य अग्नि में विनियुक्त मानी गई है, [तथा] वैसे ही गौणी वृत्ति से [आह्वानमपि] आह्वान—'एहि' पदवाली 'हविष्कृदेहि' ऋचा भी अवहनन के प्रति विनियुक्त मानी जानी चाहिए। [इति चेत्] ऐसा यदि कहो, तो वह— (इतना भाग अगले सूत्र से सम्बद्ध है)।

'हविष्कृदेहि' मन्त्र में 'हविष्कृत्'-पद कर्तृसाधन है—हे हविष्कृत्! हवि को करनेवाले, 'एहि' आओ। यह अभिधावृत्ति-बोध्य अर्थ है। पर गत अधिकरण में

१. द्रष्टव्य—मीमांसा शाबरभाष्य, हिन्दी व्याख्या-सहित, तृतीय भाग, [३।२।४] पृष्ठ ७२० का टिप्पणी-भाग। (यु० मी०)

किये गये निर्णय के अनुसार गौणी वृत्ति से यह पद हविःसाधनमात्र का, अर्थात् केवल अवघात का बोध करायेगा। गुण है—यागसाधनता। हवि याग का साधन है, और वह अवहनन द्वारा तैयार होता है। इसलिए 'हविष्कृदेहि' मन्त्र का विनियोग अवहनन में करना चाहिए, आह्वान में नहीं। अन्यथा 'अवघ्नन्' में लक्षणा करनी होगी ॥५॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

न कालविधिश्चोदितत्वात् ॥६॥

[न] 'हविष्कृदेहि' मन्त्र का विनियोग अवघात (वितुषीकरण = कूटना) में नहीं है। [कालविधिः] अवहनन-काल का विधायक है [चोदितत्वात्] 'त्रिः आह्वयति' में त्रित्व का विधान होने के कारण।

'हविष्कृदेहि' मन्त्र का विनियोग अवहनन में नहीं है। 'अवघ्नन्' पद लक्षणावृत्ति से अवहनन-काल का बोधक है, 'अवहनन' का नहीं, क्योंकि 'त्रिः आह्वयति' पदों से यहाँ त्रित्व का विधान किया गया है, तीन बार बुलाता है। धान कूटने के समय अध्वर्यु यजमान-पत्नी को 'हविष्कृदेहि' मन्त्रोच्चारण करते हुए तीन बार बुलाता है। यह मुख्य विधि तीन बार आह्वान करने की है। 'अवघ्नन्' पद केवल अवहनन-काल का बोध कराता है। 'व्रीहीनवहन्ति' से अवहनन विहित है, यहाँ उसका अनुवादमात्र है। आह्वान और अवहनन दोनों का विधान मानने पर वाक्यभेद होगा। 'त्रिः' पद अवघ्नन् से अन्वित नहीं है, जिससे यह अर्थ हो कि इस प्रकार अवघात करता हुआ बुलाता है। 'त्रिः' पद 'आह्वयति' के साथ अन्वित है—तीन बार बुलाता है। इस योजना में वाक्य-भेद नहीं होता; क्योंकि अवहनन-काल में हो अवहनन-प्रयोजन से हविष्कृत् का तीन बार आह्वान किया जाता है। अतः आह्वानमात्र का विधान है, अवहनन का नहीं। अवहनन अनुवाद है; मन्त्र की तीन बार आवृत्ति का विधान है।

'अवघ्नन्' पद में लक्षणावृत्ति से 'अवहनन-काल' का बोध कराना कोई दोष नहीं। लक्षणावृत्ति से अर्थ-बोध कराने का सामर्थ्य पदों में स्वीकार किया गया है। अवहनन क्योंकि अन्य वाक्य—'व्रीहीनवहन्ति' से कथित है, वह काल को लक्षित कर सकता है। इसलिए मन्त्र का विनियोग आह्वान में करना चाहिए ॥६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—'हविष्कृदेहि' मन्त्र अवघात को सम्बोधित करता है, यह क्यों न माना जाय? हे हविष्कृत्! हवि सम्पन्न करनेवाले अवहनन! 'एहि' आ, अपने सम्पन्न रूप में हो जा। अवघात से हवि = आहवनीय द्रव्य सम्पन्न होता है। गौणी वृत्ति से उसे सम्बोधन किया जा सकता है॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

गुणाभावात् ॥७॥

गत सूत्र से 'न' की अनुवृत्ति समझनी चाहिए। [गुणाभावात्] अवहनन में गौण कथन सम्भव न होने से [न] मन्त्र का विनियोग अवहनन में नहीं है।

'हविष्कृदेहि' मन्त्र में 'हविष्कृत्' सम्बुद्धि पद कर्तृसाधन है। हवि तैयार करनेवाले को बुलाया जाता है। वह जानता है—'मैं बुलाया गया हूँ'। यह सम्बोधन—अवहनन-क्रिया के अचेतन होने के कारण—उसे गौणी वृत्ति से भी नहीं किया जा सकता। क्योंकि अवघात यह नहीं जानता कि 'मैं बुलाया गया हूँ'। तब उसे बुलाने के लिए सम्बोधन निरर्थक हो जाता है। अगत्या उसे अदृष्टार्थ मानना होगा। दृष्टार्थ की सम्भावना में अदृष्ट की कल्पना अन्याय्य मानी गई है। धान कूटने के द्वारा हवि को तैयार करनेवाली यजमान-पत्नी में आह्वान दृष्टार्थ है। इसलिए मन्त्र का विनियोग अवघात में सम्भव न होने से आह्वान में समझना चाहिए ॥७॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त अर्थ की पुष्टि के लिए अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

लिङ्गाच्च ॥८॥

[लिङ्गात्] लिङ्ग से [च] भी 'हविष्कृत्' पद यजमानपत्नी को कहता है।

प्रस्तुत पद में 'हविष्कृत्' पद से यजमान-पत्नी विवक्षित है, इस अर्थ की पुष्टि में लिङ्ग-सादृश्य भी कारण है। 'हविष्कृदेहीति त्रिरवघ्नन् आह्वयति' वाक्य के अनन्तर पाठ आता है—'वाग् वै हविष्कृत्, वाचमेवैतद् आह्वयति'—वाक् ही हविष्कृत् है, वाक् को ही यह बुलाता है। इस अवहनन के साथ वाक् का कोई सादृश्य नहीं है। यजमान-पत्नी के साथ वाक् का सादृश्य है—दोनों का स्त्रीलिंग होता। पत्नी स्त्री है, वाक् स्त्रीलिङ्ग है। अवहन्ति न स्त्री है, न पुमान् और न नपुंसकलिङ्ग। यह कहना भी ठीक न होगा कि अवहन्ति या अवहनन का भी स्त्रीलिङ्ग-पद 'क्रिया' है। क्योंकि अवहनन स्वरूपतः नियत स्त्रीलिङ्ग नहीं है। अवहनन को क्रिया होने के आधार पर स्त्रीलिंग कहा जाय, तो इस प्रकार उसका पुंल्लिङ्ग पद भी है—अवघात; नपुंसकलिङ्ग भी है—कर्म। पर वाक् का पत्नी के साथ स्वरूपतः सादृश्य है। अवहन्ति का पररूप-क्रिया पद से सादृश्य है। इसलिए पत्नीरूप हविष्कृत् में लिङ्ग की पूर्ण अनुरूपता है।

यद्यपि गत पंक्तियों में सिद्धान्त-पक्ष से जैसे अवहन्ति के नियमतः स्त्रीलिङ्ग-पद का प्रतिषेध करते हुए उसके पुंल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग पदों का निर्देश किया है, वैसे ही पत्नी पद का पुंल्लिङ्ग पद 'दारा' और नपुंसकलिङ्ग 'कलत्र' पद कहे जा सकते हैं; परन्तु यह कथन वस्तुतः संगत नहीं है। क्योंकि दारा-कलत्र आदि पद भार्या-जाया आदि के पर्याय हैं, पत्नी के वाचक नहीं हैं। पत्नी पद का

साधुत्व—'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' [४।१।३३] इस पाणिनि-नियम के अनुसार—यज्ञसंयोग में ही माना गया है। इसलिए यज्ञ-प्रसंगों में सर्वत्र केवल पत्नी पद का प्रयोग होता है; जाया, भार्या, कलत्र, दारा आदि का नहीं ॥८॥

उक्त अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार अन्य सहायक हेतु प्रस्तुत करता है—

विधिकोपश्चोपदेशे स्यात् ॥६॥

[उपदेशे] 'हविष्कृदेहि' मन्त्र का अवहनन में उपदेश=विनियोग मानने पर [विधिकोपः] अन्य विधि का विरोध [च] भी [स्यात्] होता है।

यदि 'हविष्कृदेहि' मन्त्र का अवहनन में विनियोग बताया जाता है, तो अन्यत्र अवहनन में जिन मन्त्रों का विनियोग बताया गया है, उनके साथ इसका विरोध होगा। भाष्यकार शबर स्वामी ने अवहनन में विनियोग के लिए बताया—'अपहतं रक्ष इत्यवहन्ति, अपहता यातुधाना इत्यवहन्ति' इन वाक्यों के अनुसार 'अपहतं रक्षः' [यजु० १।६; १६] अथवा 'अपहता यातुधानाः'[1] मन्त्रों का विनियोग अवहनन में विहित है। यदि 'हविष्कृदेहि' मन्त्र को भी अवघात में विनियुक्त माना जाय, तो इस विधि के साथ उसका विरोध होगा।

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने की बात है कि अवहनन में विनियोग के लिए दो मन्त्रों का उल्लेख किया गया। इससे इनमें विकल्प प्राप्त होता है। उस दशा में नित्यवत् प्रतीयमान 'हविष्कृदेहि' श्रुति बाधित होगी, निरवकाश हो जायगी। विनियोग का अवसर न मिलने पर वह निरर्थक होगी। इस कारण भी 'हविष्कृदेहि' का विनियोग अवहनन न मानकर आह्वान में मानना चाहिए।

अथवा सूत्रार्थ निम्न प्रकार करना चाहिए—'हविष्कृदेहीति अवघ्नन् आह्वयति' वाक्य में 'अवघ्नन्' पद 'शतृ'-प्रत्ययान्त है। पाणिनि-विधान 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' [३।२।१२६] के अनुसार 'शतृ' और शानच् प्रत्यय लक्षण और हेतु अर्थ में होते हैं, जब लक्षण और हेतु क्रियाविषयक हों। काशिका में 'शानच्' प्रत्यय का लौकिक उदाहरण दिया है—'शयाना भुञ्जते यवनाः'[2] यहाँ शानच्-प्रत्ययान्त

---

१. ये दोनों वाक्य वैदिक वाङ्मय में कहीं उपलब्ध नहीं हैं। 'अपहता यातुधानाः' इस आनुपूर्वीवाला मन्त्र चारों वेदों में नहीं है। 'अपहता असुराः' ऐसा पाठ उपलब्ध है—[वाजसनेयि-माध्यन्दिन शाखा=यजु० २।२६; काण्वशाखा-२।५४]; कृष्ण यजुःसंहिता अन्वेष्य है।

२. ऐसा प्रतीत होता है, काशिकाकार ने यह उदाहरण मुस्लिम वर्ग के रमजान महीने को लक्ष्य कर लिखा गया है। उस मास में समस्त मुस्लिम वर्ग रात्रि-उत्तरकाल के चार बजने से पहले-पहले खाना खा लेता है। उसे प्रान्तीय लोकभाषा में 'सरगई खाना' कहा जाता है। इस उदाहरण में 'शयानाः' पद

'शी' धातु अपने मुख्य अर्थ शयन को छोड़कर गौणी वृत्ति शयनकाल को लक्षित करती है। यवन सोने के समय में खाते हैं। तात्पर्य है—जो सोने का समय है, उस समय खाना खाते हैं। इसी प्रकार यहाँ वैदिक उदाहरण में शतृप्रत्ययान्त 'अवघ्नन्' पद अपने मुख्य अर्थ अवहनन को छोड़कर अवहननकाल को लक्षित करता है। 'हविष्कृदेहि' मन्त्र का विनियोग आह्वान में है। इसके विपरीत यदि मन्त्र का विनियोग अवहनन में कहा जाता है, तो वह अवहननकाल को लक्षित नहीं कर सकता। उस दशा में उक्त पाणिनि-विधान बाधित होगा। उसके साथ विरोध न हो, इसलिए मन्त्र का विनियोग आह्वान में ही मानना चाहिए ॥६॥ (इति आह्वानप्रकाशकमन्त्राणाम् आह्वाने विनियोगाऽधिकरणम्—३)।

(अग्निविहरणादिप्रकाशकमन्त्राणां तत्रैव विनियोगाऽधिकरणम्—४)

सोमयाग के ज्योतिष्टोम-प्रकरण में पाठ है—'उत्तिष्ठन्नन्वाह अग्नीदग्नीन् विहर।' अध्वर्यु खड़ा होता हुआ कहता है—हे अग्नीत्! अग्नियों को विहरण करो। आगे पाठ है—'व्रतं कृणुत इति वाचं विसृजति'—व्रत ग्रहण करो, ऐसा कहता हुआ वाक् का विसर्जन करता है।

गार्हपत्य से अग्नि को लेकर आहवनीय और दक्षिणाग्नि में पहुँचाना अग्नि-विहरण है। अध्वर्यु खड़े होकर अग्नीत् को सम्बोधित कर अग्निविहरण के लिए प्रेरित करता है। यजमान दीक्षित हो जाने पर वाणी का संयम करे, मौन रहे, यज्ञ-सम्बन्धी वाक्-व्यवहार के अतिरिक्त अन्य वाग्व्यापार न करे, ऐसा विधान है। उस अवस्था में यह एक तप है। सूत्रग्रन्थों में कहीं सूर्यास्त होने पर तथा कहीं नक्षत्र उदय होने पर वाक्संयम का निर्देश है।

शिष्य जिज्ञासा करता है—'अग्नीदग्नीन् विहर' मन्त्र का विनियोग अध्वर्यु के उत्थान में है? अथवा अग्निविहरण में? इसी प्रकार 'व्रतं कृणुत' मन्त्र का विनियोग वाग्विसर्जन में है? अथवा व्रतकरण में? आचार्य सूत्रकार ने गत अधिकरण का अतिदेश करते हुए समाधान किया—

का 'लेटे हुए खाना' अर्थ नहीं समझना चाहिए। लेटे हुए अन्य भी कोई खा सकता है, वह लक्षण न होगा। भाष्यकार पतञ्जलि ने 'तिष्ठन्मूत्रयति, गच्छन् भक्षयति' उदाहरण दिए हैं। तत्त्वान्वाख्यान (वास्तविकता का कथन) में उदाहरण—'शयाना वर्द्धते दूर्वा' दिया है। यहाँ भी 'शयाना' पद का अर्थ पूर्वोक्त ही है। यह लोकप्रसिद्ध बात है कि दूब घास रात में बढ़ती है। यह स्वाभाविक है। दिन में पशु आदि चरते रहते हैं, रात में ही उसे बढ़ने का अवसर मिलता है।

तथोत्थानविसर्जने ॥१०॥

गत अधिकरण में 'अवघ्नन्'=अवहनन अपने मुख्यार्थ को, अवहननकाल को लक्षित करता है; और 'हविष्कृदेहि' मन्त्र का मुख्यार्थ आह्वान में विनियोग है; [तथा] उसी प्रकार [उत्थानविसर्जने]उत्थान और वाग्विसर्जन अपने मुख्य अर्थ को छोड़ उत्थानकाल और वाग्विसर्जनकाल को लक्षित करते हैं; तथा 'अग्नीदग्नीन् विहर' मन्त्र का अपने मुख्य अर्थ अग्निविहरण में, तथा 'व्रतं कृणुत' मन्त्र का अपने मुख्य अर्थ व्रतकरण में विनियोग है।

इस प्रकार 'उत्तिष्ठन्' में तथा 'वाचं विसृजति' में उपयुक्त अर्थाभिव्यक्ति के लिए लक्षणावृत्ति का स्वीकार करना युक्त है।

जिस प्रकार अध्वर्यु की उत्थान-क्रिया से अग्नि लाना और उसे दीप्त करना संकेतित हो जाता है, उसी प्रकार वाग्विसर्जन से व्रतकरण द्योतित हो जाता है; उत्थान एवं वाग्विसर्जन में ही मन्त्र का विनियोग बताया जाता है, तो यह केवल अदृष्टार्थ रह जाता है। दृष्टार्थ की सम्भावना में अदृष्टार्थ की कल्पना को आचार्यों ने अमान्य बताया है। अतः 'अग्नीदग्नीन् विहर' मन्त्र का अग्निविहरण में विनियोग मानने से उसका अग्निविहरण दृष्ट प्रयोजन स्पष्ट है। इसी प्रकार 'व्रतं कृणुत' मन्त्र का व्रतकरण में विनियोग मानकर व्रतकरण (दुग्धदोहन आदि) दृष्ट प्रयोजन स्पष्ट है। अतः उत्थान और वाग्विसर्जन को गौण मानकर अग्निविहरण और व्रतकरण मुख्य अर्थ में मन्त्रों का विनियोग मानना संगत है ॥१०॥ (इति अग्निविहरणादिप्रकाशकमन्त्राणां तत्रैव विनियोगाऽधिकरणम्—४)।

(सूक्तवाकस्य प्रस्तरप्रहरणाङ्गताऽधिकरणम्—५)

दर्श-पूर्णमास में पाठ है—'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' सूक्तवाक-संज्ञक मन्त्र से प्रस्तर को अग्नि में छोड़ता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण [३।५।१०] में सूक्तवाक-संज्ञक मन्त्र पठित है। उसका प्रारम्भिक भाग है, 'इदं द्यावापृथिवी भद्रमभूत्। अघ्म सूक्तवाकम्। उत नमो वाकम्' इत्यादि। अंतिम भाग है—'उभे च नो द्यावापृथिवी अंहसः स्याताम्। इह गतिर्वामस्येदं च। नमो देवेभ्यः।' यह ब्राह्मणपठित सन्दर्भ 'सूक्तवाक' कहा जाता है। 'प्रस्तर' उस दर्भमुष्टि का नाम है, जो वेदि में जुहूपात्र के नीचे बिछाई जाती है। पहले नंगी भूमि पर पूर्व की ओर घास का अग्रभाग कर बिछाया जाता है। उसके ऊपर घास के दो तिनके आड़े (उत्तर-दक्षिण) रक्खे जाते हैं। उसके ऊपर जितनी जगह में जुहूपात्र रखना है, वहाँ पूर्व की ओर ही रुख करके दूब घास बिछायी जाती है। उसी का नाम 'प्रस्तर' है। होता सूक्तवाक मन्त्र का पाठ करता है, अध्वर्यु उस प्रस्तर को पूर्वाग्र (घास का अग्रभाग) पूर्व की ओर रखते हुए आहवनीय अग्नि में छोड़ता है। इसी का नाम 'प्रस्तर-प्रहरण' है। यह

कार्य दर्श-पूर्णमास के अन्त में किया जाता है।

इस प्रसंग में शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या सूक्तवाक का विनियोग प्रस्तर-प्रहरण में है? अथवा यह केवल काल को लक्षित करता है? यदि विनियोग है, तो सूक्तवाक पद अपने मुख्यार्थ को कहेगा। यदि ऐसा नहीं, तो सूक्तवाक में लक्षणा करनी होगी। 'सूक्तवाकेन' इस तृतीयान्त पद के निर्देश से यहाँ लक्षणा मानना युक्त होगा। आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-भावना को पूर्वपक्षरूप से सूत्रित किया—

सूक्तवाके च कालविधिः परार्थत्वात् ॥११॥

[सूक्तवाके] 'सूक्तवाकेन प्रस्तर प्रहरति' वाक्य में 'सूक्तवाकेन' इस तृतीयान्त निर्देश से [च] निश्चित [कालविधिः] यहाँ काल का विधान किया जाना मानना चाहिए, [परार्थत्वात्] सूक्तवाक और प्रस्तर के परार्थ होने से।

सूक्तवाक का पाठ देवता की स्तुति के लिए किया जाता है; उसका वही प्रयोजन होने से वह परार्थ है। वह प्रस्तर-प्रहरण के कथन में अशक्त होगा। इसलिए उसका अङ्ग नहीं हो सकता। प्रस्तर भी परार्थ है, क्योंकि वह जुहू के धारण करने के लिए है, उसका वही प्रयोजन है। अतः वह सूक्तवाक का अङ्गी नहीं बन सकता। जो दो कार्य परार्थ होते हैं, उनका परस्पर अङ्गाङ्गिभाव आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया। इसलिए सूक्तवाक में लक्षणा मानना युक्त होगा। सूक्तवाक पद स्वार्थ को छोड़कर सूक्तवाक-पाठ के काल को लक्षित करता है। फलतः जिस समय होता सूक्तवाक का पाठ करे, तब अध्वर्यु प्रस्तर का अग्नि में प्रक्षेप करे,—इतना ही इस वाक्य का तात्पर्य है। सूक्तवाक और प्रस्तर का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं ॥११॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

उपदेशो वा याज्याशब्दो हि नाकस्मात् ॥१२॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष-निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—'सूक्तवाकेन' यह तृतीयान्त निर्देश काल को लक्षित करता हो, ऐसी बात नहीं है। प्रत्युत [उपदेशः] 'सूक्तवाकेन' पद में करणवाचक तृतीया विभक्ति का निर्देश—सूक्तवाक मन्त्र प्रस्तरप्रहरण के प्रति अङ्ग है, इस तथ्य का द्योतक है। तात्पर्य है—सूक्तवाक मन्त्र का विनियोग प्रस्तरप्रहरण में है, [हि] क्योंकि [याज्याशब्दः] सूक्तवाक के लिए 'सूक्तवाक एव याज्या' वचन में याज्या शब्द का प्रयोग [अकस्मात्] बिना कारण [न] नहीं है; प्रत्युत सूक्तवाक मन्त्र प्रस्तरप्रहरण का अङ्ग है, इस बात का बोधक है।

'सूक्तवाकेन' पद में तृतीया विभक्ति-निर्देश सूक्तवाक-पाठ के काल को

लक्षित न कर प्रस्तरप्रहरण में अङ्गता को बोधित करता है। तृतीया विभक्ति करण—साधन अर्थ में होती है। प्रस्तरप्रहरण में साधन है सूक्तवाक मंत्र 'सूक्तवाक मन्त्र से प्रस्तर का प्रहरण करे'। इस प्रकार प्रस्तरप्रहरण के प्रति इसे सूक्तवाक-मन्त्र की विधि मानने पर, सूक्तवाक के लिए याज्या शब्द का प्रयोग उपपन्न होता है। वहाँ लेख है—'सूक्तवाक एव याज्या, प्रस्तर आहुतिः'—सूक्तवाक याज्या है, प्रस्तर आहुति है। तात्पर्य है—सूक्तवाक मन्त्र को पढ़कर प्रस्तर = दर्भमुष्टि का आहवनीय अग्नि में प्रक्षेप करे। इस प्रकार सूक्तवाक-मन्त्र और प्रस्तर-आहुति का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव स्पष्ट है।

यहाँ लक्षणावृत्ति से अर्थबोधन की कल्पना अनावश्यक है; क्योंकि लक्षणा-वृत्ति का आश्रय वहीं लेना पड़ता है, जहाँ वाक्य का अभिधावृत्ति-बोध्य अर्थ उपपन्न न होता हो, और प्रसंग से उसका उपयुक्त सम्बन्ध न बनता हो। उक्त विवरण के अनुसार प्रस्तुत प्रसंग में ऐसा नहीं है, अतः यहाँ लक्षणा की कल्पना निराधार है ॥१२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—अभी बताया गया कि सूक्तवाक मन्त्र देवता-संकीर्त्तन के लिए होने से परार्थ है, वह प्रस्तरप्रहरण में असमर्थ होगा; तथा प्रस्तर भी जुहू-धारण के लिए होने से परार्थ है। इनका परस्पर अङ्गाङ्गिभाव-सम्बन्ध सम्भव नहीं। इस जिज्ञासा का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

स देवतार्थस्तत्संयोगात् ॥१३॥

[सः] वह सूक्तवाक मन्त्र [देवतार्थः] देवता के संकीर्त्तन के लिए होता हुआ देवता का संग्राहक है, [तत्संयोगात्] साधनरूप में सूक्तवाक के समान देवता का भी याग के साथ नियत सम्बन्ध होने के कारण।

सूक्तवाक मन्त्र देवता के संकीर्त्तन के साथ, अर्थात् उसको भी साथ लेकर प्रस्तर-आहुति का अङ्ग है। प्रस्तर हवि है, आहुति है, इसलिए यागरूप है। 'सूक्यवाकेन' तृतीयानिर्देश जैसे साधनरूप में सूक्तवाक मन्त्र को प्रस्तर-आहुति के अङ्गरूप में प्रस्तुत करता है, वैसे ही देवता को प्रस्तुत करता है। देवता उससे बाहर नहीं रहता। जिस प्रकरण में सूक्तवाक मन्त्र से प्रस्तर-हवि-आहुति का विधान है, वहीं आगे यह भी उल्लेख हैं—'अग्निरिदं हविरजुषता वीवृधत' अग्नि-देवता ने इस प्रस्तर-हवि का प्रीति से सेवन किया और बढ़ा। इस प्रकार देवता-सम्बन्ध का उपक्रम कर उन कामनाओं का निर्देश है, जिनकी पूर्ति को यागानुष्ठान के फलरूप में देवता से चाहता है। इस अन्तिम प्रस्तर-आहुति के अनन्तर यजमान की कामना को कल्याणकारी देव सम्पन्न करे—'यदनेन हविषा आशास्ते तदस्य स्यात्'। इस प्रकार सूक्तवाक-वाक्य देवता-संकीर्त्तन पर ही समाप्त न होकर यजमान-कामनाओं के सफलता-निर्देश पर पूरा होता है। इससे देवतासंकीर्त्तन

और यजमान की कामना-फलप्राप्ति में सम्बन्ध स्पष्ट होता है। यह सूक्तवाक के प्रस्तरप्रहरण में विनियोग को प्रमाणित करता है। इस मान्यता को स्वीकार करने पर 'अग्निरिदं हविरजुषत' वाक्य में 'इदं हविः' पदों से समीप-पठित प्रस्तर-हवि का निर्देश मानना भी उपपन्न होता है ॥१३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—देवतासंकीर्त्तन-परार्थता का समाधान तो किया गया, पर प्रस्तर की जुहूधारण-परार्थता के विषय में कुछ नहीं कहा गया, तब इसे प्रतिपत्तिरूप कर्म ही क्यों न समझा जाय ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

प्रतिपत्तिरिति चेत् स्विष्टकृद्वद् उभयसंस्कारः स्यात् ॥१४॥

[प्रतिपत्तिः] प्रस्तरप्रहरण केवल प्रतिपत्तिरूप संस्कार है, [इति चेत्] ऐसा यदि कहो, तो वह ठीक नहीं। क्योंकि वह [स्विष्टकृद्वत्] स्विष्टकृत् के समान [उभयसंस्कारः]अदृष्टार्थ और प्रतिपत्त्यर्थ दोनों प्रकार का संस्कार[स्यात्] है।

किसी श्रेष्ठ कार्य में उपयुक्त वस्तु को उपयोग के अनन्तर अन्य उत्तम स्थान में वस्तु का रखना 'प्रतिपत्ति' नामक संस्कार-कर्म कहा जाता है। जैसे किसी सम्मान्य व्यक्ति के सत्कार में पहनाई गई पुष्पमाला को उपयोग के अनन्तर कहीं इधर-उधर पाँव आदि में न फेंककर उचित स्थान में रख दिया जाता है, यह लोक-प्रसिद्ध 'प्रतिपत्ति' संस्कार-कर्म है। इसी प्रकार जो प्रस्तर-संज्ञक दर्भमुष्टि प्रधान कर्मानुष्ठान के अवसर पर जुहूपात्र के नीचे बिछाई गई, अब कर्म की समाप्ति पर उसका उपयोग हो चुका है। इसलिए अब उसका विधिपूर्वक अग्नि में प्रक्षेप 'प्रतिपत्ति' नामक संस्कार समझना चाहिए। इसे अदृष्टार्थ यागांश मानना आवश्यक नहीं।

सूत्रकार ने बताया—यह कथन अमान्य है। क्योंकि कभी एक ही कर्म उभयात्मक माना गया है। कर्म एक ही है—प्रस्तरप्रहरण। वह याग और प्रतिपत्ति उभयरूप संस्कार स्वीकार किया गया है। यागांश में उसका अदृष्ट प्रयोजन है, प्रस्तरप्रहरणरूप में प्रतिपत्ति प्रयोजन है। यह स्विष्टकृत् आहुति के समान है। याग के प्रयोजन से पुरोडाश हविद्रव्य तैयार किया जाता है। प्रधान आहुतियों के अनन्तर जो पुरोडाश बच जाता है, उसमें विधिवाक्य के अनुसार स्विष्टकृत् देवता के लिए आहुति दी जाती है। यह यागरूप है, अदृष्टार्थ है। पुरोडाश का अग्नि में प्रक्षेप प्रतिपत्तिरूप है। यह कर्म याग की समाप्ति पर होता है।

इसी प्रकार दर्श-पूर्णमास याग की समाप्ति पर जुहूपात्र के बिछौने दर्भमुष्टि-प्रस्तर का विधिवाक्यानुसार सूक्तवाक मन्त्र से अग्नि में आहुतिरूप प्रहरण (=त्याग) यागरूप है, अदृष्टार्थ है। याग की सम्पन्नता के लिए जुहू के बिछौने का उपयोग पूरा हो जाने पर उसका पवित्र अग्नि में प्रहरण प्रतिपत्तिरूप संस्कार समझना चाहिए। इस कर्म के उभयात्मक मानने में कोई बाधा नहीं है। उपयोग

के अनन्तर विहित स्थानान्तर में द्रव्य का त्याग प्रतिपत्तिरूप संस्कार दृष्टप्रयोजन है। 'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' इस वचन-सामर्थ्य से वह याग को सिद्ध करता है, यह अदृष्टार्थ है। फलतः सूक्तवाक मन्त्र का प्रस्तर-प्रहरण में विनियोग निश्चित होता है। इस अधिकरण के निर्णय के अनुसार शास्त्र में 'प्रस्तरप्रहरण-न्याय' व्यवहृत होता है। (इति सूक्तवाकस्य प्रस्तरप्रहरणाङ्गताऽधिकरणम्—५)।

(सूक्तवाकानामर्थानुसारेण विनियोगाऽधिकरणम्—६)

दर्श-पूर्णमास-प्रसंग में पाठ है—'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' सूक्तवाक-संज्ञक मन्त्र से प्रस्तर को आहवनीय अग्नि में छोड़ता है। शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या पूर्णमासी और अमावास्या दोनों में सम्पूर्ण सूक्तवाक का प्रयोग करना चाहिए? अथवा उसमें से छाँटकर प्रयोजनानुसार यथायोग्य प्रयोग करना चाहिए? प्रतीत होता है, 'सूक्तवाकेन' इस वचन के अनुसार सम्पूर्ण मन्त्र का प्रयोग प्रत्येक पर्वयाग में करना चाहिए। आचार्य सूत्रकार ने शिष्य के सुझाव को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

कृत्स्नोपदेशादुभयत्र सर्ववचनम् ॥१५॥

[कृत्स्नोपदेशात्] 'सूक्तवाकेन' पद द्वारा पूरे मन्त्र का कथन होने से [उभयत्र] पूर्णमासी और अमावास्या दोनों पर्वों में [सर्ववचनम्] सम्पूर्ण मन्त्र पढ़ना चाहिए।

पूर्णमासी और अमावास्या दोनों पर्वों में सम्पूर्ण मन्त्र पढ़ना चाहिए, क्योंकि सूक्तवाक संज्ञा सम्पूर्ण मन्त्र की है। यदि उसमें से छाँटकर किसी अंश का प्रयोग करेंगे, तो वह सूक्तवाक मन्त्र न रहेगा। यदि विभिन्न कर्मसम्बन्धी पदों को छाँटकर अंशभूत पदों या वाक्यों का कर्मानुष्ठान में प्रयोग करना चाहेंगे, तो 'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' वाक्य बाधित होगा; एवं आंशिक पाठ से प्रस्तर-प्रहरण सम्भव न होगा, क्योंकि सूक्तवाक नाम सम्पूर्ण मन्त्र का है, उसके किसी एक अंश का नहीं। इसलिए दोनों पर्वों में सम्पूर्ण मन्त्र को पढ़ना युक्त प्रतीत होता है ॥१५॥

सूत्रकार ने उक्त पूर्वपक्ष का समाधान किया—

यथार्थं वा शेषभूतसंस्कारात् ॥१६॥

[वा] सूत्र में 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिए है। किसी भी पर्व में सम्पूर्ण सूक्तवाक का पाठ नहीं करना चाहिए। [यथार्थम्] अर्थ=प्रयोजन के अनुसार पदों या वाक्यों को छाँटकर जहाँ जितने का उपयोग है, उतना प्रयोग करना चाहिए। [शेषभूतसंस्कारात्] दर्श-पूर्णमास के अङ्गभूत देवता के संस्कारक

होने से ।

सूक्तवाक मन्त्र में विभिन्न देवताओं के वाचक पद हैं। जो पौर्णमासी देवता के वाचक पद हैं, उनका प्रयोग पौर्णमासी में करना चाहिए; अमावास्या में उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार जो अमावास्या के देवतावाचक पद हैं, उनका प्रयोग अमावास्या में करना चाहिए; पौर्णमासी में नहीं। याग के अङ्गभूत अर्थ को संस्कारयुक्त करते हुए मन्त्र याग के उपकारक होते हैं; अन्य किसी प्रकार से उपकारक नहीं होते। अतः जो पद जहाँ उपकारक है, वहीं उसका प्रयोग उपयुक्त है। फलतः न पौर्णमासी में सम्पूर्ण सूक्तवाक पढ़ना चाहिए, न अमावास्या में। जो देवता पौर्णमासी के अथवा अमावास्या के नहीं हैं, उनके लिए उस अंश का पाठ व्यर्थ होगा, जो उस पर्व के देवता नहीं हैं ॥१६॥

शिष्य पुनः आशंका करता है—

वचनादिति चेत् ॥१७॥

[वचनात्] 'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' वचन से सम्पूर्ण सूक्तवाक का दोनों पर्वों में प्रयोग माना जाना चाहिए। 'सूक्तवाक' पद में किसी एक अंश की वाच्यता नहीं है। वह सम्पूर्ण मन्त्र का वाचक है। [इति चेत्] ऐसा यदि कहो, तो वह ठीक नहीं; सूत्रकार ने अग्रिम सूत्र से समाधान किया—

प्रकरणाविभागाद् उभे प्रति कृत्स्नशब्दः ॥१८॥

[प्रकरणाविभागात्] पौर्णमासी और अमावास्या का प्रकरण एक होने से [उभे प्रति] दोनों—पौर्णमासी और अमावास्या—को मिलित रूप में लक्ष्य कर [कृत्स्नशब्दः] सूक्तवाक यह कृत्स्न शब्द है। तात्पर्य है—दोनों पर्वों को मिलाकर सूक्तवाक की सम्पूर्णता समझनी चाहिए।

पौर्णमासी और अमावास्या में देवतानिर्देश के अनुसार सूक्तवाक का उभयत्र आंशिक उपयोग होकर दोनों में वह सम्पूर्ण उपयुक्त हो जाता है। इसी आधार पर उसकी सम्पूर्णता समझनी चाहिए। सम्पूर्ण सन्दर्भ की सूक्तवाक संज्ञा है, उसका प्रत्येक अवयव भी सूक्तवाक-संज्ञक है। देवदत्त का एक देहावयव देवदत्त ही रहता है। उचित उपयोग के अवसर पर यज्ञदत्त नहीं हो जाता। जो अंश जिस देवता के संस्कार व स्तवन के लिए उपयुक्त है, उसका वहाँ पाठ होगा, शेष का नहीं।

शिष्य आशंका करता है—शास्त्रीय व्यवस्थानुसार ऐसा नहीं होना चाहिए। क्योंकि वाक्यांशों के विषय में यहाँ कोई ऐसा निर्देश नहीं है कि अमुक वाक्य से ऐसा कार्य होना चाहिए, ऐसा नहीं होना चाहिए। इस प्रकार की इतिकर्त्तव्यता का सम्बन्ध प्रधान कर्म से रहता है। कर्मानुष्ठान की पद्धति ही इतिकर्त्तव्यता है।

यहाँ कोई ऐसा निर्देश नहीं है कि अमुक वाक्यांश से अमुक कार्य करे। सामान्यरूप से पठित है कि सूक्तवाक से प्रस्तर-प्रहरण करता है। ऐसी स्थिति में इस वचन का आदर करते हुए पौर्णमासी और अमावास्या-कर्मों के भिन्न होने पर भी दोनों कर्मों में समस्त सूक्तवाक से प्रस्तर-प्रहरण कर्म होना चाहिए। पौर्णमासी याग में प्रस्तर-प्रहरण करते हुए यदि अमावास्या-निर्दिष्ट देवता वहाँ नहीं हैं, तो उतने अंश में सूक्तवाक-प्रयोग निरर्थक न होगा। उसका प्रयोजन अदृष्टजनकता कल्पना कर लेना चाहिए। वह देवता संस्कार-गुणविशेष से अदृष्ट का जनक होगा। अत: पौर्णमासी-अमावास्या दोनों में सम्पूर्ण सूक्तवाक का प्रयोग मानना चाहिए। इससे 'सूक्तवाकेन' पद अपने मुख्यार्थ को कहेगा। ऐसा न मानने पर 'सूक्तवाक' पद की 'सूक्तवाक वाक्यांश' में लक्षणा करनी होगी, जो अभीष्ट नहीं।

आचार्य ने समाधान किया—कदाचित् आपने पूर्वोक्त सूत्रार्थ को समझने की ओर उपयुक्त ध्यान नहीं दिया। मन्त्र का कार्य मुख्य अर्थ का प्रकाशन करना है, गौण अर्थ का नहीं। सूक्तवाक के विभिन्न खण्ड विभिन्न देवताओं के संस्कार के लिए हैं। पौर्णमासी अनुष्ठान का प्रसंग होने पर—जो देवता वहाँ पठित नहीं हैं, उनके संस्कारक वाक्यखण्ड वहाँ अनुपयोगी हैं, तो उनका उत्कर्ष वहाँ न्याय्य है जहाँ उनका उपयोग है। तात्पर्य है, जो वाक्यखण्ड जिन देवताओं के संस्कार के लिए निर्दिष्ट हैं, उनका प्रयोग वहीं होना चाहिए जहाँ वे देवता पठित हैं। इससे वाक्य अपने मुख्य अर्थ के अनुरूप दृष्टार्थ का प्रयोजक होता है। किसी कर्म के दृष्ट प्रयोजन की उपस्थिति में वाक्य के मुख्यार्थ की उपेक्षा करके गुणविशेष के आधार पर उससे अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना सर्वथा अन्याय्य होगी।

यह भी समझना चाहिए कि सम्पूर्ण सूक्तवाक कोई एक वाक्य नहीं है; वह अनेक वाक्यों के रूप में पठित है। उनके बीच प्रधान देवता के वाचक विशेष पद हैं; जैसे—अग्नि, द्यावापृथिवी, अग्नीषोम, प्रजापति, इन्द्राग्नि इत्यादि। उनके पहले-पीछे सामान्य पद हैं, जो अब देवताओं के विषय में साधारण हैं, जैसे—'इदम्, हवि:, अजुषत, अवीवृधत' इत्यादि। ये सब पद 'सु'=अनुकूल 'उक्त' वचन होने से 'सूक्तवाक' संज्ञा को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक देवता के विषय में पठित वाक्य अपने रूप में एक स्वतन्त्र इकाई है। उस लम्बे सन्दर्भ के प्रारम्भ में ही एक देवताविषयक वाक्यखण्ड को लक्ष्य कर 'त्वं सूक्तवागसि' ऐसा कहा गया है, जो प्रत्येक देवताविषयक वाक्यखण्ड के साथ अनिर्दिष्ट समझना चाहिए। यह सम्पूर्ण पदसमुदाय न किसी एक अर्थ को कहता है, और न पूर्ण समुदाय के रूप में किसी अनुष्ठेय कार्य का साक्षात् साधन है। इसलिए सम्पूर्ण सन्दर्भ को एक इकाई के रूप में 'सूक्तवाक' समझना अयुक्त है। 'सूक्तवाकेन' आदि एक-वचन का प्रयोग उतने ही वाक्यखण्ड के एकत्व को प्रकट करता है, जितने से प्रस्तर-प्रहरण किया जाता है। इसीलिए जहाँ अमावास्या से सम्बद्ध देवतावाची

पद पौर्णमासी में प्रयुक्त नहीं हैं, वहाँ सूक्तवाक पद का प्रयोग किसी प्रमाण से बाधित नहीं होता। वह अपने रूप में पूर्ण सूक्तवाक है। फलतः पौर्णमासी और अमावास्या में देवता-निर्देश के अनुसार विभाग करके सूक्तवाक-सन्दर्भ का प्रयोग करना चाहिए। इस अधिकरण के निर्णय के अनुसार शास्त्र में 'सूक्तवाकन्याय' व्यवहृत होता है ॥१८॥ (इति सूक्तवाकानामर्थानुसारेण विनियोगाऽधिकरणम्—६)

(काम्ययाज्यानुवाक्यानां काम्यमात्राङ्गताऽधिकरणम्—७)

मैत्रायणी संहिता काण्ड ४ के प्रपाठक १०-१४ में कतिपय काम्येष्टियाँ पठित हैं। किसी विशिष्ट कामना की पूर्त्ति के लिए देवताविशेष को उद्देश्य कर जो कर्मानुष्ठान किया जाता है, काम्येष्टि (काम्या-इष्टि, कामना को लेकर कियागया यजन) है। इस प्रकरण का नाम 'काम्ययाज्यानुवाक्या काण्ड' है। वहाँ याज्या-अनुवाक्या-संज्ञक कतिपय ऋचाएँ पठित हैं—'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' [ऋ० ३।१२।९], 'प्र चर्षणिभ्यः' [ऋ० १।१०९।६], 'इन्द्राग्नी नवतिं पुरः' [ऋ० ३।१२।६], 'श्नथद् वृत्रम्' [ऋ० ६।६।१] इत्यादि। यह दो-दो ऋचाओं का युगल है। अनुवाक्या-संज्ञक ऋचाएँ इष्टि के पहले पढ़ी जाती हैं, याज्या-संज्ञक पश्चात्। 'इन्द्राग्नी रोचना' ऋचा ऐन्द्राग्न इष्टि कर्म की अनुवाक्या है, और 'प्र चर्षणिभ्यः' याज्या है। ऐसे ही 'इन्द्राग्नी नवतिं' ऋचा ऐन्द्राग्न कर्म की अनुवाक्या, और 'श्नथद् वृत्रम्' याज्या है।

इनसे अतिरिक्त अन्य भी काम्य इष्टियाँ हैं—'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेद् यस्य सजाताः वीयायुः' [मैत्रा० २।१।१]—इन्द्र और अग्नि देवतावाले एकादश कपाल पुरोडाश का निर्वाप करे, जिसकी सन्तान अल्पायु में मर जाते हों। 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेद् भ्रातृव्यवान्' [मै० सं० २।१।१]—इन्द्र और अग्नि देवतावाले एकादशकपाल पुरोडाश का निर्वाप करे, जिसके शत्रु विद्यमान हों। 'अग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालं निर्वपेद् रुक्कामः'—कांति की कामनावाला व्यक्ति वैश्वानर अग्नि के लिए द्वादशकपाल पुरोडाश का निर्वाप करे। 'अग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालं निर्वपेद् सपत्न-(समान्त)-मभिद्रोक्ष्यन्' [मै० सं० २।१।२]—शत्रु से द्रोह करता हुआ व्यक्ति वैश्वानर अग्नि के लिए द्वादशकपाल पुरोडाश निर्वाप करे, इत्यादि।

शिष्य जिज्ञासा करता है—इन याज्या-अनुवाक्या-संज्ञक ऋचाओं के विषय में सन्देह है—क्या जितना भी इन्द्राग्नी देवतावाला कर्म है, वहाँ सर्वत्र इस इन्द्राग्नी-वाले याज्या और अनुवाक्या ऋचाओं के जोड़े का प्रयोग होना चाहिए ? अथवा इस इन्द्राग्नी देवतावाली काम्या इष्टि में ही प्रयोग होगा ? इसी प्रकार वैश्वा-नरीय याज्या-अनुवाक्या के विषय में भी सन्देह है—क्या इसी वैश्वानरीय इष्टि

में इनका प्रयोग मान्य है? अथवा जितना वैश्वानर अग्निवाला कर्म है, वहाँ सर्वत्र इनका उपयोग किया जायगा? मन्त्रपठित देवतावाचक पदों के सामर्थ्यरूप लिङ्ग से ज्ञात होता है कि इन याज्या-अनुवाक्या ऋचाओं का प्रयोग उन समस्त कर्मों में माना जाना चाहिए, जो उस देवता के उद्देश्य से अनुष्ठेय हो। देवता-सामर्थ्य-लिङ्ग से ऐन्द्राग्न, वैश्वानरीय, अग्नीषोमीय, जातवेदस आदि सभी कर्मों में इनका प्रयोग प्राप्त होता है। यद्यपि समाख्या = संज्ञा तथा क्रम के आधार पर जहाँ ये पठित हैं, वहीं इनका प्रयोग होना चाहिए, सर्वत्र नहीं; तथापि शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार क्रम और समाख्या की अपेक्षा बलवान् होने से लिङ्ग उनको बाधित कर सकता है।

मीमांसा सूत्र [३।३।१४] द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान (= क्रम), समाख्या, इन निर्णायक साधनों में जब अनेक साधन किसी निर्णय के लिए एकसाथ उपस्थित होते हैं, तब पूर्व की अपेक्षा पर-साधन दुर्बल माना जाता है। पूर्व-साधन पर-साधन को बाधित कर देता है। ऐसी स्थिति में लिङ्ग, क्रम और समाख्या को बाधित कर याज्या-अनुवाक्या के ऐन्द्राग्न आदि सर्वत्र काम्य इष्टियों में प्रयोग का प्रयोजक होगा। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

लिङ्गक्रमसमाख्यानात् काम्ययुक्तं समाम्नानम् ॥१९॥

[लिङ्गक्रमसमाख्यानात्] लिङ्ग का सहयोग प्राप्त कर क्रम से और समाख्या = नाम से [काम्ययुक्तम्] काम्या इष्टि से केवल सम्बद्ध है, [समाम्नानम्] ऋचाओं का पाठ।

उक्त याज्या-अनुवाक्या ऋचाओं का सम्बन्ध केवल उसी काम्या इष्टि से अभिमत है, जिस स्थान (= क्रम) में और जिस नाम के काण्ड में वे पठित हैं। उनका प्रयोग सर्वत्र काम्य इष्टियों में नहीं होगा। कारण यह है कि काम्ययाज्या-नुवाक्या काण्ड में जो क्रम लिङ्ग का अर्थात् तत्तत् दैवत काम्य कर्म का है, वही क्रम इन याज्या और अनुवाक्या ऋचाओं का है। इसलिए यहाँ लिङ्ग उनका बाधक न होकर सहयोगी रहेगा। इस कारण ये याज्या-अनुवाक्या ऋचाएँ उन्हीं काम्य इष्टियों के अङ्गभूत हैं, जहाँ पठित हैं। यहाँ समाख्या बलवती है, क्योंकि उसके बिना इन ऋचाओं का याज्या होना या अनुवाक्या होना ही नहीं जाना जाता। तब अन्यत्र पठित कर्मों की ये याज्या-अनुवाक्या होंगी, यह प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए यहाँ पठित कर्मों एवं ऋचाओं के क्रम (स्थान) की उपेक्षा नहीं की जा सकती। लिङ्ग यहाँ प्रतियोगिता में नहीं आता। क्योंकि याज्या-अनुवाक्या यहाँ वही ऋचाएँ हैं, जिनमें वचनबोध्य देवता-सामर्थ्य विद्यमान है। वह स्थान (= क्रम) का विरोध क्यों करेगा?

यह भी ध्यान देने की बात है कि इन ऋचाओं की समाख्या—संज्ञा=याज्या-अनुवाक्या, काम्या इष्टियों की ही याज्या-अनुवाक्या होने को प्रकट करती है, सब कर्मों की नहीं। यदि इनके इस नाम का आदर नहीं किया जाता, तो इन ऋचाओं का याज्या-अनुवाक्यारूप में अस्तित्व ही रहता। तब इस काण्ड का 'काम्य-याज्यानुवाक्याकाण्ड' नाम भी अनादृत होगा, जो सर्वथा अवाञ्छनीय है। जब इस नाम को स्वीकार किया जाता है, तो तत्तत् देवतावाले सभी कर्मों की ये ऋचाएँ याज्यानुवाक्या नहीं हो सकतीं। केवल उन्हीं काम्येष्टियों के ये अङ्गभूत हैं, जो इस काण्ड में पठित हैं ॥१९॥ (इति काम्ययाज्यानुवाक्यानां काम्यमात्राङ्गताऽधिकरणम्—७)।

(आग्नीध्राद्युपस्थाने प्राकृतानां मन्त्राणां विनियोगाऽधिकरणम्—८)

संहिता-[तै० ३।१।६।१ तथा सूत्र मानव श्रौ० २।३।११]-ग्रन्थों में ज्योतिष्टोम प्रसंग से इस प्रकार का पाठ उपलब्ध होता है—'आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते, ऐन्द्रचा सदः, वैष्णव्या हविर्धानम्'—अग्निदेवतावाली ऋचा का उच्चारण करते हुए आग्नीध्रसंज्ञक अग्नि का उपस्थान करता है, अर्थात् उसके समीप जाता है; इन्द्र देवतावाली ऋचा से सदस्थान और विष्णु देवतावाली ऋचा से हविर्धान-स्थान—का उपस्थान करता है। इस विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या प्रस्तुत प्रकरण में पठित उक्त देवतावाली ऋचाओं से उपस्थान करना चाहिए? अथवा ऋग्वेद में अन्यत्र कहीं भी पठित उक्त देवतावाली ऋचाओं का उपस्थान में विनियोग करना चाहिए? प्रतीत होता है, ऋग्वेद में कहीं भी पठित ऋचाओं का विनियोग यहां सम्भव है, क्योंकि उक्त वाक्यों में साधारण रूप से यह कहा है कि 'अग्नि देवतावाली ऋचा से यह कार्य करे।' प्रकरण-पठित ऋचा से ही करे, ऐसा विशेष अवधारण नहीं किया है। शिष्य के सुझाव को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप से प्रस्तुत किया—

अधिकारे च मन्त्रविधिरतदाख्येषु शिष्टत्वात् ॥२०॥

[अधिकारे] ज्योतिष्टोम के अधिकार=प्रकरण में पठित अथवा ज्योतिष्टोम ऋतु के समीप में पठित [मन्त्रविधिः] मन्त्रों का विधान उक्त कार्य के लिए जानना चाहिए। [अतदाख्येषु] ज्योतिष्टोम प्रकरण से अन्यत्र पठित मन्त्रों में [च] भी उपस्थान-विधि जाननी चाहिए, [शिष्टत्वात्] उक्त वाक्यों में सामान्य रूप से कथन होने के कारण।

'आग्नेय्या, ऐन्द्रचा, वैष्णव्या' पद साधारण रूप में कहे गये हैं। ज्योतिष्टोम प्रकरण में तथा अन्यत्र पठित अग्नि आदि देवताओंवाली ऋचाओं से उक्त

उपस्थान-कार्य किया जाना सम्भव है। यहाँ ऐसा विशेष कथन नहीं है कि प्रकरण-पठित ऋचाओं से ही उपस्थान-कार्य किया जाय। साधारण कथन में प्रकरण-अप्रकरण-पठित किन्हीं भी ऋचाओं से कार्य किया जा सकता है। परन्तु प्रकरण-पठित ऋचाओं का प्रकरण में स्तोत्र-शस्त्र आदि अन्य कार्य भी निर्दिष्ट है। विहित कार्य को सम्पन्न कर वे ऋचा अन्य कार्य के लिए निरपेक्ष हैं। कार्यान्तर में प्रवृत्ति के लिए उनकी कोई उत्सुकता नहीं रहती। तब ऋग्वेद में कहीं भी अन्यत्र पठित अग्नि आदि देवताओंवाली ऋचाओं का विनियोग उपस्थान-कार्य में किये जाने के लिए कोई बाधा नहीं है। इसलिए यह आवश्यक नहीं कि ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित ऋचाओं से ही उपस्थान-कार्य सम्पादन किया जाय ॥२०॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत किया—

तदाख्यो वा प्रकरणोपपत्तिभ्याम् ॥२१॥

[वा] सूत्र में 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिए है। तात्पर्य है, ऋग्वेद के किसी भी स्थल से आग्नेयी आदि ऋचाओं का ग्रहण यहाँ नहीं करना चाहिए, प्रत्युत [तदाख्यः] उस ज्योतिष्टोम में आख्यात = पठित मन्त्रों का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि [प्रकरणोपपत्तिभ्याम्] प्रकरण और उपपत्ति = युक्ति से ऐसा ही जाना जाता है।

आग्नीध्र आदि के उपस्थान के लिए ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित ऋचाओं का ही क्यों ग्रहण करना चाहिए; इसमें हेतु हैं—प्रकरण और उपपत्ति।

प्रकरण—उपस्थान-कार्य ज्योतिष्टोम का अङ्ग है। ज्योतिष्टोम-सम्बन्धी कोई अङ्गभूत कार्य उपस्थित होने पर उस कार्य के सम्पादन के लिए प्रकरण-पठित ऋचाएँ तत्काल उपस्थित होंगी। उनका प्रेरणक गुण सान्निध्य = सामीप्य है। यद्यपि अन्यत्र पठित ऋचाओं में अग्निदेवतारूप लिङ्ग-प्रकरण से बलवान् माना जाता है, वह प्रकरण को बाधित करेगा। तब अप्रकरण-पठित ऋचा क्रतु-कार्य उपस्थान के सम्पादन के लिए प्रवृत्त होंगी। परन्तु यह कथन युक्त नहीं है; क्योंकि लिङ्ग से प्रकरण की बाधा वहीं सम्भव है, जहाँ प्रकरण लिङ्ग का विरोध कर रहा हो। यहाँ विरोध का अवकाश ही नहीं; क्योंकि प्रकरणपठित ऋचाओं में जैसे अग्निदेवता लिङ्ग है, वैसे ही अप्रकरणपठित ऋचाओं में अग्नि आदि देवता लिङ्ग हैं। यदि प्रकरण अन्य किसी देवतालिङ्ग को प्रस्तुत करता, तो प्रकरण बाधित होता। दोनों जगह देवतालिङ्ग समान होने से प्रकरण अनुगृहीत होता है, इससे और अधिक सबल बनता है। इस कारण ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित ऋचा, ज्योतिष्टोम क्रतु के अङ्गभूत कार्य को सम्पादन करने के लिए सान्निध्य के कारण तत्काल उपस्थित होंगी। किसी एक कार्य को सम्पन्न करने के अनन्तर ऋचा कोई थक नहीं जातीं जो कार्यान्तर की सम्पन्नता के लिए प्रवृत्त न हो

सकें। इसलिए प्रकरणपठित ऋचाओं से ही उपस्थान-कार्य किया जाना युक्त है।

उपपत्ति—इसका अर्थ युक्ति है। किसी कार्यविशेष के लिए विनियोज्य मन्त्र यदि प्रकरण में पठित है, तो उसको ग्रहण करने में लाघव रहता है, अतिरिक्त आयास नहीं करना पड़ता। यदि अप्रकरणपठित मन्त्र को प्रकरणगत कार्य में विनियोग के लिए वहाँ लाया जायगा, तो उसके विधान के लिए अलग वाक्य की कल्पना करनी होगी, जिसमें गौरव (गुरुतर कार्य करना) होता है ॥२१॥

इसी उपपत्ति को आचार्य सूत्रकार ने प्रस्तुत किया—

अनर्थकश्चोपदेशः स्याद् असम्बन्धात् फलवता न हि उपस्थानं फलवत् ॥२२॥

[फलवता] फलवाले ज्योतिष्टोम के साथ प्रकरण से अन्यत्र पठित मन्त्र का—[असम्बन्धात्] सम्बन्ध न होने के कारण उस मन्त्र का [उपदेशः] उपस्थान के लिए उपदेश=कथन [अनर्थकः] अनर्थक [च] भी अथवा ही [स्यात्] होगा। [हि] क्योंकि [उपस्थानम्] उपस्थान—प्रधान कर्म ज्योतिष्टोम का—अंगभूत होने से [फलवत्] अपने स्वतन्त्र फलवाला [न] नहीं होता।

उपस्थान-कार्य ज्योतिष्टोम का अंगभूत है। उसके सम्पादन के लिए विधान है—'आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते'। आग्नेयी (अग्नि देवतावाली) ऋचा का उच्चारण करता हुआ आग्नीध्र अग्नि के समीप बैठता है; ऐन्द्री ऋचा का उच्चारण करता हुआ सदस्थान, तथा वैष्णवी ऋचा का उच्चारण करता हुआ हविर्धान-स्थान पर उपस्थित होता है। इस विधान के सान्निध्य में ही आग्नेयी आदि ऋचा पठित हैं। 'आग्नेय्या' आदि पद उन्हीं की ओर संकेत करते हैं। उपस्थान-कर्म का अपना कोई स्वतन्त्र फल नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि प्रकरण की उपेक्षा कर अन्यत्र कहीं से आग्नेयी आदि ऋचाओं का ग्रहण किया जाता है, तो यह उपस्थान-कार्य ज्योतिष्टोम का अङ्ग न रहकर अलग हो जाता है। तब यह कर्म निरर्थक होगा। न इसका कहीं ऐसा विधान है कि अमुक आग्नेयी आदि मन्त्रों से इसका सम्पादन किया जाय; और न इस उपस्थान-कर्म के फल का कहीं निर्देश है। यह सर्वथा फलरहित रहेगा। ऐसे अशास्त्रीय निष्फल कर्म का अनुष्ठान कोई मन्द भी न करेगा। इसके अतिरिक्त यह भी समझना चाहिए कि यदि उपस्थान-मन्त्र कहीं अन्यत्र से लिये जाते हैं, तो ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित 'आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते' इत्यादि उपदेश अनर्थक हो जायगा। इसलिए ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत उपस्थान-कर्म में प्रकरणपठित आग्नेयी आदि ऋचाओं का ही विनियोग मान्य है ॥२२॥

एक कार्य में विनियुक्त ऋचाओं का कार्यान्तर में विनियोग नहीं होना

चाहिए, यह कथन भी अमान्य है; सूत्रकार ने बताया—

सर्वेषां चोपदिष्टत्वात् ॥२३॥

[च] क्योंकि [सर्वेषाम्] सब मन्त्रों का वाचस्तोम-संज्ञक कर्म में [उपदिष्टत्वात्] उपदेश = विनियोग होने से।

सोमयाग में रात्रि का चतुर्थ प्रहर प्रारम्भ होने पर आश्विन शस्त्र पढ़ा जाता है। पढ़ते-पढ़ते यदि सूर्योदय न हो, तो उस अवान्तर-काल में ऋक्, यजुः, साम का कहीं से भी पाठ किया जाता है, जब तक सूर्योदय न हो। इसका तात्पर्य है, उस काल में ऋत्विक् आदि मानुषवाणी का प्रयोग न करें। अश्वमेध प्रकरण में पारिप्लव-आख्यान ऐसा ही कर्म है, जिसमें अपेक्षित सब मन्त्रों के विनियोग का विधान है। जिन मन्त्रों का इन प्रसंगों में प्रयोग अथवा विनियोग किया जाता है, उनमें से अनेक मन्त्रों का विनियोग कर्मान्तरों में किया गया होता है। इसलिए यह कहना न्याय्य नहीं है कि एक मन्त्र का विनियोग एक ही कर्म में होता है। फलतः ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित आग्नेय आदि मन्त्रों का स्तोत्र-शस्त्र में विनियोग होने पर उपस्थान-कर्म में विनियोग होने के लिए भी कोई बाधा नहीं है ॥२३॥ (इति आग्नीध्राद्युपस्थाने प्राकृतानां मन्त्राणां विनियोगाऽधिकरणम्—८)।

(भक्षमन्त्राणां यथालिङ्गं ग्रहणादौ विनियोगाऽधिकरणम्—९)

सोमयाग के अन्तर्गत ज्योतिष्टोम प्रसंग में सोम-हवि के भक्षण का मन्त्र पठित है—'**भक्षे हि माऽऽविश दीर्घायुत्वाय······उपहूतो भक्षयामि।**' यह लम्बा मन्त्र है, तैत्तिरीय संहिता के तीसरे काण्ड के दूसरे प्रपाठक का पाँचवाँ पूरा अनुवाक है। यहाँ केवल कतिपय प्रारम्भिक और अन्तिम पदों का निर्देश किया है। आहवनीय अग्नि में सोमरस की आहुति के अनन्तर शेष सोम का—सदोमण्डप में बैठकर याज्ञिक—भक्षण (पान) करते हैं। प्रस्तुत अनुवाक में इसी प्रसंग के मन्त्र हैं। इसी आधार पर अनुवाक नाम 'भक्षानुवाक' है।

सोमभक्षण-अवसर के चार व्यापार होते हैं—ग्रहण, अवेक्षण, पान (=भक्षण), पाचन (=जारण)। चमस में सोमरस को भरकर हाथ में लेना या पकड़ना ग्रहण' है। उसे अच्छी तरह देखना 'अवेक्षण' है कि इसमें कोई तृण या मक्षिका आदि कीट तो नहीं है? अनन्तर तीसरा मुख्य व्यापार पान (भक्षण) है। अन्तिम चौथा व्यापार उसका पाचन व जारण है। शक्ति के अनुसार जितना पचाया जा सके अथवा सहन किया जा सके, उतना ही लिया जाय।

इस विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—यहाँ यह सन्देह है, क्या इस समस्त

अनुवाक का केवल सोमभक्षण में विनियोग है ? अथवा अर्थानुसार विभिन्न अंशों का अलग-अलग विभिन्न व्यापारों में विनियोग है ? प्रतीत होता है, समस्त अनुवाक का विनियोग केवल सोमभक्षण में होना चाहिए; क्योंकि अनुवाक का प्रारम्भ 'भक्षे' क्रियापद से होता है, और अन्त में भी 'भक्षयामि' क्रियापद है। इस मान्यता में अनुवाक के उपक्रम और उपसंहार का सामञ्जस्य अनुगृहीत होता है। तब व्यापारों में सोमभक्षण-व्यापार के मुख्य होने से भी समस्त अनुवाक का विनियोग उसी में मानना उपयुक्त है। शेष व्यापार तो उसके अनुषंगी-मात्र हैं, केवल पिछलग्गू। शिष्य के सुझाव को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष-रूप में सूत्रित किया—

लिङ्गसमाख्यानाभ्यां भक्षार्थताऽनुवाकस्य ॥२४॥

[लिङ्गसमाख्यानाभ्याम्] 'भक्षे' एवं 'भक्षयामि' लिंग से तथा भक्षानुवाक नाम से [अनुवाकस्य] प्रस्तुत अनुवाक का [भक्षार्थता] भक्षण-प्रयोजन के लिए होना ज्ञात होता है।

सम्पूर्ण अनुवाक का सोमहवि के भक्षण में विनियोग होना चाहिए, यह तथ्य अनुवाक में पठित 'भक्षे, भक्षयामि' आदि स्पष्ट कथन से सिद्ध होता है। इसी आधार पर आचार्यों ने अनुवाक का नाम 'भक्षानुवाक' निर्धारित किया है। तब सम्पूर्ण अनुवाक का विनियोग सोमहवि-भक्षण के लिए होने में कोई बाधा दिखाई नहीं देती। अनुवाक में अन्य पद भी भक्षण को ही सहयोग देनेवाले हैं।

यह कहना भी युक्त न होगा कि अनुवाक के कुछ अंश—ग्रहण, अवेक्षण, पाचन के—निर्देशक होने से, उनका विनियोग ग्रहण आदि में होना चाहिए, क्योंकि 'भक्षानुवाक' यह संज्ञा सम्पूर्ण अनुवाक की है, किसी अंश-विशेष की नहीं। इसलिए अनुवाक के किसी भाग का विनियोग सोमहविभक्षण को छोड़कर अन्यत्र 'ग्रहण' आदि में नहीं हो सकता ॥२४॥

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा का समाधान किया—

तस्य रूपोपदेशाभ्यामपकर्षोऽर्थस्य चोदितत्वात् ॥२५॥

[तस्य] उस भक्षानुवाक का [अपकर्ष:]अपकर्ष=पार्थक्य होता है। तात्पर्य है—अनुवाक का विभाग करके उपयुक्त अंश का विनियोग 'ग्रहण' आदि में होता है; कारण है—[रूपोपदेशाभ्याम्] ग्रहण आदि अर्थों के रूप=प्रकाशनसामर्थ्य तथा उपदेश=उन वाक्यों द्वारा विशेष अर्थ का कथन [अर्थस्य] ग्रहण आदि अर्थ के [चोदितत्वात्] उन वाक्यों द्वारा विधान किए जाने से।

सम्पूर्ण अनुवाक का विनियोग केवल 'सोमहविभक्षण' में है, ऐसा कथन युक्त नहीं; क्योंकि उसके विभिन्न अंश, भक्षण के विभिन्न व्यापारों को अभिव्यक्त

करते हैं।

'एहि' से लेकर 'सध्यासम्' तक का भाग वाक्यार्थ के प्रकाशन-सामर्थ्य से ग्रहण का वाक्य है। सोम के ग्रहण-व्यापार में इसका विनियोग है। वाक्य का अर्थ है—

हे निवास के हेतु सोम! तू निवास के लिए हमें प्राप्त हो। हे पुरुवसो! अत्यधिक धनादि से युक्त वास करानेहारे सोम, तू मेरे हृदय का प्रिय है। अश्वि-देवों के बाहुओं से तुझे ग्रहण करता हूँ।

यह वाक्यार्थ उस तथ्य के लिए लिङ्ग है, हेतु है कि इस वाक्य का विनियोग कहाँ होना चाहिए। यदि वाक्यार्थ की उपेक्षा करके उसका विनियोग अन्यत्र किया जाता है, तो अभिधावृत्ति को छोड़कर लक्षणावृत्ति का आश्रय लेना होगा, जो अवाञ्छनीय है। इसके अतिरिक्त वाक्य की दृष्टार्थता को छोड़कर अदृष्ट-प्रयोजन की कल्पना करनी होगी, जो अन्याय्य है। वाक्यार्थ के अनुसार—सोम-पूर्ण चमस को हाथों से ग्रहण करना—वाक्योच्चारण का दृष्ट प्रयोजन होगा। यदि उसका विनियोग ग्रहणव्यापार में न कर, भक्षण-(पान)-व्यापार में किया जाता है, तो उसके किसी अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना करनी होगी, जो शास्त्रीय मान्यता के अनुकूल नहीं है।

इसी प्रकार 'नृचक्षसम्' से लेकर 'अवख्येषम्' तक का भाग सोम के अव-लोकन में विनियुक्त है, क्योंकि वह वाक्य अपने अभिधावृत्तिबोध्य 'सोमदर्शन' अर्थ को अभिव्यक्त करता है। अन्यथा लाक्षणिक अर्थ कल्पना करना होगा, जो पूर्वोक्त प्रकार से अन्याय्य है। इस वाक्य का अर्थ है—

हे देव सोम! मनुष्यों को देखनेहारे तुमको, उत्तम आँखोंवाला अच्छा देखनेवाला मैं देखता हूँ। ग्रहण के विवरण के समान सब स्थिति को यहाँ भी समझना चाहिए।

ऐसे ही 'हिन्व मे गात्रा' से लेकर 'नाभिमतिगाः' पर्यन्त सन्दर्भ का विनियोग सोमहवि के पाचन में है। क्योंकि यह सन्दर्भ अपने रूप—अर्थात् अभिधावृत्ति-

---

१. अनुवाक का प्रारम्भिक अपेक्षित भाग इस प्रकार है—

> भक्षे हि माऽऽविश दीर्घायुत्वाय शन्तनुत्वाय रायस्पोषाय वर्चसे सुप्रजास्त्वाय।
> एहि वसो पुरोवसो प्रियो मे हृदोऽस्यश्विनोस्त्वा बाहुभ्यां सध्यासम्।
> नृचक्षसं त्वा देव सोम सुचक्षा अवख्येषम्।
> हिन्व मे गात्रा हरिवोगणान् मे मा वितीतृषः। शियो मे सप्तर्षीन् उपतिष्ठस्व मा मेऽवाङ् नाभिमतिगाः।
> मन्द्राभिभूतिः केतुर्यज्ञानां वाग्जुषाणा सोमस्य तृप्यतु॥

बोध्य अर्थ के प्रकाशन-सामर्थ्य से सोमहविपाचन में विनियुक्त है। यदि ऐसा न माना जाय और सन्दर्भ का विनियोग सोमहविभक्षण (पान) में कहा जाय, तो अवाञ्छनीय एवं अशास्त्रीय लक्षणावृत्ति का आश्रय लेना होगा, तथा सोमपाचन-रूप दृष्टार्थ का परित्याग कर अन्याय्य अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना करनी होगी। इसलिए सम्पूर्ण अनुवाक का केवल सोमहवि-भक्षण में विनियोग मानना युक्त नहीं है।

यद्यपि भक्षण के मुख्य होने से सम्पूर्ण अनुवाक का नाम 'भक्षानुवाक' है, पर ग्रहण, अवलोकन, पाचन भी अपने रूप में स्वतन्त्र कर्म हैं, किसी के विशेषण या पिछलग्गू नहीं हैं। ये उन पृथक् वाक्यों से कहे जाते हैं, जो ग्रहण, अवलोकन, पाचन अर्थों को प्रकाशित करने की क्षमता रखते हैं। यही उन सन्दर्भों का रूप है। भले ही ग्रहण आदि भक्षण के अङ्ग हों, पर अङ्गभूत कर्म भी अपने रूप में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। यदि ऐसा न माना जाय, और इन सन्दर्भों का भी भक्षण में विनियोग मानकर सम्पूर्ण अनुवाक को भक्षण में विनियुक्त कहा जाय, तो ग्रहण आदि के अदृष्ट प्रयोजन की अशास्त्रीय कल्पना करनी होगी, जो इस कथन की अमान्यता में उपपत्ति है, युक्ति है। इस प्रकार रूप और उपपत्ति के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि सम्पूर्ण अनुवाक का केवल सोमहवि के भक्षण-व्यापार में विनियोग न होकर ग्रहण, अवलोकन, भक्षण, पाचन आदि सभी क्रियाओं में पृथक्-पृथक् उन वाक्यों का विनियोग है, जो ग्रहण आदि अर्थ को अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं ॥२५॥ (इति भक्षणमन्त्राणां यथालिङ्गं ग्रहणादौ विनियोगाऽधिकरणम्—९)।

(मन्द्राभिभूतिरित्यादेर्भक्षयामीत्यन्तस्यैकशस्त्रताऽधि-करणम्—१०)

गत अधिकरण में भक्षानुवाक के प्रारम्भिक भाग में पठित वाक्यों के सम्बन्ध का विशेष विवेचन किया गया। शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या उसके आगे 'मन्द्राभिभूतिः केतुर्यज्ञानां वाग्जुषाणा सोमस्य तृप्यतु' से लेकर अन्तिम वाक्य 'वसुमद्गणस्य सोमदेवते मतिविदः प्रातःसवनस्य गायत्रच्छन्दसोऽग्निष्टुत इन्द्र-पीतस्य मधुमत उपहूतस्योपहूतो भक्षयामि' पर्यन्त एक ही मन्त्र है? अथवा 'मन्द्राभिभूतिः' से 'तृप्यतु' पर्यन्त पृथक् और 'वसुमद्गणस्य' से 'भक्षयामि' तक पृथक् मन्त्र हैं? प्रतीत होता है, ये दो मन्त्र हैं, क्योंकि गत सूत्र के निर्देशानुसार इनके अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। प्रथम वाक्य का तृप्ति-अर्थ भिन्न है; अन्तिम वाक्य का भक्षण-अर्थ भिन्न। तृप्ति और भक्षण एक नहीं होते। तृप्ति भक्षण का परि-णाम है, स्वयं भक्षण नहीं। इसलिए ये वाक्य भिन्न मन्त्र माने जाने चाहिएँ। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

गुणाभिधानान्मन्द्रादिरेकमन्त्रः स्यात् तयोरेकार्थसंयोगात् ॥२६॥

[गुणाभिधानात्] गुण के कथन होने से [मन्द्रादिः] 'मन्द्र' से लेकर 'भक्षयामि' पर्यन्त [एकमन्त्रः] एक मन्त्र [स्यात्] है। [तयोः] उन दोनों का [एकार्थसंयोगात्] एक अर्थ के साथ सम्बन्ध होने से।

तृप्ति भक्षण का परिणाम है, इसलिए भक्षण का गुण है। भक्षण मुख्य है। तृप्ति और भक्षण दोनों का भक्षणरूप मुख्य अर्थ के साथ सम्बन्ध होने से इस सम्पूर्ण मन्त्र का भक्षण-व्यापार में विनियोग है। तृप्ति, भक्षण-सम्बन्धी कोई व्यापार नहीं है, प्रत्युत उसका परिणाम होने से अंगभूत हुआ उसी में अन्तर्हित है। फलतः यह 'मन्द्र' से लेकर 'भक्षयामि' पर्यन्त सम्पूर्ण मन्त्र एक है, और उसका सोमहवि के भक्षण-व्यापार में विनियोग है ॥२७॥ (इति मन्द्राभिभूतिरित्यादेर्भक्षयामीत्यन्तस्यैकशस्त्रताऽधिकरणम्—१०)।

(इन्द्रपीतस्येत्यादिमन्त्राणां सर्वेषु भक्षेषूहेन विनियोगाऽधिकरणम्—११)

गत अधिकरण में भक्षानुवाक-विषयक एक निर्णय किया गया। इसी ज्योतिष्टोम प्रसंग में इन्द्र देवता के लिए तथा इन्द्र से भिन्न मित्रावरुण आदि देवताओं के लिए सोम की आहुतियों का कथन है। उनके शेष सोमरस के भक्षण का भी निर्देश है। शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या भक्षानुवाक मन्त्र का विनियोग केवल इन्द्राहुति के शेष सोमभक्षण में ही है? अथवा इन्द्र से भिन्न देवताओं को दी गई आहुतियों से बचे सोमरस के भक्षण में भी है? अनुवाक-मन्त्र में 'इन्द्रपीतस्य' लिंग के विद्यमान होने से केवल ऐन्द्र सोमाहुति से बचे सोम के भक्षण में ही मन्त्र का विनियोग होना चाहिए, ऐसा प्रतीत होता है। आचार्य सूत्रकार ने शिष्य के सुझाव को पूर्वपक्षरूप से सूत्रित किया—

लिङ्गविशेषनिर्देशात् समानविधानेष्वनैन्द्राणाममन्त्रत्वम् ॥२७॥

[समानविधानेषु] समान विधानवाले सोमाहुति-शेषों के भक्षण में [लिङ्गविशेषनिर्देशात्] 'इन्द्रपीतस्य'—इन्द्र द्वारा पिये गए—ऐसा विशेष लिङ्ग = कथन का निर्देश होने से [अनैन्द्राणाम्] इन्द्र से भिन्न देवतावाले हविशेषों का [अमन्त्रत्वम्] मन्त्ररहित भक्षण होता है, ऐसा समझना चाहिए।

इन्द्र से भिन्न देवतावाली हवियों का भक्षण मन्त्रोच्चारण न करते हुए ही करना चाहिए, क्योंकि इन हवियों का विधान समान रूप से एक प्रकरण में हुआ है। उनमें 'इन्द्रपीतस्य' यह मन्त्र इन्द्र से भिन्न देवता द्वारा पिये गये सोमहवि को नहीं कह सकता। इसलिए उन हवियों का भक्षण मन्त्ररहित होगा। इन्द्र

के लिए दी गई सोमाहुति के बचे सोम के भक्षण में ही मन्त्र का विनियोग है। हवियों का एक प्रकरण में विधान होने से ऊह सम्भव नहीं, जो मन्त्र में 'इन्द्र' के स्थान पर अन्य देवता का नाम पढ़ा जा सके। ऊह का क्षेत्र वस्तुत: विकृतियाग होते हैं। ज्योतिष्टोम प्रकृतियाग है। इसलिए इन्द्र से भिन्न देवतावाली हवियों में भक्षण मन्त्ररहित होता है ॥२७॥

आचार्य सूत्रकार जिज्ञासा का समाधान करता है—

यथादेवतं वा तत्प्रकृतित्वं हि दर्शयति ॥२८॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिए है। तात्पर्य है—इन्द्र से भिन्न देवतावाली हवियों का भक्षण मन्त्ररहित होता है, यह कथन अयुक्त है। [यथा-देवतम्] देवता के अनुकूल ऊह करके समन्त्रक भक्षण होता है। [हि] क्योंकि [तत्प्रकृतित्वम्] उस इन्द्र देवतावाली हवि का प्रकृतिरूप होना [दर्शयति] शास्त्रीय विधान बतलाता है।

सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में 'वा' पद द्वारा—पूर्वोक्त पक्ष से भिन्न पक्ष का निर्देश कर—पूर्वपक्ष का निराकरण किया है। प्रथम यह कहा गया है कि ऊह का क्षेत्र विकृतियाग हैं; क्योंकि ज्योतिष्टोम प्रकृतियाग है, इसलिए यहाँ ऊह का अवसर न होने के कारण ऐन्द्र हवि के भक्षण में ही 'इन्द्रपीतस्य' मन्त्र का विनि-योग होगा; अनैन्द्र हवि के भक्षण में नहीं। अत: अनैन्द्र हविभक्षण अमन्त्रक होगा। इसके विपरीत प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने ज्योतिष्टोम प्रकृतियाग के अवसर पर ऊह के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। सूत्रकार का संकेत है—शास्त्रीय विधान के अनुसार ज्योतिष्टोम के उक्त अवसर पर ऊह की उद्भावना करना न्याय्य है। वह इस प्रकार है—

सोमयाग में देवताओं के निमित्त सोमहवि प्रदान करने के लिए दस 'चमस'-संज्ञक पात्र होते हैं। इनको 'ग्रह' नाम से भी कहा जाता है। आहवनीय अग्नि में सोमहवि प्रदान करने के लिए द्रोणकलश से इनमें सोम ग्रहण किया जाता है। यही इनके 'ग्रह' नामकरण का कारण है। 'चमस' पद से 'चमचा' अर्थ समझना ठीक नहीं। यह चौकोर आकार का विशेष नाप का यज्ञिय पात्र है। इनकी दस संख्या याज्ञिक और यजमान की संख्या पर आधारित है। उनके स्तर के आधार पर उनके विशिष्ट नाम हैं। ये पात्र मूठ-सहित गूलर-काष्ठ के बनाये होते हैं। उद्गाता, ब्रह्मा, होता और यजमान के चार पात्र 'ध्रुव चमस' कहाते हैं। शास्त्र में 'उद्गाता' आदि चार को 'मध्यत:कारी' नाम से कहा जाता है। शेष याज्ञिक मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, अच्छावाक और आग्नीध्र नामक ऋत्विजों के छह चमस 'होत्रक' अथवा 'होतृचमस' कहे जाते हैं। प्रथम चार चमसों के 'ध्रुवचमस' नाम का कारण ज्योतिष्टोम में किसी भी अवसर पर

सोमहवि-प्रदान के लिए इन्हें न छोड़ा जाना है। प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन, तृतीय (=सायं) सवन के प्रारम्भ में इन्हीं चार चमसों द्वारा सर्वप्रथम हवि प्रदान किये जाने के कारण इनका 'सवनमुखीय' नाम भी कहा जाता है, जबकि प्रातःसवन में अच्छावाक चमस का उपयोग नहीं किया जाता। शेष सवनों में दसों चमस उपयोग में आते हैं।

ध्रुवसंज्ञक चमसों द्वारा सोमहवि-प्रदान निर्धारित रूप से इन्द्रदेवता के लिए होता है। अन्य होत्रक चमसों द्वारा किये जानेवाले होम में प्रथम होम का देवता इन्द्र रहता है। आगे द्वितीय होम में मैत्रावरुण आदि देवता रहते हैं। इन्द्र सभी का समान देवता है।

सोमभक्षण-व्यवस्था—होतृ-चमसों द्वारा एक बार इन्द्र के लिए होम करने पर, उनमें सोम के शेष भाग का भक्षण किये बिना ही पुनः द्रोणकलश से सोम भरकर मित्रावरुण आदि देवताओं के लिए होम किया जाता है। उसका हुतशेष भक्षण किये जाने की व्यवस्था है। यह ऊह के आधार पर व्यवस्थित है। सोम-याग की सात संस्था (=भाग) हैं—ज्योतिष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय, आप्तोर्याम। शास्त्रीय विधान के अनुसार अतिरात्र में षोडशी का ग्रहण किया जाता है—'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'। षोडशी में भक्षमन्त्र गायत्री छन्द का विनियुक्त होता है, अतिरात्र में अनुष्टुप् छन्द का। षोडशी का अतिरात्र में ग्रहण होने पर ऊह द्वारा गायत्री के स्थान पर अनुष्टुप् का प्रयोग किया जाता है। यहाँ इन्द्र देवता के ध्रुवचमसों को प्रकृतियाग मानकर शेष होत्रक चमसों को उनका विकृति माना गया है। इस प्रकार इन चमसों में प्रकृतिविकारभाव माने जाने पर जैसे ऊह द्वारा छन्द में परिवर्तन हुआ, ऐसे ही 'इन्द्रपीतस्य' में—विकारभूत होतृचमसों के शेष सोमहविभक्षण में 'इन्द्र' पद के स्थान पर ऊह द्वारा 'मित्रावरुण' का उच्चारण किया जायगा। सोमयाग-प्रसंग में इस प्रकार ऊह का मार्ग खुल जाने पर भक्षण यथादेवत होगा, तथा सम्पूर्ण भक्षण समन्त्रक होगा॥२८॥ (इति इन्द्रपीतस्येत्यादिमन्त्राणां सर्वेषु भक्षणेषूहेन विनि-योगाऽधिकरणम्—११)।

(अभ्युन्नीतसोमभक्षणे इन्द्रस्याप्युपलक्षणाऽधिकरणम्—१२)

शिष्य जिज्ञासा करता है—गत अधिकरण में कहा गया है, होतृचमसों द्वारा प्रथम एक बार इन्द्र के लिए होम करने पर, उनमें—शेष सोम का भक्षण किए बिना ही—पुनः द्रोणकलश से सोम भरकर मित्रावरुण आदि देवताओं के लिए होम किया जाता है। तदनन्तर चमसों में बचे सोम का भक्षण होता है। यहाँ यह सन्देह है—क्या प्रथम उपस्थित देवता इन्द्र का और मित्रावरुण आदि सब का—ऊह के आधार पर—भक्षमन्त्र में निर्देश होना चाहिए? अथवा इन्द्र को

छोड़कर शेष मित्रावरुण आदि सबका ? तात्पर्य है—'इन्द्रपीतस्य' में ऊह 'इन्द्र-मित्रावरुणपीतस्य' होना चाहिए ? अथवा केवल 'मित्रावरुणपीतस्य' ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

पुनरभ्युन्नीतेषु सर्वेषामुपलक्षणं द्विशेषत्वात् ॥२६॥

[पुनः अभ्युन्नीतेषु] चमसों से इन्द्र के लिए प्रथम होम करके उन्हीं हुतशेष-सहित चमसपात्रों में पुनः गृहीत सोम से होम करने पर शेष सोम के भक्षण में [सर्वेषाम्] इन्द्रसहित सभी देवताओं का [उपलक्षणम्] उपलक्षण=निर्देश करना चाहिए, [द्विशेषत्वात्] बचे हुए सोम में दोनों बार का शेष होने से।

तीनों सवनों में होम प्रारम्भ होने पर होता 'वषट्' कहकर निर्देश देता है—मध्यतःकारियों (होता, ब्रह्मा, उद्गाता, यजमान) के अध्वर्यु लोगो ! सवनमुखीय चमसों से इन्द्र देवता के लिए सोम हवि का प्रदान करो। 'अनुवषट्' कहकर होता निर्देश करता है—होत्रक चमसोंवाले अध्वर्यु लोगो ! एक बार इन्द्र देवता के लिए होम करके द्रोणकलश से पुनः चमसों में सोम भरकर लौटो; मित्रावरुण आदि देवताओं का यजन करो।

अनुवषट्कार में विभिन्न देवताओं का यजन किया जाता है—मित्रावरुण का 'मित्रं वयं हवामहे' [ऋ० १।२३।४] मन्त्र से; ब्राह्मणाच्छंसी इन्द्र का 'इन्द्रं त्वा वृषभं वयम्' [ऋ० ३।४०।१] मन्त्र से; पोता-मरुतों का 'मरुतो यस्य हि क्षये' [ऋ० १।८६।१] मन्त्र से; नेष्टा-त्वष्टा और पत्नियों का 'अग्ने पत्नीरिहावह' [आश्व० श्रौ० ५।५।१८] मन्त्र से; आग्नीध्र अग्नि का 'उक्षान्नाय वशान्नाय' [ऋ० ८।४३।११] मन्त्र से।

उक्त चमसों से होम करने में प्रथम इन्द्र देवता के लिए सोमहवि का प्रदान किया जाता है। पुनः उन्हीं चमसपात्रों में सोम ग्रहण करके मित्रावरुण आदि का यजन किया जाता है। इन विकृतियाग के छह चमसपात्रों में जो शेष भाग है, वह इन्द्र का और मित्रावरुण आदि सब देवताओं का है। इसलिए भक्षमन्त्र में 'इन्द्रपीतस्य' के स्थान पर 'इन्द्रमित्रावरुणपीतस्य' ऐसा ऊह करना चाहिए ॥२६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—इन्द्र देवता का हुतशेष, उसी पात्र में मित्रावरुण आदि के लिए भरे गए सोम से बाधित हो जाता है; तब 'इन्द्रपीतस्य' मन्त्र में केवल 'मित्रावरुणपीतस्य' ऊह करना चाहिए। आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

अपनयाद्वा पूर्वस्यानुपलक्षणम् ॥३०॥

[वा] 'वा' पद पूर्वोक्त के निवारण के लिए है। तात्पर्य है—शेष सोमभक्षण में दो देवताओं का ऊह नहीं करना चाहिए। [पूर्वस्य अपनयात्] प्रथम हुत इन्द्र

देवता के हुतशेष के बाधित हो जाने से, दो देवतावाले सोमभक्षण में [अनुपलक्षणम्] प्रथम हुत देवता का कथन नहीं करना चाहिए।

प्रारम्भ में सर्वप्रथम इन्द्र देवता के लिए सोमहवि-द्रव्य का प्रदान किया जाता है। हुतशेष का भक्षण आदि कुछ भी अन्य प्रयोग न करके उसी पात्र में मित्रावरुण देवता के निमित्त सोम भरकर आहवनीय अग्नि में आहुति दी जाती है। अनन्तर विकृतियाग की शेष पाँचों आहुतियाँ देकर हुतशेष सोम का भक्षण किया जाता है। प्रथम उपस्थित इन्द्र देवता का हुतशेष अपनीत—दूरापेत—दूर हटा हुआ हो जाता है। इस प्रकार बाधित होकर उसके भक्षण का अवसर निकल जाता है। यह ऐसी ही स्थिति है, जैसे गुरु ने शेष अन्न को चैत्र के लिए भक्षणार्थ दिया। चैत्र ने अपने शेष अन्न को मैत्र के लिए दे दिया। मैत्र यही निर्देश करता है कि मैं चैत्र के शेष अन्न को खा रहा हूँ। गुरु के शेष अन्न को खा रहा हूँ, ऐसा नहीं कहता। इसलिए प्रथम उपस्थित देवता इन्द्र को भक्षण-मन्त्र (=इन्द्रपीतस्य) में–ऊह के आधार पर–निर्दिष्ट नहीं करना चाहिए ॥३०॥

उक्त जिज्ञासा का सूत्रकार ने समाधान किया—

अग्रहणाद् वाऽनपायः स्यात् ॥३१॥

[वा] 'वा' पद पूर्वोक्त के निवारण के लिए है। तात्पर्य है—प्रथम उपस्थित देवता इन्द्र के हुतशेष का अपनप=बाध हो जाता है, यह युक्त नहीं है। [अग्रहणात्] इन्द्र देवता के हुतशेष का—मित्रावरुण आदि देवता के लिए आदिष्ट सोम में—ग्रहण न होने से [अपनायः स्यात्] इन्द्र-निमित्त हुतशेष का अपाय—निराकरण नहीं होता।

जिस चमसपात्र में इन्द्र देवता का हुतशेष सोम है, उसी पात्र में होता की घोषणा के अनुसार मित्रावरुण आदि देवता के लिए द्रोणकलश से सोम भरा जाता है। होता की घोषणा यह होती है कि—होत्रक चमसों द्वारा देवता के लिए सोमहवि-आहुति देनेवाले अध्वर्यु लोगो! मित्रावरुण आदि देवता के लिए द्रोणकलश से सोम भरकर लौट आओ, आहवनीय अग्नि में हवि प्रदान करो। इस घोषणा में यह नहीं कहा गया कि इन्द्र देवता का हुतशेष मित्रावरुण देवता के लिए आहवनीय में प्रदान करो। होता की घोषणा के अनुसार मित्रावरुण आदि देवता के लिए सोमहवि वही है, जो द्रोणकलश से भरकर लाया गया है। इन्द्र का हुतशेष घोषणा में गृहीत नहीं है। वह होता की घोषणा से अछूता रहता है; मित्रावरुण आदि देवता के लिए आहुत नहीं होता। तब उसको अपनीत—बाधित कहना अयुक्त है। घोषणा में इन्द्र देवता और उसके हुतशेष का कोई उल्लेख न होने से वह अपनी स्थिति में अबाध बना रहता है। उसका भक्षण किया जाता है।

फलतः भक्षणमन्त्र में इन्द्रसहित सब देवताओं का निर्देश होना चाहिए ॥३१॥
(इति अभ्युन्नीतसोमभक्षणे इन्द्रस्याप्युपलक्षणाऽधिकरणम्—१२)।

(पात्नीवतभक्षणे इन्द्रादीनामनुपलक्षणाऽधिकरणम्—१३)

तैत्तिरीय संहिता [६।५।८।१] में इस प्रकार का पाठ है—'यदुपांशुपात्रेणाऽऽग्रयणात् पात्नीवतं गृह्णाति' जो उपांशु पात्र के द्वारा आग्रयण पात्र से पात्नीवत ग्रह में सोम लेता है। इससे पूर्व ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण, आश्विन नामवाले दो-दो देवताओं के निमित्त सोम की आहुति देकर शेष सोम बूंद-बूंद आदित्य-स्थाली में टपकाया जाता है। तृतीय सवन में वह सोम आग्रयण पात्र में ले लिया जाता है। आग्रयण-स्थाली में रक्खे सोम को अन्य एक पात्र में उलटकर उसे पुनः चार धाराओं से आग्रयण-स्थाली में लिया जाता है।

इस आग्रयण-स्थाली से उपांशुग्रह द्वारा पात्नीवत ग्रह में सोम लिया जाता है। पात्नीवत ग्रह के होम करने पर उसके हुतशेष सोम का भक्षण करने के विषय में शिष्य ने सन्देह प्रकट किया—क्या सोमभक्षण के समय पात्नीवत देवता के साथ इन्द्र-वायु आदि देवताओं के जोड़े का निर्देश भक्षणमन्त्र में करना चाहिए? अथवा नहीं करना चाहिए? शिष्य ने सुझाव दिया—गत अधिकरण के निर्णय के अनुसार तो इन्द्र-वायु आदि देवताओं का निर्देश करना चाहिए, क्योंकि पात्नीवत के हुतशेष में उन देवताओं का हुतशेष भी सम्मिलित है। शिष्य-सुझाव को पूर्वपक्षरूप से आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

पात्नीवते तु पूर्ववत् ॥३२॥

[पात्नीवते] पात्नीवत देवताविषयक भक्षणमन्त्र में [तु] भी [पूर्ववत्] पहले अधिकरण के निर्णय के समान इन्द्रवायु आदि देवताओं का निर्देश करना चाहिए।

गत अधिकरण में मित्रावरुण आदि देवताओं के हुतशेष के साथ इन्द्र देवता का हुतशेष सम्मिलित होने से भक्षणमन्त्र में मित्रावरुण आदि के साथ इन्द्र के निर्देश का निर्णय जैसे किया गया है, उसी प्रकार पात्नीवत देवता के हुतशेष में इन्द्र-वायु आदि देवताओं के हुतशेष सोम का अंश सम्मिलित रहता है; इसलिए यहाँ भी पात्नीवत देवता के हुतशेष-भक्षण-मन्त्र में पात्नीवत के साथ इन्द्र-वायु आदि देवताओं का निर्देश होना चाहिए ॥३२॥

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

ग्रहणाद् वाऽपनीतः स्यात् ॥३३॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष के निवारण के लिए है। तात्पर्य है—पात्नीवत देवता

के हुतशेष-भक्षण-मन्त्र में इन्द्रवायु आदि द्विदेवत्य का निर्देश करना युक्त नहीं है। [ग्रहणात्] आग्रयण-पात्र से पात्नीवत सोम का ग्रहण होने के कारण, द्विदेवत्य आदि शेष [अपनीतः] दूरापेत—दूर हटा हुआ [स्यात्] हो जाता है।

गत अधिकरण में जो निर्णय किया गया, उसके साथ पात्नीवत देवता के हुत-शेष का साम्य नहीं; वैषम्य है। वहाँ इन्द्र देवता के लिए जिस चमस से सोमहवि आहुत किया गया है, उसमें बचे सोम का—अन्य किसी प्रकार का भी प्रयोग न करके सीधे उसी चमस में द्रोणकलश से मित्रावरुण आदि देवता के लिए सोम ग्रहण किया जाता है। इसके विपरीत पात्नीवत देवता को सोमहवि प्रदान करने के लिए सोम का ग्रहण आग्रयण-पात्र में संगृहीत सोम से किया जाता है। आग्रयण-पात्र में सोम का संग्रह जिस प्रक्रिया से होता है, उसके अनुसार इन्द्र-वायु आदि द्विदेवत्य हुतशेष सोम आग्रयण-पात्र में पहुँचने तक अपने अस्तित्व को समाप्तप्राय कर बैठता है। आग्रयणपात्र से उपांशु ग्रह द्वारा पात्नीवत देवता के लिए सोमग्रहण करने के अवसर पर इन्द्र-वायु आदि का द्विदेवत्य हुतशेष इतनी दूर जा पड़ता है कि पात्नीवत हुतशेष के भक्षणमन्त्र में द्विदेवत्य के नामनिर्देश की उपेक्षा करना ही युक्त है। आग्रयणपात्र में सोमसंग्रह की प्रक्रिया ३१वें सूत्र के भाष्य में प्रकट कर दी गई है।

इस प्रकार इन्द्र और मित्रावरुण के हुतशेष पात्र एक ही होने से मित्रावरुण के हुतशेष-भक्षमन्त्र में मित्रावरुण आदि के साथ इन्द्र का ऊह किया जाना युक्त है। पात्नीवत में यह स्थिति नहीं है। यहाँ सोम का संग्रहपात्र और आहुतिपात्र दोनों भिन्न हो गए हैं। यहाँ सोम के आधार पात्र आग्रयण तक द्विदेवत्य हुतशेष पहुँचते-पहुँचते दम तोड़ बैठता है। तब भक्षणमन्त्र में उसका निर्देश न होना युक्त ही है ॥३३॥ (इति पात्नीवतभक्षणे इन्द्रादीनामनुपलक्षणाऽधिकरणम्—१३)।

(पात्नीवतशेषभक्षे त्वष्टुरनुपलक्षणीयताऽधिकरणम्—१४)

पत्नीवान् देवता-सम्बन्धी सोम-आहुति के प्रसंग से तैत्तिरीय संहिता [१।४।-२७] में मन्त्र है—'अग्ना३इ पत्नीवा३ः सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब' हे पत्नीवान् अग्ने! त्वष्टा देव के साथ तुम प्रीतिपूर्वक सोम का पान करो। इस विषय में सन्दि-हान शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या पात्नीवत सोम के शेष का भक्षण करते हुए भक्षमन्त्र में त्वष्टा का निर्देश करना चाहिए? अथवा नहीं करना चाहिए? मन्त्र में साथ पीने का उल्लेख होने से प्रतीत होता है, भक्षमन्त्र में त्वष्टा का निर्देश होना चाहिए। शिष्य-सुझाव को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष-रूप से सूत्रित किया—

त्वष्टारं तूपलक्षयेत् पानात् ॥३४॥

[पानात्] आहुति-मन्त्र में त्वष्टा के सोमपान का निर्देश होने के कारण

[त्वष्टारम्] त्वष्टा को [तु] तो [उपलक्षयेत्] भक्षमन्त्र में उपलक्षित= सम्मिलित करना चाहिए।

'सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब' इस होम-मन्त्र का उच्चारण करते हुए पात्नीवत सोम त्वष्टा के साथ पत्नीवान् अग्निदेवता के लिए आहवनीय अग्नि में प्रदान (आहुत) किया जाता है। यह अग्नि के लिए और उसके साथी त्वष्टा देवता, दोनों के लिए सहदान होता है। जैसे लोकव्यवहार में कहा जाता है—'यज्ञदत्त के साथ देवदत्त को सौ रुपए दे दो' ऐसा कहने पर दोनों को ही वह धन दिया जाता है। इससे स्पष्ट होता है वह पात्नीवत सोम त्वष्टा देवतावाला भी है, अतः भक्षमन्त्र में त्वष्टा देवता का निर्देश करना चाहिए। गत अधिकरण में वर्णित इन्द्र के समान त्वष्टा भी सोमपान करता है, तब भक्षमन्त्र में उसका निर्देश क्यों न हो?॥३४॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

अतुल्यत्वात्तु नैवं स्यात् ॥३५॥

[तु] त्वष्टा के तो [अतुल्यत्वात्] पत्नीवान् अग्नि के तुल्य न होने के कारण [एवम्] इस प्रकार भक्षमन्त्र में निर्देश [न स्यात्] नहीं होना चाहिए।

भाष्यकार शबरस्वामी ने यहाँ पातञ्जल व्याकरण महाभाष्य का एक वाक्य[1] उद्धृत कर बलपूर्वक यह कहा है कि हम शब्द-प्रमाण को माननेवाले हैं; शब्द जो कुछ बताता है, वही हमारे लिए मान्य है। शब्द-प्रमाणरूप में यहाँ विधिवाक्य है—'पात्नीवतं गृह्णाति' पात्नीवत सोम का ग्रहण करता है। इसमें त्वष्टा का कोई संकेत नहीं है। अन्य भी कोई ऐसा विधिवाक्य नहीं है, जिससे यह सोम या इसका भाग त्वष्टा के लिए जाना जा सके।

होममन्त्र में जो 'त्वष्ट्रा सोमं पिब' पद हैं, उनसे यह निर्णयात्मक रूप में सिद्ध नहीं होता कि अग्नि के सोमपान में त्वष्टा सहयोगी है। 'त्वष्ट्रा' पद में तृतीया विभक्ति अप्रधान अर्थ में है। यद्यपि 'सह' पद का योग यहाँ नहीं है, फिर भी यदि सह का अर्थ अभिप्रेत हो, तो भी अप्रधान (गौण) अर्थ में तृतीया हो जाती है। पाणिनि ने स्वयं 'पुमान् स्त्रिया' [अष्टा० १।२।६७] प्रयोग कर उक्त भावना को अभिव्यक्त किया है। 'पुत्रेण सह आगतः पिता; शिष्येण सह गतः आचार्यः' पुत्र के साथ पिता आया; शिष्य के साथ आचार्य गया; यहाँ आना-जाना क्रिया के साथ मुख्य सम्बन्ध पिता व आचार्य का है; पुत्र-शिष्य गौण हैं। पर यह ध्यान देने की बात है, गौण पुत्र व शिष्य को पिता व आचार्य की आना-जाना क्रिया का पूर्ण अनुष्ठान करना होता है। वे क्रिया में पूर्ण सहयोगी रहते हैं। यदि पुत्र-शिष्य

---

१. 'शब्दप्रमाणका वयम्; यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्' महाभाष्य, अ० १, पा० २, आह्निक १।

पिता-आचार्य की क्रिया में सहयोगी न रहें, तो उक्त प्रयोग हो नहीं सकते। इसी के अनुसार गौण होने पर भी त्वष्टा सोमपान में अग्नि का सहयोगी होता है, तो भले ही रहे, पर वह सोमपान मुख्यरूप में पत्नीवान् अग्नि का है; क्योंकि विधि-वाक्य के अनुसार सोम का ग्रहण उसी के लिए हुआ है। उस दशा में होममन्त्र के पदों का अर्थ होगा—'जो तू त्वष्टा के साथ विद्यमान है, सो तू सोम का पान कर'।

गम्भीरता से विचारने पर जाना जाता है, यह नितान्त आवश्यक नहीं कि प्रधान की क्रिया में अप्रधान सहयोगी हो। सहयोगी न होने पर भी ऐसे प्रयोग प्रामाणिक माने जाते हैं, जैसे—'सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी'। यहाँ आवश्यक रूप से यह अभिप्रेत नहीं है कि गर्दभी के दसों पुत्र भारवहन-क्रिया में सहयोगी हैं। अनेक पुत्र भारवहन में अल्पवय व रुग्ण होने आदि से असमर्थ हो सकते हैं। ऐसे प्रसंगों में दस पुत्रों की विद्यमानतामात्र विवक्षित है। इसी प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में त्वष्टा की केवल विद्यमानता अभिहित होती है; सोमपान-क्रिया में वह सहयोगी नहीं। तब भक्षमन्त्र में उसके नाम के ऊह का कोई प्रश्न नहीं उठता ॥३५॥ (इति पात्नीवतशेषभक्षे त्वष्टुरनुपलक्षणीयताऽधिकरणम्—१४)।

(पात्नीवतशेषभक्षे त्रिंशतोऽनुपलक्षणाऽधिकरणम्—१५)

पूर्वोक्त पात्नीवत कर्म में याज्या-मन्त्र पठित है—

ऐभिरग्ने सरथं याह्यर्वाङ् नानारथं वा विभवो ह्यश्वाः।
पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व ॥

—ऋ० ३।६।९॥

हे अग्ने! इन आगे जानेवाले तेतीस देवों के साथ समान रथवाले=एक रथवाले=एक रथ में बैठकर समीप आओ। अथवा क्योंकि तुम्हारे अश्व विविध रूपों को ग्रहण करने में समर्थ हैं, इसलिए नानारथों पर बैठकर आओ।

शिष्य जिज्ञासा करता है—इस विषय में सन्देह है—क्या भक्षमन्त्र में तेतीस देवों का निर्देश करना चाहिए? अथवा नहीं करना चाहिए? याज्या-मन्त्र के अनुसार तो यही प्रतीत होता है कि तेतीस देवों का निर्देश करना चाहिए, क्योंकि मन्त्र में तेतीस देवों को सोम देने का उल्लेख है। अग्नीत् ऋत्विज् अग्नि को मानो इस प्रकार आदरपूर्वक प्रेरित करता है—हे अग्ने! समीप आओ, तेतीस देवों के साथ एक रथ पर बैठकर अथवा नाना रथों से आओ; तुम्हारे अश्व विविध रूपों को ग्रहण करने में समर्थ हैं। इस अनुष्वध=सोम को पत्नीवत् तेतीस देवों के लिए प्राप्त कराओ। यहाँ अग्नीत् तेतीस देवों की तृप्ति के लिए इच्छा करता है, ऐसा ज्ञात होता है। मन्त्र में प्रधानरूप से जिसका उल्लेख है, उसके लिए सोम है। यद्यपि विधिवाक्य में पत्नीवान् अग्निदेवता कहा गया है, पर वहाँ अन्य देवता का

निषेध भी नहीं किया गया। इससे निर्बाधरूप में मन्त्रवर्ण से प्राप्त तेतीस देवता विधिवाक्य में समझने चाहिएँ।

त्रिंशच्च परार्थत्वात् ॥३६॥

[त्रिंशत्] तीस [च] और तीन अर्थात् तेतीस देवता—गत अधिकरण में वर्णित त्वष्टा के समान—पात्नीवत सोम में सम्मिलित नहीं होते, [परार्थत्वात्] मन्त्र में उनके उल्लेख का स्तुति आदि अन्य प्रयोजन होने से।

'ऐभिरग्ने' मन्त्र में न तो अग्निदेवता किसी को बुलानेवाला कहा है, और न सोम परोसनेवाला। तेतीस देवताओं के यजन से यहाँ कोई प्रयोजन सिद्ध होता हो, ऐसा भी नहीं कहा गया है। अग्निदेवता को इन कार्यों के लिए सत्कारपूर्वक प्रेरित किया गया हो, ऐसा भी यहाँ नहीं है। मन्त्र में केवल अग्निदेवता को सम्बोधन किया गया है; यजन के लिए उसी का आवाहन है। तेतीस देवों को प्रकाशित करता हुआ सूर्य आग्नेय तत्त्व का केन्द्र है। यह सम्मिलित देवों की स्तुतिमात्र है। सोम-हवि की आहुति सूर्य में नहीं दी जाती; पत्नीवान् अग्नि में दी जाती है, जो वेदि में आहवनीय रूप से अवस्थित है। विधिवाक्य 'पात्नीवतं गृह्णाति' में उसी के लिए सोमहवि के ग्रहण किए जाने का विधान है। जिसके लिए विधान है, वही प्रधान देवता है। उसी का सोम है। इसलिए हुतशेष सोम के भक्षमन्त्र में अन्य तेतीस आदि देवों के निर्देश का प्रश्न नहीं उठता।

वस्तुतः यह साधारण वैज्ञानिक तथ्य है कि आहवनीय अग्नि में द्रव्याहुति प्रदान करने पर अन्य सब देव स्वतः तृप्त व हर्षित होते रहते हैं; और उसके प्रतिदान रूप में प्राणी के कल्याण के लिए जीवनी शक्तियों की अनवरत वर्षा करते रहते हैं। इसी आधार पर वह अग्नि पत्नीवान् है, सबका रक्षक है, जीवन-रक्षा में अनुपम सहयोग प्रदान करता है। इन्हीं वैदिक भावनाओं को हृदयंगम कर गीता में कहा है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक् ॥
देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥

प्रजापति परमात्मा ने सर्गरचनाकाल में यज्ञसहित प्रजाओं की सृष्टि कर कहा—इसके सहयोग से अपनी जीवनी शक्तियों को बढ़ाओ, यह तुम्हारी अभिलषित कामनाओं की सफलता के लिए अनवरत स्रोत है।

देवों को इससे प्रसन्न करो, देव तुम्हें प्रसन्न करेंगे। परस्पर के सहयोग से परम कल्याण को प्राप्त करोगे।

यज्ञ से प्रसन्न हुए देव अभिलषित भोगों को तुम्हें प्रदान करेंगे। उनके दिए अतुल भोगों को भोगते हुए यदि तुम यज्ञ द्वारा उन्हें हवि प्रदान नहीं करते, तो तुम चोर ही कहे जाओगे। इसी आशय को मनु ने भी एक श्लोक में अभिव्यक्त किया है।

फलतः सोम या अन्य द्रव्याहुति का प्रधान देवता अग्नि है। ऋग्वेद के मन्त्र में उसी का निर्देश है। तेतीस देवों का निर्देश केवल प्रासंगिक अस्तित्व—स्तवन को अभिव्यक्त करता है, तथा उनके व्यवहार की उस प्रक्रिया को प्रकट करता है, जिसका उल्लेख गत पंक्तियों में किया गया ॥३६॥ (इति पात्नीवतशेषभक्षे त्रिंशतोऽनुपलक्षणाऽधिकरणम्—१५)।

(भक्षणेऽनुवषट्कारदेवताया अनुपलक्षणाऽधिकरणम्—१६)

ऐतरेय ब्राह्मण [३।५] में पाठ है—" 'सोमस्याग्ने वीहि' इत्यनुवषट् करोति"—'सोमस्याग्ने वीहि' मन्त्र से अनुवषट् करता है। सोम-याग में मध्यतः[1]-कारियों के ध्रुवसंज्ञक अथवा सवनमुखीय-संज्ञक प्रकृति यागीय चमसों के वषट्कार से इन्द्रदेवता के लिए होम करने के अनन्तर 'सोमस्याग्ने वीहि वौषट्' अनुवषट्कार आहुति का विधान है। स्विष्टकृत् आहुति के समान यह उस कर्म की अन्तिम आहुति होती है। शिष्य जिज्ञासा करता है—यहाँ सन्देह है—क्या अनुवषट्कार की देवता का भक्षमन्त्र में निर्देश करना चाहिए? अथवा नहीं करना चाहिए? प्रतीत होता है, निर्देश करना चाहिए; क्योंकि गत अधिकरण में वर्णित तेतीस देवताओं की परार्थता के समान अनुवषट्कार देवता की परार्थता नहीं जानी जाती। तब भक्षमन्त्र में उसके निर्देश के लिए कोई बाधा नहीं होनी चाहिए।

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

वषट्कारश्च कर्त्तृवत् ॥३७॥

[कर्तृवत्] वषट्कार के करनेवाले होता-पोता-अध्वर्यु को जैसे भक्षमन्त्र में 'होतृपीतस्य, पोतृपीतस्य, अध्वर्युपीतस्य' के रूप में निर्दिष्ट नहीं किया जाता, उसी के समान [वषट्कारः] अनुवषट्कार के देवता को [च] भी निर्दिष्ट नहीं करना चाहिए।

---

१. 'मध्यतःकारी' शास्त्र में होता, ब्रह्मा, उद्गाता, यजमान इन चार का नाम कहा जाता है। २८ सूत्र के भाष्य में इसका उल्लेख किया गया है।

सूत्र में 'वषट्कार:' पद से अनुवषट्कार अभिप्रेत है। कुतूहलवृत्तिकार ने पाठ ही 'अनुवषट्कार:' स्वीकार किया है। यद्यपि अनुवषट्कार का देवता अग्नि है, क्योंकि आहुति अग्नि में ही दी जाती है, परन्तु यह आहुति अग्निदेवता के उद्देश्य से नहीं दी जाती, अपितु कर्म की सम्पन्नता के संकेतरूप में दी जाती है। होता-पोता-अध्वर्यु आदि भी अनुष्ठेय कर्म की सम्पन्नता के लिए समर्पित अथवा उपस्थित रहते हैं। उनको जैसे भक्षमन्त्र में निर्दिष्ट नहीं किया जाता, वैसे ही अनुवषट्कार देवता को भी।

मध्यत:कारियों के चमसों से इन्द्र देवता के लिए आहुतियाँ प्रदान करने के अनन्तर अन्तिम आहुति के मन्त्र का उच्चारण करते हुए होता अन्त में 'वौषट्' पद का उच्चारण करता है। यह इस बात का संकेत है कि सोमयाग के प्रस्तुत कर्म की यह अन्तिम आहुति दी जा रही है। इसी प्रक्रिया का नाम अनुवषट्कार है। इसका तात्पर्य है, प्रकृतियाग के सवनमुखीय चमसों से आहुतियाँ इन्द्र देवता के लिए दी जाती हैं। वहाँ अग्नि देवता उद्दिष्ट नहीं होता। जो कार्य वषट्कार प्रकृतियाग में किया है, वही कार्य अनुवषट्कार में करने योग्य माना गया है। इसलिए जैसे वषट्कार में अग्नि देवता उद्दिष्ट नहीं है, वैसे ही अनुवषट्कार में भी उद्दिष्ट न होगा। तब भक्षमन्त्र में उसके निर्देश का प्रश्न ही नहीं उठता ॥३७॥ (इति भक्षणेऽनुवषट्कारदेवताया अनुपलक्षणाऽधिकरणम्—१६)।

(अनैन्द्राणाममन्त्रकभक्षणाऽधिकरणम्—१७)

शास्त्रीय मान्यता के अनुसार 'ऊह' केवल विकृतियागों में होता है; प्रकृतियाग में नहीं। इसके विपरीत गत २८वें सूत्र में एकदेशी मत से प्रकृतियाग में भी 'ऊह' की कल्पना की जाती है, यह बताया। उसी के अनुसार अनैन्द्र हवि का भक्षण समन्त्रक किये जाने का सुझाव दिया है। उसी विषय को पूरा करने की भावना से सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र द्वारा बताया—

छन्दः प्रतिषेधस्तु सर्वगामित्वात् ॥३८॥

[तु] 'तु' पद सूत्र २८ में किये गये एकदेशी के कथन की निवृत्ति के लिए है। तात्पर्य है, सोमयाग के एककर्म होने से उसमें प्रकृति-विकृतिभाव की कल्पना नहीं की जा सकती, [सर्वगामित्वात्] सोमयाग में अभिषव आदि सोमधर्मों के सर्वगामी होने से, अर्थात् तीनों सवनों में सोमधर्मों के विद्यमान होने से। [छन्द:प्रतिषेध:] षोडशी में अनुष्टुप् छन्द का कथन, षोडशी के तृतीय सवन में होने से वहाँ जगती छन्द के प्रतिषेधरूप है; जगती की जगह अनुष्टुप् की 'ऊह' नहीं है।

ज्योतिष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय, आप्तोर्याम—

इन सात संस्थाओं = भागों में सम्पूर्ण होनेवाला सोमयाग एक ही याग है। तीनों सवनों में अभिषव आदि सोम के धर्म विद्यमान रहते हैं। 'ध्रुव'-संज्ञक एवं 'होत्रक'-संज्ञक पात्रों द्वारा हविप्रदान में इनके प्रकृति-विकारभाव की कल्पना नहीं की जा सकती; क्योंकि यह सब प्रधानभूत सोमयागरूप एक ही कर्म है। इसलिए यहाँ 'ऊह' की कल्पना निराधार है। इसी कारण वह कथन असंगत है, जो सूत्र २८ की व्याख्या में कहा गया है कि—'अतिरात्र' में 'षोडशी' का ग्रहण होने पर अतिरात्र के जगती छन्द की जगह षोडशी के अनुष्टुप् छन्द की 'ऊह' की जाती है। अतिरात्र के तृतीय सवन में षोडशी का ग्रहण होता है; उतने अंश में षोडशी-अनुष्टुप् से अतिरात्र-जगतीछन्द प्रतिषिद्ध हो जाता है, बाधित हो जाता है। ऊह की कल्पना निराधार है। तब भक्षमन्त्र में 'इन्द्र' के स्थान पर 'मित्रावरुण' आदि की ऊह के लिए षोडशी को उदाहरण या लिङ्गरूप में प्रस्तुत करना अयुक्त है।

सारांश है, ऐन्द्र-अनैन्द्र भिन्न याग नहीं हैं। एक ही सोमयाग के ये अभ्यास-विशेष हैं। प्रधान सोमयाग के ये सब गुणभूत हैं; इनके पृथक् धर्म नहीं होते। 'ऐन्द्रः सोमो गृह्यते मीयते च'—ऐन्द्र सोम गृहीत होता है, और मापा जाता है, इत्यादि सब याग के धर्म हैं, इसलिए ये सम्पूर्ण सोमयाग के धर्म कहे गये हैं। सोम भी यागार्थ है। यह जो 'ऐन्द्रः सोमो गृह्यते मीयते च' कहा गया है, इससे ज्ञात होता है, इन्द्र देवता के लिए सोम का ग्रहण मन्त्रोच्चारणपूर्वक होना चाहिए। अन्य देवताओं के लिए सोम का ग्रहण—उनका ध्यान करते हुए—होना अभीष्ट है। इस कारण इन्द्र-भिन्न सोम का भक्षण मन्त्ररहिता है॥३८॥ (इति अनैन्द्राणाम-मन्त्रकभक्षणाऽधिकरणम्—१७)।

(ऐन्द्राग्नभक्षस्यामन्त्रकताऽधिकरणम्—१८)

इन्द्र से अतिरिक्त देवताओं के सोम का भक्षण अमन्त्रक होना चाहिए,—यह निश्चित होने पर ऐन्द्राग्न सोम के विषय में विचार करना अपेक्षित रहता है। ज्योतिष्टोम में ऐन्द्राग्न सोम-पठित है, 'ऐन्द्राग्नं गृह्णाति' इति—इन्द्र और अग्नि देवता के सोम का ग्रहण करता है। शिष्य ने जिज्ञासा की—यहाँ भक्षण समन्त्रक होना चाहिए, अथवा अमन्त्रक? समन्त्रक प्रतीत होता है, क्योंकि ऐन्द्राग्न सोम में सोम का अंश इन्द्र द्वारा भी पिया जाता है, वहाँ 'इन्द्रपीतस्य' निर्देश समञ्जस होता है। शिष्य के सुझाव को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप से सूत्रित किया—

ऐन्द्राग्ने तु लिङ्गभावात् स्यात् ॥३९॥

[ऐन्द्राग्ने] इन्द्र और अग्नि उभयदेवतावाले सोम में [तु] तो [लिङ्ग-

भावात्] इन्द्र का लिङ्ग=स्पष्ट निर्देश होने से सोमभक्षण मन्त्रयुक्त [स्यात्] होना चाहिए। तात्पर्य है, इन्द्र और अग्नि दोनों के लिए गृहीत सोम में इन्द्र का भी अंश है, इन्द्र उसका पान करता है, तब 'इन्द्रपीतस्य' निर्देश उत्पन्न होता है।

ऐन्द्राग्न सोम में इन्द्र द्वारा सोमांश पिये जाने से 'इन्द्रपीतस्य' वाक्य का आनुकूल्य बना रहता है; तब ऐन्द्राग्न सोम के मन्त्रयुक्त भक्षण में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए ॥३९॥

सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

एकस्मिन् वा देवतान्तराद् विभागवत् ॥४०॥

[एकस्मिन्] अकेले इन्द्र से पिये गये सोम के भक्षण में [वा] ही 'इन्द्र-पीतस्य' मन्त्र लागू होता है। [देवतान्तरात्] क्योंकि इन्द्रदेवता इन्द्राग्नीदेवता से भिन्न है। इन्द्राग्नी इन्द्र नहीं है, [विभागवत्] पुरोडाश के विभाग के समान। जैसे 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' अग्निदेवतावाले पुरोडाश का चार विभाग करना, दो देवतावाले अग्नीषोमीय पुरोडाश में लागू नहीं होता; क्योंकि अग्नि देवता अग्नीषोमीय देवता नहीं है, ऐसे ही एकमात्र इन्द्र के द्वारा पिये गये सोम से भक्षण में प्रयुक्त 'इन्द्रपीतस्य' मन्त्र ऐन्द्राग्न सोम के भक्षण में लागू नहीं होगा, क्योंकि इन्द्राग्नी देवता इन्द्र नहीं है। इन्द्र भिन्न है, इन्द्राग्नी मिलित भिन्न है।

यह अर्थ 'आग्नेय' 'ऐन्द्राग्न' आदि पदों में प्रयुक्त तद्धित प्रत्यय के आधार पर अभिव्यक्त होता है। 'आग्नेय' में अग्नि पद से तद्धित प्रत्यय उसी अर्थ में होता है, जब अग्नि देवता को लक्ष्य कर हवि प्रदान किया जाता है। इसीलिए 'आग्नेय' पुरोडाश के चतुर्धाकरण का विधान 'अग्नीषोमीय' पुरोडाश में लागू नहीं होता; क्योंकि यह पुरोडाश 'अग्नि' देवता को लक्ष्य करके प्रदान नहीं किया जाता; प्रत्युत 'अग्नीषोम' देवता को लक्ष्य कर प्रदान किया जाता है। इसी प्रकार 'ऐन्द्र' और 'ऐन्द्राग्न' हवि के प्रदान में समझना चाहिए। 'इन्द्रपीतस्य' मन्त्र का विनियोग सोमभक्षण में वही होगा, जो ऐन्द्रहवि का शेष है। 'ऐन्द्राग्न' हवि का प्रदान इन्द्र को लक्ष्य कर नहीं किया जाता, प्रत्युत इन्द्राग्नी को लक्ष्य कर किया जाता है। अतः ऐन्द्राग्न सोमभक्षण में 'इन्द्रपीतस्य' मन्त्र का विनियोग न होने से यह अमन्त्रक ही होगा।

यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि 'इन्द्राग्नी' देवता हैं क्या? अधिभूत पक्ष में आहवनीय अग्नि 'अग्नि' देवता है, और सूर्य 'इन्द्र' देवता है। हवि-प्रदान प्रथम आहवनीय अग्नि में होता है; अनन्तर उसका पान किरणों द्वारा सूर्य करता है। ऐसी स्थिति में यह विभाजन सर्वथा अशक्य है कि हवि में अमुक अंश अग्नि का और अमुक अंश इन्द्र का है। यद्यपि ऐन्द्रहवि का प्रदान भी आहवनीय

अग्नि के माध्यम से ही इन्द्र को दिया जाता है, तथापि वहाँ साक्षात् उद्दिष्ट देवता इन्द्र है, इसलिए 'इन्द्रपीतस्य' का विनियोग वहीं उपपन्न हो सकता है। अध्यात्म-पक्ष में अग्नि परमात्मा और इन्द्र जीवात्मा समझना चाहिए। प्रत्यक्ष हवि-प्रदानों से ऐश्वरीय ऋत द्वारा जीवात्मवर्ग को अदृश्य जीवनीय शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। यही इसका रहस्य है ॥४०॥ (इति ऐन्द्राग्नभक्षस्यामन्त्रकताऽधिकरणम्—१८)।

(गायत्रछन्दस इत्यादिमन्त्राणामनेकछन्दस्के विनियोगाऽधिकरणम्—१९)

शिष्य जिज्ञासा करता है—'इन्द्रपीतस्य' के साथ 'गायत्रच्छन्दसः' पद पठित है, जो उस पद का विशेषण है। तात्पर्य है—इन्द्र के उद्देश्य से दी जानेवाली सोमहवि गायत्री छन्दवाले मन्त्रों के उच्चारण के साथ दी जाती है। यहाँ सन्देह है—क्या केवल गायत्री-मन्त्रों के उच्चारण के साथ दी जानेवाली ऐन्द्र सोमहवि के शेषभक्षण में ही 'इन्द्रपीतस्य' मन्त्र का विनियोग होना चाहिए? अथवा अन्य छन्दोंवाले मन्त्रों के साथ दी जानेवाली सोमहवि के शेषभक्षण में भी 'इन्द्रपीतस्य' मन्त्र का विनियोग होगा? प्रतीत होता है, 'गायत्रच्छन्दसः' पद के 'इन्द्रपीतस्य' पद का विशेषण होने के कारण केवल गायत्रीच्छन्दवाले मन्त्रों के साथ दी जानेवाली सोमहवि के शेषभक्षण में ही 'इन्द्रपीतस्य' का विनियोग होना चाहिए, अन्यत्र नहीं। शिष्य के सुझाव को सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

छन्दश्च देवतावत् ॥४१॥

[छन्दः] छन्द [च] भी [देवतावत्] देवता के समान समझना चाहिए। तात्पर्य है, जैसे 'इन्द्रपीतस्य' में केवल इन्द्र का ग्रहण होता है, ऐसे ही 'गायत्रच्छन्दसः' में केवल गायत्री छन्द का ग्रहण होना चाहिए, अन्य छन्दों का नहीं।

पूर्व-निर्णय के अनुसार जैसे अन्य देवता के साथ पठित इन्द्र के सम्बन्ध में 'इन्द्रपीतस्य' मन्त्र का विनियोग नहीं होता, वैसे ही अन्य छन्दवाले सोम में 'गायत्रच्छन्दसः' मन्त्र का प्रयोग नहीं होना चाहिए ॥४१॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

सर्वेषु वाऽभावादेकच्छन्दसः ॥४२॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है, अन्य छन्दवाले सोम में 'गायत्रच्छन्दसः' मन्त्र का विनियोग न मानना, युक्त नहीं है।

[एकच्छन्दसः] केवल एक गायत्री छन्दवाले सोम-प्रदान के [अभावात्] अभाव होने से। अतः [सर्वेषु] अन्य सब छन्दोंवाले मन्त्रों के सहित गायत्री छन्दवाले सोम के प्रदान में 'गायत्रच्छन्दसः' विनियुक्त होता है।

सोमहवि-प्रदान के मन्त्र केवल गायत्री छन्द में हों, ऐसी बात नहीं है। जिन मन्त्रों के उच्चारण के साथ किसी भी देवता के उद्देश्य से सोमहवि आहवनीय अग्नि में आहुत किया जाता है, वे मन्त्र गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती आदि अनेक छन्दों में उपलब्ध हैं। इसलिए यहाँ गायत्री पद उन सभी छन्दों का उपलक्षण हैं, जिन छन्दोंवाले मन्त्रों के उच्चारण के साथ सोमहवि का प्रदान किया जाता है। फलतः इसका विनियोग गायत्री से इतर छन्दों में भी मानना चाहिए ॥४२॥

२७ से ४२ सूत्र तक के (११–१६) अधिकरणों में ऊहापोहपूर्वक सोमहवि-शेष के भक्षण के विषय में निर्णय किया गया कि ऐन्द्र सोम का भक्षण समन्त्रक तथा अन्य मित्रावरुण आदि देवताओं के हुतशेष-सोम का भक्षण अमन्त्रक होना चाहिए। पर अब प्रकरण का उपसंहार करते हुए आचार्य सूत्रकार ने ऐतिशायन पूर्वाचार्य के सुझाव को स्वीकार कर प्रकरणान्त सूत्र से बताया कि सभी देवताओं के हुतशेष का भक्षण समन्त्रक होना चाहिए। सूत्र कहा—

सर्वेषां वैकमन्त्र्यमैतिशायनस्य भक्तिपानत्वात् सवना-धिकारो हि ॥४३॥

[वा] सूत्र का 'वा' पद इस कथन की निवृत्ति के लिए है कि अनैन्द्र सोम-हविशेष का भक्षण अमन्त्रक होता है। [ऐतिशायनस्य] ऐतिशायन आचार्य का सुझाव—जो सूत्रकार को अभिमत है—के अनुसार [सर्वेषाम्] ऐन्द्र और अनैन्द्र सभी सोमहवि-शेषों का भक्षण [ऐकमन्त्र्यम्] एक मन्त्र वाला है। तात्पर्य है—'इन्द्रपीतस्य' एक मन्त्र का समस्त सोमहवि-शेषों के भक्षण में विनि-योग है। क्योंकि [भक्तिपानत्वात्] 'इन्द्रपीतस्य' मन्त्र में 'पीत' पद भक्ति= लक्षणावृत्ति से प्रयुक्त है। [हि]कारण है—[सवनाधिकारः] यह सवन=सोम-सम्बन्धी अधिकार=प्रकरण है। तात्पर्य है—'इन्द्रेण पीतः सोमः' इस तत्पुरुष समास के आधार पर 'इन्द्रपीतस्य' का वाच्य सोम नहीं है; प्रत्युत 'इन्द्रेण पीतः सोमो यस्मिन् सवने' इस बहुव्रीहि समास के आधार पर पूरा सोमाभिषव-प्रकरण (तीनों सवन) उक्त पद का वाच्य है।

२७–२६ तीन सूत्रों में पक्ष-प्रतिपक्ष निर्देशपूर्वक जो यह निर्णय लिया गया कि ऐन्द्र सोमभक्षण समन्त्रक तथा अनैन्द्र सोमभक्षण अमन्त्रक होना चाहिए, प्रस्तुत सूत्र द्वारा उसका प्रतिवाद किया गया है। इन्द्रपीत पद सोम का वाचक न होकर लक्षणावृत्ति से समस्त सवन-प्रकरण का वाचक है। प्रकरण में इन्द्र के साथ

ही अन्य देवता पठित हैं, तथा सबके हुतशेष-भक्षण में उसी एक मन्त्र का विनियोग है। वस्तुतः 'इन्द्रपीत' पद का 'इन्द्र से पिया गया सोम' यह अर्थ यहाँ सम्भव ही नहीं है। जो सोम इन्द्र को तथा अन्य देवताओं को दिया गया, तथा उनके द्वारा पिया गया, वह सोम अब है कहाँ ? उसे तो देवता चट कर गये; उसके भक्षण की बात करना सर्वथा व्यर्थ है। जिस सोम के भक्षण की चर्चा की जा रही है, वह सभी देवताओं का हुतशेष है, जो प्रत्यक्ष विद्यमान है। यह न किसी देवता को दिया गया, और न किसी के द्वारा पिया गया। इसलिए सब ऐन्द्र-अनैन्द्र हुत-शेष-भक्षण में उसी एक मन्त्र का विनियोग निर्बाध होने से समस्त भक्षण समन्त्रक हैं। इन्द्र तथा इन्द्रभिन्न देवताओं से पीत और अपीत सब सोम 'इन्द्रपीत' पद द्वारा लक्षणावृत्ति से कहा गया है, क्योंकि यह सब सवन के अन्तर्गत है। इसमें कोई असामञ्जस्य नहीं है।

विनियुक्त मन्त्र का अपेक्षित भाग तैत्तिरीय संहिता [३।२।५] में इस प्रकार पठित है—

वसुमद्गणस्य सोम देव ते मतिविदः प्रातःसवनस्य गायत्रच्छन्दस इन्द्रपीतस्य नराशंसपीतस्य पितृपीतस्य मधुमत उपहूतस्योपहूतो भक्षयामि ।

ऐतिशायन आचार्य का कथन सूत्रकार को अभिमत है। पूर्वाचार्य की स्तुत्यर्थ नाम का निर्देश किया गया ॥४३॥ (इति एकादशाधिकरणोक्तस्योप-संहारः)।

इति जैमिनीय मीमांसादर्शनविद्योदयभाष्ये
तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

अथ तृतीयाध्याये तृतीयः पादः

(उच्चैस्त्वादीनां वेदधर्मताऽधिकरणम्—१)

गत द्वितीय पाद में विवादास्पद विधियों का निर्णय लिङ्ग के आधार पर किया गया। अब प्रस्तुत पाद में सन्दिग्ध विधियों का वाक्य के आधार पर निर्णय किया जायगा। यहाँ ज्योतिष्टोम प्रसंग में पठित वाक्य विचारणीय है—'उच्चैर्ऋचा क्रियते, उच्चैः साम्ना, उपांशु यजुषा' इति। ऋक् से ऊँचे स्वर में कर्म किया जाता है, साम से ऊँचे स्वर में, यजुः से उपांशु=धीरे से बोलकर। उपांशु उच्चारण वह होता है, जहाँ समीप बैठा व्यक्ति भी ठीक तरह सुन न सके। यहाँ सन्देह है—क्या ये ऋक् आदि पद ऋक्त्व आदि जाति के बोधक हैं? अथवा ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद ग्रन्थों के? सूत्रकार ने ऋक्-यजुः-साम के लक्षण प्रथम [२।१।३५, ३७, ३६] बता दिये हैं। उसके अनुसार जो ऋक् हैं, उनमें 'ऋक्त्व' जाति, यजुः में 'यजुष्ट्व' और साम में 'सामत्व' जाति रहती है; उनमें से कोई मन्त्र चाहे किसी भी वेद में पठित हो, वह अपनी जाति से सम्बद्ध होगा। शिष्य-जिज्ञासा है—क्या उच्चैस्त्व आदि धर्म ऋक्त्व आदि जाति के आधार पर कहे गये हैं? अथवा ऋग्वेद आदि ग्रन्थों के आधार पर? प्रतीत होता है, यह कथन ऋक्त्व आदि जाति के आधार पर हैं; क्योंकि वाक्य में ऋक्, साम, यजुः पदों का स्पष्ट श्रवण है। वेद का संकेत करनेवाला कोई पद यहाँ नहीं है।

शिष्य-सुझाव को सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात् ॥१॥

[श्रुतेः] 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' आदि वाक्यों में 'ऋक्' आदि के स्पष्ट श्रवण से [जाताधिकारः] जाति का अधिकार [स्यात्] जाना जाता है।

सूत्र में 'जात' पद भाव-अर्थ में 'क्त' प्रत्ययान्त है। भाव-अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्ययान्त 'जाति' पद का पर्याय है। सूत्रकार द्वारा बताये गये 'ऋक्' आदि के लक्षणों के अनुसार उक्त वाक्यों (—उच्चैर्ऋचा क्रियते आदि) में 'ऋक्' आदि पद उस समस्त मन्त्रवर्ग के लिए प्रयुक्त हैं, जो उन लक्षणों से युक्त हैं। यदि

ऋग्वेद में पठित कोई मन्त्र यजुर्वेद में पढ़े गये हैं, तो उनका उच्चारण ऋक् के अनुसार ऊँचे स्वर से होगा; यजुर्वेद के अनुसार उपांशु नहीं। यदि ऐसा नहीं माना जाता, तो ऋचा में दोनों [उच्चैस्त्व, उपांशुत्व] धर्मों का विकल्प मानना होगा। इससे पक्ष में एक धर्म बाधित होगा। एक मन्त्र ऋग्वेद और यजुर्वेद दोनों जगह पठित है। जब ऋग्वेद में पठित मन्त्र का ऊँचे स्वर से उच्चारण होगा, तो वहाँ उपांशुत्व धर्म की बाधा होगी। जब वही मन्त्र यजुर्वेद में उपांशु पढ़ा जायगा, तो उच्चैस्त्व धर्म की बाधा होगी। इसलिए उक्त वाक्यों में ऋक् आदि पद ऋग्वेद आदि के बोधक नहीं माने जाने चाहिएँ।

इसके अतिरिक्त यह भी आपत्तिजनक होगा कि दर्श-पूर्णमास आदि यागों के जितने विधिवाक्य हैं, वे सब यजुर्वेद में हैं। तब समस्त दर्श-पूर्णमास आदि यागों में उपांशुत्व धर्म प्राप्त होगा, जो किसी प्रकार भी अभीष्ट नहीं है। अतः श्रवण-सामर्थ्य से उच्चैस्त्व, उपांशुत्व आदि धर्म ऋक्त्व आदि जाति के साथ सम्बद्ध हैं; यह स्पष्ट होता है। ऋग्वेद आदि का अभिव्यंजक कोई पद यहाँ नहीं है ॥१॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त जिज्ञासा का समाधान किया—

वेदो वा प्रायदर्शनात् ॥२॥

[वा] 'वा' पद पूर्वोक्त की निवृत्ति का बोधक है। तात्पर्य है, उक्त वाक्यों में ऋक् आदि पद जाति के बोधक नहीं हैं; प्रत्युत [वेदः] उक्त पदों से ऋग्वेद आदि जाना जाता है, [प्रायदर्शनात्] उक्त वाक्यों के प्रारम्भिक प्रसंग में वेद पद के देखे जाने से। तात्पर्य है, उस प्रसंग के उपक्रम में ऋग्वेद आदि पद सुने जाने से उपसंहार में भी ऋक् आदि पद ऋग्वेद आदि के बोधक हैं, यह समझना चाहिए।

'प्रायदर्शनात्' पद में 'प्राय' पद 'प्र'-उपसर्गपूर्वक 'इण्' धातु से भाव-अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय होकर सिद्ध होता है। 'प्र' उपसर्ग के योग से यह पद प्रारम्भ= उपक्रम का वाचक है। जिस प्रसंग में 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' आदि वाक्य कहे हैं, उसके प्रारम्भिक भाग में कहा गया है—

"प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्। स तपोऽतप्यत। तस्मात् तपस्तेपानात् त्रयो देवा असृज्यन्त। अग्निर्वायुरादित्यः। ते तपोऽतप्यन्त। तेभ्यस्तेपानेभ्यस्त्रयो वेदा असृज्यन्त। अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः आदित्यात् सामवेदः।"

—सर्गरचना से पूर्व यह अकेला प्रजापति था। तप तपते हुए उस प्रजापति ने तीन देवों की सृष्टि की—अग्नि, वायु और आदित्य। उन देवों ने तप तपा। तप तपते हुए उन देवों से तीन वेद प्रादुर्भूत हुए—अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और आदित्य से सामवेद।

प्रसंग के प्रारम्भ में स्पष्ट ऋग्वेद आदि का उल्लेख होने से उसके उपसंहार-

भाग—'उच्चैर्ऋचा क्रियते' आदि वाक्यों में 'ऋक्, यजुः, साम' पद ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद के वाचक हैं, यह स्पष्ट जाना जाता है। मन्त्रों की 'ऋक्' आदि संज्ञाएँ उनकी रचना के आधार पर हैं। छन्दोरूप ऋक् हैं, गीतिरूप साम, इन दोनों से भिन्न गद्यरूप रचना यजुः हैं। रचना के आधार पर ऋक् आदि का अपना एक वर्ग है, अपनी जाति है। प्रस्तुत प्रसंग में ऋक् आदि पद स्ववर्ग अथवा जाति के वाचक न होकर ऋग्वेद आदि नाम से समुदित ग्रन्थविशेष का निर्देश करते हैं। इससे प्रकरण उपकृत होता है, तथा ऋक् आदि का अभिधा-मूलक अर्थ स्वीकार किये जाने से लक्षणा का आश्रय नहीं लेना पड़ता। यदि इसको स्वीकार नहीं किया जाता, तो प्रकृत में 'ऋक्' आदि पदों का अन्य कोई अर्थ संगत न होने से यह कथन निरर्थक होगा, जो किसी प्रकार अभीष्ट नहीं। अतः यहाँ वेद का अधिकार जानना युक्त है ॥२॥

उक्त प्रसंग में ऋक् आदि पद ऋग्वेद आदि के वाचक हैं, इसमें अन्य हेतु सूत्रकार ने बताया—

लिङ्गाच्च ॥३॥

[लिंगात्] लिंग से [च] भी जाना जाता है कि उक्त प्रसंग में 'ऋक्' आदि पद ऋग्वेद आदि को कहते हैं।

उक्त अर्थ की पुष्टि में लिङ्ग अर्थात् अन्य उपोद्बलक हेतु भी है। वैदिक वाङ्मय में कहा है—'ऋग्भिः[1] प्रातर्दिवि देव ईयते यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्ये अह्नः। सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः'—सूर्य प्रातःकाल द्युलोक में ऋचाओं से गति करता है, मध्याह्न में यजुर्वेद से ठहरता है, अस्त होते हुए सायंकाल में सामवेद से पूजित होता है। इस प्रकार तीन वेदों के अस्तित्व के साथ सूर्य गति करता है। मन्त्र के पहले पाद में ऋक् और दूसरे-तीसरे पाद में दो वेदों का उल्लेख करके चौथे पाद में बहुवचन के साथ उपसंहार किया है—'वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः', इससे स्पष्ट होता है कि मन्त्र में 'ऋक्' पद ऋग्वेद के लिए प्रयुक्त माना गया है। इसलिए 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' आदि में भी 'ऋक्' आदि पद ऋग्वेद आदि के वाचक हैं, यह स्वीकार्य होना चाहिए ॥३॥

सूत्रकार ने उक्त अर्थ की पुष्टि में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

---

१. तुलना करें—तै० ब्रा० ३।१२।९॥ **'ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते। यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्ये अह्नः। सामवेदेनाऽस्तमये महीयते वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः।'**

धर्मोपदेशाच्च न हि द्रव्येण सम्बन्धः ॥४॥

[धर्मोपदेशात्] साम के उच्चैस्त्व धर्म के उपदेश से [च] भी 'ऋक्' आदि पद वेद के वाचक हैं, यह ज्ञात होता है। अन्यथा साम के ऋचाओं पर आधारित होने के कारण उसका उच्चैस्त्व स्वतःसिद्ध था, फिर [द्रव्येण] द्रव्य = साम के साथ उच्चैस्त्व धर्म के [सम्बन्धः] सम्बन्ध का विधान [नहि] नहीं करना चाहिए था; पर किया है, इससे ज्ञात होता है, उच्चैस्त्व आदि धर्म मन्त्र के न होकर वेद के हैं।

साम गीतिरूप हैं, और वह गान ऋचाओं पर गाया जाता है। आचार्यों ने कहा है—'ऋचि अध्यूढं साम'—साम ऋचा पर आधारित रहता है। तात्पर्य है, कोई ऋचा (= मन्त्र) ही सामरूप में गाया जाता है। यदि 'ऋक्' आदि पद मन्त्र के वाचक होते और उच्चैस्त्व आदि धर्म मन्त्र के माने जाते, तो ऋक्-मन्त्र का उच्चैस्त्व धर्म 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' से सिद्ध था; वही ऋक्-मन्त्र सामरूप में गाये जाने से उसके उच्चैस्त्व धर्म का 'उच्चैः साम्ना' यह पृथक् विधान करना अनावश्यक था। इससे स्पष्ट होता है, उच्चैस्त्व आदि धर्म वेद के हैं, और 'ऋक्' आदि पद वेद के वाचक हैं ॥४॥

उक्त अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

त्रयीविद्याख्या च तद्विदि ॥५॥

[च] और [त्रयीविद्याख्या] तीन विद्याओं के जाननेवाले के लिए 'त्रयी-विद्य' इस नाम की प्रवृत्ति [तद्विदि] तीन वेदों के जाननेवाले में होने के कारण ऋक् आदि पद वेद के वाचक हैं।

ऋक्, यजुः, साम तीनों वेदों को पढने-जाननेवाला व्यक्ति त्रयीविद्य कहा जाता है। यह 'त्रयीविद्य' संज्ञा तभी उपयुक्त हो सकती है, जब ऋक्, यजुः, साम पदों से तीन वेदों का ग्रहण किया जाय। 'त्रयी' पद तीन वेदों के लिए प्रसिद्ध है। इसलिए ऋक् आदि पद वेद के वाचक हैं, मन्त्र के नहीं। अतः 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' आदि वाक्यों में ऋक् आदि पद वेद के वाचक होने से उच्चैस्त्व आदि धर्म वेद के हैं, मन्त्र के नहीं, यह स्पष्ट होता है ॥५॥

शिष्य आशंका करता है—यदि उच्चैस्त्व आदि धर्म वेद के माने जाते हैं, तो जो ऋचा यजुर्वेद में पठित हैं, उनका उच्चैस्त्व धर्म बाधित होगा, क्योंकि यजुर्वेद का उपांशुत्व धर्म श्रुत है। आचार्य ने शिष्य-आशंका को सूत्रित किया—

व्यतिक्रमे यथाश्रुतीति चेत् ॥६॥

[व्यतिक्रमे] व्यतिक्रम अर्थात् उक्त अर्थ के उलट होने पर—तात्पर्य है, ऋक्

आदि पदों को वेदवाचक न मानकर ऋक्-वर्गविशेष का वाचक मानने पर [यथाश्रुतिः] उक्त वाक्यों में ऋक् आदि का जो उच्चैस्त्व आदि धर्म श्रुत है, वह उसी प्रकार यथावत् बना रहता है [इति चेत्] ऐसा यदि कहा जाय (तो वह ठीक नहीं, यह अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध) है।

प्रकरण के प्रथम सूत्र की व्याख्या में ऋक् आदि पदों के वर्गवाची अथवा ऋक्त्व-जातिपरक होने में यह उपपत्ति प्रस्तुत की है कि ऋक् आदि पदों को जातिपरक मानने पर उक्त वाक्यों में कहे गये ऋक् आदि के उच्चैस्त्व आदि धर्मों की बाधा नहीं होती, वे यथाश्रुत बने रहते हैं। यदि ऐसा न मानकर ऋक् आदि पदों को वेदवाचक मानते हैं, तो ऋग्वेद की जो ऋचा यजुर्वेद में पठित हैं, वहाँ उपांशुत्व धर्म माने जाने से उनके उच्चैस्त्व धर्म की बाधा होगी। वे ही ऋचा जब ऋग्वेद में पढ़ी जायेंगी, तो यजुर्वेदीय उनके उपांशुत्व धर्म की बाधा होगी। उन ऋचाओं को दो धर्मवाली माना जायगा--ऋग्वेद में उच्चैस्त्व धर्म, यजुर्वेद में उपांशुत्व; यह स्थिति दोषावह है।

इसके अतिरिक्त अन्य आपत्ति है, दर्श-पूर्णमास आदि यागों में सर्वात्मना उपांशुत्व धर्म की प्रवृत्ति होना। क्योंकि इन यागों के विधायक वाक्य यजुर्वेद में हैं, अतः सब यज्ञों के यजुर्वेदान्तर्गत होने से पूरे दर्श-पूर्णमास आदि यागों में उपांशुत्व धर्म की प्रवृत्ति होगी, जो अभीष्ट नहीं है। इसलिए उक्त वाक्यों में ऋक् आदि पदों को वेदवाचक न मानकर ऋग्वर्गीय मन्त्र का वाचक मानना उपयुक्त होगा। इससे 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' आदि श्रुति भी उपकृत होगी। 'ऋक्' आदि पदों के वेदवाचक होने में अन्य हेतुओं के उपस्थित किये जाने पर भी इस आशंका का समाधान नहीं किया गया। शिष्य द्वारा प्रस्तुत करने पर आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

न सर्वस्मिन्निवेशात् ॥७॥

[सर्वस्मिन्] सम्पूर्ण ऋग्वेद में उच्चैस्त्व, सम्पूर्ण यजुर्वेद में उपांशुत्व तथा सम्पूर्ण सामवेद में उच्चैस्त्व धर्म के [निवेशात्] निवेश = व्यापक होने से उक्त आशंका का अवकाश [न] नहीं है, प्रस्तुत प्रसंग में।

उक्त वाक्यों के 'ऋक्' आदि पदों को वेदवाचक मानने में आशंकारूप से जो दोष उपस्थित किया गया है, यह युक्त नहीं है। क्योंकि उक्त वाक्यों से सम्पूर्ण ऋग्वेद आदि में अपने-अपने उच्चैस्त्व आदि धर्मों का विधान स्वीकार किया गया है, किसी अंश का नहीं। यदि कोई ऋचा ऋग्वेद से स्थानान्तरित होकर यजुर्वेद में पढ़ी जाती है, तो यजुर्वेद के अन्तर्गत होने से उसका धर्म उपांशुत्व है। उच्चैस्त्व धर्म सम्पूर्ण ऋग्वेद का केवल ऋचा का धर्म नहीं है। इससे सम्पूर्ण किसी भी वेद का दो धर्मों से सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। एक ऋचा का भी दो धर्मों से

सम्बन्ध नहीं, क्योंकि जो ऋचा जिस वेद में पठित है, उसका केवल वही एक धर्म है, जो उस वेद का विहित है। इसका फलितार्थ यही होता है कि जिन कतिपय ऋचाओं को स्थानान्तरित हुईं कहा जाता है, वस्तुतः अपने रूप में वे भिन्न हैं, यद्यपि उनकी आकृति व आनुपूर्वी समान होती है। इसलिए किसी पर भी दो धर्मों से युक्त होने का दोष आपादित नहीं होता ॥७॥

प्रकरण का उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने बताया—

वेदसंयोगान्न प्रकरणेन बाध्येत ॥८॥

[वेदसंयोत्] उच्चैस्त्व आदि धर्मों का वेद के साथ सम्बन्ध होने के कारण [प्रकरणेन] प्रकरण से [न] नहीं [बाध्येत] बाधा होगी, उच्चैस्त्व आदि धर्म की।

प्रथम जो यह कहा गया है कि उच्चैस्त्व आदि को मन्त्र का धर्म मानने पर 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' आदि प्रकरण अनुगृहीत होगा; और ऐसा न मानने पर अथवा ऋक् आदि पदों को ऋग्वेद आदि का वाचक मानने पर जो यह दोष बताया गया कि कतिपय ऋचा ऋग्वेद से स्थानान्तरित होकर यजुर्वेद में पठित हैं, उनका उच्चैस्त्व धर्म बाधित होगा, और उनका उपांशुत्व धर्म ऋग्वेद में बाधित होगा, ये दोनों कथन युक्त एवं साधार नहीं हैं। कारण यह है कि उच्चैस्त्व आदि को वेद का धर्म मानने पर यदि प्रकरण अनुगृहीत नहीं होता, तो यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि प्रकरण की अपेक्षा वाक्य के बलवान् होने से वाक्य द्वारा प्रकरण बाधित हो सकता है। दूसरा—स्थानान्तरित ऋचाओं के 'उच्चैस्त्व' आदि धर्मों की स्थानान्तर में बाधा का कथन भी निराधार है। इसका उल्लेख गत सूत्र की व्याख्या में कर दिया गया है। फलतः 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' आदि वाक्यों में 'ऋक्' आदि पद ऋग्वेद आदि के वाचक हैं, यह उपपन्न होता है ॥८॥ (इति उच्चैस्त्वादीनां वेदधर्मताधिकरणम्—१)

(आधाने गानस्योपांशुताधिकरणम्—२)

यजुर्वेद [३।५] में कहा—'अग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे' अन्नाद्य के लिए अन्नाद अग्नि का आधान करे। इसके अनुसार 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः; शरदि वैश्यः' वसन्त ऋतु में ब्राह्मण, ग्रीष्म में क्षत्रिय, शरद् में वैश्य अग्नियों का आधान करे; तथा इसी प्रकार 'य एवं विद्वान् अग्निमाधत्ते' [मै०सं० १।६।३, १३] जो इस प्रकार जानता हुआ अग्नि का आधान करता है, इत्यादि अग्न्याधान-कर्म का विधान यजुर्वेद में किया गया है। उस अग्न्याधान-कर्म में उसके अङ्गरूप से कतिपय सामगानों का विधान है—'य एवं विद्वान् वारवन्तीयं गायति' जो इस प्रकार विद्वान् वारवन्तीय नामक साम का गान करता

है, 'य एवं विद्वान् यज्ञायज्ञीयं गायति' जो इस प्रकार विद्वान् यज्ञायज्ञीय नामक साम का गान करता है, 'य एवं विद्वान् वामदेव्यं गायति' जो इस प्रकार विद्वान् वामदेव्य नामक साम का गान करता है। शिष्य जिज्ञासा करता है—इस विषय में सन्देह है—क्या अग्न्याधान-कर्म में सामगान उपांशु करना चाहिए? अथवा उच्चैः करना चाहिए? सामगान सामवेद से किया जाता है, जो वारवन्तीय आदि ऋचाओं में गाया जाता है। 'उच्चैः साम्ना' विधान के अनुसार अग्न्याधान में भी सामों का गान उच्चैः करना प्राप्त होता है।

आचार्य सूत्रकार ने बताया—

गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः ॥९॥

[गुणमुख्यव्यतिक्रमे] गौण और प्रधान कर्मों में किसी एक अवसर पर परस्पर विरोध होने पर [तदर्थत्वात्] गुणविधि के प्रधान-निमित्त होने के कारण [मुख्येन] मुख्य=प्रधान विधि के साथ [वेदसंयोगः] वेद का सम्बन्ध जानना चाहिए।

यहाँ प्रसंग में अग्न्याधान प्रधान कर्म है। वारवन्तीय आदि सामगान उसकी सम्पन्नता के लिए होने के कारण आधान के अङ्गरूप हैं, अर्थात् गौण कर्म हैं। यद्यपि 'उच्चैः साम्ना' विधान के अनुसार गौण रूप सामगान कर्म में 'उच्चैस्त्व' धर्म प्राप्त होता है, तथापि प्रधान कर्म अग्न्याधान यजुर्वेद द्वारा विहित होने के कारण आधान कर्म में सामगानरूप गौण कर्म के लिए यजुर्वेद-सम्बन्धी उपांशु-स्वर का ही उपयोग होगा।

प्रस्तुत प्रसंग में सन्देह का स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिए—गौण-प्रधान कर्मों में विरोध होने पर क्या गुणकर्म के अनुरोध से प्रधान कर्म के धर्म का परित्याग कर दिया जाय? अथवा प्रधान कर्म के अनुरोध से गौण कर्म के धर्म का परित्याग किया जाय? ऐसा संशय होने पर आचार्य ने निर्णय दिया है—गौण कर्म के धर्म का परित्याग करना ही न्याय्य है। साथ ही प्रधान कर्म के धर्म का संरक्षण करना उचित है। कारण यह है—प्रधान कर्म को सगुण-सम्पन्न बनाने के लिए व्यक्ति गौण कर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है; क्योंकि गुणकर्म प्रधानकर्म की पूर्ण साङ्ग-सम्पन्नता के लिए ही होता है। यदि गौण कर्म के अनुरोध से प्रधान कर्म के धर्म का परित्याग किया जाय, तो प्रधान कर्म अपूर्ण रह जायगा, तथा गौण कर्म का अनुष्ठान व्यर्थ हो जायगा। इससे समस्त कर्मानुष्ठान निष्फल रहेगा, क्योंकि सामवेद से किया जानेवाला सामगान गुणकर्म है; तथा यजुर्वेद-विहित अग्न्याधान प्रधान कर्म है; उसकी सिद्धि के लिए ही व्यक्ति गुणकर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होता है। ऐसी स्थिति में प्रधान कर्म अग्न्याधान के विधायक यजुर्वेद के 'उपांशुत्व' धर्म का संरक्षण सामवेद के 'उच्चैस्त्व' धर्म का परित्याग करने पर

सम्भव है। इसलिए प्रधान कर्म में निर्दिष्ट साम उपांशुस्वर में गाया जाना योग्य है।

सामगानों के नामकरण के अनेक आधार होते हैं। उनमें मुख्य दो हैं। एक—गेय ऋचा में किन्हीं पदविशेषों का होना; दूसरा—किसी के द्वारा उस गान का सर्वप्रथम प्रस्तुतीकरण। चालू प्रसंग में वारवन्तीय और यज्ञायज्ञीय गान प्रथम कोटि के हैं, तथा वामदेव्य गान द्वितीय कोटि का। पहले दो साम जिन ऋचाओं पर गाये जाते हैं, उनमें 'वारवन्त' और 'यज्ञायज्ञ' पदविशेष पठित हैं। तीसरे साम का नाम 'वामदेव' व्यक्तिविशेष के नाम के आधार पर है जिसने सर्वप्रथम उस गान को प्रस्तुत किया। इसी के अनुसार 'वासिष्ठ' 'वैश्वामित्र' आदि साम के नाम हैं, जिनका प्रस्तुतीकरण वसिष्ठ व विश्वामित्र के द्वारा हुआ ॥९॥ (इति आधाने गानस्योपांशुताऽधिकरणम्—२)।

(ज्योतिष्टोमस्य याजुर्वैदिकताधिकरणम्—३)

यजुर्वेद-सम्बन्धी वाङ्मय में ज्योतिष्टोम-विषयक वाक्य पढ़ा है—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'[1]—स्वर्ग की कामनावाला व्यक्ति ज्योतिष्टोम से यजन करे। सामवेद-सम्बन्धी वाङ्मय में भी इसका ऐसा ही पाठ उपलब्ध होता है।[2] दोनों वेदों में ज्योतिष्टोम का विधान होने से किसको प्रधान विधि और किसको अनुवाद माना जाय? यह सन्देह है। यदि यजुर्वेद-विहित को प्रधान माना जाय, तो उसका अनुष्ठान उपांशुस्वर से होगा। यदि सामवेद-विहित को प्रधान माना जाता है, तो अनुष्ठान उच्चैःस्वर से किया जायगा। सूत्रकार ने सन्देह का समाधान किया—

भूयस्त्वेनोभयश्रुति ॥१०॥

[उभयश्रुति] दो या अधिक वेदों में सुना जानेवाला कर्म [भूयस्त्वेन] बहुत गुणोंवाला होने से प्रधान विधि माना जाता है। तात्पर्य है—जिस कर्म के गुणों का जिस वेद में अधिकता से विधान है, वह प्रधान क्रिया का विधायक जानना चाहिए, अन्यत्र का श्रवण उसका अनुवाद होगा।

'उभयश्रुति' पद में बहुव्रीहि समास है—'उभयथा श्रुतिः श्रवणं यस्य कर्मणः तत्कर्म उभयश्रुति'—अधिक व न्यून गुणवाले दोनों प्रकार से जिस कर्म का श्रवण विभिन्न वेदों में पाया जाता है, वह कर्म उभयश्रुति है। 'उभय' सभी वेदों का उपलक्षण है। यदि कोई कर्म तीनों वेदों में विहित पाया जाता है, तो उसका निर्णय

---

१. द्रष्टव्य—स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत। आप० श्रौ० १०।२।१॥

२. द्रष्टव्य—ताण्डच ब्रा०, १६।१।१-२॥

भी इसी हेतु (भूयस्त्व) के अनुसार कर लेना चाहिए।

अनेक वेदों में विहित कर्म की प्रधानता के लिए उसके अनुष्ठान-प्रकारों का अधिकाधिक वर्णन ही आधार होता है। अनुष्ठान के प्रकारों का नाम इतिकर्तव्यता है। जहाँ केवल कर्म का विधान है, वहाँ इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा रहती है; उसकी पूर्त्ति जिस वेद के सहयोग से हो, वहाँ के विधान को अनुष्ठान के लिए प्रधान माना जायगा। ज्योतिष्टोम का सर्वाङ्गपूर्ण इतिकर्त्तव्यतायुक्त विधान यजुर्वेद में पाया जाता है, इसलिए उसका अनुष्ठान उपांशु स्वर से होना चाहिए।

यद्यपि सूत्र के शाबर भाष्यानुसार ज्योतिष्टोम-अनुष्ठान उपांशु स्वर के साथ हो —यह निर्णय दिया गया, परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं है। ज्योतिष्टोम याग में तीनों वेदों के मन्त्रों का अपने निर्धारित स्वर के साथ प्रयोग होता है। इसलिए कतिपय व्याख्याकारों ने सूत्रार्थ भिन्न प्रकार किया है। (इति ज्योतिष्टोमस्य याजुर्वेदिकताधिकरणम्—३)

(प्रकरणस्य विनियोजकताऽधिकरणम्—४)

सन्दिग्ध वाक्यों के विनियोग-निर्णय में कारण श्रुति, लिङ्ग और वाक्य का उपयुक्त प्रसंगों[1] में वर्णन कर दिया गया है। क्या विनियोग के इतने ही कारण हैं ? या अन्य भी ? प्रस्तुत अधिकरण का प्रारम्भ इस प्रश्न से ही होता है। लोक में किसी कार्य का उपक्रम प्रायः प्रश्न से होता देखा जाता है—इस नदी का क्या नाम है ? यह पर्वत किस नामवाला है ? यह फल क्या है ? इत्यादि। पूर्वोक्त तीन विनियोग-कारणों के अतिरिक्त भी कारण हैं, सूत्रकार ने बताया—

असंयुक्तं प्रकरणाद् इतिकर्त्तव्यतार्थित्वात ॥११॥

[असंयुक्तम्] श्रुति, लिङ्ग, वाक्य से जो असम्बद्ध है, वह कर्म [इतिकर्त्तव्यतार्थित्वात्] इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा रखनेवाला होने के कारण [प्रकरणात्] प्रकरण से सम्बद्ध होता है।

जिस कर्म का विनियोग श्रुति, लिङ्ग, वाक्य के आधार पर नहीं होता, तथा इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा रखनेवाला है, उसका विनियोग प्रकरण के आधार पर होता है।

दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पाँच प्रयाज पठित हैं—'समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति' प्रकरण-सामर्थ्य से दर्श-पूर्णमास

---

१. द्रष्टव्य—श्रुति की विनियोग-कारणता (मी० ३।२।३-४) में, लिङ्ग की कारणता (मी० ३।२।१—२; अधि० १) में; वाक्य की विनियोगकारणता (मी० ३।१।१२; अधि० ६) में बताई गई है।

में इनका विनियोग होता है, ज्योतिष्टोम अथवा अग्निहोत्र आदि में नहीं। दर्श-पूर्णमास को अपनी पूर्णता व सम्पन्नता के लिए इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा है, अर्थात् किस-किस कर्म को करने से दर्श-पूर्णमास सम्पन्न होते हैं। दूसरी ओर प्रयाजसंज्ञक यागों को आकांक्षा है कि हमारा क्या प्रयोजन है ? हमें कहाँ प्रयुक्त होना चाहिए ? इस प्रकार परस्पर आकांक्षा होने पर प्रकरणरूप प्रमाण से समिद् आदि प्रयाजों का दर्श-पूर्णमास के साथ सम्बन्ध होता है ॥११॥ (इति प्रकरणस्य विनियोजकताऽधिकरणम्—४)।

(क्रमस्य विनियोजकताऽधिकरणम्—५)

पुनः प्रश्न होता है, क्या इतने ही विनियोग के कारण हैं ? नहीं; अन्य भी कारण हैं।

सूत्रकार ने बताया—

क्रमश्च देशसामान्यात् ॥१२॥

[देशसामान्यात्] देश की समानता से [क्रमः] क्रम [च] भी वाक्य के विनियोग का कारण होता है।

आनुपूर्वी से कहे गये क्रमवालों में जिस पर्याय से जिस धर्म का कथन होता है, उसकी आकांक्षा उसी पर्याय के धर्मी के साथ जानी जाती है। आकांक्षा होने पर उनकी परस्पर एकवाक्यता होती है। तात्पर्य है—क्रमानुसार वे एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध होते हैं। यह क्रम उनके सम्बन्ध = विनियोग का प्रयोजक होता है।

इसको स्पष्ट करने के लिए लौकिक उदाहरण है—निदेशक ने कहा—चैत्र, मैत्र और श्याम दिल्ली, मथुरा और आगरा जायेंगे। यहाँ चैत्र आदि धर्मी जैसे एक क्रम से कहे गए हैं, वैसे ही दिल्ली जाना आदि धर्म का एक क्रम से कथन है। अब प्रश्न होता है, कौन दिल्ली जायगा ? कौन आगरा ? क्रम इसका विनियोजन करता है। चैत्र दिल्ली जायगा, मैत्र मथुरा और श्याम आगरा।

प्रस्तुत प्रसंग में शास्त्रीय उदाहरण है—आनुपूर्वीवाले यागों में अनुमन्त्रण-मन्त्रों का पाठ। यह प्रसंग दर्श-पूर्णमास में आता है। दर्श-पूर्णमास में असोमयाजी (जो सोमयाग का उपक्रम न कर दर्श-पूर्णमास के अनुष्ठान में प्रवृत्त हुआ हो, उस-) के प्रधान यागों का क्रम इस प्रकार है : पूर्णमास में—आग्नेय, उपांशुयाज, अग्नीषोमीय; दर्श में—आग्नेय, उपांशुयाज, ऐन्द्राग्न। प्रत्येक याग के होम के अनन्तर यजमान उस-उस देवता से आशीः चाहता है; उसके मन्त्रों को 'अनुमन्त्रण' कहते हैं। दर्श-पूर्णमास के प्रधान याग के अनुमन्त्रण-मन्त्र हैं—पूर्णमास में 'अग्नेरन्नादो०, दब्धिर्नामासि०. अग्नीषोमौ वृत्रहणौ'। दर्श में 'अग्नेरन्नादो०, दब्धिर्नामासि, इन्द्राग्न्योरहं०'। क्रमानुसार प्रथम और तृतीय संख्या पर निर्दिष्ट

मन्त्रों में देवता-निर्देशरूप लिङ्ग से यह निश्चित हो जाता है कि इन मन्त्रों का विनियोग आग्नेय, अग्नीषोमीय और ऐन्द्राग्न यागों में होना चाहिए। परन्तु 'दब्धिर्नामासि' मन्त्र में देवतानिर्देश आदि कोई लिङ्ग न होने से यह सन्देह होता है कि इसका विनियोग उपांशुयाज में होता है ? या नहीं ? सन्देह का निवारण सूत्रकार ने क्रम के आधार पर किया है। मन्त्रपाठ की आनुपूर्वी में 'दब्धिर्नामासि०' मन्त्र 'अग्नेरन्नादो०' के अनन्तर पढ़ा है। यागों की आनुपूर्वी में आग्नेय याग के अनन्तर उपांशुयाज निर्दिष्ट है। इस क्रम के बल पर 'दब्धिर्नामासि०' मन्त्र का विनियोग उपांशुयाज याग में निर्धारित होता है।

इसी प्रकार ऐन्द्राग्न कर्म के अनुष्ठान का विधान उस व्यक्ति के लिए है, जिसके सम्बन्धी असमय मरते हों तथा जिसके अनेक शत्रु हों। उस ऐन्द्राग्न कर्म में इन्द्राग्नी देवतावाले याज्या-अनुवाक्या के दो जोड़े पढ़े गए हैं। एक है—'इन्द्राग्नी रोचना दिवः, प्रचर्षणिभ्यः'; दूसरा है—'इन्द्राग्नी नवतिं पुरः, श्नथद् वृत्रम्'। यद्यपि यहाँ लिङ्ग से विनियोग निश्चित है, पर यह विशेष विनियोग क्रम के आधार पर होता है कि याज्या-अनुवाक्या का पहला जोड़ा प्रथम ऐन्द्राग्न कर्म में विनियुक्त है। यह ऐन्द्राग्न कर्म उस यजमान के द्वारा किया जाता है, जिसके सम्बन्धी असमय मर जाते हों; और दूसरा जोड़ा दूसरे ऐन्द्राग्न कर्म में विनियुक्त होता है, जो उस यजमान के द्वारा किया जाता है, जिसके अनेक शत्रु हों। विनियोग में क्रम के कारण का यह अन्य उदाहरण है ॥१२॥ (इति क्रमस्य विनियोजकताधिकरणम्—५)।

(समाख्याया विनियोजकताधिकरणम्—६)

शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या विनियोग के इतने ही कारण हैं ? या अन्य भी हैं ?

सूत्रकार ने समाधान किया, अन्य भी कारण हैं—

आख्या चैवं तदर्थत्वात् ॥१३॥

[आख्या] आख्या-समाख्या-संज्ञा [च] भी [एवम्] इसी प्रकार विनियोग का कारण है। संज्ञा के [तदर्थत्वात्] उस समाख्येय-संज्ञी के लिए होने के कारण।

श्रुति, लिङ्ग, वाक्य आदि अन्य कारणों के समान समाख्या भी विनियोग का कारण है। कोई भी संज्ञा अर्थात् नाम-पद संज्ञा-संज्ञी के अनिवार्य सम्बन्ध पर आश्रित रहता है। तात्पर्य है—किसी संज्ञा-पद का प्रयोग किसी संज्ञी के लिए तभी सम्भव होगा, जब उनका वाच्य-वाचक-सम्बन्ध निर्धारित हो। समस्त वैदिक-लौकिक व्यवहार इसी व्यवस्था पर संचालित हैं। जैसे पाचक-लावक संज्ञा-पद हैं। पाचक संज्ञा-पद को सुनकर पाक-क्रिया के साथ 'पाचक' नामवाले व्यक्ति

का सम्बन्ध जाना जाता है; लवन (फ़सल काटना) क्रिया के साथ 'लावक' नामवाले का। आज भी इस प्रदेश की जनभाषा में पकी फ़सल को काटनेवाले व्यक्तियों के लिए 'लावा' पद का प्रयोग होता है। इसी प्रकार वैदिक वाङ्मय में 'आध्वर्यव' और 'हौत्र' नामक कर्मों का उल्लेख है। आध्वर्यव नाम से कहे जानेवाले कर्म अध्वर्यु द्वारा किए जाने चाहिएँ, और हौत्र नामवाले होता के द्वारा। इन उदाहरणों में विनियोग का कारण समाख्या है, क्योंकि यहाँ श्रुति आदि अन्य कारण प्राप्त नहीं हैं। समाख्या को कारण माने जाने का यही प्रयोजन है॥१३॥ (इति समाख्याया विनियोजकताधिकरणम् — ६)।

(श्रुत्यादीनां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वाधिकरणम्—७)

श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्यारूप छह कारण विनियोग के बताए गए। जब किसी प्रसंग में एकसाथ अनेक कारण प्राप्त हों, तब विनियोग के कौन-से कारण का प्रयोग होना चाहिए? इसके निर्धारण के लिए उनके बलाबल का विचार प्रस्तुत है। जो बलवान् होगा, उसका प्रयोग किया जायगा, अबल हट जायगा। इसकी व्यवस्था के लिए सूत्रकार ने कहा—

श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम् अर्थविप्रकर्षात् ॥१४॥

[श्रुतिलिङ्ग—समाख्यानाम्] श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या के [समवाये] एकसाथ अनेक विनियोग-कारणों के उपस्थित होने पर [पारदौर्बल्यम्] पूर्व की अपेक्षा पर दुर्बल माना जाता है, [अर्थविप्रकर्षात्] अर्थ की दूरी होने के कारण।

एक समय में एक अर्थ का विवेचन हो सकता है, अनेक का नहीं। विनियोग के छह कारणों के परस्पर बलाबल का विचार एकसाथ सम्भव न होने से यथाक्रम दो-दो के जोड़े को लेकर विवेचन प्रस्तुत है। सर्वप्रथम श्रुति, लिङ्ग पठित हैं। इनमें कौन बलवान् कौन दुर्बल है? यह विवेच्य है। इस विवेचन से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि श्रुति आदि का स्वरूप क्या है?

श्रुति—इस पद का यहाँ वेद या आम्नाय अर्थ नहीं है। जो शब्द श्रवणमात्र से—किसी अन्य पद की आकांक्षा किए बिना—अपने स्पष्ट अर्थ का कथन करता है, वह यहाँ 'श्रुति' नाम से अभिप्रेत है। तात्पर्य है—निराकांक्ष पद श्रुति है। ऐसे पद सुबन्त और तिङन्त दोनों प्रकार के हैं—सुबन्त=नामपद और तिङन्त=क्रियापद, जैसे—'सोमेन यजेत, अग्निहोत्रं जुहुयात्' आदि वाक्य हैं। इनमें 'सोम-अग्निहोत्र' सुबन्त=नामपद हैं। ये अपने अर्थ को अभिव्यक्त करने में किसी अन्य पद की आकांक्षा या अपेक्षा नहीं रखते। इसी प्रकार 'यजेत, जुहुयात्' ये तिङन्त=

क्रियापद हैं; ये भी अपने अर्थ को—अन्यपद-निरपेक्ष होकर स्वतन्त्र रूप से अभिव्यक्त करते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में ऐसे पदों को 'श्रुति' नाम दिया गया है।

ऐसे पद किसी अर्थ के विधायक, अभिधायक और विनियोजक माने जाते हैं। उक्त पद सोमयाग और अग्निहोत्र होम के विधायक हैं; इनके अनुष्ठान का विधान करते हैं; अपने अर्थों के अभिधायक हैं, वाचक हैं; याग में सोम का और होम में अग्निहोत्र का विनियोग बताते हैं। इन पदों के साथ लगे विभक्ति या एकवचन आदि के आधार पर श्रुति के भेद बताए गए हैं—विभक्तिरूप, एकवचनरूपा, एकपदरूपा। 'सोमेन' पद में 'सोम' के साथ तृतीया विभक्ति सोम को याग का अङ्ग बताने में किसी अन्य की आकांक्षा न करने के कारण यह विभक्तिरूपा श्रुति है। एकवचन—अन्य-निरपेक्ष केवल सोम को याग का साधन या अङ्ग बताने के कारण यह एकवचनरूपा श्रुति है। सोमपद अन्य-निरपेक्ष होकर केवल सोमद्रव्य का कथन करने से एकपदरूपा श्रुति है।

इसी प्रकार 'व्रीहीन् प्रोक्षति, व्रीहिभिर्यजेत' आदि में भी विभक्तिरूपा, वचनरूपा, पदरूपा श्रुति को समझ लेना चाहिए। व्रीहि पद के साथ लगी द्वितीया-तृतीया विभक्ति यथाक्रम व्रीहि को प्रोक्षण का और याग का अङ्ग बताने में अन्य-निरपेक्ष हैं; यह विभक्तिरूपा श्रुति है। बहुवचन का श्रवण व्रीहि के प्रोक्षण और याग में बहुत-से व्रीहि का कथन करने से यह वचनरूपा श्रुति है। यह अन्य-निरपेक्ष होकर एक दाने से प्रोक्षण व याग का निषेध कर बहुत-से व्रीहि का कथन करती है। शास्त्र में इसकी सीमा बताई है, कितने मुट्ठी व्रीहि लेने चाहिएँ। व्रीहि पद का श्रवण अन्य-निरपेक्ष होकर अपने विशिष्ट अर्थ को अभिव्यक्त कर प्रोक्षण आदि में यव आदि द्रव्य का निषेध करता है; यह एकपदरूपा श्रुति है। इसका स्वरूप सर्वत्र विधिवाक्यों में इसी प्रकार समझना चाहिए।

लिङ्ग—किसी भी पद में किसी विशिष्ट अर्थ का बोध कराने के सामर्थ्य का नाम 'लिङ्ग' है। प्रत्येक पद किसी अर्थ का बोध कराने में समर्थ होता है। इस रूप में शब्द और अर्थ का परस्पर नित्यसम्बन्ध है। यह लिङ्ग दो प्रकार का है—एक शब्दगत, दूसरा अर्थगत। किसी पद में किसी विशिष्ट के प्रकाशन का सामर्थ्य होना 'शब्दगत' नामक लिङ्ग है, जैसे—प्रथम सोम, अग्निहोत्र, व्रीहि आदि पदों का उल्लेख किया गया है। किसी पदबोध्य वस्तु के कार्य करने की योग्यता का नाम 'अर्थगत' लिङ्ग है, जैसे—'जलेन सिञ्चति' वाक्य जलपद के वाच्य अर्थ में सींचने की योग्यता है, यह उपयुक्त अर्थ का बोध कराएगा, यह 'अर्थगत' लिंग है। इसके विपरीत 'वह्निना सिञ्चति' वाक्यगत वह्नि पद वाच्य-अर्थ आग में सींचने की योग्यता न होने से यह किसी उपयुक्त अर्थ का बोध नहीं कराएगा।

शब्द के साधारण अर्थबोधन-सामर्थ्य के अतिरिक्त जो किसी शब्द में विशिष्ट देवता को कहने का सामर्थ्य है वह लिङ्ग है, जैसे—'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र

सश्चसि दाशुषे' मन्त्र में 'इन्द्र' शब्द का विशिष्ट देवता को कहने का सामर्थ्य है—हे इन्द्र ! तुम कभी हिंसक नहीं होते, और यजमान को याग का फल देने के लिए प्राप्त होते हो। स्कन्द स्वामी ने निरुक्त की टीका[1] में 'लिङ्गज्ञा अत्र स्मः' इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'लिङ्गं देवताभिधानसमर्थः शब्दः' देवता के कथन करने में समर्थ शब्द 'लिङ्ग' कहा जाता है।

वाक्य—परस्पर-साकांक्ष पदों के समूह को 'वाक्य' कहते हैं। ऐसे पद आपस में एक-दूसरे की आकांक्षा रखते हुए पारस्परिक सहयोग से किसी एक पूर्ण अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र' यह एक वाक्य है। 'सोमेन यजेत स्वर्गकामः, अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' आदि सब ऐसे ही वाक्य हैं। वाक्यगत पदों के परस्पर-साकांक्ष होने के साथ-साथ उनमें उपयुक्त अर्थ के बोध कराने की योग्यता, और उनका एकसाथ आनुपूर्वी से उच्चरित या लिखित होना आवश्यक है। तात्पर्य है—वाक्यगत पदों में आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति का अस्तित्व रहना चाहिए।

प्रकरण—क्रियमाण कर्म का विधान होने पर आकांक्षा होती है, इस कर्म को किस प्रकार किया जाना चाहिए ? इसको इतिकर्त्तव्यता कहते हैं। किसी कर्म की इतिकर्त्तव्यता का ज्ञान—जहाँ से वह कर्म प्रारम्भ होता है और जहाँ पूर्ण होता है—उस समस्त सन्दर्भ के आधार पर किया जाता है। उसी का नाम प्रकरण है। प्रधान कर्म का प्रतिपादक पूरा सन्दर्भ 'महाप्रकरण' तथा उसके किसी एक अंश में इतिकर्त्तव्यता आदि को बतानेवाले प्रसंग 'अवान्तर प्रकरण' कहे जाते हैं। अवान्तर प्रकरण भी अपने रूप में अपना पूरा अस्तित्व रखते हैं। प्रधान कर्म अपनी सिद्धि के लिए अङ्गभूत इतिकर्त्तव्यता आदि की आकांक्षा रखता है; इति-कर्त्तव्यता आदि अङ्गभूत कर्मों का कोई स्वतन्त्र फल न होने से वह अपनी फलवत्ता के लिए प्रधान कर्म की आकांक्षा रखता है। इस प्रकार उभयाकांक्षी वाक्यों के समूह का नाम 'प्रकरण' है, यह भी कहा जा सकता है। सूक्तवाक सन्दर्भ [३।२ का अधि० ५] इसका उदाहरण है। इसका स्पष्टीकरण बलाबल-प्रसंग में आगे द्रष्टव्य है।

स्थान—विनियोजक प्रमाणों में पाँचवाँ 'स्थान' है। आचार्यों ने इसका अन्य नाम 'क्रम' बताया है। प्रधान और अङ्गभूत कर्मों के समानदेश में होने का नाम 'स्थान' या 'क्रम' है। कर्मों की यह समानदेशता पाठ और अनुष्ठान दोनों आधारों पर होती है। पहले का नाम 'पाठसादेश्य' और दूसरे का 'अनुष्ठान सादेश्य' है। पाठसादेश्य भी दो प्रकार का है: एक—यथासंख्य पाठ के अनुसार; दूसरा—

१. द्रष्टव्य—निरुक्त की स्कन्द स्वामी टीका, प्रथम भाग, अध्याय १, खण्ड १७, पृष्ठ १०८, पंक्ति ३-४।

सन्निधिपाठ के अनुसार।

समाख्या—प्रकृति-प्रत्यय से सिद्ध यौगिक पद का नाम 'समाख्या' है। लोक-सिद्ध नामपद लौकिकी समाख्या, तथा वैदिक वाङ्मयसिद्ध नाम वैदिकी समाख्या कहे जाते हैं।

श्रुति आदि के स्वरूप-निर्देश के अनन्तर इनके पारस्परिक बलाबल का विचार प्रस्तुत है।

(अथ लिङ्गात् श्रुतेः प्राबल्याधिकरणम्)

पूर्व-निर्देशानुसार दो-दो के जोड़े को लेकर बलाबल का विचार प्रस्तुत है। पहला जोड़ा है—श्रुति और लिङ्ग। किसी पद या वाक्य के विनियोग के लिए जब श्रुति और लिङ्ग समान बल से परस्पर-विरोधी होकर उपस्थित हों तब कौन सबल और कौन अबल है, इसका विचारपूर्वक निर्णय करने के लिए आचार्यों ने उदाहरण-वाक्य सुझाया है—'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते'—इन्द्र देवतावाली ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करता है। यहाँ विचारणीय है—क्या इन्द्र देवता और गार्हपत्य अग्नि दोनों में से चाहे जिस एक का उपस्थान करना चाहिए? ऐसी अव्यवस्था है? अथवा केवल एक गार्हपत्य का उपस्थान हो, ऐसी व्यवस्था है? यदि श्रुति='गार्हपत्यम्' यह कर्मकारक द्वितीया विभक्ति का श्रवण, और लिङ्ग='ऐन्द्री' पद में इन्द्र देवता को कहने का सामर्थ्य, दोनों विनियोग-कारण समान बलवाले हैं, तो उक्त वचन में विकल्प मानना होगा; इन्द्र और गार्हपत्य दोनों में से किसी एक का उपस्थान करे। यदि श्रुति सबल है, तो केवल गार्हपत्य का उपस्थान होगा।

जिज्ञासु आशंका करता है—प्रथम आपने बताया, अर्थवाले परस्पर-साकांक्ष पदों का समूह वाक्य है। इसके अनुसार 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' यह वाक्य है, तब यहाँ लिङ्ग और वाक्य का विरोध करना चाहिए, श्रुति और लिङ्ग का नहीं। यदि लिङ्ग सबल है, तो इन्द्र पद का विशिष्ट देवता के कथन में सामर्थ्य होने के कारण इन्द्र का उपस्थान होगा। यदि सबल होता है, तो गार्हपत्य का उपस्थान होगा। इसलिए उक्त वाक्य को लिङ्ग और वाक्य के परस्पर बलाबल की परीक्षा के लिए उदाहरण समझना चाहिए; श्रुति, लिङ्ग के बलाबल की परीक्षा के लिए नहीं।

आचार्य ने समाधान किया, यह कहना ठीक है कि 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' वाक्य है। परन्तु साथ ही यह श्रुति भी तो है। यहाँ कर्म कारक द्वितीया विभक्ति के साथ 'गार्हपत्य' श्रवण उसे तत्काल 'उपतिष्ठते' के साथ जोड़ता है। इसलिए श्रुति लिङ्ग से विरुद्ध होती है; वाक्य का लिङ्ग से कोई विरोध नहीं, क्योंकि लिङ्ग के बलवान् होने पर 'ऐन्द्रचा उपतिष्ठते' में वाक्यगत 'गार्हपत्य' पद इन्द्र को

कहने के कारण उसके साथ एकवाक्यता को प्राप्त होगा; तब लिङ्ग और वाक्य का विरोध कहाँ रहा ? विरोध तभी होगा, जब गार्हपत्य के साथ लिङ्ग की एकवाक्यता न हो। यह विरोध श्रुति और लिङ्ग के परस्पर-प्रतियोगी रूप में सामने आने पर सम्भव है। इसलिए उक्त उदाहरण श्रुति और लिङ्ग के बलाबल की परीक्षा के लिए उपयुक्त है।

उक्त वाक्य में 'गार्हपत्यम्' पद श्रवणमात्र से—अन्य किसी की आकांक्षा या अपेक्षा किए बिना ही—'उपतिष्ठते' के साथ एकवाक्यता को प्राप्त होकर पूर्ण अर्थ को अभिव्यक्त कर देता है। इसमें अर्थ का विप्रकर्ष नहीं है। तात्पर्य है—अर्थाभिव्यक्ति में कोई विलम्ब नहीं होता। परन्तु वाक्य में तृतीयान्त करण कारक 'ऐन्द्रचा' पद ऐसा नहीं है। यह पद साक्षात् इन्द्र को न कहकर इन्द्र देवतावाली ऋचा का वाचक है। वह ऋचा को ढूंढता है। ऋचा है—'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र ! सश्चसि दाशुषे', ऋचागत 'इन्द्र' पद देवताविशेष का कथन करने में समर्थ होने से लिङ्ग है। 'ऐन्द्री' पद के अनुसार जब तक लिङ्ग उपस्थान के लिए तैयार होकर आगे आता है, उससे पहले ही श्रुति अपना कार्य कर चुकी होती है। तात्पर्य है—उपस्थान के लिए अर्थाभिव्यक्ति में विलम्ब के कारण लिङ्ग अबल और अर्थाभिव्यक्ति में विलम्ब न होने के कारण श्रुति सबल है। उपस्थान गार्हपत्य अग्नि का होता है, उस अवसर पर इन्द्र देवतावाली ऋचा का केवल उच्चारण किया जाता है। ऋचा का उच्चारण करते हुए गार्हपत्य का उपस्थान किया जाता है; वह अङ्गी, और अन्य अङ्ग हैं।

(अथ वाक्यात् लिङ्गस्य प्राबल्याधिकरणम्)

प्रथम निर्देशानुसार उपयुक्त अर्थ के बोधक परस्पर-सापेक्ष सुबन्त-तिङन्त पदों के समूह का नाम वाक्य है। वाक्यगत वे पद श्रुतिरूप या लिङ्गरूप होते हैं। पहले जब वे पद अर्थ का बोध करा देंगे, उसके अनन्तर ही वाक्य अर्थबोध करा सकेगा। जैसे लिङ्ग ('कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र !' में इन्द्र पद) अर्थबोध कराने के लिए श्रुति ('ऐन्द्रचा' पद) पर आधारित रहने से श्रुति की अपेक्षा दुर्बल होता है, ऐसे ही वाक्य अर्थबोध कराने में श्रुति और लिङ्ग पर आधारित रहता है, इसलिए लिङ्ग की अपेक्षा वाक्य दुर्बल होगा, क्योंकि लिङ्गपद की अपेक्षा वाक्य द्वारा अर्थबोध होने में विलम्ब हो जाता है। इसको स्पष्ट करने के लिए आचार्यों ने उदाहरण सुझाया—

स्योनं ते सदनं कृणोमि, घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि। तस्मिन् सीदाऽमृते प्रतितिष्ठ, व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः।

व्रीहि से तैयार किए गए पुरोडाश ! तेरा सुखद घर बनाता हूँ, उसे घृत की धारा से निवासयोग्य सुखकर निष्पन्न करता हूँ, निरुपद्रव उस स्थान में तू प्रतिष्ठा-

पूर्वक स्थिर होकर बैठ। इसमें सन्देह है, क्या सम्पूर्ण मन्त्र का विनियोग पुरोडाश-पात्र को घी से चुपड़ने और पुरोडाश को वहाँ रखने में करना चाहिए ? अथवा 'कल्पयामि'-पर्यन्त पुरोडाशपात्र के उपस्तरण (चुपड़ने) में, तथा शेष मन्त्र पुरोडाश को पुरोडाशपात्र में रखने के लिए करना चाहिए ? यदि वाक्य बलवान् है, तो दोनों कार्यों (पात्र के उपस्तरण और पुरोडाश) में पूरे मन्त्र का प्रयोग किया जाना चाहिए। क्योंकि मन्त्र के दोनों भागों के क्रियापद 'कल्पयामि' और 'सीद' एक पुरोडाश से सम्बन्ध रखते हैं; तेरे लिए घर बनाया, उसमें तू बैठ; इस प्रकार इनमें एकवाक्यता सम्पन्न होती है। यदि लिङ्ग बलवान् है, तो 'कल्पयामि'-पर्यन्त मन्त्रभाग का घर के बनाने में, तथा शेष भाग का पुरोडाश को रखने में विनियोग होगा। कारण यह है—'स्योनं ते सदनं कृणोमि' यह अंश घर बनाने को कहने में समर्थ है; तथा 'तस्मिन् सीद' यह अंश पुरोडाश को उस स्थान में रखने को कहने में समर्थ है। जिज्ञासा है, इन दोनों में से किसको स्वीकार किया जाय ? उक्त सन्दर्भ-प्रसंग में लिङ्ग और वाक्य दोनों समानबल प्रतीत होते हैं।

श्रुति के साम्मुख्य में लिङ्ग दुर्बल माना गया है। श्रुति लिङ्ग को बाधित कर देती है। जो एक की बराबरी में बाधित हो जाता है, उसकी दुर्बलता निश्चित रहती है। सम्भव है, वाक्य के साम्मुख्य में भी लिङ्ग दुर्बल होकर बाधित हो जाय। ऐसी स्थिति में आचार्य सूत्रकार ने बताया—लिङ्ग और वाक्य दोनों के साम्मुख्य में लिङ्ग सबल होता है, वाक्य दुर्बल। कारण है—अर्थ-विप्रकर्ष, वाक्य में अर्थ की दूरी होना। 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' मन्त्र दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पठित होने से दर्श-पूर्णमास का अङ्ग है। 'तेरे सदन को बनाता हूँ' अपने इस अर्थ-सामर्थ्यरूप लिङ्ग से पुरोडाशपात्र के उपस्तरण में विनियुक्त होकर सफल प्रयोजनवाला हो जाता है। इसीलिए पुरोडाश के स्थापन में विनियोग की योग्यता को खो बैठता है। कोई ऐसा अन्य आधार नहीं, जिसके अनुसार 'स्योनं ते' मन्त्र का विनियोग पुरोडाश की स्थापना में होने का संकेत मिले।

इसी प्रकार 'तस्मिन् सीद' मन्त्र दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पठित होने से दर्श-पूर्णमास का अङ्ग है। 'उस अनुकूल घर में प्रतिष्ठापूर्वक बैठ' इस अपने अर्थ-सामर्थ्यरूप लिङ्ग से मन्त्र का विनियोग पुरोडाश की स्थापना में निश्चित होता है। अन्य कोई ऐसा प्रमाण नहीं, जिसके आधार पर इस मन्त्र का विनियोग पुरोडाश के उपस्तरण में सोचा जा सके। 'स्योनं ते' मन्त्र के श्रवणमात्र से 'तेरा घर बनाता हूँ' यह स्पष्ट प्रत्यक्ष अर्थ उपस्थित होता है, जो उपस्तरण कर्म के कथन करने का सामर्थ्यरूप लिङ्ग श्रुत्यर्थ के निकट होने से मुख्य है, बलवान् है। इसके विपरीत 'तस्मिन् सीद' मन्त्र का उपस्तरण में विनियोग 'स्योनं ते' मन्त्र के साथ उसकी एकवाक्यता की कल्पना के अनन्तर आता है, अतः वह श्रुत्यर्थ से दूर पड़ जाता है। फलतः लिङ्ग और वाक्य के साम्मुख्य में लिङ्ग से वाक्य बाधित हो

जाता है, इसलिए लिङ्ग के अनुसार 'स्योनं ते' मन्त्रभाग पुरोडाश के उपस्तरण में और 'तस्मिन् सीद' मन्त्रभाग पुरोडाश के स्थापन में विनियुक्त होता है, यह निश्चित है।

यह कहना न्याय्य नहीं है कि श्रुति से बाधित लिङ्ग को वाक्य से भी बाधित माना जाय। यदि श्रुत्यर्थ से लिङ्ग अनुगृहीत होता है, और वाक्य दूर पड़ जाता है, तो वाक्य की बराबरी में लिङ्ग को बाधित कहना अप्रामाणिक होने से अनुचित है। श्रुत्यर्थ के सामीप्य से समर्थित लिङ्ग वाक्य से बलवान् होता है।

(अथ प्रकरणाद् वाक्यस्य प्राबल्याधिकरणम्)

प्रथम बताया गया, इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा करनेवाले कर्त्तव्य का कथन किया जाना प्रकरण का स्वरूप है। कोई कर्म किस प्रकार किया जाना चाहिए, यह बताना प्रकरण है। वाक्य और प्रकरण के विरोध में कैसे निर्णय होगा? यह बताना चाहिए। परस्पर-अपेक्षित सार्थक पदों का समूह वाक्य, तथा इस प्रकार के अनेक वाक्यों का समूह प्रकरण होता है। प्रकरण अपनी सार्थकता और सफल प्रयोजनवाला होने के लिए वाक्य की अपेक्षा रखता है, इसलिए वाक्य सदा प्रकरण से बलवान् रहेगा। इसके लिए सूक्तवाक[1] निगद उपयुक्त उदाहरण है।

---

१. सूक्तवाक निगद का पूरा पाठ इस प्रकार है—

"इदं द्यावापृथिवी भद्रमभूत्। अर्ध्म सूक्तवाकम्। उत नमोवाकम्। ऋध्या स्म सूक्तोच्यमग्ने। त्वं सूक्तवागसि। उपश्रितो दिवः पृथिव्योः। ओमन्वती तेऽस्मिन् यज्ञे यजमान द्यावापृथिवी स्ताम्। शङ्गये जीरदानू। अत्र स्तू अप्रवेदे। उरुगव्यूती अभय कृतौ। वृष्टि द्यावा रीत्यापा। शंभुवौ मयोभुवौ। ऊर्जस्वती पयस्वती च। सूपचरणा च स्वधिचरणा च। सयोराविवि। अग्निरिदं हविरजुषत। अवीवृधत महो ज्यायोऽकृत। सोम इदं हविरजुषत। अवीवृधत महो ज्यायोऽकृत। अग्निरिदं हविरजुषत। अवीवृधत महो ज्यायोऽकृत। प्रजापतिरिदं हविरजुषत। अवीवृधत महो ज्यायोऽकृत। अग्नीषोमाविदं हविरजुषताम्। अवीवृधेतां महो ज्यायोऽक्राताम्। इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेताम्। अवीवृधेतां महो ज्यायोऽक्राताम्। इन्द्र इदं हविरजुषत। अवीवृधत महो ज्यायोऽकृत। महेन्द्र इदं हविरजुषत। अवीवृधत महो ज्यायोऽकृत। देवा आज्यपा आज्यमजुषन्त। अवीवृधन्त महो ज्यायोऽक्रत। अग्निर्होत्रेणेदं हविरजुषत। अवीवृधत महो ज्यायोऽकृत। अस्यामृधद्धोत्रायां देवंगमायाम्। आशास्तेऽयं यजमानोऽसौ। आयुराशास्ते। सुप्रजास्त्वमाशास्ते। सजातवनस्यामाशास्ते। उत्तरां देवयज्यामाशास्ते। भूयो हविष्करणमाशास्ते। दिव्यं धामाऽऽशास्ते। विश्वं प्रियमाशास्ते। यदनेन हविषाऽऽशास्ते।

इस मन्त्र में पूर्णमासी के दिन यजन किये अग्नीषोम और प्रजापति देवता, अमावास्या के दिन यजन किये गये इन्द्राग्नी, इन्द्र (अन्य पक्ष में—महेन्द्र) देवता स्मरण किये गये हैं।

वाक्य और प्रकरण में परस्पर बलाबल की परीक्षा के लिए उपयुक्त सूकवाक में दोनों समानबल प्रतीत होते हैं। क्योंकि वाक्य और प्रकरण दोनों में समानरूप से इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा होने पर किसी एक के बलाबल का निश्चय करने में कोई कारण दिखाई नहीं देता, इसलिए दोनों समानबल हैं, यही कहना होगा। फिर भी वाक्य को दुर्बल कहा जा सकता है, क्योंकि वह लिङ्ग से बाधित है। सूक्तवाक मन्त्र दर्शपूर्णमास याग के प्रसंग में पठित है। मन्त्र में जो दोनों यागों के देवताओं का कथन है, उसमें एकवाक्यता प्राप्त नहीं होती। वहाँ देवताकथन लिङ्ग से इन्द्राग्नी, इन्द्र को पौर्णमासी में प्रयोग से हटाकर अमावास्या में प्रयुक्त करना चाहिए। ऐसे ही अग्नीषोम, प्रजापति को अमावास्या में प्रयोग से हटाकर पूर्णमासी में प्रयुक्त करना चाहिए। इसमें सन्देह होता है—यदि प्रकरण बलवान् है, तो जो इस दर्शपूर्णमास में यजन किये गये देवता का स्तुतिरूप शेष वाक्य है—'अवीवृधेतां महोज्यायोऽक्राताम्' आदि, क्या उसे जितनी बार सूक्तवाक में पढ़ा है, उतनी बार पौर्णमासी अमावास्या दोनों यागों में प्रयोग करना होगा? अथवा यदि वाक्य बलवान् है, तो इन्द्राग्नी शब्द का उत्कर्ष कर (उसे उखाड़कर) जहाँ ले-जाया गया है; तथा अग्नीषोम का उत्कर्ष कर जहाँ उसे ले-जाया गया है, वहाँ ही प्रयोग करना होगा? इस विषय में वाक्य और प्रकरण दोनों समानबल प्रतीत होते हैं। इसका निर्णय कैसे किया जाय?

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—इसका निर्णय अर्थविप्रकर्ष (अर्थ की दूरी) के आधार पर किया जाना चाहिए। जहाँ अर्थ की दूरी है, वह दुर्बल; जहाँ सामीप्य है, वह सबल होगा। सोचना चाहिए, यहाँ अर्थ की दूरी क्या है?

वाक्य में प्रत्येक पद अलग-अलग साकांक्ष रहता है। वाक्य के पूरे अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए वाक्यगत पद एक-दूसरे की आकांक्षा रखते हैं। समस्त पद मिलकर पूरा वाक्य अभिमत अर्थ को अभिव्यक्त करने में निराकांक्ष हो जाता है; अपने पूर्ण अर्थ को अभिव्यक्त कर कार्यानुष्ठान में प्रवृत्ति का प्रयोजक हो जाता है। प्रकरण में यह स्थिति नहीं रहती। प्रकरण अनेक वाक्यों का समुदाय होता है। दर्शपूर्णमास प्रकरण में सूक्तवाक मन्त्र पठित है—'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' वाक्य से याग का विधान है। उसे अपनी इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा रहती

तदश्र्यात् तदृध्यात्। तदस्मै देवा रासन्ताम्। तदाग्निर्देवो देवेभ्यो वनते। वयमग्नेर्मानुषाः। इष्टं च वीतं च। उभे च नो द्यावापृथिवी अंहसः स्याताम्। इह गतिर्वामस्येदं च। नमो देवेभ्यः। [तै० ब्रा०, ३।५।१०]

है। समीप में पठित सूक्तवाक है। तब वहाँ वाक्यान्तर से जाना जाता है—'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' सूक्तवाक मन्त्र का उच्चारण करते हुए प्रस्तर को अग्नि में छोड़ता है। इस मन्त्र में पौर्णमासी देवतावाची और अमावास्या देवतावाची पदों का प्रयोग एक-दूसरे से पृथक् करके किया जाता है। उन देवताओं के शेषभूत पदों का भी पृथक् करके प्रयोग होता है। इस कारण यद्यपि प्रकरण-सामर्थ्य से पौर्णमासी के देवता-पदों के अङ्गभूत वचनों का अमावास्या के देवतावाची पदों के साथ एकवाक्यता की सम्भावना प्रकट की जा सकती है, तथापि पौर्णमासी के देवतावाची पदों के साथ उनकी एकवाक्यता प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष के साथ विरोध होने पर सम्भावना की उपेक्षा कर दी जाती है। स्वतन्त्र वाक्य की अपेक्षा प्रकरण से अर्थाभिव्यक्ति में विलम्ब होना ही अर्थ की दूरी है। इसलिए वाक्य और प्रकरण के परस्पर साम्मुख्य में वाक्य प्रबल और प्रकरण दुर्बल रह जाता है। लिङ्ग से बाधित होने पर वाक्य प्रकरण से भी बाधित होना चाहिए,—यह आवश्यक नहीं है।

(अथ स्थानात्=क्रमात् प्रकरणस्य प्राबल्याधिकरणम्)

कोई वचन किस 'स्थान' पर पढ़ा गया है, अथवा किस क्रम पर पढ़ा गया है, यह एक ही बात है। स्थान-विशेष या क्रमविशेष पर पढ़ा जाना 'वचन' की अपनी विशेषता है। सूत्र में 'स्थान' पद दिया है, पर स्पष्टता की भावना से यहाँ 'क्रम'-पद का प्रयोग किया जाएगा। प्रकरण और क्रम के साम्मुख्य में कौन सबल और कौन दुर्बल है? इसका विवेचन प्रस्तुत है।

इसको समझने के लिए उदाहरणरूप में आचार्यों ने राजसूय याग का उल्लेख किया है। राजसूय याग-प्रकरण के अन्तर्गत अभिषेचनीय के क्रम में शौनःशेप आख्यान आदि पठित हैं।[1] राजसूय का प्रकरण होने से वहाँ प्रधान कर्म राजसूय-याग है। प्रकरण और क्रम के साम्मुख्य में यदि प्रकरण बलवान् है, तो शौनःशेप आख्यान आदि राजसूय प्रकरणस्थित सब कर्मों के अङ्ग होंगे। यदि क्रम बलवान् है, तो अभिषेचनीय के क्रम में पठित होने से उसी (अभिषेचनीय) कर्म के अङ्ग होंगे। अर्थाभिव्यक्ति के ये दोनों कारण आपाततः समानबल प्रतीत होते हैं; क्योंकि कोई ऐसा विशेष हेतु उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर दोनों में से किसी एक को बलवान् सिद्ध किया जा सके। प्रत्युत यह कहा जा सकता है कि प्रकरण की अपेक्षा क्रम बलवान् है; क्योंकि अन्यत्र प्रकरण-वाक्य से बाधित

---

१. द्रष्टव्य—तै० ब्रा० १।७।१०।६॥ आदि पद देवन (द्यूतक्रीड़न) का ग्रहण करता है। उक्त ब्राह्मण के उसी प्रसंग में द्यूतक्रीड़ाविषयक आख्यान दिया गया है।

हुआ माना गया है। एक जगह बाधित को दुर्बल ही समझना चाहिए। सम्भव है, वह क्रम से भी बाधित हो जाय।

शिष्य-जिज्ञासा का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—अर्थविप्रकर्ष के कारण क्रम की अपेक्षा प्रकरण बलवान् होता है। क्रम में अर्थविप्रकर्ष = अर्थ की दूरी रहती है। अर्थ की दूरी यहाँ क्या है ? इसे समझना चाहिए। राजसूय-प्रकरण में राजसूय-याग प्रधान कर्म है। 'राजा राजसूयेन[1] स्वाराज्यकामो यजेत' वचन राजसूय का विधान करता है। वह किस प्रकार किया जाना चाहिए ? अपनी इस इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा रखता है। उस आकांक्षा को प्रकरणपठित परिपूर्ण अर्थवाले समस्त वाक्य पूरा करते हैं। इसलिए राजसूय-याग के साथ उनकी एकवाक्यता प्रत्यक्ष है, जो याग के प्रयोजन को पूरा करती है। उस प्रकरणगत वाक्यसमूह में एक अंश शौनःशेप उपाख्यान है और अभिषेचनीय संज्ञक सोमयाग कर्म भी। अनेक कर्मों का प्रकरण में पाठ किसी क्रम से होना ही सम्भव है। क्रम के अनुसार यदि शौनःशेप उपाख्यान अभिषेचनीय कर्म के समीप पढ़ा है, तो वह इनमें परस्पर-आकांक्षा का प्रयोजक नहीं है। ये दोनों कर्म राजसूय प्रधान कर्म की इतिकर्त्तव्यतारूप आकांक्षा को समानरूप से पूर्ण करने के कारण उसके अङ्गभूत हैं। प्रधान कर्म के साथ अङ्गभूत कर्म की एकवाक्यता प्रत्यक्ष सिद्ध है। अभिषेचनीय कर्म के प्रति शौनःशेप उपाख्यान कर्म की अङ्गता क्रम के आधार पर सम्भावनामूलक कही जा सकती है। प्रत्यक्ष-बोधित अर्थ के साम्मुख्य में सम्भावित अर्थ बाधित हो जाता है। फलतः प्रकरण की प्रतियोगिता में क्रम दुर्बल और प्रकरण बलवान् रहता है, भले ही प्रकरण वाक्य से बाधित होता हो।

(अथ समाख्यायाः क्रमस्य प्राबल्याधिकरणम्)

क्रम और समाख्या के परस्पर विरोध में इनके बलाबल की परीक्षा के लिए उदाहरणरूप में आचार्यों ने पौरोडाशिक काण्ड का उल्लेख किया है। कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय मैत्रायणी संहिताओं के दर्शपूर्णमास-प्रकरण का 'पौरोडाशिक काण्ड' नाम याज्ञिकों में प्रसिद्ध है। दर्श अमावास्या के दिन तथा पौर्णमास पूर्णमासी के दिन किया जाता है। दर्श में जिस हवि का प्रयोग होता है, उसका नाम 'सान्नाय्य' तथा पौर्णमास में प्रयुक्त होनेवाली हवि का नाम 'पुरोडाश' है। यद्यपि उस काण्ड में दोनों हवियों के मन्त्रों का व्याख्यान है, परन्तु पुरोडाश हवि के अधिक मन्त्र होने के कारण काण्ड का नाम 'पौरोडाशिक' व्यवहृत होता है।

जिस यजमान ने सोमयाग किया है, उसके लिए दर्श नामक इष्टि में इन्द्र-

---

१. द्रष्टव्य—मीमांसा-सूत्र २।३।३; अधिकरण २ का प्रारम्भ।

देवता के निमित्त दधि और दुग्धहवि का विधान है। इन दोनों हवियों का एक इन्द्र देवता होने से दोनों को मिलाकर आहुति दी जाती है। इसी को 'सान्नाय्य'-हवि कहते हैं। दूध और दधि के परस्पर सम्मिश्रण द्वारा उनका एकीकरण 'सान्नाय्य'[1] पद का वाच्यार्थ है। पौरोडाशिक काण्ड में सान्नाय्य हवि के क्रम में 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे'[2] मन्त्र पात्रशोधन में विनियोग के लिए पढ़ा गया है—हे आपः! दैव्यकर्म के लिए पात्रों का शोधन करो। शिष्य जिज्ञासा करता है—यहाँ सन्देह है—यदि समाख्या=नाम बलवान् है, तो काण्ड का 'पौरोडाशिक' नाम होने से इस मन्त्र का विनियोग पुरोडाश-पात्रों के शोधन में किया जाना चाहिए। यदि क्रम बलवान् है, तो सान्नाय्य हवि के क्रम में पठित होने से सान्नाय्य हवि-पात्रों के शोधन में मन्त्र का विनियोग होना चाहिए। इन दोनों में बलाबल का निर्णय होना अपेक्षित है। आपाततः ये समानबल प्रतीत होते हैं; क्योंकि इन दोनों में से किसी एक को बलवान् और दूसरे को दुर्बल बतानेवाला कोई विशेष कारण उपलब्ध नहीं है। फिर भी प्रकरण से बाधित होने के कारण क्रम को दुर्बल कहा जा सकता है। तब नाम (=समाख्या) कारण के आधार पर उक्त मन्त्र का विनियोग पुरोडाश-पात्रों के शोधन में किया जाना चाहिए,—यह प्राप्त होता है।

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—क्रम और समाख्या के साम्मुख्य में क्रम बलवान् होता है, तथा अगला समाख्या-कारण दुर्बल (—पार-दौर्बल्यम्), क्योंकि समाख्या में अर्थ की दूरी रहती है (अर्थविप्रकर्षात्)। समाख्या का अर्थविप्रकर्ष क्या है? वह इस प्रकार समझना चाहिए—'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे' मन्त्र का पाठ सान्नाय्य हवि के क्रम में उपलब्ध है, इसलिए सान्नाय्य हवि के साथ उसका साक्षात् सम्बन्ध स्पष्ट है। समाख्या (=पौरो-डाशिक नामक काण्ड) में पुरोडाश के साथ 'शुन्धध्वं दैव्याय' मन्त्र का सम्बन्ध नहीं कहा गया। 'पौरोडाशिक' इस समाख्या (काण्ड के नाम) में 'पुरोडाश' पद देखे जाने से अर्थापत्ति-प्रमाण के आधार पर 'शुन्धध्वं' मन्त्र का पुरोडाश के साथ सम्बन्ध जोड़े जाने की कल्पना की जाती है। इसलिए सान्नाय्य हवि के साथ मन्त्र का स्पष्ट सम्बन्ध बतानेवाले क्रम से समाख्या-कारण बाधित हो जाता है।

श्रुति आदि विनियोग के प्रयोजक कारणों में बलाबल की जाँच वहीं अपेक्षित होती है, जहाँ एक ही लक्ष्य में दो कारण परस्पर-विरोधी बनकर उपस्थित होते

---

१. पाणिनि सूत्र [३।१।१२९] 'पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्या मानहविर्निवास-सामिधेनीषु' से 'सम्'-उपसर्गपूर्वक 'नी' धातु से 'ण्यत्' प्रत्यय लगाकर 'सान्नाय्य' पद हविविशेष अर्थ में निष्पन्न किया गया है।

२. तै० सं० १।१।३॥ मैत्रा० सं० १।१।३॥ शुक्ल यजुः १।१३॥

हैं। अविरोध अवस्था में अपने-अपने लक्ष्य में सभी कारण बलवान् हैं। अपने लक्ष्य में प्रत्येक कारण विनियोग का प्रयोजक होता है। इसी अनुसार अङ्गाङ्गि-भाव निर्धारित किया जाता है। जिसका विनियोग किया जाय वह अङ्ग, जहाँ विनियोग किया जाय वह अङ्गी होता है ॥१४॥ (इति श्रुत्यादीनां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वाधिकरणम्—७)।

(द्वादशोपसत्ताया अहीनाङ्गताधिकरणम्—८)

तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में प्रतिज्ञात शेष लक्षण के उपपादन के अनन्तर श्रुति आदि विनियोजक प्रमाणों के बलाबल का निरूपण किया गया। कर्मों में कौन कर्म शेष=अङ्ग और कौन कर्म शेषी=अङ्गी है, इसका (=अङ्गाङ्गि-भाव का) निर्णय श्रुति आदि प्रमाणों के आधार पर होता है, जिसका उपयुक्त विवरण प्रस्तुत कर दिया गया। श्रुति आदि विनियोजक प्रमाणों के बलाबल विचार का कहाँ विरोध होता है, कहाँ नहीं, इसपर अब विवेचन किया जायगा, जो बलाबल-विचार के साथ सम्बद्ध है।

तैत्तिरीय संहिता [६।२।५] में ज्योतिष्टोम का प्रारम्भ करते हुए पाठ है— 'तिस्र एव साह्नस्योपसदो द्वादशाहीनस्य।' 'साह्न' पद एक दिन में सिद्ध होनेवाले ज्योतिष्टोम-याग के लिए प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि ज्योतिष्टोम पाँच दिन में सिद्ध होनेवाला कर्म है, पर एक दिन साध्य सोमयाग के कारण इसे 'साह्न' औपचारिक रूप में कहा है। ज्योतिष्टोम के तीन उपसद् होते हैं, अहीन के बारह। शिष्य ने जिज्ञासा की—इसमें सन्देह होता है, क्या बारह उपसद् का यह विधान ज्योतिष्टोम के लिए है, अथवा अहीन के लिए? प्रतीत होता है, यह बारह उपसद् का विधान ज्योतिष्टोम में है, क्योंकि यह विधान ज्योतिष्टोम का प्रारम्भ करके किया गया है। मुख्य ज्योतिष्टोम है, अहीन क्रतु का कथन यहाँ गौण है। शिष्य-जिज्ञासा को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

अहीनो वा प्रकरणाद् गौणः ॥१५॥

[वा] सूत्र में 'वा' पद संशय के अभाव का द्योतक है। तात्पर्य है—उक्त कथन में संशय का कोई अवकाश नहीं। [अहीनः] सन्दर्भ में 'अहीन'-पद ज्योतिष्टोम का वाचक है; [प्रकरणात्] ज्योतिष्टोम का प्रकरण होने से, [गौणः] अहीन पद गौण है।

संहिता-सन्दर्भ में 'अहीन' पद गुणवृत्ति से ज्योतिष्टोम के लिए प्रयुक्त हुआ है। जो क्रतु दक्षिणा, क्रतु के अन्य अङ्गों तथा फल से हीन=रहित नहीं है, वह अहीन है। ज्योतिष्टोम ऐसा ही क्रतु है; उसके लिए उक्त पद का प्रयोग कर दिया गया है तथा यह प्रकरण भी ज्योतिष्टोम का है। 'द्वादश-अहीनस्य' वाक्य में

'अहीन' पद ज्योतिष्टोम का वाचक होने से यह आशंका उठाना भी व्यर्थ होगा कि वाक्य से प्रकरण बाधित हो जाता है। बाधा विरोध होने पर होती है; यहाँ तो वाक्य और प्रकरण दोनों ज्योतिष्टोम का निर्देश कर रहे हैं। इसलिए बारह उपसद् ज्योतिष्टोम में समझने चाहिएँ।

'उपसद्' नामक इष्टि हैं, जो सोमयाग में दीक्षित होने के अनन्तर सोमाभिषव से पूर्व अनुष्ठित की जाती हैं। किस क्रतु में कितनी उपसद् इष्टि हों? उनकी संख्या यहाँ बताई गई है। सोमयागों में इन इष्टियों का विधान है। 'अहीन' वे हैं जो दो दिन में सिद्ध होनेवाले क्रतु से लगाकर ग्यारह दिन तक में सिद्ध होते हैं। बारह दिन में साध्य सोमयाग की संज्ञा 'अहीन' और 'सत्र' दोनों हैं। इससे अधिक समय में साध्य सब सोमयाग 'सत्र' कहे जाते हैं।

बारह उपसद् ज्योतिष्टोम में हैं, इस पूर्वपक्ष का सूत्रकार ने समाधान किया—

असंयोगात्तु मुख्यस्य तस्मादपकृष्यते ॥१६॥

सूत्र में [तु] पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—संहिता-सन्दर्भ में 'अहीन' पद ज्योतिष्टोम का वाचक नहीं है। 'साह्न' पद से कहे गये [मुख्यस्य] मुख्य ज्योतिष्टोम का द्वादश उपसत्ता के साथ [असंयोगात्] सम्बन्ध न होने से [तस्मात्] उस साह्न ज्योतिष्टोम से द्वादश उपसद् का होना [अपकृष्यते] खींचा जाता है, हटाया जाता है। तात्पर्य है, बारह उपसद् इष्टियों का सम्बन्ध अहीन-संज्ञक क्रतुओं के साथ है; ज्योतिष्टोम के साथ नहीं।

संहिता-सन्दर्भ में बारह उपसद् नामक इष्टियों का सम्बन्ध अहीन-संज्ञक क्रतु के साथ साक्षात् निर्दिष्ट है। अहीन पद को गुणवृत्ति से नञ् समास के आधार पर ज्योतिष्टोम का वाचक समझना नितान्त अयुक्त है। गौण अर्थ की कल्पना वहीं की जाती है, जहाँ अभिधावृत्ति से उपयुक्त समञ्जस अर्थ की सम्भावना न हो। अहीन पद, दिनवाचक 'अहन्' शब्द से 'अह्नः खः क्रतौ' [व्याकरण महाभाष्य ४।२।४३] वार्त्तिक के अनुसार समूह अर्थ में क्रतु अभिधेय होने पर ख (=ईन) प्रत्यय होकर सिद्ध होता है। इस प्रकार अभिधाशक्ति-बोध्य अर्थ इस पद का है—ऐसा क्रतु जो एकाधिक दिनों के समूह में सम्पन्न किया जाय। आचार्यों ने इसकी सीमा बताई, दो दिन से लगाकर ग्यारह दिन तक में सम्पन्न होनेवाले क्रतु 'अहीन' कहे जाते हैं। ऐसे क्रतुओं में बारह उपसद् इष्टियाँ अनुष्ठित होती हैं।

अहीन पद का गुणवृत्ति से ज्योतिष्टोम अर्थ समझना स्वर की दृष्टि से भी असंगत है। नञ् समास होने पर पाणिनि-नियम [६।२।२] के अनुसार यह पद आद्युदात्त होना चाहिए। परन्तु संहिताओं में यह मध्योदात्त उपलब्ध होता है,

जो गत पंक्तियों में बताई गई 'अहीन' पद की सिद्धि के अनुसार संगत है। फलतः ज्योतिष्टोम में उपसद् इष्टियाँ तीन ही होती हैं; बारह उपसद् इष्टियाँ अहीन क्रतु में। यह प्रकरण ज्योतिष्टोम का होने पर भी संहिता-वाक्य इसका स्पष्ट कथन करता है। यह तभी सम्भव है, जब साह्न-ज्योतिष्टोम और अहीन को भिन्न कर्म माना जाता है। ऐसी स्थिति में अहीन पद का प्रयोग ज्योतिष्टोम के लिए कहना सर्वथा अयुक्त है ॥१६॥ (इति द्वादशोपसत्ताया अहीनाङ्गताधिकरणम्—८)

(कुलायादौ प्रतिपदोत्कर्षाधिकरणम्—९)

'कुलाय'-संज्ञक यज्ञविशेष हैं, विभिन्न स्तर के अथवा विजातीय व्यक्ति सम्मिलितरूप से जिन यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं, वे यज्ञ = क्रतु 'कुलाय' नाम से व्यवहृत होते हैं। ज्योतिष्टोम-प्रकरण में पाठ है—" 'युवं हि स्थः स्वः पती', इति द्वयोर्यजमानयोः प्रतिपदं कुर्यात्", 'युवं हि स्थः स्वः पती' [ऋ० ९।१९।२॥ साम० १००१] इस ऋचा को दो यजमानों की प्रतिपद् करे। आगे पाठ है—" 'एते असृग्रमिन्दवः' इति बहुभ्यो यजमानेभ्यः"—इस ऋचा को बहुत यजमानों की प्रतिपद् करे।

ज्योतिष्टोम के प्रातःसवन में गेय बहिष्पवमान स्तोत्र सदोमण्डप से बाहर 'चात्वाल' नामक स्थान में गाया जाता है। उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्त्ता तीन ऋत्विक् मिलकर इसका गान करते हैं। पापशोधन कर पवित्र करनेवाले इस स्तोत्र का गान सदोमण्डप से बाहर होने के कारण इसका 'बहिष्पवमान' नाम है। प्रत्येक स्तोत्र तीन ऋचाओं पर गाया जाता है। बहिष्पवमान स्तोत्र की पहली गेय ऋचा 'प्रतिपद्' कही जाती है। यद्यपि सामान्यरूप से ज्योतिष्टोम में बहिष्पवमान स्तोत्र की प्रतिपद् 'उतास्मै गायता नरः' ऋचा विहित है, परन्तु जहाँ दो यजमान मिलकर क्रतु-अनुष्ठान करें, वहाँ बहिष्पवमान स्तोत्र की प्रतिपद् 'युवं हि स्थः' ऋचा को करें। अहीन-संज्ञक सोमयाग में एक, दो या बहुत यजमानों के साथ मिलकर याग का विधान है।[1]

शिष्य जिज्ञासा करता है—उक्त प्रतिपद्-ऋचाओं के विषय में सन्देह है—क्या ये दोनों प्रतिपद् ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत हैं? अथवा दो यजमानों द्वारा

---

१. 'एको द्वौ बहवो वाऽहीनैर्यजेरन्' कुतूहलवृत्ति ३।३।१५॥ कात्या० श्रौ० १२।१।४ की विद्याधर टीका की टिप्पणी। सत्रयागों में 'ये यजमानास्त एव ऋत्विजः' के अनुसार १७ यजमान न्यूनतम होते हैं; इस आधार पर न्यायमालाविस्तर में सायण ने बहुयजमानविषयक वचन को सत्र-सम्बन्धी कहा है। (यु० मी० पृ० ८३०)

साध्य 'कुलाय'-संज्ञक आदि कर्म में, एवं बहुत यजमानों द्वारा साध्य 'द्विरात्र' आदि कर्मों में इनका उत्कर्ष करना योग्य है ? अर्थात् यहाँ से हटाकर उन प्रकरणों में इनको ले-जाना उपयुक्त है ? प्रतीत होता है, ज्योतिष्टोम में ही इनका निवेश युक्त है, क्योंकि ये ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित हैं। इससे प्रकरण उपकृत होता है।

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

द्वित्वबहुत्वयुक्तं वाऽचोदनात् तस्य ॥१७॥

गत सूत्र से यहाँ 'असंयोगात्, तस्मात्, अपकृष्यते' तीन पदों की अनुवृत्ति है। सूत्र का 'वा' पद समुच्चय अर्थ में है। सूत्रार्थ होगा—[द्वित्वबहुत्वयुक्तम्] द्वित्व और बहुत्व से युक्त प्रतिपद्-ऋचा [वा] भी [असंयोगात्] ज्योतिष्टोम से असम्बद्ध होने के कारण [तस्मात्—अपकृष्यते] उस ज्योतिष्टोम से हटाई जाती हैं, दूर ले-जाई जाती हैं, [तस्य, अचोदनात्] ऐसे ज्योतिष्टोम का विधान न होने से, जिसमें दो या उससे अधिक यजमान हों।

ज्योतिष्टोम में निर्धारित रूप से यजमान एक होता है। उक्त प्रतिपद्-ऋचा उन कर्मों में उपयोग के लिए कही गई हैं, जो कर्म दो यजमानों अथवा दो से अधिक बहुत यजमानों द्वारा मिलकर अनुष्ठित किये जाते हैं। इसलिए ज्योतिष्टोम प्रकरण में पढ़ी जाने पर भी इन प्रतिपद्-ऋचाओं का उपयोग ज्योतिष्टोम में सम्भव नहीं। तब इनके उचित उपयोग के लिए इन्हें यहाँ से हटाकर 'कुलाय'-संज्ञक आदि यागों में ले-जाना सार्थक है। वे कर्म विधानानुसार दो अथवा अधिक यजमानों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं ॥१७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—दो या बहुत यजमानों का होना ज्योतिष्टोम में भी सम्भव है। ज्योतिष्टोम नित्यकर्म है। यजमान कभी रुग्ण आदि हो सकता है, तब अन्य एक या अधिक सहयोगी के द्वारा याग को निरन्तर चालू रखने पर एकाधिक यजमानों की कल्पना ज्योतिष्टोम में सम्भव होने से प्रतिपद्-ऋचाओं का ज्योतिष्टोम प्रकरण से अपकर्ष आवश्यक नहीं है।

सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

पक्षेणार्थकृतस्येति चेत् ॥१८॥

नित्यकर्म ज्योतिष्टोम के अवश्यकर्त्तव्य होने के कारण सामर्थ्यहीन यजमान के [अर्थकृतस्य] याग-सम्पादन प्रयोजनवश सहयोगी किये गये व्यक्ति के [पक्षेण] विकल्प से एक या दो अन्य यजमानों के द्वारा, ज्योतिष्टोम में दो या बहुत यजमानों की सम्भावना से तत्सम्बन्धी प्रतिपद्-ऋचा ज्योतिष्टोम में

निविष्ट रह सकती हैं; ऐसा यदि कहो, तो (वह युक्त नहीं; अगले सूत्र से सम्बद्ध है)।

दो या बहुत यजमान ज्योतिष्टोम में सम्भव होने से प्रतिपद्-ऋचाओं का निवेश ज्योतिष्टोम में माना जा सकता है। इससे प्रकरण बाधित न होगा। उत्कर्ष मानने पर प्रकरण बाधित होता है। निर्धारित एक यजमान किन्हीं रोगादि कारणों से अशक्त होने पर नित्यकर्म ज्योतिष्टोम को निरन्तर चालू रखने की भावना से सहयोगी यजमान को ग्रहण करेगा। तब ज्योतिष्टोम में यजमान के एकत्व को बाधकर दो या बहुत यजमानों से सम्बद्ध प्रतिपद्-ऋचाओं का निवेश ज्योतिष्टोम में बना रहेगा। फलतः उनका उत्कर्ष नहीं करना चाहिए ॥१८॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

न प्रकृतेरेकसंयोगात् ॥१९॥

[न] गत सूत्र में कहा अर्थ युक्त नहीं है। तात्पर्य है, दो या बहुत यजमानों से सम्बद्ध प्रतिपद्-ऋचाओं का ज्योतिष्टोम से उत्कर्ष करना अपेक्षित नहीं, यह कथन अयुक्त है, [प्रकृतेः] प्रकृतियाग ज्योतिष्टोम का [एकसंयोगात्] एक यजमान के साथ सम्बन्ध होने से। इसलिए जिस कर्म में दो या अधिक यजमान हों, उसका सन्निवेश ज्योतिष्टोम में सम्भव नहीं। अतः प्रतिपद्-ऋचाओं का यहाँ से उत्कर्ष आवश्यक है।

ज्योतिष्टोम के विधिवाक्य 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' में एकवचन के प्रयोग से ज्योतिष्टोम-यजनकर्त्ता यजमान एक ही श्रुत है। सूत्रकार ने सूत्र में 'प्रकृतेः' पद का प्रयोग इसी भाव को अभिव्यक्त करने के लिए किया है कि ज्योतिष्टोम अथवा अग्निष्टोम अन्य समस्त सोमयागों का प्रकृतिभूत याग है, यह जाना जा सके। प्रकृतियाग में अनुष्ठेय सब धर्मों व अङ्गों का यथावत् निर्देश होता है। उसी के अनुसार कर्मानुष्ठान किया जाता है; किसी बाह्य अतिदेश आदि से उसे बाधा नहीं जा सकता। विकृतियागों में ऐसा नहीं होता। वहाँ 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' नियम के अनुसार किन्हीं अङ्गों की बाधा सम्भव है। इसका उपयुक्त विवेचन शास्त्र के अन्तिम अध्याय में किया गया है। ज्योतिष्टोम प्रकृतियाग कर्त्ता यजमान का एकत्व प्रत्यक्ष श्रुत है, उसका बाध सम्भव नहीं। इसलिए दो या बहुत यजमानों से सम्बद्ध प्रतिपद्-ऋचाओं का ज्योतिष्टोम से उत्कर्ष किया जाना सर्वथा न्याय्य है।

यजमान के असमर्थ होने पर नित्यकर्म को चालू रखने की अनिवार्यता के कारण उसके प्रतिनिधिरूप में अन्य व्यक्ति के सहयोग से ज्योतिष्टोम में दो यजमानों की कल्पना, अथवा पत्नी-साहचर्य्य से दो या बहुत यजमानों की कल्पना

नितान्त अशास्त्रीय है। सहयोगी व्यक्ति भृति (पारिश्रमिक शुल्क=धन-प्राप्ति) के प्रयोजन से अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है, यजमान-रूप में उसका वरण नहीं किया जाता। पत्नी भी पति की सहचारिणी के रूप में उपस्थित होती है, स्वयं यजमान के रूप में नहीं। ज्योतिष्टोम में दो या बहुत यजमानों का होना असम्भव होने से—दो या बहुत यजमानों से सम्बद्ध प्रतिपद्-ऋचाओं का ज्योतिष्टोम से उत्कर्ष कर 'कुलाय'-संज्ञक कर्म में उनका उपयोग किया जाना शास्त्रानुकूल है ॥१६॥ (इति कुलायादौ प्रतिपदोरुत्कर्षाधिकरणम्—६)।

(जाघन्याः प्रकरणादनुत्कर्षाधिकरणम्—१०)

शिष्य जिज्ञासा करता है—दर्श-पूर्णमास में पत्नीसंयाज कर्म का निर्देश है—'जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति' [आप० श्रौ० ३।८।१०] पूंछ से 'पत्नीसंयाज' नामक कर्म करते हैं। प्रस्तुत श्रौतसूत्र के अतिरिक्त समस्त अन्य याजुष वाङ्मय में पत्नीसंयाज-कर्म के होमद्रव्य के रूप में 'जाघनी' का उल्लेख कहीं उपलब्ध नहीं है। इस कर्म में हविद्रव्य आज्य बताया गया है।[1] ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत पशुयाग प्रकरण में 'जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति' वचन का उल्लेख अवश्य मिलता है।

जघन कटिप्रदेश का नाम है; भाषा में जांघ बोलते हैं। उसका एक भाग—कोई एक अंश—'जाघनी' है। व्याख्याकारों ने जाघनी का अर्थ पूंछ किया है। पर 'जघन' पद का अर्थ कोष में मादा के कटिप्रदेश का अगला भाग है, जो घोंटू के ऊपर मांसल अंश है। पूंछ से उसका कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

दर्श-पूर्णमास के अन्तर्गत 'पत्नीसंयाज' कर्म है, जिसमें चार देवताओं के लिए आज्य हवि की चार आहुतियां दी जाती हैं। वहां वाक्य है—'सोमं यजति, त्वष्टारं यजति, देवानां पत्नीर्यजति, अग्निं गृहपतिं यजति' इस वाक्य से—सोम, त्वष्टा, देवपत्नियां और अग्निगृहपति—चार देवता विहित हैं। इन सबका 'पत्नीः संयाजयन्ति' वचन में केवल 'पत्नी' पद से निर्देश किया गया है। यह मीमांसा (१।४।२८) में वर्णित प्राणभृन्न्याय के अनुसार अथवा लोकप्रसिद्ध छत्रिन्याय के अनुसार समझना चाहिए।

प्रस्तुत अधिकरण में दर्श-पूर्णमास के अन्तर्गत पत्नीसंयाज-कर्म के लिए आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के 'जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति' वचन के अनुसार 'जाघनी' हवि को लक्ष्य कर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यहाँ सन्देह है, यह विधान दर्श-

---

१. द्रष्टव्य—भाट्टदीपिका, यही अधिकरण—'आज्येन पत्नीः संयाजयन्ति।' शत० ब्रा० [१।६।२।७] में पत्नीसंयाज के लिए आज्य हवि की प्रशंसा की गई है।

पूर्णमास में माना जाय ? अथवा पशुयाग में इसका उत्कर्ष माना जाय ? यदि जाघनी हवि को उद्देश्य कर पत्नीसंयाजों का विधान किया जाता है, तो इसका पशुयाग में उत्कर्ष होगा ; यदि पत्नीसंयाजों के लिए जाघनी हवि का विधान किया जाता है, तब यह दर्शपूर्णमास में ही होगा। प्रतीत होता है, पशुयाग में इसका उत्कर्ष होना चाहिए, क्योंकि जाघनी पशु का अवयव है। दर्श-पूर्णमास श्रौतकर्म हैं, इनमें पशुयाग-सम्बन्धी कोई कर्म विहित नहीं है।

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-सुझाव को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

जाघनी चैकदेशत्वात् ॥२०॥

[जाघनी] दर्श-पूर्णमास में पठित जाघनी हवि [च] भी यहाँ से हटाकर पशुयाग में ले-जाई जाय, [एकदेशत्वात्] पशु का एकदेश—एक अवयव होने से।

दर्श-पूर्णमास से जाघनी का उत्कर्ष किया जाना चाहिए। पशुयाग में जाघनी के उत्कर्ष से दर्श-पूर्णमासपठित पत्नीसंयाज-कर्म में जाघनी के बिना कोई वैगुण्य नहीं आयेगा। यह कर्म आज्य हवि से सम्पादित हो जायगा। जाघनी का भी—सवनीय पशुयाग में आहुत किये जाने से—उचित उपयोग हो जाता है। इस प्रकार पशुयाग में जाघनी प्रयोजनवाली है; दर्श-पूर्णमास में उसका कोई प्रयोजन नहीं है। पशु के एकदेश रूप से कही गई जाघनी दर्श-पूर्णमास में पशु को प्रयोजित नहीं कर सकती। अन्यथा पशु को वहाँ लाकर उसका वह अङ्ग काटना पड़ेगा, जो नितान्त अशास्त्रीय है। इसलिए वहाँ से जाघनी का उत्कर्ष होना ही चाहिए ॥२०॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त पूर्वपक्ष का समाधान किया—

चोदना वाऽपूर्वत्वात् ॥२१॥

[वा] सूत्र में 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिए है। तात्पर्य है, दर्श-पूर्णमास से जाघनी का उत्कर्ष नहीं होता। [चोदना] दर्शपूर्णमास में जाघनी का विधान है, [अपूर्वत्वात्] अपूर्व होने से।

दर्श-पूर्णमास में जाघनी का निर्देश पत्नीसंयाजों के लिए हवि द्रव्य का विधान करता है, अपूर्व होने से। तात्पर्य है, पत्नीसंयाजों का जाघनी हविद्रव्य कहीं अन्यत्र से प्राप्त नहीं है। 'पत्नीः संयाजयन्ति' से सोम, त्वष्टा, देवपत्नियाँ, अग्नि-गृहपति देवता-सहित याग का विधान प्राप्त है। उसी के हविद्रव्य रूप में अन्यत्र से अप्राप्त—जाघनी का दर्शपूर्णमास में विशेष विधान है। इसलिए दर्शपूर्णमास से जाघनी का उत्कर्ष नहीं किया जाना चाहिए।

यह कहना ठीक न होगा किजाघनी का विधान वाक्य से और याग का विधान

श्रुति से होता है, तथा श्रुति के साम्मुख्य में वाक्य दुर्बल होगा। तब जाघनी का उत्कर्ष माना जाय। क्योंकि जाघनी को वाक्यबोधित मानने पर वाक्यभेद आपन्न होगा; वाक्यानुसार अर्थ किया जायगा—'जाघनीमुद्दिश्य यागो विधीयते' एक वाक्य, 'पत्न्यश्च विधीयन्ते' दूसरा वाक्य। इसलिए वहाँ (दर्श-पूर्णमास में) केवल जाघनी हविद्रव्य का विधान मानना चाहिए। पत्नीसंयाजों का हवि के उपयोग के लिए निर्देश है, मुख्य विधान नहीं है। अतः जाघनी का उत्कर्ष दर्शपूर्णमास से किया जाना अमान्य है।।२१।।

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है—जाघनी पशु का एकदेश है; उसका उपयोग पशुयाग में सम्भव है, अन्यत्र (दर्श-पूर्णमास में) नहीं। अतः उत्कर्ष आवश्यक है।

इस जिज्ञासा को सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

एकदेश इति चेत् ।।२२।।

[एकदेशः] जाघनी हविद्रव्य पशु का एकदेश = अवयव है, अतः जहाँ याग में पशु उपस्थित होगा, वहाँ उसका उत्कर्ष होना चाहिए, [इति चेत्] ऐसा यदि मानो तो—(अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)।

जाघनी हवि पशु का अवयव होने से पशुयाग में उसका उत्कर्ष करना होगा। दर्शपूर्णमास में पशु उपस्थित नहीं होता, अतः उत्कर्ष आवश्यक है ॥ २२॥

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

न प्रकृतेरशास्त्रनिष्पत्तेः ।।२३।।

[न] गत सूत्र का कथन युक्त नहीं है। [प्रकृतेः] प्रकृतियाग दर्श-पूर्णमास के सम्बन्ध में [अशास्त्रनिष्पत्तेः] जाघनीविषयक स्पष्ट निर्देश, अमुक पशु का ऐसा अवयव हो—इस प्रकार का शास्त्रसिद्ध कथन—न होने से उत्कर्ष नहीं होगा।

सूत्रकार का आशय है—यदि शास्त्र में स्पष्ट रूप से यह बताया होता कि अमुक पशु का अमुक अवयव 'जाघनी' पद से ग्राह्य है, तो उसका उत्कर्ष पशुयाग में सम्भव था, क्योंकि वहाँ पशु का उपस्थित होना शास्त्रानुकूल होता। पर ऐसा निर्देश न होने के कारण 'जाघनी' साधारण कथन होने से वह अवयव स्वयं मरे अथवा कसाई आदि द्वारा मारे गये पशु का क्रय आदि करके कहीं से भी ग्रहण किया जा सकता है। मध्यकालिक टीकाकारों के अनुसार फिर भी वह अवयव यज्ञिय पशु अथवा भक्ष्य पशु का ही होना चाहिए। ऐसी स्थिति में 'जाघनी' का उत्कर्ष अनावश्यक है ।।२३।।

इस अधिकरण के विषय में पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने अनेक उपपत्ति दर्शाते हुए लिखा है कि प्रस्तुत अधिकरण में कथित सिद्धान्त एकदेशी मत है। जैमिनि सूत्रकार एवं अन्य प्राचीन आचार्यों का यह मान्य सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि

जाघनी का दर्श-पूर्णमास में उल्लेख केवल आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में उपलब्ध है, अन्यत्र समस्त वैदिक वाङ्मय में कहीं नहीं। इसके अतिरिक्त दर्श-पूर्णमास के अन्तर्गत पत्नीसंयाज-कर्म का हविद्रव्य सर्वत्र 'आज्य' बताया गया है। दर्श-पूर्णमास आदि श्रौत यागों में आमिष का सम्पर्क कहीं नहीं बताया गया। अतः दर्शपूर्णमास में 'जाघनी' की घुसपैठ सर्वथा अवैदिक है। प्रस्तुत अधिकरण में यह विवेचन केवल आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के आधार पर है। अधिक जानकारी के लिए मीमांसक महोदय का ग्रन्थ देखें।

पं० आर्यमुनि ने इस अधिकरण की व्याख्या में अधिकरण का पर्यवसान अनुत्कर्ष में न मानकर उत्कर्ष में माना है। अधिकरण में यहाँ चार सूत्र हैं। पहले सूत्र द्वारा 'जाघनी' के उत्कर्ष का उपपादन किया गया है। शबरस्वामी ने उसे पूर्वपक्ष कहा है। इसके विपरीत आर्यमुनि ने उसे सिद्धान्त-पक्ष माना है। अगले दो सूत्रों को एकसूत्र मानकर पूर्वपक्षरूप में उसकी व्याख्या निम्न प्रकार से की है—

"चोदना वाऽपूर्वत्वादेकदेश इति चेत्।

'वा' शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिए आया है [चोदना] उक्त वाक्य में 'पत्नीसंयाज' के अङ्गरूप से 'जाघनी' का विधान है क्योंकि [अपूर्वत्वात्] ऐसा होने से अपूर्व अर्थ का लाभ होता है और [एकदेशः] पशु की हिंसा करने से उसके अवयव 'जाघनी' की प्राप्ति हो सकती है [चेत्] यदि [इति] ऐसा कहो तो (ठीक नहीं—इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है)।

भाष्य—उक्त वाक्य में 'जाघनी' द्वारा प्रदेय पशु के 'पत्नीसंयाज' नामक संस्कार का विधान अभिप्रेत नहीं, किन्तु उक्त संस्कारकर्म के लिए साधनरूप से 'जाघनी' का विधान अभिप्रेत है अर्थात् 'पत्नीसंयाज' नामक संस्कारकर्म प्रथम प्राप्त होने पर भी उसका साधन 'जाघनी' प्रथम प्राप्त नहीं है, उसी का साधनरूप से विधान उक्त वाक्य से विवक्षित है, क्योंकि प्रथम प्राप्त न होने के कारण वह अपूर्व है और अर्थ का विधान सर्वसम्मत है; और यद्यपि प्रकृत 'दर्श-पूर्णमास' याग में प्रदेय पशु नहीं है तथापि उसका अवयव जाघनी दुष्प्राप नहीं है—वह पशुहिंसा द्वारा मनुष्यमात्र को प्राप्त हो सकती है, और शास्त्रविहित कर्म की सिद्धि के लिए 'हिंसा' का करना कोई दोष नहीं है; इसलिए पशुयाग में जाघनी का उत्कर्ष युक्त नहीं, किन्तु प्रकृतयाग में निवेश ही युक्त है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—

न प्रकृतेरशास्त्रनिष्पत्तेः ॥

पदार्थ—[न] उक्त कथन ठीक नहीं क्योंकि [प्रकृतेः] प्रकृतयाग में जाघनी

का निवेश मानने में [अशास्त्रनिष्पत्तेः] सर्वशास्त्र-प्रतिषिद्ध हिंसा करनी पड़ती है।

भाष्य—यदि उक्त वाक्य में 'जाघनी' का साधनरूप से विधान मानें तो उसके सम्पादनार्थ पशु की हिंसा करनी पड़ती है और यह सर्वशास्त्रनिषिद्ध होने के कारण त्याज्य है, उपादेय नहीं, और अन्य कोई उपाय उसकी प्राप्ति का नहीं है; उपाय के न होने से जिसका प्राप्त होना असम्भव है उसका साधनरूप से विधान शास्त्र कदापि नहीं कर सकता, इसलिए जाघनी का प्रकृतयाग से पशुयाग में उत्कर्ष ही उचित है, प्रकृत याग में निवेश उचित नहीं।"

प्रस्तुत अधिकरण के विषय में हमारा विचार है—यह रचना महर्षि जैमिनि की नहीं है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र की रचना के अनन्तर तथा भाष्यकार शबर-स्वामी के काल से पहले आमिषलोलुप याज्ञिकों ने इस अधिकरण का यहाँ प्रक्षेप किया है।

उत्कर्ष के क्रम में अनुत्कर्ष का कथन उत्प्रकरण प्रतीत होता है। इस व्यति-क्रम को देखकर पं० आर्यमुनि ने अधिकरण की योजना उत्कर्ष में की है। पर कहा जा सकता है, उत्कर्ष का प्रकरण पूरा कर एक स्थल अनुत्कर्ष का अपवाद-रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो अपेक्षित था; इसमें व्यतिक्रम-दोष बताने का कोई अवसर नहीं है।

'जाघनी' पद के 'पूँछ' अर्थ का सामञ्जस्य किसी व्याख्याकार ने स्पष्ट करने का प्रयास नहीं किया। 'जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति' वाक्य पत्नीसंयाज-कर्म के प्रति साधनरूप में जाघनी को प्रस्तुत करता है। जाघनी की साधनता क्या है? यह कहीं स्पष्ट किया गया ज्ञात नहीं हुआ। इसको पत्नीसंयाज-कर्म का हविद्रव्य बताया गया। तो क्या पूँछ को काटकर उसकी आहुतियाँ दी जाती हैं? तो यह खोटा निरर्थक कूड़ाकरकट देवताओं के लिए, और कटिभाग की मांस-पेशियाँ—जो 'जाघनी' पद का वास्तविक अर्थ होना चाहिए, वह—खरा माल यारों का; क्या इसका यही तात्पर्य न होगा? यह तात्कालिक याज्ञिकों की मांसलोलुपता का नंगा रूप है। यदि पूँछ को पकड़कर पशु का अन्य कोई संस्कार किया जाता है, तो इस प्रसंग के विवरणों में उसका कहीं कोई उल्लेख नहीं है, उस दशा में इसको हविद्रव्य बनाना भी निरर्थक होगा।

शबर स्वामी से लगाकर आगे के सभी व्याख्याकारों ने इस अधिकरण के विषय में जो विचार प्रस्तुत किये हैं, उनसे दर्श-पूर्णमास में 'जाघनी' की उप-योगिता का कोई पता नहीं लगता। दर्श-पूर्णमास पवित्र श्रौत कर्म हैं। अन्य प्रधान यागों के अन्तर्गत पशुयाग के रूप में पशु का सम्पर्क—वह चाहे जिस भावना से रहा हो—जाना जाता है। श्रौत कर्म पशु-सम्पर्क से रहित हैं। वे भी उससे अछूते न रहें; सम्भवतः इसी कारण दर्श-पूर्णमास में जाघनी का निवेश कर अपनी

रसनालोलुपता को बहलाने के लिए मार्ग निष्कण्टक बना लिया। इससे प्रस्तुत अधिकरण का प्रक्षिप्त किया जाना स्पष्ट होता है। इस विषय में अन्य स्वारस्यपूर्ण सुझाव है—यदि 'जाघन्या पत्नी: संयाजयन्ति' वाक्य में 'जाघन्या' पद के आगे 'उपविश्य' पद का अध्याहार कर लिया जाता है, तो इस सम्बन्ध की सब समस्याएँ तिरोहित हो जाती हैं, और अपेक्षित प्रस्तुत विषय स्पष्ट होकर सामने आ जाता है।

'जाघनी' पद प्रस्तुत प्रसंग में बैठने की विशेष रीति का निर्देश करता है। यह पशु की पूँछ का अन्य कोई अवयव न होकर पत्नीसंयाज-अनुष्ठाता व्यक्ति की 'आसिका' (बैठने की रीति) मात्र है। दोनों पैर पीछे को और घोंटू आगे को कर जाँघों के आधार पर बैठना 'जाघनी' है। ऐसे बैठने को लोक में 'उष्ट्रासिका' कहा जाता है—ऊँट की तरह बैठना। बहती भाषा में इसे 'उकड़ियों बैठना' भी कहते हैं। पत्नीसंयाज-कर्म में—इस प्रकार बैठकर—आहुतियाँ दी जानी चाहिएँ, यह उक्त वाक्य (जाघन्या पत्नी: संयाजयति) में अपूर्व अर्थ का विधान है। हविद्रव्य का कोई निर्देश नहीं है। पत्नीसंयाज-कर्म में हविद्रव्य आज्य निर्धारित है, उसकी न यहाँ आकांक्षा है, न आवश्यकता। रसनालोलुप याज्ञिकों ने 'जाघनी' पद का पशु-अवयव अर्थ कर उसे हविद्रव्य के रूप में उभारने का प्रयास किया है।

इस सुझाव की छाया में सूत्रार्थ निम्न प्रकार समझना चाहिए। शिष्य जिज्ञासा करता है—'जाघन्या पत्नी: संयाजयति' वाक्य में 'जाघनी' क्या है? दर्श-पूर्णमास में पठित होने से क्या उसका निवेश यहीं अभीष्ट है? अथवा अन्यत्र उत्कर्ष अपेक्षित है?

सूत्रकार ने बताया—

जाघनी चैकदेशत्वात् ॥

[जाघनी] जंघाओं के आधार पर बैठना 'जाघनी' है, [च] निश्चयपूर्वक [एकदेशत्वात्] इसी एकदेश में इसका विधान होने से।

जाघनी आसन से बैठकर आहुति देना केवल पत्नीसंयाज-कर्म के अवसर पर है, अन्यत्र नहीं। अतः इसका अन्यत्र उत्कर्ष अनपेक्षित है।

सूत्रकार ने इसी अर्थ की पुष्टि में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

चोदना वाऽपूर्वत्वात् ॥

[वा] 'वा' पद पूर्व सूत्रोक्त अर्थ की दृढ़ता का द्योतक है। तात्पर्य है, दर्श-पूर्णमास से जाघनी का उत्कर्ष नहीं होता। [चोदना] दर्श-पूर्णमास में पत्नी-संयाज-प्रसंग से जाघनी का विधान है, [अपूर्वत्वात्] अपूर्व होने से।

दर्श-पूर्णमास में जाघनी का निर्देश—पत्नीसंयाज-कर्म में आज्याहुति के अवसर पर—आसनविशेष से बैठने का अपूर्व विधान है। यह अन्यत्र कहीं से प्राप्त नहीं है। अतः दर्श-पूर्णमास से जाघनी का अन्यत्र उत्कर्ष सर्वथा अनपेक्षित है। वाक्यभेद आदि की आपत्ति उसी दशा में सम्भव है, जब जाघनी को हविद्रव्य माना जाता है, जिसका यहाँ बलात् प्रवेश करने का प्रयास किया जाता रहा है। अतः दर्श-पूर्णमास से जाघनी का उत्कर्ष नितान्त अमान्य है ।।

शिष्य पुनः आशंका करता है—व्याख्याकार प्रायः 'जाघनी' पद का अर्थ—पशु की पूँछ अथवा उसके समीप का पशु-अङ्ग—करते हैं। उसके अनुसार जाघनी का उत्कर्ष पशुयाग में होना उचित क्यों न माना जाय ?

सूत्रकार ने शिष्य-आशंका को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

एकदेश इति चेत् ।।

[एकदेशः] जाघनी=पशु का एकदेश हविद्रव्य रूप है, उसका उत्कर्ष पशुयाग में होना चाहिए, [इति चेत्] ऐसा यदि कहो, तो—(अगले सूत्र से सम्बन्ध है)। शेष अर्थ पूर्ववत् है।

आचार्य सूत्रकार ने आशंका का समाधान किया—

न प्रकृतेरशास्त्रनिष्पत्तेः ।।

[न] गत सूत्र का कथन युक्त नहीं है। [प्रकृतेः] प्रकृतियाग दर्श-पूर्णमास के सम्बन्ध में [अ-शास्त्रनिष्पत्तेः] जाघनी-विषयक स्पष्ट निर्देश—अमुक पशु का ऐसा अवयव हो, इस प्रकार का शास्त्रसिद्ध कथन—न होने से जाघनी पशु-अवयव है, यह सर्वथा असंगत है।

सूत्रकार का आशय है—यदि शास्त्र में स्पष्ट रूप से यह कहीं बताया होता कि अमुक पशु का अमुक अवयव 'जाघनी' पद से ग्राह्य है, तो उसका उत्कर्ष पशुयाग में सम्भव होता; क्योंकि वहाँ पशु का उपस्थित होना शास्त्रानुकूल माना जाता। पर ऐसा निर्देश न होने से 'जाघनी' साधारण कथन होने के कारण न वह पशु-अवयव है, न हविद्रव्य। वह केवल पत्नीसंयाज-कर्म में आहुति देने के अवसर पर विशेष आसनमात्र है। ऐसी दशा में दर्श-पूर्णमास से जाघनी के उत्कर्ष का प्रश्न नहीं उठता ।।२३।। (इति जाघन्याः प्रकरणादनुत्कर्षाधिकरणम्—१०)।

(संतर्दनस्योक्थ्यादिसंस्थानिवेशाधिकरणम्—११)

ज्योतिष्टोम-प्रसंग में अधिषवण-फलक-विषयक निर्देश है—'अथो खलु दीर्घसोमे सन्तृद्ये धृत्यै' [तै० सं० ६।२।११]—दीर्घसोमयाग में धृति=धारण के लिए अर्थात् उनका विच्छेद न होने देने के लिए अधिषवण-फलकों का सन्तर्दन

करे, अन्तर्निविष्ट कील आदि से उन्हें परस्पर जोड़ दे। गूलर के फट्टों=तख्तों को जोड़कर जो पटड़ा सोम कूटने के लिए बनाया जाता है, उसका नाम 'अधिषवण फलक' है। दीर्घ सोमयाग में ग्रावा—पत्थर के लोढ़े—से सोम के कूटते समय फलक एक दूसरे से अलग न हो जायँ, इस प्रयोजन से उनका 'सन्तर्दन' किया जाता है। सन्तर्दन ऐसा जोड़ है, जो फलकों की मोटाई की ओर दोनों फलकों में कीलें फँसाकर उन्हें जोड़ दिया जाता है। यह जोड़ इतना दृढ़ और सटा हुआ रहता है कि दो फलकों की सन्धि स्पष्ट दिखाई नहीं देती।

शिष्य जिज्ञासा करता है—यहाँ सन्देह है, क्या यह सन्तर्दनकर्म ज्योतिष्टोम का ही अङ्ग माना जाय? अथवा सोमयाग की उक्थ्य आदि अन्य संस्थाओं में इसका उत्कर्ष माना जाय? प्रतीत होता है, ज्योतिष्टोम में साक्षात् निर्देश होने से केवल ज्योतिष्टोम संस्था का अङ्ग इसे माना जाय; अन्य संस्थाओं में उत्कर्ष न किया जाय। इससे प्रकरण उपकृत होगा, और सन्तर्दन का प्रयोजन पूरा हो जायगा।

शिष्य-सुझाव को सूत्रकार आचार्य ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

सन्तर्दनं प्रकृतौ क्रयणवदनर्थलोपात् स्यात् ॥२४॥

[सन्तर्दनम्] दोनों फलकों का जोड़ना [प्रकृतौ] प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोम याग में [स्यात्] होना चाहिए। [क्रयणवत्] गो-हिरण्य आदि से सोम का क्रय किये जाने के समान, [अनर्थलोपात्] सन्तर्दन के धारणरूप अर्थ=प्रयोजन के लोप न होने से। तात्पर्य है, दीर्घसोम में विहित सन्तर्दन का ज्योतिष्टोम प्रकरण से उत्कर्ष न होगा।

मूलवाक्य में 'दीर्घसोम' पद के अवयव 'दीर्घ' का सामञ्जस्य ज्योतिष्टोम के साथ भी सम्भव है। यद्यपि ज्योतिष्टोम सोमयाग की अन्यतम संस्था होने से 'दीर्घ' पद का सामञ्जस्य ज्योतिष्टोम की अपेक्षा सोमयाग के साथ ही अधिक उपयुक्त है, तथापि इष्टियों की अपेक्षा ज्योतिष्टोम के दीर्घकाल-साध्य होने से इसे भी दीर्घ कहा जा सकता है। इसलिए मूल (दीर्घसोमे सन्तृद्ये धृत्यै) वाक्यार्थ का ज्योतिष्टोम में सामञ्जस्य होने से उक्थ्य आदि अन्य संस्थाओं में सन्तर्दन का उत्कर्ष अनावश्यक है ॥२४॥

सूत्रकार ने उक्त पूर्वपक्ष का समाधान किया—

उत्कर्षो वा ग्रहणाद् विशेषस्य ॥२५॥

[वा] 'वा' पद गत सूत्रोक्त पद की व्यावृत्ति के लिए है। [उत्कर्षः] दीर्घ सोमयाग में कहे गए अधिषवण-फलक-विषयक सन्तर्दन का उत्कर्ष—सोमयाग की उक्थ्य आदि अन्य संस्थाओं में—किया जाना आवश्यक है [विशेषस्य ग्रहणात्]

सोमयाग के 'दीर्घ' रूप विशेष का निर्देश होने से।

'दीर्घसोमे सन्तृद्ये' वाक्य में सोम के साथ 'दीर्घ' पद का प्रयोग, ज्योतिष्टोम की अपेक्षा सोमयाग के अधिक लम्बे समय तक में सम्पन्न होने की स्थिति को स्पष्ट करता है। 'दीर्घ' विशेषण का साफल्य या सामञ्जस्य उसी अवस्था में सम्भव है, जब दीर्घकाल-साध्य सोमयाग की उक्थ्य आदि संस्थाओं में सन्तर्दन का उत्कर्ष किया जाय। ज्योतिष्टोम अथवा अग्निष्टोम, सोमयाग की सात संस्थाओं में पहली संस्था है। सोमयाग का अनुष्ठान प्रारम्भ होने पर सर्वप्रथम ज्योतिष्टोम संस्था है। उस अवसर पर सन्तर्दन का निर्देश केवल एक संस्था ज्योतिष्टोम के लिए न होकर सम्पूर्ण सोमयाग के लिए है। उसको ज्योतिष्टोममात्र में संकुचित करना अन्याय्य है। सोम की कुटाई सम्पूर्ण याग में यथावसर चलती रहती है। तब उक्थ्य आदि अन्य संस्थाओं में भी सन्तर्दन की विद्यमानता आवश्यक है। उसका उत्कर्ष करना ही होगा ॥२५॥

शिष्य पुनः आशंका करता है—दीर्घसोम पद में दीर्घता सोमयाग की दृष्टि से न मानकर यागकर्त्ता यजमान की दृष्टि से क्यों न मान ली जाय? सूत्रकार ने आशंका को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

कर्त्तृतो वा विशेषस्य तन्निमित्तत्वात् ॥२६॥

[वा] 'वा' पद गतसूत्र में निर्दिष्ट उत्कर्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—ज्योतिष्टोम से सन्तर्दन का उत्कर्ष नहीं होना चाहिए। [कर्त्तृतः] याग के कर्त्ता यजमान से दीर्घता जानी जायगी। तात्पर्य है—सम्पूर्ण सोमयाग के अनुष्ठान में याग का कर्त्ता यजमान प्रारम्भ से अन्त तक वही एक रहता है। इसके अनुसार 'दीर्घसोम' पद का अर्थ होगा—दीर्घ यजमान का सोम=दीर्घसोम। दीर्घकाल तक रहनेवाले यजमान के सोमयाग में अधिषवण-फलकों का सन्तर्दन करे, [विशेषस्य] दीर्घ विशेषण के [तन्निमित्तत्वात्] कर्त्तृनिमित्त होने से।

दीर्घकालिकता यजमान—कर्त्ता की स्थिति से मानी जानी चाहिए, याग की कालिक साध्यता से नहीं, क्योंकि याग की कालिक स्थिति कर्त्ता पर निर्भर है। इसलिए ज्योतिष्टोम से सन्तर्दन का उत्कर्ष आवश्यक नहीं है। ज्योतिष्टोम प्रकरण भी इससे अनुगृहीत होता है, प्रकरण से बाहर उसे नहीं ले-जाना पड़ता। दीर्घसोम शब्द की निष्पत्ति कर्त्ता की दृष्टि से किए जाने में कोई बाधा नहीं है। दीर्घ यजमान का सोम=दीर्घसोम कहा जायगा ॥२६॥

गत सूत्र में कथित पक्ष का निवारण करते हुए सूत्रकार ने बताया—

क्रतुतो वार्थवादानुपपत्तेः स्यात् ॥२७॥

सूत्र में 'वा' पद निश्चयार्थक है। [क्रतुतः] क्रतु=याग से [वा] ही दीर्घसोम

में दीर्घत्व [स्यात्] होता है, कर्त्ता से नहीं; क्योंकि [अर्थवादानुपपत्तेः] सन्तर्दन धृत्यै = धारण के लिए है, इस अर्थवाद की उपपत्ति कर्त्ता की दृष्टि से दीर्घत्व मानने पर नहीं होती।

मूल वाक्य 'दीर्घसोमे सन्तृद्ये धृत्यै' में सन्तर्दन का प्रयोजन सोमाभिषव-फलकों के धारण-निमित्त है। दीर्घकाल तक चलनेवाले सोमयाग में बार-बार सोम को कूटनेवाले पत्थरों से चोट दिए जाने पर सोमाभिषव-फलकों के टूटने या विच्छिन्न होने की आशंका रहती है। वे एक-दूसरे से अलग न हों, इसी निमित्त सन्तर्दन किया जाता है। सन्तर्दन फलकों के धारण करने के लिए है, यह अर्थवाद उसी अवस्था में उपपन्न होता है, जब दीर्घकालिकता का सम्बन्ध याग से माना जाता है। दीर्घकालिकता को कर्त्ता की दृष्टि से मानने पर 'धृत्यै' अर्थवाद अनुपपन्न होगा; क्योंकि फलकों पर सोम को कूटना ऋतु के लिए है, कर्त्ता के लिए नहीं। इसलिए दीर्घकाल तक चलनेवाले सोमयाग की उक्थ्य आदि अन्य संस्थाओं में सन्तर्दन का उत्कर्ष किया जाना आवश्यक है; केवल ज्योतिष्टोम संस्था में ही उसका निवेश नहीं माना जा सकता। सोम का फलकों पर कूटना सोमयाग के सम्पन्न होने तक बराबर चलता रहता है ॥२७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—यदि दीर्घकालिकता का सम्बन्ध कर्त्ता से नहीं माना जाता, तो उक्थ्य आदि संस्थाओं से भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि प्रत्येक संस्था में दश मुष्टि परिमित सोम समानरूप से निर्धारित है, इसलिए दीर्घकालिकता का कर्त्ता के साथ असम्बन्ध के समान उक्थ्य आदि संस्थाओं से भी उसका (दीर्घकालिकता का) असम्बन्ध होगा, क्योंकि वे अपने में अल्पकालिकता के साथ सम्बद्ध हैं। शिष्य-जिज्ञासा को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

संस्थाश्च कर्तृवद् धारणार्थाविशेषात् ॥२८॥

[संस्थाः] ज्योतिष्टोम की अगली संस्थाएँ उक्थ्य आदि [च] भी [कर्तृवत्] कर्त्ता के समान ही दीर्घकालिकता से सम्बद्ध नहीं हो सकतीं; [धारणार्थाविशेषात्] धारणरूप प्रयोजन के अग्निष्टोम व उक्थ्य आदि संस्थाओं में सोम की दृष्टि से कोई भेद न होने के कारण।

सन्तर्दन का उत्कर्ष माना जाय, या न माना जाय, दोनों अवस्थाओं में 'धृत्यै' अर्थवाद उपपन्न नहीं होता, क्योंकि 'दश मुष्टीर्मिमीते' दस मुट्ठी मापता है, वचन के अनुसार प्रत्येक संस्था में उतना ही परिमित सोम विहित है; इसलिए उनमें धारण की दृष्टि से कोई विशेषता नहीं है। तब दोनों अवस्थाओं में धारण अर्थवाद की अनुपपन्नता के समान होने से वह उत्कर्ष का प्रयोजक नहीं हो सकता, अतः अर्थवाद की उपपन्नता के लिए उत्कर्ष मानना निरर्थक है ॥२८॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

उक्थ्यादिषु वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥२९॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। [उक्थ्यादिषु] उक्थ्य आदि संस्थाओं में सन्तर्दन का उत्कर्ष होता है, [अर्थस्य] अर्थ=प्रयोजन के [विद्यमानत्वात्] विद्यमान होने से।

सोम का दशमुष्टि-परिमाण प्रथम संस्था ज्योतिष्टोम अथवा अग्निष्टोम के लिए है। यह परिमाण उसमें दी जानेवाली सोमाहुतियों के अनुसार है। उक्थ्य आदि अगली संस्थाओं में आहुतियाँ अधिक हो जाती हैं; उसी अनुपात से सोम-मुष्टि भी अधिक ली जाती हैं। इसलिए सोममुष्टि की समानता के आधार पर 'धृत्यै' अर्थवाद की अनुपपन्नता का कथन असंगत है। उक्थ्य आदि संस्थाओं में कूटने के लिए सोम जब अधिक होगा, तो फलकों के टूटने या विच्छिन्न होने की आशंका रहेगी। ऐसा न हो, इसी कारण उक्थ्य आदि संस्थाओं में सन्तर्दन का उत्कर्ष मानना पड़ता है। उसी दशा में 'धृत्यै' अर्थवाद की उपपन्नता सम्भव होती है। अतः यह कहना कि—उत्कर्ष-अनुत्कर्ष दोनों दशाओं में अर्थवाद की अनुपन्नता समान है—सर्वथा निराधार है। फलतः उक्थ्य आदि संस्थाओं में सन्तर्दन का निवेश पूर्णरूप से शास्त्रीय है, मान्य है ॥२९॥

शिष्य पुनः आशंका करता है—प्रत्येक संस्था में प्रदेय सोम दशमुष्टि-परिमित समान है, तो धारणरूप स्तुति-अर्थवाद व्यर्थ है। उतने सीमित सोम के कूटने से फलकों के विच्छिन्न होने की कोई आशंका नहीं रहती। तब 'धृत्यै' अर्थवाद का कोई प्रयोजन नहीं। उसकी उपपत्ति के बल पर सन्तर्दन का उक्थ्य आदि संस्थाओं में उत्कर्ष मानना भी व्यर्थ है। शिष्य-आशंका को सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

अविशेषात् स्तुतिर्व्यर्थेति चेत् ॥३०॥

[अविशेषात्] उक्थ्य आदि संस्थाओं में सर्वत्र दशमुष्टि-परिमित सोम के समान होने से ज्योतिष्टोम=सोमयाग में 'धृत्यै' यह [स्तुतिः] स्तुतिरूप अर्थ-वाद [व्यर्था] व्यर्थ है, [इति चेत्] ऐसा यदि कहो, (तो वह युक्त नहीं; अगले सूत्र से सम्बन्ध है)।

सोम कूटे जाने के आधारभूत दो फलकों के दृढ़ जोड़ का नाम सन्तर्दन है। सोमयाग के प्रारम्भ में उसका विधान है। वह विधान सोमयाग की प्रारम्भिक संस्था केवल अग्निष्टोम के लिए न होकर उत्तर की उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय, आप्तोर्याम इन सभी संस्थाओं के लिए है, ऐसा कहा गया; पर कूटे जानेवाले सोम का परिमाण सब संस्थाओं में समान होता है। उतने

सोम के कूटे जाने से फलकों के विच्छिन्न होने की कोई आशंका नहीं रहती। तब विधिवाक्य में 'धृत्यै' फलकों के धारण के लिए सन्तर्दन है, यह स्तुतिरूप अर्थवाद-कथन व्यर्थ हो जाता है। सोम के निर्धारित परिमाण को किसी भी तरह बढ़ाया नहीं जा सकता, जिसका कूटना फलकों के विच्छिन्न होने की आशंका को उभारे। ऐसी स्थिति में अर्थवाद की उपपत्ति के बल पर सन्तर्दन का अग्निष्टोम से उत्कर्ष कर उक्थ्य आदि में निवेश बताना असंगत है ॥३०॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

स्यादनित्यत्वात् ॥३१॥

[स्यात्] उक्थ्य आदि संस्थाओं में सन्तर्दन का निवेश होता है, [अनित्यत्वात्] सोम के पोरों (पर्वों) का परिमाण अनियत होने से।

आहुति प्रदान करने के लिए त्रिपर्वा (तीन पोरोंवाले) सोम के दशमुष्टि-परिमाण का विधान है। सोम की एक डण्डी में तीन पोरे दूर-दूर भी हो सकते हैं, और समीप-समीप भी। इस कारण दस मुट्ठी संख्या नियत होने पर भी परिमाण नियत रहता है। ऐसे अनियत परिमाणवाला सोम उक्थ्य आदि सभी संस्थाओं में कूटा जाता है। तब सन्तर्दन का सब संस्थाओं में निवेश माना जाना आवश्यक है। प्रत्येक संस्था में सोम के कूटे जाने से फलकों के विच्छिन्न होने की आशंका स्वाभाविक है। उसकी निवृत्ति के लिए सन्तर्दन सर्वत्र संस्थाओं में आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त सोमयाग के तृतीय सवन में अंशुग्रह के लिए सोम का अभिषव (कूट-छानकर रस निकालना) होता है। वह सोम कितना लेना चाहिए? यह परिमाण नहीं बताया है। तब वह अनेक और बड़े पोरोंवाला ग्रहण किया जा सकेगा। उससे आहुतिरूप में देय सोम बढ़ जायगा। इसलिए अग्निष्टोम के अतिरिक्त उक्थ्य आदि संस्थाओं में भी सन्तर्दन का सम्बन्ध माना जाना उचित है। फलतः सोम के नियत परिमाणविषयक निर्देश अनित्य हैं; पूर्णरूप से मान्य नहीं हैं। तात्पर्य है—उनकी मान्यता आंशिक ही समझनी चाहिए। इससे सोम का संख्या में दश मुष्टि होने पर भी परिमाण में आधिक्य सम्भव है; तथा सोमयाग की प्राथमिक संस्था से सोम का कूटा जाना प्रारम्भ होकर जैसे-जैसे आगे चलेगा, तो प्रताड़न से फलकों के जोड़ में शिथिलता आना सम्भव है। ऐसा अवसर न आने पाय, इसलिए सोमयाग की उक्थ्य आदि उत्तरवर्त्ती संस्थाओं में सन्तर्दन का होना अधिक आवश्यक है। सोमयाग के प्रारम्भ से अन्त तक प्रत्येक संस्था के अनुष्ठान-काल में फलकों के जोड़ को दृढ़ बनाए रखने के लिए सन्तर्दन का होना सर्वथा संगत है। इसे उत्कर्ष कहा जाय? या आवृत्ति? यह विचारणीय है ॥३१॥ (इति सन्तर्दनस्योक्थ्यादिसंस्थानिवेशाधिकरणम्—११)।

(प्रवर्ग्यनिषेधस्य प्रथमप्रयोगविषयताधिकरणम्—१२)

ज्योतिष्टोम प्रकरण में प्रवर्ग्य कर्म का प्रारम्भ कर आगे पाठ है—'न प्रथमयज्ञे प्रवृञ्ज्यात्, द्वितीये तृतीये वा प्रवृञ्ज्यात्'[1] प्रथम बार के यज्ञानुष्ठान में प्रवर्ग्य कर्म न करे, दूसरे अथवा तीसरे बार के यज्ञ में प्रवर्ग्य करे। शिष्य जिज्ञासा करता है—यहाँ सन्देह है—क्या ज्योतिष्टोम के प्रत्येक बार के अनुष्ठानों में प्रवर्ग्य कर्म न करे? अथवा केवल पहली बार के अनुष्ठान में न करे? तात्पर्य है—क्या ज्योतिष्टोम मात्र में प्रवर्ग्य का निषेध है? अथवा केवल पहली बार के ज्योतिष्टोम में?

ज्योतिष्टोम में दूसरे, तीसरे, चौथे दिन प्रातः-सायं उपसत् इष्टि से पूर्व प्रवर्ग्य नामक इष्टि का अनुष्ठान किया जाता है। तपे हुए घी में गाय और बकरी के दूध को मिलाना प्रवृञ्जन कहा जाता है। प्रवृञ्जन के सम्बन्ध से इस कर्म का 'प्रवर्ग्य' नाम है।[2] ज्योतिष्टोम प्रकरण पठित होने से प्रत्येक बार के ज्योतिष्टोम-अनुष्ठान में प्रवर्ग्य का निषेध समझना चाहिए। इससे प्रकरण उपकृत होता है। शिष्य-सुझाव को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

सङ्ख्यायुक्तं क्रतोः प्रकरणात् स्यात् ॥३२॥

[सङ्ख्यायुक्तम्] 'प्रथम' इस संख्या पद से संयुक्त प्रवर्ग्य का प्रतिषेध [प्रकरणात्] प्रकरण से [क्रतोः] ज्योतिष्टोम क्रतुमात्र का अङ्ग [स्यात्] होता है। तात्पर्य है—प्रत्येक बार किए जानेवाले ज्योतिष्टोम में प्रवर्ग्य का निषेध समझना चाहिए।

ताण्ड्य ब्राह्मण [१६।१।१-२] में पाठ है—**'एष वाव यज्ञानां प्रथमो (यज्ञो[3] यज्ज्योतिष्टोमः) य एतेनाऽनिष्ट्वाऽथाऽन्येन यजते गर्त्तपत्यमेव तज्जीयते प्र वा मीयते'**—यज्ञों के बीच ज्योतिष्टोम ही प्रथम यज्ञ है; जो इससे यजन न कर अन्य से यजन करता है, वह गड्ढे में गिरता है, अथवा मर जाने के समान है। यज्ञों में प्रथम होने के कारण इसे 'प्रथमयज्ञ' शब्द से कहा गया है। यहाँ 'प्रथम' यह संख्या-पद यज्ञ के साथ सम्बद्ध है, पर्याय के साथ नहीं। इसलिए ज्योतिष्टोम मात्र में प्रवर्ग्य का निषेध माना जाना चाहिए। यह प्रकरण के अनुगत है, प्रकरण इससे अनुगृहीत होता है॥३२॥

---

१. द्रष्टव्य—शाङ्खायन ब्राह्मण, ८।३॥ (यु०मी०)

२. इसकी सामान्य प्रक्रिया की जानकारी के लिए 'यज्ञ प्रकाश' के पृष्ठ ६२-६५ द्रष्टव्य हैं। (यु० मी०)

३. उपरिवत्।

आचार्य सूत्रकार ने आशङ्का का समाधान करते हुए सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत किया—

नैमित्तिकं वा कर्तृसंयोगाल्लिङ्गस्य तन्निमित्तत्वात् ॥३३॥

[वा] सूत्र में 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—समस्त वैदिक वाङ्मय में 'प्रथम यज्ञ' नामक कोई कर्म नहीं है। [नैमित्तिकम्] यज्ञ के साथ 'प्रथम' पद का प्रयोग निमित्तविशेष के कारण है, यज्ञ का वह नाम नहीं। निमित्त है—यज्ञ का क्रमिक द्वितीय आदि पर्याय। [कर्तृसंयोगात्] कर्त्ता—यजमान के द्वारा अनुष्ठेय ज्योतिष्टोम का जो उसके साथ पहला सम्बन्ध है, 'प्रथम' पद उसी को कहता है। [लिङ्गस्य] प्रतिषेधरूप लिङ्ग के [तन्निमित्तत्वात्] कर्तृ-संयोग निमित्त होने से। तात्पर्य है—उसी कर्त्ता की जब किसी एक कर्म के अनुष्ठान में अनेक बार प्रवृत्ति होती है, तब द्वितीय आदि प्रवृत्ति की अपेक्षा से प्राथम्य का व्यवहार पहली बार किए गए कर्म के लिए होता है।

'प्रथमो यज्ञो यज्ञानाम्' वाक्य में 'प्रथम' पद ज्योतिष्टोम यज्ञ का वाचक न होकर कर्त्ता द्वारा उसके क्रमिक द्वितीय आदि पर्याय के आधार पर पहली बार अनुष्ठित ज्योतिष्टोम के लिए 'प्रथम' पद का प्रयोग है। यह प्रयोग ज्योतिष्टोम के लिए तभी सम्भव है, जब उसी कर्त्ता के द्वारा दूसरी-तीसरी बार ज्योतिष्टोम का अनुष्ठान किया जाय; अन्यथा 'प्रथम' पद का प्रयोग उसके लिए न होगा। इससे स्पष्ट होता है, यज्ञ का यह नाम नैमित्तिक है, उसका वाचक नहीं। फलतः पहली बार किए जानेवाले ज्योतिष्टोम में प्रवर्ग्य इष्टि के अनुष्ठान का प्रतिषेध है। द्वितीय आदि अनुष्ठानों में उसका प्रयोग विहित है ॥३३॥ (इति प्रवर्ग्य-निषेधस्य प्रथमप्रयोगविषयताधिकरणम्—१२)।

(पौष्णपेषणस्य विकृतौ विनियोगाधिकरणम्—१३)

तैत्तिरीय संहिता [२।६।८।५] के दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पाठ है—'तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि' इस कारण पूषा देवता के लिए हवि का पिसा हुआ भाग होता है, क्योंकि वह दाँतरहित है। शिष्य जिज्ञासा करता है—इसमें सन्देह है, क्या पूषा देवता-सम्बन्धी पेषण-कर्म दर्श-पूर्णमास प्रकृतियाग में माना जाय? अथवा विकृति में? प्रकरण से तो यही प्रतीत होता है कि प्रकृतियाग में मानना चाहिए। यद्यपि प्रकृतियाग में हवि का देवता पूषा पठित नहीं है, फिर भी पेषण-कर्म के पठित होने से प्रकृतिपठित किसी देवता को गौणी वृत्ति से पूषा पद कहेगा। इसलिए पेषण-कर्म प्रकृतियाग का अङ्ग मानना चाहिए। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

पौष्णं पेषणं विकृतौ प्रतीयेताऽचोदनात् प्रकृतौ ॥३४॥

[पौष्णम्] पूषा देवता सम्बन्धी हवि का [पेषणम्] पीसना कर्म [विकृतौ] विकृति याग में [प्रतीयेत] जानना चाहिए। [प्रकृतौ] दर्श-पूर्णमास प्रकृतियाग में [अचोदनात्] पूषा देवता सम्बन्धी हवि के न कहे जाने से।

पूषा देवता[1] सम्बन्धी हवि जहाँ विहित है, उसी प्रकरण में उस हवि के पेषण

---

१. पूषा देवता को वैदिक वाङ्मय में दाँतरहित बताया; इसका रहस्य क्या है? समझिए—"भारतीय मनीषियों ने राजनैतिक एवं सामाजिक तत्त्वों का स्पष्टीकरण बड़े विचित्र प्रकार से किया है। पूषा शब्द का अर्थ है—पुष्टि करनेवाला देव। इस देव को अदन्तक=दाँतरहित कहकर इस तत्त्व का उपदेश किया है कि जो भी व्यक्ति प्रजा की रक्षा के निमित्त हैं, चाहे वे मन्त्री आदि होवें, संसद् के सदस्य होवें, तथा मन्त्रालय के अधिकारी से लेकर साधारण जितने भी राजकर्मचारी हैं, उन सबको अदन्तक अर्थात् स्वार्थ-रहित होना चाहिए। यदि वे ही प्रजा को विविध प्रकार से खाने लगेंगे, तो प्रजा की पुष्टि कैसे हो सकती है? इस अर्थवाला लौकिक मुहावरा है—'जब रक्षक ही भक्षक होवे, तो प्रभु ही उसका मालिक है'। जब बाड़ ही खेत को खाने लगे, तो खेत की रक्षा कैसे होगी?

इसी प्रकार पौराणिक देवताओं के वाहन की कल्पना भी अपने-आप में बे-जोड़ है। लक्ष्मी का वाहन उल्लू कहा गया है। इसका तात्पर्य है—जिसे लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है, लक्ष्मी जिस व्यक्ति पर सवार होती है, वह उल्लू बन जाता है। इसी का व्रजभाषा के कवि बिहारी ने अत्यन्त मनोहारी वर्णन किया है—

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
या खाये बौरात है, वा पाये बौराय॥

कनक=धतूरे से कनक=सुवर्ण आदि धन सौगुना मादक और पागल बनानेवाला है। इस धतूरे को तो खाकर मनुष्य पागल होता है, पर उस सुवर्ण धन को पाकर ही पागल हो जाता है।

वैदिक ग्रन्थों में भी ऐश्वर्य के स्वामी 'भग' देवता को अन्धा कहा है—'तस्यादाहुरन्धो भगः' [कौषी०ब्रा० ३५।१३॥ गोपथ, २।१।२॥]

गणेश का वाहन चूहा माना गया है। गण=समुदाय का स्वामी यदि अपने गण में चूहों के समान कुतर-कुतर करनेवालों पर सवार नहीं होगा, उन्हें दबाकर नहीं रखेगा, तो उसका गणेशत्व नष्ट हो जायगा। लोकतन्त्र में

का विधान किया जाना चाहिए। दर्श-पूर्णमास प्रकृतियाग में पूषा देवता नहीं है, तब पेषण-कर्म का प्रकृतियाग से वहाँ उत्कर्ष करना आवश्यक है, जहाँ मुख्य= अभिधावृत्ति से पूषा देवता कथित हो। प्रकृतियाग में किसी देवता को लक्षणा-वृत्ति से पूषा पद द्वारा कहे जाने का तभी अवसर आ सकता है, जब अन्यत्र मुख्य रूप से पूषा देवता पठित न हो। पेषण-कर्म को प्रकृतियाग से हटाकर अन्यत्र ले-जाने पर प्रकरण बाधित होगा, यह आशंका भी निरर्थक है; क्योंकि वाक्य प्रकरण से बलवान् होता है। पूषा देवता विकृतियाग में वाक्य-पठित है, अतः पेषण-कर्म का विकृतियाग में उत्कर्ष किया जाना युक्त है।

अथवा यह समझना चाहिए कि प्रस्तुत अधिकरण में अभिमत विषय का ही निर्देश किया गया है; इसमें सन्देह का कोई अवसर नहीं है। पूषा देवता सम्बन्धी हवि का पेषणकर्म-विवेचन अगले अधिकरणों में किया गया है ॥३४॥ (इति पौष्णपेषणस्य विकृतौ विनियोगाऽधिकरणम्—१३)।

(पौष्णपेषणस्य चरावेव निवेशाऽधिकरणम्—१४)

गत अधिकरण में बताया गया—प्रकृतियाग दर्श-पूर्णमास में पठित पूषा-देवता सम्बन्धी पेषणकर्म का विकृतियाग में उत्कर्ष होता है। शिष्य जिज्ञासा करता है—यह पेषणकर्म क्या चरु, पशु, पुरोडाश सब हवियों में होता है? अथवा केवल चरु हवि में? विशेष निर्देश न होने से सभी हवियों में पेषण होना चाहिए।

शिष्य-सुझाव को सूत्रकार आचार्य ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

तत्सर्वार्थमविशेषात् ॥३५॥

[तत्] वह पूषा देवतासम्बन्धी हवि का पेषणकर्म [सर्वार्थम्] सभी देवता वाली हवियों के लिए होना चाहिए, क्योंकि [अविशेषात्] किसी एक विशेष हवि का नाम लेकर पेषण का विधान न होने से।

'तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागः' वाक्य में सामान्य रूप से पूषा देवता-सम्बन्धी हवि के पेषण का विधान है; किसी विशेष हवि का निर्देश यहाँ नहीं है। इसलिए पूषा देवता-सम्बन्धी सभी हवियों में पेषणकर्म किया जाना चाहिए ॥३५॥

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा का समाधान किया—

असन्तुष्ट विधायक ही कुतर=काट करनेवाले चूहे हैं। यदि उनकी प्रवृत्ति को बढ़ने दिया जाय, तो लोकतन्त्र तो क्या, कोई भी समुदाय स्थिर नहीं रह सकता। अनिश्चित उथल-पुथल मची ही रहेगी। इसी प्रकार अन्य विषयों पर भी गम्भीर विचार किया जाय, तो भारतीय मनीषियों की विचित्र प्रतिमा उजागर होगी।"—यु० मी०

चरौ वाऽर्थोक्तं पुरोडाशेऽर्थविप्रतिषेधात् पशौ न स्यात् ॥३६॥

[वा] 'वा' पद यहाँ 'एव' अर्थ में प्रयुक्त है; 'एव' निश्चयार्थक अव्यय है। [चरौ वा] चरु नामक हवि में ही पेषण होता है। [पुरोडाशे] पुरोडाश नामक हवि में [अर्थोक्तम्] अर्थ—प्रयोजनवश पेषण कहा गया है। तात्पर्य है, चावल को पीसे बिना पुरोडाश हवि बनता ही नहीं, तब उसमें पेषण का विधान व्यर्थ है। [पशौ] पशु के हृदय आदि अङ्गरूप हवि में [अर्थविप्रतिषेधात्] पेषणरूप अर्थ का विरोध होने से [न स्यात्] पशु हवि में पेषणकर्म नहीं होता।

पूषा देवतासम्बन्धी हवि तीन हैं—चरु, पुरोडाश, पशु। चरु हवि वह है, जिसमें माँड निकाले बिना पकाये गये चावल खिले हुए रक्खे जाते हैं; चिच्चड़-सा भात नहीं बनता। कच्चे चावल को पीसकर पकाया गया हवि 'पुरोडाश' कहा जाता है। वह जब पीसे बिना बनता ही नहीं, तब उसके लिए पुनः पेषण का विधान नितान्त निष्प्रयोजन है। पशु-अङ्गों की हवि तैयार करने के लिए उन्हें पीसा नहीं जाता; केवल काटा जाता है; अतः उस हवि के लिए भी पेषण-कर्म का विधान वस्तुस्थिति के विरुद्ध है।[1] अतः केवल चरु नामक हवि में पेषणकर्म का विधान मान्य होता है। शतपथ ब्राह्मण [१।७।४।७] में कहा है—'तस्मादाहुरदन्तकः पूषा इति'। गोपथ [२।१।२] में भी पाठ है—'तस्मादाहुरदन्तकः पूषा पिष्टभाजन इति'।

पूषा देवता दाँतरहित है। उसके लिए पिसा हवि-द्रव्य आहुत किया जाता है। आमिष का पीसा जाना सम्भव न होने पर भी अस्वाभाविक रूप से पूषा के

---

१. शबर स्वामी आदि भाष्यकारों ने सूत्र के 'अर्थविप्रतिषेधात्' पद का जो अर्थ किया है, वह अस्पष्ट है। 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति' (पहले हृदय का अवदान करता है) इस वाक्य को उद्धृत कर भाष्यकार ने जो विवेचन प्रस्तुत किया है, वह स्पष्ट नहीं है। वस्तुतः पूषा देवता-सम्बन्धी हवि के पेषणकर्म के प्रसंग में पशु-हवि का प्रवेश नितान्त असंगत है। आमिष का कोई भी व्यञ्ज बनाने के लिए उसे पीसा कभी नहीं जाता। रसनालोलुप याज्ञिकों ने अपना मार्ग निष्कण्टक बनाये रखने के लिए पेषण हवि के प्रसंग में उसे बलात् प्रविष्ट कर दिया है। पूषा देवतासम्बन्धी विवेच्य हवि केवल चरु और पुरोडाश हैं, जिनमें पेषण सम्भव है। पाकसिद्ध चरु में मधु या शर्करा मिलाकर अल्पपेषण से उसका चरु-भाव नष्ट नहीं होता, अर्थात् वह पुरोडाश नहीं बन जायगा। वह तो पीसने के बाद पकाया जाता है। अदन्तक पूषा के हविद्रव्य में मांस जैसा क्लिष्ट चर्व्य द्रव्य का बलात् निवेश किया गया ज्ञात होता है।

हवि-द्रव्य में उसका निवेश याज्ञिकों की इस रसनालोलुपता का नंगा प्रतीक है कि पूषा के दाँत टूट गये सही, हमारे तो नहीं टूटे हैं ! इन अधम याज्ञिकों ने अनेकत्र पवित्र यागकर्म में इसी प्रकार बलात् आमिष का निवेश किया है ॥३६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—पशु-हवि के समान अर्थविप्रतिषेध तो चरु-हवि में भी सम्भव है; तब उसका भी पेषण-प्रसंग में निवेश क्यों माना जाय ?

शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

चरावपीति चेत् ॥३७॥

गत सूत्र से 'अर्थविरोधात् न स्यात्' पदों की यहाँ अनुवृत्ति है। [चरौ] चरु हवि में [अपि] भी [अर्थविप्रतिषेधात्] पेषण अर्थ का विरोध होने से [न स्यात्] पेषण-कर्म नहीं होना चाहिए। [इति चेत्] ऐसा कहो, तो वह (ठीक नहीं; अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)।

जैसे पशु-हवि में पेषणरूप अर्थ के सम्भव न होने से उसका विरोध बताया है, ऐसा विरोध चरु-हवि में भी सम्भव है, क्योंकि माँड निकाले बिना पकाये गये खिले चावलों का नाम चरु है। यदि चावलों को पीसकर पकाया जाता है, तो वह चरु ही नहीं रहेगा, वह पिष्ट या पुरोडाश होगा। यदि जौ को पीसकर पकाया जाता है, तो वह यवागू होगा। पशु-हवि में अर्थविरोध होने से पेषण-कर्म की असम्भावना के समान चरु-हवि में भी पेषण असम्भव है। तब चरु में पेषण का निवेश कैसे माना जा सकता है ?॥३७॥

न पक्तिनामत्वात् ॥३८॥

[न] चरु के पेषण में अर्थविरोध नहीं है। [पक्तिनामत्वात्] पक्ति=पाक-विशेष का 'चरु' नाम होने से।

प्रथम बताया गया, चरु नामक हवि वह है, जो माँड निकाले बिना पकाये गये खिले चावल हैं। तात्पर्य है, चावल पकाये जाने पर भी एक-एक दाना अलग बिखरा हुआ-सा दिखाई देता है; घिच्चड़-सा भात नहीं बन जाता। पूषा देवता की कल्पना क्योंकि 'अदन्तक' रूप में है, उसके लिए ऐसे चरु की आहुति भी उपयुक्त न होगी। चावल का पाकविशेष से चरु तैयार हो जाने पर थोड़ा मधु या शर्करा उसमें मिलाकर उसका पेषण किया जाना चाहिए। तब अर्थ-विरोध की कोई स्थिति सामने नहीं आती; तथा अदन्तक पूषा देवता के लिए हवि-द्रव्य प्रदान किया जाना अवश्य उपयुक्त रहता है। इस प्रकार चरु में ही पेषण अभिमत है, अन्य पौष्ण हवि में नहीं ॥३८॥ (इति पौष्णपेषणस्य चरावेव निवे-शाऽधिकरणम्—१४)।

(पौष्णपेषणस्यैकदेवत्ये निवेशाऽधिकरणम्—१५)

गत सूत्रों में बताया गया—पूषा देवतासम्बन्धी पेषण विकृतियाग में होता है; वह भी केवल चरु-हवि में। इस स्थिति में शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या पूषा देवतासम्बन्धी एक (पूषा) देवतावाले हवि में पेषण होता है? अथवा दो देवतावाले हवि में भी? राजसूय यज्ञ के द्वितीय त्रिसंयुक्त[1] कर्म में मैत्रायणी संहिता [२।६।४] का पाठ है—'सौमापौष्ण एकादशकपालः, ऐन्द्रापौष्णश्चरुः, पौष्णश्चरुः, श्यामो दक्षिणा' सोम और पूषा देवतावाला एकादशकपाल पुरोडाश, इन्द्र और पूषा देवतावाला चरु, तथा पूषा देवतावाला चरु, और श्यामवर्ण की गाय दक्षिणा होती है। प्रस्तुत अधिकरण में 'ऐन्द्रापौष्णश्चरुः' विवेच्य उदाहरण है। पेषण क्योंकि केवल चरु-हवि में होता है, तब यहाँ इन्द्र और पूषा दो देवता-सम्बन्धी चरु में भी पेषण माना जाय? अथवा केवल एक पूषा देवतासम्बन्धी चरु में ही माना जाय?

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

एकस्मिन्नेकसंयोगात् ॥३९॥

पूषा देवतासम्बन्धी हवि का पेषण [एकस्मिन्] केवल एक पूषा देवतावाले चरु में होता है। [एकसंयोगात्] 'पूषा प्रपिष्टभागः' वाक्य में अकेले पूषा देवता का सम्बन्ध होने से।

अकेले पूषा देवतावाले चरु का ही पेषण होता है; इन्द्र-पूषा दो देवतावाले चरु का नहीं, क्योंकि पेषणविधायक वाक्य (—पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि) में केवल पूषा देवता का नाम है, उसके साथ अन्य किसी देवता का नाम नहीं है। यह ऐसा ही प्रसंग है, जैसा केवल अग्निदेवतावाले पुरोडाश हवि का चतुर्धाकरण-सिद्धान्त निर्धारित [मी० सू० ३।१।२६-२७; अधि० १५] किया है ॥३९॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त सिद्धान्त की पुष्टि के लिए अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

धर्मविप्रतिषेधाच्च ॥४०॥

[धर्मविप्रतिषेधात्] पूषा देवता और अन्य देवता के धर्मों का परस्पर

---

१. 'त्रिसंयुक्त' उस कर्मविशेष का नाम है, जिसमें तीन हवियाँ आहुतिरूप से प्रदान की जाती हैं। ऐसे पृथक् एक-दूसरे से भिन्न तीन कर्म हैं; क्योंकि उन तीनों की दक्षिणा पृथक्-पृथक् है। उन कर्मों में से द्वितीय कर्म के प्रसंग में मैत्रायणी संहिता का उक्त पाठ है।

विरोध होने से [च] भी केवल पूषा देवतासम्बन्धी चरु में होता है, दो देवता-वाले ऐन्द्रपौष्ण चरु में नहीं।

पूषा देवता का पेषण धर्म है, अन्य (इन्द्र) देवता का अपेषण। दो देवतावाले चरु में धर्म का विरोध होगा, यदि उसमें भी पूषा के सम्बन्ध से पेषण माना जाय। द्विदेवत्य चरु में यदि पूषा देवता का भाग पीसा जाय, और अन्य देवता का बिना पीसा रहे, तो पाक में वैषम्य हो जायगा। वह पका हवि 'चरु' नहीं होगा। 'चरु' पद का प्रयोग हवि में उसके पाकविशेष के कारण ही होता है। वैसा पाक न होने पर उसमें 'चरु' पद का प्रयोग विरुद्ध होगा। अविरोध के लिए दोनों देवताओं के हवि का पाक एक ही प्रकार से किया जाय, तो दोनों देवताओं के भागों का विभा-जन करना अशक्य होगा। अतः द्विदेवत्य चरु में पूषा देवतासम्बन्धी पेषण का निवेश अमान्य है ॥४०॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है—द्विदेवत्य चरु में भी देवतानिमित्त से पेषण माना जाना चाहिए। शिष्य-जिज्ञासा को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

अपि वा सद्वितीये स्याद् देवतानिमित्तत्वात् ॥४१॥

[वा] 'वा' पद पूर्वसूत्रोक्त पक्ष के प्रतिषेध का द्योतक है; तात्पर्य है, अकेले पूषा देवतावाले चरु में ही पेषण होता है, ऐसा नहीं है; किन्तु [सद्वितीये] दूसरा देवता जिस चरु में साथ है, उसमें [अपि] भी पेषण [स्यात्] होना चाहिए। [देवतानिमित्तत्वात्] पूषा देवता के निमित्त से पेषण का विधान होने से।

चरु के पेषण का विधान पूषा देवता के निमित्त है। पूषा देवता पिसे हुए भागवाला कहा गया है। वह दो देवतावाले चरु में भी पिसे हुए भागवाला होगा। आग्नेय पुरोडाश के चतुर्धाकरण का उदाहरण प्रस्तुत प्रसंग में उपयुक्त नहीं है। 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' वाक्य में 'आग्नेयम्' का तद्धित प्रत्यय अन्य देवता की अपेक्षा न रखनेवाले 'अग्नि' पद से होता है; दूसरे देवता के साथ सम्बन्ध रखनेवाले अग्नि से नहीं होता। उस प्रसंग के 'इन्द्रपीतस्य' पद में समास भी अन्य-निरपेक्ष इन्द्र का होता है। दूसरे देवता के साथ सम्बन्ध रखनेवाले इन्द्र के साथ समास नहीं है। पर यहाँ प्रस्तुत प्रसंग में तो 'प्रपिष्ट' पद का 'भाग' पद के साथ अन्य-पदार्थप्रधान बहुव्रीहि समास है—'प्रपिष्टो भागो यस्य सः'=पिसा हुआ भाग है जिसका, ऐसा वह पूषा देवता। यह समास समर्थ पदों का ही होता है। दो देवतावाले 'ऐन्द्रापौष्णश्चरुः' में भी ऐसी कोई बाधा नहीं है, जिससे समास न हो सके। फलतः अकेले या दूसरे के साथ सम्बद्ध पूषा देवतावाले चरु में पूषा का भाग पीसा जाना ही चाहिए ॥४१॥

इसी अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४२॥

[लिङ्गदर्शनात्] लिङ्ग=बोधक हेतु के देखे जाने से [च] भी द्विदेवत्य चरु में पेषण प्राप्त होता है।

'तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि'—इसलिए पूषा पिसे हुए भागवाला है, क्योंकि वह दाँतों से रहित है—वाक्य में दन्तरहित होना लिङ्ग इस वस्तुस्थिति का बोधक है कि पूषा देवता के निमित्त चरु-भाग पिसा हुआ होना चाहिए। इसी प्रकार 'सोमापौष्णं चरुं निर्वपेन्नेमपिष्टं पशुकामः'=पशु-कामनावाला यजमान सोम और पूषा देवतावाले चरु को आधा पीसे अर्थात् दले—वाक्य अर्ध-पेषणता को पूषा देवता-निमित्त ही प्रकट करता है। यह अधपिसा चरु दो देवता-वाले चरु के लिए ही है। इसलिए द्विदेवत्य चरु में भी पूषा देवता का भाग पिसा हुआ होना चाहिए ॥४२॥

शिष्य आशंका करता है—यह जो द्विदेवत्य चरु के अर्द्धपेषण में उद्धृत वाक्य 'सौमापौष्णं चरुं निर्वपेन्नेमपिष्टं पशुकामः' पूषा देवतासम्बन्धी चरु के पेषण में लिङ्ग बताया गया, यह युक्त प्रतीत नहीं होता। यह तो सोम और पूषा-सम्बन्धी चरु में अर्द्धपेषण का विधायक वाक्य है। तब इसे पूषा-सम्बन्धी चरु के पेषण का लिङ्ग न कहकर अर्द्धपेषण कर्म का विधायक क्यों न माना जाय?

आचार्य सूत्रकार ने आशंका का समाधान किया—

वचनात् सर्वपेषणं तं प्रति शास्त्रवत्त्वादर्थाभावात् द्विचरावपेषणं भवति ॥४३॥

'सौमापौष्णं' आदि वाक्य द्विदेवत्य चरु में अर्द्धपेषण का विधायक वाक्य है, [वचनात्] 'नेमपिष्टं' इस विधि-वचन से। यदि ऐसा माना जाय, तो [सर्व-पेषणम्] सोम और पूषा-देवतासम्बन्धी सब—चरु, पुरोडाश, पशु—हवियों का अर्द्धपेषण प्राप्त होता है। तात्पर्य है—उक्त देवताओं सम्बन्धी हवि का अनुवाद करके सर्वत्र—चरु, पुरोडाश, पशु में—अर्द्धपेषण का विधान मानना होगा। क्योंकि [तं प्रति] उक्त हवियों के प्रति [शास्त्रवत्त्वात्] शास्त्रवत्ता होने से; तात्पर्य है—उक्त देवताओं सम्बन्धी सब हवियों की अर्द्धपिष्टता में शास्त्रीय वचन होने से, इस शास्त्रीय विधान के अनुसार सब हवियों में नेमपिष्टता को मानना होगा। परन्तु इस मान्यता में दोष हैं—[अर्थाभावात्] अर्थ=प्रयोजन के अभाव से। यदि 'सौमापौष्णं' को द्विदेवत्य हवि में नेमपिष्टता विधायक माना जाता है, तो यह विधि निष्प्रयोजन है, इसका कुछ फल नहीं निकलता; क्योंकि चरु में पकाये जाने पर चावल खिले हुए—दाने-दाने बिखरे-से—होने चाहिएँ, जो अर्द्ध-पेषण होने पर सम्भव नहीं। पुरोडाश में पूरा पेषण होता है, तभी पुरोडाश

सम्पन्न हो पाता है। अर्द्धपेषण में पुरोडाश सिद्ध ही न होगा। पशु-हवि में किसी प्रकार के पेषण की सम्भावना ही नहीं होती। तब ऐसा विधान व्यर्थ रह जाता है। अतः उक्त वाक्य को विधि कहना संगत न होगा।

सूत्र के 'अर्थाभावात्' पद में एक अन्य वास्तविकता अन्तर्हित है, जो उक्त वाक्य को विधि मानने में दोष प्रकट करती है। वह है—वाक्य को विधि मानने पर वाक्यगत 'चरु' पद अपने अभिधावृत्ति-बोध्य अर्थ को छोड़कर लक्षणावृत्ति से पशु-पुरोडाश हवियों का भी उपलक्षण मानना पड़ता है। अभिधावृत्ति से अर्थ के सम्भव होने पर लक्षणावृत्ति से अर्थ करना शास्त्रीय दृष्टि से दोष माना जाता है।

इसके अतिरिक्त—उक्त वाक्य को अर्द्धपेषण का विधि मानने पर—वाक्य-भेद-दोष भी प्राप्त होगा। सोम और पूषा देवता-सम्बन्धी हवि का अनुवाद कर सर्वत्र पेषण का विधान करने से पुरोडाश, चरु, पशु में अर्द्धपेषण मानने पर सौमापौष्ण का चरु और नेमपिष्ट दोनों के साथ सम्बन्ध युगपत् सम्भव न होने से वाक्यभेद करने पर अर्थाभिव्यक्ति होगी। वाक्यभेद दोष माना जाता है। अतः 'सौमापौष्ण' वाक्य नेमपिष्ट का विधायक न होकर [द्विचरौ] दो देवता-सम्बन्धी चरु में [अपेषणम्] पूर्ण पेषण नहीं है, इसका लिङ्ग [भवति] होता है।

जहाँ दो देवतासम्बन्धी चरु है, वहाँ आधा पीसे, आधा बिना पिसा रहे। बिना पिसे भाग से अवदान किया जायगा।

आचार्य सूत्रकार पूर्वपक्ष का समाधान करता है—

एकस्मिन् वाऽर्थधर्मत्वादैन्द्राग्नवदुभयोर्न स्यादचोदितत्वात् ॥४४॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—दो देवता-वाले ऐन्द्रापौष्ण चरुरूप हवि में पेषण नहीं होता। [एकस्मिन्] अकेले पूषा देवतावाले चरु-हवि में पेषण होता है, [अर्थधर्मत्वात्] अर्थ=याग का धर्म होने से। [ऐन्द्राग्नवत्] इन्द्र और अग्निदेवतावाले द्विदेवत्य पुरोडाश में जैसे चतुर्द्धा-करण नहीं होता, अकेले आग्नेय पुरोडाश में होता है, ऐसे ही [उभयोः] इन्द्र और पूषा देवतावाले द्विदेवत्य चरु-हवि में पेषण [न स्यात्] नहीं होता। इन्द्र और पूषा देवतावाले चरु-हवि में पेषण का [अचोदितत्वात्] विधान न होने से।

केवल पूषा देवतावाले चरु में पेषण होता है, इन्द्र और पूषावाले द्विदेवत्य चरु में नहीं होता; क्योंकि 'प्रपिष्टभागः' वचन पेषण को देवता का धर्म न कहकर याग का धर्म बताता है। यद्यपि चरु देवता के उद्देश्य से छोड़ा जाता है, पर इतने परित्यागमात्र से देवता का स्वामित्व उसपर स्थापित नहीं हो जाता। जो द्रव्य

जिसके निमित्त से दिया जाता है, उसके द्वारा स्वीकार कर लिये जाने पर ही उसका स्वामित्व स्थापित होता है। विभिन्न देवताओं को उद्देश करके अग्नि में आहुत हवि उन देवताओं के द्वारा स्वीकृत कर ली गई है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। जो जिसका सेवन करता है, वह उसका भाग होता है। देवता हवि का सेवन नहीं करते, इसलिए पिष्ट चरु पूषा का भाग नहीं है।

वस्तुस्थिति को ध्यान से देखा जाय, तो समस्त श्रौत नित्य याग जगत् के पूर्ण सर्गकालिक आधिदैविक यज्ञों की प्रतिकृति अथवा प्रतीक हैं।

आधिदैविक जगत् की दिव्यरूपात्मक देवियाँ – शक्तियाँ यज्ञों में स्व-स्वभाग को ग्रहण करती हैं। हम प्रत्यक्ष देखते हैं—आदित्य वा वायु पृथिवीस्थ जलों को ग्रहण करते हैं। इन्द्रदेव अन्तरिक्षस्थ जलों के मध्य में वर्त्तमान होकर उनको ग्रहण करता है। जलों का सूक्ष्म तत्त्व ही आधिदैविक सोम है। यही सोम आदित्य में जलकर उसे प्रदीप्त करता है। इस प्रकार सभी आधिदैविक देवता आधिदैविक यज्ञों में अपनी-अपनी हवियों को ग्रहण करते हैं। परन्तु उनका ग्रहण स्वार्थ के लिए नहीं होता है। वे उसे वापस रूपान्तर में लौटा देते हैं। इसी दान के कारण वे देवता कहाते हैं—'देवो दानात्' (निरुक्त, ७।१५)। यही रूप साधारण मनुष्य के स्वीकरण में और देवताओं के स्वीकरण में है।

यदि द्रव्ययज्ञों को स्थूल रूप में भी देखें, तो अग्नि अपने में हुत द्रव्य को स्वयं भक्षण न करके उसे अत्यन्त सूक्ष्म करके वायु आदि के सहयोग से दूर-दूर तक पहुँचाता है। उससे वायु और जल जो प्राणिजगत् के जीवनभूत हैं, शुद्ध करता है। चाहे आधिदैविक यज्ञ हो, चाहे द्रव्यमय यज्ञ, दोनों में अग्नि ही प्रमुख देव है, जो अपने में हुत पदार्थ को सब देवों के प्रति पहुँचाता है। इसीलिए कहा है—'अग्निर्वै देवानां दूतः' (श० ब्रा० १।४।१।३४)। [यु० मी०]

इस वस्तुस्थिति के अनुसार देवताओं द्वारा ग्रहण किये जानेवाले द्रव्य को—उनके द्वारा सेवन किया गया—माना जाता है; और पिष्ट चरु को पूषा का भाग कहा जाता है; तो भी पेषण देवता का धर्म नहीं हो सकता। यदि देवता का धर्म माना जाता है, तो पेषण निष्प्रयोजन होगा, क्योंकि वह याग का धर्म नहीं है। तात्पर्य है, पेषण याग में प्रयुक्त होने के लिए नहीं है, जबकि प्रत्येक हवि यागरूप प्रयोजन की पूर्त्ति के लिए तैयार किया जाता है। इसलिए पेषण को याग का धर्म मानना युक्त है।

शंका होती है—जहाँ प्रकरण में 'पूषा प्रपिष्टभागः' कहा है, वहाँ पूषा-देवतासम्बन्धी किसी याग का निर्देश नहीं है, तथा उक्त वचन पेषण का सम्बन्ध देवता के साथ बताता है, तब पेषण याग का धर्म कैसे होगा? वस्तुतः उक्त वाक्य में प्रयुक्त 'भाग' पद ही आशंका को निरवकाश कर देता है। भाग पद का मुख्यवृत्ति से देवता के साथ सम्बन्ध नहीं है; याग के साथ भाग पद का सम्बन्ध

मुख्यवृत्ति से है। भाग पिष्ट हवि का है, हवि याग के लिए सिद्ध किया जाता है, अतः पेषण याग का धर्म होना सम्भव है।

यद्यपि 'तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागः' वचन में देवता के साथ सम्बन्ध कहा गया है, पर जो जिसका सेवन करता है, वह उसका भाग होता है। देवता यागद्रव्य का सेवन नहीं करता। यागद्रव्य हवि का वास्तविक सेवन यागरूप में अग्नि करता है, पिष्ट हवि का भी। देवता से सम्बद्ध करने पर पेषण अनर्थक हो जाता है, जैसा प्रथम कहा जा चुका है। द्विदेवत्य चरुनिर्वाप में सम्मिलित देवता हैं। 'ऐन्द्रापौष्णश्चरुः' में इन्द्र और पूषा सम्मिलित देवता हैं। वहाँ न अकेला पूषा देवता है, और न चरु पूषा देवता के स्वत्व के साथ सम्बद्ध है। क्योंकि हवि के निर्वाप के समय 'इन्द्रापूषाभ्यां जुष्टं निर्वपामि' इन्द्र और पूषा सम्मिलित देवता के लिए हवि का निर्वाप किया जाता है। वहाँ अकेले पूषा देवता के न होने से चरु के पेषण का प्रश्न ही नहीं उठता ॥४४॥

'तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि' वचन के अनुसार 'अदन्तक' लिङ्ग से गत सूत्र [४२] द्वारा यह सिद्ध किया है कि पेषण देवता का धर्म होना चाहिए। इस आशंका का सूत्रकार ने समाधान किया—

हेतुमात्रमदन्तत्वम् ॥४५॥

[अदन्तत्वम्] पूषा देवता का अदन्तक होना कहा जाना [हेतुमात्रम्] वास्तविक हेतु न होकर हेतु के समान प्रतीत होता हुआ केवल अर्थवाद है।

'अदन्तको हि' हेतु नहीं है। वस्तुतः 'दन्त' पद शरीरमात्र का उपलक्षण है। 'अदन्तक' कहकर देवताओं को अशरीरी बताया गया है। यह वस्तुस्थिति का अभिव्यञ्जन स्तुतिरूप अर्थवाद है। शास्त्र में ऐसे वचन स्तुतिरूप अर्थवाद होते हैं, यह मीमांसा-सूत्र [१।२।२६—३०] में प्रथम निश्चय किया गया है। 'शूर्पेण जुहोति तेन ह्यन्नं क्रियते' [श० ब्रा० २।५।२।२३] वचन में 'तेन ह्यन्नं क्रियते' अंश जैसे हेतु के समान प्रतीयमान अर्थवादमात्र है, वैसे ही यहाँ 'अदन्तको हि' वचन देवताओं की अशरीरी स्थिति को प्रकट करता हुआ स्तुतिरूप अर्थवाद है ॥४५॥

'सौमापौष्णं नेमपिष्टं भवति' को भी पहले लिङ्ग बताया है, उस विषय में क्या समझना चाहिए ? इस शिष्य-जिज्ञासा का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

वचनं परम् ॥४६॥

[परम्] अन्य कहा गया—'नेमपिष्टं भवति' लिङ्ग न होकर [वचनम्] विधिवाक्य है। तात्पर्य है—यह वचन सौमापौष्ण चरु में नेमपिष्टता का विधान

करता है।

वह वाक्य द्विदेवत्य चरु में अर्द्धपेषण को बतात है। 'अर्द्धं पिष्टं भवत्यर्द्ध-मपिष्टं द्विदेवत्याय' यह 'चरु का अर्धपेषण देवता का धर्म है' इस तथ्य को स्पष्ट करता है। इस विषय में वास्तविकता यह है कि ४४वें सूत्र के अनुसार सौमापौष्ण चरु में पेषण अप्राप्त होता है, वहाँ पर यह वचन नेमपिष्टता का विधान करता है। इसमें जो वाक्यभेद-दोष को उभारा गया है, वह आंशिक कथन है। जहाँ एक वाक्य से दो अर्थों को अभिव्यक्त करना अपेक्षित होता है, वहाँ वाक्यभेद-दोष को अनादृत कर दिया जाता है, और एक वाक्य से अनेक अर्थों का विधान मानना पड़ता है, अन्यथा नेमपिष्टता का कथन निरर्थक हो जायगा। अतः द्विदेवत्य चरु में पूर्ण पेषण नहीं होता, यह सिद्ध है ॥४६॥ (इति पौष्णपेषणस्यैकदेवत्ये निवेशाधिकरणम्—१५)।

इति जैमिनीय मीमांसासूत्राणां विद्योदयभाष्ये
तृतीयाऽध्यायस्य तृतीयः पादः।

तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः

गत तृतीय पाद द्वारा दर्श-पूर्णमास प्रकरण के तैत्तिरीय संहिता-स्थित कतिपय सन्दिग्ध स्थलों के विषय में विवेचन प्रस्तुत किया गया। उसी प्रसंग को चालू रखते हुए दर्श-पूर्णमास प्रकरण में अन्य पाठ है—'निवीतं मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितॄणामुपवीतं देवानाम्, उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते' [तै० सं० २।५।११]। निवीत=ग्रीवा (गर्दन) में दोनों ओर आगे को लटकाते हुए यज्ञोपवीत धारण करना मनुष्यों का, प्राचीनावीत=बाईं बाँह से बाहर निकालकर दाएँ कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण करना पितरों का, उपवीत=दाईं बाँह बाहर निकालकर बाएँ कन्धे पर धारण करना देवों का चिह्न है। जो उपव्यान=दाईं बाँह को बाहर निकालकर बाएँ कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण करता है, वह देवों के चिह्न को प्रकट करता है।

शिष्य जिज्ञासा करता है—इसमें सन्देह है—क्या 'निवीतं मनुष्याणाम्' वचन विधि है? अथवा अर्थवाद है? और जब यह विधि है, तब क्या पुरुष का धर्म=अङ्ग है अथवा कर्म का अङ्ग है? और फिर 'निवीतं मनुष्याणाम्' वचन जिस प्रकरण में पठित है, वहाँ जो मनुष्य-सम्बन्धी कर्म हैं, उनमें यह विधि है? अथवा मनुष्यप्रधान कर्म में इसका निवेश है?

उक्त वाक्य-सम्बन्धी सन्देह-स्थल में तीन विकल्प हैं—

१. यह विधिवचन है? अथवा अर्थवाद है?

२. यदि विधि है, तब क्या यह पुरुष का धर्म है? अथवा कर्म का? तात्पर्य है—जिस दर्शपूर्णमास प्रकरण में यह पठित है, वहाँ मनुष्य-सम्बन्धी कर्म अन्वाहार्य पाक है। यह पाक क्योंकि ऋत्विजों के भक्षण के लिए होता है, अतः यह पाक दैवकर्म का भाग नहीं है; मनुष्य द्वारा पाक किया जाता है ऋत्विजों के लिए, यज्ञ के लिए नहीं। तब क्या इसी का विधान यह वचन करता है?

३. अथवा पञ्चमहायज्ञों के अन्तर्गत मनुष्यप्रधान-कर्म आतिथ्य है। क्या यह विधिवचन उसका विधायक माना जाय?

प्रथम विकल्प को लक्ष्य कर शिष्य का कहना है—यह विधिवाक्य होना चाहिए, क्योंकि यह एक अपूर्व अर्थ का विधान करता है। शिष्य-सुझाव को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष-रूप में सूत्रित किया—

निवीतमिति मनुष्यधर्मः शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ॥१॥

[निवीतम्] निवीत [इति] यह [मनुष्यधर्मः] मनुष्य का धर्म = अङ्ग है। [शब्दस्य] 'निवीतं मनुष्याणाम्' इस शब्द के [तत्प्रधानत्वात्] मनुष्यप्रधान होने के कारण।

'निवीतं मनुष्याणाम्' यह विधायक वाक्य है। अपूर्व अर्थ का विधान करता हुआ यह सप्रयोजन होता है। यदि इसे अर्थवाद कहा जाय, तो यह निरर्थक होगा; क्योंकि ऐसा कोई अर्थ विहित नहीं है, जिसकी यह स्तुति करे। अतः विधि मानने पर यह पुरुष का धर्म है, अर्थात् पुरुष निवीत धारण करे, इसका विधान करता है, इस रूप में यह पुरुष का अङ्ग है। पुरुष के लिए निवीत धारण करने का विधान होने से उसका अङ्ग है। उक्त वाक्य में मनुष्य का विधान न होकर मनुष्य के निवीत-धारण का विधान है। निवीत-धारण पुरुष का अङ्ग तभी होगा, जब पुरुष के लिए उनका विधान माना जाय, क्योंकि निवीत-धारण मनुष्यों का उपकारक है।

दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पठित होने से दर्श-पूर्णमास याग उपकारक कहना युक्त न होगा; क्योंकि प्रकरण से वाक्य बलवान् होता है; क्योंकि वाक्य साक्षात् निवीत-धारण को (= निवीतं मनुष्याणाम्) मनुष्य-सम्बन्धी कर्म बतला रहा है। फलतः यही समझना चाहिए कि उक्त वाक्य निवीत-धारण का विधि है, और यह मनुष्य-धर्म है ॥१॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त पूर्वपक्ष का समाधान किया—

अपदेशो वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥२॥

[वा] सूत्र में 'वा' पद पूर्वोक्त पक्ष के निवारण के लिए है। तात्पर्य है—'निवीतं मनुष्याणाम्' वचन का प्रवेश मनुष्यप्रधान-कर्म में नहीं होता; अर्थात् यह वाक्य किसी अपूर्व अर्थ का विधायक नहीं है; अपितु [अपदेशः] पहले से ज्ञात अर्थ का ही कहनेवाला वचन है, [अर्थस्य] निवीत-धारणरूप अर्थ के [विद्यमानत्वात्] प्रथमतः विद्यमान होने से। लोक में प्रायः सभी मनुष्य स्वतः निवीत धारण करते हैं; उसके लिए विधि अनावश्यक है।

उक्त वचन लोकप्रसिद्ध अर्थ का कथन करता है, किसी अपूर्व अर्थ का नहीं, जिसके कारण इसे विधि माना जाय। लोक में प्रायः सभी मनुष्य अपने कर्म में

प्रवृत्त होने के लिए निवीत धारण करते हैं। उसी का अनुवादमात्र यह वचन है, अपूर्व विधि नहीं ।।२।।

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है—लोक में निवीत-धारण प्रायोवादमात्र है, उक्त वाक्य उसको व्यवस्थित करता है। तब इसे अपूर्व विधि क्यों न माना जाय ?

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

विधिस्त्वपूर्वत्वात् स्यात् ।।३।।

[तु] सूत्र में 'तु' पद निश्चय अर्थ का द्योतक है। [विधिः-तु] 'निवीतं मनुष्याणाम्' वचन विधि ही [स्यात्] है, [अपूर्वत्वात्] अपूर्व अर्थ का विधायक होने से।

यह ठीक है कि कर्म में प्रवृत्त होने के अवसर पर प्रायः मनुष्य निवीत धारण करते हैं, पर उसकी अनुल्लंघ्यता लोक में नहीं है; इसका उल्लंघन भी देखा जाता है। उक्त वाक्य निवीत-धारण की अनुल्लंघ्यतारूप व्यवस्था का विधान करता है। निवीत-धारण की अनुल्लंघ्यता = नियमित व्यवस्था लोक से प्राप्त नहीं है। इसी अपूर्व अर्थ का विधान उक्त वाक्य करता है, अतः उसे विधि मानना युक्त है ।।३।।

शिष्य इसमें पुनः सुझाव प्रस्तुत करता है—निवीत-धारण को पुरुष का धर्म नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वस्तुतः यह पुरुष को उपकृत नहीं करता; प्रत्युत उस कर्म को उपकृत करता है, जिस कर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होने के लिए पुरुष ने निवीत धारण किया है।

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-सुझाव को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

स प्रायात् कर्मधर्मः स्यात् ।।४।।

[सः] वह निवीत-धारण [प्रायात्] दर्शपूर्णमास प्रकरण के कर्मबहुल प्रदेश में उपदिष्ट होने के कारण अथवा उस कर्म के लिए—उस कर्म की पूर्णाङ्गता के लिए—होने के कारण [कर्मधर्मः] कर्म का धर्म = अङ्ग [स्यात्] होना चाहिए।

मनुष्य द्वारा निवीत धारण करके कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होना कर्म में अपूर्व धर्म-विशेष का उत्पादक होता है; अतः उसे (निवीत-धारण को) कर्म का अङ्ग मानना युक्त है। वह कर्म में अपूर्व का उत्पादन कर कर्म को उपकृत करता है; तब उसी का अङ्ग माना जाना चाहिए। दर्शपूर्णमास प्रकरण में पठित है, दर्श-पूर्णमास क्रतु के पूर्णाङ्ग अनुष्ठान के लिए निवीत धारण किया जाता है, तब उस क्रतु का अङ्ग मानने में कोई बाधा नहीं है ।।४।।

केवल क्रतु का नहीं, अपितु इसे वाक्यशेष—अर्थात् दर्शपूर्णमास-प्रकरण-पठित निवीत-धारण का—'आध्वर्यव' नाम होने से क्रतुयुक्त मनुष्य-धर्म मानना चाहिए।

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को सूत्रित किया—

वाक्यशेषत्वात् ॥५॥

सूत्र के 'शेष' पद से यहाँ [३।३।१४] सूत्र में बताये गये श्रुति आदि छह विधि-विनियोग कारणों में से अन्तिम 'समाख्या' प्रमाण का ग्रहण है। इसके अनुसार सूत्रार्थ है—[वाक्यशेषत्वात्] 'निवीतं मनुष्याणाम्' इस वाक्य का शेष=समाख्या अर्थात् नाम 'आध्वर्यव' होने से ज्ञात होता है, निवीत-धारण अध्वर्यु को करना चाहिए।

दर्शपूर्णमास प्रकरण में उक्त वाक्य पठित है। यदि दर्शपूर्णमास की समाख्या 'आध्वर्यव' है, तो अध्वर्यु के निवीत धारण करने में उक्त वाक्य का विनियोग मानना चाहिए। फलतः दर्शपूर्णमास क्रतुयुक्त मनुष्य-धर्म निवीत-धारण है, यह मान्यता युक्त है। इससे प्रकरण और समाख्या अनुगृहीत होते हैं ॥५॥

शिष्य ने पुनः जिज्ञासामूलक अन्य पक्ष प्रस्तुत किया—दर्शपूर्णमास प्रकरण में अन्वाहार्यपाक पठित है, निवीत-धारण करके अध्वर्यु द्वारा वह पाक सिद्ध किया जाता है। तब 'निवीतं मनुष्याणाम्' विनियोग प्रकरणस्थित मनुष्य-प्रधान कर्म में क्यों न माना जाय ? आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-भावना को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

तत्प्रकरणे यत् तत्संयुक्तमविप्रतिषेधात् ॥६॥

[तत्प्रकरणे] दर्शपूर्णमास के प्रकरण में [यत्] जो अन्वाहार्यपाक आदि पठित है [तत्संयुक्तम्] उससे संयुक्त अर्थात् निवीत-धारण को उसका अङ्ग होना चाहिए, [अविप्रतिषेधात्] प्रकरण और समाख्या का इस मान्यता के साथ विप्रतिषेध=विरोध न होने से। तात्पर्य है—अन्वाहार्यपाक अध्वर्युकर्तृक है, और दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पठित भी है। अतः यह प्रकरणस्थ मनुष्यप्रधान कर्म का धर्म है, यह मानना अधिक युक्त है।

यद्यपि प्रकरण और समाख्या के आधार पर निवीत-धारण कर्म का धर्म ज्ञात होता है, 'निवीतं मनुष्याणाम्' वाक्य से साक्षात् मनुष्य का धर्म जाना जाता है, फिर भी विरोध-परिहार के लिए इसका अन्यत्र उत्कर्ष करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि प्रस्तुत प्रकरण में ही मनुष्यप्रधान अन्वाहार्यपाक पठित है, जो अध्वर्यु द्वारा सम्पन्न किया जाता है। अतः उक्त वाक्य का विनियोग निवीत धारण कर अध्वर्यु द्वारा साध्य अन्वाहार्यपाक-कर्म में होना चाहिए। इससे

प्रकरण और वाक्य दोनों अनुगृहीत होंगे। फलतः दर्श-पूर्णमासप्रकरण-स्थित मनुष्यप्रधान कर्म का इसे धर्म मानना युक्त है ॥६॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है—प्रकरण-स्थित मनुष्यप्रधान कर्म में उक्त विधिवाक्य का विनियोग कहना निर्बाध नहीं है। क्योंकि पूरे सन्दर्भ में सभी वाक्य समानरूप से पठित हैं, इसलिए प्राचीनावीत और उपवीत के यथाक्रम पितृकर्म और देवकर्म में सम्बन्ध के समान निवीत का सम्बन्ध भी मनुष्यप्रधान कर्म के साथ मानना होगा। तब जहाँ निरपेक्ष मनुष्यप्रधान कर्म होगा, वहाँ इसका उत्कर्ष मानना ही चाहिए। शिष्य-भावना को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष-रूप में सूत्रित किया—

तत्प्रधाने वा तुल्यवत् प्रसंख्यानादितरस्य तदर्थत्वात् ॥७॥

[वा] 'वा' पद प्रस्तुत प्रकरण में 'निवेश' पक्ष के प्रतिषेध का द्योतक है। [तत्प्रधाने] 'निवीतं मनुष्याणाम्' का निरपेक्ष मनुष्यप्रधान कर्म में सम्बन्ध होना चाहिए, [तुल्यवत्] समान रूप से [प्रसंख्यानात्] कथन होने के कारण। 'प्राचीनावीतं पितृणाम्, उपवीतं देवानाम्' के साथ 'निवीतं मनुष्याणाम्' का समान रूप से कथन हुआ है; इसलिए प्राचीनावीत और उपवीत से [इतरस्य] इतर=अन्य—निवीत का [तदर्थत्वात्] उसी के लिए होने से, अर्थात् मनुष्य के ही लिए होने के कारण निवीत का मनुष्यप्रधान कर्म के साथ सम्बन्ध होना सर्वथा योग्य है।

दर्श-पूर्णमास प्रकरण में प्रस्तुत विवेचन-सम्बन्धी पूर्ण पाठ है—निवीतं मनुष्याणाम्, प्राचीनावीतं पितृणाम्, उपवीतं देवानाम्' यहाँ ये तीनों वाक्य समान रूप से पढ़े हैं। इनमें से जिस प्रकार प्राचीनावीत का पितृकर्म में, तथा उपवीत का दर्शपूर्णमास आदि देवकर्म में सम्बन्ध माना जाता है, उसी प्रकार निवीत का सम्बन्ध भी निरपेक्ष मनुष्यप्रधान कर्म के साथ मानना होगा। तब प्रकरणस्थित सापेक्ष अन्वाहार्यपाक आदि मनुष्यप्रधान कर्म के साथ निवीत का सम्बन्ध न मानकर निरपेक्ष मनुष्यप्रधान कर्म देखना होगा, जहाँ इसका सम्बन्ध माना जाय। वह पञ्चमहायज्ञ के अन्तर्गत निरपेक्ष मनुष्यप्रधान आतिथ्य-कर्म है। वहीं निवीत का उत्कर्ष करना योग्य होगा। 'मनुष्याणाम्' षष्ठी विभक्ति का निर्देश निवीत के साथ मनुष्य का साक्षात् सम्बन्ध प्रकट करता है, जैसे समान पठित अन्य दोनों वाक्यों में स्वीकार किया गया है। अतः वाक्य-प्रकरण को बाधकर निवीत-धारण का निवेश अतिथि-कर्म में करेगा। फलतः दर्श-पूर्णमास से निवीतधारण का अन्यत्र उत्कर्ष उचित है।

चतुर्थ पाद के इन प्रारम्भिक सात सूत्रों में पूर्वनिर्दिष्ट तीन विकल्पों के मूल

में पाँच पक्ष प्रस्तुत किये गये हैं, जिनमें 'निवीतं मनुष्याणाम्' को विधि मानकर उसे (१) मनुष्यधर्म, (२) कर्मधर्म, (३) दर्श-पूर्णमासकर्मयुक्त मनुष्य-धर्म, (४) दर्श-पूर्णमास प्रकरणस्थित मनुष्यप्रधान कर्म का धर्म; (५) प्रकरण से अन्यत्र आतिथ्यादि मनुष्यकर्म का धर्म प्रकट किया गया है।

पहले तीन सूत्रों में प्रथम पक्ष पर विचार है। चौथे सूत्र से दूसरा पक्ष, पाँचवें सूत्र से तीसरा पक्ष, छठे सूत्र से चौथा पक्ष, सातवें सूत्र से पाँचवाँ पक्ष प्रस्तुत किया गया है। सिद्धान्त की दृष्टि से ये सब पूर्वपक्ष हैं। सिद्धान्त-पक्ष अगले दो सूत्रों द्वारा प्रस्तुत है ॥७॥

इस लम्बे पूर्वपक्ष का आचार्य सूत्रकार ने समाधान अगले सूत्र द्वारा प्रस्तुत किया—

अर्थवादो वा प्रकरणात् ॥८॥

[वा] 'वा' पद पूर्वोक्त 'मनुष्यप्रधान कर्म-विषयक विधि' पक्ष के निराकरण का द्योतक है। तात्पर्य है—'निवीतं मनुष्याणाम्' वचन मनुष्यप्रधान कर्म का विधायक नहीं है, [प्रकरणात्] प्रकरण-सामर्थ्य से, अतः [अर्थवादः] अर्थवाद है।

'निवीतं मनुष्याणाम्' यह वचन विधि नहीं है; मनुष्यप्रधान कर्म का विधान करता है, अथवा मनुष्यप्रधान कर्म में यह विनियुक्त है,—ऐसा भी नहीं है। 'मनुष्याणाम्' षष्ठी विभक्ति से मनुष्य-सम्बन्ध तो जाना जाता है, पर मनुष्यप्रधान कर्म के साथ सम्बन्ध का यहाँ कोई निर्देश या संकेत नहीं है। यदि इस वचन का सम्बन्ध मनुष्यप्रधान कर्म में स्वीकार किया जाता है, तो निवीत-धारण कर्म के फल की कल्पना करनी होगी, क्योंकि विधिवचन का कोई फल अवश्य मान्य होता है, जिसका प्रकरण में कोई निर्देश नहीं है। अतः जहाँ पञ्च-महायज्ञ आदि के प्रसंग में मनुष्यप्रधान कर्म आतिथ्य का कथन है, उसके साथ सम्बन्ध के लिए इस वचन का उत्कर्ष करना पड़ेगा; इससे प्रकरण बाधित होगा। उत्कर्ष करना तभी युक्त माना जाता है, जब प्रकरण में सामञ्जस्य सम्भव न हो। 'निवीतं मनुष्याणाम्' वचन को विधि न मानकर अर्थवाद मानने पर प्रकरण में उपयोग स्पष्ट है। 'उपव्ययते'=देवकर्म में उपवीत धारण करता है, इस विधि का यह स्तुतिरूप अर्थवाद है। इस मान्यता में कोई बाधा नहीं है ॥८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—प्रकरण में ही उक्त वचन को अन्वाहार्यपाक-कर्म का विधायक मानकर न प्रकरण बाधित होता है, न उत्कर्ष करना पड़ता है। इस मान्यता को क्यों न स्वीकार किया जाय?

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

विधिना चैकवाक्यत्वात् ॥६॥

[विधिना] 'उपव्ययते' विधिवचन के साथ [एकवाक्यत्वात्] 'निवीतं मनुष्याणाम्' वचन की एकवाक्यता होने के कारण [च] भी 'निवीतं' वचन विधि नहीं है।

एक विधिवचन के साथ दूसरे विधिवचन की एकवाक्यता नहीं होती; क्योंकि प्रत्येक विधिवचन अपने विशिष्ट अर्थ का विधान करता है, जो अन्य वचन से प्राप्त नहीं होता। यदि दो विधिवचनों की एकवाक्यता मानी जाय, तो वाक्य-भेद-दोष प्राप्त होगा। क्योंकि विचार्यमाण सन्दर्भ में 'निवीतं मनुष्याणाम्' वचन की 'उपव्ययते' विधिवचन के साथ एकवाक्यता है, अतः निवीतवचन विधि मानना सम्भव नहीं। प्रकरण के अन्तर्गत ही निवीत-धारण को अन्वाहार्यपाक-कर्म का धर्म कहकर निवीत-वचन को विधि बताना संगत नहीं है। इससे एकवाक्यता बाधित होगी।

'निवीतं मनुष्याणाम्, प्राचीनावीतं पितॄणाम्, उपवीतं देवानाम्, यत् उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते' इस सन्दर्भ में अन्तिम वाक्य विधि है। दर्श-पूर्णमास देवकर्म-प्रसंग में जनेऊ का उपवीतरूप में धारण करने का विधान करता है। 'निवीतं मनुष्याणाम्' यह लोकसिद्ध अर्थ का अनुवाद है। यहाँ इसका पुनःकथन 'उपवीत धारण' की स्तुति के लिए है। दर्श-पूर्णमास दैव-याग-कर्म में निवीत-धारण अयोग्य है। प्राचीनावीत-धारण पितृकर्म में होता है, वह भी देवकर्म में अयोग्य है। इसलिए देवकर्म में उपवीत धारण करना चाहिए। देवकर्म में निवीत-आदि की अयोग्यता बताकर उपवीत-धारण की स्तुति की गई है।

यह ऐसा ही कथन है, जैसे लोक में कहा जाता है—यह चैत्र ने नटों जैसा वेष धारण किया है; देवदत्त का वेष ब्राह्मणों जैसा है। पहले वेष के कथन से दूसरे की स्तुति होती है। इसी प्रकार देवकर्म में उपवीत की प्रशंसा के लिए निवीत आदि का संकीर्त्तन है। 'निवीतं मनुष्याणाम्' वचन में कोई विधायक पद नहीं है। इसलिए 'उपव्ययते' विधि के स्तुति-प्रयोजन से यह वचन प्रकरण में ही अर्थवान् है। इसी रूप में निवीत-वचन 'उपव्ययते' से सम्बद्ध है। इससे न वाक्य का कोई विरोध है, और प्रकरण भी अबाधित व सार्थक रहता है। फलतः देव-कर्म में उपवीत ही प्रशस्त है। दर्श-पूर्णमास आदि देवकर्मों में उपवीत ही धारण करना चाहिए, यह प्रमाणित होता है ॥६॥ (इति निवीतस्यार्थवादताऽधिकरणम्—१)।[1]

---

१ शबर स्वामी के अनन्तरकालवर्त्ती कुमारिल भट्ट आदि आचार्यों ने अपनी रचनाओं में यहाँ छह अन्य सूत्रों की व्याख्या प्रस्तुत की है। उन सूत्रों के

(दिग्विभागस्थाऽनुवादताधिकरणम्—२)

ज्योतिष्टोम के प्रकरण में तैत्तिरीय संहिता [६।१।१] का पाठ है—"देव-मनुष्या दिशो व्यभजन्त प्राचीं देवा दक्षिणां पितरः प्रतीचीं मनुष्या उदीचीं रुद्राः"[1] देव और मनुष्यों ने दिशाओं को बाँट लिया; पूर्व दिशा को देवों ने, दक्षिण दिशा को पितरों ने, पश्चिम दिशा को मनुष्यों ने, उत्तर दिशा को रुद्रों ने प्राप्त किया। शाबरभाष्य के पाठ के अनुसार उत्तर दिशा को असुरों ने प्राप्त किया। प्रस्तुत प्रसंग में केवल 'प्रतीचीं मनुष्याः' अंश को लक्ष्य कर विवेचन किया गया है।

शिष्य जिज्ञासा करता है—इसमें निम्न प्रकार सन्देह हैं—क्या 'प्रतीचीं मनुष्याः' यह विधि है? अथवा अर्थवाद है? यदि विधि है, तो क्या यह मनुष्य-धर्म है? अथवा कर्म का धर्म है? यदि मनुष्य-धर्म है, तो क्या प्रकरण-पठित मनुष्यप्रधान कर्म में इसका निवेश माना जाय? अथवा प्रकरणान्तर पठित आतिथ्य कर्म में?

गत अधिकरण का अतिदेश करते हुए आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

विभागश्च तद्वत् सम्बन्धस्यार्थहेतुत्वात् ॥१०॥

[विभागः] दिशाओं का विभाग=बँटवारा [च] भी [तद्वत्] निवीत के समान जानना चाहिए, [सम्बन्धस्य] प्रतीची दिशा के साथ मनुष्य-सम्बन्ध के [अर्थहेतुत्वात्] प्रयोजनरूप हेतु होने से। तात्पर्य है—पश्चिम दिशा के साथ मनुष्य-सम्बन्ध में—उसका प्रयोजन पूरा होना—हेतु है।

विषय में आचार्यों के विभिन्न विचार हैं—

(क) भाष्यकार शबर स्वामी ने इन सूत्रों का भाष्य किया था, वह किसी कारण खण्डित हो गया।

(ख) निरर्थक होने से भाष्यकार ने व्याख्या की उपेक्षा कर दी।

(ग) ये सूत्र अनार्ष हैं, जैमिनि की रचना नहीं हैं।

यह विचार अधिक युक्त प्रतीत होता है। शबर-काल तक इन सूत्रों का अस्तित्व न था। सूत्र थे, शबर ने भाष्य किया; वह खण्डित हो गया इस कथन में कोई प्रमाण नहीं है। यदि भाष्यकार के समय सूत्र होते, और उन्हें फल्गु समझकर भाष्यकार उनपर भाष्य लिखने की उपेक्षा करता, तो इसका ही उल्लेख भाष्यकार कर देता। इन सूत्रों पर शबर स्वामी का कुछ भी निर्देश न होने से यह निश्चित है—शबर स्वामी के समय इन सूत्रों का अस्तित्व न था। अनन्तर-काल में कब मिलाये? किसने मिलाये? क्यों मिलाये? यह सब अन्वेष्य है।

१. 'उदीचीं रुद्राः' के स्थान पर शाबरभाष्य में 'उदीचीमसुराः' पाठ है।

गत सातवें सूत्र की व्याख्या में निवीत के पाँच पक्ष दिखाये गये हैं। उसी के समान दिग्विभाग के भी यहाँ पूर्वपक्षरूप में पाँच पक्ष समझने चाहिएँ :

(१) मनुष्य धर्म, (२) कर्म धर्म, (३) ज्योतिष्टोमकर्मयुक्त मनुष्य-धर्म, (४) ज्योतिष्टोम में मनुष्यप्रधान कर्म = दक्षिणादान का धर्म, (५) भिन्न वाक्य होने के कारण प्रस्तुत प्रकरण से अन्यत्र आतिथ्य आदि कर्म का धर्म। इनका निराकरण करते हुए 'प्राचीनवंशं करोति' विधि का यह स्तुतिरूप अर्थवाद है,— यह सिद्धान्त-पक्ष स्पष्ट किया है।

उक्त वाक्य से पहले संहिता में 'प्राचीनवंशं करोति' यह 'प्राचीनवंश' नामक मण्डप-निर्माण का विधि-वचन है। चारों दिशाओं की ओर इस मण्डप के चार द्वार होते हैं। मण्डप-निर्माण के लिए ऊपर मगज में जो मुख्य बाँस डाला जाता है, वह उत्तर-दक्षिण होता है। यह मानव-मण्डप है। साधारण निवास के लिए किसी भी गृह या शाला का रुख उत्तर-दक्षिण—कुछ पूर्व व पच्छिम को झुका हुआ रक्खा जाय, तो वह घर सर्वर्तु सुख होता है। देव-मण्डप के निर्माण में मुख्य बाँस पूर्व-पच्छिम होता है। इसी के लिए 'प्राचीनवंशं करोति' विधि है।

प्रधान याग में यजमान को दीक्षित करने के लिए इस मण्डप का उपयोग होता है। यजमान, ऋत्विज् तथा देव-सम विद्वानों का मण्डप में प्रवेश पूर्व-द्वार से होता है, दक्षिण-द्वार से अन्य पितृ-सम मान्य वृद्धजनों का, पश्चिम-द्वार से अन्य पारिवारिक, इष्ट मित्र आदि जन, उत्तर-द्वार से अन्य कार्यकर्त्ता आदि। शाबरभाष्य के अनुसार 'रुद्र' के स्थान में 'असुर' पद के पाठ का तात्पर्य यही है कि इस द्वार से चतुर्थ श्रेणी के सेवक आदि क्षुद्र जन प्रवेश करें। यह सब मण्डप में यथास्थान बैठने की व्यवस्था का रूप है। इसी कारण यह वाक्य 'प्राचीनवंशं करोति' विधि का स्तुतिरूप अर्थवाद है। 'प्राचीं देवाः' इत्यादि समस्त सन्दर्भ की एकवाक्यता 'प्राचीनवंशं करोति' विधि के साथ स्पष्ट है। 'प्रतीचीं मनुष्याः' आदि सन्दर्भ को प्राचीनवंश विधि का अर्थवाद मानने पर प्रकरण भी अनुगृहीत होता है ॥१०॥ (इति दिग्विभागस्यानुवादताधिकरणम्—२)।

(परुषिदितादीनामनुवादताऽधिकरणम्—३)

(१) चातुर्मास्य याग के अन्तर्गत तैत्तिरीय ब्राह्मण [१।६।८] के महापितृ-यज्ञ प्रसंग में पाठ उपलब्ध है—'यत् परुषि दितं[1] तद्देवानाम्, यदन्तरा तन्मनुष्या-

१. ब्राह्मण में 'दितं' के स्थान पर 'दिनं' पाठ उपलब्ध है, जो छान्दस ही समझना चाहिए। यह भी सम्भव है, जिस हस्तलिखित प्रति से सर्वप्रथम ब्राह्मण मुद्रित कराया गया, उसमें लिपिकार ने भ्रमवश 'दितं' के स्थान पर 'दिनं' लिपि कर दिया हो।

णाम्, यत् समूलं तत् पितृणाम्' जिन कुशाओं को जड़ से ऊपर की पहली गाँठ से काटा जाता है, वे दोनों की; जिनको जड़ और गाँठ के मध्य भाग से काटा जाता है, वे मनुष्यों की; तथा जिनको समूल काटा जाता है, वे पितरों की होती हैं। इसी के आगे विधिवाक्य पठित है—'समूलं बर्हिर्भवति व्यावृत्यै'—कुशा समूल काटनी चाहिए, न्यूनता आदि दोष निवारण के लिए।

(२) इसी प्रसंग में 'पितृभ्योऽग्निष्वातेभ्योऽभिवान्याः गोर्दुग्धे मन्थम्' अग्नि-कर्म-विशेषज्ञ पितरों के लिए मृतवत्सा (जिसको अन्य वत्स के सहारे दुहा जाता है, ऐसी अभिवानी) गाय के दूध में यवपिसान (=सत्तू) डालकर मन्थ बनाया जाता है। इस प्रकार मन्थन का उपक्रम कर, आगे पाठ है—'यत् पूर्णं तन्मनुष्याणाम्, उपर्यर्धो देवानाम्, अर्धः पितृणाम्'—जो दूध से भरे पात्र में मन्थन किया जाता है, वह मनुष्यों का; जो आधे से कुछ ऊपर तक भरे पात्र में मन्थन है, वह देवों का; तथा जो आधे भरे पात्र में मन्थन है, वह पितरों का होता है। इसके अनन्तर वहाँ विधिवाक्य पठित है—'अर्ध उपमन्थति अर्धो हि पितृणाम्' आधे के लगभग भरे पात्र में मन्थन करे, क्योंकि वह पितरों के लिए है।

(३) दर्श-पूर्णमास प्रकरणगत आग्नेय पुरोडाश के पाक-प्रसंग में तैत्तिरीय संहिता [२।६।३] का पाठ है—'यो विदग्धः स नैर्ऋतः, योऽशृतः स रौद्रः, यः शृतः स सदेवः; तस्मादविदहता शृतंकृत्यः सदेवत्वाय' पकाते हुए जो पुरोडाश जल जाय, वह निर्ऋति देवता का है; जो कच्चा रह जाय, वह रुद्रदेवता का; जो ठीक पका है, वह देवों के लिए है। इसलिए पुरोडाश ठीक पकाना चाहिए, जो न जले न कच्चा रहे; वह देव-सम्बन्ध के लिए होता है,—यह विधिवाक्य पठित है।

(४) ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत यजमान को दीक्षित किए जाने के प्रसंग में स्नान के अवसर पर तैत्तिरीय संहिता [६।१।१] में पाठ है—'घृतं देवानाम्, मस्तु पितृणाम्, निष्पक्वं मनुष्याणाम्'—घृत देवों का है, मस्तु पितरों का, निष्पक्व मनुष्यों का। इसके आगे पाठ है—'तद्वा एतत् सर्वदेवत्यं यन्नवनीतम्, यन्नवनीतेनाभ्यङ्क्ते सर्वा एव देवताः प्रीणाति' यह जो नवनीत है, सब देवताओं के साथ सम्बद्ध है; जो नवनीत से अभ्यञ्जन (=सिर से पाँव तक मर्दन) करता है, वह सब देवताओं को प्रसन्न करता है। 'तस्मान्नवनीतेनाभ्यङ्क्ते' इसलिए नवनीत से अभ्यञ्जन करे,—यह विधिवाक्य अन्त में पढ़ा है।

प्रस्तुत प्रसंग में 'घृत, मस्तु, निष्पक्वम्' पदों के अर्थ स्पष्ट नहीं हैं। आचार्यों ने इन पदों के जो विवरण दिए हैं, वे भी सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं है। यह स्मरण रखना चाहिए, लोक व वैदिक साहित्य में घी के लिए 'घृत' सामान्य पद है, यह चाहे अपनी किसी अवस्था में हो। मुख्यतः इसकी दो अवस्थाएँ हैं। पहली अवस्था है—दही बिलोकर निकला हुआ स्नेहभाग। यह डली या लौंदे की शक्ल में ढीला

जमा हुआ रहता है। इसका नाम 'नवनीत' है। इसी को चालू भाषा में 'मक्खन'[1] कहा जाता है। इसमें छाछ का थोड़ा अंश मिश्रित रहता है। वातावरण की उष्णता पाकर जब यही कुछ अधिक ढीला—बहने योग्य हो जाय, तब इसका नाम 'मस्तु' है। कोषों[2] में 'मस्तु' पद का प्रयोग छाछ के लिए आता है। छाछमिश्रित ढीला बहता हुआ नवनीत 'मस्तु' समझना चाहिए। नवनीत के लिए एक अन्य पद 'हैयङ्गवीन' है। यह एक दिन अधिक रक्खे हुए बासी दही से निकाला जाता है। जो सद्यस्क=ताज़ा दही से निकाला जाय, वह 'नवनीत' है। यही दोनों का अन्तर है। वैदिक वाङ्मय के यागीय प्रसंगों में 'हैयङ्गवीन' का उल्लेख नहीं मिलता।

घी की दूसरी अवस्था 'निष्पक्व' है। नवनीत को आग पर अच्छी तरह पकाकर—जब उसका छाछ-अंश सर्वथा जल जाय—कपड़े आदि से छानकर रख लिया जाता है। इसमें अपना स्वाभाविक सुरभिगन्ध रहता है। पकाते समय यदि उसमें नींबू के दो-चार हरे पत्ते अथवा मेथी के परिमित दाने डाल दिए जायें, तो उसमें कुछ विशेष सुरभिगन्ध उभर आता है। यह पका हुआ घी पूर्ण तरल अवस्था में 'आज्य' अथवा 'हवि' है। पूर्ण जमी अवस्था में 'घृत' है। कुछ ढीली-गाढ़ी बहती अवस्था में 'आयुत' है।

मीमांसा-ग्रन्थों में इन भेदों को बताने के लिए एक प्राचीन श्लोक उद्धृत उपलब्ध होता है—

सर्पिर्विलीनमाज्यं स्याद् घनीभूतं घृतं विदुः ।
विलीनार्धमायुतं तु नवनीतं यतो घृतम् ॥

पिघला हुआ 'सर्पि' तथा आज्य कहा जाता है। इसमें और वैशिष्ट्य देखना चाहें, तो जो कुछ गाढ़ा पिघला हुआ है, वह सर्पि है, तथा जो पूरा पिघला हुआ, नितान्त तरल है, वह आज्य है। जो पूर्ण जमा हुआ है वह घृत है। अधपिघला 'आयुत' है। आग पर गरम करके जिससे घी बनाया जाता है, वह 'नवनीत' है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में 'मस्तु' का अर्थ 'दही में सीमित जल मिलाकर अधबिलोई अवस्था' किया है।

---

१. आजकल कच्चे दूध को मथकर जो क्रीम निकाला जाता है, वह लौंदे की शक्ल में नहीं होता। उसे बाद में जमाकर टिकियाँ बना दी जाती हैं, जो मक्खन के नाम से बाजार में बिकता है। प्रस्तुत प्रसंग में उसकी चर्चा नहीं है।

२. आप्टे का संस्कृत-हिन्दी कोष। अमरकोश और उसकी रामाश्रमी टीका के अनुसार 'मस्तु' उस पानी का नाम है, जो दही को कपड़े में छानकर अलग किया जाता है। 'मण्डं दधिभवं मस्तु'। परन्तु यहाँ यज्ञिय प्रसंग में सहयोगी पदों के सामञ्जस्य से घृत की कोई अवस्था 'मस्तु' होनी चाहिए।

संख्या ४ पर निर्दिष्ट तैत्तिरीय संहिता के प्रारम्भिक वचनों में 'नवनीत' का उल्लेख नहीं है; पर आगे विधिवाक्य में नवनीत का उल्लेख है। अर्थवाद की दृष्टि से इसका सामञ्जस्य कैसे होगा ? विचारणीय है। दीक्षा के प्रकरण में यजमान के स्नान के अवसर पर यह विधि है; तब यह भी विचारणीय है कि यजमान को किस वर्ग में रक्खा जाय ? क्योंकि सन्दर्भ में 'देव, पितर, मनुष्य' तीन का ही निर्देश है। इन तीन में से किसके साथ यजमान को रक्खा जाय ?

गत अधिकरण में प्राचीनवंश देवमण्डप में प्रवेश के अवसर पर यजमान को ऋत्विज् और देव-सम विद्वानों के साथ रक्खा है। यजमान के सहित ये सब पूर्व-द्वार से मण्डप में प्रवेश करते हैं। यहाँ भी देवों के साथ यजमान को रखने पर 'घृतं देवानाम्' के साथ असामञ्जस्य का समाधान सोचना होगा, क्योंकि विधि-वाक्य में यजमान का अभ्यञ्जन नवनीत से विधान किया है; पर देववर्ग के लिए घृत का निर्देश है। इसके सामञ्जस्य के लिए यह मानना आवश्यक है कि घी की प्रत्येक अवस्था के लिए साधारण रूप से 'घृत' पद का प्रयोग मान्य है; तैत्तिरीय वाक्य में यहाँ 'घृत' पद का प्रयोग 'नवनीत' के लिए हुआ है। ऐसा मानने पर—स्नान के अवसर पर यजमान का अभ्यञ्जन नवनीत से किए जाने की विधि के ये प्रारम्भिक वचन स्तुतिरूप अर्थवाद हैं, यह जानना सम्भव होगा।

इस लम्बी प्रस्तावना में पूर्वोक्त वाक्यों द्वारा देव, पितर और मनुष्यों को लक्ष्य कर चार बातें कही गई हैं—

(१) कुशा का काटना; (२) पात्र का दूध से भरा होना; (३) पुरोडाश का पकाना; (४) घी के प्रयोग की यथावसर अवस्था।

शिष्य जिज्ञासा करता है—यहाँ मनुष्यसम्बन्धी और रुद्र देवतासम्बन्धी वचनों में सन्देह है—क्या ये वचन मनुष्यों के धर्म-सम्बन्धी विधियाँ हैं ? अथवा कर्म के धर्म होकर अनुवाद हैं ? तथा प्रकरण के अन्तर्गत जो मनुष्यप्रधान कर्म हैं, और रुद्र देवतासम्बन्धी कर्म हैं, उन्हीं में क्या इन वचनों का निवेश माना जाना चाहिए ? अथवा प्रकरण के बाहर आतिथ्य आदि कर्म में इनका उत्कर्ष होना चाहिए ? अथवा ये केवल अर्थवाद हैं ?

आचार्य सूत्रकार ने प्रथम अधिकरण का अतिदेश करते हुए जिज्ञासा का समाधान किया—

परुषिदितपूर्णघृतविदग्धञ्च तद्वत् ॥११॥

[परुषिदित-पूर्ण-घृत-विदग्धम्] परुषिदित = गाँठ से काटी हुई कुशा, पूर्ण = दूध से भरा पात्र, घृत और विदग्ध = जला हुआ पुरोडाश, इनके विधायक वचन [च] भी [तद्वत्] निवीत-वचन के समान अर्थवाद समझने चाहिएँ।

सूत्र के प्रथम चारों पद उक्त वचनों के अनुकरण हैं। इनमें समाहार द्वन्द्व-

समास है।

ये 'परुषिदित' आदि वचन भी प्रथम अधिकरण में विवेचित 'निवीत' के समान हैं। जो निवीत में पूर्वपक्ष है, वही इनमें भी पूर्वपक्ष है। जो निवीत में मध्यम पक्ष है, वह इनमें भी मध्यम पक्ष है। जो निवीत में सिद्धान्त है, वही इनमें भी सिद्धान्त है।

'१' संख्या पर दिए वाक्य को लीजिए—'यदन्तरा मनुष्याणाम्' वचन महापितृयज्ञ प्रकरण में पठित है, इसे कर्म का धर्म मानना चाहिए, यह प्रथम पक्ष है। इससे याग का प्रयोजन पूरा होता है, और मनुष्य का सम्बन्ध होने से यह विधिवचन है, और मनुष्य-धर्म है; यह पूर्वपक्ष है। मूल से ऊपर के भाग में काटने का नियम न होने से समूल काटने में लाघव है। प्रयोजन इसी से पूरा होने के कारण स्वतः प्राप्त होने से यह विधि न होकर अनुवाद है, तथा 'समूलं बर्हिर्भवति' विधि का स्तुतिरूप अर्थवाद है।

'२' संख्या पर आधे के लगभग दूध से भरे पात्र में सत्तू का घोल (—मन्थ) बनाने में लाघव है। पूरे भरे पात्र में घोल के बिखरने व उसके बचाव के प्रबन्ध में गौरव है; वह उपादेय नहीं। यह घोल पचास-पचपन वयस के लगभग पितृ-तुल्य वृद्धजनों के लिए होता है। 'यत्पूर्णं तन्मनुष्याणाम्' आदि वचन 'अर्धं उप-मन्थति' विधि के स्तुतिरूप अर्थवाद हैं। विधिवाक्य में पुंल्लिङ्ग 'अर्ध' पद 'आधे के लगभग' अर्थ को कहता है। ठीक बराबर आधे के अर्थ में नपुंसकलिङ्ग अर्धपद प्रयुक्त होता है।

'३' संख्या पर 'यो विदग्धः स नैर्ऋतः' इत्यादि वचन पुरोडाश-पाक प्रकरण में पठित हैं। पकाते हुए जो भाग जल गया, वह निर्ऋति देवता का; जो कच्चा रह गया, वह रुद्र देवता का। निर्ऋति भूमि का नाम है। जो जल गया, वह भूमि पर फेंक देना चाहिए; वह त्याज्य है। जो कच्चा है, वह रुद्र देवता का। तात्पर्य है—कच्चा पाक अपाचक-अस्वास्थ्यकर होने से रुलानेवाला है, त्याज्य है। विधि-वचन है—'शृतं कृत्यः सदेवत्वाय'—ठीक पकाना चाहिए, वह देव-सम्बन्ध के लिए है। देह में ऐसा आहार दिव्य शक्तियों का उत्पादक होता है। 'यो विदग्धः' आदि वचन 'शृतं कृत्यः सदेवत्वाय' विधिवाक्य के स्तुतिपरक अर्थवाद हैं।

'४' संख्या पर 'घृतं देवानाम्' आदि वचन यजमान के दीक्षा-प्रसंग में स्नान के अवसर पर पठित हैं। ये वचन 'नवनीतेनाभ्यङ्क्ते' विधिवाक्य के स्तुति-परक अर्थवाद हैं। यजमान का अभ्यञ्जन स्नान के अवसर पर नवनीत से किया जाना चाहिए, मस्तु अथवा निष्पक्व से नहीं। नवनीत से शिर आदि पर मर्दन शीतल व मनुष्यों के लिए सुखकर होता है, उपादेय है। अन्य वचन इसी के अर्थ-वाद हैं। यह सब उत्तरपक्ष है।

विधि तथा कर्म के धर्मों में पाठ होने से इन्हें कर्म का धर्म समझना चाहिए;

यह तीसरा पक्ष है।

पाक व दक्षिणा आदि मनुष्यप्रधान कर्म में इनका निवेश मानना चाहिए; इससे वाक्य और प्रकरण अनुगृहीत होते हैं। यह चौथा पक्ष है।

प्रकरण में सभी वाक्य समानरूप से पठित हैं; एक को विधि मानने और अन्य को न मानने से वाक्य-भेद प्राप्त होता है। इस दोष की निवृत्ति के लिए प्रकरण से बाहर आतिथ्य आदि मनुष्यप्रधान कर्म में उत्कर्ष मानना युक्त होगा; यह पाँचवाँ पक्ष है।

अपने प्रकरण में विधिवाक्यों के साथ इनकी एकवाक्यता है, इसलिए ये वचन विधियाँ नहीं हैं; अर्थवाद हैं, यह सिद्धान्त निश्चित होता है ॥११॥ (इति परुषि-दितादीनामनुवादताधिकरणम्—३)।

(अनृतवदननिषेधस्य क्रतुधर्मताधिकरणम्—४)

दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पढ़ा है—'नानृतं वदेत्' झूठ न बोले। शिष्य जिज्ञासा करता है—इसमें सन्देह है—प्रकरण में पठित होने से दर्श-पूर्णमास कर्मविशेष में क्या यह वाक्य मिथ्याभाषण-निषेध का विधान करता है? अथवा स्मृति आदि में विहित मिथ्याभाषण-निषेध का यह अनुवाद है? प्रतीत होता है, स्मृति-प्रतिपादित सार्वत्रिक व सार्वदिक मिथ्याभाषण-निषेध का यह अनुवाद है, क्योंकि मिथ्या-भाषण को कहीं भी उपादेय कर्म नहीं माना गया। शिष्य-सुझाव को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

अकर्म क्रतुसंयुक्तं संयोगान्नित्यानुवादः स्यात् ॥१२॥

[क्रतुसंयुक्तम्] क्रतु के साथ सम्बद्ध, अर्थात् क्रतुविशेष के प्रकरण में पठित यह [अकर्म] मिथ्याभाषण कर्म का प्रतिषेध [संयोगात्] पुरुषमात्र के साथ सम्बद्ध होने से, तात्पर्य है—'वदेत्' क्रियापद में पुरुषमात्र के प्रयत्न का श्रवण होने से [नित्यानुवादः] स्मृति आदि प्रतिपादित नित्य मिथ्याभाषण-निषेध का अनुवाद [स्यात्] है।

'नानृतं वदेत्' वाक्य यद्यपि यहाँ दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पढ़ा है, पर उसका यह तात्पर्य नहीं माना जाना चाहिए कि दर्श-पूर्णमास के अनुष्ठानकाल से अन्य काल में अनृतभाषण करे। वाक्य के 'वदेत्' क्रियापद से यह भावना प्रकट नहीं होती कि उसी क्रतुविशेष में ऐसा करे। प्रत्युत साधारणरूप से पुरुषमात्र के प्रयत्न की भावना अभिव्यक्त होती है। इसलिए प्रत्येक अवसर पर प्रत्येक व्यक्ति को मिथ्याभाषण नहीं करना चाहिए; स्मृति आदि प्रतिपादित इस कर्म का ही अनु-वाद प्रस्तुत वचन है। व्यक्तिमात्र को उपनयन-काल में ही 'सत्यं वद, धर्मं चर' आदि कर्त्तव्यरूप में सत्यभाषण का उपदेश दिया जाता है, जिससे समस्त जीवन में प्रत्येक अवसर पर मिथ्याभाषण का प्रतिषेध स्पष्ट होता है। प्रकरणपठित होने

से यदि 'नानृतं वदेत्' का सम्बन्ध दर्श-पूर्णमास कर्म के साथ जोड़ा जाता है, तो उससे इतना ही अर्थ जाना जायगा कि 'दर्श-पूर्णमास में झूठ न बोले'। इससे 'वदेत्' इस लिङ् का जो अनुष्ठानरूप अर्थ है, अर्थात् 'सर्वकाल में कर्त्तव्यरूप से सत्यभाषण अथवा मिथ्याभाषणनिषेध का पालन करना चाहिए' यह भाव परित्यक्त होता है, जो अनिष्ट है; क्योंकि इससे—दर्श-पूर्णमास से अन्य समय में—मिथ्याभाषण की अनुमति मिल जाती है। वह पुरुषधर्म न रहकर कर्म का धर्म होगा। 'नानृतं वदेत्' में पुरुष के प्रति उपदिष्ट—सर्वकाल में अनृतभाषणनिषेध-रूप अनुष्ठेय लिङर्थ अविवक्षित हो जायगा। तात्पर्य है—यह अपने अर्थ को छोड़ बैठेगा। इसका सामञ्जस्य उसी अवस्था में सम्भव है, जब इसे पुरुषधर्म माना जाय। दर्श-पूर्णमास में यह वचन उसी का अनुवाद समझा जाय।

यह कहना भी युक्त न होगा कि दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पठित 'नानृतं वदेत्' श्रुतिवचन उस स्मृतिवचन का मूल है, जिसका उपदेश आचार्य द्वारा उपनयन-काल में किया जाता है। इसके अनुसार 'नानृतं वदेत्' वचन विधिवाक्य होगा, और उपनयनकालिक वचन इसका अनुवाद।

यह कथन इसलिए युक्त नहीं है, क्योंकि उपनयनकालिक वचन के साथ दर्श-पूर्णमास का कोई निर्देश व संकेत नहीं है। उपनयन के अवसर पर उपदेश करने-वाले आचार्य इन सब विषयों के जानकार होते हैं। यदि उपनयनकालिक सत्य-भाषण अथवा अनृतभाषणनिषेध वचन का मूल दर्श-पूर्णमासस्थित वचन रहा होता, या माना गया होता, तो वे आचार्य उस समय इसका संकेत अवश्य करते। पर ऐसा कभी नहीं होता। आचार्य यही उपदेश करते हैं कि 'सत्य बोल, झूठ मत बोल' यह पुरुष-धर्म है, यह सर्वकालिक अनुष्ठेय कर्म है, इसका कभी उल्लंघन न करना। इसलिए उपनयनकालिक वचन को 'नानृतं वदेत्' एतन्मूलक मानकर इसको विधि और उसको (उपनयनकालिक वचन को) अनुवाद कहना संगत न होगा। फलतः यही कथन युक्त प्रतीत होता है कि उपनयनकालिक वचन मिथ्या-भाषणनिषेध के विधायक वाक्य हैं, 'नानृतं वदेत्' उसी का अनुवाद है ॥१२॥

आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

विधिर्वा संयोगान्तरात् ॥१३॥

[वा] सूत्र में 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है; तात्पर्य है—'नानृतं वदेत्' वचन उपनयनकालिक 'सत्यं वद' अथवा 'सत्यमेव वदेत्' स्मृतिवाक्य का अनुवाद न होकर [विधिः] अपूर्व अर्थ का विधायक वाक्य है, [संयोगान्तरात्] उक्त वाक्यों के साथ पुरुष के सम्बन्ध का भेद होने से। तात्पर्य है—उपनयन-कालिक वाक्य के साथ पुरुष के सम्बन्ध का जो स्वरूप है, वह दर्श-पूर्णमास-पठित वाक्य के साथ पुरुष के सम्बन्ध से भिन्न है; इसलिए यह उसका अनुवाद नहीं है,

स्वतन्त्र विधि है।

स्मृतिवाक्य 'सत्यमेव वदेत्' में नियमपूर्वक सत्यभाषण के अनुष्ठान के साथ पुरुष का सम्बन्ध जाना जाता है। इसके विपरीत 'नानृतं वदेत्' वाक्य में अनृत-भाषण के प्रतिषेध के साथ पुरुष का सम्बन्ध कहा है। उपनयनकालिक स्मृतिवचन नियमपूर्वक पुरुष के सत्यभाषण का विधान करता है। उसका उल्लंघन करने पर पुरुष अपराधी होता है, और उसका अनिष्ट फल प्राप्त करता है, वह पुरुष-धर्म है। इसके विपरीत दर्श-पूर्णमास-प्रकरणगत 'नानृतं वदेत्' वाक्य याग-अनुष्ठान-काल में अनृतभाषण-प्रतिषेध का विधान करता है। इसका उल्लंघन पुरुष को अपराधी न कर याग को विगुण करता है। इससे यागजन्य फल की प्राप्ति अवरुद्ध हो जाती है। इसलिए यागानुष्ठानकाल में अनृतभाषण-प्रतिषेध याग का धर्म है, पुरुष का नहीं। फलतः उपनयनकालिक स्मृतिवचन तथा दर्श-पूर्णमास-प्रकरण-स्थित श्रुतिवचन सर्वथा भिन्न वाक्य हैं, विभिन्न अर्थों का कथन करते हैं, अतः 'नानृतं वदेत्' श्रुतिवचन किसी का अनुवाद न होकर अपूर्वविधि है, यह निश्चित होता है ॥१३॥ (इति अनृतवदननिषेधस्य क्रतुधर्मताधिकरणम्—४)।

(जञ्जभ्यमानधर्माणां प्रकरणे निवेशाधिकरणम्—५)

तैत्तिरीय संहिता [६।१।१।१] के ज्योतिष्टोम प्रकरण में पाठ है—'अङ्गिरसः सुवर्गं लोकं यन्तोऽप्सु दीक्षातपसी प्रावेशयन्। अप्सु स्नाति···। तीर्थे स्नाति तीर्थमेव समानानां भवति।'

अङ्गिरस् (अङ्गिरा) सूर्य का नाम है। 'अङ्गिरसः' बहुवचनान्त पद अङ्गिरा= सूर्य के पुत्र किरणों का वाचक है। ये किरणें अन्तरिक्ष में व्याप्त हैं, इन्हें मध्यम-स्थानीय देव कहा जाता है। जब सूर्य-रश्मियाँ नदी एवं खुले जलाशयों पर पड़ती हैं, तब अपने प्राण (दीक्षा=जीवनी शक्तियाँ) और तप=उष्णता जल में छोड़कर परिवर्तित होती हुई वापस सूर्यलोक चली जाती हैं। उन जलों में स्नान करता है, तीर्थ में स्नान करता है। ये जल सूर्यरश्मियों के संस्पर्श से पवित्र हो जाते हैं। इन जलों का नाम ही 'तीर्थ' है। इनमें स्नान करना प्राण व तेज का वर्धक होता है। जो यजमान तीर्थ में स्नान करता है, वह साथियों का उपकारक होता है।

इसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता [२।५।२।४] के दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पाठ है—"**तस्मात् जञ्जभ्यमानात्···प्राणापानौ वा तदजहितां प्राणो वै दक्षोऽपानः क्रतुस्तस्मात् जञ्जभ्यमानो ब्रूयात्—'मयि दक्षक्रतू' इति, प्राणापानावेवात्मन् धत्ते।**"—जंभाई लेते हुए उस पुरुष से उसके प्राण-अपान उसे छोड़ जाते हैं। दक्ष प्राण है, क्रतु अपान है, उन्हें फिर प्राप्त करने के लिए 'मयि दक्षक्रतू'[1] वचन का

---

१. दक्षक्रतू ते मैत्रावरुणः (ग्रहः) पातु। [मैत्रा० सं० ४।८।७]; तुलना करें मैत्रा० सं० [४।५।६]।

पाठ करे। इससे प्राण और अपान को अपने में पुनः धारण करता है।

यहाँ सन्देह है—क्या यह तीर्थस्नान और वचन का पाठरूप धर्म का निवेश केवल अपने प्रकरण में है? अर्थात् ज्योतिष्टोम-अनुष्ठान में तथा दर्श-पूर्णमास-अनुष्ठान में बैठे यजमान के लिए ही यह विधान है? अथवा याग से बाहर भी मनुष्यमात्र के लिए यह विधान है? तात्पर्य है, अपने प्रकरण में ही स्नान व मन्त्र-पाठ का उपयोग है? अथवा प्रकरण से बाहर इसका उत्कर्ष माना जाना चाहिए?

शिष्य ने सुझाव दिया—उत्कर्ष माना जाना उपयुक्त होगा। क्योंकि तीर्थ-स्नान शक्ति और तेज प्राप्त करने के लिए तथा मन्त्रपाठ जम्भाई लेनेवाले पुरुष को पुनः अपने में प्राण-अपान का आधान करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपेक्षित होता है, अतः इसे पुरुषमात्र का धर्म मानना चाहिए।

शिष्य-सुझाव को आचार्य सूत्रकार ने अधिक स्पष्ट करने के लिए पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

अहीनवत् पुरुषस्तदर्थत्वात् ॥१४॥

[अहीनवत्] जैसे 'द्वादशोपसदोऽहीनस्य'[1] वाक्य ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित होने पर भी 'अहीन' पद के श्रवण से अहीनसंज्ञक सोमयागों में द्वादश उपसद् नामक इष्टियों का विधान माना जाता है, वैसे ही [पुरुषः] यहाँ 'स्नाति' क्रियापद से स्नान करनेवाले तथा 'जञ्जभ्यमानः' पद से जम्भाई लेनेवाले पुरुष-प्रयास का श्रवण है, क्योंकि [तदर्थत्वात्] स्नान और उक्त वचन का पाठ पुरुष के लिए होने के कारण पुरुषमात्र का धर्म माना जाना चाहिए। इसलिए स्नान और मन्त्रपाठ का अपने प्रकरणों से उत्कर्ष (उठाकर दूसरी जगह ले-जाना) युक्त है।

गत (३।३।१५-१६) सूत्रों में 'द्वादशोऽपसदाऽहीनस्य' का विवेचन किया है। यह वाक्य साह्न (एक दिन में सम्पन्न होनेवाले) ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पठित है। पर बारह उपसद् नामक इष्टियों का उपयोग 'अहीन'-संज्ञक सोमयागों में होता है, जो दो दिन से लगाकर ग्यारह दिन तक में सम्पन्न होते हैं। ये याग साह्न ज्योतिष्टोम से अतिरिक्त हैं। अतः 'द्वादशाऽहीनस्य' का साह्न ज्योतिष्टोम से उत्कर्ष करके अहीन-संज्ञक सोमयागों में प्रयोग का सिद्धान्त किया है। उसी के समान ज्योतिष्टोम से तीर्थस्नान का तथा दर्श-पूर्णमास से मन्त्रपाठ का उत्कर्ष करके उसे मनुष्यमात्र का धर्म समझना चाहिए।

प्रकरण में पठित को प्रकरण से उत्कर्ष कर अन्यत्र ले-जाने में प्रकरण बाधित होगा, अर्थात् प्रकरण में उसका पाठ व्यर्थ होगा। अतः प्रकरण-बल से पुरुषमात्र

---

१. देखें, मीमांसा सूत्र [३।३।१५-१६] अधिकरण ८।

का धर्म न मानकर प्रकरणगत कर्म का ही धर्म मानना चाहिए,—ऐसी आशंका करना युक्त न होगा। क्योंकि वाक्य (=तीर्थे स्नाति, जञ्जभ्यमानः) स्वयं पुरुष का निर्देश करता है। वाक्य, प्रकरण से बलवान् होता है। अतः वाक्य के साम्मुख्य में प्रकरणबल स्नान एवं मन्त्रपाठ को पुरुषधर्म मानने में कोई बाधा उपस्थित नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त मन्त्रपाठ का फल भी बताया गया है—प्राण-अपान का पुनः अपने में धारण करना। प्रकरणगत कर्म का धर्म मानने पर यह बाधित होगा। फलतः तीर्थस्नान और मन्त्रपाठ का अपने प्रकरणों से उत्कर्ष मानना तथा उसे पुरुषधर्म स्वीकार करना युक्त है ॥१४॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

प्रकरणविशेषाद्वा तद्युक्तस्य संस्कारो द्रव्यवत् ॥१५॥

[वा] सूत्र में 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—ज्योतिष्टोम से स्नान का एवं दर्श-पूर्णमास प्रकरण से मन्त्रपाठ का उत्कर्ष नहीं करना चाहिए, [प्रकरणविशेषात्] प्रकरण के साथ विशेष सम्बन्ध होने के कारण [तद्युक्तस्य] उस प्रकरणगत ज्योतिष्टोम याग से सम्बद्ध यजमान का एवं दर्श-पूर्णयाग से सम्बद्ध जम्भाई लेनेवाले यजमान पुरुष का यथाक्रम तीर्थस्नान एवं मन्त्रपाठ से [संस्कारः] संस्कार किया जाता है। [द्रव्यवत्] जैसे यव, व्रीहि आदि यज्ञसम्बन्धी द्रव्य का प्रोक्षण आदि द्वारा संस्कार किया जाता है।

यज्ञ में उपयोग होनेवाले यवों (जौ) तथा व्रीहि (धान) का प्रोक्षण आदि से यदि संस्कार नहीं किया जाता तो याग विगुण (विकृत) हो जायगा। अनुष्ठाता यजमान को उसका फल प्राप्त न होगा। इसलिए वह संस्कार याग-कर्म का धर्म है याग का उपकारक है। इसी प्रकार ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित तीर्थस्नान अनुष्ठाता यजमान का संस्कार है। यजमान-संस्कार द्वारा वह याग का उपकारक है, अतः याग का धर्म है। यदि उसका पालन नहीं किया जाता, तो याग विगुण हो जायगा, यजमान उसके फल से वञ्चित रहेगा; अनुष्ठान व्यर्थ होगा। ऐसे ही दर्श-पूर्णमास अनुष्ठान के अवसर पर यदि यजमान को जम्भाई आ जाती है, तो यह उसके आलस्ययुक्त होने का संकेत है। उसमें प्राण-अपान व्यवस्थित नहीं रहते। 'मयि दक्षक्रतू' मन्त्र का उच्चारण करते हुए उन्हें पुनः व्यवस्थित किया जाता है। यह याग के अनुष्ठाता यजमान पुरुष का संस्कार है। इसके द्वारा याग विगुण होने से बच जाता है। अतः वह संस्कार याग का उपकारक होने से याग-कर्म का धर्म है।

अपने-अपने प्रकरण में पठित ये निर्देश यजमान-संस्कार द्वारा प्रकरणगत कर्म के धर्म हैं, उनके अनुष्ठान से यागकर्म विगुण नहीं होता। ऐसी दशा में इनका प्रकरण से उत्कर्ष कर अन्यत्र ले-जाना, और मनुष्यमात्र से उनका सम्बन्ध जोड़ना

सर्वथा अशास्त्रीय है। याग से बाहर किसी भी पुरुष के जम्भाई लेने पर मन्त्र-पाठ का कोई प्रयोजन नहीं है। बिना मन्त्रपाठ के भी वह स्वतः स्वस्थ हो जाता है। यागानुष्ठान-काल में जम्भाई आना, याग के प्रति अनुष्ठाता की उपेक्षा-भावना को अभिव्यक्त करता है। यह याग के वैगुण्य का जनक है। मन्त्रोच्चारणपूर्वक पुनः पूर्व-अवस्था को प्राप्त होना यजमान का संस्कार है, जो याग को विगुण होने से बचाता है। प्रकरण में मन्त्रपाठ का यही प्रयोजन है। फलतः स्नान व मन्त्र-पाठ का अपने प्रकरण से उत्कर्ष करना अनावश्यक है, निष्प्रयोजन है ॥१५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—ज्योतिष्टोम में पठित द्वादश उपसद् इष्टियों का उत्कर्ष स्वीकार किया गया है; यहाँ उत्कर्ष नहीं माना; ऐसा क्यों? आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

व्यपदेशादपकृष्येत ॥१६॥

[व्यपदेशात्] वहाँ अहीन पद का स्पष्ट निर्देश होने से [अपकृष्येत] द्वादश उपसद् इष्टियों का ज्योतिष्टोम से अहीनसंज्ञक सोमयागों में अपकर्ष किया जाता है। तात्पर्य है—ज्योतिष्टोम में उनका प्रयोग न कर अहीन यागों में किया जाता है।

'तिस्र एव साह्नस्योपसदो द्वादशाहीनस्य' [तै० सं० ६।२।६] वाक्य के द्वारा तीन उपसद् इष्टियाँ ज्योतिष्टोम की तथा बारह अहीन नामक सोमयागों की बताई गई हैं। ज्योतिष्टोम यद्यपि पाँच-दिन-साध्य कर्म है—पहले दिन उपसद् इष्टि नहीं होती, दूसरे-तीसरे-चौथे दिन प्रातः-सायं तीन दिन तक होने से छह होती हैं, पर एक दिन के प्रातः-सायं अनुष्ठित उपसद् एक कर्म मानकर ज्योति-ष्टोम में तीन उपसद् इष्टियाँ कही हैं। उन दिनों में प्रातः-सायं सोमाभिषव के पूर्व प्रवर्ग्य-संज्ञक कर्म के पश्चात् होती हैं। तपे हुए घृत में गाय और बकरी का दूध मिलाना 'प्रवृञ्जन' कहलाता है। इसी प्रवृञ्जन के सम्बन्ध से इस कर्म का नाम प्रवर्ग्य है। ज्योतिष्टोम के दूसरे-तीसरे-चौथे दिन सायं-प्रातः पहले प्रवर्ग्य-कर्म, उसके अनन्तर उपसद् इष्टि, तदनन्तर सोमाभिषव किया जाता है। सोमा-भिषव के अतिसमीप स्थित होने के कारण इन इष्टियों का नाम 'उपसत्' है।

इस प्रकार उक्त वाक्य ज्योतिष्टोम की तीन उपसद् इष्टियों का, तथा अहीन-संज्ञक सोमयागों की बारह उपषद् इष्टियों का विधान करता है। यद्यपि उक्त वाक्य ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित है, पर बारह उपसद् इष्टियों का विधान—वह 'अहीन' यागों का स्पष्ट निर्देश कर—उन्हीं में बताता है। प्रकरण के आधार पर ज्योतिष्टोम में बारह उपसद् का कोई अवसर नहीं। अतः वाक्य के साम्मुख्य में प्रकरण दुर्बल होने के कारण ज्योतिष्टोम से द्वादश उपसद् का अन्यत्र (अहीन-संज्ञक यागों में) उत्कर्ष सर्वथा युक्त है।

प्रस्तुत प्रसंग में उसे लागू किया जा सकता है, क्योंकि 'द्वादशाहीनस्य' वाक्य के समान यहाँ कोई ऐसा वाक्य नहीं है, जिसके आधार पर तीर्थस्नान और मन्त्र-पाठ को अपने प्रकरणों से हटकर अन्यत्र उत्कर्ष के लिए बाध्य होना पड़े। फलतः प्रस्तुत प्रसंग में 'अहीनवत्' [१३] दृष्टान्त असंगत होने से स्नान व मन्त्रपाठ का प्रकरण में ही निवेश सर्वथा उपयुक्त है ॥१६॥ (इति जञ्जम्यमानधर्माणां प्रकरणे निवेशाऽधिकरणम्—५)।

(अवगोरणादीनां पुमर्थताऽधिकरणम्—६)

भाष्यकार शबर स्वामी ने अधिकरण को प्रारम्भ करते हुए जिस विवेच्य सन्दर्भ को उद्धरणरूप में प्रस्तुत किया है, वह उसी आनुपूर्वी के साथ वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध नहीं है। सम्भव है, भाष्यकार ने अपने वचनों के साथ संक्षिप्त करके उसका निर्देश किया हो, अथवा सम्प्रति अनुपलब्ध किसी अन्य ग्रन्थ से उद्धृत किया हो (यु० मी०)। भाष्यकार द्वारा प्रस्तुत सन्दर्भ से मिलता-जुलता पाठ तैत्तिरीय संहिता [२।६।१०] में निम्नांकित रूप से उपलब्ध है—

देवा वै यज्ञस्य स्वगाकर्त्तारं नाविन्दन्, ते शंयुं बार्हस्पत्यमब्रुवन् इमं नो यज्ञं स्वगा कुर्विति।

देवों ने यज्ञ के प्रशस्तकर्त्ता को नहीं जाना। वे बृहस्पति के पुत्र शंयु को बोले—हमारे इस यज्ञ को प्रशस्त-कर्तृक बनाओ। ऐसा आरम्भ करके आगे पाठ पाठ है—'किं मे प्रजाया ? इति। योऽपगुरातै शतेन यातयाद्, यो निहनत् सहस्रेण यातयाद्, यो लोहितं करवद् यावतः प्रस्कन्द्य पांसून् संगृह्णात् तावतः संवत्सरान् पितृलोकं न प्रजानादिति तस्माद् ब्राह्मणाय नावगुरेत न निहन्यान्न लोहितं कुर्यात्।'

शंयु ने देवों से पूछा—मेरी पुत्र-पौत्र आदि सन्तान के लिए क्या करोगे? देवों ने उसके उत्तर में कहा—जो ब्राह्मण को चोट पहुँचाने के लिए प्रयास करे, अर्थात् हाथ में डण्डा आदि उठाकर धमकी दे, उसे सोने के सौ सिक्के (निष्क) दण्ड दिया जाय। जो डण्डा आदि मारकर चोट पहुँचाये, उसे एक सहस्र निष्क दण्ड दिया जाय। जो आघात कर रक्त निकाल दे, वह रक्त भूमि पर जितने धूलि-कणों को साने, उतने संवत्सर-पर्यन्त वह पितृलोक अर्थात् पितृभाव को प्राप्त न होवे। तात्पर्य है, पुत्रादि सन्तान से रहित होवे।[1]

---

१. इतिहास में ऐसी घटनाओं का पता लगता है, जब चिरकाल तक वंश में निज सन्तति का अभाव रहा हो; दत्तक=गोद-लिये पुत्र से वंश चलाया जाता रहा हो। उदयपुर के राजवंश में किसी सती के शाप से अनेक पीढ़ियों से पुत्रोत्पत्ति का अभाव देखा गया है। (यु० मी०)

यहाँ सन्देह है—क्या ब्राह्मण के अवगोरण (धमकाने, पीटने) आदि का प्रतिषेध दर्श-पूर्णमास प्रकरण में ही निविष्ट है ? अर्थात् दर्श-पूर्णमास अनुष्ठान के अवसर पर ऐसा न करे ? अथवा याग से बाहर भी ब्राह्मणमात्र के लिए अवगोरण आदि का निषेध है ? गत अधिकरण में बताये सिद्धान्त के अनुसार यहाँ ब्राह्मण के अवगोरण आदि का निषेध दर्श-पूर्णमास याग में सीमित माना जाना प्राप्त होता है; अर्थात् प्रकरण से इसका उत्कर्ष नहीं होना चाहिए।

आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में सिद्धान्त किया—

शंयौ च सर्वपरिदानात् ॥१७॥

[शंयौ] तैत्तिरीय संहिता के शंयु-उपाख्यान के प्रसंग में [च] भी जो ब्राह्मण के अवगोरण आदि का निषेध कहा है, उसका प्रकरण से उत्कर्ष होना चाहिए, क्योंकि [सर्वपरिदानात्] 'ब्राह्मण' पद सब अवस्थाओं में ब्राह्मण व्यक्ति का ग्रहण करता है। इस कारण 'ब्राह्मणाय नावगुरेत्' आदि वाक्य में 'ब्राह्मण' पद ब्राह्मणमात्र का परामर्शक है।

शंयु-उपाख्यान प्रसंग से दर्श-पूर्णमास प्रकरण में ब्राह्मण के अवगोरण आदि का जो प्रतिषेध किया गया है, वह केवल दर्श-पूर्णमास में संलग्न बाह्मण के लिए ही न होकर उससे अन्यत्र भी ब्राह्मणमात्र के अवगोरण का प्रतिषेध करता है। इसलिए अवगोरण-प्रतिषेध का प्रकरण से उत्कर्ष किया जाना अभीष्ट है। जञ्जम्यमान के समान प्रकरण में इसका निवेश मानना युक्त नहीं, क्योंकि जञ्जभ्यमान के लिए याग से बाहर मन्त्रपाठ का कोई फल नहीं। यागानुष्ठान के अवसर पर जञ्जभ्यमान पुरुष द्वारा किये गये मन्त्रपाठ से याग उपकृत होता है, यही मन्त्रपाठ का वहाँ फल है। उत्कर्ष करने पर फल की कल्पना करनी होगी, जो अशास्त्रीय है। इसलिए वहाँ उत्कर्ष निष्प्रयोजन है। पर यहाँ ऐसा नहीं है, क्योंकि 'ब्राह्मणाय नावगुरेत्' वाक्य स्पष्ट ही ब्राह्मणमात्र के अवगोरण आदि का प्रतिषेध कर रहा है, तथा उसके उल्लंघन में दण्ड का विधान करता है। अतः सब प्रसंग पर ध्यान देते हुए यहाँ उत्कर्ष अभिमत है।

मूलतः प्रसंग का तात्पर्य है, ब्राह्मण को अनुकूल बनाने के लिए बौद्धिक मृदु उपायों का प्रयोग किया जाना चाहिए, डण्डा आदि दिखाकर धमकाना या चोट पहुंचाना अथवा तीक्ष्णधार शस्त्र के आघात से रक्त निकाल देना उचित नहीं माना गया। ब्राह्मण सुपठित वेदादि सत्यशास्त्रों का ज्ञाता विद्वान् होता है, समझाने-बुझाने व धर्म आदि के भय से उसका अनुकूल होना संभव है। यदि वेदवेत्ता होकर भी रावण आदि के समान कुमार्ग पर चलने से—मृदु उपायों द्वारा—विरत न हो, तो उसको कठोर साधनों से दण्डित किया जाना अशास्त्रीय नहीं है। ऐसे ब्राह्मण-गुरुओं के लिए धर्मशास्त्र व राजनीति-शास्त्रों में उचित दण्ड का विधान

है ॥१७॥ (इति अवगोरणादीनां पुमर्थताधिकरणम्—६) ।

(मलवद्वाससः संवादनिषेधस्य पुरुषधर्मताधिकरणम्—७)

तैत्तिरीय संहिता [२।५।१।५-६] के दर्श-पूर्णमास प्रसंग में पाठ है—'मलवद्वाससा न सं वदेत, न सहासीत, नास्या अन्नमद्यात्' मलवद्वासा = रजस्वला स्त्री से बातचीत न करे, सहासन या सहवास न करे, उसका अन्न न खाये। यहाँ सन्देह है—क्या रजस्वला स्त्री के साथ दर्श-पूर्णमास का अङ्गभूत संवाद न करे? अथवा सर्वत्र रजस्वला स्त्री के साथ संवाद आदि के लिए पुरुष का निषेध है? प्रकरण के बल पर दर्श-पूर्णमास कर्म में संवाद आदि प्रतिषेध का विधान है, ऐसा ज्ञात होता है।

इस विषय में आचार्य सूत्रकार ने शास्त्रीय सिद्धान्त प्रस्तुत किया—

प्रागपरोधान्मलवद्वाससः ॥१८॥

[प्राक्] दर्श-पूर्णमास कर्मानुष्ठान प्रारम्भ करने से पहले उपवास के दिन [मलवद्वाससः] मैले वस्त्रवाली अर्थात् रजस्वला स्त्री का [अपरोधात्] अपरोध—अवरोध—होने से। उपवास अथवा दीक्षा के दिन ही यदि यजमान-पत्नी रजस्वला हो जावे, तो यज्ञ में उसकी उपस्थिति वर्जित की गई है। तब दर्श-पूर्णमास कर्मानुष्ठान के अवसर पर रजस्वला स्त्री के अनुपस्थित रहने से उसके साथ संवाद आदि की सम्भावना ही नहीं। अतः प्रकरण से उत्कर्ष कर इसे पुरुषमात्र का धर्म मानना ही युक्त है।

दर्श-पूर्णमास यागानुष्ठान के अवसर पर यजमान-पत्नी के साथ अध्वर्यु का संवाद प्रस्तुत याग का अङ्गभूत कर्म है। दीक्षा के दिन अध्वर्यु यजमान-पत्नी से कहता है—'पत्नि! एष ते लोकः' हे यजमान-पत्नि! यह तुम्हारा लोक है—स्थान है। परन्तु यदि यागानुष्ठान से पहले ही व्रत (=उपवास) के दिन पत्नी रजस्वला हो जावे, तो उसके लिए तैत्तिरीय ब्राह्मण [३।७।१।६] में निर्देश है—'यस्य व्रत्येऽहनि पत्नी अनालम्भुका स्यात्, तामपरुध्य यजेत'—जिस यजमान की पत्नी उपवास के दिन अस्पर्शनीया (=अनालम्भुका—स्पर्श के अयोग्य) हो जाय, अर्थात् रजस्वला हो जाय, तो उसका परित्याग करके यजमान अकेला यागानुष्ठान करे। जब पत्नी रजस्वला होने के कारण व्रत के दिन ही अनुपस्थित रहेगी, तब अगले दिन दर्श-पूर्णमास कर्मानुष्ठान के अवसर पर यजमान-पत्नी की अनुपस्थिति निश्चित है। ऐसी दशा में अध्वर्यु का पत्नी के साथ संवाद सम्भव नहीं। तब प्रकरण में रजस्वला स्त्री के साथ संवाद का प्रतिषेध निरर्थक है। अतः प्रकरण से इसका उत्कर्ष आवश्यक है ॥१८॥

इसी सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए आचार्य सूत्रकार ने हेतु प्रस्तुत

किया—

अन्नप्रतिषेधाच्च ॥१६॥

[अन्नप्रतिषेधात्] अन्न = अभिगमन—सम्भोग का प्रतिषेध होने से [च] भी उत्कर्ष आवश्यक है।

प्रकरण में रजस्वला स्त्री के साथ संवाद-प्रतिषेध के समान उसके अन्न का प्रतिषेध भी कहा है—'नास्या अन्नमद्यात्'। आपाततः प्रतीत होनेवाला इसका यह अर्थ भी मान्य है कि रजस्वला स्त्री का तैयार किया अन्न न खाये। पर तैत्तिरीय संहिता [२।५।१।६] में 'अन्न' का अर्थ 'अभ्यञ्जन' किया है। वहाँ पाठ है—'नास्या अन्नमद्यात्……। अथो खल्वाहुः—अभ्यञ्जनं वाव स्त्रिया अन्नम्, अभ्यञ्जनमेव न प्रतिगृह्यम्, काममन्यत्'—स्त्री के अन्न के विषय में अनुभवी आचार्यों ने बताया—अभ्यञ्जन ही स्त्री का अन्न है। यह स्त्री के लिए अन्न के समान पुष्टि व सन्तुष्टिकर होता है। रजस्वला की स्थिति में केवल अभ्यञ्जन अग्राह्य है, वर्जित है, अन्य कार्य इच्छानुसार किये जा सकते हैं। 'अभ्यञ्जन' पद का अर्थ अभिगमन = सम्भोग है। यह स्थिति यज्ञानुष्ठान के अवसर पर सम्भव नहीं। इसलिए प्रकरण में उसका प्रतिषेध निष्प्रयोजन है। कर्मानुष्ठान के अवसर पर रजस्वला स्त्री न उपस्थित हो सकती है, न अभिगमन की सम्भावना है। तब प्रकरण में संवाद आदि के प्रतिषेध का कोई प्रयोजन न होने से उत्कर्ष आवश्यक है। वह प्रकरणगत कर्म का धर्म न होकर पुरुषमात्र का धर्म है। प्रत्येक दशा में रजस्वला का सम्भोग सर्वथा वर्ज्य है।

यद्यपि उक्त वाक्य में सम्भोग के अतिरिक्त अन्य दन्तधावन, स्नान आदि कार्यों को इच्छानुसार करने की बात कही है, पर विवाहिता सधवा स्त्रियों के लिए रजस्वला-दशा में इन कार्यों का भी निषेध है; यह संहिता के इस प्रकरण से स्पष्ट होता है। वहाँ बताया है, रजस्वला-दशा में जो स्त्री दन्तधावन, स्नान, नखनिकृन्तन (नाखून काटना), केशविन्यास आदि करती है, उसकी सन्तान दूषित होती है। इससे तात्पर्य निकलता है—जिनका पुरुष-सम्पर्क सम्भव नहीं—ब्रह्मचारिणी कन्या, परिव्राजिका, विधवा आदि—वे रजस्वला-दशा में स्नान, दन्तधावन आदि कार्यों के करने में स्वतन्त्र हैं ॥१६॥ (इति मलवद्वासः संवाद-निषेधस्य पुरुषधर्मताधिकरणम्—७)।

(सुवर्णधारणादीनां पुरुषधर्मताधिकरणम्—८)

भाष्यकार शबर स्वामी ने इस प्रसंग में एक सन्दर्भ उद्धृत किया है—'तस्मात् सुवर्णं हिरण्यं भार्यम्, सुवर्ण एव भवति। दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति। अन्य वाक्य लिखा है—'सुवाससा भवितव्यम्, रूपमेव बिभर्त्ति'—पूर्ण शुद्ध हिरण्य

(सोने का आभूषण) धारण करना चाहिए; इससे व्यक्ति रूपवान् (आकर्षक) लगने लगता है। इसके विरोधी मलिन, दुर्बल, अशक्त दिखाई देते हैं। व्यक्ति को स्वच्छ वस्त्र पहननेवाला होना चाहिए; स्वच्छ वस्त्र पहनना रूप को धारण करना है।

ये वाक्य किसी विशेष याग का प्रारम्भ करके नहीं कहे गये हैं। यहाँ सन्देह है, क्या ये वाक्यबोधित अर्थ किसी कर्मविशेष के धर्म हैं ? अर्थात् किसी प्रधान कर्म के अङ्ग हैं ? अथवा पुरुष के धर्म हैं ? अर्थात् स्वयं यह प्रधान कर्म है ?

आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में सिद्धान्त प्रस्तुत किया—

अप्रकरणेतु तद्धर्मस्ततो विशेषात् ॥२०॥

[अप्रकरणे] किसी यागविशेष के प्रकरण में न कहा हुआ अर्थ [तु] तो [तद्धर्मः] उसका धर्म, अर्थात् मनुष्य का धर्म होता है, [ततः] उस प्रकरणगत अर्थ से [विशेषात्] विशेष—भिन्न होने के कारण।

यागविशेष का आरम्भ करके प्रकरण में जो अन्य तत्सम्बन्धी विधियाँ पढ़ी जाती हैं, वे उस प्रधान आरब्ध याग का अङ्ग होती हैं। जो विधियाँ किसी याग-विशेष के प्रकरण में पठित नहीं हैं, वे प्रकरणपठित अङ्गभूत विधियों से भिन्न हैं। इसलिए वे किसी प्रधान कर्म का अङ्ग नहीं। फलतः इसे साधारण पुरुषधर्म मानना युक्त होगा, जो अपने में स्वतः प्रधान कर्म है।

प्रतीत होता है, उस प्राचीन काल में यहाँ हिरण्य धातु का प्राचुर्य था। साधारणजन स्वच्छ वस्त्र के समान हिरण्य-धारण भी आवश्यक कर्त्तव्य समझते थे। चाहे वे यज्ञकर्म में संलग्न हों, अथवा बाहर हों, इनका धारण करना उनके लिए साधारण बात थी। अतः हिरण्य या स्वच्छ वस्त्र-धारण अन्य कर्मविशेष का अङ्ग या धर्म न होकर स्वयं प्रधानरूप पुरुषधर्म है; उसी का यहाँ विधान किया गया है। यही शास्त्रीय मान्यता है ॥२०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—हिरण्य एवं स्वच्छ वस्त्र-धारण को कर्म का अङ्ग क्यों न माना जाय ? जैसे प्रोक्षण आदि व्रीहि आदि के संस्कारक होकर याग को उपकृत करते हैं, और उसके अङ्ग माने जाते हैं, वैसे ही हिरण्य आदि धारण से संस्कृत होकर याग के उपकारक होते हैं। अतः उसका अङ्ग माने जाने चाहिएँ।

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को पूर्वपक्षरूप से सूत्रित किया—

अद्रव्यदेवतात्वात् तु शेषः स्यात् ॥२१॥

[तु] सूत्र में 'तु' पद पूर्वोक्त अर्थ (—हिरण्यादि धारण पुरुषधर्म है) की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—हिरण्यादि-धारण पुरुषधर्म नहीं है, प्रत्युत [शेषः] अग्निहोत्र आदि कर्मों का शेष=अङ्ग [स्यात्] है, [अद्रव्यदेवतात्वात्]

द्रव्य और देवता का यहाँ कोई सम्बन्ध न होने से । किसी विधि को स्वतन्त्र कर्म मानने के लिए आवश्यक होता है कि उस विधि को सम्पन्न करने के लिए उसमें अपेक्षित द्रव्य, देवता तथा उसके फल का निर्देश किया गया हो। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में ऐसा नहीं है । अतः हिरण्य-धारण-विधि को किसी कर्म का अङ्ग मानना उपयुक्त होगा। वह किस प्रधान कर्म का अङ्ग है ? इसके लिए आचार्यों ने 'अग्निहोत्र' का संकेत किया । अग्निहोत्र नित्यकर्म है; इसका कोई अतिरिक्त फल नहीं माना गया, जैसे अन्य काम्य कर्मों का अतिरिक्त फल माना जाता है। नित्यकर्म का नियमपूर्वक अनुष्ठान न करने से जो प्रत्यवाय (दोष) होता है, अनुष्ठान करने पर व्यक्ति उस प्रत्यवाय से बचा रहता है। भले ही इसे फल कह लिया जाय, पर यह अतिरिक्त फल नहीं है, जैसे दर्श-पूर्णमास का स्वर्गप्राप्ति फल है ।

ज्ञात होता है—'हिरण्य-धारण' आदि कर्म भी ऐसा ही नित्यकर्म है, जिसका कोई अतिरिक्त फल न होता हो। अग्निहोत्र न करने से प्रत्यवाय के समान, इसके (हिरण्यादि-धारण के) उल्लंघन से भी ऐसे दोषों की उद्भावना सम्भव है, जो अज्ञात शत्रु के रूप में ऐसे व्यक्ति को हानि. पहुँचाते रहते हैं। फलतः द्रव्य-देवता का यहाँ निर्देश न होना, हिरण्य-धारण की प्रधानकर्मता का निवारण करता है। इसलिए कर्म का अङ्ग मानना युक्त होगा ।

वस्तुतः द्रव्य-देवता के निर्देश का अभाव हिरण्यादि-धारण के स्वतन्त्र याग-रूप होने का निषेध या निवारण कर सकता है; हिरण्यादि धारण के अभाव का द्योतक नहीं है। तब 'भार्यम्' पद का अर्थ 'धारणेन हिरण्यं संस्कुर्यात्' यही किया जा सकता है। अध्वर्यु आदि धारण से हिरण्य को संस्कृत करे। संस्कृत हिरण्य अग्निहोत्र आदि का उपकारक होने से उनका अङ्ग है, यह मानना युक्त होगा। इसे पुरुषधर्म मानना निष्प्रयोजन है। इसी प्रकार स्वच्छ वस्त्र धारण करना भी कर्म का अङ्ग मान्य होगा ॥२१॥

उक्त अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

वेदसंयोगात् ॥२२॥

[वेदसंयोगात्] 'हिरण्यं भार्यम्' आध्वर्यव कर्म है। इस रूप में वेद के साथ सम्बन्ध होने से इसको कर्म का अङ्ग मानना युक्त होगा ।

यजुर्वेद अध्वर्यु-वेद कहा जाता है, क्योंकि यजुर्वेद में जो भी प्रधान या अङ्गभूत कर्म कहे गये हैं, उन सबका करनेवाला अध्वर्यु होता है। 'हिरण्यं भार्यम्' कर्म यजुर्वेद-विहित है। इसका करनेवाला भी अध्वर्यु होगा। पुरुषधर्म का कर्त्ता अध्वर्यु नहीं होता। इस प्रकार वेद के साथ 'हिरण्यं भार्यम्' का सम्बन्ध होने से यह पुरुषधर्म न होकर कर्म का अङ्ग मानना चाहिए ॥२२॥

इसी अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

द्रव्यसंयोगाच्च ॥२३॥

[द्रव्यसंयोगात्] 'हिरण्यं भार्यम्' में द्रव्य का सम्बन्ध होने से [च] भी यह कर्म का धर्म जाना जाता है।

'व्रीहीन् प्रोक्षति' वाक्य में द्वितीया विभक्ति इष्ट है; वह 'प्रोक्षति' का कर्म है। वैसे प्रोक्षण-क्रिया से व्रीहि का संस्कार किया जाता है। उस संस्कृत व्रीहि का यागकर्म में उपयोग होता है। वैसे ही 'हिरण्यं भार्यम्' वचन में द्वितीया विभक्तियुक्त 'हिरण्यम्' पद 'भार्यम्' का कर्म है। धारण-क्रिया से हिरण्य का संस्कार किया जाता है। संस्कृत हिरण्यद्रव्य याग का ऐसे ही उपकारक होता है, जैसे संस्कृत व्रीहिद्रव्य। इस प्रकार प्रस्तुत वचन (हिरण्यं भार्यम्) में द्रव्य का सम्बन्ध होने से इसको अग्निहोत्रादि कर्म का धर्म मानना उपयुक्त होगा; क्योंकि द्रव्य का संस्कार, कर्म का धर्म मानने पर ही सार्थक हो सकता है। यदि इसको पुरुष का धर्म माना जाता है, तो द्रव्यसंस्कार निष्प्रयोजन होगा। फलतः 'हिरण्यं भार्यम्' को पुरुषधर्म मानना प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। यही स्थिति 'सुवाससा भवितव्यम्' आदि वचनों के विषय में समझनी चाहिए ॥२३॥

आचार्य सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—

स्याद्वास्य संयोगवत् फलेन सम्बन्धस्तस्मात् कर्मैतिशायनः ॥२४॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है; अर्थात् हिरण्यादि-धारण किसी अन्य कर्म का अङ्ग नहीं है, प्रत्युत [संयोगवत्] प्राजापत्य व्रत आदि के फल के संयोग के समान [अस्य] इस हिरण्यादि-धारण का [फलेन] फल के साथ [सम्बन्धः] सम्बन्ध [स्यात्] होता है, [तस्मात्] उस कारण से यह [कर्म] प्रधान कर्म है, पुरुषधर्म है,—ऐसी [ऐतिशायनः] इतिश के पुत्र ऐतिशायन आचार्य की मान्यता है।

जैमिनि आचार्य ने अपना सिद्धान्त अधिकरण के प्रथम सूत्र में कह दिया है। उसी कथन की पुष्टि के लिए ऐतिशायन आचार्य की मान्यता को—मानो साक्षी-रूप में प्रस्तुत किया है। तात्पर्य है, प्राचीन आचार्य भी इसी सिद्धान्त को मानते आये हैं।

जिस कर्म के फल का निर्देश नहीं होता, उसके द्रव्य, देवता व फल उसी प्रधान कर्म के अनुसार माने जाते हैं, जिसका वह अङ्ग या विकार है। हिरण्य-धारण के फल का निर्देश न होने से वह प्रधान कर्म न माना जाकर किसी अन्य कर्म का अङ्ग हो सकता है। हिरण्यधारण कर्म के विषय में यह आशंका पूर्वपक्ष

के प्रथम सूत्र (२१) द्वारा उभारी गई है। उसीका समाधान प्रस्तुत सूत्र द्वारा किया है। किसी कर्म का फल के साथ सम्बन्ध स्पष्ट हो जाने पर उसे प्रधान कर्म माने जाने में ओई अनिवार्य बाधा नहीं रहती। 'हिरण्यं भार्यम्' वाक्यबोधित कर्म ऐसा ही है। सूत्रकार ने बताया, जैसे प्रजापति व्रत में—व्रत-सम्बन्धी वाक्य के अनन्तर पठित अर्थवाद-वाक्य से—उसका फल के साथ सम्बन्ध होता है, वैसे ही हिरण्य-धारण कर्म का फल के साथ सम्बन्ध, वाक्य के अनन्तर पठित अर्थवाद-वाक्य से जाना जाता है।

प्रजापति व्रत है—'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्, नास्तं यान्तम्'—उदय होते हुए और अस्त होते हुए सूर्य को न देखे। 'तस्य व्रतम्' उसका व्रत है, यह कहकर उक्त वाक्य का निर्देश किया गया है। 'तस्य व्रतम्' यह सामान्य कथन है; उसे विशेष आकांक्षा रहती है, यह व्रत किस विषय का है? उस आकांक्षा की पूर्ति उक्त वाक्य से होती है—उदय-अस्त होते सूर्य को न देखने का संकल्प। यह सब पुरुषधर्म है; इसका किसी अन्य कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं। अतः यह स्वयं में प्रधान कर्म है। प्रधान कर्म मानने पर इसके फल की कल्पना नहीं करनी पड़ती, प्रत्युत इसके आगे पठित—'एतावता ह्येनसा वियुक्तो भवति'—इतना करने से पाप-दोष से अलग हो जाता है, इस अर्थवाद-वाक्य से फल लक्षित हो जाता है, पहचाना जाता है। उदय-अस्त-काल में सूर्य को देखने से दृष्टि में दोष उत्पन्न हो जाता है। उसी को अर्थवाद-वाक्य में 'एनस्'—(पाप) पद से कहा है। उदयास्त-काल में सूर्य के अनीक्षण का व्रत=संकल्प लेनेवाला व्यक्ति—इसका पालन-अनुष्ठान करता हुआ—दृष्टिदोष से बचा रहता है; यही अनीक्षण संकल्परूप व्रत का फल है। सूर्य का प्रजापति नाम होने से इस व्रत को 'प्रजापति व्रत' कहा जाता है।

इसी प्रकार 'सुवर्णं हिरण्यं भार्यम्' के आगे 'सुवर्ण एव भवति, दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति' अर्थवाद-वाक्य पठित है। इन दोनों वाक्यों की परस्पर एक-वाक्यता स्पष्ट है। शुद्ध हिरण्य एवं स्वच्छ अखण्ड वस्त्रों का धारण करना आरोग्य तथा आयुष्य का वर्द्धक होता है। यजुर्वेद [३४।५१] में मन्त्र है—'यो बिभर्त्ति दाक्षायणं हिरण्यं स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः।' जो शत-प्रतिशत शुद्ध [दाक्षायण] हिरण्य को धारण करता है, वह देवों और मनुष्यों में निश्चय ही दीर्घ आयु करता है। इसी के अनुसार 'सुवर्ण एव भवति' का तात्पर्य है, वह व्यक्ति सुन्दर व स्वस्थ-नीरोग रहता है। इसी सन्दर्भ में 'दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति' का तात्पर्य है—स्वस्थ-नीरोग व्यक्ति के शत्रु=आयु व स्वास्थ्य को क्षीण करनेवाले शरीरस्थ रोगरूप शत्रु दुर्वर्ण हो जाते हैं; मलिन—क्षीण व दुर्बल हो जाते हैं। इस प्रकार अर्थवाद-वाक्य के अनुसार हिरण्यादि-धारण कर्म का फल रोगों से बचे रहना—अभिव्यक्त होता है। इसलिए हिरण्य-धारण को पुरुष-धर्मरूप प्रधान कर्म मानकर—उसके फल की कल्पना करने की जो आपत्ति

पूर्वपक्ष में उठाई गई, वह निराधार है।

यजुर्वेद के उक्त मन्त्र की ऋषि दयानन्दकृत व्याख्या में 'हिरण्य' पद ब्रह्मचर्य को लक्षित करता है,–ऐसी भावना अभिव्यक्त होती है। यह (ब्रह्मचर्य) अपने रूप में दीर्घकालिक स्वास्थ्य, आरोग्य, आयुष्य का सर्वाङ्गपूर्ण आधार है। तब 'हिरण्यं भार्यम्' में यह रहस्य भी अन्तर्हित समझना चाहिए। इसे पुरुषधर्म मानने पर तथा इसके फल का निश्चय हो जाने पर द्रव्य-देवता-विषयक आशंका निरादृत हो जाती है। संयत आहार-विहार-ब्रह्मचर्य आदि द्रव्य, और पुरुष स्वयं देवता है ॥२४॥ (इति सुवर्णधारणादीनां पुरुषधर्मताधिकरणम्—८)।

(जयादीनां वैदिकधर्माङ्गताधिकरणम्—९)

प्रस्तुत अधिकरण में कर्म से सम्बद्ध 'जप' आदि होम विवेच्य हैं। इस विषय में पाठ है—'येन कर्मणा ईर्त्सेत् तत्र जयान् जुहुयात्, राष्ट्रभृतो जुहोति, अभ्यातानान् जुहोति'—जिस कर्म से व्यक्ति समृद्धि की इच्छा करे, उस कर्म के साथ 'जय'-संज्ञक होम करना चाहिए; राष्ट्रभृत्-संज्ञक होम करता है, अभ्यातान-संज्ञक होम करता है। इनके विषय में सन्देह है—क्या ये होम कृषि आदि लौकिक कर्म तथा अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्म इन दोनों में ही जय आदि होम करने चाहिएँ? अथवा इन दोनों में से किसी एक में अनुष्ठेय हैं? शिष्य ने सुझाव दिया, दोनों प्रकार के कर्मों में इन होमों का अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि अनुष्ठाता व्यक्ति समानरूप से यह चाहता है कि उसके द्वारा अनुष्ठीयमान प्रत्येक कर्म अपने विषय में समृद्धि का जनक हो।

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-सुझाव को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

शेषोऽप्रकरणेऽविशेषात् सर्वकर्मणाम् ॥२५॥

[अप्रकरणे] जो कर्म किसी प्रधान कर्म के प्रकरण में पठित नहीं, वह [अविशेषात्] किसी विशेष=असाधारण हेतु के न होने से [सर्वकर्मणाम्] लौकिक-वैदिक सब कर्मों के [शेषः] शेष=अङ्ग होते हैं।

इसके अनुसार अप्रकरण-पठित 'जय' आदि संज्ञक होमों का लौकिक-वैदिक सब कर्मों में अनुष्ठान किया जाना चाहिए।

श्रौतकर्म आहवनीय अग्नि में किये जाते हैं, तथा गृह्यकर्म गार्हपत्य अग्नि में। विवाहसंस्कार गृह्यकर्म है, गार्हपत्य अग्नि में होता है। जय-संज्ञक आदि होमों का विवाहसंस्कार में विनियोग है। कृषि, शाला, वृक्षारोपण आदि के समान विवाहसंस्कार लौकिक कर्म है। 'जय'-संज्ञक आदि होमों का इसमें विधान यह स्पष्ट करता है कि 'जय' आदि संज्ञक होम लौकिक-वैदिक सभी कर्मों के अङ्ग हैं।

जय होम—'चित्तञ्च स्वाहा' इत्यादि १३ मन्त्रों से सम्पन्न होनेवाला १३ आहुतियों का होम 'जय'-संज्ञक है।

राष्ट्रभृत् होम—'ऋताषाड्' इत्यादि १२ मन्त्रों से किया जानेवाला १२ आहुतियों का होम 'राष्ट्रभृत्' कहाता है।

अभ्यातान होम—'अग्निर्भूतानां' इत्यादि १८ मन्त्रों से पूरा किया जानेवाला १८ आहुतियों का 'अभ्यातान' होम कहा जाता है ॥२५॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

होमास्तु व्यवतिष्ठेरन्नाहवनीयसंयोगात् ॥२६॥

[तु] 'तु' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है, जय आदि होम लौकिक-वैदिक सब कर्मों के अङ्ग नहीं हैं। [होमाः] ये होम हैं, अतः [आहवनीयसंयोगात्] होमों का आहवनीय अग्नि के साथ सम्बन्ध होने से, जयादि होम [व्यवतिष्ठेरन्] केवल वैदिक कर्मों के साथ व्यवस्थित रहने चाहिएँ।

जय आदि होम सब कृषि आदि कर्मों के भी अङ्ग हैं, यह मान्य नहीं है। जय आदि के साथ 'जुहुयात्, जुहोति' क्रियाओं का सम्बन्ध होने से ये होम हैं, जिनका आहवनीय अग्नि में सम्पादन किया जाता है। 'यदाहवनीये जुहोति, तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति'—जो आहवनीय में होम किया जाता है, उससे कर्त्ता को वह अभीष्ट प्राप्त होता है, जो उसको प्रिय है। इस वचन से श्रौतकर्मों का आहवनीय अग्नि के सम्बन्ध ज्ञात होता है। इस कारण जो कर्म आहवनीय अग्नि में किए जाते हैं, जयादि-संज्ञक होम उन्हीं कर्मों के अङ्ग हो सकते हैं। कृषि आदि लौकिक कर्मों का सम्बन्ध, क्योंकि आहवनीय अग्नि के साथ नहीं है, इसलिए जयादि होम कृषि आदि लौकिक कर्मों के अङ्ग सम्भव नहीं। यही शास्त्रीय सिद्धान्त है ॥२६॥

इसी की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

शेषश्च समाख्यानात् ॥२७॥

[समाख्यानात्] आध्वर्यव नाम से कहे जानेवाले वेद में जयादि होमों के पठित होने से [च] भी [शेषः] ये होम अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों के अङ्ग हैं, यह स्पष्ट होता है।

आध्वर्यव अथवा अध्वर्युवेद नाम से यजुर्वेद जाना जाता है। वहाँ विधान किए गए सब कर्मों का सम्पादन अध्वर्यु द्वारा किया जाता है। जयादि होमों का विधान भी यजुर्वेद में होने से उनका सम्पादन अध्वर्यु द्वारा होता है। यदि जयादि होमों को लौकिक कृषि आदि कर्म का अङ्ग माना जाय, तो अध्वर्यु द्वारा उनका सम्पादन सम्भव न होगा, क्योंकि कृषि का सम्पादन कृषक क्षेत्र में करता है। आहवनीय अथवा गार्हपत्य अग्नि से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। फलतः जयादि

होमों को अग्निहोत्रादि केवल वैदिक कर्मों का अङ्ग मानना शास्त्रीय सिद्धान्त है'।।६।। (इति जयादीनां वैदिकधर्माङ्गताधिकरणम्—६)।

---

१. सूत्रकार और भाष्यकार का यह कथन कि—जयादि होम लौकिक कर्मों का अङ्ग नहीं है—चिन्तनीय है। विवाह आदि लौकिक कर्म में इनके विनियोग पर आचार्यों ने कोई प्रकाश नहीं डाला। इसके विवेचन के लिए निम्नांकित विचार पढ़िए—

"विचारणीय यह है कि जय-राष्ट्रभृत्-अभ्यात (०तान) होमों का विधान विवाह-कार्य में भी गृह्यकारों ने किया है। यह वैवाहिक अग्नि आहवनीय नहीं है। अतः सूत्रकार और भाष्यकार का वचन विचारणीय है। गृह्यकर्म श्रौतकर्मों के ही परिशिष्टरूप हैं, क्योंकि श्रौत, गृह्य और धर्म-सूत्रों की 'कल्प' यह सामान्य संज्ञा है। यथा ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों का परस्पर सम्बन्ध है, सभी ब्राह्मण के ग्रहण से गृहीत होते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी गृह्यकर्मों में श्रौत-सूत्रोक्त सामान्य परिभाषाएँ गृहीत होती हैं। धर्मसूत्रों में गृह्योक्त कर्म के अतिरिक्त भी होमों का विधान मिलता है। अतः सूत्र [३।४।२६] में आहवनीय को मथनादि से संस्कृत अग्नि का उपलक्षण मान लें, तो सारी आर्ष पारम्परिक वैदिक व्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। अन्यथा विवाह-कर्म में जयादि होम का प्रयोग चिन्त्य मानना होगा। कृषिकर्म में तो गृह्यसूत्रों में साक्षात् होम का विधान देखा जाता है, यथा 'अथ सीतायज्ञः' (पार० गृ० २।१७)।

वैदिक धर्म के पुनरुद्धारक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अनेक ऐसे संस्कारादि कर्मों में होम का विधान किया है, जिनमें प्राचीन गृह्यकारों ने होम का विधान नहीं किया है, यथा—गर्भाधानादि कुछ संस्कार। स्वामी दयानन्द सरस्वती का मत है कि प्रत्येक शुभ कर्म में होम करना चाहिए। उससे जहाँ अभीष्ट-सिद्धि के लिए ईश्वर से स्तुति-प्रार्थना होती है, वहाँ होम का लोकदृष्ट 'जलवायु की शुद्धि' प्रयोजन भी उपपन्न होता है। इस प्रकार दत्तक-विधि, कारखाना व दुकान खोलना, वृक्षारोपण, रामनवमी, कृष्ण-जन्माष्टमी आदि सभी लौकिक कर्मों में भी होम कर्त्तव्य है। यह स्मार्त्त होम गृह्यसूत्रोक्त शालाकर्म-सम्बन्धी होम के सदृश करना चाहिए। पुराने विचारों के वैदिक चाहे स्वामी दयानन्द सरस्वती के इस मत को स्वीकार न करें, तथापि यह मत परम्परा से ऋषि-मुनियों द्वारा समादृत है, अन्यथा गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में इन जयादि होमों का विधान न होता। इतना ही नहीं, स्वामी दयानन्द सरस्वती के मतों को अवैदिक माननेवाले पौराणिक विद्वान् भी आजकल विष्णुयाग, दुर्गाहोम आदि अवैदिक होमों के रूप में होम करते

(वैदिकाश्वप्रतिग्रहे इष्टिकर्त्तव्यताधिकरणम्—१०)

तैत्तिरीय संहिता [२।३।१२।१] में पाठ है—'वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति। यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेत्'—वरुण उसको पकड़ लेता है, जो अश्वों का दान लेता है। जितने अश्वों का दान ले, वरुण देवतावाले उतने चार कपालों में पकाये गए हवि से याग करे। वरुण देवता के उद्देश्य से किए जाने के कारण इसका नाम वारुणी इष्टि है। इसमें सन्देह है—क्या इस इष्टि का बिधान लौकिक अश्वप्रतिग्रह में माना जाय? अथवा वैदिक अश्वप्रतिग्रह में? लोक में माँगने पर या बिना माँगे किसी को अश्व दान में मिल जाय, यह लौकिक अश्वप्रतिग्रह है। यागानुष्ठान में दक्षिणारूप से अश्व का दानरूप में प्राप्त होना वैदिक अश्वप्रतिग्रह है। पौण्डरीक याग में सहस्र अश्व दक्षिणा कही है। ज्योतिष्टोम में गौ और अश्व दक्षिणारूप में दिया जाता है।

शिष्य ने जिज्ञासारूप से कहा—इन दोनों विकल्पों में से केवल लौकिक अश्वप्रतिग्रह में इष्टि का प्रयोग माना जाना चाहिए। अश्वप्रतिग्रह में 'वरुणो वा एतं गृह्णाति' इत्यादि वाक्य से दोष का माना जाना निश्चित है। वैदिक अश्वप्रतिग्रह में उसकी सम्भावना नहीं; क्योंकि याग के अङ्गरूप में वहाँ अश्वदक्षिणा का विधान है। इसलिए लौकिक अश्वप्रतिग्रह में वारुणी इष्टि का प्रयोग होना युक्त प्रतीत होता है।

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

दोषात् त्विष्टिर्लौकिके स्याच्छास्त्राद्धि वैदिके न दोषः स्यात् ॥२८॥

[दोषात्] 'वरुणो वा एतं गृह्णाति, योऽश्वं प्रतिगृह्णाति' वाक्य से अश्वप्रतिग्रह में दोष सुने जाने के कारण [तु] तो [लौकिके] लौकिक अश्व-प्रतिग्रह में [इष्टिः] वारुणी इष्टि का प्रयोग [स्यात्] होना चाहिए, [हि] क्योंकि [वैदिके] वैदिक अश्वप्रतिग्रह में [शास्त्रात्] याग में अश्वदक्षिणा दान का शास्त्रवचन प्रमाण होने से [दोषः] दोष [न] नहीं [स्यात्] होगा।

किसी क्षुद्र-नीच अथवा पापयुक्त पुरुष से अश्व के प्रतिग्रह में दोष का माना जाना संगत है। जहाँ दोष है, वहाँ इष्टि का प्रयोग उपयुक्त है। उस दोष के

ही हैं। इस दृष्टि से जयादि होमों का उन सभी शुभ कर्मों में निवेश हो सकता है, जिनमें समृद्धि की कामना हो। सूत्रकारानुसार श्रौतकर्म के मुख्यतया अङ्ग होते हुए भी गृह्यादि स्मार्त्त कर्मों के माध्यम से लौकिक कर्मों से भी मोक्ष सम्भव है।" (यु० मी०)

निवारण के लिए चतुष्कपाल—संस्कृत हवि द्रव्यवाली वारुणी इष्टि का अनुष्ठान किया जाता है। ऐसे अश्वप्रतिग्रह में दोष का कथन ही उक्त वाक्य द्वारा हुआ है। यहाँ अश्वप्रतिग्रह को वरुणदेव के द्वारा ले लेना दोष है। उससे छुड़ाना-रूप कर्म इष्टि है। यह सब लौकिक अश्वप्रतिग्रह में सम्भव है। वैदिक अश्वप्रतिग्रह में इसका अवकाश नहीं। वहाँ दक्षिणारूप में अश्वप्रतिग्रह शास्त्रवचन से प्रमाणित होने के कारण निर्दोष है। अवाञ्छित व अनुचित स्थान से अश्वप्रतिग्रह में दोष सम्भव है; क्योंकि वह अकर्त्तव्य है। अकर्त्तव्य का करना दोष (=पाप) का उद्भावन करता है, पर वैदिक अश्वप्रतिग्रह कर्त्तव्य है, याग का शास्त्रविहित अंग है। इसलिए दोष-निवारणार्थ वारुणी इष्टि का निर्दोष वैदिक अश्वप्रतिग्रह में निवेश का प्रश्न ही नहीं उठता। इस इष्टि का अनुष्ठान दाता को करना चाहिए ? या प्रतिग्रहीता को ? इसका विवेचन अग्रिम अधिकरण (११) में किया गया है। यहाँ केवल इतना कहना अभीष्ट है कि उक्त कारणों से वारुणी इष्टि का प्रयोग वैदिक अश्वप्रतिग्रह में नहीं होना चाहिए ॥२८॥

उक्त पूर्वपक्ष का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अर्थवादो वाऽनुपपातात् तस्मात् यज्ञे प्रतीयेत ॥२९॥

[वा] सूत्र में 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है, तात्पर्य है—लोक में किसी क्षुद्र-नीच या पापी व्यक्ति से अश्वप्रतिग्रह में इष्टि नहीं है। 'वरुणो वा एतं गृह्णाति' यह दोषकथन [अर्थवादः] अर्थवाद है, [अनुपपातात्] अश्व-प्रतिग्रह से वरुणग्रहण=जलोदर की प्राप्ति न होने से, [तस्मात्] इसलिए [यज्ञे] वैदिक कर्म में अश्वप्रतिग्रह पर इष्टि का प्रयोग [प्रतीयेत] जाना जाता है।

जो व्यक्ति लोक में क्षुद्र-नीच व पापकर्मा से अश्वप्रतिग्रह करे, वह वारुणी इष्टि का प्रयोग करे,—यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि 'वरुणो वा एतं गृह्णाति' इत्यादि वाक्य श्रौतयाग प्रसंग में कहा गया है। अतः वारुणी इष्टि का अनुष्ठान श्रौत कर्म का अङ्ग माना जाना चाहिए। ऐसा न मानकर लौकिक कर्म में अनुष्ठान मानने से स्वतन्त्र कर्म होने के कारण इसके फल की कल्पना करनी होगी, जो गौरवमूलक होने से अन्याय्य है। श्रौतकर्म का अङ्ग मानने पर उसी कर्मफल के साथ इसकी एकवाक्यता होने से अतिरिक्त फलकल्पना के गौरव से बचा जा सकता है।

अश्वप्रतिग्रह किए जाने पर वरुण से गृहीत होता है, अर्थात् वरुण=जल इसे पीड़ित करता है, उस पीड़ा से बचने के लिए इष्टि का अनुष्ठान है। वरुण द्वारा पीडित किया जाना, जलोदर से पीड़ित होने के समान है। अश्वप्रतिग्रह से जलो-दर हो जाता हो, यह यथार्थ नहीं है। यह उपमामूलक स्तुतिरूप अर्थवाद है। जैसे

चिकित्सा द्वारा जलोदर से छुटकारा मिल जाता है, ऐसे ही अश्वप्रतिग्रह में इष्टि का अनुष्ठान श्रेय का आपादन करने में सहायक होता है।

यदि गम्भीरता से विचार किया जाए, तो वैदिक कर्म में अनुष्ठान के अनन्तर दक्षिणारूप में अश्वप्रतिग्रह ऋत्विक् करता है। यह आवश्यक नहीं कि ऋत्विक् के पास अश्व को रखने के उपयुक्त साधन हों, तथा उसको प्रयोग में लाने के लिए समुचित सामर्थ्य व जानकारी हो। यह अश्वप्रतिग्रह उसको पीड़ित—दुःखी करने-वाला हो जाता है, क्योंकि घास, दाना-पानी, खुरैरा, नियमित रूप से घुमाना आदि अश्वसम्बन्धी कार्य उसके लिए एक नई विपदा खड़ी हो जाती है। ऐसी स्थिति में एक लोक-कहावत है—पेट का पानी पतला पड़ जाना। जिस वस्तु को रख सकना किसी व्यक्ति की शक्ति के बाहर हो, उस वस्तु के मिल जाने पर उसके परिणाम को उक्त कहावत अभिव्यक्त करती है। ऐसी ही कुछ भावना 'वरुण-गृहीत' पद की है। उस विपदा से छुटकारा पाने के लिए वारुणी इष्टि के अनुष्ठान का तात्पर्य है—उन साधनों से सम्पन्न होने का प्रयास करना जिनके रहते—उस वस्तु के रखने में कोई असुविधा सामने नहीं आती। वह अश्वप्रतिग्रह श्रौतकर्म में हो, अथवा लौकिक कर्म में, उक्त स्थिति उभयत्र समान रहती है ॥२६॥ (इति वैदिकाश्वप्रतिग्रहे इतिकर्त्तव्यताऽधिकरणम्—१०)।

(दातुर्वारुणीष्टयधिकरणम्—११)

गत अधिकरण में यह निश्चय किया गया कि वारुणी इष्टि का अनुष्ठान वैदिक अश्वप्रतिग्रह में किया जाना चाहिए। इष्टि के अनुष्ठान का वाक्य है—'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेत्' जितने अश्वों का प्रतिग्रह करे, उतने—चार कपालों में पकाए गए वरुण देवतासम्बन्धी—पुरो-डाशों से याग करे। इसमें सन्देह है—क्या इष्टि का अनुष्ठान अश्व का दाता यजमान करे? अथवा अश्व का प्रतिग्रहीता = आदाता = दान स्वीकार करने-वाला ऋत्विज् करे? इष्टि-वाक्य से ज्ञात होता है कि अनुष्ठान दान लेनेवाले ऋत्विज् को करना चाहिए।

आचार्य सूत्रकार ने इसी भाव को पूर्वपक्षरूप से सूत्रित किया—

अचोदितं च कर्मभेदात् ॥३०॥

[अचोदितम्] अश्व का दाता इष्टि करे, यह अर्थ कहीं कहा नहीं गया [च] और [कर्मभेदात्] दान देना तथा दान लेना रूप कर्मभेद से जाना जाता है कि इष्टि का अनुष्ठान दान लेनेवाले ऋत्विज् को करना चाहिए।

'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेत्' वाक्य में 'प्रतिगृह्णीयात्' और 'निर्वपेत्' दो क्रियापद हैं। जो पहली क्रिया का कर्त्ता है,

वही दूसरी का। इससे स्पष्ट है, जो अश्वों का प्रतिग्रह करे, अश्वों का दान स्वीकार करे, वही निर्वाप = याग करे। दान स्वीकार करनेवाला ऋत्विज् है, वही इष्टि का अनुष्ठान करेगा। जब दान लेनेवालों के लिए इष्टि का विधान वाक्यबोधित है, तो दान देनेवाला इष्टि नहीं करेगा; क्योंकि देना-लेना दोनों भिन्न कर्म हैं। दान देनेवाला इष्टि करे, ऐसा कहीं कथन भी नहीं है। अतः इष्टि आदाता करे ॥३०॥

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

सा लिङ्गादार्त्विजे स्यात् ॥३१॥

[सा] वह अश्वप्रतिग्रह-सम्बन्धी वारुणी इष्टि [लिङ्गात्] लिङ्गरूप प्रमाण से [आर्त्विजे] ऋत्विक् के प्रेरयिता = अश्व के प्रदाता यजमान के विषय में [स्यात्] होती है।

इष्टि का अनुष्ठान अश्व के दाता यजमान को करना चाहिए। दाता यजमान के लिए इष्टि है, अथवा आदाता ऋत्विज् के लिए, ऐसा श्रुतिरूप स्पष्ट कथन किसी पक्ष में नहीं है। गत सूत्र से वाक्य के आधार पर इष्टि का अनुष्ठान ऋत्विज् के लिए बताया। परन्तु लिङ्ग-प्रमाण से जाना जाता है कि इष्टि का अनुष्ठान यजमान को करना चाहिए। वाक्य से लिङ्ग बलवान् होता है; अतः इष्टि का अनुष्ठान अश्व के प्रदाता यजमान के लिए निश्चित है।

वह लिङ्ग है, उक्त प्रसंग के पूर्वापर पदों की एकवाक्यता, अर्थात् पूर्वापर पदों का परस्पर अर्थमूलक सामञ्जस्य वचन है—'प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्' प्रजापति ने वरुण के लिए अश्व प्रस्तुत किया। यहाँ प्रजापति अश्व का दाता है, वरुण आदाता = प्रतिग्रहीता है। आगे वचन है—'स स्वरं देवतामार्च्छत्' उसने अपनी देवता को आर्त्त = दुःखी किया। यहाँ 'सः' सर्वनाम पद पूर्वप्रकृत अर्थ की अपेक्षा करता है। 'सः' प्रथमा एकवचन पद है, पूर्वप्रकृत प्रथमा एकवचन पद 'प्रजापतिः' है। इस प्रकार 'सः' पद यहाँ प्रजापति का निर्देश करता है। इसलिए उसके साथ 'सः' की एकवाक्यता सम्पन्न होती है। वरुण के साथ 'सः' की एकवाक्यता कहना युक्त नहीं, क्योंकि पूर्ववाक्य में 'वरुणाय' चतुर्थी एकवचन है। यह वैयाधिकरण्य एकवाक्यता का बाधक है।

आगे पाठ है —'सः पर्यदीर्यत' वह परिदीर्ण = दीर्घा रोग से ग्रस्त हुआ। यहाँ भी पूर्वोक्त आधार पर 'सः' पद की एकवाक्यता पूर्वप्रकृत 'प्रजापति' के साथ है, अतः उसी का निर्देश करता है। पुनः पाठ है—'स एवैतं वारुणं चतुष्कपालमपश्यत्, तं निरवपत्' उसने ही इस वरुण देवतासम्बन्धी चार कपालों में पकाए गए पुरोडाश से सम्पन्न होनेवाले याग को देखा, अर्थात् जाना व उसका अनुष्ठान किया। यहाँ भी 'सः' सर्वनाम प्रजापति का निर्देश करता है। वारुणी इष्टि का अनुष्ठान

करनेवाला यहाँ 'प्रजापति' ही है; क्योंकि प्रसंग में 'निरवपत्' क्रिया का कर्त्ता वही सम्भव है। 'ततो वै स वरुणपाशादमुच्यत प्रजापतिः' वारुणी इष्टि का अनुष्ठान करने से निश्चित ही वह प्रजापति वरुणपाश से मुक्त हो गया।

पूर्वापर पदों ('सः' आदि) के परस्पर सामञ्जस्य से निश्चित हुआ—अश्व का दाता प्रजापति और आदाता वरुण है। यहाँ 'वरुणो वा एतं गृह्णाति' वरुण इसको पकड़ता है, अर्थात् पीड़ित करता है, कथन हेतुगर्भित है। दाता पीड़ित होता है, आदाता पीड़ित करता है। जो पीड़ित होता है, पीड़ा-निवारण के लिए उसी को इष्टि का अनुष्ठान करना अभीष्ट है। क्योंकि यहाँ अश्वदाता प्रजापति वरुण से गृहीत अर्थात् पीड़ित हुआ, तब 'वरुणो वा एतं गृह्णाति, योऽश्वं प्रतिगृह्णाति' वाक्य में 'प्रतिगृह्णाति' क्रियापद के—'दान लेना' अर्थ को छोड़कर 'दान देना' (प्रतिगृह्णाति = प्रयच्छति) अर्थ करना चाहिए। उक्त वाक्य की हेतुगर्भिता है—जिस कारण प्रजापति अश्वदाता वरुण की पकड़ से—इष्टि के अनुष्ठान द्वारा—मुक्त हुआ, इसी कारण अश्व प्रदान करनेवाले अन्य किसी को भी वरुण देवता-सम्बन्धी हवि का निर्वाप (= याग) करना चाहिए।

इस अधिकरण की व्याख्या में व्याख्याकारों ने लम्बा विवाद खड़ा किया है। तब भी यह निर्बाध, चतुरस्र स्वारस्य रूप में निश्चित नहीं किया जा सका कि अश्वप्रदाता यजमान को ही इष्टि का अनुष्ठान करना चाहिए। इष्टि अनुष्ठान की भावना है, जो पीड़ित हो, वह इष्टि-अनुष्ठान करे। अनुभव में देखा जाता है, दाता और आदाता, अर्थात् यजमान और ऋत्विज् अपने-अपने रूप में दोनों पीड़ित होते हैं। ऋत्विज् की पीड़ा का निर्देश गतसूत्र में किया गया है। दाता यजमान की पीड़ा का स्वरूप आचार्यों ने बताया है—स्वामित्व का नष्ट होना। यजमान याग सम्पन्न हो जाने पर ऋत्विज् को दक्षिणारूप में अश्व प्रदान करता है। अश्व पर उसका स्वामित्व नहीं, इससे उसके पेट का पानी पतला पड़ जाता है, तात्पर्य है—अश्व अपने हाथ से निकल जाने के कारण वह दुःखी होता है। इसी स्थिति का नाम है—वरुण से पकड़ा जाना। इससे बचने के लिए यजमान अश्व-दान की उपेक्षा नहीं कर सकता। याग की सम्पन्नता के निमित्त वह अश्व की दक्षिणा देने के लिए बाध्य है, क्योंकि वह शास्त्रविहित है। उसका उल्लंघन व विकल्प सम्भव नहीं। तब अश्वदान में स्वामित्व के नष्ट होने का दुःख, कर्त्तव्य से बिमुख होना है। उस दशा (अश्व दक्षिणा न देने की दशा) में याग सम्पन्न न होने से यजमान याग के भावी फल से वञ्चित रह जायगा। ऐसी अवस्था में यजमान द्वारा वारुणी इष्टि के अनुष्ठान का स्वरूप यही सम्भव है कि वह अपने हृदय में स्वामित्वनाश की भावना को हटाकर शास्त्रीय कर्त्तव्य की भावना को जागृत करे।

ऋत्विक् भी दक्षिणा के रूप में अश्व को लेने के लिए बाध्य है, क्योंकि उस विशिष्ट याग की अश्व-दक्षिणा शास्त्रविहित है। इसका उल्लंघन व बदल सम्भव

नहीं। उसका दुःख है—अश्व को यथावत् रखने के लिए साधनहीनता, तथा उपयुक्त व्यवहार में लाने के लिए असामर्थ्य। उसके रख-रखाव के लिए साधन जुटाना तथा उसे (अश्व को) सवारी आदि व्यवहार में लाने के लिए सामर्थ्य का सम्पादन ही ऋत्विक् का वारुणी इष्टि-अनुष्ठान है। अश्व को देने और लेने से जो दोनों के पेट का पानी पतला पड़ गया था, वह ठीक हो जाता है। वरुणपाशरूप अपने-अपने दुःख से मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार दाता और आदाता दोनों के द्वारा इष्टि के अनुष्ठान में कोई दोष नहीं है ॥३१॥ (इति दातुर्वारुणीष्टयधिकरणम्–११)।

(वैदिकसोमपानव्यापदि सौमेन्द्रचरुविधानाधिकरणम्—१२)

मैत्रायणी संहिता [२।२।१३] में पाठ है—**'सौमेन्द्रं चरुं निर्वपेच्छ्यामाकं सोमवामिनः'**—सोम पीकर वमन करनेवाले के लिए सोम और इन्द्र देवतावाले श्यामाक चरु का निर्वाप करे। इसमें सन्देह है—क्या यह श्यामाक चरु इष्टि का—लौकिक सोमपान के वमन में—विधान है? अथवा वैदिक सोमपान के वमन में? ज्योतिष्टोम और उसकी विकृतियों में जो सोमपान किया जाता है, वह वैदिक सोमपान है। आयुर्वेद में वमन के लिए गिलोय आदि के रूप में प्रयोग किया जानेवाला लौकिक सोमपान है।

लौकिक या वैदिक सोमपान का वमन होने पर सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग लौकिक सोमपान के वमन में होना चाहिए।

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में इसी अर्थ को प्रस्तुत किया—

पानव्यापच्च तद्वत् ॥३२॥

[पानव्यापत्] पिये हुए सोम की व्यापत्=विपदा=वमनरूप दोष [च] भी [तद्वत्] अश्वप्रतिग्रह में वारुणी इष्टि के समान समझनी चाहिए। तात्पर्य है—जैसे वारुणी इष्टि का प्रयोग लौकिक अश्वप्रतिग्रह में कहा गया है, वैसे ही सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग लौकिक सोमपान का वमन होने पर किया जाना चाहिए।

सोम और इन्द्र देवतावाले श्यामाक चरु से की जानेवाली इष्टि का प्रयोग वैदिक सोमपान-वमन में किया जाना निष्प्रयोजन है, अतः अनावश्यक है। ज्योतिष्टोम अथवा उसके विकृतियागों में यज्ञशेष सोम के पान का विधान है। सोम का पान कर लेने पर यागविधान सम्पन्न हो जाता है। यदि पिये सोम का अनन्तर वमन हो जाय, तो याग की सम्पन्नता=पूर्णता में कोई दोष नहीं आता। यागशेष सोम के पान का विधान है, जो पी लेने पर पूरा हो चुका है। परन्तु लौकिक सोमपान में ऐसा नहीं है। वहाँ सोमपान के अनन्तर वमन हो जाने पर पित्तादि धातुवैषम्य की स्थिति विद्यमान रहती है। उसको साम्य अवस्था में लाने के लिए श्यामाक चरु का प्रयोग अपेक्षित रहता है। सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग दोष

उपस्थित होने पर बताया है—'इन्द्रियेण वा एष वीर्येण व्यृध्यते, यः सोमं वमति' निश्चय ही यह इन्द्रियगत सामर्थ्य से हीन होता है, जो सोम का वमन करता है। लोक में पित्तादि धातुओं की समता के लिए सेवन किए गए सोम का वमन हो जाने पर धातुओं की समता न रहने से चक्षु आदि इन्द्रियों पर उसका विपरीत प्रभाव पड़ता है। इन्द्रियाँ मुरझाई-सी हो जाती हैं। लौकिक सोमपान-वमन में इन्द्रिय का सामर्थ्यहीन होना कथन उपपन्न होता है। इस दोष की निवृत्ति के लिए लौकिक सोमपान-वमन में इष्टि का प्रयोग सार्थक है।

शास्त्रीय विधान के अनुसार वैदिक सोमपान-वमन में कोई दोष नहीं है, जैसा गत पंक्तियों में स्पष्ट किया। वैदिक सोमपान में 'शेषः पातव्यः' के अनुसार याग-शेष सोम पी लेना चाहिए। पी लेने पर विधि पूरी हो जाती है। शास्त्रविहित सोमपान की क्रिया पूरी हो जाने पर यदि पश्चात् वमन हो जाता है, तो उससे शास्त्रविधान में कोई न्यूनता या दोष नहीं आता। फलतः सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग लौकिक सोमपान-वमन में माना जाना युक्त प्रतीत होता है ॥३२॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

दोषात्तु वैदिके स्यादर्थाद्धि लौकिके न
दोषः स्यात् ॥३३॥

[तु] सूत्र में 'तु' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है; तात्पर्य है—लौकिक सोम के वमन में सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग युक्त नहीं है। [दोषात्] दोष का कथन होने से [वैदिके] वैदिक सोम के वमन में इष्टि का प्रयोग [स्यात्] होता है। [लौकिके] लौकिक सोम के वमन में [दोषः] दोष [न] नहीं [स्यात्] होता, [हि] क्योंकि वह [अर्थात्] अर्थ=विशेष प्रयोजन से होता है।

पूर्वपक्षी ने लौकिक सोमपान के वमन की वास्तविकता को न समझकर उक्त कथन किया है। लोक में—शरीर के भीतर पित्त आदि धातुओं के विषम हो जाने—विकृत हो जाने पर उन्हें बाहर निकाल देने के प्रयोजन से वमन कराया जाता है। जो औषध प्रायः वमन के लिए दिए जाते हैं, उनमें मुख्य मैनफल है। पर गिलोय एवं अन्य सोम-पद-वाच्य लताओं का—रोगी व्यक्ति की प्रकृति के अनुसार—सम्मिश्रण रहता है। उसी को यहाँ लौकिक सोमपान-रूप में कहा गया है। उस सोमपान का प्रयोजन ही वमन है। वह पान सोम=शान्ति के लिए होता है। वमन के साथ पित्त आदि विकृत धातु शरीर के बाहर हो जाते हैं। रोगी व्यक्ति उससे शान्ति-सुख, शरीर में सौम्य भाव का अनुभव करता है। लोक में वह वमन दैहिक धातुसाम्य को स्थापित करता है, उसमें कोई दोष नहीं।

वैदिक सोमपान-वमन में स्थिति उससे विपरीत है। जहाँ लौकिक सोम-वमन में व्यक्ति स्वयं को स्वस्थ व शान्त अनुभव करता है, वहाँ वैदिक सोम-वमन में

व्यक्ति की अस्वस्थता, उद्विग्नता, चक्षु आदि इन्द्रियशैथिल्य प्रभृति दोष स्पष्ट अनुभव में आते हैं। इसी स्थिति को 'इन्द्रियेण वा एष वीर्येण व्यृध्यते, यः सोमं वमति' वाक्य से निर्दिष्ट किया गया है। यह कथन वैदिक सोमपान के वमन में उपपन्न होता है। वमन का कारण अधिक पिया जाना अथवा प्रकृति के अनुकूल न होना आदि कुछ भी हो, पर ज्योतिष्टोम में सोमपान के वमन को शास्त्र ने दोष माना है, यह उक्त वाक्य से स्पष्ट है। वमन के परिणामस्वरूप चक्षु आदि इन्द्रियों में शिथिलता व चित्त की स्पष्ट अनुभूत उद्विग्नता के शमन के लिए श्यामाक चरु-इष्टि के अनुष्ठान का विधान है। श्यामाक का प्रयोग ऐसी उद्विग्नता को शान्त करता है।

श्यामाक एक कदन्न है, जो स्वयं खेतों में उपज आता है। लोकभाषा में इसे 'समा' या 'सावाँ' बोलते हैं ॥३३॥ (इति वैदिकसोमपानव्यापदि सौमेन्द्रचरु-विधानाऽधिकरणम्—१२)।

(सौमेन्द्रचरोर्यजमानपानव्यापद्विषयताऽधिकरणम्—१३)

गत अधिकरण में निश्चित किया—सौमेन्द्र चरु इष्टि का प्रयोग वैदिक सोम-वमन में होता है। वहाँ विचारणीय है, प्रस्तुत इष्टि का प्रयोग ऋत्विक् और यजमान–किसी को भी सोम-वमन हो जाय, वहाँ–सर्वत्र होना चाहिए? अथवा किसी एक के वमन में होना चाहिए? वमन होना सबके लिए समान है, इसलिए इष्टि का प्रयोग सबके लिए होना चाहिए। इसी अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने पूर्व-पक्षरूप में सूत्रित किया—

तत्सर्वत्राविशेषात् ॥३४॥

[तत्] वह सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग [सर्वत्र] सबके विषय में, अर्थात् ऋत्विक् और यजमान सबके सोमवमन में समझना चाहिए, क्योंक [अविशेषात्] किसी विशेष का निर्देश न होने से।

'सोमवामिनः' सामान्य निर्देश है। सोमपान करके जिस किसी को भी वमन हो जाय, उसे सौमेन्द्र इष्टि का अनुष्ठान करना चाहिए। यागशेष सोम का यज-मान और ऋत्विक् सभी पान करते हैं। किसी को भी सोम का वमन सम्भव है। ऐसा कोई निर्देश उपलब्ध नहीं है कि अमुक के सोम-वमन में इष्टि का प्रयोग हो, अमुक के न हो। इसलिए ऋत्विक् और यजमान सबके लिए—सोमवमन होने पर इष्टि का प्रयोग समझना चाहिए ॥३४॥

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ॥३५॥

[वा]सूत्र में 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है; तात्पर्य है—सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग यजमान और ऋत्विक् सबके लिए हो, ऐसा समझना युक्त नहीं है। [स्वामिनः]स्वामी=यज्ञकर्त्ता यजमान के सोमवमन में इष्टि का प्रयोग होता है, [तदर्थत्वात्] प्रधानकर्म के उसी के लिए होने से।

सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग केवल स्वामी, अर्थात् यज्ञकर्त्ता यजमान के लिए है। ज्योतिष्टोम आदि याग यजमान के लिए होता है; वही उसका कर्त्ता है, वही उसके फल का भोक्ता है। उस याग के प्रसंग में ही सोमवमन करने पर सौमेन्द्र इष्टि का विधान है, तो वह भी यजमान के लिए है। अध्वर्यु-होता आदि ऋत्विक् यजमान द्वारा क्रीत हैं, दक्षिणा आदि पारिश्रमिक देकर खरीदे हुए हैं। प्रधानकर्म ज्योतिष्टोम के कर्तृत्व और भोक्तृत्व में उनका कोई भाग नहीं है। उनके सोमवमन से याग की सर्वाङ्गपूर्णता में कोई कमी आने की सम्भावना नहीं है। पर याग का स्वामी यजमान यदि सोमवमन करता है, तो याग की सर्वाङ्गपूर्णता में न्यूनता आ जाती है। तब याग के अपूर्ण रह जाने से यजमान यागफल से वञ्चित रह जायगा, इसलिए सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग सोमवामी यजमान का उपकारक है। सोमवामी ऋत्विक् आदि से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। फलतः सौमेन्द्र कर्म यजमान के सोमवमन में निविष्ट है, अन्यत्र नहीं ॥३५॥

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ की पुष्टि में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

लिङ्गदर्शनाच्च ॥३६॥

[लिङ्गदर्शनात्] लिङ्ग के देखे जाने से [च] भी यजमान के सोमवमन में सौमेन्द्र इष्टि का विधान जाना जाता है।

मैत्रायणी संहिता [२।२।१३] के प्रस्तुत प्रसंग में पाठ है—**'सोमपीथेन वा एष व्यृध्यते, यः सोमं वमति'** सोमपान द्वारा होनेवाले संस्कार से वह वञ्चित रह जाता है, जो सोम का वमन करता है। ज्योतिष्टोम में यज्ञशेष सोम का पान यजमान को संस्कृत करता है। कर्मानुरूप उसमें गुणाधान करता है। यज्ञशेष सोमपान द्वारा यजमान का संस्कृत होना ज्योतिष्टोम का अङ्ग है। यदि यजमान सोम का वमन कर देता है, तो गुणाधानरूप संस्कार से वञ्चित रह जाएगा; तब ज्योतिष्टोम याग अङ्गहीन रहने से अपूर्ण होगा। याग की पूर्णता के लिए आवश्यक है, यदि यजमान सोमवमन कर दे, तो सौमेन्द्र इष्टि के अनुष्ठान द्वारा उस अपूर्णता को पूरा करे। ऋत्विजों द्वारा सोमवमन करने पर उनमें किसी प्रकार की हीनता की कोई आशंका नहीं है। सोमपान से उनमें न यागसम्बन्धी गुणाधान की सम्भावना है, न सोमवमन से हीनता का भय; क्योंकि उनको प्रत्येक दशा में

उनका ध्येय = दक्षिणा पूरी मिल जानी है। परन्तु सोमपानजन्य संस्कार से—यजमान उस समय हीन हो जाता है, जब सोम का वमन कर दे। इसलिए उक्त वाक्य इस तथ्य में लिङ्ग है, हेतु है कि केवल यजमान के सोमवमन में सौमेन्द्र इष्टि का विधान है, अन्यत्र नहीं ॥३६॥ (इति सौमेन्द्रचरोर्यजमानपानव्यापद्विषयताऽधिकरणम्—१३)।

(आग्नेयाद्यष्टाकपालपुरोडाशस्य द्व्यवदानमात्रस्य होतव्यताऽधिकरणम्—१४)

तैत्तिरीय संहिता [२।६।३।३] के दर्श-पूर्णमास प्रसंग में पाठ है—'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति सुवर्गस्य लोकस्याभिजित्ये'—अग्नि देवतावाला आठ कपालों में तैयार किया गया जो पुरोडाश है, वह अमावास्या और पौर्णमासी दोनों में निरन्तर प्रयुक्त होता है, उसमें नाश नहीं होना चाहिए; यह स्वर्गलोक की विजय के लिए है। यहाँ सन्देह है—क्या वह पुरोडाश पूरा प्रयोग में लाना चाहिए? अथवा कुछ प्रयोग में लाया जाय, और कुछ बचा लेना चाहिए? प्रतीत होता है, पूरा प्रयोग में लाया जाय; क्योंकि वह उन्हीं कर्मों को सम्पन्न करने के लिए होता है।

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

सर्वप्रदानं हविषस्तदर्थत्वात् ॥३७॥

[सर्वप्रदानम्] देवता के लिए जिसका संकल्प किया है, वह सम्पूर्ण हवि देवता के लिए दे देनी चाहिए। [हविषः] हवि के [तदर्थत्वात्] देवता के लिए होने के कारण।

आठ कपालों में संस्कृत किया पुरोडाश आग्नेय है, अग्नि देवता के लिए है, यह उक्त वचन में स्पष्ट है। अग्नि देवता के उद्देश्य से तैयार किया गया पुरोडाश अग्नि देवता के लिए ही है, अतः सम्पूर्ण पुरोडाश हवि कर अग्नि देवता के लिए प्रदान कर देना चाहिए। उसमें से कुछ बचाना अभीष्ट नहीं ॥३७॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

निरवदानात्तु शेषः स्यात् ॥३८॥

[तु] सूत्र में 'तु' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है; तात्पर्य है—सम्पूर्ण हवि का प्रदान नहीं करना चाहिए, [निरवदानात्] अवदान = भाग निकालकर देवता के लिए होम का विधान होने से; [शेषः] शेष = हवि का कुछ अंश स्वतः [स्यात्] रह जाता है, बच जाता है।

अमावास्या-पौर्णमासी में आग्नेय पुरोडाश-हवि का होम करने के लिए

विशेष विधान है। वाक्य है—'द्विर्हविषोऽवद्यति' पुरोडाश हवि से दो बार टुकड़े काटता है। अन्य वचन है—'द्व्यवदानं जुहोति' दो अवदान = टुकड़ों का होम करता है। पुरोडाश-हवि से कितना टुकड़ा काटना चाहिए, इसके लिए विधान है—'अंगुष्ठपर्वमात्रमवद्यति' अंगूठे के पोर के बराबर टुकड़ा काटता है। इस प्रकार पुरोडाश-हवि के अंगुष्ठ-पर्व के बराबर दो टुकड़े एक आहुति में प्रयुक्त होते हैं।

इस आहुति का प्रकार निम्नांकित है—पहले जुहूपात्र में एक स्रुवा घृत डाला जाता है। यह पुरोडाश-हवि के दो टुकड़ों का उपस्तरण = बिछौना है। घृत के ऊपर जुहू में पुरोडाश-हवि के दो टुकड़े रक्खे जाते हैं। उनके ऊपर जुहू में एक स्रुवा घृत और छोड़ा जाता है। इसका नाम 'अवधारण' है, अर्थात् पुरोडाश-हवि के टुकड़ों को घृत से सींचना। यह एक आहुति है। इसके विषय में विधान है—'चतुरवत्तं जुहोति' चार भाग एक आहुति में होमता है। पहले उपस्तरण और बाद में अवधारणरूप दो स्रुवा घृत और दो खण्ड पुरोडाश-हवि, ये चार अवदान एक आहुति में उपस्तरण और अवधारण इसलिए होते हैं कि दो टुकड़े पुरोडाश-हवि का कोई अंश जुहू में लगा न रह जाए। वह निःशेष अग्नि में होमा जा सके।

सूत्र के 'निरवदानात्' पद में 'निर्' उपसर्ग और 'अवदान' दो पद हैं। उपसर्ग का अर्थ है निकालकर। तात्पर्य है—सम्पूर्ण पुरोडाश से सीमित अंश निकालकर, उतने अवदान = भाग से अग्नि में होम करना चाहिए। यह सूत्र-व्याख्या से स्पष्ट है। फलतः पुरोडाश के सीमित अंश का होम होने से उसका कुछ भाग स्वतः शेष रह जाता है, इसलिए सम्पूर्ण पुरोडाश का होम नहीं होता ॥३८॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में अन्य विचार प्रस्तुत किया—

उपायो वा तदर्थत्वात् ॥३९॥

[वा] 'वा' पद पूर्वसूत्र में कहे अर्थ की व्यावृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—पुरोडाश के दो खण्ड की आहुति देकर शेष को बचाना नहीं चाहिए, उसका भी होम कर देना चाहिए। [उपायः] पुरोडाश के दो खण्ड करना पुरोडाश-द्रव्य का संस्कार है; दो खण्ड करके उसे होम के योग्य बनाने का केवल उपाय है, [तदर्थत्वात्] क्योंकि पुरोडाश-द्रव्य होम के लिए ही है।

आठ कपालों में तैयार किया गया पुरोडाश-हविद्रव्य एकसाथ होम नहीं किया जा सकता। एक आहुति में कितना पुरोडाश-द्रव्य होम करना चाहिए, यही द्व्यवदान (दो खण्ड करने) का प्रयोजन है। यह एक बार में आहुत किए जानेवाले द्रव्य का संस्कारमात्र समझना चाहिए। वहाँ कोई ऐसा निर्देश नहीं है कि सम्पूर्ण पुरोडाश का होम न किया जाय। पुरोडाश के यागार्थ होने के कारण उसे अग्नि में होम न कर, बचा रखना उचित प्रतीत नहीं होता। सम्पूर्ण पुरोडाश को

एकसाथ होम न किए जा सकने के कारण द्व्यवदान पुरोडाश को केवल होम के योग्य बनाने का उपाय है। फलतः सम्पूर्ण पुरोडाश का होम करना न्याय्य होगा ॥३९॥

आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्त को पुष्ट करते हुए उक्त पूर्वपक्ष का समाधान किया—

कृतत्वात्तु कर्मणः सकृत् स्याद् द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥४०॥

[तु] 'तु' पद सूत्र में पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है; तात्पर्य है—द्व्यवदान से बचे हुए पुरोडाश का भी होम कर देना चाहिए—यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि [कर्मणः कृतत्वात्] 'द्व्यवदानं जुहोति' विधान के अनुसार दो खण्ड पुरोडाश से होम किए जाने पर विहित कर्म के सम्पूर्ण हो जाने के कारण, [सकृत् स्यात्] क्योंकि होम एक बार ही होता है; शेष पुरोडाश से दुबारा होम किए जाने का विधान नहीं है, [द्रव्यस्य] पुरोडाश-हविद्रव्य के [गुणभूतत्वात्] प्रधानभूत यागकर्म की अपेक्षा—गौण होने के कारण। द्रव्य याग के लिए होता है, याग द्रव्य के लिए नहीं।

'द्व्यवदानं जुहोति' विधि के अनुसार सीमित पुरोडाश-द्रव्य से होम निष्पन्न हो जाने पर यागकर्म पूर्ण हो जाता है, बचे हुए द्रव्य के लिए प्रधानभूत यागकर्म की पुनः आवृत्ति नहीं हुआ करती। पुरोडाश-द्रव्य के अंगुष्ठपर्व-मात्र दो टुकड़ों से होम का विधान है। वह सब उस होम में एक बार पूरा कर लिया, जहाँ उसका विनियोग है। बचा हुआ पुरोडाश होमीय द्रव्य नहीं है। पुरोडाश-द्रव्य वस्तुतः याग के सम्पादन के लिए तैयार किया जाता है। विधि-अनुसार जितने द्रव्य से याग सम्पन्न हो जाय, उतना ही होमीय है। समस्त पुरोडाश-द्रव्य को याग के साथ जोड़ना नहीं चाहिए; क्योंकि यागकर्म प्रधान है, द्रव्य गौण है, विधान के अनुसार अपेक्षित द्रव्य से याग सम्पन्न हो जाता है; तब याग द्रव्य के पीछे-पीछे नहीं भागेगा कि बचे द्रव्य का—आवश्यकता न होने पर भी—होम के लिए उपयोग किया जाय। याग के लिए द्रव्य ग्रहण किया जाता है, द्रव्य के उपयोग के लिए याग नहीं होता। विहित याग से ही यागकर्त्ता पुरुष का प्रयोजन पूरा हो जाता है। तब बचे द्रव्य से पुनः याग करना व्यर्थ है। तात्पर्य है—सम्पन्न यागकर्म की—द्रव्योपयोग के लिए—नियमतः आवृत्ति करना अशास्त्रीय है।

द्रव्य को प्रधान मानकर याग की आवृत्ति कहना सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि याग साध्य है, द्रव्य साधन है। साध्य को सम्पन्न करने के लिए साधन होता है। अतः साध्य प्रधान और साधन गौण है। द्रव्य से याग सम्पन्न होता है, यह प्रत्यक्ष है; पर याग से द्रव्य का कुछ भला होता हो, यह नहीं जाना जाता। यह कहना भी संगत न होगा कि हवि को आग्नेय कहा है—'आग्नेयो हविः' इसलिए समस्त

हवि को अग्नि में होम कर देना चाहिए। कारण यह है—'आग्नेयो हविः' सामान्य कथन है; 'द्व्यवदानं जुहोति' विशेष वचन है। विशेष से सामान्य बाधित हो जाता है। हवि के सीमित अंश का विधानानुसार अग्नि में होम होने से सम्पूर्ण हवि के लिए 'आग्नेय' पद का प्रयोग होने में कोई असामञ्जस्य नहीं है। आग्नेय पद का प्रयोग इस अर्थ का विधायक नहीं है कि समस्त हवि का एकबार ही अग्नि में होम कर दिया जाय, जबकि उसका अपवाद 'द्व्यवदानं जुहोति' विधि विद्यमान है। फलतः पुरोडाश-हवि का शेष रहना शास्त्रीय है ॥४०॥

इसी अर्थ की पुष्टि में आचार्य सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

शेषदर्शनाच्च ॥४१॥

[शेषदर्शनात्] शेष का दर्शन होने से [च] भी सम्पूर्ण पुरोडाश-हवि का प्रथम बार ही होम नहीं होता।

पुरोडाश-हवि की प्रधान आहुति के अनन्तर सुना जाता है—'शेषाद् इडामवद्यति' शेष=बचे हुए हवि से इडा का अवदान करता है। 'शेषात् स्विष्टकृतमवद्यति' शेष से स्विष्टकृत् का अवदान करता है। पुरोडाश की प्रधान आहुति देने के अनन्तर बचे हुए पुरोडाश-हवि से इडा और स्विष्टकृत् अवदान का विधान है। इससे स्पष्ट होता है, प्रथम प्रधान आहुति में सम्पूर्ण पुरोडाश का होम नहीं किया जाता।

बचे हुए पुरोडाश से स्विष्टकृत् आहुति दी जाती है; तथा प्रथम आहुति के समान इडा-पात्र में पुरोडाश को संस्कृत कर ऋत्विक्-यजमान उसका भक्षण करते हैं। दर्श-पौर्णमास इष्टियों में यह व्यवस्था है ॥४१॥ (इति आग्नेयाष्टाकपाल-पुरोडाशस्य द्व्यवदानमात्रस्य होतव्यताऽधिकरणम्—१४)।

(सर्वशेषैः स्विष्टकृदाद्यनुष्ठानाधिकरणम्—१५)

दर्श-पूर्णमास में बचे हुए हवि से किए जानेवाले इडासम्बन्धी, प्राशित्रसम्बन्धी तथा स्विष्टकृत्सम्बन्धी आदि कार्य बताए हैं। इनमें सन्देह है—क्या प्रत्येक हवि से शेष कार्य करने चाहिएँ? अथवा किसी एक हवि से कर लिये जाएँ? कोई विशेष कथन न होने के कारण किसी एक हवि से शेष कार्य कर लेना पर्याप्त होगा।

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

अप्रयोजकत्वादेकस्मात् क्रियेरञ्छेषस्य गुणभूतत्वात् ॥४२॥

[अप्रयोजकत्वात्] हवियों की सिद्धि में शेष कार्यों के प्रयोजक न होने से

[एकस्मात्] किसी एक हवि से शेष कार्य [क्रियेरन्] कर लिये जाएँ, [शेषस्य] शेष = बचे हुए हवि के [गुणभूतत्वात्] गौण होने के कारण।

प्रधान होम के सम्पादन के लिए हवि को तैयार किया जाता है। प्रधान होम के सम्पन्न हो जाने पर बचा हुआ हवि गौण है। इडा-सम्बन्धी आदि कार्यों के सम्पादन के लिए हवि तैयार नहीं किया जाता। यदि ऐसा होता, तो प्रत्येक हवि से शेषकार्य किया जाना आवश्यक था। पर हवि तो प्रधान कर्म के सम्पादन के लिए तैयार किया जाता है। उससे जो हवि बच गया, वह गौण है, होमीय नहीं है। तब किसी भी एक हवि से शेषकार्य किये जा सकते हैं। सबसे किया जाना अनावश्यक है ॥४२॥

इसी अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

संस्कृतत्वाच्च ॥४३॥

[संस्कृतत्वात्] किसी भी एक हवि से शेष कार्य किये जाने पर प्रधान कर्म के संस्कृत हो जाने से [च] भी सम्पूर्ण हवियों से शेष कार्य करना आवश्यक नहीं।

हवि-द्रव्य प्रधान कर्म के सम्पादन के लिए तैयार किया गया। हवि के कुछ भाग से प्रधान कर्म सम्पन्न हो गया। बचे हुए हवि का क्या किया जाय? क्या उसे फेंक दिया जाय? यदि ऐसा किया जाता है, तो वह प्रधान कर्मसम्बन्धी दोष है। हवि प्रधान कर्म के लिए तैयार किया गया, और अब यह फेंका जा रहा है; यह अच्छा प्रधान कर्म हुआ, जिसमें इतने हविद्रव्य की हानि हुई! यह प्रधान होम-सम्बन्धी दोष व उसपर एक कलङ्क है। वह हविद्रव्य होम में प्रयोग न आने से होमीय नहीं रहा। तब आचार्यों ने स्विष्टकृत् अवदान आदि के रूप में उसका उपयोग बताया। इसे शेष हविद्रव्य का संस्कार कहा जाता है। शेष हवि-द्रव्य का—स्विष्टकृत् अवदान आदि के रूप में—उचित उपयोग ही उसका संस्कार है। इससे प्रधान कर्म भी संस्कृत होता है। उसपर अब यह दोष या आरोप नहीं लगाया जा सकता कि कैसा यह प्रधान कर्म है? इसके लिए यह हविद्रव्य तैयार किया गया था, और अब यह फेंका जा रहा है। यही प्रधान कर्म का संस्कृत होना है। वह शेष हवि का उचित उपयोग हो जाने पर किसी भी दोष, कलङ्क व आरोप से रहित हो जाता है। यह स्थिति किसी भी एक हवि के उपयोग से पूरी हो जाती है; तब सम्पूर्ण हवियों से शेष कार्य करना आवश्यक नहीं रहता ॥४३॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

सर्वेभ्यो वा कारणाविशेषात्, संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥४४॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है, स्विष्टकृत् आदि शेष कार्य एक ही हवि से करने चाहिएँ, सबसे नहीं,-यह कथन अयुक्त है। [सर्वेभ्यः] सब हवियों से शेष कार्य करने चाहिएँ; [कारणाविशेषात्] एक हवि से करने में कारणविशेष के न होने से। तात्पर्य है—शेष हवि का उचित उपयोग-रूप कारण सब हवियों के लिए समान है, [संस्कारस्य] स्विष्टकृत् आदि अवदान द्वारा उत्पन्न संस्कार के [तदर्थत्वात्] उन सब शेष हवियों के लिए होने के कारण।

स्विष्टकृत् आदि शेष कार्य सब हवियों से करने चाहिएँ, किसी एक हवि से नहीं। एक हवि से शेष कार्य करने में जो कारण हैं, वही कारण सब हवियों से शेष कार्य करने में हैं। कारण है —प्रधान कर्म के अनुष्ठान से बचे हुए अष्टाकपाल पुरोडाश का उचित उपयोग। गत सूत्र की व्याख्या में इसे स्पष्ट किया है। बचे पुरोडाश को फेंका नहीं जा सकता। आचार्यों ने उसका उचित उपयोग बताया है—स्विष्टकृत् आदि अवदान के रूप में हवि का संस्कार। शास्त्र में इसका नाम 'प्रतिपत्ति संस्कार' है। जो हविद्रव्य किसी कर्म के सम्पादन के लिए तैयार किया जाय, उसके शेष अंश का अन्यत्र प्रयोग करना 'प्रतिपत्ति संस्कार' है [देखें—मी०सू० ४।२।१९, अधि० ७]। प्रस्तुत प्रसंग में दर्श-पौर्णमास कर्म के लिए तैयार किये गये पुरोडाश-हविद्रव्य के शेष अंश का स्विष्टकृत् आदि अवदान के रूप में उपयोग। स्विष्टकृत् आहुति के द्वारा उसे अग्नि में छोड़ दिया जाता है। सम्भवतः कुछ भाग 'इडा अवदान' के रूप में यजमान-ऋत्विजों द्वारा भक्षण कर लिया जाता है। यज्ञशेष का भक्षण शास्त्रीय है ॥४४॥

सब हवियों से शेष कार्य करने चाहिएँ, इस अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४५॥

[लिङ्गदर्शनात्] लिङ्ग = प्रयोजक हेतु के देखे जाने से [च] भी सब हवियों से शेष कार्य किये जाने चाहिएँ।

भाष्यकार शबर स्वामी ने यहाँ एक गाथा प्रस्तुत की है—'देवा वै स्विष्टकृतमब्रुवन्—हव्यं नो वह, इति' देवों ने स्विष्टकृत् अग्नि को कहा—हमारी हवियों का वहन कराओ, अर्थात् हवियों को हमें प्राप्त कराओ। 'सोऽब्रवीत्—वरं वृणै भागो मेऽस्त्विति' वह बोला—वर माँगता हूँ, मेरा भी भाग उसमें हो। 'तेऽब्रुवन्—वृणीष्वेति' देवों ने कहा—वर माँगो। 'सोऽब्रवीत्— उत्तरा धर्मदेव मह्यं सकृत् सकृदवद्यादिति' तब स्विष्टकृत् अग्नि ने कहा—मेरे लिए हवि के

उत्तरार्ध भाग से एक-एक बार अवदान दिया जाय। इस वाक्य में 'सकृत्' पद वीप्सा है; दो बार पढ़ा गया है। इसका तात्पर्य है, एक हवि से एक बार अवदान, अन्य हवि से अन्य अवदान। यदि स्विष्टकृत् आदि शेष कार्यों में एक ही हवि का अवदान होता, तो वाक्य में 'सकृत्' पद का दो बार प्रयोग नहीं होना चाहिए था। सकृत् पद का वीप्सा प्रयोग इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि स्विष्टकृत् आदि शेष कार्यों में सब हवियों का प्रयोग होता है। किसी एक ही हवि से शेष कार्य सम्पन्न नहीं होते ॥४५॥ (इति सर्वशेषैः स्विष्टकृदाद्यनुष्ठानाऽधिकरणम्—१५)।

(प्राथमिकशेषात् स्विष्टकृदाद्यनुष्ठानाऽधिकरणम्—१६)

गत अधिकरण में निश्चय किया है कि शेष कार्य सब हवियों से किये जाने चाहिएँ। वहाँ पूर्वपक्षरूप में कहा गया—शेष कार्य किसी एक हवि से किये जाएँ? अथवा सब हवियों से? इस विकल्प में किसी भी एक हवि से शेष कार्य किये जाने की बात कही गई। यह पूर्वपक्ष है। यह अर्थ अभी अपरीक्षित है, इसकी प्रमाणपूर्वक परीक्षा नहीं की गई। ऐसे अपरीक्षित—असिद्ध अर्थ को परीक्षित=सिद्ध अर्थ के समान मानकर उसके विषय में जो विशेष विचार किया जाय, गौतमीय न्यायशास्त्र में उसको 'अभ्युपगम सिद्धान्त' कहा है। प्रस्तुत शास्त्र में उसी का नाम 'कृत्वा चिन्ता' है।

शेष कार्य सब हवियों से किये जाएँ? अथवा किसी एक हवि से? यहाँ एक हवि में शेष कार्य किये जाने के असिद्ध अर्थ को सिद्धवत् मानकर उसके विषय में यह विशेष विचार प्रस्तुत है कि शेष कार्य किसी भी एक हवि से कर लिये जायें? अथवा किसी एक निर्धारित हवि से? वह भी प्रथम हवि से? अथवा अन्य किसी निर्धारित हवि से?

इस विचार को सम्मुख रख सूत्रकार ने पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—

एकस्माच्चेद् याथाकाम्यविशेषात् ॥४६॥

[एकस्मात्-चेत्] एक हवि से यदि शेष कार्य किये जायें, तो [याथाकामी] जिस हवि से शेष कार्य करने की अपनी इच्छा हो, उससे करे, [अविशेषात्] किसी विशेष वचन के न होने से। तात्पर्य है, इस विषय में कोई ऐसा शास्त्रीय वचन नहीं है, जिससे यह जाना जाय कि अमुक हवि से शेष कार्य करे, अमुक से न करे। इसलिए अपनी इच्छानुसार यजमान जिस किसी हवि का निर्धारण कर ले, उसीसे शेष कार्य सम्पादन करे।

दर्श-पौर्णमास में आग्नेय आदि तीन हवि-पुरोडाश कहे हैं। यजमान इन तीन में से अपनी इच्छानुसार जिस किसी एक का निर्धारण कर ले, उसी से शेष कार्य

सम्पादन करे ।।४६।।

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

मुख्याद्वा पूर्वकालत्वात् ।।४७।।

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है, इच्छानुसार जिस किसी पुरोडाश-हवि से शेष कार्य करे, यह कथन युक्त नहीं है। [मुख्यात्] मुख्य—अर्थात् प्रथम पुरोडाश-हवि से शेष कार्य करे [पूर्वकालत्वात्] अन्य हवियों के पूर्वकाल में होने से।

किसी कार्य का आरम्भ उसका मुख कहा जाता है। आरम्भ अर्थात् सर्व-प्रथम जो उपस्थित है, वह मुख्य है। दर्श-पूर्णमास दोनों यागों में सर्वप्रथम आग्नेय पुरोडाश-हवि का विधान है। तब प्रथम उपस्थित होने के कारण प्रधान आहुति के अनन्तर बचे हुए उसी पुरोडाश-हवि से स्विष्टकृत् आदि शेष कार्य करे। जब प्रथम हवि से शेष कार्य हो गया, अन्य हवि तब तक उपस्थित नहीं हैं; तब एक से कार्य सम्पन्न हो जाने पर अन्य हवियाँ उस कार्य के लिए बाधित हो जाती हैं। प्रथम उपस्थित आग्नेय हवि अबाधित है, क्योंकि उससे पहले अन्य कोई विधि उपस्थित नहीं होता, जो उसकी बाधा करे, इसलिए शेष कार्य स्विष्टकृत् आदि अवदान आग्नेय पुरोडाश-हवि से किया जाना चाहिए ।।४७।। (इति प्राथमिक-शेषात् स्विष्टकृदाद्यनुष्ठानाऽधिकरणम्—१६)।

(पुरोडाशादिभागस्य भक्षार्थताऽधिकरणम्—१७)

दर्श-पूर्णमास प्रसंग में ये वाक्य पठित हैं—'इदं ब्रह्मणः' यह भाग ब्रह्मा का है। 'इदं होतुः' यह होता का है। 'इदमध्वर्योः' यह अध्वर्यु का है। 'इदमाग्नीधः' यह अग्नीत् का है। यहाँ सन्देह है, क्या यह ऋत्विजों के भाग का विभाजन उनका पारिश्रमिक है? अर्थात् याग का कार्य करने की भृति है? अथवा भक्षण के लिए है? तात्पर्य है, पुरोडाश के इन भागों की गणना ऋत्विजों की भृति में नहीं होगी। इन दोनों विकल्पों में क्या मान्य है?

इसके निर्णय के लिए आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—

भक्षाश्रवणाद्दानशब्दः परिक्रये ।।४८।।

[भक्षाश्रवणात्] ब्रह्मा आदि के लिए विभक्त पुरोडाश-भागों के विषय में भक्षणबोधक कोई वाक्य न सुने जाने के कारण [दानशब्दः] ऋत्विजों को वे विभक्त भाग दिये जाने की बात [परिक्रये] ऋत्विजों के परिक्रय के सम्बन्ध में जाननी चाहिए।

यागकार्य-सम्पादन के लिए दक्षिणा आदि देकर ऋत्विजों को खरीद लिया

जाता है। इसी का नाम 'परिक्रय' है। 'इदं ब्रह्मणः' आदि वाक्यों से विहित पुरोडाश के विभक्त भाग ब्रह्मा आदि ऋत्विजों की दक्षिणा के अन्तर्गत समझने चाहिएँ, क्योंकि प्रसंग में याग-काल के अवसर पर ब्रह्मा आदि द्वारा इनके भक्षण का बोधक कोई वाक्य सुना नहीं जा रहा, जबकि अन्यत्र सुना जाता है। भाष्यकार शबर स्वामी ने मीमांसा सूत्र [६।४।४] के भाष्य में एक वाक्य उद्धृत किया है—'यजमानपञ्चमा इडां प्राश्नन्ति' चार ऋत्विज् और पाँचवाँ यजमान इडा पात्रस्थित पुरोडाश का भक्षण करते हैं। यहाँ 'प्राश्नन्ति' भक्षण-विधायक क्रिया स्पष्ट निर्दिष्ट है। ऐसा कोई निर्देश 'इदं ब्रह्मणः' आदि के प्रसंग में नहीं है। इसलिए पुरोडाश के विभक्त भागों को याग के अवसर पर भक्षण के लिए न मानकर ब्रह्मा आदि ऋत्विजों के परिक्रय—अर्थात् दक्षिणा के रूप में दिया जाना समझना चाहिए ॥४८॥

इसी अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

तत्संस्तवाच्च ॥४६॥

[तत्संस्तवात्] उन चार भागों में विभक्त पुरोडाश की दक्षिणा के रूप संस्तुति करने से [च] भी यह चतुर्धा विभक्त पुरोडाश परिक्रय-सम्बन्धी समझना चाहिए।

भाष्यकार शबर स्वामी ने इस प्रसंग में एक वाक्य उद्धृत किया है—'एषा वै दर्श-पूर्णमासयोर्दक्षिणा' यह चतुर्धा विभक्त पुरोडाश दर्श-पूर्णमास की दक्षिणा है। इस संस्तुति से स्पष्ट है, यह विभक्त पुरोडाश परिक्रयसम्बन्धी है ॥४६॥

पूर्वपक्ष का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

भक्षार्थो वा द्रव्ये समत्वात् ॥५०॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है; तात्पर्य है, 'इदं ब्रह्मणः' आदि वाक्यों के आधार पर किया गया पुरोडाश-विभाग ऋत्विजों के परिक्रय-सम्बन्धी नहीं है। तब क्या है? [भक्षार्थः] याग-काल में भक्षण के लिए है, [द्रव्ये] हविरूप द्रव्य के उपयोग के विषय में [समत्वात्] यजमान और ऋत्विजों के परस्पर तुल्य होने से।

हविद्रव्य देवता को उद्देश्य करके तैयार किया जाता है। तैयार करनेवाला यजमान अग्नि आदि देवताओं के लिए उसका संकल्प कर देता है। वह उसका स्वामी नहीं रहता। कोई व्यक्ति दक्षिणा आदि दान उसी वस्तु का कर सकता है, जिसका वह स्वामी हो। हविद्रव्य का स्वामी अब यजमान नहीं है; तब यह दक्षिणा आदि के रूप में उसको कैसे दे सकता है? इस दृष्टि से हविद्रव्य के विषय में यजमान और ऋत्विज् बराबर हैं। विचारना चाहिए, शेष हविद्रव्य का

क्या उपयोग है? शास्त्रीय मान्यता है, श्रुत अर्थ के परित्याग में जितना दोष होता है, उतना ही दोष अश्रुत की परिकल्पना में होता है। भक्षणविषयक वाक्य श्रुत न होने से भक्षण की कल्पना भी दोषपूर्ण होगी। पवित्र हवि को फेंका भी नहीं जा सकता। वास्तविकता यह है—'इदं ब्रह्मण:' आदि वाक्यों से ब्रह्मा आदि ऋत्विजों के साथ हवि का सम्बन्ध विधान किया है। देखना चाहिए, इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध में कौन किसका कितना उपकार करता है? अपने-अपने रूप में दोनों एक-दूसरे के उपकारक हैं। वह उपकार ब्रह्मा आदि ऋत्विजों के द्वारा हवि के भक्षण किये जाने पर सम्भव है। इसमें हवि का उपकार है—उसका सदुपयोग हो जाना। ऋत्विजों का उपकार है—याग की पूर्णता—सम्पन्नता से हर्षोद्रिक की भावना। यह भावना व्यक्ति में साहस व सामर्थ्य को जागृत करती है। भक्षण का पद द्वारा श्रवण न होने पर भी हवि का यह दृष्ट प्रयोजन हवि के भक्षण को उद्भावित करता है। अनेक बार शब्द से कोई तथ्य न कहे जाने पर भी तात्पर्य से स्पष्ट हो जाता है। प्रसंग में ऐसा ही है। फलतः प्रधान आहुति से बचे पुरोडाश-हवि का परिक्रम में उपयोग न मानकर भक्षण में जानना चाहिए ॥५०॥

दक्षिणारूप में हवि के संस्तव का सूत्रकार ने समाधान किया—

व्यादेशाद् दानसंस्तुतिः ॥५१॥

[व्यादेशात्] व्यादेश=व्यपदेश—प्रयोजन की समानता से [दानसंस्तुतिः] भक्षणार्थ दिये गये हवि-भागों की दक्षिणा के रूप में स्तुति की गई है। वस्तुतः वह भाग दक्षिणा में नहीं गिना जाता।

जैसे दक्षिणा-प्राप्ति की भावना से प्रोत्साहित होकर ब्रह्मा आदि ऋत्विज् कर्म करने में सहर्ष प्रवृत्त होते हैं, ऐसे ही यागकाल में पुरोडाश-हवि के भाग का भक्षण करने से—कर्मानुष्ठान-जनित—श्रान्ति व क्षुधा की निवृत्ति हो जाने पर ब्रह्मा आदि ऋत्विक् शेष कार्य को सम्पन्न करने के लिए प्रोत्साहित हो जाते हैं। दक्षिणा व हवि-भागों के प्रयोजन इस समानता के आधार पर भक्षणार्थ हवि-प्रदान को दक्षिणा पद से कह दिया गया है। यह केवल औपचारिक कथन है। फलतः 'इदं ब्रह्मण:' आदि वाक्यविहित हवि-भागों को दक्षिणारूप मानना अशास्त्रीय है।

इति जैमिनीय मीमांसासूत्राणां विद्योदयभाष्ये
तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः।

अथ तृतीयाध्याये पञ्चमः पादः

दर्श-पूर्णमास याग-सम्बन्धी कतिपय सन्दिग्ध स्थलों का विवेचनपूर्वक निर्णय गत पाद में प्रस्तुत किया गया। अन्य सन्दिग्ध स्थलों के निर्णय के लिए पञ्चम पाद का प्रारम्भ है। दर्श-पूर्णमास प्रसंग में कहा है—'उत्तरार्धात् स्विष्टकृते समवद्यति' पुरोडाश के उत्तर-अर्धभाग से स्विष्टकृत् अग्नि के लिए अवदान करता है, अर्थात् स्विष्टकृत् आहुति के लिए पुरोडाश का ग्रहण करता है। तथा अन्य वाक्य है—'इडामुपह्वयति' इडा का उपह्वान करता है। इडापात्र पार्श्वभागों से मध्य में संकुचित (भिचा हुआ) होता है; उसमें दो भाग-से दिखाई देते हैं। पात्र को पकड़ने की ओर से पहला भाग 'पूर्व' और दूसरा 'पश्चिम' कहा जाता है। उसका प्रथम उपस्तरण (आज्यस्थाली से घृत लेकर उसे चुपड़ना) होता है। अनन्तर आग्नेय पुरोडाश के दक्षिणभाग से मन्त्रोच्चारणपूर्वक टुकड़ा काटकर, इडापात्र के पूर्वभाग में, तथा पुरोडाश के उत्तरभाग से अमन्त्रक टुकड़ा लेकर दोनों को इडापात्र के पूर्वभाग में रक्खा जाता है। तत्पश्चात् अग्नीषोमीय पुरोडाश के—दक्षिण और पूर्वभाग से पहले के समान (=समन्त्रक, अमन्त्रक) टुकड़े लेकर उन्हें इडापात्र के पश्चिमभाग में रक्खा जाता है। अनन्तर आज्यस्थाली से घृत लेकर इडापात्र के दोनों भागों पर डाला जाता है। इसका नाम 'अभिघारण' है। यहाँ तक की क्रिया का 'इडावदान' नाम है। तात्पर्य है—इस अवसर पर इडापात्र से जो कार्य सम्पाद्य है, उसके लिए उसे तैयार कर लिया गया है। अब अध्वर्यु इडापात्र को उठाकर अपने मुख व नासिका के बराबर सामने की ओर धारण करता हुआ मन्त्र जपता है। इस क्रिया का नाम 'इडोपह्वान' है। यह भी स्विष्टकृत् अवदान के समान दर्श-पूर्णमास-सम्बन्धी शेष कार्य है।

पूर्णमास के आग्नेय और अग्नीषोमीय प्रधान कर्मों के समान तीसरा प्रधान कर्म उपांशुयाज है। उसका होमद्रव्य आज्य=घृत है, जबकि आग्नेय और अग्नीषोमीय कर्मों का होमद्रव्य पुरोडाश होता है। इस प्रसंग में यह सन्देह है कि —क्या आग्नेय और अग्नीषोमीय पुरोडाश के समान, उपांशुयाज के द्रव्य घृत से भी स्विष्टकृत् और इडा का अवदान करना चाहिए? अथवा नहीं करना चाहिए?

इसी विषय का निर्धारण करने के लिए प्रस्तुत अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

सिद्धान्त की दृढ़ता के लिए ऊहापोहपूर्वक विवेचन की भावना से आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—

आज्याच्च सर्वसंयोगात् ॥१॥

[आज्यात्] उपांशुयाज के आज्य=घृत से [च] भी स्विष्टकृत् अवदान आदि शेष कार्य करने चाहिएँ, [सर्वसंयोगात्] स्विष्टकृत् अवदान आदि शेष कार्यों का सब हवियों के साथ संयोग होने से।

स्विष्टकृत् आदि के लिए उपांशुयाज के हविद्रव्य घृत से भी अवदान करना चाहिए, क्योंकि 'स्विष्टकृतमवद्यति' आदि वचन सामान्य प्रकरण में पठित हैं। सभी हवियों का उनका सम्बन्ध है। ऐसा वाक्य भी है—'सर्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति' सब हवियों से अवदान करता है। इसलिए उपांशुयाज के आज्य हवि से भी स्विष्टकृत् अवदान, इडोपह्वान आदि शेष कार्य किए जाने चाहिएँ ॥१॥

इसी अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

कारणाच्च ॥२॥

[कारणात्] कारण के—उभयत्र—तुल्य होने से [च] भी उपांशुयाज के हवि आज्य द्वारा भी शेष कार्य सम्पन्न किए जाने चाहिएँ।

जो कारण—पुरोडाश से अवदान आदि शेष कार्य के सम्पादनार्थ दिए जाते हैं, वे ही कारण उपांशुयाज हवि आज्य से शेष कार्य किए जाने मे लागू होते हैं। दोनों जगह कारणों की समानता से दोनों (=पुरोडाश और आज्य) हवियों से शेष कार्य किया जाना युक्त है।

वह कारण आचार्यों ने अर्थवादरूप एक गाथा के आधार पर बताया है। गत [३।४।४५] सूत्र की व्याख्या में गाथा का निर्देश है। वहाँ स्विष्टकृत् अग्नि के विभिन्न हवियों के अवदान में जो कारण पुरोडाश हवि के लिए है वही कारण आज्य हवि के लिए भी है। अतः उभयत्र कारण आज्य की समानता से पुरोडाश और आज्य दोनों हवियों द्वारा शेष कार्य करना युक्त है ॥२॥

उक्त अर्थ की पुष्टयार्थ आचार्य सूत्रकार ने अन्य सहायक हेतु प्रस्तुत किया—

एकस्मिन् समवत्तशब्दात् ॥३॥

[एकस्मिन्] एक हवि के कथन में [समवत्तशब्दात्] 'समवत्त' शब्द का प्रयोग होने से व्यतिरेक द्वारा जाना जाता है कि यहाँ अन्य हवि से भी अवदान होता है।

'समवद्यति' क्रियापद में 'सम्' उपसर्ग समवेत अर्थ में है—सम्मिलित होकर अवदान करना। किसी एक हवि से अवदान के कथन में यदि 'समवद्यति' प्रयोग किया गया है, तो व्यतिरेक द्वारा समझना चाहिए कि यहाँ अन्य हवि से भी अवदान किए जाने का तात्पर्य है। यदि ऐसा न होता, और उस कथित एकमात्र हवि से ही अवदान करना अभिप्रेत होता, तो वहाँ 'समवद्यति' का प्रयोग न होकर केवल 'अवद्यति' क्रियापद प्रयुक्त किया जाता।

आचार्यों ने इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण प्रस्तुत किया है।

सोमयाग के दूसरे दिन उपांशुयाज-कर्म के अङ्गभूत प्रायणीय इष्टि का अनुष्ठान किया जाता है। इसमें अदिति देवता के चरु के साथ चार आज्ययाग और हैं—'आज्येन देवताश्चतस्रो यजति—पथ्यां स्वस्तिं, अग्निं, सोमं, सवितारञ्च' [कात्या०श्रौ० ७।५।१३; आप० श्रौत सूत्र १०।२१।११] में इन देवताओं की दिशा का नियमन करते हुए बताया है—'एकस्माच्च हविषोऽवद्यति।··· मिश्रस्य चान्येन हविषा समवद्यति' एक ही हवि से अवदान करना हो, तो 'अवद्यति' प्रयोग होता है; समवेत हवियों से अवदान करने पर 'समवद्यति' प्रयोग होगा। 'समवेत' का यह तात्पर्य नहीं कि हवियों को परस्पर मिलाकर अवदान किया जाय, प्रत्युत यह तात्पर्य है कि अनेक हवियों से अवदान किया जाय; हवियों का समवाय न होकर अवदानों का समवाय है।

दर्श-पूर्णमास प्रसंग में 'अग्नये स्विष्टकृते समवद्यति' वचन है—स्विष्टकृत् अग्नि के लिए सम्मिलित अवदान करे। दर्श-पूर्णमास का अन्यतम प्रधानकर्म उपांशुयाज है। उसी का विकृति=अङ्ग प्रायणीय इष्टि है। 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस अतिदेश के अनुसार प्रायणीय इष्टि में उपांशुयाज के हविद्रव्य आज्य से अवदान की प्राप्ति मानने पर ही चरु-सम्बन्धी स्विष्टकृत् के अवदान के लिए 'समवद्यति' क्रियापद का प्रयोग उपपन्न हो सकता है। यदि एक चरु से ही स्विष्टकृत् अग्नि के लिए अवदान हो, तो 'अवद्यति' प्रयोग होना चाहिए। पर ऐसा नहीं है; इसलिए उपांशुयाज के आज्य हवि से स्विष्टकृत् के लिए अवदान मानना युक्त है ॥३॥

इसी अर्थ की पुष्टि के लिए आचार्य सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

आज्ये च दर्शनात् स्विष्टकृदर्थवादस्य ॥४॥

[आज्ये] ध्रुवा में रक्खे गए आज्य में [स्विष्टकृदर्थवादस्य] स्विष्टकृद्-विषयक अर्थवाद के [दर्शनात्] देखे जाने से [च] भी जाना जाता है कि आज्य से अवदान होता है।

ध्रुवा नामक एक कटोरानुमा यज्ञियपात्र है, जिसमें लम्बी डण्डी जुड़ी रहती है। डण्डी के लगभग मध्यभाग में उतनी ऊँचाई की एक टेक लगी रहती है जितनी

कटोरे की ऊँचाई है। ध्रुवा को भूमि पर रखने से उसका सन्तुलन स्थिर रहे, बिगड़ने न पाए, इसी के लिए डण्डी में टेक लगाई जाती है। स्रुवा (विशेष नाप के छोटे चम्मच) से 'चतुर्ध्रुवायाम्' [तै० ब्रा०, ३।३।५।३] वचन के अनुसार चार स्रुवा परिमित घृत आज्यस्थाली से लेकर ध्रुवा में रक्खा जाता है। आहुति के लिए जितना आज्य ध्रुवा से जुहू में लिया जाता है, उतना ही आज्यस्थाली से लेकर ध्रुवा में डाल दिया जाता है। इसी का नाम 'ध्रुवा का प्रत्यभिघारण' है। इस प्रकार ध्रुवा पात्र में चार स्रुव् आज्य बराबर बना रहता है। सम्भवतः इसी कारण पात्र का 'ध्रुवा' नाम है—परिमित आज्य का ध्रुव = स्थिर बना रहना। इस प्रसंग का अर्थवाद है—

'अवदाय अवदाय ध्रुवां प्रत्यभिघारयति। स्विष्टकृतेऽवदाय न ध्रुवां प्रत्यभिघारयति। न हि ततः परमाहुतिं यक्ष्यन् भवति' ध्रुवा से आज्य का अवदान करके ध्रुवा में प्रत्यभिघारण करता है; अर्थात् उतना ही आज्य, आज्यस्थाली से लेकर उसमें डाल देता है। स्विष्टकृत् के लिए अवदान करके ध्रुवा में प्रत्यभिघारण नहीं करता, क्योंकि स्विष्टकृत् आहुति के अनन्तर अन्य कोई आहुति देने के लिए नहीं होती। यह अर्थवाद ध्रुवा में प्रत्यभिघारण के प्रयोजन को बताता है। वह प्रयोजन है—आगे आहुति का देना। स्विष्टकृत् याग के अनन्तर कोई आहुति नहीं होती। इससे स्पष्ट है, ध्रुवा में जो आज्य रहता है, उसी से स्विष्टकृत् आहुति दी जाती है। यही स्विष्टकृत् अग्नि का अवदान है। क्योंकिअबअन्य कोई आहुति देय नहीं है, इसीलिए आज्यस्थाली से अन्य आज्य लेकर ध्रुवा में डालना (= प्रत्यभिघारण) अनावश्यक है। इस स्विष्टकृद्-विषयक अर्थवाद से सिद्ध हो जाता है कि स्विष्टकृत्-अवदान आज्य से भी होता है ॥४॥

इस लम्बे पूर्वपक्ष का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अशेषत्वात्तु नैवं स्यात् सर्वादानादशेषता ॥५॥

[तु] 'तु' पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—उपांशुयाज के हविर्द्रव्य आज्य से स्विष्टकृत् अवदान होता है, यह कथन युक्त नहीं, [अशेषत्वात्] ध्रुवा में उपांशुयाज के आज्य का शेष न रहने के कारण। [एवम्] इस प्रकार स्विष्टकृत् और इडा के लिए आज्य से अवदान [न स्यात्] नहीं होता। क्योंकि [सर्वादानात्] ध्रुवा में जो आज्य रहता है, वह सभी यागों के लिए ग्रहण किया जाता है, इस कारण [अशेषता] ध्रुवा में उपांशुयाज के आज्य का बचा रहना सम्भव नहीं। ध्रुवा में उपांशुयाज-आज्य के शेष का अभाव रहता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण [३।३।५।५] में बताया है—'सर्वस्मै वा एतद् यज्ञाय गृह्यते यद् ध्रुवायामाज्यम्' ध्रुवा में जो आज्य गृहीत किया जाता है, वह सभी यागों के लिए होता है। इस कारण ध्रुवा में जो आज्य बचा है, वह उपांशयाज का

शेष है, यह कहना निराधार है। अतः यह कथन अयुक्त है कि उपांशुयाज के हविद्रव्य आज्य से स्विष्टकृत् अवदान आदि होता है ॥५॥

बीच में शिष्य ने जिज्ञासा की–ध्रुवा में यदि सब यागों के लिए गृहीत आज्य है, तो उसमें उपांशुयाज के लिए गृहीत आज्य का शेष अंश भी तो है। उससे स्विष्टकृत् व इडा का अवदान उपपन्न होगा। सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

साधारण्यान्न ध्रुवायां स्यात् ॥६॥

[ध्रुवायाम्] ध्रुवा में जो आज्य है, वह उपांशुयाज के लिए गृहीत आज्य का शेष [न स्यात्] नहीं है, [साधारण्यात्] ध्रुवा में गृहीत आज्य के सब यागों के लिए साधारण = समान होने से।

आज्य-हविद्रव्यवाले यागों के लिए आज्यस्थाली से ध्रुवा में आज्य गृहीत किया जाता है। यथावसर अन्य यागों के समान उपांशुयाज भी उसी आज्य में से आज्य लेकर किया जाता है। अन्त में जो आज्य शेष रहता है, उसे उपांशुयाज का शेष आज्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ध्रुवा में जो आज्य गृहीत किया गया, वह सब आज्य-सम्पाद्य यागों के लिए समान है। जितना आज्य जिस याग के सम्पादन के लिए उपयोग में आया, उसके लिए वह पूरा हो गया। बचे आज्य को किसी एक याग का शेष कहकर प्रतिपत्ति-कर्म के लिए उसका उपयोग बताना सर्वथा अशास्त्रीय है। उपांशुयाज में अथवा अन्य किसी याग में उपयुक्त होनेवाले आज्य की मात्रा को अलग छाँटा नहीं जा सकता। इसलिए आज्य-हवियागों के अनन्तर ध्रुवा में बचे आज्य को उपांशुयाज याग का अथवा अन्य किसी एक याग का शेष नहीं कहा जा सकता। जैसे अतिथियों के लिए एक पात्र में पकाया अन्न एक अतिथि के भोजन कर लेने पर शेष अन्य कार्य, भृत्य आदि के उपयोग में लाने के लिए नहीं होता, प्रत्युत अन्य अतिथियों के उपयोग में लाने के लिए ही होता है। जब सब भोजन कर लेते हैं, तब उसका प्रयोजन पूरा हो जाने पर शेष खाद्य का भृत्य-पशु-पक्षी आदि के लिए उचित उपयोग कर लिया जाता है। वह अन्न आतिथेय नहीं रहता। उसका उचित उपयोग ही उसका संस्कार है।

इसी प्रकार ध्रुवा में गृहीत आज्य का—आज्य-सम्पाद्य सब यागों के सम्पन्न = पूर्ण हो जाने पर—प्रयोजन पूरा हो जाता है। शेष आज्य यज्ञिय नहीं रहता। उसका उचित उपयोग ही उसका संस्कार है। यज्ञ-प्रसंग में ऐसे आज्य के अनेक उपयोग हैं। आग्नेय तथा अग्निषोमीय पुरोडाश के उपस्तरण व अभिघारण में उपयोग हो सकता है। इसी का नाम 'प्रतिपत्ति कर्म' है—निर्धारित कार्य में उपयुक्त द्रव्य का जो शेष रहता है, उसका अन्यत्र उचित उपयोग कर लेना। जुहू आदि के धारण के लिए भूमि पर बिछाई गई कुशा को कर्म की समाप्ति पर अग्नि

में छोड़ दिया जाता है। प्रधान याग में उपयुक्त पुरोडाश के शेष अंश को स्विष्ट-कृत् आहुति के रूप में अग्नि में छोड़ दिया जाता है। सोमयाग में उपयुक्त ग्रह आदि पात्रों को जल में प्रवाहित कर दिया जाता है। निर्धारित कर्म में उपयुक्त हविद्रव्य का प्रयोजन पूरा हो जाने पर शेष वस्तु को कहीं रक्खा या फेंका जा सकता है। उसी के उचित उपयोग का नाम 'प्रतिपत्ति कर्म' है। किस शेष का कहाँ उपयोग किया जाना चाहिए, शास्त्र इसकी भी व्यवस्था करता है, जो गत पंक्तियों से प्रकट है ॥६॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है–ध्रुवा में शेष आज्य से अवदान न हो, साधारण होने से; पर जुहू में जो शेष आज्य है, उससे अवदान क्यों न होगा ? सूत्रकार ने समाधान किया—

अवत्तत्वाच्च जुह्वां तस्य च होमसंयोगात् ॥७॥

[जुह्वाम्] जुहू में [च] भी [अवत्तत्वात्] आज्य के अवत्त=परिमित गृहीत होने से [च] और [तस्य] उस परिमित आज्य का [होमसंयोगात्] होम के साथ सम्बन्ध होने से जुहू में शेष आज्य नहीं होता।

जुहू में आज्य लेने की व्यवस्था है—'चतुर्जुह्वां गृह्णाति' वचन के अनुसार चार स्रुवा आज्य जुहू में ग्रहण किया जाता है। जुहू में गृहीत इसी परिमित आज्य का नाम 'चतुरवदान' है। इस पूरे आज्य का होम के साथ सम्बन्ध है—'चतुरवत्तं जुहोति'[1] अथवा 'चतुरवत्तं स वषट्कारेषु' [कात्या० श्रौ० ३।३।११] आदि वचन इसमें प्रमाण हैं। फलतः जितना आज्य जुहू में लिया जाता है, वह सब होम कर दिया जाता है; शेष रहता ही नहीं। तब जुहू में बचे आज्य का—शेष कार्य में उपयोग करने का प्रश्न ही नहीं उठता ॥७॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है—चमस में होम के लिए सोम भरा जाता है, सोम की आहुति देने पर बचे सोम का जैसे शेष कार्य (ऋत्विज् आदि द्वारा सोम-पान) में उपयोग होता है, ऐसे ही जुहू में बचे आज्य से शेष कार्य क्यों न हो ? शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

चमसवदिति चेत् ॥८॥

[चमसवत्] जैसे होम के लिए चमस में गृहीत सोम से आहुति के अनन्तर बचे सोम का शेष कार्य में उपयोग होता है, वैसे ही जुहू में बचे उपांशुयाज के आज्य से शेष कार्य होना चाहिए, [इति चेत्] ऐसा यदि कहो, तो—(वह युक्त नहीं, यह अगले सूत्र के साथ सम्बद्ध है) ॥८॥

---

१. कुतूहलवृत्ति [३।५।८] में उद्धृत, यु० मी०।

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

न चोदकाविरोधात् हविः प्रकल्पनत्वाच्च ॥९॥

[न] चमसों में जुहू के समान हविद्रव्य की स्थिति नहीं है, अर्थात् जुहू के चमस का उदाहरण देना युक्त नहीं है, [चोदकाविरोधात्] चमस प्रसंग में विधि-वचन का विरोध न होने से, [च] और [हविः प्रकल्पनत्वात्] हवि की प्रकल्पना = सम्भावना होने से।

ग्रह नामक चमसों में सोम भरे जाने के प्रसंग में कोई ऐसा विधिवचन नहीं है, जिससे यह ज्ञात हो कि यह सब सोम होम के लिए है। वहाँ वाक्य है—'सोमस्याग्ने वीहि इत्यनुवषट् करोति' [ऐ० ब्रा० ३।५], 'सोमस्याग्ने वीहि' मन्त्र से अनुवषट् करता है। अन्य वाक्य है—'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' इन्द्र और वायु देवता-वाले ग्रहपात्र में सोमरस को ग्रहण करता है, अर्थात् भरता है। सोम के ग्रहण-विषयक ये विधिवचन हैं। इन प्रसंगों में यह कहीं नहीं कहा गया कि होम के साथ इस सोम का सम्बन्ध है। यह सब कार्य सोम के हविद्रव्य होने की सम्भावना को अवश्य प्रकट करता है, परन्तु उपांशुयाज याग के आज्य के विषय में 'चतुरवत्तं जुहोति' यह स्पष्ट उल्लेख है—चार स्रुवा परिमित—जुहू में गृहीत—सम्पूर्ण आज्य होम के लिए है, यह 'जुहोति' क्रियापद से स्पष्ट होता है। यदि यहाँ आज्य बचाया जाता है, तो इस वाक्य से विरोध होगा। चमस में यदि सोम बचाया जाता है, तो किसी विधिवाक्य के साथ उसका विरोध नहीं है, प्रत्युत आनुकूल्य है। 'अनुवषट् करोति' वाक्य—चमसों द्वारा वषट्कार से होम करने के अनन्तर अनुवषट्कार से होम का विधान यह प्रकट करता है कि वषट्कार होम में चमस-स्थित सम्पूर्ण सोम का होम नहीं होता; सोम बचाकर रक्खा जाता है।

कुतूहलवृत्ति [३।५।८ (यु०मी०)] में एक वाक्य उद्धृत है—'हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि भक्षयन्ति' चमस से सोम की आहुति देनेवाले अध्वर्यु आदि ऋत्विज् होम करके वापस लौटकर सदःस्थान में सोम का भक्षण करते हैं। इससे होम के अनन्तर चमस में सोम का बचा रखना सिद्ध होता है। सोम से होम के विषय में उक्त वृत्तिकार ने अन्य वाक्य उद्धृत किया है—'असर्वहुतं जुहोति' चमस में भरे पूरे सोम को होम नहीं करता है; होम से बचाकर चमस में सोम रखता है। इससे सिद्ध है, होम के अनन्तर भी चमस में सोम शेष रहता है। उसका सोमरस-पान आदि शेष कार्य में उचित उपयोग सम्भव है। इसके विपरीत जुहू में होम के अनन्तर आज्य निःशेष हो जाता है। अतः जुहू-सम्बन्धी कार्य में चमस का दृष्टान्त सर्वथा असंगत है।

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य है कि 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति, चमसेषून्नयति' आदि वाक्यों में सोम के ग्रहणमात्र का विधान है; हवि के रूप में प्रयोग

किए जाने का कोई स्पष्ट निर्देश नहीं है। फिर भी सोमरस के आडम्बरपूर्ण सम्भार के सार्थक्य की भावना से हविरूप में उसका समर्थन माना जाता है ॥६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—ऐसी स्थिति में 'सर्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति'—'सब हवियों से समवेत अवदान करता है', वाक्य का समाधान होना चाहिए।

सूत्रकार ने समाधान किया—

उत्पन्नाधिकारात् सति सर्ववचनम् ॥१०॥

[सति] शेष के होने पर [उत्पन्नाधिकारात्] अधिकार उत्पन्न हो जाने से [सर्ववचनम्] उन्हीं के लिए 'सर्व'-पद का कथन है।

जिन कर्मों के पूरा हो जाने पर हविद्रव्य शेष रह जाता है, वहाँ शेष कार्य में प्रवृत्ति के लिए अधिकार प्राप्त हो जाता है, उन्हीं स्थलों के लिए 'सर्व' पद का प्रयोग किया गया है। जिन कर्मों में अशेष हविद्रव्य उपयोग में आ जाता है, वे कर्म इस 'सर्व' की सीमा में नहीं आते। इसलिए 'सर्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति' के साथ इस व्यवस्था का कोई विरोध नहीं है ॥१०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—यद्यपि उक्त कथन ठीक है, पर प्रायणीय इष्टि के अकेले हविद्रव्य चरु के लिए 'समवद्यति' पद-प्रयोग अव्यवहार्य है। उसे व्यवहार्य बनाने के लिए उपांशुयाज याग के हविद्रव्य आज्य का समवाय क्यों न माना जाय?

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

जातिविशेषात् परम् ॥११॥

[परम्] अन्य अथवा अगला 'समवत्त' पद [जातिविशेषात्] ओदन जाति और आज्य जाति के भेद से दोनों के समवाय की अपेक्षा करके प्रयुक्त हुआ है।

प्रायणीय इष्टि का हविद्रव्य चरु-ओदन है। जिस ओदन का—आज्य के उपस्तरण और अभिघारण से विशद पाक होता है, वह खिला हुआ ओदन हविद्रव्य चरु है। इसके पाक में ओदन जाति से भिन्नजातीय आज्य उपस्तरण और अभिघारण के रूप में संयुक्त रहता है। इसी आज्य-समवाय की अपेक्षा से अकेले चरु-ओदन के लिए 'समवद्यति' प्रयोग व्यवहार्य है। इसमें असामञ्जस्य की आशंका निराधार है। उपांशुयाज याग का आज्य चरु-सम्बन्धी शेष कार्य के लिए सर्वथा अनपेक्षित है ॥११॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—अन्तिम आक्षेप में जो कहा गया कि स्विष्टकृद्-विषयक अर्थवाद से जाना जाता है कि उपांशुयाज आज्य से स्विष्टकृद्-अवदानरूप शेष कार्य किया जाना चाहिए, उसका समाधान अपेक्षित है।

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अन्त्यमरेकार्थे ॥१२॥

[अन्त्यम्] 'स्विष्टकृतेऽवदाय' अर्थवाद के आधार पर स्विष्टकृत् के लिए आज्य से अवदान का जो अन्तिम आक्षेप कहा है, उसका अभिप्राय [अरेकार्थे] ध्रुवा पात्र के आज्य से रिक्त न होने में समझना चाहिए।

ध्रुवा में जो आज्य रहता है, वह उपांशुयाज का आज्य नहीं है। गत सूत्रों की व्याख्या में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि उपांशुयाज का आज्य शेष नहीं रहता; वह सम्पूर्ण होम कर दिया जाता है। ध्रुवा में जो आज्य है, वह स्विष्टकृत् से पूर्व होनेवाले कर्म तथा स्विष्टकृत् के लिए गृहीत पुरोडाश हवि के उपस्तरण और अभिघारण-पर्यन्त कार्यों के लिए है। इसलिए प्रति अवदान के अनन्तर ध्रुवा का अभिघारण किया जाता है, जिससे आगे होनेवाले कार्य सम्पन्न होते रहें। अन्तिम आहुति स्विष्टकृत् अग्नि के लिए है, वह पुरोडाश की दी जाती है। उसके नीचे-ऊपर ध्रुवास्थित आज्य से सेचन किया जाता है, जिससे जुहू में पुरोडाश का कोई अंश लगा न रह जाय। यह ध्रुवास्थित आज्य का अन्तिम प्रयोजन है। अब तक ध्रुवा में आज्य विद्यमान रहता है; ध्रुवापात्र आज्य से रिक्त नहीं रहता। स्विष्ट-कृत् के अनन्तर अन्य कोई आहुति देय न होने से ध्रुवा में आज्य के अभिघारण का कोई प्रयोजन नहीं, अतः अभिघारण नहीं होता। 'न हि ततः परामाहुतिं यक्ष्यन् भवति' अर्थवाद-वाक्य का इतना ही तात्पर्य है—उठाये गये सब आक्षेपों का समाधान हो जाने पर यह सिद्ध हो जाता है कि उपांशुयाज के आज्य से स्विष्टकृत् एवं इडा का अवदान नहीं किया जाता ॥१२॥ (इति ध्रुवाज्यादिभिः स्विष्टकृदा-दिशेषाऽननुष्ठानाधिकरणम्—१)।

(साकंस्थायीये शेषकर्माननुष्ठानाधिकरणम्—२)

तैत्तिरीय संहिता [२।५।४।३] के दर्श-पूर्णमास प्रसंग में पाठ है—'साकम्प्रस्थायीयेन यजेत पशुकामः'—पशु की कामनावाला साकम्प्रस्थायीय याग से यजन करे। यह दर्श-पूर्णमास का विकृतियाग है। इसमें सन्देह है—स्विष्टकृत् और इडा का अवदान यहाँ होना चाहिए? अथवा नहीं? प्रतीत होता है, अवदान होना चाहिए; क्योंकि साकंप्रस्थायीय याग दर्श-पूर्णमास का विकार है। दर्श-पूर्णमास में स्विष्टकृत् और इडा का अवदान होता है। इसलिए 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' नियम के अनुसार दर्श-पूर्णमास प्रकृतियाग के समान उसके विकृतियाग साकम्प्रस्थायीय में भी अवदान होना चाहिए

इस प्रतीति पर आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत किया—

साकम्प्रस्थायीये स्विष्टकृदिडञ्च तद्वत् ॥१३॥

[साकम्प्रस्थायीये] साकम्प्रस्थायीय नामक याग में [स्विष्टकृदिडम्] स्विष्ट-

कृत् और इडा का अवदान [च] भी [तद्वत्] ध्रुवाज्य के समान समझना चाहिए। तात्पर्य है—जैसे ध्रुवाज्य से स्विष्टकृत् और इडा का अवदान नहीं होता, वैसे ही साकम्प्रस्थायीय हविद्रव्य से स्विष्टकृत् और इडा का अवदान नहीं होता।

विधि के अनुसार साकम्प्रस्थायीय याग का हविद्रव्य शेष नहीं रहता; तब अवदान का प्रश्न ही नहीं उठता। हविद्रव्य शेष रहे तो अवदान का अवसर आवे। इस विषय में विधान है, आज्यभागाभ्यां प्रचर्य्य आग्नेयेन च पुरोडाशेनाग्नीधे स्रुचौ प्रदाय सह कुम्भीभिरभिक्रामन्नाह'—आज्यभाग और आग्नेय पुरोडाश से यजन करके अग्नीत्संज्ञक ऋत्विज् को दूध और दही की दोनों स्रुक् देकर कुम्भियों (दूध और दही की घड़ियों = मटकियों) के साथ दक्षिण से अभिक्रमण करते हुए (दाहिनी ओर से निकलते हुए) कहता है, अर्थात् इन्द्र के लिए यजन करो, ऐसा आदेश देता है। इस अनुष्ठान में—कुम्भियों में विद्यमान—सम्पूर्ण हविद्रव्य = दूध और दही होम कर दिया जाता है। शेष कुछ नहीं रहता। इसलिए प्रस्तुत याग में स्विष्टकृत् आहुति एवं इडाभक्षण आदि शेषकार्य का कोई अवकाश नहीं। कतिपय आचार्यों ने स्पष्ट लिखा है, साकम्प्रस्थायीय याग में स्विष्टकृत् और इडा-भक्षण नहीं होते—'स्विष्टकृद्भक्षाश्च न विद्यन्ते' [आप०सूत्र, ३।१७।२]॥१३॥ (इति साकम्प्रस्थायीये शेषकर्माननुष्ठानाधिकरणम्—२)।

(सौत्रामिण्यां शेषकर्माननुष्ठानाधिकरणम्—३)

दर्श-पूर्णमास और सोमयाग के विकृतियागों में एक सौत्रामणी याग है। इस याग में अश्वी, सरस्वती और इन्द्र देवता के उद्देश्य से 'ग्रह' नामक पात्रों में दूध और सोमरस अलग-अलग भरकर उसकी आहुतियाँ दी जाती हैं। यहाँ सन्देह है, ग्रहपात्रों में बचे दूध व सोमरस से स्विष्टकृत् और इडा का अवदान करना चाहिए? अथवा नहीं? प्रतीत होता है, करना चाहिए। क्योंकि शास्त्र की एक साधारण व्यवस्था है—'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'—जो कार्य प्रकृतियाग में होते हैं, वे विकृतियाग में भी किए जाने चाहिएँ। दर्श-पूर्णमास प्रकृतियाग में शेष कार्य स्विष्टकृत् और इडा का अवदान किया जाता है; तब उसके विकृतियाग सौत्रामणी में भी स्विष्टकृत् और इडा का अवदान प्राप्त होता है।

आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत किया—

सौत्रामण्याञ्च ग्रहेषु ॥१४॥

[सौत्रामण्याम्] सौत्रामणी याग में जो [ग्रहेषु] ग्रह हैं, उनमें [च] भी स्विष्टकृत् और इडा का अवदान नहीं करना चाहिए।

सूत्र में पठित 'च' पद से पूर्व-प्रकृत—अवदान नहीं करना चाहिए—का अति-देश होता है। ग्रहों में स्विष्टकृत् आदि अवदान न किये जाने का कारण यह है

कि ग्रह-संज्ञक पात्रों में जो हविद्रव्य गृहीत होता है, भरा जाता है, वह सम्पूर्ण (=सब-का-सब) होम के लिए होता है। ='यत् पयोग्रहाश्च सोम (=सुरा) ग्रहाश्च गृह्यन्ते' इन ग्रहपात्रों में विद्यमान जो हविद्रव्य है, वह देवता के लिए ग्रहण हुआ, देवता के लिए कहा हुआ, देवता के लिए सुनाया हुआ है। तात्पर्य है—हविद्रव्य से भरे ग्रहपात्रों को अलग-अलग ऋत्विज् उठाते हैं और मन्त्रपाठ-पूर्वक अग्नि में उसकी आहुति देते हैं। मन्त्रों में निर्देश है कि यह हविद्रव्य अमुक देवता का है। आश्विन ग्रह को अध्वर्यु, सारस्वत को ब्रह्मा, ऐन्द्र को प्रतिप्रस्थाता उठाता है। उस सम्पूर्ण हवि को देवता के लिए आहुत कर दिया जाता है। उसका कोई अंश बचा नहीं रहता। इन ग्रहों का होम के साथ सम्बन्ध भी सुना जाता है—'उत्तरेऽग्नौ पयोग्रहान् जुह्वति'—उत्तरवेदि की आहवनीय अग्नि में पयोग्रहों का होम करते हैं। 'दक्षिणेऽग्नौ सुरा(=सोम ?) ग्रहान् जुह्वति'—दक्षिणाग्नि में सुरा[1] (सोम) ग्रहों का होम करते हैं। फलतः ग्रहपात्रों में अवस्थित अशेष हविद्रव्य देवता के लिए आहुत हो जाता है। शेष कुछ भी बचता नहीं। तब स्विष्टकृत् आदि के लिए उसका अवदान असम्भव है। अतः ग्रहों में अवदान का कथन निराधार है ॥१४॥

उक्त अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने सहायक प्रमाण प्रस्तुत किया—

---

१. "सौत्रामणि याग में सुरा से होम का विधान तथा शेष रूप से ऋत्विजों द्वारा सुरा-भक्षण का निर्देश मिलता है। यहाँ सुरा शब्द लोकप्रसिद्ध मद्य के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। सौत्रामणि याग में सुरा बनाने की जो विधि श्रौत-सूत्रों में लिखी है, उसके अनुसार व्रीहि और श्यामाक का अधिक जल में चावल पकाकर उसके मांड में शष्पादि के चूर्ण के साथ पके चावलों को डालकर ३ दिन गड्ढे में गाड़कर रखा जाता है। (द्रष्टव्य—कात्या० श्रौत, १६।२।२०।२१)। इससे इसमें खटास तो उत्पन्न हो जाता है, परन्तु मादकता उत्पन्न नहीं होती है। आसव वा अरिष्ट बनाने के लिए उनके द्रव्य को ४० दिन भूमि में गाड़ते हैं, तब भी उनमें ५ से १० प्रतिशत ही मादकता आती है। मद्य बनाने के लिए उसका सार भबके (=वाष्प-यन्त्र) से खींचा जाता है। प्रकृत सुरा में यह कार्य भी नहीं होता है। अतः सौत्रामणिस्थ सुरा को मद्य समझना भूल है। उस सुरा की तुलना गाजर या बड़े की बनाई 'कांजी' द्रव्य से की जा सकती है, जिसमें खटाई-मात्र होती है।" (यु० मी०)

प्रतीत होता है, यहाँ सोम के स्थान पर सुरा का प्रवेश किया गया। ग्रहों में हविद्रव्य दूध हो, सोम हो या सुरा हो, ऋत्विजों द्वारा उसके भक्षण का कथन प्रकरण-विरुद्ध है। सुरा-सम्बन्धी लेख सन्दिग्ध हैं।

तद्वच्च शेषवचनम् ॥१५॥

[शेषवचनम्] 'उच्छिनष्टि न सर्वं जुहोति'—कुछ बचाता है, सब होम नहीं करता—यह निषेधपूर्वक बचाये जाने का कथन [तद्वत्] साकंस्थायीय के समान सौत्रामणी याग में स्विष्टकृत् और इडा-अवदान के अभाव को बोधित करता है।

सौत्रामणी याग के उपसंहार-प्रसंग में वचन है—'उच्छिनष्टि न सर्वं जुहोति' 'कुछ बचाता है, सब नहीं होमता', निषेधपूर्वक हविद्रव्य बचाने का कथन यह सिद्ध करता है कि प्रकरण के अनुसार हवि नहीं बचाया जाना चाहिए, सब-का-सब होम कर देना चाहिए। यह प्राप्त का प्रतिषेध है। इससे प्रकरण स्विष्टकृत् आदि के लिए शेष अवदान के अभाव का बोध कराता है।

तब सौत्रामणी याग में ग्रहों में बचाये गये हवि का क्या उपयोग होना चाहिए? इस विषय में आचार्यों ने जो सुझाव दिये हैं, उनसे प्रतीत होता है, यह सूत्र अनन्तर-काल में प्रक्षिप्त किया गया है। एक सुझाव है—शेष सुराद्रव्य किसी ब्राह्मण को बुलाकर पिला देना चाहिए। दूसरा सुझाव है—किसी क्षत्रिय या वैश्य को भी पिलाया जा सकता है। तीसरा सुझाव है—ऋत्विजों से अन्य किसी को भी पिलाये जाने पर उसमें से कुछ सुराद्रव्य बचाया जाता है। उस बचे सुरा-द्रव्य को—किसी छीदे बुने छन्ने—अथवा सब ओर सैकड़ों छिद्रों से युक्त पात्र—में शतमान (विशेष परिमाण) सुवर्ण रखकर—ऊपर डालकर छाना जाता है। वह छनती हुई सुरा-धारा दक्षिणाग्नि में गिरती है।[1]

इससे अतिरिक्त एक मुख्य मान्यता—ऋत्विजों द्वारा सुरा-भक्षण है, जिसका निर्देश गत टिप्पणी में विद्यमान है। पर इस मान्यता में उन याजक-ऋत्विजों के हाथ सुरा-भक्षण के सिवाय अन्य कुछ न लगता था, तब दूसरों को पिलाने का सुझाव व अधिकार देकर शतमान सुवर्ण और कमा लिया। अन्यथा सुरा को छन्ने या शतछिद्र पात्र में छानते समय जो शतमान सुवर्ण रक्खा जाता है, उसका कौन-सा रासायनिक प्रभाव सुरा में उत्पन्न होकर दक्षिणाग्नि को प्रभावित करता होगा? इसे धार्मिक ठगी कहा जाय? या अन्य कुछ? यह सब किसी काल के सुरापायी याज्ञिकों द्वारा किया गया घोटाला है।

यह भी विचारणीय है, ऋत्विजों द्वारा सुरा-भक्षण को मान्यता[2] देकर यह कैसे सम्भव है कि स्विष्टकृत् और इडा-अवदानरूप शेष कार्य के लिए सौत्रामणी-

---

१. आप० श्रौत० १९।३।६७॥

२. सुरा-भक्षण-सम्बन्धी विभिन्न मान्यताओं के लिए देखें—कात्या० श्रौत० १९।३।१७-१८॥ आप० श्रौत० १९।३।३॥

याग-सम्बन्धी ग्रहों के शेष द्रव्य का उपयोग नहीं होता ? क्या ऋत्विजों द्वारा सुरा-भक्षण शेष कार्य नहीं है ? इसलिए सुरा-भक्षण का कथन उत्प्रकरण है, एवं अमान्य है ॥१५॥ (इति सौत्रामण्यां शेषकर्माननुष्ठानाधिकरणम्—३)।

(सर्वपृष्ठेष्टौ स्विष्टकृदिडादीनां सकृदनुष्ठानाऽधिकरणम्—४)

सर्वपृष्ठा नामक एक इष्टि है। उसके विषय में तैत्तिरीय संहिता [२।३।७] का पाठ है—'य इन्द्रियकामो वीर्यकामः स्यात् तमेतया सर्वपृष्ठया याजयेत' जो व्यक्ति इन्द्रिय-शक्ति एवं दैहिक शक्ति की कामनावाला हो, उसको इस सर्वपृष्ठा इष्टि से यजन कराये। इस इष्टि के छह याग हैं। संहिता के इसी प्रसंग में आगे पाठ है—'इन्द्राय राथन्तराय, इन्द्राय बार्हताय, इन्द्राय वैरूपाय, इन्द्राय वैराजाय, इन्द्राय शाक्वराय, इन्द्राय रैवताय (निर्वपति)।' राथन्तर आदि छह विशेषण इन्द्र के हैं। शास्त्र की व्यवस्था है, जब विशेषणविशिष्ट देवता का निर्देश होता है, तब वह विभिन्न देवता माना जाता है। रथन्तर आदि सामों के नाम हैं। उनसे सम्बद्ध देवता इन्द्र राथन्तर आदि रूप में निर्दिष्ट हुआ है। उन साम-मन्त्रों को गाते हुए पुरोडाश की आहुतियाँ दी जाती हैं। 'इन्द्राय रथन्तराय त्वा जुष्टं निर्वपामि' आदि मन्त्रों से प्रतियाग के लिए चार-चार मुट्ठी हवि का छाज (सूप) में निर्वाप कर, सब हवि को एकसाथ पीसकर, सीधे बारह कपालों में पुरोडाश पकाया जाता है। रथन्तर आदि पृष्ठसंज्ञक छह सामों को गाते हुए छह कर्मों में छह देवताओं के लिए उस पुरोडाश की आहुतियाँ दी जाती हैं। आहुतियाँ देने की विशेष पद्धति है, जिसमें पुरोडाश के निर्दिष्ट भाग से अंगुष्ठ-समान दो टुकड़े काटकर उपस्तरण और अभिघारणपूर्वक एक आहुति दी जाती है। यह एक कर्म है।

शिष्य जिज्ञासा करता है—यहाँ सन्देह है—क्या प्रत्येक कर्म के अनन्तर बचे हवि से स्विष्टकृत् व इडा का अवदान करना चाहिए ? अथवा पुरोडाश-हवि के सर्वत्र समान होने से अवदान एक बार ही किया जाय ? देवता व कर्म के भिन्न होने से प्रतिकर्म अवदान होना युक्त प्रतीत होता है।

शिष्य के इस सुझाव को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

द्रव्यैकत्वे कर्मभेदात् प्रतिकर्म क्रियेरन् ॥१६॥

[द्रव्यैकत्वे] पुरोडाश-हविद्रव्य के सब कर्मों में समान होने पर भी [कर्म-भेदात्] कर्मों का भेद होने से अर्थात् छह भिन्न याग होने से [प्रतिकर्म] प्रति-याग स्विष्टकृत् और इडा का अवदान [क्रियेरन्] किये जाने चाहिएँ।

भले ही हविद्रव्य सब यागों में समान हो, पर देवता और याग के भिन्न होने से स्विष्टकृत् आदि के लिए अवदान प्रत्येक कर्म में अवशिष्ट हवि का होना

चाहिए ॥१६॥

आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

अविभागाच्च शेषस्य सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥१७॥

[शेषस्य] प्रत्येक याग से बचे पुरोडाश के [अविभागात्] विभाग का कथन न होने से, अर्थात् छहों यागों से बचे पुरोडाश हवि के सम्मिलित रक्खे रहने से [सर्वान् प्रति] सब यागों के प्रति पुरोडाश के [अविशिष्टत्वात्] अविशिष्ट= समान—साधारण होने से [च] भी प्रतिकर्म अवदान नहीं होता।

सूत्र में 'च' पद के स्थान पर कहीं 'तु' पाठ है। वह पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है, अर्थात् प्रतिकर्म स्विष्टकृत् का अवदान नहीं होता; क्योकि प्रत्येक कर्म के लिए पुरोडाश के विभाग नहीं किये गये हैं। छहों यागों के अनुष्ठित हो जाने पर बचा पुरोडाश सम्मिलित रक्खा हुआ है। प्रत्येक कर्म के लिए पुरोडाश-पिण्ड से परिमित हविद्रव्य लेकर आहुतियाँ दी जाती हैं। छहों यागों के सम्पन्न हो जाने पर शेष पुरोडाश का इस प्रकार विभाग किये जाने का कोई कथन नहीं है कि पुरोडाश का अमुक अंश अमुक देवता या याग का भाग है। इसलिए सर्वपृष्ठा इष्टि में शेष पुरोडाश से एक बार ही स्विष्टकृत् और इडा का अवदान करना चाहिए ॥१७॥ (इति सर्वपृष्ठेष्टौ स्विष्टकृदादीनां सकृदनुष्ठानाऽधिकरणम्—४)।

(ऐन्द्रवायवग्रहे द्विःशेषभक्षणाऽधिकरणम्—५)

ज्योतिष्टोम याग के विषय में कहा है—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' स्वर्ग की कामनावाला ज्योतिष्टोम याग से यजन करे। उसमें इन्द्र और वायु देवतावाले ग्रहों में सन्देह है। ग्रहसंज्ञक पात्र हैं, जिनमें सोम भरकर इन्द्र, वायु देवता के लिए आहुति दी जाती है। यहाँ सन्देह यह है—क्या आहुति से बचे सोम का एक बार भक्षण किया जाए? अथवा दो बार? शेष भक्षण सोम के संस्कार के लिए होता है। तब एक बार भक्षण में वह सम्पन्न हो जाता है।

सूत्रकार ने निश्चय किया—

ऐन्द्रवायवे तु वचनात् प्रतिकर्म भक्षः स्यात् ॥१८॥

[ऐन्द्रवायवे] इन्द्र और वायु देवतासम्बन्धी ग्रह में [तु] तो [वचनात्] वचन से—सूत्र-ग्रन्थोक्त वाक्य से [प्रतिकर्म] प्रत्येक आहुति के पश्चात् [भक्षः] शेष सोम का भक्षण [स्यात्] होता है।

'वचन' पद की व्याख्या में भाष्यकार ने वाक्य उद्धृत किया है—द्विरैन्द्रवायवस्य भक्षयति, द्विर्ह्येतस्य वषट् करोति'—इन्द्र-वायु देवतासम्बन्धी बचे सोम का

दो बार भक्षण करता है; क्योंकि दो बार ही इसका वषट्कार=होम होता है। यद्यपि यह वचन उपलब्ध वैदिक साहित्य में दिखाई नहीं दिया, पर आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [१८।२५।२ तथा १२।२०।२४] में इसके संकेत उपलब्ध हैं— 'द्विरैन्द्रवायवं भक्षयतः' तथा 'वषट्कृते जुहोति, पुनर्वषट्कृते जुहुतः' ऐन्द्र-वायव शेष सोम का दो बार भक्षण करते हैं। अध्वर्यु वषट्कार=होम करता है, होता और अध्वर्यु वषट्कार होम करते हैं। इन वचनों से स्पष्ट है, प्रतिहोम बचे सोम का भक्षण किया जाता है—दो बार होम है, दो बार भक्षण।

सूत्र में 'तु' पद का प्रयोग गत अधिकरण से यहाँ कुछ विशेषता दिखाने के लिए हुआ है। वहाँ सर्वपृष्ठा इष्टि में पुरोडाश का एक बार अवदान है, पर यहाँ सोम का दो बार भक्षण। इसका प्रयोग सन्देह की निवृत्ति के लिए माने जाने में भी कोई आपत्ति नहीं है।

भक्षण हुतशेष सोम का संस्कार बताया जाता है। यहाँ संस्कार का वास्तविक तात्पर्य उसके सदुपयोग का है। यदि एक होम से बचे सोम का भक्षण उसका संस्कार है, तो यह उसी बचे सोम का संस्कार है, अन्य सोम का नहीं। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि एकत्र बचे सोम के संस्कार से सर्वत्र सोम संस्कृत हो जाता है। तब दूसरे होम के बचे सोम का सदुपयोग भी आवश्यक है और वह उसका भक्षण ही है। उसे फेंक देना सदुपयोग नहीं कहा जा सकता। अतः शेष सोम का प्रतिकर्म भक्षण उचित है, अभीष्ट है ॥१८॥ (इत्यैन्द्रवायवग्रहे द्विःशेष-भक्षणाऽधिकरणम्—५)।

(सोमे शेषभक्षणाऽधिकरणम्—६)

ज्योतिष्टोम के प्रसंग से ग्रहों और चमसों में भरे गये अनेक सोम कहे हैं। उनमें सन्देह है—क्या उन सोमों के शेष का भक्षण करना चाहिए? अथवा नहीं करना चाहिए? प्रतीत यही होता है कि भक्षण नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्रसंग में उनके भक्षण का कोई वचन नहीं है।

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत किया—

सोमेऽवचनाद् भक्षो न विद्यते ॥१९॥

[सोमे] ज्योतिष्टोम-यागीय सोम में [भक्षः] शेष सोम का भक्षण [न विद्यते] नहीं होता, [अवचनात्] प्रसंग में भक्षण के विधायक किसी वाक्य के न होने से।

ज्योतिष्टोम-यागीय शेष सोम के भक्षण का निश्चायक कोई वाक्य प्रसंग में उपलब्ध नहीं है, इसलिए प्रसंग में सोम का भक्षण वर्ज्य है। जहाँ भक्षण का

विधायक वाक्य उपलब्ध हो, वहाँ भक्षण करना चाहिए। यहाँ ऐसा नहीं है ॥१९॥

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

स्याद्वाऽन्यार्थदर्शनात् ॥२०॥

[वा] 'वा' पद पूर्वोक्त की निवृत्ति के लिए है। तात्पर्य है—विधान न होने से शेष-सोमभक्षण नहीं करना चाहिए, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि [अन्यार्थ-दर्शनात्] सोमभक्षण-सम्बन्धी अन्य अर्थों का उल्लेख देखे जाने से; हम जानते हैं कि [स्यात्] ज्योतिष्टोम याग में शेष-सोमभक्षण है।

सोमभक्षण-सम्बन्धी अन्य अर्थ को कहनेवाला वचन ज्योतिष्टोम याग में शेष-सोमभक्षण को प्रकट करता है। वचन है—'सर्वतः परिहारमाश्विनं भक्षयति' सब ओर सिर को घुमाते हुए अश्वी देवता के ग्रहसंज्ञक पात्र में विद्यमान सोम का भक्षण करता है। अन्य वचन है—'भक्षिताप्यायिताँश्चमसान् दक्षिणस्यानसोऽव-लम्बे सादयन्ति'[1]—भक्षण किये और पुनः सोम से भरे चमसों को दक्षिण हविर्धान शकट के अवलम्ब के समीप रखते हैं। ज्योतिष्टोम याग में शेष-सोमभक्षण स्वीकार न किये जाने पर इस प्रकार के सोमभक्षण-सम्बन्धी उल्लेख सम्भव नहीं हैं। सिर घुमाते हुए सोमभक्षण का निर्देश करनेवाला वचन 'सिर घुमाना'-रूप अन्य अर्थ का बोध कराने के लिए है। इसी प्रकार दूसरा वचन 'भक्षण किये चमसों को पुनः भरकर विशिष्ट स्थान में रखना'-रूप अन्य अर्थ का बोध कराने के लिए है। इससे ज्योतिष्टोम में शेष सोम का भक्षण सिद्ध होता है ॥२०॥

---

१. यद्यपि ये वचन इसी आनुपूर्वी के साथ उपलब्ध वैदिक साहित्य में दृष्टिगत नहीं हैं, पर इनसे सन्तुलित वचन उपलब्ध हैं। द्रष्टव्य—तै० सं० ६।४।९॥ आप० श्रौ० १२।२५।१॥ तै० सं० के उक्त स्थल के भाष्य में भट्टभास्कर लिखता है—'आश्विनं तु सर्वतः परिहारं शिरः परितो भ्रमयित्वा भक्ष-यति।'

दूसरे वचन के लिए द्रष्टव्य—आप० श्रौ० १२।२५।७॥ कात्या० श्रौ० ९।११।२४॥

तै० सं० [६।४।९] में ऐन्द्रवायव ग्रह को तथा मैत्रावरुण ग्रह को मुँह के सामने रखकर, और आश्विन ग्रह को सब ओर सिर घुमाकर भक्षण-विशेषों का निर्देश मिलता है। आप० श्रौ० [१२।२५।१] में ऐन्द्रवायव ग्रह को नासिका के समीप में, मैत्रावरुण को आँखों के समीप में, और आश्विन ग्रह को श्रोत्र के समीप में रखकर भक्षण का विधान मिलता है।

(यु०मी०)

आचार्य सूत्रकार उक्त वचनों के आधार पर सोमभक्षण का विधान बताता है—

वचनानि त्वपूर्वत्वात् तस्माद् यथोपदेशं स्युः ॥२१॥

[तु] 'तु' पद अन्यार्थदर्शन के साथ सोमभक्षण के विधान का द्योतक है। [वचनानि] 'सर्वतः परिहारमश्विनम्' आदि वचन सोमभक्षण के विधायक हैं; [अपूर्वत्वात्] अपूर्व होने के कारण, [तस्मात्] इसलिए [यथोपदेशम्] उपदेश के अनुसार ही ये [स्युः] विधि-वचन हैं।

'सर्वतः परिहारमाश्विनं भक्षयति' सब ओर सिर घुमाकर अश्वी देवता के ग्रहपात्र में शेष सोम का भक्षण करता है, यह भक्षण का विधायक वाक्य है। सिर घुमाना उसकी विशेषता है। यह भक्षण का अङ्ग है। वाक्य का मुख्य प्रयोजन सोमभक्षण का विधान करता है। आगे उसके फल का कथन है—'तस्मात् सर्वा दिशः शृणोति' इसलिए सब दिशाओं से सुनता है। यह सब विशिष्ट सोमभक्षण विधान को स्पष्ट करता है। यह अपूर्व विधि है। अन्य किसी वचन से इसका विधान हुआ हो, उसका यहाँ अनुवादमात्र है,–यह कथन सर्वथा अयुक्त है। अपूर्व अर्थ का विधान करने से वचन की अर्थवत्ता=फलवत्ता सिद्ध होती है। इसलिए सर्वत्र विशिष्ट सोमभक्षण में भक्षण मुख्य है, विशेषण अङ्गभूत। फलतः प्रस्तुत वचनों में सोमभक्षण का विधान उपपन्न होता है ॥२१॥ (इति सोमे शेषभक्षणाधिकरणम्—६)।

(चमसिनां शेषभक्षणाऽधिकरणम्—७)

शतपथ ब्राह्मण [४।४।१।२९] के ज्योतिष्टोम-प्रसंग में पाठ है—'प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातॄणां प्र यजमानस्य प्र यन्तु सदस्यानाम्' होता का चमस आवे, ब्रह्मा का चमस आवे, उद्गाता और उसके सहायक ऋत्विजों, प्रस्तोता तथा प्रतिहर्त्ता के चमस आवें, यजमान का चमस आवे, इन होता आदि सब सदस्यों के चमस आवें। तात्पर्य है—जहाँ बैठकर सोम पिया जाता है, उस सदःस्थान में यज्ञसम्बन्धी सब यजमान व ऋत्विजों के चमस आयें, उन्हें शेष सोम से भर दिया जाय।

यहाँ सन्देह है—क्या चमसोंवाले होता आदि के द्वारा यह सोमभक्षण का निर्देश है? अथवा नहीं है? प्रतीत होता है–सोमभक्षण का यह निर्देश नहीं है, क्योंकि गत सूत्र में विशिष्ट भक्षण का निश्चय किया गया है; अन्यत्र भक्षण नहीं होगा। यहाँ विशिष्ट भक्षण का निर्देश न होने से भक्षण नहीं है,—ऐसा जानना चाहिए।

आचार्य सूत्रकार ने सन्देह का समाधान किया—

चमसेषु समाख्यानात् संयोगस्य तन्निमित्तत्वात् ॥२२॥

[चमसेषु] चमसों में भरा सोम होता आदि का भक्षण है, [समाख्यानात्] 'होतुश्चमसः' होता का चमस—इस रूप में नाम लेकर कथन किये जाने के कारण, [संयोगस्य] चमसों के साथ ऋत्विजों के सम्बन्ध के [तन्निमित्तत्वात्] भक्षणनिमित्तक होने से। तात्पर्य है—होता आदि का चमस के साथ सम्बन्ध भक्षणरूप प्रयोजन के कारण है।

चमसों में भरा शेष सोम होता आदि के भक्षणनिमित्त ही है, क्योंकि वाक्य में—होता का चमस, ब्रह्मा का चमस, उद्गाता का चमस—इस प्रकार नाम-निर्देशपूर्वक कथन किया गया है। यदि होता आदि ऋत्विजों के द्वारा भक्षण के लिए यह न होता, तो नामनिर्देश अनावश्यक व निरर्थक था। होता आदि से सम्बद्ध चमस तभी कहा जाता है, जब होता आदि ने उस चमस में सोमभक्षण किया, या वह करेगा, अथवा अब करता है। यदि होता आदि चमस में सोम-भक्षण न करे, तो वह चमस होता आदि का नहीं कहा जाता।

चमस नियत परिमाण के रूप में काष्ठ के बने होते हैं। होता आदि के द्वारा चमसों में शेष सोम के भक्षण से उन्हें उच्छिष्ट या अशुद्ध नहीं माना जाता। उच्छिष्ट काष्ठपात्रों को शुद्ध करने के लिए मनु आदि स्मृतिकारों ने उन्हें थोड़ा-थोड़ा छील देना उपाय बताया है। यदि ऐसा किया जाय, तो यह पात्र अपने निर्धारित परिमाण का न रहने से यज्ञिय पात्र नहीं रहेगा, इसलिए उन पात्रों में सोमभक्षण करने पर भी उन्हें पवित्र माना जाता है।

अब्राह्मण (=क्षत्रिय या वैश्य) द्वारा ज्योतिष्टोम याग करने पर, उन्हें सोमभक्षण का निषेध किया गया है।[1] यदि वे ऐसा चाहें, तो सोमरस के स्थान पर उन्हें वट (बड़=बरगद) वृक्ष के कोंपल-पत्तों व फलों का रस दिया जाता है। क्षत्रिय आदि के लिए सोमभक्षण का यह निषेध—ज्योतिष्टोम में होता आदि द्वारा सोम-भक्षण की परम्परा को सिद्ध करता है। यदि मूलतः ज्योतिष्टोम में सोमभक्षण न होता, तो क्षत्रियादि के लिए उसका निषेध करना निरर्थक था।

---

१. क्षत्रिय आदि के लिए किया गया सोमभक्षण-निषेध यज्ञिय भावना के नितान्त विरुद्ध है। उसी कार्य को करनेवाला ब्राह्मण ऐसा करे, क्षत्रिय आदि न करे, यह वैदिक भावना नहीं है। ऐसी व्यवस्थाओं को जिन ब्राह्मण-व्यक्तियों ने बनाया, उनके मूल में घोर स्वार्थ रहा। उन्होंने समाज में पारस्परिक द्वेषपूर्ण भावनाओं का बीज बोया। इस प्रवृत्ति ने समाज और राष्ट्र को गहरी हानि पहुँचाई, जिसका प्रभाव अब भी चालू है, तथा राष्ट्र को छिन्न-भिन्न करने में सहयोग दे रहा है।

फलतः ज्योतिष्टोम में चमसियों (=होता आदि के) द्वारा सोमभक्षण सिद्ध होता है ॥२२॥ (इति चमसिनां सोमभक्षाऽधिकरणम्—७)।

(उद्गातॄणां सहस्रब्रह्मण्येन भक्षाऽधिकरणम्—८)

ज्योतिष्टोम याग के विषय में कहा गया है—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—स्वर्ग की कामनावाला व्यक्ति ज्योतिष्टोम से यजन करे। ज्योतिष्टोम प्रसंग से शतपथ ब्राह्मण [४।२।१।२६] में उल्लेख है—'प्रैत होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातृणाम्'—होता का चमस सदःस्थान को लाया जाये, ब्रह्मा का चमस सदःस्थान को लाया जाये, उद्गाताओं के चमस सदःस्थान को लाये जाएँ। सदःस्थान वह है, जहाँ होता आदि यज्ञशेष सोमरस का पान करते हैं। यहाँ समाख्या-बल से—होता आदि के चमसों में सोम का भक्षण होता है,—यह गत अधिकरण में निश्चय किया जा चुका है। पर 'प्रोद्गातृणाम्' के विषय में सन्देह है। सन्देह का कारण है—'उद्गातृणाम्' में बहुवचन का निर्देश। अन्य पद 'होतुः, ब्रह्मणः' एकवचनान्त हैं; एक ऋत्विक् एक चमस। 'उद्गातृणाम्' पद बहुवचनान्त होने से यह सन्देह है—क्या इस चमस में विद्यमान सोम का भक्षण अकेला उद्गाता करे? अथवा उद्गाता के सहयोगी सभी सामगान करनेवाले ऋत्विक् करें? तथा सुब्रह्मण्य को छोड़कर शेष सब सामगान करने-वाले ऋत्विक् सोमभक्षण करें? अथवा सुब्रह्मण्यसहित सब ऋत्विक् करें? प्रतीत होता है—अकेला उद्गाता सोम का भक्षण करे, जैसे होता आदि अकेले अपने चमस-गत सोम का भक्षण करते हैं।

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

उद्गातृचमसमेकः श्रुतिसंयोगात् ॥२३॥

[उद्गातृचमसम्] 'प्रोद्गातृणाम्' वचन में कहे गये उद्गातृचमस-स्थित सोम को [एकः] अकेला उद्गाता भक्षण करे, [श्रुतिसंयोगात्] 'प्रोद्गातृणाम्' श्रुति के साथ उद्गाता का साक्षात् सम्बन्ध होने से।

वाक्य में जैसे होता, ब्रह्मा आदि साक्षात् श्रुत हैं, और अपने सम्बद्ध चमस के सोम का भक्षण करते हैं, ऐसे ही उद्गाता साक्षात् पठित है। अकेले उद्गाता को सम्बद्ध चमस के सोम का भक्षण करना चाहिए। बहुवचनान्त प्रयोग से इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। बहुवचन होने पर भी बहुत्व अर्थ अविवक्षित है। अविवक्षा का कारण है, उद्गाता का एक होना। उद्गातृ प्रातिपदिक के आगे बहुवचन का प्रत्यय लगा है। वह बहुवचन विवक्षित होता हुआ उद्गाता के बहुत्व को कहेगा। पर उद्गाता एक ही है। उद्गाता के विषय में सुना गया भी बहुत्व उद्गाता की एकता को बाधित नहीं कर सकेगा। इस कारण बहुवचन

अविवक्षित है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने की बात है कि वाक्य में साक्षात् उद्गाता का कथन है। अन्य सहयोगियों का—बहुवचन के प्रयोग से अनुमान किया जाता है। प्रत्यक्ष अनुमान से बलवान् होता है। अतः उद्गाता के अनेक सहयोगियों की अभिव्यक्ति का प्रयोजक होते हुए भी बहुवचन उद्गाता के सोमभक्षण में उनके प्रवेश का प्रयोजक नहीं होता। इसलिए उद्गातृचमस के सोम का अकेला उद्गाता भक्षण करे, ऐसा ज्ञात होता है ॥२३॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

सर्वे वा सर्वसंयोगात् ॥२४॥

[वा] 'वा' पद 'अकेला भक्षण करे' इस पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—अकेला उद्गाता भक्षण करे, यह कथन युक्त नहीं। इसलिए [सर्वे] सब भक्षण करें, [सर्वसंयोगात्] सबके साथ चमस का सम्बन्ध होने से।

उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्त्ता, सुब्रह्मण, इन सभी सामगान से सम्बद्ध ऋत्विजों को उद्गातृचमस-स्थित सोम का भक्षण करना चाहिए। यदि अकेले उद्गाता का सोमभक्षण कहा जाता है, तो 'उद्गातृणाम्' पद में बहुवचन का प्रयोग प्रमादपूर्ण ही समझा जाएगा; क्योंकि यह बहुत्व न अन्य कथन का अनुवाद है, न अन्यत्र इसका विधान है। यह कहना भी युक्त न होगा कि सबका भक्षण मानने पर वाक्य में 'उद्गातृ' पद का पाठ प्रमादपूर्ण हो जायगा; क्योंकि अन्य सहयोगियों का सोमभक्षण उद्गाता के सोमभक्षण को व्यावृत्त नहीं करता। तब वह प्रमादपाठ क्यों होगा ? बहुवचन-प्रयोग के सामर्थ्य से सभी ऋत्विज् सोमभक्षण में प्रवेश पा रहे हैं। 'उद्गातृ' पद का पाठ उसी अवस्था में प्रमाद कहा जा सकता था, जब उद्गाता का सोमभक्षण से बहिष्कार होता। उद्गाता आदि सभी ऋत्विज् समान रूप से उद्गातृचमस-स्थित सोम के भक्षण में उपस्थित हैं। अतः सबका सोमभक्षण करना युक्त है ॥२४॥

प्रथम सन्देह प्रकट करने के अवसर पर दूसरा विकल्प बताया है—क्या सुब्रह्मण्य को छोड़कर शेष तीन—उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्त्ता—ऋत्विज् ही सोमभक्षण करें ? अथवा सुब्रह्मण्य के सहित सब भक्षण करें ? प्रतीत होता है, वाक्य में साक्षात् उद्गातृ पद के प्रयोग से स्तोत्रकारी तीन ऋत्विजों को ही सोमभक्षण करना चाहिए, सबको नहीं। इसी अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

स्तोत्रकारिणां वा तत्संयोगाद् बहुत्वश्रुतेः ॥२५॥

[वा] 'वा' पद पूर्वसूत्रोक्त 'चमस के साथ सबका सम्बन्ध होने से सब सोमभक्षण करें' पक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है। [स्तोत्रकारिणाम्]स्तोत्रगान करने-

वाले ऋत्विजों का [तत्संयोगात्] चमस के साथ सम्बन्ध होने से चमस सोम-भक्षण तीन ऋत्विजों का ही कर्त्तव्य है; [बहुत्वश्रुतेः] बहुवचन के श्रवण से भी यह अर्थ पुष्ट होता है।

मूल वाक्य में पद हैं—'प्रैतु उद्गातॄणां चमसः' यहाँ उद्गाता का चमस के साथ सीधा साक्षात् सम्बन्ध है। उद्गातृ पद गायति-क्रिया के निमित्त से साम-गान करनेवाले तीन ऋत्विजों—उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्त्ता का बोधक है। इन तीनों का ही सोमभक्षण कर्त्तव्य है। इसमें बहुवचन का प्रयोग भी उपपन्न हो जाता है। अन्य ऋत्विज् सुब्रह्मण्य सामगान नहीं करता। वह केवल 'सुब्रह्मण्योमिन्द्रागच्छ' आदि निगद का उच्चारणमात्र करता है। निगद गद्यरूप होने से यजूरूप माने जाते हैं; उनपर गान सम्भव नहीं। इसलिए सुब्रह्मण्य ऋत्विक् का न तो उद्गातृ पद से ग्रहण सम्भव है, और न बहुवचन उसके संग्रह में कोई सहयोग देता है, क्योंकि बहुवचन तीन ऋत्विजों के ग्रहण में चरितार्थ हो जाता है। जैसे उद्गातृ पद का गायति-क्रिया के कारण तीनों ऋत्विजों के साथ साक्षात् सम्बन्ध है, सुब्रह्मण्य के साथ बहुवचन का ऐसा साक्षात् सम्बन्ध भी नहीं है। अनुमानमात्र से ग्रहण करना व्यर्थ है, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुमान से बलवान् होता है। फलतः उद्गातृ-चमस के सोम का भक्षण तीन ऋत्विजों का कर्त्तव्य है। सोमभक्षणकर्त्ताओं में सुब्रह्मण्य का प्रवेश नहीं ॥२५॥

आचार्य सूत्रकार ने इस पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया—

सर्वे तु वेदसंयोगात् कारणादेकदेशे स्यात् ॥२६॥

[तु]सूत्र में 'तु' पद गत सूत्रोक्त पक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—सुब्रह्मण्य को छोड़कर तीन उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्त्ता, ऋत्विज् सोमभक्षण करें, यह पक्ष युक्त नहीं है।[सर्वे] सुब्रह्मण्य-सहित सभी सामवेदी ऋत्विज् सोमभक्षण करें, [वेदसंयोगात्] सामवेद में कहे कर्म के साथ सभी का सम्बन्ध होने से। [एकदेशे] एकदेश = सुब्रह्मण्य को छोड़कर शेष तीन ऋत्विजों के विषय—में उद्गातृ पद का व्यवहार [कारणात्] कारणविशेष से [स्यात्] होता है। वह कारणविशेष है—'उद्गातारो निषद्य साम्ना स्तुवते' उद्गाता ऋत्विज् बैठकर सामगान द्वारा स्तुति करते हैं—बैठकर सामगान द्वारा स्तुति करना।

गत सूत्र में जो यह कहा गया कि गायति-क्रिया के कारण तीन ऋत्विज् उद्गाता पद से व्यवहृत होते हैं, सुब्रह्मण्य की गणना उनमें नहीं होती, क्योंकि वह गान में सम्मिलित नहीं होता। इसलिए उद्गातृ-चमस का सोमभक्षण उन्हीं तीन ऋत्विजों का कर्तव्य है। सुब्रह्मण्य उसमें नहीं आता।

यह सब कथन युक्त नहीं है, क्योंकि गायति-क्रिया के आधार पर उद्गातृ पद से तीनों ऋत्विजों का ग्रहण नहीं हो सकता। साधारण लौकिक-वैदिक गान अलग

है, उद्गान अलग है। वह साम का एक भाग उद्गीथ — उत् उपसर्गपूर्वक गायति क्रिया का वाच्य प्रसिद्ध है। उद्गीथ-पाठ एक ही ऋत्विज् करता है; तब गायति क्रियानिमित्तक उद्गाता एक ही ऋत्विज् कहा जायगा, सब नहीं।

उद्गातृ पद से सब ऋत्विजों के ग्रहण करने में कारण—वेदसंयोग—है, सामवेद के साथ सम्बन्ध होना। औद्गात्र सामवेद का नाम है, तथा सामवेद-प्रतिपादित कर्म का नाम औद्गात्र है। जो व्यक्ति उसका अध्ययन करता, उसको जानता एवं उसका अनुष्ठान करता है, वह उद्गाता नाम से व्यवहृत होता है, यह सब जानते हैं। यदि किसी समय वह अपने कर्म में व्यापृत न भी रहे, तब भी वह उसी नाम से व्यवहृत होता रहता है। जैसे लकड़ी का शिल्पी शिल्प-व्यापार में न लगा हुआ भी तक्षा कहा जाता है, ऐसे ही सामकर्म के अध्येता-ज्ञाता-अनुष्ठाता सभी ऋत्विज् उद्गाता नाम से व्यवहृत होते हैं। सुब्रह्मण्य-सहित सभी ऋत्विज् साम-कर्मानुष्ठान में भाग लेने के कारण उद्गाता माने जाते हैं, इसलिए उद्गातृ-चमस-स्थित शेष सोम के भक्षण में सबका समान अधिकार रहता है, यह निश्चित सिद्धान्त है ॥२६॥ (इति उद्गातृणां सह सुब्रह्मण्येन भक्षाऽधिकरणम्—८)।

(ग्रावस्तुतोऽपि सोमभक्षाऽधिकरणम्—९)

ज्योतिष्टोम याग में होता का सहयोगी एक ग्रावस्तुत् नाम का व्यक्ति रहता है। उसके विषय में सन्देह है—क्या वह सोम का भक्षण करे? अथवा न करे? आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में प्रथम पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—

ग्रावस्तुतो भक्षो न विद्यतेऽनाम्नानात् ॥२७॥

[ग्रावस्तुतः] ग्रावस्तुत् नामक व्यक्ति का [भक्षः] सोमभक्षण [न विद्यते] नहीं है, [अनाम्नानात्] ऐसा उल्लेख कहीं न होने से।

ग्रावस्तुत् सोमभक्षण करे, ऐसा उल्लेख कहीं नहीं है। हारियोजन ग्रह में चमसियों को ही सोमभक्षण का अधिकार है। ग्रावस्तुत् का वहाँ कोई निर्देश नहीं। तैत्तिरीय संहिता [१।४।२८] में प्रसंग है, 'हरिरसि हारियोजनः' मन्त्र पढ़ते हुए ग्रहसंज्ञक पात्र में सोम भरकर आहुति दी जाती है, इस कारण यह पात्र 'हारियोजन ग्रह' कहा जाता है। शतपथ ब्राह्मण [४।४।३।१०] में कहा है, अपने-अपने चमस को होता आदि भक्षण करते हैं, और हारियोजन ग्रहपात्र-स्थित शेष सोम के भक्षण की सभी लालसा रखते हैं। यहाँ चमसियों के ही सोमभक्षण का उल्लेख है। ग्रावस्तुत् व्यक्ति का न अपना चमस होता है और न 'सर्वे' पद से सबमें उसकी गणना की गई है। अतः ग्रावस्तुत् सोमभक्षण में अधिकारी नहीं है ॥२७॥

आचार्य सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—

हारियोजने वा सर्वसंयोगात् ॥२८॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—हारियोजन ग्रहपात्र-स्थित शेष सोमभक्षण में ग्रावस्तुत् अनधिकारी है, यह कथन युक्त नहीं है; [हारियोजने] हारियोजन ग्रहपात्र-स्थित शेष सोमभक्षण में [सर्वसंयोगात्] सबका सम्बन्ध होने से ग्रावस्तुत् सोमभक्षण का अधिकारी है।

शतपथ ब्राह्मण के उक्त सन्दर्भ में वाक्य है—'अथैषः (=हारियोजनः) सर्वेषामेव भक्षः' हारियोजन ग्रहपात्र-स्थित सोम सबका भक्षण है। यहाँ 'सर्व' पद के प्रयोग से चमसी और चमसहीन सब उन व्यक्तियों का ग्रहण हो जाता है, जो उस याग से सम्बद्ध हैं। ग्रावस्तुत् व्यक्ति होता का सहयोगी रहता है। भले ही वह चमसहीन हो, पर हारियोजन ग्रह के सोमभक्षण में अन्यों के समान उसका भी पूर्ण अधिकार है, यह वाक्य में 'सर्व' पद के प्रयोग से निश्चित होता है ॥२८॥

'सर्व' पद के प्रयोग को लक्ष्य कर शिष्य जिज्ञासा करता है, इस पद का प्रयोग प्रसंग में उन्हीं चमसियों के लिए माना जाना चाहिए, जिनके समीप में वह पठित है। ग्रावस्तुत् का ग्रहण—उसके चमसहीन होने से—नहीं किया जाना चाहिए।

आचार्य ने शिष्य-जिज्ञासा को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

चमसिनां वा सन्निधानात् ॥२९॥

[वा] 'वा' पद—हारियोजन सोम के भक्षण में ग्रावस्तुत् अधिकारी है—इस कथन की व्यावृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—हारियोजन सोम के भक्षण में ग्रावस्तुत् अधिकारी नहीं है, क्योंकि वहाँ 'सर्व' पद [चमसिनाम्] चमसियों के [सन्निधानात्] सन्निधान=समीप में पठित होने से उन्हीं का ग्रहण कर सकता है, अन्य का नहीं।

हारियोजन सोमभक्षण के विधायक वाक्य में जहाँ सबकी लालसा का उल्लेख किया है, उसके समीप प्रथम पाठ है—'यथा चमसमन्यांश्चमसांश्चमसिनो भक्षयन्ति' अपने चमस के क्रमानुसार अन्य चमसों को चमसवाले भक्षण करते हैं। इन वाक्यों का—सन्निधान के कारण—परस्पर सम्बन्ध है। इस एकवाक्यता से स्पष्ट होता है, सन्दर्भ के अगले भाग में 'सर्व' पद का प्रयोग चमसवाले उन होता आदि के लिए किया गया है, जिनका सन्दर्भ के प्रथम भाग में निर्देश है। क्योंकि ग्रावस्तुत् चमसहीन व्यक्ति है, उसका ग्रहण 'सर्व' पद से नहीं किया जाना चाहिए। इसलिए हारियोजन सोम में चमसहीन ग्रावस्तुत् को भक्षण-अधिकार प्राप्त नहीं होता ॥२९॥

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

सर्वेषां तु विधित्वात् तदर्था चमसिश्रुतिः ॥३०॥

[तु]'तु' पद इस कथन की व्यावृत्ति का द्योतक है कि हारियोजन सोमभक्षण में केवल चमसी लालसा रखते हैं। [सर्वेषाम्] सबके सम्बन्ध का [विधित्वात्] विधायक वाक्य होने से, [चमसिश्रुतिः] सन्दर्भ के प्रथम भाग में चमसियों का श्रवण [तदर्था] हारियोजन सोम के स्तुतिरूप प्रयोजन के लिए है।

शतपथ ब्राह्मण [४।४।३।१०] गत सन्दर्भ का प्रथम भाग अनुवादमात्र है, जिसमें होता आदि द्वारा अपने-अपने चमस-सोमभक्षण का निर्देश है—'यथाचमसमन्यांश्चमसांश्चमसिनो भक्षयन्ति'। सन्दर्भ का अगला भाग—'हारियोजनस्य सर्व लिप्सन्ते' सबके लिए हारियोजन सोमभक्षण का विधान करता है। चमसी अपने चमसों से सोमभक्षण करते ही हैं, उनके विधायक वाक्य अन्य हैं। यहाँ उनका कथन हारियोजन सोमभक्षण की स्तुति के लिए है। अपने-अपने चमस का सोमभक्षण उसी एक का कल्याण करता है, जो उसे खाता है; पर हारियोजन सोमभक्षण की सभी लालसा रखते हैं, वह सबका कल्याण करने से महाकल्याणकारी है, यह उसकी स्तुति है। इस वाक्यांश के 'सर्व' पद को केवल चमसियों के लिए एकदेश में सीमित करना निष्प्रयोजन होगा, क्योंकि वे तो अपने चमसगत सोम का भक्षण करते ही हैं। इस प्रकार एक ही वाक्य में दो अपूर्व विधियों के अशास्त्रीय कथन से भी बचा जा सकेगा। उक्त ब्राह्मण-सन्दर्भ इस अर्थ को स्पष्ट कर देता है। पाठ है—'यथाचमसं वा अन्ये भक्षा अथैषः (=हारियोजनः) अतिरिक्तः, तस्मादेतस्मिन्त्सर्वेषामेव भक्षः' अन्य चमस-सोमभक्षण चमसों के अनुसार होते हैं। पर यह हारियोजन सोम उनसे अतिरिक्त है। इसलिए इसमें सबका ही भक्षण-अधिकार है, चाहे वह चमसी हो, अथवा चमसहीन। फलतः हारियोजन-सोमभक्षण में ग्रावस्तुत् का अधिकार अक्षुण्ण है ॥३०॥ (इति ग्रावस्तुतोऽपि सोमभक्षाऽधिकरणम्—९)।

(वषट्कारस्य भक्षनिमित्तताऽधिकरणम्—१०)

केवल समाख्या (=नामनिर्देश) ही सोमभक्षण का निमित्त नहीं, अन्य भी निमित्त हैं। सूत्रकार वषट्कार को निमित्त बताता है—

वषट्काराच्च भक्षयेत् ॥३१॥

[वषट्कारात्]वषट्कार से [च] भी [भक्षयेत्]भक्षण करे। तात्पर्य है—जो 'वषट्' पद का उच्चारण करते हुए आहुति देता है, वह भी सोमभक्षण करता है।

होता ऋत्विक् 'वषट्' पद के उच्चारण के साथ होमाग्नि में आहुति प्रदान

करता है। उस विषय में वाक्य है—'वषट्कर्त्तुः प्रथमभक्षः'[1] वषट् उच्चारण कर आहुति देनेवाले का प्रथम सोमभक्षण होता है। यहाँ वषट्कार सोमभक्षण का निमित्त है।

यद्यपि 'होतुश्चमसः' वाक्य के अनुसार होता का सोमभक्षण प्राप्त है, तब प्रस्तुत कथन में भक्षण को अनुवाद मानकर केवल प्राथम्य का विधान इस वाक्य से मानना चाहिए। ऐसी स्थिति में यह अपूर्वविधि न होकर अनुवाद होने से सोम-भक्षण का विधायक नहीं माना जाना चाहिए। परन्तु यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि इससे वाक्यभेद-दोष उपस्थित होता है। एक ही वाक्य में एक अंश अनुवाद और अन्य अंश विधायक हो, यह अशास्त्रीय है। इसलिए 'वषट्कर्त्तुः प्रथमभक्षः' वाक्य प्राथम्य विशिष्ट सोमभक्षण का विधायक होने से अपूर्वविधि है। इस प्रकार वषट्कार को सोमभक्षण में स्वतन्त्र निमित्त मानना युक्त है ॥३१॥ (इति वषट्-करणस्य भक्षनिमित्तताऽधिकरणम्—१०)।

(होमाभिषवयोरपि भक्षनिमित्तताऽधिकरणम्—११)

सोमभक्षण में—सोम के होम और सोम के अभिषव को भी सूत्रकार ने—निमित्त बताया—

होमाभिषवाभ्यां[2] च ॥३२॥

'भक्षयेत्' क्रियापद की यहाँ गतसूत्र से अनुवृत्ति है। [होमाभिषवाभ्याम्] होम और अभिषव करने से [च] भी [भक्षयेत्] भक्षण करे।

होम और अभिषव भी सोमभक्षण में निमित्त हैं। वाक्य है—'हविर्धाने ग्राव-भिरभिषुत्याहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि भक्षान् भक्षयन्ति'[3] हविर्धान[4]

१. तुलना करें—'पात्रे समवेतानां वषट्कर्त्ता पूर्वो भक्षयति' आप० श्रौ० १२।२४।६॥

२. अभिषव कर्म होम से प्रथम होता है। तब सूत्र में 'अभिषव' का पाठ प्रथम होना चाहिए था, पर पाणिनि-नियम [२।२।३४] के अनुसार द्वन्द्व समास में 'होम' पहले पढ़ा जाता है। यद्यपि सूत्ररचना के समय 'पाणिनि व्याकरण' नहीं था, तथापि पदनियोजन में लोकव्यवहार व पूर्ववर्त्ती व्याकरणों की निश्चित यह व्यवस्था रही होगी। उसी का अनुकरण पाणिनि ने अपने व्याकरण में किया। आज उसी के आधार पर पदनियोजन-निर्देश संभव है।

३. तै० सं० [६।२।११] के पाठ से तुलना करें—'हविर्धाने चर्मन्नधि ग्रावभि-रभिषुत्याहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि भक्षयन्ति'।

४. यज्ञमण्डप में 'हविर्धान' वह स्थानविशेष है, जहाँ होम के लिए 'हवि' तैयार किया जाता है। तैत्तिरीय संहिता के उक्त प्रसंग [६।२।११] में इसका बहुत आकर्षक वर्णन है।

नामक स्थान में पत्थरों से सोम को कूट-पीस-छानकर, तैयार कर, आहवनीय अग्नि में होम करके, वापस लौटकर सदोमण्डप में शेष सोम का भक्षण करते हैं। इस वाक्य में अभिषव-होम व भक्षण-क्रियाओं के क्रम का विधान अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि क्रियाओं की स्थिति के कारण क्रम स्वत:सिद्ध है। सोम तैयार हुए बिना होम नहीं हो सकता। सोम की आहुति देने के लिए सोम को प्रथम तैयार करना होगा। होम सम्पन्न हुए बिना सोम का भक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि सोम का शेष रहना तभी सम्भव है, जब सोम की अपेक्षित आहुति देकर होम सम्पन्न कर लिया जाय। ऐसी स्थिति में स्वत:प्राप्त क्रम का विधान करना अनावश्यक है।

क्रम का विधान मानने पर वाक्यभेद-दोष भी प्रसक्त होता है। क्रम का विधान कहने से दो क्रियाओं का कथन प्राप्त होता है—'अभिषुत्य' अभिषव करके भक्षण करते हैं; तथा 'हुत्वा' होम करके भक्षण करते हैं; एक वाक्य में वाक्यभेद की प्राप्ति शास्त्र में दोष माना गया है। इसलिए भी उक्त वाक्य में क्रम का विधान मानना संगत नहीं है।

यह कहना भी युक्त न होगा कि अभिषव और होम भक्षण के अङ्ग हैं, अर्थात् भक्षण के लिए अभिषव और होम किया जाता है। भक्षण मुख्य अङ्ग है, और ये उसके अङ्ग हैं। इस कथन की अयुक्तता का कारण यह है कि अभिषव=सोम का तैयार करना मुख्यत: होम के लिए किया जाता है, और होम स्वर्गादिप फलप्राप्ति के लिए किया जाता है। इसलिए इनको भक्षण का अङ्ग नहीं माना जा सकता। अत: भक्षण अप्राप्त है। प्रस्तुत वाक्य उसी का विधान करता है; यह अपूर्वविधि है।

द्वादशाह सत्र में दीक्षा-वाक्य है—'अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति, तत उद्गातारम्' [आप०श्रौ० २१।१।१६।२०] अध्वर्यु गृहपति को दीक्षित कर ब्रह्मा को दीक्षित करता है, तदन्तर उद्गाता को। इस वाक्य में आचार्यों ने क्रम का विधान माना है। इसी के समान 'हविर्धाने' आदि वाक्य में भी क्रम का विधान मानना चाहिए। यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रस्तुत प्रसंग में क्रम प्रयोजनवश स्वत:सिद्ध है; उसका विधान अनावश्यक व व्यर्थ है। क्योंकि अभिषव के बिना होम सम्भव नहीं, होम से पूर्व अभिषव करना ही होगा। ऐसे ही होम के बिना शेष सोमभक्षण सम्भव नहीं, भक्षण से पूर्व होम करना ही होगा। इसमें व्यतिक्रम असम्भव है। न सोम के पश्चात् अभिषव सम्भव है, न भक्षण के पश्चात् होम। ऐसी स्थिति द्वादशाह सत्र के दीक्षा-प्रसंग में नहीं है, वहाँ व्यतिक्रम सम्भव है; इसलिए वहाँ क्रम का विधान आवश्यक है।

प्रस्तुत वाक्य के 'प्रत्यञ्च: परेत्य' पदों के आधार पर वाक्य का विनियोग 'पीछे की ओर घूमकर' आने में मानना चाहिए, अर्थात् यह वाक्य 'पीछे की ओर घूमकर आने का' विधान करता है। यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि आहवनीय में सोमाहुति देकर भक्षण-निमित्त सदोमण्डप में जाने के लिए 'पीछे की ओर

लौटना' अनिवार्य है। अतः वह स्वतःसिद्ध है, उसका विधान करना अनावश्यक है।

फलतः उक्त वाक्य शेष सोमभक्षण का विधान करता है, यही मान्यता निर्दोष है। जो होता आदि अभिषव करते हैं, एवं होम करते हैं, वे शेष सोम का भक्षण करते हैं। इस प्रकार अभिषव और होम भक्षण में निमित्त हैं ॥३२॥ (इति होमाभिषवयोरपि भक्षनिमित्तताऽधिकरणम्—११)।

(वषट्कर्त्रादीनां चमसे सोमभक्षाधिकरणम्—१२)

ज्योतिष्टोम प्रसंग में वाक्य है—'प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातॄणां प्र यजमानस्य' [श० ब्रा० ४।२।१।२९॥ कात्या० श्रौ० १०।१।१०] इत्यादि[1]। प्रस्तुत वाक्य में बताया गया है, होता आदि चमसोंवाले सोमभक्षण अपने चमसों में करें। यहाँ सन्देह है—क्या वषट्कार, अभिषव व होम करनेवाले चमसों में भक्षण करें? अथवा न करें? शिष्य जिज्ञासा करता है–'प्रैतु होतुश्चमसः' इत्यादि वाक्य में होता आदि के चमसों में सोमभक्षण का प्रत्यक्ष निर्देश है, पर प्रस्तुत वाक्य में ऐसा नहीं है, इसलिए यह क्यों न माना जाय कि वषट्कार, अभिषवं व होम करनेवाले चमस में सोमभक्षण न करें?

आचार्य ने शिष्यजिज्ञासा को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

प्रत्यक्षोपदेशाच्चमसानामव्यक्तः शेषे ॥३३॥

[चमसानाम्] चमसों के 'प्रैतु होतुश्चमसः' इत्यादि वाक्य में [प्रत्यक्षोपदेशात्] प्रत्यक्ष=स्पष्ट उपदेश=कथन होने से जिनके चमस हैं, उन्हीं को चमसों में सोमभक्षण प्राप्त होता है, [अव्यक्तः] जहाँ व्यक्त=स्पष्ट चमसनिर्देश नहीं है, वहाँ [शेषे] चमसियों से अन्यत्र=भिन्न पात्र में सोमभक्षण होना चाहिए।

'वषट्कर्त्तुः प्रथमभक्षः' तथा 'हविर्धाने ग्रावभिरभिषुत्य' आदि वाक्यों में चमस का स्पष्ट कथन नहीं है, अतः वषट्कार, अभिषव व होम करनेवालों का सोमभक्षण चमसों में न होकर अन्य पात्र में होना चाहिए।

यहाँ वषट्कर्त्ता आदि के सोमभक्षण में कोई सन्देह नहीं है। वह गत अधिकरण में निश्चित कर दिया गया है। 'हविर्धाने···सदसि भक्षान् भक्षयन्ति' वाक्य सोमभक्षण का स्पष्ट निर्देश है। सन्देह पात्र के विषय में है। वषट्कर्त्ता आदि को चमस में सोमभक्षण कराया जाय? अथवा अन्य पात्र में? क्योंकि 'वषट्कर्त्तुः' एवं 'हविर्धाने' आदि वाक्यों में सोमभक्षण का स्पष्ट कथन होने पर भी चमस का स्पष्ट निर्देश नहीं है, इसलिए वषट्कर्त्ता आदि को चमस में सोमभक्षण न कराकर

---

१. द्रष्टव्य—(३।५।२२) सूत्र का भाष्य।

अन्य पात्र में कराना चाहिए, पूर्वपक्ष का यही आशय है ॥३३॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त जिज्ञासा का समाधान करते हुए सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

स्याद्वा कारणभावाद् अनिर्देशश्चमसानां

कर्त्तुस्तद्वचनत्वात् ॥३४॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। [स्यात्] वषट्कर्त्ता आदि का भी सोमभक्षण चमस में होना चाहिए, क्योंकि वहाँ [कारणभावात्] सोम-भक्षण के कारण विद्यमान होने से; [चमसानाम्] चमसों का [अनिर्देशः] स्पष्ट निर्देश न होना भले हो, पर [कर्त्तुः] वषट्कर्त्ता आदि के [तद्वचनत्वात्] सोम-भक्षण का स्पष्ट कथन होने से, उनका भी सोमभक्षण चमसों में होगा।

यह कहना किसी अंश में ठीक है कि 'प्रैतु होतुश्चमसः' वाक्य में चमस का स्पष्ट निर्देश है, वह—जिसका जो चमस है, उसके—चमस में सोमभक्षण का विधान करता है; परन्तु वषट्कर्त्ता आदि के चमस में सोमभक्षण का निषेध नहीं करता। जैसा सोमभक्षण का विधान 'प्रैतु' आदि वाक्य में है, वैसा ही 'वषट्कर्त्तुः, हविर्धाने' आदि वाक्यों में है। सोमभक्षण प्रत्येक दशा में चमसों में ही होगा, भले ही कहीं चमस का स्पष्ट निर्देश न हुआ हो ॥३४॥

सूत्रकार ने इसी की पुष्टि में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

चमसे चान्यदर्शनात् ॥३५॥

[चमसे] चमस-प्रसंग में [अन्यदर्शनात्] अन्यों=जिनके चमस नहीं कहे उनके देखे जाने से [च] भी, वषट्कर्त्ता आदि का सोमभक्षण चमस में होता है।

'प्रैतु' वाक्य में जो चमस जिसके लिए निर्दिष्ट है, वही उसमें सोमभक्षण करे, अन्य न करे,—ऐसा नियम नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य वाक्य उन्हीं चमसों में अन्यों के सोमभक्षण का निर्देश करता है—'चमसांश्चमसाध्वर्यवे प्रयच्छति, तान् स वषट्कर्त्रे हरति' चमसाध्वर्यु के लिए चमसों को देता है, चमसाध्वर्यु उनको वषट्कर्त्ता के लिए पहुँचाता है। यदि 'होतृचमस' नाम से एक ही द्वारा चमस में सोमभक्षण हो, तो वाक्य में 'तान्' बहुवचन का प्रयोग उपपन्न नहीं होता। इसकी उपपत्ति तभी सम्भव है, जब वषट्कर्त्ता आदि चमसों में भक्षण करें। इससे स्पष्ट होता है, जहाँ सोमभक्षण है, वह चमसों में ही है, अन्य पात्रों में नहीं।

इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि 'होतृचमस' नाम से चमस पर होता का स्वामित्व स्थापित नहीं हो जाता। चमस तथा अन्य सभी यज्ञिय पात्रों पर स्वामित्व यजमान का रहता है। जैसे होता या उद्गाता चमस का यज्ञकाल में उपयोग करने के लिए अधिकृत हैं, वैसे ही वषट्कर्त्ता आदि भी पूर्णरूप से अधि-

कृत हैं, भले ही कतिपय वाक्यों में उनके सोमभक्षण-निर्देश के साथ चमस का उल्लेख न हुआ हो।

जिज्ञासा होती है—चमस में ही सोमभक्षण किया जाय, इसके लिए इतना आग्रह या दृढ़ नियम क्यों है ? ज्ञात होता है, चमस का निर्धारित माप=परिमाण होने के कारण यह व्यवस्था की गई, जिससे यागशेष सोम सब अधिकृत याज्ञिकों को पूर्णतया समानरूप में वितरित किया जा सके। अन्य यज्ञिय पात्रों के परिमाण न्यूनाधिक हो सकते हैं। उनमें सोमभक्षण होने पर किसी को अधिक सोम मिले, किसी को न्यून, यह उचित व न्याय्य प्रतीत नहीं होता। इसीलिए नियत परिमाण के पात्र चमस में सोमभक्षण की व्यवस्था की गई ॥३५॥ (इति वषट्कर्त्रादीनां चमसे सोमभक्षाधिकरणम्—१२)।

(होतुः प्रथमभक्षाधिकरणम्—१३)

शिष्य जिज्ञासा करता है–जब एक चमस पात्र में अनेक ऋत्विक् सोमभक्षण करते हैं, तब वहाँ क्रम क्या होना चाहिए ? सूत्रकार ने इस विषय में पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—

एकपात्रे क्रमादध्वर्युः पूर्वो भक्षयेत् ॥३६॥

[एकपात्रे] एक पात्र में सोमभक्षण के अवसर पर [अध्वर्युः] अध्वर्यु [पूर्वः] प्रथम [भक्षयेत्] भक्षण करे, [क्रमात्] क्रम से; होम के समय सोमपात्र क्योंकि अध्वर्यु के हाथ में होता है, इसलिए सर्वप्रथम सोमभक्षण उसी को करना चाहिए, क्योंकि क्रम वहीं से प्रारम्भ होगा, जिसके सान्निध्य में सोम है। याग के समय 'प्रतिप्रस्थाता' नामक ऋत्विक् सोमपात्र को भरकर अध्वर्यु के हाथ में देता है। अध्वर्यु का कार्य है—आहवनीय अग्नि में सोम की अपेक्षित आहुतियाँ देना। याग के अनन्तर शेष सोम का भक्षण सब ऋत्विक् करते हैं। एक पात्र में भक्षण होने से सबको बारी-बारी से भक्षण करना होगा। ऐसी स्थिति में सर्वप्रथम भक्षण का वही ऋत्विक् अधिकारी है, जिसके समीप सोम अवस्थित है। अतः अध्वर्यु का क्रम सबसे पहले है ॥३६॥

सूत्रकार ने सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत किया—

होता वा मन्त्रवर्णात् ॥३७॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—'अध्वर्यु प्रथम सोमभक्षण करे' यह कथन युक्त नहीं। [होता] तब होता को सर्वप्रथम भक्षण करना चाहिए, [मन्त्रवर्णात्] मन्त्र में ऐसा कथन होने से।

ऋग्वेद [१०।९४।२] में मन्त्र है–'होतुश्चित् पूर्वे हविरद्यमाशत' हे ग्रावाओ!

कदाचित् तुम होता से पहले ही भक्षणयोग्य हवि=सोम का रसास्वादन करते हो। यह आलङ्कारिक वर्णन है। सोमलता को पत्थरों से कूट-पीसकर सोम तैयार किया जाता है। पत्थरों में वह अनिवार्य रूप से लग जाता है, उसी को उत्प्रेक्षा-लङ्कार से भक्षण के रूप में कहा गया है। कहने की पद्धति है—सम्भवतः तुम होता से पहले ही सोमभक्षण करते हो। इसका तात्पर्य है—यज्ञशेष सोम का भक्षण करनेवाला सबसे पहला अधिकारी होता नामक ऋत्विक् है। ऋग्वेद [५।४३।३] में अन्य मन्त्र है—'होतेव नः प्रथमः पाहि' हे वायो ! उस मधुर रस-पूर्ण सोम का हमारे लिये तुम देवताओं में सबसे पहले ऐसे ही पान करो, जैसे ऋत्विजों में होता यज्ञशेष सोम का सबसे पहले पान करता है। सोम तैयार होने पर तत्काल उसके साथ वायु-संस्पर्श अनिवार्य है। उसीको 'वायु द्वारा भक्षण' के रूप में वर्णन किया है। वह प्राणिजीवन के लिए अनुकूल स्थिति में सहयोग प्रदान करता है। उसके अनन्तर अध्वर्यु द्वारा सोम की आहुति आहवनीय अग्नि में दी जाती है। इससे प्राणियों के लिए अनुकूल जीवनीय तत्त्व और भी सूक्ष्म होकर वायु में मिल जाते हैं। यहाँ देवताओं में अग्नि से पहले वायु का सोमभक्षण है। उसी के लिए मन्त्र में 'होतेव' दृष्टान्त दिया गया है। जैसे ऋत्विजों में होता यज्ञ-शेष सोम का सर्वप्रथम भक्षण करता है, ऐसे ही देवताओं में वायु। मन्त्र में पद है 'नः'—हमारे लिए, यह सब हमारे अर्थात् प्राणियों के अभ्युदय के लिए होता है।

मन्त्रों के उक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है—यज्ञशेष सोम के भक्षण का सर्व-प्रथम अधिकारी होता ऋत्विक् है। अतः पूर्वपक्ष का यह कथन युक्त नहीं कि सान्निध्य से अध्वर्यु को सोमभक्षण प्रथम करना चाहिए॥३७॥

इसी की पुष्टि के लिए सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

वचनाच्च ॥३८॥

[वचनात्] वचन से [च] भी वषट्कर्त्ता का प्रथम भक्षण जाना जाता है।

वचन है—'वषट्कर्त्तुः प्रथम भक्षः' वषट्कर्त्ता=वौषट् उच्चारण करनेवाले को सोमभक्षण प्रथम है। वौषट् का उच्चारण होता करता है, उसके अनन्तर अध्वर्यु सोम की आहुति आहवनीय अग्नि में छोड़ता है। इस प्रत्यक्ष कथन से वषट्-कर्त्ता होता ऋत्विक् का सर्वप्रथम सोमभक्षण होना स्पष्ट है। इसी अर्थ का उप-पादक वाक्य आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [१२।२४।६] में है—'पात्रे समवेतानां वषट्कर्त्ता पूर्वो भक्षयति' जहाँ एक पात्र में अनेक ऋत्विक् सोमभक्षण करनेवाले हों, वहाँ वषट्कर्त्ता होता ऋत्विक् सर्वप्रथम सोमभक्षण करता है।

इस विषय में यह कहना युक्त न होगा कि उक्त वाक्य केवल भक्षण का विधान करते हैं; यहाँ प्राथम्य अविवक्षित है। कारण यह है कि प्राथम्य अन्य किसी वाक्य से प्राप्त नहीं है, इसलिए उसे अनुवाद कहकर अविवक्षित नहीं माना जा

सकता। वह अपूर्वविधि है, उसकी उपेक्षा शक्य नहीं; अन्यथा 'प्रथम' पद का निर्देश व्यर्थ मानना होगा। एकसाथ अनेक गुणों का विधान करनेवाला वाक्य अशास्त्रीय नहीं है। अतः उक्तवाक्य भक्षण के साथ प्राथम्य के विधायक हैं ॥३८॥

सूत्रकार उक्त अर्थ की पुष्टि में अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

कारणानुपूर्व्याच्च ॥३९॥

[कारणानुपूर्व्यात्] कारण की आनुपूर्वी से [च] भी होता का प्रथम सोमभक्षण सिद्ध है।

सोमभक्षण के निमित्त हैं–वषट्कार और होम। पहला निमित्त वषट्कार है, अनन्तर होम। वषट्कार होता करता है, होम अध्वर्यु। होता प्रथम 'वौषट्' उच्चारण करता है, अनन्तर अध्वर्यु आहुति देता है। अनुष्ठान का यह नैमित्तिक क्रम होता के कार्य को प्रथम और अध्वर्यु के कार्य को उसके पश्चात् रखता है। कर्मानुष्ठान की इस आनुपूर्वी से भी होता का सोमभक्षण सर्वप्रथम होना निश्चित है। फलतः एक पात्र में अनेक ऋत्विजों के सोमभक्षण के अवसर पर उस पात्र में सर्वप्रथम सोमभक्षण होता करता है ॥३९॥ (इति होतुः प्रथमभक्षाधिकरणम्—१३)।

(भक्षस्यानुज्ञापूर्वकत्वाधिकरणम्—१४)

शिष्य जिज्ञासा करता है—एक पात्र में अनेकों द्वारा जो सोमभक्षण किया जाता है, वहाँ सन्देह है—क्या अनुज्ञापन करके या बिना अनुज्ञापन के ही सोमभक्षण करना चाहिए ? अथवा आवश्यक रूप से अनुज्ञापनपूर्वक सोमभक्षण करना चाहिए ? पहले पक्ष में अनुज्ञापन का अनियम है, करे या न करे। दूसरे पक्ष में अनुज्ञापन आवश्यक है।

'अनुज्ञा' पद का अर्थ है—अनुमति, सहमति, स्वीकृति। अनुज्ञापन है—अनुमति एवं स्वीकृति लेना। एक व्यक्ति अन्य व्यक्ति को किसी विशिष्ट कार्य के हेतु आमन्त्रित करता है, और उसमें अन्य व्यक्ति की अनुमति या स्वीकृति जानना चाहता है। यह सब भाव अनुज्ञापन में आ जाता है। पहले विकल्प में कहे-सुने बिना या कभी कह-सुनकर भी अनियम से सोमभक्षण में लाघव प्रतीत होता है। नियम मानने पर व्यवस्था करनी पड़ती है। इसलिए पहला पक्ष मानना युक्त होगा; ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार ने सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

वचनादनुज्ञातभक्षणम् ॥४०॥

[वचनात्] शास्त्रीय वचन से ज्ञात होता है, [अनुज्ञातभक्षणम्] अनुज्ञापनपूर्वक ही सोमभक्षण करना चाहिए।

काठक संहिता [११।१] में वचन है—'इन्द्रो वै त्वष्टुः सोममनुपहूतोऽपिबत् स विश्वक् सोमपीथेन व्यार्ध्यत, तस्मात् सोमो नानुपहूतेन पातवै' इन्द्र ने एक बार त्वष्टा के सोम को बिना बुलाए पिया; उस सोमपान से वह पूर्णरूप में तिरस्कृत हुआ, अतः सोमपान के लिए बिना बुलाये उपस्थित नहीं होना चाहिए।

वचन में 'अनुपहूतः' पद है। उपहूत बुलाया हुआ, अनुपहूत न बुलाया हुआ। उपह्वान व अनुज्ञापन पद एक ही अर्थ को कहते हैं। यह एक साधारण व्यवहार की बात है, खाने-पीने आदि के अवसर पर बिना बुलाये उपस्थित होना प्रायः तिरस्कार का कारण हो जाता है। यजमान ऋत्विजों को सोमभक्षण के लिए आमन्त्रित करता है, तब ऋत्विज् स्वीकृति देकर उपयुक्त अथवा पूर्वनिर्धारित स्थान में उपस्थित हो जाते हैं। इसी आशय को सूत्र प्रकट करता है ॥४०॥ (इति भक्षस्यानुज्ञापूर्वकत्वाधिकरणम्—१४)।

(वैदिकवचनेनानुज्ञापनाधिकरणम्—१५)

अनुमति प्राप्त होने पर सोमभक्षण के लिए उपस्थित होना चाहिए, ऐसा निश्चय हो जाने पर भी यह सन्देह रह जाता है कि अनुज्ञापन लौकिक वाक्य से किया जाय ? अथवा वैदिक वाक्य से ? इसके लिए कोई नियत व्यवस्था न होने के कारण साधारणतया लौकिक वाक्य से अनुज्ञापन करे, ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार ने व्यवस्था की—

तदुपहूत उपह्वयस्वेत्यनेनानुज्ञापयेल्लिङ्गात् ॥४१॥

[तत्] उस सोमभक्ष के लिए ['उपहूत उपह्वयस्व' इति] 'उपहूत उपह्वयस्व' [अनेन] इस वैदिक वचन से [अनुज्ञापयेत्] अनुज्ञापन करे [लिङ्गात्] उक्त वचन में अनुज्ञापन का सामर्थ्य देखे जाने से।

'उपहूत उपह्वयस्व' यह वचन शतपथ ब्राह्मण [२।४।४।२५] में पठित है। 'यजुर्वेद [२।११] में 'उपहूत उपह्वयताम्' पद पठित हैं। 'उपह्वयताम्' के आधार पर शतपथ में 'उपह्वयस्व' की ऊहा की गई प्रतीत होती है। यजुर्वेद में सर्वत्र जहाँ 'उपहूतः' पद प्रयुक्त है, प्राशन व भक्षण का निर्देश है। इससे 'उपहूत, उपह्वयस्व' वचन में अनुज्ञापन का सामर्थ्य निहित है, यह ज्ञात होता है। इस वैदिक वचन से अनुज्ञापन का प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर इस कार्य के लिए लौकिक वचन की निवृत्ति हो जाती है ॥४१॥ (इति वैदिकवचनेनानुज्ञापनाधिकरणम्—१५)।

(वैदिकवाक्येन प्रतिवचनाधिकरणम्—१६)

यह निश्चित हो गया कि 'उपहूत उपह्वयस्व' इस वैदिक वचन से अनुज्ञापन करे, पर यह सन्देह अभी बना है कि प्रतिवचन—प्रत्युत्तर में लौकिक वाक्य का

प्रयोग किया जाय ? अथवा वह भी वैदिक वचन द्वारा हो ? वैदिक वाक्य का विनियोग प्रश्न में किया गया है; प्रतिवचन में लौकिक वाक्य का प्रयोग क्यों न माना जाय ?

आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्त स्थिर किया—

तत्रार्थात् प्रतिवचनम् ॥४२॥

[तत्र] उस अनुज्ञापन में [अर्थात्] अर्थ-सामर्थ्य से 'उपहूतः' यह पद [प्रतिवचनम्] प्रतिवचन होता है।

अनुज्ञापन के लिए बताये गये वैदिक वचन में दो पद हैं—एक—'उपहूतः' दूसरा 'उपह्वयस्व'। दूसरा क्रियापद है। यजमान इसका उच्चारण करता है, ऋत्विक् का उपह्वान करता है, उसे आमन्त्रित करता है, बुलाता है—आओ, सोमभक्षण करो। यह प्रथम कहे जाने से प्रश्नरूप है। आमन्त्रण को स्वीकार कर ऋत्विक् 'उपहूतः' उच्चारण करता हुआ सोमभक्षण के लिए सदःस्थान में उपस्थित हो जाता है। तात्पर्य है—मैं उपहूत हूँ, आमन्त्रित हूँ, सोमभक्षण के लिए मुझे बुलाया गया है, वह स्वीकार है। वह सदोमण्डप में पहुँच जाता है।

इस प्रसंग में यह कहना संगत न होगा कि प्रश्नरूप में कहा गया वचन पहले पढ़ना चाहिए, उत्तररूप में कहा गया अनन्तर; पर मूल ग्रन्थ [श० ब्रा०] में इनका विपर्यय क्यों है ? वस्तुतः कोई भी पद अपने अर्थ-सामर्थ्य से उपयुक्त अवसर पर प्रयुक्त किया जाता है; उनकी आनुपूर्वी अर्थबोधन में बाधक नहीं होती। शास्त्र का यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है—'यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः'—अर्थ-सामर्थ्य से पद का प्रयोग वहीं होगा, जिसके साथ उसका सम्बन्ध है, भले ही वह पाठ में पहले-पीछे कहीं पढ़ा गया हो। फलतः 'उपहूत उपह्वयस्व' इस वैदिक वचन के दूसरे पद का उच्चारण यजमान प्रथम करता है। उसके प्रतिवचन में अधिकृत ऋत्विक् 'उपहूतः' उच्चारण करता है। इस प्रकार प्रश्न-प्रतिवचन दोनों वैदिक वचन द्वारा किये जाते हैं। यज्ञ-प्रसंग में लौकिक वाक्य प्रयुक्त नहीं होने चाहिएँ, यही इसका तात्पर्य है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [१२।२४।१५ व ४४] में उक्त आधार स्पष्ट लिखा है—'उपहूत इति प्रतिवचनः' ॥४२॥ (इति वैदिकवाक्येन प्रतिवचनाधिकरणम्—१६)।

(एकपात्राणामनुज्ञापनाधिकरणम्—१७)

वैदिक वचन से अनुज्ञापन किये जाने का निश्चय होने पर भी यह सन्देह है कि क्या जहाँ अनेक व्यक्ति एक पात्र में सोमभक्षण करते हैं, वहीं अनुज्ञापन होना चाहिए ? अथवा सर्वत्र सोमभक्षण के अवसर पर ? इस विषय में कोई विशेष कथन न होने से सर्वत्र सोमभक्षण के अवसर पर अनुज्ञापन किया जाना प्राप्त

होता है।

आचार्य सूत्रकार ने इसे व्यवस्थित किया—

तदेकपात्राणां समवायात् ॥४३॥

[तत्] वह अनुज्ञापन [एकपात्राणाम्] एक पात्र में सोमभक्षण करनेवाले व्यक्तियों का करना चाहिए, [समवायात्] अनेक व्यक्तियों का सोमभक्षण एक पात्र में इकट्ठा होने से।

जहाँ एक पात्र में अनेक व्यक्तियों ने सोमभक्षण करना हो, वहीं अनुज्ञापन (=अनुमति) आवश्यक है। अनुज्ञापन का स्वरूप है—जहाँ कोई कार्य एक व्यक्ति करता है, वहीं अन्य व्यक्ति कार्य करना चाहे, तो दूसरे की भावना को अनुकूल बनाने के लिए अनुज्ञापन अपेक्षित है। जहाँ एक पात्र में अनेक व्यक्तियों ने सोमभक्षण करना है, वहाँ एक-दूसरे की अनुमति से कार्य करने में संघर्ष की आशंका या सम्भावना टल जाती है। अपने-अपने भिन्न पात्रों में सोमभक्षण के अवसर पर ऐसी स्थिति आने की सम्भावना ही नहीं रहती, क्योंकि वहाँ एक के द्वारा प्रयोग किये गये पात्र में अन्य कोई भक्षण नहीं करता।

संघर्ष के दो आधार हो सकते हैं—एक, क्रम या आनुपूर्वी, अर्थात् पात्र का पहले प्रयोग कौन करे? दूसरा, भक्ष्य पदार्थ की न्यूनाधिकता का होना। संघर्ष के पहले आधार को टालने के लिए व्यवस्था की गई है—सर्वप्रथम सोमभक्षण होता ऋत्विक् करेगा, अनन्तर निर्धारित क्रम से अन्य ऋत्विक्। एक पात्र में भरा सोम समान भागों में बाँटा नहीं जाता। यथाक्रम उसी पात्र से चुल्लू में अन्दाज़ा के साथ सोम भक्षणार्थ दिया जाता है। उसमें स्वभावतः कुछ-न-कुछ न्यूनाधिकता सम्भव है। ऐसी स्थिति में परस्पर किसी के चित्त को ठेस न लगे, अनुज्ञापन आवश्यक होता है। कदाचित् भूल से न्यून या अधिक सोमभक्षण किसी के द्वारा हो जाय, तो उसमें कोई भी अन्य सदस्य अपने चित्त की प्रसन्नता नष्ट न होने दे; इसी भावना से अनुज्ञापन एक पात्र में अनेकों के द्वारा सोमभक्षण में सम्भव है, सर्वत्र सोमभक्षण में नहीं ॥४३॥ (इति एकपात्राणामनुज्ञापनाधिकरणम्—१७)।

(स्वयं यष्टुर्यजमानस्य भक्षास्विताधिकरणम्—१८)

ज्योतिष्टोम प्रकरण में ऋतुयाग[1] पठित हैं। वहाँ वाक्य है—'यजमानस्य याज्या, सोऽभिप्रेष्यति, होतरेतद् यज' इति। यजमान की याज्या है, प्रशास्ता द्वारा प्रेरित यजमान होता को प्रैष देता है—हे होतः! यह पढ़कर यजन करो।

---

१. इस विषय में द्रष्टव्य हैं—कात्या० श्रौ० ६।१३।१-१६॥ तथा आप० श्रौ० १२।२६।११ एवं १२।२७।१३॥

प्रधान याग के प्रारम्भ में जिन ऋचाओं से आहुतियाँ दी जाती हैं, उनका नाम 'याज्या' है। वे सब ऋचाएँ होत्रकाण्ड में पठित हैं, इसलिए होता ऋत्विक् उनका पाठ करता है, पाठ के अनन्तर 'वषट्' शब्द का उच्चारण करने पर अध्वर्यु आहवनीय अग्नि में सोम की आहुति देता है। प्रशास्ता से प्रेरित यजमान इसी यजन के लिए होता से कहता है—'एतद् यज' इति।

अन्यत्र पाठ है—'स्वयं वा निषद्य यजति' अथवा यजमान होता को यजन के लिए न कहकर स्वयं बैठकर यजन करता है। तात्पर्य है—यजमान स्वयं याज्या ऋचा का पाठ कर वषट् शब्द के उच्चारणपूर्वक आहवनीय अग्नि में सोम की आहुति देता है। यहाँ सन्देह है—क्या इस प्रसंग में सोमभक्षण यजमान को करना चाहिए ? अथवा नहीं ?

वाक्य में 'पठति' पद है, इससे यजमान के लिए केवल याज्या के पाठ का विधान विदित होता है। होता से याज्या-पाठ का अपनय (दूर हटाना) किया गया; भक्षण का अधिकार तो होता का रहेगा ही।

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

याज्यापनये नापनीतो भक्षः प्रवरवत् ॥४४॥

[याज्यापनय] होता का याज्या से अपनय=सम्बन्ध-विच्छेद होने पर [भक्षः] होता का सोमभक्षण [न-अपनीतः] दूर नहीं होता, अर्थात् सोमभक्षण होता का ही रहता है, [प्रवरवत्] याग के प्रारम्भ में होता के वरण के समान।

याग के प्रारम्भ में यजमान 'होता'-रूप में एक ऋत्विक् का वरण करता है। सम्पूर्ण अनुष्ठान में वह एक कर्म है। होता द्वारा याज्या-पाठ न किये जाने पर भी उसका होता-पन बना रहता है। इसी प्रकार याज्यापाठ एक कर्म है, सोमभक्षण अन्य कर्म है। याज्यापाठ के अपनय से भक्षण का अपनय नहीं होगा। अतः सोम-भक्षण होता का होना चाहिए।

आशंका होती है—'याज्याया अधि वषट् करोति' याज्या-पाठ के अनन्तर वषट्कार करता है,—इस वाक्य के अनुसार जो याज्या का पाठ करता है, वही वषट्कार करता है। यजमान ने याज्या-ऋचाओं का उच्चारण किया है, तब वही पाठ के अनन्तर वषट् का उच्चारण करेगा। इस विषय में शास्त्रीय व्यवस्था है कि जो वषट्कार करता है, वही सोमभक्षण करता है। इस व्यवस्था के अनुसार सोमभक्षण यजमान का होना चाहिए, होता ऋत्विक् का नहीं।

यह आशंका वस्तुतः निराधार है; क्योंकि वषट्कार याज्या का अवयव या अङ्गरूप नहीं है, जो याज्या के साथ अनिवार्य रूप से बँधकर रहे। याज्या अपनी जगह है, वषट्कार अपनी जगह है। 'याज्याया अधि वषट् करोति'—'याज्या के अनन्तर 'वषट्' करता है' वाक्य के साथ उक्त स्थिति का कोई विरोध नहीं है।

यजमान द्वारा याज्या-पाठ किये जाने के अनन्तर होता वषट्कार करेगा। वषट्-कर्त्ता ही सोमभक्षण का अधिकारी है, इस प्रकार होता का सोमभक्षण सिद्ध है। 'स्वयं वा निषद्य यजति' वाक्य यजमान द्वारा याज्या-पाठ किये जाने का विधान करता है। यह वचन होता से याज्या का अपनय भले ही करे, इससे वषट्कार का अपनय नहीं होता, वषट्कार होता करेगा ही। वाक्य से जो अर्थ अभिव्यक्त होता है, उतना ही ग्रहण करना चाहिए। 'स्वयं वा निषद्य यजति' वाक्य केवल याज्या-विषयक है। अत: यजमान द्वारा याज्या-पाठ में सोमभक्षण होता का होना चाहिए ॥४४॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

यष्टुर्वा कारणागमात् ॥४५॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—'होता का याज्या से अपनय होने पर भी सोमभक्षण से अपनय नहीं होगा' यह कथन युक्त नहीं है। अत: [यष्टुः] यजन करनेवाले यजमान का सोमभक्षण निश्चित है, [कारणागमात्] कारण = सोमभक्षण कारण के आगम = प्राप्त होने से; तात्पर्य है—जो यजन करता है, उसी का सोमभक्षण होता है।

'स्वयं वा निषद्य यजति' वाक्य में 'यजति' का अर्थ है—यजन करता है। देखना चाहिए, 'यजन' का स्वरूप क्या है? याज्या-ऋचाओं का पाठ करना, उसके अनन्तर 'वषट्कार'-उच्चारणपूर्वक आहवनीय अग्नि में सोम की आहुति देना, यह सब व्यापार 'यजति' क्रिया के पेटे में आता है। वषट्कार का उच्चारण सोमभक्षण का कारण है; जो उच्चारण करेगा, उसी का सोमभक्षण है। याज्या-ऋचाओं के पाठ के अनन्तर यजमान वषट्कार-उच्चारणपूर्वक अग्नि में आहुति प्रदान करता है, अत: सोमभक्षण यजमान का है।

गत सूत्र की व्याख्या में जो यह कहा गया कि यजमान द्वारा याज्या-पाठ के अनन्तर वषट्कार का उच्चारण होता करेगा, यह कथन अशास्त्रीय है। यजन के विषय में शास्त्र का निर्देश है—'अनवानता यष्टव्यम्'—बीच में श्वास लिये बिना यजन करना चाहिए। याज्या ऋचा के अन्त में वषट्कार-उच्चारणपूर्वक अग्नि में आहुति देना, यह सब एक श्वास में होना चाहिए। यह तभी सम्भव है, जब स्वयं यजमान याज्या-पाठ के अन्त में 'वषट्' उच्चारण करता हुआ आहुति देता है। मध्य में होता द्वारा वषट्कार का उच्चारण मानने पर एक श्वास में यजन का होना असम्भव है। इसलिए 'स्वयं वा निषद्य यजति' द्वारा विहित यजन-कर्म के मध्य में श्वास न लेने का [अनवानता यष्टव्यम्] विधान है। यजमान द्वारा स्वयं बैठकर यजन करने का विधान केवल याज्यामात्र-उच्चारण में

पर्यवसित नहीं है। यह साङ्ग कर्म के पूर्ण अनुष्ठान का विधान है, अतः इसमें यजमान का सोमभक्षण निश्चित है ॥४५॥

गत सूत्र में जो यह कहा गया कि स्वयं यजमान द्वारा यजन करने पर भी जैसे ऋत्विक् रूप में होता का वरण अपनीत नहीं होता, वैसे ही होता का सोम-भक्षण भी अपनीत नहीं होगा। इस विषय में सूत्रकार ने बताया—

प्रवृत्तत्वात् प्रवरस्यानपायः ॥४६॥

[प्रवृत्तत्वात्] प्रारम्भ से होता का वरण होकर याग की सम्पन्नता तक होता-पन प्रवृत्त=चालू रहने के कारण [प्रवरस्य] वरण का [अनपायः] अपनय= दूर होना=उच्छेद नहीं होता।

यजमान द्वारा होता ऋत्विक् का वरण याग के प्रारम्भ में हो जाता है। होता की यह स्थिति याग सम्पन्न होने तक सम्पूर्ण यागकाल में बनी रहती है। यदि विधान के अनुसार यजमान स्वयं याज्या का यजन करता है, तो इससे वरण किये होता का होतृभाव समाप्त नहीं हो जाता। ज्योतिष्टोम प्रकृतियाग है; प्रकृतियागों में जो विधि जहाँ कहा है, वहाँ उसी प्रकार उसका अनुष्ठान होना चाहिए। ऐसा न करने पर कर्म विगुण हो जाता है। विगुण कर्म अभीप्सित फल देने में असमर्थ रहता है। विकृतियागों में ऐसा होता है कि जहाँ जो कर्म अपेक्षित है, पर कथित नहीं है, उसका 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' वचन के अनुसार प्रकृतियाग में उस अवसर पर जैसा कहा है, वैसा अनुष्ठान कर लिया जाता है। पर ज्योतिष्टोम प्रकृतियाग है; यहाँ जो विधान जहाँ है, वह सब अपूर्वविधि है। यदि यजमान के द्वारा स्वयं याज्या-होम से होता का वरण उच्छिन्न माना जाय, तो आगे होम के लिये उसका पुनः वरण करना होगा। यह नितान्त विधिहीन हो जायगा, क्योंकि इस अवसर पर वरण का विधान नहीं है। ऐसा करने से समस्त कर्म विगुण व निष्फल हो जायगा। अतः यजमान के याज्या-होम से होता का होतृभाव अपनीत नहीं होता। याज्या-ऋचा के उच्चारणपूर्वक यजमान वषट्कार करता है, और आहवनीय अग्नि में सोम की आहुति देता है। 'यत्र वषट्कारस्तत्र भक्षणमपि' इस व्यवस्था के अनुसार सोमभक्षण यजमान का ही होगा। फलतः इस अनुष्ठान में होता से सोमभक्षण का अपनय है, होतृ-वरण का नहीं,—यह सिद्धान्त निश्चित होता है ॥४६॥ (इति स्वयं यष्टुर्यजमानस्य भक्षास्विताधिकरणम्—१८)।

(फलचमसस्य इज्याविकारताधिकरणम्—१९)

ज्योतिष्टोम-प्रसंग में सन्दर्भ पठित है—"स यदि राजन्यं वा वैश्यं वा याज-येत्, स यदि सोमं विभक्षयिषेत्, न्यग्रोधस्तिभीराहृत्य ताः सम्पिष्य दधनि उन्मृज्य

तमसौ भक्षं प्रयच्छेन्न सोमम्"[१]—यदि ज्योतिष्टोम याग करनेवाला क्षत्रिय अथवा वैश्य है, और वह सोमभक्षण करना चाहता है, तो उसको वट वृक्ष की कोंपल-कलियों का रस दही में मिलाकर भक्षण करावें, सोमभक्षण न करायें। यहाँ सन्देह है—क्या यह फलचमस (बड़ की कलियों के दधिमिश्रित रस से भरा चमस) भक्ष का विकार है? अथवा याग का विकार? तात्पर्य है—क्या यह केवल भक्षण के लिए है? और आहुति सोम की ही दी जायगी? अथवा आहुति भी फलचमस की दी जायगी?

सन्दर्भ-पदों के आधार पर ज्ञात होता है कि फलचमस का सम्बन्ध भक्षण के साथ है, इसलिए यह भक्ष का विकार होना चाहिए। इसी अर्थ को पूर्वपक्षरूप में सूत्रकार ने कहा—

फलचमसो नैमित्तिको भक्षविकारः श्रुतिसंयोगात् ॥४७॥

[नैमित्तिकः] निमित्तविशेष से प्राप्त हुआ [फलचमसः] फल-रसोंवाला चमस [भक्षविकारः] सोमभक्षण का विकार है; अर्थात् केवल सोमभक्षण के स्थान पर इसका प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि [श्रुतिसंयोगात्] श्रुति-पदों से भक्षण के साथ इसका सम्बन्ध ज्ञात होता है।

श्रुति-सन्दर्भ में पद हैं—'तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत्' क्षत्रिय या वैश्व यजमान के लिए उस फलचमस को सोमभक्षण के स्थान में भक्षणरूप प्रदान करे। 'भक्षं प्रयच्छेत्' पद हैं, 'यजेत्' अथवा 'इज्यां कुर्यात्' यजन करे, ऐसा उल्लेख नहीं है। इसलिए फलचमस को भक्ष का विकार मानना चाहिए। आहुति सोम की दी जानी चाहिए ॥४७॥

पूर्वपक्ष का निवारण करता हुआ आचार्य सूत्रकार सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत करता है—

इज्याविकारो वा संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥४८॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—फलचमस भक्षविकार नहीं है, [इज्याविकारः] याग का विकार है, [संस्कारस्य] संस्कार के [तदर्थत्वात्] याग के लिए होने से।

वट वृक्ष की घुंडियों और कोंपल-पत्तों को पीस-छानकर निकाले गये रस में दही मिलाकर संस्कार किया गया याग-साधनद्रव्य याग के लिए है। आहुति के लिए जिस चमस में यह संस्कृत द्रव्य भरा जाता है, वह 'फलचमस' है। जैसे—

---

१. इसका उल्लेख सूत्र [३।५।२२] पर भी हुआ है। वाक्य तुलना करें, आप० श्रौ० [१२।२४।५], तथा सत्या० (हिरण्य०) श्रौ० [८।७।४३]

सन्दर्भ के उपसंहार में फलचमस का 'भक्षति' के साथ सम्बन्ध है, ऐसे ही सन्दर्भ के उपक्रम में उसका 'यजति' के साथ सम्बन्ध है। प्रारम्भ में स्पष्ट कहा है— 'क्षत्रियं वा वैश्यं वा याजयेत्' क्षत्रिय अथवा वैश्य को जब ज्योतिष्टोम यजन कराये। इस याग का साधन-द्रव्य क्या होगा? यह अगले पदों से स्पष्ट है— 'न्यग्रोधस्तिभीराहृत्य ताः सम्पिष्य दधनि उन्मृज्य' वट वृक्ष की ताज़ा घुंडियों, कोंपल पत्तों व फलों को तोड़, उन्हें पीस-छानकर तैयार किये फलरस में दही मिलाकर सम्पन्न हुआ द्रव्य-याग का साधन है।

ज्योतिष्टोम में क्षत्रिय अथवा वैश्य यजमान होने पर उन्हीं के निमित्त से यह फलरस सोम के स्थान में याग-साधन होने के कारण यद्यपि नैमित्तिक है, तथापि ब्राह्मण यजमान होने पर जो कर्म सोम द्वारा सम्पन्न होता है, वह सब कर्म क्षत्रि-यादि यजमान होने पर फलरस द्वारा सम्पन्न होगा। नैमित्तिक होने से फलचमस का 'यजति' से सम्बन्ध तोड़ा नहीं जा सकता। जैसे भक्षण के साथ फलचमस का सम्बन्ध श्रुत है, ऐसे ही 'याजयेत्' यह 'यजति' के साथ सम्बन्ध श्रुत है। इससे उपक्रम और उपसंहार दोनों का सामञ्जस्य अबाधित रहता है। भक्षति के साथ फलचमस का सम्बन्ध तभी सम्भव है, जब पहले यजति के साथ सम्बन्ध हो। भक्षण यागकाल में यागशेष का ही माना गया है।

सन्दर्भ के अन्तिम पद 'न सोमम्' क्षत्रियादि यजमान होने पर 'सोम का निषेध' यह स्पष्ट करते हैं कि ऐसी स्थिति में सोम का पूरा प्रतिनिधित्व फलचमस ग्रहण करता है। यदि फलचमस का सम्बन्ध केवल भक्षण से माना जाय, तो प्रश्न होगा—ऐसे याग में आहुति किस द्रव्य की दी जाय? यदि आहुति सोम की मानी जाती है, तो भक्षण में सोम का निषेध अनुपपन्न होगा, क्योंकि भक्षण यज्ञशेष का ही होता है, और वह सोम होगा। इसलिये भक्षण में सोम का निषेध तभी उपपन्न होगा, जब फलचमस का 'यजति' से सम्बन्ध माना जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है, फलचमस इज्या (=याग) का विकार है; याग=यजन से सम्बद्ध है ॥४८॥

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ की पुष्टि में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

होमात् ॥४९॥

[होमात्] होम का निर्देश पाये जाने से सिद्ध होता है कि फलचमस इज्या का विकार है।

फलचमस से होम किये जाने का निर्देश पाया जाता है। वाक्य है—'यदान्यां-श्चमसान् जुह्वति अथैतस्य दर्भतरुणकेनोपहृत्य जुहोति'[1] जब ऋत्विज् अन्य चमसों

---

१. तुलना करें—'यदान्यांश्चमसान् जुह्वत्यथैतस्य दर्भतरुणेनोपहृत्यान्तः परिध्या-हवनीयादङ्गारं निवर्त्य अहं त्वदस्मि इति जुहोति' सत्या० (हिरण्य०) श्रौ०

का होम करते हैं, तब इस फलचमस को—दर्भ की दृढ़ डण्ठी अथवा दर्भमुष्टि [दाभ घास के अनेक तिनकों को मिलाकर बनाई कूंची] से हिलाकर होम करता है। फलचमस के होम का यह स्पष्ट निर्देश सिद्ध करता है कि फलचमस इज्या का विकार है, अर्थात् वह याग के लिए तैयार किया जाता है; केवल भक्षण के लिए नहीं। यागशेष का भक्षण तो स्वतः प्राप्त होता है ॥४६॥

इसी अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

चमसैश्च तुल्यकालत्वात् ॥५०॥

[चमसैः]अन्य चमसों के साथ [तुल्यकालत्वात्]फलचमस को होम के लिए उठाने का समानकाल होने से [च] भी जाना जाता है कि यह इज्या का विकार है, अर्थात् याग से सम्बद्ध है।

वाक्य है—'यदान्यांश्चमसानुन्नयन्ति, अथैतं यजमानचमसमत उन्नयति' [सत्या० श्रौ०, ८।७।४३] जब अन्य चमसों का द्रोणकलश से उन्नयन करते हैं, तब इस यजमान-चमस (फलचमस) का उपपात्र से उन्नयन करता है, जिसमें न्यग्रोधस्तिभियों का रस भरा रक्खा है। द्रोणकलश में सोमरस भरा है। होम के लिए चमसों से भरकर जैसे वह उठाया जाता है, ऐसे ही वट वृक्ष की घुंडियों व कोंपल-पत्तों का दधिमिश्रित रस जिस पात्र में भरा रहता है, वहाँ से होम के लिए उसको यजमान-चमस (फलचमस)में भरकर उठाया जाता है। इससे स्पष्ट होता

(८।७।४३)वाक्य के 'दर्भतरुणेन' पद के स्थान पर शत०ब्रा० (३।१।२।७) में 'दर्भतरुणकेनादधाति' पाठ है। तरुण पद से ह्रस्व अर्थ में [अष्टा० ५।३।८६] 'क' प्रत्यय होने से पद का अर्थ होगा—दाभ घास के तिनकों से बनाया गया छोटा-सा गुच्छा, न अधिक लम्बा हो न अधिक मोटा। तिनके केवल इतने होने चाहिएँ कि बँधकर जिनमें दृढ़ता आ जाय। लम्बाई छह अंगुल और मोटाई कनिष्ठिका अंगुली के अग्रभाग के बराबर पर्याप्त है। यह इसीलिये है कि फलचमस में भरे रस को गुच्छे के अग्रभाग से हिलाये जाने पर तिनके मुड़ न जायें तथा रस गुच्छे के अग्रभाग में इतना लग जाय, जिससे आहवनीय में आहुति दी जा सके, अथवा आहवनीय से अंगारा निकालकर उसी परिधि (सीमा) में उसे रखकर गुच्छे से रस को उसपर छिटका जा सके।

उक्त सन्दर्भ में यही निर्देश है—जब अन्य चमसों को होमते हैं, तब इस फलचमस के रस को दर्भ के लघु गुच्छे के अग्रभाग से हिलाकर एवं आहवनीय की परिधि में ही आहवनीय से अलग रक्खे अंगार पर गुच्छे में लगे रस को 'अहं त्वदस्मि' यह उच्चारण करता हुआ होमता है।

है, फलचमस याग से सम्बद्ध है, केवल भक्षण से नहीं ॥५०॥

इसी अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

लिङ्गदर्शनाच्च ॥५१॥

[लिङ्गदर्शनात्] लिङ्ग=हेतु के देखे जाने से [च] भी फलचमस इज्या-विकार सिद्ध होता है।

चालू अधिकरण के विवेचनीय प्रारम्भिक वाक्य के उपसंहार में कहा है—'तमस्मै भक्षं प्रयच्छेन्न सोमम्' अस्मै—इस क्षत्रिय व वैश्य यजमान के लिए उस भक्ष को देवे, सोम न देवे। सोमभक्षण का निषेध इस तथ्य का प्रयोजक है कि आहवनीय में आहुति न्यग्रोधस्तिभियों के दधिमिश्रित रस की दी गई है। यदि उसकी आहुति न दी जाती, तो सोम की दी जाती। उस अवस्था में सोमभक्षण का निषेध सम्भव न था, क्योंकि भक्षण हुतशेष का ही होता है। इससे सोमभक्षण-निषेध इस बात का प्रयोजक है कि क्षत्रियादि यजमान होने पर आहवनीय में आहुति न्यग्रोधस्तिभियों के दधिमिश्रित रस की दी गई है। उसी का शेष, भक्ष के लिए प्रस्तुत किया गया। आहवनीय में जिसकी आहुति दी जाती है, उसे याग से असम्बद्ध कौन कह सकता है? इसके परिणामस्वरूप फलचमस इज्या का विकार है, यह निश्चित है ॥५१॥ (इति फलचमसस्य इज्याविकारताऽधिकरणम्—१९)।

(ब्राह्मणानामेव राजन्यचमसानुसर्पणाधिकरणम्—२०)

राजसूय याग के अन्तर्गत 'दशपेय' नामक एक यागविशेष है। उस प्रसंग में वाक्य है—'शतं ब्राह्मणाः सोमान् भक्षयन्ति; दशदशैकैकं चमसमनुसर्पन्ति' सौ ब्राह्मण सोम का भक्षण करते हैं; दश-दश एक-एक चमस के प्रति अनुसर्पण करते हैं।

राजसूय याग के अनुष्ठान का अधिकार राज्याभिषिक्त राजा का माना गया है। इस याग के पूर्ण होने में एक वर्ष से कुछ अधिक दिन लग जाते हैं। इसका आरम्भ फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा से होता है। एक वर्ष और एक मास तक विभिन्न कर्म होते रहते हैं, तत्पश्चात् अगले वर्ष चैत्रशुक्ला प्रतिपदा के दिन अभिषेचनीय-संज्ञक सोमयाग होता है; वह पाँच दिन साध्य है। इसमें प्रथम दिन दीक्षा, अगले तीन दिन उपसत्, तत्पश्चात् एक दिन सुत्या=सोमयाग होता है। तदनन्तर दश संसृप[1] हवियों का याग। इनका विवरण है—षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी और एकादशी के छह दिनों में छह संसृप हविष्क याग होते हैं। तत्पश्चात्

---

१. संसृप हवि=तरल हवि आज्य, सोम तथा न्यग्रोधस्तिभियों का दधिमिश्रित स्वरस।

द्वादशी के दिन शेष चार संसृप हविष्क याग। द्वादशी से ही 'दशपेय' याग का आरम्भ होता है। दशपेय के प्रथम दिन का दीक्षा-कर्म अभिषेचनीय में हो जाता है, अतः द्वादशी, त्रयोदशी और चतुर्दशी में तीन उपसत्, और चौथे पूर्णिमा के दिन सुत्या=सोमयाग होता है।[१]

इसी अवसर पर 'शतं ब्राह्मणाः' आदि वाक्य श्रुत हैं, यद्यपि ये वाक्य वर्त्तमान वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध नहीं हैं। 'दशपेय' नाम का निमित्त बनाने के लिए वाक्य का उत्तरांश शतपथ ब्राह्मण [५।४।५।३] में निम्नांकित रूप से उपलब्ध है—'अथ यद्दशमेऽह्नन् प्रसुतो भवति तस्माद्दशपेयः, अथो यद्दशदशैकैकं चमसमनुसृप्ता भवन्ति तस्माद्वेव दशपेयः' दशपेय नाम के दो निमित्त बताये : एक—दसवें दिन अनुष्ठित होना; दूसरा—दस-दस की एक संख्या में एक-एक चमस के लिए अनुसर्पण करना।

यहाँ चमस दस हैं–एक यजमान का राजन्यचमस, नौ चमस ब्राह्मण ऋत्विजों के। एक-एक चमस के शेष हवि को दस-दस व्यक्तियों ने भक्षण करना है। यहाँ राजन्य चमस में सन्देह है–उसका भक्षण दस राजन्य करें ? अथवा उसका भक्षण भी दस ब्राह्मण करें ? यजमान राजन्य है, इसलिये उस चमस का भक्षण दस राजन्य व्यक्तियों द्वारा किया जाना प्राप्त होता है। इसी अर्थ को सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत किया—

अनुप्रसर्पिषु सामान्यात् ॥५२॥

[अनुप्रसर्पिषु] राजन्यचमस सोम का अनुसर्पणपूर्वक भक्षण करनेवालों में [सामान्यात्] वर्णसाम्य से राजन्य ही अनुसर्पण करें, ऐसा जाना जाता है।

दस व्यक्तियों का एक-दूसरे के पीछे धीरे-धीरे सरकना अनुसर्पण है। यह सोमभक्षण के लिए होता है। अतः वर्ण की समानता के आधार पर राजन्यचमस-सोमभक्षण के लिए दस राजन्य व्यक्तियों का अनुसर्पण समञ्जस प्रतीत होता है।

शंका है—वाक्य में 'शतं ब्राह्मणाः' पठित है, यदि राजन्यचमस का दस राजन्य भक्षण करते हैं और शेष नौ चमसों का नव्वे ब्राह्मण, तो वाक्य में ब्राह्मणों की शत संख्या का कथन असंगत हो जाता है। अतः राजन्यचमस के भक्षण के लिए दश ब्राह्मणों का ही अनुसर्पण मानना चाहिए। यद्यपि आपाततः यह कथन युक्त प्रतीत होता है, पर वास्तविकता यह नहीं है। शत संख्या का असामञ्जस्य उस दशा में कहा जा सकता है जब शत संख्या का यहाँ विधान किया गया हो। वस्तुतः शतसंख्य 'दशदशैकैकं' से ही प्राप्त है। यहाँ 'शतं ब्राह्मणाः' में शतसंख्या अनुवादमात्र है। ब्राह्मण पद अधिक संख्या होने से दिया गया है। ग्राम में सभी वर्णों के

१. द्रष्टव्य—युधिष्ठिर मीमांसककृत शाबरभाष्य, हिन्दी व्याख्या, पृष्ठ ६६४॥

लोग रहते हैं, पर यह ब्राह्मणों का ग्राम है, यह ठाकुरों का, ऐसा व्यवहार उस वर्ण की अधिक संख्या होने के कारण लोक में देखा जाता है। फलतः 'शतं ब्राह्मणाः' में सौ संख्या राजन्य मिलकर अभिप्रेत है। इसके अनुसार राजन्यचमस के राजन्य व्यक्तियों का अनुसर्पण निर्बाध है।

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य है कि राजन्यचमस न्यग्रोधस्तिभियों से तैयार किया जाता है। वह सोमचमस नहीं है। सोमचमस उच्छिष्ट नहीं माना गया; पर राजन्यचमस में उच्छिष्टता-दोष होगा, जो ब्राह्मण के लिए अग्राह्य है। इसलिये राजन्यचमस में राजन्य का ही अनुसर्पण युक्त प्रतीत होता है ॥५२॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

ब्राह्मणा वा तुल्यशब्दत्वात् ॥५३॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—राजन्यचमस-भक्षण के लिए राजन्य ही अनुसर्पण करें, यह कथन युक्त नहीं है; [ब्राह्मणाः] राजन्यचमस में ब्राह्मण अनुसर्पण करें, [तुल्यशब्दत्वात्] उक्त वाक्य में एकमात्र ब्राह्मण शब्द का प्रयोग होने से।

एक पद के अर्थ में जैसे 'समान' शब्द का प्रयोग होता है, ऐसे ही सूत्र में 'तुल्य' शब्द का प्रयोग एकार्थवाचक है। 'शतं ब्राह्मणाः' इत्यादि वाक्य में 'ब्राह्मणाः' यही एक शब्द वर्णवाचक प्रयुक्त है; राजन्य या क्षत्रिय आदि अन्य कोई पद पठित नहीं है। साक्षात् श्रुति-पठित पद को बाधित नहीं किया जा सकता। ब्राह्मणग्राम आदि न्याय से ब्राह्मणों की अधिक संख्या के कारण ब्राह्मण पद का प्रयोग है, यह कहकर ब्राह्मणों के अनुसर्पण में राजन्य व्यक्तियों का प्रवेश असंगत है। राजन्य-चमस-समेत दस चमस हैं, दस-दस के समूह के लिए एक-एक चमस विभक्त है। दस-दस के दस समूहों में सौ पूरे होते हैं। वे सौ ब्राह्मण हैं। इस प्रकार पूर्वापर वाक्यों का परस्पर सामञ्जस्य स्पष्ट है। सौ की संख्या में राजन्यसमूह के प्रवेश का कोई संकेत यहाँ नहीं है, अन्यथा ब्राह्मण पद बाधित होगा। 'भक्षयन्ति' और 'अनुसर्पन्ति' दोनों क्रियापदों का कर्तृपद 'ब्राह्मणाः' है। तब राजन्यचमस के भक्षण के लिए दस ब्राह्मण ही अनुसर्पण करेंगे।

'शतम्' पद का सीधा सम्बन्ध 'ब्राह्मणाः' के साथ है। यहाँ शत ब्राह्मणों का सोमभक्षणार्थ अनुसर्पण विहित है। उसी 'शत' को आगे दस-दस के दस समूहों में विभक्त किया है। इस विभाग के आधार पर 'शतम्' को अनुवाद कहना, उलटी गंगा बहाने अथवा वस्तुस्थिति का शीर्षासन कर देने के समान है। फलतः दस चमसों के भक्षण-निमित्त में सौ ब्राह्मणों का दस-दस के दस समूहों के रूप में अनुसर्पण निश्चित है। दस चमसों में एक राजन्यचमस है। उसके भक्षण-निमित्त भी

ब्राह्मणसमूह का अनुसर्पण मान्य है।

यहाँ यह कहना भी संगत न होगा कि अन्य सोमचमस विभिन्न व्यक्तियों द्वारा भक्षण किये जाने पर भी उच्छिष्ट नहीं माने जाते। पर राजन्यचमस सोमचमस न होकर न्यग्रोधस्तिभियों का रस है। उसमें उच्छिष्टता-दोष रहने से वह ब्राह्मण के अयोग्य है। इस कथन की असंगति का कारण ब्राह्मण आचार्यों ने बताया है—न्यग्रोधस्तिभियों का रस राजन्य के लिए सोमस्थानीय है। सोम के धर्म उसमें भी मान्य होंगे। तब सोम के समान उच्छिष्टता-दोष उसमें भी मान्य न होगा। इसलिये राजन्यचमस में भी ब्राह्मण द्वारा भक्षण निमित्त अयोग्यता नहीं है।[1] फलतः शत ब्राह्मणों में दश ब्राह्मण राजन्यचमस के प्रति अनुसर्पण करते हैं, यह सिद्धान्त निश्चित होता है ॥५३॥ (इति ब्राह्मणानामेव राजन्यचमसानुप्रसर्पणाऽधिकरणम्—२०)।

इति जैमिनीयमीमांसासूत्राणां विद्योदयभाष्ये
तृतीयाध्यायस्य पञ्चमः पादः।

१. इस निर्णय से प्रतीत होता है, भक्षण के विषय में ब्राह्मण सदा सबसे आगे रहा है। भक्ष्य उत्तम होना चाहिए, भले ही वह उच्छिष्ट आदि दोषयुक्त हो।

तृतीयाध्याये षष्ठः पादः

(स्रुवादिषु खादिरतादिविधेः प्रकृतिगामिताऽधिकरणम्—१)
अथवा
(अनारभ्याधीतविधीनां प्रकृतिगामित्वाधिकरणम्)

कतिपय विधिवाक्य ऐसे हैं, जो किसी विशेष प्रकरण का आरम्भ करके नहीं पढ़े गये। तैत्तिरीय संहिता [३।५।७।१] में ऐसा एक वाक्य है—'यस्य खादिरः स्रुवो भवति (स) छन्दसामेव रसेनावद्यति। सरसा अस्य आहुतयो भवन्ति' जिस यजमान का स्रुव-पात्र खैर की लकड़ी का बना होता है, वह मानो छन्दों के रस से ही अवदान करता है। तात्पर्य है—ऐसा करना पूर्ण वेदोक्त कर्म है। खैर लकड़ी के बने स्रुव-पात्र से दी हुई आहुतियाँ फलवती—अभ्युदय को देनेवाली—होती हैं।

इसी के आगे संहिता में अन्य वाक्य है—'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' जिस यजमान का जुहू नामक यज्ञिय पात्र पलाश (ढाक) की लकड़ी का बना होता है, वह निन्दायुक्त वचन नहीं सुनता।

इनके विषय में सन्देह है—क्या खैर की लकड़ी से स्रुव-पात्र बनाने का विधान तथा ढाक की लकड़ी से जुहू-पात्र बनाने का विधान प्रकृतियाग के साथ सम्बन्ध रखता है? अथवा प्रकृति और विकृति दोनों प्रकार के यागों के साथ? प्रतीत होता है—उक्त विधि का दोनों प्रकार के यागों के साथ सम्बन्ध होना चाहिए, क्योंकि इन पात्रों का दोनों प्रकार के यागों में समानरूप से उपयोग होता है। इसी अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

सर्वार्थमप्रकरणात् ॥१॥

उक्त विधान [सर्वार्थम्] सभी प्रकृति एवं विकृति यागों के लिए है, [अप्रकरणात्] किसी विशेष याग के प्रकरण में पठित न होने से।

जो विधिवाक्य किसी विशेष (=एक) याग का आरम्भ न करके—बिना विशेष प्रकरण के—पठित होते हैं, उन्हें 'अनारभ्याधीत' (=अनारभ्य-अधीत)

कहा जाता है। उक्त वाक्य इसी प्रकार के हैं। यह विधान प्रकृति-विकृति दोनों प्रकार के यागों से सम्बद्ध मानना चाहिए, क्योंकि ये किसी एक के प्रकरण में पठित नहीं हैं ॥१॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का निवारण करते हुए सिद्धान्त-पक्ष बताया—

प्रकृतौ वा अद्विरुक्तत्वात् ॥२॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। अप्रकरणपठित विधि-वाक्य दोनों प्रकार के यागों से सम्बद्ध माने जायँ, यह कथन युक्त नहीं है। [प्रकृतौ] वे वचन प्रकृतियाग में सम्बद्ध रहते हैं, [अद्विरुक्तत्वात्] दो बार कथन न हो जाय, इस कारण।

तात्पर्य है—अप्रकरणाधीत विधिवाक्य यदि प्रकृति-विकृति दोनों में सम्बद्ध माने जाएँ, तो विकृति में इस विधि का दो बार कथन हो जायगा। एक—प्रथम साक्षात् विधान; दूसरा—'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस व्यवस्था के अनुसार प्रकृतिगत खादिरतादि धर्म विकृति में पुनः प्राप्त होंगे। इस प्रकार स्रुव खदिर का और जुहू पलाश का होना चाहिए, यह द्विरुक्त हो जायगा। एक ही कर्म का दो बार विधान व्यर्थ होने से अशास्त्रीय है। इसलिए खादिरता आदि का विधान केवल एक प्रकृतियाग से सम्बद्ध मानना चाहिए। इससे विकृतियागों में खादिर स्रुव आदि के प्रयोग में कोई बाधा न होगी। अतिदेश-वाक्य (प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या) से वह विकृतियागों में अनिर्बाध प्राप्त है। इस कारण विकृतियाग अप्रकरण-पठित विधि की आकांक्षा नहीं रखता, अतः वह विधिवाक्य विकृति में विधान नहीं करेगा। इसलिए अनारभ्याधीत विधिवाक्यों का सम्बन्ध व सन्निवेश केवल प्रकृतियागों में मानना युक्त है ॥२॥

पूर्वपक्षवादी सिर उठाकर पुनः कहता है—अनारभ्याधीत विधिवाक्यों का विकृतियाग में सम्बन्ध मानने पर भी द्विरुक्तता-दोष प्राप्त नहीं होगा। आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के आशय को सूत्रित किया—

तद्वर्जन्तु वचनप्राप्ते ॥३॥

[तु] 'तु' पद पूर्व-सूत्रोक्त अर्थ की व्यावृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—अनारभ्य-अधीत अथवा अप्रकरण-पठित विधियों का विकृतियागों में निवेश मानने से द्विरुक्ति-दोष आता है, यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि अतिदेशवाक्य की प्रवृत्ति [तद्वर्जम्] अप्रकरण-पठित विधियों के विकृतियाग में निवेश-प्रसंग को छोड़कर [वचनप्राप्ते] वचनप्राप्त विधि में होती है। तात्पर्य है—जो विधि-प्रकरणपठित हैं, उन्हीं में अतिदेश-वाक्य प्रवृत्त होता है।

'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' जो धर्म प्रकृतियागों में विहित हैं, उनका अति-

देश विकृतियागों में कर लेना चाहिए, यदि उन धर्मों का विकृतियागों में अनुष्ठान अपेक्षित है, और विधान वहाँ हुआ नहीं। यह अतिदेश उन्हीं स्थलों में प्रवृत्त होता है, जहाँ प्रकृतियागों में अनुष्ठेय धर्म विहित हैं, और विकृतियागों में वे अपेक्षित हैं। इसलिए अप्रकरण-पठित वचन से प्रकृति-विकृति उभयविध यागों के लिए खादिरतादि धर्मों का विधान है।

यह कहना भी ठीक नहीं है कि विकृति में खादिरतादि धर्म-चोदक वाक्य (प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या) से प्राप्त होते हैं। क्योंकि अप्रकरण-पठित विधि से विकृतियाग में उन धर्मों के प्राप्त हो जाने पर विकृतियाग चोदक वाक्य की आकांक्षा ही नहीं रखता, इसलिए अप्रकरण-पठित विधि को छोड़कर चोदक वाक्य अन्यत्र उन धर्मों को प्राप्त करायेगा। अप्रकरण-पठित वाक्य से स्रुव में खादिरता-धर्म प्रत्यक्ष है। विकृति में चोदक वाक्य से खादिरता आदि की प्राप्ति आनुमानिक है। आनुमानिक वाक्य से प्रत्यक्ष वाक्य बलवान् होता है। इसलिए अप्रकरण-पठित विधि प्रकृति-विकृति दोनों के लिए मानी जानी चाहिए॥३॥

पूर्वपक्षवादी द्वारा सिद्धान्त-पक्ष की ओर से प्रस्तुत आशंका को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

दर्शनादिति चेत् ॥४॥

[दर्शनात्] विकृतियागों में प्रयाज आदि के देखे जाने से अप्रकरण-पठित विधि चोदकवाक्य की अपेक्षा बलवान् नहीं है [इति चेत्] ऐसा यदि कहो तो, (वह युक्त नहीं; अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)।

गत सूत्र में पूर्वपक्षवादी ने कहा है कि अप्रकरण-पठित विधि की अपेक्षा चोदक वचन दुर्बल है, अतः अप्रकरणपठित विधि को छोड़कर चोदक वाक्य प्राप्त होता है। इसमें केवल दुर्बलता के अंश को लेकर सिद्धान्त-पक्ष की ओर से आशंका व्यक्त की गई है—यदि चोदक वाक्य दुर्बल है, तो विकृति में प्रयाजों का देखा जाना उपपन्न होगा। प्रायः समस्त इष्टि दर्श-पूर्णमास यागों के विकृति हैं। ब्रह्मवर्चस कामनावाले के लिए विहित सौर्येष्टि में वाक्य पठित है, 'प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति।'[1] प्रत्येक प्रयाज में कृष्णल का होम करता है। गुञ्जा, घोंगची या चौंटली का नाम 'कृष्णला' है। उतने परिमाण की सुवर्णगुटिका के लिए 'कृष्णल' पद का प्रयोग है। सौर्येष्टि में प्रयाज होम का दर्शन तभी उपपन्न हो सकता है, जब चोदक वाक्य को बलवान् माना जाय। इसलिए अप्रकरण-पठित विधिवाक्यों का निवेश प्रकृति-विकृति उभयविध यागों में न मानकर केवल प्रकृतियागों में मानना चाहिए। विकृतियाग में उन विधियों का अपेक्षित

---

१. द्रष्टव्य—तैत्तिरीय संहिता, २।३।२॥

प्रयोग चोदक वाक्य के आधार पर होगा ॥४॥

सिद्धान्तवादी की इस आशंका के समाधान को पूर्वपक्षवादी की ओर से सूत्रकार ने सूत्रित किया—

न चोदनैकार्थ्यात् ॥५॥

[न] विकृतियाग में प्रयाजों के देखे जाने से चोदक=अतिदेश-वाक्य अप्रकरण-पठित विधिवाक्य से बलवान् नहीं है, [चोदनैकार्थ्यात्] चोदनवाक्य का अन्यत्र प्रयोजन होने से। तात्पर्य है—जहाँ अप्रकरण-पठित विधिवाक्य से विकृति में कर्म-प्राप्ति होती है, उससे अन्य स्थलों में चोदक वाक्य विधियों की प्राप्ति के लिए चरितार्थ है।

अप्रकरण-पठित और प्रकरणविशेष में पठित विधिवाक्यों के अपने-अपने कार्यक्षेत्र हैं। प्रकरणविशेष में पठित विधिवाक्य उसी प्रकृतियाग से सम्बद्ध हैं, जिसके प्रकरण में वे पठित हैं। विकृतियाग में उन विधियों की प्राप्ति चोदक-वाक्य से होती है। इससे विपरीत जो अप्रकरण-पठित विधिवाक्य हैं, उनका सम्बन्ध किसी एक प्रकृतियाग से न होकर दोनों प्रकार के प्रकृति-विकृति यागों में उनका निवेश मानना युक्त है; क्योंकि वे किसी विशेष प्रकृतियाग के प्रकरण में पठित नहीं है। फलतः 'यस्य खादिरः स्रुवो भवति' आदि अप्रकरण-पठित विधिवाक्य प्रकृति-विकृति दोनों यागों में स्रुव की खादिरता एवं जुहू की पाला-शता के प्रत्यक्ष विधायक हैं। चोदक वाक्य का कार्यक्षेत्र इनको छोड़कर अन्यत्र है। इसलिए अप्रकरण-पठित विधिवाक्यों का प्रकृति-विकृति दोनों में निवेश मानना चाहिए ॥५॥

पूर्वपक्षवादी द्वारा सिद्धान्तपक्ष की ओर से उद्भावित अन्य आशंका को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

उत्पत्तिरिति चेत् ॥६॥

[उत्पत्तिः] सभी विधिवाक्यों की उत्पत्ति प्रकृतियागों में होती है, इसलिए खादिरत्वादि विशिष्ट स्रुव आदि के विधायक वाक्यों का प्रकृतियाग में निवेश मानना चाहिए; [इति चेत्] ऐसा यदि कहो, तो—(वह ठीक नहीं, अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है।)

कोई भी विधिवाक्य—चाहे अप्रकरणपठित हो अथवा प्रकरणविशेष में—प्रकृतियाग में ही उत्पन्न माना जाता है। उसका उत्पत्ति-स्थान प्रकृतियाग है। प्रत्येक विधिवाक्य प्रथम प्रकृतियाग का निर्देश करता है। 'यस्य खादिरः स्रुवो भवति' वाक्य भी खादिरत्वादि विशिष्ट स्रुव का विधान प्रथम प्रकृतियाग से सम्बद्ध ही कहता है। विकृतियाग अनन्तर-काल में आता है। उस अवसर पर

अतिदेश-वाक्य प्रकृतिगत विहितधर्मों को विकृति में प्राप्त करा देता है। विकृति सदा प्रकृति की अपेक्षा व आकांक्षा रखती है। प्रकृतिगत अपेक्षित धर्म को विकृति में प्राप्त कराने का सामर्थ्य केवल अतिदेश-वाक्य को है; विधिवाक्य में यह सामर्थ्य नहीं। कारण है—विधि का विकृति से सीधा सम्बन्ध न होना। इसलिए अप्रकरण-पठित विधियों का निवेश केवल प्रकृतियाग में मानना युक्त है; प्रकृति-विकृति उभय में नहीं ॥६॥

सिद्धान्तपक्ष से उद्भावित उक्त आशंका के समाधान को पूर्वपक्षवादी की ओर से सूत्रकार ने सूत्रित किया—

न तुल्यत्वात् ॥७॥

[न] गत सूत्र में कहा यह कथन ठीक नहीं है कि अप्रकरण-पठित विधि का केवल प्रकृतियाग से सम्बन्ध है, क्योंकि [तुल्यत्वात्] प्रकृति-विकृति दोनों में विधेय अर्थ के समान होने से।

जानना चाहिए—'उत्पत्ति' का स्वरूप क्या है? विधि की उत्पत्ति है—विधि-बोधित अर्थ का प्रयोगात्मक रूप से प्रकाश में आना, अर्थात् विधेय कर्म का अनुष्ठान। यद्यपि वह अनुष्ठानस्वरूप का लाभ प्रथम प्रकृति में करता है, पर विकृति में भी उसका रूप पूर्णतया वही रहता है, जो प्रकृति में है। प्रकृति-विकृति दोनों में विधेय अर्थ की यह समानता इस तथ्य का प्रमाण है कि अप्रकरण-पठित विधिवाक्य का प्रकृति-विकृति दोनों में निवेश मानना कोई आपत्तिजनक नहीं है। अनुष्ठान का पहले या पीछे होना इस स्थिति में कोई बाधा नहीं डालता। इस-लिए अप्रकरण-पठित विधिवाक्यों का प्रकृति-विकृति दोनों में निवेश मानना युक्त है। इससे अतिदेश-वाक्य निरवकाश हो जायगा, यह कहना भी संगत नहीं है। अतिदेश-वाक्य उन स्थलों में चरितार्थ है, जहाँ विधिवाक्य प्रकरणविशेष में पठित हैं।

प्राचीन व्याख्याकारों ने इन दो (६-७) सूत्रों का अर्थ निम्न प्रकार से किया है—

६—यदि यह समझते हो—इन स्रुव आदि की अनारभ्यविधि[1] से उत्पत्ति प्रकृतिगत विधियों के तुल्य है। प्रकृति में अङ्गों का विधान संक्षेप और विस्तार से कहा जाता है। 'पञ्च प्रयाजान् यजति' पाँच प्रयाजों का यजन करता है, यह संक्षेप से विधान है। 'समिधो यजति' इत्यादि से विस्तार से। इसी प्रकार यहाँ भी 'यस्य खादिरः स्रुवो भवति' इत्यादि से विस्तार से और 'यस्यैवंरूपाः स्रुचः'

१. अनारभ्य विधि, अनारभ्याधीत विधि, अप्रकरणपठित-विधि—इन तीनों का एक ही अर्थ है।

जिसकी इस प्रकार की स्रुच् होती है, से संक्षेप से विधान है। इस प्रकार का संक्षेप-विस्ताररूप विधि प्रकृति में देखी गई है; यह अनारभ्य-विधि इसी प्रकार की है। इसलिए अनारभ्य-विधि प्रकृति में उपविष्ट है, यह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। इस कारण अनारभ्यविधि प्रकृति के लिए है। (शबरस्वामी)

७—ऐसा नहीं है। इस प्रकार का सामान्यतोदृष्ट साधक नहीं होता है। यहाँ—अनारभ्यविधि में केवल प्रकृतिगत विधि से सारूप्यमात्र है: प्रकृति में यह अनारभ्यविधि होती है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। और भी, विकृति में भी संक्षेप और विस्तार से अङ्गों का विधान किया जाता है। 'तिस्र आहुतीर्जुहोति' तीन आहुतियाँ देता है, यह संक्षेप है। 'आमनमस्यामनस्य देवा:' आमनमस्यामनस्य देवा: से आहुति देता है, यह विस्तार है। अत: वैकृत विधियों से भी अनारभ्य विधियाँ तुल्य हैं। इसलिए यह अनारभ्य विधि के प्रकृति में निवेश होने का हेतु नहीं है। (शबरस्वामी)

सुबोधिनी-वृत्ति में इन दोनों सूत्रों का अर्थ इस प्रकार किया है—

६—(उत्पत्ति:) अनारभ्याधीत विधि से विकृति में स्रुच् आदि की उत्पत्ति भी होवे, [इति चेत्] ऐसा मानें तो। इसका भाव यह है कि स्रुच् आदि की प्राप्ति के लिए चोदक की आकांक्षा नहीं है। (रामेश्वर सूरि)

७—(न) 'विकृति में चोदक की अपेक्षा नहीं है' ऐसा नहीं है, (तुल्यत्वात्) अनारभ्य-विधि के तुलयत्ववाचक 'एवंरूपा:' से युक्त होने से। इसका भाव यह है कि 'यस्यैवंरूपा: स्रुचो भवन्ति' में 'एवंरूप' शब्द पूर्व-विद्यमान स्रुच् का निर्देश करता है। अत: चोदक से ही जुहू की प्राप्ति होगी। (रामेश्वर सूरि)

इन व्याख्याओं में 'विधि की उत्पत्ति' का अर्थ 'विधि का ऊपरी विवरण' किया गया ज्ञात होता है। वस्तुत: वह विधि की 'उत्पत्ति' नहीं है। 'उत्पत्ति' का अर्थ है—आत्मलाभ, विधि के स्वरूप का प्रकाश में आना। वह विधि का अनुष्ठानात्मक रूप है, जो प्रकृति-विकृति दोनों में पूर्णत: समान रहता है। प्रस्तुत प्रसंग में उत्पत्ति का यह अर्थ अधिक सूत्रानुसारी है। सूत्रव्याख्या प्रथम कर दी गई है ॥७॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

चोदनार्थकात्स्न्यात् तु मुख्यविप्रतिषेधात् प्रकृत्यर्थः ॥८॥

[तु] 'तु' पद अप्रकरणपठित-विधि के प्रकृति-विकृति उभय में निवेश की निवृत्ति का द्योतक है। [चोदनार्थकात्स्न्यात्] विकृति में चोदक वाक्य से सम्पूर्ण अर्थों=अनुष्ठेय कर्मों की प्राप्ति होने से, एवं [मुख्यविप्रतिषेधात्] मुख्य=प्रत्यक्षपठित अनारम्य (=अप्रकरणगत) विधि के विप्रतिषेध=विरोध में चोदक-

वाक्य के प्रथम प्रवृत्त होने से [प्रकृत्यर्थः] अप्रकरण-पठित विधि प्रकृति के लिए है।

यद्यपि अप्रकरण-पठित विधि से विकृति में खादिरतादि विशिष्ट स्रुव का विधान प्राप्त होता है, तथापि विकृति में स्रुव आदि की प्राप्ति के लिए अतिदेश-वाक्य प्रथम उपस्थित रहता है। पूर्वपक्षवादी द्वारा अप्रकरण-पठित विधि का निवेश प्रकृति-विकृति उभय में मानने पर प्रथम प्रकृति में निवेश मानना आवश्यक है। विकृति का अवसर प्रकृति-निवेश के अनन्तर ही आता है। जैसे ही विधि का निवेश प्रकृति में होता है, अतिदेश-वाक्य वैसे ही विकृति में स्रुव आदि के विधान के लिए तत्पर हो जाता है। अनारभ्य-विधि को विकृति में निवेश के लिए वह अवसर ही नहीं आने देता। वस्तुतः उसकी आवश्यकता ही नहीं रहती कि अनारभ्य-विधि विकृति में स्रुव आदि का विधान करे। प्रकरणविशेष में पठित विधियों के विकृति में प्राप्ति के लिए अतिदेश-वाक्य का अस्तित्व अत्यावश्यक है। उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। तब अनारभ्य-पठित विधियों की विकृति में प्राप्ति भी अतिदेश-वाक्य से हो जायगी। अनारभ्य-विधियों का विकृति में निवेश मानना अनावश्यक है। फलतः प्रकरणविशेष-पठित विधियों के समान अनारभ्य-विधि का निवेश भी प्रकृति में मानना युक्त है।

इस विषय में यह भी ध्यान रखने की बात है कि अनारभ्य-विधि का विकृति से सम्बन्ध मानने पर भी विकृतियाग निराकाङ्क्ष नहीं होता, क्योंकि खादिरता आदि पात्र धर्म हैं, याग धर्म नहीं। अनारभ्य-विधि केवल उसी को विकृति में प्राप्त करा सकेगा। इसलिए विकृतियाग अतिदेश-वाक्य के सम्बन्ध से से ही प्रकृति की अपेक्षा रखते हैं, और उसी के सहारे प्रकृति के साथ एकवाक्यता को प्राप्त होते हैं। इसी स्थिति में याग से अपूर्व सिद्ध होता है। प्रकृतियाग के—विकृतियाग में अपेक्षित समस्त अर्थ—पात्र, पात्रधर्म, अङ्गभूत कर्म आदि अतिदेश-वाक्य के सहयोग से ही विकृति में प्राप्त होकर उसे निराकाङ्क्ष बनाते हैं। अनारभ्य-विधि का विकृतियागों के लिए कोई प्रयोजन ही नहीं रहता। इसलिए प्रकरण-अप्रकरणपठित सब विधियों का निवेश प्रकृतियागों में होता है, यह सिद्धान्त निश्चित है ॥८॥ (इति स्रुवादिषु खादिरतादिविधेः प्रकृतिगामिताधिकरणम्—१)।

(सप्तदशसंख्याया विकृतिगामिताधिकरणम्—२)

शिष्य आशंका करता है—कतिपय सामिधेनियों का परिमाण अप्रकरण-पठित सुना जाता है—'सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्' सत्रह सामिधेनियाँ बोले; यद्यपि यह वचन वर्तमान वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध नहीं है। शतपथ ब्राह्मण [१।३।५।१०] में 'सप्तदश सामिधेनीः' पाठ उपलब्ध है, पर वह दर्श-पौर्णमास

प्रकरण में पठित है, अप्रकरणपठित नहीं। तथापि, भाष्य-परम्परा में प्राप्त है। इसके विषय में सन्देह है—क्या सत्रह सामिधेनियों का निवेश प्रकृतियाग में माना जाय ? अथवा विकृतियाग में ? पूर्व-अधिकरण में उपपादित प्रक्रिया के अनुसार इसका निवेश प्रकृति में मानना चाहिए। पर प्रकृति में पन्द्रह सामिधेनियाँ कही हैं, उसके साथ इसका विकल्प मान लिया जायगा। आचार्य सूत्रकार ने आशंका का समाधान किया—

प्रकरणविशेषात्तु विकृतौ विरोधि स्यात् ॥६॥

[तु] 'तु' पद पूर्व-न्याय की व्यावृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—पूर्वाधिकरण निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार अनारभ्याधीत सत्रह सामिधेनियों का निवेश प्रकृतियाग में हो, यह कथन युक्त नहीं है, [प्रकरणविशेषात्] प्रकृतियाग = दर्श-पूर्णमास के प्रकरण में पन्द्रह सामिधेनियों के स्पष्ट कथन से; अतः [विकृतौ] विकृतियाग में सत्रह सामिधेनियों का निवेश मान्य है, अन्यथा [विरोधि] प्रकृति में पन्द्रह सामिधेनियों के साथ सत्रह का विरोध [स्यात्] प्राप्त होगा।

प्रकृतियाग दर्श-पूर्णमास में पन्द्रह सामिधेनियों का स्पष्ट विधान है। पन्द्रह सामिधेनी आहुतियाँ देने के लिए ऋचा केवल ग्यारह हैं। उनमें पहली और अन्तिम ऋचा को आहुति के अवसर पर तीन-तीन बार बोलकर पन्द्रह आहुतियाँ पूरी की जाती हैं।[1] अन्य आकांक्षा न रहने से प्रकृति में सत्रह का निवेश न होगा।

प्रकृति या विकृति में दोनों का विकल्प कहना भी युक्त नहीं है। दो विरोधी विधियों का विकल्प उसी दशा में माना जाता है, जब समानबल दो विधियाँ एक कर्म में प्राप्त हों। यहाँ ऐसा नहीं है। पन्द्रह सामिधेनी केवल प्रकृतियाग में हैं, सत्रह केवल विकृतियाग में। 'सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्' विधि अप्रकरणपठित होने से विकृतियाग में निविष्ट होने के कारण प्रकृतिगत पञ्चदशत्व के साथ इसके विकल्प का अवसर ही नहीं है। अवसर तब हो, जब दोनों विधियाँ एक कर्म

---

१. ऋग्वेद, मं० ३, सू० २७ की ग्यारह (१–११) ऋचाएँ सामिधेनी कही जाती हैं। प्रथम और अन्तिम ऋचा को तीन-तीन बार पढ़कर पन्द्रह सामिधेनी आहुतियाँ प्रकृतियाग में दी जाती हैं। उन्हीं दो ऋचाओं को चार-चार बार पढ़कर सत्रह सामिधेनी आहुतियाँ विकृतियाग में दी जाती हैं। प्रकृतियाग में पन्द्रह और विकृति में सत्रह आहुति निर्धारित हैं। किसी का कहीं अन्यत्र निवेश नहीं। श०ब्रा० [१।३।५।५–७] के दर्श-पूर्णमास प्रकृतियाग में स्पष्ट निर्देश है—'त्रिः प्रथमामन्वाह, त्रिरुत्तमाम्।···ताः पञ्चदश सामिधेन्यः सम्पद्यन्ते।'

में प्राप्त हों। प्रकृतियाग का पञ्चदशत्व अतिदेश-वाक्य के आधार पर विकृति-याग में प्राप्त होने से वहाँ उसकी प्राप्ति आनुमानिक होगी। विकृति में प्रत्यक्ष-पठित सप्तदशत्व-विधि बलवान् होने से विकृति में पञ्चदशत्व को बाधित कर देगी। तब वहाँ भी दोनों विधियों के एकत्र प्राप्त न होने से विकल्प का अवसर नहीं आता। फलतः सप्तदशत्व का विधान केवल विकृति में मान्य है, वह भी कतिपय सीमित यागों में। इसका कथन आगे [१०।८।१६–१९ सूत्र; अधि० ९ में] किया जायगा ॥९॥ (इति सामिधेनीनां सप्तदशसंख्याया विकृतिगामिताधिकरणम्—२)।

(गोदोहनादीनां प्रकृतिगामिताधिकरणम्—३)

दर्श-पूर्णमास प्रसंग [आप० श्रौ० १।१६।२] में पाठ है—'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्' पशु की कामनावाले यजमान का जलसम्बन्धी कार्य गोदोहन पात्र से कराया जाय। गोदोहन पात्र वह है, जिसमें गायों का दूध निकाला जाता है। इसी प्रकार एक अन्य वाक्य अग्नीषोमीय याग में पशु-यूप के सम्बन्ध में पढ़ा है—'बैल्वो ब्रह्मवर्चसकामेन कर्त्तव्यः'—ब्रह्मवर्चस की कामनावाले यजमान को बिल्व (बेल) वृक्ष की लकड़ी का पशु-यूप (पशु को बाँधने का खूँटा) बनाना चाहिए। निमित्तविशेष से बताये गये इस प्रकार के द्रव्यों के विषय में सन्देह है—क्या इनका प्रकृतियाग में निवेश माना जाय? अथवा विकृतियाग में? प्रतीत होता है, इनका निवेश विकृतियाग में होना चाहिए, क्योंकि प्रकृति में चमस आदि पात्र से यजमान का अपःप्रणयन हो जाने के कारण अन्य पात्र की आकांक्षा नहीं रहती। इसी प्रकार अग्नीषोमीय पशु-याग में यूप का निर्माण खादिर, पलाश (=खैर, ढाक) आदि की लकड़ी से किये जाने के कारण अन्य किसी लकड़ी की आकांक्षा नहीं रहती। इसलिए इनका निवेश विकृति में ही माना जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में आचार्य सूत्रकार ने मान्य सिद्धान्त प्रस्तुत किया—

नैमित्तिकं तु प्रकृतौ तद्विकारः संयोगविशेषात् ॥१०॥

[तु] 'तु' पद सिद्धान्त-प्रस्तुति का द्योतक है [नैमित्तिकं तु] निमित्तविशेष से कहे गये द्रव्यादि का तो [प्रकृतौ] प्रकृतियागों में ही निवेश माना गया है, क्योंकि [संयोगविशेषात्] कामना के सम्बन्धविशेष के कारण वह [तद्विकारः] प्रकृति में सामान्यरूप से विहित का ही विकार=अङ्ग है।

अग्नीषोमीय पशुयाग में सामान्य रूप से खादिर, पलाश और रोहीजक वृक्ष की लकड़ी से यूप बनाने का विधान है, इसी प्रकार दर्श-पूर्णमास में अपःप्रणयन के लिए सामान्य रूप से चमस का विधान है। परन्तु पशु कामनावाले यजमान के लिए—अपःप्रणयन गोदोहन पात्र से करे, यह विशेष विधान है। इसी प्रकार

सामान्य रूप से विहित खादिर आदि यूप के साम्मुख्य में ब्रह्मवर्चस कामनावाले के लिए बिल्ववृक्ष की लकड़ी से निर्मित यूप का विशेष विधान है। विशेष विधि श्रुतिबोधित होने से प्रत्यक्ष है; इसके सामने सामान्य विधान परोक्ष-जैसा हो जाता है, प्रत्यक्ष के सामने आते लजाता है, छिप जाता है। तात्पर्य है, विशेष विधान सामान्य को बाधित कर देता है। तब दर्श-पूर्णमास प्रकृति में यजमान के अप:प्रणयन के लिए चमस तिरोहित हो जाता है, गोदोहन-पात्र सामने आ जाता है। इसी प्रकार अग्नीषोमीय पशुयाग प्रकृति में यूपनिर्माण के लिए सामान्यविहित खदिर आदि तिरोहित हो जाते हैं, विशेष विहित बिल्व उपस्थित होता है। इसलिए गोदोहन आदि द्रव्यों का प्रकृतियाग में निवेश मानना आवश्यक है, अन्यथा सामान्य विधान के तिरस्कृत हो जाने से अप:प्रणयन व यूपनिर्माण न होने पर कर्म विगुण हो जायगा ॥१०॥ (इति गोदोहनादीनां प्रकृतिगामिताधिकरणम्—३)।

(आधानस्य पवमानीष्टचनङ्गताधिकरणम्—४)

ब्राह्मणग्रन्थों में पवमान आदि इष्टियाँ पठित हैं—'अग्नये पवमानायाष्टाकपालं निर्वपेत्, अग्नये पावकाय, अग्नये शुचये'—पवमान अग्नि के लिए अष्टाकपाल पुरोडाश का निर्वाप करे, पावक अग्नि के लिए, शुचि अग्नि के लिए। इन्हीं के प्रकरण में पाठ है—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत' [तै० ब्रा० १।१।२।६] ब्राह्मण वसन्त में अग्नि का आधान करे। यहाँ सन्देह है—क्या अग्न्याधान पवमान आदि इष्टियों के लिए है? अथवा नहीं? अग्न्याधान इष्टियों के लिए होना चाहिए,—इस अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत किया—

इष्टचर्थमग्न्याधेयं प्रकरणात् ॥११॥

[अग्न्याधेयम्] अग्न्याधान कर्म [इष्टचर्थम्] पवमान आदि इष्टियों के लिए है, [प्रकरणात्] एक ही प्रकरण में पठित होने से।

पवमान आदि इष्टियों के प्रकरण में अग्न्याधान-कर्म पठित है, इससे जाना जाता है, वह इष्टियों के लिए है। अग्न्याधान होने पर उसी अग्नि में इष्टियों का अनुष्ठान किया जाता है, इससे स्पष्ट है, अग्न्याधान इष्टियों के लिए है ॥११॥

आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत किया—

न वा तासां तदर्थत्वात् ॥१२॥

[न वा] सूत्र में 'न वा' यह निपात-समुदाय 'अग्न्याधान कर्म इष्टियों के लिए है' इस पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिए है, अर्थात् उक्त कथन युक्त नहीं; क्योंकि [तासाम्] उन पवमान आदि इष्टियों के [तदर्थत्वात्] अग्न्याधेय के लिए होने

के कारण।

आहवनीय आदि अग्नियों का आधान (=संस्थापन) फल देनेवाले कर्मों के अनुष्ठान के लिए किया जाता है। इष्टियों का कोई फल नहीं होता। यदि इष्टियों के लिए अग्न्याधान हो, तो वह भी निष्फल होगा। पर अग्नियों का आधान निष्फल न होकर फलवाला होता है। अतः अग्न्याधान इष्टियों के लिए है, यह कथन अयुक्त है। वस्तुतः आहित अग्नि को सुरक्षित रखने के लिए इष्टियों का विधान है। आहित अग्नि में इष्टियों का अनुष्ठान इसलिए किया जाता है कि अग्नि प्रज्वलित व जागृत बना रहे। इसलिए यह कहना चाहिए कि इष्टियाँ ही आहित अग्नि के लिए हैं, अग्न्याधान इष्टियों के लिए नहीं ॥१२॥

इसी अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने एक उपोद्बलक हेतु द्वारा स्पष्ट किया—

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१३॥

[लिङ्गदर्शनात्] लिङ्ग के देखे जाने से [च] भी यह ज्ञात होता है कि पवमान आदि इष्टियाँ अग्नियों के लिए हैं।

तीनों अग्नियों का प्रथम स्थापन करना अग्न्याधान कर्म है। उसके अनन्तर यथावसर पवमान आदि इष्टियों का अनुष्ठान किया जाता है, जिससे आहित अग्नियाँ ठण्डी न हो जाएँ। यह प्रतिपाद्य सन्दर्भ द्वारा स्पष्ट होता है। सन्दर्भ है—

'जीर्यति व एष आहितः पशुर्यदग्निः, तदेतान्येव अग्न्याधेयस्य हवींषि संवत्सरे संवत्सरे निर्वपेत्। तेन वा एष न जीर्यति तेनैनं पुनर्णवं करोति, तन्न सूक्ष्यम्।'

[मैत्रा० सं० १।५।६]

पशु के समान घर में स्थापना किया गया यह अग्नि निश्चय ही जीर्ण होता है। इन्हीं अग्न्याधेय की हवियों का प्रत्येक संवत्सर के आरम्भ में निर्वाप करे। निश्चित ही उससे यह जीर्ण नहीं होता। उस निर्वाप (इष्टि-अनुष्ठान) से पुनः इसको नवीन करता है। इसकी उपेक्षा न करे।

प्रत्येक संवत्सर के प्रारम्भ में इष्टियों के अनुष्ठान द्वारा—आधान किये गये आहवनीय आदि—अग्नियों को जीर्ण होने से बचाना यह स्पष्ट करता है कि पवमान आदि इष्टियाँ आहित अग्नियों के लिए हैं। फलतः अग्न्याधान को इष्टियों का अङ्ग मानना होगा ॥१३॥ (इति आधानस्य पवमानेष्टयनङ्गताधिकरणम्—४)।

(आधानस्य सर्वार्थताधिकरणम्—५)

शिष्य जिज्ञासा करता है—यह जो आहवनीय आदि अग्नियों का आधान

कहा है, क्या वह केवल दर्श-पूर्णमास प्रकृतियाग के लिए है ? अथवा सभी कर्मों के लिए है ? प्रतीत होता है, अप्रकरण-पठित विधियों के समान यह केवल प्रकृतियाग के लिए होना चाहिए।

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-सुझाव को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

तत् प्रकृत्यर्थं यथाऽन्येऽनारभ्यवादाः ॥१४॥

[तत्] वह अग्न्याधान [प्रकृत्यर्थम्] प्रकृतियाग दर्श-पूर्णमास के लिए है, [यथा] जैसे [अन्ये] अन्य [अनारभ्यवादाः] प्रकरण का आरम्भ न करके कहे गये विधान हैं।

जैसे खादिरतादि अन्य अप्रकरण-पठित विधान प्रकृतियागों के लिए स्वीकार किये गये हैं, ऐसे ही यह अप्रकरण-पठित अग्न्याधान-विधान केवल प्रकृतियागों के लिए माना जाना चाहिए ॥१४॥

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

सर्वार्थं वाऽऽधानस्य स्वकालत्वात् ॥१५॥

[वा] 'वा' पद पूर्वसूत्रोक्त 'अग्न्याधान केवल प्रकृतियाग के लिए है' पक्ष की निवृत्ति का द्योतक है, [सर्वार्थम्] अग्न्याधान प्रकृति-विकृति सभी कर्मों के लिए है। [आधानस्य] अग्न्याधान के [स्वकालत्वात्] अपने-अपने कालवाला होने से।

अग्न्याधान के लिए प्रत्येक वर्ण का अपना स्वतन्त्र काल है—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः'—वसन्त में ब्राह्मण अग्नि का आधान करे; ग्रीष्म में राजन्य=क्षत्रिय; शरद् में वैश्य। यह अग्न्याधान का अपना-अपना काल है। इसमें यह व्यवस्था समझनी चाहिए, जो व्यक्ति अग्नि का आधान करता है, उसी के द्वारा किये जानेवाले सब कर्मों के लिए वह आधान है, अन्य व्यक्ति के द्वारा किये जानेवाले कर्मों के लिए नहीं। जैसे अग्नि की प्राप्ति का उपाय आधान है, वैसे अन्य द्रव्यों के समान अग्नि की प्राप्ति का उपाय—किसी से अग्नि को माँग लेना या क्रय कर लेना आदि भी सम्भव है। आधान के बिना अन्य उपाय से प्राप्त अग्नि कर्म को फलीभूत नहीं बनाता। स्वयं आधान किये अग्नि में ही अनुष्ठित कर्म फल देनेवाले होते हैं। याचना या क्रय से प्राप्त अग्नि—चाहे वह लौकिक हो अथवा वैदिक (=अन्य के द्वारा आहित), वह सफल कर्मानुष्ठान के लिए उपयुक्त नहीं। इस प्रकार अग्नि की सिद्धि के लिए आधान, और कर्मों की सिद्धि के लिए अग्नि है; इसी रूप में अग्न्याधान सब कर्मों के लिए है।

अप्रकरण-पठित विधि का आधान के लिए इस रूप में, उदाहरण देना—कि वह केवल प्रकृत्यर्थ है—युक्त नहीं; क्योंकि उसका आधार भिन्न है, अप्रकरण

पठित विधि का प्रकृत्यर्थ कथन कर्म की सिद्धि के लिए है। परन्तु आधान साक्षात् अग्नि की सिद्धि के लिए है। अग्नि को सिद्ध कर आधान चरितार्थ है। आगे कर्मानुष्ठान आधेय अग्नि में होते हैं, आधान में नहीं। आधान को सर्वार्थ इसी रूप में कहा गया है कि उससे सिद्ध किये गये अग्नि में प्रकृति-विकृति सभी यागों का अनुष्ठान होता है।

'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' प्रत्येक वसन्त में ज्योतिष्टोम याग करे; यह विधान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सबके लिए समान माना गया है। पर क्षत्रिय, वैश्य का अग्न्याधानकाल ग्रीष्म व शरद् निर्धारित है। यदि वे वसन्त में ज्योतिष्टोम करते हैं, तो उसी आहित अग्नि में—वसन्त आने पर—ज्योतिष्टोम करेंगे। इसमें कोई असामञ्जस्य नहीं है। ब्राह्मण भी ब्राह्मण से याचना आदि द्वारा प्राप्त अग्नि में कर्मानुष्ठान न करे; स्वयं आहित अग्नि में सभी प्रकृतियागों एवं उसके अङ्ग-भूत विकृतियागों का अनुष्ठान करे। आधान के सर्वार्थ होने का यही तात्पर्य है। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य को स्वयं आहित अग्नि में अपने सब कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए।

श्रौतयाग तीन रूपों में बताये जाते हैं—हविर्याग, सोमयाग, पशुयाग। हविर्यागों में प्रकृतियाग दर्श-पूर्णमास हैं, उनके अङ्ग विकृति हैं। सोमयागों में ज्योतिष्टोम प्रकृति, तथा पशुयागों में अग्नीषोमीय पशु, इसी का अपर नाम 'पशुबन्ध' है। उनके अपने-अपने सब अङ्गभूत कर्म विकृति हैं। ब्राह्मण आदि के द्वारा इन सब कर्मों का अनुष्ठान—स्वयं आधान किये अग्नि में—करना शास्त्रीय है॥१५॥ (इति आधानस्य सर्वार्थताधिकरणम्—५)।

(पवमानेष्टीनामसंस्कृतेऽग्नौ कर्त्तव्यताधिकरणम्—६)

पवमान आदि संज्ञक इष्टियों का अनुष्ठान असंस्कृत अग्नियों में किया जाना अधिकरण का विषय है। अग्नियों का 'संस्कृत-असंस्कृत' होना क्या है? इसे स्पष्ट रूप में इस प्रकार समझना चाहिए—

प्रथम विधिपूर्वक आहवनीय आदि अग्नियों का आधान-स्थापन यागमण्डप के निर्धारित स्थान में किया जाता है। आधान के समय अग्नि मन्द रहता है। आगे प्रधानयाग के अनुष्ठान के लिए उसे प्रज्वलित व उत्तेजित करना है। यह कार्य पवमान आदि संज्ञक इष्टियों के अनुष्ठान से किया जाता है। इस प्रकार दी गई आज्य आदि की आहुतियों से अग्नि उत्तेजित व प्रज्वलित हो उठता है। यही अग्नि का संस्कार है। अब अग्नि संस्कृत है। इस अनुष्ठान से पूर्व आधान किया हुआ भी अग्नि असंस्कृत कहा जायगा। असंस्कृत अग्नि का तात्पर्य लौकिक अग्नि नहीं है। लौकिक अग्नि वह है, जो चूल्हे आदि अन्य स्थान से लाया गया हो, उसका आहवनीय आदि के रूप में आधान न किया गया हो। आधान हो

जाने पर अग्नि लौकिक नहीं रहता, वह यागीय हो जाता है; पर पवमानेष्टि-अनुष्ठान से पूर्व वह 'असंस्कृत' कहा जाता है, जिसका तात्पर्य केवल यह है कि अभी मन्द होने से वह यागानुष्ठान के योग्य नहीं है। पवमानेष्टि-अनुष्ठान से उसे इस योग्य बनाया जाता है । अब उत्तेजित अग्नि 'संस्कृत' है ।

संस्कृत अग्नि में सर्वप्रथम प्रयाज अनुष्ठित होते हैं, तदनन्तर दर्श-पूर्णमास प्रकृतियाग । प्रयाज विकृति हैं, विकृतियाग की अनुष्ठान-प्रसंग में प्राप्ति अतिदेश-(प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या) वाक्य द्वारा होती है। क्योंकि प्रकृति दर्श-पूर्णमास संस्कृत अग्नि में अनुष्ठित होते हैं, उसी के अनुसार विकृति प्रयाज आदि इष्टियाँ संस्कृत अग्नि में की जाती हैं। इसी के अनुसार पूर्वपक्ष की ओर से यह आशंका उठाई गई है कि पवमान इष्टियाँ भी विकृति हैं; तब उनका अनुष्ठान भी प्रयाजों के समान संस्कृत अग्नि में प्राप्त होता है।

इसी को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

तासामग्निः प्रकृतितः प्रयाजवत् स्यात् ॥१६॥

[तासाम्] उन पवमान आदि इष्टियों का [अग्निः] अग्नि [प्रकृतितः] प्रकृति से अतिदेश-वाक्य द्वारा प्राप्त होगा, [प्रयाजवत्] प्रयाजों के समान ।

लोक में कहावत है—'वादी भद्रं न पश्यति' आशंकावादी या आक्षेपकर्त्ता अच्छाई को नहीं देखता, बुराई या दुर्बलता पर उसकी दृष्टि जाती है। यदि अच्छाई अर्थात् वास्तविकता को देखें, तो आशंका सिर उभार ही नहीं पायेगी । उसने यह तो देखा कि प्रयाज विकृति हैं। विकृति का अनुष्ठान अतिदेश-वाक्य के आधार पर प्रकृति के अनुसार होना चाहिए। दर्श-पूर्णमास प्रकृति का अनुष्ठान संस्कृत अग्नि में होता है, इसलिए विकृतियाग प्रयाजों का अनुष्ठान संस्कृत अग्नि में किया जाता है। तब प्रयाजों के समान पवमान इष्टियाँ भी विकृति हैं, उनका अनुष्ठान भी संस्कृत अग्नि में होना चाहिए,—यह आशंका प्रस्तुत कर दी। पर उसने इस वास्तविकता पर दृष्टि नहीं डाली कि आहवनीय आदि आहित अग्नियाँ पवमान आदि इष्टियों के अनुष्ठान द्वारा ही संस्कृत की जाती हैं, उससे पूर्व अग्नियाँ संस्कृत हैं कहाँ? उनका अनुष्ठान तो अग्नियों को संस्कृत बनाने के लिए किया जाता है। यह प्रथम कहा जा चुका है, अग्नियों का संस्कार पवमानेष्टियों द्वारा उन्हें प्रज्वलित व उत्तेजित करना है। तब यह अनिवार्य स्थिति है कि पवमानेष्टियों का अनुष्ठान असंस्कृत अग्नियों में किया जायगा । तात्पर्य है, मन्द व अप्रज्वलित अग्नियों को उक्त अनुष्ठान द्वारा उत्तेजित किया जायगा; यह अनुष्ठान अग्नियों के संस्कार के लिए ही होता है।

आचार्य सूत्रकार ने इसी वास्तविकता को आशंका के समाधान के रूप में

प्रस्तुत किया—

न वा तासां तदर्थत्वात् ॥१७॥

[न वा] १२वें सूत्र के समान 'न वा' यह निपात-समुदाय पूर्व-सूत्रोक्त 'पवमानेष्टियों में पवमानेष्टि संस्कृत अग्नियाँ होनी चाहिएँ' पक्ष की निवृत्ति का द्योतक है, [तासाम्] उन पवमानेष्टियों के [तदर्थत्वात्] उन आहित आहवनीयादि अग्नियों के संस्कार के लिए होने के कारण।

ध्यान देने की बात है, जब पवमानेष्टियों के अनुष्ठान द्वारा अग्नियों को संस्कृत किया जा रहा है, तब प्रकृतियाग है कहाँ ? उसका अवसर अग्नियों के संस्कृत होने के अनन्तर आयेगा। उस समय विकृतियागों के अनुष्ठान के लिए अतिदेश-वाक्य प्रवृत्त होता है। पवमानेष्टियों के अनुष्ठान के समय तो वह सोया पड़ा है। तब अतिदेश-वाक्य प्रवृत्त ही नहीं होता। विकृतियाग प्रकृति का उपकारक होता है। प्रकृति का अङ्ग होने से विकृति का अनुष्ठान प्रकृति की सर्वाङ्गपूर्णता को सम्पन्न करता है। इसी कार्य के लिए अतिदेश-वाक्य प्रवृत्त हुआ करता है। परन्तु पवमानेष्टियाँ विकृति होने पर भी कर्म की उपकारक नहीं हैं, वे अग्नि की उपकारक हैं; अग्नि को संस्कृत कर वे चरितार्थ हो जाती हैं। अतिदेश-वाक्य की प्रवृत्ति उन्हीं विकृतियों के लिए होती है, जो कर्म की उपकारक हैं। इसलिए पवमानेष्टियों की संस्कृत अग्नि में प्राप्ति कराने के लिए अतिदेश-वाक्य प्रवृत्त ही न होगा। फलतः पवमानेष्टियों का अनुष्ठान असंस्कृत अग्नि में होना ही सम्भव है ॥१७॥ (इति पवमानेष्टीनामसंस्कृतेऽग्नौ कर्त्तव्यताधिकरणम्—६)।

(उपाकरणादीनामग्नीषोमीयपशुधर्मताधिकरणम्—७)

तैत्तिरीय संहिता [६।१।११] के ज्योतिष्टोम प्रसंग में पाठ है—'यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते' जो सोमयाग में दीक्षित यजमान जिस अग्नि और सोम देवतावाले पशु का आलभन=स्पर्श आदि करता है। यह अग्नीषोमीय पशु का विधान है, तथा सवनीय और अनुबन्ध्या पशु का विधान है। ऐसे ही उपाकरण, उपानयन, यूप-नियोजन आदि पशु-धर्मों का विधान है। यहाँ सन्देह है—क्या ये पशु-धर्म सभी पशुओं के हैं ? अथवा केवल सवनीय पशु के हैं ? अथवा अग्नीषोमीय और सवनीय दोनों के हैं ? अथवा केवल अग्नीषोमीय पशु के हैं ? अन्तिम सिद्धान्त-पक्ष है।

प्रतीत होता है—समान प्रकरण में पठित होने और किसी विशेष का कथन न होने से ये धर्म सभी पशुओं के हैं।

इसी अर्थ को सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

तुल्यः सर्वेषां पशुविधिः प्रकरणाविशेषात् ॥१८॥

[प्रकरणाविशेषात्] प्रकरण के विशेष=भिन्न न होने से अर्थात् ज्योतिष्टोमरूप समान प्रकरण में पठित होने से [पशुविधिः] पशुधर्मों का विधान [सर्वेषाम्] सभी पशुओं का [तुल्यः] समान है।

यह सूत्रार्थ प्रथम विकल्प की भावना से है। द्वितीय विकल्प की भावना से सूत्रार्थ निम्न प्रकार से किया गया है—

[पशुविधिः] उपाकरण आदि पशुधर्मों का विधान [सर्वेषाम्] सब पशुओं का [तुल्यः] समान हो, यदि [प्रकरणाविशेषात्] प्रकरण का विशेष=भेद न हो, तो। परन्तु प्रकरण का भेद देखा जाता है। सवनीय पशुओं से प्रकरण में पशुधर्मों का विधान विद्यमान है; अतः पशुधर्म सवनीय पशु के मानने चाहिएँ।

यह अर्थ शाबर भाष्य में 'यदि' पद का अध्याहार करके किया गया है।[1] मैत्रायणी संहिता [३।९।५] के सवनीय पशु-प्रकरण में पशुधर्मों का विधान निम्न प्रकार से है—

'आग्नेयः पशुरग्निष्टोमे आलभ्यः; आग्नेयो हि अग्निष्टोमः। ऐन्द्राग्नः पशुरुक्थ्ये आलभ्यः, ऐन्द्राग्नानि हि उक्थ्यानि। ऐन्द्रो वृष्णिः षोडशिनि आलभ्यः; ऐन्द्रो वै वृष्णिः, ऐन्द्रः षोडशी। सारस्वती मेषी अतिरात्र आलभ्या; वाग्वै सरस्वती, वागनुष्टुप्, आनुष्टुभी रात्रिः'

सोमयाग के अन्तर्गत ज्योतिष्टोम की सात संस्था मानी गई हैं—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय, आप्तोर्याम। संहिता के उक्त सन्दर्भ में पहली चार संस्थाओं को लक्ष्य कर सवनीय पशुप्रकरण में पशुधर्मों का विधान है। अग्निष्टोम संस्था में आग्नेय पशु आलभ्य है, क्योंकि अग्निष्टोम आग्नेय ही है। उक्थ्य संस्था में ऐन्द्राग्न पशु आलभ्य है, क्योंकि उक्थ्य संस्था ऐन्द्राग्न=इन्द्र-अग्नि देवतावाली ही है। षोडशी संस्था में ऐन्द्र वृष्णि=मेढ़ा आलभ्य है; क्योंकि ऐन्द्र ही वृष्णि है, ऐन्द्र षोडशी है। अतिरात्र संस्था में सरस्वती देवतावाली मेषी=मेढ़ी आलभ्य है, क्योंकि वाक् ही सरस्वती है, वाक् अनुष्टुप् है, अनुष्टुप्-सम्बन्धी रात्रि है। सवनीय प्रकरण में इस प्रकार पशुधर्मों का कथन किया गया है। इसलिए प्रकरण के आधार पर सवनीय पशु के ये उपाकरण आदि धर्म ज्ञात होते हैं।

---

१. युधिष्ठिर मीमांसक ने सुझाव दिया है—इस पक्ष का प्रतिपादक सूत्र 'प्रकरणविशेषात् सवनीयस्य' रहा होगा, जो त्रुटित हो गया है। इसी कारण द्वितीय पक्ष को उभारने के लिए मीमांसकों को क्लिष्ट कल्पनाएँ करनी पड़ी हैं।

उपाकरण—मन्त्रोच्चारणपूर्वक हाथ से अथवा कुशाओं से पशु का स्पर्श करना 'उपाकरण' कहाता है। एक स्थान से अन्यत्र ले-जाते समय प्रायः प्रत्येक ले-जानेवाला व्यक्ति पशु की पीठ, पार्श्व, सिर व पुट्ठे आदि पर हाथ फेरता है; मानो उसे प्यार देता हुआ अगले कार्य के लिए प्रेरित करता है।

उपानयन— पशुशाला से यज्ञमण्डप की ओर पशु का लाया जाना 'उपानयन' है।

यूपनियोजन—यज्ञमण्डप के समीप पशु के सत्कारार्थ यूप (पशु को बाँधने के लिए गाड़े गये खूंटे) में रस्सी द्वारा पशु को बाँधा जाना 'यूपनियोजन' है। रस्से का एक सिरा यूप में और दूसरा पशु के अगले सीधे पैर में अथवा सींग की जड़ या गर्दन में रहता है[1] ॥१८॥

तीसरे विकल्प को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने उसे पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत किया—

स्थानाच्च पूर्वस्य ॥१९॥

[स्थानात्] स्थान-प्रमाण से [पूर्वस्य] पूर्व=पहले कहे गये अग्नीषोमीय पशु के [च] भी उपाकरण आदि धर्म हैं, ऐसा जानना चाहिए।

ज्योतिष्टोम ऋतु छह दिन में सम्पन्न होता है। प्रथम दिन दीक्षणीय इष्टि का है। इसमें यजमान ज्योतिष्टोम-अनुष्ठान के लिए दीक्षित किया जाता है। अगले दूसरे-तीसरे-चौथे दिन उपसद् इष्टियों का अनुष्ठान होता है। पाँचवें दिन प्रधान सोमयाग अनुष्ठित होता है। छठे दिन अवभृथ इष्टि, जो ऋतु की सम्पन्नता का प्रतीक है। अग्नि और सोम देवतावाले (=अग्नीषोमीय) पशु का विधान प्रायणीय इष्टि के दिन किया गया है, जो इष्टियों का दूसरा दिन है। ऋतु के चौथे दिन अग्नीषोमीय पशुसम्बन्धी अनुष्ठान किया जाता है। सवनीय पशु का विधान भी चौथे दिन है, और अनुष्ठान पाँचवें दिन। इसलिए जो यह कहा कि प्रकरण के अनुरोध से उपाकरण आदि पशुधर्म सवनीय पशु के लिए हैं, वह ठीक है। परन्तु जहाँ सवनीय पशु का विधान है, उसी क्रम में अग्नीषोमीय पशुसम्बन्धी अनुष्ठान है, अतः स्थान=क्रम-प्रमाण के अनुसार (३।३।१४) उपाकरण आदि पशुधर्म सवनीय और अग्नीषोमीय दोनों के लिए हैं, ऐसा मानना युक्त प्रतीत

---

१. इस प्रसंग में तथा अन्यत्र भी मध्यकालिक रसनालोलुप याज्ञिकों ने अग्नि में पशुमांस की आहुतियों का उल्लेख किया है, पर मूलतः वह नितान्त अवैदिक है। यज्ञों के प्रारम्भिक काल में यज्ञों में पशुओं की हिंसा नहीं होती थी। अपेक्षित सत्करण के अनन्तर विसर्जन कर दिया जाता था। द्रष्टव्य—'श्रौत यज्ञ मीमांसा' (यु० मी०)।

होता है ॥१६॥

पूर्वोक्त सन्देह के चार विकल्पों में से तीन का पूर्वपक्षरूप में उपपादन कर चौथे विकल्प को उत्तरपक्षरूप में सूत्रकार ने प्रस्तुत किया—

श्वस्त्वेकेषां तत्र प्राक् श्रुतिर्गुणार्था ॥२०॥

[तु] 'तु' पद गत सूत्रों में कहे गये अर्थ की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है उपाकरण आदि पशुधर्म न सब (=अग्नीषोमीय, सवनीय, अनुबन्ध्य) पशुओं के हैं, न केवल सवनीय पशु के और न अग्नीषोमीय-सवनीय दोनों मिलित के, क्योंकि [एकेषाम्] किन्हीं शाखावालों की शाखा में [श्वः] औपवसथ्य चौथे दिन के अगले पाँचवें—प्रधान सोमयाग के—दिन सवनीय पशुओं का विधान है; तात्पर्य है, उनको ऋतु के पाँचवें दिन यज्ञमण्डप में उपस्थित किया जाता—या लाया जाता—है। [तत्र] उन शाखावालों के विचार में [प्राक् श्रुतिः] पहले चौथे दिन पढ़ी गई सवनीय पशुसम्बन्धी श्रुति [गुणार्था] गौण प्रयोजनवाली है।

गौण का अभिप्राय है—वहाँ वह कथन द्वितीय स्तर का है, उपेक्ष्य है; क्योंकि सवनीय पशुसम्बन्धी अनुष्ठान पाँचवें दिन होना है, जिस दिन प्रधान सोमयाग अनुष्ठित किया जाता है। चौथे दिन अग्नीषोमीय पशुसम्बन्धी अनुष्ठान है, और वहीं उपाकरण आदि पशुधर्म पठित हैं, इसलिए उन्हें केवल अग्नीषोमीय पशुओं के लिए जानना चाहिए। पशुयाग में पशुसम्बन्धी मुख्य संस्कार अग्नीषोमीय पशुओं का है। पाँचवें दिन सवनीय पशु और अन्तिम छठे अवभृथ-इष्टि के दिन अनुबन्ध्य पशुओं का संस्कार होता है।[1] उपकरण आदि पशुधर्मों का विधान और अग्नीषोमीय पशुसम्बन्धी अनुष्ठान एक ही स्थान (=क्रम) में श्रुत होने से यह निश्चित जाना जाता है कि उपाकरण आदि पशुधर्मों का विधान अग्नीषोमीय पशु के लिए है ॥२०॥

पूर्वपक्ष की ओर से सिद्धान्ती द्वारा उद्भावित आशंका को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

तेनोत्कृष्टस्य कालविधिरिति चेत् ॥२१॥

[तेन] 'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा' आदि वचन से [उत्कृष्टस्य] चौथे दिन से पाँचवें दिन में खींचे गये सवनीय पशु के [कालविधिः] संस्कार-सम्बन्धी काल का विधान है, [इति चेत्] ऐसा यदि कहो, तो–(अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)।

पूर्वपक्ष का आशय है, क्रम के आधार पर, उपाकरण आदि पशुधर्म केवल

---

१. पशुओं के तीन भेद किस आधार पर हैं? विचारणीय है। भूमिका के पशु-याग प्रसंग में इसे समझने व स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

अग्नीषोमीय पशु के लिए हैं, ऐसा नहीं है। क्योंकि, प्रकरण के आधार **पर वे सवनीय** पशु के लिए हैं। चौथे दिन सवनीय पशुओं का पाठ उनका विधान करता है, और वहीं पशुधर्म पठित हैं। इससे पशुधर्म सवनीय पशुओं के लिए सिद्ध होते हैं। 'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति' आश्विन नामक पात्र को लेकर तीन लड़ में मानी हुई रस्सी से यूप को लपेटकर सवनीय पशु का उपाकरण संस्कार करता है; यह वाक्य केवल पाँचवें दिन संस्कार के काल का विधायक है। सवनीय पशु का विधान तो चौथे दिन है, वहीं पशुधर्मों का उल्लेख होने से सवनीय पशुओं के लिए उपाकरण आदि पशुधर्मों का मानना युक्त है। ऐसा यदि कहो, तो—॥२१॥

इस आशंका का निवारण सूत्रकार ने किया—

नैकदेशत्वात् ॥२२॥

[न] उपाकरण आदि पशुधर्म सवनीय पशु के नहीं हैं, [एकदेशत्वात्] पुष्टि के एकदेश होने से। तात्पर्य है, 'आश्विनं' आदि वाक्य सवनीय पशु के पुष्टिरूप संस्कार का उत्कर्ष करता है, उपाकरण आदि का नहीं। अतः क्रम से उपाकरण आदि पशुधर्म अग्नीषोमीय पशु के लिए हैं। आश्विन काल का पाठ सवनीय पशु के विधान के लिए है, जो पाँचवें दिन में साध्य है। इसको गुणार्थ (कालविधि) मानने पर वाक्यभेद होगा। विधान मानने पर वाक्यभेद नहीं होगा। क्योंकि पुष्टि-धर्म पशु का एकदेश है, एक देश के निर्देश से सम्पूर्ण पशु-द्रव्य का उत्कर्ष नहीं होगा, इसलिए पुष्टि-प्रचार अपने समीप में पढ़े गये पुष्टि-सम्बन्धी संस्कारों का उत्कर्ष करेगा; उपाकरण आदि पशुधर्मों का उत्कर्ष नहीं करेगा। आश्विन वाक्य में सवनीय पशु के रस्से को यूप में लपेटने का कथन अनुवाद-मात्र है। सवनीय पशु मेष आदि हैं। इनको रस्से में बाँधा कहाँ जाता है? फिर इस यूपपरिनयन (=नियोजन) को 'उपाकरोति' क्रिया से कहना उपलक्षणमात्र है। वस्तुतः उपाकरण आदि पशुधर्म मुख्य रूप से अग्नीषोमीय पशु के लिए विहित हैं। अन्यत्र इनका यथापेक्षित व्यवहार सम्भव है जो शास्त्रीय दृष्टि से अनुवाद कहा जाता है ॥२२॥

उपाकरण—पशुओं का बुलाया जाना आदि किसी विशेष प्रयोजन से निर्धारित दिन में होता है। प्रयोजन है—पशुओं का निरीक्षण करना, स्वास्थ्य आदि की जाँच-पड़ताल करना। जिस दिन बुलाया गया है, उसी दिन अग्नीषोमीय पशु के समान सवनीय पशु का भी उसी दिन निरीक्षण होना चाहिए।

इसी अर्थ को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

अर्थेनेति चेत् ॥२३॥

[अर्थेन] प्रयोजनविशेष से पशु एकत्रित किये गये हैं। वह निरीक्षण आदि

प्रयोजन उसी दिन सम्पन्न होना चाहिए। [इति चेत्] ऐसा यदि कहो, तो वह– (अगले सूत्र से सम्बद्ध है) ॥२३॥

आशंका का सूत्रकार ने समाधान किया—

न श्रुतिप्रतिषेधात् ॥२४॥

[न] उक्त कथन ठीक नहीं है। तात्पर्य है, जिस दिन पशुओं को यज्ञमण्डप के समीप एकत्रित होने की घोषणा की गई हो, उसी दिन सबका निरीक्षण कर लिया जाय, ऐसा नहीं है, [श्रुतिविप्रतिषेधात्] श्रुति द्वारा विप्रतिषेध से। तात्पर्य है, श्रुति उक्त अर्थ का विरोध करती है।

प्रथम दिन अर्थात् ज्योतिष्टोम के चौथे दिन केवल अग्नीषोमीय पशु का उपाकरण आदि रूप में पूर्णनिरीक्षण कर पर्यग्निकरण के अनन्तर उनका उत्सर्जन कर दिया जाता है। सवनीय आदि पशुओं का उसी दिन निरीक्षण नहीं होता।

सवनीय पशु के विषय में श्रुति है—'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीय आग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति' अश्विनी देव चिकित्सक माने जाते हैं। 'आश्विनं ग्रहं' का तात्पर्य है—चिकित्सा-सम्बन्धी उपकरण। इस कार्य के लिए नियुक्त व्यक्ति चिकित्सा-उपकरणों को साथ लेकर सवनीय पशु का निरीक्षण करता है। मेष-मेषी, अज-अजा सवनीय पशु हैं। इनको सवनीय पशु इस कारण कहा जाता है, क्योंकि इनका निरीक्षण तीनों सवनों के अनुष्ठान के दिन होता है। यह प्रधान सवनों के अनुष्ठान का पाँचवाँ दिन है। तीनों सवनों में प्रधान सोम हवि की आहुतियाँ दी जाती हैं।

सवनों के साथ पशुओं का किस प्रकार का सम्बन्ध है?—'कथं सवनानि पशुमन्ति?' इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है—'वपया प्रातः सवने प्र चरन्ति, पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने, अङ्गैस्तृतीये सवने' याज्ञिक अर्थ है—प्रातः सवन में चर्बी से होम करते हैं, माध्यन्दिन सवन में पुरोडाश से, तृतीय सवन में पशु-अङ्गों से। ऐसा अर्थ करने पर भी तीनों सवनों के साथ पशु का सम्बन्ध नहीं बनता। माध्यन्दिन सवन पशु-सम्बन्ध के बिना रह जाता है।

वस्तुतः वाक्य का 'वपा' पद पशु की पुष्टि का द्योतक है। लोक में हृष्टपुष्ट व्यक्ति को मनोरञ्जन की भावना से कहा जाता है—'चर्बी बहुत चढ़ गई दीखती है!' प्रातःसवन में पशु-सम्बन्धी यह कार्य है कि सवनीय पशुओं में से पुष्ट-स्वस्थ पशुओं को निरीक्षण कर अलग छाँट दिया जाय। यह काल का विधान है। प्रातः-सवन के समय पशु-सम्बन्धी यह कार्य किया जाय। यही सवन के साथ पशु का सम्बन्ध है। वपा से होम करना, अथवा वपा की आहुति देना, यह नितान्त निराधार कथन है। क्योंकि 'प्र चरन्ति' क्रियापद का 'आहुति देना या होम करना' अर्थ के लिए कोई आधार नहीं है। नियुक्त व्यक्ति पशुनिरीक्षण कर पुष्टि-निमित्त

से यह प्रचारित करता है कि यह सवनीय पशु पुष्ट-स्वस्थ-नीरोग है।

माध्यन्दिन सवन के अवसर पर सब आगत पशुओं को चारे पर बाँध दिया जाय। चारा पशु का खाद्य है। पुरोडाश पद इसी का प्रतीक है। 'पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने प्र चरन्ति' माध्यन्दिन सवन के साथ पशुओं का यही सम्बन्ध है। तृतीय सवन के अवसर पर दुर्बल पशुओं की परीक्षा की जाती है। उनके प्रत्येक अङ्ग की जांच-पड़ताल कर उनकी दुर्बलता के कारण का पता लगाया जाता है, एवं उसे दूर करने के लिए उपाय सुझाये जाते हैं। 'अङ्गैस्तृतीये सवने प्र चरन्ति' का यही तात्पर्य है। अङ्गों की आहुति देना नितान्त नृशंस कार्य है, निश्चित ही इन्द्रियाराम याज्ञिकों ने प्रस्तुत विषय में वास्तविकता का शीर्षासन कर दिया है।

चालू प्रसंग में कहना यह है कि 'आश्विनं' वचन में सवनीय पशु का उल्लेख कर उपाकरण पशुधर्म का विधान किया है। उपाकरण अन्य पशुधर्मों का उपलक्षण है। तात्पर्य है—यहाँ उपाकरण आदि पशुधर्म सवनीय पशु के लिए विहित हैं। यदि इसे न मानकर पशुधर्म अग्नीषोमीय पशु के लिए माने जाते हैं, तो इस श्रुति के साथ विरोध होगा। अतः सवनीय पशु के ये धर्म हैं, ऐसा मानना युक्त है ॥२४॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

स्थानात्तु पूर्वस्य संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥२५॥

सूत्र में 'तु' पद अवधारण अर्थ का वाचक है। [स्थानात्] स्थान = क्रम से [पूर्वस्य] पूर्वपठित अग्नीषोमीय पशु के [तु] ही उपाकरण आदि धर्म हैं, [संस्कारस्य] उपाकरण आदि संस्कारों के [तदर्थत्वात्] पशुओं के लिए होने के कारण। तात्पर्य है, उपाकरण आदि संस्कारों का प्रयोग पशुयाग में होता है, ज्योतिष्टोम में नहीं। इसलिए स्थान = क्रम-प्रमाण से उपाकरण आदि पशुधर्म अग्नीषोमीय पशु के ही हैं, सवनीय पशु के नहीं।

उपाकरण आदि धर्म पशुयाग-प्रेरित हैं। सवनीय पशुओं का यह प्रकरण नहीं है। १६वें सूत्र के अनुसार स्थानरूप प्रमाण से प्रथम पठित अग्नीषोमीय पशु के ही उपाकरण आदि धर्म हो सकते हैं। उपाकरण आदि पशु-संस्कार मुख्य रूप से पशुयाग में अपेक्षित हैं। वहाँ प्रथम अग्नीषोमीय पशु पठित है, अतः उसी के लिए उपाकरण आदि धर्मों का विधान है। सवनीय पशु ज्योतिष्टोम में उपस्थित होते हैं। वहाँ 'आश्विनं' वचन के अनुसार उनके काल का विधान है। उपाकरण आदि धर्म वहाँ अपेक्षानुसार अनुवादमात्र हैं। ज्योतिष्टोम में सभी प्रकार के पशु उपस्थित होते हैं। यदि उपाकरण आदि धर्मों को ज्योतिष्टोम-प्रेरित माना जाय तो उपाकरण आदि धर्मों का विधान सभी पशुओं के लिए

अनिवार्य माना जायगा, जो अनावश्यक है। इसलिए पशुयाग-विहित उपाकरण आदि पशुधर्मों का सम्बन्ध क्रम-प्रमाण से प्रथम पठित केवल अग्नीषोमीय पशु के साथ है। अन्यत्र उनका अनुवादमात्र समझना चाहिए।

इसी अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२६॥

[लिङ्गदर्शनात्] लिंग-दर्शन से [च] भी जाना जाता है कि उपाकरण आदि धर्म अग्नीषोमीय पशु के हैं।

ज्योतिष्टोम-प्रसंग में सवनीय पशु के (पुष्टि) वपा-प्रचार और पुरोडाश-संस्कार का उल्लेख है। यदि उपाकरण आदि संस्कार सब पशुओं के लिए समान होते, तो वपाप्रचार, पुरोडाश-संस्कार की भी गणना पशुयाग के अग्नीषोमीय प्रसंग में की जाती; पर ऐसा नहीं किया गया। इससे ज्ञात होता है, उपाकरण आदि पशु-संस्कार केवल अग्नीषोमीय पशु के लिए विहित हैं। अपेक्षानुसार सवनीय पशु के लिए उनका उपयोग अतिदेश-वाक्य द्वारा प्राप्त हो जाता है। सवनीय पशु-संस्कारों के काल का विधान 'वपया प्रातः सवने' तथा 'आश्विनं ग्रहं' आदि वचनों द्वारा किया गया है। इससे ज्ञात होता है, सवनीय पशु के ये ही संस्कार हैं, उपाकरण आदि नहीं ॥२६॥

सवनीय पशु-सम्बन्धी संस्कारों के कालविधायक वाक्य अन्य किसी गौण प्रयोजन से कहे जाने के कारण अर्थवादमात्र हैं, कालविधायक नहीं, इस आशंका का समाधान सूत्रकार ने किया—

अचोदना गुणार्थेन ॥२७॥

[गुणार्थेन] गौण प्रयोजन द्वारा उक्त वाक्य [अचोदना] अविधायक है। तात्पर्य है—मुख्य प्रयोजन द्वारा विधायक है।

सवनीय पशु-संस्कारों के काल का विधान अन्य किसी वचन से प्राप्त नहीं है। यह अपूर्व विधान है। अन्य किसी गौण प्रयोजन से कहे जाने का बहाना लेकर इन्हें अर्थवाद बताना अप्रामाणिक होगा। फलतः प्रस्तुत अधिकरणगत समस्त विवेचना से यह परिणाम सामने आता है कि उपाकरण आदि पशुधर्म अथवा पशु-संस्कार केवल अग्नीषोमीय पशु के लिए विहित हैं। सम्मिलित अग्नि और सोम कृषि के देवता हैं। कृषि का सर्वश्रेष्ठ बाह्यसाधन पशु वृष (बलीवर्द=बैल) है। सोम और अग्नि देवताओं के साथ कृषि-उपादक मुख्य पशु होने के कारण उसके स्वास्थ्य व रक्षा आदि के निमित्त सर्वप्रथम उपस्थिति उस अवसर पर इसी की उचित है, जब पशुओं की स्वास्थ्य आदि की दृष्टि से जांच-पड़ताल की जाय। उससे सम्बद्ध संस्कारों का विवरण उसी के लिए उपयुक्त हो सकता है। सवनीय

पशु मेष-अज आदि के संस्कार उनके प्रसंग में कहे गये हैं। आदिकाल में यज्ञ के अवसर पर पशुओं को मारा नहीं जाता था ॥२७॥ (इति उपाकरणादीनामग्नीषोमीयपशुधर्मताऽधिकरणम्—७)।

(शाखाहरणादीनामुभयदोहधर्मताऽधिकरणम्—८)

'दर्श' इष्टि के प्रसंग में सायं और प्रातः गोदोहन का उल्लेख है। दोहन-सम्वन्धी कुछ धर्मों का भी उल्लेख है, जैसे—शाखाहरण, गायों का प्रस्थापन, प्रस्नावन, गोदोहन आदि। यहाँ सन्देह है, क्या ये धर्म दोनों काल के दोहनों में से किसी एक काल के दोहन के लिए हैं? अथवा दोनों कालों के दोहन के लिए? सायंकाल के दोह में पठित होने से सायं-दोह के ही धर्म होने चाहिएँ।

इस अर्थ को सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

दोहयोः कालभेदादसंयुक्तं शृतं स्यात् ॥२८॥

[दोहयोः] दोनों दोहनों के [कालभेदात्] काल का भेद होने से [शृतम्] प्रातः दुहा सद्यष्क दूध [असंयुक्तं स्यात्] दोहधर्मों से संयुक्त नहीं होता।

'दर्श' इष्टि के हविद्रव्य दो प्रकार के होते हैं, एक—सान्नाय्य; दूसरा—पुरोडाश। सान्नाय्य हवि दही और दूध को मिलाकर बनाया जाता है। अमावास्या के पहले दिन सायंकाल दूध दुहकर जमा दिया जाता है। अगले दिन प्रातः ताज़ा दूध सान्नाय्य हवि बनाने के लिए दुहा जाता है। शाखाहरण आदि धर्म सायं-दोह के साथ पठित हैं, इसलिए सायं-दोह के धर्म माने जाने चाहिएँ। दोनों दोहनों के काल का भेद होने से प्रातर्दोह शाखाहरण आदि धर्मों से संयुक्त नहीं होगा। शाखाहरण आदि धर्म निम्न प्रकार हैं—

शाखाहरण—अमावास्या के दिन ढाक अथवा छोंकरे (=खेजडे, शमी) की शाखा काटकर लाई जाती है, जिससे बछड़े को—गाय के पसवाने के लिए—नीचे छोड़ने के पहले और पीते हुए बछड़े को हटाकर स्पर्श किया जाता है।

प्रस्नावन—गाय को पूरे पसवाने के लिए अर्थात् स्तनों में पूरा दूध उतारने के लिए गाय के स्तनों पर पानी का छींटा देते हुए बारबार हाथ फेरना 'प्रस्नावन' है।

गोदोहन—स्तनों से पात्र में दूध निकालना।

प्रस्थापन—दूध निकालकर गाय को चर पर बाँधने अथवा चरागाह में चरने के लिए भेजना।

जिस दिन सायंकाल गोदोहन है, उसी के साथ शाखाहरण आदि धर्म पढ़े हैं; इसलिए क्रम=स्थान-प्रमाण से सायं-दोहन के लिए ये दोहधर्म समझने चाहिएँ ॥२८॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

प्रकरणाविभागाद्वा तत्संयुक्तस्य कालशास्त्रम् ॥२६॥

[वा] 'वा' पद पूर्वसूत्रोक्त—दोहधर्म सायं-दोह के हैं, प्रातर्दोह के नहीं—पक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। [प्रकरणाविभागात्] प्रकरण के अविभाग=अलग न होने से [तत्संयुक्तस्य] हविद्रव्य दही-दूध रूप अङ्गों (सान्नाय) से सम्बद्ध प्रधान याग का, यह [कालशास्त्रम्] काल का विधायक शास्त्र है। तात्पर्य है, 'दर्श' नामक इष्टि के प्रकरण में पठित दोहधर्म सायं-प्रातः दोनों दोह के लिए हैं; क्योंकि दही-दूध दोनों अङ्गों से संयुक्त प्रधान याग के काल का विधायक यह वचन है।

दही-दूध दोनों का प्रकरण समान है; जहाँ सायं-दोह है, उसी एक प्रकरण में प्रातर्दोह है। यद्यपि क्रम के अनुसार ये धर्म सायं-दोह के साथ पठित हैं, परन्तु क्रम की अपेक्षा प्रकरण बलवान् होता है। अतः प्रकरण-बल से ये दोहधर्म दोनों दोहनों के लिए हैं। पहले-पीछे उल्लेख से कोई अन्तर नहीं आता।

इसके अतिरिक्त वस्तुतः यदि ऐसा देखा जाय, तो दही और दूध दोनों अमावास्या के प्रातः एक ही क्रम पर होते हैं। दूध से दही बनने के लिए लगभग बारह घण्टा समय लग जाता है। इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए अमावास्या के पहले दिन सायंकाल में दूध निकालकर जमा दिया जाता है। दही का अपना अस्तित्व लाभ करना अमावास्या के प्रातः ही हो पाता है। इसी वास्तविकता को शास्त्र में बताया है—'ऐन्द्रं दध्यमावास्यायाम्, ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्' इन्द्र देवता-वाला दही अमावास्या में होता है; इन्द्र देवतावाला दूध अमावास्या में होता है। ये दोनों समान रूप से अमावास्या में कहे गये हैं। इसलिए प्रातः-सायं दोनों दोह के लिए दोहधर्म माने जाने में क्रम बाधक नहीं है। सायं-दोह के समय लाई गई शाखा यदि प्रातः-दोह के समय तक कार्योपयोगी नहीं रहती है, तो प्रातः-दोह के समय अन्य नई शाखा लाई जा सकती है ॥२६॥ (इति शाखाहरणादीनामुभय-दोहधर्मताऽधिकरणम्—८)।

(सादनादिग्रहधर्माणां[1] सवनत्रयधर्मताऽधिकरणम्—९)

ज्योतिष्टोम का विधान किया है—'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' स्वर्ग की कामनावाला ज्योतिष्टोम से यजन करे। ज्योतिष्टोम छह दिन साध्य है। पाँचवें दिन प्रधान सोमयाग तीन सवनों में सम्पन्न किया जाता है। प्रातःसवन में ऐन्द्रवायव आदि दश ग्रह पठित हैं। ग्रह उन पात्रों का नाम है, जिनमें सोमरस

१. सम्मार्गादीनां ग्रहधर्माणां सवनत्रयार्थत्वम्।—सुबोधिनीवृत्तिः।

भरकर विभिन्न देवताओं के उद्देश्य से आहवनीय अग्नि में आहुतियाँ दी जाती हैं। प्रातःसवन में ग्रहण किये जानेवाले दश ग्रह इस प्रकार हैं—(१) ऐन्द्रवायव, (२) मैत्रावरुण, (३) शुक्र, (४) मन्थी, (५) आग्रयण, (६-७-८) अतिग्रह (=आग्नेय-ऐन्द्र-सौर्य), (९) उक्थ्य, (१०) आश्विन। उन ग्रहों के कुछ धर्म कहे गये हैं—ग्रहों का यथास्थान रक्खा जाना, तथा ऊन के छन्ने के छोर से सम्मार्जन करना आदि। सम्मार्जन का वाक्य है—'दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि' दशापवित्र से ग्रह का सम्मार्जन करता है। 'दशा' छोर का नाम है; 'पवित्र' पुनने-छानने का ऊन का बना कपड़ा। अंगोछे के समान उस कपड़े के दोनों छोर आड़ी बुनाई न कर खुले छोड़ दिये जाते हैं। पात्र पर उस छन्ने को रखकर सोम छाना जाता है। छानते समय पात्र पर जो इधर-उधर सोमरस की बूँदें लग जाएँ, उन्हें छन्ने के छोर से पोंछ दिया जाता है, इसी का नाम सम्मार्जन है। इसी प्रकार माध्यन्दिन सवन के ग्रह अन्य हैं तथा तृतीय सवन के अन्य। माध्यन्दिन और तृतीय सवन में होनेवाले ग्रहों में सन्देह है—क्या सादन, सम्मार्जन आदि धर्म सभी ग्रहों में किये जाते हैं? अथवा केवल प्रातःसवन के ग्रहों में?

प्रातःसवन के ग्रहों के साथ पढ़े जाने के कारण उन्हीं ग्रहों के लिए इन धर्मों का उपयोग होना चाहिए। यह प्राप्त होने पर आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत किया—

तद्वत् सवनान्तरे ग्रहाम्नानम् ॥३०॥

[तद्वत्] गत अधिकरण में वर्णित दर्श इष्टि में सायं-प्रातः उभय गोदोह के शाखाहरण आदि धर्मों के समान [सवनान्तरे] अन्य माध्यन्दिन और तृतीय (—सायं) सवन में भी [ग्रहाम्नानम्] ग्रहधर्मों—सादन, सम्मार्जन आदि—का कथन जानना चाहिए।

यद्यपि सादन आदि धर्म प्रातःसवन के ग्रहों के साथ पढ़े गये हैं, पर ज्योतिष्टोम का महाप्रकरण सभी सवनों व ग्रहों के लिए समान है। सादन-सम्मार्जन आदि धर्मों का विधान वाक्य द्वारा सभी सवनों के ग्रहों के लिए किया गया है, भले ही पाठ का स्थान या क्रम प्रातःसवन के साथ हो। क्योंकि, स्थान से प्रकरण और वाक्य बलवान् होते हैं। इसलिए सभी सवनों के ग्रहों के लिए ये धर्म कहे हैं, यह निश्चित सिद्धान्त है ॥३०॥ (इति सादनादिग्रहधर्माणां सवनत्रयधर्मताऽधिकरणम्—९)।

(रशनात्रिवृत्त्वादीनां पशुधर्मताऽधिकरणम्—१०)

ज्योतिष्टोम में अग्नीषोमीय पशु की उपस्थिति का उल्लेख है—'यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते'—जो दीक्षित यजमान अग्नीषोमीय पशु का आलभन

करता है। उसी प्रकरण में पशु को बाँधने की रस्सी (=रशना) का उल्लेख है, और उसके धर्मों का भी। तात्पर्य है, रस्सी कैसी होनी चाहिए? उसकी कतिपय विशेषताओं को भी बताया गया है, जैसे—रस्सी तीन लड़ में भानी हुई होनी चाहिए, मृदु हो, प्रविष्टान्त हो, अर्थात् दोनों किनारे रस्सी को भानते हुए अन्दर को मोड़ दिये गये हों। यदि ऐसा न किया जाय, तो रस्सी उधिड़ जायगी। यहाँ सन्देह है—क्या रशना के ये धर्म अग्नीषोमीय, सवनीय, अनुबन्ध्य सभी पशुओं की रशना के लिए साधारण हैं? अथवा केवल अग्नीषोमीय पशु की रशना के हैं? अग्नीषोमीय पशु के प्रकरण में पठित होने से उसी की रशना के ये धर्म हों, ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार ने सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

रशना च लिङ्गदर्शनात् ॥३१॥

[रशना] पशु बाँधने की रस्सी [च] तो अपनी विशेषताओं के साथ सब पशुओं के लिए साधारण है, [लिङ्गदर्शनात्] इस विषय में साधक हेतु देखे जाने से।

सवनीय पशु के विषय में स्पष्ट उल्लेख है—'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति' आश्विन ग्रह का ग्रहण कर तीन लड़-वाली रस्सी से यूप को लपेटकर आग्नेय सवनीय पशु का उपाकरण करता है। यहाँ तीन लड़वाली रस्सी का सवनीय पशु के लिए स्पष्ट उल्लेख है। इससे जाना जाता है कि अपनी विशेषताओं से युक्त रस्सी का उपयोग केवल अग्नीषोमीय पशु के लिए न होकर अपेक्षानुसार सभी पशुओं के लिए साधारण है। सन्दर्भ में 'त्रिवृत्' पद रशना के अन्य धर्मों—मृदुलता, प्रविष्टान्तता आदि—का उपलक्षण है। 'सवनीय' पद भी 'अनुबन्ध्य' पशुओं को उपलक्षित करता है।

यद्यपि सप्तम अधिकरण में रशनाविषयक आंशिक विवरण आ गया है, पर वहाँ रशना की विशेषताओं का उल्लेख नहीं हुआ। उसी के लिए यह अधि-करण है। वहाँ निर्णय किया गया है, समस्त पशुधर्मों—उपाकरण आदि—का विधान केवल अग्नीषोमीय पशु के लिए है। शेष पशुओं के लिए उनकी प्राप्ति अतिदेश-वाक्य द्वारा होती है। उन धर्मों में 'श्लक्ष्णया बन्धः' भी एक है। उसमें रशना के मृदुता-स्निग्धता आदि धर्म तो आ जाते हैं, पर अन्य धर्म त्रिवृत् प्रवि-ष्टान्त आदि नहीं आते। उन्हीं के लिए प्रस्तुत अधिकरण का प्रारम्भ है ॥३१॥
(इति रशनात्रिवृत्त्वादीनां पशुधर्मताधिकरणम्—१०)।

(अंश्वदाभ्ययोरपि सादनादिधर्मवत्त्वाधिकरणम्—११)

तैत्तिरीय संहिता के तृतीय काण्ड में ज्योतिष्टोम-सम्बन्धी कुछ कर्म पढ़े हैं। वहाँ 'अंशु' और 'अदाभ्य' नामक ग्रह पठित हैं। उनमें सन्देह है—क्या

ज्योतिष्टोम में पठित ग्रहधर्म—सादन, सम्मार्जन आदि—अंशु और अदाभ्य ग्रहों में करने चाहिएँ ? अथवा नहीं करने चाहिएँ। ज्योतिष्टोम प्रकरण से दूर अन्यत्र पठित होने के कारण नहीं करने चाहिएँ। इस अर्थ को सूत्रकार ने पूर्व-पक्षरूप में सूत्रित किया—

आराच्छिष्टमसंयुक्तमितरैरसन्निधानात् ॥३२॥

[आरात्-शिष्टम्] दूर कहे गये ग्रह [इतरैः] अन्य ग्रहों के धर्मों से [असंयुक्तम्] संयुक्त=सम्बद्ध नहीं होते, [असन्निधानात्] पूर्वपठित ग्रहधर्मों के समीप न होने के कारण।

कोशकारों ने 'आरात् दूरसमीपयोः' कहकर 'आरात्' पद के 'दूर' और 'समीप' दोनों अर्थ माने हैं। सूत्र के व्याख्याकारों में से किसी ने समीप अर्थ मानकर व्याख्या की है, किसी ने दूर अर्थ मानकर। जब हम 'आरात्' पद से तृतीयकाण्ड-पठित अंश और अदाभ्य ग्रहों को लक्षित करते हैं, तब 'आरात्' का अर्थ 'दूर' अभीष्ट होगा। जब ज्योतिष्टोम के मुख्य प्रकरण में पठित ग्रहधर्मों को 'आरात्' पद से लक्षित करते हैं, तब 'आरात्' का 'समीप' अर्थ अभीष्ट होगा। इस व्याख्या में 'असन्निधात्' हेतुपद का पाठ 'सन्निधानात्' अभीष्ट होगा। इस व्याख्या में भी 'इतरैः' पद से अंशु और अदाभ्य के लक्षित होने पर हेतुपद का पाठ तदवस्थ बना रहेगा। इस रूप में आपाततः भिन्न अर्थ प्रतीत होने पर भी सूत्र के भावार्थ में कोई अन्तर नहीं आता। सादन, सम्मार्जन आदि जो ग्रहों के धर्म ज्योतिष्टोम के मुख्य प्रकरण में बताये हैं, वे उन्हीं ग्रहों के समझने चाहिएँ जो मुख्य प्रकरण में पठित है।

यह ऐसा ही प्रसंग है, जैसा 'पयसा मैत्रावरुणं श्रीणाति' कहा है। मैत्रावरुण नामक ग्रह में स्थित सोम को दूध के साथ मिलाता है। इस वचन के अनुसार मैत्रावरुण ग्रह में विद्यमान सोम को ही दूध के साथ मिलाया जाता है; अन्य ग्रहों में विद्यमान सोम को दूध के साथ नहीं मिलाया जाता। इसी प्रकार सादन, सम्मार्जन धर्म भी उन्हीं ग्रहों के माने जाने चाहिएँ, जो वहीं प्रकरण में पठित हैं। अंशु-अदाभ्य ग्रह प्रकरण में पठित नहीं हैं, अतः उनके ये धर्म नहीं माने जाएँगे ॥३२॥

इस पूर्वपक्ष का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

संयुक्तं वा तदर्थत्वाच्छेषस्य तन्निमित्तत्वात् ॥३३॥

[वा] 'वा' पद पूर्वसूत्र में कहे गये 'अप्रकरणस्थित अंशु और अदाभ्य ग्रहों के सादन-सम्मार्जन ग्रह-धर्म नहीं होते' की निवृत्ति का द्योतक है। [संयुक्तम्] प्रकरण से अन्यत्र पठित भी अंशु और अदाभ्य ग्रह भी सादन-सम्मार्जन ग्रह-धर्मों

से सम्बद्ध होते हैं, क्योंकि इन ग्रहों के [तदर्थत्वात्] ज्योतिष्टोम की सम्पन्नता के लिए होने के कारण [शेषस्य] कहे गये सादन आदि ग्रह-धर्मों के [तन्निमित्तत्वात्] ज्योतिष्टोम निमित्तक होने से। तात्पर्य है—ग्रहों का कथन ज्योतिष्टोम याग की सम्पन्नता के लिए है। अतः कोई ग्रह कहीं भी पढ़े गये हों, सम्मार्जन आदि ग्रह-धर्मों का सम्बन्ध सभी ग्रहों से होगा। अन्यथा, ज्योतिष्टोम याग विगुण हो जायगा।

तैत्तिरीय संहिता का तृतीय काण्ड वस्तुतः प्रकीर्णक काण्ड है। बिखरे हुए विभिन्न कर्मों का कथन उसमें हुआ है। किसी एक मुख्य कर्म का प्रारम्भ करके तत्सम्बन्धी अन्य कर्मों का कथन वहाँ किया गया हो, ऐसा नहीं है। इसलिए वे अनारभ्याधीत कर्म हैं। उनका जिस मुख्य कर्म से सम्बन्ध हो, वहाँ उन्हें जोड़ लेना चाहिए। ग्रह उन पात्रों का नाम है, जिनमें आहुति के लिए सोम भरा जाता है। इनका उपयोग सोमयाग की संस्था ज्योतिष्टोम में होता है। अंशु और अदाभ्य नामक ग्रह भी ज्योतिष्टोम के उपकारक हैं। ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित ग्रह-धर्मों का सम्बन्ध उनके साथ भी होगा, भले ही वे प्रकरण से अन्यत्र पठित हों। आचार्यों का कथन है—'यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः'—जिनका परस्पर अनिवार्य सम्बन्ध है, उनके दूरस्थित होने पर भी सम्बन्ध को हटाया नहीं जा सकता। फलतः ज्योतिष्टोम से सम्बद्ध अंशु और अदाभ्य ग्रहों को सादन-सम्मार्जन आदि ग्रह-धर्मों से सम्बद्ध मानना ही होगा।

'ग्रहं सम्मार्ष्टि' वाक्य में ग्रहमात्र को लक्ष्य कर सम्मार्जन का विधान किया है। प्रकरण से वाक्य बलवान् होता है। प्रकरण-पठित ग्रहों के समान अंशु और अदाभ्य ग्रह भी उसी प्रकार ज्योतिष्टोम के उपकारक हैं। इसलिए सम्मार्जन आदि धर्म जैसे प्रकरण-पठित ग्रहों में किये जाते हैं, वैसे ही अंशु और अदाभ्य ग्रहों में भी करने चाहिएँ ॥३३॥

मैत्रावरुण ग्रहस्थित सोम में दूधमिश्रण का उदाहरण देकर जो यह कहा गया कि अंशु और अदाभ्य ग्रहों में ग्रह-धर्म नहीं होने चाहिएँ, आचार्य सूत्रकार ने उसका समाधान किया—

निर्देशाद् व्यवतिष्ठेत ॥३४॥

मैत्रावरुण ग्रहस्थित सोम में दूध मिलाना कार्य [निर्देशात्] 'पयसा मैत्रावरुणं श्रीणाति' वाक्य-निर्देश से [व्यवतिष्ठेत] एकमात्र मैत्रावरुण ग्रह में व्यवस्थित हो जाता है। तात्पर्य है, दूध मिलाना कार्य अन्य ग्रहों में स्थित सोम में प्रवृत्त नहीं होता।

चालू प्रसंग में वस्तुतः यह उदाहरण विषम है। 'पयसा मैत्रावरुणं श्रीणाति' वाक्यनिर्देश मैत्रावरुण ग्रह का नाम लेकर उसमें विद्यमान सोम के साथ दूध-

मिश्रण का कार्य एक विशेष कथन है, परन्तु ज्योतिष्टोम में ग्रहों के सादन और सम्मार्जन का कार्य एक सामान्य कथन है। वहाँ किसी विशेष ग्रह का नाम लेकर सादन-सम्मार्जन नहीं कहे गये। 'उपोप्तेऽन्ये ग्रहाः साद्यन्ते' तथा 'दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि' वाक्यों में सामान्य ग्रह पद का निर्देश है। वह सभी ग्रहों में समान रूप से लागू होगा। ज्योतिष्टोम-सम्बन्धी ग्रह प्रकरण में या अन्यत्र कहीं पढ़ा गया हो, सादन-सम्मार्जन धर्म समानरूप से सभी ग्रहों के लिए माने जाएँगे। मैत्रावरुण विशेष निर्देश है, विपरीत होने ये वह प्रकृत प्रसंग में दृष्टान्त नहीं हो सकता। मैत्रावरुण ग्रह में स्थित सोम के साथ दूध के मिश्रण का जैसे विशेष कथन है, ऐसे ही मन्थी ग्रह में स्थित सोम के साथ सत्तू के मिश्रण का कथन है, 'सक्तुभिः श्रीणात्येनम्' [कात्या० श्रौ० ६।६।१३]। ये विशेष कथन सामान्य स्थलों में लागू नहीं होते; अपने में सीमित रहते हैं, जो सर्वथा युक्त है।

सादन—यज्ञमण्डप में विशेष स्थान होता है, जहाँ सोम से भरे ग्रह=पात्र रक्खे जाते हैं। 'उपोप्तेऽन्ये ग्रहाः साद्यन्ते अनुपोप्ते ध्रुवः' वाक्य में स्थान के दो नाम कहे हैं—उपोप्त और अनुपोप्त। 'उपोप्त' पूर्वनिर्धारित वह विशिष्ट स्थान है, जिसे जल से अच्छी तरह धोकर उसपर बालू की मोटी तह बिछा दी जाती है। यह छोटा-सा चौंतरा=धड़ा बन जाता है। इसपर सोम से भरे ऐन्द्रवायव ग्रह रक्खे जाते हैं। उपोप्त से भिन्न स्थान अनुपोप्त है, जहाँ ध्रुवसंज्ञक ग्रह रक्खे जाते हैं। यह ग्रहसम्बन्धी 'सादन' कर्म है, अर्थात् ग्रहों का यथास्थान रक्खा जाना। सभी ग्रहों के लिए यह समान है। सम्मार्जन का निर्देश प्रथम (सूत्र ३० की अवतरणिका में) कर दिया है ॥३४॥ (इति अंश्वदाभ्ययोरपि सादनादिधर्मवत्त्वाधिकरणम्—११)।

(चित्रिण्यादीष्टकानामग्न्यङ्गताऽधिकरणम्—१२)

अग्निचयन कर्म का आरम्भ न करके कहा है—'चित्रिणीरुपदधाति' चित्रिणी नामक इष्टकाओं (ईंटों) को स्थापित करता है। 'वज्रिणीरुपदधाति' वज्रिणी नामक ईंटों को स्थापित करता है। 'भूतेष्टका उपदधाति' भूतेष्टक नामक ईंटों को स्थापित करता है। ईंटों का उपयोग अग्निचयन-कर्म में होता है, पर उक्त कथन अग्निचयन-कर्म के बाहर किया गया है। अग्निचयन-प्रकरण में इष्टकाओं के कुछ कर्म बताये हैं—'अखण्डामकृष्णलामिष्टकां कुर्यात्' बिना टूटी-फूटी और बिना काले रंग की अर्थात् लाल रंग की ईंट बनावे। और बताया—'भस्मना इष्टकाः संयुज्यात्' ईंटों को आपस में भस्म[1] से जोड़े। यहाँ

१. पत्थर फूंककर बनाई राख (चूना) तथा पत्थर के कोयले की राख। चूने और इस राख का सम्मिश्रण सीमेंट से अधिक पकड़ करता है।

सन्देह है—क्या अग्निचयन-प्रकरण में पठित ये अखण्डत्व आदि धर्म अप्रकरण-पठित इंटों के करने चाहिएँ? अथवा नहीं करने चाहिएँ? समीप में पठित न होने से ये नहीं करने चाहिएँ, ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार ने बताया—

अग्न्यङ्गमप्रकरणे तद्वत् ॥३५॥

[अप्रकरणे] अप्रकरण में पठित चित्रिणी आदि इष्टकाएँ भी [अग्न्यङ्गम्] अग्निचयन कर्म के अङ्गभूत हैं, इसलिए ये भी [तद्वत्] अंशु-अदाभ्य ग्रहों के ग्रह-धर्मों से संयुक्त होने के समान अखण्डत्व आदि धर्मों से संयुक्त होती हैं।

गत अधिकरण में अप्रकरण-पठित अंशु-अदाभ्य ग्रहों को—ज्योतिष्टोम का अङ्ग होने के कारण—ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित ग्रह-धर्मों से संयुक्त होने का जिस प्रकार उपपादन किया गया है, उसी के अनुसार अप्रकरणपठित चित्रिणी आदि इष्टकाओं को—अग्निचयन कर्म का अङ्गभूत होने के कारण—अग्निचयन-प्रकरण में पठित अखण्डत्व आदि इष्टका-धर्मों से संयुक्त मानना चाहिए। जैसे अंशु आदि ग्रह ज्योतिष्टोम की सम्पन्नता को पूरा करते हैं, ज्योतिष्टोम के उपकारक हैं, ऐसे ही अग्निचयन में इष्टकाएँ न केवल उपाकरण हैं, अपितु यज्ञमण्डप-रूप में उसकी रचना के प्रधान साधन हैं। इसलिए अप्रकरण-पठित भी चित्रिणी आदि इष्टकाओं के अखण्डत्व आदि धर्म करने ही चाहिएँ ॥३५॥ (इति चित्रिण्यादीष्टकानामग्न्यङ्गताऽधिकरणम्—१२)।

(मानोपावहरणादीनां सोममात्रधर्मताऽधिकरणम्—१३)[1]

ज्योतिष्टोम के प्रसंग में पाठ है—'स यदि राजन्यं वैश्यं याजयेत्। स यदि सोमं विभक्षयिषेत्, न्यग्रोधस्तिभीराहृत्य ताः सम्पिष्य दधनि उन्मृज्य, तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत् न सोमम्'—यदि वह याज्ञिक क्षत्रिय या वैश्य को यजन कराये, वह क्षत्रिय या वैश्य सोम का भक्षण करना चाहे, तो न्यग्रोधस्तिभियों=बड़ की कलियों व कोमल पत्तों को लाकर, उन्हें पीसकर, दही में मिलाकर, क्षत्रिय अथवा वैश्य को वह भक्ष देवे, सोम न देवे। न्यग्रोध-स्तिभियों के रस को जिस पात्र में रक्खा जाता है, उसका नाम 'फल चमस' है। ज्योतिष्टोम-प्रसंग में सोम के धर्म बताये हैं—मान—परिमाण, प्रत्येक सवन के लिए निर्धारित परिमाण में सोम का ग्रहण किया जाता है। 'दशमुष्टीर्मिमीते' [आप० श्रौ० १२।६।५] दस मुट्ठी सोम

---

१. क्रय और अभिषव सोमधर्मों के आधार पर इस अधिकरण का 'क्रयाभिषवादीनां सोममात्रधर्मताधिकरणम्' नाम भी बताया गया है।

मापता है। **उपावहरण**—हविर्धान-शकट में स्थापित सोम को अभिषव के लिए ग्रहण कर अभिषवस्थान के समीप लाना। **क्रय**—मूल्य निर्धारित कर खरीदना। **अभिषव**—सोम को ग्रावों पर रख के कूट-पीसकर रस निकालना।

इन सोम-धर्मों के विषय में सन्देह है—क्या ये धर्म सोम और फलचमस के समान हैं? अथवा केवल सोम के धर्म हैं? यदि दोनों के ये समान धर्म हैं, तो फलप्राप्ति-रूप गुण की कामना से सोमयाग करनेवाले क्षत्रिय व वैश्य यजमान की न्यग्रोधस्तिभियों के रस से याग करने की प्रवृत्ति होगी। यदि केवल सोम के धर्म माने जाते हैं, तो सोम का प्रतिनिधि होने से फलचमस सोम का विकास होगा, तथा मान आदि धर्म अतिदेश-वाक्य से फलचमस में प्राप्त होंगे। उस अवस्था में जैसे काम्यकर्म दर्श-पूर्णमास आदि व्रीहि हविद्रव्य के अभाव में उसके प्रतिनिधि नीवार से नहीं किये जाते, इसी प्रकार काम्य सोमयाग में विकृति फलचमस से क्षत्रिय व वैश्य की प्रवृत्ति न होगी। इस विषय में मान्य क्या होना चाहिए? सोम और फलचमस दोनों का एक प्रकरण में विधान होने से मान आदि धर्म दोनों के समान समझे जाने चाहिएँ। ऐसा प्राप्त होने पर आचार्य सूत्रकार ने अभिमत सिद्धान्त बताया—

नैमित्तिकमतुल्यत्वादसमानविधानं स्यात् ॥३६॥

[नैमित्तिकम्] क्षत्रिय आदि निमित्त से प्राप्त होनेवाली न्यग्रोध-स्तिभियाँ [अतुल्यत्वात्] सोम के तुल्य=समान न होने से [असमानविधानं स्यात्] सोम और न्यग्रोधस्तिभी-धर्मियों का विधान समान नहीं है।

सोम नित्यविधि है, किसी का प्रतिनिधि नहीं है। फलचमस के उपादान-तत्त्व न्यग्रोध-स्तिभियाँ सोम के प्रतिनिधि हैं, तथा क्षत्रिय आदि निमित्त से प्राप्त हैं, इसलिए नैमित्तिक हैं। नैमित्तिक विधान नित्यविधि के विकार माने जाते हैं। ज्योतिष्टोम के हविद्रव्य की आकांक्षा होने पर सर्वप्रथम सोम उपस्थित होता है, साथ ही उसके मान आदि धर्म उपस्थित हैं; शास्त्रीय दृष्टि से मान आदि सोम के संस्कार कहे जाते हैं। संस्कृत सोम को प्रस्तुत कर ये चरितार्थ हो जाते हैं, तब अन्यत्र इनकी प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिए मान आदि केवल सोम के धर्म हैं, फलचमस के नहीं।

यह भी ध्यान देने योग्य है, यदि मान आदि को सोम के समान ही फलचमस का धर्म माना जाता है, तो इसमें द्विरुक्ति-दोष प्राप्त होता है। प्रथम, सीधे विधान से प्राप्त होंगे; दूसरे, नैमित्तिक फलचमस के विकृति होने के कारण 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' अतिदेश-वाक्य से धर्मों की प्राप्ति होगी। शास्त्रीय दृष्टि से इसे अभीष्ट नहीं माना जाता। इसलिए भी मान आदि को फलचमस का धर्म

मानना युक्त नहीं है ।।३६।। (इति मानोपावहरणादीनां सोममात्रधर्मताऽधि-करणम्—१३)।

(प्रतिनिधिष्वपि मुख्यधर्मानुष्ठानाधिकरणम्—१४)

विहित हविद्रव्य के नष्ट या विकृत हो जाने पर उसके प्रतिनिधि द्रव्य का विधान शास्त्र में देखा जाता है, जैसे ब्रीहि के निर्वाप से लेकर आहुति देने से पूर्व तक यदि ब्रीहि अथवा उससे बना पुरोडाश नष्ट या विकृत हो जाता है, तो दुबारा ब्रीहि का निर्वाप न होकर उसके प्रतिनिधि द्रव्य नीवार से पुरोडाश तैयार किया जाता है। बिना जोते-बोये उत्पन्न धान्य 'नीवार' कहाता है। पूर्व में इसे 'तिन्नी' [तृणधान्य] तथा व्रज-जनपद में 'कोदों' कहते हैं, जो 'कदन्न' पद का अपभ्रंश है।

ब्रीहि के प्रतिनिधि नीवार के विषय में सन्देह है—क्या नीवार ब्रीहि के समान विधान वाले हैं ? अथवा समान विधानवाले नहीं हैं ? गत अधिकरण में प्रतिपादित अर्थ के अनुसार नीवार ब्रीहि के समान धर्मवाले नहीं होने चाहिएँ।

इसी अर्थ को सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत किया—

प्रतिनिधिश्च तद्वत् ।।३७।।

[प्रतिनिधिः] प्रतिनिधि द्रव्य [च] भी [तद्वत्] जैसे नैमित्तिक समानविधान नहीं है, वैसे ही प्रतिनिधिद्रव्य भी समानविधान नहीं हैं।

गत अधिकरण में निश्चित किया गया—नैमित्तिक हविद्रव्य न्यग्रोध-स्तिभियाँ नित्य हबिद्रव्य सोम के समान विधान नहीं हैं। उसी प्रकार ब्रीहि का प्रतिनिधि हविद्रव्य नीवार नित्य हविद्रव्य ब्रीहि के समान विधान नहीं है। असमानता या अतुल्यता यही है कि ब्रीहि के निर्वाप आदि धर्मविहित हैं, परन्तु नीवार के विहित नहीं हैं, प्रयोजनवश प्राप्त होते हैं ।।३७।।

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

न तद्वत् प्रयोजनैकत्वात् ।।३८।।

[न] प्रतिनिधि हविद्रव्य असमान विधान नहीं है, क्योंकि वह [तद्वत्] उसी हविद्रव्य के समान होता है, जिसका साक्षात् विधान है, [प्रयोजनैकत्वात्] मुख्य द्रव्य और प्रतिनिधि द्रव्य दोनों का प्रयोजन एक होने से। यज्ञ-निष्पादन-प्रयोजन में दोनों द्रव्यों का स्तर समान है।

किसी हविद्रव्य के प्रतिनिधि द्रव्य का निर्धारण उन द्रव्यों के समान गुणों के आधार पर किया जाता है। प्रतिनिधि द्रव्य की आवश्यकता मुख्य द्रव्य के अभाव में होती है। ब्रीहि से एक बार पुरोडाश तैयार किये जाने पर यदि यह किसी

कारण नष्ट या विकृत हो जाता है, तो दुबारा व्रीहि से पुरोडाश पुनः तैयार किया जा सकता है। यह जो कहा गया कि व्रीहि-पुरोडाश नष्ट हो जाने पर पुनः व्रीहि से पुरोडाश तैयार न कर उसके प्रतिनिधि द्रव्य नीवार से करे, यह कोई अनिवार्य व्यवस्था नहीं है। प्रतीत होता है, यजमान की आर्थिक स्थिति का ध्यान रखते हुए ऐसा कहा गया है। दुबारा व्रीहि क्रय करने में यजमान की आर्थिक स्थिति सहयोग न दे रही हो, तो वह व्रीहि के प्रतिनिधि नीवार धान्य से यज्ञ-निष्पादन कर ले। ऐसी स्थिति में विहित द्रव्य व्रीहि के निर्वाप आदि जो धर्म विधान किये गये हैं, नीवार में उनका प्रयोग किये बिना पुरोडाश का तैयार किया जाना सम्भव नहीं। अतः विहित द्रव्य के धर्मों का प्रयोग आवश्यक है। प्रतिनिधि का स्तर—जिसका वह प्रतिनिधि है—पूर्णरूप में उसके समान होता है। इसलिए विहित द्रव्य के धर्मों को प्रतिनिधि द्रव्य में प्रयोग किये जाने से रोका नहीं जा सकता।

गत सूत्र द्वारा इसके विरोध में न्यग्रोध-स्तिभियों का जो दृष्टान्त दिया गया है, वह विषम दृष्टान्त है; यहाँ लागू नहीं होता, क्योंकि न्यग्रोध-स्तिभियाँ सोम की प्रतिनिधि नहीं हैं। यदि प्रतिनिधि होतीं, तो केवल क्षत्रिय-वैश्य के लिए उनका विधान न होकर ब्राह्मण आदि सबके लिये समान होता। फलतः व्रीहि का प्रतिनिधिद्रव्य नीवार व्रीहि के समान विधान है, तथा व्रीहि के निर्वाप आदि धर्म पूर्णरूप से उसमें किये जाते हैं ॥३८॥

विहित द्रव्य के धर्मों का उसके स्थानीय द्रव्य में प्रयोग न किया जाना वहीं मान्य है, जहाँ शास्त्रीय दृष्टि से उनमें परस्पर प्रकृति-विकारभाव की स्थिति हो, जैसा सोम और न्यग्रोध-स्तिभियों के विषय में बताया गया है। वह स्थिति व्रीहि-नीवार में नहीं है। इसी अर्थ को सूत्रकार ने बताया—

अशास्त्रलक्षणत्वाच्च ॥३९॥

प्रतिनिधिद्रव्य के [अशास्त्रलक्षणत्वात्] शास्त्रीय दृष्टि से किसी का विकार न होने के कारण [च] भी मुख्य विहितद्रव्य और प्रतिनिधिद्रव्य में परस्पर प्रकृति-विकारभाव नहीं है।

विहितद्रव्य के अभाव में याग की सिद्धि के लिए समानगुण अन्य द्रव्य को उसके प्रतिनिधिरूप में शास्त्र मान्यता देता है। प्रतिनिधिद्रव्य को पूर्वश्रुत द्रव्य का विकार किसी भी शास्त्रदृष्टि से नहीं माना गया। इसलिए पूर्वश्रुत द्रव्य के धर्मों का प्रयोग प्रतिनिधिद्रव्य में किया जाना पूर्णतः निर्बाध है ॥३९॥ (इति प्रतिनिधिष्वपि मुख्यधर्मानुष्ठानाधिकरणम्—१४)।

(श्रुतेष्वपि प्रतिनिधिषु मुख्यधर्मानुष्ठानाधिकरणम्—१५)

जो प्रतिनिधिद्रव्य श्रुत हैं, अर्थात् वाक्य द्वारा विहित हैं, जैसे कहा—'यदि

सोमं न विन्देत, पूतीकानभिषुणुयात्'–यदि सोम को प्राप्त न कर पाये, तो पूतीक लता का अभिषव करे। गत अधिकरण में अश्रुत का प्रतिनिधित्व बताया है; पर यह श्रुत होने के कारण उससे विपरीत है। इसलिए सन्देह होता है—क्या यहाँ समानविधित्व है ? अथवा नहीं है ? यदि नहीं है, तो श्रुति असंगत होती है। यदि प्रतिनिधित्व सम्भव नहीं, तो श्रुति द्वारा प्रतिनिधित्व क्यों कहा गया ? यदि श्रुति-बोधित प्रतिनिधित्व है, तो सन्देह का अवकाश ही नहीं रहता। ऐसी स्थिति में सूत्रकार ने बताया—

नियमार्था गुणश्रुतिः ॥४०॥

[गुणश्रुतिः] 'पूतीकानभिषुणुयात्' यह पूतीक के प्रतिनिधित्व-रूप गुण की श्रुति [नियमार्था] नियम के लिए है, अर्थात् अनेक प्रतिनिधि प्राप्त होने पर केवल एक पूतीक ओषधि के प्रतिनिधित्व को व्यवस्थित करती है।

सोम के अभाव में सोमयाग करने की भावना से सोम के सदृश गुणवाले द्रव्य की अपेक्षा होने पर अनेक द्रव्यों की उपस्थिति सम्भव रहती है, जैसे पूतीक[1], न्यग्रोधस्तिभी, गुडूची (गिलोय) आदि। ऐसी दशा में आचार्यों ने व्यवस्थित किया कि सोम के अभाव में केवल पूतीक लता द्रव्य से सोमयाग सम्पन्न करना चाहिए, अन्य द्रव्य से नहीं।

यह व्यवस्था अनिवार्य अथवा एकमात्र स्थायी नहीं है। तात्पर्य है—सोम-अभाव में पूतीक एकमात्र अन्तिम द्रव्य हो, ऐसा नहीं है। काठक संहिता [३४।३] में पाठ है—'यदि सोमं न विन्देयुः पूतीकानभिषुणुयुः, यदि न पूतीकान् आर्जुनानि' सोम के अभाव में पूतीक और पूतीक के अभाव में अर्जुन-कलियों का विधान किया गया है। इससे ज्ञात होता है, यह व्यवस्था द्रव्यविषयक न होकर यागविषयक समझनी चाहिए। सोम के अभाव में जो भी समानगुण द्रव्य मिले, उसीसे यागानुष्ठान अवश्य करे ॥४०॥ (इति श्रुतेष्वपि प्रतिनिधिषु मुख्यधर्मानुष्ठानाधिकरणम्–१५)।

(दीक्षणीयादिधर्माणामग्निष्टोमाङ्गताऽधिकरणम्—१६)

सोमयाग की सात संस्थायें हैं—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय, आप्तोर्याम। इनमें पहली चार संस्थायें मुख्य हैं। 'संस्था' पद का अर्थ समाप्ति है। संस्थाओं का नामकरण, स्तोत्रों से कर्म की समाप्ति के आधार पर हुआ है। अग्नि देवतावाले स्तोमों = स्तोत्रों = स्तुतिमन्त्रों से जिस कर्म की समाप्ति होती है, उसका नाम अग्निष्टोम है। इसी प्रकार उक्थ्य, षोडशी, अति-

---

१. 'करंजवा' नाम से लोकप्रसिद्ध एक झाड़ है। यह दो प्रकार का होता है—काँटेवाला और बिना काँटे का। काँटेवाले करंजवा का नाम पूतीक है।

रात्र आदि स्तोम विशेष हैं; उन संस्थाओं के अन्त में वह-वह स्तोम रहता है। उसी आधार पर उनके नाम हैं। सोमयाग को ये चार संस्थाएँ–अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र मुख्य मानी जाती हैं। अत्यग्निष्टोम, वाजपेय, आप्तोर्याम ये तीन संस्थाएँ और हैं। सब संस्थाओंवाले सोमयाग का सामान्य नाम ज्योतिष्टोम है। इन स्तोमों के देवताओं में ज्योतिर्मय अंश विद्यमान हैं। इसमें सन्देह है—क्या सब संस्थाओंवाले ज्योतिष्टोम को प्रकृत करके दीक्षणीय आदि धर्म कहे हैं? अथवा केवल अग्निष्टोम को अभिप्रेत करके कहे हैं? इन सबका प्रकरण एक होने से सभी संस्थाओंवाले ज्योतिष्टोम के ये धर्म होने चाहिएँ, ऐसा प्रतीत होता है।

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत किया—

संस्थास्तु समानविधानाः प्रकरणाविशेषात् ॥४१॥

[संस्थाः] अग्निष्टोम आदि संस्थाएँ [समानविधानाः] समान विधानवाली हैं, अर्थात् सबका विधान एक ही प्रकार किया गया है, [प्रकरणाविशेषात्] प्रकरण के अविशेष=भिन्न न होने से।

दीक्षणीय इष्टि, दीक्षा, प्रायणीय इष्टि आदि धर्मों का विधान ज्योतिष्टोम पद से कही जानेवाली सभी संस्थाओं के अभिप्राय से किया गया है; केवल अग्निष्टोम संस्था के अभिप्राय से नहीं, क्योंकि इन सबका विधान एक प्रकरण में हुआ है। प्रकरण का कोई भेद नहीं है, जिससे यह कहा जाय कि अग्निष्टोम के ये धर्म हैं, उक्थ्य आदि अन्य संस्थाओं के नहीं हैं। इसलिए दीक्षणीयेष्टि आदि धर्मों का सम्बन्ध सभी संस्थाओं से माना जाना चाहिए। इनका प्रयोग सब संस्थाओं में किया जाय ॥४१॥

इसी अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

व्यपदेशश्च तुल्यवत् ॥४२॥

[व्यपदेशः] संस्थाओं का व्यपदेश=कथन [च] भी [तुल्यवत्] तुल्य की तरह है।

प्रकरण में इनका कथन ऐसा किया गया है, जैसे सबका समान हो—'यदि अग्निष्टोमो जुहोति' यदि अग्निष्टोम है, तो होम करता है। 'यदि उक्थ्यः परिधिमनक्ति' यदि उक्थ्य है, तो उसके शेष बचे घी से परिधि को चुपड़ता है। 'यदि अतिरात्र एतदेव यजुर्जपन् हविर्धानं प्रतिपद्यते' यदि अतिरात्र है, तो इसी—यमग्ने पृत्सु मर्त्यम्—यजु को जपता हुआ हविर्धान (सोम-शकट) को प्राप्त होता है। इस प्रकार सब संस्थाओं का समानरूप से कथन किये जाने के कारण सब संस्थावाले ज्योतिष्टोम के ही दीक्षणीयेष्टि आदि धर्म जाने जाते हैं, अकेले अग्निष्टोम संस्था के नहीं। इसके अतिरिक्त अन्य भी जो सामान्य विधान हैं, वे सब

संस्थावाले ज्योतिष्टोम के समझने चाहिएँ।

यह भी ध्यान देने योग्य है—यदि ये धर्म केवल अग्निष्टोम संस्था के अभिप्राय से कहे गये होते, तो 'यदि अग्निष्टोमो जुहोति' वाक्य में 'अग्निष्टोम' पद के पाठ की आवश्यकता न होती, केवल 'जुहोति' प्रचरणी शेष घृत से होम करता है, इतने कथन से ही अग्निष्टोम के साथ इस धर्म का सम्बन्ध हो जाता। यहाँ 'अग्निष्टोम' पद का पाठ निरर्थक न होता हुआ यह ज्ञापन करता है कि ये धर्म सब संस्थावाले ज्योतिष्टोम के हैं।

प्रचरणी जुहू के सदृश काष्ठनिर्मित एक पात्र होता है। उसमें घृत भरकर होम किया जाता है। तब 'यदि अग्निष्टोमो जुहोति' का अर्थ होता है—यदि अग्निष्टोम संस्था है तो प्रचरणी में विद्यमान होमशेष घृत से 'यमग्ने पृत्सु मर्त्यम्' मन्त्र का उच्चारण कर होम करता है। इसी प्रकार यथाक्रम अगले वाक्यों का अर्थ है—यदि उक्थ्य संस्था है, तो प्रचरणी में विद्यमान होमशेष घृत से—'यमग्ने पृत्सु मर्त्यम्' मन्त्र पाठ कर—परिधि में लेप करता है। यदि अतिरात्र संस्था है, तो उक्त मन्त्र को जपता हुआ हविर्धान के समीप पहुँचता है। इस प्रकार सभी संस्थाओं का समानरूप में कथन किया गया है। इससे स्पष्ट होता है, दीक्षणीयेष्टि आदि धर्म सब संस्थावाले ज्योतिष्टोम से सम्बद्ध जानने चाहिएँ ॥४२॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

विकारास्तु कामसंयोगे सति नित्यस्य समत्वात् ॥४३॥

[तु] 'तु' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है, अर्थात् संस्थाएँ समान विधानवाली नहीं हैं। [विकाराः] उक्थ्य आदि संस्थायें अग्निष्टोम का विकार हैं, विकृतिभूत हैं। [कामसंयोगे] कामना का संयोग [सति]होने पर उक्थ्य आदि संस्थाएँ सुनी जाती हैं। [समत्वात्] समान होने के कारण दीक्षणीय आदि धर्म [नित्यस्य]नित्य ज्योतिष्टोम=अग्निष्टोम के हैं। दीक्षणीयेष्टि आदि धर्म नित्य की तरह पठित हैं; कामनासंयोग से विकृतिभूत अनित्य उक्थ्य आदि संस्थाओं के साथ नित्य धर्मों का सम्बन्ध विरुद्ध होगा। इसलिए नित्य की तरह पठित धर्म नित्य ज्योतिष्टोम=अग्निष्टोम संस्था से जानने चाहिएँ।

ज्योतिष्टोम याग सात भागों में अनुष्ठित होकर पूरा होता है। ये सात भाग 'सात संस्था' कहलाते हैं। पहला भाग अथवा संस्था 'अग्निष्टोम' है। यह नित्य-कर्म है। नित्य कर्म वह कहा जाता है, जो काम्य अर्थात् कामनामूलक न हो। तात्पर्य है—किसी कामनाविशेष से प्रेरित होकर न किया जाय। ज्योतिष्टोम के उक्थ्य आदि मुख्य भाग अथवा संस्था काम्यकर्म हैं, विशेष कामना से प्रेरित होकर किये जाते हैं। उनके विषय में शास्त्रीय वचन हैं—'पशुकाम उक्थ्यं गृह्णीयात्' पशु की कामनावाला उक्थ्य को यजन के लिए स्वीकार करे। 'षोडशिना वीर्यकामः स्तुवीत'

वीर्य की कामनावाला षोडशी संस्था से स्तवन=यजन करे। 'अतिरात्रेण प्रजाकामं याजयेत्' प्रजा=सन्तान की कामनावाले को अतिरात्र संस्था से यजन कराये। ये सब याग काम्य हैं। किसी कामनाविशेष से किये गये याग नैमित्तिक कहाते हैं। अग्निष्टोम के विषय में वचन है—'यदि अग्निष्टोमो जुहोति' यदि अग्निष्टोम है, तो होम करता है। यह कामना प्रेरित नहीं है। नित्य होम का विधान है। नित्य कर्म प्रकृति और नैमित्तिक कर्म उसके (नित्य कर्म के) विकृति माने जाते हैं, यह एक शास्त्रीय व्यवस्था है। प्रकृतियाग मुख्य और विकृतियाग उसके अङ्ग होते हैं।

दीक्षणीय इष्टि आदि धर्म मुख्य याग अग्निष्टोम के अभिप्राय से कहे गये हैं। विकृतियागों में धर्म का विधान अपेक्षित नहीं है। अपेक्षा होने पर अतिदेश-वाक्य से वह विकृति में प्राप्त हो जाता है। यदि विकृति में दीक्षणीयेष्टि आदि धर्मों का विधान माना जाता है, तो जिस विकृतियाग में वह विहित है, उसी में उसका प्रयोग हो सकेगा; अन्यत्र विकृतियाग में नहीं। फिर अन्य विकृतियाग में प्रयोग के लिए वहाँ भी धर्मों का विधान मानना होगा। यह द्विरुक्त-दोष होगा जो अभीष्ट नहीं। प्रकृति-धर्म का निवेश विकृति में होता है; एक विकृति-धर्म का निवेश अन्य विकृतियाग में नहीं हो सकता, क्योंकि वे परस्पर भिन्न कामनाओं से प्रवृत्त होते हैं। पशुकाम में प्रजाकाम का, प्रजाकाम में पशुकाम का निवेश सम्भव नहीं। इसलिए दीक्षणीयेष्टि आदि धर्मों का विधान अग्निष्टोम को लक्ष्य कर किया गया है, नित्य याग अग्निष्टोम के ये नित्य धर्म हैं।

आशंका की जा सकती है—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—'स्वर्ग की कामनावाला ज्योतिष्टोम से याग करे' वचन के अनुसार ज्योतिष्टोम भी काम्य-कर्म है। ज्योतिष्टोम की संस्था अग्निष्टोम है; तब वह भी काम्यकर्म क्यों न माना जाय? काम्य होने से वह भी नैमित्तिक याग होगा, नित्य न रहेगा। वस्तुतः यहाँ ऐसा समझना चाहिए—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' वचन ज्योतिष्टोम की उक्थ्य आदि काम्य संस्थाओं के अभिप्राय से कहा गया है। उन काम्य यागों में पशुसम्पदा, वीर्य=आधिभौतिक शक्ति और प्रजा=सन्तान की कामना अभिव्यक्त की गई है। उन यागों के अनुष्ठान से तीनों कामनाओं की पूर्ति व सम्पन्नता होने पर स्वर्ग की प्राप्ति पूर्णरूप में हो जाती है। सम्पत्ति, यौवन, सन्तान, यही तो स्वर्ग का स्वरूप है।

ज्योतिष्टोम का अनुष्ठान प्रारम्भ किये जाने पर सर्वप्रथम दीक्षणीयेष्टि, दीक्षा, प्रायणीयेष्टि आदि का अनुष्ठान कर ज्योतिष्टोम की मुख्य प्रथम संस्था अग्निष्टोम का अनुष्ठान किया जाता है। ज्योतिष्टोम का यह प्रथम भाग सम्पन्न हो जाता है। इसमें किसी कामना का अस्तित्व नहीं है। जब काम्य उक्थ्य आदि भागों में से किसी का अनुष्ठान अभिप्रेत होता है, तब प्रत्येक कामनामूलक भाग

के अनुष्ठान से पहले अग्निष्टोम होम का अनुष्ठान आवश्यक होता है। दीक्षणीयेष्टि आदि धर्म उसके साथ अनिवार्य रूप से संलग्न रहते हैं। ऐसी अवस्था में न तो दीक्षणीयेष्टि आदि धर्मों का उक्थ्य आदि संस्थाओं में विधान अपेक्षित है, और न नित्य अग्निष्टोम को काम्यकर्म कहा जा सकता है। उसकी संस्था अपने रूप में नित्य है, पूर्ण है, कामनारहित है। प्रत्येक काम्य संस्था के प्रारम्भ में उसका अनुष्ठान आवश्यक होने से वह नित्य है। स्वतन्त्र रूप में उसका अनुष्ठान पूर्ण है। किसी कामना से प्रेरित न होने के कारण भी वह नित्य है। फलतः दीक्षणीयेष्टि आदि धर्म अग्निष्टोम-ज्योतिष्टोम के हैं। उक्थ्य आदि संस्थाएँ अग्निष्टोम के समान विधानवाली नहीं हैं ॥४३॥

सूत्र ४२ में कहे अर्थ का सूत्रकार ने समाधान किया—

वचनात्तु समुच्चयः ॥४४॥

[वचनात्] वचन-सामर्थ्य से [तु]ही [समुच्चयः]प्रकृति-विकृति उभयविध कर्मों का एकसाथ समानरूप में कथन किया गया है।

'यदि अग्निष्टोमः' इत्यादि वचनों द्वारा जो प्रकृति-विकृति उभयविध कर्मों का समान रीति पर सह-निर्देश किया गया है, वह वचन-सामर्थ्य से ही समझना चाहिए। तात्पर्य है—वह साधारण कथनमात्र है; सब संस्थावाले ज्योतिष्टोम के लिए दीक्षणीयेष्टि आदि धर्मों का विधायक या निश्चायक नहीं है। प्रकृतिकर्म और विकृतिकर्मों का एक रीति पर कथन उनके प्रकृति-विकृतिभाव में किसी उलटफेर को पैदा नहीं करता। इसलिए ऐसे कथन में न कोई असामञ्जस्य है, और न इससे दीक्षणीयेष्टि आदि धर्मों का सब संस्थाओं में समान विधान सिद्ध होता है।

अग्निष्टोम और उक्थ्य यदि संस्थाओं में परस्पर प्रकृति-विकृतिभाव न माने जाने के लिए एक युक्ति इस प्रकार प्रस्तुत की जाती है, वचन हैं—'आग्नेयमजमग्निष्टोम आलभेत, ऐन्द्राग्नं द्वितीयमुक्थ्ये, ऐन्द्रं वृष्णितृतीयं षोडशिनि'—अग्नि देवतावाले अज का अग्निष्टोम में आलभन करे, इन्द्र-अग्नि देवतावाले द्वितीय का उक्थ्य में, इन्द्र देवतावाले तृतीय मेढे का षोडशी में। आशंकावादी का तात्पर्य है—द्वितीय-तृतीय पदों का प्रयोग समान विधान में घट सकता है। एक प्रकृति है, अन्य विकृति हैं, तो इनमें द्वितीय-तृतीय पद का प्रयोग उपपन्न न होगा। जहाँ द्वितीय-तृतीय पदों का प्रयोग किया जा रहा है, वे समानजातीय होने चाहिएँ। प्रकृति-विकारभाव मानने पर उनका साजात्य नहीं रहता। इसलिए द्वितीय-तृतीय पद-प्रयोग के बल पर यह मानना चाहिए कि अग्निष्टोम और उक्थ्य आदि संस्थाओं में परस्पर प्रकृति-विकारभाव नहीं है। तब दीक्षणीयेष्टि आदि धर्मों को केवल अग्निष्टोम के लिए बताना युक्त न होगा।

वस्तुतः यहाँ समान विधान या साजात्य, प्रकृति अथवा विकार पर आधारित नहीं है; वह ज्योतिष्टोम कर्म पर आधारित है। सब संस्थायें ज्योतिष्टोम कर्मरूप हैं; इसी साजात्य पर द्वितीय-तृतीय पदों का प्रयोग उपपन्न हो जाता है। इससे संस्थाओं के परस्पर प्रकृति-विकारभाव में कोई व्यतिक्रम नहीं आता। इसलिए दीक्षणीयेष्टि आदि धर्मों का सम्बन्ध केवल अग्निष्टोम के साथ मानने में कोई बाधा नहीं है ॥४४॥

इसी अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

प्रतिषेधाच्च पूर्वलिङ्गानाम् ॥४५॥

[पूर्वलिङ्गानाम्] पूर्वोक्त लिङ्गों के [प्रतिषेधात्] प्रतिषेध से [च] भी संस्थाओं में प्रकृति-विकारभाव ज्ञात होता है।

जब प्रथम अग्निष्टोम का अनुष्ठान होता है, तब सबसे पूर्व दीक्षणीय इष्टि, दीक्षा, प्रायणीय इष्टि आदि का अनुष्ठान होने पर अग्निष्टोम का अनुष्ठान प्रारम्भ होता है, तथा प्रचरणी पात्र में विद्यमान शेष घृत से होम किया जाता है। उसके अनन्तर उक्थ्य का अनुष्ठान प्रारम्भ होता है, तो परिधि को शेष घृत से चुपड़ा जाता है; होम नहीं किया जाता। समान विधान माने जाने पर होम के अभाव का दर्शन न होता। उक्थ्य में होम का अभाव उक्थ्य को अग्निष्टोम का विकार सिद्ध करता है। इससे भी ज्योतिष्टोम की संस्थाओं में प्रकृति-विकारभाव जाना जाता है ॥४५॥

यदि उक्थ्य आदि अग्निष्टोम के विकार हैं, तो इनका पृथक् कथन क्यों किया जाता है?

सूत्रकार ने बताया—

गुणविशेषादेकस्य व्यपदेशः ॥४६॥

[गुणविशेषात्] प्रत्येक संस्था के अन्त में बोले जानेवाले स्तोत्ररूप गुण के भेद से [एकस्य] एक ज्योतिष्टोम=अग्निष्टोम का अनेक नामों से [व्यपदेशः] व्यपदेश=कथन हुआ है।

उक्थ्य आदि संस्थायें काम्य हैं। पशुकामना से इसका अनुष्ठान किया जाता है। इसका अनुष्ठान प्रारम्भ किये जाने से पूर्व दीक्षणीयेष्टि आदि के सहित अग्निष्टोम का अनुष्ठान आवश्यक होता है। विभिन्न कामनाओं से की जानेवाली षोडशी एवं अतिरात्र संस्था के अनुष्ठान से पूर्व भी सधर्म अग्निष्टोम का अनुष्ठान आवश्यक है, अपरिहार्य है। इससे स्पष्ट है, उक्थ्य आदि संस्थायें अग्निष्टोम

का रूप हैं, अङ्ग हैं; उससे भिन्न नहीं। उसे छोड़कर इनका अनुष्ठान नहीं हो सकता। कामना और अन्य स्तोत्ररूप गुणविशेष के कारण इनका भिन्न नामों से कथन किया गया है ।।४६।। (इति दीक्षणीयादिधर्माणामग्निष्टोमाङ्गताधिकरणम्—१६)।

इति जैमिनीयमीमांसासूत्राणां उदयवीरशास्त्रिविरचिते विद्योदयभाष्ये तृतीयाध्यायस्य षष्ठः पादः ॥

अथ तृतीयाध्याये सप्तमः पादः

(वर्हिरादीनां दर्शपूर्णमासयोरङ्गप्रधानसाधारणताधिकरणम्—१)

दर्श-पूर्णमास याग के प्रसंग में वर्हि (=कुशा), वेदि तथा उनके धर्म पठित हैं। उनमें सन्देह है—क्या वर्हि और वेदि आदि के धर्म केवल प्रधान याग के हैं? अथवा प्रधान और अङ्ग सभी के हैं? प्रधान कर्म के प्रकरण में पठित होने से ये धर्म प्रधान कर्म के होने चाहिएँ। इसी अर्थ को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष-रूप में सूत्रित किया—

प्रकरणविशेषादसंयुक्तं प्रधानस्य ॥१॥

[प्रकरणविशेषात्] किसी अङ्गभूत कर्म के विशेष प्रकरण से [असंयुक्तम्] असंयुक्त=असम्बद्ध द्रव्य अथवा द्रव्य-धर्म [प्रधानस्य] प्रधान के हैं। तात्पर्य है-वे प्रधान कर्म के लिए कहे गये हैं।

किसी अङ्गरूप कर्म के विशेष प्रकरण में न पढ़े हुए होने के कारण तथा दर्श-पूर्णमास प्रधान कर्म के साधारण प्रकरण में पढ़े हुए होने के कारण वर्हि आदि द्रव्य तथा उनके लवन (काटना) आदि धर्म प्रधानयाग के लिए तथा प्रधानयाग की हवियों के लिए समझने चाहिएँ ॥१॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

सर्वेषां वा शेषत्वस्यातत्प्रयुक्तत्वात्[1] ॥२॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। [सर्वेषाम्] सब अङ्ग

---

१. रामेश्वरसूरि विरचित सुबोधिनी-वृत्ति में सूत्र का पाठ है—'सर्वेषां वा शेषत्वं स्यात् तत्प्रयुक्तत्वात्' इस पाठ में 'तत्' सर्वनाम पद वचन अथवा वाक्य अर्थ में प्रयुक्त है। तात्पर्य है—शेषत्व के वाक्य द्वारा प्रयुक्त होने के कारण। ऊपर के पाठ में 'तत्' पद प्रकरण अर्थ में प्रयुक्त है। तात्पर्य है—प्रकरण द्वारा शेषत्व के प्रयुक्त न होने के कारण। दोनों पाठों में सूत्रार्थ के भाव में कोई अन्तर नहीं है।

और प्रधान कर्मों के धर्म हैं, [शेषत्वस्य] शेषत्व के [अतत्प्रयुक्तत्वात्] प्रकरण-विशेष से प्रयुक्त न होने के कारण ।

'शेषत्व' का अर्थ है—शेष का होना । अङ्ग अथवा धर्म को शेष कहा जाता है । जो जिसका उपकारक होता है, वह उसका शेष=अङ्ग अथवा धर्म कहा जाता है । यद्यपि ये प्रधान कर्म के सामान्य प्रकरण में पढ़े हैं, पर प्रकरण से इनका शेष होना अथवा अङ्ग होना प्रयुक्त=प्रेरित नहीं है, प्रत्युत वाक्य से प्रेरित है । वे वाक्य हैं—'बर्हिषि हवींषि आसादयति'–बर्हि (=कुशा) पर हवियों को रखता है । इस वाक्य में बर्हि उसका प्रयोजन बताया । यज्ञवेदि के समीप बर्हि को बिछा-कर उसपर हवि-द्रव्य रक्खे जाते हैं । बर्हि के धर्म बताये–'बर्हिर्लुनाति सम्भरति सन्नह्यति प्रोक्षति'—बर्हि को काटता है, इकट्ठी करता है, बाँधता है, जल से धोता है ।

इसी प्रकार वेदि के विषय में वाक्य हैं—'वेद्यां हवींषि आसादयति' वेदि के समीप हवियों को रखता है । वेदि के धर्म बताये—'वेदिं खनति सम्मार्ष्टि परि-गृह्णाति प्रोक्षति' वेदि को खोदता है, सन्तुलित कर शुद्धरूप में लाता है; तात्पर्य है—वेदि के निर्माण में जो कहीं ऊँचा-नीचा या टेढ़ा-तिरछा हो गया है, उसे समभाव में लाता है । स्फ्य के द्वारा रेखाङ्कित कर वेदि को स्पष्ट करता है, जल से प्रोक्षण करता है । इन वाक्यों से जाना जाता है, ये धर्म अङ्ग और प्रधान सभी कर्मों के उपकारक हैं । आहवनीय अग्नि में आहुति दिये जानेवाले प्रधान हवि-द्रव्यों की जानकारी प्रकरण से होती है । 'बर्हिषि हवींषि आसादयति'—बर्हि पर सभी हविद्रव्यों का स्थापन करता है', यह वाक्य द्वारा जाना जाता है । लवन (काटना) आदि धर्म बर्हि के उपकारक हैं । हविद्रव्यों का बर्हि पर स्थापन हवि-द्रव्यों का उपकारक है । वेदि के खनन (खोदना) आदि धर्म वेदि के उपकारक हैं । ये सब मिलकर सामूहिक रूप से प्रधान याग के उपकारक हैं । इनके द्वारा याग निष्पन्न होता है, इसलिए ये द्रव्य-धर्म अङ्ग और प्रधान सभी के समझने चाहिएँ ॥२॥

शिष्य आशंका प्रस्तुत करता है—यदि दर्श-पूर्णमास का प्रकरण होने पर भी प्रधान कर्म की उपेक्षा कर अङ्गों के ये धर्म हो सकते हैं, तो दर्श-पूर्णमास प्रकरण की सन्निधि में पठित 'पिण्डपितृयज्ञ' का भी धर्म इन्हें क्यों न माना जाय ?

सूत्रकार ने आशंका को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

आरादपीति चेत् ॥३॥

[आरात्] दूर पठित=दर्श-पूर्णमास से बाहर—पर सान्निध्य में पठित

पिण्डपितृयज्ञ में [अपि] भी बर्हि आदि के धर्म हों, [इति चेत्] ऐसा कहो, तो—(अगले सूत्र से सम्बन्ध है)।

पिण्डपितृयज्ञ काटी हुई कुशा पर होता है, वहाँ भी बर्हि से प्रयोजन है। वहाँ भी ये धर्म करने चाहिएँ। प्रधानयाग-प्रकरण की उपेक्षा कर जैसे अङ्गों का धर्म इन्हें माना गया, ऐसे ही दर्श-पूर्णमास प्रकरण से बाहर सन्निधि में पठित पिण्ड-पितृयज्ञ में प्रयुक्त बर्हि को भी इन धर्मों से युक्त मानना चाहिए ॥३॥

आचार्य सूत्रकार ने आशंका का समाधान किया—

न तद्वाक्यं हि तदर्थत्वात् ॥४॥

[न] पिण्डपितृयज्ञ का बर्हि दर्श-पूर्णमासगत बर्हि के धर्मों से युक्त नहीं होता। [तद्वाक्यम्] वह 'बर्हिषि हवींषि आसादयति' वाक्य [हि] निश्चयपूर्वक दर्श-पूर्णमास-विषयक है, [तदर्थत्वात्] दर्श-पूर्णमास के लिए होने के कारण।

वे बर्हिधर्म दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पठित हैं, इसलिए निश्चयपूर्वक वे दर्श-पूर्णमास के लिए हैं। पिण्डपितृयज्ञगत बर्हि उन धर्मों से युक्त नहीं होता, जिन अङ्गों के ये धर्म बताये गये हैं; वे दर्श-पूर्णमास से सम्बद्ध हैं, उन्हीं के अङ्ग हैं। उनका सहारा लेकर पिण्डपितृयज्ञगत बर्हि में इन धर्मों का निवेश नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह बर्हि उक्त प्रसंग से सर्वथा बहिर्भूत है। ये धर्म दर्श-पूर्णमास व उनके अङ्गों के उपकारक हैं, अतः उन्हीं के लिए हैं। उनकी प्राप्ति अन्यत्र पिण्ड-पितृयज्ञ के बर्हि में सम्भव नहीं ॥४॥

आशंका का समाधान कर चालू प्रसंग का उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने अङ्ग और प्रधान दोनों के धर्म होने में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

लिङ्गदर्शनाच्च ॥५॥

[लिङ्गदर्शनात्] इस विषय में स-तर्क हेतु के देखे जाने से [च] भी बर्हि आदि के धर्म अङ्ग और प्रधान दोनों के लिए जाने जाते हैं।

इस विषय में वाक्य है—'स वै ध्रुवामेवाग्रेऽभिघारयति, ततः प्रथमौ आज्यभागौ यक्ष्मन् भवति'। यह प्रयाजशेष घृत से हवियों के आघारण-प्रसंग में कहा है—वह पहले ध्रुवा का आघारण करता है, उससे–प्रथम आज्यभागों का यजन करनेवाला—होता है। यह वाक्य प्रकट करता है कि अभिघारण आज्यभाग की सम्पन्नता के लिए है। तात्पर्य है—ध्रुवा का अभिघारण नहीं किया जाता, तो प्रथम आज्यभाग सम्पन्न न होंगे। ऐसी अवस्था में यदि बर्हि और वेदि के धर्मों के समान अभिघारण-धर्म अङ्ग (आज्यभाग) और प्रधान (ध्रुवा) दोनों के लिए माना जाता है, तभी उसका आज्यभाग की हवि के लिए अभिघारण का कथन उपपन्न होता है; क्योंकि आज्यभाग अङ्गकर्म हैं ॥५॥ (इति बर्हिरादीनां दर्श-

पौर्णमासयोरङ्गप्रधानसाधारणताऽधिकरणम्—१)।

(स्वामिसंस्काराणां प्रधानार्थताधिकरणम्—२)

ज्योतिष्टोम में यजमान के केश-श्मश्रु-वपन, पयोव्रत और तप पठित हैं। इनमें सन्देह है—क्या ये केश-श्मश्रु-वपन आदि अङ्गकर्म और प्रधानकर्म दोनों के के लिए हैं? अथवा केवल प्रधानकर्म के लिए हैं? गत अधिकरण में किये गये निर्णय के अनुसार दोनों के लिए प्राप्त होने पर सूत्रकार ने बताया—

फलसंयोगात्तु स्वामिसंयुक्तं प्रधानस्य ॥६॥

[स्वामिसंयुक्तम्] स्वामी=यजमान से सम्बद्ध केश-श्मश्रु-वपन आदि संस्कार [तु] तो [प्रधानस्य] प्रधान कर्म की सिद्धि के लिए हैं, [फलसंयोगात्] प्रधान कर्म याग से होनेवाले फल का सम्बन्ध स्वामी से होने के कारण।

याग की सिद्धि से जो अदृष्ट फल प्राप्त होता है, उसका भोक्ता यजमान है। याग की सिद्धि के लिए आवश्यक होता है, वह सर्वाङ्गपूर्ण हो। यागसिद्धि के अन्य अपेक्षित अङ्गों के समान यजमान का यह संस्कार भी आवश्यक है कि वह याग के अवसर पर केश व दाढ़ी-मूँछ मुँडाये, केवल दूध-आहार ले तथा ब्रह्मचर्यपूर्वक तपोमयरूप में वह समय व्यतीत करे। यदि यजमान ऐसा न करे, तो याग विगुण हो जायगा; सर्वाङ्गपूर्ण न होगा, और उससे अदृष्ट फल की उत्पत्ति न होगी, जिसका भोक्ता यजमान है। क्योंकि यज्ञ में होनेवाले फल का सम्बन्ध यजमान से होता है, इसलिए यजमान के केश-श्मश्रु-वपन आदि संस्कार याग की सिद्धि में सहायक होते हैं, तब प्रधान याग का उन्हें अङ्ग मानने में कोई बाधा नहीं रहती। फलतः केश-श्मश्रु-वपन आदि यजमान के संस्कार-कर्म याग के उपकारक हैं, अतः प्रधान (=याग) के अङ्ग हैं, उसी के लिए हैं; अङ्ग और प्रधान दोनों के लिए नहीं ॥६॥ (इति स्वामिसंस्काराणां प्रधानार्थताधिकरणम्—२)।

(सौमिकवेद्यादीनामङ्गप्रधानोभयाङ्गताधिकरणम्—३)

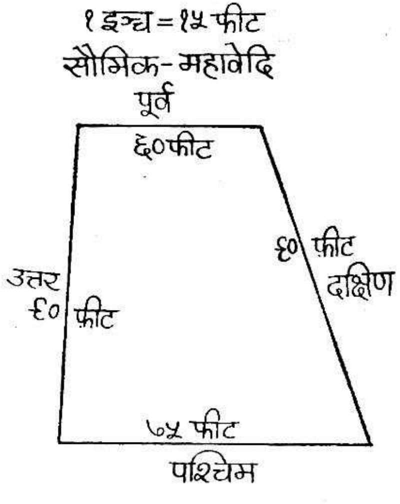
ज्योतिष्टोम के प्रसंग में सौमिक वेदि का परिमाण पठित है—'षट्त्रिंशत् प्रक्रमा प्राची, चतुर्विंशतिरग्रेण, त्रिंशज्जघनेन इयति शक्ष्यामहे'[1] ३६ प्रक्रम पूर्व-पच्छिम, पूर्व की ओर के अग्रभाग की चौड़ाई २४ प्रक्रम, पच्छिम ओर की चौड़ाई ३० प्रक्रम होती है। इतने परिमाण की वेदि में याग कर सकेंगे।

सोमयाग के अनुष्ठान के लिए उक्त परिमाण में महावेदि का निर्माण किया

---

१. द्रष्टव्य—तैत्तिरीय संहिता [६।२।४]। मैत्रायणी संहिता [३।८।४]। काठक संहिता [२५।४]। कठकपिष्ठल संहिता [३९।१]।

जाता है। 'प्रक्रम' पद एक डग या क़दम के अर्थ में प्रयुक्त होता है। एक प्रक्रम का परिमाण ३० इञ्च अथवा ढाई फ़ीट माना जाता है। इसके अनुसार वेदि की पूर्व-पच्छिम लम्बाई ९० फ़ीट, पूर्व के अग्रभाग की चौड़ाई उत्तर-दक्खिन ६० फ़ीट, पच्छिम के अग्रभाग की चौड़ाई दक्खिन-उत्तर ७५ फ़ीट होगी। सोम-याग-सम्बन्धी सब कार्य इस वेदि पर किये जाते हैं।



यहाँ सन्देह है—क्या यह वेदि अङ्ग और प्रधान सभी कर्मों के लिए है? अथवा केवल प्रधान कर्मों के लिए? गत अधिकरण (२) में किये गये निर्णय के अनुसार वेदि को केवल प्रधान कर्मों के लिए मानना चाहिए। आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

चिकीर्षया च संयोगात् ॥७॥

[चिकीर्षया] करने की इच्छा द्वारा [च] सम्भवतः [संयोगात्] याग के साथ संयोग होने से सौमिकी महावेदि प्रधान कर्मों के लिए है।

उक्त वाक्य में 'इयति शक्ष्यामहे'—इस परिमाण के वेदिस्थान में याग कर सकेंगे—पदों से याग करने की इच्छा अभिव्यक्त होती है। इच्छा-विषय प्रधान-

कर्म याग है। इसलिए वेदि को प्रधान कर्म के लिए मानना युक्त है।

आशंका की जा सकती है—यदि अङ्ग चिकीर्षित नहीं है, तो वे क्यों किये जाते हैं? वस्तुतः यहाँ समझना यह है कि वे अङ्ग, अङ्ग के रूप में इच्छा के विषय नहीं हैं। याग में अन्तर्भूत भले रहो, और वे चिकीर्षित न होते हुए, किये भी इसीलिए जाते हैं। इसलिए सीधा इच्छा-विषय याग है, उसी के लिए वेदि है। अतः केवल प्रधान के लिए वेदि का होना युक्त कथन है ॥७॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

तद्युक्ते तु फलश्रुतिस्तस्मात् सर्वचिकीर्षा स्यात् ॥८॥

[तु] 'तु' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—'वेदि केवल प्रधान कर्म के लिए है' यह ठीक नहीं। [तद्युक्ते] अङ्गों से युक्त में [फलश्रुतिः] फल सुना जाता है, [तस्मात्] इसलिए [सर्वचिकीर्षा] अङ्ग और प्रधान सभी कर्म चिकीर्षित [स्यात्] होता है।

जो यह कहा है—प्रधान चिकीर्षित है, अङ्ग चिकीर्षित नहीं है, इस कारण वेदि प्रधान के लिए है, यह कथन युक्त नहीं है। सोचना चाहिए, प्रधान है क्या? अङ्गों की यथायथ सम्पूर्णता ही तो प्रधान है। यदि वेदि अङ्गों के लिए नहीं है, अङ्ग वेदि पर नहीं किये जाएँगे, तो प्रधान याग वेदि पर कैसे सम्पन्न होगा? शास्त्र में प्रधान याग से फलप्राप्ति का जो कथन किया है, वह सर्वाङ्गपूर्ण याग के अनुष्ठान से ही किया है। अङ्गहीन याग, याग ही नहीं रहता; विगुण हो जाता है। वह फल कहाँ देगा? इस कारण वेदि को अङ्ग और प्रधान सब कर्मों के लिए मानना सर्वथा युक्त है ॥८॥ (इति सौमिकवेद्यादीनामङ्गप्रधानोभयाङ्गताधिकरणम्—३)।

(अभिमर्शनस्याङ्गप्रधानोभयाङ्गताधिकरणम्—४)

दर्श-पूर्णमास में पाठ है—'चतुर्होत्रा पूर्णमासीमभिमृशेत्, पञ्चहोत्रा अमावास्याम्'[1] चतुर्होतृ नामवाले मन्त्र से पौर्णमास याग से सम्बद्ध हवि का स्पर्श करे, तथा पञ्चहोतृ नामवाले मन्त्र से अमावास्या याग से सम्बद्ध हवि का स्पर्श करे।

---

१. तुलना करें—'चतुर्होत्रा पौर्णमास्यां हवींष्यासन्नान्यभिमृशेत् प्रजाकामः, पञ्चहोत्रा अमावास्यां स्वर्गकामः।' आप०श्रौ० ४।८।७॥ चतुर्होत्र मन्त्र—पृथिवी होता। द्यौरध्वर्युः, रुद्रोऽग्नीत्। बृहस्पतिरुपवक्ता। तै०आ०३।२।१॥ उपवक्ता ब्रह्मेति सायणः॥ पञ्चहोतृ मन्त्र—अग्निर्होता। अश्विनावध्वर्यू। त्वष्टाग्नीत्। मित्र उपवक्ता। तै०आ० ३।३।१॥ अत्र अश्विनौ द्वौ। अध्वर्यू अपि द्वौ—अध्वर्युः प्रतिप्रस्थाता च। द्रष्टव्यं सायणभाष्यम्। (यु० मी०)

इनमें सन्देह है—क्या यह अभिमर्शन = स्पर्श अङ्गहवि और प्रधानहवि दोनों के लिए है ? अथवा केवल प्रधानहवि के लिए है ? प्रधान याग का नाम होने से यहाँ अभिमर्शन प्रधान याग के हवि होना चाहिए । सूत्रकार ने इसी अर्थ को पूर्वपक्ष-रूप में सूत्रित किया—

तथाभिधानेन ॥६॥

[तथा] द्वितीय अधिकरण में—केश श्मश्रु-वपन आदि संस्कार प्रधान के लिए—किये गये निर्णय के अनुसार [अभिधानेन] पौर्णमासी अमावास्या प्रधान याग के नाम निर्देश के कारण चतुर्होतृ-पञ्चहोतृ मन्त्र से स्पर्श प्रधान याग की हवि के लिए है, ऐसा जाना जाता है ।

दर्श-पूर्णमास के उक्त पाठ में—पौर्णमासी और अमावास्या नाम का स्पष्ट निर्देश है । इस कारण अभिमर्शन = स्पर्श प्रधान याग से सम्बद्ध हवि का विधान किया गया है, यह ज्ञात होता है ॥६॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

गुणाभिधानात् सर्वार्थमभिधानम् ॥१०॥

[गुणाभिधानात्] अभिमर्शनरूप गुण के अभिधान = कथन से [सर्वार्थम्] अङ्ग और प्रधान याग की सब हवियों के लिए [अभिधानम्] पूर्णमासी और अमावास्या का कथन है ।

अभिमर्शन हवियों का गुण अर्थात् संस्कारविशेष है । वह अङ्ग और प्रधान सभी हवियों का होना अभीष्ट है । वाक्य में—'पौर्णमासीम्' और 'अमावास्याम्' द्वितीयान्त नाम-निर्देश इसी कारण हुआ है कि सीधा (साक्षात्) अथवा परम्परा से इन इष्टियों के साथ जो भी हवि सम्बद्ध हैं उन सबका अभिमर्शन होना चाहिए, चाहे वे अङ्गभूत कर्म के लिए हों, या प्रधानकर्म के लिए । यह हवियों का उपकार अथवा संस्कार करना है । वह सब हवियों के लिए समान है । इसलिए अङ्ग और प्रधान सब हवियों का अभिमर्शन करना चाहिए ॥१०॥ (इति अभिमर्शनस्याङ्ग-प्रधानोभयाङ्गताधिकरणम्—४) ।

(दीक्षादक्षिणयोः प्रधानार्थताधिकरणम्—५)

ज्योतिष्टोम प्रसंग में तीन दीक्षा कही हैं—तिस्रो दीक्षाः—वाससा दीक्षयति, दण्डेन दीक्षयति, मेखलया दीक्षयति' तीन दीक्षा हैं—वस्त्र से दीक्षित करता है, दण्ड से दीक्षित करता है, मेखला से दीक्षित करता है । वस्त्र उढ़ाकर, खदिर व पलाश का दण्ड हाथ में देकर, मेखला कमर में बाँधकर यजमान को दीक्षा दी जाती है—ज्योतिष्टोम याग के अनुष्ठानार्थ अधिकृत किया जाता है । इसी प्रकार

दक्षिणा कही हैं—'तस्य' द्वादशशतं दक्षिणाः' उस ज्योतिष्टोम या अग्निष्टोम की ११२ गाय दक्षिणा है। यह दक्षिणा याग-अनुष्ठान करानेवाले याज्ञिकों को दी जाती है। इनमें सन्देह है–क्या ये दीक्षा और दक्षिणा प्रत्येक अंग-कर्म और प्रधान-कर्म सबके साथ सम्बद्ध हैं? अथवा केवल प्रधान कर्म के साथ? प्रतीत होता है, याज्ञिक क्योंकि अङ्ग और प्रधान सभी कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, इसलिए दीक्षा और दक्षिणा सभी कर्मों के लिए होने चाहिएँ। ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार ने सन्देह का समाधान करते हुए सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

दीक्षादक्षिणं तु वचनात् प्रधानस्य ॥११॥

[दीक्षादक्षिणम्[2]] दीक्षा और दक्षिणा [तु] तो [वचनात्] वचन-सामर्थ्य से [प्रधानस्य] प्रधान कर्म के हैं।

दीक्षा और दक्षिणा वचन-सामर्थ्य से प्रधानकर्म के हैं क्योंकि वचन हैं—'दीक्षाः सोमस्य, दक्षिणाः सोमस्य' दीक्षा और दक्षिणा सोम की हैं। सोम पद का प्रयोग प्रधान कर्म के लिए प्रयुक्त होता है। अङ्ग उसी में अन्तर्भूत हैं। स्वतन्त्ररूप से अङ्ग-कर्म के लिए इस पद का प्रयोग नहीं होता। अपने वास्तविक अर्थ को अभिव्यक्त करने में पद किसी दबाव को सहन नहीं करता। इसलिए दीक्षा व दक्षिणा प्रधान सोमयाग से सम्बद्ध हैं ॥११॥

इसी अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

निवृत्तिदर्शनाच्च ॥१२॥

[निवृत्तिदर्शनात्] अङ्गकर्म में दीक्षा का अभाव दख जाने से [च] भी दीक्षा और दक्षिणा प्रधानकर्म-सम्बन्धी जाननी चाहिए।

अङ्गकर्म में दीक्षा के अभाव का बोधक वचन है–'अध्वर्यो यत्पशुना[3] अयाक्षीः

---

१. द्रष्टव्य—ताण्डय० ब्रा० १६।१।११॥ आप० श्रौ० १३।५।१॥ ब्राह्मण में 'द्वादशं शतम्' पाठ है। इसका अर्थ १२०० सौ है। यह निश्चय नहीं कि इनमें से कौन-सा पाठ युक्त है।

२. 'दीक्षा च दक्षिणा च इति दीक्षादक्षिणम्' समाहार द्वन्द्व समास में पद नपुंसक लिङ्ग व एकवचनान्त प्रयुक्त होता है।

३. इसके लिए तुलना करें—शतपथ ब्राह्मण, ११।७।२।६॥ उस प्रसंग में छह होता गिनाये हैं—अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, होता, ब्रह्मा, मैत्रावरुण, अग्नीध्र। जिस मन्त्र को बोलकर आहुतियाँ दी जाती हैं, वह है—

द्यौष्पृष्ठमन्तरिक्षात्माङ्गैर्यज्ञं पृथिवीं शरीरैः वाचस्पतेऽच्छिद्रया वाचाऽच्छिद्रया जुह्वा दिवि देवावृधं होत्रामैरयत् स्वाहा।

अथ कास्य दीक्षा ? इति । यत् षड्ढोतां जुहोति साऽस्य दीक्षा'—हे अध्वर्यु ! जो पशु से यजन कराया, इसकी क्या दीक्षा है ? जो छह होताओं को होम पर लगाया है वह इसकी दीक्षा है ।

यह प्रसंग 'निरूढ पशुबन्ध' याग का है । इस याग का प्रकृतियाग अग्नीषोमीय याग है, जो छह-दिवसीय ज्योतिष्टोम के चौथे दिन सम्पन्न होता है । 'पशु' पद प्राणी के अतिरिक्त अनेकत्र अन्न के लिए प्रयुक्त हुआ है । अग्नीषोमीय में हविद्रव्य यव अथवा धान होता है, जो कृषि-उत्पाद्य है । इसके विकृतियाग में आरण्य अन्न उपयोग में आता है, वह 'निरूढ पशु' है—बिना जोते-बोये उत्पन्न हुआ अन्न । इसको संस्कृत करके आहुतियोग्य बनाया जाता है । उक्त वाक्य में अध्वर्यु से प्रश्न किया गया—तुमने जो पशु [निरूढ पशु=आरण्य अन्न] से यजन कराया है, इसकी दीक्षा क्या है ? अध्वर्यु का उत्तर है—छह होताओं को जो होम पर लगाया है, यही इसकी दीक्षा है । इसका तात्पर्य है—यह अङ्गभूत कर्म है, इसकी कोई दीक्षा नहीं होती । यहाँ अङ्गकर्म में दीक्षा के अभाव से दक्षिणा का भी अभाव जाना जाता है । यह वर्णन उक्त कथन को पुष्टि देता है कि दीक्षा और दक्षिणा केवल प्रधानकर्म से सम्बद्ध हैं । एक बार प्रधानकर्म के लिए दीक्षित होकर अङ्ग-कर्म में दीक्षा की अपेक्षा नहीं रहती । दक्षिणा भी याज्ञिकों को प्रधानकर्म सम्पन्न होने पर एक बार दी जाती है । प्रति-अङ्ग दक्षिणा देना असांस्कृतिक व अनपेक्षित है । फलतः दीक्षा व दक्षिणा प्रधानकर्म के लिए हैं, केवल उसी के अङ्ग हैं ॥१२॥
(इति दीक्षादक्षिणयोः प्रधानार्थताधिकरणम्—५) ।

(अन्तर्वेदेर्यूपानङ्गताधिकरणम्—६)

ज्योतिष्टोम याग के अन्तर्गत अग्नीषोमीय पशु के प्रकरण में वाक्य है—'यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते' जो दीक्षित यजमान जिस अग्नीषोमीय पशु का आलभन करता है; उसको बाँधने के लिये यूप के विषय में वचन है—'वज्रो वै यूपो यदन्तर्वेदि मिनुयात् तन्निर्दहेत्, यद् बहिर्वेदि अनवरुद्धः स्यात्; अर्द्धमन्त-र्वेदि मिनोति अर्द्धं बहिर्वेदि, अवरुद्धो ह भवति न निर्दहति' [मैत्रा० सं० ३।९।४] पशु को बाँधने के लिए जो यूप गाड़ा जाता है, यदि उसके लिए वेदि के अन्दर भूमि नापी जाती है, तो वह यजमान के लिए कष्टप्रद है; क्योंकि वेदि के अन्दर भूमि में पशु बँध जाने से यागसम्बन्धी अन्य अपेक्षित कार्यों के सम्पादन में बाधा होगी । यदि वेदि से बाहर दूर यूप गाड़ने के लिए भूमि मापी जाती है, तो यूप अतिदूर हो जाने पर पशुसम्बन्धी अपेक्षित कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न न हो सकेगा । इसलिए यूप के लिए भूमि की माप आधी वेदि में और आधी बाहर की जाय । इसका तात्पर्य है—वह भूमि न वेदि के अधिक समीप हो न अतिदूर । कार्य की अपेक्षा से उचित दूरी पर यूप का स्थान होना चाहिए । उक्त वाक्य का

मुख्य लक्ष्य यूप-स्थान का निश्चय करना है। यहाँ सन्देह है—क्या वेदि का निर्देश यूप के अङ्गरूप में हुआ है? अथवा यूप-स्थान के निश्चय के लिए संकेतमात्र है?

यदि अन्तर्वेदि-बहिर्वेदि पदों का यह अर्थ है कि यूपस्थान आधा वेदि में आधा बाहर हो, तो यूपमान कार्य का वेदि अङ्ग होगा। यदि केवल यूपमान का संकेत करने के लिए वेदि पद है, तो वह यूपमान को लक्षित करेगा। उचित स्थान पर गड्ढा खोदकर यूप के अपेक्षित भाग को गड्ढे में डालकर उसे खड़ा करना यूप-मान है। प्रतीत होता है, दीक्षा-दक्षिणा के समान 'अन्तर्वेदि, बहिर्वेदि' वचन-सामर्थ्य से वेदि प्रधानकर्म यूपमान का अङ्ग है।

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

तथा यूपस्य वेदिः ॥१३॥

दीक्षा और दक्षिणा वचनसामर्थ्य से जैसे प्रधान के अङ्ग हैं [तथा] वैसे ही [वेदिः] एकदेश द्वारा महावेदि [यूपस्य] गाड़े जाते हुए यूप का अङ्ग है।

वेदि यूप का उसी प्रकार अङ्ग है, जिस प्रकार दीक्षा और दक्षिणा प्रधानकर्म के अङ्ग हैं। खोदे गये गड्ढे में यूप का रखना यहाँ प्रधानकर्म है। गड्ढे में यूप को इस प्रकार रखना चाहिए, जिससे यूप का आधा भाग वेदि की सीमा के भीतर और आधा बाहर रहे। इससे 'अर्द्धं बहिर्वेदि, अर्द्धमन्तर्वेदि' श्रुतिवचन अनुगृहीत होते हैं। 'वेदि' पद यदि देश को लक्षित करने के लिए माना जाय, तो यह अशास्त्रीय होगा। वेदि पद से शक्तिबोध्य अर्थ के संभव होने पर लक्षणा से बोध्य अर्थ न्याय्य नहीं माना जाता। वेदि को यूप का अङ्ग मानने पर वेदि पद से यूप-स्थान बोधित होता है, इसलिए यूप के अङ्गभाव से वेदि का निर्देश मानना चाहिए ॥१३॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

देशमात्रं वाऽशिष्येणैकवाक्यत्वात् ॥१४॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—उक्त वाक्य में यूप के अङ्गभाव से वेदि का निर्देश माना जाना युक्त नहीं है। [देशमात्रम्] वेदि पद केवल यूपमान के देश-विशेष का निर्देश करता है; [अशिष्येण] अकथनीय—अन्वय के अयोग्य 'अर्द्धं बहिर्वेदि' के साथ 'अर्द्धमन्तर्वेदि' की [एकवाक्यत्वात्] एकवाक्यता होने के कारण।

वेदि यूप का अङ्ग नहीं है। यदि यूप का अङ्ग मानते हैं, तो 'अर्द्धमन्तर्वेदि मिनुयात्, अर्द्धं बहिर्वेदि मिनुयात्'—'आधा वेदि के भीतर मापे, आधा वेदि के बाहर मापे' वचन में भीतर-बाहर दोनों परस्पर-विरुद्ध हैं। एक वाक्य में दो परस्पर-विरुद्ध विधान नहीं हो सकते; तब इनको भिन्न वाक्य मानना होगा। वाक्य-भेद दोष माने जाने के कारण अभीष्ट नहीं है। अतः वेदि को यूप का अङ्ग मानना,

परित्याग करना होगा। उस अवस्था में स्पष्ट है कि वेदि पद अपने मुख्य अर्थ को छोड़कर 'अन्तर्-बहिर्' पदों के सहयोग से लक्षणाशक्ति द्वारा 'वेदि-सामीप्य' अर्थ को अभिव्यक्त करता है। इससे अन्तर्वेदि-बहिर्वेदि पदों की एकवाक्यता स्पष्ट हो जाती है। ये वाक्य मिलकर एक अर्थ को प्रकट करते हैं कि वेदि के समीप यूप की स्थापना करे, जो वेदि से न अतिदूर हो और न वेदि से सटा हो। फलत: वेदि-घटित पदसमूह की एकवाक्यता के कारण ये पद यूपमान के देशविशेष का निर्देश करते हैं। ऐसी दशा में वेदि को यूप का अङ्ग कहना संगत न होगा, क्योंकि ये वाक्य यूप का विधान नहीं करते। विधान करने पर उसके उपकारक होने के कारण वेदि को उसका अङ्ग माना जाता। ये पद केवल देशविशेष का निर्देश करते हैं ॥१४॥ (इति अन्तर्वेदेर्यूपानङ्गताधिकरणम्—६)।

(हविर्धानस्य सामिधेन्यनङ्गताधिकरणम्—७)

ज्योतिष्टोम प्रसंग में वाक्य है—'उत यत्र सुन्वन्ति सामिधेनीस्तदन्वाहु:' तथा जहाँ सोम का अभिषव करते हैं, वहाँ सामिधेनियों को बोलें। ज्योतिष्टोम में 'हविर्धान' नाम का मण्डप होता है; उसके दक्षिण और उत्तर में दोनों ओर दो शकट (=छकड़े या गाड़ी) रहते हैं; उन्हें भी 'हविर्धान शकट' अथवा 'हविर्धान' कहा जाता है। उनमें से दक्षिण हविर्धान (शकट) में भरे सोम को उतारकर उसके नीचे अधिषवण फलकों पर अभिषव किया जाता है; अर्थात् सोम को कूट-छानकर रस निकाला जाता है। वाक्य में 'यत्-तत्' पद सप्तम्यन्त हैं। पाणिनि-नियम [७।१।३९] से विभक्ति का लोप हो जाता है। 'अन्वाहु:' क्रियापद में बहुवचन अविवक्षित है। तात्पर्य है—जहाँ शकट के समीप नीचे सोम का अभि-षव करते हैं, उस समय होता द्वारा शकट पर बैठकर या खड़े होकर 'प्र वो बाजा अभिद्यव:' [ऋ० ३।२७।१] इत्यादि सामिधेनी ऋचाओं का उच्चारण किया जाता है। उक्त वाक्य में यही अर्थ कथित है। इसमें सन्देह होता है—क्या हवि-र्धान का कथन यहाँ सामिधेनियों के अङ्गरूप में किया गया है? हविर्धानविशिष्ट सामिधेनियों का उच्चारण करे? अथवा हविर्धान इन उच्चारित की जाती हुई सामिधेनियों के केवल देश को लक्षित करता है? अर्थात् सामिधेनियों के उच्चारण के लिए केवल देश का संकेत करता है? प्रतीत होता है, वचनसामर्थ्य से हविर्धान को सामिधेनियों का अङ्ग मानना चाहिए, क्योंकि हविर्धानविशिष्ट सामिधेनियों का उच्चारण किया जाता है। हविर्धान सामिधेनी-उच्चारण से सम्बद्ध होने के कारण सामिधेनी उच्चारण को उपकृत करता है।

इसी अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

सामिधेनीस्तदन्वाहुरिति हविर्द्धानयोर्वचनात् सामिधेनीनाम् ॥१५॥

[हविर्धानयोः] दो हविर्धान-शकटों में से जिस एक दक्षिण शकट के समीप नीचे सोम का अभिषव होता है, वह [सामिधेनीस्तदन्वाहुः] 'यत् सुन्वन्ति सामिधेनीस्तदन्वाहुः' [इति वचनात्] इस वचन से [सामिधेनीनाम्] सामिधेनियों का अङ्ग है। प्रकरणवश यहाँ पद का अध्याहार है।

दक्षिण हविर्धान सामिधेनियों का अङ्ग है, क्योंकि सामिधेनियों के उच्चारण से उसका सम्बन्ध है। सम्बन्ध का आनुकूल्य अङ्गाङ्गिभाव मानने पर सम्भव है। यदि हविर्धान को अङ्ग नहीं माना जाता, तो यह पद अपने शक्तिबोध्य मुख्य अर्थ को छोड़कर लक्षणा से सामीप्य का बोध करायेगा। मुख्य अर्थ का परित्याग दोष माना जाता है। इसलिए हविर्धान को सामिधेनियों का अङ्ग मानना युक्त है ॥१५॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया—

देशमात्रं वा प्रत्यक्षं ह्यर्थकर्म सोमस्य ॥१६॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—हविर्धान सामिधेनियों का अङ्ग है, यह कथन संगत नहीं। वह [देशमात्रम्] केवल देश-विशेष का कथन है, [हि] क्योंकि हविर्धान-शकट [सोमस्य] सोम का [अर्थ-कर्म] प्रयोजनरूप कर्म [प्रत्यक्षम्] प्रत्यक्ष ज्ञात है। तात्पर्य है—वह दक्षिण हविर्धान-शकट वहाँ सोम को लाने के प्रयोजन से है; सामिधेनियों के उच्चारण के प्रयोजन से नहीं।

आपस्तम्ब [११।१७।१] का लेख है—'दक्षिणस्य हविर्धानस्य नीडे कृष्णाजिनास्तरणं राज्ञश्चासादनम्' दक्षिण हविर्धान-शकटरूप नीड (=घोंसला=आवास-स्थान) में कृष्णाजिन (=कृष्णमृगचर्म) बिछाकर राजा सोम का वहाँ लाया जाना शकट का मुख्य प्रयोजन है। तात्पर्य है—हविर्धान मण्डप के दक्षिण ओर शकट के विद्यमान होने का मुख्य प्रयोजन सोम को उसमें भरकर वहाँ लाना है। सामिधेनी ऋचाओं के उच्चारण प्रयोजन के लिए हविर्धान शकट की उपस्थिति वहाँ नहीं है। इसलिए हविर्धान को सामिधेनियों का अङ्ग बताने में कोई सांगत्य नहीं है।

वेदि के पश्चिम ओर होता याज्ञिक का स्थान रहता है। पश्चिम भाग उत्तर-दक्षिण के बीच में रहता है। वेदि के उन दोनों ओर शकट खड़े रहते हैं, जो होता के समीप हैं। सामिधेनी ऋचाओं का उच्चारण अग्निसंदीपन के लिए उस समय अपेक्षित होता है। दक्षिणशकट के नीचे सोम का अभिषव किया जाता है। होता

का स्थान उसके समीप है। हविर्धान उसी देश को लक्षित करता है। 'यत्सुन्वन्ति' में 'यत्' पद सप्तम्यन्त है। सप्तमी विभक्ति सामीप्य अर्थ को प्रकट करती है। जैसे 'गंगायां घोषः' अथवा 'कूपे गर्गकुलम्' वाक्यों में 'गंगायां' और 'कूपे' पदों की सप्तमी का अर्थ गंगा के समीप अथवा कूप के समीप है, ऐसे ही जहाँ अभिषव है, वहाँ सामिधेनियों को बोले। अभिषव हविर्धान के समीप स्थान में किया जाता है। हविर्धान के समीप उपस्थित होता अग्निसंदीपनार्थ सामिधेनियों का उच्चारण करे। इस रूप में हविर्धान समीप के देश को लक्षित करता है। मुख्य अर्थ की असम्भावना में लक्षणाबोध्य अर्थ दोष नहीं माना जाता। हविर्धान सामिधेनियों का कोई उपकारक नहीं है, इसलिए हविर्धान को सामिधेनियों का अङ्ग कहना अयुक्त है ॥१६॥

इसी अर्थ को सूत्रकार ने अन्य प्रकार से पुष्ट किया—

समाख्यानं च तद्वत् ॥१७॥

[समाख्यानम्] शकट का समाख्यान=हविर्धान नाम [च] भी [तद्वत्] उसी प्रकार सोम के आधार होने का बोध कराता है।

शकट का 'हविर्धान' नाम अन्वर्थ है; वस्तुस्थिति के अनुसार है। यज्ञिय हवि=सोम को भरकर लाने का साधन-वाहन। शकट में भरकर सोम यज्ञमण्डप वेदि के समीप लाया जाता है। यह 'हविर्धान' नाम भी शकट का सम्बन्ध सोम के साथ अभिव्यक्त करता है। वेदि के दक्षिणकोण पर हविर्धान-शकट की उपस्थिति सोम लाने के कारण है। फलतः हविर्धान को सामिधेनियों का अङ्ग कहना अशास्त्रीय है ॥१७॥ (इति हविर्धानस्य सामिधेन्यनङ्गताधिकरणम्—७)।

(अङ्गानामन्यद्वाराऽनुष्ठानाधिकरणम्—८)

शास्त्र में फल की कामना से कर्मानुष्ठान का विधान है—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' [मैत्रा० आर० ६।३७] स्वर्ग की कामनावाला अग्निहोत्र होम करे। 'दर्श-पूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्' [आप० श्रौ० ३।१४।८] स्वर्ग की कामनावाला दर्श-पूर्णमास यजन करे। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' [आप० श्रौ० १०।२।१] स्वर्ग की कामनावाला ज्योतिष्टोम से यजन करे। इनमें सन्देह है—क्या ये सब कर्म यजमान द्वारा स्वयं करने चाहिएँ? अथवा मुख्यकर्म स्वयं करे, शेष कर्म दक्षिणा आदि से क्रीत अन्य करे, अथवा स्वयं करे? अथवा शेषकर्म अन्य ऋत्विज् आदि ही करे?

यहाँ सन्देह में तीन पक्ष प्रस्तुत किये हैं—

(१) सभी कर्मों (प्रधान और अङ्गों) का अनुष्ठान यागकर्त्ता यजमान स्वयं करे।

(२) याग के प्रधान भाग का यजमान स्वयं अनुष्ठान करे, अङ्गभूत कर्मों का अनुष्ठान चाहे स्वयं करे, अथवा अन्य से कराये।

(३) केवल प्रधानभाग का स्वयं अनुष्ठान करे, शेष (अङ्गभूत) कर्मों का अनुष्ठान ऋत्विज् आदि अन्य द्वारा ही कराये।

इनमें पहले दो पूर्वपक्ष और अन्तिम सिद्धान्तपक्ष है।

प्रथम पूर्वपक्ष आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात् तस्मात् स्वयं प्रयोगे स्यात् ॥१८॥

[शास्त्रफलम्] शास्त्र द्वारा बोधित स्वर्ग आदि फल [प्रयोक्तरि] प्रयोक्ता=यागकर्त्ता के विषय में जाना जाता है, [तल्लक्षणत्वात्] 'यजेत' आदि क्रियाओं द्वारा यजमान के लिए लक्षित होने के कारण, [तस्मात्] इसलिए [स्वयम्] अपने-आप यजमान [प्रयोगे] कर्म के अनुष्ठान में कर्त्ता [स्यात्] होता है।

सम्पूर्ण कर्मानुष्ठान यजमान को स्वयं करना चाहिए, क्योंकि शास्त्र स्वर्ग आदि फलप्राप्ति की कामनावाले व्यक्ति को ही यजन का अधिकारी बताता है। याग स्वर्ग का साधन है। यजमान स्वर्ग प्राप्त करना चाहता है, तो स्वर्ग के साधनभूत याग का पूर्णरूप में अनुष्ठान उसे करना ही होगा। यदि स्वयं न कर अन्य से कराएगा, तो उसे स्वर्गफल कैसे मिलेगा ? अङ्ग कर्मानुष्ठान के सहित पूर्णयाग का अनुष्ठान ही अनुकूल फल देनेवाला सिद्ध होता है। इसलिए सभी कर्मों का अनुष्ठान यागकर्मा यजमान स्वयं करे, यही युक्त प्रतीत होता है ॥१८॥

आचार्य सूत्रकार ने प्रथम पक्ष का निषेध करते हुए द्वितीय पक्ष प्रस्तुत किया—

उत्सर्गे तु प्रधानत्वात् शेषकारी प्रधानस्य, तस्मादन्यः स्वयं वा स्यात् ॥१९॥

[तु] 'तु' पद पूर्वसूत्रोक्त पक्ष की निवृत्ति का द्योतन करता हुआ द्वितीय पक्ष को सूचित करता है। तात्पर्य है—अङ्ग-सहित सब कर्म यजमान करे, यह युक्त नहीं है। क्योंकि [उत्सर्गे] दक्षिणा आदि द्वारा ऋत्विजों का परिक्रय करने में यजमान का [प्रधानत्वात्] प्राधान्य होने से [शेषकारी] शेष कार्य को करनेवाला ऋत्विज् आदि [प्रधानस्य] परिक्रय करनेवाले यजमान का प्रतिनिधि होता है। तात्पर्य है—परिक्रीत ऋत्विज् आदि का किया कार्य यजमान का ही किया माना जाता है। [तस्मात्] इसलिए [अन्यः] अन्य=परिक्रीत ऋत्विक् आदि [वा] अथवा [स्वयम्] अपने-आप यजमान शेष कार्यों का करनेवाला

[स्यात्] होता है।

यागानुष्ठान के लिए दक्षिणा आदि द्वारा ऋत्विजों का परिक्रय करना=खरीदना, अथवा धन देकर यागादि अपना कार्य करने के लिए अनुकूल बनाना 'उत्सर्ग' कहाता है। ज्योतिष्टोम आदि कोई याग हो, अनेक अङ्गों में पूरा होता है। उनमें 'उत्सर्ग' एक प्रधान अङ्ग है। यह केवल यजमान के द्वारा किया जाता है। यह आवश्यक अङ्ग है। कई दिन तक व्यवस्थित रूप से चलनेवाले यागों में यजमान यदि रोगादि अथवा अन्य किसी अनिवार्य कारण से यागानुष्ठान-काल में अनुपस्थित रहता है, तो परिक्रीत ऋत्विक् आदि याग-कार्य को संचालित करते रहते हैं, उसमें कोई व्यतिक्रम नहीं आता। इसलिए याग के अङ्गों में 'उत्सर्ग' का अनुष्ठान आवश्यक है, और उसको यजमान ही कर सकता है, क्योंकि यागार्थ परिक्रय के लिए धन-व्यय वही कर सकता है। अतः यह युक्त प्रतीत होता है कि याग के मुख्य अङ्ग 'उत्सर्ग' का अनुष्ठान केवल यजमान करे। शेष कार्य परिक्रीत ऋत्विक् आदि करें, अथवा यजमान स्वयं करे॥१६॥

अब तृतीय सिद्धान्तपक्ष आचार्य सूत्रकार ने प्रस्तुत किया—

अन्यो वा स्यात् परिक्रयाम्नानाद् विप्रतिषेधात् प्रत्यगात्मनि ॥२०॥

[वा] 'वा' पद पूर्वसूत्रोक्त 'अन्य करे वा स्वयं करे' इस विकल्प की व्यावृत्ति का द्योतक है। परिक्रय के अतिरिक्त शेष कर्म करनेवाला [अन्यः] अन्य, परिक्रीत ऋत्विक् आदि [स्यात्] होता है, [परिक्रयाम्नानात्] परिक्रय का शास्त्र में विधान होने से, [प्रत्यगात्मनि] अपने-आप में परिक्रय का [प्रतिषेधात्] प्रतिषेध—विरोध होने से। तात्पर्य है, अपने-आपका स्वयं परिक्रय न हो सकने से अन्य का परिक्रय करके स्वयं करना उपपन्न नहीं होता।

शास्त्रों द्वारा अपेक्षित यज्ञों में अनिवार्यरूप से परिक्रय का विधान है। किस यज्ञ में कितनी दक्षिणा परिक्रय की होनी चाहिए,—इस सबकी व्यवस्था की गई है। अग्निहोत्र तथा दर्श-पूर्णमास यज्ञ जीवनपर्यन्त नियमित रूप से किये जानेवाले कर्म हैं। इनमें अग्निहोत्र के लिए कोई परिक्रय नहीं है; उसे स्वयं करना चाहिए। किसी कारणवश कभी अपने-आप करने में व्यक्ति समर्थ न हो, तो वह पत्नी व शिष्य द्वारा कर्म को व्यवस्थित रूप से कराता रहे। दर्श-पूर्णमास में परिक्रय है, पर वहाँ ऋत्विजों की दक्षिणा केवल भरपूर भोजन कराना है। ये यज्ञ एक महीने में केवल दो दिन अमावास्या और पूर्णमासी को होते हैं। यज्ञानुष्ठान के अनन्तर ऋत्विजों को उस दिन 'पूर्ण भोजन करा देना मात्र' दक्षिणा है। शेष कर्मों की दक्षिणा उनके समय व अनुष्ठान के अनुसार नियत है। उस दक्षिणा को देने में तथा यज्ञ की पूर्ण व्यवस्था करने में जो व्यक्ति समर्थ होता है, वही उसके करने

का अधिकारी है। इस व्यवस्था के अनुसार अपेक्षित यज्ञों में परिक्रय एक अनिवार्य मुख्य अङ्ग है, तथा अपने-आपका स्वयं परिक्रय सम्भव नहीं, एवं अपरिक्रीत व्यक्ति शेष कर्म कराने में अधिकारी नहीं। इसलिए परिक्रेता (परिक्रय करने-वाला) यजमान केवल इसी मुख्य अङ्ग का अनुष्ठान कराता है, शेष सब कर्म परिक्रीत ऋत्विजों द्वारा ही कराये जाते हैं। इसलिए 'परिक्रीत ऋत्विजों द्वारा शेष कर्म कराये, अथवा यजमान स्वयं करे' यह गत सूत्र का विकल्प-कथन युक्त नहीं है। फलतः यह सिद्धान्त निश्चित होता है कि केवल परिक्रय-कर्म यजमान करे, शेष सम्पूर्ण कर्म परिक्रीत ऋत्विजों द्वारा सम्पन्न कराया जाय। सूत्र का यह आशय सूत्र के 'वा' पद को 'एव' अर्थ में मानकर अधिक स्पष्ट हो जाता है।

यागानुष्ठान में ऋत्विजों के परिक्रय की व्यवस्था ठीक उसी प्रकार की प्रतीत होती है, जैसे कोई देश का मुख्य प्रशासक अनेक व्यक्तियों का—उनके बौद्धिक, प्रातिभ व प्रशासनिक स्तर के अनुसार भृति (भरण-पोषण के लिए धन-राशि) देकर—परिक्रय करता है, एवं अपने कार्य-सम्पादन के लिए उन्हें अनुकूल बनाता है। वे व्यक्ति ऊपर से नीचे स्तर तक अपने पदों पर निर्धारित कार्य करते हुए समस्त प्रशासन का संचालन करते हैं। उनका किया हुआ कार्य मुख्य प्रशासक का ही जाना जाता है, जिसने उनका परिक्रय किया है। उनके कार्य से होनेवाले हानि-लाभ-फल का भोक्ता मुख्य प्रशासक होता है। मुख्य प्रशासक का इतना ही कार्य है कि वह व्यक्ति का परिक्रय करे; अथवा उसके द्वारा निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार व्यक्ति का परिक्रय किया जाय। प्रशासन का शेष समस्त कार्य परिक्रीत व्यक्ति ही संचालित करते हैं।

कतिपय आधुनिक व्यक्तियों का कहना है कि राज्य-प्रशासन-पद्धति के साथ यज्ञकर्म को सन्तुलित करना सर्वथा असंगत है। राज्य-प्रशासन समाज को सुसंघित रखता है। विविध प्रकार की विपदाओं से सामाजिक सुरक्षाओं की गारण्टी देता है। प्रशासन का यह प्रत्यक्षदृष्ट प्रयोजन है। पर यज्ञकर्म का समाज के लिए कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं है। अदृष्ट प्रयोजन कहकर साधारण जन के मन को बहलाया जाता है। यदि देखा जाय तो यह केवल एक विशिष्ट वर्ग के कतिपय व्यक्तियों के जीवन-निर्वाह का साधनमात्र है।

इसी को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए मीमांसा के प्रस्तुत अधिकरण का यह निर्णय है कि ज्योतिष्टोम आदि याग का अनुष्ठान करनेवाला व्यक्ति अनिवार्य रूप से—अनुष्ठान के लिए—ऋत्विजों का परिक्रय करे। यह एक विशिष्ट वर्ग के व्यक्तियों के जीवन-निर्वाह का निर्बाध पक्का साधन बना दिया गया है।

यज्ञकर्म के सम्बन्ध में इस प्रकार की भावनाएँ बहुत पुराने समय से उभारी जाती रही हैं। चार्वाकदर्शन की एक प्रसिद्ध उक्ति है—

अग्निहोत्रं त्रयोवेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥

चार्वाकदर्शन के प्रतिष्ठाता बृहस्पति ने कहा था—ये अग्निहोत्र आदि कर्म पौरुषहीन व्यक्तियों की जीविकामात्र हैं। कहनेवाले पुराने हों या नये, पर यह स्पष्ट है कि ऐसे कथन किन्हीं दुर्वह भावनाओं से अभिभूत व्यक्तियों द्वारा किये गये हैं। प्रतीत होता है, उन्होंने गम्भीरता से इस विषय पर चिन्तन करने का कभी कष्ट नहीं उठाया। यदि इसपर गहराई से ध्यान दिया जाता है, तो समाज की सुरक्षा व सुस्थता के लिए यज्ञकर्म कहाँ तक उपयोगी है, यह चर्मचक्षु से भले ही दिखाई न दे, पर कोई विज्ञ व्यक्ति उससे नकार नहीं कर सकेगा।

यज्ञकर्म का साधारण रूप यह है—आम्र, पलाश या शमी (छोंकरा) आदि हल्की लकड़ी के छोटे-छोटे टुकड़ों में अग्नि प्रज्वलित की जाती है, जिसके लिए विशिष्ट स्थान पहले बनाया रहता है। इसको 'वेदि' कहा जाता है। इसके लिए साधारण भूस्तर से कुछ ऊँचा उठाकर गोल, चौकोर या आयताकार स्थण्डिल (=चबूतरा) पहले बना लिया जाता है; इसे 'यज्ञमण्डप' कहते हैं। प्रज्वलित अग्नि में कतिपय द्रव्यों की आहुति दी जाती है। इन द्रव्यों में शुष्क ओषधि, वनस्पति, मेवा तथा खांड आदि होते हैं। अन्नों में विशेषकर व्रीहि और यव होते हैं। इनके अतिरिक्त मुख्य द्रव्य आज्य है। ये सब मिलकर 'हविर्द्रव्य' अथवा 'आहवनीय द्रव्य' कहे जाते हैं। 'आहवनीय' उस प्रज्वलित अग्नि का नाम है, जिसमें इन द्रव्यों की आहुति दी जाती है।

आहवनीय द्रव्यों के विषय में यह एक विशेष ध्यान देने की बात है कि जो सामग्री-द्रव्य शुष्क ओषधि, वनस्पति, मेवा आदि को उपयुक्त भाग में मिलाकर तैयार किया जाता है, उसमें ऋतु के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। इससे ज्ञात होता है—विभिन्न ऋतुओं में परिवर्तित होनेवाले बाह्य वातावरण के साथ इसका सम्बन्ध है। यदि ऐसा न होता, तो हविर्द्रव्य के—ऋतु-अनुसार परिवर्तन की कोई आवश्यकता न रहती। जीवन-निर्वाह एवं उन्नत अभ्युदय की प्राप्ति के लिए मानव द्वारा अनेक ऐसे कार्य किये जाते हैं, जिनसे वायुमण्डल में प्रदूषण उत्पन्न हो जाता है, जो विविध प्रकार के रोग—तथा ओषधि-वनस्पतियों में विकार के—उभारने में सहायक होता है। ज्ञात होता है—तात्कालिक समाज-व्यवस्थापक शीर्षण्य व्यक्तियों ने सैकड़ों वर्षों तक ओषधि-वनस्पतियों के गुण-अवगुण आदि की परीक्षा कर यह निर्धारित किया कि किस ऋतु में किन द्रव्यों को सम्मिश्रित कर हविर्द्रव्य तैयार किया जाना चाहिए, जिससे ऋतु के अनुसार वायुमण्डल में फैले प्रदूषण का निवारण किया जा सके। यह भी ध्यान देने की बात है कि प्रज्वलित अग्नि में आहुत द्रव्य का स्थूल भाग दग्ध होकर सूक्ष्म

अवस्था में परिणत तत्त्व वायुमण्डल के अदृश्य प्रदूषण-विकारों को दूर कर उसे जीवनोपयोगी बना सकते हैं। अग्नि को देवों का दूत बताया गया है। वह हवि को वहन कर देवों तक पहुँचाता है [ऋ० १।१२।१-२]। ओषधि-वनस्पतियों आदि में मानव आदि प्राणी के जीवनोपयोगी तत्त्व ही वे देव हैं; उनसे अतिरिक्त अन्य कोई देव नहीं। अग्निहोत्रादि यज्ञ द्वारा चतुरस्र प्रसृत वायुमण्डल के प्रदूषण को दूर कर उन देवों को पुष्ट व स्वस्थ रखना ही देवपूजा है। इस विषय में गीता [३।१०—१२] का महत्त्वपूर्ण कथन गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है। मानव के साथ यज्ञभावनाओं का सम्बन्ध सार्वकालिक है और अपेक्षित भी है।

प्राचीनकाल में आहिताग्नि (अनिहोत्र आदि के लिए घर में पवित्र अग्नि का आधान करनेवाला) होना राजकीय विधान के अन्तर्गत रहा; ऐसा तात्का-लिक एक उक्ति से ज्ञात होता है। उक्ति है—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

एक सम्राट् के पास आये शिष्टमण्डल के प्रति सम्राट् ने कहा—मेरे द्वारा प्रशासित जनपद में स्तेन, कदर्य, मद्यप, अनाहिताग्नि, अविद्वान्, स्वैरी-स्वैरिणी कोई नहीं है। चोरी करना, धोखाधड़ी, भ्रष्टाचार व अनुचित रीति पर धन कमाकर संग्रह करना, समाज के लिए उसका कोई उपयोग न करना अर्थात् आज-कल नम्बर दो के नाम से प्रसिद्ध कमाई, मद्यपान, विद्याग्रहण न करना, बलात्कार करना—ये सब बातें किसी भी राजकीय विधान के अन्तर्गत आती हैं। इनका करनेवाला राज्य-दण्ड का भागी होता है। इसी कोटि में अनाहिताग्नि को गिना गया है। तात्पर्य है—जिसने अग्निहोत्र आदि यज्ञानुष्ठान के लिए अग्नि का आधान न किया हो, वह भी उस काल में दण्डनीय माना जाता था। यह तथ्य उक्त श्लोक से प्रकट होता है। इससे यह भी जाना जाता है कि अग्निहोत्र आदि कर्मों का सामाजिक प्रयोजन अधिक था।

आध्यात्मिक प्रयोजन भी अवश्य है, परन्तु उसका परलोक से इतना सम्बन्ध नहीं, जितना इस लोक से है। किसी भी विधि-विधान का यथावत् पालन व्यक्ति को सदा साहसी, धीर, अदीन, उत्साही, सत्याचरणसम्पन्न बनाये रखने में पूर्ण सहयोग प्रदान करता है। मनोवृत्तियाँ ऐसी स्थिति में सदा सन्तुलित रहने से व्यक्ति जीवनयात्रा को सुख-सुविधापूर्वक सम्पन्न करने में समर्थ होता है। क्या ऐसे जीवन को स्वर्ग नहीं कहा जा सकता? वास्तव में इससे बढ़कर स्वर्ग की कल्पना आकाश-कुसुम के समान है। यदि इससे परलोक भी सुखमय बनता है, तो इसमें हानि क्या है? फलतः अग्निहोत्र आदि कर्म किन्हीं विशेष वर्ग के व्यक्तियों की केवल जीविकामात्र के साधन नहीं हैं; ये समाज की सुख-समृद्धि के

लिए भी महत्त्वपूर्ण साधन हैं। विकार को प्राप्त होकर प्रत्येक हरी-भरी वस्तु सड़ जाती है। इनके अनुष्ठान में उस सड़ाँद से बचना चाहिए ॥२०॥ (इति अङ्गानामन्यद्वाराऽनुष्ठानाधिकरणम्—८)।

(परिक्रीतानामृत्विजां संख्याविशेषनियमाधिकरणम्—९)

ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों के अनुष्ठान के लिए यजमान कितने ऋत्विजों का परिक्रय करे ? अथवा कितने ऋत्विज् होने चाहिएँ ? इसका निर्णय करने के लिए सूत्रकार ने प्रथम पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—

तत्रार्थात् कर्तृपरिमाणं स्यादनियमोऽविशेषात् ॥२१॥

[तत्र] उन ऋत्विजों के परिक्रय के विषय में [अर्थात्] अर्थ=प्रयोजन के अनुसार [कर्तृपरिमाणम्] अनुष्ठान करनेवालों की संख्या [स्यात्] होनी चाहिए; [अविशेषात्] इस विषय में कोई विशेष कथन न होने से [अनियमः] संख्याविषयक अनियम ही जानना चाहिए।

यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान के लिए कितने ऋत्विजों का परिक्रय किया जाय ? ऐसी नियत संख्या अनावश्यक है। जितना अनुष्ठेय कर्म है, अथवा जितने ऋत्विजों से अनुष्ठेय कर्म सम्पन्न किया जा सके, उतने का परिक्रय कर लेना चाहिए। ऋत्विजों की विशेष संख्या का कोई निर्देश भी उपलब्ध नहीं है। इसलिए संख्याविषयक अनियम ही उपयुक्त है। जिस यज्ञ में जितने ऋत्विजों की आवश्यकता हो, उतने परिक्रय कर ले ॥२१॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

अपि वा श्रुतिभेदात् प्रतिनामधेयं स्युः ॥२२॥

[अपि वा] ये सम्मिलित दो पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति के द्योतक हैं। तात्पर्य है—'प्रयोजन के अनुसार ऋत्विजों का परिक्रय करे' कथन युक्त नहीं है; [श्रुतिभेदात्] श्रुतिद्वारा प्रतिपादित भेद के कारण [प्रतिनामधेयम्] प्रत्येक नाम के अनुसार ऋत्विजों की संख्या [स्युः] होनी चाहिए।

ज्योतिष्टोम आदि याग-विषयक वैदिक वाङ्मय में ऐसे वचन उपलब्ध हैं, जिनमें विभिन्न ऋत्विजों द्वारा अलग-अलग विशिष्ट कर्म किये जाने का निर्देश है। वहाँ विभिन्न कर्म अलग-अलग ऋत्विजों का नाम लेकर अनुष्ठान के लिए बाँटे गये हैं। वह सन्दर्भ इस प्रकार है—

> **"तान् पुरोऽध्वर्युर्विभजति—प्रतिप्रस्थाता मन्थिनं जुहोति, नेष्टा पत्नीमभ्युदानयति, उन्नेता चमसान् उन्नयति, प्रस्तोता प्रस्तौति, उद्गाता उद्गायति, प्रतिहर्त्ता प्रतिहरति, सुब्रह्मण्यः सुब्रह्मण्यामाह्वयति, होता प्रात-**

रनुवाकमनुब्रूते, मैत्रावरुणः प्रेष्यति, अच्छावाको यजति, ग्रावस्तुद् ग्राव-स्तोत्रीयामन्वाह।"

"पहले अध्वर्यु उनका कार्यविभाजन करता है—प्रतिप्रस्थाता मन्थी ग्रह का होम करता है, नेष्टा यजमानपत्नी को योक्त्र बाँधता है, उन्नेता चमसों को सोमरस से भरता है, प्रस्तोता साम के 'प्रस्ताव' नामक प्रथम भाग[1] का उच्चारण करता है, उद्गाता 'उद्गीथ' नामक द्वितीय भाग का उच्चारण करता है, प्रति-हर्त्ता 'प्रतिहार'-संज्ञक तृतीय भाग का उच्चारण करता है, सुब्रह्मण्य 'सुब्रह्मण्य' नामक निगद का पाठ करता है, होता प्रातरनुवाक का पाठ करता है, मैत्रावरुण प्रैष (=प्रेरणा) देता है, अच्छावाक यजन करता है, ग्रावस्तुत् ग्रावस्तोत्रीया ऋचा का पाठ करता है।" सन्दर्भ में बारह ऋत्विजों का निर्देश है।

यद्यपि संख्या का निर्देश-सन्दर्भ नहीं है, पर विभिन्न कर्मों का अनुष्ठान प्रत्येक ऋत्विज् के नाम-निर्देश के साथ बताया गया है। इनमें तीन ऋत्विज् मुख्य हैं—अध्वर्यु, होता, उद्गाता। प्रत्येक के तीन-तीन सहयोगी हैं। इस प्रकार ऋत्विजों की संख्या १२ होती है। यहाँ एक अन्य मुख्य ऋत्विज् ब्रह्मा का उल्लेख नहीं हुआ। उसके भी तीन सहयोगी होते हैं। इस प्रकार ऋत्विजों की संख्या १६ होती है। यह निम्न प्रकार समझना चाहिए—

अध्वर्युगण	**होतृगण**	**उद्गातृगण**	**ब्रह्मगण**
अध्वर्यु	होता	उद्गाता	ब्रह्मा
प्रतिप्रस्थाता	मैत्रावरुण	प्रस्तोता	ब्राह्मणाच्छंसी
नेष्टा	अच्छावाक	प्रतिहर्त्ता	अग्नीत् (=आग्नीध्र)
उन्नेता	ग्रावस्तुत्	सुब्रह्मण्य	पोता[2]

---

१. साम के पाँच भाग होते हैं—प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव, निधन।

२. इन चारों गणों में दूसरी संख्यावाले ऋत्विजों की अर्धिन्, तीसरी संख्या-वालों की तृतीयिन् और चतुर्थ संख्यावालों की पादिन् संज्ञा है। यह संज्ञा दक्षिणा के भेद से है। यदि अग्निष्टोम की एक सहस्र (१०००) दक्षिणा हो तो उनका विभाग इस प्रकार जानना चाहिए—एक सहस्र रुपयों को पहले चार भागों में बाँटने पर प्रत्येक गण के हिस्से में २५० रुपये आते हैं। फिर उनका अपने-अपने गण के ऋत्विजों में बँटवारा होता है। प्रत्येक गण के प्रमुख अध्वर्यु, होता, उद्गाता और ब्रह्मा को १२०-१२० रुपये, तदनन्तर प्रत्येक गण के द्वितीय ऋत्विक् की अर्धिन् संज्ञा होने से ६०-६० रुपये, तत्पश्चात् प्रत्येक गण के तृतीय ऋत्विक् की तृतीयिन् संज्ञा होने से १२० रुपये का तीसरा भाग ४०-४० रुपये, प्रत्येक गण के शेष रहे चतुर्थ ऋत्विक्

लम्बे काल तक चलनेवाले सत्र-संज्ञक यागों में ये सोलह ऋत्विक् तथा सत्रहवाँ यजमान ये सब मिलकर अनुष्ठान करते हैं। जहाँ सब यजमान और सब ऋत्विज् हैं, वहाँ परिक्रय नहीं होता। इस दृष्टि से ऋत्विजों की संख्या सत्रह भी कही जाती है। परन्तु परिक्रय अथवा वरण किये जाने की स्थिति में ऋत्विजों की संख्या १६ निश्चित है ॥२२॥

शिष्य आशंका करता है—कार्यभेद आदि से एक व्यक्ति के भी अनेक नाम हो जाते हैं। इसलिए केवल अनेक नामों का उल्लेख ऋत्विजों के परिमाण का निर्णायक नहीं माना जाना चाहिए। शिष्य-आशंका को आचार्य सूत्रकार ने पूर्व-पक्षरूप में सूत्रित किया—

एकस्य कर्मभेदादिति चेत् ॥२३॥

[एकस्य] एक व्यक्ति के [कर्मभेदात्] किये जाते कार्य के भेद से अनेक नाम लोक में व्यवहृत देखे जाते हैं [इति चेत्] ऐसी आशंका यदि करो तो (वह ठीक नहीं, अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)।

लोक में देखा जाता है, कार्यभेद से एक ही व्यक्ति के अनेक नाम व्यवहार में आते हैं। एक ही देवदत्त पाचक, याजक, पाठक आदि नामों से पुकारा जाता है। उक्त सन्दर्भ में भी इसी प्रकार एक ही व्यक्ति के अनेक नामों का उल्लेख कार्य-भेद से होना सम्भव है। ऐसी दशा में केवल नामभेद ऋत्विजों की किसी नियत संख्या का निर्णायक नहीं माना जाना चाहिए। इसलिए प्रयोजन के अनुसार ऋत्विजों का परिक्रय युक्त प्रतीत होता है ॥२३॥

आचार्य सूत्रकार ने आशंका का समाधान किया—

नोत्पत्तौ हि पुरुषाणाम्[1] ॥२४॥

[न] यह नहीं है कि उक्त सन्दर्भ में एक ही व्यक्ति के कार्यभेद से भिन्न

की पादिन् संज्ञा होने से १२० रुपये का चतुर्थांश ३०-३० रुपये दक्षिणा जाननी चाहिए। [द्रष्टव्य—मीमांसाभाष्य अ० १०, पा० ३, अधि० १४ (सूत्र ५३–५५) का ज्योतिष्टोमे समाख्यानुसारेण दक्षिणाविभागाधिकर-णम्]

इन ऋत्विजों में से कर्म के मध्य किसी ऋत्विक् की अपमृत्यु हो जाने पर अन्य को वरण किया जाता है। उसको तथा मृत ऋत्विक् के उत्तरा-धिकारी को उसके द्वारा क्रियमाण कर्म के अनुसार दक्षिणा का विभाग धर्म-शास्त्रों में किया है। (यु० मी०)

१. सूत्र में 'पुरुषाणाम्' पद क्वचित् उपलब्ध होता है। भाष्य में 'नैतदेवम्, उत्पत्तौ हि पुरुषाणाम्' पाठ होने से 'पुरुषाणाम्' पद को भाष्यकार द्वारा आदृत मानकर सूत्र में पढ़ा है। (यु० मी०)

नाम कहे गये हों, [हि] क्योंकि [पुरुषाणाम्] ऋत्विक् पुरुषों के [उत्पत्तौ] उत्पादन=वरण के कथन में भेद स्पष्ट है।

सूत्र में 'उत्पत्ति' पद का अर्थ उपपादन—सम्पादन–कथन है। याज्ञिक पुरुषों के वरण-प्रसंग में एक-एक ऋत्विक् का पृथक् कथन किया गया है। उसके अनुसार यह विचार निराधार रह जाता है कि एक ही व्यक्ति को कार्यभेद के कारण अनेक नामों से कहा गया है। ऋत्विजों के वरण-प्रसंग में वाक्य हैं—'अध्वर्युं वृणीते, होतारं वृणीते, उद्गातारं वृणीते, ब्रह्माणं वृणीते' आदि—अध्वर्यु का वरण करता है, होता का वरण करता है, उद्गाता का वरण करता है, ब्रह्मा का वरण करता है, आदि। इस वरण-प्रसंग से स्पष्ट होता है, यह कार्यभेद से एक ही व्यक्ति के अनेक नामों का कथन नहीं है; ये सब पृथक् व्यक्ति हैं।

उक्त वाक्यों में अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि का निर्देश विधि नहीं है। अपूर्व अर्थ का कथन विधि कहा जाता है—'यूपं छिनत्ति' में छेदन से पूर्व अविद्यमान यूप का निर्देश विधि है। ऐसे ही 'तण्डुलान् पिनष्टि' में पेषण से पूर्व अविद्यमान चूर्णत्व की निष्पत्ति विधि है। पर उक्त वाक्यों में अध्वर्यु आदि का अपूर्व कथन न होने से ये विधि नहीं हैं; अनुवाद भी नहीं हैं। अनुवाद सर्वथा उसी का होता है, जो अन्य प्रकार से प्राप्त हो। इसलिए यहाँ न तो वरण से ब्रह्मा आदि नामधारी पुरुष का अपूर्व उत्पादन अभिप्रेत है और न यह ब्रह्मा आदि का अनुवाद करके वरण-विधि की प्रवृत्ति है। ऐसी दशा में यहाँ ब्रह्मा आदि का श्रवण अनर्थक होता हुआ संख्या-विशेष का बोधन कराता है। यदि इसको ब्रह्मा आदि का विधि अथवा वरण का विधि माना जाय, तो यह संख्या का बोध कराने में असमर्थ रहेगा; क्योंकि एक वाक्य एकसाथ दो अर्थों का बोध नहीं करा सकता। तात्पर्य है—अध्वर्यु आदि नामों से उनका पृथक्-पृथक् वरण उनकी नियत संख्या का बोध कराता है। फलत: न तो ये कार्यभेद से एक ही व्यक्ति के अनेक नाम हैं और न केवल प्रयोजन के अनुसार ऋत्विजों के परिक्रय में अनियम है। यह निश्चित व्यवस्था है कि दर्श-पूर्णमास, ज्योतिष्टोम, सोमयाग आदि के अनुष्ठान में सर्वत्र नियत सोलह ऋत्विजों का परिक्रय व वरण किया जाता है ॥२४॥ (इति परिक्रीतानामृत्विजां संख्याविशेषनियमाधिकरणम्—९)।

(चमसाध्वर्यूणां पृथक्त्वाधिकरणम्—१०)

ज्योतिष्टोम में दश चमस कहे हैं—यजमान, ब्रह्मा, होता, उद्गाता, मैत्रा-वरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, अच्छावाक, अध्वर्यु-संज्ञक; उन-उन ऋत्विजों से सम्बद्ध सोमरस के भरे आधारभूत दश पात्रविशेष हैं। इन चमसों में भरे सोम-रस का होम अध्वर्यु के द्वारा किया जाता है। यदि अध्वर्यु अन्य कर्म में संलग्न हो तो उनके होम के लिए जो अन्य पुरुष वरण किये जाते हैं, वे चमसाध्वर्यु कहाते

हैं। उनके लिए वाक्य है—'चमसाध्वर्यून् वृणीते'–चमसाध्वर्युओं का वरण करता है। यहाँ सन्देह है—क्या ये चमसाध्वर्यु पहले कहे गये ऋत्विजों में अन्यतम हैं ? अथवा उनसे भिन्न हैं ?

आचार्य सूत्रकार ने सन्देह का समाधान किया—

चमसाध्वर्यवश्च तैर्व्यपदेशात् ॥२५॥

[च] तथा [चमसाध्वर्यवः] चमसाध्वर्यु-संज्ञक यज्ञकर्मकारी पूर्वऋत्विजों से भिन्न हैं, [तैः] उन प्रथम परिगणित ऋत्विजों के साथ सम्बद्ध होकर [व्यपदेशात्] इनका कथन होने से।

यज्ञकर्मकर चमसाध्वर्यु पूर्वपरिगणित ऋत्विजों से भिन्न होते हैं, क्योंकि उनका निर्देश शास्त्र में परिगणित ऋत्विजों के साथ सम्बद्ध कर किया गया है, जैसे—मध्यतःकारियों[1] के चमसाध्वर्यु, होत्रकों के चमसाध्वर्यु—कहकर सम्बन्ध-वाचक षष्ठी विभक्ति के साथ निर्देश है। ऐसे सम्बन्ध का निर्देश भिन्न व्यक्ति आदि में ही होता है। इसलिए प्रथम परिगणित ऋत्विजों से चमसाध्वर्यु-संज्ञक यज्ञकर्मकर भिन्न हैं।

टिप्पणी-निर्दिष्ट सन्दर्भ में पढ़े गये होता, ब्रह्मा, उद्‌गाता, यजमान और सदस्य 'मध्यतःकारी' कहे जाते हैं। इसी प्रकार प्रशास्ता, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, आग्नीध्र, अच्छावाक 'होत्रक' कहे जाते हैं। 'मध्यतःकारियों के चमसाध्वर्यु' तथा 'होत्रकों के चमसाध्वर्यु' ऐसा निर्देश इनके भेद को स्पष्ट करता है।

इसके अतिरिक्त यह भी भेद का साधक है कि पूर्वपरिगणित ऋत्विजों का वरण यजमान करता है, तथा चमसाध्वर्यु-संज्ञक कर्मकरों का वरण तत्सम्बद्ध ऋत्विजों द्वारा किया जाता है। यदि यजमान कभी इनका वरण करता है तो वह ऋत्विजों की आज्ञा व निर्देश के अनुसार ही करता है। इसलिए वह वरण भी ऋत्विजों द्वारा किया गया माना जाता है।

वरण-निर्देश-वाक्य भी इनके भेद के साधक हैं। यजमान द्वारा प्रथम ऋत्विजों का वरण एक-एक का पृथक् नाम लेकर किया जाता है—'ब्रह्माणं वृणीते, अध्वर्युं वृणीते, होतारं वृणीते' आदि। पर इसके विपरीत चमसाध्वर्यु-संज्ञक कर्मकरों का वरण प्रत्येक का पृथक् नामपूर्वक न करके अनेकों का इकट्ठा सामूहिक रूप में वरण करने का निर्देश है—'चमसाध्वर्यून् वृणीते'। फलतः निश्चित होता है कि

१. द्रष्टव्य—मीमांसाभाष्य ३।५।२२, अधि० ७॥ तथा ३।५।२३, अधि० ८॥ और भी ३।५।३३, अधि० १२ में 'प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्‌गातॄणां प्र यजमानस्य, प्र यन्तु सदस्यानां होत्रकाणां चमसाध्वर्यवः' [कात्या० श्रौ० ९।११।३] आदि उद्‌धृत सन्दर्भ।

प्रथम परिगणित सोलह ऋत्विजों से चमसाध्वर्यु नामक यज्ञकर्मकर भिन्न होते हैं ॥२५॥ (इति चमसाध्वर्यूणां पृथक्त्वाधिकरणम्—१०)।

(चमसाध्वर्यूणां बहुत्वनियमाधिकरणम्—११)

शिष्य ने जिज्ञासा की—चमसाध्वर्यु कर्मकरों के वरण में सन्देह है—क्या एक, दो, बहुतों का इच्छानुसार वरण किया जाय? अथवा बहुतों का ही वरण किया जाय?

आचार्य सूत्रकार ने सन्देह का समाधान किया—

उत्पत्तौ तु बहुश्रुतेः ॥२६॥

[तु] 'तु' पद सन्देह की निवृत्ति का द्योतक है—सन्देह नहीं करना चाहिए, क्योंकि [उत्पत्तौ] वरण के अतिदेश-वाक्य में [बहुश्रुतेः] बहुवचन का श्रवण होने से।

चमसाध्वर्यु कर्मकरों के वरण का अतिदेशवाक्य है–'चमसाध्वर्यून् वृणीते'; द्वितीया बहुवचन के साथ निर्देश है। अन्यत्र भी 'मध्यतःकारिणां चमसाध्वर्यवः, होत्रकाणां चमसाध्वर्यवः' आदि में 'चमसाध्वर्यवः' रूप से बहुत्व का श्रवण होता है। अतः चमसाध्वर्यु कर्मकर बहुत होने चाहिएँ ॥२६॥ (इति चमसाध्वर्यूणां बहुत्वनियमाधिकरणम्—११)।

(चमसाध्वर्यूणां दशसंख्यानियमाधिकरणम्—१२)

शिष्य जिज्ञासा करता है—ज्योतिष्टोम में चमसाध्वर्यु नामक कर्मकर बहुत होने चाहिएँ, यह जाना; पर इसमें सन्देह है—क्या बहुत्व संख्या तीन से प्रारम्भ होकर इच्छानुसार चाहे जितनी हो, यह अनियम है? अथवा कोई नियत संख्या मानी जानी चाहिए?

आचार्य सूत्रकार ने सन्देह का समाधान किया—

दशत्वं लिङ्गदर्शनात् ॥२७॥

[लिङ्गदर्शनात्] ज्ञापक हेतु के देखे जाने से [दशत्वम्] दश संख्या का होना निश्चित है।

ज्योतिष्टोम के विकृतियाग वाजपेय में दसवें दिन 'दशपेय' कर्म का अनुष्ठान होता है। उस प्रसंग का वचन है–'दश चमसाध्वर्यवः। दश दश एकैकं चमसमनुसर्पन्ति'[1]—'चमसाध्वर्यु दस होते हैं। एक चमस का सोमरस पीने के लिए प्रत्येक

१. तुलना करें—'दशदशैकैकं चमसमनुसृप्ता भवन्ति तस्माद्वेव दशपेयः', शत० ब्रा० ५।४।५।३॥

चमस के साथ दस-दस एक-दूसरे के पीछे पंक्ति बाँधकर चलते हैं'। ज्योतिष्टोम में दस चमस कहे हैं (सूत्र २५)। होम के अनन्तर सोमरस-भरे एक चमस को चमसाध्वर्यु लेकर पीने के निर्दिष्ट स्थान की ओर चलता है; नौ अन्य उसके पीछे एक पंक्ति में चलते हैं। इस प्रकार दस चमसाध्वर्यु कर्मकरों के ये दश वर्ग हैं। सब मिलकर इनकी संख्या सौ हो जाती है। कर्म का 'दशपेय' नाम चमसाध्वर्यु कर्मकरों की दस संख्या को नियत करता है, क्योंकि इसमें दस-दस के दस वर्ग सोमरस का पान करते हैं—'दशभिः पेयः सोमो यत्र स दशपेयः।' उसी प्रसंग में अन्य वाक्य है—'शतं ब्राह्मणाः सोमं भक्षयन्ति' सौ ब्राह्मण सोम का भक्षण करते हैं। दस-दस के दस वर्ग मानकर सौ संख्या का कथन भी उपपन्न होता है।

बहुत्व की प्रथम प्राप्त तीन संख्या को लाँघकर आगे बढ़ने तथा किसी नियत संख्या पर रुकने के लिए कोई कारण होना चाहिए। उक्त वाक्य ही इस अर्थ के बोधक हैं कि तीन को लाँघकर बहुत्व की खोज में दस पर रुक जाती है; न आगे बढ़ती है, न पहले रुकती है। इसलिए चमसाध्वर्यु कर्मकरों की दस संख्या नियत है ॥२७॥ (इति चमसाध्वर्यूणां दशसंख्यानियमाधिकरणम्—१२)।

(शमितुरपृथक्त्वाधिकरणम्—१३)

ऋत्विक्-वरण के अनन्तर ज्योतिष्टोम प्रकरण में पाठ है—'शमितारमुपनयति'–शान्त करनेवाले को लाता है। इसमें सन्देह है–क्या वह शमिता प्रथम वरण किये ऋत्विजों में से ही कोई एक होता है? अथवा उनसे भिन्न कोई व्यक्ति होता है? प्रतीत होता है, वह ऋत्विजों से भिन्न होना चाहिए; क्योंकि 'शमिता' शब्द से वहाँ किसी का वरण नहीं किया गया। इस अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत किया—

शमिता च शब्दभेदात् ॥२८॥

[शमिता] शमिता नाम से व्यवहृत व्यक्ति [च] भी चमसाध्वर्यु के समान पूर्वनिर्दिष्ट १६ ऋत्विजों से भिन्न होता है, [शब्दभेदात्] शमिता शब्दभेद के कारण।

ऋत्विजों के वरणप्रसंग में जैसे 'होतारं वृणीते, ब्रह्माणं वृणीते' वाक्य कहे हैं, वहाँ किसी भी ऋत्विक् के लिए 'शमिता' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि प्रथम वरण किये गये ऋत्विजों से—शमिता शब्द से व्यवहृत व्यक्ति उक्त सोलह ऋत्विजों से भिन्न होता है, ठीक वैसे ही जैसे अधिकरण १० में चमसाध्वर्यू को १६ ऋत्विजों से पृथक् बताया गया है ॥२८॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

प्रकरणाद्वोत्पत्त्यसंयोगात् ॥२६॥

[वा] 'वा' पद पूर्वसूत्रोक्त अर्थ की व्यावृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है, शमिता नाम से व्यवहृत व्यक्ति पूर्वपरिगणित १६ ऋत्विजों से पृथक् न होकर उन्हीं में से कोई एक होता है, [प्रकरणात्] प्रकरण से, अर्थात् उसी प्रकरण में 'शमितारमुपनयति' वाक्य के पठित होने से [उत्पत्त्यसंयोगात्] १६ ऋत्विजों के वरणविधायक वचनों में 'शमितारं वृणीते' ऐसे वचन का सम्बन्ध न होने से।

जैसे १६ ऋत्विक् परस्पर एक-दूसरे से पृथक् हैं, उनमें से प्रत्येक का नाम लेकर वरणविधायक वचन कहे हैं—'होतारं वृणीते' इत्यादि, यदि शमिता इन सबसे पृथक् होता, तो उसका भी नाम लेकर—अन्य वचनों के समान—'शमितारं वृणीते' वचन कहा गया होता। ऐसा पृथक् वचन न होने से ज्ञात होता है, शमिता नाम से व्यवहृत व्यक्ति इन्हीं ऋत्विजों में से कोई एक नियुक्त कर दिया जाता है।

'शमिता' पद का अर्थ है—शान्ति का व्यवस्थापक। याग के ऐसे अवसर पर सामाजिक व्यवस्था के अनुसार पशुओं के स्वास्थ्य आदि की जाँच-पड़ताल के लिए शमिता साथ रहते थे। पशुओं के स्वामी भी उनके साथ रहते थे। वे पशु इधर-उधर दौड़-भागकर गड़बड़ न मचाएँ, शान्तिपूर्वक अपने निर्दिष्ट स्थान में रहें, इस व्यवस्था के लिए परिगणित ऋत्विजों में से ही कोई एक ऋत्विक् नियुक्त कर दिया जाता था, जो पशुओं के स्वामियों को निर्देश देकर सबको यथावस्थित रखता था। इस शान्तिव्यवस्था का निर्देशक होने के कारण उसे 'शमिता' इस विशिष्ट नाम से व्यवहृत किया जाता था। उसका यह नाम उक्त विशिष्ट कार्य के आधार पर था। वह व्यक्ति अध्वर्यु के सहयोगी ऋत्विजों में से कोई एक होता था।

शबरस्वामी आदि सभी प्राचीन व्याख्याकारों ने 'शमिता' पद का अर्थ 'पशु का वध करनेवाला' किया है। यह अर्थ किस आधार पर किया गया है? समझा नहीं जा सका। पद के प्रकृति-प्रत्यय के आधार पर ऐसा अर्थ सर्वथा असंगत है। 'शम्' धातु 'वध करने' अर्थ में कहीं नहीं है। अपना मनमाना अर्थ कोई भी चाहे जो करता रहे। जब कोई व्यक्ति अपनी स्वाभाविक मौत से मर जाता है, तो औपचारिक रूप में साधारणतया ऐसा व्यवहार होता देखा जाता है कि 'वह शान्त हो गया' अथवा वह सदा के लिए शान्त हो गया; पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि 'शम्' धातु का अर्थ 'वध करना' है। स्वाभाविक मृत्यु से मरना और वध करना, परस्पर नितान्त भिन्न हैं।

शबर स्वामी आदि व्याख्याकारों ने जो—पशु को मारना, उसके अङ्ग-अङ्ग टुकड़े काटना, उनका सब ऋत्विक् ब्राह्मणों के लिए उनके स्तर के अनुसार बाँटना आदि के रूप में—पावन यज्ञमण्डप को बूचड़खाना बना डाला है, उसपर एक

वर्त्तमान विद्वान् के विचार मननीय हैं—

"उक्त (यज्ञ में आमिष-प्रयोग विषयक—ले०) विचार यज्ञ में पश्वालम्भ के आरम्भ होने के उत्तरकाल का है। पुराकाल में जब पर्यग्निकरण के अनन्तर पशुमात्र का उत्सर्ग हो जाता था, तब न पशु के भाग होते थे, और न कौन-सा भाग किसका हो, इस विचार की आवश्यकता थी, और न 'शमिता ऋत्विजों में से अन्यतम होवे अथवा पृथक्' यह विचार ही उपपन्न होता था। सम्प्रति उपलभ्यमान शाखाएँ एवं ब्राह्मणग्रन्थ प्रोक्तग्रन्थ हैं। अतएव इनमें प्राचीन काल की व्यवस्था की भी क्वचिदुपलब्धि हो जाती है और नवीन व्यवस्था का तो ये व्याख्यान करते ही हैं। मन्त्र-संहितागत यज्ञ आधिदैविक यज्ञ हैं। उनमें सृष्टि-यज्ञान्तर्गत होनेवाले दैवयज्ञों के साथ आसुर पशुयज्ञों का भी वर्णन है। वह आधिदैविक पशुयाग के निदर्शनार्थ है। नाटकस्थानीय यज्ञकर्म में पशुवध उसी प्रकार से वर्जित है, जैसे नाटकों में मारना-काटना वर्जित है। इसलिए यज्ञों में पशुओं का पर्यग्निकरण के पश्चात् उत्सर्ग ही प्राचीनकाल में होता था। कर्म की पूर्त्ति 'यद्देवत्यः पशुः तद्देवत्यः पुरोडाशः' नियम से पुरोडाश के द्वारा की जाती थी।"

[यु० मी०]

मध्यकालिक व्याख्याकारों की व्याख्याओं को एक ओर रख 'शमिता' पद का जो अर्थ हमने समझा और प्रसंग के अनुसार यहाँ प्रस्तुत किया है, उसको ध्यान में रखते हुए 'शमिता' पद से व्यवहृत व्यक्ति—परिगणित ऋत्विजों में से अध्वर्यु का सहयोगी कोई एक ऋत्विक् होता था, इनसे पृथक् नहीं ॥२६॥ (इति शमितुरपृथक्त्वाधिकरणम्—१३)।

(उपगाऽपृथक्त्वाधिकरणम्—१४)

ज्योतिष्टोम में 'उपगा' नामक कर्मकर कहे हैं। 'उपगायन्ति इति उपगाः'—उद्गाता आदि के द्वारा सामगान करते समय जो अन्तिम स्थिर पदों के साथ 'हो' ध्वनि उच्च स्वर में करते हुए गान में सहयोग देते हैं, वे 'उपगा' कहाते हैं। उनके विषय में सन्देह है—क्या वे परिगणित सोलह ऋत्विजों में से ही कोई होते हैं? अथवा उनसे भिन्न हैं?

शमिता के समान उपगा कर्मकर भी परिगणित सोलह ऋत्विजों में से ही होते हैं। इसी अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्तरूप में प्रस्तुत किया—

उपगाश्च लिङ्गदर्शनात् ॥३०॥

[उपगाः] उपगा-संज्ञक कर्मकर [च] भी परिगणित सोलह ऋत्विजों में से ही होते हैं, [लिङ्गदर्शनात्] उनका ज्ञापक हेतु देखे जाने से।

तैत्तिरीय संहिता [६।३।१।५] में कहा है—'नाध्वर्युरुपगायेत्' अध्वर्यु

उपगान न करे। यहाँ उपगान के लिए अध्वर्यु का निषेध है। इसका तात्पर्य है, अध्वर्यु को छोड़कर अन्य कोई ऋत्विक् उपगान करे। यदि किसी भी ऋत्विक् द्वारा उपगान करना अभीष्ट न होता, तो शास्त्र 'नाध्वर्युरुपगायेत्' के स्थान पर 'नर्त्विगुपगायेत्' कहता। अध्वर्यु द्वारा उपगान का निषेध इस अर्थ का बोध कराता है कि अध्वर्यु से अतिरिक्त अन्य कोई ऋत्विक् उपगान करे। मुख्य सामगान करनेवाले ऋत्विक् के साथ स्वर में स्वर मिलाकर जो अन्तिम पदों को 'हो' ध्वनि के साथ उच्च स्वर में गाया जाता है, यह उपगान है। उपगान करनेवाले मुख्य सप्पगायक के पिछलग्गू समझने चाहिएँ। वे मुख्य गायक के सहयोगी ऋत्विक् ही होते हैं, बाहरी भिन्न व्यक्ति नहीं ॥३०॥ (इति उपगाऽपृथक्त्वाऽधिकरणम्—१४)।

(सोमविक्रेतुः पृथक्त्वाधिकरणम्—१५)

ज्योतिष्टोम के ऋत्विक्-वरण-प्रसंग के साथ सोम-विक्रेता का कथन है। इसमें सन्देह है—क्या सोमविक्रेता प्रथम परिगणित सोलह ऋत्विजों में से ही कोई होता है? अथवा उनसे भिन्न? ऋत्विजों के सान्निध्य में सोमविक्रेता का संकीर्तन होने से प्रतीत होता है, ऋत्विजों में से ही कोई एक होता हो।

इस विषय में आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

विक्रयी त्वन्यः कर्मणोऽचोदितत्वात् ॥३१॥

[विक्रयी] सोम का विक्रय करनेवाला [तु] तो [अन्यः] अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से भिन्न होता है, [कर्मणः] विक्रयरूप कर्म के [अचोदितत्वात्] विहित न होने से।

सोम का बेचनेवाला व्यक्ति ऋत्विजों में से कोई न होकर अन्य व्यक्ति ही होता है। कारण यह है कि ज्योतिष्टोम के सम्बन्ध में सोम के विक्रय का कहीं विधान नहीं किया गया। इसके विपरीत क्रय (=खरीदने) का विधान है। इसलिए क्रय ज्योतिष्टोम का अङ्ग है। विक्रय ज्योतिष्टोम का अङ्ग नहीं है। क्रय का विधान होने पर विक्रय अर्थापत्ति से जाना जाता है। क्योंकि क्रय, विक्रय के बिना नहीं हो सकता। ज्योतिष्टोम में अपेक्षित कार्यों को सम्पन्न करने के लिए अध्वर्यु आदि ऋत्विजों का परिक्रय एवं वरण किया जाता है। विक्रय क्योंकि ज्योतिष्टोम का अङ्ग नहीं है, अतः ज्योतिष्टोम के लिए परिक्रीत ऋत्विक् विक्रय-कर्म को नहीं कर सकेगा। अतः सोम का बेचनेवाला व्यक्ति अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से भिन्न ही होगा ॥३१॥ (इति सोमविक्रेतुः पृथक्त्वाऽधिकरणम्—१५)।

(ऋत्विगिति नाम्नोऽसर्वगामिताऽधिकरणम्—१६)

ज्योतिष्टोम-कर्मकर रूप से जो पुरुष सुने जाते हैं, उनके विषय में सन्देह है—क्या वे सब पुरुष ऋत्विक् नाम से व्यवहृत किये जाते हैं ? अथवा कतिपय सीमित पुरुषों के लिए ही इस नाम का व्यवहार होता है ? शिष्य सुझाव देता है–वे सभी पुरुष ज्योतिष्टोम-सम्बन्धी कार्य करनेवाले होते हैं, इसलिए ऋत्विक् नाम से पुकारे जाने चाहिएँ ।

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-सुझाव को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

कर्मकार्यात् सर्वेषाम् ऋत्विक्त्वमविशेषात् ॥३२॥

[कर्मकार्यात्] कर्म करनेवाला होने—हेतु से [सर्वेषाम्] सब कर्मकरों का [ऋत्विक्त्वम्] ऋत्विक् होना उचित है, [अविशेषात्] अविशेष=समानरूप से कर्मकर होने के कारण ।

ज्योतिष्टोम अनुष्ठान की सम्पन्नता के लिए कार्य करनेवाले सभी कर्मकरों के लिए 'ऋत्विक्' पद का प्रयोग किया जाना चाहिए, क्योंकि सभी व्यक्ति याग को सम्पन्न करने की भावना से मिलकर समान रूप में कार्य करते हैं । ऐसे विशेष विधान का कहीं उल्लेख नहीं है कि कतिपय कार्यकर्त्ताओं को ऋत्विक् नाम से कहा जाय, शेष को न कहा जाय । 'ऋत्विक्' पद का निर्वचनमूलक अर्थ ही यह है कि ऋतु=समय के प्राप्त होने पर सभी मिलकर यजन करते हैं । 'सौम्यस्याध्वरस्य यज्ञक्रतोः सप्तदश ऋत्विजो भवन्ति'–'सोमसम्बन्धी यज्ञ के १७ ऋत्विक् होते हैं' इत्यादि वाक्य ऐकदेशिक है । पूरे समुदाय के एक देश को ऐकदेशक कहते हैं । समुदाय के एकदेश से पूरे समुदाय का कथन व्यवहार-विरुद्ध नहीं माना जाता ।

आचार्य पाणिनि [३।२।५९] ने ऋत्विक् पद का साधुत्व निपातन पद्धति से दर्शाया है । उसका ध्यान रखते हुए व्याख्याकारों ने 'ऋत्विक्' पद का अर्थ करते हुए लिखा है—समय उपस्थित होने पर यजन करता है; समय को प्राप्त कर यजन करता है; समय से प्रेरित होकर यजन करता है; दक्षिणा की प्राप्ति के लिए यज्ञ कराता है । ऋत्विक् पद के इन निर्वचनमूलक अर्थों से जाना जाता है कि यज्ञ में कार्य करनेवाले सभी व्यक्तियों के लिए इस पद का प्रयोग किये जाने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती ॥३२॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का निषेध करते हुए सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

न वा परिसंख्यानात् ॥३३॥

[न वा] ज्योतिष्टोम में सभी कर्मकर ऋत्विक् नहीं हैं, [परिसंख्यात्] नियत गणना होने से ।

वैदिक वाङ्मय में ऋत्विजों की संख्या नियत परिगणित की गई है। वाक्य है—'सौम्यस्य अध्वरस्य यज्ञक्रतोः सप्तदश ऋत्विजो भवन्ति' सोमसम्बन्धी हिंसा-रहित यज्ञक्रतु के सत्रह ऋत्विक् होते हैं। ऋत्विजों की नियत संख्या का यह स्पष्ट निर्देश है। ऋत्विक् पद के निर्वचन के आधार पर बहुत-से व्यक्तियों की ऋत्विक् संज्ञा प्राप्त होने के कारण यह विधि नहीं है। अनुवाद भी नहीं है, क्योंकि अनुवाद विधिविहित अर्थ का ही होता है, यदि उससे कोई प्रयोजन सिद्ध होता हो। ऐसी दशा में यदि इसको गणना का बोधक न माना जाय, तो यह वाक्य अनर्थक हो जायगा। ऐसी दशा में ऋत्विक् पद का बहुत-से पुरुषों के साथ सम्बन्ध प्राप्त होने पर उक्त वाक्य नियत सत्रह संख्या का सम्बन्ध पुरुषों के साथ बोधित करता है। उससे अधिक संख्या का प्रतिषेध विवक्षित है। इस कारण ज्योतिष्टोम से सम्बद्ध सब कर्मकर 'ऋत्विक्' पद से व्यवहृत नहीं किये जा सकते ॥३३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—'सौम्यसाध्वरस्य' वाक्य में समुदाय का कथन समुदाय के एकदेश द्वारा किया गया है। तात्पर्य है—ऋत्विक् तो सभी कर्मकर हैं, उक्त वाक्य में उनके एकदेश सत्रह से सबका कथन हुआ है। इस प्रक्रिया को मीमांसा-परिभाषा में 'अवयुत्यवाद' कहते हैं। ऐसी दशा में केवल सत्रह पुरुषों की ऋत्विक् संज्ञा कैसे मानी जाय?

आचार्य सूत्रकार ने शिष्यजिज्ञासा को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

पक्षेणेति चेत् ॥३४॥

[पक्षेण] अवयुत्यवाद पक्ष से उक्त वाक्य में सत्रह संख्या कही गई है, [इति चेत्] ऐसा यदि कहो, तो (यह ठीक नहीं, अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)।

'सौम्यस्याध्वरस्य' वाक्य के आधार पर गत सूत्र के भाष्य में जो सत्रह पुरुषों के साथ ऋत्विक् पद का सम्बन्ध जोड़ा गया है, वह अवयुत्यवाद पक्ष के अनुसार कथन है। वह समुदाय का कथन समुदाय के एकदेश द्वारा किया गया है। इसलिए केवल सत्रह पुरुष ऋत्विक् न माने जाकर सभी कर्मकरों के लिए 'ऋत्विक्' पद का प्रयोग समानरूप से किया जाना चाहिए ॥३४॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त कथन का निरास करते हुए सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

न सर्वेषामनधिकारः ॥३५॥

[न] अवयुत्यवाद पक्ष यहाँ लागू नहीं होता, इसलिए [सर्वेषाम्] ज्योतिष्टोम में लगे सभी पुरुषों का 'ऋत्विक्' पद द्वारा व्यवहार किये जाने का [अनधिकारः] अधिकार नहीं है।

अवयुत्यवाद वहाँ लागू होता है, जहाँ समान विषय में अन्य अधिक बड़ी संख्या कही गई हो। जैसे तैत्तिरीय संहिता [२।२।५] में पाठ है—'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते, यदष्टाकपालो भवति गायत्र्यैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति, यन्नवकपालस्त्रिवृतैवास्मिन् तेजो दधाति, यद्दशकपालो विराजैवास्मिन्नन्नाद्यं दधाति, यदेकादशकपालस्त्रिष्टुभैवास्मिन्निन्द्रियं दधाति, यद् द्वादशकपालो जगत्यैवास्मिन् पशून् दधाति।' यहाँ पुत्र उत्पन्न होने पर वैश्वानर देवतावाले द्वादशकपाल के निर्णय का कथन है। बड़ी संख्या द्वादश श्रुत है। उसी के अन्तर्गत विद्यमान अन्य अष्टाकपाल, नवकपाल, दशकपाल, एकादशकपाल संख्याओं का पृथक् निर्देश करके फलविशेष का कथन किया गया है। यह अवयुत्यवाद के अनुसार है। एकदेशभूत अष्टाकपाल आदि संख्याओं से द्वादशकपाल संकेतित होता है, क्योंकि छोटी संख्या उससे पृथक् करके फलविशेष के लिए कही गई है। परन्तु इस वैश्वानर इष्टि के समान ज्योतिष्टोम में समस्त कर्मकरों के लिए ऋत्विक् पद का व्यवहार बतानेवाला कोई अन्य वाक्य उपलब्ध नहीं है। यह इसमें उक्त इष्टि से वैपरीत्य है। यदि ज्योतिष्टोम में 'सब कर्मकर ऋत्विक्-पद-वाच्य हैं' ऐसी कोई बड़ी संख्या निर्दिष्ट की गई होती, तो उसके अन्तर्गत सत्रह संख्या को मानकर अवयुत्यवाद को यहाँ लागू किया जा सकता था, जिसके अनुसार यह कहा जाता कि 'सप्तदश ऋत्विजः' उस बड़ी संख्या से पृथक् कर दिखाया गया है, और उस एकदेश से यह समुदाय का कथन है। पर कहीं भी ऐसा उल्लेख न होने के कारण अयुत्यवाद 'सप्तदश ऋत्विजः' में लागू नहीं होता। फलतः ज्योतिष्टोमीय अध्वर्यु आदि सत्रह पुरुषों के साथ ही ऋत्विक् संज्ञा का सम्बन्ध सिद्ध होता है ॥३५॥
(इति ऋत्विगिति नाम्नोऽसर्वगामिताऽधिकरणम्—१६)।

(दीक्षादक्षिणावाक्योक्तानामेव ब्रह्मादीनां सप्तदशर्त्विक्त्वाऽधिकरणम्—१७)

शिष्य जिज्ञासा करता है—ऋत्विक् सत्रह होते हैं, यह तो निश्चित हुआ; पर वे सत्रह कौन-कौन हैं? यह नहीं जाना।

आचार्य सूत्रकार ने बताया—

नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुतिसंयोगात् ॥३६॥

[तु] 'तु' पद अनियम की व्यावृत्ति का द्योतक है। [दक्षिणाभिः] दक्षिणाओं से [नियमः] नियम जाना जाता है, [श्रुतिसंयोगात्] श्रुति = दक्षिणा-वाक्य में ऋत्विक् पद का सम्बन्ध होने से।

ज्योतिष्टोमीय नियत सत्रह पुरुषों के लिए ही ऋत्विक् पद का प्रयोग होता

है, यह दक्षिणा-वाक्य से जाना जाता है। वाक्य प्रारम्भ होता है—'ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति' ऋत्विजों को दक्षिणा देता है। ऐसा कहकर दक्षिणादान के क्रम-परक वाक्य में ब्रह्मा आदि का उल्लेख है। आगे वाक्य है—'अग्नीध्रेऽग्रे दक्षिणां ददाति' प्रथम अग्नीत् को दक्षिणा देता है। 'ततो ब्रह्मणे' उसके अनन्तर ब्रह्मा को दक्षिणा देता है। आगे विशिष्ट व्यक्तियों को—उनके ज्योतिष्टोमीय अध्वर्यु आदि नियत नाम-निर्देशपूर्वक दक्षिणा दिये जाने का उल्लेख है। नाम-निर्देशपूर्वक दक्षिणादान का यह प्रसंग 'ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति' कहकर प्रारम्भ किया गया है। इससे यह निश्चय होता है कि जिन ब्रह्मा, अध्वर्यु आदि को दक्षिणा दी जाती है, वे विशिष्ट सत्रह पुरुष ही ऋत्विक् पद से व्यवहृत किये जाते हैं ॥३६॥

इसी अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार ने बताया—

उक्त्वा च यजमानत्वं तेषां दीक्षाविधानात् ॥३७॥

[च] और 'ये ऋत्विजस्ते यजमानः'—'जो ऋत्विक् हैं वे यजमान हैं' इस प्रकार उनका [यजमानत्वम्] यजमान होना [उक्त्वा] कहकर [तेषाम्] उनकी [दीक्षाविधानात्] दीक्षा का विधान होने से ऋत्विजों की सत्रह नियत संख्या जानी जाती है।

लम्बे समय तक चलनेवाले 'सत्र' नामक यज्ञों के विषय में व्यवस्था है—'ये ऋत्विजस्ते यजमानाः'—'ऐसे सत्र में जो ऋत्विक् हैं वे यजमान हैं' यह कहकर ब्रह्मा आदि की दीक्षा का वाक्यों द्वारा क्रमशः उल्लेख किया गया है—'अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति'—'अध्वर्यु गृहपति को दीक्षित कर ब्रह्मा को दीक्षित करता है'। 'तत उद्गातारं ततो होतारम्'—'उसके अनन्तर उद्गाता को औरफिर होता को दीक्षित करता है'। 'ततस्तं प्रतिप्रस्थाता दीक्षयित्वा अर्धिनो[1] दीक्षयति, ब्राह्मणाच्छंसिनं ब्रह्मणः, प्रस्तोतारमुद्गातुः, मैत्रावरुणं होतुः'—'उसके अनन्तर प्रतिप्रस्थाता अध्वर्यु को दीक्षित करके अर्धियों को दीक्षित करता है—ब्रह्मा के ब्राह्मणाच्छंसी को, उद्गाता के प्रस्तोता को, होता के मैत्रावरुण को'। 'ततस्तं नेष्टा दीक्षयित्वा तृतीयिनो दीक्षयति—अग्नीधं ब्रह्मणः, प्रतिहर्तारमुद्गातुः, अच्छावाकं होतुः'—'उसके अनन्तर नेष्टा प्रतिप्रस्थाता को दीक्षित कर तृतीयिओं को दीक्षित करता है—ब्रह्मा के अग्नीत् को, उद्गाता के प्रतिहर्त्ता को, होता के अच्छावाक को'। 'ततस्तमुन्नेता दीक्षयित्वा पादिनो दीक्षयति—पोतारं ब्रह्मणः, सुब्रह्मण्यमुद्गातुः, ग्रावस्तुतं होतुः'—'उसके पश्चात् उन्नेता नेष्टा को दीक्षित कर

---

१. यहाँ ब्राह्मण-पठित सन्दर्भ में आये 'अर्धिनः, तृतीयिनः, पादिनः' पदों की व्याख्या चालू पाद (७) के सूत्र २२ के भाष्य तथा टिप्पणी में द्रष्टव्य है।

पादियों को दीक्षित करता है—ब्रह्मा के पोता को, उद्गाता के पुब्रह्मण्य को, होता के ग्रावस्तुत् को'। 'ततस्तमन्यो ब्राह्मणो दीक्षयति ब्रह्मचारी वाचार्य्यप्रेषितः' —'उसके अनन्तर कोई अन्य ब्राह्मण अथवा आचार्य द्वारा भेजा गया ब्रह्मचारी उन्नेता को दीक्षित करता है'।

ऐसे सत्रों में जब गृहपति यजमान द्वारा ऋत्विजों का परिक्रय व वरण नहीं होता, तब सब मिलकर सत्रकर्म का अनुष्ठान करते हैं, तब वहाँ सभी यजमान और सभी ऋत्विक् होते हैं। इसी भावना से 'ये ऋत्विजस्ते यजमानः' कहा गया है। प्रस्तुत प्रसंग में उन सबको कर्मानुष्ठान के लिए दीक्षित किये जाने का निर्देश हैं। वहाँ मिलकर सबकी संख्या सत्रह होती है। यहाँ सबके नाम लेकर दीक्षित किये जाने से यह स्पष्ट होता है कि ऋत्विक्-पदवाच्य व सत्रह विशिष्ट पुरुष ब्रह्मा-अध्वर्यु आदि ही हैं। इनमें सोलह ऋत्विक् और एक गृहपति यजमान है। यह सब प्रक्रिया यजमान का संस्कार माना जाता है। इस प्रकार दक्षिणा और दीक्षा-वाक्यों के आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि वे ऋत्विक्-पदवाच्य सत्रह पुरुष कौन-से हैं ॥३७॥ (इति दीक्षादक्षिणावाक्योक्तानामेव ब्रह्मादीनां सप्तदशर्त्विक्त्वाऽधिकरणम्—१७)।

(ऋत्विजां स्वामिसप्तदशत्वाधिकरणम्—१८)

ऋत्विक् सत्रह होते हैं, और वे ब्रह्मा आदि हैं, यह जाना गया। इसमें सन्देह है—सोलह ऋत्विजों से अतिरिक्त सत्रहवाँ पुरुष क्या कोई सदस्य होता है? अथवा गृहपति यजमान ही सत्रहवाँ ऋत्विक् माना गया है? क्या होना चाहिए? गृहपति यजमान का परिक्रय व वरण नहीं होता। ऋत्विजों का परिक्रय व वरण होता है। सदस्य कर्मकर है, वह परिक्रय के योग्य है। इसके अतिरिक्त चमसवालों की गणना में सदस्य भी गिना गया है—'प्रैतु[1] होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः···प्र यन्तु सदस्यानाम्' [कात्या० श्रौ० ९।११।३]। चमस ऋत्विक् का हो सकता है, इसलिए सत्रहवाँ ऋत्विक् सदस्य होना चाहिए।

ऐसा प्राप्त होने पर आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत किया—

स्वामिसप्तदशाः कर्मसामान्यात् ॥३८॥

[स्वामिसप्तदशाः] सत्रह ऋत्विक् स्वामी के सहित होते हैं। तात्पर्य है—ऋत्विजों में सत्रहवाँ स्वामी = यजमान होता है [कर्मसामान्यात्] कर्म के सामान्य

---

१. यह प्रसंग मीमांसा दर्शन [३।५] के अनेक अधिकरणों [अधि० ७, सूत्र १२; अधि० ८, सूत्र २३; अधि० १३, सूत्र ३३] में चर्चित हुआ है। वहाँ देख लेना चाहिए।

होने से।

यज्ञानुष्ठान के अवसर पर ऋत्विक् जिस प्रकार कर्म करते हैं, यजमान भी उसी प्रकार कर्म करता है। दोनों के लिए कर्मानुष्ठान समान होने से सत्रहवाँ ऋत्विक् यजमान होता है।

सदस्य के विषय में यह जो कहा कि वह परिक्रय तथा वरण के योग्य है, और चमसवालों में उसकी गणना की गई है, इसलिए सत्रहवाँ ऋत्विक् सदस्य समझना चाहिए,—यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि सदस्य के परिक्रय तथा वरण का कहीं कोई निर्देश उपलब्ध नहीं होता। चमसवालों में जो सदस्य का उल्लेख है, वहाँ ब्रह्मा, होता आदि ऋत्विजों को ही सदस्य पद से कहा गया है। सोमभक्षण के लिए इनके चमस ही सदः स्थान में ले-जाये जाते हैं, अतः बहुवचनान्त 'सदस्यानाम्' पद से—कथन के उपसंहार-रूप में—इन्हीं का उल्लेख हुआ है, अन्य किसी सदस्य पुरुष का नहीं। ✓

अन्य सदस्य को कृत-अकृत कार्यों का पर्यवेक्षण करनेवाला बताया गया है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [१।१२] में उसे 'कर्मणामुपद्रष्टा' कहा है—कार्यों का निरीक्षण करनेवाला। जिस प्रकार चालू पाद के पन्द्रहवें अधिकरण में सोम-विक्रयी को—विक्रयरूप कर्म के ज्योतिष्टोम का अङ्ग न होने के कारण – ऋत्विजों से पृथक् कहा है, और तीन अधिकरणों [१०, १३, १४] में चमसाध्वर्युओं, शमिता एवं उपगाताओं का वरण-प्रसंग में श्रवण न होने के कारण इन्हें भी ऋत्विजों से पृथक् बताया है, इसी प्रकार कार्य-अकार्य का द्रष्टामात्र होने से सदस्य को ज्योतिष्टोम का अङ्ग नहीं माना गया। इसलिए सोलह—ब्रह्मा, अध्वर्यु होता, उद्गाता और प्रत्येक के तीन-तीन सहयोगी—पुरुषों के साथ सदःस्थान में उपस्थित चमसोंवाला सत्रहवाँ पुरुष सदस्य नहीं हो सकता। उक्त सोलह के साथ सदःस्थान में यजमान उपस्थित रहता है, अतः वही सत्रहवाँ ऋत्विक् माना जाता है। इस प्रकार यजमान-सहित सप्तदश ऋत्विजों की संख्या शास्त्र में बताई गई है। ऐसी मान्यता केवल सत्रयागों में होती है ॥३८॥ (इति ऋत्विजां स्वामिसप्तदशत्वाधिकरणम्—१८)।

(आध्वर्यवादिष्वेवाध्वर्य्वादीनां कर्तृतानियमाधिकरणम्—१९)

ज्योतिष्टोम में कार्य करनेवाले यजमानसहित सत्रह पुरुष ऋत्विक् माने गये। इनके विषय में अब यह सन्देह है—क्या जो पुरुष का कार्य है, एवं आहवनीय आदि अग्नियों से जो कार्य किया जाता है, वह सब इनको करना चाहिए? अथवा कार्य करने में कुछ व्यवस्था है? अर्थात् यह कार्य अमुक करे, यह अमुक, और यह कार्य इस अग्नि में किया जाय, वह उस अग्नि में,—ऐसी व्यवस्था है? प्रतीत होता है, सब ऋत्विक् कार्य करने के लिए हैं। अग्नियों का आधान भी

यागानुष्ठान के लिए किया जाता है, तब सभी अग्नियों में सब कार्य किये जाने चाहिएँ।

आचार्य सूत्रकार ने इस विचार को पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत किया—

ते सर्वार्थाः प्रयुक्तत्वादग्नयश्च स्वकालत्वात् ॥३९॥

[ते] वे ऋत्विक् [सर्वार्थाः] यागसम्बन्धी सभी कार्यों के करने के लिए हैं, [प्रयुक्तत्वात्] परिक्रय एवं वरण के द्वारा कर्म करने के लिए नियुक्त होने के कारण, एवं [अग्नयः] अग्नियाँ [च] भी [स्वकालत्वात्] अपने समयवाली होने के कारण सभी अग्निकार्यों के लिए हैं।

परिक्रय एवं वरण किये गये ऋत्विक् कर्म-सम्बन्धी सभी कार्यों के लिए हैं। आहवनीय आदि अग्नियों का आधान भी याग-सम्बन्धी सब कार्यों के लिए किया जाता है। कर्मसम्बन्धी कार्य कर्मकर ऋत्विजों के बिना, एवं अग्निसम्बन्धी कार्य अग्नि-आधान के बिना नहीं हो सकते। ये कार्य उनकी आकांक्षा रखते हैं। इसलिए ऋत्विजों का परिक्रय व वरण तथा अग्नियों का आधान सभी कार्यों के सम्पादन के लिए माना जाना चाहिए। मीमांसा सूत्र [३।६।१५] में अग्नियों की सर्वार्थता का सिद्धान्त निश्चित किया है। जिस समय जो कार्य अग्निसम्बन्धी अपेक्षित हो, किसी भी अग्नि पर सम्पन्न कर लेना चाहिए। इसी प्रकार कर्मानुष्ठान-सम्बन्धी जो कार्य सामने उपस्थित हो, उसे सम्पादन करने में कोई भी कार्यान्तर में असंलग्न ऋत्विक् लग जाय। इसमें व्यवस्था की कोई आवश्यकता नहीं है। जो कार्य जिसे दीखे, वह उसे कर डाले। इससे सब कार्य यथावस्थित हो जाता है ॥३९॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

तत्संयोगात् कर्मणो व्यवस्था स्यात् संयोगस्यार्थ-वत्त्वात् ॥४०॥

[तत्संयोगात्] कर्मों का अध्वर्यु आदि नामों के द्वारा विशिष्ट पुरुषों के साथ सम्बन्ध होने से [कर्मणः] कर्म की [व्यवस्था] अमुक कर्म उसको करना चाहिए, अमुक उसको, इस प्रकार की व्यवस्था [स्यात्] है, [संयोगस्य] नाम के द्वारा कर्म का पुरुषविशेष के साथ सम्बन्ध के [अर्थवत्त्वात्] अर्थवान् होने के कारण।

शास्त्र में आध्वर्यव, औद्गात्र, हौत्र आदि कर्मों के नाम हैं। इसलिए जिस नाम के ऋत्विक् का जिस कर्म के साथ सम्बन्ध निर्दिष्ट है, वह कर्म उस ऋत्विक् को करना चाहिए। इस प्रकार आध्वर्यव कर्म अध्वर्यु को करना चाहिए, हौत्र कर्म होता को और औद्गात्र उद्गाता को। यह विशिष्ट पुरुष द्वारा विशिष्ट कर्म

करने की व्यवस्था है। ऐसा नहीं है कि चाहे कोई पुरुष चाहे जिस कर्म को करे। इस प्रकार आध्वर्यव आदि कर्मों का अध्वर्यु आदि विशिष्ट पुरुषों के साथ सम्बन्ध अर्थवान् होता है। यदि ऐसी व्यवस्था न मानी जाय, तो यह सम्बन्ध का निर्देश निरर्थक हो जायगा।

पूर्वपक्ष-सूत्र में वादी ने ऋत्विजों की सर्वार्थता के लिए जो अग्नियों की सर्वार्थता [द्र० मी० सू० ३।६।१५] का उदाहरण दिया है, वह 'वादी भद्रं न पश्यति' कहावत के अनुसार आंशिक एकदेशी है, केवल 'सर्वार्थ' इस शब्दमात्र की समानता को लेकर दृष्टान्त दे दिया है। अग्नियों की सर्वार्थता का स्वरूप है,—जो कर्मसम्बन्धी कार्य जिस अग्नि में किया जाता है उसके प्रकृतिरूप अथवा विकृतिरूप सभी कर्मों का सम्पादन उस अग्नि में किया जाना चाहिए। वहाँ ऐसा नहीं है कि किसी भी अग्नि में चाहे जो कार्य किया जाय। पर यहाँ पूर्वपक्ष-सूत्र के सर्वार्थ पद का भाव यही है कि कोई भी ऋत्विक् पुरुष किसी भी कार्य को करे। उसके लिए किसी व्यवस्था की आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत, अग्नियों में भी कर्म-व्यवस्था देखी जाती है। कौन-सा कर्म आहवनीय में हो, कौन-सा गार्हपत्य में, कौन-सा दक्षिणाग्नि में, ऐसे उल्लेख शास्त्र में उपलब्ध हैं। जैसे—'आहवनीये जुहोति, गार्हपत्येऽधिश्रयति, दक्षिणाग्नौ अन्वाहार्यं पचति' इत्यादि। आहवनीय अग्नि में हविद्रव्य की आहुति दी जाती है; गार्हपत्य में दुग्ध आदि गरम किया जाता है; अपेक्षा होने पर जमा आज्य पिघलाया जाता है; दक्षिणाग्नि में अन्वाहार्य का पाक होता है। दर्श-पूर्णमास में दक्षिणारूप से चार ऋत्विक् पुरुषों के भोजनयोग्य ओदन का नाम 'अन्वाहार्य' है। इससे अग्निकर्मों की भी व्यवस्था स्पष्ट होती है। आहवनीय में दूध या ओदन नहीं पकाया जा सकता। गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नि में हविद्रव्य का होम नहीं किया जा सकता। इस प्रकार अग्नियों में भी कर्म की व्यवस्था स्पष्ट है। फलतः ऋत्विजों की सर्वार्थता के लिए पूर्वपक्षी द्वारा दिया गया अग्नियों की सर्वार्थता का दृष्टान्त पूर्णतया विषम है ॥४०॥ (इति आध्वर्यवादिष्वेवाध्वर्य्वादीनां कर्तृतानियमाधिकरणम्—१९)।

(समाख्याप्राप्तकर्तृत्वस्यापि क्वचिद् बाधाधिकरणम्—२०)

गत अधिकरण में समाख्या=नाम के आधार पर कर्म की व्यवस्था बताई गई। शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या यही साधारण नियम है कि कर्म की व्यवस्था केवल नाम के आधार पर हो? अथवा अन्य भी कोई आधार है?

आचार्य सूत्रकार ने बताया, अन्य भी आधार है—

तस्योपदेशसमाख्यानेन निर्देशः ॥४१॥

[तस्य] उस कर्म का [उपदेशसमाख्यानेन] उपदेश=कथन और

समाख्यान = संज्ञा दोनों से [निर्देशः] निर्देश जानना चाहिए।

'उपदेशसमाख्यानेन' पद में समाहार द्वन्द्व समास है—उपदेशश्च समाख्यानं च अनयोः समाहार इति उपदेशसमाख्यानं तेन–उपदेशसमाख्यानेन। तात्पर्य है–उपदेश और समाख्यान दोनों से कर्म की व्यवस्था का निर्देश होता है, अर्थात् कहीं उपदेश से कहीं समाख्या = नाम से। यथा उपदेश से—'तस्मान्मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु चाह' मैत्रावरुण प्रैष देता है और अनुकथन करता है, अर्थात् पुरोऽनुवाक्या का उच्चारण करता है। 'प्र वो वाजा अभिद्यवः' तथा 'अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तः' ये पुरोऽनुवाक्या मन्त्र हैं, इनका उच्चारण करता है।

'होतर्यज, अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि'—'हे होता! यजन करो और प्रज्वलित होनेवाले अग्नि के लिए पुरोऽनुवाक्या मन्त्रों का उच्चारण करो'–इस प्रकार आदेश करने को 'प्रैष' कहते हैं। प्रैष कार्य अध्वर्यु करता है। पुरोऽनुवाक्या का उच्चारण होता करता है। परन्तु उक्त वाक्य—'तस्मान्मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु चाह'—'मैत्रावरुण ऋत्विक् प्रैष दे और पुरोनुवाक्या का उच्चारण करे' यह निर्देश करता है। यह उपदेश द्वारा कर्म का निर्देश है। समाख्या = नाम से कर्म के निर्देश का उदाहरण गत अधिकरण में दिया गया है। अन्य उदाहरण हैं—'पोत्रीया-नेष्ट्रीया' ये कर्मविशेष की समाख्या = संज्ञा हैं—पोता ऋत्विक् द्वारा किया जानेवाला कर्म, तथा नेष्टा ऋत्विक् द्वारा किया जानेवाला कर्म। यह पोता-नेष्टा ऋत्विक् नामों से कर्म का निर्देश है। इस प्रकार उपदेश और समाख्या दोनों से कर्म का निर्देश जानना चाहिए ॥४१॥

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ की पुष्टि में अन्य सहयोगी हेतु प्रस्तुत किया—

तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ॥४२॥

[तद्वत्] समाख्या से कर्मों की व्यवस्था के समान, उस अर्थ की पुष्टि में [लिङ्गदर्शनम्] सहयोगी हेतु [च] भी देखा जाता है।

वैदिक वाङ्मय में वाक्य सुना जाता है—'यत्र होतुः प्रातरनुवाकमनुब्रुवतः उपश्रृणुयात्'—'होता द्वारा प्रातःकालिक मन्त्रों का पाठ करते हुए जहाँ तक सुना जाये' इस वाक्य में प्रातरनुवाक के उच्चारण को होता द्वारा किया जानेवाला कर्म बताया है। यह समाख्या से—अर्थात् नाम लेकर कर्म की व्यवस्था बताये जाने से—कर्मव्यवस्था में लिङ्ग है। यहाँ होता का नाम लेकर प्रातरनुवाक उच्चारण करने का निर्देश है।

इसी प्रकार अन्य वाक्य है—'उद्गीथ उद्गातॄणाम्, ऋचः प्रणव उक्थशंसिनाम्, प्रतिगरोऽध्वर्यूणाम्'—सामगान उद्गाताओं का, ऋक् का प्रणव उच्चारण उक्थशंसियों = होताओं का, प्रतिगर अध्वर्यु ऋत्विजों का कर्म है। यहाँ भी नाम-निर्देशपूर्वक कर्म की व्यवस्था का कथन है। अन्य भी अनेक वाक्य वैदिक

वाङ्मय में उपलब्ध हैं, जहाँ कौन-सा कर्म किस ऋत्विक् को करना चाहिए, यह सब नाम लेकर कर्म की व्यवस्था में लिङ्ग है।

प्रातःकाल पक्षियों का कलरव प्रारम्भ होने से पहले जब होता ऋत्विक् उच्चैः स्वर से प्रातरनुवाक का पाठ करता है, उसकी ध्वनि जहाँ तक सुनाई पड़े, वहाँ तक की सीमा में बहनेवाले नदी-नालों से अध्वर्यु ऋत्विजों को जल लाना होता है। यदि नदी-नाले उच्चारण-ध्वनि की सीमा से बाहर कहीं दूर हैं, तो उस उच्चारण के अवसर से पहले ही जल लाकर किसी समीप उपयुक्त स्थान में रख लिया जाता है। उच्चारण के समय उन जलों से अध्वर्यु जल ग्रहण करता है। इस क्रिया का नाम 'प्रतिगर' है। वाक्यों में यहाँ बहुवचन से मुख्य ऋत्विक् और उनके सहयोगी अभिप्रेत हैं। फलतः समाख्या और उपदेश दोनों से यथा-प्रसंग कर्मों की व्यवस्था जाननी चाहिए ॥४२॥ (इति समाख्याप्राप्तकर्तृत्व-स्यापि क्वचिद् बाधाधिकरणम्—२०)।

(समुच्चितयोः प्रेषानुवचनयोर्मैत्रावरुणकर्तृत्वाधिकरणम्—२१)

ज्योतिष्टोम में अग्नीषोमीय पशु-आलभन के प्रसंग में पाठ है—'तस्मान्-मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु चाह'—'इसलिए मैत्रावरुण प्रैष देता है, और अनुवचन करता है' अर्थात् पुरोऽनुवाक्या का पाठ करता है। इसमें सन्देह है—क्या सब अनुवचनों और सब प्रैषों में मैत्रावरुण ऋत्विक् कर्त्ता होता है? अथवा जहाँ अनुवचन के विषय में प्रैष है, वहीं मैत्रावरुण होता है? कोई विशेष कथन न होने से प्रैष-अनुवचन में सर्वत्र मैत्रावरुण होना चाहिए। आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत किया—

प्रैषानुवचनं मैत्रावरुणस्योपदेशात् ॥४३॥

[प्रैषानुवचनम्] प्रैष और अनुवचन दोनों [मैत्रावरुणस्य] मैत्रावरुण का कर्म होने चाहिएँ, [उपदेशात्] उपदेश = सामान्य कथन होने के कारण।

'तस्मान्मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु चाह' वाक्य में सामान्यतया कथन है कि प्रैष और पुरोऽनुवाक्या पाठ मैत्रावरुण का कर्म है। यहाँ ऐसा विशेष कथन कोई नहीं है कि अमुक प्रैष अथवा अमुक अनुवचन (=पुरोऽनुवाक्या पाठ) में मैत्रावरुण होता है, अमुक में नहीं होता। इसलिए सब प्रैष और सब अनुवचन मैत्रावरुण ऋत्विक् को करने चाहिएँ ॥४३॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

पुरोऽनुवाक्याधिकारो वा प्रैषसन्निधानात् ॥४४॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है, सब प्रैष और अनुवचन मैत्रावरुण ऋत्विक् का कर्म है, यह कथन अयुक्त है, [पुरोऽनुवाक्या-

धिकारः] पुरोऽनुवाक्या का अधिकार मैत्रावरुण को है, [प्रैषसन्निधानात्] प्रैष के सान्निध्य = सामीप्य के कारण।

जहाँ प्रैष और अनुवाक्या साथ कही जाती हैं, वहाँ मैत्रावरुण का अधिकार है। जहाँ केवल प्रैष अथवा केवल अनुवाक्या का कथन है, वहाँ मैत्रावरुण अधिकृत नहीं होता। जहाँ दोनों इकट्ठे कहे गये हों, वहाँ ये दोनों कर्म मैत्रावरुण ऋत्विक् द्वारा किये जाने चाहिएँ। उक्त वचन 'तस्मान्मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु चाह' ऐसा ही है। यहाँ दोनों का समुच्चय है, इसलिए यहाँ दोनों मैत्रावरुण के कर्म हैं; सर्वत्र नहीं ॥४४॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त अर्थ की पुष्टि में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

प्रातरनुवाके च होतृदर्शनात् ॥४५॥

[प्रातरनुवाके] अनुवाक्या ऋचाओं के प्रातःकालिक पाठ में [होतृदर्शनात्] होता का सम्बन्ध देखे जाने से [च] भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

प्रातरनुवाक के पाठ में होता का सम्बन्ध पाया जाता है—'होतुः प्रातरनुवाकमनुब्रुवतः उपशृणुयात् तदाध्वर्युर्गृह्णीयात्'–प्रातः पक्षियों का कलरव होने से पूर्व जब होता ऊँचे स्वर में अनुवाक्या ऋचाओं का पाठ करता है, तब जहाँ तक वह शब्द सुनाई दे, उस सीमा में बहते नदी-नालों से अध्वर्यु जल ग्रहण करे। यहाँ होता द्वारा अनुवाक्या-पाठ का स्पष्ट निर्देश है। इसलिए भी मैत्रावरुण अनुवाक्या-पाठ में सर्वत्र अधिकृत नहीं होता ॥४५॥ (इति समुच्चितयोः प्रेषानुवचनयोर्मैत्रावरुणकर्तृत्वाधिकरणम्—२१)।

(चमसहोमेऽध्वर्योः कर्तृताधिकरणम्—२२)

ज्योतिष्टोम में चमसाध्वर्यु कहे गये हैं। उनमें सन्देह है—क्या चमसों का होम चमसाध्वर्यु करें? अथवा अध्वर्यु करे? चमसाध्वर्यु करें, यह पूर्वपक्ष सूत्रकार ने प्रथम प्रस्तुत किया—

चमसाँश्चमसाध्वर्यवः समाख्यानात् ॥४६॥

[चमसान्] चमसों का होम [चमसाध्वर्यवः] चमसाध्वर्यु करें, [समाख्यानात्] चमसाध्वर्यु ऐसा नाम होने के कारण।

चमसों में अध्वर्यु-सम्बन्धी कर्मों को जो व्यक्ति करते हैं, वे चमसाध्वर्यु कहे जाते हैं। उनके इस नाम के आधार पर जाना जाता है कि चमसों का होम चमसाध्वर्यु नामवाले व्यक्तियों को करना चाहिए ॥४६॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

अध्वर्युर्वा तन्न्यायत्वात् ॥४७॥

[वा] 'वा' पद पूर्वोक्त पक्ष 'चमसाध्वर्यु चमसों का होम करें' की निवृत्ति का द्योतक है। [अध्वर्युः] चमसों से होम अध्वर्यु करता है, [तन्न्यायत्वात्] ऐसा करना न्याय्य=उचित होने से।

जो जिस कार्य को करता है, उसके द्वारा ही उस कार्य का किया जाना उचित माना जाता है। होम अध्वर्यु द्वारा किया जानेवाला कर्म है, इसलिए उसे ही चमस-होम=चमसों में भरे सोम का होम—करना चाहिए। चमसाध्वर्यु नाम इस आधार पर नहीं है कि वे अध्वर्यु के कार्य को करते हैं, प्रत्युत इस आधार पर है कि अध्वर्यु के समान उनके भी चमस होते हैं; चमस समान होने से वे चमसाध्वर्यु कहे जाते हैं, अध्वर्यु का कार्य करने से नहीं। यदि होम करने को समानता का आधार माना जाता है, तो 'अध्वर्यु होम न करे, चमसाध्वर्यु होम करें' ऐसा मानने पर अध्वर्यु के साथ चमसाध्वर्यु व्यक्तियों की समानता रहेगी ही नहीं। इसलिए होम करना समानता का आधार न होकर सबके चमसों का समान होना, समानता का आधार मानना युक्त है। होम केवल अध्वर्यु करता है ॥४७॥

इसी अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

चमसे चान्यदर्शनात् ॥४८॥

[चमसे] चमस के होम में [अन्यदर्शनात्] चमसाध्वर्यु से अन्य का दर्शन होने के कारण [च] भी चमसाध्वर्यु होम नहीं करेंगे।

चमस-होम-सम्बन्धी वचन है—'चमसांश्चमसाध्वर्यवे प्रयच्छति तान् स वषट्कर्त्रे हरति'—चमसों को चमसाध्वर्यु को देता है; वह उन चमसों को वषट्-कर्ता को देता है। इससे ज्ञात होता है, चमसों में भरे सोम का होम करके रिक्त चमस को चमसाध्वर्यु को देनेवाला व्यक्ति चमसाध्वर्यु से भिन्न है। वह होम करनेवाला व्यक्ति अध्वर्यु है। आहुति देने के अनन्तर रिक्त चमस को अध्वर्यु सोमभक्षण के लिए चमसाध्वर्यु को देता है। सदःस्थान में जाकर यथावसर उन चमसों में वे सोमभक्षण करते हैं।

इसका पोषक अन्य वचन है—'यो वाऽध्वर्योः स्वं वेद स्ववान् भवति। स्रुग्वा अध्वर्योः स्वं वायव्यमस्य स्वं चमसोऽस्य स्वम्' [तै०सं० ३।१।२] 'निश्चय ही जो अध्वर्यु के 'स्व' को जानता है, वह स्ववान् होता है। स्रुक् ही अध्वर्यु का 'स्व' है, वायु देवतावाला पात्र (गृह) इसका 'स्व' है, चमस इसका 'स्व' है।' अध्वर्यु का जो चमस है, वह अध्वर्यु का 'स्व' नहीं होता; वह यजमान का 'स्व' होता है। इस कारण उक्त वचन 'चमस अध्वर्यु का स्व है' यह कहता हुआ अध्वर्यु द्वारा चमस से होम किये जाने को प्रकट करता है। जन चमसों में भरे सोम का अध्वर्यु होम करता है, उन चमसों में यद्यपि सोमभक्षण चमसाध्वर्यु व्यक्ति करते

हैं, पर होम करने के नाते चमस को अध्वर्यु का 'स्व' कहा गया है। अतः होम अध्वर्यु ही करता है, चमसाध्वर्यु नहीं ।।४८।।

यदि चमसाध्वर्यु-सम्बन्धी चमस अध्वर्यु का 'स्व' है, तो 'चमसाध्वर्यु' नाम का आधार या प्रवृत्तिनिमित्त क्या होगा ?

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अशक्तौ ते प्रतीयेरन् ।।४९।।

चमसाध्वर्यु-सम्बन्धी चमस केवल होम करने की दृष्टि से अध्वर्यु के 'स्व' हैं; सोमभक्षण की दृष्टि से वे अध्वर्यु के 'स्व' नहीं हैं। अतः अध्वर्यु के [अशक्तौ] उन चमसों में सोमभक्षण के लिए असमर्थ होने पर [ते] वे चमसाध्वर्यु [प्रतीयेरन्] उन चमसों में सोमभक्षण-सामर्थ्य से चमसाध्वर्यु नाम के साथ सम्बद्ध होंगे।

चमसाध्वर्यु नाम का आधार या प्रवृत्तिनिमित्त ४७वें सूत्र के भाष्य में अध्वर्यु और चमसाध्वर्युओं के सोमभक्षणार्थ चमसों की समानता बताया है। सूत्रकार ने वही भाव प्रस्तुत सूत्र में प्रकारान्तर से प्रकट किया है। सोमभक्षणार्थ सबके अपने-अपने चमस उनके 'स्व' हैं। चमसाध्वर्युओं के आहुत चमसों में अध्वर्यु सोमभक्षण के लिए अशक्त होता है। अयोग्यता व अनौचित्य ही अशक्ति है। इस प्रकार सोमभक्षणार्थ सबके चमसों की समानता ही उक्त नाम का आधार है।

अध्वर्यु का चमस यजमान का 'स्व' स्वामित्व की दृष्टि से कहा गया है, सोमभक्षण की दृष्टि से नहीं। फलतः होम का अधिकार केवल अध्वर्यु को जानना चाहिए, चमसाध्वर्यु को नहीं ।।४९।। (इति चमसहोमेऽध्वर्योः कर्तृताधिकरणम्—२२)।

(श्येनवाजपेययोरनेककर्तृताधिकरणम्—२३)

उद्गाता से सम्बद्ध सामवेद में श्येनयाग तथा अध्वर्यु से सम्बद्ध यजुर्वेद में वाजपेय याग कहा गया है। इसमें सन्देह है—क्या सामवेदकथित श्येनयाग का अनुष्ठान उद्गाता और उसके सहयोगी ऋत्विक् करें ? तथा यजुर्वेद-कथित वाजपेय याग का अनुष्ठान अध्वर्यु और उसके सहयोगी ऋत्विक् करें ? अथवा किसी भी वेद में कथित कर्म का अनुष्ठान सभी ऋत्विक् मिलकर करें ? क्या प्राप्त होता है ? जिस ऋत्विक्-सम्बन्धी वेद में जो कर्म विहित हैं, उनका अनुष्ठान उन्हीं सम्बद्ध ऋत्विजों द्वारा किया जाना चाहिए। इसी अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत किया—

वेदोपदेशात् पूर्ववद्वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः ॥५०॥

[वेदोपदेशात्] वेद में उपदेश = विधान का कथन होने से [पूर्ववत्] पहले के समान, परम्परा-प्राप्त जैसे प्रथम चलन है—आध्वर्यव संज्ञा के अनुसार यजुर्वेद-विहित कर्मों का अनुष्ठान अध्वर्यु और उसके सहयोगी ऋत्विक् करें; हौत्र संज्ञा के अनुसार ऋग्वेद-विहित कर्मों का अनुष्ठान होता एवं उसके सहयोगी ऋत्विक् करें। इसी प्रकार औद्गात्र = सामवेदीय कर्म उद्गाता व उसके सहयोगी करें। इसी रीति पर [वेदान्यत्वे] वेद का भेद होने पर [यथोपदेशम्] उपदेश के अनुसार जिसके वेद में जो कर्म उपदिष्ट हैं, वे उस कर्म का अनुष्ठान करनेवाले [स्युः] होने चाहिएँ।

जिस ऋत्विक् के नाम पर जो वेद परम्परा से प्रचलित है, उस वेद में कहे कर्मों को वे ही ऋत्विक् करेंगे। ऋग्वेद होता नाम से सम्बद्ध है। उसमें विहित कर्म 'हौत्र' कहे जाते हैं। होतृगण ऋत्विक् उनका अनुष्ठान करते हैं। इसी कारण वे हौत्र कर्म हैं। आध्वर्यव = यजुर्वेद-विहित कर्म अध्वर्युगण द्वारा किये जाने चाहिएँ, और औद्गात्र = सामवेद-विहित कर्म उद्गातृगण द्वारा अनुष्ठेय होने चाहिएँ। 'हौत्र' आदि इन संज्ञाओं के आधार पर ऐसा ज्ञात होता है कि प्रत्येक वेद के अपने विहित कर्मों का अनुष्ठान उस वेद से सम्बद्ध ऋत्विजों द्वारा ही किया जाना चाहिए ॥५०॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

तद्ग्रहणाद्वा स्वधर्मः स्यादधिकारसामर्थ्यात्
सहाङ्गैरव्यक्तः शेषे ॥५१॥

[वा] 'वा' पद पूर्वसूत्र में कथित 'जिसके वेद में जो कर्म पढ़ा है, वह उसी ऋत्विक् के द्वारा किया जाना चाहिए' पक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है। [तद्ग्रहणात्] प्रकृतियाग एवं उसके धर्मों = अङ्गों के ग्रहण से [स्वधर्मः] वह कर्म अपना ही धर्म [स्यात्] होता है, [अङ्गैः] अङ्गों के [सह] साथ [अधिकारसामर्थ्यात्] एक अधिकृत प्रसंग में पठित होनेरूप सामर्थ्य से; [शेषे] शेष = उक्त से अतिरिक्त कर्म के विषय में [अव्यक्तः] व्यक्त = स्पष्ट अथवा विशेषित करनेवाला नहीं है, यह निश्चय है।

यजमान द्वारा ऋत्विजों का परिक्रय एवं वरण सभी अभीष्ट कर्मों के अनुष्ठान के लिए किया जाता है। किसी भी वेद में वर्णित सभी कर्मों का अनुष्ठान अवस्थानुसार सब ऋत्विक् मिलकर करते हैं। सभी याग दो प्रकारों में व्यवस्थित हैं—प्रकृति और विकृति। प्रकृतियाग मुख्य हैं, विकृतियाग उनके अङ्गभूत हैं, उसी के धर्म हैं। अङ्गों के अनुष्ठान से अङ्गी = प्रकृतियाग की सम्पूर्णता सम्पन्न

होती है। उन सभी का अनुष्ठान परिक्रीत ऋत्विजों द्वारा किया जाता है। किसी भी अङ्गभूत कर्म में अपेक्षित क्रिया-कलाप अतिदेश-वाक्य 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' के अनुसार प्रकृतियाग की अनुकूलता लक्ष्य कर अथवा उसका ध्यान रखते हुए किया जाता है। ऐसी स्थिति में कोई ऐसा प्रश्न नहीं रह जाता, जिसके लिए यह मानना आवश्यक हो कि जो कर्म जिस वेद में पढ़ा है, वह कर्म उसी वेद से सम्बद्ध ऋत्विक् को करना चाहिए। वस्तुस्थिति यह है कि किसी विशेष वेद के साथ विशेष ऋत्विक् का सम्बन्ध पूर्णरूप से लौकिक है। लोक-व्यवहार के लिए ऐसी कल्पना कर ली गई है। इसके लिए कोई प्रामाणिक शास्त्रीय वचन उपलब्ध नहीं है।

प्रकृति-विकृतिरूप सभी श्रौत कर्म 'अध्वर' कहे गये हैं। 'ध्वरतिर्हिंसाकर्मा'—वे सब 'अध्वर' हिंसारहित कर्म हैं। श्येन-वाजपेय आदि ऐसे कर्म नहीं हैं। इनमें हिंसा की भावना रहती है। किन्हीं टोटकेबाज व्यक्तियों ने स्वार्थपरायणता से अभिभूत होकर इनका इस रूप में चलन किया, जो आज उपलब्ध है। सम्भव है, प्रारम्भ में इसका कुछ विशुद्ध रूप रहा हो।

श्येन-वाजपेय आदि के अनुष्ठाता यजमान का जैसा वर्णन विभिन्न श्रौत सूत्रों में उपलब्ध है, वह उनकी दुर्दशा व लानत-मलामत का ही प्रतीक है। वाज-पेयकर्त्ता यजमान यज्ञयूप पर चढ़ता है। वहाँ पर लकड़ी में फँसी फिरकनी (चषाल) का स्पर्श करता है। चारों ओर शून्य में दृष्टि दौड़ाता है। ऋत्विक्[1] व प्रजाजन बड़ के पत्तों के दोनों में उसके फल अथवा ऊषर-मिट्टी भरकर उसपर फेंकते हैं। झख मारकर निस्सहाय वह यूप से नीचे उतर आता है, यह वाजपेय-कर्त्ता के स्वर्ग का नजारा है। सूत्रकार कहता है—ऐसे कर्म किसी प्रकृतियाग के अङ्ग नहीं हैं। ऐसे ही कर्मों को शेष श्रेणी में डालकर अव्यक्त कहा है।

इसी प्रकार श्येनयागकर्त्ता के विषय में कहा गया है—श्येनयाग की दक्षिणा में—काणी-कोतरी, लूली-लँगड़ी, बण्डा-फण्डर जैसी बेकार—गायों को देना लिखा है। जैसा याग वैसी दक्षिणा। कहावत है—'यादृशी शीतला देवी तादृशो वाहनः खरः', जैसी शीतला देवी, वैसी उसकी सवारी 'गदहा'। इसपर तुर्रा यह है, उन बेकार, अधमरी गायों[2] को तीक्ष्ण काँटों से कुरेदकर उनका रक्त निकालना

---

१. इसके लिए कात्यायन श्रौतसूत्र [१४।५।६–१२] द्रष्टव्य है। वहाँ अन्तिम वाक्य है—'तदनन्तरं सप्तदशाश्वत्थपत्रोपनद्धान् ऊषपुटान् उदस्यन्त्यस्मै-विशः'।

२. 'तासामपि दक्षिणावेलायां लोहितं जनयेयुः' [लाट्या० श्रौ० ८।५।१७] वा 'दक्षिणाकाले कण्टकैर्वितुदेयुः' [कात्या० श्रौ० २२।३।२२] आप० श्रौ० २२।४।२५।

लिखा है। तनिक सोचिए, ऐसी गायों में रक्त होगा कहाँ ? इन कुकर्मों से कौन-सा स्वर्ग प्राप्त होने की आशा की जा सकती है ? दक्षिणाकाल में काँटों से गायों को व्यथित करने का क्या अभिप्राय रहा होगा ? विचारणीय है। सम्भव है, ऐसी गायें सुविधा से अन्यत्र जाने में अनिच्छा प्रकट करती हैं, तब उन्हें काँटे की तरह तीखी, पैनी आर आदि चुभोकर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करना हो। यह कितना क्रूर कर्म है ! इसको धर्म का रूप कौन दे सकता है ?

ऐसा प्रतीत होता है, अभिचार-कृत्यों के ये विवरण उन्हें हेयपक्ष में डालने के लिए अधिक प्रेरित करते हैं। यूप पर चढ़े इन कृत्यों के यजमान को ऊषर की मिट्टी से भरे दोनों से मारना, उसकी हेयता को प्रकट करने के सुपुष्ट प्रमाण हैं। जहाँ तक हो सके इन कुकृत्यों से साधारणजन दूर रहें, यही भावना प्रथम लिखनेवालों की रही होगी। इन आभिचारिक कृत्यों में उपादेयता का अंशमात्र भी कोई सुबुद्ध व्यक्ति नहीं सोच सकता। जैसे ऊषर की मिट्टी किसी प्रकार के अंकुरजनन आदि में अणुमात्र भी उपयोगी नहीं होती, और जैसे बरगद के डोडे क्षुधा आदि की निवृत्ति में सर्वथा अनुपयोगी हैं, चारों ओर से आभिचारिक यजमान को घेरकर इन वस्तुओं को उसके ऊपर फेंक मारने का क्या यही अभिप्राय न होगा कि जैसे ये वस्तुएँ सर्वथा निस्सार-निष्प्रयोजन हैं ऐसा ही तुम्हारा यह कर्म है ? इसमें कर्म के हेय होने की भावना स्पष्ट झलक रही है। सूत्रकार ने इनको श्रौत शुभ कर्मों की परिधि से बाहर निकाल दिया है ॥५१॥ (इति श्येन-वाजपेययोरनेककर्तृकताधिकरणम्—२३)।

इति जैमिनीयमीमांसादर्शनस्योदयवीरशास्त्रिविरचिते
विद्योदयभाष्ये तृतीयाध्यायस्य सप्तमः पादः।

तृतीयाध्याये अष्टमः पादः

(क्रयस्य स्वामिकर्मताधिकरणम्—१)

वैदिक वाक्य है—'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' सुखविशेष की कामना-वाला व्यक्ति ज्योतिष्टोम नामक याग से यजन करे। यजन करनेवाला व्यक्ति यजमान कहाता है। ज्योतिष्टोम आदि याग क्रियाबहुल तथा बहुदिन-साध्य होते हैं। उन्हें सम्पन्न करना अकेले व्यक्ति के लिए शक्य नहीं होता। इसलिए यागकर्त्ता यजमान नियत पारिश्रमिक देकर उपयुक्त व्यक्तियों को यागानुष्ठान की सुविधा के लिए अपने अनुकूल बनाता है। ये व्यक्ति ऋत्विक् कहाते हैं। भृति अथवा पारिश्रमिक रूप में जो नियत द्रव्य इन व्यक्तियों को दिया जाता है, उनका नाम 'परिक्रया' है। इसका निश्चय यज्ञानुष्ठान के प्रारम्भ में हो जाता है; यज्ञ सम्पन्न हो जाने पर दक्षिणा-रूप में वह दिया जाता है, ऐसी प्रथा है। यह द्रव्य गाय आदि पशु, सोना आदि धातु, वस्त्र एवं सिक्का आदि के रूप में होता है। किस याग में कितना परिक्रय होना चाहिए? इसका उल्लेख यद्यपि आचार्यों ने किया है, पर इसमें यजमान और ऋत्विजों के आपसी समझौते के अनुसार न्यूना-धिकता होती रहती है।

ज्योतिष्टोम प्रसंग में वाक्य हैं—'ऋत्विजो वृणीते' अथवा 'ऋत्विजः परि-क्रीणाति' ऋत्विजों का वरण करता है, अथवा ऋत्विजों का परिक्रय करता है। इसमें सन्देह है—क्या यजमान ऋत्विजों का वरण एवं परिक्रय करता है? अथवा ऋत्विक् स्वयं अपना वरण करते हैं? यह स्थिति दोनों प्रकार की है। ऋत्विजों की संख्या १६ होती है। यागानुसार इनमें न्यूनता होती रहती है। ज्योतिष्टोम में पूरे सोलह, पर दर्श-पूर्णमास में चार ही ऋत्विक् रहते हैं। वरण की व्यवस्था इस प्रकार है कि प्रथम यजमान मुख्य चार ऋत्विजों का वरण करता है—अध्वर्यु, होता, उद्गाता, ब्रह्मा। यजमान परिक्रयरूप नियत द्रव्य देने का निर्णय कर इन्हें नियुक्त करता है। इनके लिए द्रव्य का व्यय यजमान करता है। ये चारों ऋत्विक् अपने तीन-तीन सहयोगी ऋत्विजों का स्वयं वरण व परिक्रय करते हैं। ये अपने

सहयोगियों को अपने पारिश्रमिक में से निर्णीत अंश देकर सहयोग के लिए नियुक्त करते हैं।

आचार्य सूत्रकार ने पहली नियुक्ति के विषय में प्रथम सूत्र द्वारा बताया—

स्वामिकार्यं परिक्रयः कर्मणस्तदर्थत्वात् ॥१॥

[परिक्रयः] परिक्रय=ऋत्विजों का वरण करना [स्वामिकार्यम्] स्वामी=यजमान का कार्य है, [कर्मणः] यागानुष्ठानरूप कर्म के [तदर्थत्वात्] उस स्वामी=यजमान के लिए होने के कारण।

यजमान अपने लिए याग करता है; उसके फल का भोक्ता वही होता है। वह सुविधापूर्वक निर्विघ्न सम्पन्न हो, इसके लिए धन व्यय करता है। इस कारण उसका अधिकार है कि याग की सम्पन्नता के लिए उपयुक्त ऋत्विजों का परिक्रय करे। ऋत्विजों के लिए सन्तोषप्रद देयधन का निर्णय कर उनकी नियुक्ति कर लेता है। परिक्रय का परिमाण क्योंकि यागानुसार होता है, इसलिए दर्श-पूर्णमास में नियुक्त चार ऋत्विजों की दक्षिणा केवल उनको भरपेट ओदन खिला देना मानी गई थी। अपने रूप में आज भी ऐसा होता है। इस दक्षिणा का नाम 'अन्वाहार्य' है। अनु=यज्ञानुष्ठान के अनन्तर भरपेट आहार जिमा देने के कारण इसका उक्त नाम है। इससे ज्ञात होता है, विभिन्न यागों में उनके क्रियाकलाप के अनुसार यागारम्भ से पूर्व दक्षिणारूप में देय द्रव्यराशि का परिमाण नियत कर लिया जाता था। इस प्रकार मुख्य चार ऋत्विजों का वरण यजमान करता है ॥१॥

मुख्य चार ऋत्विज् अपने-अपने तीन सहयोगियों का वरण स्वयं करते हैं। इस अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने बताया—

वचनादितरेषां स्यात् ॥२॥

[इतरेषाम्] इतर=अन्य सहयोगी ऋत्विजों का वरण [वचनात्] मुख्य ऋत्विजों के कथनानुसार [स्यात्] होता है।

मुख्य ऋत्विक् अपने सहयोगी ऋत्विजों का वरण स्वयं करते हैं, तथा दक्षिणारूप में प्राप्य अपने धन का निर्धारित अंश उन्हें देते हैं। इन सभी ऋत्विजों द्वारा यागानुष्ठान में किया जानेवाला कार्यकलाप यजमान का किया ही समझा जाता है। क्योंकि परिक्रयरूप में दिया गया समस्त धन मूलरूप में यजमान द्वारा ही व्यय किया गया है, तथा वही उस कर्म के फल का भोक्ता होता है, इसलिए सभी परिक्रय स्वामी का माना गया है।

व्यवस्था की दृष्टि से यह सर्वथा उपयुक्त है कि चार मुख्य ऋत्विज् अपने सहयोगियों का परिक्रय अपनी इच्छा के अनुसार स्वयं करें। यागानुष्ठान के अवसर पर यागसम्बन्धी निर्धारित कार्य को सम्पन्न करने के लिए कौन व्यक्ति

योग्य है ? इसका निर्णय मुख्य ऋत्विज् ही अपने-अपने कार्य के अनुसार कर सकते हैं। यदि सहयोगियों का परिक्रय भी स्वयं यजमान करता है, तो अनुष्ठान के अवसर मुख्य ऋत्विज् द्वारा सहयोगी की अज्ञता का प्रश्न उठ सकता है। इससे यज्ञानुष्ठान में बाधा की सम्भावना बनी रहती है। मुख्य ऋत्विजों द्वारा अपने-अपने सहयोगी के परिक्रय में ऐसे बाधक अवसर उभरने की कोई आशंका नहीं रहती ॥२॥ (इति क्रयस्य स्वामिकर्मताऽधिकरणम्—१)।

(वपनादिसंस्काराणां याजमानताऽधिकरणम्—२)

ज्योतिष्टोम प्रसंग में कतिपय वाक्य पठित हैं—'केशश्मश्रु वपते, दतो धावते, नखानि निकृन्तते, स्नाति' आदि–'सिर के बाल दाढ़ी-मूँछ मुँडवाता है, दाँतों को धोता है, नखों को काटता है, स्नान करता है।' इनके विषय में सन्देह होता है—क्या ये कार्य अध्वर्यु आदि को करने चाहिएँ ? अथवा यजमान को ? प्रतीत होता है, ये कार्य पुरुष द्वारा किये जाते हैं। जिस वेद में इनका निर्देश है, और उस वेद से जिस पुरुष का सम्बन्ध है, उसी को ये कार्य करने चाहिएँ।

इस अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत किया—

संस्कारास्तु पुरुषसामर्थ्ये यथावेदं कर्मवद् व्यवतिष्ठेरन् ॥३॥

[संस्काराः] केशश्मश्रु के वपन आदि संस्कार [तु] तो [पुरुषसामर्थ्ये] कर्म करनेवाले पुरुष के सामर्थ्य में सम्बद्ध होते हैं। तात्पर्य है–कर्म करने के लिए पुरुष को समर्थ बनाने में ये संस्कार प्रेरक व निमित्त होते हैं। इस प्रकार [यथा-वेदम्] जो संस्कार जिस वेद में पठित हैं, उस वेद से कार्य करनेवाले अथवा उससे सम्बद्ध ऋत्विक् में [कर्मवत्] अपने वेद से सम्बद्ध कर्मों के समान [व्यवतिष्ठे-रन्] व्यवस्थित होने चाहिएँ।

स्तोत्र-शस्त्र आदि कर्म सामवेद में पठित हैं, उससे सम्बद्ध ऋत्विक् उद्‌गाता है। इसलिए उद्‌गाता द्वारा स्तोत्र-शस्त्र आदि कर्म किये जाने की व्यवस्था है। इसी प्रकार केशश्मश्रु-वपन आदि संस्कार आध्वर्यव वेद में पठित हैं, इसलिए उस वेद से सम्बद्ध अध्वर्यु ऋत्विक् उक्त कर्मों को करे, यह व्यवस्थित होता है। समाख्या=नाम के आधार पर यह व्यवस्था की जाती है। ये आध्वर्यव कर्म हैं; अध्वर्यु द्वारा किये जाने चाहिएँ ॥३॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

१. इन वाक्यों के लिए द्रष्टव्य—तै० सं० ६।१।१।२॥ आपस्तम्ब श्रौ० १०।५।१४॥

याजमानास्तु तत्प्रधानत्वात् कर्मवत् ॥४॥

[तु] 'तु' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—समाख्या के आधार पर केश-वपन आदि संस्कार अध्वर्यु को करने चाहिएँ,–ये यह कथन युक्त नहीं। [याजमानाः] उक्त संस्कार यजमान-सम्बन्धी हैं, [तत्प्रधानत्वात्] यजमान के प्रधान होने से, [कर्मवत्] याग आदि कर्मों के समान।

याग अग्निहोत्र आदि कर्मों के अनुष्ठान में जैसे यजमान की प्रधानता रहती है, वे यजमान से सम्बद्ध जाने जाते हैं, ऐसे ही केशश्मश्रु-वपन आदि संस्कार भी यजमान से सम्बद्ध हैं। यजमान पुरुष का प्राधान्य कैसे है? यह तथ्य 'वपते, धावते, निकृन्तते' आदि क्रियापदों में आत्मनेपद के प्रयोग से जाना जाता है। जब क्रियाफल कर्तृगामी होता है, उसी दशा में आत्मनेपद का प्रयोग किया जाता है। केश-वपन आदि याग के अङ्ग हैं। याग का कर्त्ता यजमान है। उनके फल से यजमान प्रभावित होता है। वपन आदि संस्कारों से वह यागानुष्ठान के लिए योग्य बनता है। अध्यर्यु आदि ऋत्विजों का परिक्रय यजमान इस भावना से नहीं करता कि यागानुष्ठान का फल उन ऋत्विजों को मिले। इसलिए जिस कर्म से जिसकी समर्थता व योग्यता उत्पन्न होती है, उसी को वह कर्म करना चाहिए। जैसे प्रधान कर्म यजमान पुरुष के लिए होते हैं, वैसे ही केश-वपन आदि अङ्ग-कर्म भी यजमान पुरुष के होने चाहिएँ।

इस विषय में विचारणीय है कि आत्मनेपद के रूप में केवल व्याकरण पर आश्रित हेतु कोई अटूट हेतु नहीं है। पूर्वोक्त वाक्यों में ही अन्तिम 'स्नाति' क्रिया परस्मैपदी है। इसमें क्रिया–स्नान का फल शान्ति-शीतलता-देहशुद्धि आदि स्पष्ट कर्तृगामी है, पर क्रियापद आत्मनेपदी नहीं है। अनेक धातु उभयपदी हैं। इसलिए आत्मनेपदी क्रिया का फल ही कर्तृगामी होता है, ऐसी नियत व्यवस्था वर्तमान संस्कृत वाङ्मय में दृष्टिगोचर नहीं है। फलतः सूत्र का आशय इतना ही समझना अभीष्ट है कि वपन, धावन, निकृन्तन, स्नान आदि क्रियाओं के फल से केवल यजमान प्रभावित होता है। प्रधान याग के अनुष्ठान के लिए ये संस्कार उसे कर्त्ता के रूप में योग्य बनाते हैं। अतः उसी के ये संस्कार हैं; अन्य अध्वर्यु आदि किसी के नहीं ॥४॥

इसी अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

व्यपदेशाच्च ॥५॥

[व्यपदेशात्] व्यपदेश = अन्य स्पष्ट कथन से [च] भी जाना जाता है कि केश-वपन, नख-निकृन्तन आदि संस्कार यजमान के किये जाते हैं।

इस प्रसंग के शतपथ ब्राह्मण [३।१।३।६] में पाठ है–'तमभ्यनक्ति'–तम् =

उस यजमान को अध्वर्यु नवनीत से अभ्यञ्जन (=उबटन) करता है। इसके आगे [३।१।३।११ में] कहा—'अथाक्ष्यावानक्ति'—उसके अनन्तर आँखों को सुरमा से आँजता है। इस सुरमा या अञ्जन को वहाँ 'त्रैककुद' कहा है–'त्रिककुद्' नामक पर्वत के पत्थर से बना हुआ सुरमा। सुरमा या अञ्जन पत्थर से बनाया जाता है। यहाँ 'तम्' इस कर्मवाचक 'तत्' सर्वनाम से 'यजमान' कहा गया है। अध्वर्यु ऋत्विक् यजमान की देह को नवनीत से मर्दन करता है, तथा उसकी आँखों में अञ्जन लगाता है। यहाँ स्पष्ट ही अभ्यञ्जन (=उबटन) और अञ्जन यजमान का संस्कार कहा गया है। इसी के समान साथी पूर्वोक्त केशवपन, नख-निकृन्तन आदि संस्कार हैं। वे भी यजमान के हो सकते हैं; अन्य किसी के नहीं ॥५॥

आध्वर्यव नाम-निर्देश के विषय में सूत्रकार ने बताया—

गुणत्वे तस्य निर्देशः ॥६॥

[तस्य] उस 'आध्वर्यव' समाख्यान=नाम का [निर्देशः] निर्देश=कथन [गुणत्वे] क्रिया के गुण होने में अर्थात् अङ्गभूत कर्मों में समञ्जस जानना चाहिए।

प्रथम जो यह कहा है कि 'आध्वर्यव' आदि नाम-कथन से यथावेद कर्तृत्व होगा, ऐसा कथन युक्त नहीं है, क्योंकि अध्वर्यु आदि के कर्तृत्व का सामञ्जस्य गुणभूत कर्मों में है। प्रधान कर्म में कर्तृत्व केवल यजमान का रहता है। अध्वर्यु यजमान-देह का उबटन करता है, या आँखों को आँजता है, ये सब संस्कार प्रधान कर्म के अङ्गभूत हैं। आँजना या उबटना क्रिया को करनेवाला अध्वर्यु है। केश-वपन आदि क्रियाओं को करनेवाला अन्य व्यक्ति ही होता है। क्रियाओं का विषय यजमान है। वे क्रियाएँ उसपर आयोजित हो रही हैं–केश उसके कट रहे हैं, स्नान वह कर रहा है, आँखें उसकी आँजी जा रही हैं। इनके करनेवाले अन्य हैं। ये सब क्रियाएँ प्रधान कर्म के अङ्गभूत हैं। संस्काररूप ये सब क्रियाएँ यजमान में होती हैं। उनका आधार यजमान है। इसी रूप में—अन्य द्वारा की जानेवाली क्रियाओं में भी वह मुख्यकर्त्ता रहता है। अध्वर्यु आदि अन्य व्यक्तियों का कर्तृत्व प्रधान कर्म का अङ्गभूत है। उसका कथन इसी रूप में समञ्जस है। फलतः केश-वपन आदि संस्कार यजमान के हैं, यह निश्चित होता है ॥६॥

इसी अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

चोदनां प्रति भावाच्च ॥७॥

केश-वपन आदि संस्कारों के [चोदनाम्] चोदना=अपूर्वोत्पत्ति के [प्रति] लिए [भावात्] होने से [च] भी जाना जाता है कि केश-वपन आदि संस्कार

यजमान-सम्बन्धी हैं।

यजमान अपने लिए अपूर्व = धर्मविशेष की उत्पत्ति की भावना से ज्योतिष्टोम आदि याग का अनुष्ठान करता है। केश-वपन आदि संस्कार उस प्रधान कर्म के अङ्गभूत कर्म हैं। अपूर्वोत्पत्ति में वे प्रयोजक होते हैं। वह अपूर्व क्योंकि यजमान के लिए है, इसलिए वे संस्कार यजमान के ही सम्भव हैं। अध्वर्यु आदि ऋत्विक् यजमान के लिए यज्ञसम्पादन में साधनमात्र हैं। यागसम्पादनार्थ उनका संस्कार अनपेक्षित है। यदि वे स्वयं वपन आदि संस्कार करें, तो उससे याग का न कुछ बनता है, न बिगड़ता है। यदि याग का अनुष्ठाता यजमान वपन आदि संस्कार न करे, तो याग विकृत हो जायगा, अपूर्वोत्पादन में असमर्थ होगा। इसलिए केश-वपन आदि संस्कार यजमान से सम्बद्ध हैं, यह निश्चित है ॥७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—यजमान और ऋत्विक् सब मिलकर समान रूप से यागानुष्ठान करते हैं। दोनों की समानता में यजमान के वपन आदि संस्कार हों, ऋत्विजों के न हों ऐसा क्यों ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अतुल्यत्वादसमानविधानाः स्युः ॥८॥

[अतुल्यत्वात्] यजमान और ऋत्विजों के परस्पर तुल्य = समान न होने से वपन आदि संस्कार [असमानविधानाः] यजमान और ऋत्विक् दोनों के लिए समान रूप से विहित नहीं [स्युः] हैं।

यजमान याग का अनुष्ठाता होने से स्वामी है। वह धन व्यय करके ऋत्विजों का परिक्रय करता है, अपने यागानुष्ठान-रूप कर्म को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए। इस प्रकार यागानुष्ठान-रूप कार्य में यजमान और ऋत्विक् दोनों की उपस्थिति समान नहीं है। यजमान याग का कर्त्ता है, ऋत्विक् साधनमात्र हैं। याग का फल कर्त्ता को मिलता है; याग की परिनिष्ठा के लिए विहित वपन आदि संस्कार कर्त्ता के सम्भव हैं; तभी वह याग के फल का अधिकारी हो सकता है। ऋत्विजों को उस फल से कोई सरोकार नहीं। वे तो केवल अपने नियत पारिश्रमिक द्रव्य के अधिकारी हैं। उनके लिए वपन आदि संस्कारों का विधान नहीं है। फलतः यागानुष्ठान में यजमान और ऋत्विजों की उपस्थिति समान नहीं है ॥८॥ (इति वपनादिसंस्काराणां याजमानताधिकरणम्—२)।

(तपसो याजमानताधिकरणम्—३)

ज्योतिष्टोम में तप सुना जाता है—'द्व्यहं नाश्नाति, त्र्यहं नाश्नाति'—दो दिन नहीं खाता, तीन दिन नहीं खाता। यहाँ सन्देह है—क्या यह अनशन व्रतरूप तप यजमानसम्बन्धी है ? अथवा ऋत्विजों से सम्बद्ध है ? प्रतीत होता है, तप ऋत्विजों का होना चाहिए, क्योंकि तप का विधान यजुर्वेद में है और उसका

अध्वर्यु से सम्बन्ध है।

ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार ने बताया—

तपश्च फलसिद्धित्वाल्लोकवत् ॥९॥

[तपः] देह का शोषण करनेवाला अनशनरूप तप [च] भी यजमान-सम्बन्धी है, [फलसिद्धित्वात्] फल की सिद्धि करनेवाला होने के कारण, [लोकवत्] लोकव्यवहार के समान।

लोकव्यवहार में देखते हैं, मलिन दर्पण आदि को उपयुक्त द्रव्य से रगड़-घिसकर—मुखादि अङ्गों को देखने के लिए—शुद्ध-स्वच्छ कार्यक्षम बनाया जाता है। आलस्य पुरुष की मलिनता है, जो अन्न आदि के अधिक व निरन्तर प्रयोग से उत्पन्न होती है। ऐसी दशा में प्रत्येक पुरुष अपने निर्धारित कार्य को सम्पन्न करने में सतर्क नहीं रह पाता। ज्योतिष्टोम जैसे पवित्र एवं महान् कर्म को निर्विघ्न सम्पन्न करने के लिए यज्ञकर्त्ता को आलस्यहीन व सक्रिय रहना आवश्यक है। इसलिए यथापेक्षित दो या तीन दिन अन्न का उपयोग न कर दुग्ध आदि हल्के सुपाच्य आहार को लेकर यजमान का सक्रिय-सक्षम बना रहना उपयुक्त है। उसके उजागर रहने पर ऋत्विक् स्वतः कार्यसंलग्न बने रहते हैं। इसलिए अनशन-व्रतरूप तप यजमान-सम्बन्धी जानना चाहिए। याग की निर्विघ्न सम्पन्नता, यागजन्य फल की सिद्धि यजमान के लिए ही करती है। अतः तप उसी के लिए है ॥९॥

इसी अर्थ को सूत्रकार ने प्रकारान्तर से पुष्ट किया—

वाक्यशेषश्च तद्वत् ॥१०॥

[वाक्यशेषः] अनशनविधि का वाक्यशेष [च] भी [तद्वत्] जैसे तप यजमानसम्बन्धी हो वैसे बताता है।

तप यजमानसम्बन्धी है, यह तथ्य अनशनविधि के वाक्यशेष से भी जाना जाता है। वाक्यशेष है—'यदा वै पुरुषे न किञ्चानान्तर्भवति, यदास्य कृष्णं चक्षुषोर्नश्यति, अथ मेध्यो भवति' निश्चित ही जब पुरुष में नितान्त भी पाप की मात्रा नहीं रहती, और आँखों में पाप की कालिमा नष्ट हो जाती है, तब पुरुष मेध्य होता है। मेध का अर्थ यज्ञ-याग है, मेध का अर्थ पवित्र है। अनशन द्वारा जो कष्ट या दुःख का अनुभव होता है, वह दुःख-भोग द्वारा पाप का नष्ट होना है। उससे पवित्रात्मा होकर पुरुष यागानुष्ठान के लिए उपयुक्त एवं योग्य हो जाता है। चक्षुओं में पाप की मलिनता के नष्ट होने का तात्पर्य है, पाप-प्रवृत्ति की ओर भावना का भी कभी न उभरना। आँख ही सबसे पहले पाप की ओर

प्रवृत्ति को उभारती है। वह मलिनता आँखों में न रहे, तो आन्तरिक भावना पाप की ओर कभी पग न बढ़ायेगी। 'कृश' होना भी पाप की दुर्बलता को लक्षित करता है।

सूत्रकारों ने जो इस वाक्यशेष सन्दर्भ के अर्थ किये हैं कि आँख की कृष्ण-तारा का दिखाई न देना, अर्थात् अनशन के फलस्वरूप आँखों का अन्दर धँस जाना; तथा 'कृश' का अर्थ—शरीर का इतना दुर्बल हो जाना कि चमड़ा हड्डियों से जाकर चिपट जाय। ऐसा अर्थ युक्त प्रतीत नहीं होता। ऐसा व्यक्ति यज्ञानुष्ठान करने में समर्थ कैसे रह सकता है? अनशन का तात्पर्य इतना ही ज्ञात होता है कि पाप की ओर प्रवृत्ति से सर्वथा विरत रहा जाय।

वाक्यशेष में अनशनकर्त्ता पुरुष को मेध्य अर्थात् यज्ञ करने के योग्य बनना बताया है। यज्ञानुष्ठान की दीक्षा यजमान ने ली है। इसलिए वाक्यशेष द्वारा तप का सम्बन्ध यजमान के साथ होना द्योतित होता है ॥१०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या यह नियत व्यवस्था है कि सर्वत्र यागानुष्ठान में यजमान ही तप करे? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

वचनादितरेषां स्यात् ॥११॥

[वचनात्] वचन-सामर्थ्य से [इतरेषाम्] अन्य ऋत्विजों का भी तप [स्यात्] होता है।

जिस किसी प्रसंग में ऋत्विजों के अनशन आदि के विषय में वचन उपलब्ध होता है, वहाँ उनका भी तप जानना चाहिए। जैसे—'रात्रि सत्रे सर्वे ऋत्विज उपवसन्ति'–रात्रि सत्र में सब ऋत्विज् उपवास करते हैं। भाष्यकार शबर स्वामी ने यह वाक्य भाष्य में उद्धृत किया है, पर इसके मूलग्रन्थ और प्रसंग का कुछ पता नहीं है ॥११॥

जिस वेद में तप का निर्देश है, उसी से सम्बद्ध ऋत्विक् तप करे। तप यजुर्वेद में निर्दिष्ट है; वह आध्वर्यव = अध्वर्यु से सम्बद्ध वेद कहा जाता है, इसलिए समाख्या के अनुसार केवल अध्वर्यु ऋत्विक् को तप करना चाहिए, ऐसी व्यवस्था नहीं है। सूत्रकार ने इसी अर्थ को बताया—

गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात् ॥१२॥

[गुणत्वात्] तपादि कर्म के गुणभूत होने से [च] भी [वेदेन] वेद से = आध्वर्यव वेद में तप के पठित होने से—ऋत्विजों में केवल अध्वर्यु ऋत्विक् तप करे, ऐसी [व्यवस्था] व्यवस्था [न] नहीं [स्यात्] है।

आध्वर्यव समाख्या के आधार पर ऋत्विक्-सम्बन्धी तप कहना युक्त नहीं है। समाख्या से प्रधान का ही ग्रहण किया जाता है। तप गुणभूत कर्म है; समाख्या से

यह गृहीत नहीं होता। इसलिए जहाँ ऋत्विजों के लिए तप का निर्देश है, वह सामान्य रूप से सभी ऋत्विजों का कर्त्तव्य होगा ।।१२।। (इति तपसो याजमानताधिकरणम्—३)।

(लोहितोष्णीषतादीनां सर्वर्त्विग्धर्मताधिकरणम्—४)

बारहवें सूत्र की व्याख्या भाष्यकार शबर स्वामी ने अतिरिक्त अधिकरण मानकर भी की है, जो इस प्रकार है—

श्येनयाग के प्रसंग में पाठ है—'लोहितोष्णीषा लोहितवाससो निवीता ऋत्विजः प्रचरन्ति' [षड्विंश ब्रा० ३।८]—लाल पगड़ीवाले, लाल कपड़ेवाले ऋत्विक् कर्म कर रहे हैं। तथा वाजपेय याग में पाठ है—'हिरण्यमालिन ऋत्विजः सुत्येऽहनि प्रचरन्ति' [आप० श्रौ० १४।२।११]—सुवर्ण की मालावाले ऋत्विक् सोमयाग के दिन कर्म करते हैं।

इनमें सन्देह है—क्या श्येनयाग में उद्गाताओं को लाल पगड़ी व वस्त्र धारण करने चाहिएँ? तथा वाजपेय में अध्वर्यु और उसके सहयोगियों को सुवर्ण माला धारण करनी चाहिए? अथवा दोनों धर्म सब ऋत्विजों के माने जाने चाहिएँ? प्रतीत होता है, लाल पगड़ी व वस्त्र-धारण केवल उद्गाताओं का धर्म हो; क्योंकि श्येनयाग की उत्पत्ति सामवेद में है। उसकी औद्गात्र संज्ञा होने के कारण समाख्या के आधार पर उद्गाताओं को ही लाल पगड़ी व वस्त्र धारण करने चाहिएँ। इसी प्रकार वाजपेय याग की उत्पत्ति यजुर्वेद में है। उसकी आध्वर्यव संज्ञा होने के कारण अध्वर्यु ऋत्विजों को ही सुवर्ण की माला धारण करनी चाहिए।

ऐसा प्राप्त होने पर आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत किया—

गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात् ।।१२।।

लाल पगड़ी व कपड़े पहनना, सुवर्ण की माला धारण करना, इन दोनों धर्मों के [गुणत्वात्] गुणभूत होने से [च] भी [वेदेन] औद्गात्र और आध्वर्यव वेद समाख्या से [व्यवस्था] धर्मों का नियमन [न] नहीं [स्यात्] होता।

लोहितोष्णीषता (लाल पगड़ी पहने हुए होना) और हिरण्यमालिता (सुवर्ण माला धारण किये हुए होना) दोनों गुणभूत धर्म हैं। ये धारण करनेवाले पुरुष के विशेषणरूप में कहे गये हैं; कर्त्तव्यता के रूप में नहीं कहे गये। इससे पुरुष का प्राधान्य स्पष्ट है। समाख्या इसमें संकोच=नियमन नहीं कर सकती। इससे यही परिणाम सामने आता है कि ऋत्विक् पुरुषों को इन धर्मोंवाला होना चाहिए। फलतः इन धर्मों का सम्बन्ध सभी ऋत्विजों के साथ है। श्येनयाग में सब लाल पगड़ी व लाल वस्त्र धारण करें। वाजपेय में सब ऋत्विजों को सुवर्ण की माला

धारण करनी चाहिए ॥१२॥ (इति लोहितोष्णीषतादीनां सर्वर्त्विग्धर्मताधिकरणम्—४)।

(वृष्टिकामनाया याजमानताधिकरणम्—५)

ज्योतिष्टोम प्रसंग में पाठ है—'यदि कामयेत वर्षेत् पर्जन्य इति नीचैः सदो मिनुयात्' [मैत्रा० सं० ३।८।९]—यदि कामना करे कि पर्जन्य बरसे, तो सदःमण्डप का नीचे मान करे। न बरसने की कामना में मान ऊँचा करे। बरसने के अवसर पर पर्जन्य नीचा रहता है; न बरसने पर ऊँचा रहता है। गूलर की लकड़ी का थूण गाड़कर उसपर सदोमण्डप की छान टिकाई जाती है। छान का ऊँचा-नीचा होना पर्जन्य की स्थिति को अभिव्यक्त करता है। छान की ऊँचाई-नीचाई रखने में यह भावना भी प्रतीत होती है कि पर्जन्य बरसने की स्थिति में छान कुछ नीची रहे, तो इधर-उधर से बाछड़ आने की सम्भावना नहीं रहती। पर्जन्य न बरसने पर बाछड़ का भय नहीं; छान का मान ऊँचा रक्खा जा सकता है।

इसमें सन्देह है—यह पर्जन्य बरसने या न बरसने की कामना क्या ऋत्विक्-सम्बन्धी है? अथवा यजमान-सम्बन्धी है? तात्पर्य है, यह कामना कौन करे? यजमान अथवा ऋत्विक्? आध्वर्यव वेद में पठित होने से यह कामना ऋत्विक् अध्वर्यु की सम्भव है। 'मिनुयात्'—'मान करे' का सीधा सम्बन्ध अध्वर्यु के साथ है।

ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार ने सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

तथा कामोऽर्थसंयोगात् ॥१३॥

[तथा कामः] 'कामः'=कामना तथा=वैसे ही है जैसे तप। तात्पर्य है—तप के समान कामना भी यजमान से सम्बद्ध है, [अर्थसंयोगात्] अङ्गसहित याग के अर्थ=फल का यजमान से सम्बन्ध होने के कारण।

'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—स्वर्ग-सुख की कामनावाला ज्योतिष्टोम याग से यजन करे' वाक्य के अनुसार कामना का सीधा सम्बन्ध यजमान से है। ज्योतिष्टोम में जितने अङ्ग-कर्म हैं, स्वभावतः उनका सम्बन्ध भी यजमान से होगा। सदोमण्डप की छान का मान समाख्या के आधार पर अध्वर्यु करता है। 'मिनुयात्' क्रियापद की एकवाक्यता अध्वर्यु के साथ है। क्रियापद में परस्मैपद का प्रयोग यह प्रकट करता है कि वह मान अध्वर्यु के अपने लिए नहीं है। वह परार्थ—यजमान की कामना के अनुरूप सदोमण्डप के आवरण का मान करता है। इसलिए मूल कामना यजमान से सम्बद्ध है, क्योंकि अङ्गसहित ज्योतिष्टोम-याग के फल का भोक्ता यजमान है। परिक्रीत अध्वर्यु आदि ऋत्विक् याग-सम्बन्धी

सब कार्य यजमान की कामना के अनुसार ही करते हैं ॥१३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या यह नियत व्यवस्था है कि सर्वत्र कामना यजमान से सम्बद्ध है? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

व्यपदेशादितरेषां स्यात् ॥१४॥

[व्यपदेशात्] व्यपदेश=शास्त्रीय कथन से [इतरेषाम्] अन्यों=ऋत्विजों का भी कामना के साथ सम्बन्ध [स्यात्] होता है।

जहाँ ऐसा शास्त्रीय वचन उपलब्ध है, जिससे कामना का सम्बन्ध ऋत्विक् के साथ ज्ञात होता है, वहाँ ऋत्विक् की कामना का होना मान्य है। जैसे वाक्य है—

'एवंविद् उद्गाता आत्मने वा यजमानाय वायं कामं कामयते तमागायति'— 'ऐसा जानकार उद्गाता ऋत्विक् अपने अथवा यजमान के लिए जिस काम की कामना करता है, उसको गाता है, सामगान के रूप में उसका कथन करता है।' यहाँ 'आत्मने' अर्थात् 'अपने लिए' पद से उद्गाता की अपनी कामना का स्पष्ट निर्देश किया गया है। इसलिए जहाँ शास्त्रीय वचन यजमान से अतिरिक्त उद्गाता आदि ऋत्विक् की कामना का निर्देश करता है, वहाँ ऋत्विक् की कामना मान्य जाननी चाहिए।

यदि 'आत्मने' का अर्थ—इस भावना से कि कामना सर्वत्र यजमान की होनी चाहिए—'यजमान के लिए' कल्पना किया जाता है, तो वाक्य में 'यजमानाय' पद और 'वा' पद निष्प्रयोजन हो जाते हैं। यह भी ध्यान देने योग्य है कि 'आत्मने' का अर्थ 'यजमान के लिए' क्यों कल्पना किया जाय जबकि 'यजमानाय' पद स्वयं उक्त वाक्य में पठित है? 'वा' पद इनके भेद को स्पष्ट करता है। इसलिए वाक्य के अनुसार विशिष्ट स्थलों में उद्गाता की कामना[1] भी मान्य

१. 'एवंविद् उद्गाता आत्मने वा' इत्यादि वचन श० ब्रा० १४।४।१।३३, तथा माध्यन्दिनीय बृह० उप० १।१।३३ के मधुविद्या प्रकरणगत प्राणोपासना में पठित है। इसका भाव यह है कि जो प्राणविद् उद्गाता है, वह तीन पवमान (=बहिष्पवमान, माध्यन्दिन पवमान, आर्भ पवमान) स्तोत्रों में यजमान के लिए उद्गान के अनन्तर अवशिष्ट ९ स्तोत्र (=आज्य, पृष्ठ्य, अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, रात्रि, सन्धि, आप्तोर्याम, वाजपेयसंज्ञक स्तोत्र) अपने लिए अन्नाद्य का आगान करे=आगान से अन्नाद्य काम को सम्पादित करे। इस कारण, इस प्रकार प्राणविद् उद्गाता अपने लिए वा यजमान के लिए जिसकी इच्छा करता है, उसको आगान से प्राप्त करता है। उपर्युक्त ३ पवमान स्तोत्र तथा अन्य आज्य आदि ९ स्तोत्र=१२ स्तोत्र सोमयाग की संस्थाओं में प्रयुक्त होते हैं। (यु० मी०)

है ॥१४॥ (इति वृष्टिकामनाया याजमानताधिकरणम्—५) ।

(आयुर्दादिमन्त्राणां याजमानताधिकरणम्—६)

इस अधिकरण में 'आयुर्दा अग्ने आयुर्मे देहि' इत्यादि मन्त्र विचारणीय हैं। हे अग्ने ! तुम आयु के देनेवाले हो, मुझे आयु दो। 'वर्चोदा असि अग्ने वर्चो मे देहि' हे अग्ने ! तुम वर्चस् के देनेवाले हो, मुझे वर्चस् दो। इनमें सन्देह है–क्या ये मन्त्र यजमान-सम्बन्धी हैं ? अथवा ऋत्विक्-सम्बन्धी हैं ? तात्पर्य है—यह आयु और वर्चस् की कामना ऋत्विक् करता है ? अथवा यजमान करता है ? आध्वर्यव वेदपठित होने से ये मन्त्र समाख्या के आधार पर अध्वर्यु ऋत्विक्-सम्बन्धी प्रतीत होते हैं। ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार ने सन्देह का समाधान किया—

मन्त्राश्चाकर्मकरणास्तद्वत् ॥१५॥

[अकर्मकरणाः] जिनसे आहुतिप्रक्षेप आदि कोई कर्म नहीं किया जाता, वे [मन्त्राः] आयुर्दा०, वर्चोदा० तेजोऽसि आदि मन्त्र [च] भी [तद्वत्] कामना के समान यजमान-सम्बन्धी ही जानने चाहिएँ।

ये 'आयुर्दा' आदि मन्त्र आशीर्वचनरूप हैं। ये अग्निहोत्र होम आदि कर्म के सम्पन्न होने पर प्रार्थनारूप में बोले जाते हैं। इन मन्त्रों का उच्चारण यजमान अपने लिए करे, अथवा ऋत्विक् करें ? यह सन्देह प्रकट किया। सूत्रकार का समाधान है—यज्ञ-सम्पादन के लिए अग्नि का आधान यजमान करता है। उस अग्नि में—उच्चारणपूर्वक कतिपय मन्त्रों से—आज्य आदि द्रव्य की आहुति दी जाती है। इन मन्त्रों का कर्मानुष्ठान में विनियोग होने के कारण इन्हें 'विनियुक्त' मन्त्र कहा जाता है। सूत्र में इनको 'कर्मकरण' मन्त्र कहा है। कर्म सम्पन्न हो जाने पर कर्म के फलस्वरूप जो आशीर्वचनरूप में मन्त्र बोले जाते हैं, जिनसे कोई आहुति नहीं दी जाती, वे कर्म में विनियुक्त नहीं हैं; सूत्र में उनको 'अकर्मकरण' मन्त्र कहा है। इन मन्त्रों द्वारा अपने में विशेष गुणों के आधान की परमात्मा से प्रार्थना की जाती है। यज्ञ के अनन्तर यज्ञ के फलरूप में उसी व्यक्ति के द्वारा की जा सकती है, जिसने अग्नि का आधान कर कर्मानुष्ठान किया है। वह केवल यजमान है; ऋत्विक् नहीं। ऋत्विक् यजमान द्वारा परिक्रीत होते हैं। यज्ञ का फल उनको प्राप्त नहीं होता। उनका पारिश्रमिक फल दक्षिणा-मात्र है।

इन मन्त्रों का उच्चारण—यजमान की भावना से भी—ऋत्विजों द्वारा किया जाना उपयुक्त नहीं है। क्योंकि, इन मन्त्रों में 'मे' अथवा 'मयि' ऐसे पद हैं, जो यजमान के लिए अन्य के द्वारा उच्चारण नहीं किये जा सकते। फलतः ये मन्त्र पूर्णरूप से यजमान-सम्बन्धी हैं, यह निश्चित है ॥१५॥

उक्त अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार अन्य युक्ति प्रस्तुत करता है—

विप्रयोगे च दर्शनात् ।।१६।।

[विप्रयोगे] प्रवास में=यजमान के अन्य स्थान में जाने पर [दर्शनात्] देखे जाने से [च] भी अकर्मकरण मन्त्र यजमान-सम्बन्धी हैं, यह जाना जाता है।

प्रवास के अवसर पर यजमान यथासमय आशीर्वचन-मन्त्रों के प्रयोग का संकेत करनेवाले वाक्य सुने जाते हैं। जैसा कि कहा—'इह एव सन् तत्र सन्तं त्वाग्ने !'—हे अग्ने ! यहाँ प्रवास में होता हुआ भी मैं वहाँ यज्ञगृह में विद्यमान तुम्हारा उपस्थान करता हूँ; तुम्हारे समीप स्थित हूँ, ऐसा अनुभव करता हूँ। इसका कारण है—अग्निहोत्र की यथाकाल व्यवस्था करके यजमान का प्रवास में जाना। कहा है—'यजमान: संविधाय सोऽग्निहोत्राय प्रवसति' यजमान यथाकाल दैनिक अग्निहोत्र की सुचारु व्यवस्था करके प्रवास करता है। यजमान के प्रवास-काल में पत्नी अथवा शिष्य उस कार्य को सम्पन्न करते हैं। उनकी स्थिति ऋत्विक् जैसी नहीं होती; क्योंकि वे परिक्रीत नहीं हैं। प्रवास में गया ऋत्विक् ऐसा नहीं कर सकता; क्योंकि ऋत्विक् संज्ञा व्यक्ति की तभी होती है, जब वह कर्मानुष्ठान में संलग्न हो। यजमान प्रवास में भी 'इदमग्नये इदन्न मम' का यथा-काल ध्यान करता हुआ अन्त में अकर्मकरण मन्त्रों का उच्चारण करता है। यह शास्त्रीय व्यवस्था इस तथ्य को पुष्ट करती है कि अकर्मकरण-मन्त्र यजमान-सम्बन्धी हैं ।।१६।। (इति आयुर्दादिमन्त्राणां याजमानताऽधिकरणम्—६)।

(द्वयाम्नातस्योभयप्रयोज्यताधिकरणम्—७)

दर्श-पूर्णमास प्रसंग के दो काण्डों=आध्वर्यव काण्ड और याजमान काण्ड= में आज्यग्रहण और स्रुग्व्यूहन के कतिपय मन्त्र पठित हैं। आज्यग्रहण का मन्त्र है—'पञ्चानां त्वा वाताना यन्त्राय धर्त्राय गृह्णामि'; स्रुग्व्यूहन का मन्त्र है—'वाजस्य मा प्रसवेन' [यजु० १७।६३] इत्यादि। ये दोनों मन्त्र आध्वर्यव काण्ड में भी पठित हैं और याजमान काण्ड में भी। याजुष संहिताओं में पठित आध्वर्यव काण्ड का ही एक भाग याजमान काण्ड है, इसी भेद के कारण ये दो काण्ड कहे हैं। तैत्तिरीय संहिता [१।६।१] में जहाँ आज्यग्रहण-मन्त्र पढ़े हैं, वह याजमान काण्ड कहाता है। स्रुग्व्यूहन का तात्पर्य है—स्रुचों—जुहू और उपभृत्—को मन्त्रोच्चारणपूर्वक विविध दिशाओं में ले-जाना। जुहू को पूर्व में वेदि के दक्षिण-भाग तक और उपभृत् को पश्चिम में वेदि के उत्तर-मध्य भाग तक चलाना या ले-जाना=प्रेरित करना। इसकी क्रिया इस प्रकार है—अनुयाज कर्म के अनन्तर अध्वर्यु वेदि के उत्तर में आकर यथास्थान स्रुचों को रखकर यजमान के साथ जुहू को ऊपर उत्तान दक्षिण हाथ से ग्रहण करता है। इसी प्रकार नीचे बाएँ हाथ से नीचे से उपभृत् को अध्वर्यु यजमान ग्रहण करते हैं। पत्पश्चात् दोनों पूर्व की

ओर जुहू का अगला भाग करके उसे वेदि के पूर्व दिशा के दक्षिणभाग-पर्यन्त प्रेरित करते हैं। इसी प्रकार उपभृत् को पश्चिम में अग्रभाग करके पश्चिम में वेदि के उत्तर-मध्यभाग-पर्यन्त प्रेरित करते हैं। यह कर्म स्रुग्व्यूहन कहाता है।[1]

आज्यग्रहण और स्रुग्व्यून के मन्त्र समान रूप से आध्वर्यव काण्ड और याजमान-काण्ड में पठित हैं। इनमें सन्देह है—क्या ये कर्म अध्वर्यु और यजमान दोनों के द्वारा सम्मिलित रूप में किये जाने चाहिएँ ? अथवा दोनों में से किसी एक के द्वारा अलग-अलग ? प्रतीत होता है, समाख्या के अनुसार आध्वर्यव काण्ड में पठित आज्यग्रहण-कर्म को अध्वर्यु करे, तथा याजमान काण्ड में पठित स्रुग्व्यूहन को यजमान करे। ऐसा प्राप्त होने पर आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत किया—

द्व्याम्नातेषूभौ द्व्याम्नानस्यार्थवत्वात् ॥१७॥

[द्व्याम्नातेषु] दो=आध्वर्यव और याजमान काण्डों में पठित मन्त्रों के उच्चारण में [उभौ] अध्वर्यु और यजमान दोनों समान अधिकारी हैं, [द्व्याम्नानस्य] दो काण्डों में पढ़े गये अथवा दो के लिए पढ़े गये पाठ के [अर्थवत्वात्] सार्थक=सप्रयोजन होने से।

यदि आध्वर्यव काण्ड में पठित 'आज्यग्रहण' मन्त्र का पाठ केवल अध्वर्यु करता है, तो वहाँ स्रुग्व्यूहन-मन्त्र का पठित होना निरर्थक हो जाता है। इसी प्रकार याजमान काण्ड में पठित स्रुग्व्यूहन-मन्त्र का प्रयोग यदि केवल यजमान करता है, तो वहाँ आज्यग्रहण-मन्त्र का पठित होना निष्प्रयोजन रह जाता है। इसलिए दोनों काण्डों में पठित मन्त्रों का प्रयोग अध्वर्यु और यजमान दोनों को सम्मिलित रूप से करना चाहिए, यद्यपि इन दोनों का अपना-अपना प्रयोजन भिन्न होता है। अध्वर्यु मन्त्र का प्रयोग इस भावना से करता है कि 'मैं इस मन्त्र से प्रकाशित कर्म अनुष्ठान करूँगा'—यही उसका प्रयोजन है। यजमान की मन्त्र-प्रयोग में यह भावना रहती है कि मन्त्रोच्चारण करने से 'मैं अन्यमनस्कतारूप प्रमाद से बचा रहूँगा'—यही उसका प्रयोजन है। इस प्रकार दोनों काण्डों में दोनों के लिए पठित मन्त्रों की सार्थकता बनी रहती है ॥ १७॥ (इति द्व्याम्नातस्योभयप्रयोज्यताधिकरणम्—७)।

(अभिज्ञस्यैव वाचयितव्यताधिकरणम्—८)

तैत्तिरीय संहिता [१।७।६] के वाजपेय याग प्रकरण में कतिपय 'आयुर्यज्ञेन

---

१. इसका सप्रमाण विस्तृत विवरण युधिष्ठिर मीमांसककृत शाबर भाष्य के इसी प्रसंग के हिन्दी व्याख्यान में द्रष्टव्य है।

कल्पताम्' इत्यादि आशीर्वचन-मन्त्र पठित हैं। इनमें प्रतिमन्त्र 'कल्पताम्' पद का प्रयोग हुआ है। इस पद से जिस आशीः की प्रार्थना यजमान करता है, उसको ही 'क्लृप्ति' पद से आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [१८।४।१९] में 'क्लृप्तीर्यजमानं वाचयति' रूप से कहा है—क्लृप्तियाँ यजमान को बुलवाता है। तात्पर्य है—उन मन्त्रों का उच्चारण यजमान से करवाता है। इसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता के अगले ११वें अनुवाक में 'अग्निरेकाक्षरेण वाचमुदजयत्' इत्यादि रूप से १७ संख्या तक प्रति-मन्त्र उत्-उपसर्गपूर्वक जयार्थक 'जि' धातु के 'उदजयत्' क्रियापद का प्रयोग हुआ है। उसी को लक्ष्य कर आप० श्रौ० [१८।४।१९] में 'उज्जिनीर्यजमानं वाचयति' पढ़ा है, यजमान को उज्जितियाँ बुलवाता है, अर्थात् यजमान से उन मन्त्रों का उच्चारण करवाता है।

यहाँ सन्देह होता है—क्या जानकार और अजानकार (ज्ञ + अज्ञ) सबको ये मन्त्र बुलवाने चाहिएँ ? अथवा केवल जानकार यजमान को ? इस विषय में कोई विशेष कथन न होने से सभी को मन्त्र बुलवाना प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत किया—

ज्ञाते च वाचनं न ह्यविद्वान् विहितोऽस्ति ॥१८॥

[ज्ञाते] जानकार = विद्वान् यजमान के विषय में [च] ही [वाचनम्] मन्त्र बुलवाना कहा है, [हि] क्योंकि [अविद्वान्] अज्ञानी मूर्ख व्यक्ति [विहितः] यज्ञ कर्म में अधिकृत [न-अस्ति] नहीं है। कर्मानुष्ठान में विद्वान् का ही अधिकार है।

वाजपेय याग के प्रकरण में जिन मन्त्रों का उच्चारण यजमान से कराये जाने को लिखा है, वह विद्वान् यजमान द्वारा किया जाना ही सम्भव है। अधीत-वेद व्यक्ति ही विद्वान् कहा जाता है। कर्मानुष्ठान गृहस्थ = द्वितीयाश्रमी होने पर किया जाता है। प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्यकाल में वेदाध्ययन आवश्यक है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यादि वचन इसी अर्थ को स्पष्ट करते हैं। तब कर्मानुष्ठान में अविद्वान् को अवसर कहाँ है ?

यदि किसी ने प्रमादवश ब्रह्मचर्य-काल में वेदाध्ययन नहीं किया है, तो निश्चित ही क्रियमाण कर्म के विषय में उसे नितान्त भी जानकारी नहीं है; तब वह कर्मानुष्ठान कर ही नहीं सकता। वह कर्मानुष्ठान-काल में बोले जानेवाले वाक्यों तथा मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण भी नहीं कर सकता। अशुद्ध उच्चारण उलटा अनर्थकारी होता है। सुख-सुविधाओं के लिए किया जानेवाला कर्म उससे विपरीत प्रतिकूलताओं का अम्बार लगा देता है। ऐसी दशा में अविद्वान् का कर्म ही नहीं, तो उसे मन्त्र बुलवाने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए ठीक ही कहा है कि वेदज्ञ विद्वान् ही यजमान हो। वही क्लृप्ति, उज्जिति मन्त्रों को बुलवाने

योग्य होता है।।१८।। (इति अभिज्ञस्यैव वाचयितव्यताधिकरणम्—८)।

(द्वादशद्वन्द्वानामां आध्वर्यवत्वाधिकरणम्—९)

दर्श-पूर्णमास प्रकरण के याजमान काण्ड में कतिपय १२ जोड़े के रूप में कर्म कथित हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. 'वत्सं चोपावसृजति, उखां चाधिश्रयति'—गाय दुहने के लिए अध्वर्यु बछड़े को खूँटे से खोलकर छोड़ता है, और दूध गरम करने के लिए बटलोई को गार्हपत्य अग्नि पर चढ़ाता है।

२. 'अव च हन्ति, हषदुपले च समा हन्ति'—धान कूटता है, और सिल-बट्टे को टाँचता है।

३. 'अधि च वपते, कपालानि चोपदधाति'—पीसने के लिए सिल पर चावल रखता है, और कपालों को आग पर चढ़ाता है।

४. 'पुरोडाशं चाधिश्रयति, आज्यं च'—पुरोडाश को पकाने के लिए तप्त कपालों पर रखता है, और आज्य को अग्नि पर पिघलाता है।

५. 'स्तम्बयजुश्च हरति, अभि च गृह्णाति'—वेदि बनाये जाने के स्थान से मिट्टी व कूड़े-करकट (=स्तम्बयजु) को हटाता है, और आग्नीध्र उसे अञ्जलि में ले दूर डालता है।

६. 'वेदिं च परिगृह्णाति, पत्नीं च सन्नह्यति'—वेदि को स्फ्य से रेखा द्वारा अङ्कित करता है, और योक्त्र=जोत से पत्नी को बाँधता है, अर्थात् पत्नी की कमर में जोत बाँधता है।

७. 'प्रोक्षणीश्चासादयति, आज्यं च'—स्फ्य से अङ्कित रेखा पर प्रोक्षणी को रखता है, और उसी रेखा पर आज्य को रखता है।

'एतानि द्वादशद्वन्द्वानि दर्शपूर्णमासयोः' दर्श-पूर्णमास प्रकरण के याजमान काण्ड में ये दो-दो के जोड़े में साथ-साथ किये जानेवाले १२ जोड़े कर्म पढ़े हैं। यद्यपि सात जोड़ों में यहाँ १४ कर्म कहे हैं, पर आचार्य सायण के विचार से प्रथम अनुवाक में पठित दश यज्ञसम्बन्धी आयुधों के दो-दो के जोड़े में पाँच युगल और मिलाने से जोड़ों की १२ संख्या का सामंजस्य बताया गया है (द्रष्टव्य तै० सं० १।६।९ का सायण-भाष्य)। इसके विपरीत आचार्य भट्टभास्कर ने १२ जोड़ों के सामञ्जस्य का आधार उक्त सन्दर्भ में १२ क्रियाओं का निर्देश है। वे क्रियाएँ हैं—(१) उपावसृजति, (२) अधिश्रयति, (३) अवहन्ति, (४) समाहन्ति, (५) अधिवपते, (६) उपदधाति, (७) अधिश्रयति, (८) हरति, (९) अभिगृह्णाति, (१०) परिगृह्णाति, (११) सन्नह्यति, (१२) आसादयति। इन क्रियाओं से सम्बद्ध कर्मों की अपेक्षा से १२ जोड़ों की कल्पना साधार समझनी चाहिए। औपचारिक रूप से इन्हीं को द्वादश द्वन्द्व अर्थात् १२ जोड़े कहा गया है।

यहाँ जो कर्त्तव्य कर्म बताये गये हैं, उनमें सन्देह है—क्या ये कर्म यजमान द्वारा किये जाएँ ? अथवा अध्वर्यु के द्वारा ? याजमान काण्ड में पढ़े जाने के कारण यही प्रतीत होता है कि ये कर्म यजमान द्वारा किये जाने चाहिएँ।

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत किया—

याजमाने समाख्यानात् कर्माणि याजमानं[1] स्युः ॥१९॥

[याजमाने] याजमान काण्ड में पठित होने पर [समाख्यानात्] याजमान संज्ञा के सामञ्जस्य से [कर्माणि] वत्सावसर्जन आदि कथित १२ कर्म [याजमानम्] यजमान द्वारा किये जानेवाले [स्युः] होने चाहिएँ।

याजमान काण्ड में पढ़े जाने के कारण उक्त कर्म 'याजमान' संज्ञावाले कहे जाते हैं। याजमान समाख्या का सामञ्जस्य इसी रूप में है कि उन्हें यजमान द्वारा किया जानेवाला माना जाय। अन्यत्र भी नेष्ट्रीय-पोत्रीय विशेष समाख्या के आधार पर उन कर्मों का नेष्टा-पोता द्वारा किया जाना माना गया है। वैसे ही यहाँ माना जाना चाहिए ॥१९॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

अध्वर्युर्वातदर्थो हि न्यायपूर्वं समाख्यानम् ॥२०॥

[वा] 'वा' पद 'द्वादश कर्म यजमानकर्तृक हैं' इस पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। [अध्वर्युः] उक्त कर्मों को अध्वर्यु करे, [हि] क्योंकि वह [तदर्थः] उस कार्य के लिए यजमान द्वारा परिक्रीत हुआ है; [समाख्यानम्] उक्त कर्मों की समाख्या प्रथम आध्वर्यव काण्ड में पठित होने से 'आध्वर्यव' नाम [न्यायपूर्वम्] न्यायपूर्वक है, न्याय्य है, उचित है।

उक्त कर्म मुख्य रूप से 'आध्वर्यव' काण्ड में पढ़े गये हैं, इसलिए समाख्या भी अध्वर्युकर्तृकता का उपपादन करती है। याजमान काण्ड में इनका पाठ—जोड़े के रूप मे यजमान के निर्देश से—अध्वर्यु द्वारा कराये जाने के कारण है। यजमान केवल निर्देश देता है कि उक्त कर्मों को अध्वर्यु इस रूप (जोड़े के रूप) में करे। इतने ही प्रयोजन के लिए याजमान काण्ड में इनका पाठ है। यजमानकर्तृकता प्रयोजन नहीं है। इसलिए 'याजमान' इन कर्मों की समाख्या नहीं है। इसके लिए

---

१. 'याजमानम्' एकवचनान्त पाठ युक्त प्रतीत नहीं होता। 'वेदाः प्रमाणम्' अथवा 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' के समान इसका समाधान चिन्त्य है। लिङ्ग-विपर्यय के इन प्रयोगों में 'प्रमाण' एवं 'प्रयोजन' पद नियत लिङ्ग हैं। प्रस्तुत प्रसंग में वचन-विपर्यय है; 'याजमान' पद नियत वचन नहीं है।

जो उदाहरण 'नेत्रीया-पोष्ट्रीया' समाख्या का दिया, वह विषम उदाहरण है; यहाँ लागू नहीं होता। वे उन कर्मों की विशेष समाख्या हैं; उन कर्मों को नेता-पोष्टा करेंगे। इसमें कोई दोष नहीं है। परन्तु यहाँ उक्त द्वादश कर्मों की समाख्या 'याजमान' है ही नहीं। उनकी 'आध्वर्यव' समाख्या शास्त्रोचित है। अतः ये कर्म अध्वर्युकर्तृक हैं, यह निश्चित है ॥२०॥ (इति द्वादशद्वन्द्वानां आध्वर्यवत्वाधिकरणम्—९)।

(होतुराध्वर्यवकरणमन्त्रानुष्ठातृत्वाधिकरणम्—१०)

ज्योतिष्टोम में अग्नीषोमीय पशु के यूप-सम्बन्धी परिव्ययण-कर्म में दो मन्त्र हैं—एक करणमन्त्र, दूसरा क्रियमाणानुवादी मन्त्र। कर्म करते हुए जो मन्त्र बोला जाय वह 'करणमन्त्र' कहाता है। परिव्ययण-कर्म करते हुए अध्वर्यु के द्वारा जो मन्त्र बोला जाता है, वह करणमन्त्र है—'परिवीरसि परि त्वा [यजु० ६।६] आदि। तीनलड़ भानी गई रस्सी को यजमान की नाभि के बराबर ऊँचाई पर यूप में दाईं ओर से अध्वर्यु द्वारा लपेटना 'परिव्ययण' कर्म है। अध्वर्यु मन्त्र बोलते हुए जब यूप में रस्सी लपेट रहा होता है, उसी समय वेदि के उत्तर-भाग में बैठा होता 'क्रियमाणानुवादी' मन्त्र का उच्चारण करता है; इसका अन्य नाम 'अनुमन्त्रण' मन्त्र है। जो कार्य किया जा रहा है, उसी का अनुवाद करनेवाला मन्त्र है—'युवा सुवासाः परिवीत आगात्' [ऋ० ३।८।४] आदि। दोनों ऋत्विक् अपने-अपने मन्त्रों का साथ-साथ पाठ करते हैं। यह क्रिया ज्योतिष्टोम के अग्नीषोमीय पशुधर्म में गिनी जाती है। अतिदेश-वाक्य के अनुसार ये धर्म उक्थ्य आदि संस्थाओं की परम्परा से 'कुण्डपायिनामयन' में प्राप्त होते हैं, जो ज्योतिष्टोम का विकृति है। 'कुण्डपायिनामयन' कर्मविशेष का नाम है, जहाँ चमसों के स्थान में कुण्डों से सोमपान किया जाता है। उस कर्म में ऋत्विजों का संक्षेप कहा है—'यो होता सोऽध्वर्युः' जो होता है वह अध्वर्यु है। यहाँ सन्देह होता है—इस अवसर पर उक्त कर्म को कौन करेगा? होता या अध्वर्यु? विशेष निर्देश न होने से अनियम प्राप्त होता है; दोनों ऋत्विजों में से कोई भी करे।

ऐसी स्थिति में आचार्य सूत्रकार ने निर्णय दिया—

विप्रतिषेधे करणः समवायविशेषादितरमन्यस्तेषां यतो विशेषः स्यात् ॥२१॥

[विप्रतिषेधे] करण-मन्त्र और अनुमन्त्रण-मन्त्र दोनों का एक ऋत्विक् द्वारा एक काल में प्रयोग का विरोध होने पर [करणः] अध्वर्यु द्वारा पाठ किया जानेवाला करण-मन्त्र—[समवायविशेषात्] होता और अध्वर्यु के समवाय में 'यो होता सोऽध्वर्युः' इस विशेष वचन से आध्वर्यव कार्य में होता के नियुक्त होने

के कारण—होता उच्चारण करे, [इतरम्] अन्य क्रियमाणानुवादी 'युवा सुवासाः' मन्त्र को [अन्यः] होता के सहयोगी ऋत्विजों में से एक पढ़े, [यतो विशेषः स्यात्] जिससे यह पाठरूप विशेष कार्य हो। तात्पर्य है—होता के सहयोगियों में अर्धी, पादी, तृतीयी, जो भी कार्यान्तर में संलग्न न हो, वह उक्त मन्त्र का पाठ करे। अर्धी, पादी, तृतीयी नामों के लिए ३।७।२२ सूत्र की टिप्पणी देखें।

अतिदेश-वाक्य से—करण-मन्त्र और क्रियमाणानुवादी-मन्त्र का पाठरूप कर्म कुण्डपायिनामयन में प्राप्त होता है। इन मन्त्रों का पाठ प्रकृतियाग यथाक्रम अध्वर्यु और होता एकसाथ करते हैं। पर इस कुण्डपायिनामयन नामक विकृति-कर्म में 'यो होता सोऽध्वर्युः' इस विशेष वचन के अनुसार यह व्यवस्था है कि यहाँ अध्वर्यु का कार्य होता करता है। तब अध्वर्यु द्वारा पठ्यमान मन्त्र का पाठ होता करेगा। तब होता द्वारा पठ्यमान मन्त्र का पाठ कौन करेगा? क्योंकि दोनों मन्त्र एक व्यक्ति के द्वारा एकसाथ नहीं पढ़े जा सकते। विधि के अनुसार इनका एकसाथ पढ़ा जाना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में निर्णय किया है कि होता के सहयोगियों में से ही जो विशेष=मुख्य अथवा अन्तरङ्ग है, वह हौत्र मन्त्र का पाठ करे। अथवा, इनमें से जो कार्यान्तर में संलग्न न हो, वह पाठ करे ॥२१॥
(इति होतुराध्वर्यवकरणमन्त्रानुष्ठातृत्वाधिकरणम्—१०)।

(प्रैषप्रैषार्थयोः पृथक्कर्तृकत्वाधिकरणम्—११)

दर्श-पूर्णमास में कतिपय प्रैष पठित हैं। प्रैष का अर्थ है—आज्ञावचन अथवा प्रेरित करना—'अमुक कार्य का समय हो गया है, यह करो'—ऐसे वाक्य 'प्रैष' कहे जाते हैं। वे हैं—'प्रोक्षणीरासादय' पवित्र जल से पूर्ण पात्र लाकर रक्खो। 'इध्माबर्हिरुपसादय' इध्म और बर्हि को यथास्थान रक्खो। 'स्रुवं स्रुचश्च संमृड्ढि' स्रुव और स्रुचों को साफ करो। 'पत्नीं सन्नह्य आज्येनोदेहि' पत्नी को योक्त्र बाँधकर आज्य के साथ लाओ। इन प्रैष-वाक्यों के विषय में सन्देह है—क्या जो व्यक्ति प्रैष देता है, वही प्रैष दिये कार्य को करता है? अथवा आज्ञा देनेवाला और आज्ञा दिये गये कार्य को करनेवाला भिन्न-भिन्न व्यक्ति होता है?

जिज्ञासा—लोक में देखा जाता है, आज्ञा देनेवाला व्यक्ति अन्य होता है, और आज्ञा दिये गये कार्य को करनेवाला व्यक्ति अन्य होता है। ऐसी स्थिति में सन्देह का अवसर कहाँ है? यह स्पष्ट है, आज्ञा देनेवाला—प्रैषकर्त्ता—व्यक्ति भिन्न है, तथा आज्ञा दिये कार्य को करनेवाला—प्रैषार्थकर्त्ता—व्यक्ति भिन्न होता है। अपने-आप ही अपने को आज्ञा नहीं दी जाती।

समाधान—यह ठीक है, लोक में प्रायः ऐसा देखा जाता है कि प्रेरक और प्रेर्य भिन्न व्यक्ति होते हैं। पर कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि कार्य करनेवाला व्यक्ति—जब निर्धारित कार्य का समय समीप आता है, तो वह स्वयं कह

उठता है कि अमुक कार्य का समय आ गया है, उसे करो। प्रोक्षणी लाने का समय हो रहा है, प्रोक्षणी लाकर रक्खो। वह अपने-आप ही अपने को कह रहा है। इसमें अन्य के प्रति सम्बोधन एवं विधिलकार आदि अनपेक्षित होते हैं, कार्यकाल की अभिव्यक्ति का उभार अधिक होता है। ऐसी स्थिति में प्रैषकर्त्ता और प्रैषार्थ-कर्त्ता का एक होना सम्भव रहता है। इसलिए सन्देह का आधार स्पष्ट है।

आचार्य सूत्रकार ने सन्देह का समाधान किया—

प्रैषेषु च पराधिकारात् ॥२२॥

[प्रैषेषु] प्रैषों=आज्ञावाचक 'आसादय' आदि में [च] निश्चित [परा-धिकारात्] पर=अन्य के अधिकार से, अर्थात् अन्य को ही प्रैष दिये जाने के कारण प्रैषकर्त्ता और प्रैषार्थकर्त्ता भिन्न व्यक्ति होते हैं।

प्रैष कार्य और प्रैषार्थ कार्य में भिन्न व्यक्तियों का होना आवश्यक है। इसके बिना प्रैष उपपन्न नहीं होता। कार्यकाल का समीप होना व्यक्तिभेद में बाधक नहीं है। आज्ञा या प्रेरणा दूसरे को ही दी जाती है, स्वयं को नहीं। यदि प्रैषकर्त्ता स्वयं कार्य करने लगे, तो प्रैष की स्थिति ही नहीं बनती। पर शास्त्र इसी रूप में प्रस्तुत करता है। फलतः प्रैष और प्रैषार्थ भिन्नकर्तृक हैं, यह निश्चित है ॥२२॥ (इति प्रैषप्रैषार्थयोः पृथक्कर्तृकत्वाधिकरणम्—११)।

(प्रैषप्रैषार्थयोर्यथाक्रममाध्वर्यवाग्नीध्रताधिकरणम्—१२)

यह ज्ञात हो गया कि प्रैषकर्त्ता और प्रैषार्थकर्त्ता भिन्न व्यक्ति होते हैं, पर यह सन्देह फिर बना है कि कौन ऋत्विक् प्रैषकर्त्ता हों? और कौन प्रैषार्थ-कर्त्ता?

प्रैष का विधान आध्वर्यववेद=यजुर्वेद में है। आध्वर्यव वेद में विहित कर्मों को करनेवाले दो ऋत्विक् हैं, एक—अध्वर्यु, दूसरा—आग्नीध्र। यहाँ सन्देह है, इनमें कौन प्रैष देनेवाला हो? और कौन प्रैषार्थ करनेवाला हो? याग-प्रसंग में अधिक कार्यकारी प्रायः अध्वर्यु देखा जाता है, अतः यह प्रैषार्थकारी रहे। इस अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

अध्वर्युस्तु दर्शनात् ॥२३॥

[अध्वर्युः] अध्वर्यु ऋत्विक् [तु] ही प्रैषार्थकारी जानना चाहिए, [दर्शनात्] कार्य में अध्वर्यु के देखे जाने से।

प्रैषार्थ का करनेवाला अध्वर्यु ऋत्विक् होना चाहिए। एक उपोद्बलक प्रमाण से ज्ञात होता है, चालू प्रसंग में प्रैषार्थकारी अध्वर्यु सम्भव है। प्रमाण है—

'तिर्यञ्चं स्फ्यं धारयेत् यदन्वञ्चं धारयेद् वज्रो वै स्फ्यो वज्रेणाध्वर्युंक्षिण्वीत' स्फ्य को तिरछा धारण करे; यदि सामने सीधा धारण करे तो स्फ्य वज्र है, वज्र से अध्वर्यु को हिंसित करे। जो प्रैष देता है, स्फ्य उसके हाथ में रहता है। स्फ्य से अध्वर्यु को हिंसित करे। यह कथन इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि प्रैष देनेवाला ऋत्विक् अध्वर्यु से भिन्न है। अतः प्रैषार्थकारी अध्वर्यु होना चाहिए ॥२३॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

गौणो वा कर्मसामान्यात् ॥२४॥

[वा] 'वा' पद पूर्वसूत्रोक्त पक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है; तात्पर्य है—प्रैष आग्नीध्र करे और प्रैषार्थ अध्वर्यु करे, ऐसा नहीं है। [कर्मसामान्यात्] कर्म की समानता से, अर्थात् आध्वर्यव वेद में प्रतिपादित कर्मों के समान रूप से कर्त्ता होने के कारण उक्त वाक्य में [गौणः] आग्नीध्र के लिए अध्वर्यु पद का गौण प्रयोग है।

आग्नीध्र का प्रैष कर्म और अध्वर्यु का प्रैषार्थ कर्म है, यह कथन युक्त नहीं है। प्रत्युत इसके विपरीत वास्तविकता यह है कि अध्वर्यु अग्नीत् [=आग्नीध्र] को प्रैष देता है, वह प्रैष दिये कार्य को पूरा करता है। इस प्रकार प्रैष और प्रैषार्थ दोनों आध्वर्यव कृतकर्म के रूप में यथावत् सम्भव होते हैं। यद्यपि अध्वर्यु और अग्नीत् दोनों समान रूप से आध्वर्यव वेद-प्रतिपादित कर्मों के कर्त्ता हैं, परन्तु समाख्या (अध्वर्यु संज्ञा) के आधार पर जिस ऋत्विक् का अध्वर्यु नाम है, वह मुख्य कर्त्ता है। उसके मुख्यत्व का आधार उसकी यह संज्ञा है। इसलिए प्रैष अध्वर्यु देता है, और अग्नीत् उसे कार्यरूप में परिणत करता है। इससे दोनों का आध्वर्यव कर्मकर्तृत्व उपपन्न होता है। इसी समानता के आधार पर 'तिर्यञ्चं स्फ्यं धारयेत्' आदि वाक्य में 'अध्वर्यु' पद गौणी वृत्ति से अग्नीत् के लिए प्रयुक्त हुआ है। फलतः प्रैषकर्म अध्वर्यु का और प्रैषार्थकर्म अग्नीत् का मान्य है, यह सिद्ध होता है। ॥२४॥ (इति प्रैषप्रैषार्थयोर्यथाक्रममाध्वर्यवाग्नीध्रताधिकरणम्—१२)।

(करणमन्त्रेषु स्वामिफलस्याशासितव्यताधिकरणम्—१३)

दर्श-पूर्णमास प्रसंग में पाठ है —'ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु, इति पूर्वमग्निं गृह्णाति'[1] हे अग्ने! तुम्हारे अनुग्रह से यज्ञों[2] में मेरा वर्चस् होवे, मैं वर्चस्वी =

1. 'ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु' यह मन्त्र का प्रतीक है। यह मन्त्र [ऋ० १०।१२८।१; अथर्व० ५।३।१; तै० सं० ४।७।१४।१] में पठित है। अगला पाठ 'इति पूर्वमग्निं गृह्णाति' मन्त्र के साथ [मैत्रा० सं० १।४।५] में पठित है।
2. 'विहव' पद लोक में युद्धवाचक प्रयुक्त होता है, जहाँ विरोधी वर्ग परस्पर

कान्तियुक्त=आभावान् बनूं। दर्श-पूर्णमास कर्म के पहले दिन के कार्यों में गार्हपत्य अग्नि से अग्नि लेकर आहवनीय अग्नि को प्रज्वलित किया जाता है। उसी कार्य में 'ममाग्ने वर्चो' आदि मन्त्र विनियुक्त है। उससे अगले दिन आहवनीय में यजन किया जाता है। गार्हपत्य से आहवनीय का समिन्धन=प्रज्वालन अध्वर्यु ऋत्विक् करता है। इसमें सन्देह है—'ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु'—'हे अग्ने ! मेरा वर्चस् यज्ञों में होवे' क्या यह वर्चस्-फल की आशंसा=चाहना अध्वर्यु ऋत्विक् के लिए है ? अथवा यजमान के लिए ? तात्पर्य है, यजन से होनेवाले वर्चस्-फल की आशंसा अध्वर्यु-सम्बन्धी है ? अथवा यजमान-सम्बन्धी ?

आपाततः यही प्रतीत होता है कि यह फल की आशंसा अध्वर्यु के लिए होनी चाहिए, क्योंकि वही 'ममाग्ने वर्चो' आदि मन्त्र का उच्चारण करते हुए आहवनीय अग्नि को प्रज्वलित करता है। मन्त्र में 'मम' का प्रयोग यह स्पष्ट करता है कि मन्त्र का उच्चारण करते हुए अध्वर्यु अपने लिए 'मेरा वर्चस् होवे' यह आशंसा करता है।

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत किया—

ऋत्विक्फलं करणेष्वर्थवत्वात् ॥२५॥

[करणेषु] करण-मन्त्रों में [ऋत्विक् फलम्] अध्वर्यु ऋत्विक् के फल की आशंसा है, [अर्थवत्वात्] ऋत्विक् के फल की कामना में आहवनीय अग्नि को प्रज्वलित करनेवाले अध्वर्यु में मन्त्रपठित 'मम' पद के सार्थक होने से।

आहवनीय अग्नि को प्रज्वलित करते हुए अध्वर्यु उक्त मन्त्र का उच्चारण करता है। मन्त्र में पठित 'वर्चो मयास्तु' से स्पष्ट होता है, मन्त्र का उच्चारणकर्त्ता 'मम' कहकर अपने लिए वर्चस् की कामना करता है। ऐसा मानने पर श्रुति-बोधित प्रसिद्ध अर्थ स्वीकृत होने से श्रुति आदृत होती है, तथा अध्वर्यु-कथन सार्थक होता है। यदि 'मम' पद अध्वर्यु को न कहकर यजमान को लक्षित करे, 'मम यजमानस्य वर्चोस्तु' मेरे यजमान का वर्चस् हो, तो प्रसिद्ध अर्थ का त्याग होता है तथा लक्षणा वृत्ति से अप्रसिद्ध अर्थ की कल्पना करनी होती है, जो शास्त्रीय दृष्टि से दोष है। इसलिए वर्चस् की आशंसा अध्वर्यु-सम्बन्धी है, यह मानना युक्त होगा ॥२५॥

संघर्ष के लिए एक-दूसरे का—स्पर्धापूर्वक—आह्वान करते हैं। मन्त्र के 'विहव' पद में 'वि' उपसर्ग 'विरुद्ध' अर्थ में न होकर 'विशेष' अर्थ को प्रकट करता है—जहाँ विशेष रूप से विविध देवताओं का स्पर्धारहित आह्वान किया जाता है। इस प्रकार यौगिक प्रक्रिया से 'विहव' पद यहाँ यज्ञ का वाचक है।

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ॥२६॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है, उक्त मन्त्र में अध्वर्यु के फल की आशंसा नहीं है, प्रत्युत [स्वामिनः]स्वामी=यजमान के फल की आशंसा है, [तदर्थत्वात्] दर्श-पूर्णमास कर्म के यजमान के लिए होने के कारण; उसके अन्तर्गत अग्निप्रज्वलन-कर्म भी यजमान का ही है। इसलिए मन्त्र में 'मम' पद 'मेरे यजमान का' बोधक है।

आहवनीय अग्निप्रज्वलन के अवसर पर वर्चस् की प्रार्थना यजमान-सम्बन्धी है, अध्वर्यु-सम्बन्धी नहीं। अपने अङ्गभूत कर्मों के सहित दर्श-पूर्णमास-कर्म यजमान के लिए हैं। 'दर्श-पूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः' वाक्य में 'यजेत' आत्मनेपद क्रिया का प्रयोग कर्त्ता को क्रियाफल होने का बोध कराता है। अग्निसमिधन दर्श-पूर्णमास का अङ्ग है; उस अवसर पर की गई फल की आशंसा यजमान के लिए उचित व समञ्जस हो सकती है। यज्ञ के फल स्वर्गादि का भोक्ता यजमान है, अध्वर्यु नहीं। इसलिए अग्निसमिन्धन से वर्चस् की आशंसा यजमान के लिए सम्भव है। 'मम' पद के सामञ्जस्य के लिए ऐसा मानना भी आवश्यक नहीं है कि मन्त्र का उच्चारण यजमान करे और अग्निसमिन्धन भले ही अध्वर्यु करे। अग्निसमिन्धन और मन्त्रोच्चारण एक ही व्यक्ति के द्वारा किया जाना शास्त्रीय है। समाख्याता के आधार पर कर्म के आध्वर्यव—यजुर्वेद-विहित—होने के कारण अध्वर्यु द्वारा उसका होना शास्त्र-सम्मत है। अध्वर्यु यजमान द्वारा परिक्रीत क्रियाकारी ऋत्विक् है। वह क्रिया करेगा, पर उसके फल से सम्बद्ध नहीं होगा। वह परिक्रय में निर्णीत केवल अपने पारिश्रमिक शुल्क का अधिकारी होता है। जहाँ किसी पद का अभिधावृत्ति-बोधित अर्थ सम्भव नहीं होता, वहाँ लक्षणावृत्ति से अर्थबोध दोषावह नहीं माना जाता। यह वास्तविकता है कि अग्निसमिन्धन के अवसर पर मन्त्रोच्चारण करते हुए अध्वर्यु की यह भावना कदापि नहीं रहती कि विह्व=यज्ञ में वर्चस् मेरा हो। वह अन्तरात्मा से यजमान के वर्चस् की कामना करता है। मन्त्र इसी कामना को बताता है। यदि शाब्दिक व्यवहार को महत्त्व देते हुए यह अर्थ लक्षणावृत्ति से बोधित होता है, तो इसमें कोई दोष नहीं है।

अग्निसमिन्धन और करण-मन्त्र का उच्चारण, दोनों कार्य यजमान ही करे तो 'मम' पद के असामञ्जस्य की कोई समस्या नहीं रहेगी,—ऐसा कहना विडम्बनामात्र है। वस्तुतः जो व्यक्ति यज्ञक्रिया के सुचारु रूप में सञ्चालन में परिनिष्ठित होते हैं, उन्हीं को ऋत्विजों के रूप में परिक्रीत किया जाता है। यदि यजमान ही वह सब करे, तो परिक्रय की आवश्यकता ही क्या है? यजमान के

परिनिष्ठित होने पर भी यागसम्बन्धी सम्पूर्ण कार्य-कलाप का—एक व्यक्ति के द्वारा सुचारु रूप में—सञ्चालित करना सम्भव न होने से ऋत्विक् के रूप में अन्य याग-विशेषज्ञ व्यक्तियों का परिक्रय व वरण यजमान को करना ही पड़ता है। फलतः अध्वर्यु के द्वारा अग्निकार्य करने पर भी उस अवसर की फलकामना यजमान-सम्बन्धी ही होती है, यह निश्चित सिद्धान्त है ॥२६॥

इसी अर्थ की पुष्टि में आचार्य सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२७॥

[लिङ्गदर्शनात्] आशी के विषय में कहा गया है—'यां वै काञ्चन ऋत्विज आशिषमाशासते यजमानस्यैव सा' ऋत्विक् जन जिस किसी आशी की चाहना करते हैं, निश्चित रूप से वह यजमान की होती है।

यह वाक्य स्पष्ट करता है, ऋत्विजों द्वारा की जानेवाली आशी की कामना यजमान के लिए ही होती है। प्रत्येक ऋत्विक् इस तथ्य को जानता है कि हम जो क्रिया कर रहे हैं, वह पूर्णरूप से यजमान के लिए है। करण-मन्त्र में की गई आशीर्वाद की कामना भी यजमान के प्रयोजन को सिद्ध करती है। इसलिए वर्चस्-फल यजमान-सम्बन्धी है, यह जाना जाता है ॥२७॥ (इति करणमन्त्रेषु स्वामि-फलस्याशासितव्यताधिकरणम्—१३)।

(करणमन्त्रेषु कर्मार्थफलस्य ऋत्विग्धर्मताधिकरणम्—१४)

यह जानने पर भी कि करण-मन्त्रों में यजमान के फल की आशंसा की जाती है—सन्देह बना रहता है कि क्या यह सार्वत्रिक नियम है? अथवा इसका कोई अपवाद भी है? हाँ, अपवाद है। आचार्य सूत्रकार ने बताया—

कर्मार्थं तु फलं तेषां स्वामिनं प्रत्यर्थवत्वात् ॥२८॥

[तु] 'तु' पद पूर्वाधिकरण में कहे सिद्धान्त के अपवाद का द्योतक है। [कर्मार्थम्] यागरूप कर्म की निर्बाध सम्पन्नता के लिए जो [फलम्] आशीरूप फल है, वह [तेषाम्] उन ऋत्विजों का है, जो याग में कार्यकारी हैं, उनके [स्वामिनं प्रति] स्वामी=यजमान के प्रति [अर्थवत्वात्] अर्थवान्=प्रयोजन-वान् होने से। तात्पर्य है, आशी-फल से स्वस्थ-नीरोग ऋत्विक् यजमान के याग-कर्म को निर्बाध सम्पन्न करने में समर्थ होते हैं।

ऋत्विजों के फल की आशंसा भी शास्त्र में देखी जाती है, जहाँ वह फल मुख्य कर्म की सिद्धि के लिए होता है। जैसे वाक्य है—'अग्नाविष्णू मा वामत्-क्रमिषम्, विजिहायां मा मा सन्ताप्तम्' हे अग्नि और हे विष्णु देवो! मैं आपका अतिक्रमण न करूँ, मुझे दोनों के मध्य से जाने के लिए पृथक् रहें, मुझे आप दोनों

सन्तप्त=दुःखी न करें। यह आशंसा अध्वर्यु अपने लिए करता है। सन्ताप या कष्ट में न रहता हुआ ही अध्वर्यु सुचारु रूप से कर्म कर सकता है। वह यजमान का याग करते हुए अपने-आपको किसी कष्ट में पड़ने से बचाने के लिए प्रार्थना कर रहा है। अध्वर्यु के सुखी-स्वस्थ रहने से कर्म का सुचारु रूप से सम्पन्न होना यजमान का उपकारक है। इसलिए यहाँ ऋत्विक् के 'स्वस्थ-नीरोग रहने'—फल की आशंसा उचित है।

यह अपने लिए अध्वर्यु की आशंसा किस अवसर की है, और इसीलिए कितनी उचित है, निम्नांकित विवरण से स्पष्ट हो जाता है—

"आहवनीय अग्नि के दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में परिधि (=बाहुपरिमाण पलाश की ३ इध्म=समिधा) रक्खी जाती हैं। इनमें मध्यम परिधि पश्चिम वाली है। उसके अग्रभाग में अग्नि वर्त्तमान है। आहवनीय के पश्चिम में वेदि के मध्यस्थित स्रुक् के अग्रभाग में यज्ञरूप विष्णु (यज्ञो वै विष्णुः) है, क्योंकि स्रुक् के अग्रभाग से आहुति देने से विष्णुरूप यज्ञ सम्पन्न होता है। स्रुक् वेदि में प्रस्तर पर रक्खी जाती है, अतः अध्वर्यु आघार होम के लिए प्रस्तर का दक्षिण पैर से अतिक्रमण करता है=लाँघता है, अर्थात् आहवनीय अग्नि के और प्रस्तर पर रक्खे स्रुक् के अग्रभाग में विद्यमान यज्ञरूप विष्णु का अतिक्रमण न होवे, इसके लिए अध्वर्यु 'अग्नाविष्णू' मन्त्र से अग्नि और विष्णु से कहता है—हे अग्नि और विष्णु देवो ! मैं आपका अतिक्रमण न करूँ, अर्थात् आप मुझे जाने के लिए मार्ग देवें, इत्यादि (द्र०—तै० सं० १।१।१२; आप० श्रौत २।१३।७ तथा दोनों के भाष्य)" (यु० मी०) ॥२८॥

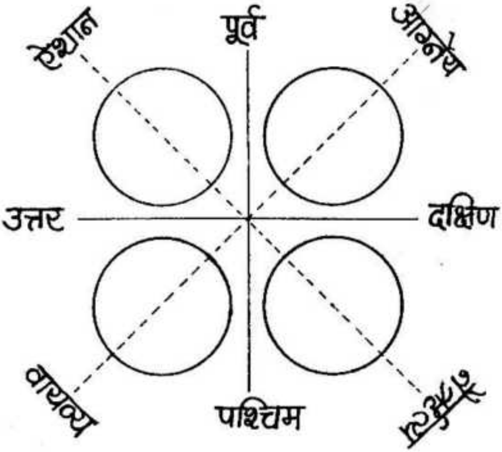
आचार्य सूत्रकार ने अध्वर्यु फल की आशंसा के अन्य प्रसंग का निर्देश किया—

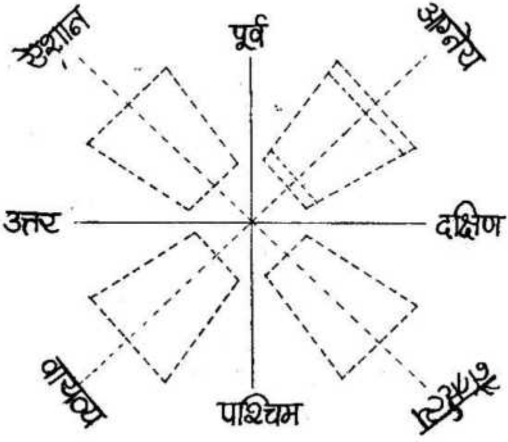
व्यपदेशाच्च ॥२९॥

[व्यपदेशात्] व्यपदेश=क्वचित् कथन से [च] भी ऋत्विक् के फल की आशंसा जानी जाती है।

हविर्धान-शकट (जिस पर सोम लाया जाता व रक्खा रहता है) के नीचे आधे पूर्व-भाग में आमने-सामने लगभग दस अंगुल के फ़ासले से चारों उपदिशाओं में चार गड्ढे इस प्रकार खोदे जाते हैं कि भीतर की ओर वे मिल जाएँ, पर उनके मध्य का ऊपरी भाग वैसा ही बिना उखड़ा बना रहे। मीमांसा में इन गड्ढों का पारिभाषिक नाम 'उपरव' है। ये गड्ढे ऊपर से गोलाकार होने चाहिएँ, जिनकी गोलाई में मध्य रेखा ८-९ अंगुल के लगभग रहे। गहराई एक बालिश्त के लगभग रहे। ऊपर से गोलाकार खोदने के विषय में मतभेद है। वे गड्ढा आयताकार रूप में खोदना बताते हैं।

उपरव


ऐशान
पूर्व
आग्नेय
उत्तर
दक्षिण
वायव्य
पश्चिम
नैर्ऋत्य


ऐशान
पूर्व
आग्नेय
उत्तर
दक्षिण
वायव्य
पश्चिम
नैर्ऋत्य

सूत्रकार ने बताया, जहाँ ऋत्विक्-सम्बन्धी फल की आशंसा का साक्षात् निर्देश है, वहाँ वैसा ही स्वीकार करना चाहिए। उपरव-संज्ञक गड्ढे के एक ओर यजमान और दूसरी ओर अध्वर्यु अपने-अपने हाथ आमने-सामने से उपरव में भीतर डालकर मिलाते हैं। तब अध्वर्यु यजमान से पूछता है—'किमत्र ?' यहाँ क्या है? यजमान कहता है—'भद्रम्' = कल्याण है। तब अध्वर्यु उत्तर देता है—'तन्नौ सह' वह हम दोनों का साथ होवे। इसमें 'नौ' पद से अध्वर्यु और यजमान दोनों का निर्देश है। 'नौ' पद 'अस्मद्' शब्द के षष्ठी द्विवचनान्त 'आवयोः' का स्थानीय है, जिसका अर्थ है—हम दोनों का। यहाँ अध्वर्यु-यजमान दोनों के कल्याण-फल की आशंसा के कथन में अध्वर्यु के फल की आशंसा स्पष्ट निर्दिष्ट है।

उपरव में हाथ डालने की व्यवस्था इस प्रकार है—प्रथम आग्नेय कोण के उपरव में अध्वर्यु हाथ डाले, तथा सामने के वायव्य कोण के उपरव में यजमान हाथ डाले। तदनन्तर पूर्वोक्त प्रश्नोत्तर करें। अनन्तर उसी प्रकार नैर्ऋत्य कोण के उपरव में अध्वर्यु हाथ डालता है, तथा ऐशान कोण के उपरव में यजमान हाथ डालता है। अब पहले यजमान पूछता है—'अध्वर्यो किमत्र ?' हे अध्वर्यु ! यहाँ क्या है ? अध्वर्यु उत्तर देता है—'भद्रम्'। इसके उत्तर में यजमान कहता है—'तन्मम' वह मेरा हो।[1] ऐसे प्रसंगों के करणमन्त्रों में जो ऋत्विक् के फल की

---

१. इसके लिए देखें—कात्यायन श्रौतसूत्र, ८।४।२६–८।५।१८ तक 'उपरव'-सम्बन्धी प्रकरण।

याग-प्रसंग में यह कार्य मिथ्या आडम्बर-सा प्रतीत होता है। सम्भव है, उपरव को याग के फल स्वर्ग का प्रतीक मानकर ये प्रश्नोत्तर हों। याग-क्रिया के संचालन में भागी होने से अध्वर्यु के पारिश्रमिक दक्षिणा-प्राप्ति के रूप में उसके भद्र फल को स्वीकार किया गया। पर याग के फल स्वर्गरूप भद्र का अधिकारी केवल यजमान है। यह भावना अभिव्यक्त करना उक्त क्रिया का प्रयोजन सम्भवतः रहा हो, पर ऐसी भावनाभिव्यक्ति 'उपरव' के बिना भी सम्भव है। प्रतीत होता है, इस ढंग की क्रियाओं ने यागकर्म को एक आडम्बर का रूप दे दिया। इन क्रियाओं की व्यवस्था के सम्बन्ध में विभिन्न श्रौत सूत्र परस्पर विरुद्ध कथन करते हैं। ऊपर जो क्रम दिखाया, वह कात्यायन श्रौत सूत्र के अनुसार है। इसके विपरीत आपस्तम्ब श्रौत-सूत्र [११।१२।३] आग्नेय कोण के उपरव में यजमान का हाथ डालना बताता है, तथा वायव्य कोण के उपरव में अध्वर्यु का। दोनों के हाथ मिलने पर यजमान अध्वर्यु से पूछता है—'हे अध्वर्यो !' किमत्र ? अध्वर्यु

आशंसा है, उसका प्रयोजन—ऋत्विक् के स्वस्थ-नीरोग रहने के कारण—कर्म की निर्बाध सम्पन्नता है,—ऐसा जाना जाता है ॥२९॥ (इति करणमन्त्रेषु कर्मार्थफलस्य ऋत्विग्धर्मताधिकरणम्—१४)।

(द्रव्यसंस्कारस्याङ्गप्रधानार्थताऽधिकरणम्—१५)

दर्श-पूर्णमास में बर्हि और वेदि के धर्म पठित हैं। इनमें सन्देह है—क्या ये धर्म अङ्गकर्म और प्रधानकर्म दोनों के लिए हैं? अथवा केवल प्रधानकर्म के लिए? दर्श-पूर्णमास प्रधान कर्म हैं। उसी प्रकरण में पठित होने के कारण इन्हें केवल प्रधानकर्म का धर्म मानना चाहिए। ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार ने बताया—

द्रव्यसंस्कारः प्रकरणाविशेषात् सर्वकर्मणाम् ॥३०॥

[द्रव्यसंस्कारः] विभिन्न द्रव्यों का जो संस्कार कहा है, वह [प्रकरण-विशेषात्] अङ्गभूत कर्म और प्रधान का कोई विशेष प्रकरण न होने के कारण [सर्वकर्मणाम्] अङ्ग और प्रधान सभी कर्मों के धर्म हैं।

यह प्रकरण प्रधानकर्म का है, और यह अङ्गभूत कर्म का, ऐसा किसी प्रकरणविशेष का कथन न होकर दर्श-पूर्णमास के सामान्य प्रकरण में द्रव्यों के धर्म पढ़े हैं। इसलिए वे धर्म अङ्ग और प्रधान सभी कर्मों के विषय में समझने चाहिएँ।[1] बर्हि के धर्म हैं—काटना, बाँधना, लाकर वेदि पर बिछाना आदि।

कहता है—'भद्रमिति'। अनन्तर यजमान कहता है—'तन्नौ सह'। अनन्तर ऐशान कोण के उपरव में यजमान और नैर्ऋत्य कोण के उपरव में अध्वर्यु हाथ डालता है। अब यजमान अध्वर्यु से पूछता है—'किमत्र'? अध्वर्यु का उत्तर है—'भद्रम्'। तब यजमान कहता है—'तन्मम'।

श्रौत सूत्रों का यह परस्पर-विरुद्ध कथन उपरव की मूलभूत वास्तविकता पर सन्देह के आक्रमण को प्रेरित करता है। कात्यायन का क्रम अधिक सूत्रानुसारी है, क्योंकि वहाँ ऋत्विक् के फल का निर्देश ऋत्विक्-मुख से कराया है, जबकि दूसरे क्रम में विपरीत है। यह क्रियाकलाप किसी अदृष्टविशेष का जनक हो, ऐसी कल्पना भी उपहासास्पद प्रतीत होती है।

१. 'बर्हि' इकारान्त पद अमरकोश में अपठित है। आप्टे के संस्कृत-हिन्दी कोष में इसे 'कुश' पद का पर्यायवाची बताया है। 'कुश' और 'दर्भ' समानार्थक पद हैं; 'दर्भ' हिन्दी में 'दाभ' बोला जाता है। कुश का हिन्दी में वही रूप है। इससे ज्ञात होता है, दाभ अथवा कुश घास का अन्य नाम बर्हि है। इस घास का अग्रभाग तीखा होता है।

वेदि के धर्म हैं—रेखा से चिह्नित करना, उपयुक्त साधन (ईंट, शुद्ध रेता आदि) से उसे बनाना, उचित स्थान पर बिछाये गये बर्हि पर हविद्रव्यों का रखना आदि। इस प्रकार का द्रव्य-संस्कार प्रत्येक कर्म में करना अपेक्षित होता है। इसी अध्याय के सातवें पाद के प्रारम्भिक पाँच सूत्रों में यही सिद्धान्त निश्चित किया है। यह सामान्य सिद्धान्त है। यहाँ इसका सन्निवेश आगे प्रतिपाद्यमान कतिपय अपवाद बताने की भावना से किया गया है ॥३०॥ (इति द्रव्यसंस्कार-स्याङ्गप्रधानार्थताधिकरणम्—१५)।

(अपूर्वप्राकृतधर्माणां विकृतावसम्बन्धाधिकरणम्—१६)

ज्योतिष्टोम में अग्नीषोमीय पशु का उल्लेख है—'यो दीक्षितो यदग्नी-षोमीयं पशुमालभते' जो दीक्षित हुआ व्यक्ति अग्नि और सोम देवतावाले पशु का आलभन करता है। उस प्रसंग में वाक्य हैं—'बर्हिषा यूपावटमवस्तृणाति' बर्हि घास से यूप के गड्ढे को ढाँपता है, अथवा यूपगर्त पर बर्हि घास डालता है। अन्य वाक्य है—'आज्येन यूपमनक्ति' आज्य से यूप को आँजता है, अर्थात् चिकना करता या चुपड़ता है। इनमें सन्देह है—यूपगर्त को ढकने के लिए जो बर्हि और यूप को आंजने के लिए जो आज्य है, क्या उनमें—प्रकृतिभूत दर्श-पूर्णमास में कहे गये—बर्हि-आज्य धर्म करने चाहिएँ? अथवा नहीं करने चाहिएँ?

ये बर्हि के धर्म हैं—जंगल में जाकर काटना (=लवन), बाँधकर लाना (=सम्भरण), जल से धोना (=प्रोक्षण), यथास्थान गर्त पर रखना (=सन्नहन्न) आदि। आज्य के धर्म हैं—पिघलना (=विलापन), आग पर से उतारे गये आज्य को पत्नी के द्वारा देखना (=पत्न्यवेक्षण), आवश्यकता होने पर उसे पुनना-छानना (=उत्पवन[1]) आदि। बर्हि से यूपगर्त को ढाँपना और आज्य से यूप को आंजना, ये दर्श-पूर्णमास प्रधान याग के अङ्गभूत कर्म हैं, अर्थात् ये उनके विकृतियाग हैं। ऐसी स्थिति में यही प्राप्त होता है कि 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' अतिदेश-वाक्य के अनुसार प्रकृतियाग में कहे धर्म विकृति में होने चाहिएँ। बर्हि और आज्य के—प्रकृतियाग में कहे—धर्म सार्वत्रिक हैं। अतिदेश-वाक्य से यहाँ भी प्राप्त हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि पशुयाग से सम्बद्ध बर्हि और आज्य निष्प्रयोजन नहीं हैं। ऐसा प्राप्त होने पर आचार्य सूत्रकार ने बताया—

---

१. उत्पवन उस संस्कार को कहते हैं, जो पात्र में स्थित द्रव, द्रव्य आज्य आदि का दोनों हाथों से पवित्र-संज्ञक दो कुशाओं को परस्पर असंसृष्ट रखते (परस्पर न मिलाते) हुए पकड़कर उनसे द्रव्य के ऊपर के भाग का चलाना होता है। (यु० मी०)

निर्देशात्तु विकृतावपूर्वस्यानधिकारः ॥३१॥

[तु] 'तु' पद पूर्वकथन की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—'यूपगर्त को ढाँपने के लिए कहे गये बर्हि में प्राकृत बर्हिधर्म, तथा यूपाञ्जन में प्रयुक्त आज्य में प्राकृत आज्यधर्म करने चाहिएँ' यह कथन युक्त नहीं है। [अपूर्वस्य] प्रकृति-भूत याग में कहे गये अपूर्वोत्पादक द्रव्यधर्म का [विकृतौ] विकृति में [निर्देशात्] अतिदेश-वाक्य से [अनधिकारः] अधिकार नहीं होता। तात्पर्य है, प्रकृति के वे धर्म अतिदेश से विकृति में प्राप्त नहीं होते।

प्रकृति से विकृति में उन्हीं धर्मों का अतिदेश होता है, जो विकृति में प्रयुक्त होकर प्रधानकर्मजन्य अपूर्व की उत्पत्ति में सहयोगी होते हैं। प्रकृतियाग में बर्हि का संस्कार प्रधानयाग की हवियों के आसादन के लिए होता है—'बर्हिषि हवींष्यासादयति' ऐसे ही संस्कृत हवि से यागानुष्ठान किया जाता है। यदि इस संस्कार धर्म की उपेक्षा की जाय, तो याग विगुण होकर अभिलषित अपूर्व फल को उत्पन्न करने में असमर्थ रहता है। पशुयाग-सम्बद्ध बर्हि और आज्य ऐसे नहीं होते, अर्थात् अपूर्वोत्पत्ति में सहयोगी नहीं रहते। इसलिए प्रकृतिधर्मों का यहाँ अतिदेश नहीं होगा। उक्त सिद्धान्त दशमाध्याय प्रथम पाद के प्रथम अधिकरण में प्रतिपादित किया है।

बर्हि और आज्य के ये धर्म दर्श-पूर्णमास प्रधान याग में कहे गये हैं; पर अनुष्ठेय वहीं होते हैं, जहाँ प्रधान याग के उपकारक हैं। जो धर्म प्रधान का उपकार करनेवाले होते हैं, उनका विकृति में अतिदेश किया जाता है। कारण यह है कि अतिदेश-वाक्य अपनी प्रवृत्ति में प्रधान कर्म की अपेक्षा करता है, धर्म की अपेक्षा नहीं करता। अतिदेश-वाक्य की ऐसी समानता प्रधान कर्म के साथ है, द्रव्य-धर्मों के साथ नहीं।

कहा जा सकता है, यदि अतिदेश-वाक्य से प्रकृतिगत द्रव्यधर्म विकृति में यहाँ नहीं आते, तो सान्निध्य से आ सकते हैं; ऐसा क्यों न माना जाय? प्रकृतियाग के सान्निध्य में ही विकृतियाग पठित हैं, तब प्राकृत धर्मों की प्राप्ति विकृति में माननी चाहिए।

ऐसा कहना भी युक्त नहीं है। समीपपठित पद भी जब अन्य प्रयोजनवाला होता है, अर्थात अन्य से सम्बद्ध होता है, तो समीपपठित पद के साथ भी उसकी एकवाक्यता नहीं होती; जैसे—'भार्या राज्ञः पुरुषो देवदत्तस्य' में षष्ठ्यन्त 'राज' पद की, समीपपठित भी पुरुष के साथ एकवाक्यता नहीं होती, क्योंकि 'पुरुष'-पद का सम्बन्ध देवदत्त के साथ है। इसीलिए यहाँ इन पदों का परस्पर समास नहीं होता, फिर दूरस्थित के साथ सम्बन्ध का अवसर ही नहीं।

किसी का भी अङ्गभाव प्रधान की अपेक्षा से जाना जाता है। यदि प्रधान

को अपने उपकार के लिए उस कर्म की अपेक्षा है, आवश्यकता है, तो वह कर्म प्रधान का अङ्ग माना जायगा। केवल अतिदेश अथवा सामीप्य से किसी कर्म का अङ्गभाव सिद्ध नहीं होता। प्रधानकर्म में बर्हि का प्रयोजन—'हविद्रव्य का उनपर रखना' है। आज्य का प्रयोजन 'होम' है। परन्तु पशुयाग से सम्बद्ध बर्हि और आज्य के ये प्रयोजन नहीं हैं। इसलिए प्रकृतिगत धर्मों की प्राप्ति वहाँ नहीं होगी।

यदि प्रधान कर्म के उपकार की अपेक्षा कर अतिदेश-वाक्य या सामीप्य से प्रकृतिगत द्रव्य-धर्मों का विकृति में सन्निवेश माना जाता है, अर्थात् विकृतियाँ प्रधान कर्म की अपेक्षा न कर धर्ममात्र की अपेक्षा करती हैं, तो प्रकृति-विकृति उभय के ये साधारण धर्म हो जाएँगे। उस अवस्था में आवश्यक 'ऊह' अनुपपन्न अनावश्यक होगा। तब सौर्य याग में 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' मंत्र में 'अग्नये' पद के स्थान में 'सूर्याय' पद का ऊह नहीं होगा, क्योंकि हविनिर्वाप-धर्म प्रकृति-विकृति का साधारण है। यदि हविनिर्वाप-धर्म को प्रधान का उपकारक मानें, तो आग्नेय याग में 'अग्नि'-पद-घटित मन्त्र से किया गया हविनिर्वाप आग्नेय याग में उपकारक होगा। सौर्य याग में 'अग्नि'-पद-घटित मन्त्र से किया गया हविर्निर्वाप सौर्य याग का उपकारक न होगा। हविनिर्वाप को सौर्य याग का उपकारक बनाने के लिए 'सूर्य'-पद-घटित मन्त्र से हविनिर्वाप करना होगा। 'सूर्य'-पद-घटित कोई मन्त्र हविनिर्वाप का नहीं है। इसलिए 'अग्नि'-पद के स्थान में 'सूर्य'-पद का ऊह करना पड़ता है—'सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि' ऐसा मन्त्रस्वरूप बनाकर सौर्य याग में हवि का निर्वाप करना होता है। फलतः द्रव्य-धर्मों को प्रकृति-विकृति उभय का साधारण धर्म मानने पर ऊह की आवश्यकता न रहने से सौर्य याग में 'अग्नये त्वा' मन्त्र से हविनिर्वाप सौर्य याग का उपकारक न होगा, जो अनिष्ट है। इसलिए विकृति-पशुयाग में प्रयुक्त बर्हि एवं आज्य लौकिक ही गृहीत होते हैं। उनके लवन आदि एवं उत्पवन आदि संस्कार अपेक्षित नहीं होते ॥३१॥ (इति अपूर्वप्राकृतधर्माणां विकृतात्रसम्बन्धाधिकरणम्—१६)।

(विधृतिपवित्रयोः परिभोजनीयबर्हिषा कर्त्तव्यता-धिकरणम्—१७)

दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पाठ [द्र०—आप० श्रौत० १।११।७] है—'समावप्रच्छिन्नाग्रौ दर्भौ प्रादेशमात्रौ पवित्रे कुरुते' लम्बाई में एक-जैसे सीधे, बिना कटे-टूटे अग्रभागवाले, प्रादेश (अंगूठे से तर्जनी तक) परिमाण के दो दर्भों (दाभ, कुश घास) को 'पवित्र' बनाता है। इन घास की डंडियों को गूँथकर छल्ला-सा बना लेना 'पवित्र' कहाता है। तपाये आज्य को हिलाकर देखने के लिए जिन दो कुशाओं का उपयोग किया जाता है, उनको भी 'पवित्र' कहा जाता है। ऐसा ही

अन्य पाठ है—'अरत्निमात्रे विधृती करोति' अरत्नि (बँधी मुट्ठी से कोहनी तक) परिमाण के दो दर्भों को 'विधृति' बनाता है।

वेदि पर बिछाने के लिए कुशा (बर्हि=दर्भ) घास विधिपूर्वक तीन या पाँच मुट्ठी काटकर लाया जाता है। घास का अग्रभाग पूर्व की ओर करके दक्षिण से उत्तर की ओर वेदि पर बिछा दिया जाता है। इसके ऊपर एक आस्तरण (घास का बिछाना) और होता है, जिसके ऊपर आज्य में सना जुहूपात्र आहुति के अनन्तर रख दिया जाता है। कर्म सम्पन्न होने पर यह ऊपर का बिछा घास आहवनीय में डाल दिया जाता है। इसपर जुहू रक्खे जाने से यह आज्य से सना रहता है। नीचे वेदि पर बिछे घास के साथ ऊपर का बिछावन मिल न जाय, इसके लिए दोनों के बीच में दो कुशा अरत्नि-परिमाण आड़ी करके बिछाई जाती हैं। उन्हीं का नाम 'विधृति' है। क्योंकि यह ऊपर के बिछावन को नीचे के वेदि-बिछावन से अलग करके धारण किये रखती है।

इन 'पवित्र' और 'विधृति' के विषय में सन्देह है—इन्हें बनाने के लिए क्या विधिपूर्वक काटकर लाये गये संस्कृत घास का उपयोग करना चाहिए? अथवा अन्य कुशा घास का?

यागसम्बन्धी कार्य में संस्कृत कुशा का प्रयोग होना चाहिए। पवित्र और विधृति यागसम्बन्धी कार्य हैं, अतः उनके लिए संस्कृत कुशा का उपयोग प्राप्त होने पर आचार्य सूत्रकार ने बताया—

विरोधे च श्रुतिविशेषादव्यक्तः शेषे ॥३२॥

[श्रुतिविशेषात्] वचनविशेष से [विरोधे] विरोध होने पर [शेषे] वेदि-स्तरण से बचे अन्य कार्य—पवित्र व विधृति आदि कार्य में [च] भी [अव्यक्तः] संस्कार-धर्मरहित बर्हि ग्रहण किया जाता है।

वेदि को कुशा से आच्छादन करने के लिए वचनविशेष है—'त्रिधातु पञ्चधातु वा बर्हिषा वेदिं स्तृणाति' तीन मुट्ठी अथवा पाँच मुट्ठी कुशा से वेदि को ढकता है। जो कुशा वेदि-आच्छादन के लिए विधिपूर्वक काटकर लाया जाता है, उक्त वचन के अनुसार उसका विनियोग वेदि-आच्छादन में ही हो सकता है, अन्य कार्य–पवित्र-विधृति आदि में नहीं। यदि उस कुशा का उपयोग इन कार्यों में किया जाता है, तो उक्त वचनविशेष के साथ इसका विरोध होगा। वचन में स्पष्ट 'वेदिं स्तृणाति' पद हैं; यहाँ पवित्र अथवा विधृति का कोई संकेत नहीं है। अन्यत्र भी कोई ऐसा वचन नहीं है, जिससे यह जाना जाय कि वेदि-आच्छादन के लिए लाये गये कुशा का पवित्र व विधृति के रूप में उपयोग हो सकता है। इसलिए जो कुशा वेदि-आचछादन में विनियुक्त है, उसका कोई अंश अन्य कार्य के उपयोग में नहीं लाया जा सकता। फलतः जैसे पूर्वोक्त यूप के गड्ढे को ढकने के लिए

असंस्कृत बर्हि का उपयोग किया जाता है, ऐसे यहाँ भी पवित्र व विधृति कार्य में असंस्कृत बर्हि का ग्रहण किया जाता है। असंस्कृत बर्हि को प्रस्तुत प्रकरण में 'परिभोजनीय' नाम दिया गया है।

उक्त वाक्य में 'त्रिधातु, पञ्चधातु' पद क्रियाविशेषण हैं। क्रिया-विशेषण नपुंसकलिङ्ग एकवचनान्त होता है, जैसा यहाँ प्रयुक्त है। 'धातु' पद आधारभूत अर्थ को अभिव्यक्त करता है। ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक वाङ्मय में अनेकत्र 'त्रिधातु' पद का प्रयोग हुआ है। उन स्थलों के अनेक प्रसंगों में 'त्रिधातु' पद से जगद्रचना के मूलभूत आधार 'सत्त्व-रजस्-तमस्' तत्त्वों का संकेत किया गया ज्ञात होता है। अभिधानशास्त्र व्याकरण में भी व्यवहार्य नाम-पदों के निर्वचन के आधारभूत शब्द-समुदाय को 'धातु' नाम से कहा गया है। स्वयं 'धातु' पद में धारणार्थक 'धा' धातु प्रयुक्त है। प्रस्तुत प्रसंग में भी 'धातु'-पद आधारभूत अर्थ को अभिव्यक्त करता प्रतीत होता है। वेदि पर जो कुशा बिछाया जाता है, वह अन्य यज्ञिय कार्यों का आधारभूत है[1] ॥३२॥ (इति विधृतिपवित्रयोः परिभोजनीयबर्हिषा कर्त्तव्यताधिकरणम्—१७)।

(प्राकृतपुरोडाशादीनां निधानाधिकरणम्—१८)

ज्योतिष्टोमप्रसंग में पाठ है—'पुरोडाशशकलमैन्द्रवायवस्य पात्रे निदधाति, धाना आश्विनपात्रे, पयस्यां मैत्रावरुणपात्रे'[2]—पुरोडाश के टुकड़े को इन्द्र-वायु देवता के पात्र में रखता है, धान की खीलों को आश्विन (अश्विनी देवता के) पात्र में, तथा पयस्या (खीर) को मित्र-वरुण देवता के पात्र में। यहाँ संशय है—क्या पुरोडाश-शकल आदि का विशेष देवताओं के पात्रों में निधान (रक्खा-जाना) प्रकृत पुरोडाश आदि का होता है? अथवा अन्य पुरोडाश आदि का? इस विषय में कोई विशेष निर्देश न होने के कारण किसी भी पुरोडाश आदि का निधान-कर्म प्राप्त होने पर, आचार्य सूत्रकार ने बताया—

अपनयस्त्वेकदेशस्य विद्यमानसंयोगात् ॥३३॥

[तु] 'तु' पद संश... विकल्प के उस पक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है, जिसमें यह कहा गया है कि अन्य पुरोडाश आदि से निधान-कर्म किया जाय। तात्पर्य है—अन्य पुरोडाश आदि से निधान-कर्म नहीं करना चाहिए। यहाँ चालू

---

१. 'त्रिधातु' पद-विषयक विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य है—हमारी रचना 'सांख्य सिद्धान्त' पृष्ठ ३७१ से प्रकरण की समाप्ति तक।

२. वाक्यों के लिए द्रष्टव्य हैं—आप० श्रौ० १२।२५।६॥ कात्या० श्रौ० ६।११।२३॥

प्रसंग में विद्यमान पुरोडाश के [एकदेशस्य] एक उपयुक्त भाग का [अपनयः] उसके अपने स्थान से हटाया जाना कहा है, [विद्यमानसयोगात्] वर्त्तमान चालू याग में उपयोग के अनन्तर बचे 'पुरोडाश शकल' के साथ द्वितीया विभक्ति (पुरोडाशशकलं···निदधाति) का संयोग होने से।

किसी वर्त्तमानकालिक क्रिया से सम्बद्ध विद्यमान द्रव्य में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होता है, अनुपस्थिति में नहीं। चालू याग के प्रसंग में जो पुरोडाश उपस्थित है, उसी के शकल=यागोपयोग से अवशिष्ट भाग को ऐन्द्रवायव-पात्र में रक्खा जाता है। ऐसे ही अन्य बचे द्रव्यों=धाना व पयस्या (खीर)—को निर्दिष्ट पात्रों में रक्खा जाता है। अन्यत्र भी उक्त प्रकार के प्रसंगों में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग विद्यमान द्रव्य में ही देखा जाता है, जैसे 'पवित्रेणाज्यमुत्पुनाति' वाक्य में पवित्र से वर्त्तमान आज्य का उत्पवन किया जाता है, अन्य अनुपस्थित आज्य का नहीं। ऐसे ही चालू वर्त्तमान याग में उपस्थित पुरोडाश के उपयुक्त भाग से बचे हुए अंश (=शकल) को निर्दिष्ट पात्र में रक्खे जाने का कथन है।

यहाँ जिज्ञासा है—चालू प्रकृतियाग में पुरोडाश कौन-सा है? अर्थात् किस द्रव्य से तैयार किया गया पुरोडाश यहाँ प्रकृत है? प्रसंग-प्राप्त है?

ज्योतिष्टोम छह दिन में अनुष्ठेय याग है। ५वाँ दिन प्रधान सोम आहुतियों का है, जो तीन सवनों के रूप में दी जाती हैं—प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन, तृतीय सवन। इसी के अनुसार दिन का 'सुत्या' नाम भी है। पारम्परिक आचार्यों के निर्देशानुसार इस दिन यागसम्बन्धी जो पशु उपस्थित किया जाता है, उसके मांसखण्ड से जो पुरोडाश तैयार होता है, वह पशु-पुरोडाश ही प्रकृत में अभिप्रेत है। मैत्रायणी संहिता [३।६।५] में पाठ है—'वपया प्रातःसवने प्रचरन्ति, पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने, अङ्गैस्तृतीयसवने' वपा से प्रातःसवन में, पुरोडाश से माध्यन्दिन सवन में, अङ्गों से तृतीय सवन में आहुतियाँ दी जाती हैं। यह सवनीय पशु मेष (=मेंढा) होता है।

वैदिक वाङ्मय के यागीय प्रसंगों में जहाँ साधारण रूप से हवि-द्रव्यों का उल्लेख किया गया है, वहाँ मांस-हवि का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। हवि-द्रव्य के रूप में जिन द्रव्यों का नाम लेकर उल्लेख हुआ है, वे हैं—धाना, करंभ, पुरोडाश, पयस्या, आमिक्षा आदि। इनमें एक नाम 'पुरोडाश' है। पुरोडाश उपादान-द्रव्य को पीसकर ही बन सकता है। मीमांसा-साहित्य के पशुयाग-प्रसंगों में प्रायः सर्वत्र 'पशुपुरोडाश' पद का प्रयोग देखा देता है। क्या इसका यह अर्थ सम्भव है कि 'पशु-मांस से तैयार किया गया पुरोडाश'? पर मांस को पीसा नहीं जा सकता। उसे निरन्तर काट-काटकर बारीक किया जाता है; उसे लौह शलाका पर चिपकाकर भूना जाता है। यदि उसे अपूप (पुआ) की आकृति में सेककर या

भूनकर 'पुरोडाश' का रूप दिया जाय, तो भी बिना पिसे उपादान-द्रव्य से बनाया गया वह हवि शास्त्रीय दृष्टि से 'पुरोडाश' नहीं कहा जा सकता। पुरोडाश वही है, जो पिसे हुए अन्न से बनाया जाता है। फिर यह समस्त शास्त्र में उल्लिखित 'पशु पुरोडाश' क्या है ?

यदि पिसे अन्न में मांस के सूक्ष्म = अत्यल्पकाय = टुकड़े मिलाकर पुरोडाश तैयार किया जाता है, तो उसे 'पशु पुरोडाश' नहीं माना जा सकता; क्योंकि मुख्य उपादान-द्रव्य पिसा अन्न है। क्या शास्त्र में कहीं ऐसा विधान है कि पिसे अन्न में पशुमांस मिलाकर 'पशुपुरोडाश' तैयार किया जाय ? ऐसा उल्लेख कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। इससे ज्ञात होता है, 'पशुपुरोडाश' की कल्पना का शास्त्रीय आधार कुछ नहीं है। याज्ञिकों की रसनालोलुपता का ही यह जघन्य परिणाम कहा जा सकता है।

मैत्रायणी संहिता [३।६।५] के पाठ में 'प्रचरन्ति' क्रियापद है। 'वपया प्रातःसवने प्रचरन्ति' का अर्थ समझा जाता है, प्रातःसवन में वपा (चरबी) से आहुति दी जाती है (= प्रचरन्ति)। 'प्रचरन्ति' का 'आहुति देना' अर्थ कैसे कर लिया गया ? यह चिन्त्य है। 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'चर्' धातु का अर्थ प्रचार करना—घोषणा करना—क्यों नहीं ? यह गति—अर्थवाला धातु है, किये जाते कार्य को गति देना, उसकी घोषणा करना; अमुक कार्य अमुक साधन द्वारा सम्पन्न हो गया,—यह घोषणा की जाती है, अथवा यह प्रचारित किया जाता है।

यज्ञ के प्रारम्भ-काल में यागानुष्ठान-अवसर पर पशु मारे नहीं जाते थे, प्रत्युत उनके स्वास्थ्य की देखभाल के लिए एकत्रित किये जाते थे। इस विषय का विस्तृत विवरण भूमिका में द्रष्टव्य है। छह-दिन-साध्य ज्योतिष्टोम का पाँचवाँ दिन अमावास्या आता है। अन्तिम तीन दिनों (= चतुर्दशी, अमावास्या, शुक्ल प्रतिपदा) में स्थानीय सब पशुओं को एकत्रित किया जाता था, यह सामाजिक व प्रशासकीय व्यवस्था थी। यागानुष्ठान कोई भी यजमान करे, पर उस अवसर पर समाज व प्रशासन के विशिष्ट मूर्द्धन्य व्यक्ति संगत होते थे। इस अवसर से लाभ उठाने के लिए पशुओं की स्वास्थ्य-परीक्षा का भी कार्यक्रम बना लिया जाता था। यज्ञ करनेवाले उस कार्य को करते थे। यह कार्य याग के अन्तिम तीन दिनों में सम्पन्न किया जाता था। इन तीन दिनों के बीच का दिन, मुख्य होम का दिन अमावास्या रहता है। क्योंकि यह मुख्य होम का दिन था, और इस दिन तथा इसके दोनों ओर (पहले-पीछे) के दिन पशुओं का स्वास्थ्य देखे जाने के लिए निर्धारित थे, सम्भवतः इसी कारण अमावास्या के दिन अनुष्ठित होनेवाली इष्टि का नाम 'दर्श' रख दिया गया, अथवा इस आधार पर प्रसिद्ध हो गया।

इन तीन दिनों में एकत्रित किये जानेवाले पशु भी यथाक्रम तीन भागों में विभक्त थे—अग्नीषोमीय, सवनीय, अनुबन्ध्य। पहले दिन के परीक्ष्य पशु अग्नी-

षोमीय = कृषि में कार्य करनेवाले केवल वृष = बलीवर्द = बैल होते थे। समाज कृषिप्रधान होने से इनकी परीक्षा के लिए पहला पूरा दिन नियत था। इनकी परीक्षा, कार्य देखकर तथा अन्य अपेक्षित साधनों के अनुसार की जाती थी। इसलिए अगला अमावास्या का दिन इनके पूर्ण विश्राम के लिए नियत था। इसी कारण आज भी उसी का प्रतीकरूप समस्त भारत में कृषिजीवी व्यक्ति अमावास्या के दिन बैल के कन्धे पर जुआ नहीं रखता, उन्हें पूर्ण विश्राम देता है।

दूसरा दिन सवनीय पशुओं की परीक्षा का है। सवनीय पशु हैं—मेष-मेषी, अज-अजा, मेंढा-भेड़, बकरा-बकरी। सवन (सोमाहुति) के दिन उपस्थित होने से इनका 'सवनीय' नाम है। इनकी संख्या अधिक होती है। इनकी स्वास्थ्य-परीक्षा का स्पष्ट साधन है—देह का मोटा-ताजा, चरबीयुक्त होना। मैत्रायणी संहिता के उक्त वचन का विनियोग इसी परीक्षा में है। सर्वप्रथम उन पशुओं को अलग छाँट दिया जाता था जिनके देह मांसल, चर्बीयुक्त हैं। ये स्वस्थ-नीरोग हैं, यह घोषणा कर दी जाती थी। 'वपया प्रातःसवने प्रचरन्ति' का यही तात्पर्य है; चर्बी से आहुति देना नहीं।

इन पशुओं में जो संदिग्ध व निश्चित रोगी समझे जाते थे, उन्हें चारे पर घेर दिया जाता था, स्वस्थ पशुओं की परीक्षा के अनन्तर। 'चर्' धातु भक्षण अर्थ में भी है। 'माध्यन्दिने पुरोडाशेन प्रचरन्ति' का यही अर्थ है। माध्यन्दिन सवन के अवसर पर उन रोगी पशुओं को चारे पर छोड़ा जाता था, यह भी उनकी स्वास्थ्य-परीक्षा का एक साधन था। वाक्य में 'पुरोडाश'-पद पशु-खाद्य का उपलक्षण व प्रतीक है। 'पशुपुरोडाश' का यही तात्पर्य सम्भव है। प्रस्तुत अधिकरण के भाष्यनिर्दिष्ट मूल वाक्य में भी केवल 'पुरोडाश' पद है, 'पशुपुरोडाश' नहीं। पशु-मांस से बने पुरोडाश की कल्पना नितान्त निराधार है। तृतीय सवन के अवसर पर रोगी पशुओं के एक-एक अंग की परीक्षा कर उनके रोगनिवारण के उपायों की घोषणा की जाती थी। 'अङ्गैस्तृतीये सवने प्रचरन्ति' का यही तात्पर्य है।

तीसरे अन्तिम दिन 'अनुबन्ध्य पशु' परीक्षा के लिए लाये जाते थे, जिनमें शेष सभी पशु होते थे—गाय, बछियाँ-बछड़े, ऊँट, घोड़ा, हाथी, गधा, खच्चर आदि।

प्रस्तुत अधिकरण में जिस पुरोडाश के ऐन्द्रवायव-पात्र में निधान का विधान है, वह पिष्ट अन्न का ही पुरोडाश सम्भव है। साथ में धाना और पयस्या में भी अन्न का प्राधान्य है। मांस का यहाँ संकेत भी दूर तक नहीं। उन याज्ञिकों की बुद्धि पर कैसे परदा पड़ गया था!॥३३॥ (इति प्राकृतपुरोडाशादीनां निधानाधिकरणम्—१८)।

(काम्येष्टिषूपांशुत्वधर्मस्य प्रधानार्थताधिकरणम्—१९)

प्रधान काम्येष्टि प्रकरण में पाठ है—'यज्ञाथर्वणं वै काम्या इष्टयः, ता उपांशु कर्त्तव्याः' अथर्ववेदसम्बन्धी यज्ञ काम्य इष्टियाँ हैं। उनका अनुष्ठान उपांशु करना चाहिए। उपांशु का तात्पर्य है—मन्त्र का उच्चारण होठों के भीतर की ओर मुँह में ही किया जाना, जो बाहर सुनाई न दे। यह आथर्वण यज्ञ की रहस्य-मयता को अभिव्यक्त करता है। यहाँ सन्देह है—प्रधान काम्येष्टियों के प्रकरण में पठित उपांशुत्व-धर्म प्रधान और अङ्गभूत सभी काम्येष्टियों के लिए है? अथवा केवल प्रधान काम्येष्टियों में किया जाय? प्रधान कर्म में विहित धर्मों को अङ्ग-भूत कर्मों में भी उसी प्रकार स्वीकार किया जाता है; इसलिए यहाँ भी प्रधान काम्येष्टि-प्रकरण में पठित उपांशुत्व-धर्म प्रधान और अङ्ग सभी काम्येष्टियों में स्वीकार किया जाना चाहिए। इसी भाव को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

विकृतौ सर्वार्थः शेषः प्रकृतिवत् ॥३४॥

[विकृतौ] विकृति=काम्येष्टियों के प्रकरण में पढ़ा गया [शेषः] उपांशुत्व-धर्म [सर्वार्थः] प्रधान और अङ्ग सभी काम्येष्टियों के लिए है, [प्रकृतिवत्] प्रकृति के समान। जैसे प्रकृतियाग में पठित आज्यधर्म और वेदिधर्म सभी प्रधान व अङ्ग-कर्मों में समान रूप से माने जाते हैं, वैसे यहाँ भी उपांशुत्व-धर्म सबके लिए माना जाना चाहिए।

सभी काम्येष्टियाँ 'विकृति'-याग होती हैं। काम्येष्टियों में भी परस्पर प्रकृति-विकृतिभाव अर्थात् प्रधान-अङ्गभाव रहता है। जैसे प्रकृतियाग में पठित आज्यधर्म-वेदिधर्म आदि समान रूप से विकृतियागों में स्वीकार किये जाने से सर्वार्थ हैं, ऐसे ही प्रधान काम्येष्टि-प्रकरण में पठित उपांशुत्व-धर्म-प्रधान-अङ्ग दोनों प्रकार की काम्येष्टियों में स्वीकार किया जाना चाहिए ॥३४॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

मुख्यार्थो वाऽङ्गस्याचोदितत्वात् ॥३५॥

[वा] 'वा' पद उक्त पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—उपांशुत्व-धर्म प्रधान और अङ्ग उभय काम्येष्टियों का नहीं है, [मुख्यार्थः] प्रधान काम्येष्टि के लिए है। भाष्यकार शबर स्वामी ने 'वा' पद 'एव' अर्थ में माना है। तब सूत्रार्थ होगा—प्रधान काम्येष्टियों के ही लिए उपांशुत्व-धर्म है; [अङ्गस्य] अङ्ग के [अचोदितत्वात्] वाक्य द्वारा विहित न होने से।

काम्येष्टियाँ प्रधान और अङ्ग दोनों प्रकार की हैं। 'याः काम्या इष्टयः, ता उपांशु कर्त्तव्याः' वाक्य से यह स्पष्ट होता है कि विशेष फलप्राप्ति की कामना से

जिस इष्टि का अनुष्ठान किया जाता है, उसी के साथ उपांशु इतिकर्त्तव्यता का सम्बन्ध है। वही प्रधान काम्येष्टि है। अङ्गभूत काम्येष्टियों का कोई अतिरिक्त फल नहीं होता। उनका अनुष्ठान प्रधान काम्येष्टि की सम्पन्नता के लिए किया जाता है। अतः उपांशुत्व-धर्म केवल प्रधान काम्येष्टियों के लिए है ॥३५॥ (इति काम्येष्टिषूपांशुत्वधर्मस्य प्रधानार्थताऽधिकरणम्—१९)।

(श्येनाङ्गानां नवनीताऽऽज्यताऽधिकरणम्—२०)

श्येनयाग-प्रकरण में पाठ है—'दृतिनवनीतमाज्यम्'[1] दृतिपात्र[2] में रक्खा हुआ नवनीत आज्य होता है। यहाँ संशय है—क्या नवनीत आज्य का आहुति आदि द्वारा उपयोग प्रधान श्येनयाग में करना चाहिए? अथवा उसके अङ्गभूत दीक्षणीय आदि इष्टियों में? प्रधान श्येनयाग के प्रकरण में पठित होने से प्रधान-कर्म में ही इसका उपयोग होना चाहिए। ऐसा प्राप्त होने पर आचार्य सूत्रकार ने बताया—

सन्निधानविशेषादसम्भवे तदङ्गानाम् ॥३६॥

[सन्निधानविशेषात्] सन्निधान=सामीप्यविशेष से श्येनयाग में सोम की आहुतियाँ होने के कारण [असम्भवे] नवनीत आज्य का उपयोग असम्भव होने पर [तदङ्गानाम्] श्येनयाग के अङ्ग दीक्षणीय आदि इष्टियों के सम्बन्ध में नवनीत आज्य का उपयोग युक्त है।

श्येनयाग ज्योतिष्टोम याग का विकृति है। ज्योतिष्टोम सोमसाध्य याग है। यहाँ मुख्य आहुतियाँ सोम की दी जाती हैं। 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' प्रकृति के समान विकृति में करना चाहिए, इस अतिदेश-वाक्य के बल से ज्योतिष्टोम का साधन-द्रव्य सोम उसके विकृति श्येनयाग में प्राप्त हो जाता है। सूत्र में इसी तथ्य को 'सन्निधिविशेष' पद से कहा गया है। ऐसी स्थिति में श्येनयाग का साधन-द्रव्य सोम ही सम्भव है, नवनीत आज्य नहीं। पर वह श्येनयाग के प्रकरण में पठित है। वह पाठ निष्फल न हो, इसलिए नवनीत आज्य को श्येनयाग के अङ्ग दीक्षणीय आदि इष्टियों का धर्म मानना युक्त है, अर्थात् आहुतिरूप से नवनीत आज्य का उपयोग श्येन की अङ्गभूत इष्टियों में होता है। इससे प्रकरण भी

---

१. द्रष्टव्य—बौधा० श्रौत० २२।१७। भाग ३, पृष्ठ १४१, पंक्ति १३–१५—'दृतिं वा विनाडं वा रथ आधाय परिहरेत्, यत्तत्र नवनीतमुत्सीदेत् तदाज्यं स्यादिति'। (यु० मी०)।

२. चर्म-निर्मित पात्र का नाम 'दृति' है। 'दृतेः पात्रादिवोदकम्' मनु० २।९९॥ 'दृतिं जलाधार चर्मकोशम्', याज्ञ०स्मृ० ३।२६८ की व्याख्या।

बाधित नहीं होता, और इष्टियों के लिए साधनद्रव्य की आकांक्षा भी पूर्ण हो जाती है ॥३६॥

शिष्य आशंका करता है—यदि प्रधानयाग के प्रकरण में पठित धर्म को उसके अङ्गों के लिए माना जाता है, तो अग्न्याधान कर्म की इष्टियों का भी धर्म नवनीत आज्य को मानना चाहिए, क्योंकि वे भी श्येन का अङ्ग हैं। आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-आशंका को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

आधानेऽपि तथेति चेत् ॥३७॥

यदि प्रधान कर्म के प्रकरण में पठित धर्म को प्रधान का धर्म न मानकर, उसके अङ्गों का धर्म माना जाता है, तो [आधाने] आधान कर्म के अन्तर्गत पवमान आदि इष्टियों में [अपि] भी [तथा] उसी प्रकार नवनीत आज्य का उपयोग मानना चाहिए—[इति चेत्] ऐसा यदि कहा जाय, तो—(अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)।

प्रधान श्येनयाग में नवनीत आज्य का उपयोग सम्भव न होने से उसके अङ्गभूत कर्मों में उपयोग माना जाता है, तो आधान-कर्म के अन्तर्गत पवमान आदि इष्टियों में नवनीत आज्य का उपयोग मानना होगा। वे इष्टियाँ भी श्येन-याग की उपकारक होने से उसके अङ्ग हैं। पवमान आदि इष्टियों से संस्कृत किये गये अग्नि में श्येनयाग अनुष्ठित होता है ॥३७॥

आचार्य सूत्रकार ने आशंका का समाधान किया—

नाप्रकरणत्वादङ्गस्य तन्निमित्तत्वात् ॥३८॥

[न] आधानगत पवमान आदि इष्टियों में नवनीत आज्य का उपयोग नहीं होता, [अप्रकरणत्वात्] प्रकरण में न होने से। तात्पर्य है—श्येनयाग के प्रकरण में आधान का उल्लेख या प्रसंग न होने के कारण, [अङ्गस्य] अङ्ग-भाव के [तन्निमित्तत्वात्] प्रकरण आदि निमित्तवाला होने से। तात्पर्य है—कौन किसका अङ्ग है, यह प्रकरण आदि कारणों से ही जाना जाता है।

अग्न्याधान एवं उसके अन्तर्गत होनेवाली पवमान आदि इष्टियों का श्येन-याग के प्रकरण में कोई निर्देश नहीं है। इससे जाना जाता है कि अग्न्याधान और श्येनयाग का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं। आधान अग्नियों का होता है। भले ही उन अग्नियों में श्येनयाग होता रहे, पर आधान का सम्बन्ध श्येनयाग से नहीं है। आधान का सम्बन्ध केवल अग्नियों से है। तब आधान-कर्म तथा उसके अन्तर्गत होनेवाली पवमान आदि इष्टियों को श्येन का अङ्ग नहीं माना जा सकता। इसी कारण पवमान इष्टियों में नवनीत आज्य का प्रयोग प्राप्त नहीं होता। प्रकरण अथवा अन्य किसी प्रमाण से आधान और श्येन का

अङ्गाङ्गिभाव सिद्ध नहीं है। आधान केवल अग्नि का उपकारक है; उनमें कोई भी याग हुआ करें; आधान का उनसे या श्येनयाग से कोई सम्बन्ध नहीं। फलतः श्येनयाग में पठित नवनीत आज्य का उपयोग प्रधान श्येनयाग में सम्भव न होने से उसके अङ्ग दीक्षणीय आदि इष्टियों का वह धर्म है, यह प्रमाणित होता है ॥३८॥ (इति श्येनाङ्गाना नवनीताऽऽज्यताऽधिकरणम्—२०)।

(सर्वेषामेव श्येनाङ्गानां नवनीताऽऽज्यताऽधिकरणम्—२१)

छह-दिन-साध्य ज्योतिष्टोम का पाँचवाँ दिन सोमाभिषव का होता है। सोमलता को कूट छान सोम निकालकर उसी की मुख्य आहुतियाँ दी जाती हैं। सोमाभिषव के कारण इसका नाम 'सुत्यादिन' भी है। यहाँ सन्देह है—क्या सुत्यादिन होनेवाले श्येनयाग के अङ्गभूत कर्मों में ही नवनीत आज्य का उपयोग होता है? अथवा सब काल के श्येनयागीय अङ्गकर्मों में? इसका निर्णय करने के लिए आचार्य सूत्रकार ने प्रथम पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—

तत्काले वा लिङ्गदर्शनात् ॥३९॥

[तत्काले] सुत्यादिन में होनेवाले श्येनयाग के अङ्गभूत कर्मों का [वा] ही धर्म होता है—नवनीत आज्य; [लिङ्गदर्शनात्] लिङ्ग=प्रमाण के देखे जाने से।

ज्योतिष्टोम के चौथे दिन अग्नीषोमीय पशुओं का, पाँचवें दिन सवनीय पशुओं का, छठे दिन अनुबन्ध्य पशुओं का आलमन कहा गया है। परन्तु श्येन-याग के प्रसंग में अनुबन्ध्य पशुओं का आलभन 'सह पशूनालभते' इस वचन के अनुसार सुत्यादिन के सवनीय पशुओं के साथ आलमन माना गया है। इससे जाना जाता है कि जो श्येनयागीय अङ्गकर्म सुत्यादिन में किये जाते हैं, उन्हीं में नवनीत आज्य का उपयोग होना चाहिए, श्येनयाग के सब कालों में होनेवाले अङ्गकर्मों में नहीं।

अनुबन्ध्य पशुओं का आलभन साधारणरूप से ज्योतिष्टोम के अन्तिम छठे दिन माना जाता है। परन्तु श्येनयागीय अनुबन्ध्य पशुओं का आलभन—उक्त विशेष वचन से सुत्यादिन में आलभनीय सवनीय पशुओं के साथ होना—बताया गया है। यह इस तथ्य में प्रमाण है कि नवनीत आज्य सुत्यादिन के श्येनयागीय अङ्गकर्मों का ही धर्म है, अन्यकाल में होनेवाले अङ्गकर्मों का नहीं ॥३९॥

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

सर्वेषां वाऽविशेषात् ॥४०॥

[सर्वेषाम्] श्येनयागीय सब अङ्गकर्मों का [वा] ही धर्म है—नवनीत

आज्य; [अविशेषात्] उस विषय में कोई विशेष निर्देश न होने के कारण।

श्येनयाग के सभी अङ्गकर्मों का धर्म है—नवनीत आज्य। चाहे वह अङ्ग-कर्म सुत्यादिन में हो, चाहे अन्य काल में। श्येनयाग-प्रसंग में जहाँ नवनीत आज्य हवि का निर्देश किया गया है, वहाँ कोई ऐसा विशेष कथन नहीं है, जिससे यह जाना जाय कि श्येनयाग के अमुक अङ्गकर्मों में आज्य का उपयोग होना अभीष्ट है, अमुक में नहीं। अतः किसी विशेष कथन के न होने से प्रस्तुत विषय में सामान्यतः प्राप्त कार्य का बाध नहीं होता। ज्योतिष्टोम के चौथे दिन अग्नी-षोमीय पशुओं के आलभन के अवसर पर पुरोडाश की आहुतियाँ अङ्गकर्मों में दी जाती हैं। छठे दिन अनुबन्ध्य पशुओं के आलभन के अवसर पर पयस्या की। 'सह पशूनालभते' वाक्य से पुरोडाश और पयस्या की अपने स्थानों से निवृत्ति होकर सवनीय पशुयाग का सुत्याकाल प्राप्त होता है। पर 'दृतिनवनीतमाज्यम्' के विषय में कोई ऐसा वाक्य नहीं है, जिससे इसे सुत्याकालिक अङ्गकर्मों तक ही सीमित माना जाय। फलतः श्येनयाग के सभी अङ्गकर्मों में नवनीत आज्य का आहुतिरूप में उपयोग होता है।

शिष्य जिज्ञासा करता है—अविशेष क्यों है ? पूर्वपक्षसूत्र में 'लिङ्गदर्शन' विशेष कहा तो है। उसका समाधान होना चाहिए। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

न्यायोक्ते लिङ्गदर्शनम् ॥४१॥

[न्यायोक्ते] न्यायानुसार कहे गये अर्थ के विषय में [लिङ्गदर्शनम्] लिङ्ग-दर्शन अकिञ्चित्कर है।

शास्त्रीय व्यवस्था का नाम 'न्याय' है। जो कथन न्यायानुसार होता है, वह किसी अन्य प्रकार से बाधित नहीं होता। यद्यपि वाक्य से लिङ्ग बलवान् होता है, पर 'दृतिनवनीतमाज्यम्' वाक्य ज्योतिष्टोम-प्रकरण श्येनयाग-प्रसंग में पठित है। समस्त प्रकरण के अङ्गकर्मों में उपयोग के लिए उसका विधान है। यह वाक्यप्रकरण से अनुमोदित है। इसलिए लिङ्ग इसका बाधक न होगा।

इसके अतिरिक्त 'सह पशूनालभते' वचन केवल सहालम्भन का बोध कराता है। अङ्गकर्मों में नवनीत आज्य के उपयोग से इसका कोई विरोध नहीं है। सहालम्भन-वचन से पूर्वपक्ष का यह समझना कि नवनीत आज्य का उपयोग केवल सुत्याकालिक अङ्गकर्मों के लिए है—नितान्त भ्रम है। न सहालम्भरूप लिङ्ग और अन्य कोई ऐसा प्रमाण उपलब्ध है, जिससे यह प्रमाणित हो कि नवनीत-आज्य केवल सुत्याकालिक श्येनयागीय अङ्गकर्मों का धर्म है। इसलिए वाक्य और प्रकरण से यह निश्चित होता है कि ज्योतिष्टोमीय समस्त अङ्गकर्मों में नवनीत आज्य का उपयोग होता है, अर्थात् आज्य की आहुतियाँ दी जाती हैं।

प्रधान कर्म में आहुतियों के लिए सोम हविद्रव्य निश्चित है।

पशु-आलभन अपने क्रम में यथावत् होता रहता है। ज्योतिष्टोम-अनुष्ठान के छह दिनों में प्रथम तीन दिन विविध इष्टियों के हैं। चौथे दिन अग्नीषोमीय पशु का आलभन है। पाँचवें दिन सवनीय पशु तथा छठे अन्तिम दिन अवभृथेष्टि के अनन्तर अनुबन्ध्य पशुओं का आलभन किया जाता है। नवनीत आज्य का ज्योतिष्टोमीय अङ्गकर्मों में उपयोग पशु-आलभन-क्रिया में कोई रुकावट नहीं डालता। पशुयाग से जाना गया पशु-आलभन अपने रूप में स्वतन्त्र कर्म है। ज्योतिष्टोम-अनुष्ठान-प्रक्रिया अथवा अन्य दर्शेष्टि आदि की अनुष्ठान-प्रक्रिया से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग में हविद्रव्य के लिए पशु-पुरोडाश की कल्पना नितान्त अशास्त्रीय है। इसका विस्तृत विवेचन [३।६।२७] सूत्र की टिप्पणी अथवा ग्रन्थ की भूमिका में द्रष्टव्य है ॥४१॥ (इति सर्वेषामेव श्येनाङ्गानां नवनीताऽऽज्यताऽधिकरणम्—२१)।

श्येनयागीय अङ्गकर्मों के होमद्रव्य नवनीत-आज्य-विषयक यह विवेचन एक विशेष परिणाम को प्रस्तुत करता है, जिससे यह जाना जाता है कि न केवल सुत्याकालिक श्येनयागीय अङ्गकर्मों में नवनीत आज्य होमद्रव्य है, अपितु सुत्याकालिक ज्योतिष्टोमीय सभी अङ्गकर्मों का यह होमद्रव्य है। सुत्यादिन प्रधान कर्म के तीनों सवनों में प्रधान आहुतियाँ सोम की दी जाती हैं। अङ्गकर्मों में चौथे दिन होमद्रव्य पुरोडाश और छठे दिन पयस्या है। पाँचवें सुत्यादिन के ज्योतिष्टोमीय अङ्गकर्मों का होमद्रव्य क्या होगा? यह जिज्ञासा है। श्येनयागीय अङ्गकर्मों के होमद्रव्य नवनीत आज्य को सार्वत्रिक माना गया, उसमें सुत्यादिन भी अन्तर्हित है। इस प्रकार श्येनयाग के माध्यम से—शेष बचे सुत्यादिन में—ज्योतिष्टोमीय अन्य अङ्गकर्मों का भी होमद्रव्य नवनीत आज्य बताया गया, इस कारण इसे श्येनयागीय अङ्गकर्मों के लिए सीमित नहीं माना जाना चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है, चौथे दिन के अङ्गकर्मों का पुरोडाश, पाँचवें दिन का नवनीत आज्य, तथा छठे दिन का पयस्या होमद्रव्य है। इस प्रकार ज्योतिष्टोम के उत्तरभागीय तीन दिनों में अनुष्ठित होनेवाले अङ्गभूत कर्मों का होमद्रव्य आज्या होता है, यह निश्चित हो जाता है।

हमारा विचार है, इस अधिकरण पर यह अध्याय समाप्त हो जाता है। वर्त्तमान में आगे के तीन सूत्र जैमिनि मुनि के पर्याप्त अनन्तर-काल में यहाँ प्रक्षिप्त किये गये। सुत्याकालिक अङ्गकर्मों में मांस को हविद्रव्य बताने के लिए ये तीन [४२–४४] सूत्र यहाँ जोड़े गये। इन सूत्रों की अवतरणिका में 'शाक्त्यानामयन'-संज्ञक छत्तीस-वर्ष-साध्य सत्र का उल्लेख किया गया है। श्रौत सूत्रों [कात्या० २४।५।२०, तथा आप० २३।१।११] में, इस सत्र के हविद्रव्य के लिए 'तरसमयाः पुरोडाशः' मांससिद्ध पुरोडाश का विधान उपलब्ध होता है। सत्र-

संज्ञक कर्मों में सत्रह व्यक्ति मिलकर कार्य करते हैं। उनमें से एक यजमान बनता है, शेष सोलह ऋत्विक्। क्योंकि सब मिलकर कर्म को पूरा करते हैं, इसलिए सब यजमान भी कहे जाते हैं—'ये यजमानास्त ऋत्विजः' जो यजमान हैं वे ऋत्विज् हैं। ऋत्विक् कर्म का विधान केवल ब्राह्मणों के लिए है। इसलिए सत्रानुष्ठान में मिलकर कार्य करनेवाले सत्रह व्यक्ति ब्राह्मण ही होते हैं। इस प्रकार छत्तीस-वर्ष-साध्य 'शाक्त्यानामयनम्' नामक सत्र-याग भी ब्राह्मणों द्वारा ही सम्पन्न होता है।

इस सत्र के हविद्रव्य मांससिद्ध पुरोडाश के लिए मांस प्राप्त करने के विषय में आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [२३।११।१२-१३] बताता है—'संस्थिते संस्थितेऽहनि गृहपतिर्मृगयां याति, स यान् मृगान् हन्ति तेषां तरसाः पुरोडाशाः भवन्ति' दैनिक कर्म-समाप्ति के अनन्तर दिन पूरा होने पर गृहपति (यजमान के रूप में कार्य करनेवाला व्यक्ति) प्रतिरात्रि निरन्तर छत्तीस वर्ष तक आखेट को जाता है; वहाँ जिन मृगों को मारता है, उनके मांस से पुरोडाश तैयार किये जाते हैं।

इस विषय में कतिपय बातें ध्यानपूर्वक विचारणीय हैं—

(१) 'शाक्त्यानामयन' नामक सत्र का वर्णन वैदिक संहिताओं में नहीं मिलता। उपलब्ध ब्राह्मणग्रन्थों में भी केवल ताण्डय ब्राह्मण के अन्तिम भाग [२५।७।१] में इस सत्र का उल्लेख मिलता है।

(२) सत्र-याग केवल ब्राह्मणों द्वारा किये जाते हैं। ब्राह्मणों के लिए हिंसा सर्वथा वर्जित है। जो सत्र अध्वर (=हिंसारहित) माने जाते हैं, उस कर्म में ब्राह्मण गृहपति छत्तीस वर्ष तक प्रतिदिन निरन्तर जंगल में जाकर आखेट द्वारा मृगों को मारे, इसे कोई समझदार व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता, और न यह किसी भी तरह सम्भव है।

(३) प्रतीत होता है, इस प्रकार आखेट की बात लिखनेवाला व्यक्ति आखेट की प्रक्रिया से सर्वथा अनभिज्ञ है। जंगल में मृग कोई खूंटे से बंधे हुए नहीं रहते, कि वहाँ गये और उन्हें मार लिया। आज जब बन्दूक के द्वारा शिकार (आखेट) किया जाता है, जिसमें जंगली जानवर को मारना अधिक सुविधाजनक होता है, तब भी अनेक बार शिकारी को असफल होकर आना पड़ता है। हांका देकर या पटर बांधकर पूरा समय प्रतीक्षा करने पर भी कभी-कभी जानवर घाड़ पर नहीं आता। 'मृगान् हन्ति' प्रतिदिन बहुत-से मृगों को मारने का लेख नितान्त अव्यवहार्य एवं मिथ्या है। न मालूम, क्या पीकर लेखक ने यह लिख डाला है!

(४) आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [२२।१।६] में ही अग्नीषोमीय पशु के स्थान में अग्नीषोमीय एकादशकपाल पुरोडाश का हविद्रव्य के रूप में विधान है। इसी

प्रकार वहीं [२२।३।११ में] अनुबन्ध्य पशु के स्थान में मैत्रावरुणी आमिक्षा[1] का विधान हविद्रव्य रूप में किया गया है। इससे ज्ञात होता है, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में मृगयासम्बन्धी लेख अनन्तर-काल में प्रक्षिप्त किया गया है।

(५) गत अधिकरण के अनुसार सवनीय (=सुत्याकालिक) हविद्रव्य नवनीत आज्य है।

(६) पुरोडाश हविद्रव्य धान-यव आदि अन्न को पीसकर बनाया जाता है। मांस-खण्डों का अन्न के समान पीसा जाना सम्भव नहीं, तब 'तरसमय'=मांस का बना पुरोडाश कैसे तैयार किया जा सकता है? यदि पिसे धान-यव आदि में पके मांस का रस मिलाकर पुरोडाश तैयार किया जाता है, तो वह 'तरसमय' अर्थात् मांसमय=मांस से बना हुआ नहीं कहा जा सकता। वह तो स्पष्ट अन्नमय पुरोडाश होगा। यदि 'तरस' पद का अर्थ प्रारम्भ में मांस न होकर अन्य कुछ रहा हो, तो पुरोडाश के मांसमय होने का प्रश्न ही नहीं उठता। पर उसी के साथ मृगया का उल्लेख अन्य अर्थ की सम्भावना को शिथिल करता है।

(७) 'शाक्त्यानामयनम्' के लेखक ने इसके साथ एक कथा जोड़ी है। शक्ति नामक ऋषि के वंशज 'शाक्त्य' नामक ऋषि थे। उनमें से जिस व्यक्ति ने इस सत्र की नींव रक्खी, अर्थात् सर्वप्रथम इसका अनुष्ठान किया, ताण्ड्य ब्राह्मण में उसका नाम 'गौरविति' लिखा है। ऋग्वेद पञ्चम मण्डल के उनतीसवें सूक्त का ऋषि 'गौरिवीति' है। यह पद सूक्त की ग्यारहवीं ऋचा में भी निर्दिष्ट है।

प्राचीनकाल में एक ऐसा समय आया, जब अपने प्रमाद आदि कारणों से लोग वेदार्थप्रक्रिया की परम्परागत वास्तविकता को विस्मृत कर बैठे। कालान्तर में पुनः सामाजिक जागरण का वातावरण उभरने पर तात्कालिक बुद्धिजीवी जनों ने वेद के ऐसे पदों को लक्ष्य कर अनेक कहानियाँ बना डालीं, जो पद आपाततः किसी के नाम-जैसे प्रतीत होते थे। ऐसी अनेक कथाएँ पुराणों में भरी पड़ी हैं। इस स्थिति ने वेदार्थ-प्रक्रिया का एक प्रकार से शीर्षासन-जैसा कर दिया। जो पद किसी व्यक्ति का नाम न होकर साधारण अर्थान्तर को अभिव्यक्त करते थे, उनके आधार पर घड़ी गईं मनमानी कहानियों के अनुसार अब वेद का अर्थ किया जाने लगा। आचार्य सायण द्वारा किया गया वेदार्थ प्रायः इसी प्रकार की कहानियों पर आधारित है। 'गौरिवीति' पद के साथ ऐसी ही एक कहानी जुड़ी है।

कहानी है, शक्ति ऋषि के वंशज गौरिवीति नामक व्यक्ति ने 'यव्यावती' नदी के तट पर छत्तीस-वर्षीय सत्र का सर्वप्रथम आयोजन किया। सत्र के

---

१. गरम दूध में दही डालने पर उसके फट जाने से जो घना द्रव्य प्राप्त होता है, उसका नाम 'आमिक्षा' है— तप्ते पयसि दध्यानयति सा आमिक्षा।

'शाक्त्यानामयनम्' नाम का यही आधार है। उसने इस सत्र का अनुष्ठान कर अनेक अभिलषित ऋद्धियाँ प्राप्त कीं, और दश पुत्रों को प्राप्त किया। जो कोई व्यक्ति इस सत्र का अनुष्ठान करता है, वह भी उक्त फलों को प्राप्त करता है।

निघण्टु [१।११] के अनुसार 'गौरी' वाणी का नाम है; जो व्यक्ति दक्षतापूर्वक वाणी का उपयोग करने में समर्थ हो, वह गौरवीति है। तात्पर्य है—किसी भी वाग्मी व्यक्ति को इस पद से कहा जा सकता है। यदि कोई व्यक्तिविशेष अपना यह नाम रख ले तो भले ही रक्खे, पर उसका उल्लेख वेद में नहीं है; वहाँ यह पद साधारण 'वाग्मी' अर्थ में प्रयुक्त है। यह पद ऋग्वेद [५।२९।११] में प्रयुक्त है।

'यव्यावती' पद ऋग्वेद [६।२७।६] में है। वहाँ यह पद उस सेना के अर्थ में प्रयुक्त है, जो साधारण खाद्य लेकर शत्रु के साथ दृढ़तापूर्वक संघर्ष कर सके। ये पद वेद में अपने स्थानों में एक ही बार पठित हैं। परस्पर इनका कोई सम्पर्क अथवा अर्थकृत सम्बन्ध नहीं है। पर आमिष-लोलुप याज्ञिकों ने इन पदों पर मनमानी कहानी बनाकर पुनीत यज्ञकर्म में निन्दित हिंसामूलक आमिष के प्रवेश द्वारा उसे बूचड़खाना बना डाला है।

सायण ने 'यव्यावती' पद का अर्थ कोई नदी अथवा कोई नगरी किया है। स्पष्ट है, सायण इस पद के वास्तविक अर्थ को समझने में असमर्थ रहा। साथ में यह भी लिखा कि पहली ऋचा [६।२७।५] में प्रयुक्त 'हरियूपीया' पद 'यव्यावती' का पर्याय है। सायण के इस लेख को आधार मानकर आधुनिक तथाकथित खोजियों ने 'हरियूपीया' पद को हरप्पा या हड़प्पा से जोड़ दिया है। 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा:' की अन्धपरम्परा का यह अच्छा उदाहरण है।

याज्ञिकों ने 'शाक्त्यानामयनम्' की जो यह प्रशंसा की है कि यह सत्र सब ऋद्धि-सुख-सम्पदा व पुत्र-सन्तति का देनेवाला है, यह ऐसा ही लगता है, जैसे आजकल दवा बेचनेवाले विज्ञापन द्वारा अपनी दवाओं की प्रशंसा छापा करते हैं, तथा सड़क पर मजमुआ लगाकर बेचा करते हैं।

इस विवेचन के आधार पर हमारा विचार है कि चालू तृतीय अध्याय २१वें अधिकरण पर पूर्ण हो जाता है। यह 'शाक्त्यानामयनम्' की अप्रासंगिक अवतरणिका भाष्यकार को देनी पड़ी, क्योंकि यहाँ पहले ही मांसपोषक सूत्रों को जोड़ा जा चुका था। अप्रासंगिक इसलिए लिखा कि सोमयाग में प्रधान आहुतियाँ सोम की, और अङ्गकर्मों में पुरोडाश, नवनीत आज्य व आमिक्षा व पयस्या की निश्चित की जा चुकी हैं। फिर याग-सम्बन्धी शेष रहा क्या? स्पष्ट है, यह सूत्रप्रक्षेप आमिषभोजी याज्ञिकों का प्रयास है।

तीन सूत्रों का अर्थ चालू परम्परा के अनुसार लिख देते हैं। उनमें पहला सूत्र क्रमसंख्या पर इस प्रकार है—

मांसं[1] तु सवनीयानां चोदनाविशेषात् ॥४२॥

[तु] 'तु' पद पूर्वोक्त 'सब पुरोडाश मांसमय' हैं—की निवृत्ति का द्योतक है। [मांसम्] मांसमय होना [सवनीयानाम्] केवल सवनीय पुरोडाशों का जानना चाहिए, [चोदनाविशेषात्] 'तरसाः सवनीया भवन्ति' इस विधायक वाक्यविशेष के कारण।

'शाक्त्यानामयन' कर्म में कहा है—यजमान आखेट में 'यान् मृगान् हन्ति, तेषां तरसाः पुरोडाशाः सवनीया भवन्ति' जिन मृगों को मारता है, उनके मांसमय सवनीय पुरोडाश होते हैं। यहाँ सन्देह है—क्या सवनीय पुरोडाशों और अन्य सम्भव सभी पुरोडाशों के मांसमय होने का यह विधान है ? अथवा केवल सवनीय पुरोडाशों के मांसमय होने का विधान है ? ऐसा कोई निर्देश नहीं है, जिससे पुरोडाश के मांसमय होने को किसी विशेष अवसर के साथ जोड़ा जाय। इसलिए सभी पुरोडाश मांसमय होने चाहिएँ,—ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र का अवतरण किया।

'तरसाः सवनीया भवन्ति' इस 'शाक्त्यानामयन'-गत विशेष निर्देश के आधार पर केवल सवनीय पुरोडाशों के मांसमय होने का यह विधान है। इससे यह प्रमाणित होता है कि केवल सुत्याकालिक अङ्गकर्मों का हविद्रव्य मांसमय पुरोडाश है, अन्यत्र नहीं।

'तरसाः सवनीया भवन्ति' वाक्य में पुरोडाश का अनुवाद होता है। सवनीय कौन-सी वस्तु तरस (=मांसमय) होनी चाहिए ? ऐसी आकांक्षा होने पर, पुरोडाश उपस्थित होता है। सवनीय पद अनुवाद नहीं है, क्योंकि सवनीय पद से सवनीय-असवनीय सभी पुरोडाशों का ग्रहण नहीं हो सकता; पर पुरोडाश पद से सवनीय-असवनीय सभी पुरोडाशों का ग्रहण हो सकता है। इसलिए सवनीय पुरोडाश में धाना आदि उपादान-द्रव्य के स्थान पर मांस-द्रव्य का विधान उक्तवाक्य करता है। तात्पर्य है—पुरोडाश पद 'छत्रि न्याय' से सभी हविद्रव्यों का उपलक्षण है। अतः धाना आदि सभी सवनीय हविद्रव्य मांसयुक्त होने चाहिएँ ॥४२॥

आशंका की गई—दूरस्थित पुरोडाश को लक्षणा से प्रस्तुत करना उचित प्रतीत नहीं होता। सूत्रकार ने आशंका को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

भक्तिरसन्निधावन्याय्येति चेत् ॥४३॥

[असन्निधौ] व्यवधान-पठित दूरस्थित पुरोडाश पद में [भक्तिः] लक्षणा

---

१. सूत्रगत 'मांस' पद का अर्थ पं० आर्यमुनि ने 'मांसल' किया है, और माष= उड़द का पर्याय बताया है।

[अन्याय्या] न्यायानुमोदित=शास्त्रीय दृष्टि से उचित नहीं है, [इति चेत्] ऐसा यदि कहो तो—(वह अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)।

वाक्य है[1]—'सवनीयानि निर्वपति—धानाः, करम्भः, परीवापः, पुरोडाशः, पयस्या' इति। इस वचन में सवनीय और पुरोडाश पदों के बीच 'धानाः, करम्भः, परीवापः' पदों का व्यवधान है। धानाः—भुने हुए धान, अर्थात् खील। करम्भः=भुने हुए जौ। परीवापः=भुने जौ को पीसकर पानी मिलाकर बनाया—सत्तू। धान (=चावल) को पीसकर पुए के समान पकाकर बनाया=पुरोडाश। पयस्या=खीर; दूध में चावल पकाकर बनाना। ये सब हविद्रव्य हैं। ये विभिन्न देवताओं के उद्देश्य से आहुत किये जाते हैं। हरिवान् इन्द्र के लिए धानाः। पूषा-युक्त इन्द्र के लिए करम्भ। सरस्वती भारती के लिए परीवाप। इन्द्र के लिए पुरोडाश। मित्र-वरुण के लिए पयस्या[2]। विभिन्न देवताओं के लिए हविद्रव्य पृथक्-पृथक् होने से स्पष्ट होता है कि पुरोडाश पद धाना आदि सभी सवनीय हवियों का उपलक्षण नहीं है। तात्पर्य है, धाना आदि के लिए पुरोडाश पद का व्यवहार नहीं है। मुख्यार्थ के सम्भव होने पर लक्षणा स्वीकार करना अशास्त्रीय माना जाता है। इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में लक्षणा के आधार पर धाना आदि सभी सवनीय हविद्रव्यों को 'पुरोडाश'-पद-ग्राह्य मानकर सबको मांसयुक्त समझना उचित न होगा ॥४३॥

आचार्य सूत्रकार ने आशंका का समाधान किया—

स्यात् प्रकृतिलिङ्गत्वाद् वैराजवत्[3] ॥४४॥

[स्यात्] पुरोडाश पद लक्षणावृत्ति से धाना आदि सभी सवनीय हविद्रव्यों का ग्राहक होता है, [प्रकृतिलिङ्गत्वात्] प्रकृतियाग ज्योतिष्टोम में 'पुरोडाश-शैश्चरति' [कात्या० श्रौ० ६।६।२] इत्यादि वाक्यों के पुरोडाश पद से धाना आदि पाँचों का बोध कराने में—लिङ्ग होने के कारण, [वैराजवत्] वैराज के समान।

प्रकृतियाग ज्योतिष्टोम में लक्षणा वृत्ति के आधार पर पुरोडाश पद से धाना आदि सभी द्रव्यों का बोध होता है, यह 'पुरोडाशैश्चरति' आदि वाक्यों से स्पष्ट

---

१. द्रष्टव्य—आप० श्रौत० १२।४।६॥

२. द्रष्टव्य—आप० श्रौत० १२।४।१०, १२, १३॥

३. रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनी वृत्ति में अन्तिम दो सूत्र व्याख्यात नहीं हैं। इससे सन्देह होता है–कदाचित् रामेश्वर सूरि के काल तक न ये सूत्र थे, न इनपर शाबर भाष्य था। इन सूत्रों और इनके भाष्य को सूरि के परवर्त्ती काल में भाष्य और वार्त्तिक ग्रन्थों में मिलाया गया।

है। तब अङ्गकर्मों में पुरोडाश पद धाना आदि अन्य हवियों का उपलक्षण नहीं होना चाहिए, यह कथन निरस्त हो जाता है। ऐसी दशा में 'तरसमया: सवनीया: पुरोडाशा भवन्ति' में भी पुरोडाश पद लक्षणा से धाना आदि हवियों का ग्राहक है। फलतः सवनीय सभी हवियाँ मांसयुक्त हों, इसमें कोई बाधा नहीं है। इसकी पुष्टि के लिए सूत्र में 'वैराजवत्' उदाहरण दिया। इस सम्बन्ध में वाक्य है—'उक्थ्यो वैरूपसामा एकविंशः, षोडशी वैराजसामा' ज्योतिष्टोम की उक्थ्य संस्था वैरूपसाम और एकविंश स्तोत्रवाली होती है, षोडशी संस्था वैराज सामवाली होती है। इन वाक्यों में प्रकृतिलिङ्ग से 'साम' पद मुख्यार्थ को छोड़कर लक्षणबोध्य अर्थ वैरूपपृष्ठ तथा वैराजपृष्ठ का बोधक है। इसी प्रकार पुरोडाश-पद-बोध्य धाना आदि सभी हवियों की—मांसमयता जाननी चाहिए।

छत्तीस वर्ष में साध्य 'शाक्त्यानामयनम्' सत्र के नाम से हविद्रव्यों में मांस का जिस धींगामुश्ती से प्रवेश किया गया है, वह सत्र के उपलब्ध विवरण से भी स्पष्ट होता है। उस विषय का सन्दर्भ है—

'संस्थिते संस्थितेऽहनि गृहपतिर्मृगयां याति, स तत्र यान् मृगान् हन्ति, तेषां तरसा: पुरोडाशा: सवनीया भवन्ति।'

प्रतिदिन अनुष्ठेय कर्म की समाप्ति पर गृहपति रात में मृगया (=आखेट-शिकार) के लिए जाता है, वह आखेट में जिन मृगों को मारता है, उनके मांस से तैयार किये गये (=तरसा:) पुरोडाश सवनीय होते हैं। ज्योतिष्टोम के पाँचवें सुत्या दिन में हविद्रव्य के रूप से उनका उपयोग होता है। तात्पर्य है, उस दिन के अङ्गकर्मों में उनकी (मांसमय पुरोडाशों की) आहुति दी जाती है।

विचारणीय है, उक्त सन्दर्भ मांसभक्षणलोलुपता में विक्षिप्त हुए व्यक्ति का लिखा हुआ ज्ञात होता है। वह आखेट-विषयक जानकारी से नितान्त अनभिज्ञ है। सन्दर्भ में जंगली जानवर के लिए 'मृग' पद का प्रयोग किया है। इस पद का अर्थ केवल हिरन न होकर उसमें हिरन, सूअर, शशा (=खरगोश), सेही चीतल, झाँख, मह्रा (=STAG) आदि सभी आ जाते हैं। आजकल आग्नेयास्त्र (बन्दूक आदि) के सहारे शिकार सभी जानवरों का सुगमता से हो जाता है। फिर भी जानवरों के भेद, मौसम, जंगल की स्थिति, सहयोगी व्यक्तियों के होने-न-होने के कारण अवसर के अनुसार अनेक प्रकारों का आश्रय लेना पड़ता है। सब सुविधाएँ होने पर भी कभी शिकार नहीं मिलता; निराश लौट आना पड़ता है। वर्ष में ऋतु के अनुसार अनेक ऐसे अवसर आते हैं, जब आखेट के लिए कहीं बाहर जंगल में जाया ही नहीं जा सकता। गृहपति रुग्ण हो जाय, अथवा अन्य कोई अनिवार्य बाधा आ जाय, तो अनेक दिनों तक भी सम्भव नहीं होगा। ऐसी दशा में छत्तीस वर्ष तक निरन्तर प्रतिदिन कर्मानुष्ठान के अनन्तर अर्थात् प्राय: रात्रि में आखेट के लिए जाने का उल्लेख नितान्त अव्यवहार्य एवं पागल-

पन है।

स्थिति के अनुसार आखेट के लिए कोई भी प्रकार अपनाया जाय, वर्षभर निरन्तर उसमें कोई भी बाधा न आये, यह सर्वथा असम्भव है। आग्नेयास्त्र के अभाव में आज भी भाले, बरछे, तलवार व पोलेदार लाठियों से शिकार किया जाता है। हिरन, सूअर आदि प्रायः फसलों के खेतों में आ जाते हैं। ऐसे में ग्रामीण जनों द्वारा सूअर के शिकार का एक प्रकार बड़ा बीभत्स है। उसमें कम-से-कम पन्द्रह-सोलह अच्छे तगड़े व्यक्तियों का होना आवश्यक है। वह प्रकार यहाँ लिखना व्यर्थ है। सारांश है, कोई भी प्रकार आखेट का हो, पूरे वर्ष निरन्तर प्रतिदिन उसमें सफलता प्राप्त की जा सके, यह नितान्त असम्भव है। फिर जंगल में जानवर खूँटे से बँधे नहीं रहते कि गृहपति जाये, और मारकर ले आए।

यह अनेकत्र गत पंक्तियों में स्पष्ट किया जा चुका है—मांसमय पुरोडाश का कथन सर्वथा अशास्त्रीय है। सवनीय हविद्रव्यों की गणना में धाना, करम्भ, परीवाप, पुरोडाश, पयस्या का उल्लेख मिलता है। मांस का कहीं उल्लेख नहीं है। इनमें पुरोडाश के अतिरिक्त सब द्रव्य स्पष्ट अन्नमय हैं। पुरोडाश भी पिसे हुए अन्न का बनाया जाता है। मांस न पीसा जा सकता है, न उसका पुरोडाश बन सकता है। पर अन्य द्रव्यों में नितान्त भी अवसर (=गुंजायश) न देखकर जैसे-तैसे पुरोडाश में बलात् मांस का प्रवेश कर इन्द्रियों की विषयलोलुपता को बहलाने का निर्लज्ज प्रयास किया गया है।

सत्र की छत्तीस वर्ष अवधि भी इसी तथ्य का प्रतीक प्रतीत होता है। चौबीस वर्ष वयस् के आस-पास जोशपूर्ण मदभरे यौवन का उभार उमड़ पड़ता है। आगे छत्तीस वर्ष इसी यौवन का आनन्द-रस लेने के हैं। शिकार खेलो, मांस और सोम का सेवन करो—अपना तो स्वर्ग यही है, और यहीं है। स्वर्ग की कामना से यज्ञों के अनुष्ठान का तात्पर्य इसी में है। मरकर क्या होगा? किसने देखा है? इस प्रकार छत्तीस वर्ष बीतने पर कभी पूरे कभी अधूरे देह-इन्द्रिय आदि शिथिल हो जाते हैं। सत्रकाल स्वतः पूरा हो जाता है। छत्तीस वर्ष के सत्रकाल का अन्य क्या प्रवृत्ति-निमित्त रहा होगा? कोई बताये। फलतः यह प्रसंग अशास्त्रीय अव्यवहार्य होने से त्याज्य है, शास्त्र का अङ्ग नहीं है।

हम जैमिनि की वकालत करना नहीं चाहते। यदि वस्तुतः ये तीन सूत्र जैमिनि-लिखित हैं, तब भी इनमें प्रतिपादित अर्थ सर्वथा अव्यवहार्य व वेदविरुद्ध होने से पूर्णतः अमान्य है।

इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने की बात है—यदि एक बस्ती, ग्राम या नगर में अनेक गृहपति इस सत्र का अनुष्ठान करनेवाले हों, तो छत्तीस वर्ष तक निरन्तर प्रतिदिन आखेट के लिए जंगली जानवर कहाँ से आयेंगे? सन्दर्भ में 'मृगान् हन्ति' बहुवचनान्त कर्म का प्रयोग है। प्रतिदिन बहुत-से मृग मारे जाएँ, तो छत्तीस वर्ष

तक उनका मिलना कहाँ सम्भव होगा ? हम स्वयं यह देखते रहे हैं, दसों-बीसों मीलों तक जो जंगल सभी तरह के जानवरों से भरे थे, वहाँ एक शिकारी परिवार के स्थायी रूप से बस जाने पर कुछ ही वर्षों में वे जंगल शेर जैसे जानवरों तक से खाली दिखाई देने लगे; अन्य जानवरों के विषय में क्या स्थिति रही होगी ? यह स्वयं समझा जा सकता है।

इस सत्र के नाम 'शाक्त्यानाम्-अयनम्' पर भी ध्यान देना अपेक्षित है। 'शाक्त्यानाम्' में मूल पद 'शक्ति' है। केवल नाम के आधार पर वसिष्ठ-पुत्र 'शक्ति' के साथ इस सत्र का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया गया है। पर इसके विपरीत 'शक्ति' के उपासक तान्त्रिक व वाममार्ग के अनुगामियों के साथ इसका सम्पर्क रहा हो, यह अधिक सम्भव है। वसिष्ठपुत्र शक्ति का नाम लेकर उसे वेद-मार्ग पर लाने का व्यर्थ प्रयास किया गया है। सुविज्ञ पाठक स्वयं गम्भीरता-पूर्वक इसपर विचार करेंगे ॥४४॥

इति श्री पूर्णसिंहतनूजेन तोफ़ादेवीगर्भजेन, बलियामण्डलान्तर्गत
'छाता'-वासि श्रीगुरुवर काशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्ध-
विद्योदयेन, बुलन्दशहर - मण्डलान्तर्गत-पहासूपकण्ठ-
'बनैल' ग्रामाभिजनेन, साम्प्रतं 'गाजियाबाद' नगर-
निवासिना, उदयवीर-शास्त्रिणा समुन्नीते
जैमिनीयमीमांसादर्शनविद्योदयभाष्ये
तृतीयाध्यायस्य अष्टमः पादः।
सम्पूर्णश्चायं तृतीयोऽध्यायः।

गुणवेदाम्बरनेत्र - मिते वैक्रमवत्सरे।
विशुद्धार्यैः समायुक्तः सम्पूर्णे माघने शनौ॥
आद्यत्र्यध्यायरूपोऽयं ग्रन्थांशः पूर्णतामगात्।
परलोकगताः पुण्याः प्रीयन्तां पितृदेवताः॥

चतुर्थोऽध्यायः

प्रथमः पादः

अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा ॥१॥

शेष-शेषीभाव के अनन्तर क्रत्वर्थ तथा पुरुषार्थ की जिज्ञासा करनी चाहिए, क्योंकि वह कर्मों के प्रयोज्य-प्रयोजकभाव के लिए उपयोगी है।

यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्साऽर्थलक्षणाऽविभक्तत्वात् ॥२॥

जिस कर्म के अनुष्ठान से पुरुष को सुख प्राप्त होता है और जिसके करने की इच्छा स्वतः ही है, उस कर्म को पुरुषार्थ कहते हैं, वह सुख का साधन कर्म से पृथक् नहीं है।

तदुत्सर्गे कर्माणि पुरुषार्थाय शास्त्रस्यानतिशंक्यत्वान्न च द्रव्यं चिकीर्ष्यते, तेनार्थेनाभिसम्बन्धात् क्रियायां पुरुषश्रुतिः ॥३॥

प्रीतिरूप फल की उपलब्धि न होने पर भी 'प्रजापतिव्रत' संज्ञक कर्म पुरुषार्थ हैं, क्योंकि शास्त्रोक्त बात शङ्कनीय नहीं होती तथा यज्ञ का अङ्गभूत कोई भी द्रव्य उक्त कर्मों द्वारा संस्करणीय नहीं पाया जाता जिससे उनको क्रत्वर्थ माना जाए और पुरुषार्थ के साथ सम्बन्ध होने से उक्त कर्मों में पुरुष-श्रवण भी चरितार्थ होता है।

अविशेषात्तु शास्त्रस्य यथाश्रुति फलानि स्युः ॥४॥

आक्षेप—वाक्यशेष के अनुसार फलवाले समिधादि कर्म भी पुरुषार्थ होने चाहिएँ, क्योंकि उनका विधायक शास्त्र भी 'प्रजापतिव्रत' संज्ञक कर्म विधायक शास्त्र के समान है।

अपि वा कारणाऽग्रहणे तदर्थमर्थस्याऽनभिसम्बन्धात् ॥५॥

समा०—श्रुति आदि विनियोजक प्रमाणों में से किसी भी प्रमाण के उपलब्ध न होने से 'प्रजापतिव्रत' संज्ञक कर्म पुरुषार्थ माने गये हैं, प्रमाणाभाव से उनका किसी प्रधान कर्म के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता।

तथा च लोकभूतेषु ॥६॥

और, जैसा ऊपर निरूपण किया गया है, वैसी ही मान्यता सब लोगों में पाई जाती है।

द्रव्याणि त्वविशेषेणाऽऽनर्थक्यात् प्रदीयेरन् ॥७॥

पूर्व०—स्फ्य आदि यज्ञायुध पूर्णरूपेण अग्नि में हवन करने चाहिएँ, अन्यथा विधान व्यर्थ हो जाएगा।

स्वेन त्वर्थेन सम्बन्धो द्रव्याणां पृथगर्थत्वात्तस्माद्यथाश्रुति स्युः ॥८॥

सि०—उक्तायुधों का अपने-अपने कार्यों के साथ सम्बन्ध होना उचित है, क्योंकि उनका भिन्न-भिन्न कार्य विधान किया गया है, अतः श्रुति के अनुसार ही उनका विनियोग होना ठीक है।

चोद्यन्ते चार्थकर्मसु ॥६॥

और, हवन-विधि के लिए पुरोडाश आदि विधान किये गये हैं।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१०॥

तथा, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्तार्थ की सिद्धि होती है।

तत्रैकत्वमयज्ञाङ्गमर्थस्य गुणभूतत्वात् ॥११॥

पूर्व०—यज्ञ में दान किये जानेवाले पशुओं में एक या अधिक संख्या का विचार आवश्यक नहीं, क्योंकि वह उक्त पशुओं का विशेषण होने से गौण है।

एकश्रुतित्वाच्च ॥१२॥

और, एकत्व संख्या का श्रवण पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

प्रतीयत इति चेत् ॥१३॥

कहीं-कहीं एकवचनान्त पद से एकत्व संख्या की प्रतीति भी होती है, यदि ऐसा कहो तो—

नाऽशब्दं तत्प्रमाणत्वात्पूर्ववत् ॥१४॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि 'प्रथम दौड़ता है' कहने से जैसे द्वितीय-तृतीय का आर्थिक बोध होता है, वैसे ही प्रमाणीभूत वाक्य के श्रवण से जो एकत्व संख्या का बोध होता है, वह भी आर्थिक होता है, शाब्दिक नहीं।

शब्दवत्तूपलभ्यते तदागमे हि दृश्यते तस्य ज्ञानं हि यथाऽन्येषाम् ॥१५॥

सि०—पशुगत एकत्व संख्या शाब्द प्रतीत होती है, क्योंकि पशुः प्रातिपदिकोत्तरवर्ती 'अम्' प्रत्यय में वह वाच्यरूप से विद्यमान है और उसका ज्ञान पशु आदि पदार्थों के समान होना उचित है।

तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ॥१६॥

और, जैसा पूर्व निरूपण किया गया है, वैसे ही अर्थ के साधक प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

तथा च लिङ्गम् ॥१७॥

जैसे संख्या विवक्षित है, वैसे ही लिङ्गप्रमाण भी विवक्षित है।

आश्रयिष्वविशेषेण भावोऽर्थः प्रतीयेत ॥१८॥

सि०—'स्विष्टकृत्' आदि कर्मों में भावी सुख की जनक अदृष्टार्थता जाननी चाहिए, क्योंकि वह भी याग के समान शास्त्रीय कर्म है।

चोदनायां त्वनारम्भो विभक्तत्वान्न ह्यनेन विधीयते ॥१६॥

पूर्व०—शेष हवि से विधान किये गये 'स्विष्टकृत्' आदि कर्मों में आंशिक अदृष्टार्थता=फलप्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वे पृथक् कर्म नहीं हैं, और अन्य किसी वाक्य से उनकी अदृष्टार्थता का विधान नहीं पाया जाता।

स्याद्वा द्रव्यचिकीर्षायां भावोऽर्थे च गुणभूतत्वाऽऽश्रयाद्धि गुणीभावः ॥२०॥

सि०—उपर्युक्त हवि के संस्कारार्थ होने पर भी 'स्विष्टकृत्' आदि कर्मों में अदृष्टार्थता और संस्कारार्थता दोनों प्रकार हो सकते हैं, क्योंकि संस्कारार्थता तथा अदृष्टार्थता उद्देश्य के अधीन हैं।

अर्थे समवैषम्यमतो द्रव्यकर्मणाम् ॥२१॥

इसके आगे फल की प्राप्ति के अर्थ द्रव्य तथा कर्म—दोनों की समता तथा विषमता का निरूपण किया जाता है।

एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात् ॥२२॥

पूर्व०—आमिक्षा और वाजिन्—ये दोनों समान रूप से दधि-प्रक्षेप के प्रयोजक हैं, क्योंकि एक बार दधि-प्रक्षप=दही डालने से ही उनकी निष्पत्ति हो जाती है।

संसर्गरसनिष्पत्तेरामिक्षा वा प्रधानं स्यात् ॥२३॥

सि०—वाजिन तथा आमिक्षा—दोनों में आमिक्षा ही दधि-प्रक्षेप का प्रयोजक है, क्योंकि दधि के सम्बन्ध से उसकी निष्पत्ति पहले होती है।

मुख्यशब्दाभिसंस्तवाच्च ॥२४॥

मुख्यार्थ के ग्राहक सर्वनाम शब्द के द्वारा आमिक्षा को विश्वदेवों को समर्पित करने से भी उक्तार्थ की सिद्धि होती है।

पदकर्माप्रयोजकं नयनस्य परार्थत्वात् ॥२५॥

पदकर्म गौ ले जाने का प्रयोजक नहीं, क्योंकि वह गौण है।

अर्थाभिधानकर्मं च भविष्यता संयोगस्य तन्निमित्तत्वात्तदर्थो हि विधीयते ॥२६॥

तथा, तुषोपवाप=कपालों में तुषों को रखनारूप कर्म कपालों के सम्पादन का प्रयोजक नहीं हो सकता, क्योंकि पुरोडाश के साथ संयुक्त कपालों को तुषोपवाप का निमित्त कथन किया है और पुरोडाश श्रवण के लिए ही कपालों का विधान किया गया है।

पशावनालम्भाल्लोहितशकृतोरकर्मत्वम् ॥२७॥

इसी प्रकार दान के लिए लाये गये पशु को खिलाने के लिए लाल रङ्ग की घास को छोटे-छोटे टुकड़ों में काटकर रखना और मल का दूरीकरण—ये दोनों कर्म मुख्य नहीं, आनुषङ्गिक हैं।

एकदेशद्रव्यश्चोत्पत्तौ विद्यमानसंयोगात् ॥२८॥

तथा, 'स्विष्टकृत्' याग पुरोडाश का प्रयोजक नहीं, क्योंकि पुरोडाश के विधायक वाक्य में उसका आग्नेय याग के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है।

निर्देशात्तस्यान्यदर्थादिति चेत् ॥२९॥

आक्षेप—प्रकृत पुरोडाश का आग्नेय याग के लिए विधान होने के कारण अर्थापत्ति प्रमाण से स्विष्टकृत् कर्म के लिए किसी अन्य पुरोडाश की कल्पना होती है, यदि ऐसा कहो तो—

न शेषसन्निधानात् ॥३०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि स्विष्टकृत् कर्म का शेष हवि के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है।

कर्म कार्यात् ॥३१॥

पुरोडाश मुख्य कर्म की समृद्धि के लिए प्रस्तुत किया जाता है, अतः उक्त कर्म पुरोडाश सम्पादन का प्रयोजक नहीं।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥३२॥

तथा, शास्त्र-प्रमाण उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की ही सिद्धि होती है।

अभिघारणे विप्रकर्षादनुयाजवत् पात्रभेदः स्यात् ॥३३॥

पूर्व०—जैसे अनुयाज के साधन पृषदाज्यधारणार्थ अन्य पात्र का सम्पादन किया जाता है, वैसे ही प्राजापत्य हवियों के लिए 'जुहु' से भिन्न कोई दूसरा पात्र होना चाहिए, क्योंकि वह ऋतुहवियों से बहुत दूर है।

न वा पात्रत्वादपात्रत्वं त्वेकदेशत्वात् ॥३४॥

सि०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि शेषधारण के लिए किसी पात्र का विधान नहीं और प्रयाज का शेषांश होने से घृत के लिए अन्य पात्र का विधान न होना युक्त है।

हेतुत्वाच्च सहप्रयोगस्य ॥३५॥

तथा, ऋतुपशु और प्राजापत्य पशुओं को एकसाथ पुण्य का देनेवाला कथन करने से भी उक्तार्थ की सिद्धि होती है।

अभावदर्शनाच्च ॥३६॥

और, प्राजापत्य पशु-सम्बन्धी हवियों के अभिघारण का विधान न पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

सति सव्यवचनम् ॥३७॥

अभिघारण के अभाव होने पर ही 'प्राजापत्य पशु' सम्बन्धी हवियों की रूक्षता से प्रतिपादक वचन उपपन्न हो सकता है।

न तस्येति चेत् ॥३८॥

आक्षेप—सव्यवचन अभिघारण के अभाव का सूचक नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

स्यात्तस्य मुख्यत्वात् ॥३९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। उक्त वाक्य को अभिघारणाभाव का बोधक मानना ही ठीक है, क्योंकि ऐसा मानने से वह मुख्यार्थ का वाचक हो सकता है।

समानयनं तु मुख्यं स्याल्लिङ्गदर्शनात् ॥४०॥

'उपभृत' संज्ञक स्रुवा से 'जुहु' संज्ञक स्रुवा में घृत लाना औपभृत् आज्य के ग्रहण का प्रयोजक है, क्योंकि प्रमाणों से ऐसा ही सिद्ध होता है।

वचने हि हेत्वसामर्थ्यम् ॥४१॥

यदि 'प्रतिहाय' वाक्य में श्रूयमाण समानयन को औपभृत के सम्पादन का प्रयोजक न मानें तो जौहवघृत से अनुयाजभावरूप हेतु का कथन निरर्थक हो जाता है।

तत्रोत्पत्तिरविभक्ता स्यात् ॥४२॥

पूर्व०—'जुहु' और 'उपभृत' स्रुवों में जो आज्य का ग्रहण कथन किया है, उसका बिना विभाग विनियोग होता है।

तत्र जौहवमनुयाजप्रतिषेधार्थम् ॥४३॥

सि०—'जौहव' और 'औपभृत' दोनों आज्यों के मध्य जौहव आज्य प्रयाजों के लिए ही है, अनुयाजों के लिए नहीं।

औपभृतं तथेति चेत् ॥४४॥

आक्षेप—जैसे 'जौहव' आज्य केवल प्रयाजों के लिए है, वैसे ही औपभृत आज्य भी केवल अनुयाजों के लिए ही होना चाहिए, प्रयाज तथा अनुयाज दोनों के लिए नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

स्याज्जुहूप्रतिषेधान्नित्यानुवादः ॥४५॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। औपभृत आज्य प्रयाज तथा अनुयाज दोनों के लिए होना चाहिए, क्योंकि 'यज्जुह्वाम्' वाक्य में अनुयाजों का निषेध होने से 'यदुपभृति' वाक्य में प्रयाजों के साथ अर्थसिद्धि अनुयाजार्थता का अनुवाद हो सकता है।

तदष्टसंख्यं श्रवणात् ॥४६॥

पूर्व०—'उपभृत' नामक स्रुवा में जो आज्य का ग्रहण विधान किया है, वह आठ संख्यावाला जानना चाहिए, क्योंकि ग्रहण-विधायक वाक्य से ऐसा सिद्ध होता है।

अनुग्राहाच्च जौहवस्य ॥४७॥

तथा, जुहु में चार बार आज्य का ग्रहण विधान करके पश्चात् 'उपभृत' में आठ बार विधान करने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

द्वयोस्तु हेतुसामर्थ्यं श्रवणं च समानयने ॥४८॥

सि०—दो बार चार के ग्रहण का विधान है, एक बार आठ के ग्रहण का नहीं, क्योंकि ग्रहण-हेतु से ऐसा ही पाया जाता है और आठ बार का विधान समानयन के अभिप्राय से किया है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

स्वरुस्त्वनेकनिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात् ॥१॥

पूर्व०—'स्वरु' यूप-निर्माण-क्रिया से भिन्न क्रिया द्वारा निष्पन्न होता है, क्योंकि उसकी निष्पत्ति का स्वतन्त्र विधान किया गया है।

जात्यन्तराच्च शङ्कते ॥२॥

तथा, अन्य वृक्ष से 'स्वरु' के निर्माण की जो शंका की गई है, उससे भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

तदेकदेशो वा स्वरुत्वस्य तन्निमित्तत्वात् ॥३॥

सि०—'स्वरु' यूप का ही एक अंश होता है, अतः उसका स्वतन्त्र स्थान मानना निरर्थक है।

शकलश्रुतेश्च ।।४।।

तथा, यूप का शकल श्रवण होने से भी 'स्वरु' छेदन-क्रिया का प्रयोजक नहीं हो सकता।

प्रतियूपं च दर्शनात् ।।५।।

और, प्रतियूप 'स्वरु' का विधान पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

आदाने करोति शब्दः ।।६।।

'यस्य स्वरुं, करोति' वाक्य में जो 'करोति' शब्द है, उसका अर्थ निष्पत्ति नहीं अपितु आदान है।

शाखायां तत्प्रधानत्वात् ।।७।।

शाखा में आहरण क्रिया का सम्बन्ध जानना चाहिए, क्योंकि वह उक्त क्रिया के प्रति प्रधान है।

शाखायां तत्प्रधानत्वादुपवेषेण विभागः स्याद्वैषम्यात् ।।८।।

शाखा में उपवेष के साथ प्रयोजकता तथा अप्रयोजकता अंश में भेद होना चाहिए, क्योंकि छेदन-क्रिया के प्रति शाखा प्रधान और उपवेष गौण है।

श्रुत्यपायाच्च ।।९।।

तथा, श्रुत अर्थ के अभाव की प्राप्ति होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

हरणे जुहोतिर्योगसामान्याद् द्रव्याणां चार्थशेषत्वात् ।।१०।।

पूर्व०—'सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति' वाक्य में जो शाखा का प्रहरण विधान है, वह होमरूप अर्थकर्म है, क्योंकि उसका अर्थकर्मरूप प्रस्तर-प्रहरण के साथ सम्बन्ध है और द्रव्य को अर्थकर्म का शेष होना नियत है।

प्रतिपत्तिर्वा शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ।।११।।

सि०—शाखाप्रहरण प्रतिपत्ति कर्म है, प्रस्तर-प्रहरण के समान अर्थकर्म नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य में शाखा का प्रस्तर की अपेक्षा गुणरूप से उपादान किया है।

अर्थेऽपीति चेत् ।।१२।।

अप्रधान अर्थ में भी द्वितीया विभक्ति होती है, यदि ऐसा कहो तो—

न तस्यानधिकारादर्थस्य च कृतत्वात् ।।१३।।

ठीक नहीं, क्योंकि सक्तु आदि का विनियोग न होने और शाखा द्वारा वत्सापकरण रूप अर्थ के किये जाने से सक्तु और शाखा परस्पर विलक्षण हैं।

उत्पत्त्यसंयोगात्प्रणीतानामाज्यवद्विभागः स्यात् ।।१४।।

पूर्व०—जैसे 'ध्रुवा' के घृत का सब कर्मों में प्रयोग होता है, वैसे ही प्रणीता पात्र के जल का 'संयवन' और 'निनयन' दोनों कर्मों के लिए विभाग भी समानतया होना चाहिए, क्योंकि प्रणयन-विधायक वाक्य में उसका किसी कार्यविशेष के साथ सम्बन्ध नहीं पाया जाता।

संयवनार्थानां वा प्रतिपत्तिरितरासां तत्प्रधानत्वात् ।।१५।।

सि०—'संयवन' कर्म में उक्त जल से शेष बचे जल का वेदि में निनयन प्रतिपत्ति-कर्म है, क्योंकि उसके प्रति शेष जल का प्रधानरूप में निर्देश किया गया है।

प्रासनवन्मैत्रावरुणस्य दण्डप्रदानं कृतार्थत्वात् ॥१६॥

पूर्व०—जैसे कण्डूयन के साधनभूत विषाणाकार काष्ठविशेष का चत्वाल नामक गर्त में प्रक्षेप प्रतिपत्तिकर्म है, वैसे ही यजमान का मैत्रावरुण नामक ऋत्विक् के प्रति दण्ड का देना भी प्रतिपत्ति-कर्म है, क्योंकि वह दीक्षाकर्म में प्रथम विनियुक्त होने से चरितार्थ है।

अर्थकर्म वा कर्तृसंयोगात्स्रग्वत् ॥१७॥

सि०—जैसे उद्गाता को माला देना अर्थकर्म है, वैसे ही मैत्रावरुणा ऋत्विक् के प्रति यजमानकर्तृक दण्ड-प्रदान भी अर्थकर्म है, क्योंकि उसका मैत्रावरुण के साथ गौण सम्बन्ध पाया जाता है।

कर्मयुक्ते च दर्शनात् ॥१८॥

प्रैषादि अन्य कर्मों में भी मैत्रावरुण का वर्णन दण्डसहित ही किये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

उत्पत्तौ येन संयुक्तं तदर्थं तत् श्रुतिहेतुत्वात्तस्यार्थान्तरगमने
शेषत्वात् प्रतिपत्तिः स्यात् ॥१९॥

उत्पत्ति-वाक्य में जो जिसके साथ संयुक्त है, वह उसी के लिए है, क्योंकि श्रुति में ऐसा ही पाया जाता है तथा उसका अन्य अर्थ में विनियोग हो तो वह प्रतिपत्तिरूप होना उचित है, क्योंकि वह अङ्ग नहीं किन्तु प्रधान है।

सौमिके च कृतार्थत्वात् ॥२०॥

सि०—ज्योतिष्टोम याग के अन्तर्गत 'अवभृथ' देश में जो सोमलिप्त पात्रों का नयन कथन किया है, वह प्रतिपत्ति-कर्म है, क्योंकि उक्त पात्र अन्यत्र स्व-स्व कर्म में चरितार्थ हैं।

अर्थकर्म वाऽभिधानसंयोगात् ॥२१॥

आक्षेप—'अवभृथ-नयन' अर्थकर्म है, क्योंकि उपपात्रों का अवभृथ याग के साथ अङ्गरूप से सम्बन्ध उपलब्ध होता है।

प्रतिपत्तिर्वा तन्न्यायत्वाद्देशार्थाऽवभृथश्रुतिः ॥२२॥

समा०—'अवभृथ-नयन' प्रतिपत्ति-कर्म है, क्योंकि युक्ति से ऐसा ही सिद्ध होता है, और उदाहृत वाक्य में अवभृथ शब्द देश का वाचक है, याग का नहीं।

कर्तृदेशकालानामचोदनं प्रयोगे नित्यसमवायात् ॥२३॥

पूर्व०—शास्त्र में कर्ता, देश तथा काल की विधि अपेक्षित नहीं, क्योंकि वह कर्मानुष्ठान में नित्य समवेत होने से स्वयं प्राप्त है।

नियमार्था वः पुनः श्रुतिः ॥२४॥

सि०—कर्ता आदि की स्वयं प्राप्ति होने पर भी जो पुनः विधान किया है, वह नियम के लिए है।

तथा द्रव्येषु गुणश्रुतिरुत्पत्तिसंयोगात् ॥२५॥

जैसे कर्ता आदि का विधान नियमार्थ है, वैसे ही प्रतिद्रव्य-गुण का विधान भी नियमार्थ है, क्योंकि उसका उत्पत्ति-वाक्य से द्रव्य के साथ सम्बन्ध है।

संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ॥२६॥

तथा, अवघात आदि संस्कारों में भी नियम ही जानना चाहिए, क्योंकि उनके विधायक वाक्य में नियम की प्रधानता पाई जाती है।

यजति चोदनाद्रव्यदेवताक्रियं समुदाये कृतार्थत्वात् ॥२७॥

याग शब्द का अर्थ है—द्रव्य, देवता और क्रिया—इन तीनों का समुदाय, क्योंकि उसका उक्त समुदाय में ही संकेत किया गया है।

तदुक्ते श्रवणाज्जुहोतिरासेचनाधिकः स्यात् ॥२८॥

याग और होम दोनों समानार्थक शब्द हैं, क्योंकि याग शब्द के अर्थ में ही होम-वाची 'जुहोति' क्रिया का प्रयोग पाया जाता है, अन्तर इतना है कि याग में परमात्मा के उद्देश्य से त्याग होता है।

विधेः कर्मापवर्गित्वादर्थान्तरे विधिप्रदेशः स्यात् ॥२९॥

पूर्व०—जिस याग में जिस द्रव्य की विधि है, उससे भिन्न याग में विहित द्रव्य के धर्मों का अतिदेश होता है, क्योंकि विधि के कर्म की समाप्तिपर्यन्त का ही नियम है।

अपि वोत्पत्तिसंयोगार्थसम्बन्धोऽविशिष्टानां प्रयोगैकत्वहेतुः स्यात् ॥३०॥

सि०—उत्पत्ति-वाक्य में विहित होने के कारण बर्हि का आतिथ्यादि तीनों के साथ सम्बन्ध होना चाहिए, क्योंकि समानरूप से विधान किये द्रव्य प्रतियाग एकरूप से ही अनुष्ठान के हेतु होते हैं।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् ॥१॥

द्रव्य, संस्कार तथा कर्मों में जो फल सुना जाता है, वह अर्थवाद है, क्योंकि वे तीनों क्रतु के लिए हैं।

उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात् ॥२॥

तथा, उत्पत्तिवाक्य से फल के प्रति पुरुष की प्रधानता न पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

फलं तु तत्प्रधानायाम् ॥३॥

समस्त यज्ञक्रिया द्रव्यसाध्य हैं और क्रिया के अनुकूल फल मिलता है, अतः द्रव्य, संस्कार और क्रिया—तीनों की प्रधानता मानी जाती है।

नैमित्तिके विकारत्वात्क्रतुप्रधानमन्यत्स्यात् ॥४॥

मृण्मय=मिट्टी के पात्रों का विधान काम्य कर्मों में विहित है, नित्य कर्मों में उनके प्रयोग का विधान नहीं है।

एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम् ॥५॥

एक द्रव्य के नित्य और नैमित्तिक उभयार्थ होने में विनियोजक वाक्य नियामक है।

शेष इति चेत् ॥६॥

दधिरूप द्रव्य एक कर्म का ही शेष है, यदि ऐसा कहो तो—

नार्थपृथक्त्वात् ॥७॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रयोजन के भेद से वाक्य का भेद होना उचित है।

द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मत्वात् ॥८॥

ज्योतिष्टोम आदि में जो पयोव्रत आदिरूप संस्कार विधान किये हैं, वे क्रतु के धर्म हैं, पुरुष के नहीं।

पृथक्त्वाद्व्यवतिष्ठेत् ॥९॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि पदों में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग पाये जाने से सिद्ध है कि उक्त व्रतों के साथ ब्राह्मण आदि पुरुषों का सम्बन्ध व्यवस्थापक है।

चोदनायां फलाश्रुतेः कर्ममात्रं विधीयेत न ह्यशब्दं प्रतीयते ॥१०॥

पूर्व०—'विश्वजिता यजेत' आदि वाक्यों से कर्ममात्र का विधान है, क्योंकि उक्त विधिवाक्यों में किसी पद से फल का श्रवण नहीं होता और अपदार्थ का स्वीकार ठीक नहीं।

अपि वाऽऽम्नानसामर्थ्याच्चोदनार्थेन गम्येतार्थानामर्थवत्त्वेन वचनानि प्रतीयन्तेऽर्थतोप्यसमर्थानामानन्तर्य्येऽप्यसम्बन्धस्तस्मात् श्रुत्येकदेशः सः ॥११॥

सि०—वाक्य-सामर्थ्य से ही विधिवाक्य द्वारा फल की कल्पना होती है, क्योंकि सम्पूर्ण वैदिक वचन अर्थवाले होते हैं, परन्तु फलवाचक पदरहित वाक्यों में समीपस्थ होने पर भी फलवाची पद का सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः वाक्य-सामर्थ्य से कल्पित फल ही श्रुतवाक्य का अवयव समझना चाहिए।

वाक्यार्थश्च गुणार्थवत् ॥१२॥

तथा, यदि फलसहित वाक्य की कल्पना न की जाए तो उक्त वाक्य गुण का विधायक हो जाता है।

तत्सर्वार्थमनादेशात् ॥१३॥

पूर्व०—उक्त याग सब फलों का देनेवाला है, क्योंकि उसका कोई एक फल कथन नहीं किया गया।

एकं वा चोदनैकत्वात् ॥१४॥

सि०—उक्त याग का एक ही फल होना चाहिए, क्योंकि वह एकवचनान्त विधिपद से विधान किया गया है।

स स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥१५॥

वह एक फल स्वर्ग होना चाहिए, क्योंकि वह सब यागों के प्रति समान है।

प्रत्ययाच्च ॥१६॥

तथा लोकानुभव से भी विश्वजित् याग का फल स्वर्ग ही पाया जाता है।

क्रतौ फलार्थवादमङ्गवत्कार्ष्णाजिनिः ॥१७॥

पूर्व०—जैसे जुहू आदि अङ्गों में फलबोधक वाक्य अर्थवाद है, वैसे ही उक्त सत्रों में भी फलबोधक वाक्य अर्थवाद हैं, यह कार्ष्णाजिनि मुनि का मत है।

फलमात्रेयो निर्देशादश्रुतौ ह्यनुमानं स्यात् ॥१८॥

सि०—यह मत ठीक नहीं, क्योंकि जब फल का स्पष्ट उल्लेख है, तब उसे मानना ही चाहिए। विश्वजित् याग की भाँति अपनी कल्पना से काम लेने की आवश्यकता नहीं।

अङ्गेषु स्तुतिः परार्थत्वात् ॥१९॥

जुहू आदि अङ्गों में फल का श्रवण स्तुतिरूप से हो सकता है, क्योंकि अङ्ग अङ्गी के लिए होने से स्वतः फलवाले नहीं हो सकते।

काम्ये कर्मणि नित्यः स्वर्गो यथा यज्ञाङ्गे क्रत्वर्थः ॥२०॥

पूर्व०—जैसे यागोपकारी गो-दोहन आदि का फल पशु आदि तथा याग का फल स्वर्ग है, वैसे ही काम्यकर्म में भी स्वर्ग मुख्यफल तथा श्रुत गौणफल है।

वीते च कारणे नियमात् ॥२१॥

तथा, फल की इच्छा के निवृत्त हो जाने पर भी याग की समाप्ति का नियम होने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

कामो वा तत्संयोगेन चोद्यते ॥२२॥

सि०—काम्यकर्म के विधायक वाक्य में जो फलश्रुति है, वही उक्त कर्म का फल है, क्योंकि उसके सम्बन्ध से उक्त कर्म विधान किया गया है।

अङ्गे गुणत्वात् ॥२३॥

गो-दोहन आदि यज्ञाङ्गों में जो पशु आदि फल कथन किया है, वह गौण होने से ठीक है।

वीते च नियमस्तदर्थम् ॥२४॥

तथा, इच्छा के पूर्ण हो जाने पर भी जो आरब्ध कर्म की समाप्ति का नियम है, वह प्रतिज्ञा-पालनार्थ है।

सार्वकाम्यमङ्गकामैः प्रकरणात् ॥२५॥

पूर्व०—अङ्गफलों के सहित दर्शपूर्णमासादि यागों के सब फल कथन किये हैं, स्वतः नहीं, क्योंकि प्रकरण से ऐसा ही ध्वनित होता है।

फलोपदेशो वा प्रधानशब्दसंयोगात् ॥२६॥

सि०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि शास्त्र में दर्शपूर्णमास को सब फलों का देनेवाला कहा है, तब उससे विपरीत नहीं हो सकता।

तत्र सर्वेऽविशेषात् ॥२७॥

पूर्व०—जब दर्शपूर्णमास सब फलों के देनेवाला है, तब उसके एक बार अनुष्ठान से सम्पूर्ण फलों की सिद्धि होनी चाहिए, क्योंकि उसका उक्त फलों के साथ निमित्त-नैमित्तिकभाव सम्बन्ध है।

योगसिद्धिर्वाऽर्थस्योत्पत्त्यसंयोगात् ॥२८॥

सि०—अनुष्ठान-भेद से फल की सिद्धि होती है, एक बार के अनुष्ठान से नहीं, क्योंकि फल का उक्त वाक्य से सहभाव नहीं सुना जाता।

समवाये चोदनासंयोगस्यार्थवत्त्वात् ॥२९॥

सौत्रामणी आदि यज्ञों में अङ्गाङ्गिभाव-सम्बन्ध में विधि जाननी चाहिए, क्योंकि ऐसा मानने से ही उक्त सम्बन्ध सार्थक होता है।

कालश्रुतौ काल इति चेत् ॥३०॥

कालवाची 'क्त्वा' प्रत्यय का श्रवण होने पर काल का विधान मानना ही उचित है, यदि ऐसा कहो तो—

नासमवायात्प्रयोजनेन ॥३१॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि फल के साथ सौत्रामणी आदि का सम्बन्ध नहीं।

उभयार्थमिति चेत् ॥३२॥

वैमृधादि कर्म दर्श और पूर्णमास—दोनों कर्मों के अङ्ग हैं, यदि ऐसा कहो तो—

न शब्दैकत्वात् ॥३३॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि उक्त याग का विधान एक विधिप्रत्यय से किया गया है।

प्रकरणादिति चेत् ॥३४॥

प्रकरण से उक्त कर्म दोनों का अङ्ग होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

नोत्पत्तिसंयोगात् ॥३५॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि विधायक वाक्य से उक्त कर्म का पूर्णमास कर्म के साथ ही सम्बन्ध पाया जाता है।

अनुत्पत्तौ तु कालः स्यात्प्रयोजनेन सम्बन्धात् ॥३६॥

ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में अङ्गाङ्गिभाव विधि का अभाव होने से काल का विधान होना चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से प्रयोजन के साथ प्रयाजों का सम्बन्ध हो सकता है।

उत्पत्तिकालविशये कालः स्याद्वाक्यस्य तत्प्रधानत्वात् ॥३७॥

अङ्गता तथा काल—दोनों के विधान का संशय होने पर काल का विधान होना चाहिए, क्योंकि वाक्य से कालविधान की ही प्रधानता पाई जाती है।

फलसंयोगस्त्वचोदिते, न स्यादशेषभूतत्वात् ॥३८॥

अविहित में फल का सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वह फल के प्रति शेष नहीं है।

अङ्गानां तूपघातसंयोगे निमित्तार्थः ॥३९॥

वैश्वानर इष्टि का पुत्र-जन्म के साथ सम्बन्ध जातकर्म-निमित्तक है।

प्रधानेनाभिसंयोगादङ्गानां मुख्यकालत्वम् ॥४०॥

पूर्व०—अङ्गकर्मों के अनुष्ठान का प्रधान काल होना चाहिए, क्योंकि उनका प्रधान कर्म के साथ सम्बन्ध है।

अपवृत्ते तु चोदना तत्सामान्यात्स्वकाले स्यात् ॥४१॥

सि०—अङ्गकर्मों का अनुष्ठान स्व-स्वकाल में होना चाहिए, क्योंकि प्रधानकर्म

की समाप्ति के अनन्तर उनका विधान किया गया है और वह सब अङ्गकर्मों के लिए समान है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

प्रकरणशब्दसामान्याच्चोदनानामनङ्गत्वम् ॥१॥

पूर्व०—'देवन' आदि राजसूय का अङ्ग नहीं, क्योंकि प्रकरण तथा शब्दों से दोनों की समानता पाई जाती है।

अपि वाऽङ्गमनिज्याः स्युस्ततो विशिष्टत्वात् ॥२॥

सि०—अयागरूप 'देवन' आदि क्रियाएँ राजसूय याग के अङ्ग हैं, क्योंकि वे यागरूप क्रियाओं से भिन्न हैं।

मध्यस्थं यस्य तन्मध्ये ॥३॥

पूर्व०—जो जिसकी सन्निधि में पठित है, वह उसी का अङ्ग है।

सर्वासां वा समत्वाच्चोदनातः स्यान्न हि तस्य प्रकरणं देशार्थमुच्यते मध्ये ॥४॥

सि०—'देवन' आदि क्रियाएँ राजसूय यज्ञ का अङ्ग हैं, क्योंकि विधिवाक्यों से वे सब प्रधानरूप से समान हैं और अभिषेचनीय का अवान्तर प्रकरण भी नहीं है तथा उनका मध्य में पाठ स्थान के अभिप्राय से है, अङ्ग के अभिप्राय से नहीं।

प्रकरणविभागे च विप्रतिषिद्धं ह्युभयम् ॥५॥

पूर्व०—प्रकरण का भेद न होने पर भी सौम्यादि को उपसदों का अङ्ग मानना ही ठीक है, क्योंकि परस्पर-विरुद्ध होने के कारण अङ्गता तथा तत्कालता—दोनों नहीं मान सकते।

अपि वा कालमात्रं स्याददर्शनाद्विशेषस्य ॥६॥

सि०—उक्त वाक्य में कालमात्र का विधान होना चाहिए, क्योंकि उक्त दोनों होमों में अङ्गाङ्गिभाव की कोई विशेष प्रयोजकता नहीं पाई जाती।

फलवद्वोक्तहेतुत्वादितरस्य प्रधानं स्यात् ॥७॥

फलयुक्त 'सांग्रहणी' इष्टि 'आमन' होमों के प्रति प्रधान है, क्योंकि फलवाले की सन्निधि में पठित अफल का अङ्ग होना सर्वसम्मत है।

दधिग्रहो नैमित्तिकः श्रुतिसंयोगात् ॥८॥

पूर्व०—'दधिग्रह' नैमित्तिक है, क्योंकि अन्तरायरूप निमित्त का सम्बन्ध पाया जाता है।

नित्यश्च ज्येष्ठशब्दत्वात् ॥९॥

पूर्व०—उक्त 'ग्रह' नित्य तथा नैमित्तिक दोनों हैं, क्योंकि उसका ज्येष्ठ होना पाया जाता है।

सार्वरूप्याच्च ॥१०॥

तथा, सर्वरूपता के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

नित्यो वा स्यादर्थवादस्तयोः कर्मण्यसम्बन्धाद्भङ्गित्वाच्चान्तरायस्य ॥११॥

सि०—उक्त 'ग्रह' नित्य है, क्योंकि उक्त अन्तराय-वाक्य अर्थवाद है और उससे अध्वर्यु तथा यजमान दोनों का कर्म में सम्बन्ध नहीं पाया जाता तथा अन्तराय का श्रवण उक्त ग्रह के विधान में प्रकरण-मात्र हो सकता है।

वैश्वानरश्च नित्यः स्यान्नित्यैः समानसंख्यत्वात् ॥१२॥

पूर्व०—वैश्वानर इष्टि नित्यकर्म है, क्योंकि नित्यों के साथ उसका समानरूप से कथन पाया जाता है।

पक्षे वोत्पन्नसंयोगात् ॥१३॥

सि०—नैमित्तिक पक्ष में ही उक्त कर्म मानना उचित है, क्योंकि विधायक वाक्य से निमित्त का सम्बन्ध पाया जाता है।

षट्चितिः पूर्ववत्स्यात् ॥१४॥

पूर्व०—छठी 'चिति' पहली पाँच चितियों की भाँति नित्य है।

ताभिश्च तुल्यसंख्यानात् ॥१५॥

तथा प्रथम पाँच चितियों के समान कथन पाये जाने से भी छठी चिति नित्य सिद्ध होती है।

अर्थवादोपपत्तेश्च ॥१६॥

और, अर्थवाद के उपपन्न होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

एकचितिर्वा स्यादपवृक्ते हि चोद्यते निमित्तेन ॥१७॥

सि०—छहों चितियों के मध्य केवल छठी चिति ही नैमित्तिक होनी चाहिए, क्योंकि प्रथम पाँच चितियों के समाप्त होने पर अप्रतिष्ठा-निमित्त से उसका विधान किया गया है।

विप्रतिषेधात्ताभिः समानसंख्यत्वम् ॥१८॥

एक चिति में षष्ठत्व विरोध के कारण पहली पाँच चितियों के साथ छठी चिति का समान रूप से कथन किया गया है।

पितृयज्ञः स्वकालत्वादनङ्गं स्यात् ॥१९॥

पितृयज्ञ दर्शयज्ञ का अङ्ग नहीं है, क्योंकि उसके विधायक वाक्य में 'अमावास्या' पद काल का वाचक है, कर्म का नहीं।

तुल्यवच्च प्रसंख्यानात् ॥२०॥

'दर्शपूर्णमास' आदि कर्म के समान कथन पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

विप्रतिषिद्धे च दर्शनात् ॥२१॥

तथा, अमावास्या याग का निषेध होने पर भी पिण्डपितृयज्ञ[1] से परमात्मा की प्रसन्नता का विधान पाये जाने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

---

१. पिण्डपितृश्राद्ध से यहाँ मृतक-श्राद्ध का वर्णन नहीं है। शबर स्वामी ने भी मृतक-श्राद्ध-सम्बन्धी अर्थ नहीं किया है।

पशवङ्गं रशना स्यात्तदागमे विधानात् ॥२२॥

पूर्व०—रशना पशु का अङ्ग है, क्योंकि विधायक वाक्य में पशु-सम्बन्ध से उसका विधान किया गया है।

यूपाङ्गं वा तत्संस्कारात् ॥२३॥

सि०—रशना यूप का अङ्ग है, क्योंकि वह उसके संस्कारार्थ है।

अर्थवादश्च तदर्थवत् ॥२४॥

तथा, अर्थवाद वाक्य भी तभी सार्थक हो सकता है, जबकि रशना को यूप का अङ्ग माना जाए।

स्वरुश्चाप्येकदेशत्वात् ॥२५॥

पूर्व०—'स्वरु' यूप का अङ्ग है, क्योंकि वह उसका एक टुकड़ा है।

निष्क्रयश्च तदङ्गवत् ॥२६॥

तथा यूप का निष्क्रय कथन करने से भी स्वरु यूप का अङ्ग सिद्ध होता है।

पश्वङ्गं वार्थकर्मत्वात् ॥२७॥

सि०—स्वरु पशु का अङ्ग है, क्योंकि वह पशु आञ्जनरूप अर्थ का साधन है।

भक्त्या निष्क्रयवादः स्यात् ॥२८॥

निष्क्रयवाद स्तुति के अभिप्राय से है।

दर्शपूर्णमासयोरिज्याः प्रधानान्यविशेषात् ॥२९॥

पूर्व०—दर्श और पूर्णमास याग में जितने याग हैं—वे सब प्रधान हैं, क्योंकि उनका समान रूप से विधान किया गया है।

अपि वाङ्गानि कानिचिद्येष्वङ्गत्वेन संस्तुतिः सामान्यादभिसंस्तवः ॥३०॥

सि०—आग्नेय आदि सब यागों के मध्य कई अङ्ग याग हैं, जिनकी अङ्गरूप से स्तुति की गई है और वह स्तुति अङ्ग होने से ही हो सकती है, अन्यथा नहीं।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥३१॥

तथा, विकृत यागों में प्रयाजों का दर्शन भी आधारादि के अङ्गत्व में प्रमाण है।

अविशिष्टं तु कारणं प्रधानेषु गुणस्य विद्यमानत्वात् ॥३२॥

आक्षेप—अङ्गता का साधक संस्तुतिरूप कारण आधारादि के समान आग्नेय आदि में भी समान है, क्योंकि स्तुतिवाक्य इसमें भी विद्यमान है।

नानुक्तेऽन्यार्थदर्शनं परार्थत्वात् ॥३३॥

आक्षेप—प्रति विकृतियाग प्रयाजों का दर्शन साक्षात् अकथित अङ्गता में प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वह अन्य प्रयोजन के लिए है।

पृथक्त्वे त्वभिधानयोर्निवेशः श्रुतितो व्यपदेशाच्च तत्पुनर्मुख्यलक्षणं यत्फलवत्त्वं तत्सन्निधाव-संयुक्तं तदङ्गं स्याद् भागित्वात् कारणस्याश्रुतेश्चान्यसम्बन्धः ॥३४॥

समा०—केवल आग्नेय आदि छह यागों के दो-दो त्रिकों में ही दर्श तथा पूर्णमास संज्ञा का निवेश है, अन्यत्र नहीं, क्योंकि श्रुति तथा व्यपदेश से उक्त अर्थ की सिद्धि पाई जाती है तथा उक्त दोनों त्रिक ही प्रधान याग हैं, इसलिए कि वे फल वाले हैं, और जो याग उनकी सन्निधि में पढ़े गये हैं, और फल के साथ जिनका सम्बन्ध नहीं, वे अङ्गयाग

हैं तथा आधारादि का फलभागी होना न सुने जाने से प्रधान याग के साथ अङ्गाङ्गिभाव-सम्बन्ध सिद्ध है।

गुणाश्च नामसंयुक्ता विधीयन्ते नाङ्गेषूपपद्यन्ते ॥३५॥

तथा, दर्शपूर्णमास संज्ञासहित जो गुण विधान किये गये हैं, वे आधार आदि अङ्गों के नहीं बन सकते।

तुल्या च कारणश्रुतिरन्यैरङ्गाभिसम्बन्धैः ॥३६॥

आक्षेप—पुरुषाङ्गों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले आधारादि के समान ही आग्नेय आदि प्रधान यागों की अङ्गता-श्रुति पाई जाती है।

उत्पत्तावभिसम्बन्धस्तस्मादङ्गोपदेशः स्यात् ॥३७॥

समा०—जीवमात्र की उत्पत्ति के अभिप्राय से आग्नेय आदि को यज्ञ का सिर आदि कथन किया है, अङ्गता के अभिप्राय से नहीं, अतः मुख्यतया आधारादि यागों में ही अङ्गता का उपदेश जानना उचित है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥३८॥

और, प्रति दर्श तथा पूर्णमास आहुतियों का दर्शन भी उक्त अर्थ की सिद्धि में प्रमाण है।

ज्योतिष्टोमे तुल्यान्यविशिष्टं हि कारणम् ॥३९॥

पूर्व०—ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत जितने याग हैं, वे सब समान रूप से प्रधान हैं, क्योंकि उनकी समप्रधानता का समान रूप से वर्णन किया गया है।

गुणानां तूत्पत्तिवाक्येन सम्बन्धात् कारणश्रुतिस्तस्मात् सोमः प्रधानं स्यात् ॥४०॥

सि०—उत्पत्तिवाक्य द्वारा ज्योतिरूप स्तोमों का सोमयाग के साथ सम्बन्ध होने से उक्त याग के प्रधान होने में विशेष कारण का श्रवण पाया जाता है, अतः सोमयाग ही प्रधान है, दीक्षणीय आदि नहीं।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥४१॥

तथा, सोमयाग से भिन्न दीक्षणीय आदि में अङ्गता का श्रवण भी उक्त अर्थ की सिद्धि में प्रमाण है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

पञ्चमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

श्रुतिलक्षणमानुपूर्व्यं तत्प्रमाणत्वात् ॥१॥

श्रुति-प्रतिपादित यज्ञों में श्रौतक्रम मानना ही उचित है, क्योंकि वह सब प्रेरणाओं की अपेक्षा प्रधान है।

अर्थाच्च ॥२॥

तथा, कहीं अर्थ से भी क्रम का ज्ञान होता है।

अनियमोऽन्यत्र ॥३॥

जहाँ श्रौत अथवा आर्थिक क्रम नहीं, वहाँ आर्थिक क्रम का नियम नहीं है।

क्रमेण वा नियम्येत, क्रत्वेकत्वे तद्गुणत्वात् ॥४॥

एक क्रतु=यज्ञ में पाठक्रमानुसार प्रयाजों के अनुष्ठान का नियम होना चाहिए, क्योंकि वह अनुष्ठान का अङ्ग है।

अशाब्द इति चेत् स्याद्वाक्यशब्दत्वात् ॥५॥

आक्षेप—पाठक्रम शब्द-प्रतिपाद्य नहीं हो सकता, क्योंकि वाक्य को पदार्थ मात्र की बोधकता है, यदि ऐसा कहो तो—

अर्थकृते चानुमानं स्यात्क्रत्वेकत्वे, परार्थत्वात्स्वेन त्वर्थेन सम्बन्धस्तस्मात्स्वशब्दमुच्यते ॥६॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। अर्थवश कल्पना करने में क्रम अशाब्द होना चाहिए परन्तु क्रतु के एक होने पर भी अङ्गों की प्रधानता होने से अपने प्रधानभूत क्रतुरूप अर्थ के साथ यथाक्रम ही सम्बन्ध होना उचित है, अतः पाठक्रम शब्द-प्रतिपाद्य ही कहा जा सकता है, अशाब्द नहीं।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥७॥

तथा, पाठक्रम के बाधक अर्थ का दर्शन भी उक्त अर्थ की सिद्धि में प्रमाण है।

प्रवृत्त्या तुल्यकालानां गुणानां तदुपक्रमात् ॥८॥

इसी प्रकार एक काल में प्राप्त 'उपाकरण' आदि पशु-संस्कारों का प्रथम वृत्ति के अनुसार द्वितीयादि क्रम जानना चाहिए, क्योंकि प्रथम उसी से आरम्भ किया है।

सर्वमिति चेत् ॥९॥

आक्षेप—उपाकरण आदि सब संस्कार युगपत्=एक साथ सब पशुओं में होने चाहिएँ, यदि ऐसा कहो तो—

नाकृतत्वात् ॥१०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा विधान उपलब्ध नहीं होता।

क्रत्वन्तरवदिति चेत् ॥११॥

आक्षेप—जैसे 'सौर्य' आदि यागों में उपयुक्त पदार्थों के संस्कार युगपत् होते हैं, वैसे ही पशुओं के संस्कार भी युगपत् होने चाहिएँ, यदि ऐसा कहो तो—

नासमवायात् ॥१२॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि दानक्रिया में पशुओं का समवाय विवक्षित नहीं।

स्थानाच्चोत्पत्तिसंयोगात् ॥१३॥

तथा, उत्पत्तिवाक्य में प्रतिपादित स्थान के अनुसार भी क्रम का ज्ञान होता है।

मुख्यक्रमेण चाङ्गानां तदर्थत्वात् ॥१४॥

प्रधान याग के क्रम से अङ्गयागों का अनुष्ठान होना चाहिए, क्योंकि वे प्रधान यागों के लिए ही होते हैं।

प्रकृतौ तु स्वशब्दत्वाद्यथाक्रमं प्रतीयेत ॥१५॥

पूर्णमास याग में अङ्गों का अनुष्ठान पाठक्रमानुसार जानना चाहिए, क्योंकि वह साक्षात् अङ्ग प्रतिपादक शब्दों से पाया जाता है।

मन्त्रतस्तु विरोधे स्यात्प्रयोगरूपसामर्थ्यात् तस्मादुत्पत्तिदेशः सः ॥१६॥

मन्त्र के साथ ब्राह्मण का विरोध होने पर मन्त्र के अनुसार अनुष्ठान होना चाहिए, क्योंकि अनुष्ठान-मात्र के प्रकार का बोध करानेवाले ब्राह्मण से कर्म का विधायक होने के कारण मन्त्र प्रबल है।

तद्वचनाद्विकृतौ यथाप्रधानं स्यात् ॥१७॥

पूर्व०—विकृति याग में अङ्ग-अनुष्ठान प्रधान क्रमानुसार होना चाहिए, क्योंकि प्रधानक्रम का बोधक वचन पाया जाता है।

विप्रतिपत्तौ वा प्रकृत्यन्वयाद्यथाप्रकृति ॥१८॥

सि०—दो विरुद्ध क्रियाओं के एकसाथ प्राप्त होने पर प्रकृति-क्रमानुसार ही अनुष्ठान होना उचित है, क्योंक उक्त क्रम प्रकृति याग में प्रथम अन्वित है।

विकृतिः प्रकृतिधर्मत्वात्तत्काला स्याद्यथाशिष्टम् ॥१९॥

पूर्व०—आग्नेयादि तीनों विकृति याग 'साकमेध' नामक प्रकृति याग की सिद्धि के लिए जितना काल विधान किया गया है, उतने कालवाले होने चाहिएँ, क्योंकि विकृति के लिए प्राकृत धर्मवाला होना नियत है।

अपि वा क्रमकालसंयुक्ता सद्यः क्रियेत तत्र विधेरनुमानात्प्रकृतिधर्मलोपः स्यात् ॥२०॥

सि०—उक्त तीनों याग जिस क्रम तथा जिस काल में विधान किये गये हैं, उसी क्रम तथा कालसहित सद्यः कर्तव्य हैं, क्योंकि उदाहृत वाक्यों में जो प्रातः आदि कालों का विधान है, वह उक्त चोदक वाक्य द्वारा प्राप्त प्रकृत काल से प्रबल है, अतः उक्त प्रकृति याग के धर्मभूत काल का उक्त प्रकृति यागों में लोप होना उचित है।

कालोत्कर्ष इति चेत् ॥२१॥

आक्षेप—उक्त काल का उत्कर्ष होने से भी प्रातः आदि शब्द उत्पन्न हो सकते हैं, यदि ऐसा कहो तो—

न तत्सम्बन्धात् ॥२२॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रातः आदि का एक ही दिन के साथ सम्बन्ध है।

अङ्गानां मुख्यकालत्वाद्यथोक्तमुत्कर्षे स्यात् ॥२३॥

पूर्व०—अनुयाज तथा प्रयाज दोनों के उत्कर्ष तथा अपकर्ष के विषय में जैसा कथन किया गया है, वैसा ही होना चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से अङ्गों को स्व-स्व काल का लाभ हो जाता है।

तदादि वाऽभिसम्बन्धात्तदन्तमपकर्षे स्यात् ॥२४॥

सि०—अपकर्ष और उत्कर्ष में अनुयाजादि तथा प्रयाजान्त का ग्रहण है, क्योंकि चोदक वाक्य से तदादि तदन्त का ही सम्बन्ध पाया जाता है।

प्रवृत्त्या कृतकालानाम् ॥२५॥

प्रवृत्तिरूप प्रमाण से जिन प्रोक्षण आदि का अनुष्ठान-काल ज्ञात होता है, उनका प्रथम अनुष्ठान होना चाहिए।

शब्दविप्रतिषेधाच्च ॥२६॥

तथा, शब्दार्थ का विरोध प्राप्त होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

असंयोगात्तु वैकृतं तदेव प्रतिकृष्येत ॥२७॥

विकृति-मात्र में विधान किये गये यूप के छेदन-मात्र का ही अपकर्ष होना चाहिए, क्योंकि उसका अन्य अङ्गों के साथ सम्बन्ध नहीं है।

प्रासङ्गिकं च नोत्कर्षेदसंयोगात् ॥२८॥

पुरोडाशों पर प्रसङ्ग से उपकार करनेवाला अनुयाज कर्म दक्षिणाग्नि के होमों का उत्कर्ष नहीं कर सकता, क्योंकि उसका उनके साथ सम्बन्ध नहीं है।

तथाऽपूर्वम् ॥२९॥

जैसे प्रयाज उक्त दोनों होमों के उत्कर्षक नहीं, वैसे ही प्राकृत वेदि अभिवासनान्त अङ्गसमूह का अपकर्षक नहीं है।

सान्तपनीया तूत्कर्षेदग्निहोत्रं सवनवद्वैगुण्यात् ॥३०॥

पूर्व०—जैसे प्रातःसवन स्वयं उत्कर्ष को प्राप्त हुआ माध्यन्दिन सवन का उत्कर्ष करता है, वैसे ही सन्तापनीया नामक इष्टि भी अग्निहोत्र का उत्कर्ष करती है, क्योंकि वैसा न होने से कर्म का वैगुण्य हो जाता है।

अव्यवायाच्च ॥३१॥

तथा, दोनों कर्मों का व्यवधान न होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

असम्बन्धात्तु नोत्कर्षेत् ॥३२॥

सि०—स्वयं उत्कर्ष को प्राप्त हुई उक्त इष्टि अग्निहोत्र की उत्कर्षक नहीं, क्योंकि उसका उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रापणाच्च निमित्तस्य ॥३३॥

तथा, निमित्त के प्राप्त होने के कारण सायंकाल में अग्निहोत्र का विधान किया गया है।

सम्बन्धात् सवनोत्कर्षः ॥३४॥

परस्पर सम्बन्ध होने के कारण प्रातःसवन के उत्कर्ष से माध्यन्दिन सवन का उत्कर्ष होता है।

षोडशी चोक्थ्यसंयोगात् ॥३५॥

तथा, 'उक्थ्य' ग्रह के उत्कर्ष से षोडशी ग्रह का भी उत्कर्ष होता है, क्योंकि उसका 'उक्थ्य' ग्रह के साथ सम्बन्ध है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने पञ्चमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

सन्निपाते प्रधानानामेकैकस्य गुणानां सर्वकर्म स्यात् ॥१॥

पूर्व०—अनेक देय पशुओं के एक याग में एकत्र होने पर एक-एक पशु में संस्कारों का समग्र रूप से अनुष्ठान होना चाहिए।

सर्वेषां वैकजातीयं कृतानुपूर्व्यत्वात् ॥२॥

सि०—सम्पूर्ण पशुओं का एक संस्कार करके दूसरा संस्कार करना चाहिए क्योंकि देय पशुओं के साहित्य से ऐसे ही प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

कारणादभ्यावृत्तिः ॥३॥

कहीं प्रबल प्रतिबन्धकरूप कारण के विद्यमान होने पर एक-एक प्रधान धर्मों में समग्ररूप में संस्काररूप धर्मों का अनुष्ठान होता है।

मुष्टिकपालावदानाञ्जनाभ्यञ्जनवपनपावनेषु चैकेन ॥४॥

पूर्व०—मुष्टि, कपाल, अवदान, अञ्जन, अभ्यञ्जन, वपन तथा पावन—इन सब में एक-एक का निर्वाप आदिरूप अनुष्ठान होना चाहिए।

सर्वाणि त्वेककार्यत्वादेषां तद्गुणत्वात् ॥५॥

सि०—मुष्टि आदि सब संस्कार पुरोडाश आदिरूप एक ही कार्य की सिद्धि के लिए किये जाते हैं। इन पदार्थों की समूहरूप में ही उक्त प्रधान कर्म के प्रति अङ्गता है, अतः उन्हें एकसाथ ही करना चाहिए।

संयुक्ते तु प्रक्रमात्तदङ्गं स्यादितरस्य तदर्थत्वात् ॥६॥

अवदान संयुक्त होम-प्रकरण में जो केवल अवदान से उपक्रम किया गया है, वह होमपर्यन्त का समझना चाहिए, क्योंकि अवदान से भिन्न मध्य में विधान किये 'उपस्तरण' आदि सम्पूर्ण होमार्थ होने से अवदान के ही अङ्ग हैं।

वचनात्तु परिव्याणान्तमञ्जनादिः स्यात् ॥७॥

'अञ्जन' आदि 'परिव्याण' पर्यन्त सम्पूर्ण संस्कारों का समग्र रूप में अनुष्ठान होना चाहिए, क्योंकि वाक्यशेष से ऐसा ही पाया जाता है।

कारणाद्वाऽनवसर्गः स्याद्यथा पात्रवृद्धिः ॥८॥

आक्षेप—जैसे अनुयाज नामक होमों के लिए पृषदाज्य-धारणार्थ पात्रान्तर की कल्पना होती है, वैसे ही प्रकृति में भी अध्वर्युरूप सहकारी के न मिलने के कारण 'न अवसृजेत्' की कल्पना होनी चाहिए।

न वा शब्दकृतत्वान्न्यायमात्रमितरदर्थात्पात्रविवृद्धिः ॥९॥

समा०—वाक्यविशेष द्वारा प्राप्त होने के कारण उक्त संस्कारों का प्रत्येक यूप में समग्र रूप से अनुष्ठान होना ठीक है, क्योंकि एक-एक का अनुष्ठान कल्पना-मात्र है, और जो पात्रान्तर की कल्पना है, वह अर्थबल से प्राप्त है।

पशुगणे तस्य तस्यापवर्जयेत् पश्वेकत्वात् ॥१०॥

पूर्व०—प्रत्येक देय पशु के उद्देश्य से होतव्य पुरोडाश के मध्य एक-एक पुरोडाश में यावत् अवदानों का अनुष्ठान होना चाहिए, क्योंकि प्रकृति के सदृश प्रत्येक पशु में 'पशुत्व' धर्म एक है।

देवतैर्वैककर्म्यात् ॥११॥

सि०—प्रत्येक पुरोडाश से प्रथम यथाक्रम दैवत तदनन्तर स्विष्टकृत् तत्पश्चात् ऐड अवदान होकर होम होना चाहिए, क्योंकि उक्त तीनों अवदान पृथक्-पृथक् एक कर्म हैं।

मन्त्रस्य चार्थवत्त्वात् ॥१२॥

और अवदानकाल में पठनीय मन्त्र के उच्चारण में लाघवरूप अर्थ की प्राप्ति होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

नानाबीजे एकमुलूखलं विभवात् ॥१३॥

व्रीहि आदि अनेक अन्नसाध्य इष्टियों में तण्डुल आदि की निष्पत्ति के लिए एक ही ऊखल होना चाहिए, क्योंकि वह सब अन्नों के लिए पर्याप्त है।

विवृद्धिर्वा नियमानुपूर्व्यस्य तदर्थत्वात् ॥१४॥

आक्षेप—ऊखल अनेक होने चाहिएँ, क्योंकि पाठक्रम के नियत होने से उक्त अर्थ की उपलब्धि होती है।

एकं वा तण्डुलभावाद्धन्तेस्तदर्थत्वात् ॥१५॥

समा०—एक ही ऊखल होना चाहिए, क्योंकि तण्डुल निष्पत्तिपर्यन्त 'अव' पूर्वक 'हन्' धातु का अवघात अर्थ माना गया है।

विकारे त्वनुयाजानां पात्रभेदोऽर्थभेदात्स्यात् ॥१६॥

अग्निषोमीय पशु याग में अनुयाज तथा प्रयाज के पात्र का भेद होना चाहिए, क्योंकि उक्त दोनों में होतव्य आज्यरूप अर्थ का भेद है।

प्रकृतेः पूर्वोक्तत्वादपूर्वमन्ते स्यान्न ह्यचोदितस्य शेषाम्नानम् ॥१७॥

प्रकृत 'नारिष्ठहोमों' के पूर्वविहित होने से उपहोम उनके अन्त में होना चाहिए, क्योंकि अङ्गी से प्रथम अविहित को पूर्वविहित के समान अङ्गता नहीं हो सकती।

मुख्यानन्तर्यमात्रेयस्तेन तुल्यश्रुतित्वादशब्दत्वात्प्राकृतानां व्यवायः स्यात् ॥१८॥

आक्षेप—"प्रधान होमों से पीछे तथा 'नारिष्ट' होमों से पूर्व उपहोमों का अनुष्ठान होता है, क्योंकि प्रधान होमों के समान उनका विधान भी प्रत्यक्षश्रुत है और नारिष्ट होमों

का उपहोमों के पश्चात् अवश्य अनुष्ठान होना चाहिए, क्योंकि वे आनुमानिक हैं, प्रत्यक्षश्रुत नहीं"—यह आत्रेय मुनि का मत है।

अन्ते तु बादरायणस्तेषां प्रधानशब्दत्वात् ॥१९॥

समा०—"नारिष्ट होमों के पश्चात् उपहोमों का अनुष्ठान होना चाहिए, क्योंकि नारिष्ट होमों का मुख्य प्रकृति याग में प्रथम विधान किया गया है"—यह बादरायण मुनि का मत है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥२०॥

तथा, प्रथम उपस्थित के प्रथमानुष्ठान में अन्यत्र दृष्ट अर्थ भी प्रमाण है।

कृतदेशात्तु पूर्वेषां स देशः स्यात् तेन प्रत्यक्षसंयोगान्न्यायमात्रमितरत् ॥२१॥

माहेन्द्र स्तोत्र के समीप जिसके देश की कल्पना की गई है, ऐसे अभिषेक से प्रथम होनेवाली विदेवन आदि क्रियाओं का भी वही स्थान होना चाहिए, क्योंकि अभिषेक के साथ उनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष है और अभिषेक के पश्चात् कल्पना करना निर्मूल होने के कारण कल्पना मात्र है।

प्राकृताच्च पुरस्ताद्यत् ॥२२॥

तथा, जिसका प्राकृत इष्टि से पूर्व पाठ किया गया है, उसका अनुष्ठान भी पूर्व होना चाहिए।

सन्निपातश्चेद्यथोक्तमन्ते स्यात् ॥२३॥

यदि प्रकृति तथा वैकृत दोनों संस्कारों की एक साथ प्राप्ति हो तो प्रत्यक्षश्रुद वैकृतधर्म का प्राकृतधर्म के पश्चात् अनुष्ठान होना चाहिए।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

विवृद्धिः कर्मभेदात्पृषदाज्यवत्तस्य तस्योपदिश्येत ॥१॥

पूर्व०—जैसे प्रत्येक 'अनुयाज' के साथ 'पृषदाज्य' के सम्बन्ध का विधान है, वैसे ही प्रत्येक प्रयाज के साथ एकादश संख्या के सम्बन्ध का विधान किया गया है, अतः प्रयाज-भेद से एकादश संख्या की वृद्धि होनी चाहिए।

अपि वा सर्वसंख्यत्वाद्विकारः प्रतीयेत ॥२॥

सि०—एकादश संख्या-पूर्ति के लिए सब प्रयाजों की द्विरावृत्ति होकर पश्चात् अन्तिम प्रयाज की द्विरावृत्ति होनी चाहिए, क्योंकि उक्त संख्या सब प्रयाजों के लिए विधान की गई है।

स्वस्थानात्तु विवृध्येरन्कृतानुपूर्व्यत्वात् ॥३॥

स्व-स्व स्थान में प्रत्येक उपसद् की द्विरावृत्ति होनी चाहिए, क्योंकि प्रकृति याग में उनके अनुष्ठान का क्रम नियत किया गया है।

समिध्यमानवतीं समिद्धवतीं चान्तरेण धाय्याः स्युर्द्यावापृथिव्योरन्तराले समर्हणात् ॥४॥

पूर्व०—आगन्तुक मन्त्रों का 'समिध्यमान' और 'समिध्य' पदवाली दोनों सामिधेनियों के मध्य में निवेश होना चाहिए, क्योंकि वाक्यशेष में द्यावापृथिवी शब्द से उक्त दोनों सामिधेनियों का अनुवाद करके मध्य में 'धाय्या' नाम से आगन्तुक मन्त्रों का कथन किया है।

तच्छब्दो वा ॥५॥

सि०—उक्त वाक्यशेष में जो 'धाय्या' पद आया है, वह सम्पूर्ण आगन्तुक मन्त्रों का नाम नहीं, किन्तु 'पृथुपाजा अमर्त्यः' इत्यादि दो मन्त्रों का नाम है।

उष्णिक्ककुभोरन्ते दर्शनात् ॥६॥

'धाय्या' नामक उष्णिक् तथा ककुभ छन्दवाले दोनों मन्त्रों के अन्त में 'अधाय्या' मन्त्र का निवेश पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

स्तोमविवृद्धौ बहिष्पवमाने पुरस्तात्पर्यासादागन्तवः स्युस्तथा हि दृष्टं द्वादशाहे ॥७॥

पूर्व०—बहिष्पवमान नामक स्तोत्र में आगन्तुक मन्त्रों की वृद्धि के लिए आगन्तुक मन्त्रों का पर्य्यास से पूर्व निवेश होना चाहिए, क्योंकि द्वादशाह नामक याग में आगन्तुक मन्त्रों का पर्य्यास से पूर्व ही निवेश देखा जाता है।

पर्यास इति चाऽन्ताख्या ॥८॥

तथा, 'पर्य्यास' यह बहिष्पवमान स्तोत्र के अन्तिम त्रिक की संज्ञा है।

अन्ते वा तदुक्तम् ॥९॥

सि०—आगन्तुक मन्त्रों के चार आदि त्रिकों का बहिष्पवमान स्तोत्र के अन्त में निवेश होता है, यह पीछे निर्णय किया जा चुका है।

वचनात्तु द्वादशाहे ॥१०॥

द्वादशाह याग में जो आगन्तुक त्रिकों का स्तोत्रीय तथा अनुरूप नामक प्रथम, द्वितीय त्रिकों के मध्य निवेश होता है, वह वाक्यविशेष के बल से होता है, कल्पना-मात्र से नहीं।

अतद्विकारश्च ॥११॥

तथा, 'द्वादशाह' याग की विकृति न होने से भी 'अतिरात्र' याग में उक्त याग की भाँति निवेश नहीं हो सकता।

तद्विकारेऽप्यपूर्वत्वात् ॥१२॥

'द्वादशाह' याग की विकृति अहीन, सत्रादि यागों में भी वृषण्वत् शब्दवाले मन्त्रों से भिन्न मन्त्रों के मध्य में निवेश नहीं हो सकती, क्योंकि वह वाक्यविशेष से विहित नहीं है।

अन्ते तूत्तरयोर्दध्यात् ॥१३॥

पूर्व०—माध्यन्दिन पवमान तथा आर्भव पवमान सोमों के आधार प्रथम तथा द्वितीय त्रिक को छोड़कर अन्तिम त्रिक में आगन्तुक सामों का निवेश होना चाहिए।

अपि वा गायत्रीबृहत्यनुष्टुप्सु वचनात् ॥१४॥

सि०—गायत्री, बृहती तथा अनुष्टुप् छन्दवाले मन्त्रों में आगन्तुक सामों का निवेश होना चाहिए, क्योंकि वाक्यविशेष से ऐसा ही पाया जाता है।

ग्रहेष्टकमौपानुवाक्यं सवनचितिशेषः स्यात् ॥१५॥

पूर्व०—अनारम्य पठित ग्रह तथा इष्टिकाएँ सवन तथा चयन का शेष हैं।

क्रत्वग्निशेषो वा चोदितत्वादचोदनान्नपूर्वस्य ॥१६॥

सि०—उक्त ग्रह याग का तथा इष्टिकाएँ अग्नि की शेष=अङ्ग हैं, क्योंकि याग तथा अग्नि की अङ्गरूपता से उनका विधान पाया जाता है तथा सवन एवं चिति की अङ्गता का विधान नहीं पाया जाता।

अन्ते स्युरव्यवायात् ॥१७॥

पूर्व०—चित्रिणी आदि इष्टिकाओं का उपधान अन्तिम चिति में होना चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से प्रकरण पठित इष्टिकाओं का परस्पर व्यवधान नहीं होता।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१८॥

तथा, लक्षणों के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

मध्यमायां तु वचनाद् ब्राह्मणवत्यः ॥१९॥

सि०—अप्रकरण पठित ब्राह्मण वाक्य से जिनका विधान किया गया है, ऐसी चित्रिणी आदि इष्टिकाओं का मध्यम चिति में उपधान होना चाहिए, क्योंकि वाक्य-विशेष से ऐसा ही पाया जाता है।

प्राग्लोकम्पृणायास्तस्याः सम्पूरणार्थत्वात् ॥२०॥

'लोकं पृणा' नामक इष्टिकाओं से प्रथम चित्रिणी आदि का मध्यम चिति में उपधान होना चाहिए, क्योंकि 'लोकं पृणा' केवल छिद्र पूर्ण करने के लिए है।

संस्कृते कर्म संस्काराणां तदर्थत्वात् ॥२१॥

पवमानेष्टिरूप संस्कारों से युक्त अग्नि में अग्निहोत्रादि कर्म कर्तव्य हैं, क्योंकि उक्त संस्कार उक्त कर्मों की कर्तव्यतार्थ ही विधान किये गये हैं।

अनन्तरं व्रतं तद्भूतत्वात् ॥२२॥

आहिताग्निकर्तृक व्रत आधानान्तर कर्तव्य हैं, क्योंकि उनका आधान-मात्र से सम्बन्ध है।

पूर्वं च लिङ्गदर्शनात् ॥२३॥

अग्निहोत्रादि कर्म पवमानेष्टियों के पूर्व कर्तव्य हैं, क्योंकि लिङ्ग से ऐसा ही पाया जाता है।

अर्थवादो वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥२४॥

उक्त वाक्य अर्थवाद है, क्योंकि उसका स्तुति के लिए विधान किया गया है।

न्यायविप्रतिषेधाच्च ॥२५॥

तथा, उक्त **'ब्रह्मवादिनो मीमांसन्ते'** वाक्य में नित्य अग्निहोत्रादि कर्मों की कर्तव्यता का निषेध पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

सिञ्चिते त्वग्निचिद्युक्तं प्रापणान्निमित्तस्य ॥२६॥

पूर्व०—'अग्निचित्' पदवाले वाक्य से विधान किये व्रत अग्नि का चयन हो जाने पर कर्तव्य हैं, क्योंकि उनका निमित्त चयन प्राप्त है।

क्रत्वन्ते वा प्रयोगवचनाभावात् ॥२७॥

सि०—याग के अनन्तर उक्त व्रत कर्तव्य है, क्योंकि चयन के अनन्तर अनुष्ठान का बोधक कोई वाक्य नहीं पाया जाता।

अग्नेः कर्मत्वनिर्देशात् ॥२८॥

तथा, अग्नि का कर्मकारक द्वारा कथन पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

परेणाऽवेदनाद्दीक्षितः स्यात् सर्वैर्दीक्षाभिसम्बन्धात् ॥२९॥

पूर्व०—अध्वर्यु नामक ऋत्विक् की घोषणा के पश्चात् दीक्षित व्यवहार होना चाहिए, क्योंकि दीक्षा-विधायक वाक्यों से इष्टि, दण्ड आदि सम्पूर्ण पदार्थों के साथ दीक्षा का सम्बन्ध पाया जाता है।

इष्टयन्ते वा तदर्था ह्यविशेषार्थसम्बन्धात् ॥३०॥

सि०—अध्वर्यु की दीक्षा इष्टि के अन्त में होनी चाहिए, क्योंकि इष्टि दीक्षा के लिए है। दीक्षा-विधायक वाक्य केवल द्रव्यरूप अर्थ के साथ सम्बन्ध बताते हैं, क्रिया-विशेष के साथ नहीं।

समाख्यान च तद्वत् ॥३१॥

'दीक्षणीया' नाम से भी यही आशय प्रतीत होता है।

अङ्गवत्क्रतूनामानुपूर्व्यम् ॥३२॥

पूर्व०—जैसे प्रयाज आदि अङ्ग कर्मों का अनुष्ठान पाठक्रमानुसार होता है, वैसे ही काम्य यागों का अनुष्ठान भी पाठक्रमानुसार ही होना चाहिए।

न वाऽसम्बन्धात् ॥३३॥

सि०—उक्त यागों का परस्पर कोई सम्बन्ध न होने से पाठक्रमानुसार अनुष्ठान नहीं हो सकता।

काम्यत्वाच्च ॥३४॥

तथा, काम्य याग होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

आनर्थक्यान्नेति चेत् ॥३५॥

आक्षेप—काम्य यागों का अपनी इच्छानुसार अनुष्ठान ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा करने से पाठक्रम व्यर्थ हो जाता है, यदि ऐसा कहो तो—

स्याद्विद्यार्थत्वाद्यथा परेषु सर्वस्वारात् ॥३६॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि जैसे नित्य यागों में 'सर्वस्वार' होम ज्ञानार्थ होने से सफल है, वैसे ही उक्त पाठक्रम भी ज्ञानार्थ होने से सफल है।

य एतेनेत्यग्निष्टोमः प्रकरणात् ॥३७॥

'य एतेन' इस वाक्य में 'एतेन' शब्द से अग्निष्टोम का ग्रहण है, क्योंकि उसका प्रकरण है।

लिङ्गाच्च ॥३८॥

तथा, लिङ्ग के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

अथान्येनेति संस्थानां सन्निधानात् ॥३९॥

पूर्व०—'य एतेनानिष्ट्वाऽथान्येन' इस वाक्य में 'अन्य' शब्द से ज्योतिष्टोम याग की अत्यग्निष्टोम आदि शेष छह् संस्थाओं का ग्रहण है, क्योंकि वे ही अग्निष्टोम की समीपवर्तिनी हैं।

तत्प्रकृतेर्वाऽऽपत्तिविहारौ हि न तुल्येषूपपद्येते ॥४०॥

सि०—'अन्येन' शब्द से अत्यग्निष्टोमादि छह् संस्था सहित 'एकाह्' आदि सम्पूर्ण यागों का ग्रहण है, क्योंकि केवल छह् संस्थाओं का ग्रहण होने से आपत्ति तथा विहार दोनों उपपन्न नहीं हो सकते।

प्रशंसा च विहरणाभावात् ॥४१॥

आक्षेप—उक्त वाक्यों में जो आपत्ति तथा विहार कथन किया गया है, वह अग्निष्टोम की प्रशंसा के लिए है, 'एकाह्' आदि के ग्रहण के लिए नहीं, क्योंकि विकृति होने के कारण 'एकाह्' आदि में आपत्ति तथा विहार नहीं बन सकते।

विधिप्रत्ययाद्वा न ह्येकस्मात् प्रशंसा स्यात् ॥४२॥

समा०—चोदक वाक्य द्वारा प्राकृत धर्मों का विकृति यागों में अतिदेशरूप प्रत्यय होने से आपत्ति तथा विहार का कथन ठीक है, क्योंकि धर्म-प्राप्ति के बिना प्रशंसा भी उपपन्न नहीं हो सकती।

एकस्तोमो वा क्रतुसंयोगात् ॥४३॥

पूर्व०—'अन्येन' शब्द से एकस्तोमवाले याग का ग्रहण है, क्योंकि अर्थवाद वाक्य से एक ही प्राकृत स्तोम का विकृति यागों के साथ व्याप्तिरूप-सम्बन्ध द्वारा प्रकाशन करना पाया जाता है।

सर्वेषां वा चोदना विशेषात् प्रशंसा स्तोमानाम् ॥४४॥

सि०—'अन्येन' शब्द से एक स्तोमक, अनेक स्तोमक सब यागों का ग्रहण है, क्योंकि वे सब 'अन्य' शब्द के वाच्य हैं और जो एक-एक स्तोत्र का विकृति याग को व्याप्तिरूप-सम्बन्ध द्वारा प्रकाशित करना लिखा है, वह स्तोमों की स्तुति है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने पञ्चमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

क्रमकोपोऽर्थशब्दाभ्यां श्रुतिविशेषादर्थपरत्वाच्च ॥१॥

अर्थक्रम और श्रौतक्रम से पाठक्रम का बाध हो जाता है, क्योंकि श्रुतिविशेष तथा अर्थ से प्राप्त होने के कारण वे दोनों प्रबल हैं।

अवदानाभिघारणाऽऽसादनेष्वानुपूर्व्यं प्रवृत्त्या स्यात् ॥२॥

पूर्व०—अवदान, अभिघारण तथा आसादन—इन तीनों में क्रम का अवधारण प्रवृत्तिक्रमानुसार होना चाहिए।

यथाप्रदानं वा तदर्थत्वात् ॥३॥

सि०—अवदान आदि तीनों धर्मों का अनुष्ठान प्रदान क्रमानुसार होना चाहिए, क्योंकि वे प्रदान के लिए ही विधान किये गये हैं।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४॥

तथा प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

वचनादिष्टिपूर्वत्वम् ॥५॥

पूर्व०—दर्शपूर्णमास याग के अनन्तर ज्योतिष्टोम करना कर्तव्य है, क्योंकि वाक्यविशेष से ऐसा ही ध्वनित होता है।

सोमश्चैकेषामग्न्याधेयस्यर्तुनक्षत्राऽतिक्रमवचनात् तदर्थे नानर्थकं हि स्यात् ॥६॥

सि०—ज्योतिष्टोम याग दर्शपूर्णमास के पश्चात् न होकर अग्न्याधान के बाद होना चाहिए, क्योंकि कई शाखाओं में उसकी कर्तव्यता के लिए अग्न्याधान-सम्बन्धी ऋतु तथा नक्षत्र के अतिक्रम का विधायक वाक्य-विशेष पाया जाता है। यदि ज्योष्टोम याग को अग्न्याधान के अनन्तर न मानकर दर्शपूर्णमास के पश्चात् माना जाए तो उक्त अति-क्रमण का अभिधायक वाक्य निरर्थक हो जाता है।

तदर्थवचनाच्च नाविशेषात्तदर्थत्वम् ॥७॥

तथा, अग्न्याधान को ज्योतिष्टोम के लिए कथन करने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है। यदि अग्न्याधान और ज्तोतिष्टोम का नियम से आनन्तर्य न मानें तो अग्न्याधान के कर्ममात्र के प्रति समान होने से ज्योतिष्टोमार्थता का अभिधायक वचन उपपन्न नहीं हो सकता।

अयक्ष्यमाणस्य च पवमानहविषां कालविधानादानन्तर्याद्विशङ्का स्यात् ॥८॥

और, अग्न्याधान के अनन्तर ज्योतिष्टोम याग न करनेवाले पुरुष के प्रति पवमान हवियों की कर्तव्यतार्थ काल का कथन करने से भी अग्न्याधान के अनन्तर उक्त याग की निःशङ्क कर्तव्यता सिद्ध होती है।

इष्टिरयक्ष्यमाणस्य तादर्थ्ये सोमपूर्वत्वम् ॥९॥

अग्न्याधान के अनन्तर ज्योतिष्टोम याग न करनेवाले के लिए दर्शपूर्णमास याग अवश्य कर्तव्य है, और ज्योतिष्टोम याग के निमित्त से अग्न्याधान करने पर ज्योतिष्टोम याग अवश्य कर्तव्य है।√

उत्कर्षाद् ब्राह्मणस्य सोमः स्यात् ॥१०॥

पूर्व०—ब्राह्मण का ज्योतिष्टोम याग दर्शपूर्णमास याग से पूर्व होना चाहिए, क्योंकि ज्योतिष्टोम याग के अनन्तर उक्त याग की कर्तव्यता का विधान पाया जाता है।

पौर्णमासी वा श्रुतिसंयोगात् ॥११॥

सि०—ज्योतिष्टोम याग के पश्चात् केवल पौर्णमास याग कर्तव्य है, क्योंकि उक्त अर्थवाद वाक्य में केवल 'पौर्णमास' शब्द का सम्बन्ध पाया जाता है।

सर्वस्य चैककर्मत्वात् ॥१२॥

आक्षेप—उक्त वाक्य में पौर्णमास शब्द से दर्श तथा पौर्णमास दोनों का ग्रहण है, क्योंकि वे दोनों मिलकर एक कार्य हैं।

स्याद्वा विधिस्तदर्थेन ॥१३॥

समा०—उक्त अर्थवाद वाक्य 'पौर्णमास' शब्द से दर्शपौर्णमास याग का विधायक नहीं, अपितु ज्योतिष्टोम याग के अङ्ग किसी अपूर्व कर्म का विधायक है।

प्रकरणात्तु कालः स्यात् ॥१४॥

उक्त अर्थवाद वाक्य में ज्योतिष्टोम याग के पश्चात् दर्शपौर्णमास याग के अनुष्ठानार्थ आनन्तर्यरूप काल का विधान मानना ठीक नहीं है, क्योंकि वह दर्शपौर्णमास के प्रकरण में पठित है।

स्वकाले स्यादविप्रतिषेधात् ॥१५॥

पूर्व०—ज्योतिष्टोम याग अपने काल में होना चाहिए, क्योंकि प्रधान होने के कारण उसके काल का बाध नहीं हो सकता।

अपनयो वाऽऽधानस्य सर्वकालत्वात् ॥१६॥

सि०—उक्त वाक्य में ज्योतिष्टोम याग के काल का बाध कथन किया है, अग्न्याधान के काल का नहीं, क्योंकि अग्न्याधान के काल का बाध तो सर्वथा प्राप्त है।

पौर्णमास्यूर्ध्वं सोमाद्ब्राह्मणस्य वचनात् ॥१७॥

ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग के पश्चात् पौर्णमास याग का नियम से अनुष्ठान होना चाहिए, क्योंकि वाक्यविशेष से ऐसा ही पाया जाता है।

एकं वा शब्दसामर्थ्यात्प्राक् कृत्स्नविधानम् ॥१८॥

'पौर्णमास' संज्ञक केवल एक 'अग्नीषोमीय' याग से पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग कर्तव्य है, पौर्णमास-संज्ञक याग-मात्र से नहीं, क्योंकि शब्द-सामर्थ्य से ऐसा ही पाया जाता है, अतः ज्योतिष्टोम से पूर्व 'अग्नीषोमीय' को छोड़कर और सब दर्शपौर्णमास-संज्ञक याग कर्तव्य हैं।

पुरोडाशस्त्वनिर्देशे तद्युक्ते देवताभावात् ॥१९॥

'अग्नीषोमीय' पदयुक्त वाक्य में यागभेद का कथन न होने से पुरोडाश याग का ग्रहण ही उचित है, क्योंकि उसमें देवता का सम्बन्ध विद्यमान है।

आज्यमपीति चेत् ॥२०॥

आक्षेप—उक्त याग में अग्नीषोमीय याग से आज्य याग का ग्रहण है, यदि ऐसा कहो तो—

न मिश्रदेवतात्वादैन्द्राग्नवत् ॥२१॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि जैसे ऐन्द्राग्न याग मिश्रदेवताक है, वैसे ही आज्य याग भी मिश्रदेवताक है।

विकृतेः प्रकृतिकालत्वात्सद्यस्कालोत्तरा विकृतिस्तयोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥२२॥

प्रकृति याग के अनन्तर होनेवाले ऐन्द्राग्न आदि विकृति याग एकाहः साध्य होने चाहिएँ, क्योंकि विकृति यागों के प्रकृति-काल का नियम है और प्राकृत द्व्याहः तथा एकाहः दोनों कालों के मध्य प्रत्यक्षोपदिष्ट होने से एकाहः काल प्रबल है।

द्वयहकाल्ये तु यथान्यायम् ॥२३॥

आक्षेप—उक्त विकृति यागों का द्वयहः साध्य होने से **'प्रकृतिवदविकृतिः कर्त्तव्यः'** इस न्याय का अतिक्रमण नहीं होता।

वचनाद्वैककाल्यं स्यात् ॥२४॥

समा०—उक्त विकृति याग एकाहः साध्य हैं, क्योंकि वाक्यविशेष से ऐसा ही पाया जाता है।

सान्नाय्याग्नीषोमीयविकाराद्रूर्ध्वं सोमात्प्रकृतिवत् ॥२५॥

जैसे सांनाय्य तथा अग्नीषोमीय दोनों याग ज्योतिष्टोम के पश्चात् होते हैं, वैसे ही उक्त दोनों यागों के विकृति याग भी पीछे होने चाहिएँ।

तथा सोमविकारा दर्शपूर्णमासाभ्याम् ॥२६॥

जैसे सांनाय्य तथा अग्नीषोमीय याग के विकृति यागों का अनुष्ठान ज्योतिष्टोम याग के पश्चात् होता है, वैसे ही ज्योतिष्टोम याग के विकृति यागों का अनुष्ठान दर्श-पौर्णमास याग के पीछे होना चाहिए।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

षष्ठोऽध्यायः

प्रथमः पादः

द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाऽभिसम्बन्धः ॥१॥

पूर्व०—द्रव्यों का कर्मविषयक संयोग में गौण सम्बन्ध है।

असाधकं तु तादर्थ्यात् ॥२॥

सि०—स्वर्ग के लिए होने से याग कर्म की सिद्धि का साधक नहीं।

प्रत्यर्थं चाऽभिसंयोगात् कर्मतो ह्यभिसम्बन्धः तस्मात्कर्मोपदेशः स्यात् ॥३॥

तथा, स्वर्ग-संज्ञक अर्थ के लिए यज्ञरूप कर्म का कारणत्वेन सम्बन्ध पाये जाने से कर्म द्वारा ही स्वर्ग और यागरूप कर्म का जन्य-जनकरूप सम्बन्ध है, अतः कर्म का कथन गौण है।

फलार्थत्वात्कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात् ॥४॥

पूर्व०—यज्ञकर्म श्रेष्ठ फल के लिए होने से उसका अधिकार स्त्री-पुरुष सबके लिए है।

कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगाद्विधिः कार्त्स्न्येन गम्यते ॥५॥

सि०—वैदिक कर्मों के अधिकार-सम्बन्धी श्रुतियों में स्त्रियों के यज्ञ करने के अधिकार का निषेध नहीं है।

लिङ्गविशेषनिर्देशात्पुंयुक्तमैतिशायनः ॥६॥

पूर्व०—"श्रुतिवाक्य में पुल्लिङ्ग का कथन पाये जाने से स्त्रियों को यज्ञ करने का अधिकार नहीं है"—यह एतिशायन ऋषि का मत है।

तदुक्तित्वाच्च दोषश्रुतिरविज्ञाते ॥७॥

अज्ञात भ्रूण (गर्भ, यज्ञ) के हनन-सम्बन्धी श्रुति से भी यज्ञ का अधिकारी पुरुष ही है।

जातिं तु बादरायणोऽविशेषात् तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत
जात्यर्थस्याऽविशिष्टत्वात् ॥८॥

सि०—आचार्य बादरायण का मत है कि श्रुतिवाक्य में पुल्लिङ्ग-निर्देश जाति का बोधक है, क्योंकि उसमें कोई विशेषता नहीं पाई जाती, अतः जाति-अर्थ के तुल्य होने से स्त्रियों को भी यज्ञ का अधिकार है।

चोदितत्वाद्यथाश्रुति ॥९॥

वेद-प्रतिपाद्य होने से श्रुत्यनुसार स्त्री और पुरुष दोनों को यज्ञ का अधिकार है।

द्रव्यवत्त्वात्तु पुंसां स्याद् द्रव्यसंयुक्तं क्रयविक्रयाभ्यामद्रव्यत्वं स्त्रीणां द्रव्यैः समानयोगित्वात् ॥१०॥

पूर्व०—यज्ञ द्रव्यसाध्य है और द्रव्य पुरुषों के अधिकार में रहता है तथा स्त्रियाँ क्रय और विक्रय की जाती हैं, अतः द्रव्यरहित होती हैं, ऐसी अवस्था में वे यज्ञ की अधिकारिणी नहीं हो सकतीं।

तथा चाऽन्यार्थदर्शनम् ॥११॥

तथा, उक्त क्रय और विक्रय की सिद्धि में उदाहरण पाया जाता है।

तादर्थ्यात्कर्मतादर्थ्यम् ॥१२॥

और, यदि स्त्रियाँ स्वयं परिश्रम करके धनोपार्जन करके यज्ञ करें तो भी सम्भव नहीं, क्योंकि उनपर पति का अधिकार होता है, अतः उनका कमाया धन भी उसी का हो जाता है।

फलोत्साहाऽविशेषात् ॥१३॥

सि०—धर्मरूपी फल और वैदिक कर्मों के करने का उत्साह मनुष्य की भाँति स्त्रियों में भी पाया जाता है, अतः यज्ञादि कर्मों में स्त्रियों का भी अधिकार है।

अर्थेन च समवेतत्वात् ॥१४॥

विवाह में पति-पत्नी दोनों को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इस फल-चतुष्टय के संचय का उपदेश दिया जाता है, अतः फलः का सम्बन्ध पाये जाने से स्त्रियों को भी यज्ञ का अधिकार है।

क्रयस्य धर्ममात्रत्वम् ॥१५॥

स्त्री के विक्रय की बात भी ठीक नहीं, वह धर्मक्रिया है, जो विधि-अनुसार की जाती है।

स्ववत्तामपि दर्शयति ॥१६॥

शास्त्र में दम्पती का एक ही धर्म बताया गया है, अतः स्त्रियाँ पति की सम्पत्ति में से यज्ञादि कार्य कर सकती हैं।

स्ववतोस्तु वचनादैककर्म्यं स्यात् ॥१७॥

स्त्री-पुरुष दोनों के लिए एक ही धर्म के बोधक वाक्य पाये जाने से एक-समान कर्म करने का विधान है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१८॥

तथा, वैदिक वाक्यों में एकसाथ कर्म करने का लिङ्ग पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

क्रीतत्वात्तु भक्त्या स्वामित्वमुच्यते ॥१९॥

आक्षेप—जब स्त्री का मूल्य लेकर उसे बेच दिया जाता है, तब वह धन की स्वामिनी नहीं हो सकती।

फलार्थित्वात्तु स्वामित्वेनाऽभिसम्बन्धः ॥२०॥

समा०—स्त्री धर्मरूपी फल को चाहती है, अतः उसका स्वामीपन के साथ सम्बन्ध है।

फलवत्तां च दर्शयति ॥२१॥

शास्त्र में भी स्त्री-पुरुष को मिलकर यज्ञ करने तथा उसके द्वारा फल-चतुष्टय को प्राप्त करने का कथन है।

द्वयाधानं च द्वियज्ञवत् ॥२२॥

पूर्व०—जहां विधान में दो पुरुषों के अग्न्याधान करने का उल्लेख है, वहां उसका तात्पर्य राजा और उसके पुरोहित के मिलकर यज्ञ करने का है।

गुणस्य तु विधानत्वात्पत्न्या द्वितीयाशब्दः स्यात् ॥२३॥

सि०—गुण का विधान करने से द्विवचन से अग्न्याधान के उल्लेख में दूसरे का आशय पत्नी ही है।

तथा यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्यमतुल्यत्वात् ॥२४॥

आशीर्वाद और ब्रह्मचर्य=वेदाध्ययन में पुरुष के समान योग्यता न रखने पर भी स्त्री के अग्न्याधान का विधान शास्त्रविहित है।

चातुर्वर्ण्यमविशेषात् ॥२५॥

पूर्व०—चारों वर्णों को वैदिक कर्मों में अधिकार है, क्योंकि ब्राह्मण आदि वर्णों में कोई विशेषता नहीं है।

निर्देशाद्वा त्रयाणां स्यादग्न्याधेये ह्यसम्बन्धः क्रतुषु ब्राह्मणश्रुतिरित्यात्रेयः ॥२६॥

सि०—"ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनों वर्णों को यज्ञ और अग्न्याधान का अधिकार है, शूद्र का उक्त कर्मों में कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि ब्राह्मण आदि वर्णों का अधिकार बोधन करनेवाली श्रुति ऐसा ही कहती है"—यह आत्रेय ऋषि का मत है।

निमित्तार्थे च बादरिस्तस्मात् सर्वाधिकारः स्यात् ॥२७॥

आक्षेप—नैमित्तिक सामर्थ्य से अधिकार उत्पन्न होता है, अतः वैदिक कर्मों में सबका अधिकार है, ऐसा बादरि ऋषि का मत है।

अपि वाऽन्यार्थदर्शनाद्यथाश्रुति प्रतीयेत ॥२८॥

'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः' आदि शास्त्रवचनों के पाये जाने से भी यज्ञादि कर्मों में चारों वर्णों का अधिकार प्रतीत होता है।

निर्देशात्तु पक्षे स्यात् ॥२९॥

सि०—पूर्वोक्त निर्देश पाये जाने से ब्राह्मण आदि पक्ष में ही वैदिक कर्मों का सद्भाव पाया जाता है।

वैगुण्यान्नेति चेत् ॥३०॥

आक्षेप—उपनयन-विधि में शूद्र के लिए व्रत न पाये जाने से उसे ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

न काम्यत्वात् ॥३१॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि शूद्रों में भी कामना पाई जाने से उनका यज्ञादि में अधिकार सिद्ध होता है।

संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ॥३२॥

सि०—संस्कार-विषय में विशेषता का कारण ब्राह्मण आदि वर्णों की प्रधानता है।

अपि वा वेदनिर्देशादपशूद्राणां प्रतीयेत ॥३३॥

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' वेद के इस कथन द्वारा शूद्र से रहित तीन वर्णों का ही यज्ञादि में अधिकार उपलब्ध होता है।

गुणार्थित्वान्नेति चेत् ॥३४॥

आक्षेप—अध्ययनरूपी गुण का अर्थी होने से शूद्र के लिए यज्ञादि का निषेध नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

संस्कारस्य तदर्थत्वाद्विद्यायां पुरुषश्रुतिः ॥३५॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। उपनयनादि संस्कार विद्या के लिए होने से विद्या-विषयक पुरुष के अधिकार का कथन है, अतः शूद्र भी वैदिककर्म करने का अधिकारी है।

विद्यानिर्देशान्नेति चेत् ॥३६॥

आक्षेप—विद्या का कथन केवल तीन वर्णों में पाये जाने से शूद्र को वैदिक कर्मों का अधिकार नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

अवैद्यत्वादभावः कर्मणि स्यात् ॥३७॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। शूद्र में विद्या की सामर्थ्य न होने से उपनयन-कर्म का अधिकार नहीं है, परन्तु यदि वह विद्वान् बन जाए तो उसका भी अधिकार है।

तथा चाऽन्यार्थदर्शनम् ॥३८॥

इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

त्रयाणां द्रव्यसम्पन्नः कर्मणो द्रव्यसिद्धित्वात् ॥३९॥

पूर्व०—तीनों वर्णों में धनाढ्य को ही अग्न्याधान का अधिकार है, क्योंकि यज्ञादि कर्मों की सिद्धि द्रव्यरूप साधन से ही होती है।

अनित्यत्वात्तु नैवं स्यादर्थाद्धि द्रव्यसंयोगः ॥४०॥

सि०—निर्धनता की अवस्था अनित्य है। निर्धन भी अवसर पाकर धनवान् बन सकता है, अतः अधिकार सबको है।

अङ्गहीनश्च तद्धर्मा ॥४१॥

अङ्गहीन पुरुष को भी यज्ञादि वैदिक कर्म करने का अधिकार है।

उत्पत्तौ नित्यसंयोगात् ॥४२॥

धर्म का सम्बन्ध जीवात्मा से है, जो अङ्गहीन में भी पाया जाता है, अतः अङ्गहीन को भी अधिकार है।

अत्र्यार्षेयस्य हानं स्यात् ॥४३॥

जिसके तीन ऋषि (माता, पिता और आचार्य) न हों ऐसा ऋत्विक् यज्ञ कराने का अधिकारी नहीं है।

वचनाद्रथकारस्याधाने सर्वशेषत्वात् ॥४४॥

आक्षेप—रथकार के लिए अग्न्याधान करने का अधिकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में पाया जाता है, क्योंकि वह तीन वर्णों का अङ्ग है।

न्यायो वा कर्मसंयोगाच्छूद्रस्य प्रतिषिद्धत्वात् ॥४५॥

समा०—उक्त कथन ठीक है, क्योंकि रथकार का कर्म के साथ संयोग पाया जाता है। शास्त्रों में रथकार को शूद्र नहीं कहा गया, और उसे अधिकारी माना गया है।

अकर्मत्वात्तु नैवं स्यात् ॥४६॥

शूद्र अकर्मा है, अतः उसे अग्न्याधान का अधिकार नहीं है।

आनर्थक्यं च संयोगात् ॥४७॥

उसे अग्न्याधान का अधिकार देने से अनर्थ हो सकता है।

गुणार्थमिति चेत् ॥४८॥

आक्षेप—विद्यारूपी गुण के कारण शूद्र को भी अग्न्याधान आदि संस्कारों का अधिकार है, यदि ऐसा कहो तो—

उक्तमनिमित्तत्वम् ॥४९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। जन्म से जाति मानने में कोई निमित्त नहीं—यह सिद्धान्त पहले ही प्रतिपादित कर दिया गया है।

सौधन्वनास्तु हीनत्वान्मन्त्रवर्णात् प्रतीयेरन् ॥५०॥

सुन्दर धनुषोंवाले क्षत्रिय लोग वेद और ब्राह्मणों से न्यून प्रतीत होते हैं।

स्थपतिर्निषादः स्याच्छब्दसामर्थ्यात् ॥५१॥

तक्षक=नौका चलानेवालों का यज्ञ में अधिकार है। तक्षक का अर्थ मल्लाह है, यह बात शब्द-सामर्थ्य से सिद्ध होती है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥५२॥

तथा, प्रमाणों के पाये जाने से भी ऐसा ही सिद्ध होता है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

पुरुषार्थैकसिद्धित्वात्तस्य तस्याधिकारः स्यात् ॥१॥

मनुष्य-जन्म का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप फलचतुष्टय की सिद्धि है, अतः प्रत्येक वर्णवाले को अपने अधिकार के अनुसार प्रयत्न करना चाहिए।

अपि वोत्पत्तिसंयोगाद्यथा स्यात् सत्त्वदर्शनं तथाभावोऽविभागे स्यात् ॥२॥

जन्मकाल के संयोग से अन्तःकरण की बनावट जैसी हो जाती है, उसी के अनुसार वर्णभेद भी हो जाता है।

प्रयोगे पुरुषश्रुतेर्यथाकामी प्रयोगे स्यात् ॥३॥

पूर्व०—वेद में पुरुष को कर्त्ता माना गया है, अतः प्रत्येक व्यक्ति कर्म करने में स्वतन्त्र है।

प्रत्यर्थं श्रुतिभाव इति चेत् ॥४॥

वेद में मनुष्य को प्रत्येक कार्य में स्वतन्त्र कहा गया है, परन्तु लोक में वह अनेक कार्यों में परतन्त्र दिखाई देता है, यदि ऐसा कहो तो—

तादर्थ्ये न गुणार्थताऽनुक्तेऽर्थान्तरत्वात्कर्तुः प्रधानभूतत्वात् ॥५॥

उक्त कथन ठीक नहीं। कर्तारूप से मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, परन्तु फल भोगने में परतन्त्र है, इसीलिए उसकी स्वतन्त्रता अपूर्व जान पड़ती है।

अपि वा कामसंयोगे सम्बन्धात् प्रयोगायोपदिश्येत प्रत्यर्थं हि विधिश्रुतिर्विषाणवत् ॥६॥

सि०—जैसे अङ्गों के खुजाने में सींगविशेष या अन्य साधन गौण हैं, उसी प्रकार जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, परन्तु फल भोगने में परतन्त्र है।

अन्यस्यापीति चेत् ॥७॥

आक्षेप—एक पुरुष के किये हुए कर्मों का फल दूसरे व्यक्ति को प्राप्त होता है, यदि ऐसा कहो तो—

अन्यार्थेनाभिसम्बन्धः ॥८॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। अन्य पुरुष के किये कर्मों का फल अन्य को प्राप्त नहीं होता।

फलकामो निमित्तमिति चेत् ॥९॥

आक्षेप—किसी अन्य के लिए फल की कामना कर लेना ही अन्य के लिए फल का निमित्त हो सकता है, यदि ऐसा माना जाए तो—

न नित्यत्वात् ॥१०॥

समा०—कर्म के सम्बन्ध में परमात्मा का नियम अटल है, अतः उक्त कथन ठीक नहीं।

कर्म तथेति चेत् ॥११॥

आक्षेप—दूसरे के किये कर्मों का फल दूसरों को प्राप्त होता है, ऐसे कर्म पाये जाते हैं, यदि ऐसा माना जाए तो—

न समवायात् ॥१२॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि जीव का अपने कर्मों के साथ ही सम्बन्ध पाया जाता है।

प्रक्रमात्तु नियम्येतारम्भस्य क्रिया निमित्तत्वात् ॥१३॥

प्रारब्ध कर्म अपने भोगरूप फल को उत्पन्न करके नियम कर देते हैं कि अन्य का भोग न हो, और जो वर्तमान काल के कर्म हैं, उनके आरम्भ में जीव का कर्तव्यरूप कर्म निमित्त है।

फलार्थित्वाद्वाऽनियमो यथानुपक्रान्ते ॥१४॥

आक्षेप—प्रारब्ध कर्मों का भोक्ता भोगरूप कर्मों का अर्थी होने से, जैसे प्रारम्भ-रहित पुरुष का कोई कर्तव्य नहीं होता, उसी प्रकार उस भोक्ता का उस भोग से भिन्न कोई कर्तव्य नहीं होता, अतः क्रियमाण कर्मों की स्वतन्त्रता का नियम नहीं।

नियमो वा तन्निमित्तत्वात्कर्तुस्तत्कारणं स्यात् ॥१५॥

समा०—इस बात की व्यवस्था है कि जीव कर्तव्य-कर्मों को अपनी स्वतन्त्रता से करता है, क्योंकि वे क्रियमाण कर्म प्रारब्ध कर्मों के भोग में निमित्त-मात्र हैं, और कर्त्ता के भोग के वे कर्म कारण हैं।

लोके कर्मणि वेदवत्ततोऽधिपुरुषज्ञानम् ॥१६॥

पूर्व०—लोक में जो कर्म किये जाते हैं, वे विधि-निषेधरूप होने से वेद के तुल्य हैं, उन्हीं कर्मों से परमात्मा-पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान हो जाएगा, अतः वेदों के मानने का कोई प्रयोजन नहीं।

अपराधेऽपि च तैः शास्त्रम् ॥१७॥

तथा, नियम-भङ्गरूप अपराध के होने पर लौकिक जनों द्वारा जैसे शासन करने-वाला शास्त्र बनाया जाता है, उसी प्रकार पुरुष की प्रवृत्ति-निवृत्ति के लिए लौकिक शास्त्र ही पर्याप्त है, वेद की कोई आवश्यकता नहीं।

अशास्त्रात्तूपसम्प्राप्तिः शास्त्रं स्यान्न प्रकल्पकं तस्मादर्थेन
गम्येताप्राप्ते वा शास्त्रमर्थवत् ॥१८॥

सि०—ईश्वर के ज्ञान की प्राप्ति वेद के बिना ही हो जानी चाहिए, परन्तु होती नहीं, अतः वेदरूपी शास्त्र का मानना उचित है। इन्द्रियों से अगोचर विषयों का ज्ञान वेदरूपी शास्त्र से ही हो सकता है, केवल तर्क से नहीं।

देवताश्रये च ॥१९॥

शास्त्र का ज्ञान देवता (ईश्वर) का आश्रय लेने से ही हो सकता है, अन्यथा नहीं।

प्रतिषेधेष्वकर्मत्वात्क्रिया स्यात् प्रतिषिद्धानां विभक्तत्वादकर्मणाम् ॥२०॥

निषेध के विषयभूत पदार्थों में कर्तव्याभावरूप क्रिया पाई जाती है, क्योंकि प्रतिषिद्ध अकर्तव्य कर्म निन्दित होते हैं।

शास्त्राणां त्वर्थवत्त्वेन पुरुषार्थो विधीयते, तयोरसमवायित्वात्तादर्थ्ये
विध्यतिक्रमः ॥२१॥

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इस फलचतुष्टय का वर्णन करने से ही शास्त्र की सफलता है। जो शास्त्र इस प्रकार का उपदेश न करे वह निरर्थक हो जाता है।

तस्मिंस्तु शिष्यमाणानि जननेन प्रवर्तेरन् ॥२२॥

पूर्व०—मनुष्य को जन्म से ही शास्त्र में विहित कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए।

अपि वा वेदतुल्यत्वादुपायेन प्रवर्तेरन् ॥२३॥

सि०—उपनयन-संस्कार के पश्चात् उनका पालन कर्तव्य है, क्योंकि स्मृति में कथित कर्तव्य [अभिवादन आदि] वेद के समान ही हैं।

अभ्यासोऽकर्मशेषत्वात् पुरुषार्थो विधीयते ॥२४॥

पूर्व०—अग्निहोत्रादि कर्मों का निरन्तर अभ्यास करे, क्योंकि वह किसी कर्म-विशेष का अङ्ग न होने से पुरुष के लिए विधान किये गये हैं।

एतस्मिन्नसम्भवन्नर्थात् ॥२५॥

सि०—यज्ञ-कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है, परन्तु रात-दिन अग्निहोत्र करते रहना असम्भव है।

न कालेम्य उपदिश्यन्ते ॥२६॥

उक्त कर्मों का अनुष्ठान निरन्तर नहीं हो सकता, अतः उन्हें किसी नियत काल में ही करना चाहिए।

दर्शनात् काललिङ्गानां कालविधानम् ॥२७॥

कालबोधक प्रमाणों के पाये जाने से भी नियत समय का विधान पाया जाता है।

तेषामौत्पत्तिकत्वादागमेन प्रवर्तेत ॥२८॥

दर्शपौर्णमास आदि कर्मों की अमावास्यादि पर्वों में उत्पत्ति पाये पाने से तद्बोधक शास्त्र द्वारा मनुष्य उन्हीं अवसरों पर उनमें प्रवृत्त हो।

तथा हि लिङ्गदर्शनम् ॥२९॥

इसी प्रकार प्रातः एवं सायंकाल यज्ञ करने का नियम पाया जाता है।

तथान्तःक्रतु युक्तानि ॥३०॥

जिस प्रकार दर्शपौर्णमास आदि यज्ञों का काल नियत है, उसी प्रकार अन्य विकृति यागों का काल भी नियत है।

आचाराद्गृह्यमाणेषु तथा स्यात् पुरुषार्थत्वात् ॥३१॥

जैसे दर्शपौर्णमास आदि याग करना नैमित्तिक नियम हैं, उसी प्रकार आचार-स्वरूप ब्रह्मचर्य आदि भी नैमित्तिक हैं।

ब्राह्मणस्य तु सोमविद्याप्रजमृणवाक्येन संयोगात् ॥३२॥

यज्ञ, ब्रह्मचर्य और सन्तानोत्पत्ति—ब्राह्मण के ये तीनों कर्म तीन ऋणों के चुकाने के उद्देश्य से माने गये हैं, अतः ये नित्यव्रत हैं, नैमित्तिक नहीं।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः स्यात्तथाभूतोपदेशात् ॥१॥

पूर्व०—सर्वशक्तियों के स्रोत परमात्मा की ओर प्रवृत्त होना प्राणियों का धर्म है, क्योंकि ऐसा ही उपदेश पाया जाता है।

अपि वाऽप्येकदेशे स्यात्प्रधाने ह्यर्थनिवृत्तिर्गुणमात्रमितरत्तदर्थत्वात् ॥२॥

सि०—यज्ञादि का अनुष्ठान भी परमात्मा की ओर प्रवृत्ति के लिए ही किया जाता है, परन्तु ये साधन जड़ और एकदेशीय हैं। उपासना मुख्य है। परमात्मा में प्रवृत्ति होने से मनुष्य सबसे बड़े लाभ का भागीदार बनता है।

तदकर्मणि च दोषस्तस्मात्ततो विशेषः स्यात् प्रधानेनाऽभिसम्बन्धात् ॥३॥

परमात्मा की ओर से उदासीन रहना दोष है, उस दोष से बचने के लिए परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहिए।

कर्माऽभेदं तु जैमिनिः प्रयोगवचनैकत्वात् सर्वेषामुपदेशः स्यात् ॥४॥

आक्षेप—आचार्य जैमिनि का मत है कि प्रयोग में एकवचन पाये जाने से सब शाखाओं में कर्म का अभेद है, और सब अङ्गों का कथन है।

अर्थस्य व्यपवर्गित्वादेकस्यापि प्रयोगे स्याद्यथा क्रत्वन्तरेषु ॥५॥

समा०—एक प्रकार के अनुष्ठान करने में समानता पाये जाने से सब शाखाओं की विधियाँ एक-सी पाई जाती हैं, जैसी अन्य यज्ञों में पाई जाती हैं।

विध्यपराधे च दर्शनात्समाप्तेः ॥६॥

और, एक-जैसा पाये जाने से उक्त कर्मों की पूर्ति में विधान और दोष एक-जैसे पाये जाने से कर्मों में अभेद है।

प्रायश्चित्तविधानाच्च ॥७॥

तथा, प्रायश्चित्त के विधान में भी एकता पाये जाने से कर्मों में अभेद है।

काम्येषु चैवमर्थित्वात् ॥८॥

पूर्व०—काम्य कर्मों में भी सब शाखाओं में अर्थी (इच्छुक) एक-जैसा पाया जाने से इसी प्रकार अभेद है।

असंयोगात्तु नैवं स्याद्विधेः शब्दप्रमाणत्वात् ॥९॥

सि०—विधिरूप शब्दप्रमाण के पाये जाने से ऐसा नहीं हो सकता, और अङ्गहीन होने से भी ठीक नहीं।

अकर्मणि चाप्रत्यवायात् ॥१०॥

तथा, काम्य कर्मों के न करने पर प्रत्यवायरूप दोष नहीं होता, अतः काम्य और नित्य कर्मों में भेद है।

क्रियाणामाश्रितत्वाद् द्रव्यान्तरे विभागः स्यात् ॥११॥

पूर्व०—हवनरूप क्रिया के सर्वत्र समान पाये जाने से भिन्न-भिन्न द्रव्यों में भेद होता है, क्रिया में नहीं।

अपि वाऽव्यतिरेकाद्रूपशब्दाविभागाच्च गोत्ववदैककर्म्यं स्यान्नामधेयं च सत्त्ववत् ॥१२॥

सि०—द्रव्य के भेद होने पर भी कर्म का भेद न पाये जाने से तथा शब्द और रूप का विभाग न होने से गो में गोत्व धर्म के समान कर्मों में एकत्व पाया जाता है और अन्य गौ व्यक्तियों के समान नाममात्र का भेद है।

श्रुतिप्रमाणत्वाच्छिष्टाभावेऽनागमोऽन्यस्याऽशिष्टत्वात् ॥१३॥

पूर्व०—श्रुति में जिस द्रव्य के हवन का उल्लेख है, उस द्रव्य के स्थान पर अन्य द्रव्य का प्रतिनिधिरूप से प्रयोग करने का कोई शास्त्रीय विधान नहीं है।

क्वचिद्विधानाच्च ॥१४॥

तथा, किसी एक स्थल में विधान पाये जाने से किसी द्रव्य के स्थान में अन्य द्रव्य प्रतिनिधि [illegible] ता। इसे अपवाद माना जा सकता है, विधि नहीं।

आगमो वा चोदनार्थाविशेषात् ॥१५॥

सि०—'चावल के स्थान पर सावाँ ले'—प्रतिनिधि द्रव्य में इस प्रकार के शास्त्रीय प्रमाण पाये जाने से द्रव्य का प्रतिनिधि होना सिद्ध है।

नियमार्थः क्वचिद्विधिः ॥१६॥

किसी स्थल में विधान नियम-विधि के अभिप्राय से होता है, अतः द्रव्य का प्रतिनिधि होता है।

तन्नित्यं तच्चिकीर्षा हि ॥१७॥

यज्ञ में सोम द्रव्य अथवा उसका प्रतिनिधि होना आवश्यक है, इन दोनों में से किसी के न होने पर यज्ञ की पूर्ति नहीं हो सकती।

न देवताग्निशब्दक्रियमन्यार्थसंयोगात् ॥१८॥

ईश्वर, अग्नि, मन्त्र और प्रयाज आदि कर्म—इन चारों का प्रतिनिधि नहीं होता, क्योंकि प्रतिनिधि से उद्देश्य का त्याग हो जाता है।

देवतायां च तदर्थत्वात् ॥१९॥

तथा, देवता के विषय में प्रतिनिधि नहीं होता, क्योंकि देवता यज्ञ का मुख्य विषय है।

प्रतिषिद्धं चाविशेषेण हि तत् श्रुतिः ॥२०॥

और, यज्ञ में मांस आदि पदार्थों का पूर्णरूपेण निषेध है, क्योंकि वेद में ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

तथा स्वामिनः फलसमवायात् फलस्य कर्मयोगित्वात् ॥२१॥

स्वामी का फल के साथ सम्बन्ध पाये जाने से और फल का कर्म के साथ सम्बन्ध होने से स्वामी के स्थान में प्रतिनिधि नहीं हो सकता।

बहूनां तु प्रवृत्तावन्यमागमयेदवैगुण्यात् ॥२२॥

बहुत-से यजमानों के यज्ञ में प्रवृत्त होने पर उनमें से किसी एक के मर जाने पर किसी अन्य को यज्ञ के अङ्गों की पूर्ति के लिए ले आये।

स स्वामी स्यात्संयोगात् ॥२३॥

पूर्व०—मृत स्वामी के साथ संयोग होने से वह प्रतिनिधि स्वामी होता है।

कर्मकरो वा भृतत्वात् ॥२४॥

सि०—भृत्य होने के कारण उक्त प्रतिनिधि कर्म का करनेवाला स्वामी नहीं हो सकता।

तस्मिंश्च फलदर्शनात् ॥२५॥

तथा, मुख्य स्वामी में फल का अधिकार पाये जाने से भी भृत्य प्रतिनिधि नहीं हो सकता।

स तद्धर्मा स्यात्तत्कर्मसंयोगात् ॥२६॥

उस भृत्य का कर्म के साथ संयोग पाये जाने से वह यजमान का स्थानापन्न पुरुष यजमान के धर्मवाला होता है।

सामान्यं तच्चिकीर्षा हि ॥२७॥

व्रीहि=चावल के अभाव में उससे मिलता-जुलता नीवार ही लेना चाहिए, क्योंकि उसके सदृश की ही इच्छा है।

निर्देशात्तु विकल्पे यत्प्रवृत्तम् ॥२८॥

विकल्प विषय में जो प्रथम यूप था वही लेना चाहिए, क्योंकि ऐसा ही निर्देश पाया जाता है।

अशब्दमिति चेत् ॥२९॥

आक्षेप—इस विषय में कोई प्रमाण नहीं, यदि ऐसा कहा जाए तो—

नाऽनङ्गत्वात् ॥३०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वह अङ्ग नहीं है।

वचनाच्चाऽन्याय्यमभावे तत्सामान्येन प्रतिनिधिरभावादितरस्य ॥३१॥

सोम स्थानीय 'पूतिका' द्रव्य के न मिलने पर उसके स्थान पर अन्य द्रव्य को प्रतिनिधि नहीं बनाया जा सकता।

न प्रतिनिधौ समत्वात् ॥३२॥

दोनों में समानता होने से प्रतिनिधि का प्रतिनिधि नहीं हो सकता।

स्यात् श्रुतिलक्षणे नियत्वात् ॥३३॥

पूर्व०—प्रतिनिधि का भी प्रतिनिधि हो सकता है, क्योंकि प्रतिनिधि-विधायक-वाक्यों में ऐसा नियम पाया जाता है।

न तदीप्सा हि ॥३४॥

सि०—उपर्युक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रकृत सोम द्रव्य की ही इच्छा पाई जाती है, पूतिका आदि की नहीं।

मुख्याधिगमे मुख्यमागमो हि तदभावात् ॥३५॥

मुख्य द्रव्य के न मिलने पर निश्चय ही प्रतिनिधि द्रव्य लेना चाहिए और मुख्य के मिलने पर मुख्य का ही विधान है।

प्रवृत्तेऽपीति चेत् ॥३६॥

पूर्व०—यज्ञ-सम्बन्धी पुरोडाशों के सिद्ध होने पर भी यदि मुख्य द्रव्य का लाभ हो जाए तो मुख्य द्रव्य ही लेना चाहिए।

नानर्थकत्वात् ॥३७॥

सि०—निरर्थक होने से मुख्य द्रव्य का ग्रहण नहीं करना चाहिए।

द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं तदर्थत्वात् ॥३८॥

मुख्य-द्रव्य और संस्कृत-द्रव्य के विरोध होने पर मुख्य-द्रव्य का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि मुख्य-द्रव्य यज्ञ का अङ्ग है।

अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो द्रव्याभावे तदुत्पत्तेर्द्रव्याणामर्थशेषत्वात् ॥३९॥

अर्थ और द्रव्य का विरोध होने पर प्रयोजन की सिद्धि लक्ष्य में रखनी चाहिए। मुख्य द्रव्य के न होने पर भी प्रयोजन की सिद्धि हो सकती है, क्योंकि द्रव्य प्रयोजन का अङ्ग है।

विधिरप्येकदेशे स्यात् ॥४०॥

पूर्व०—मुख्य द्रव्य हीने पर भी विहित द्रव्य ही लेना चाहिए, प्रतिनिधि नहीं।

अपि वार्थस्य शक्यत्वादेकदेशेन निवर्तेतार्थानामविभक्तत्वाद्
गुणमात्रमितरत्तदर्थत्वात् ॥४१॥

सि०—मुख्य द्रव्य के एकदेशमात्र से भी अर्थ का अनुष्ठान होना योग्य है, क्योंकि हवन-सम्बन्धी शेष अर्थ अन्य द्रव्य से सिद्ध हो सकेंगे, क्योंकि उन शेष अर्थों का यज्ञ से विभाग नहीं है, अन्य प्रयोजन गौण हैं, यज्ञ का अर्थ होने से।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

शेषाद् द्व्यवदाननाशे स्यात्तदर्थत्वात् ॥१॥

पूर्व०—हवन के लिए रखा हुआ पुरोडाश समाप्त हो जाए तो यज्ञशेष के लिए रखे हुए पुरोडाश से हवन करना चाहिए, क्योंकि वह इसीलिए होता है।

निर्देशाद्वाऽन्यदागमयेत् ॥२॥

सि०—शास्त्र में निर्देश पाये जाने से अन्य भाग पुरोडाश आदि से ले लेना चाहिए।

अपि वा शेषभाजां स्याद्विशिष्टकारणात् ॥३॥

शेष भागों का हवन करना चाहिए, क्योंकि सम्पूर्ण पुरोडाश यज्ञ के लिए है।

निर्देशाच्छेषभक्षोऽन्यैः प्रधानवत् ॥४॥

पूर्व०—ऋत्विजों को यज्ञशेष का भक्षण करना चाहिए, क्योंकि प्रधान के समान यज्ञशेष-भक्षण का विधान पाया जाता है।

सर्वैर्वा समवायात्स्यात् ॥५॥

सि०—यज्ञशेष सब लोगों को मिलकर खाना चाहिए, क्योंकि यज्ञ में भाग लेने-वाले सभी उसके अधिकारी हैं।

निर्देशस्य गुणार्थत्वम् ॥६॥

यजमान के साथ ऋत्विजों के भक्षणवाला विधान गौण है, वस्तुतः यज्ञशेष के भक्षण का अधिकार सभी को है।

प्रधाने श्रुतिलक्षणम् ॥७॥

'प्रधान यजमान पुरोडाश भक्षण करे'—यह विधान उपलक्षण-मात्र है।

अश्ववदिति चेत् ॥८॥

आक्षेप—अश्वमेध यज्ञ के समान अश्व का भक्षण प्राप्त होगा, यदि ऐसा कहो तो—

न चोदनाविरोधात् ॥९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। मांस-भक्षण का प्रश्न उठाना ही व्यर्थ है। शास्त्रों में ऐसे पापकर्म का सर्वथा निषेध है। मांस-भक्षण शास्त्रविरुद्ध है।

अर्थसमवायात्प्रायश्चित्तमेकदेशेऽपि ॥१०॥

सि०—कपाल आदि के एक भाग के टूट जाने पर प्रायश्चित्त करना चाहिए, क्योंकि एक भाग से समस्त वस्तु का सम्बन्ध होता है।

न त्वशेषे वैगुण्यात्तदर्थं हि ॥११॥

आक्षेप—एकदेश के विकारी होने से प्रायश्चित करना ठीक नहीं, सम्पूर्ण में विकार उत्पन्न होने से प्रायश्चित्त होना चाहिए, क्योंकि सम्पूर्ण द्रव्य यज्ञ के लिए ही है।

स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वादतद्धर्मो नित्यसंयोगान्न हि तस्य
गुणार्थत्वेनानित्यत्वात् ॥१२॥

समा०—एक भाग के नष्ट हो जाने से सम्पूर्ण पदार्थ यज्ञ के अयोग्य नहीं हो सकता, क्योंकि एकदेश-विकार का नित्य के साथ सम्बन्ध है। उस अवयवी द्रव्य का गौण-रूप द्वारा अनित्य होने से वह विकार प्रायश्चित्त-योग्य नहीं।

गुणानां च परार्थत्वाद्वचनाद्व्यपाश्रयः स्यात् ॥१३॥

विकार आदि गुण-दोष मुख्य नहीं, पदार्थ मुख्य है। अतः जब तक द्रव्य कार्य के योग्य हो तब तक उसके लिए प्रायश्चित्त का प्रश्न नहीं उठता।

भेदार्थमिति चेत् ॥१४॥

आक्षेप—वह विकार उस द्रव्य के नाशार्थ है, यदि ऐसा कहो तो—

न[illegible]भूतत्वात् ॥१५॥

समा०—ठीक नहीं। विकार अङ्गरूप होने से वह द्रव्य प्रायश्चित्त के योग्य नहीं।

[illegible]कश्च सर्वनाशे स्यात् ॥१६॥

सम्पूर्ण नष्ट हो जाने पर वह द्रव्य यज्ञ के अयोग्य होता है।

क्षामे तु सर्वदाहे स्यादेकदेशस्याऽवर्जनीयत्वात् ॥१७॥

पुरोडाश के सर्वदेश=सम्पूर्ण के जल जाने पर प्रायश्चित्त करना चाहिए, क्योंकि एकदेश का दाह तो अवश्यम्भावी है। कहीं-न-कहीं जलने का चिह्न हो ही जाता है।

दर्शनाद्वैकदेशे स्यात् ॥१८॥

आक्षेप—ऐसे उदाहरण पाये जाते हैं कि एक देश के दाह होने पर भी प्रायश्चित्त करना चाहिए।

अन्येन वैतच्छास्त्राद्धि कारणप्राप्तिः ॥१९॥

समा०—'अन्य आज्याहुतियों से हवन करे' इस शास्त्रवचन से सम्पूर्ण के दाह होने पर ही अन्य हवि का ग्रहण पाया जाता है, अतः सर्वदाह में प्रायश्चित्त होता है।

तद्धविः शब्दान्नेति चेत् ॥२०॥

आक्षेप—उस हवि का वाचक शब्द पाये जाने से अन्य हवियों द्वारा हवन करना ठीक नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

स्यादिज्यागामी हविः शब्दस्तल्लिङ्गसंयोगात् ॥२१॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। 'तद्धविः' शब्द यज्ञ-सम्बन्धी कर्म का बोधक है; जले हुए पुरोडाश से उसका आशय नहीं है।

यथाश्रुतीति चेत् ॥२२॥

पूर्व०—प्रातःकाल के हवन में चूक हो जाए तो उसका प्रायश्चित्त श्रुत्यनुसार (पाँच प्याले चावल का दान देकर) कर लेना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न तल्लक्षणत्वादुपपातो हि कारणम् ॥२३॥

सि०—उक्त कथन ठीक नहीं। हवन में चूक होने से प्रत्यवाय दोष होता है। चावल दान देने से उसका प्रायश्चित्त नहीं होता।

होमाभिषवभक्षणं च तद्वत् ॥२४॥

पूर्व०—अन्य यज्ञशेष के समान होम और अभिषव का यज्ञ में भक्षण करना चाहिए।

उभाभ्यां वा न हि तयोर्धर्मशास्त्रम् ॥२५॥

सि०—दोनों (आहुति देने और सोम कूटनेवाले) प्रकार के ऋत्विजों से उक्त दोनों द्रव्य भक्षणीय हैं, क्योंकि उनके भक्षण का शास्त्र में कहीं भी निषेध नहीं है।

पुनराधेयमोदनवत् ॥२६॥

पूर्व०—जैसे चावल-भरे पाँच प्याले नियत समय पर न रखे जाएँ तो उन्हें पुनः रखने का विधान है, वैसे ही जो सूर्योदय से पूर्व अग्न्याधान नहीं करता, उसे पुनः अग्न्याधान करना चाहिए।

द्रव्योत्पत्तेश्चोभयोः स्यात् ॥२७॥

सि०—प्रातः-सायं दोनों समय यज्ञ करने से द्रव्य की उत्पत्ति=प्राप्ति होती है, अतः प्रातः-सायं दोनों समय यज्ञ करना चाहिए।

पञ्चशरावस्तु द्रव्यश्रुतेः प्रतिनिधिः स्यात् ॥२८॥

पूर्व०—सान्नाय द्रव्य के स्थान में सुने जाने से पञ्चशराव कर्म प्रतिनिधि कहा गया है।

चोदना वा द्रव्यदेवताविधिरवाच्ये हि ॥२९॥

सि०—पञ्चशराव कर्म इन्द्रियागोचर परमात्मा के उद्देश्य से दान की विधि है।

स प्रत्यामनेत्स्थानात् ॥३०॥

पूर्व०—वह पञ्चशराव-याग दर्शयाग के स्थान में कथन किये जाने का प्रतिनिधि है।

अङ्गविधिर्वा निमित्तसंयोगात् ॥३१॥

सि०—अमावास्यारूप निमित्त का सम्बन्ध पाये जाने से उक्त याग अङ्गरूप से विधान किया गया है।

विश्वजिदप्रवृत्ते भावः कर्मणि स्यात् ॥३२॥

विश्वजित् याग से कर्मों में प्रवृत्ति होती है।

निष्क्रयवादाच्च ॥३३॥

विश्वजित् याग का कर्ता किसी से खरीदा नहीं जा सकता, वह स्वतन्त्र होता है, अतः इस याग का फल सर्वोपरि होता है।

वत्ससंयोगे व्रतचोदना स्यात् ॥३४॥

पूर्व०—दर्शपौर्णमास याग में बछड़ों के दूध पीने के समय व्रत करने की विधि है।

कालो वोत्पन्नसंयोगाद्यथोक्तस्य ॥३५॥

सि०—जब बछड़े दूध के लिए छोड़े जाएँ, उस समय से यजमान को व्रतारम्भ करना चाहिए।

अर्थापरिमाणाच्च ॥३६॥

यहाँ वत्स या बछड़ा शब्द व्यक्ति के लिए नहीं, अपितु काल के लिए आया है।

वत्सस्तु श्रुतिसंयोगात् तदङ्गं स्यात् ॥३७॥

आक्षेप—'वत्सेनामावास्याम्' वत्स से अमावास्या में व्रत करे—इस कथन से वत्स उस व्रत का अङ्ग प्रतीत होता है।

कालस्तु स्यादचोदनात् ॥३८॥

समा०—वत्स से व्रत के काल का ग्रहण पाया जाता है, क्योंकि उक्त वाक्य में व्रत संयोग की विधि नहीं, किन्तु काल की विधि है।

अनर्थकश्च कर्मसंयोगे ॥३९॥

व्रतरूप कर्म के सम्बन्ध में वत्स की चर्चा निरर्थक है।

अवचनाच्च स्वशब्दस्य ॥४०॥

तथा, वत्स का वाचक जो शब्द है, यह व्रत का वाचक नहीं हो सकता।

कालश्चेत्सन्नयत्पक्षे तल्लिङ्गसंयोगात् ॥४१॥

पूर्व०—यदि वत्स शब्द से काल लिया जाए तो सन्नयत पक्ष में कालबोधक लिङ्ग का सम्बन्ध पाये जाने से सन्नयत काल लेना चाहिए।

कालार्थत्वाद्वोभयोः प्रतीयेत ॥४२॥

सि०—दोनों कालों में काल का अर्थ पाये जाने से प्रतीत होता है कि दोनों कालों का ग्रहण है।

प्रस्तरे शाखाश्रयणवत् ॥४३॥

पूर्व०—द्रव्य के उत्पादन के समय में शाखा-ग्रहण-काल के समान काल लेना चाहिए।

कालविधिर्वोभयोर्विद्यमानत्वात् ॥४४॥

सि०—व्रत के काल का विधान प्रस्तर और शाखा दोनों के विद्यमान समय से लेना चाहिए।

अतत्संस्कारार्थत्वाच्च ॥४५॥

प्रातःकाल यजमान के व्रत करने का कोई उपयोग न होने से सन्ध्याकाल में ही व्रत करना चाहिए।

तस्माच्च विप्रयोगे स्यात् ॥४६॥

प्रातःकाल यजमान के व्रत का कोई उपयोग नहीं, क्योंकि प्रातःकाल तो दर्शयाग करना ही है, अतः सन्ध्याकाल से ही व्रत करना उपयुक्त है।

उपवेषश्च पक्षे स्यात् ॥४७॥

तथा, उक्त व्रत की स्थिति सन्ध्याकाल पक्ष में ही होती है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

पञ्चमः पादः

अभ्युदये कालापराधादिज्याचोदना स्याद्यथा पञ्चशरावे ॥१॥

पूर्व०—अभ्युदय-संज्ञक इष्टि में अमावास्या में दर्श की भ्रान्ति से यज्ञ करने पर पुनः यज्ञ करने की प्रेरणा पाई जाती है, पञ्चशराव नामक यज्ञ की भाँति।

अपनयो वा विद्यमानत्वात् ॥२॥

सि०—ऐसी अवस्था में दूषित द्रव्य का त्याग करके नई सामग्री लानी चाहिए, परन्तु यज्ञ करानेवाले ऋत्विज नये (दूसरे) लाने की आवश्यकता नहीं है।

तद्रूपत्वाच्च शब्दानाम् ॥३॥

तथा, शब्दों का वही रूप होने से ऋत्विजों का त्याग उचित नहीं। सामग्री में ही विकृति आती है, ऋत्विजों में नहीं, अतः उनका त्यागना उचित नहीं।

आतञ्चनाभ्यासस्य च दर्शनात् ॥४॥

और, आतञ्चनरूप अभ्यास भी वैसा ही देखा जाता है, अतः ऋत्विजों के त्याग की आवश्यकता नहीं।

अपूर्वत्वाद्विधानं स्यात् ॥५॥

अपूर्व (जो बात प्रथम न हो)होने से विधि होती है, अन्य के लिए नहीं। सामग्री दूषित होने से अन्य सामग्री का विधान है, ऋत्विजों का नहीं।

पयोदोषात्पञ्चशरावेऽदुष्टं हीतरत् ॥६॥

पञ्चशराव यज्ञ में जब पात्रों में दोष आ जाने से उनमें रखा दूध दूषित हो जाता है, तब उसे त्यागकर नया दूध लेने का विधान है।

सान्नाय्येऽपि तथेति चेत् ॥७॥

आक्षेप—सान्नाय्य (दधिरूप सामग्री) भी अन्य सामग्री के समान दूषित होती है, यदि ऐसा कहो तो—

न तस्यादुष्टत्वादवशिष्टं हि कारणम् ॥८॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दही शीघ्र खराब नहीं होता, दूसरे वह हवि के लिए नहीं, उसका प्रयोग अन्य ही है।

लक्षणार्था शृतश्रुतिः ॥९॥

सान्नाय्य चरु हवि के लिए नहीं, अपितु अन्य पदार्थों के संस्कार के काम आता है।

उपांशुयाजवचनाद्यथा प्रकृति वा ॥१०॥

पूर्व०—उपांशु याग में सामग्री के दूषित होने की बात नहीं कही गई है, अतः उसका प्रयोग सदा यूँ ही हो सकता है।

अपनयो वा प्रवृत्या यथेतरेषाम् ॥११॥

सि०—उपांशु याग में भी दूषित सामग्री का त्याग करना चाहिए। यह बात प्रकृति से पाई जाती है, जैसाकि अन्य यज्ञों में पाया जाता है।

निरुप्ते स्यात्तत्संयोगात् ॥१२॥

पूर्व०—सामग्री के दूषित हो जाने से उसका त्याग करना चाहिए, क्योंकि अधिक समय बीतने पर सामग्री में विकार होना सम्भव है।

प्रवृत्ते प्रापणान्निमित्तस्य ॥१३॥

सि०—जब द्रव्य काल के प्रभाव से विकृत हो जाता है, तब उसका बदलना आवश्यक होता है।

लक्षणमात्रमितरत् ॥१४॥

सामग्रीविषयक जो निरुक्त कथन किया गया है, तदनुसार भी दूषित सामग्री का त्याग सिद्ध होता है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥१५॥

तथा, ऐसा ही अन्य स्थानों में भी पाया जाता है।

अनिरुप्तेऽभ्युदिते प्राकृतीभ्यो निर्वपेदित्याश्मरथ्यस्तण्डुलभूतेष्वपनयात् ॥१६॥

पूर्व०—आचार्य अश्मरथ का मत है कि अभ्युदय-इष्टि से जिस सामग्री को शुद्ध नहीं किया गया, उसे शुद्ध करना चाहिए, जैसे चावलों को शुद्ध किया जाता है।

व्यूर्ध्वभाग्भ्यस्त्वालेखनस्तत्कारित्वाद्देवतापनयस्य ॥१७॥

सि०—आचार्य आलेखन का मत है कि ऊपर-ऊपर भाग की सामग्री निकालनी चाहिए, क्योंकि देवता का अपनय उसी से होता है।

विनिरुप्ते न मुष्टिनामपनयस्तद्गुणत्वात् ॥१८॥

पूर्व०—सम्पूर्णरूप से दूषित सामग्री में से मुट्ठी-भर सामग्री निकालना ठीक नहीं, क्योंकि सम्पूर्ण सामग्री ही दूषित गुणोंवाली है।

अपाकृतेन हि संयोगस्तत्स्थानीयत्वात् ॥१९॥

सम्पूर्ण सामग्री का त्याग इसलिए कहा गया है कि दूषित सामग्री के साथ सम्बन्ध रखने से शुद्ध सामग्री भी अशुद्ध हो जाती है।

अभावाच्चेतरस्य स्यात् ॥२०॥

सि०—यदि शुद्ध सामग्री का सर्वथा अभाव हो तो दूषित सामग्री को ही शुद्ध कर लेना चाहिए।

सान्नाय्यसंयोगात्सन्नयतः स्यात् ॥२१॥

पूर्व०—सान्नाय्य में दूध और दही के मिलाने में विकार उत्पन्न हो गया हो तो उसे भी शुद्ध कर लेना चाहिए।

औषधसंयोगाद्वोभयोः ॥२२॥

सि०—किसी ओषधिविशेष के मिलाने से सामग्री में विकार उत्पन्न हो गया हो तो उसे भी शुद्ध कर लेना चाहिए।

वैगुण्यान्नेति चेत् ॥२३॥

आक्षेप—ओषधिविशेष को निकाल देने से वह सामग्री गुणरहित हो जाएगी, यदि ऐसा कहा जाए तो—

नातत्संस्कारत्वात् ॥२४॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि ओषधिविशेष से सामग्री का संस्कार नहीं होता।

साम्युत्थाने विश्वजित् क्रीते विभागसंयोगात् ॥२५॥

पूर्व०—सत्र के लिए दीक्षित पुरुष यदि यज्ञ समाप्त होने से पूर्व ही उठ जाए तो उसे विश्वजित् याग करना चाहिए, क्योंकि उसने जो सोम-मूल्य लिया है, उसका उपयोग किसी यज्ञ में करना आवश्यक है।

प्रवृत्ते वा प्रापणान्निमित्तस्य ॥२६॥

सि०—सत्र के प्रवृत्त होने पर ही विश्वजित् याग की सम्भावना पाई जाती है।

आदेशार्थेतरा श्रुतिः ॥२७॥

सोम का विभाग करनेवाला कथन आदेश के लिए है।

दीक्षापरिमाणे यथाकाम्यविशेषात् ॥२८॥

पूर्व०—ज्योतिष्टोम के लिए दीक्षित पुरुष उस कार्य में इच्छानुसार चाहे जितना समय लगा ले, क्योंकि शास्त्र में इसके लिए काल का कोई नियम नहीं है।

द्वादशाहस्तु लिङ्गात् स्यात् ॥२९॥

सि०—दीक्षित पुरुष को बारह दिन का नियम पालन करना चाहिए, क्योंकि दीक्षाबोधक लिङ्ग से ऐसा ही पाया जाता है।

पौर्णमास्यामनियमोऽविशेषात् ॥३०॥

पूर्व०—'गवामयन' नामक सत्र किसी भी पूर्णिमा को करना चाहिए, क्योंकि इसके लिए किसी विशेष पूर्णिमा का नियम नहीं है।

आनन्तर्यात्तु चैत्री स्यात् ॥३१॥

पूर्णिमा पद से चैत्र की पूर्णिमा का ग्रहण है, क्योंकि वाक्यशेष में चैत्र की पूर्णिमा का स्पष्ट रूप से कथन पाया जाता है।

माघी वैकाष्टकाश्रुतेः ॥३२॥

सि०—उक्त सन्दर्भ में पौर्णमासी पद से माघ की पूर्णिमा का ग्रहण है, क्योंकि माघ से आगे आनेवाली एकाष्टका=अष्टमी का श्रवण पाया जाता है।

अन्या अपीति चेत् ॥३३॥

आक्षेप—अन्य कृष्णाष्टमियाँ भी एकाष्टका पद की वाच्य हैं, यदि ऐसा कहो तो—

न भक्तित्वादेषा हि लोके ॥३४॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि लक्षणा से लोक में इस अष्टमी का ही एकाष्टका पद से व्यवहार होता है।

दीक्षापराधे चानुग्रहात् ॥३५॥

दीक्षा के अपराध के सम्बन्ध में भी माघ की अष्टमी को ही एकाष्टका कहा जाता है।

उत्थाने चानुप्ररोहात् ॥३६॥

तथा, एकाष्टका के आने पर ही वृक्षों में नये अंकुर निकलते हैं।

अस्यां च सर्वलिङ्गानि ॥३७॥

इन लक्षणों के पाये जाने से माघाष्टमी ही 'गवामयन' के लिए प्रशस्त है।

दीक्षाकालस्य शिष्टत्वादतिक्रमे नियतानामनुत्कर्षः प्राप्तकालत्वात् ॥३८॥

पूर्व०—यज्ञ के लिए दीक्षित होने पर पुरुष को अपने नियत कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि उक्त कर्मों का काल प्राप्त है।

उत्कर्षो वा दीक्षितत्वादविशिष्टं हि कारणम् ॥३९॥

सि०—दीक्षा एक मुख्य कार्य के लिए ग्रहण की जाती है, जो उत्कृष्ट है, अतः उस काल में नियत कर्मों को करने की आवश्यकता नहीं है।

तत्र प्रतिहोमो न विद्यते यथा पूर्वेषाम् ॥४०॥

दीक्षित अवस्था में प्रतिहोम नहीं पाया जाता, जैसा कि पूर्व लोगों के लिए पाया जाता है।

कालप्राधान्याच्च ॥४१॥

तथा, काल की प्रधानता पाये जाने से भी दीक्षित के लिए प्रतिहोम की विधि नहीं है।

प्रतिषिद्धाच्चोर्ध्वमवभृथादिष्टेः ॥४२॥

और, अवभृथ इष्टि के लिए भी प्रतिहोम का निषेध है।

प्रतिहोमश्चेत्सायमग्निहोत्रप्रभृतीनि हूयेरन् ॥४३॥

यदि होम के लोप होने पर प्रतिहोम किया जाए तो सायंकाल से लेकर अग्निहोत्र आदि कर्म करे।

प्रातस्तु षोडशिनि ॥४४॥

षोडशी इष्टि में प्रातःकाल प्रतिहोम करे।

प्रायश्चित्तमधिकारे सर्वत्र दोषसामान्यात् ॥४५॥

पूर्व०—साधनों के खण्डित हो जाने पर सब इष्टियों में प्रायश्चित्त होना चाहिए, क्योंकि भेदन-निमित्तक दोष सर्वत्र समान है।

प्रकरणे वा शब्दहेतुत्वात् ॥४६॥

सि०—प्रायश्चित्त के प्रकरण में ही प्रायश्चित्त होना चाहिए, क्योंकि प्रायश्चित्त का विधायक शब्द ही प्रायश्चित्त में हेतु है।

अतद्विकाराच्च ॥४७॥

तथा, सब इष्टियों में भेदन-निमित्तक विकार न पाये जाने से प्रायश्चित्त का सर्वत्र विधान नहीं।

व्यापन्नस्याप्सु गतौ यदभोज्यमार्याणां तत्प्रतीयेत ॥४८॥

जो पदार्थ आर्य-पुरुष के लिए अभक्ष्य, अयोग्य और दूषित हैं, उन्हें जल में फेंक देना चाहिए।

विभागश्रुतेः प्रायश्चित्तं यौगपद्ये न विद्यते ॥४९॥

पूर्व०—उद्गाता और प्रतिहर्ता दोनों का एक काल में अपच्छेद होने पर प्रायश्चित्त नहीं होता, क्योंकि वह एक-एक का अपच्छेद होने पर विधान किया गया है।

स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वात्कालमात्रमेकम् ॥५०॥

सि०—यदि विधान में एक काल का उल्लेख किया होता तो प्रायश्चित्त न होता, परन्तु निमित्त विद्यमान होने पर प्रायश्चित्त आवश्यक है।

तत्र विप्रतिषेधाद्विकल्पः स्यात् ॥५१॥

दोनों का एक काल में अपच्छेद होने पर दोनों प्रायश्चित्तों में से कोई एक प्रायश्चित्त होना चाहिए, क्योंकि परस्पर विरोध होने के कारण दोनों नहीं हो सकते।

प्रयोगान्तरे वोभयानुग्रहः स्यात् ॥५२॥

आक्षेप०—यदि एक याग में दोनों प्रकार का प्रायश्चित्त न हो सके तो भिन्न-भिन्न दो यागों में दोनों का अनुष्ठान हो सकता है।

न चैकसंयोगात् ॥५३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि उक्त प्रायश्चित्तों का एक याग के साथ सम्बन्ध है।

पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत् ॥५४॥

जैसे प्रकृति में विधान किया पदार्थ विकृति में विधान किये पदार्थ से निर्बल है, वैसे ही क्रम से अपच्छेद होने पर प्राप्त हुए दोनों प्रायश्चित्तों के मध्य अदक्षिणारूप प्रथम प्रायश्चित्त सर्वस्व दक्षिणारूप प्रायश्चित्त की अपेक्षा निर्बल है।

यद्युद्गाता जघन्यः स्यात्पुनर्यज्ञे सर्ववेदसंदद्याद्यथेतरस्मिन् ॥५५॥

यदि उद्गाता का प्रतिहर्त्ता के अपच्छेद से पूर्व अपच्छेद हो तो जैसे भिन्न-भिन्न समय में अपच्छेद होने पर पुनर्याग में सर्वस्व दक्षिणा दी जाती है, वैसे ही पुनर्यज्ञ में सर्वस्व दक्षिणा देनी चाहिए।

अहर्गणे यस्मिन्नपच्छेदस्तदावर्त्तेत कर्मपृथक्त्वात् ॥५६॥

द्वादशाह आदि अहर्गण यागों के मध्य जिस याग में उद्गाता का अपच्छेद हो उसी की आवृत्ति करे, क्योंकि एक-एक दिन में होनेवाला वह यज्ञरूप कर्म भिन्न-भिन्न है।

॥ इतिपूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्य पञ्चमः पादः ॥

षष्ठः पादः

सन्निपातेऽवैगुण्यात्प्रकृतिवत्तुल्यकल्पा यजेरन् ॥१॥

सत्र याग में जो सत्रह ऋत्विज लिए जाते हैं, वे समान गोत्र के होने चाहिएं जिससे यज्ञकार्य में विगुणता उत्पन्न न हो।

वचनाद्वा शिरोवत्स्यात् ॥२॥

आक्षेप—जिस प्रकार शास्त्र में मृतक को छूने का निषेध है, फिर भी उसके सिर को उठाने के लिए कहा गया है, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न गोत्रों के ऋत्विजों से यज्ञ कराया जा सकता है।

न वाऽनारभ्यवादत्वात् ॥३॥

समा०—भिन्न गोत्रों का अधिकार ठीक नहीं, क्योंकि उनके अनारम्भ का कथन पाया जाता है।

स्याद्वा यज्ञार्थत्वादौदुम्बरीवत् ॥४॥

आक्षेप—औदुम्बरी (काष्ठविशेष) के समान यज्ञार्थ होने से विभिन्न गोत्रवाले ऋत्विजों से यज्ञ कराया जा सकता है।

न तत्प्रधानत्वात् ॥५॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि कल्प=गोत्र पुरुषार्थ के लिए है, यज्ञ के लिए नहीं।

औदुम्बर्याः परार्थत्वात्कपालवत् ॥६॥

कपाल के समान औदुम्बरी भी यज्ञ के लिए होती है, अतः विभिन्न कल्पों का यज्ञ में अधिकार है।

अन्येनापीति चेत् ॥७॥

आक्षेप—तब अन्य यजमान से भी यज्ञ होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

नैकत्वात्तस्य चानधिकाराच्छब्दस्य चाविभक्तत्वात् ॥८॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि एक होने से उस यजमान का अनधिकार है और शब्द के एक होने से अन्य यज्ञ के यजमान का अन्य यज्ञ में अधिकार नहीं।

सन्निपातात्तु निमित्तविघातं स्यात् बृहद्रथन्तरवद्विभक्तशिष्टत्वाद्वसिष्ठनिर्वर्त्ये ॥९॥

आक्षेप—यदि समान कल्पवालों का यज्ञ में अधिकार माना जाए तो फल का निमित्त ठीक नहीं रहता, क्योंकि फल एक के उद्देश्य से होना चाहिए और यजमान भिन्न-भिन्न हैं, अतः समान कल्पवालों का अधिकार मानना ठीक नहीं।

अपि वा कृत्स्नसंयोगादविघातः प्रतीयेत स्वामित्वेनाभिसम्बन्धः ॥१०॥

समा०—समान कल्पवाले यजमानों का यज्ञ से सम्बन्ध स्वामीरूप से होता है, अतः फल की प्राप्ति में बाधा नहीं होती, क्योंकि फल के लिए सब यजमानों का कर्तृत्व एक-जैसा है।

साम्नोः कर्मवृद्ध्यैकदेशेन संयोगो गुणत्वेनाभिसम्बन्धस्तस्मात्तत्र विघातः स्यात् ॥११॥

उक्त प्रकरण में बृहत् और रथन्तर दोनों सामों का कर्मवृद्धि द्वारा उक्त स्तोत्र से सम्बन्ध है, अतः उक्त साम का विघात होता है और गुणरूपता से सम्बन्ध होने के कारण भी विघात होता है परन्तु उक्त दोनों बातें फल में नहीं पाई जातीं, अतः फल में विघात का दोष नहीं आता।

वचनात्तु द्विसंयोगस्तस्मादेकस्य पाणित्वम् ॥१२॥

पूर्व०—जैसे 'अञ्जलि से हवन करे' इस वाक्य में बाएँ हाथ का भी सम्बन्ध प्रतीत

होता है, वैसे ही 'राजपुरोहितौ' वाक्य में भी राजा के दो पुरोहितों की प्रतीति होनी चाहिए, क्योंकि विधायक वाक्य से ऐसा ही पाया जाता है, अतः एक राजा के दो पुरोहितों का ही उक्त यज्ञ में अधिकार है, राजा तथा पुरोहित दोनों का नहीं।

अर्थाभावात्तु नैवं स्यात् ॥१३॥

सि०—उक्त वाक्य में दो पुरोहितों का ग्रहण ठीक नहीं, क्योंकि उसका उक्त अर्थ नहीं है।

अर्थानां च विभक्तत्वान्न तत् श्रुतेन सम्बन्धः ॥१४॥

तथा, यागफल का विभाग पाये जाने से भी उक्त वाक्य में श्रवण किये याग के साथ दो पुरोहितों का सम्बन्ध नहीं हो सकता।

पाणेः प्रत्यङ्गभावादसम्बन्धः प्रतीयेत ॥१५॥

वामहस्त का अञ्जलि के प्रति अङ्गभाव होने पर भी हवन के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता।

सत्राणि सर्ववर्णानामविशेषात् ॥१६॥

पूर्व०—सत्र नामक यागों में ब्राह्मण आदि सब वर्णों का अधिकार है, क्योंकि उक्त सत्रों के विधायक वाक्यों में कोई विशेषता नहीं पाई जाती।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१७॥

तथा, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

ब्राह्मणानां वेतरयोरार्त्विज्याभावात् ॥१८॥

सि०—ब्राह्मणों का ही सत्र में अधिकार है, क्योंकि क्षत्रिय तथा वैश्य के ऋत्विज होने का निषेध पाया जाता है।

वचनादिति चेत् ॥१९॥

आक्षेप—'ऋद्धिकामाः सत्रमासीरन्'—इस वचन से इतर वर्णों का अधिकार सिद्ध है, यदि ऐसा कहो तो—

न स्वामित्वं हि विधीयते ॥२०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य में सत्र का स्वामी होना कथन किया गया है।

गार्हपते वा स्यान्नामाविप्रतिषेधात् ॥२१॥

आक्षेप—गृहपति-कर्म में क्षत्रिय और वैश्य का अधिकार होना चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से कोई विरोध नहीं।

न वा कल्पविरोधात् ॥२२॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि उसमें कल्प=गोत्र का विरोध हो जाता है।

स्वामित्वादितरेषामहीने लिङ्गदर्शनम् ॥२३॥

पूर्वपक्ष का साधक जो लिङ्ग कथन किया गया है, वह अहीन नामक याग में जानना चाहिए, क्योंकि उस याग में ब्राह्मणातिरिक्त वर्ण भी यजमान होते हैं।

वासिष्ठानां वा ब्रह्मत्वनियमात् ॥२४॥

पूर्व०—वसिष्ठ गोत्रवालों का ही सत्र में अधिकार है, क्योंकि उन्हों का ब्रह्मा होना नियत है।

सर्वेषां वा प्रतिप्रसवात् ॥२५॥

अथवा, सत्र में सब ब्राह्मणों का अधिकार है, क्योंकि वाक्यान्तर में वसिष्ठ गोत्र-वाले के ब्रह्मा होने का निषेध पाया जाता है।

वैश्वामित्रस्य हौत्रनियमाद्भृगुशुनकवसिष्ठानामनधिकारः ॥२६॥

सि०—भृगु, शुनक, वसिष्ठ गोत्रवालों का यज्ञ में अधिकार नहीं अपितु विश्वा-मित्र गोत्रवालों का ही अधिकार है, क्योंकि उन्हीं के होता होने का नियम पाया जाता है।

विहारस्य प्रभुत्वादनग्नीनामपि स्यात् ॥२७॥

पूर्व०—अनाहित अग्नियों का भी सत्र में अधिकार है, क्योंकि एक ही आह्व-नीयाग्नि सब यज्ञों के लिए समर्थ है।

सारस्वते च दर्शनात् ॥२८॥

तथा सारस्वत नामक सत्र में अनाहिताग्नियों का कथन पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

प्रायश्चित्तविधानाच्च ॥२९॥

और, प्रायश्चित्त का विधान पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

साग्नीनां वेष्टिपूर्वत्वात् ॥३०॥

सि०—सत्र में आहिताग्नियों का ही अधिकार है, क्योंकि सत्र का अनुष्ठान दर्श-पौर्णमास याग के पश्चात् कथन किया गया है।

स्वार्थेन च प्रयुक्तत्वात् ॥३१॥

तथा, अपने-अपने अर्थ के लिए अग्नियों का आधान पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

सन्निवापं च दर्शयति ॥३२॥

और, सब यजमानों की अग्नियों का मिलाप श्रुति वाक्य से पाया जाता है।

जुह्वादीनामप्रयुक्तत्वात्सन्देहे यथाकामी प्रतीयते ॥३३॥

पूर्व०—जुहु आदि पात्रों का सन्देह होने पर अपनी इच्छा के अनुसार उपादान करे, क्योंकि उनका विशेष रूप से विधान नहीं पाया जाता।

अपि वाऽन्यानि पात्राणि साधारणानि कुर्वीरन्विप्रतिषेधाच्छास्त्रकृतत्वात् ॥३४॥

सि०—दूसरे सर्वसाधारण जुहु आदि पात्र सम्पादन करने चाहिएँ, क्योंकि शास्त्र में ऐसा ही विधान है, और किसी यजमान के पात्र ग्रहण करने में विरोध हो जाता है।

प्रायश्चित्तमापदि स्यात् ॥३५॥

यजमान के मर जाने पर जो प्रायश्चित्त कथन किया गया है, वह भी उक्त अर्थ की सिद्धि में प्रमाण है।

पुरुषकल्पेन वा विकृतौ कर्तृनियमः स्याद्यज्ञस्य तद्गुणत्वादभावादितरान्प्रत्येकस्मिन्नधिकारः स्यात् ॥३६॥

पूर्व०—अध्वर-कल्पादि विकृति यागों में पुरुषविशेष द्वारा सत्रह सामिधेनियों का उल्लेख पाये जाने से वैश्यरूप यजमान का नियम होना चाहिए, क्योंकि पूर्वोक्त यागों के प्रति उक्त सामिधेनियाँ गौण हैं, और ब्राह्मण-क्षत्रियों के प्रति सत्रह सामिधेनियों का विधान नहीं, अतः एक वैश्यरूप यजमान में ही उक्त यागों का अधिकार होना चाहिए।

लिङ्गाच्चेज्याविशेषवत् ॥३७॥

जैसे वैश्यस्तोम नामक यागविशेष में केवल वैश्य का अधिकार है, वैसे ही प्रमाणों के उपलब्ध होने से उक्त विकृति यागों में वैश्य का अधिकार सिद्ध होता है।

न वा संयोगपृथक्त्वाद् गुणस्येज्याप्रधानत्वादसंयुक्ता हि चोदना ॥३८॥

सि०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि याग के विधायक और सामिधेनियों के विधायक वाक्यों का भेद है तथा गुण के प्रति याग के प्रधान होने से गुणानुसार यजमान की कल्पना करना ठीक नहीं, अतः उक्त विकृति याग वैश्य यजमानवाले नहीं हो सकते।

इज्यायां तद्गुणत्वाद्विशेषेण नियम्येत ॥३९॥

वैश्यस्तोम नामक याग में वैश्यरूप कर्ताविशेष का नियम होना ठीक है, क्योंकि उसमें वैश्य का गुणरूप से कथन पाया जाता है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्य षष्ठः पादः ॥

सप्तमः पादः

स्वदाने सर्वमविशेषात् ॥१॥

पूर्व०—विश्वजित् याग में सर्वस्व दान करना चाहिए, क्योंकि सामान्य रूप से सर्वस्व दान करने का विधान पाया जाता है।

यस्य वा प्रभुः स्यादितरस्याऽशक्यत्वात् ॥२॥

सि०—यजमान जिन वस्तुओं का स्वामी हो, उन्हीं का दान करे, अन्य का नहीं, क्योंकि अन्य वस्तु (स्त्री आदि) के दान में वह असमर्थ है।

न भूमिः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥३॥

भूमि का दान नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उस पर पुत्र-स्त्री आदि अन्य सम्बन्धियों का एक-जैसा अधिकार है।

अकार्यत्वाच्च ततः पुर्नविशेषः स्यात् ॥४॥

युद्ध के लिए अत्यन्त उपयोगी होने के कारण यजमान अश्व आदि का दान कदापि न करे, क्योंकि वह सर्वथा उपादेय पदार्थ है।

नित्यत्वाच्चानित्यैर्नास्ति सम्बन्धः ॥५॥

(जब आत्मदान तक कर देते हैं, फिर अश्वदान आदि का निषेध क्यों ?) आत्मा नित्य होने से अनित्य पदार्थों के साथ उसका सम्बन्ध नहीं है।

शूद्रश्च धर्मशास्त्रत्वात् ॥६॥

विश्वजित् याग में शूद्र को भी दान कर देने का अधिकार है, क्योंकि धर्मशास्त्र में उसका सेवारूप धर्म वर्णन किया गया है।

दक्षिणाकाले यत्स्वं तत्प्रतीयेत तद्दानसंयोगात् ॥७॥

जो दातव्य पदार्थ हों वे सब दक्षिणाकाल में ही देने चाहिएँ, क्योंकि उक्त याग के सम्बन्ध में ऐसा ही विधान है।

अशेषत्वात्तदन्तः स्यात्कर्मणो द्रव्यसिद्धित्वात् ॥८॥

पूर्व०—विश्वजित् याग-सम्बन्धी कोई कर्म शेष न रहने से दक्षिणाकाल में ही उसकी समाप्ति हो जाती है, याग का प्रयोजन सिद्ध होने के कारण।

अपि वा शेषकर्म स्यात्क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥९॥

दक्षिणा के पश्चात् भी पूर्णाहुति आदि कर्म शेष रहते हैं।

तथा चाऽन्यार्थदर्शनम् ॥१०॥

और, ऐसे ही उदाहरण भी पाये जाते हैं।

अशेषं तु समञ्जसमादाने शेषकर्म स्यात् ॥११॥

आक्षेप— यज्ञकर्म के पूर्ण होने पर समस्त बचे हुए शाकल्य=सामग्री को सम्पूर्ण रूप से यज्ञाग्नि में समर्पित कर देना चाहिए। इसी से यज्ञकर्म की पूर्ति होती है।

नादानस्यानित्यत्वात् ॥१२॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। जो भक्षण योग्य पदार्थ हैं, उन्हें यज्ञशेष के रूप में भक्षणार्थ रखकर अन्य सामग्री का हवन कर देना चाहिए।

दीक्षासु विनिर्देशादक्रत्वर्थेन संयोगस्तस्मादविरोधः स्यात् ॥१३॥

सि०— (यज्ञशेष में सम्पूर्ण सामग्री का हवन कर देना लिखा है, और यज्ञशेष का भक्षण करना भी, यह परस्पर विरोध क्यों ?) यज्ञशेष भक्षणार्थ ही होता है, पूर्णाहुति उससे भिन्न सामग्री की दी जाती है, अतः उक्त दोनों बातों में विरोध नहीं है

अहर्गणे च तद्धर्मः स्यात्सर्वेषामविशेषात् ॥१४॥

'अहर्गण अष्टरात्र याग' विश्वजित् याग के समान होता है, अतः उसमें भी सर्वस्व की दक्षिणा दी जानी चाहिए।

द्वादशशतं वा प्रकृतिवत् ॥१५॥

पूर्व०—जैसे प्रकृति (ज्योतिष्टोम) याग में बारह सौ रुपये की दक्षिणा का कथन है, उतनी ही अहर्गण याग की दक्षिणा है।

अतद्गुणत्वात्तु नैवं स्यात् ॥१६॥

सि०—उक्त कथन ठीक नहीं। अहर्गण याग में ज्योतिष्टोम के धर्म नहीं पाये जाते, अतः इस प्रकार का विधान नहीं हो सकता। अहर्गण याग में विश्वजित् याग के लक्षण पाये जाते हैं, अतः उसी का अनुसरण करना चाहिए।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१७॥

तथा, प्रमाणों से भी ऐसा ही पाया जाता है।

विकारः सन्नुभयतोऽविशेषात् ॥१८॥

पूर्व०—विकाररूप अहर्गण याग दोनों अवस्थाओं में हो सकता है, अर्थात् चाहे बारह सौ रुपया हो या कम हो, क्योंकि कोई विशेषता नहीं पाई जाती।

अधिकं वा प्रतिप्रसवात् ॥१९॥

सि०—सबको विश्वजित् याग करने का अधिकार नहीं, क्योंकि उसमें बारह सौ रुपये का विधान पाया जाता है।

अनुग्रहाच्च पादवत् ॥२०॥

तथा, अधिकार का ग्रहण करने से पाद के समान बारह सौ भी बीच में आ जाते हैं।

अपरिमिते शिष्टस्य संख्याप्रतिषेधस्तत् श्रुतित्वात् ॥२१॥

पूर्व०—अपरिमित दान का विधान पाये जाने से बारह सौ की नियत संख्या का निषेध पाया जाता है, क्योंकि उक्त दान में श्रुति पाई जाती है।

कल्पान्तरं वा तुल्यवत्प्रसंख्यानात् ॥२२॥

सि०—अपरिमित शब्द बारह सौ आदि संख्या का निषेधक नहीं किन्तु उक्त संख्या के बराबर संख्या कथन करने का हेतु है।

अनियमोऽविशेषात् ॥२३॥

पूर्व०—तुल्य कह देने से कोई विशेष अर्थ नहीं निकलता, अतः बारह सौ और अपरिमित का समान अर्थ करना ठीक नहीं।

अधिकं वा स्याद्बह्वर्थत्वादितरैः सन्निधानात् ॥२४॥

सि०—अपरिमित दो सौ आदि संख्या से अधिक का वाचक है, बहुत अर्थ का वाचक होने से, क्योंकि वह द्विशत वा सहस्र आदि संख्याओं की सन्निधि में पढ़ा गया है। भाव यह है कि विश्वजित् याग बहुत साधन सम्पन्न व्यक्ति ही कर सकते हैं।

अर्थवादश्च तदर्थवत् ॥२५॥

इस अपरिमित शब्द में अर्थवाद का भाव भी पाया जाता है, जैसे निन्दा-स्तुति को कुछ बढ़ा-चढ़ाकर कह दिया जाता है, उसी प्रकार का यह अपरिमित शब्द है।

परकृतिपुराकल्पं च मनुष्यधर्मः स्यादर्थाय ह्यनुकीर्तनम् ॥२६॥

पूर्व०—पूर्व सृष्टि में भी मनुष्यों के धर्म वर्तमान सृष्टि की भाँति ही थे (जैसे सदाचारी सौ वर्ष जीता है) इस अर्थ के बोधनार्थ ही शास्त्रों में अनुकीर्तन कथन किया गया है।

तद्युक्ते च प्रतिषेधात् ॥२७॥

पूर्वकल्प के मनुष्यों के धर्मों का विधान मानना ठीक नहीं, क्योंकि उनका निषेध पाया जाता है।

निर्देशाद्वा तद्धर्मः स्यात्पञ्चावत्तवत् ॥२८॥

जब पूर्वकल्प के मनुष्यों के शरीर पञ्चभौतिक ही थे तब उनको मनुष्यधर्मा मानना ही ठीक है, उन्हें अलौकिक मानना ठीक नहीं।

विधौ तु वेदसंयोगादुपदेशः स्यात् ॥२९॥

वेदों के वर्णन से भी ऐसा ही सिद्ध होता है कि पूर्वसृष्टि में मनुष्यों के धर्म वर्तमान सृष्टि के समान ही थे।

अर्थवादो वा विधिशेषत्वात्तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ॥३०॥

सि०—वेदों के प्रमाण उपलब्ध होने से यह सिद्ध होता है कि सहस्रों वर्ष की आयु का कथन अर्थवाद है, अतः वेदार्थ का ही अनुवादक अर्थवाद है, अन्यार्थ का विधायक नहीं।

सहस्रसंवत्सरं तदायुषामसम्भवान्मनुष्येषु ॥३१॥

पूर्व०—'पूर्वकल्प में लोगों की आयु सहस्रों वर्ष की थी' ऐसे कथन पाए जाने से यह सिद्ध होता है कि पूर्वकल्प के लोगों में मनुष्य के धर्म न थे, क्योंकि वर्तमान सृष्टि में मनुष्य की इतनी आयु नहीं होती।

अपि वा तदधिकारान्मनुष्यधर्मः स्यात् ॥३२॥

अध्ययनाध्यापन में मनुष्यों का अधिकार पाये जाने से भी वे लोग मनुष्यधर्मा ही ज्ञात होते हैं, देव नहीं।

नासामर्थ्यात् ॥३३॥

सामर्थ्य का अभाव होने से कल्पित देवताओं का अध्ययन में सम्बन्ध नहीं पाया जाता।

सम्बन्धदर्शनात् ॥३४॥

सि०—अग्नि, वायु आदि जड़ देवताओं में अध्ययनाध्यापन का सम्बन्ध नहीं पाया जाता।

स कुल्यः स्यादिति कार्ष्णाजिनिरेकस्मिन्नसम्भवात् ॥३५॥

आचार्य कार्ष्णाजिनि का मत है कि जो दिव्य सहस्र वर्ष पर्यन्त अध्ययन लिखा है, वह एक कुल का है, क्योंकि एक पुरुष में उक्त अर्थ की असम्भवता पाई जाती है।

अपि वा कृत्स्नसंयोगादेकस्यैव प्रयोगः स्यात् ॥३६॥

पूर्व०—शास्त्र में जो कृत्स्न शब्द आया है, उससे एक व्यक्ति का ही आशय निकलता है।

विप्रतिषेधात्तु गुण्यन्यतरः स्यादिति लावुकायनः ॥३७॥

समा०—पूर्वोत्तर विरोध पाये जाने से लावुकायन ऋषि यह मानते हैं कि दिव्य सहस्र वर्ष का अध्ययन गौण है।

संवत्सरो वा विचालित्वात् ॥३८॥

संवत्सार शब्द एक अर्थ का वाचक नहीं है (यह अन्य समाधान है), संवत्सर शब्द कहीं वर्ष का वाचक है, कहीं ऋतुओं का और कहीं दिन का।

सा प्रकृतिः स्यादाधिकारात् ॥३९॥

सहस्र संवत्सरोंवाले मनुष्य का ही यहाँ ग्रहण होता है, क्योंकि अध्ययनाध्यापन में जड़ देवों का अधिकार नहीं हो सकता।

अहानि वाऽभिसंख्यात्त्वात् ॥४०॥

सि०—संवत्सर दिन के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, क्योंकि एक दिन में छहों ऋतुओं के वर्तने का वर्णन पाया जाता है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्य सप्तमः पादः ॥

अष्टमः पादः

इष्टिपूर्वत्वादक्रतुशेषो होमः संस्कृतेष्वग्निषु
स्यादपूर्वोऽप्याधानस्य सर्वशेषत्वात् ॥१॥

पूर्व०—यज्ञ का अनङ्गभूत प्रजा की कामनार्थ चतुर्होत्र नामक याग अन्य होमों का अङ्ग होने के कारण अपूर्व होने पर भी पवमान इष्टिसाध्य होने से संस्कृत अग्नियों में ही किया जाना चाहिए।

इष्टित्वेन तु संस्तवश्चतुर्होतृनसंस्कृतेषु दर्शयति ॥२॥

समा०— इष्टिरूप जो स्तुति की जाती है, उससे प्रतीत होता है कि चतुर्होत्र को असंस्कृत अग्नि में ही करना चाहिए।

उपदेशस्त्वपूर्वत्वात् ॥३॥

(जब उक्त होम असंस्कृत अग्नियों में ही होता है, पुनः उसके विधान की क्या आवश्यकता है ?) पूर्वोक्त होमों का उपदेश अपूर्व विधि के अभिप्राय से है।

स सर्वेषामविशेषात् ॥४॥

पूर्व०—पूर्वोक्त विधि यज्ञ के अङ्गभूत और अनङ्गभूत दोनों प्रकार के होमों का विधान करती है, इसमें कोई विशेषता नहीं पाई जाती।

अपि वा क्रत्वभावादनाहिताग्नेरशेषभूतनिर्देशः ॥५॥

सि०—जो कर्म यज्ञ के अङ्गभूत नहीं हैं, वे अनाहिताग्नियों में किये जाएँ।

जपो वाऽनग्निसंयोगात् ॥६॥

आक्षेप—अनाहिताग्नियों की इष्टि अर्थवाद है, उसका अग्नि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता।

इष्टित्वेन संस्तुते होमः स्यादनारभ्याग्निसंयोगादितरेषामवाच्यत्वात् ॥७॥

समा०—इष्टिरूप से वर्णन किये जाने के कारण उक्त चतुर्होत्र कर्म होम है, कोरा अर्थवाद नहीं, तथा अन्य कर्मों का वाचक न होने से अनाहिताग्नि के साथ उसका सम्बन्ध पाया जाता है।

उभयोः पितृयज्ञवत् ॥८॥

आक्षेप—जैसे पितृयज्ञ को आहिताग्नि और अनाहिताग्नि दोनों प्रकार के पुरुष कर सकते हैं, वैसे ही चतुर्होम को भी दोनों प्रकार के पुरुष कर सकते हैं।

निर्देशो वाऽनाहिताग्नेरनारभ्याग्निसंयोगात् ॥९॥

समा०—चतुर्होम याग का अनाहिताग्नि में ही निर्देश पाया जाता है, क्योंकि इसी अग्नि के साथ उक्त होमों का सम्बन्ध है।

पितृयज्ञे संयुक्तस्य पुनर्वचनम् ॥१०॥

पितृयज्ञ में आहिताग्नि और अनाहिताग्नि दोनों के बोधक भिन्न-भिन्न वचन पाये जाते हैं, अतः उसका दृष्टान्त चतुर्होत्र में देना ठीक नहीं।

उपनयन्नाधीत होमसंयोगात् ॥११॥

पूर्व०—उपनयनकाल में आहिताग्नि में यज्ञ करे, क्योंकि उसका होम के साथ सम्बन्ध पाया जाता है।

स्थपतिवल्लौकिके वा विद्याकर्मानुपूर्वत्वात् ॥१२॥

सि०—उपनयन कर्म 'स्थपति' इष्टि के समान लौकिकाग्नि में ही करना चाहिए, क्योंकि उसका उद्देश्य ब्रह्मविद्या में प्रवृत्त होना है।

आधानं च भार्यासंयुक्तम् ॥१३॥

और, अग्न्याधान का अधिकार विद्याध्ययन के पश्चात् विवाहित पुरुष को ही है, अतः उपनयन-सम्बन्धी होम लौकिक अग्नि में करना चाहिए।

अकर्म चोर्ध्वमाधानात्तत्समवायो हि कर्मभिः ॥१४॥

जो अग्न्याधान के पश्चात् भार्या ग्रहण करता है, वह अकर्म है, क्योंकि कर्मों के साथ उस भार्या का सम्बन्ध उपनयनकाल के पश्चात् होता है।

श्राद्धवदिति चेत् ॥१५॥

श्राद्धकर्म के समान उपनयन-सम्बन्धी हवन आहित और अनाहित दोनों अग्नियों में किया जाता है, यदि ऐसा कहो तो—

न श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥१६॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि दो भार्याओं से विवाह का निषेध पाया जाता है।

सर्वार्थत्वाच्च पुत्रार्थो न प्रयोजयेत् ॥१७॥

धर्मादि सब प्रकार के प्रयोजनों के लिए होने से स्त्री सहधर्मिणी कहलाती है, केवल पुत्ररूपी प्रयोजन से नहीं।

सोमपानात्तु प्रापणं द्वितीयस्य तस्मादुपयच्छेत् ॥१८॥

सोमपान करनेवाला (वैदिकधर्मी) दूसरी भार्या की अभिलाषा नहीं रखता।

पितृयज्ञे तु दर्शनात्प्रागाधानात्प्रतीयेत ॥१९॥

पितृयज्ञ आहिताग्नि (ब्राह्मणादि) और अनाहिताग्नि (शूद्रादि) दोनों के लिए कर्तव्य है, अतः उसे दोनों प्रकार से करने का विधान है, परन्तु उपनयन में ऐसा विधान नहीं।

स्थपतीष्टिः प्रजावदग्न्याधेयं प्रयोजयेत्तादर्थ्याच्चापवृज्येत् ॥२०॥

पूर्व०—स्थपति इष्टि प्रयाज के समान अग्न्याधान के आश्रय से होती है और यज्ञ के अभिप्रायवाली होने से उसका आहिताग्नि के साथ सम्बन्ध है।

अपि वा लौकिकेऽग्नौ स्यादाधानस्यासर्वशेषत्वात् ॥२१॥

सि०—स्थपति अग्नि का अनुष्ठान लौकिकाग्नि में होना चाहिए, क्योंकि अग्न्याधान कर्म सबके लिए नहीं है।

अवकीर्णिपशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात् ॥२२॥

जिस ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्यव्रत खण्डित हो जाए उसे गधे का स्पर्श करके 'अवकीर्णि इष्टि' लौकिक अग्नि में करनी चाहिए, क्योंकि अग्न्याधान का काल प्राप्त नहीं है।

उदगयनपूर्वपक्षाहः पुण्याहेषु दैवानि स्मृतिरूपान्यार्यदर्शनात् ॥२३॥

चूड़ाकर्मादि कर्म पवित्र दिनों में किया जाना चाहिए, क्योंकि देव-सम्बन्धी कर्म शुभ दिनों में ही किये जाते हैं। स्मृतियों में भी ऐसा ही विधान पाया जाता है।

अहनि च कर्मसाकल्यम् ॥२४॥

तथा, उक्त सब कार्य दिन में ही करने चाहिएँ।

इतरेषु तु पित्र्याणि ॥२५॥

पित्र्यकर्म सब दिनों में करने चाहिएँ।

याञ्चाक्रयणमविद्यमाने लोकवत् ॥२६॥

पूर्व०—भिक्षा और सोम का क्रयण सब कालों में होना चाहिए, जैसा कि लोक में पाया जाता है।

नियतं वार्थवत्वात्स्यात् ॥२७॥

सि०—भिक्षा आदि नियत काल में करनी चाहिए, नियत काल में करने से ही ये अर्थवाले अर्थात् ऋतुरूप अपूर्व के जनक होते हैं।

तथा भक्षप्रैषाच्छादनसंज्ञप्तहोमद्वेषम् ॥२८॥

तथा, उक्त प्रकार भक्ष=यवागू आदिव्रत, प्रैष=प्रैषितव्य, आच्छादन=दर्भमय आच्छादन, संज्ञप्तहोम और द्वेष='योऽस्मान् द्वेष्टि' इत्यादि वाक्योक्त कर्म नियत काल में ही होते हैं।

अनर्थकं त्वनित्यं स्यात् ॥२९॥

भिक्षा आदि कर्मों को नियमपूर्वक न किया जाए तो ये कर्म स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिप्रद हो सकते हैं।

पशुचोदनायामनियमोऽविशेषात् ॥३०॥

पूर्व०—'पशून् पाहि' इत्यादि मन्त्र द्वारा पशु-रक्षा का कोई विशेष नियम नहीं है, किसी पशुविशेष की रक्षा का नियम नहीं है, सब प्रकार के पशुओं की रक्षा का उपदेश है।

छागो वा मन्त्रवर्णात् ॥३१॥

सि०—यदि कोई कहे कि वेद में बकरे को मारकर हवन करने का विधान है, तो—

न चोदनाविरोधात् ॥३२॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि उक्त मन्त्र से विरोध हो जाता है।

आर्षेयवदिति चेत् ॥३३॥

'आर्षेयं वृणीते' वाक्य के समान 'पशून् पाहि' का आशय गौ आदि विशेष पशुओं की रक्षा से है, उसका सब पशुओं से सम्बन्ध नहीं, यदि ऐसा माना जाए तो—

न तत्र ह्यचोदितत्वात् ॥३४॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वेद में निश्चय ही पशुविशेष की रक्षा का विधान नहीं पाया जाता, अपितु पशुमात्र की रक्षा का विधान है।

नियमो वैकार्थ्यं ह्यर्थभेदाद्भेदः पृथक्त्वेनाभिधानात् ॥३५॥

उक्त मन्त्र में सामान्य पशुओं की रक्षा का विधान है परन्तु छाग=बकरा एक विशेष पशु है, भेदरूप से कथन किये जाने के कारण, इसकी गिनती उनमें हो सकती है।

अनियमो वार्थान्तरत्वादन्यत्वं व्यतिरेकशब्दभेदाभ्याम् ॥३६॥

वेद में किसी विशेष पशु की रक्षा का नियम नहीं है। भिन्न शब्द की वाच्यता होने से अनियम है और भिन्न अर्थ होने से भेद पाया जाता है। [वेद में स्पष्ट कहा है—'गां मा हिंसीः', 'अविं मा हिंसीः', 'मा हिंसीरेकशफम्' (यजु० १३।४३, ४८) अर्थात् गाय को मत मारो, भेड़ को मत मारो, एक खुरवाले पशुओं को मत मारो।]

न वा प्रयोगसमवायित्वात् ॥३७॥

सि०—शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ उनके प्रयोग से जाना जा सकता है।

रूपालिङ्गाच्च ॥३८॥

पूर्व०—रूप और लिङ्ग से भी छाग=बकरे का वध पाया जाता है ('यागार्थं छिद्यत इति छागः' जो याग के लिए काटा जाए उसे छाग कहते हैं।)

छागेन कर्माख्या रूपलिङ्गाभ्याम् ॥३९॥

सि०—रूप और लिङ्ग से यह अर्थ बकरे में नहीं घट सकता अपितु यज्ञ के लिए जिन पदार्थों को छेदा=काटा जाता है, वे छाग संज्ञावाले हैं।

रूपान्यत्वान्न जातिशब्दः स्यात् ॥४०॥

रूपों में भिन्नता होने के कारण 'छाग' से किसी जाति का आशय ग्रहण नहीं करना चाहिए।

विकारो नौत्पत्तिकत्वात् ॥४१॥

यज्ञ में पशु-हवनरूप विकार इष्ट नहीं, क्योंकि वेद ईश्वरीय ज्ञान है।

स नैमित्तिकः पशोर्गुणस्याचोदितत्वात् ॥४२॥

वेद में 'छाग' शब्द यौगिक है, और उस वर्णन से पशुविशेष नहीं माना जा सकता।

जातेर्वा तत्प्रायवचनार्थवत्त्वाभ्याम् ॥४३॥

जातिवाचक शब्दों के साथ पढ़े जाने और प्रयोजनवाला होने से छाग शब्द जाति का वाचक है (छाग एक विशेष प्रकार की ओषधि का नाम है, जो सुगन्धिरूप प्रयोजन के लिए यज्ञ की सामग्री में डाली जाती थी)।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्याष्टमः पादः ॥

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

सप्तमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

श्रुतिप्रमाणत्वाच्छेषाणां मुखभेदे यथाधिकारं भावः स्यात् ॥१॥

सि०—जिस अपूर्व का जो प्रयाजादि शेष है, यहाँ प्रकरणानुसार उन धर्मों की व्यवस्था की जाती है और श्रुति-प्रमाण से यह सिद्ध किया जाता है कि यह इस कर्म का शेष है।

उत्पत्त्यर्थाविभागाद्वा सत्त्ववदैकधर्म्यं स्यात् ॥२॥

पूर्व०—यजन से ही अपूर्व की उत्पत्ति होती है, अतः यजन और अपूर्व का विभाग सम्भव नहीं। सभी यजन अपूर्ववाले होते हैं, गोत्व जाति की भाँति।

चोदना शेषभावाद्वा ताद्वा तद्भेदाद्व्यवतिष्ठेरन्नुत्पत्तेर्गुणभूतत्वात् ॥३॥

सि०—कर्म की प्रेरणा का शेषभाव होने तथा अपूर्वों का भेद होने से और यजन का उस प्रेरणा में गौण भाव रहने के कारण प्रकरण के अनुसार ही उसकी व्यवस्था की जाती है। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' में 'दर्शपूर्णमासी' विशेष है और 'यजेत' सामान्य है। यहाँ केवल कर्तव्यता ही बताई जाती है, क्योंकि अपूर्व यजन के समाप्त होने पर ही होता है।

सत्त्वे लक्षणसंयोगात्सार्वत्रिकं प्रतीयेत ॥४॥

सत्त्व (गोत्व आदि) को लक्ष्य करके जो भी धर्म कहा जाता है, वह सार्वत्रिक होता है।

अविभागात्तु नैवं स्यात् ॥५॥

पूर्व०—अपूर्व प्रयुक्त जो धर्म बताये जाते हैं, वे सब यजन प्रयुक्त ही समझने चाहिएँ, क्योंकि धर्मों का यजन के साथ कोई विभाग नहीं होता।

द्व्यर्थत्वं च विप्रतिषिद्धम् ॥६॥

दो प्रकार के अर्थों का मानना अन्याय है।

उत्पत्तौ विध्यभावाद्वा चोदनायां प्रवृत्तिः स्यात्ततश्च कर्मभेदः स्यात् ॥७॥

सि०—यजन में विधि का अभाव होने के कारण अपूर्व में प्रयाजादि धर्मों की प्रवृत्ति होती है, इससे पुनः कर्म का भेद हो जाएगा।

यदि वाऽप्यभिधानवत्सामान्यात् सर्वधर्मः स्यात् ॥८॥

आक्षेप—यद्यपि अपूर्व धर्मों का प्रयोजक होता है तो भी अभिधान के समान सामान्यतया वह सर्वधर्मवाला होता है।

अर्थस्य त्वविभक्तत्वात्तथा स्यादभिधानेषु पूर्ववत्त्वात्प्रयोगस्य कर्मणः
शब्दभाव्यत्वाद्विभागाच्छेषाणामप्रवृत्तिः स्यात् ॥९॥

समा०—प्रयोग के पूर्ववत्त्व होने से तथा अर्थ के नियत होने से अभिधानों में तो ऐसा हो सकता है परन्तु कार्यों के शब्दमान्य होने से विभाग होने के कारण प्रयाजादि शेष कर्मों में प्रवृत्ति नहीं होगी।

स्मृतिरिति चेत् ॥१०॥

स्मृति है, यदि ऐसा कहो तो—

न पूर्ववत्त्वात् ॥११॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वे पूर्व अर्थात् प्रकृतियागवालों के धर्म हैं।

अर्थस्य शब्दभाव्यत्वात्प्रकरणनिबन्धनाच्छब्दादेवान्यत्र भावः स्यात् ॥१२॥

अङ्गकलाप के शब्दभाव्य होने से तथा प्रकरण के साथ सम्बन्ध होने से अतिदेश शास्त्ररूप शब्द से विकृतियाग के साथ सम्बन्ध पाया जाता है।

समाने पूर्ववत्त्वादुत्पन्नाधिकारः स्यात् ॥१३॥

पूर्व०—समानमितरत् श्येनेन'—इस वाक्य में अनुवाद है, ज्योतिष्टोम की विकृति होने से।

श्येनस्येति चेत् ॥१४॥

ज्योतिष्टोमों का अनुवाद नहीं है, श्येन के ग्रहण करने की सामर्थ्य से, यदि ऐसा कहो तो—

नासन्निधानात् ॥१५॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि सन्निधान न होने से श्येन के वैशेषिकों का अनुवाद युक्त नहीं हो सकता।

अपि वा यद्यपूर्वत्वादितरदधिकार्थे ज्यौतिष्टोमिकाद्विधेरतद्वाचकं
समानं स्यात् ॥१६॥

सि०—उक्त वाक्य विधायक हो जाएगा। ज्योतिष्टोम विधि से जो श्येन वैशेषिक अधिक हैं, वे अतिदिश्यमान हो जाते हैं। उसका वाचक समान शब्द होता है।

पञ्चसञ्चरेष्वर्थवादातिदेशः सन्निधानात् ॥१७॥

पूर्व०—पञ्च हवियों के सञ्चर में सन्निधान होने के कारण केवल अर्थवाद का अतिदेश हुआ करता है।

सर्वस्य वैकशब्द्यात् ॥१८॥

सि०—अर्थवाद मन्त्र का ही अतिदेश होता है, ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि सविधिक और सार्थवादक समस्त काण्ड का अतिदेश होता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१९॥

तथा, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी ऐसा ही सिद्ध होता है।

विहिताम्नानान्नेति चेत् ॥२०॥

विहित आम्नान से यह नहीं होता, यदि ऐसा कहो तो—

नेतरार्थत्वात् ॥२१॥

उक्त कथन ठीक नहीं। विधि का अतिदेश होने पर भी अग्नि-मन्थन आदि आम्नानों की निरर्थकता नहीं होती।

एककपालैन्द्राग्नौ च तद्वत् ॥२२॥

जिस प्रकार वैश्वदेव-सत्र में एककपाल और ऐन्द्राग्नी में द्वादश कपाल आम्नान हैं, उसी प्रकार यहाँ पर भी सविधिक और सार्थवादक काण्ड का अतिदेश होता है।

एककपालानां वैश्वदेविकः प्रकृतिराग्रयणे सर्वहोमापरिवृत्ति-
दर्शनादवभृथे च सकृद् द्व्यवदानस्य वचनात् ॥२३॥

आग्रयण में समस्त होम की अप्रवृत्ति के देखे जाने से एककपाल की वैश्वदेविक प्रकृति होती है, अतः यहाँ वरुणप्रघासिक एककपाल का ग्रहण होता है और अवभृथ में एक बार द्व्यवदान का वचन होने से एककपाल का ग्रहण होता है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने सप्तमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

साम्नोऽभिधानशब्देन प्रवृत्तिः स्याद्यथाशिष्टम् ॥१॥

पूर्व०—साम (स्तोम आदि से विशिष्ट ऋक्) की प्रवृत्ति अभिधान शब्द के द्वारा गुरु-शिष्य-परम्परा से होती है।

शब्दैस्त्वर्थविधित्वादर्थान्तरेऽप्रवृत्तिः स्यात् पृथग्भावात्क्रियाया
ह्यभिसम्बन्धः ॥२॥

सि०—शब्दों के द्वारा अर्थ की विधि होने से अन्य अर्थ में प्रवृत्ति नहीं होती। गान-क्रिया का शब्द के साथ अभिसम्बन्ध होता है, शब्द का नहीं, शब्द तो पृथक् ही अवस्थित होता है।

स्वार्थे वा स्यात्प्रयोजनं क्रियायास्तदङ्गभावेनोपदिश्येरन् ॥३॥

पूर्व०—स्वार्थ में विद्यमान 'अभिवती' और 'कवती' ऋचाओं का अङ्गभाव से उपदेश करना चाहिए।

शब्दमात्रमिति चेत् ॥४॥

आक्षेप—केवल शब्द का ही विधान है, यदि ऐसा कहो तो—

तेनोत्पत्तिकत्वात् ॥५॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। नाम और नामी का औत्पत्तिक सम्बन्ध होता है। जो शब्द जिस अर्थ में औत्पत्तिक सम्बन्ध से प्रसिद्ध होता है, वह अन्य अर्थ के बताने में समर्थ नहीं होता।

शास्त्रं चैवमनर्थकं स्यात् ॥६॥

और, यदि ऐसा माना जाए तो वह अतिदेश-शास्त्र निरर्थक हो जाएगा।

स्वरस्येति चेत् ॥७॥

आक्षेप—साम शब्द से स्वर का विधान है, यदि ऐसा कहो तो—

नार्थाभावात् श्रुतेरसम्बन्धः ॥८॥

समा०—अभिवती स्वर का कवती में अभाव होने से श्रुति के पदों का परस्पर अभिसम्बन्ध नहीं होता, अतः स्वर का अतिदेश नहीं होता।

स्वरस्तूत्पत्तिषु स्यान्मात्रावर्णाविभक्तत्वात् ॥९॥

आक्षेप—बहुत-से वर्ण और मात्राओं के अविभक्त होने से उत्पत्तियों=उच्चारणों में स्वर होता है, अतः स्वर का अनुवाद होता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१०॥

तथा, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

अश्रुतेस्तु विकारस्योत्तरासु यथाश्रुति ॥११॥

समा०—कवती आदि ऋचाओं में स्वाध्यायकाल में जिस रीति से पाठ किया जाए उसी रीति से गान-समय में पाठ किया जाए तो **'कवतीषु रथन्तरं गायति'** यह वाक्य निरर्थक हो जाएगा, अतः स्वर का अनुवाद ठीक नहीं।

शब्दानां चासामञ्जस्यम् ॥१२॥

और, ऐसा मान लेने पर रथन्तर आदि साम शब्दों का असामञ्जस्य हो जाएगा।

अपि तु कर्मशब्दः स्याद्भावोऽर्थः प्रसिद्धग्रहणत्वाद्विकारो ह्यविशिष्टोऽन्यैः ॥१३॥

सि०—रथन्तर शब्द गानरूप कर्म का वाचक है। 'गायति' शब्द के गान में प्रसिद्ध होने से रथन्तरादि शब्द का ग्रहण होता है तथा ह्रस्व-दीर्घ आदि का विकार अन्य संस्कार कर्मों द्वारा अवशिष्ट होता है।

अद्रव्यं चापि दृश्यते ॥१४॥

तथा, साम अनृच दिखाई देता है। ऋचा में साम शब्द का प्रयोग नहीं होता, गीति में ही साम का प्रयोग होता है।

तस्य च क्रिया ग्रहणार्था नानार्थेषु विरूपित्वादर्थो ह्यासामलौकिको विधानात् ॥१५॥

विविध रूप होने से उस (रथन्तर) की क्रिया अकर्मकाल (यज्ञ न करने) में शिक्षा एवं अभ्यास के ग्रहण करने के लिए होती है। रथन्तर आदि संज्ञावाली ऋचा का अर्थ गुरु-शिष्य-परम्परा के कारण अलौकिक हुआ करता है।

तस्मिन्संज्ञा विशेषाः स्युर्विकारपृथक्त्वात् ॥१६॥

उस गान नामक संस्कार में गान के स्वरूपों के भिन्न-भिन्न होने से उनकी भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ होती हैं।

योनिशस्याश्च तुल्यवदितराभिर्विधीयन्ते ॥१७॥

'योनिशस्या' ऋचाएँ तुल्य की भाँति इतर अर्थात् 'अयोनिशास्या' ऋचाओं के द्वारा विधान की जाया करती हैं।

अयोनौ चापि दृश्यतेऽतथायोनिः ॥१८॥

अयोनि में साम दिखाई देता है। अधिक अथवा न्यून ऋचावाला साम देखने में आता है।

एकार्थ्ये नास्ति वैरूप्यमिति चेत् ॥१९॥

आक्षेप—जहाँ दोनों का एक ही अर्थ होता है, वहाँ वैरूप्य नहीं होता, यदि ऐसा कहो तो—

स्यादर्थान्तरेष्वनिष्पत्तेर्यथा लोके ॥२०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि अर्थान्तर में निष्पत्ति हो जाएगी। जैसे पाक में आदेन और गुड़ का पाक भिन्न लक्षणवाला होता है, अतः वैरूप्य होता ही है।

शब्दानाञ्च सामञ्जस्यम् ॥२१॥

इस प्रकार साम और ऋक् शब्दों का सामञ्जस्य हो जाएगा। कवती शब्द ऋचा को और रथन्तर साम को बताता है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने सप्तमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

उक्तं क्रियाभिधानं तत् श्रुतावन्यत्र विधिप्रदेशः स्यात् ॥१॥

सि०—अग्निहोत्र शब्द नामधेय है, यह पहले कहा गया है। अन्यत्र (कुण्ड-पायिनामयन में) अग्निहोत्र शब्द के श्रवण में धर्म का अतिदेश है।

अपूर्वे वापि भागित्वात् ॥२॥

पूर्व०—'मासाग्निहोत्र' में विद्यमान अग्निहोत्र शब्द कर्म का नाम है, दोनों कर्म अपूर्व में होते हैं, अतः इस नामधेय का 'जुहोति' भी भागी होता है, इसलिए अतिदेश नहीं होता।

नाम्नस्त्वौत्पत्तिकत्वात् ॥३॥

उपरपक्ष—नाम और नामी का औत्पत्तिक सम्बन्ध होता है। जिस अर्थ में जो नाम औत्पत्तिक सम्बन्ध से सम्बन्धित होता है, वह सदा उसी से जानने योग्य होता है, अन्य से नहीं। यहाँ अन्य के अभिधान में कोई हेतु नहीं, अतः अतिदेश होता है।

प्रत्यक्षाद्गुणसंयोगात्क्रियाभिधानं स्यात्तदभावेऽप्रसिद्धं स्यात् ॥४॥

नैयामिक अग्निहोत्र में प्रत्यक्ष गुणसंयोग होने से दोहन आदि क्रिया का अभिधान होता है। वहाँ पर प्रत्यक्ष विदित धर्म होते हैं, इसके अभाव में यह सब अप्रसिद्ध होता है।

अपि वा सर्वत्र कर्मणि गुणार्थैषा श्रुतिः स्यात् ॥५॥

प्रकृति और विकृति याग में श्रुति गुणार्थवाली होती है अर्थात् लक्षण से नामधेय धर्मों का ग्राहक हो जाता है। श्रुतार्थ न होने पर लाक्षणिक अर्थ का ग्रहण कर लेना चाहिए।

विश्वजिति सर्वपृष्ठे तत्पूर्वकत्वाज्ज्योतिष्टोमिकानि पृष्ठान्यरित च पृष्ठशब्दः ॥७॥

'विश्वजित् सर्वपृष्ठोऽतिरात्रो भवति' वाक्य में ज्योतिष्टोमगत जो पृष्ठ कहा गया

है, वह अनुवाद है, क्योंकि ज्योतिष्टोम की विकृति विश्वजित् याग है। माहेन्द्रादि चार स्तोत्रों में भी पृष्ठ शब्द प्रयुक्त है।

षडहाद्वा तत्र हि चोदना ॥७॥

सि०—छह दिवसों में साध्य याग में जो छह (रथन्तर, बृहत्, वैरूप, वैराज, रैवत और शाक्वर) स्तोत्र बताये गये हैं, वहाँ ज्योतिष्टोम के ही छह पृष्ठों का अतिदेश है, क्योंकि विश्वजित् के ठीक पूर्व ज्योतिष्टोम का उल्लेख है और पृष्ठ शब्द से इन्हीं पृष्ठों का बोध होता है।

लिङ्गाच्च ॥८॥

और, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

उत्पन्नाधिकारो ज्योतिष्टोमः ॥९॥

ज्योतिष्टोम याग उत्पन्न अधिकारवाला है।

द्वयोर्विधिरिति चेत् ॥१०॥

आक्षेप—ज्योतिष्टोम में बृहत् और रथन्तर दोनों का अधिकार है, यदि ऐसा कहो तो—

न व्यर्थत्वात्सर्वशब्दस्य ॥११॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर 'सर्व' शब्द व्यर्थ हो जाएगा। 'सर्व' शब्द का प्रयोग दो में नहीं हो सकता।

तथावभृथः सोमात् ॥१२॥

सि०—जिस प्रकार षडह याग से नेष्टों का अतिदेश होता है, उसी प्रकार सौमिक अवभृथ से यहाँ धर्मातिदेश होता है।

प्रकृतेरिति चत् ॥१३॥

आक्षेप—दर्शपौर्णमास में प्राप्त अवभृथ गुणविधि हो जाए, यदि ऐसा कहो तो—

न भक्तित्वात् ॥१४॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि दर्शपौर्णमास में अवभृथ नहीं होता, अवभृथ का प्रयोग केवल स्तुतिपरक है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१५॥

और, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

द्रव्यादेशे तद्द्रव्यः श्रुतिसंयोगात् पुरोडाशस्त्वनादेशे तत्प्रकृतित्वात् ॥१६॥

द्रव्यादेश में तुषनिष्कास श्रुतिसंयोग से द्रव्य है, क्योंकि तुषनिष्कास प्रत्यक्ष सुना गया है। प्रत्यक्ष श्रुति न होने से पुरोडाश तो आनुमानिक है, वह अतिदेश से प्राप्त किया जाता है। तत्प्रकृतित्व होने से ही पुरोडाश का ग्रहण होता है।

गुणविधिस्तु न गृह्णीयात्समत्वात् ॥१७॥

आतिथ्य का गुण विष्णु देवता के संयोग का विधान करता है—यह गुणविधि है। यह सम होने के कारण धर्मों का ग्रहण नहीं कर सकती।

निर्मन्थ्यादिषु चैवम् ॥१८॥

अग्नीषोमीय पशु याग के प्रकरण में 'निर्मन्थ्य' शब्द आता है और दर्शपौर्णमास

के प्रकरण में 'बर्हि' तथा 'आज्य' शब्द आये हैं। 'विष्णु' की भाँति ये शब्द भी यौगिक हैं, अतः इनके धर्मों का अतिदेश नहीं होता।

प्रणयनन्तु सौमिकमवाच्यं हीतरत् ॥१९॥

अग्नि-प्रणयन सौमिक है, क्योंकि अन्यत्र इसका विधान नहीं किया गया है।

उत्तरवेदिप्रतिषेधश्च तद्वत् ॥२०॥

और, उत्तरवेदि सोमयाग प्रणयन में होती है, इससे भी यह सिद्ध है कि अग्नि-प्रणयन सौमिक है, क्योंकि प्रतिषेध प्राप्त का ही होता है।

प्राकृतं वाऽनामत्वात् ॥२१॥

सि०—प्रकृतिभूत दर्शपौर्णमासिक याग का प्रणयन है, क्योंकि उस प्रकरण में प्रणयन शब्द सौमिक प्रणयन का नाम न होने से प्राकृत ही है।

परिसंख्यार्थं श्रवणं गुणार्थमर्थवादो वा ॥२२॥

'अवाच्यं हीतरत्'—वाक्य परिसंख्या के लिए है या गुणार्थ है, अथवा अर्थवाद के लिए है। परिसंख्या में तीन दोष होते हैं। किसी गुण का भी विधान नहीं किया जाता और परिशेष में जो अर्थवाद है, वह प्रयोजनरहित होता है।

प्रथमोत्तमयोः प्रणयनमुत्तरवेदिप्रतिषेधात् ॥२३॥

उत्तरवेदि के प्रतिषेध होने से प्रथम और उत्तम का अग्नि-प्रणयन होता है।

मध्यमयोर्वा गत्यर्थवादात् ॥२४॥

सि०—मध्य पर्वों का गत्यार्थवाद होने से प्रणयन होता है।

औत्तरवेदिकोऽनारभ्यवादप्रतिषेधः ॥२५॥

किसी पर्व-विशेष को आरम्भ न करके ही उत्तरवेदि का प्रतिषेध होता है।

स्वरसामैककपालामिक्षं च लिङ्गदर्शनात् ॥२६॥

अथवा, स्वरसाम, एककपाल और आमिक्षा—ये तीनों शब्द धर्म का अतिदेश करते हैं, लिङ्गबोधक वचनों के पाये जाने से।

चोदनासामान्याद्वा ॥२७॥

अथवा, स्वरसामत्व सामान्य से, एककपालत्व सामान्य और अमिक्षा सामान्य से लिङ्ग के लक्षण का परिग्रह होता है।

कर्मजे कर्म यूपवत् ॥२८॥

पूर्व०—कर्म से उत्पन्न वास आदि द्रव्य के श्रूयमाण होने पर कर्म किया जाता है, जैसे जोषण आदि क्रिया के निमित्त यूप से जोषण आदि क्रियाएँ ही प्राप्त होती हैं।

रूपं वाऽशेषभूतत्वात् ॥२९॥

सि०—क्रिया के शेषभूत न होने से वे आकृति अर्थात् जातिबाचक हैं।

विशये लौकिकः स्यात्सर्वार्थत्वात् ॥३०॥

संशय होने पर लौकिक अग्नि का उपधान समझना चाहिए, क्योंकि लौकिक अग्नि का कोई कार्य निर्दिष्ट नहीं होता।

न वैदिकमर्थनिर्देशात् ॥३१॥

सि०—शास्त्र के द्वारा कार्य का निर्देश होने से वह वैदिक नहीं होता, वैदिक को

भी यदि सर्वार्थ मान लिया जाए तो शास्त्र द्वारा कार्य का निर्देश निरर्थक हो जाता है।

तथोत्पत्तिरितरेषां समत्वात् ॥३२॥

इतर वैष्णव अग्नियों के भी समान होने से उसी प्रकार से उत्पत्ति होती है। इनका कार्य भी निर्दिष्ट होता है।

संस्कृतं स्यात्तच्छब्दत्वात् ॥३३॥

पूर्व०—उपशय (११ यूपों में से अन्तिम यूप को उपशय कहते हैं) द्रव्य संस्कृत होने चाहिएँ। यूप शब्द से यूपधर्मों का अतिदेश होता है।

भक्त्या वाऽयज्ञशेषत्वाद्गुणानामभिधानत्वात् ॥३४॥

सि०—गौण वृत्ति से यूप शब्द का प्रयोग होने से, गुणों का अभिधान न होने से तथा यज्ञ के अङ्ग न होने से भी यूप के संस्कारों की आवश्यकता है।

कर्मणः पृष्ठशब्दः स्यात्तथाभूतोपदेशात् ॥३५॥

पूर्व०—पृष्ठ शब्द कर्म का वाचक है, तथाभूत उपदेश होने से यह सिद्ध है।

अभिधानोपदेशाद्वा विप्रतिषेधाद् द्रव्येषु पृष्ठशब्दः स्यात् ॥३६॥

सि०—'पुरुषंरुपतिष्ठति' इत्यादि तथा 'अभि त्वा शूर'—इत्यादि ऋग्द्रव्यों में पृष्ठ शब्द ऋचाओं का वाचक है। वहाँ आत्मनेपद होने से विप्रतिषेध भी होता है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने सप्तमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

इतिकर्तव्यताऽविधेर्यजतेः पूर्ववत्त्वम् ॥१॥

इतिकर्तव्यता (करने की रीति न बताने) का विधान न करने से सौर्ययाग में पूर्ववत्ता है अर्थात् अन्यत्र विहित धर्मों का उसमें अतिदेश है।

स लौकिकः स्याद्दृष्टप्रवृत्तित्वात् ॥२॥

पूर्व०—इतिकर्तव्यता का उपाय लौकिक होता है, क्योंकि वहाँ प्रवृत्ति=अतिदेश दृष्ट होता है।

वचनात्तु ततोऽन्यत्वम् ॥३॥

प्रत्येक स्थान पर लौकिक इतिकर्तव्यता होती है, ऐसा नियम नहीं है। जहाँ वैदिक इतिकर्तव्यता के विषय में प्रत्यक्ष वचन हैं, वहाँ वह वैदिकी होती है।

लिङ्गेन वा नियम्येत लिङ्गस्य तद्गुणत्वात् ॥४॥

सि०—इतिकर्तव्यता लिङ्गवाक्य से नियम्य हुआ करती है। प्रयाजादि वैदिक अपूर्व के गुण होते हैं। जो लिङ्ग होता है, वह उनके गुणवाला होता है।

अपि वाऽन्यायपूर्वत्वाद्यत्र नित्यानुवादवचनानि स्युः ॥५॥

पूर्व०—ऐसे लिङ्गों द्वारा वैदिकी इतिकर्तव्यता नियत नहीं की जा सकती, क्योंकि यह अन्यायपूर्वक होनी योग्य नहीं। न्यायपूर्वक वचन ही उसका साधक होता है। जहाँ पर नित्यानुवाद वचन होते हैं, वहाँ पर ही वैदिकी इतिकर्तव्यता हुआ करती है।

मिथो वा विप्रतिषेधाच्च गुणानां यथार्थकल्पना स्यात् ॥६॥

और, लौकिक तथा वैदिक—दोनों इतिकर्तव्यताएँ एकसाथ प्रवृत्त नहीं हो सकतीं, क्योंकि दोनों का आपस में विप्रतिषेध हो जाएगा। यदि दोनों की सहप्रवृत्ति मानी जाए तो एक के द्वारा कर्म निरपेक्ष होता है और दूसरी की प्रवृत्ति प्रतिषिद्ध होने से गुणों की यथार्थ कल्पना हो जाएगी।

भागित्वात्तु नियम्येत गुणानामभिधानत्वात्सम्बन्धादभिधानवद्यथा धेनुः किशोरेण ॥७॥

समान भागित्व होने पर गुणों के अभिधान होने से दोनों में वैदिकी इति-कर्तव्यता हो जाएगी। सौर्यादि में दृश्यमान प्रयाजादि गुण इस अर्थ में अभिधायक होते हैं जैसे किशोर लिङ्ग से धेनु शब्द गोधेनु में दृष्ट-प्रवृत्तिवाला होने पर भी अश्वधेनु का भी भागी होता है।

उत्पत्तीनां समत्वाद्वा यथाधिकारं भावः स्यात् ॥८॥

पूर्व०—प्रयाज और अनुयाज आदि की उत्पत्ति के समान होने से अधिकार के प्रमाण से अस्तित्व होता है।

उत्पत्तिशेषवचनं च विप्रतिषिद्धमेकस्मिन् ॥९॥

एक ही वाक्य में प्रधान की उत्पत्ति और अङ्गों का वचन सम्भव नहीं। जो प्रधान उत्पन्न होता है, वह अङ्गों की अपेक्षा किया करता है।

विध्यन्तो वा प्रकृतिवच्चोदनायां प्रवर्त्तेत तथा हि लिङ्गदर्शनम् ॥१०॥

दर्शपौर्णमास के समान सौर्ययाग विधि में पुरोडाश आदि सम्पूर्ण सम्बन्ध पाये जाते हैं। इससे प्रयाजादि लिङ्गदर्शन का समर्थन हो जाता है।

लिङ्गहेतुत्वादलिङ्गे लौकिकं स्यात् ॥११॥

सि०—प्रयाजादि वाचक शब्द के श्रवण से वैदिक अभ्युपाय होता है और जहाँ कोई लिङ्ग नहीं होता वहाँ लौकिक विधान होता है।

लिङ्गस्य पूर्ववत्त्वाच्चोदनाशब्दसामान्यादेकेनापि निरूप्येत यथा स्थालीपुलाकेन ॥१२॥

प्रयाजादि लिङ्ग के पूर्ववत्व होने से कर्मबोधक विधिपद सामान्य है तथा स्थाली-पुलाक न्याय के समान वैदिक इतिकर्तव्यता का निरूपण करता है।

द्वादशाहिकमहर्गणे तत्प्रकृतित्वादैकाहिकमधिकागमात् तदाख्यं स्यादेकाहवत् ॥१३॥

पूर्व०—अहर्गण नामक याग में द्वादशाह नामक याग के धर्म कर्तव्य हैं, क्योंकि एकाहिक याग द्वादशाह याग की विकृति हैं। एकाह सम्बन्धी समाख्यान हैं—ज्योति, गौ, आयु आदि। ज्योतिष्टोम में जो अधिक धर्मों की प्राप्ति होती है, वह तदाख्य है, एकाह के समान।

लिङ्गाच्च ॥१४॥

प्रमाणों के पाये जाने से भी यही सिद्ध होता है कि द्वादशाह का अनुष्ठान करना चाहिए।

न वा क्रत्वभिधानादधिकानामशब्दत्वम् ॥१५॥

सि०—द्वादशाह नहीं करना चाहिए, एकाहिक ही कर्तव्य है, क्योंकि चोदक के द्वारा द्वादशाह की प्राप्ति होती है और नामधेय से एकाहिक प्राप्त होता है। प्रत्यक्ष होने के कारण नामधेय चोदक से बलवान् होता है। अधिक आगम वचन से होता है, नामधेय से नहीं। ज्योतिष्टोम में ज्योति आदि का अभाव होता है।

लिङ्गं संघातधर्मः स्यात्तदर्थापत्तेर्द्रव्यवत् ॥१६॥

पूर्व०—लिङ्ग संघात का धर्म होता है और द्वादशाह संघात है। अर्थापत्ति से स्थानी द्वादशाह धर्मों को ग्रहण करता है जैसे व्रीहि आदि द्रव्य से श्रुतधर्म तत्कार्यापन्न नीवारों में प्राप्त होते हैं।

न वार्थधर्मत्वात् संघातस्य गुणत्वात् ॥१७॥

सि०—संघात के गौण होने से द्वादशोपसत्व अपूर्व=प्रधान का धर्म है, संघात का नहीं।

अर्थापत्तेर्द्रव्येषु धर्मलाभः स्यात् ॥१८॥

'द्रव्यवत्' यह दृष्टान्त ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार प्रतिनिधिभूत द्रव्यों में अर्थापत्ति से स्थानीभूत द्रव्यों का भी लाभ हो जाएगा।

प्रवृत्त्या नियतस्य लिङ्गदर्शनम् ॥१९॥

मुख्य प्रवृत्ति से नियत का लिङ्गदर्शन होता है, चोदक की प्राप्ति होने से नहीं।

विहारदर्शनं विशिष्टस्यानारभ्यवादानां प्रकृत्यर्थत्वात् ॥२०॥

अप्रकरण पठितों के प्रकृत्यर्थ होने से विशिष्ट का विहार-दर्शन होता है।

॥ इतिपूर्वमीमांसादर्शने सप्तमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

॥इति सप्तमोऽध्यायः॥

अष्टमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

अथ विशेषलक्षणम् ॥१॥

अब सामान्य अतिदेशनिरूपण के पश्चात् विशेष अतिदेश के लक्षणों का वर्णन किया जाता है।

यस्य लिङ्गमर्थसंयोगादभिधानवत् ॥२॥

जिस विध्यन्त का कुछ लिङ्ग शब्दगत या अर्थगत वैकृतिकर्म-विधि में अथवा तद्गुण वाक्य में दिखाई देता है, वह विध्यन्त के साथ अर्थ का संयोग होने से अभिधान की भाँति विध्यन्त होता है।

प्रवृत्तित्वादिष्टेः सोमे प्रवृत्तिः स्यात् ॥३॥

पूर्व०—**"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत"**—यहाँ पर सोम के अङ्गभूत दीक्षणीय आदि में प्रवृत्तित्व होने से इष्टि की सोम में प्रवृत्ति होती है, दर्शपौर्णमास विध्यन्त प्रवृत्त होने से सोम में होता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४॥

तथा, प्रमाणों के उपलब्ध होने से ऐष्टिक विध्यन्त होता है।

कृत्स्नविधानाद्वाऽपूर्वत्वम् ॥५॥

सि०—कृत्स्न विधान से सोम में अपूर्ववत्व होता है। यह विहित इतिकर्तव्यता-वाला होता है, इसी से अपूर्व है।

स्रुगभिघारणाभावस्य च नित्यानुवादात् ॥६॥

स्रुक् के अभिघारण का अभाव नित्यानुवाद होता है, अतः सोम अपूर्व होता है।

विधिरिति चेत् ॥७॥

दर्शपौर्णमास प्रकृति होने से प्राप्त स्रुक् के अभिघारण का प्रतिषेध करनेवाली विधि है, यदि ऐसा कहो तो—

न वाक्यशेषत्वात् ॥८॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वाक्यशेष होने से यह सिद्ध होता है कि यह विधि नहीं है।

शंकते चानुपोषणात् ॥९॥

दर्शपौर्णमास में नियत उपोषण होता है, परन्तु यहाँ उपोषण न होने से शंका उत्पन्न होती है।

दर्शनमैष्टिकानां स्यात् ॥१०॥

प्रयाज और अनुयाज ऐष्टिकों का दर्शन लिङ्गत्व से आदिष्ट हो जाता है, अतः सोम का अपूर्वत्व होता है।

इष्टिषु दर्शपूर्णमासयोः प्रवृत्तिः स्यात् ॥११॥

इष्टियों में दर्श तथा पूर्णमास के धर्मों की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि सभी इष्टियाँ विध्यान्तापेक्ष हुआ करती हैं। यह सन्देह होता है कि यह दर्शपौर्णमासिक विध्यन्त है या सौमिक अथवा केवल दर्शपौर्णमासिक ही है।

पशौ च लिङ्गदर्शनात् ॥१२॥

प्रमाण-वाक्यों के उपलब्ध होने से पशुयाग में दर्शपौणमासिक विध्यन्त ही होता है।

दैक्षस्य चेतरेषु ॥१३॥

अन्य सवनीय पशुयागों में दीक्षा के सम्बन्ध से दैक्ष अग्नीषोमीय याग के धर्म प्राप्त होते हैं।

ऐकादशिनेषु सौत्यस्य द्वैरशन्यस्य दर्शनात् ॥१४॥

ऐकादशिन पशुयाग में सौत्य का विध्यन्त (सवनीय पशुयाग) के धर्मों का अतिदेश होता है, दो रशना (रस्सी) रूप प्रमाणवाक्य के पाये जाने से।

तत्प्रवृत्तिर्गणेषु स्यात्प्रतिपशु यूपदर्शनात् ॥१५॥

प्रतिपशु में यूप के दर्शन होने से ऐकादशिन धर्म की प्रवृत्ति पशुगणों में भी हो जाएगी, अतः ऐकादशिनों का विध्यन्त पशुगणों में ही होता है।

अव्यक्तासु तु सोमस्य ॥१६॥

जहाँ देवता वाचक पद का विधान नहीं होता वहाँ सोम का विध्यन्त (सोम के धर्म का अतिदेश) होता है।

गणेषु द्वादशस्य ॥१७॥

अहर्गणों में द्वादशाह याग के धर्मों का अतिदेश होता है।

गव्यस्य च तदादिषु ॥१८॥

संवत्सर सत्रों में गवामयन के धर्मों का अतिदेश होता है।

निकायिनां च पूर्वस्योत्तरेषु प्रवृत्तिः स्यात् ॥१९॥

निकाय (निकाय नाम है उन धर्मों का जो संघातरूप से एक नियत क्रम में आते हैं) यज्ञों में पहले यज्ञ के धर्मों का पिछले यागों में अतिदेश होता है।

कर्मणस्त्वप्रवृत्तित्वात्फलनियमकर्तृसमुदायस्यानन्वयस्तद्बन्धनत्वात् ॥२०॥

सौर्य-यागरूपी कर्म की प्रवृत्ति न होने के कारण तथा फल, नियम, कर्ता तथा समुदाय आदि का उससे सम्बन्ध होने के कारण फलादि की अप्रवृत्ति है, उनका अतिदेश नहीं होता। कर्म विध्यन्त-प्रवृत्त नहीं होता, विध्यन्त से धर्म प्रवृत्त होते हैं।

प्रवृत्तौ चापि तादर्थ्यात् ॥२१॥

कर्म का उपकार करने के लिए ही धर्मों की प्रवृत्ति हुआ करती है। फल पुरुष का

उपकार करता है, कर्म का नहीं। फल को पुरुषार्थ कहा भी गया है। इसी प्रकार नियमादि भी कर्म के धर्म नहीं होते।

अश्रुतित्वाच्च ॥२२॥

प्रधान का अतिदेश कथन करने के लिए कोई शास्त्रीय प्रमाण भी नहीं है।

गुणकामेष्वाश्रितत्वात्प्रवृत्तिः स्यात् ॥२३॥

गोदोहन आदिरूप गुणों की प्रणयनाश्रित होने से प्रवृत्ति होती है।

निवृत्तिर्वा कर्मभेदात् ॥२४॥

कर्म का भेद होने से गोदोहन आदि की निवृत्ति हो जाती है।

अपि वाऽतद्विकारत्वात्क्रत्वर्थत्वात् प्रवृत्तिः स्यात् ॥२५॥

ऐसे स्थलों में तद्विकारत्व न होने से प्रवृत्ति भी हो जाया करती है, जैसे खदिर क्रतु के लिए ही विकार है, अतः यह क्रत्वर्थ ही होता है।

एककर्मणि विकल्पोऽविभागो हि चोदनैकत्वात् ॥२६॥

एक विधिविहित होने से सौर्ययाग एक अविभक्त कर्म है। एक कर्म में समुच्चय सम्भव नहीं किन्तु विकल्प होता है।

लिङ्गसाधारण्याद्विकल्पः स्यात् ॥२७॥

पूर्व०—उभयत्र ओषधिद्रव्यरूपलिङ्ग साधारण होने से विकल्प होता है।

एकार्थ्याद्वा नियम्येत पूर्ववत्वाद्विकारो हि ॥२८॥

सि०—आग्नेय और सौर्य—दोनों एक देवतत्त्व के लिङ्ग होने से नियम्य हो जाता है कि आग्नेय है, पूर्ववत्व होने से विकार है। सौर्य पूर्ववान् है। सभी विकृतियाँ पूर्ववती होती हैं।

अश्रुतित्वान्नेति चेत् ॥२९॥

एकत्व श्रूयमाण नहीं होता, यदि ऐसा कहो तो—

स्याल्लिङ्गभावात् ॥३०॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वाक्यशेष में एकत्व के लिङ्ग होने से यहाँ पर एकत्व की व्यवस्था है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥३१॥

इसी प्रकार अनुवाक में भी एकत्व का श्रवण होता है।

विप्रतिपत्तौ हविषा नियम्येत कर्मणस्तदुपाख्यत्वात् ॥३२॥

देवता-सामान्य और हवि-सामान्य—इन दोनों में कौन विशेष बलवान् है, ऐसी शंका होने पर हवि से विध्यन्त को नियम्य करना चाहिए, क्योंकि देवता हवि की अपेक्षा बहिरङ्ग है और कर्म अन्तरङ्ग है।

तेन च कर्मसंयोगात् ॥३३॥

और, उस हवि से कर्म का संयोग होता है, अतः हवि प्रधान शब्द है।

गुणत्वेन देवताश्रुतिः ॥३४॥

याग में देवता का श्रवण गुणभूत होता है। देवता तो आहुतियाँ देते नहीं। द्रव्य की आहुतियाँ दी जाती हैं, अतः हवि सामान्य ही बलवान् होता है।

हिरण्यमाज्यधर्मस्तेजस्त्वात् ॥३५॥

पूर्व०—कृष्णल (सोने के छोटे-छोटे टुकड़े जिनकी आहुति दी जाती है) चरु में आज्य धर्मों का अतिदेश है, क्योंकि स्वर्ण और आज्य में तेजस्वितारूप समान धर्म पाया जाता है।

धर्मानुग्रहाच्च ॥३६॥

तथा, हिरण्य=सुवर्ण में आज्य के और भी बहुत-से धर्म पाये जाते हैं।

औषधं वा विशदत्वात् ॥३७॥

औषध का हिरण्य में विध्यन्त होता है, क्योंकि दोनों में विशदत्व=कठिनत्वादि धर्म विद्यमान रहते हैं।

चरुशब्दाच्च ॥३८॥

और, चरु शब्द औषध का प्रापक है, अतः औषध का लिङ्ग बलवान् है।

तस्मिंश्च श्रपणश्रुतेः ॥३९॥

तथा, उस आज्य में दर्शपौर्णमासिक श्रवण सुना जाता है, अतः हिरण्य में ओषधि के धर्मों का अतिदेश है।

मधूदके द्रव्यसामान्यात्पयोविकारः स्यात् ॥४०॥

मधु और उदक=जल में दूध के धर्मों का अतिदेश है, क्योंकि दोनों में द्रवत्व की समानता है।

आज्यं वा वर्णसामान्यात् ॥४१॥

सि०—वर्ण की समानता होने से मधु और उदक में आज्य=घृत के धर्मों का अतिदेश होता है।

धर्मानुग्रहाच्च ॥४२॥

और मधु तथा उदक के बहुत-से उत्पवन (शोधन) आदि आज्य के धर्म नहीं होते। पय के दोहन आदि धर्म मधु और उदक में नहीं पाये जाते।

पूर्वस्य चाविशिष्टत्वात् ॥४३॥

पहले जो द्रवत्व सामान्य बताया गया है, वह अवशिष्ट होता है। आज्य के गर्म करने से उसमें द्रवत्व आता है, अतः मधु और उदक में आज्य के धर्मों का अतिदेश है, पय के धर्मों का नहीं।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शनेऽष्टमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

वाजिने सोमपूर्वत्वं सौत्रामण्यां ग्रहेषु ताच्छब्द्यात् ॥१॥

पूर्व०—वाजिन् और सौत्रामणी याग में ग्रह नामक पात्र में सोम के धर्मों का अतिदेश है, सोम शब्द के श्रूयमाण होने से।

अनुवषटकाराच्च ॥२॥

अनुवषट्कार का प्रयोग भी सोम के धर्मों को दिखलाता है।

समुपहूय भक्षणाच्च ॥३॥

समुपहूत करके सोम का भक्षण करना सोम का धर्म है, उसी प्रकार के भक्षण का निर्देश यहाँ भी है।

क्रयणश्रपणपुरोरुगुपयामग्रहणासादनवासोपनहनञ्च तद्वत् ॥४॥

तथा, क्रयण, श्रपण, पुरोरुक्, उपयाम, ग्रहण, आसादन, वासोप और नहन—ये सभी धर्म सुरा के समान सोम में भी होते हैं, अतः वाजिन् और सौत्रामणी में सोम धर्मों का अतिदेश है।

हविषा वा नियम्येत तद्विकारत्वात् ॥५॥

सि०—वाजिन् और सौत्रामणी यज्ञ दर्शपौर्णमासिक याग के विकार होने से उनमें दर्शपौर्णमासिक विध्यन्त होता है।

प्रशंसा सोमशब्दः ॥६॥

यहाँ सोम शब्द प्रशंसा के अर्थवाला है, विध्यर्थवाचक नहीं, क्योंकि विधायक का अभाव है।

वचनानीतराणि ॥७॥

प्राप्ति का अभाव होने से अन्य वचन वाचनिकरूप में विधीयमान हैं।

व्यपदेशश्च तद्वत् ॥८॥

और, जो व्यपदेश होता है, वह भी उसी के समान हुआ करता है।

पुरोडाशस्य च लिङ्गदर्शनम् ॥९॥

पशुओं के पुरोडाश का निषेध है, क्योंकि ऐष्टिक धर्म का अतिदेश में लिङ्ग है।

पशुः पुरोडाशविकारः स्याद्देवतासामान्यात् ॥१०॥

पूर्व०—पशुयाग पुरोडाश के धर्मवाला है, क्योंकि दोनों का देवता समान है।

प्रोक्षणाच्च ॥११॥

और, पुरोडाश की भाँति पशु का भी प्रोक्षण होता है, इस हेतु से भी सिद्ध है कि पुरोडाश के धर्मों का पशुयाग में अतिदेश है।

पर्यग्निकरणाच्च ॥१२॥

पर्यग्निकरण भी पुरोडाश का एक धर्म है और वह पशुयाग में भी देखा जाता है, अतः पशुयाग पुरोडाश का विकार सिद्ध होता है।

सान्नाय्यं वा तत्प्रभवत्वात् ॥१३॥

सि०—अग्नीषोमीय पशुयाग में सान्नाय्य के धर्मों का अतिदेश होता है, पुरोडाश के धर्मों का नहीं।

तस्य च पात्रदर्शनात् ॥१४॥

सान्नाय्य हविष् में जैसे पात्र की आवश्यकता होती है, वैसे ही पशु के खाने आदि के लिए पात्र की आवश्यकता होती है, अतः सान्नाय्य धर्म पशुयाग में कर्तव्य हैं, पुरोडाश में नहीं।

दध्नः स्यान्मूर्तिसामान्यात् ॥१५॥

पूर्व०—घनत्व सामान्य धर्म के कारण सान्नाय्य धर्मवाले पशुयाग में दधि के धर्मों का अतिदेश है।

पयो वा कालसामान्यात् ॥१६॥

सि०—पशु और पयः—दोनों में सद्यः कालतारूप धर्म समान है। इस काल की समानता से पयः ही पशु को विकृत करता है, दधि नहीं।

पश्वानन्तर्यात् ॥१७॥

तथा, पशु से पयः का आनन्तर्य भी होता है। पयः दधि से अन्तरङ्ग है।

द्रवत्वं चाविशिष्टम् ॥१८॥

पशु और पयः दोनों में द्रवत्वरूप धर्म समान है।

आमिक्षोभयभाव्यत्वादुभयविकारः स्यात् ॥१९॥

पूर्व०—आमिक्षा दूध और दही दोनों के मिलाने से बनती है, अतः उसमें दूध और दही दोनों के धर्म कर्तव्य हैं।

एकं वा चोदनैकत्वात् ॥२०॥

सि०—दोनों में से एक के धर्म का अतिदेश मानना योग्य है, एक विधि-विहित होने से।

दधिसंघातसामान्यात् ॥२१॥

पूर्व०—दधि के धर्मों का अतिदेश करना चाहिए, क्योंकि दधि और आमिक्षः दोनों में घनत्व समान रूप से पाया जाता है।

पयो वा तत्प्रधानत्वाल्लोकवद्दध्नस्तदर्थत्वात् ॥२२॥

सि०—आमिक्षा याग में पयोयाग के धर्मों का अतिदेश होगा, क्योंकि आमिक्षा में दूध की प्रधानता है, न कि दही की। लोकव्यवहार में भी थोड़ा-सा दही जो खाने के काम में नहीं आता, वह दही बनाने के लिए पर्याप्त होता है।

धर्मानुग्रहाच्च ॥२३॥

और सद्यःकालतारूप धर्मानुकूल होने से भी पयोधर्म का आमिक्षा में अतिदेश है।

सत्रमहीनश्च द्वादशाहस्तस्योभयथा प्रवृत्तिरैककर्म्यात् ॥२४॥

पूर्व०—द्वादशाह—सत्र और अहीन दोनों संज्ञाओं वाला है। उस (द्वादशाह) की दोनों प्रकार की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि एककर्म्यता दोनों में होती है।

अपि वा यजति श्रुतेरहीनभूतप्रवृत्तिः स्यात्प्रकृत्या तुल्यशब्दत्वात् ॥२५॥

सि०—जहाँ 'यजति' पद का प्रयोग होता है, वे 'अहीन' होते हैं और उनमें अहीनों के धर्मों का अतिदेश होगा। द्वादशाहरूप प्रकृति के साथ भी समान शब्द ही होता है।

द्विरात्रादीनामैकादशरात्रादहीनत्वं यजति चोदनात् ॥२६॥

द्वि रात्र आदि याग एकादशरात्र से अहीन होते हैं। वहाँ पर अहीनभूत की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि उनकी प्रेरणा 'यजति' शब्द से की जाती है।

त्रयोदशरात्रादिषु सत्रभूतस्तेष्वासनोपायि चोदनात् ॥२७॥

त्रयोदशरात्र आदि सत्र हैं, क्योंकि उनमें 'आसन', 'अपायि' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है, अतः इनमें सत्र के धर्मों का अतिदेश होगा।

लिङ्गाच्च ॥२८॥

त्रयोदशरात्र आदि सत्र हैं, इस बात को सिद्ध करने के लिए प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

अन्यतरतोऽतिरात्रत्वात्पञ्चदशरात्रस्याहीनत्वं कुण्डपायिनामयनस्य च तद्भूतेष्वहीनत्वस्य दर्शनात् ॥२९॥

पूर्व०—पञ्चदशरात्र और कुण्डपायिनामयन—ये दोनों अहीन हैं, अतः इनमें अहीनों के धर्मों का अतिदेश है। अन्यतर से अतिरात्र भूतों में अहीनत्व श्रूयमाण होता है।

अहीनवचनाच्च ॥३०॥

'अहीन' वचन के पाये जाने से भी पञ्चदशरात्र आदि अहीन ही हैं।

सत्रे वोपायिचोदनात् ॥३१॥

सि०—'अपायि' शब्द का विधान उपलब्ध होने से पञ्चदशरात्र आदि सत्र हैं, अहीन नहीं।

सत्रलिङ्गं च दर्शयति ॥३२॥

तथा, लिङ्ग=प्रमाण भी यही सिद्ध करते हैं कि पञ्चदशरात्रादि सत्र हैं।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शनेऽष्टमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

हविर्गणे परमुत्तरस्य देशसामान्यात् ॥१॥

पूर्व०—हविर्गण में उत्तर अग्नीषोमीय का पर-शुचि देवता विकार होता है। देश की समानता होने से पूर्व-पूर्व का विकार होता है।

देवताया नियम्येत शब्दवत्त्वादितरस्याश्रुतित्वात् ॥२॥

सि०—देवता से नियम होता है, क्योंकि देवता में शब्दत्व है। देश=क्रम से नियम नहीं है, क्योंकि क्रम श्रूयमाण नहीं है। देवताओं का आदर और क्रम की अवहेलना करनी चाहिए।

गणचोदनायां यस्य लिङ्गं तदावृत्तिः प्रतीयेताग्नेयवत् ॥३॥

पूर्व०—गणचोदना=विधान में जिसका लिङ्ग होता है, उसी की आवृत्ति चोदना सामान्य होने से आग्नेय की भाँति होती है। आग्नेय का जैसे विध्यन्ताभ्यास होता है, वैसे ही यहाँ भी हुआ करता है।

नानाहानि वा संघातत्वात् प्रवृत्तिलिङ्गे न चोदनात् ॥४॥

सि०—यागों का गुण संघात होता है, उस गुण से भिन्न-भिन्न अहों का जो धर्म है, वह अतिदिष्ट किया जाता है। सप्तरात्र में चोदना से प्रवृत्त द्वादशाहिक चार हैं, उन्हें अनूदित करके त्रिवृत् किया जा सकता है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥५॥

'यदि त्रिवृत् अभ्यास होता है तो सभी अग्निष्टोम हो जाएँगे'—ऐसा मानने पर अन्य अर्थ की उपलब्धि होती है।

कालाभ्यासेऽपि बादरिः कर्मभेदात् ॥६॥

पूर्व०—कहीं-कहीं कर्मविशेष में काल का अभ्यास श्रूयमाण होता है, वहाँ द्वादशाहिकों की ही कर्मभेद से प्रवृत्ति होती है, यह आचार्य बादरायण का मत है।

तदावृत्ति तु जैमिनिरह्नामप्रत्यक्षसंख्यत्वात् ॥७॥

सि०—आचार्य जैमिनि षडह की आवृत्ति मानते हैं, क्योंकि चौबीस दिनों की संख्या अप्रत्यक्ष है।

संस्थागणेषु तदभ्यासः प्रतीयेत कृतलक्षणग्रहणात् ॥८॥

पूर्व०—ज्योतिष्टोम की संस्थाओं में ज्योतिष्टोम का अभ्यास प्रतीत होता है, कृत नामक ज्योतिष्टोम का ग्रहण होने से।

अधिकाराद्वा प्रकृतिस्तद्विशिष्टा स्यादभिधानस्य तन्निमित्तत्वात् ॥९॥

सि०—विधान के द्वारा अधिकृत होने से प्रकृति तद्विशिष्ट (द्वादशाहिक संस्था विशिष्ट) होती है। अग्निष्टोम आदि अभिधान संस्था-निमित्त हैं, ज्योतिष्टोम के अभिधायक नहीं।

गणादुपचयस्तत्प्रकृतित्वात् ॥१०॥

पूर्व०—द्वादशाह गण होने से उपचय (मन्त्र बढ़ाना) धर्म की प्राप्ति होती है, क्योंकि शतोक्थ्य की प्रकृति द्वादशाह के समान है।

एकाहाद्वा तेषां समत्वात्स्यात् ॥११॥

सि०—शतोक्थ्य और द्वादशाह—दोनों में समानता होने से एकाह ज्योतिष्टोम से उपचय होता है।

गायत्रीषु प्राकृतीनामवच्छेदः प्रवृत्त्यधिकारात्संख्यात्वादग्निष्टोम-
वदव्यतिरेकात्तदाख्यत्वम् ॥१२॥

पूर्व०—गायत्रियों में त्रिष्टुप्, जगती इत्यादि प्रकृतियों का अवच्छेद (अक्षर-लोप) होता है, प्रकृति का अधिकार होने से। गायत्री में चौबीस अक्षर की संख्या होती है, इस संख्या का कभी व्यभिचार नहीं होता (गायत्री में सदा चौबीस ही अक्षर होते हैं)। अव्यतिरेक के कारण, अग्निष्टोम की भाँति गायत्री का आख्यत्व होता है।

तन्नित्यवच्च पृथक्सतीषु तद्वचनात् ॥१३॥

और, गायत्री की अपेक्षा से भिन्न संख्यावाची त्रिष्टुप्, जगती आदि में नित्य संख्यावाचक गायत्री वचन है।

न विंशतौ दशेति चेत् ॥१४॥

बीस संख्या में दस संख्या नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

एकसंख्यमेव स्यात् ॥१५॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो एक संख्या में ही सब का समावेश हो जाएगा।

गुणाद्वा द्रव्यशब्दः स्यादसर्वविषयत्वात् ॥१६॥

सि०—गुण होने से गायत्री शब्द चौबीस अक्षरयुक्त द्रव्य=ऋचा का वाचक है। यह संख्या नहीं है, सर्वविषयक न होने से।

गोत्ववच्च समन्वयः ॥१७॥

'गौ' शब्द गमन करने (जाने) वाले सभी सामान्य द्रव्यों का वाचक हो सकता है, परन्तु उसका समन्वय गलकम्बलवाली गौ में ही होता है, इसी प्रकार गायत्री भी ऋग्वचन में ही संगत होती है।

संख्यायाश्च शब्दवत्त्वात् ॥१८॥

और, चौबीस संख्यावाचक 'चतुर्विंश' शब्द है, उक्त संख्या शब्दवाली है।

इतरस्याश्रुतत्वाच्च ॥१९॥

इतर जो ऋग्वेदादि की ऋचाएँ हैं, उनकी श्रुति न होने से भी गायत्री शब्द अर्थवान् है। यहाँ संख्या का कोई प्रयोजन नहीं है, अतः गायत्री ऋचाओं का ही आगम करना चाहिए।

द्रव्यान्तरेऽनिवेशादुक्थ्यलोपैर्विशिष्टं स्यात् ॥२०॥

अग्निष्टोम शब्द का किसी भी द्रव्यान्तर में निवेश न होने से, यह केवल अग्निष्टोमान्तता को बतलाता है। उक्थ्यलोप के बिना द्वादशाहिकों की अग्निष्टोमान्तता नहीं होती, अतः उक्थ्यलोप अवश्य होना चाहिए।

अशास्त्र लक्षणत्वाच्च ॥२१॥

गायत्री शास्त्रलक्षणा है और 'शताग्निष्टोम' में उक्थ्यस्तोत्र अशास्त्र लक्षणवाले हैं, अतः अशास्त्रलक्षणत्व होने से वे गायत्री का बाध नहीं कर सकते।

उत्पत्तिनामधेयत्वाद् भक्त्या पृथक्सतीषु स्यात् ॥२२॥

ऋचा का नाम गायत्री है और यह स्वभावसिद्ध है, अतः जगती आदि में गायत्री शब्द का प्रयोग गौणवृत्ति से ही होता है।

वचनमिति चेत् ॥२३॥

जहाँ विधि है, वहाँ शब्दार्थ से व्यवहार होता है, अतः यहाँ पर संख्या में गायत्री है, यदि ऐसा कहो तो—

यावदुक्तम् ॥२४॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वह एक ही स्थान में संख्या अर्थवाला है, अन्यत्र नहीं। लक्षणा से कहना भी उचित नहीं।

अपूर्वे च विकल्पः स्याद्यदि संख्याविधानम् ॥२५॥

यदि संख्या में गायत्री शब्द का विधान माना जाए तो प्रकृतिभूत दर्शपौर्णमास में गायत्री का विकल्प मानना पड़ेगा, अतः संख्या विधान उचित नहीं।

ऋग्गुणत्वान्नेति चेत् ॥२६॥

ऋग्गुण होने से प्रकृति में विकल्प होता है, यदि ऐसा कहो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि ऋग्गुण उपसंगृहीत होता है।

तथा पूर्ववति स्यात् ॥२७॥

जैसे अपूर्व में होता है, वैसे ही पूर्ववान् प्रकृतिभूत 'बृहस्पति' भी सबमें हो जाएगा।

गुणावेशश्च सर्वत्र ॥२८॥

और, गुण चौबीस संख्या का तो सर्वत्र आवेश होता है। (सूत्र में 'च' का प्रयोग 'तु' के स्थान पर होने से संख्याभिधान गायत्री शब्द में प्रकृति गायत्रियों का आगम प्राप्त नहीं होता।

निष्पन्नग्रहणान्नेति चेत् ॥२९॥

गायत्री शब्द रूढ़िरूप में ग्रहण होता है, यदि ऐसा कहो तो—

तथेहापि स्यात् ॥३०॥

उस प्रमाण से यहाँ भी हो जाता है।

यदि वाऽविशये नियमः प्रकृत्युपबन्धाच्छरेष्वपि प्रसिद्धः स्यात् ॥३१॥

यदि असंशय में भी प्रकृत्युपबन्धन (अतिदेश-शास्त्र के अनुग्रह) से अगायत्री में गायत्री शब्द की कल्पना करनी पड़े तो कुशों में शर शब्द की कल्पना करनी चाहिए।

दृष्टः प्रयोग इति चेत् ॥३२॥

चौबीस अक्षरगत संख्या में गायत्री शब्द का प्रयोग देखा गया है, उससे कल्पना की जा सकती है, यदि ऐसा कहो तो—

तथा शरेष्वपि ॥३३॥

उसी प्रकार 'शर' शब्द का प्रयोग भी कुशाग्रों में देखा जाता है।

भक्त्येति चेत् ॥३४॥

'शर' शब्द का प्रयोग लक्षणावृत्ति से होता है, यदि ऐसा कहो तो—

तथेतरस्मिन् ॥३५॥

उसी प्रकार से इतर में भी ऐसा ही होता है, अर्थात् गौणवृत्ति से प्रयुक्त गायत्री शब्द स्वार्थ में वर्तमान रहते हुए तत्सदृश का गमन करता है। इससे यह सिद्ध है कि संख्या में गायत्री शब्द नहीं आता, ऋचा में ही आता है।

अर्थस्य चासमाप्तत्वान्न तासामेकदेशे स्यात् ॥३६॥

त्रिष्टुप् और जगती आदि के एक देश में अर्थ की समाप्ति न होने से, उनके एक देश में गायत्री शब्द का प्रयोग नहीं होता।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शनेऽष्टमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

दर्विहोमो यज्ञाभिधानं होमसंयोगात् ॥१॥

सि०—'दर्विहोम' यज्ञ का नाम है, होम के संयोग से।

स लौकिकानां स्यात् कर्तुस्तदाख्यत्वात् ॥२॥

पूर्व०—'दर्विहोम' लौकिक कर्मों का नामधेय होता है, क्योंकि लौकिक कर्मों में उसके कर्ता का स्मरण होता है।

सर्वेषां वा दर्शनाद्वास्तुहोमे ॥३॥

सि०—'दर्विहोम' लौकिक और वैदिक—दोनों प्रकार के कर्मों का नाम होता है। 'अष्टक' लौकिक होम है और 'वास्तुहोम' वैदिक।

जुहोतिचोदनानां वा तत्संयोगात् ॥४॥

होम शब्द का संयोग होने से 'दर्विहोम' नाम होम का है, याग या यज्ञ का नहीं। याग के लिए 'यजति' शब्द आता है। होम वह है जिसमें अग्नि में आहुतियाँ डाली जाती हैं, यह अर्थ है 'जुहोति' शब्द का।

द्रव्योपदेशाद्वा गुणाभिधानं स्यात् ॥५॥

पूर्व०—'दर्वि से होम'—इसमें द्रव्य का उपदेश होने से यहाँ गुणविधि है, इसे कर्माभिधान कहना उचित नहीं।

न लौकिकानामाचारग्रहणत्वाच्छब्दवतां चान्यार्थविधानात् ॥६॥

सि०—लौकिकों के आचार से गृहीत दर्वि होती है और जो श्रोतकर्म होते हैं, उनके भी अन्य होमार्थ पात्र कहे गये हैं, क्योंकि वहाँ श्रुवा आदि का विधान होता है, अतः दर्विहोम को गुणविधि कहना उचित नहीं।

दर्शनाच्चान्यपात्रस्य ॥७॥

'दर्विहोम' में अन्य पात्रों का दर्शन होने से भी यह गुणविधि नहीं है।

तथाग्निहविषोः ॥८॥

जिस प्रकार पात्र कार्यों में दर्वि पूज्यमान नहीं है, वैसे ही अग्नि-हवि के कार्य में भी 'दर्वि' का निवेश नहीं होता।

उक्तश्चार्थोऽसम्बन्धः ॥९॥

अग्नि के कर्म में दर्वि का उपदेश नहीं होता, क्योंकि अन्य द्रव्य अग्नि के दहन, पचन, प्रकाशन आदि कार्य करने में असमर्थ होता है, अतः गुणविधि नहीं है।

तस्मिन्सोमः प्रवर्त्तेताव्यक्तत्वात् ॥१०॥

पूर्व०—दर्विहोम में सौमिक विध्यन्त (सोम के धर्मों की प्रवृत्ति) है, अव्यक्तत्व-रूप समानता होने से। (सोम अव्यक्त चोदनावाला है, यह भी उसी प्रकार का है।)

न वा स्वाहाकारेण संयोगाद् वषट्कारस्य च निर्देशात्तन्त्रे तेन विप्रतिषेधात् ॥११॥

सि०—दर्विहोम में सौमिक विध्यन्त कहना उचित नहीं, क्योंकि दर्विहोम स्वाहाकार से संयुक्त होते हैं और तन्त्र में सौमिक में वषट्कार का निर्देश होने से विप्रतिषेध हो जाता है। दर्विहोमों को अपूर्व मान लेने से यह विरोध नहीं होता।

शब्दान्तरत्वात् ॥१२॥

भिन्न-भिन्न शब्दों के होने से भी दर्विहोम में सौमिक धर्मों की प्राप्ति अयुक्त है। सोम 'यजति' चोदनावाला होता है और दर्विहोम 'जुहोति' चोदनावाले हैं।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१३॥

औदुम्बरी होम में स्वाहाकार के लिङ्ग के देखे जाने से भी यहाँ सौमिक विध्यन्त नहीं होता, यदि सौमिक विध्यन्त होता तो वषट्कार होना चाहिए था।

उत्तरार्थस्तु स्वाहाकारो यथा साप्तदश्यं तत्राविप्रतिषिद्धा पुनः प्रवृत्तिलिङ्ग-दर्शनात्पशुवत् ॥१४॥

आक्षेप—स्वाहाकार-विधि उत्तरार्थ (विकृति के लिए) होती है। जैसे साप्तदश्य-वाचक मित्रविन्दादि विकृति में सन्निविष्ट होते हैं, वैसे ही सौमिक धर्म की प्रवृत्ति का प्रतिषेध नहीं होता तथा लिङ्गभूत वाक्य के दर्शन से पशुदेयक याग में पुनः प्रवृत्ति होती है।

अनुत्तरार्थो वाऽर्थवत्त्वादानर्थक्याद्धि प्राथम्यस्योपरोधः स्यात् ॥१५॥

समा०—स्वाहाकार विधि अनर्थक होने से प्रकृतिभिन्न के लिए नहीं है। अनर्थक होने से प्राकृत का उपरोध अर्थात् वषट्कार का बाध हो जाता है।

न प्रकृतावपीति चेत् ॥१६॥

आक्षेप—प्रकृतिभूत नारिष्ट होमादि में स्वाहाकार का सन्निवेश नहीं है, यदि ऐसा कहो तो—

उक्तं समवाये पारदौर्बल्यम् ॥१७॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं क्योंकि पहले (३.३.१४) कहा जा चुका है कि जहाँ-जहाँ श्रुत्यादि का समवाय होता है, वहाँ 'पर' का दौर्बल्य होता है।

तच्चोदना वेष्टेः प्रवृत्तित्वाद्विधिः स्यात् ॥१८॥

पक्षान्तर का उत्थापक सूत्र—दर्विहोम की चोदना समस्त दर्शपौर्णमास इष्टियों में प्रवृत्त होने से अग्निहोत्रादि में नारिष्टहोम प्रवर्तक विधि प्राप्त हो जाती है जो जिसका धर्म देखा गया है, उसकी अदृश्यता होने पर उसका अनुमान कर लिया जाता है।

शब्दसामर्थ्याच्च ॥१९॥

चोदना = विधि की समानता होने से धर्म की प्राप्ति होती है, इसमें शब्द-सामर्थ्य ही हेतु होता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२०॥

और, प्रमाण पाये जाने से भी उनकी प्रवृत्ति होती है।

तत्राभावस्य हेतुत्वाद्गुणार्थे स्याददर्शनम् ॥२१॥

उत्थापित पक्षान्तर का खण्डन—त्र्यम्बकों के अप्रतिष्ठत्व के उपपादन के लिए इध्मादि के अभाव को हेतुत्व कहा जाता है। इस अभाव के हेतु होने से हविर्होम में नारिष्ट होमों की प्रवृत्ति नहीं होती।

विधिरिति चेत् ॥२२॥

यह इध्मादि का प्रतिषेध करनेवाली विधि है, यदि ऐसा कहो तो—

न वाक्यशेषत्वाद् गुणार्थे च समाधानं नानात्वेनोपपद्यते ॥२३॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि इसकी विधि अन्य कही गई है, यहाँ उसका वाक्यशेष है। यदि इन्हें विधियाँ कल्पित किया जाए तो फिर पृथक् वाक्य होंगे और व्यवहित कल्पना हो जाएगी। अनुवादस्वरूप होने से उनका विधायकत्व नहीं होता।

येषां वाऽपरयोर्होमस्तेषां स्यादविरोधात् ॥२४॥

पूर्व०—जिन यागों की अपर अग्नियों में होम होता है, उनकी प्रवृत्ति हो जाएगी क्योंकि वहाँ कोई विरोध नहीं होता।

तत्रौषधानि चोद्यन्ते तानि स्थानेन गम्येरन् ॥२५॥

सि०—दर्विहोम में ओषधि द्रव्य व्रीहि आदि विधीयमान हैं, अतः उपर्युक्त कथन ठीक नहीं। वे द्रव्य स्थान से गम्यमान होते हैं, अतः उनकी प्रवृत्ति में कोई प्रयोजन नहीं होता।

लिङ्गाद्वा शेषहोमयोः ॥२६॥

पूर्व०—शेष होमों (पिष्टलेप और फलीकरण) में ओषध सामान्य लिङ्ग से प्रवृत्त होता है।

सन्निपाते विरोधिनामप्रवृत्तिः प्रतीयेत विध्युत्पत्तिव्यवस्थानादर्थस्यापरिणेयत्वाद् वचनादतिदेशः स्यात् ॥२७॥

उपसंहार सूत्र—यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि ये दोनों होम प्रतिपत्तिकरण हैं और दर्विहोम प्रधान कर्म होते हैं। इनका बहुत अधिक भेद है। प्रतिपत्तित्व से निर्वापण आदि धर्मों के ये दोनों अप्रयोजक होते हैं, अतः दर्विहोमों की धर्मप्राप्ति किसी प्रकार भी युक्त नहीं है, परन्तु सर्वत्र अप्राप्ति का स्वभाव नहीं है, वचन से अतिदेश होता है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शनेऽष्टमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

॥ इत्यष्टमोऽध्यायः ॥

नवमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

यज्ञकर्म प्रधानं तद्धि चोदनाभूतं तस्य द्रव्येषु संस्कारस्तत्प्रयुक्तस्तदर्थत्वात् ॥१॥

दर्शपौर्णमास कर्म प्रधान होते हैं, क्योंकि अपूर्व होने से वे विधिगम्य हैं। उसके द्रव्यों और यजति में जो संस्कार है, वह अपूर्व प्रयुक्त होता है। वे तदर्थ हैं, इसीलिए किये जाते हैं।

संस्कारे युज्यमानानां तादर्थ्यात्तत्प्रयुक्तं स्यात् ॥२॥

पूर्व०—अवहनन नामक संस्कार में युज्यमान प्रोक्षण आदि धर्म तदर्थ (अवहनन के लिए) होने से उसमें प्रयुक्त हो जाते हैं।

तेन त्वर्थेन यज्ञस्य संयोगाद्धर्मसम्बन्धस्तस्माद्यज्ञप्रयुक्तं स्यात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥३॥

सि०—अवहननरूप कर्म से अपूर्व का सम्बन्ध है और यज्ञ के साथ उसका प्रोक्षण सम्बन्ध है, अतः संस्कार की तदर्थता होने से उसकी यज्ञप्रयुक्तता होती है।

फलदेवतयोश्च ॥४॥

पूर्व०—जो मन्त्र फल और देवता का प्रकाश करनेवाले हैं, उन्हें भी अपूर्व प्रयुक्तता प्राप्त होती है।

न चोदनातो हि ताद्गुण्यम् ॥५॥

सि०—फल और देवता के स्वरूप को प्रकाशित करने में मन्त्रोच्चारण प्रयोजक नहीं है, क्योंकि फल और देवता के प्रकाश द्वारा अपूर्व प्रयुक्त होता है।

देवता वा प्रयोजयेदतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वात् ॥६॥

पूर्व०—समस्त देवता सम्पूर्ण धर्मों के प्रयोजक हो सकते हैं। देवता भोजनरूप याग देवता के लिए ही होता है, जैसे अतिथि के लिए लाया गया पदार्थ अतिथि के लिए होता है।

अर्थपत्याच्च ॥७॥

और, देवताओं के अर्थपति होने से भी यही सिद्ध होता है।

ततश्च तेन सम्बन्धः ॥८॥

इससे देवता का फल के साथ सम्बन्ध होता है। देवता यज्ञ करनेवाले को फल प्रदान करते हैं। इसी तथ्य को स्मृति और आचार से भी दृढ़ किया जाता है।

अपि वा शब्दपूर्वत्वाद्यज्ञकर्मप्रधानं स्याद् गुणत्वे देवताश्रुतिः ॥९॥

सि०—देवता के लिए फल का प्रयोजन मानना उचित नहीं है। यज्ञकर्म ही प्रधान होता है। इसमें शब्दपूर्वत्व हेतु होता है। वही प्रयोजक हुआ करता है। देवता की श्रुति गौणरूप से होती है। जो स्मृति, आचार और अन्यार्थ दर्शनों द्वारा देवता का भोजन करना कहा है, देवता के विग्रहरहित होने से उसका भी प्रतिवाद हो जाता है।

अतिथौ तत्प्रधानत्वमभावः कर्मणि स्यात्तस्य प्रीतिप्रधानत्वात् ॥१०॥

आतिथ्य में अतिथि की प्रीति का विधान होता है। जैसे अतिथि प्रसन्न हो वही किया जाना चाहिए किन्तु इस कर्म में प्रीति-विधान का अभाव है, अतः अतिथिवत् कहना उचित नहीं है।

द्रव्यसंख्याहेतुसमुदायं वा श्रुतिसंयोगात् ॥११॥

पूर्व०—व्रीहि आदि द्रव्य, परिधिगत त्रित्वादि संख्या, होम में शूर्पगत अन्न हेतुत्व, चतुर्होत्राभिमर्शन में पौर्णमासी यागगत समुदायत्व—ये चारों प्रोक्षण आदि के संयोजक हैं, द्वितीय आदि श्रुति के साथ सम्बन्ध होने से।

अर्थकारिते च द्रव्येण न व्यवस्था स्यात् ॥१२॥

और, जाति के धर्म को अपूर्वप्रयुक्त मान लेने पर द्रव्य के साथ धर्म की व्यवस्था नहीं हो सकती, अतः द्रव्यादि प्रयुक्त ही प्रोक्षण आदि होते हैं।

अर्थो वा स्यात्प्रयोजनमितरेषामचोदनात्तस्य च गुणभूतत्वात् ॥१३॥

सि०—इतर द्रव्यादि की कर्तव्यता चोदना=विधि न होने से अर्थ ही इनका प्रयोजक होता है। अपूर्व के प्रति इनका गुणभूतत्व होने से श्रवण होता है।

अपूर्वत्वाद्व्यवस्था स्यात् ॥१४॥

'ऐन्द्रवायव'—यह अपूर्व है। इससे व्यवस्था होती है।

तत्प्रयुक्तत्वे च धर्मस्य सर्वविषयत्वम् ॥१५॥

द्रव्यादि प्रयुक्त प्रोक्षण आदि धर्मों के स्वीकार करने से धर्म की सर्वविषयता हो जाती है।

तद्युक्तस्येति चेत् ॥१६॥

सर्वविषयता प्रकरणयुक्त धर्म की ही होगी, यदि ऐसा कहो तो—

नाश्रुतित्वात् ॥१७॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रकरणयुक्त व्रीहियों का निर्वपन कहीं भी श्रूयमाण नहीं होता और वाक्य से बाधित प्रकरण धर्म का नियम करने में समर्थ नहीं होता।

अधिकारादिति चेत् ॥१८॥

प्रकरण न होने पर भी अध्वर्यु अधिकार से ज्ञान प्राप्त कर लेगा कि ये व्रीहि भक्तार्थ हैं, या कार्यार्थ। वहाँ पर जो कार्यार्थ होंगे, उनका ही प्रोक्षण करेगा, यदि ऐसा कहो तो—

तुल्येषु नाधिकारः स्यादचोदितश्च सम्बन्धः पृथक् सतां
यज्ञार्थेनाभिसम्बन्धस्तस्माद्यज्ञप्रयोजनम् ॥१९॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि सभी व्रीहि तुल्य ही होते हैं और तुल्य में अधिकार

सम्भव नहीं है। उनका कोई पृथक् नाम नहीं होता। जो भक्तार्थ हैं, वे ही कार्यार्थ भी होते हैं। पृथक् होनेवालों का यज्ञार्थ से निर्वाप श्रूयमाण होता है, अतः धर्म को सर्व-विषयत्व की प्राप्ति होती है। पूर्व हेतु से प्रोक्षण आदि का अपूर्व प्रयुक्तत्व होता है।

देशबद्धमुपांशुत्वं तेषां स्यात् श्रुतिनिर्देशात्तस्य च तत्र भावात् ॥२०॥

अग्नीषोमीय से पहले होनेवाले पदार्थों का उपांशुत्व (मौन अनुष्ठान) श्रुति से होता है और इस प्रकार जातीयक का पूर्वदेश में भाव होता है।

यज्ञस्य वा तत्संयोगात् ॥२१॥

पूर्व०—यज्ञ का वाक्य के साथ सम्बन्ध होने से परमापूर्व प्रयुक्त उपांशुत्व होता है।

अनुवादश्च तदर्थवत् ॥२२॥

और, अनुवाद = अर्थवाद तद्देश पदार्थ से ही हुआ करता है।

प्रणीतादि तथेति चेत् ॥२३॥

प्रणीता, प्रणयन आदि सम्बन्धी वाङ्नियम (वाणी संयम) परमापूर्व प्रयुक्त है, यदि ऐसा कहो तो—

न यज्ञस्याश्रुतित्वात् ॥२४॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ पर यज्ञ की विवक्षा नहीं है।

तद्देशानां वा संघातस्याचोदितत्वात् ॥२५॥

सि०—पूर्वदेश-सम्बन्धी पदार्थों में उपांशुत्व प्रयुक्त होता है। ग्रह, यजि और अभ्यास आदि संघात को उपांशुत्व का विधान नहीं होता।

अग्निधर्मः प्रतीष्टकं संघातात्पौर्णमासीवत् ॥२६॥

पूर्व०—कर्षण, प्रोक्षण आदि अग्नि के धर्म प्रति इष्टका में होने चाहिएँ, संघात का होना ही इसमें हेतु है। जैसे पौर्णमासी याग में होता है, वैसे ही यहाँ भी होना चाहिए।

अग्नेर्वा स्याद् द्रव्यैकत्वादितरासां तदर्थत्वात ॥२७॥

सि०—इष्टका में अलग धर्म होते हैं और अग्नि में अलग। अग्निरूप द्रव्य एक होने से इष्टका तदर्थ (अग्नि के लिए) होती है।

चोदनासमुदायात्तु पौर्णमास्यां तथात्वं स्यात् ॥२८॥

विधान समुदायपरक होने से पौर्णमासी याग में भी मानने योग्य है।

पत्नीसंयाजान्तत्वं सर्वेषामविशेषात् ॥२९॥

पूर्व०—विशेष का श्रवण न पाये जाने से पत्नीसंयाजान्तत्व सभी 'अहन' नामक यागों में हो सकता है।

लिङ्गाद्वा प्रागुत्तमात् ॥३०॥

सि०—उत्तम याग से पूर्व सब यागों में पत्नीसंयाजान्तत्व होता है, प्रमाणों के उपलब्ध होने से।

अनुवादो वा दीक्षा यथा नक्तं संस्थापनस्य ॥३१॥

आक्षेप—जैसे दीक्षा का उन्मोचन वचन नक्त संस्थापन का विध्यर्थवाद है, वैसे ही यह भी अर्थवाद है।

स्याद्वाऽन्नारम्य विधानादन्ते लिङ्गविरोधात् ॥३२॥

समा०—अन्त में लिङ्ग का विरोध होने से उत्तम से पहले पत्नीसंयाजान्तता होती है।

अभ्यासः सामिधेनीनां प्राथम्यात्स्थानधर्मः स्यात् ॥३३॥

सामिधेनी ऋचाओं के प्राथम्य से जो अभ्यास है, वह स्थान-धर्म होता है।

इष्ट्यावृत्तौ प्रयाजवदावर्त्तताऽऽरम्भणीया ॥३४॥

पूर्व०—दर्शपौर्णमास की आवृत्ति में प्रयाज की भाँति आरम्भणीया इष्टि का आवर्तन होता है।

सकृद्वाऽऽरम्भसंयोगादेकः पुनरारम्भो यावज्जीवप्रयोगात् ॥३५॥

सि०—आरम्भ के संयोग से एक बार ही आरम्भणीया इष्टि का अनुवर्तन करना चाहिए, फिर एक ही आरम्भ यावज्जीवन चलता है।

अर्थाभिधानसंयोगान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्तत्राचोदितमप्राप्तं चोदिताभिधानात् ॥३६॥

अर्थाभिधान=अर्थ-प्रकाशन के संयोग से मन्त्रों में शेषभाव=अङ्गत्व होता है। मन्त्र से विधिविहित अर्थ का प्रकाश होता है, दर्शपौर्णमास में अविहित होने से वह प्राप्त नहीं है।

ततश्चावचनं तेषामितरार्थं प्रयुज्यते ॥३७॥

इसी कारण से उनका अवचन इतरों (निर्वाप की स्तुति) के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

गुणशब्दस्तथेति चेत् ॥३८॥

आक्षेप—निर्वाप मन्त्र में अग्नि गुण शब्द है, वैसे ही असमवेत वचन है, यदि ऐसा कहो तो—

न समवायात् ॥३९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ समवाय होता है।

चोदिते तु परार्थत्वाद्विधिवदविकारः स्यात् ॥४०॥

यदि चोदित भी समवेत है, तो वह परार्थ (स्तुति के लिए) ही किया जाता है, अपने संस्कार के लिए नहीं। परार्थ होने से वह अविकार से प्रयुक्त किया जाता है।

विकारस्तत्प्रधाने स्यात् ॥४१॥

यजमान=प्रधान में विकार होता है।

असंयोगात्तदर्थेषु तद्विशिष्टं प्रतीयेत ॥४२॥

विशेषण से विशिष्ट की प्रतीति होती है; शब्दों का उन अर्थों में संयोग नहीं होता।

कर्माभावादेवमिति चेत् ॥४३॥

आक्षेप—कर्माभाव होने से 'हरिवत्' आदि का प्रयोग है, यदि ऐसा कहो तो—

न परार्थत्वात् ॥४४॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि 'हरिवत्' आदि शब्द इन्द्र की स्तुति के लिए होने से परार्थ होते हैं।

लिङ्गविशेषनिर्देशात्समानविधानेष्वप्राप्ता सारस्वती स्त्रीत्वात् ॥४५॥

सि०—पशु-सम्बन्धी धर्मविधियों में सरस्वती देवताक मेषी-द्रव्य याग प्राप्त नहीं होता, क्योंकि 'मेषी' स्त्रीलिङ्ग है, परन्तु वहाँ पुल्लिङ्ग का निर्देश है।

पश्वभिधानाद्वा तद्धि चोदनाभूतं पुंविषयं पुनः पशुत्वम् ॥४६॥

पूर्व०—पशु का अभिधान होने से चोदनाभूत सर्वनाम शब्द को पुंविषयत्व होता है, फिर वह पशु के द्वारा कहा जाता है।

विशेषो वा तदर्थनिर्देशात् ॥४७॥

सि०—पुल्लिङ्ग शब्द का निर्देश होने से विशेष है।

पशुत्वं चैकशब्द्यात् ॥४८॥

और, जो एकत्व शब्द का प्रयोग किया गया है, वह पशु के अभिप्रायवाला ही है।

यथोक्तं वा सन्निधानात् ॥४९॥

अथवा, सन्निधान होने से जैसा कहा गया है, वह ठीक है।

आम्नातादन्यदधिकारे वचनाद्विकारः स्यात् ॥५०॥

जहाँ अधिकार में आम्नात से अन्य आदेशभूत विकार होता है, वह विशेष के विधान होने से है।

द्वैधं वा तुल्यहेतुत्वात्सामान्याद्विकल्पः स्यात् ॥५१॥

पूर्व०—'इरा' और 'गिरा' दोनों प्रकार का पाठ होता है। दोनों का हेतु भी तुल्य होता है। सामान्य होने से विकल्प होता है।

उपदेशाच्च साम्नः ॥५२॥

साम के उपदेश होने से भी 'गिरा' पद उपदिष्ट हो जाता है, अतः विकल्प ही होता है।

नियमो वा श्रुतिविशेषादितरत्साप्तदश्यवत् ॥५३॥

सि०—श्रुतिविशेष के द्वारा 'इरा' पद ही उपदिष्ट किया गया है, इसलिए नियम है और जो इतर 'गिरा' पद है वह साप्तदश्य की भाँति होता है।

अप्रगाणाच्छब्दान्यत्वे तथाभूतोपदेशः स्यात् ॥५४॥

पूर्व०—'इरा' पद 'गिरा' शब्द से भिन्न होने से अप्रगीत शब्द से विहित 'इरा' पद है, अतः जैसा विहित है वैसा ही पाठ करना चाहिए।

यत्स्थाने वा तद्गीतिः स्यात्पदान्यत्वप्रधानत्वात् ॥५५॥

सि०—जिस स्थान पर जिस शब्द का आदेश हो, उसी का गान करना चाहिए, भिन्न पद की प्रधानता होने से।

गानसंयोगाच्च ॥५६॥

और, गान के संयोग होने से भी 'इरा' पद होता है।

वचनमिति चेत् ॥५७॥

वचनों की उपलब्धि भी है, यदि ऐसा कहो तो—

न तत्प्रधानत्वात् ॥५८॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ 'इरा' पद की प्रधानता का निर्देश है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने नवमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

सामानि मन्त्रमेके स्मृत्युपदेशाभ्याम् ॥१॥

पूर्व०—कुछ आचार्य मानते हैं कि साम-प्रगीत मन्त्रवाक्य है। इसमें दो हेतु हैं—स्मृति और गुरु-शिष्य-परम्परा से होनेवाला उपदेश।

तदुक्तदोषम् ॥२॥

सि०—यह पक्ष दोषयुक्त है, यह बात सप्तम अध्याय में कह दी गई है। साम गीतियाँ हैं, प्रगीत-मन्त्रवाक्य नहीं हैं।

कर्म वा विधिलक्षणम् ॥३॥

पूर्व०—साम प्रधान कर्म है, द्वितीया विभक्ति का श्रवण होने से।

तदृग्द्रव्यं वचनात्पाकयज्ञवत् ॥४॥

पाकयज्ञ में जैसे लाजा आदि गुणद्रव्य गिनाए हैं, उसी प्रकार सामगान के योनिभूत ऋचारूप द्रव्य भी गुणभूत हैं और सामगान प्रधान कर्म है।

तत्राविप्रतिषिद्धो द्रव्यान्तरे व्यतिरेकः प्रदेशश्च ॥५॥

ऋतुविशेष में द्रव्यान्तर (दोनों ऋचाओं) में प्रदेश (प्रतिदेश शास्त्र) और व्यतिरेक (अभाव) परस्पर विरोधी नहीं हैं, अतः साम प्रधान कर्म है।

शब्दार्थत्वात्तु नैवं स्यात् ॥६॥

सि०—रथन्तर आदि गान ऋचाओं के लिए होने से गान प्रधान कर्म नहीं अपितु गौण कर्म है।

परार्थत्वाच्च शब्दानाम् ॥७॥

और, रथन्तर आदि शब्दों के स्तुतिपरक होने से भी साम गुणभूत हैं।

असम्बन्धश्च कर्मणा शब्दयोः पृथगर्थत्वात् ॥८॥

स्तुति और गान शब्दों के पृथक् अर्थ होने से कर्म से सम्बन्ध नहीं होता, अतः ऋक् का साम गुणभूत है।

संस्कारश्च प्रकरणेऽग्निवत्स्यात् प्रयुक्तत्वात् ॥९॥

अग्नि की भाँति प्रयुक्त होने से अप्रकरण अर्थात् अध्ययनकाल में संस्कार होता है। जैसे अग्न्याधान के समय अग्नि का संस्कार होता है, ज्योतिष्टोम के प्रयोग-समय नहीं, ऐसे ही अध्ययनकाल में ऋचाओं का संस्कार होता है, गान के समय नहीं।

अकार्यत्वाच्च शब्दानामप्रयोगः प्रतीयेत ॥१०॥

शब्दों के अकार्य (संस्कृत शब्दों का प्रयोग के समय पाठ न करना) होने से अप्रयोग प्रतीत होता है। प्रगीत शब्द पुनः प्रयुक्त किये जा सकते हैं।

आश्रितत्वाच्च ॥११॥

गान के कर्मकाल के आश्रित होने से अकर्मकाल में गान की कल्पना नहीं करनी चाहिए।

प्रयुज्यत इति चेत् ॥१२॥

प्रयोग के समय सामगान का प्रयोग किया जाता है, यदि ऐसा कहो तो—

ग्रहणार्थं प्रतीयेत ॥१३॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वह शिष्य के धारण एवं ग्रहण (अभ्यास) के लिए ही किया जाता है।

तृचे स्यात् श्रुतिनिर्देशात् ॥१४॥

पूर्व०—तृच (तीन ऋचाओं के समूह) में सामगान होता है, क्योंकि श्रुति में ऐसा निर्देश पाया जाता है।

शब्दार्थत्वाद्विकारस्य ॥१५॥

तृच में व्यासज्जित (मिला) करके साम का गान करना चाहिए, क्योंकि सामगान-रूप विकार शब्दार्थ होता है।

दर्शयति च ॥१६॥

और अर्थवाद से भी ऐसा ही सिद्ध होता है।

वाक्यानां तु विभक्तत्वात्प्रतिशब्दं समाप्तिः स्यात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥१७॥

सि०—वाक्यों के विभक्त होने से प्रत्येक ऋचा में सामगान की समाप्ति होती है, क्योंकि संस्कार (अक्षराभिव्यक्ति) ऋचा के लिए होता है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥१८॥

तथा, प्रत्येक ऋचा में साम की समाप्ति होने से दूसरे अर्थ की सिद्धि भी होती है।

अनवानोपदेशश्च तद्वत् ॥१९॥

और भी, यदि प्रयोग के समय में प्रति ऋचा की समाप्ति पर गान करना है तो स्वाध्याय के समय भी वैसा ही अभ्यास करना चाहिए, अतः प्रत्येक ऋचा के साथ गान करना चाहिए।

अभ्यासेनेतराः ॥२०॥

अभ्यास में भी तीनों ही ऋचाओं का ग्रहण करना चाहिए।

तदभ्यासः समासः स्यात् ॥२१॥

पूर्व०—उस सामगान का अभ्यास समान छन्दों में ही करना चाहिए।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२२॥

समान छन्दों में ही सामगान करने के प्रमाण भी पाये जाते हैं।

नैमित्तिकं तूत्तरात्वमानन्तर्यात्प्रतीयेत ॥२३॥

सि०—नैमित्तिक उत्तरात्व तो आनन्तर्य से प्रतीत होता है।

ऐकार्थ्याच्च तदभ्यासः ॥२४॥

और, तीनों ऋचाओं की एक अर्थ में संगति होने से उनके अभ्यास का विधान है।

प्रागाथिकं तु ॥२५॥

प्रागाथिक सामगान का भी विधान पाया जाता है।

स्वे च ॥२६॥

और, अपने छन्द में ही गाना करना अभीष्ट होता है।

प्रगाथे च ॥२७॥

जहाँ प्रकर्ष से गान होता है, वह प्रगाथ है, अतः प्रगाथ में साम का गान करना आवश्यक है।

लिङ्गदर्शनाच्च्यतिरेकाच्च ॥२८॥

और, प्रमाणों का अव्यतिरेक होने से भी सामगान करना आवश्यक है।

अर्थैकत्वाद्विकल्पः स्यात्॥२९॥

प्रयोजन के एक होने से विकल्प होता है।

अर्थैकत्वाद्विकल्पः स्यादृक्सामयोस्तदर्थत्वात् ॥३०॥

पूर्व०—ऋक् और साम का तदर्थत्व (ऋक् और साम दोनों के स्तुत्यर्थ) होने से विकल्प होता है, क्योंकि दोनों का स्तुतिरूप एक ही प्रयोजन है।

वचनाद्विनियोगः स्यात् ॥३१॥

सि०—साम का विनियोजक वचन है, उक्त वचन से साम के द्वारा स्तवन ही होना चाहिए।

समप्रदेशे विकारस्तदपेक्षः स्याच्छास्त्रकृतत्वात् ॥३२॥

पूर्व०—सामगान के अतिदेश में 'आई' (गान में जहाँ 'ए' हो वहाँ 'आई' कर देते हैं) भावादि विकार योन्यपेक्ष होता है, और ये शास्त्र के द्वारा कृत हैं।

वर्णे तु बादरियंथा द्रव्यं द्रव्यव्यतिरेकात् ॥३३॥

सि०—'आई' भाव उत्तरावर्णवश से करना चाहिए, योनिवश से नहीं—ऐसा आचार्य बादरायण मानते हैं। इसमें द्रव्यव्यतिरेक ही हेतु है।

स्तोभस्यैके द्रव्यान्तरे निवृत्तिमृग्वत् ॥३४॥

पूर्व०—कुछ आचार्य ऐसा मानते हैं कि ऋक् की भाँति स्तोभ की ऋगन्तर में निवृत्ति होती है।

सर्वातिदेशस्तु सामान्याल्लोकवद्विकारः स्यात् ॥३५॥

सि०—स्तोभ सहित साम का अतिदेश है। सामान्य होने से लोकव्यवहार के समान अतिदेश है।

अन्वयं चापि दर्शयति ॥३६॥

और, अन्वय से भी इसी बात की सिद्धि होती है।

निवृत्तिर्वाऽर्थलोपात् ॥३७॥

आक्षेप—अथवा, अर्थलोप होने से स्तोभ अक्षर की निवृत्ति होती है।

अन्वयो वार्थवादः स्यात् ॥३८॥

समा०—और जो वाक्यशेष वचन है, वह अर्थवाद है।

अधिकं च विवर्णं च जैमिनिः स्तोभशब्दत्वात् ॥३९॥

जो ऋक् के अक्षर से अधिक और विलक्षण वर्ण होता है, वह 'स्तोभ' अक्षर कहाता है, ऐसा आचार्य जैमिनि मानते हैं।

धर्मस्यार्थकृतत्वाद् द्रव्यगुणविकारव्यतिक्रमप्रतिषेधे चोदनानुबन्धः समवायात् ॥४०॥

धर्म को अर्थकृतित्व(प्रोक्षण आदि अपूर्वरूप अर्थ) होने से द्रव्य, गुण, विकार, व्यतिक्रम और प्रतिषेध में समवाय से चोदनानुबन्ध होता है।

तदुत्पत्तेस्तु निवृत्तिस्तत्कृतत्वात् स्यात् ॥४१॥

पूर्व०—परिधि में यूप के धर्म नहीं करने चाहिएँ, क्योंकि यूप के धर्म पशु के नियोजन (बांधने) के लिए हैं।

आवेश्येरन् वाऽर्थवत्वात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥४२॥

सि०—संस्कार के पशु-बन्धनरूप कार्य में नियुक्त होने से उसी में उसकी सफलता होने से यूप के धर्म परिधि में भी कर्तव्य हैं।

आख्या चैवं तदावेशाद्विकृतौ स्यादपूर्वत्वात् ॥४३॥

परिधि में संस्काररूप शक्यता के अवच्छेदक होने से यूप शब्द की प्रवृत्ति है और अपूर्व के निमित्त होने से विकृति में भी यूप शब्द है; परन्तु यूप शब्द ऊहितव्य नहीं है अर्थात् यूप शब्द के स्थान में परिधि का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

परार्थे न त्वर्थसामान्यं संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥४४॥

पूर्व०—प्रधान याग के लिए दधि और शृत में प्रणीता धर्म नहीं है और प्रणीता कार्यकारित्व भी नहीं, क्योंकि उत्पवनादि संस्कार हविःश्रपण के लिए होते हैं।

क्रियेरन् वाऽर्थनिवृत्तेः ॥४५॥

सि०—हविःश्रपण भी दधि और पय में निष्पन्न होने से उसमें उत्पवन आदि धर्म भी कर्तव्य है।

एकार्थत्वादविभागः स्यात् ॥४६॥

पूर्व०—बृहद् और रथन्तर धर्मों का एक प्रयोजन होने से विभाग नहीं हो सकता।

निर्देशाद्वा व्यवतिष्ठेरन् ॥४७॥

सि०—निर्देश-भेद (रथन्तर में ऊँची आवाज से नहीं गाना चाहिए और बृहद् में ऊँची आवाज से गान करना चाहिए) होने से व्यवस्था हो जाएगी।

अपाकृते तद्विकाराद्विरोधाद्व्यवतिष्ठेरन् ॥४८॥

विकृतिभूत काण्व रथन्तर में बृहद् और रथन्तर का विकार होने से विरोध के कारण व्यवस्था हो जाएगी।

उभयसाम्नि चैवमेकार्थापत्तेः ॥४९॥

पूर्व०—'गोसव' आदि क्रतु में दोनों सामों (बृहद् और रथन्तर) की प्राप्ति है, अतः प्रत्येक स्तोत्र में दोनों धर्मों की प्राप्ति है।

स्वार्थत्वाद्वा व्यवस्था स्यात्प्रकृतिवत् ॥५०॥

सि०—जैसे प्रकृति=ज्योतिष्टोम याग में बृहद् के धर्म बृहद् में और रथन्तर के धर्म रथन्तर में होते हैं, उसी प्रकार दो सामवाले यागों में भी बृहद् और रथन्तर साम के दो धर्म होने से व्यवस्था हो जाएगी।

पार्वणहोमयोस्त्वप्रवृत्तिः समुदायार्थसंयोगात्तदभीज्या हि ॥५१॥

वैकृतकर्म में पार्वण होम की प्रवृत्ति नहीं होती, पौर्णमासत्रिक रूप अर्थ के साथ सम्बन्ध होने से, क्योंकि इज्या=याग समुदाय के उद्देश्य से कर्तव्य है।

कालस्येति चेत् ॥५२॥

पर्व शब्द काल का वाचक है, यदि ऐसा कहो तो—

नाप्रकरणत्वात् ॥५३॥

प्रकरण न होने से उक्त कथन ठीक नहीं है।

मन्त्रवर्णाच्च ॥५४॥

और, मन्त्र के वर्ण से भी समुदाय के लिए ही इज्या होती है।

तदभावेऽग्निवदिति चेत् ॥५५॥

जिस प्रकार यागार्थ से सन्निहित और असन्निहित अग्नि का आवाहन किया जाता है, उसी प्रकार समुदाय के अभाव में भी हो सकता है, यदि ऐसा कहो तो—

नाधिकारिकत्वात् ॥५६॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि क्रतु के संस्कार के लिए पार्वण होम का अधिकार है।

उभयार्थिवेशेषात् ॥५७॥

पूर्व०—पौर्णमासी और अमावास्या—दोनों में विशेषता न होने से दोनों ही दोनों में हो सकते हैं।

यदभीज्या वा तद्विषयौ ॥५८॥

सि०—दोनों उभयत्र हैं, ऐसा नहीं है। जहाँ यह अभीज्या है, वहाँ वह होता है, क्योंकि वह उसका उपकारक है और दूसरे का अनुपकारक।

प्रयाजेऽपीति चेत् ॥५९॥

आक्षेप—प्रयाज में भी याग संस्काररूप है, यदि ऐसा कहो तो—

नाचोदितत्वात् ॥६०॥

समा०—याग त्रय प्रत्येक वाक्य में विहित न होने से उक्त कथन ठीक नहीं है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने नवमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

प्रकृतौ यथोत्पत्तिवचनमर्थानां तथोत्तरस्यां ततौ तत्प्रकृतित्वादर्थे चाकार्यत्वात् ॥१॥

जैसे प्रकृति=दर्शपौर्णमास में अर्थों का उत्पत्तिवचन होता है, वैसे ही सौर्यादि

इष्टि में भी उसी मन्त्र के द्वारा वचन करना चाहिए, क्योंकि अर्थ में कार्यत्व=सामर्थ्य नहीं होता, अतः ऊह् करना आवश्यक है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२॥

तथा, प्रमाण उपलब्ध होने से भी इसी तथ्य की सिद्धि होती है।

जातिर्नैमित्तिकं यथास्थानम् ॥३॥

जाति शब्द और नैमित्तिक शब्द दोनों ही यथास्थान ऊहितव्य होते हैं।

अविकारमेकेऽनार्षत्वात् ॥४॥

पू०—कुछ आचार्य अनार्ष होने के कारण ऊह को स्वीकार नहीं करते।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥५॥

इस अर्थ में भी प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

विकारो वा तदुक्ते हेतुः ॥६॥

सि०—ऊह् करनी चाहिए। इसका हेतु प्रथम सूत्र में कह दिया गया है।

लिङ्गं मन्त्रचिकीर्षार्थम् ॥७॥

जो लिङ्ग कहा गया है, वह तो मन्त्र के करने की इच्छा के ही लिए है। ऊहित होने से वह अमन्त्र हो जाएगा।

नियमो वोभयभागित्वात् ॥८॥

अथवा, उभय भागी (दोनों मन्त्रों के साथ सम्बन्ध होने से) नियम होता है।

लौकिके दोषसंयोगादपवृक्ते हि चोद्यते निमित्तेन प्रकृतौ स्यादभागित्वात् ॥९॥

लौकिक (यूप) स्पर्श में दोष का संयोग होने से मन्त्रपाठ करने का विधान है। निषिद्ध स्पर्शरूप निमित्त में ही मन्त्रपाठ का विधान है। वैदिक स्पर्श में निषेध न होने से मन्त्रपाठ का विधान नहीं है।

अन्यायस्त्वविकारेण दृष्टप्रतिघातित्वादविशेषाच्च तेनास्य ॥१०॥

पूर्व०—अन्याय=दर्शपौर्णमास याग में कहा बहुवचनान्त अविकार से प्रवृत्त होता है, क्योंकि एक पाश में प्रतिघात दृष्ट नहीं होता और कोई विशेष भी नहीं है।

विकारो वा तदर्थत्वात् ॥११॥

तदर्थ होने से विकार=ऊह होता है।

अपि त्वन्यायसम्बन्धात्प्रकृतिवत्परेष्वपि यथार्थं स्यात् ॥१२॥

जिस प्रकार प्रकृति में बहुवचनान्त और एकवचनान्त प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार विकृति में भी यथार्थ होता है, अन्याय=प्रकृति, दर्शपौर्णमास सम्बन्ध से।

यथार्थं त्वन्यायस्याचोदितत्वात् ॥१३॥

सि०—अन्याय=प्रकृति के विहित न होने से यथार्थ अर्थात् द्विवचन का ही ऊहन करना चाहिए।

छन्दसि तु यथादृष्टम् ॥१४॥

छन्द=वेद में तो जैसा लिखा हो, वैसा ही पाठ करना चाहिए।

अन्यायस्याचोदितत्वात् ॥१५॥

अर्थ का बाध अविहित है। ऊह् करते समय अर्थ का बाध नहीं करना चाहिए।

विप्रतिपत्तौ विकल्पः स्यात्तत्समत्वाद् गुणे त्वन्यायकल्पनैकदेशत्वात् ॥१६॥

किसी विरोध के होने पर ही विकल्प होता है। समत्व होने से गुणविभक्त्यर्थ में अन्याय की कल्पना होती है, प्रधान प्रातिपदिक अर्थ नहीं होता, एकदेशत्व होने से प्रातिपदिक को उत्कृष्ट करता है।

प्रकरणविशेषाच्च ॥१७॥

और, विशेष प्रकरण होने से भी प्रातिपदिक बहुवचन को आकर्षित करता है।

उत्कर्षो वा द्वियज्ञवत् ॥१८॥

पूर्व०—बहुवचनान्तर्गत पदवाले मन्त्रों का उत्कर्ष द्वियज्ञ के मन्त्रों के समान करना चाहिए।

अर्थाभावात्तु नैवं स्याद् गुणमात्रमितरत् ॥१६॥

सि०—द्वित्व विशिष्टरूप अर्थबोधक विधान का प्रकृत में अभाव है। दोनों में गुणमात्र है, अतः उत्कर्ष नहीं होगा।

द्यावोस्तथेति चेत् ॥२०॥

जैसे द्यावापृथिव्यादि अप्रकरण पठित अनुमन्त्रों का उत्कर्ष होता है, उसी प्रकार यहाँ भी होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

नोत्पत्तिशब्दत्वात् ॥२१॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि द्यावापृथिवी आदि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शब्द=प्रमाण नहीं हैं।

अपूर्वे त्वविकारोऽप्रदेशात्प्रतीयेत ॥२२॥

अपूर्व=प्रकृति में अविकार से प्रयोग करना चाहिए (ऊह नहीं करना चाहिए) अतिदेश की प्राप्ति होने से।

विकृतौ चापि तद्वचनात् ॥२३॥

विकृतिभूत सौर्ययाग में भी प्रकृति=दर्शपौर्णमासेष्टि के समान ही करना चाहिए।

अध्रिगुः सवनीयेषु तद्वत्समानविधानाश्चेत् ॥२४॥

आक्षेप—यदि समान विधान हो तो 'अध्रिगुःप्रैष' मन्त्र को भी सवनीयों में उसी प्रमाण से ऊह नहीं होगा।

प्रतिनिधौ चाविकारात् ॥२५॥

समा०—व्रीहि के अभाव में नीवार प्रतिनिधि हो तो ऊह किये बिना ही मन्त्र पाठ करना चाहिए।

अनाम्नानादशब्दत्वमभावाच्चेतरस्य स्यात् ॥२६॥

यदि मन्त्र में व्रीहि शब्द का पाठ न हो और इतर नीवार का अभाव हो तो अभिधान की सिद्धि के लिए नीवार शब्द का ऊह करना चाहिए।

तादर्थ्याद्वा तदाख्यं स्यात्संस्कारैरविशिष्टत्वात् ॥२७॥

सि०—नीवार व्रीहि के लिए है और प्रोक्षण आदि संस्कार भी उसी के लिए हैं, अतः वह नीवाराख्य अविकार से प्रयुक्त करना चाहिए।

उक्तं च तत्त्वमस्य ॥२८॥

इस विषय का तत्त्व (छठें अध्याय में) कह दिया गया है।

संसर्गिषु चार्थस्यास्थितपरिमाणत्वात् ॥२९॥

पशुओं का भेद होने पर भी संसर्गवाले पदार्थों में परिमाण के स्थित न होने से ऊह नहीं होता।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥३०॥

तथा, प्रमाण उपलब्ध होने से भी संसर्गवाले पदार्थों में ऊह नहीं होता।

एकधेत्येकसंयोगादभ्यासेनाभिधानं स्यादसर्वविषयत्वात् ॥३१॥

एक के संयोग होने से, एक समय उच्चारण होने से, सब पशुओं के साथ सम्बन्ध न हो सकने से एकधा शब्द का अभ्यास से अभिधान करना चाहिए, अतः ऊह करनी चाहिए।

अविकारो वा बहूनामेककर्मवत् ॥३३॥

पूर्व०—बहुत-से कर्मों के स्वीकरण की भाँति अविकार होता है, ऊह नहीं होता।

सकृत्त्वं चैकध्यं स्यादेकत्वात्त्वचोऽनभिप्रेतं तत्प्रकृतित्वात्
परेष्वभ्यासे नैवं विवृद्धावभिधानं स्यात् ॥३२॥

सि०—प्रकृति याग में एक समय में एक पशु देय होने से उसमें एकधा शब्द की आवृत्ति की आवश्यकता नहीं परन्तु विकृति याग में पशुओं की वृद्धि होने से 'एकधा' शब्द की आवृत्ति अभ्यास से होती है।

मेधपतित्वं स्वामिदेवतस्य समवायात्सर्वत्र च प्रयुक्तत्वात्
तस्यान्यायनिगदत्वात्सर्वत्रैवाविकारः स्यात् ॥३४॥

पूर्व०—स्वामी, मेधापति और देवता—इन तीनों का उस मेधपति के प्रति आधिपत्य होने से समवाय होने के कारण और सर्वत्र—सब देशों में पति शब्द का आधिपत्य में प्रयोग होने से और उसके अन्याय (प्रकृति) निगदित होने से सर्वत्र अविकार ही होता है, ऊह नहीं होता।

अपि वा द्विसमवायोऽर्थान्यत्वे यथासंख्यं प्रयोगः स्यात् ॥३५॥

अथवा, द्विवचनान्त पद का प्रयोग देवता में और एकवचनान्त का प्रयोग स्वामी=यजमान में होने से यथासंख्य=क्रमानुसार प्रयोग होता है।

स्वामिनो वैकशब्द्यादुत्कर्षो देवतायां स्यात् पत्न्यां द्वितीयशब्दः स्यात् ॥३६॥

अथवा, दोनों मन्त्रों में यजमानरूप स्वामी का ग्रहण है। एकार्थप्रतिपादक शब्द के प्रयोग होने से जो देवतावाच्य हो तो एकवचनान्त पद का उत्कर्ष होता है और यजमानवाच्य हो तो द्विवचनान्त पदवाले मन्त्र में पत्नी के साथ यजमान समझने से द्विवचन भी सार्थक हो सकता है।

देवता तु तदाशीष्ट्वात्सम्प्राप्तत्वात्स्वामिन्यनर्थिका स्यात् ॥३७॥

सि०—मेधपति का वाच्य देवता है। देवता के उद्देश्य से मेध होता है। यदि स्वामी-परक माना जाए तो यजमान के सत्त्व की मेध में प्राप्ति होने से **'मेधं मेधपतिभ्यामारभामा'**—यह वाक्य निरर्थक हो जाता है।

उत्सर्गाच्च भक्त्या तस्मिन्पतित्वं स्यात् ॥३८॥

और, यजमान देवता के उद्देश्य से उत्सर्ग करता है, अतः मेधपतित्व देवता में मुख्य है और स्वामी के लिए उसका गौणरूप में प्रयोग होता है।

उत्कृष्येतैकसंयुक्तौ द्विदेवते संभवात् ॥३९॥

एकसंयुक्त का ही उत्कर्ष किया जाता है, क्योंकि द्विदेवता में वह असम्भव होता है।

एकस्तु समवायात्तस्य तल्लक्षणत्वात् ॥४०॥

जो एकवचनान्त (मेधपति शब्द) है, वह देवतागण का बोधक है, क्योंकि उसका वह लक्षण होता है।

संसर्गित्वाच्च तस्मात्तेन विकल्पः स्यात् ॥४१॥

और, दोनों मन्त्रों का प्रकृतियाग में सम्बन्ध होने से तथा एकार्थवाचक भी होने से दोनों मन्त्रों का विकल्प है।

एकत्वेऽपि न गुणाऽपायात् ॥४२॥

एकत्व होने पर भी अविवक्षित होने से वह प्रकरण से उत्कृष्यमाण नहीं होता।

नियमो बहुदेवते विकारः स्यात् ॥४३॥

पूर्व०—बहुदेवताक विकृतियाग में द्विवचनान्त का जो अतिदेश है, वह ऊहित होता है।

विकल्पो वा प्रकृतिवत् ॥४४॥

सि०—एकवचन भी प्रकृति की भाँति द्विवचनान्त से विकल्पित होने के योग्य होता है।

अर्थान्तरे विकारः स्याद्देवतापृथक्त्वादेकाभिसमवायात्स्यात् ॥४५॥

भिन्न-भिन्न देवताओं से अर्थात् अन्य पशु का अन्य देवता होने से भिन्न देवताक-याग समुदाय में विकार=ऊह होता है, एक तद्धित प्रत्यय वाचक देवता न होने से।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने नवमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

षड्विंशतिरभ्यासेन पशुगणे तत्प्रकृतित्वाद्गुणस्य प्रविभक्तत्वादविकारे हि तासामकार्त्स्न्येनाभिसम्बन्धो विकारान्न समासः स्यादसंयोगाच्च सर्वाभिः ॥१॥

पूर्व०—द्विपशुयाग में षड्विंशति (छब्बीस) शब्द का अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि पशुगण की प्रकृति अग्नीषोमीय याग है। प्रकृति में एक पशु होता है और एक पशु के शरीर में छब्बीस वंक्रियाँ (वक्र अस्थियाँ) होती हैं। विकृति याग में जहाँ दो पशुओं का विधान है, षड्विंशति शब्द का अभ्यास होता है। यदि अभ्यास न किया जाए तो छब्बीस संख्यारूप गुण का सम्बन्ध दो पशुओं में सम्पूर्ण नहीं हो सकता। दो पशुओं में बावन शब्द का समास भी नहीं हो सकता, क्योंकि विकार करने से अतिविलक्षण शब्द प्राप्त होता है और किसी भी पशु में बावन वंक्रियाँ=अस्थियाँ नहीं होतीं।

अभ्यासेऽपि तथेति चेत् ॥२॥

अभ्यास करने पर भी वही अप्राकृतत्वरूप दोष आता है, यदि ऐसा कहो तो—

न गुणादर्थकृतत्वाच्च ॥३॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि अभ्यास करने से वंक्रियों का सम्बन्ध दोनों पशुओं के साथ हो सकता है, परन्तु समास करने से ऐसा नहीं हो सकता।

समासेऽपि तथेति चेत् ॥४॥

समास करने में भी वहीं दोष आएगा, यदि ऐसा कहो तो—

नासम्भवात् ॥५॥

उक्त कथन ठीक नहीं, असम्भव होने से।

स्वाभिश्च वचनं प्रकृतौ तथेह स्यात् ॥६॥

प्रकृति=अग्नीषोमीय याग में स्वसम्बन्धी वंक्री वचन है, उसी प्रकार अभ्यास में भी हो सकता है।

वंक्रीणान्तु प्रधानत्वात्समासेनाभिधानं स्यात् प्राधान्यमध्रिगोस्तदर्थत्वात् ॥७॥

सि०—वंक्रियों की प्रधानता है, पशुओं की नहीं। 'अध्रिगु: प्रैष' का भी यही भाव है। वंक्री की प्रधानता होने से समास का कथन ही अभीष्ट है।

तासां च कृत्स्नवचनात् ॥८॥

उन वंक्रियों का सम्पूर्णता से गिनने का वचन पाये जाने से भी उनकी प्रधानता सिद्ध होती है, पशुओं के नहीं।

अपि त्वसन्निपातित्वात्पत्नीवदाम्नातेनाभिधानं स्यात् ॥९॥

पूर्व०—असन्निकृष्ट होने से वंक्रियों का षड्विंशति शब्द विकार=ऊह-रहित ही प्रयुक्त करना चाहिए (पत्नीं सनंह्य) शब्द के समान।

विकारस्तु प्रदेशत्वाद्यजमानवत् ॥१०॥

सि०—यजमान शब्द की भांति प्रदेश-वृत्ति होने से विकार=ऊह होता है।

अपूर्वत्वात्तथा पत्न्याम् ॥११॥

इसी प्रमाण से अपूर्व अर्थ होने से 'पत्नी' शब्द में ऊह करने की आवश्यकता नहीं है।

आम्नातस्त्वविकारात्संख्यासु सर्वगामित्वात् ॥१२॥

पक्ष-उत्थापन—प्रकृति में प्रातिपदिक शब्द जैसे आम्नात है, उसी प्रकार ऊह किये बिना षड्विंशति शब्द का प्रयोग करना चाहिए। संख्यावाचक वचन में विकार करने से उसका सब वंक्रियों में कथन हो जाएगा।

संख्या त्वेवं प्रधानं स्याद्वंक्रयः पुनः प्रधानम् ॥१३॥

निराकरण—इस प्रकार षड्विंशति के ऊह करने में संख्या प्रधान है। प्रकृति से वंक्री की प्रधानता है, संख्या की नहीं, अत: एकवचन ही उपपन्न होता है।

अभ्यासो वाऽविकारात् स्यात् ॥१४॥

पूर्व०—समान वचन नहीं है, अभ्यास ही होता है, क्योंकि इस प्रकार से अविकार हो जाएगा।

पशुस्त्वेवं प्रधानं स्यादभ्यासस्य तन्निमित्तत्वात् तस्मात्समासशब्दः स्यात् ॥१५॥

सि०—ऐसा मान लेने पर यहाँ पर पशु ही प्रधानतया निर्दिष्ट हो जाता है, अभ्यास करने में पशु शब्द निमित्त है, अतः समास शब्द का पाठ करना योग्य है।

अश्वस्य चतुस्त्रिंशत्तस्य वचनाद्वैशेषिकम् ॥१६॥

पूर्व०—अश्वमेध यज्ञ में चौंतीस वंक्रियाँ समाम्नात हुई हैं, वहाँ वह वचन अश्व का ही वैशेषिक है, अथवा सभी के लिए समान है।

तत्प्रतिषिध्य प्रकृतिर्नियुज्यते सा चतुस्त्रिंशद्वाच्यत्वात् ॥१७॥

सि०—वहाँ ऋचा का अर्थवान् वचन होने से यह अश्व का ही वैशेषिक है, ऐसा न मानने पर ऋचा के वचन में अनर्थकत्व दोष हो जाएगा।

ऋग्वा स्यादाम्नातत्वादविकल्पश्च न्यायः ॥१८॥

अथवा, जो ऋक् आम्नात है, वह अप्रतिषिद्ध है, इस कारण से अश्व का वैशेषिक वचन होता है और वह अविकल्प है।

तस्यां तु वचनादैरवत्पदविकारः स्यात् ॥१९॥

उस ऋचा में पद-विकार होकर चतुस्त्रिंशत (चौंतीस) न कहकर षड्विंशति ही बोलना चाहिए, जैसे इरा के स्थान पर गिरा बोला जाता है।

सर्वप्रतिषेधो वाऽसंयोगात्पदेन स्यात् ॥२०॥

अथवा, 'चतुस्त्रिंशत' इस पद का ऋचा के साथ संयोग न होने से समस्त ऋचाओं का प्रतिषेध हो जाएगा।

वनिष्ठुसन्निधानादुरूकेण वपाभिधानम् ॥२१॥

ज्योतिष्टोम के अग्नीषोमीय पशुयाग में जो 'अध्रिगो' वचन है, वहाँ वनिष्टु का सन्निधान होने से 'उरूक' शब्द उल्लू का वाचक न होकर वपा=चर्बी का वाचक है।

प्रशंसाऽस्याभिधानम् ॥२२॥

पूर्व०—'अध्रिगु:प्रैष' मन्त्र में 'प्रशंसा' शब्द असि=तलवार के अर्थ का वाचक है।

बाहुप्रशंसा वा ॥२३॥

सि०—वहाँ 'प्रशंसा' शब्द बाहु की प्रशंसा बतानेवाला है। प्रशंसा-बाहु का अर्थ है—प्रशस्त बाहु। यदि तलवार अर्थ होता तो 'प्रशंसा' का ऊह करके बहुवचन करना पड़ता, परन्तु यहाँ ऊह विहित नहीं है।

श्येन-शला-कश्यप-कवष-स्रेकपर्णेष्वाकृतिवचनं प्रसिद्धसन्निधानात् ॥२४॥

पूर्व०—श्येन, शला, कश्यप, कवष और स्रेकपर्ण में सादृश्य (श्येन पक्षी के समान) वचन है, प्रसिद्ध श्येन आदि पद का सन्निधान होने से।

कार्त्स्न्यं वा स्यात्तथाभावात् ॥२५॥

सि०—एक अङ्ग के उद्धरण से अध्रिगु नामक ऋत्विज को पशु के शरीर के अवयवों का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकेगा, अतः सम्पूर्ण आकृति का उल्लेख किया गया है।

प्रासङ्गिके प्रायश्चित्तं न विद्यते परार्थत्वात्तदर्थो हि विधीयते ॥२६॥

दर्शपौर्णमास इष्टियों में गार्हपत्य से अग्नि लाते समय यदि वह बुझ जाए तो

प्रायश्चित्तरूप में ज्योतिष्मती इष्टि करने का विधान नहीं है, क्योंकि ज्योतिष्मती इष्टि अन्य के लिए होने से, अग्निहोत्र के लिए ही विहित है।

धारणे च परार्थत्वात् ॥२७॥

'धार्य' अग्नि के बुझ जाने पर भी यह प्रायश्चित्त नहीं होता, क्योंकि इसमें भी परार्थता विद्यमान है।

क्रियार्थत्वादितरेषु कर्म स्यात् ॥२८॥

पर्युक्षण और परिसमूहन आदि तो संस्कारार्थ हैं, उनका और कोई प्रयोजन नहीं, अतः वे तो करने ही चाहिएँ।

न तूत्पन्ने यस्य चोदनाऽप्राप्तकालत्वात् ॥२९॥

परार्थ उत्पन्न अग्नि (दर्शपौर्णमास) में जो अग्निहोत्र का विधान है, वहाँ काल के अभाव में विगुणता होने से 'वाचा त्वा होत्रा' आदि मन्त्र नहीं पढ़ा जाएगा।

प्रदानदर्शनं श्रपणे तद्धर्मभोजनार्थत्वात्संसर्गाच्च मधूदकवत् ॥३०॥

पूर्व०—पयस के श्रपण में यदि देवता के उद्देश्य से प्रदान है तो पयोधर्म पय में भी करने चाहिएँ और श्रपणार्थ है तो नहीं करने चाहिएँ, क्योंकि मधु और उदक के समान संसृष्ट होने से तथा याग के लिए होने से प्रदेय द्रव्य के जो धर्म कर्त्तव्य हैं, वे धर्म प्रदेय पय के भी कर्त्तव्य हैं।

संस्कारप्रतिषेधश्च तद्वत् ॥३१॥

और, प्रदेय संस्कारों का भी उसी प्रकार प्रतिषेध है।

तत्प्रतिषेधे च तथाभूतस्य वर्जनात् ॥३२॥

तथा, उस पय के प्रदेयत्व का निषेध माना जाए तो पयोमिश्रित चरुद्रव्य का भी निषेध हो जाएगा।

अधर्मत्वमप्रदानात्प्रणीतार्थे विधानादतुल्यत्वादसंसर्गः ॥३३॥

सि०—पय में प्रदीयमान धर्मता नहीं है और इसका प्रणीतार्थ में विधान है तथा चरु और पय की तुल्यता भी नहीं है।

परो नित्यानुवादः स्यात् ॥३४॥

अन्य वचन (**अयजुषा वत्सानपाकरोति**) नित्यविधि का अनुवाद है।

विहितप्रतिषेधो वा ॥३५॥

अथवा, वह वचन शाखान्तर में विहित (**यजुषा वत्सानपाकरोति**) विधान का प्रतिषेधक है।

वर्जने गुणभावित्वात्तदुक्तप्रतिषेधात्स्यात्कारणात्केवलाशनम् ॥३६॥

पूर्वोक्त (**पयो मा भुंक्ष्व**—तू दूध का सेवन मत कर) प्रतिषेध के कारण पय=संसृष्ट अन्न के भक्षण का वर्जन किया गया है, वह युक्त है। भोजन में दूध अप्रधान है। केवल दूध का सेवन व्रत में तथा औषध के रूप में किया जाता है। केवल ओदन=भात का भक्षण (खाना) हो सकता है।

व्रतधर्माच्च लेपवत् ॥३७॥

ब्रह्मचारी के लिए मांस आदि का निषेध है। मांस से संसृष्ट पदार्थों के सेवन से

उसके व्रत का लोप होता है, उसी प्रकार यहाँ भी पय से संसृष्ट पदार्थों का वर्जन हो जाएगा।

रसप्रतिषेधो वा पुरुषधर्मत्वात् ॥३८॥

उपर्युक्त कथन ठीक नहीं। व्रत पुरुष का धर्म होने से रस का प्रतिषेध है। पय=दूध का प्रतिषेध उस प्रकार का नहीं है, अतः प्रथम परिहार ही समुचित है।

अभ्युदये दोहापनयः स्वधर्मा स्यात्प्रवृत्तत्वात् ॥३९॥

चन्द्रोदय निमित्तक अभ्युदय-इष्टि में स्वधर्मा और इज्या के लिए शृत=पके हुए दूध तथा दधि इन दोनों द्रव्यों के धर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि वहाँ दही की भी आहुति दी जाती है और पके हुए दूध की भी।

शृतोपदेशाच्च ॥४०॥

शृत=पके हुए दूध के उपदेश से भी इज्यार्थ ही दही और पके हुए दूध के धर्म करने चाहिएँ।

अपनयो वार्थान्तरे विधानाच्चरुपयोवत् ॥४१॥

चरु और पयस के समान श्रपणरूप कार्यान्तर में विधान होने से इज्या के धर्म का अभाव है।

श्रपणानां त्वपूर्वत्वात्प्रदानार्थे विधानं स्यात् ॥४२॥

पूर्व०—पय आदि श्रपण का याग के लिए विधान है, अपूर्व कर्म होने से। सोम प्रदेय है। सोम की अपूर्वता होने से प्रदानार्थ पय का विधान होता है, अतः प्रदेश पयो-धर्म यहाँ पर करने ही चाहिएँ।

गुणो वा श्रपणार्थत्वात् ॥४३॥

सि०—पय सोम का गुणभूत द्रव्य है, प्रदेय नहीं है, क्योंकि पयस का उपयोग श्रपण अर्थात् मिश्रण के लिए है।

अनिर्देशाच्च ॥४४॥

और पयस का देवता के साथ निर्देश न होने से पयस गौण है, अतः उसमें प्रदेय के धर्म कर्त्तव्य नहीं हैं।

श्रुतेश्च तत्प्रधानत्वात् ॥४५॥

तथा, द्वितीया विभक्ति की (**पयसा सोमं श्रीणाति**) श्रुति होने से भी सोम की प्रधानता स्पष्ट है।

अर्थवादश्च तदर्थत्वात् ॥४६॥

और, अर्थवाद भी सोम की प्रधानता सूचित करने के लिए ही है।

संस्कारं प्रतिभावाच्च तस्मादन्यप्रधानम् ॥४७॥

सोम के संस्कार के लिए होने से भी पयस अप्रधान=गौण है।

पर्यग्निकृतानामुत्सर्गे तादर्थ्यमुपधानवत् ॥४८॥

पूर्व०—जैसे चरु का उपादान उपधानार्थ होता है, उसी प्रकार पर्यग्निकृत वन्य-पशुओं के उत्सर्ग में होता है, अर्थात् आलम्भन (छू) कर उन्हें छोड़ दिया जाता है।

शेषप्रतिषेधो वाऽर्थाभावादिडान्तवत् ॥४६॥

सि०—पर्यग्नि संस्कार करने के पश्चात् प्राकृत अङ्गों का प्रतिषेध है, कर्त्तव्यार्थ न होने से, ठीक उसी प्रकार जैसे आतिथ्य में इडान्त कर्म अन्य कर्मों का निवर्तक है।

पूर्ववत्त्वाच्च शब्दस्य संस्थापयतीति चाप्रवृत्ते नोपपद्यते ॥५०॥

और, पूर्व शब्द याग की प्रवृत्तिवाला है तथा आज्य के द्वारा शेष का संस्थापन होता है। यदि यागपूर्व प्रवृत्ति नहीं है, उत्सर्ग-मात्र ही है तो वहाँ 'संस्थापयति' शब्द उपपन्न नहीं होता, अतः शेष का प्रतिषेध ही सिद्ध होता है।

क्रिया वा स्यादवच्छेदादकर्म सर्वहानं स्यात् ॥५१॥

अथवा, अवच्छेद सत्र में क्रिया होनी चाहिए। जब याग होता है तो सभी याग-कर्म करने चाहिएँ। यदि याग न हो तो अकर्म हैं, संस्कारों का सर्वहान हो जाएगा, अतः कर्मशेष प्रतिबन्ध पक्ष में भी सभी कुछ करना चाहिए।

आज्यसंस्था प्रतिनिधिः स्याद् द्रव्योत्सर्गात् ॥५२॥

पूर्व०—द्रव्य के उत्सर्ग होने से आज्य की समाप्ति प्रतिनिधिभूत है।

समाप्तिवचनात् ॥५३॥

तथा, समाप्ति-वचन पाये जाने से भी यही सिद्ध होता है कि पूर्व की ही परिसमाप्ति है।

चोदना वा कर्मोत्सर्गादन्यैः स्यादविशिष्टत्वात् ॥५४॥

सि०—पूर्वकर्म की परिसमाप्ति होने से कर्मान्तर का विधान होता है, दोनों वाक्यों में समानता होने से।

अनिज्यां च वनस्पते प्रसिद्धाऽन्तेन दर्शयति ॥५५॥

अङ्गान्तर द्वारा वनस्पति-याग का अभाव बताया जाता है।

संस्था तद्देवतात्वात् स्यात् ॥५६॥

संस्था शब्द समाप्ति का वाचक है, पत्नीवत् देवताक होने से।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने नवमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

इति नवमोऽध्यायः ॥

दशमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

विधेः प्रकरणान्तरेऽतिदेशात्सर्वकर्म स्यात् ॥१॥

पूर्व०—प्रकृतियाग के प्रकरण में जिस-जिस कर्म का विधान है, उस सबका विकृतियाग में अतिदेश है, अतः प्रकृति में विहित सभी कर्म विकृति में भी करने चाहिएँ, चाहे वे लुप्त ही क्यों न हों।

अपि वाऽभिधानसंस्कारद्रव्यमर्थे क्रियते तादर्थ्यात् ॥२॥

सि०—अभिधान-संस्कार द्रव्य प्रयोजन होने पर ही किया जाता है; जहाँ प्रयोजन नहीं वहाँ नहीं होता, क्योंकि वह अन्य प्रयोजन के लिए ही आम्नात है, स्वार्थ के लिए नहीं।

तेषामप्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥३॥

कृष्णलों (सोने के टुकड़ों, वस्तुतः घुँघची =चिरमठी अथवा कोई अन्न-विशेष) का पाक इसलिए करना चाहिए क्योंकि श्रुति में स्पष्ट विधान कर दिया गया है।

इष्टिरारम्भसंयोगादङ्गभूतान्निवर्तेतारम्भस्य प्रधानसंयोगात् ॥४॥

प्रकृतियाग की दीक्षणीय-इष्टि में जो आरम्भणीया-इष्टि की जाती है, उसका ज्योतिष्टोम की दीक्षणीय में बाध हो जाता है, क्योंकि आरम्भ का सम्बन्ध प्रधान याग के साथ है।

प्रधानाच्चान्यसंयुक्तात्सर्वारम्भान्निवर्तेतानङ्गत्वात् ॥५॥

राजसूययाग में पशुयाग, सोमयाग आदि प्रधान कर्म हैं, उनके अन्तर्गत अनुमति आदि इष्टियाँ भी हैं। इन अनुमति इष्टियों में भी आरम्भणीया-इष्टि का बाध है, क्योंकि जो प्रधान कर्म दूसरे प्रधान कर्मों से जुड़े हैं, उनमें आरम्भणीय कर्म करने की आवश्यकता नहीं है।

तस्यां तु स्यात्प्रयाजवत् ॥६॥

पूर्व०—एक आरम्भणीया-इष्टि में दूसरी आरम्भणीया-इष्टि प्रयाज के समान करनी चाहिए।

न वाऽङ्गभूतत्वात् ॥७॥

सि०—आरम्भणीया-इष्टि में आरम्भणीया-इष्टि नहीं होती, क्योंकि वह तो दर्श-पौर्णमास की अङ्गभूत होती है।

एकवाक्यत्वाच्च ॥८॥

केवल एक ही वाक्य है जो आरम्भणीया का विधान करता है, अतः आरम्भणीया-इष्टि में आरम्भणीया नहीं होती।

कर्म च द्रव्यसंयोगार्थमर्थाभावान्निवर्तेत तादर्थ्यं श्रुतिसंयोगात् ॥९॥

द्रव्य के संयोग के लिए जो कर्म होता है, वह अर्थ का अभाव होने से निवृत्त हो जाता है, क्योंकि तादर्थ्य का श्रुति से संयोग होता है, अतः यूप करणार्थ जो यूपाहुति आदि संस्कार हैं, वे निरर्थक होने से निवृत्त हो जाते हैं।

स्थाणौ तु देशमात्रत्वादनिवृत्तिः प्रतीयेत ॥१०॥

पूर्व०—अग्नीषोमीय पशुयाग में स्थाणु में स्थाणु की आहुति श्रूयमाण होती है, यूप-संस्कार की भाँति स्थाणु में निवृत्ति की निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि वह उपकारक कर्म है।

अपि वा शेषभूतत्वात्संस्कारः प्रतीयेत ॥११॥

सि०—यूप का अङ्गभूत होने से आहुतिरूप कर्म की संस्कार में आवश्यकता प्रतीत होती है।

समाख्यानं च तद्वत् ॥१२॥

और, समाख्यान भी अवान्तर-प्रकरण यूप के अङ्गत्व का साधक है। समाख्यान स्थाणु-प्रधान आहुति का ही होता है।

मन्त्रवर्णश्च तद्वत् ॥१३॥

तथा, समाख्यान की भाँति मन्त्र-वर्णन भी अङ्गत्व में प्रमाण है।

प्रयाजे च तन्न्यायत्वात् ॥१४॥

प्रयाज में संस्कार-कर्म न्याय्य है। स्थाणु में आहुति और शेषभूत होने से उसका संस्कार उचित ही है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१५॥

तथा, इस पक्ष में प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

तथाऽऽज्यभागाग्निरपीति चेत् ॥१६॥

आक्षेप—उत्तम प्रयाज के समान आज्यभाग के अन्तर्गत होनेवाला अग्नियाग भी सन्निपत्य उपकारक है, यदि ऐसा कहो तो—

व्यपदेशाद्देवतान्तरम् ॥१७॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। व्यपदेश (वाक्य में निर्देश होने) से देवतान्तर (प्रधान देवता से भिन्न) का यजन किया जाता है।

समत्वाच्च ॥१८॥

और, याग तथा देवता दोनों ही प्रयोजनवाले हैं, अतः देवता की यागार्थता न्याय्य है। देवता के बिना याग नहीं हो सकता तथा उपकारक कर्मों से समत्व है।

पशावपीति चेत् ॥१९॥

आक्षेप—आज्यभागाग्नि याग जैसे आरादुपकारक है, उसी प्रकार पशु-पुरोडाश में भी आरादुपकारकत्व है, यदि ऐसा कहो तो—

न तद्भूतवचनात् ॥२०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, एक देवता प्रतिपादक वचन के पाये जाने से। जिस देवता का पशु है, उसी देवता का पुरोडाश होता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२१॥

प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी पशु-देवता-संस्कार के लिए पुरोडाश याग होता है।

गुणो वा स्यात्कपालवद्गुणभूतविकाराच्च ॥२२॥

पूर्व०—देवता अङ्ग है। जैसे कपाल श्रपण और तुषोपवपन में होता है, उसी प्रकार अग्नीषोमीय देवता अभिन्न पशुयाग और पुरोडाश याग में गुणभूत हो जाएँगे। इससे भी आरादुपकारकत्व सिद्ध होता है।

अपि वा शेषभूतत्वात्संस्कारः प्रतीयेत स्वाहाकारवदङ्गानामर्थसंयोगात् ॥२३॥

सि०—उक्त कर्म आरादुपकारक नहीं किन्तु देवता के संस्कार के लिए देवता-प्रयोजनवाला है। स्वाहाकार उच्चारण जैसे देवता-संस्कार के लिए है, उसी प्रकार उक्त कर्म भी देवता-संस्कार के लिए है, क्योंकि अङ्ग का प्रयोग के साथ सम्बन्ध होता है।

व्यृद्धवचनं च विप्रतिपत्तौ तदर्थत्वात् ॥२४॥

तथा, सौत्रामणी में पशु पुरोडाश और देवता की विप्रतिपत्ति के सम्बन्ध में व्यृद्ध=अङ्गलोप वचन देवता-संस्कार में ही अवकल्पित होता है।

गुणेपीति चेत् ॥२५॥

गुणपक्ष (पुरोडाश याग) में भी समान दोष है, यदि ऐसा कहो तो—

नासंहानात्कपालवत् ॥२६॥

उक्त कथन ठीक नहीं। जैसे कपालों का हान नहीं होता, उसी प्रकार पशु-देवता में भी हान नहीं होता।

ग्रहाणां च सम्प्रतिपत्तौ तद्वचनं तदर्थत्वात् ॥२७॥

और, सौत्रामणी में ग्रहों के देवता के सम्बन्ध में विवाद नहीं और जो ग्रहों में पुरोडाश सम्बन्धी वचन (ग्रहपुरोडाश ाह्य ते पशवः) है, वह ग्रह और पशु दोनों देवता-संस्कार के लिए हैं, अतः संस्कार पक्ष ही बलवान् है।

ग्रहाभावे तद्वचनम् ॥२८॥

तथा, यदि ग्रह देवता के संस्कार के लिए है तो पुरोडाश भी देवता के संस्कार के लिए है। 'नैतस्य पशोर्ग्रहं गृह्णन्ति'—यह वाक्य ग्रहों के अभाव का सूचक है, इस अभाव का प्रयोजन यह है कि ग्रह और पुरोडाश का प्रयोजन एक है।

देवतायाश्च हेतुत्वे प्रसिद्धं तेन दर्शयति ॥२९॥

अग्निदेवताक पशु होता है और पुरोडाश भी अग्निदेवताक है, अतः पुरोडाश भी देवता के संस्कार के लिए है।

अविरुद्धोपपत्तिरर्थापत्तेःशृतवद् गुणभूतविकारः स्यात् ॥३०॥

प्रधानभूत भी अग्नीषोमों में धर्मों की उपपत्ति अवरुद्ध होती है। अर्थापत्ति से प्रधानभूत भी प्राकृतकार्य याग-निवृत्ति को करते हुए दूरभूत धर्मों के द्वारा शृत=पके हुए दूध की भाँति पूज्यमान होते हैं।

स द्व्यर्थः स्यादुभयोः श्रुतिभूतत्वाद्विप्रतिपत्तौ तादर्थ्याद्विकारत्वमुक्तं तस्यार्थवादत्वम् ॥३१॥

याग दो प्रयोजनवाला होता है, एक देवता-संस्कारार्थ और दूसरा छिद्र ढकने के लिए। दोनों ही प्रयोजन वेदविहित होने से अर्थवान् हैं। संशय उत्पन्न होने पर उभयार्थक याग समझना चाहिए। विकृतियाग भी उसी के लिए है। 'पशोरेव' इत्यादि वाक्य अर्थवाद है।

विप्रतिपत्तौ तासामाख्याविकारः स्यात् ॥३२॥

जहाँ सन्देह होता हो, वहाँ देवताओं के नाम का विकार होता है।

अभ्यासो वा प्रयाजवदेकदेशोऽन्यदेवत्यः ॥३३॥

अथवा, पुरोडाश याग का अभ्यास है, उसका एक देश प्रयाज की भाँति भिन्न देवतावाला होता है।

चरुर्हविर्विकारः स्यादिज्यासंयोगात् ॥३४॥

याग के साथ सम्बन्ध होने से चरु शब्द का अर्थ हवि का विकार ही है।

प्रसिद्धग्रहणत्वाच्च ॥३५॥

पूर्व०—चरु स्थाली में प्रसिद्ध है। हिमालय से कन्याकुमारी तक इसी का प्रयोग भी देखा जाता है, अतः स्थाली में ही हवि का विकार भी होता है।

ओदनो वाऽन्नसंयोगात् ॥३६॥

सि०—अन्न अर्थात् अदनीय=खाने योग्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध होने से चरु शब्द का अर्थ ओदन=भात ही है।

न द्व्यर्थत्वात् ॥३७॥

पूर्व०—उक्त कथन ठीक नहीं। चरु शब्द का अर्थ ओदन मानने पर उसमें दो अर्थवाला होने का दोष आता है, क्योंकि चरु शब्द स्थाली में प्रसिद्ध है।

कपालविकारो वा विशयेऽर्थोपपत्तिभ्याम् ॥३८॥

अथवा, चरु कपाल का विकार ही है। संशय होने पर योग्यता और उत्पत्ति से अर्थ का निश्चय होता है।

गुणमुख्यविशेषाच्च ॥३९॥

और, गौण और मुख्य के विशेष हेतु से भी कपाल विकार होता है।

तत् श्रुतौ चान्यहविष्ट्वात् ॥४०॥

चरु की श्रुति में अन्य हवियों का भी सम्बन्ध होने से यही पक्ष सिद्ध होता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४१॥

प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी यही सिद्ध होता है कि चरु कपाल का विकार है।

ओदनो वा प्रयुक्तत्वात् ॥४२॥

सि०—चरु शब्द का ओदन में भी प्रयोग होने से ओदन भी हवि का विकार होता है।

अपूर्वव्यपदेशाच्च ॥४३॥

और, अपूर्व का व्यपदेश होने से भी ओदन के द्वारा ही हवि का विकार होता है।

तथा च लिङ्गदर्शनम् ॥४४॥

ऐसा मानने पर इसमें अन्य प्रमाण भी उपलब्ध हो जाते हैं।

स कपाले प्रकृत्या स्यादन्यस्य चाश्रुतित्वात् ॥४५॥

पूर्व०—ओदन का पाक आठ कपालों में करना चाहिए, क्योंकि दर्शपौर्णमास-रूप प्रकृति में कपालों की प्राप्ति होती है और अन्य कोई पात्र शास्त्र-विहित नहीं है, अतः इसका कोई नियम नहीं है। अर्थप्राप्त जिस किसी भी द्रव्य में पाक किया जा सकता है।

एकस्मिन् वा विप्रतिषेधात् ॥४६॥

आठ कपालों में पाक का अभ्यास होने से एक पाल में ही चरु का पाक किया जाना चाहिए।

न वाऽर्थान्तरसंयोगादपूपे पाकसंयुक्तं धारणार्थं चरौ भवति तत्रार्थात्पात्रलाभः स्यादनियमोऽविशेषात् ॥४७॥

अथवा, अर्थान्तर का संयोग होने से ओदन का पाक कपालों में नहीं करना चाहिए, क्योंकि कपाल की आवश्यकता तो अपूप=पुरोडाश के लिए होती है। चरु=ओदन में प्रयुक्त कपाल उदक=जल के धारण के लिए होता है। उदकगत ऊष्मा से ही ओदन का पाक होता है, कपालगत ऊष्मा से नहीं; अर्थापत्ति से पात्र का लाभ होता है। अमुक पात्र होना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है।

चरौ वा लिङ्गदर्शनात् ॥४८॥

सि०—चरु को स्थाली में ही पकाना चाहिए, कटाह अथवा कपालों पर नहीं, क्योंकि ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

तस्मिन्पेषणमनर्थलोपात्स्यात् ॥४९॥

पूर्व०—चरु में पेषण (पीसना) करना चाहिए, क्योंकि पेषणरूप अर्थ का लोप उसमें नहीं है।

अक्रिया वा अपूपहेतुत्वात् ॥५०॥

सि०—ओदन बनाने के लिए चावल का पेषण नहीं होता, पुरोडाश बनाने के लिए आटा पीसा जाता है।

पिण्डार्थत्वाच्च संयवनम् ॥५१॥

चरु का संयवन (पानी मिलाकर गूँधना) नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह पिण्ड बनाने के लिए है।

संवपनं च तादर्थ्यात् ॥५२॥

संवपन पुरोडाश में किया जाता है, क्योंकि वह उसी के लिए होता है।

सन्तापनमधः श्रपणात् ॥५३॥

सन्तापन का भी चरु=ओदन में बाध है, क्योंकि वह अधःश्रपण=पुरोडाश के नीचे के भाग को पकाने के लिए होता है।

उपधानं च तादर्थ्यात् ॥५४॥

उपधान भी अनावश्यक है। कपालों को आग पर रखने को 'उपधान' कहते हैं, भात में यह भी व्यर्थ है।

पृथुश्लक्ष्णे चाऽनपूपत्वात् ॥५५॥

और, चरु में प्रथन (लोई बनाने) तथा श्लक्षण (चिकना करने) का भी निषेध है, क्योंकि ये क्रियाएँ पुरोडाश में होती हैं।

अभ्यूहश्चोपरिपाकार्थत्वात् ॥५६॥

ओदन में अभ्यूहन का भी बाध है। पुरोडाश को करछुल से अङ्गारे लेकर ढक देते हैं, जिससे ऊपर का भाग पक जाए। भात में यह भी व्यर्थ है।

तथा च ज्वलनम् ॥५७॥

अवज्वलन (दर्भ के पूलों को जलाकर चारों ओर से गर्म करना) भी पुरोडाश के साथ होता है, भात में यह भी व्यर्थ है।

व्युद्धृत्याऽऽसादनं च प्रकृतावश्रुतित्वात् ॥५८॥

पुरोडाश को कपालों से उठाकर अलग रखते हैं। चरु में उसका भी बाध है, श्रुति में विधान न होने से।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

कृष्णलेष्वर्थलोपादपाकः स्यात् ॥१॥

पूर्व०—कृष्णल (सोने के टुकड़े) चरु में पाकरूप अर्थ के सम्भव न होने से अर्थ का लोप होता है, अतः कृष्णलों को पकाने की आवश्यकता नहीं है।

स्याद्वा प्रत्यक्षशिष्टत्वात्प्रदानवत् ॥२॥

सि०—कृष्णालों का पाक होना चाहिए, क्योंकि श्रुति में प्रत्यक्ष विधान है। कृष्णालों का अदन=भक्षण नहीं होता, उनका प्रदान होता है। इसका दृष्टफल तो नहीं है, अदृष्ट फल होगा।

उपस्तरणाभिघारणयोरमृतार्थत्वादकर्म स्यात् ॥३॥

कृष्णलों में उपस्तरण (उँडेलना) और अभिघारण (घी डालने) का बाध है, क्योंकि ये क्रियाएँ भात को स्वादिष्ट बनाने के लिए की जाती हैं।

क्रियेत वाऽर्थवादत्वात्तयोः संसर्गहेतुत्वात् ॥४॥

पूर्व०—कृष्णल में उपस्तरण और अभिघारण दोनों क्रियाएँ करनी चाहिएँ, क्योंकि प्रकरणान्तर में विधि का अतिदेश होने से समस्त कर्म होता है। स्वादुत्वकरण तो केवल अर्थवाद है। आज्य का संसर्ग-मात्र ही किया जाता है।

अकर्म वा चतुर्भिराप्तिवचनात्सह पूर्णं पुनश्चतुरवत्तम् ॥५॥

सि०—'चतुर्भिः' इस आप्तिवचन के होने से उपस्तरण और अभिघारण—दोनों की निवृत्ति हो जाती है। इनके साथ फिर पूर्ण चतुरवत्त ही हो जाता है और वहाँ पर आप्तिवचन का व्याघात हो जाता है। कृष्णल चार हैं और अवदान भी चार ही हैं, अतः एक-एक कृष्णल एक-एक अवदान के स्थान में होता है।

क्रिया वा मुख्यावदानपरिमाणात् सामान्यात्तद्गुणत्वम् ॥६॥

उपस्तरण और अभिघारण दोनों कर्म करने चाहिएँ, क्योंकि प्रकृति में मुख्य अवदान के परिमाण का कथन पाया जाता है। परिमाण स्वयं गुण=अङ्ग होने से मुख्य द्रव्य का बाध नहीं कर सकता, अतः उक्त दोनों क्रियाएँ की जानी चाहिएँ।

तेषां चैकावदानत्वात् ॥७॥

और, चारों कृष्णलों की एक ही अवदानता होती है, अतः उक्त दोनों क्रियाएँ करनी चाहिएँ।

आप्तिः संख्या समानत्वात् ॥८॥

संख्या की समानता होने से आप्तिवचन चतुःसंख्या की ही संस्तुति है, अतः उपस्तरण और अभिघारण क्रियाओं की निवृत्ति नहीं होती।

सतोस्त्वाप्तिवचनं व्यर्थम् ॥९॥

आक्षेप०—उपस्तरण और अभिघारण के विद्यमान होने से आप्तिवचन व्यर्थ ही होता है, क्योंकि ऐसी स्थिति में उसका कोई संस्तव नहीं होता।

विकल्पस्त्वेकावदानत्वात् ॥१०॥

पूर्व०—एक अवदान का कथन होने से उक्त दोनों क्रियाओं की निवृति होती है; इस लिङ्ग में विकल्प होता है।

सर्वविकारे त्वभ्यासानर्थक्यं हविषो हीतरस्य स्यादपि वा स्विष्टकृतः स्यादितरस्यान्यायत्वात् ॥११॥

पूर्व०—चारों कृष्णलों में सर्वावदान का विकार होने पर 'चत्वारि-चत्वारि' यह अभ्यास निरर्थक हो जाएगा। हमारे पक्ष में इतर हवि द्वितीय अवदान की अपेक्षा करके अभ्यास अवकल्पित होता है। स्विष्टकृत् के लिए अभ्यास चरितार्थ है, यदि ऐसा कहा जाए तो ठीक नहीं, क्योंकि प्रधान प्रकरण का त्याग करके अन्य प्रकरण का स्वीकार करना अन्याय है, अतः दोनों क्रियाएँ करनी ही चाहिएँ।

अकर्मा वा संसर्गार्थनिवृत्तित्वात् तस्मादाप्तिसमर्थत्वम् ॥१२॥

सि०—कृष्णलों में उतस्तरण और अभिघारण नहीं करने चाहिएँ। स्रुक् के साथ कृष्णल का संयोग न होने से प्रकृत प्रयोजन की निवृत्ति होती है और आप्तिवचन भी उपपन्न हो जाता है।

भक्षाणां तु प्रीत्यर्थत्वादकर्म स्यात् ॥१३॥

पूर्व०—भक्षों का प्रकृति में होना भक्षजन्य प्रीति के लिए होता है, अतः कृष्णल चरु में ये भक्ष नहीं करने चाहिएँ।

स्याद्वा निर्धानदर्शनात् ॥१४॥

सि०—'निर्धान' शब्द से कृष्णल के भक्षण का विधान है। खाते क्या हैं, चूस लेते हैं, क्योंकि श्रुति में विधान है।

वचनं त्वाज्यभक्षस्य प्रकृतौ स्यादभागित्वात् ॥१५॥

आक्षेप—अथवा, प्रकृतियाग में होने से यह वचन आज्य=घृत-भक्षण के लिए है, क्योंकि यह क्रिया कृष्णल चरु में शक्य नहीं है।

वचनं वा हिरण्यस्य प्रदानवदाज्यस्य गुणभूतत्वात् ॥१६॥

समा०—उक्त वचन 'हिरण्य' के लिए है, घृत के लिए नहीं। अदनीय=भक्षणीय पदार्थ के प्रदान के समान कृष्णल चरु का ही भक्षण है, क्योंकि आज्य तो गौण है।

एकधोपहारे सहत्वं ब्रह्मभक्षाणां प्रकृतौ विहितत्वात् ॥१७॥

सि०—एक समय में प्राकृत इडा आदि हवि के चार भाग करने में महत्त्व होता है, ब्रह्मा नामक ऋत्विज के भक्षभाग के प्रकृतियाग में विहित होने से।

सर्वत्वं च तेषामधिकारात्स्यात् ॥१८॥

पूर्व०—और, ब्रह्मा-सम्बन्धी भाग को सर्वत्व विहित है, अधिकार होने से।

पुरुषापनयो वा तेषामवाच्यत्वात् ॥१९॥

सि०—शेष हवि में ब्रह्मा का सम्बन्ध होने से दूसरों के सम्बन्ध की निवृत्ति है, क्योंकि अन्य ऋत्विजों का निर्देश नहीं है।

पुरुषापनयात्स्वकालत्वम् ॥२०॥

अन्य ऋत्विजों का अपनय हो जाने से यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक भक्षण यथासमय ब्रह्मा को ही करना चाहिए।

एकार्थत्वादविभागः स्यात् ॥२१॥

सम्पूर्ण चरु एक ब्रह्मा नामक ऋत्विज के लिए होने से विभाग की आवश्यकता नहीं है।

ऋत्विग्दानं धर्ममात्रार्थं स्याद्ददाति सामर्थ्यात् ॥२२॥

पूर्व०—ऋत्विजों को जो दान दिया जाता है, वह केवल धर्ममात्र है, क्योंकि उसकी कर्तव्यता सुनी जाती है और यह कर्तव्यता 'ददाति' शब्द की सामर्थ्य से सिद्ध है।

परिक्रयार्थं वा कर्मसंयोगाल्लोकवत् ॥२३॥

सि०—ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों में जो दक्षिणा दी जाती है, वह लोकव्यवहार के समान ऋत्विजों की सेवाओं के परिक्रय (खरीदने) के लिए पारिश्रमिकरूप में दी जाती है।

दक्षिणायुक्तवचनाच्च ॥२४॥

'दक्षिणायुक्ता वहन्त्यृत्विजः'—इस वचनरूपी प्रमाण से भी परिक्रय के लिए ही दान सिद्ध होता है।

परिक्रीतवचनाच्च ॥२५॥

'दक्षिणापरिक्रीता ऋत्विजो याजयन्ति'—इस वचन से यह अर्थ द्योतित होता है

कि दीक्षित ऋत्विज दक्षिणा से परिक्रीत होते हुए यज्ञ कराते हैं, अतः परिक्रयार्थ ही दान होता है।

सनिवन्ये च भृतिवचनात् ॥२६॥

याज्या से प्राप्त धन में भृति शब्द का प्रयोग होने से भी दान परिक्रयार्थ ही होता है।

नैष्कर्तृकेण संस्तवात् ॥२७॥

निष्कर्तृक (लकड़हारे) शब्द का प्रयोग होने से भी दान परिक्रयार्थ ही होता है। जैसे लकड़हारा पारिश्रमिक के लिए कार्य करता है, उसी प्रकार ऋत्विज भी दक्षिणा के लिए यज्ञ कराते हैं।

शेषभक्षाश्च तद्वत् ॥२८॥

पूर्व०—हविशेष का भक्षण भी दक्षिणा दान के ही समान परिक्रयार्थ होता है।

संस्कारो वा द्रव्यस्य परार्थत्वात् ॥२९॥

सि०—दक्षिणा भले ही परिक्रयार्थ हो परन्तु हवि का भक्षण परिक्रयार्थ नहीं है, वह तो द्रव्य के संस्कारार्थ होता है।

शेषे च समत्वात् ॥३०॥

जो द्रव्यशेष है, वह देवता के लिए संकल्पित है। उसका उपयोग न करने में यजमान और ऋत्विज दोनों समान हैं। इससे भक्षण का परिक्रयार्थ न होना ही सिद्ध होता है।

स्वामिनि च दर्शनात्तत्सामान्यादितरेषां तथात्वम् ॥३१॥

स्वामी=यजमान में शेष-भक्षण विहित है, क्योंकि इडा में भक्षण का वचन है, उसकी समानता होने से इतरों का भी परिक्रय नहीं होता।

वरणमृत्विजामानमनार्थत्वात्सत्रे न स्यात्स्वकर्मत्वात् ॥३२॥

सत्रों में न ऋत्विजों का वरण होता है, न उनकी सेवाओं का दक्षिणा द्वारा परिक्रय होता है, क्योंकि सत्र में तो सत्रह यजमान ही ऋत्विज होते हैं, कौन किसका वरण करे और किसको दान दे।

परिक्रयश्च तादर्थ्यात् ॥३३॥

सत्र परार्थ न होकर आत्मार्थ होता है, अतः सत्र में गौ, वस्त्र, हिरण्य=सुवर्ण आदि कुछ नहीं दिया जाता।

प्रतिषेधश्च कर्मवत् ॥३४॥

आक्षेप—प्राप्ति होने पर ही कर्म की भाँति प्रतिषेध होता है।

स्याद्वा प्रासर्पिकस्य धर्ममात्रत्वात् ॥३५॥

अथवा, प्रासर्पिक दान का प्रतिषेध होता है, क्योंकि सत्रों में धर्ममात्र=अदृष्टार्थ ही दान होता है, वह निवृत्त हो जाता है, अतः प्रतिषेध उपपन्न होता है।

न दक्षिणा शब्दात्तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ॥३६॥

दक्षिणा शब्द के होने से उसका ही प्रतिषेध होता है, प्रासर्पिक का नहीं।

ऋत्विग्दान दक्षिणा है, वह प्रासंगिक नहीं है। सत्र दक्षिणाहीन होते हैं, अतः नित्य प्राप्त का ही यह अनुवाद है।

उदवसानीयाः सत्रधर्मा स्यात्तदङ्गत्वात्तत्र दानं धर्ममात्रं स्यात् ॥३७॥

पूर्व०—उदवसनीय सत्र धर्मवाला होता है। उक्त सत्र का अङ्ग होने से उसमें दिया गया दान केवल अदृष्टार्थक है।

न त्वेतत्प्रकृतित्वाद्विभक्तचोदितत्वात् ॥३८॥

सि०—उदवसनीय इष्टि में दक्षिणा दी जाती है, क्योंकि वह सत्र का अङ्ग नहीं है। यह सत्र के पश्चात् की जाती है।

तेषां तु वचनाद्द्वियज्ञवत्सहप्रयोगः स्यात् ॥३९॥

पूर्व०—"सत्र से उठकर उदवसनीय=पृष्ठशमनीय सहस्र दक्षिणावाला ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए"—इससे यह अर्थ निकलता है कि पृष्ठशमनीय सत्र का अङ्ग नहीं है। राजपुरोहित-यज्ञवत् संहृत करके पृष्ठशमनीय करनी चाहिए।

तत्रान्यानृत्विजो वृणीरन् ॥४०॥

उदवसनीय इष्टि में सत्र के ऋत्विजों से भिन्न ऋत्विजों का वरण करना चाहिए।

एकैकशस्त्वविप्रतिषेधात्प्रकृतेश्चैकसंयोगात् ॥४१॥

सि०—संहृत करके पृष्ठशमनीय नहीं करनी चाहिए। यह इष्टि सत्र करनेवालों को अलग-अलग करनी चाहिए, क्योंकि इसमें प्रतिषेध नहीं है और प्रकृति में एक कर्त्ता का संयोग है

कामेष्टौ च दानशब्दात् ॥४२॥

पूर्व०—कामेष्टि में दान परिक्रयार्थ होता है, क्योंकि दान शब्द का प्रयोग किया गया है।

वचनं वा सत्रत्वात् ॥४३॥

सि०—'कामेष्टि' स्वयं सत्र नहीं है, 'सारस्वत' सत्र का अङ्गमात्र है। यह ऋत्विजों की सेवाओं का परिक्रय करने के लिए नहीं है, क्योंकि यहाँ भी ऋत्विज अलग नहीं होते। यह दान केवल धर्म के लिए है और अदृष्टफल की आकांक्षा से किया जाता है।

द्वेष्ये वा चोदनाद्दक्षिणापनयात् ॥४४॥

वैश्वानर इष्टि में एक वर्ष का बछड़ा शत्रु को दान में दिया जाता है। यह भी परिक्रय नहीं है, अपितु धर्ममात्र है, अदृष्टफल के लिए।

अस्थियज्ञोऽविप्रतिषेधादितरेषां स्याद्विप्रतिषेधादस्थ्नाम् ॥४५॥

अस्थियज्ञ[1] में हड्डियों से यज्ञ कराए। परन्तु हड्डियाँ तो यज्ञ कर नहीं सकतीं, अतः इसका अर्थ यह है कि जो हड्डीवाले हैं, उनसे संवत्सर अस्थियज्ञ कराया जाए।

---

१. सत्र के यजमानों में से कोई मर जाए तो उसका दाह करके हड्डियों को काले मृग के चमड़े में बटोर लाते हैं और उस मृतक के किसी सम्बन्धी को दीक्षित करके यजमान बना लेते हैं। इस प्रकार सत्र का कार्य चलता रहता है। वर्ष के अन्त में अस्थि-यज्ञ कराते हैं।

यावदुक्तमुपयोगः स्यात् ॥४६॥

जितनों में वह वचन है, उतने ही में वह हो सकता है। वह सब यजमानों को लक्षित नहीं कर सकता, अतः जीवितों का ही यज्ञ होता है।

यदि तु वचनात्तेषां जपसंस्कारमर्थलुप्तं सेष्टि तदर्थत्वात् ॥४७॥

यदि वचन से अस्थियों का यज्ञ होता है तो इसमें मन्त्रों के जाप, संस्कार (जैसे दाढ़ी मुँडाना) तथा दीक्षणीय इष्टि का बाध हो जाएगा।

क्रत्वर्थं तु क्रियेत गुणभूतत्वात् ॥४८॥

अस्थियाग में यजमान के कद के बराबर यूप को नापना तथा शुक्रग्रहपात्र का स्पर्श—ये दोनों कर्म होंगे, क्योंकि ये कर्म यज्ञ के गुणभूत हैं।

काम्यानि तु न विद्यन्ते कामाज्ञानाद्यथेतरस्यानुच्यमानानि ॥४९॥

अस्थियज्ञ में काम्य कर्म नहीं होंगे, क्योंकि अस्थियों में कोई कामना नहीं होती, जैसे जब तक कहा न जाए तब तक यज्ञकर्ता की कामनाओं का भी ज्ञान नहीं होता।

ईहार्थाश्चाभावात्सूक्तवाकवत् ॥५०॥

आयुष् आदि की प्रार्थना भी सूक्तवाक् में श्रूयमाण न होने से कर्तव्य नहीं हैं।

स्युर्वाऽर्थवादत्वात् ॥५१॥

पूर्व०—उक्त कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि ये विधियाँ नहीं हैं किन्तु अर्थवाद हैं, अतः ईहार्थ काम करने चाहिएँ।

नेच्छाभिधानात्तदभावादितरस्मिन् ॥५२॥

सि०—ये कर्म इच्छा-विधान हैं अर्थात् इच्छा उत्पन्न होने पर ही हो सकते हैं तथा जीवित में ही ये कार्य होते हैं। इतर अस्थियों में मन के न होने से नहीं होते, अतः ईहार्थ कर्म नहीं करने चाहिएँ।

स्युर्वा होतृकामाः ॥५३॥

पूर्व०—अस्थियों के होतृकाम करने चाहिएँ।

न तदाशीष्ट्वात् ॥५४॥

सि०—अस्थियों में होतृकाम नहीं करने चाहिएँ। यजमान ऋत्विक का आशीर्वाद चाहते हैं। यहाँ यजमान नहीं है, केवल अचेतन अस्थियाँ हैं और उनमें कामना नहीं है।

सर्वस्वारस्य दिष्टगतौ समापनं न विद्यते कर्मणो जीवसंयोगात् ॥५५॥

पूर्व०—यजमान के मरने पर 'सर्वस्वार' नामक क्रतु की समाप्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि कर्म का जीव से संयोग होता है, वह जीवित होते हुए ही किया जा सकता है।

स्याद्वोभयोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥५६॥

सि०—'सर्वस्वार' की परिसमाप्ति होती है, क्योंकि क्रतु और परिसमाप्ति—दोनों का ही प्रत्यक्ष विधान है।

गते कर्मास्थियज्ञवत् ॥५७॥

यजमान के घर जाने पर अस्थियाग की भाँति यागरूप कार्य हो जाएगा।

जीवत्यवचनमायुराशिषस्तदर्थत्वात् ॥५८॥

पूर्व०—जीवन की कामना करने का वचन होने से 'सर्वस्वार' में आयु के आशीर्वाद का वचन नहीं कहना चाहिए। आशीर्वाद जीवन की कामना करनेवाले के लिए होता है।

वचनं वा भागित्वात्प्राग्यथोक्तात् ॥५९॥

सि०—आयु का आशीष-भागी होने से आयु का आशीर्वचन करना ही चाहिए। आर्भव पवमान स्तोत्र पूर्ण होने तक यजमान जीवित रहने की इच्छा करता है, अतः जैसे अन्य क्रियाएँ की जाती हैं उसी प्रकार आयु के आशासूचक मन्त्रों का पाठ करना चाहिए।

क्रिया स्याद्धर्ममात्राणाम् ॥६०॥

द्वादशाह सत्र में 'दान' धर्ममात्र की भावना से अदृष्ट फल के लिए होने चाहिएँ।

गुणलोपे तु मुख्यस्य ॥६१॥

गौण (हवनी) का लोप होने पर भी प्रधान कर्म निर्वाप=हवि पकाने की क्रिया तो करनी ही चाहिए।

मुष्टिलोपात्तु संख्यालोपस्तद्गुणत्वात्स्यात् ॥६२॥

पूर्व०—मुष्टि का लोप होने पर ही संख्या का लोप मानना योग्य है, क्योंकि संख्या मुष्टि का गुण है।

न निर्वापशेषत्वात् ॥६३॥

सि०—संख्या मुष्टि का गुण नहीं अपितु निर्वाप=पाक का गुण है, अतः संख्या का बाध मानना उचित नहीं, मुष्टि का ही बाध होता है।

संख्या तु चोदनां प्रति सामान्यात्तद्विकारः संयोगाच्च परं मुष्टेः ॥६४॥

पूर्व०—विधानप्रमाणे सादृश्य चतुष्टय विकार और द्रव्य के मानने से मुष्टिविकार बाधित होता है।

न चोदनाभिसम्बन्धात्प्रकृतौ संस्कारयोगात् ॥६५॥

सि०—चार मुष्टि का सम्बन्ध प्रकृतियाग में निर्वाप संस्कार के साथ है और सत्रह शरावों का सम्बन्ध वाजपेय याग के साथ है। इस प्रकार भिन्न सम्बन्ध होने से दोनों का बाध नहीं हो सकता। चोदक वचन से चार मुट्ठी का बाध होकर सत्रह शरावे-भर का ही अनुष्ठान होना चाहिए।

औत्पत्तिके तु द्रव्यतो विकारः स्यादकार्यत्वात् ॥६६॥

उत्पत्ति से ही जातिविशिष्ट गुण शब्द में द्रव्य से विकार होता है, क्योंकि वह अकार्य है। चोदक की अपेक्षा से प्रत्यक्ष जाति का त्याग नहीं किया जा सकता। धेनु का अर्थ गाय है, दूध देनेवाली बकरी नहीं।

नैमित्तिके तु कार्यत्वात्प्रकृतेः स्यात्तदापत्तेः ॥६७॥

केवल गुण को निमित्त करके प्रवृत्त होनेवाला शब्द कार्य होने से प्रकृति में 'अज'

का ग्राहक है, अतिदेशशास्त्र की उत्पत्ति होने से। ('वायव्यं श्वेतमालभते'—में श्वेत का अर्थ है श्वेत बकरा।)

विप्रतिषेधे तद्वचनात्प्रकृतगुणलोपः स्यात्तेन कर्मसंयोगात् ॥६८॥

प्राकृत और वैकृत गुणों का विरोध होने पर वैकृत गुण का वचन मान्य होने से प्राकृत गुण का बाध होता है, समीपवर्ती यूप के साथ कर्म का संयोग होने से।

परेषां प्रतिषेधः स्यात् ॥६९॥

'खलेवाली' में यूप के तक्षण, जोषण और उच्छ्रयण (छीलना) आदि कर्मों की भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि 'खलेवाली' तो पहले से ही बनी होती है।

विप्रतिषेधाच्च ॥७०॥

और, विरोध होने से भी 'खलेवाली' में तक्षण आदि कर्म नहीं करने चाहिएँ, क्योंकि तक्षण आदि करने पर 'खलेवाली' का रूप नष्ट होकर वह अन्य द्रव्य बन जाएगा।

अर्थाभावे संस्कारत्वं स्यात् ॥७१॥

तक्षण आदि कार्यों का अभाव होने पर भी 'खलेवाली' में जिन संस्कारों (सुदृढ़ गाड़ना, तेल चुपड़ना) का फल दृष्ट है, वे तो करने ही चाहिएँ। इन कर्मों से वह दृढ़ हो जाती है।

अर्थेन च विपर्यासे तादर्थ्यात्तत्त्वमेव स्यात् ॥७२॥

गुण के लोप होने पर भी मुख्य क्रिया करनी चाहिए। महापितृयज्ञ में खीलों को भूनने से पहले थोड़ा छड़ लेना चाहिए, इससे उनका धानत्व नष्ट नहीं होता।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

विकृतौ शब्दवत्त्वात्प्रधानस्य गुणानामधिकोत्पत्तिः सन्निधानात् ॥१॥

पूर्व०—प्राकृत गुण से विलक्षण गुणवाले, प्राकृत अङ्गवाले अग्नीषोमीय पश्वादि में एकादशत्वादि विशिष्ट प्रयाज आदि विधायक शब्द होने से अप्राकृत गुणों की स्वतन्त्रता से उत्पत्ति है, मुख्य भावना का सन्निधान होने से।

प्रकृतिवत्त्वस्य चानुपरोधः ॥२॥

इस प्रकार 'पशुमालभते' इस वाक्य में 'प्रकृतिवत्' पद की कल्पना की आवश्यकता नहीं रहती।

चोदनाप्रभुत्वाच्च ॥३॥

और, प्रयाजादि विधि में 'एकादशप्रयाजान् यजति'—इस वाक्य का प्रभुत्व है, अतः प्रकृतियाग की इतिकर्तव्यता इनपर लागू नहीं है।

प्रधानं त्वङ्गसंयुक्तं तथाभूतमपूर्वं स्यात्तस्य विध्युपलक्षणात्सर्वो हि पूर्ववान्विधिरविशेषात्प्रवृत्तिः ॥४॥

सि०—प्राकृत कर्म जिस अङ्ग से संयुक्त होता है, उसी अङ्ग से संयुक्त विकृति

सामान्य है। विकृति में प्राकृत अङ्गों की उपलब्धि होने से विकृतियाग भी प्रकृतिपूर्वक होता है और सामान्य रूप से प्रवर्तित है, अतः इतिकर्तव्यता को प्राप्त होने पर यह गुण-विधि है।

न चाङ्गविधिरनङ्गे स्यात् ॥५॥

और, अङ्गरहित कर्म में अङ्ग की विशेष विधि नहीं होती।

कर्मणश्चैकशब्द्यात् सन्निधाने विधेराख्या संयोगो गुणेन तद्विकारः स्याच्छब्दस्य विधिगामित्वाद्गुणस्य चोपदेश्यत्वात् ॥६॥

प्रधानकर्म और गुणकर्म, प्रयोगवाचक एक शब्द से कहे गये हैं। प्रधान वचन से अङ्ग सन्निहित होता है। अङ्गविधि का नाम के साथ सम्बन्ध होता है। एकादशत्व संख्या-रूप गुण से विकार होता है। एकादशत्वादि शब्द प्रयाजादि विधिगामी है और गुण उपदेश करने योग्य है, इससे इतिकर्तव्यता प्राप्त होती है।

अकार्यत्वाच्च नाम्नः ॥७॥

नाम का सम्बन्ध न होने से भी इतिकर्तव्यता प्राप्त होती है और ये गुण-विधियाँ हैं।

तुल्या च प्रभुता गुणे ॥८॥

और विधिप्रत्ययशक्ति गुणकर्म और प्रधानकर्म में तुल्य है।

सर्वमेवं प्रधानमिति चेत् ॥९॥

इस प्रकार सभी कर्म प्रधान होते हैं, यदि ऐसा कहो तो—

तथाभूतेन संयोगाद्यथार्थविधयः स्युः ॥१०॥

उक्त कथन ठीक नहीं। दूसरे अध्याय में गुण और प्रधान के जैसे लक्षण बताये गये हैं, वैसा ही संयोग होने से यथार्थ विधियाँ हो जाएँगी।

विधित्वं चावशिष्टं वैकृतैः कर्मणा योगात्तस्मात्सर्वं प्रधानार्थम् ॥११॥

वैकृत कर्म के साथ विधित्व समान है, अर्थवाद के साथ सम्बन्ध होने से, अतः सभी प्रधानार्थ विकृति में गुणभूत होता है।

समत्वाच्च तदुत्पत्तेः संस्कारैरधिकारः स्यात् ॥१२॥

उत्पत्तिक्रम की समानता होने से प्रयाजादि का संस्कार के साथ सम्बन्ध होता है, इससे सब प्रधान नहीं है, कुछ प्रधानार्थ भी होता है।

हिरण्यगर्भः पूर्वस्य मन्त्रलिङ्गात् ॥१३॥

पूर्व०—'हिरण्यगर्भ' मन्त्र पूर्व आघार की गुणविधि है, मन्त्र में प्रयाजादि देवता की स्तुति होने से।

प्रकृत्यनुपरोधाच्च ॥१४॥

और, प्रकृति के अनुपरोध होने से भी यह पूर्व की गुणविधि ही है।

उत्तरस्य वा मन्त्रार्थित्वात् ॥१५॥

सि०—यह पूर्व की गुणविधि नहीं अपितु उत्तर की गुणविधि है। 'हिरण्यगर्भ' मन्त्र कार्यविशेष का विधायक है।

विध्यतिदेशात्तत् श्रुतौ विकारः स्याद्गुणानामुपदेश्यत्वात् ॥१६॥

आधार विधि का प्रकृति में अतिदेश होता है। उपदेश्य मन्त्रविशेष यहाँ उत्तर आधार में है और वह उत्तर में अङ्गभूत तदर्थ विज्ञान का साधक है, अतः पूर्व में नहीं, उत्तर में ही गुणविधि होती है।

पूर्वस्मिंश्चामन्त्रदर्शनात् ॥१७॥

और, पूर्व आधार में मन्त्रदर्शन नहीं है, अतः उत्तर की गुणविधि सिद्ध होती है।

संस्कारे तु क्रियान्तरं तस्य विधायकत्वात् ॥१८॥

पूर्व०—वाक्य पशुनियोजन का विधायक होने से और परिधि के सम्बन्ध से पशु का संस्कार होने से प्राकृत कर्म से यह भिन्न है और वह अदृष्टार्थक है।

प्रकृत्यनुपरोधाच्च ॥१९॥

और, प्रकृति के अनुपरोध होने से भी यह क्रियान्तर होता है।

विधेस्तु तत्र भावात्सन्देहे यस्य शब्दस्तदर्थः स्यात् ॥२०॥

सि०—नियोजनविषयक प्राकृत और प्रत्यक्ष विधियों का क्रतुविशेष में भाव होने से, सन्देह में जिसके उद्देश्य से परिधिरूप शब्द प्रयोज्य है, वह नियोजनार्थक है, अतः यह गुणविधि है।

संस्कारसामर्थ्याद्गुणसंयोगाच्च ॥२१॥

संस्कार का सामर्थ्य और गुणों का सम्बन्ध होने से कर्मान्तर नहीं होता।

विप्रतिषेधात्क्रिया प्रकरणे स्यात् ॥२२॥

सौत्रामणी प्रकरण में दृष्टार्थकता सम्भावित न होने से कर्म अपूर्व कर्म है।

षड्भिर्दीक्षयतीति तासां मन्त्रविकारः श्रुतिसंयोगात् ॥२३॥

पूर्व०—'षड्भिर्दीक्षयति'—इस श्रुति के साथ संयोग होने से प्राकृत आहुतियों का मन्त्र विकार होता है। वैकृत मन्त्रों से प्राकृत निवृत्त हो जाते हैं, अतः प्राकृतों का बाध है, समुच्चय नहीं है।

अभ्यासात्तु प्रधानस्य ॥२४॥

सि०—प्राकृत दीक्षा-आहुतियों की आवृत्ति=अभ्यास होने से समुच्चय है।

आवृत्त्या मन्त्रकर्म स्यात् ॥२५॥

आक्षेप—आवृत्ति होने पर भी मन्त्रकर्म होता है।

अपि वा प्रतिमन्त्रत्वात्प्राकृतानामहानिः स्यादन्याय्यश्च कृतेऽभ्यासः ॥२६॥

समा०—प्रत्येक मन्त्र में आहुतियाँ होने से प्राकृत मन्त्रों का अहान होता है। वैकृत मन्त्रों का प्रत्यक्ष पाठ है और प्राकृत मन्त्र अतिदेश से प्राप्त हैं, अतः दोनों प्रकरणों का समुच्चय हो सकता है। एक बार वैकृत मन्त्रों का पाठ होकर पुनः पाठ करना अन्याय है।

पौर्वापर्यञ्चाभ्यासे नोपपद्यते नैमित्तिकत्वात् ॥२७॥

और अभ्यास में पूर्वापर भाव उपपन्न नहीं होता, क्योंकि आगन्तुक नैमित्तिक होता है, इससे भी प्राकृत मन्त्रों का अहान है।

तत्पृथक्त्वं च दर्शयति ॥२८॥

'आग्निकी' और 'आध्वरिकी'—दोनों आहुतियों का पृथक्त्व बताया गया है, दोनों आहुतियाँ देनी चाहिए, इससे भी प्राकृत और वैकृत दोनों मन्त्रों का समुच्चय है।

न चाविशेषाद्व्यपदेशः स्यात् ॥२९॥

व्यपदेश होने से अनिवृत्ति समुच्चय है।

अग्न्याधेयस्य नैमित्तिके गुणविकारे दक्षिणादानमधिकं स्याद् वाक्यसंयोगात् ॥३०॥

पूर्व०—पुनः आधेय में दक्षिणारूप गुण का विकार प्राप्त होने पर अग्न्याधान का दक्षिणा-दान अधिक है, वाक्य का संयोग होने से, अतः अनिवृत्ति समुच्चय है।

शिष्टत्वाच्चेतरासां यथास्थानम् ॥३१॥

और, अन्य प्राकृत दक्षिणा का यथाक्रम विधान होने से भी दक्षिणाओं का समुच्चय है।

विकारस्त्वप्रकरणे हि काम्यानि ॥३२॥

सि०—समुच्चय नहीं होता किन्तु विकार=बाध है, क्योंकि अप्रकृतिभूत विकृति-याग में पुनराधेय की जो दक्षिणा होती है, वह वर्तमान=पिछले अग्न्याधान की है, पूर्व अग्न्याधान की नहीं अर्थात् दोनों दक्षिणाओं का समुच्चय नहीं होता। (यह नियम है कि नैमित्तिक कर्म में नित्य कर्म का बाध होता है, जैसे बीमार को खिचड़ी, रोटी के स्थान पर दी जाती है, रोटी के साथ खिचड़ी नहीं।)

शङ्कते च निवृत्तेरुभयत्वं हि श्रूयते ॥३३॥

'प्राकृत दक्षिणा दी जाएगी अथवा नहीं,' इस शंका का समाधान यह है कि पिछले अग्न्याधान में पहली दक्षिणाओं का बाध होगा, दोनों का समुच्चय नहीं होगा। श्रुति से यही सिद्ध होता है कि विकृति की दक्षिणा से दोनों का काम चल जाएगा।

वासो वत्सं च सामान्यात् ॥३४॥

और, वस्त्र अथवा पहलौठा वत्स (बछड़ा) कार्यसामान्य होने से पुनराधेय दक्षिणा का बाध करता है। (आग्रयण यज्ञ में वस्त्र या बछड़ा ही दान में दिया जाएगा, प्रकृति-याग में अन्वाहार्य नहीं दिया जाएगा।)

अर्थापत्तेस्तद्धर्मः स्यान्निमित्ताख्याभिसंयोगः ॥३५॥

प्राकृत मन्त्र आदि के उद्देश्यभूत दक्षिणा की प्राप्ति होने से वस्त्र या वत्स में अन्वाहार्य के धर्म होते हैं, मन्त्र निमित्त का दक्षिणा के साथ संयोग होने से। (अन्वाहार्य दक्षिणा के जो अन्य धर्म हैं, वे इस नई दक्षिणा में भी पालने पड़ेंगे। जैसे भात दिया जाता है, उसी प्रकार वस्त्र या वत्स भी दिया जाएगा।)

दाने पाकोऽर्थलक्षणः ॥३६॥

अन्वाहार्य धर्मों में भात का पाक भी कर्तव्य है परन्तु दान-साधन वत्स में उसकी निवृत्ति है, बछड़े को पकाया नहीं जाएगा।

पाकस्य चान्नकारित्वात् ॥३७॥

पाक तो ओदन आदि अन्न में कर्तव्य है, अतः वस्त्र में भी पाक की निवृत्ति है।

तथाभिघारणस्य ॥३८॥

इसी प्रकार अभिघारण = घी डालने की भी निवृत्ति है।

द्रव्यविधिसन्निधौ संख्या तेषां गुणत्वात्स्यात् ॥३९॥

पूर्व०—द्रव्यविधि की सन्निधि में जो संख्या शब्द है, द्रव्य का गुण होने से उसका प्रत्येक द्रव्य के साथ सम्बन्ध है।

समत्वात्तु गुणानामेकस्य श्रुतिसंयोगात् ॥४०॥

गुण और संख्या के समान होने से संख्या एक का ही निर्देश करती है, एक-एक का नहीं, श्रुति में स्पष्ट कथन होने से।

यस्य वा सन्निधाने स्याद्वाक्यतो ह्यभिसम्बन्धः ॥४१॥

अथवा, जिस शब्द के सन्निधान में संख्या शब्द उच्चारित होता है, उसी के साथ उसका अभिसम्बन्ध होता है।

असंयुक्तास्तु तुल्यवदितराभिर्विधीयन्ते तस्मात्सर्वाधिकारः स्यात् ॥४२॥

असंयुक्त संख्या केवल 'माषों' में होती है, अन्य द्रव्यों का श्रुति के साथ समानता से विधान है, अतः संख्या का सबके साथ सम्बन्ध है।

असंयोगाद्विधिश्रुतावेकजाताधिकारः स्यात् श्रुत्याकोपात्क्रतोः ॥४३॥

सि०—संख्या का दो द्रव्यों के साथ संयोग न होने से विधिवाक्य में किसी एक द्रव्य के साथ सम्बन्ध का अन्वय है। विधिवाक्य का कोप होने से यह द्रव्य का बोध न कराके क्रतु की बोधक है, अतः एकजातीय एक द्रव्य के साथ संख्या का सम्बन्ध है।

शब्दार्थश्चापि लोकवत् ॥४४॥

लौकिक भाषा की भाँति वेद में भी शब्दों का अर्थ होता है।

सा पशूनामुत्पत्तितो विभागात् ॥४५॥

सि०—संख्या पशुओं की उत्पत्ति से विभाग होने के कारण होती है अर्थात् पशुगण संव्यवहारों में लोकव्यवहार से संख्यापित हुआ करते हैं, अतः पशुओं के साथ संख्या का सम्बन्ध है।

अनियमोऽविशेषात् ॥४६॥

पूर्व०—पशुओं में गौओं का ही दान करना चाहिए, ऐसा कोई विशेष नियम नहीं बताया गया है।

भागित्वाद्वा गवां स्यात् ॥४७॥

सि०—गौ महान् उपकार करनेवाली है, अतः गौओं का दान करना चाहिए।

प्रत्ययात् ॥४८॥

विशेष्य की आकांक्षा से शास्त्र में सर्वप्रथम गौ का ही प्रतिपादन है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४९॥

तथा, शास्त्रान्तर में भी गोदान के प्रमाण उपलब्ध होने से गौओं का ही दान करना चाहिए।

तत्र दानं विभागेन प्रदानानां पृथक्त्वात् ॥५०॥

प्रतिग्रहीताओं के अलग-अलग होने से गौओं का दान विभाग करके (दान लेने-

वालों की योग्यतानुसार) देना चाहिए।

परिक्रयाच्च लोकवत् ॥५१॥

जैसे लोक में स्वामी लकड़हारे आदि को विभाग करके मजदूरी देता है, उसी प्रकार विभाग करके दक्षिणा देनी चाहिए, क्योंकि यह परिक्रयार्थ है, केवल धर्म नहीं है।

विभागं चापि दर्शयति ॥५२॥

और, श्रुति भी विभाग का निर्देश करती है।

समं स्यादश्रुतित्वात् ॥५३॥

पूर्व०—सबको समान दक्षिणा देनी चाहिए, वैषम्य का श्रवण न होने से।

अपि वा कर्मवैषम्यात् ॥५४॥

अथवा, कर्मप्रमाणे वैषम्य भी होता है। जो अधिक कर्म करता है, उसे अधिक देना चाहिए। यह दूसरा पक्ष है।

अतुल्याः स्युः परिक्रये विषमाख्या विधिश्रुतौ परिक्रयान्न कर्मण्युपपद्यते दर्शनाद्विशेषस्य तथाभ्युदये ॥५५॥

सि०—दक्षिणा (पारिश्रमिक) समान नहीं होनी चाहिए। श्रुति-प्रमाण से ऋत्विजों में दक्षिणा का विभाग पारिश्रमिक के कारण विषम होता है। (किसी को आधा, किसी को चौथाई, किसी को तिहाई और ब्रह्मा तथा उद्गाता आदि को पूरा-पूरा भाग मिलता है) यह वैषम्य कर्म के कारण नहीं है, यह श्रुतिकृत वैषम्य है, जैसा कि 'अभ्युदय' नामक सत्र में विधान है।

तस्य धेनुरिति गवां प्रकृतौ विभक्तं चोदितत्वात्तत्सामान्यात्तद्विकारः स्याद्यथेष्टिर्गुणशब्देन ॥५६॥

पूर्व०—'भूयाग' की दक्षिणा एक धेनु विहित है। वह अतिदेश से प्राप्त गोरूप दक्षिणा का बाध करती है। प्रकृतियाग में गौ, अश्वादि भिन्न-भिन्न दक्षिणाएँ बताने से और धेनु तथा गौ के समान होने से उसका बाध होता है, जैसे इष्टि में विहित द्रव्य सूर्य आदि के साथ सम्बन्ध बताता है।

सर्वस्य वा क्रतुसंयोगादेकत्वं दक्षिणार्थस्य गुणानां कार्यैकत्वादर्थे विकृतौ श्रुतिभूतं स्यात्तया समवायाद्धि कर्मभिः ॥५७॥

सि०—इससे सर्वक्रतु दक्षिणा का बाध होता है। सर्वदक्षिणा का क्रतु के साथ सम्बन्ध होने से एकत्व अर्थात् समुच्चय है। क्रतु में जो गुण होता है, उसका मुख्य कार्य के साथ सम्बन्ध होता है। विकृति में जो श्रुति होती है, वह प्राकृत अर्थ का बाध करती है, अतः समुच्चय कर्म होने से धेनुरूप दक्षिणा सर्वदक्षिणी की निर्वर्तिका है।

चोदनानामनाश्रयाल्लिङ्गेन नियमः स्यात् ॥५८॥

यदि प्राकृत कार्य अनाश्रय हो तो लिङ्ग के द्वारा उसका नियम होता है, परन्तु यहाँ तो धेनुरूप दक्षिणा की स्पष्ट विधि है, अतः सर्वप्राकृत दक्षिणा का बाध है।

एका पञ्चेति धेनुवत् ॥५९॥

पूर्व०—एक गौ अथवा पाँच गौओं की दक्षिणा सर्वदक्षिणा की निर्वर्तिका है, जैसे उपर्युक्त प्रकरण में धेनु-दक्षिणा सर्वदक्षिणा की निर्वर्तिका है।

त्रिवत्सश्च ॥६०॥

'साद्यस्क' याग में तीन वर्ष के बछड़े की दक्षिणा से अन्य सब दक्षिणाओं का बाध हो जाता है।

तथा च लिङ्गदर्शनम् ॥६१॥

और, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त कथन की सिद्धि होती है।

एके तु श्रुतिभूतत्वात्संख्यया गवां लिङ्गविशेषेण ॥६२॥

सि०—'एकाम्' यह स्त्रीलिङ्ग है और गौ का विशेषण है, अतः प्राकृत संख्यायुक्त गौओं की निवृत्ति करता है। 'एकाम्' का सम्बन्ध दक्षिणा के साथ नहीं है, अतः साद्यस्क याग में विहित एक गाय की दक्षिणा प्राकृत संख्याविशिष्ट गौओं की निवृत्तिका है, अश्वादि की नहीं।

प्राकाशौ च तथेति चेत् ॥६३॥

आक्षेप—अश्वमेध याग में अध्वर्यु को दो सुवर्णमय दीपस्तम्भ देने का विधान है, अतः अन्य किसी दक्षिणा की आवश्यकता नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

अपि त्ववयवार्थत्वाद्विभक्तप्रकृतित्वाद्गुणेवन्ताविकारः स्यात् ॥६४॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। प्रकाश दक्षिणा अवयव कार्य के लिए है, कृत्स्न = सम्पूर्ण कार्य के लिए नहीं, क्योंकि अध्वर्यु आदि के भाग विभक्त होते हैं। 'प्रकाश' दक्षिणा अध्वर्यु की होने से अन्य दक्षिणाओं का बाध नहीं होता, वह तो देनी ही पड़ेगी।

धेनुवच्चाश्वदक्षिणा स ब्रह्मण इति पुरुषापनयो यथा हिरण्यस्य ॥६५॥

उपहव्य नामक एकाह याग में जो अश्व-दक्षिणा है, वह धेनु-दक्षिणा के समान सम्पूर्ण दक्षिणा की निवर्तिका है। वह ब्रह्मा को देय है, अन्य ऋत्विजों के लिए नहीं जैसे 'शतकृष्णल' याग में सुवर्ण की दक्षिणा केवल ब्रह्मा के लिए है।

एके तु कर्तृसंयोगात्स्रग्वत्तस्य लिङ्गविशेषेण ॥६६॥

पूर्व०—एक लिङ्गविशेष से कर्तृसंयोग होने से स्रक् = माला की भाँति अर्थ निवृत्त होते हैं।

अपि वा तदधिकाराद्धिरण्यवद्विकारः स्यात् ॥६७॥

सि०—दक्षिणा का अधिकार होने से हिरण्य के समान वह अश्व-दक्षिणा अन्य प्राकृतिक दक्षिणाओं का बाध करती है।

तथा च सोमचमसः ॥६८॥

पूर्व०—उसी प्रकार 'ऋतपेय' याग में 'सोमचमस' की दक्षिणा अन्य सब दक्षिणाओं का बाध करती है।

सर्वविकारो वा क्रत्वर्थे पशूनां प्रतिषेधात् ॥६९॥

सि०—क्रत्वर्थक दान में पशुदान का प्रतिषेध है, अतः वह सर्वदक्षिणाओं का बाध करता है।

ब्रह्मदानेऽविशिष्टमिति चेत् ॥७०॥

आक्षेप—ब्रह्मदान में भी पशुप्रतिषेधानुवाद अवकल्पित होता है, यदि ऐसा कहो तो—

उत्सर्गस्य क्रत्वर्थत्वात्प्रतिषिधस्य कर्मत्वान्न च गौणः प्रयोजनमर्थः स दक्षिणानां स्यात् ।।७१।।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। सोमचमस का दान क्रतु के लिए है। क्रतु में जो पशुदान है, प्रकृतियाग में उसका निषेध होने से सबके स्थान में चमस-दक्षिणा है। चमसरूप दक्षिणा का प्रयोजन गौण नहीं है, अतः सोमचमसरूप दक्षिणा सम्पूर्ण ऋतुदक्षिणा का बाध करती है।

यदि तु ब्रह्मस्तदूनं तद्विकारः स्यात् ।।७२।।

पूर्व०—यदि सोमचमस दान ब्रह्मा का भाग है तो वह दक्षिणा ब्रह्मभाग से ऊन=अल्प हो जाएगी। इस विचार से अन्य दक्षिणा दी जाया करेगी।

सर्वं वा पुरुषापनयात्तासां क्रतुप्रधानत्वात् ।।७३।।

सि०—दक्षिणाओं में क्रतु-प्रधानता होने से पुरुष-अपनय (अन्य ऋत्विजों के भाग का निषेध) किया जाता है कि वह ब्रह्मा को ही देना चाहिए।

यजुर्युक्तेऽध्वर्योर्दक्षिणा विकारः स्यात् ।।७४।।

पूर्व०—वाजपेय याग में यजुरथ (रथविशेष) अध्वर्यु को दिया जाता है, वह अन्य दक्षिणाओं का बाध करता है।

अपि वा श्रुतिभूतत्वात्सर्वासां तस्य भागो नियम्यते ।।७५।।

सि०—वाजपेय याग में श्रुति द्वारा सप्तदश रथ आदि बहुत-सी दक्षिणाओं का विधान है। इनमें यजुरथ अध्वर्यु को दिया गया, ऋग्युक्त रथ होता को और सामयुक्त उद्गाता को। शेष का सबमें यथायोग्य विभाग हुआ, अतः यजुरथ किसी का बाध नहीं करता।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

चतुर्थः पादः

प्रकृतिलिङ्गसंयोगात्कर्मसंस्कारं विकृतावधिकं स्यात् ।।१।।

नारिष्ठ आदि उपहोमों का प्रकृति के कार्य के साथ संयोग न होने से वह अदृष्ट फलवाला है, अतः उसका विकृति में समुच्चय है।

चोदनालिङ्गसंयोगे तद्विकारः प्रतीयेत प्रकृतिसन्निधानात् ।।२।।

प्राकृत विधि में संयोग होने से उसके विकार की प्रतीति होती है, क्योंकि वहाँ प्रकृतिलिङ्ग से संयोग होता है।

सर्वत्र तु ग्रहाम्नातमधिकं स्यात्प्रकृतिवत् ।।३।।

'बृहस्पति-सव' आदि विकृतियागों में ग्रहों का आम्नान होने से सर्वत्र बृहस्पति ग्रहों के साथ इन्द्रवायु ग्रहों का समुच्चय होता है, प्रकृतियाग के समान।

अधिकश्चैकवाक्यत्वात् ।।४।।

एकवाक्यता होने से भी समुच्चय होता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥५॥

और, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी समुच्चय होता है।

प्राजापत्येषु चाम्नानात् ॥६॥

तथा, वाजपेय याग में उपदिष्ट प्राजापत्य पशुओं के साथ अतिदिष्ट ऋतु पशुओं का समुच्चय होता है, आम्नान होने से।

आमने लिङ्गदर्शनात् ॥७॥

'सांग्रहरण' इष्टि में अनुयाजों का 'आमन' होमों के साथ समुच्चय होता है, प्रमाणों के उपलब्ध होने से।

उपगेषु शरवत्स्यात्प्रकृतिलिङ्गसंयोगात् ॥८॥

पूर्व०—उपगान करनेवालों में दर्भ में जैसे शर बाधक होता है, उसी प्रकार पत्न्युपगान बाधक होता है, प्राकृत उपगान के साथ सम्बन्ध होने से।

आनर्थक्यात्त्वधिकं स्यात् ॥९॥

सि०—ऋत्विगुपगान के साथ पत्न्युपगान का समुच्चय है, अनार्थक्य होने से।

संस्कारे चान्यसंयोगात् ॥१०॥

अञ्जन और अभ्यञ्जन संस्कार में दीक्षाकाल और सुत्याकाल का संयोग होने से समुच्चय है।

प्रयाजवदिति चेन्नार्थान्यत्वात् ॥११॥

प्रयाज के समान भिन्नकालिक होने से इसका बाध होता है, यदि ऐसा कहो तो—यह ठीक नहीं। भिन्न कार्य होने से बाध नहीं हो सकता।

आच्छादने त्वैकार्थ्यात्प्राकृतस्य विकारः स्यात् ॥१२॥

पूर्व०—प्राकृत और वैकृत—दोनों का एक ही आच्छादनरूप प्रयोजन होता है, अतः प्राकृत में अहत (कोरे) वस्त्रों का बाध होता है।

अधिकं वाऽन्यार्थत्वात् ॥१३॥

सि०—महाव्रत में तार्प्य आदि वस्त्रों का प्रकृतियाग के अहत-वस्त्रों के साथ समुच्चय होता है, भिन्न प्रयोजन होने से।

सामस्वर्थान्तरश्रुतेरविकारः प्रतीयेत ॥१४॥

सामगान में प्राकृत साम के साथ समुच्चय की प्रतीति होती है।

अर्थे त्वश्रूयमाणे शेषत्वात्प्राकृतस्य विकारः स्यात् ॥१५॥

प्राकृतफल श्रूयमाण न होने पर शेष होने से प्राकृत सामगान का बाध होता है।

सर्वेषामविशेषात् ॥१६॥

पूर्व०—कोई विशेष प्रमाण उपलब्ध न होने से विकृति पठित साम प्रकृति-पठित सभी सामों का निवर्तक होता है।

एकस्य वा श्रुतिसामर्थ्यात्प्रकृतेश्चाविकारात् ॥१७॥

सि०—श्रुति का सामर्थ्य होने से एक साम एक का ही निवर्तक होता है, प्राकृत साम का ग्रहण न होने से।

स्तोमविवृद्धौ त्वधिकं स्यादविवृद्धौ द्रव्यविकारः स्यादितरस्याश्रुतित्वात् ॥१८॥

जिस ऋतु में स्तोम की वृद्धि होती है, उसमें प्रकृति और विकृति सामों का समुच्चय होता है। दोनों का श्रवण न होने से आगम के द्वारा संख्यापूर्ति की जाती है। जिस ऋतु में स्तोम की वृद्धि नहीं होती, वहाँ सामरूप द्रव्य का बाध होता है।

पवमाने स्यातां तस्मिन्नावापोद्वापदर्शनात् ॥१९॥

पवमान स्तोत्र में 'आवाप' (पवमान स्तोत्रों में कुछ वृद्धि) और 'उद्वाप' (पवमान स्तोत्रों में कुछ घटाना) होता है, पवमान स्तोत्र में आवाप और उद्वाप दोनों का विधान होने से।

वचनानि त्वपूर्वत्वात् ॥२०॥

न्याय (दलील) के अभाव में वचन ही निर्णायक होने से पवमान स्तोत्रों में ही आवाप और उद्वाप हो सकता है।

विधिशब्दस्य मन्त्रत्वे भावः स्यात्तेन चोदना ॥२१॥

मन्त्र-सम्बन्धी देवतावाची शब्द का उच्चारण आवश्यक होने से याग और निर्वाप में उसी शब्द का उच्चारण होना चाहिए, उसी शब्द का विधान होने से (जैसे अग्नये स्वाहा के स्थान पर पावकाय स्वाहा नहीं पढ़ना चाहिए)।

शेषाणां वा चोदनैकत्वात्तस्मात् सर्वत्र श्रूयते ॥२२॥

शेष मन्त्रों में भी विधि की एकरूपता होने से सभी स्थानों पर विधिगत शब्दों का ही प्रयोग उपलब्ध होता है।

तयोत्तरस्यां ततौ तत्प्रकृतित्वात् ॥२३॥

उसी प्रकार सौर्यादि विकृतियाग में भी शब्द का नियम है, क्योंकि वह दर्श-पौर्णमास प्रकृतिवाला है।

प्रकृतस्य गुणश्रुतौ सगुणेनाभिधानं स्यात् ॥२४॥

प्राकृत अग्नि की गुणश्रुति में सगुण अग्नि का अभिधान करना चाहिए।

अविकारो वाऽर्थशब्दानपायात् स्याद् द्रव्यवत् ॥२५॥

पूर्व०—केवल अग्नि शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए। केवल अग्नि शब्द के प्रयोग से भी अर्थ का त्याग नहीं होता, द्रव्य की भाँति।

आरम्भासमवायाद्वा चोदितेनाभिधानं स्यादर्थस्य श्रुतिसमवायित्वा-दवचने च गुणशासनमनर्थकं स्यात् ॥२६॥

सि०—विधिविहित सगुण में अभिधान करना आरम्भ समवाय के कारण होता है। उत्पत्तिवाक्य में गुणविशिष्ट अग्नि आदि का बोध कठिन होने से केवल अग्नि शब्द का प्रयोग स्वीकार किया जाए तो गुण शासन निरर्थक हो जाएगा।

द्रव्येष्वारम्भगामित्वादर्थे विकारः सामर्थ्यात् ॥२७॥

द्रव्यों में आरम्भ समवाययुक्त होने से केवल गुणरहित द्रव्य का अभिधान इष्ट है, देवता का नहीं।

वृधन्वान्पवमानवद्विशेषनिर्देशात् ॥२८॥

पूर्व०—पवमान इष्टि में जैसे सगण देवता का अभिधान होता है, वैसे ही

'वृधन्वान्' अग्नि में भी करना चाहिए, क्योंकि विशेष का निर्देश है और वह निर्देश अर्थ-वाला होता है, अतः सगुण अग्नि का अभिधान होना चाहिए।

मन्त्रविशेषनिर्देशान्न देवताविकारः स्यात् ॥२९॥

सि०—मन्त्रविशेष के निर्देशक होने से देवता का विकार नहीं होता, अतः देवता का निर्गुण ही अभिधान करना चाहिए।

विधिनिगमभेदात्प्रकृतौ तत्प्रकृतित्वाद्विकृतावपि भेदः स्यात् ॥३०॥

पूर्व०—प्रकृति में विधि और निगम में भेद होने से विकृति में भी भेद होता है, तत्प्रकृतित्व होने से।

यथोक्तं वा विप्रतिपत्तेर्न चोदना ॥३१॥

सि०—यथोक्त वचन से ही अभिधान करना चाहिए, क्योंकि विधि और निगम की प्रतिपत्ति की चोदना नहीं है।

स्विष्टकृद्देवतान्यत्वे तच्छब्दत्वान्निवर्त्तेत ॥३२॥

पूर्व०—प्रकृतियाग में स्विष्टकृत् में जो देवता है, उसके भिन्न होने से और प्राकृत अग्निरूप अर्थविशिष्ट शब्द होने से स्विष्टकृत् शब्द की निवृत्ति होती है।

संयोगे वाऽर्थापत्तेरभिधानस्य कर्मजत्वात् ॥३३॥

सि०—स्विष्टकृत् सहित अग्नीवरुण अभिधान करना चाहिए, क्योंकि अर्थापत्ति से स्विष्टकृत् शब्द क्रियानिमित्तक है (अग्नि के अर्थ में अग्नि और वरुण श्रूयमाण होते हैं)।

सगुणस्य गुणलोपे निगमेषु गुणास्याने यावदुक्तं स्यात् ॥३४॥

पूर्व०—प्रकृति में सगुणस्थान में गुणलोप प्राप्त होने से मन्त्रों में जितना कहा गया है, वह होता है। इससे याग में ही लोप होता है, सब नियमों=मन्त्रों में नहीं।

सर्वस्य वैककर्म्यात् ॥३५॥

सि०—स्विष्टकृत् अग्निशब्द के गुण का लोप होना चाहिए, क्योंकि यागरूप प्रयोग एक है, अतः निगदों और निगमों में भी गुणरहित अग्निशब्द का अभिधान करना योग्य है।

स्विष्टकृदावापिकोऽनुयाजे स्यात् प्रयोजनवदङ्गानामार्थसंयोगात् ॥३६॥

समीपवर्ती अङ्गों का वाक्य में श्रूयमाण अर्थ के साथ संयोग होने से प्रयोजनवान् अग्नि की भाँति अनुयाज में स्विष्टकृत् आवापिक (संस्कार-सम्बन्धी) होता है।

अन्वाहेति च शस्त्रवत् कर्म स्याच्चोदनान्तरात् ॥३७॥

पूर्व०—'अन्वाह' इत्यादि शंसति की भाँति प्रधान कर्म है, स्वतन्त्र विधिविहित होने से।

संस्कारो वा चोदितस्य शब्दस्य वचनार्थत्वात् ॥३८॥

सि०—दर्शपौर्णमास के अनुयाजों में स्विष्टकृत् आहुति संस्कार के लिए है, स्वतन्त्र कर्म नहीं है, क्योंकि विहित जो वाचक शब्द है, वह दृष्टार्थ का बोधक है।

अवाच्यत्वान्नेति चेत् ॥३९॥

आक्षेप—विधि न होने से दृष्टार्थक नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

स्याद् गुणार्थत्वात् ॥४०॥

सभा०—उक्त कथन ठीक नहीं; गुणार्थक होने से 'अन्वह' प्रधान कर्म नहीं, संस्कार कर्म हैं।

मनोतायां तु वचनादविकारः स्यात् ॥४१॥

मनोता मन्त्र (त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोता) में वचन होने से अविकार होता है, ऊह नहीं होता।

पृष्ठार्थेऽन्यद्रथन्तरात्तद्योनिपूर्वत्वात् स्यादृचां प्रविभक्तत्वात् ॥४२॥

पूर्व०—पृष्ठस्तोत्र कार्य में रथन्तर से भिन्न जो कण्वरथन्तर-सामविहित है, वह ज्योतिष्टोम प्रकृतिवाला होने से रथन्तर योनि में गान करना चाहिए। बृहद् योनिभूत ऋचा के पृथक् होने से उसमें नहीं गाना चाहिए।

स्वयोनौ वा सर्वाख्यत्वात् ॥४३॥

सि०—कण्वरथन्तर शब्द सामविशेष में रूढ़ होने से कण्वरथन्तर की योनि में ही गाना चाहिए।

यूपवदिति चेत् ॥४४॥

यूप शब्द के समान संस्कार के निमित्त यह शब्द प्रवृत्त होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न कर्मसंयोगात् ॥४५॥

उक्त कथन ठीक नहीं। कर्म के साथ सम्बन्ध होने से कण्वरथन्तर स्वयोनि में ही गेय है।

कार्यत्वादुत्तरयोर्यथाप्रकृति ॥४६॥

पूर्व०—सामगानरूप कार्य प्रथम के अतिरिक्त अन्य दो ऋचाओं में भी होने से उन्हीं विशेष योनियों (ऋचाओं) पर गाया जाना चाहिए, रथन्तर आदि अन्य सामों की योनियों पर नहीं।

समानदेवते वा तृचस्याविभागात् ॥४७॥

सि०—तृच (तीन ऋचाओं) का अविभाग होने से सामगानरूप कर्म स्वयोनि उत्तरों में ही गेय होता है, क्योंकि सम्पूर्ण तृच का छन्द और देवता समान होता है।

ग्रहाणां देवतान्यत्वे स्तुतशस्त्रयोः कर्मत्वादविकारः स्यात् ॥४८॥

ग्रहों का देवता स्तुतशस्त्र मन्त्र के देवता से भिन्न होने पर ऊह नहीं होता, मन्त्र का ज्यों-का-त्यों प्रयोग होता है, क्योंकि स्तोत्र और शस्त्र प्रधान कर्म हैं।

उभयपानात्पृषदाज्ये दध्नोप्युपलक्षणं निगमेषु पातव्यस्योपलक्षणत्वात् ॥४९॥

पूर्व०—पृषदाज्य हविष् में दधि और घृत दोनों का पान होने से वह दधि का उपलक्षण है, क्योंकि मन्त्र में जो पीने योग्य वस्तु है, उसमें उपलक्षण है।

न वा परार्थत्वाद्यज्ञपतिवत् ॥५०॥

सि०—पर-प्रत्यायक (दूसरे के लिए) होने से दधि और आज्य—दोनों का मन्त्र में प्रयोग नहीं है।

स्याद्वा ग्रावाहनस्य तादर्थ्यात् ॥५१॥

पूर्व०—'दधि' पद का प्रक्षेप करना चाहिए, क्योंकि ग्रावाहन पातृ ग्रौर पेय—दोनों का स्मरण कराने के लिए है।

न वा संस्कारशब्दत्वात् ॥५२॥

सि०—दधि का उपलक्षण नहीं होता, क्योंकि दधिरूप अर्थ तो संस्कार के लिए है।

स्याद्वा द्रव्याभिधानात् ॥५३॥

पूर्व०—दधि शब्द का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि दधि भी द्रव्य की भाँति अभिहित है।

दध्नस्तु गुणभूतत्वादाज्यपानिगमाः स्युर्गुणत्वं श्रुतेराज्यप्रधानत्वात् ॥५४॥

सि०—दधि शब्द गौण होने से मन्त्रों में ग्राज्य शब्द का प्रयोग होना चाहिए। दधि को गुणत्व है, क्योंकि श्रुति में ग्राज्य की प्रधानता स्पष्ट रूप से बताई गई है।

दधि वा स्यात्प्रधानमाज्ये प्रथमान्त्यसंयोगात् ॥५५॥

पूर्व०—दधि प्रधान है, ग्राज्य में प्रथम ग्रौर ग्रन्त संयोग होने से। प्रथम संयोग उपलक्षण होता है ग्रौर ग्रन्त-संयोग ग्रभिघारण होता है, ग्रतः दधि का ही उपलक्षण करना चाहिए।

ग्रपि वाऽऽज्यप्रधानत्वाद्गुणार्थे व्यपदेशे भक्त्या संस्कारशब्दः स्यात् ॥५६॥

सि०—याग के सम्बन्ध से प्रयोजनवाला ग्राज्य ही प्रधान है। गुणार्थ होने से उपस्तरण ग्रादि भक्ति- ग्रर्थात् लक्षणा से प्रयुक्त हैं, ग्रतः दधि संस्कार के लिए है, मुख्य नहीं है।

ग्रपि वाऽऽख्याविकारत्वात्तेन स्यादुपलक्षणम् ॥५७॥

पूर्व०—संज्ञा का भेद होने से उस संज्ञा का मन्त्र में प्रयोग करना चाहिए।

न वा स्याद्गुणशास्त्रत्वात् ॥५८॥

सि०—ऊह नहीं करना चाहिए, क्योंकि शास्त्र में गुण का विधान है। भाव यह है कि 'ग्राज्यपान्' शब्द के स्थान में 'दधिपान्' नहीं कहना चाहिए।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

पञ्चमः पादः

ग्रानुपूर्व्यवतामेकदेशग्रहणेष्वागमवदन्त्यलोपः स्यात् ॥१॥

सि०—नियत क्रमवालों में एक देश (एक भाग) का ग्रहण होता है, ग्रन्तवालों का लोप होता है। ग्रन्त्य का लोप ग्रौर ग्राद्य का उपादान मुख्य होने से होता है, लोक-समाज में ग्रानेवालों की भाँति।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२॥

लोप ग्रौर उपादान में प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

विकल्पो वा समत्वात् ॥३॥

पूर्व०—आद्योपादान और अन्त्यलोप में कोई श्रुति नहीं है, दोनों समान हैं, अतः विकल्प होता है। कभी आरम्भवालों का और कभी अन्तवालों का लोप होता है।

क्रमादुपसर्जनोऽन्ते स्यात् ॥४॥

जहाँ क्रम निर्धारित होता है, वहाँ ही अप्रधान अन्त में आता है, अतः लोक-समाज का दृष्टान्त ठीक नहीं है।

लिङ्गमविशिष्टं संख्याया हि तद्वचनम् ॥५॥

जो लिङ्गवाक्य कहा गया है, वह भी विशिष्ट नहीं है, क्योंकि वह वचन तो केवल संख्या का बोध कराता है।

आवितो वा प्रवृत्तिः स्यादारम्भस्य तदादित्वाद्वचनादन्त्यविधिः स्यात् ॥६॥

सि०—आदि से प्रवृत्ति होनी चाहिए, क्योंकि प्रारम्भ सदा आदि से ही होता है परन्तु यदि श्रुति में विशेष आदेश हो तो अन्त्यविधि हो सकती है।

एकत्रिके तृचादिषु माध्यन्दिनछन्दसां श्रुतिभूतत्वात् ॥७॥

पूर्व०—'एकत्रिक' नामक क्रतु में माध्यन्दिन पवमान में तीन ऋचाओं में से प्रत्येक तृच की प्रथम ऋचा में गान होता है, क्योंकि श्रुति में तीन छन्दों का विधान पाया जाता है।

आदितो वा तन्न्यायत्वादितरस्यानुमानिकत्वात् ॥८॥

सि०—आद्य तृच में ही गान करना चाहिए, यही न्याय है। प्रत्येक तृच की पहली ऋचा से गान करना चाहिए, यह तो आनुमानिक है।

यथानिवेशञ्च प्रकृतिवत्संख्यामात्रविकारत्वात् ॥९॥

प्रकृति में तृच का जो क्रम संनिवेश है, उससे संख्या-मात्र का बाध है। क्रमानुग्रह मुख्य है, अतः आद्य तृच में ही गान होना चाहिए।

त्रिकस्तृचे धुर्ये स्यात् ॥१०॥

पूर्व०—धूर्साम-गान में जो त्रिकस्तोत्र है, वह तीनों ऋचाओं में ही होना चाहिए।

एकस्यां वा स्तोमस्यावृत्तिधर्मत्वात् ॥११॥

सि०—धूर्साम-गान एक ही ऋचा पर होगा, क्योंकि धूर्गान में उसी ऋचा को बार-बार दुहराना पड़ता है।

चोदनासु त्वपूर्वत्वाल्लिङ्गेन धर्मनियमः स्यात् ॥१२॥

विधिविहित द्विरात्रयाग में प्रायणीय और उदयनीयों में पूर्वत्व के असम्भव होने से विध्यन्त प्रवृत्त होता है। यह विध्यन्त लिङ्ग के द्वारा नियत किया जाता है।

प्राप्तिस्तु रात्रिशब्दसम्बन्धात् ॥१३॥

रात्रि (द्विरात्रम्, दशरात्रम्) का सम्बन्ध दोनों स्थानों पर है, अतः द्वादशरात्र धर्मों की द्विरात्र में प्राप्ति है।

अपूर्वासु तु संख्यासु विकल्पः स्यात्सर्वासामर्थवत्त्वात् ॥१४॥

विधिविहित संख्याओं में विकल्प होता है, क्योंकि इस प्रकार से सभी ऋचाओं का अर्थवत्व हो जाएगा।

स्तोमविवृद्धौ प्राकृतानामभ्यासेन संख्यापूरणमविकारात्संख्यायां गुणशब्दत्वादन्यस्य चाश्रुतित्वात् ॥१५॥

पूर्व०—स्तोम (स्तुति के साम मन्त्रों) की जहाँ वृद्धि होती है, वहाँ प्रकृति से विहित साम ऋचाओं में अभ्यास से संख्या की पूर्ति की जाती है, सन्निधान होने से। एकविंशति संख्या शब्द गुण होने से और अप्राकृत ऋचाओं के अशास्त्रीय होने से।

आगमेन वाऽभ्यासस्याश्रुतित्वात् ॥१६॥

सि०—अप्राकृत सामों की आगमों से संख्यापूर्ति करनी चाहिए, क्योंकि अभ्यास श्रूयमाण नहीं होता।

संख्यायाश्च पृथक्त्वनिवेशात् ॥१७॥

संख्या पृथक्त्व निवेशनी होती है, अतः उसकी पूर्ति आगम से ही करनी चाहिए।

पराक्छब्दत्वात् ॥१८॥

'पराक्' शब्द का प्रयोग होने से भी भिन्न-भिन्न साम-ऋचाओं से संख्या की पूर्ति करनी चाहिए, यही सिद्ध होता है।

उक्ताविकाराच्च ॥१९॥

और, निन्दा का श्रवण होने से भी अभ्यास नहीं है, आगम है।

अश्रुतित्वादिति चेत् ॥२०॥

आक्षेप—आगम भी श्रूयमाण नहीं होता, यदि ऐसा कहो तो—

स्यादर्थचोदितानां परिमाणशास्त्रम् ॥२१॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। एकविंश संख्या के कहने से स्पष्ट विधान है, अतः परिमाण बतानेवाले शास्त्र-प्रमाण से कार्य होना चाहिए।

आवापवचनं वाऽभ्यासे नोपपद्यते ॥२२॥

अभ्यास में आवाप-वचन भी उपपन्न नहीं होता, अतः आगम ही होता है।

साम्ना चोत्पत्तिसामर्थ्यात् ॥२३॥

और, सामों की उत्पत्ति भी आगम से ही पूरी होती है।

धुर्येष्वपीति चेत् ॥२४॥

आक्षेप—फिर तो धूर्साम में भी आवृत्ति=अभ्यास न होकर आगम होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

नावृत्तिधर्मत्वात् ॥२५॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि धूर्साम आवृत्ति के धर्मवाला है, वहाँ आगम नहीं होगा।

बहिष्पवमाने तु ऋगागमः सामैकत्वात् ॥२६॥

बहिष्पवमान नामक स्तोमवृद्धि में ऋचाओं का आगम करना पड़ता है, क्योंकि उनमें साम का एकत्व होता है।

अभ्यासेन तु संख्यापूरणं सामिधेनीष्वभ्यासप्रकृतित्वात् ॥२७॥

पूर्व०—प्रकृति में अभ्यास होने से सामिधेनियों में अभ्यास से ही संख्या की पूर्ति करनी चाहिए।

अविशेषान्नेति चेत् ॥२८॥

आक्षेप—अभ्यास और आगम में कोई विशेषता नहीं है, यदि ऐसा कहो तो—

स्याद्धर्मत्वात् प्रकृतिवदभ्यस्येताऽऽसंख्यापूरणात् ॥२९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। विकृति-धर्मता होने से ही अभ्यास होता है, पूर्व-प्रकृति की संख्या के समान। जब तक संख्या पूरी न हो, तब तक अभ्यास होना चाहिए।

यावदुक्तं वा कृतपरिमाणत्वात् ॥३०॥

सि०—शास्त्र में जितना निर्देश है, उतना ही अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि निश्चित परिमाण निर्दिष्ट किया गया है।

अधिकानाञ्च दर्शनात् ॥३१॥

अधिकों का दर्शन होने से भी अभ्यास नहीं है, आगम है।

कर्मस्वपीति चेत् ॥३२॥

आक्षेप—धूर्साम-गान में भी ऐसा ही होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न चोदितत्वात् ॥३३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ स्पष्ट विधान है, अतः आगम से ही संख्यापूर्ति करनी चाहिए।

षोडशिनो वैकृतत्वं तत्र कृत्स्नविधानात् ॥३४॥

पूर्व०—षोडशी का वैकृतत्व है अर्थात् षोडशी-ग्रह विकृतिविहित पदार्थ है, विकृति में उसका सम्पूर्ण विधान होने से।

प्रकृतौ चाऽभावदर्शनात् ॥३५॥

और, प्रकृति में षोडशी ग्रह के अभाव का दर्शन होने से प्रकृति में इसका निषेध भी है, अतः यह वैकृत है।

अयज्ञवचनाच्च ॥३६॥

तथा, किन्हीं स्थानों पर षोडशी से रहित ज्योतिष्टोम को अयज्ञ कहा है, अतः यह वैकृत है।

प्रकृतौ वा शिष्टत्वात् ॥३७॥

सि०—प्रकृति=ज्योतिष्टोम में विहित होने से षोडशी प्राकृत है।

प्रकृतिदर्शनाच्च ॥३८॥

और, प्रकृति में षोडशी के दर्शन होने से भी षोडशी प्राकृत है।

आम्नानं परिसंख्यार्थम् ॥३९॥

परिसंख्या के लिए षोडशी का विकृति में भी आम्नान है।

उक्तमभावदर्शनम् ॥४०॥

प्रकृति में षोडशी के अभावदर्शन से वैकल्पिक षोडशी होती है।

गुणादयज्ञत्वम् ।।४१।।

षोडशी को 'अयज्ञ' भक्ति से कहा गया है। पक्ष में यज्ञ न होने से वह वैकल्पिक है। पक्ष में अभाव होने से गौणवृत्ति से उसे अयज्ञ कहा जाता है। वस्तुतः षोडशी प्राकृत है और यह सिद्धान्त-पक्ष में ग्रहण होती है।

तस्याग्रयणाद्ग्रहणम् ।।४२।।

उस षोडशी-ग्रह का ग्रहण आग्रयण से करना चाहिए।

उक्थ्याच्च वचनात् ।।४३।।

पूर्व०—उक्थ्य से भी षोडशी का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि ऐसे प्रमाण पाये जाते हैं।

तृतीयसवने वचनात्स्यात् ।।४४।।

प्रमाण उपलब्ध होने से तृतीय सवन में भी षोडशी का ग्रहण करना चाहिए।

अनभ्यासे पराक्छब्दस्य तादर्थ्यात् ।।४५।।

'पराक्' शब्द अनभ्यास में होता है, क्योंकि उसका अवगम तादर्थ्य होता है, अतः उक्थ्य और आग्रयण से षोडशी का ग्रहण करना चाहिए।

उक्थ्यविच्छेदवचनाच्च ।।४६।।

और, विच्छेदक के उपलब्ध होने से उक्थ्य से भी षोडशी का ग्रहण करना चाहिए।

आग्रयणाद्वा पराक्छब्दस्य देशवाचित्वात्पुनराधेयवत् ।।४७।।

सि०—'पराक्' शब्द देशवाची होने से पुनराधेय की भाँति आग्रयण से ही षोडशी का ग्रहण करना चाहिए।

विच्छेदः स्तोमसामान्यात् ।।४८।।

विच्छेद—वचन स्तोम सामान्य के कारण है, अतः आग्रयण से ही षोडशी का ग्रहण करना चाहिए।

उक्थ्याऽग्निष्टोमसंयोगादस्तुतशस्त्रः स्यात्सति हि संस्थान्यत्वम् ।।४९।।

पूर्व०—षोडशी का उक्थ्य और अग्निष्टोम के साथ सम्बन्ध होने से यह स्तोत्र और शस्त्र से रहित होती है। यदि इसे स्तोत्र और शस्त्र से युक्त माना जाए तो भिन्न संस्था माननी पड़ेगी, अतः षोडशी स्तोत्र और शस्त्र से रहित ही होती है।

सस्तुतशस्त्रो वा तदङ्गत्वात् ।।५०।।

सि०—षोडशी स्तोत्र और शस्त्र सहित होती है, क्योंकि स्तोत्र और शस्त्र षोडशी के अङ्ग होते हैं।

लिङ्गदर्शनाच्च ।।५१।।

प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी यही सिद्ध होता है कि स्तोत्र और शस्त्र षोडशी के अङ्ग हैं।

वचनात्संस्थान्यत्वम् ।।५२।।

प्रमाणों के उपलब्ध होने से भिन्न संस्था भी मान्य है।

अभावादतिरात्रेषु गृह्यते ॥५३॥

पूर्व०—अङ्गिरस का द्विरात्र में अभाव होने से अङ्गिरस द्विरात्र में षोडशी का ग्रहण होता है।

अन्वयो वाऽनारभ्यविधानात् ॥५४॥

सि०—षोडशी का भी अन्वय इस ऋतु में होता है, क्योंकि अनारम्भ विधान होता है।

चतुर्थे चतुर्थेऽहन्यहीनस्य गृह्यते इत्यभ्यासेन प्रतीयेत भोजनवत् ॥५५॥

पूर्व—अहीन याग में चौथे-चौथे दिन में षोडशी का ग्रहण होता है, इसलिए एक अहीन में भोजन की भाँति अभ्यास प्रतीत होता है।

अपि वा संख्यावत्त्वान्नाहीनेषु गृह्यते पक्षवदेकस्मिन्संख्यार्थभावात् ॥५६॥

सि०—'चतुर्थे' पद संख्यावाचक होने से भिन्न-भिन्न अहीन यागों में षोडशी का ग्रहण होता है, क्योंकि एक में संख्या का प्रयोजन सफल नहीं होता।

भोजने च तत्संख्यं स्यात् ॥५७॥

और, जो 'भोजनवत्' कहा गया है, उससे चतुर्थ से अन्य चतुर्थ वहाँ पर कल्पित किया गया है।

जगत्साम्नि सामाभावादृक्तः साम तदाख्यं स्यात् ॥५८॥

जगत्साम में जगती छन्दवाली ऋचाओं का सम्बन्ध होने से, ऋचा के आधार पर यह नाम पड़ा है, साम के आधार पर नहीं, क्योंकि सम्पूर्ण सामवेद में जगत्संज्ञक साम का अभाव है।

उभयसाम्नि नैमित्तिकं विकल्पेन समत्वात्स्यात् ॥५९॥

पूर्व०—उभय सामवाले 'गोसव' आदि ऋतुओं में जहाँ बृहत् और रथन्तर दोनों सामों का गान होता है, वहाँ नैमित्तिक होने से विकल्प है, क्योंकि दोनों साम हैं।

मुख्येन वा नियम्यते ॥६०॥

अथवा, मुख्यत्व से नियम करना चाहिए।

निमित्तविघाताद्वा ऋतुयुक्तस्य कर्म स्यात् ॥६१॥

सि०—निमित्त का विघात होने से कोई अन्य ही ऋचा ऋतु के आधार पर ली जाएगी।

ऐन्द्रावायवस्याग्रवचनादादितः प्रतिकर्षः स्यात् ॥६२॥

पूर्व०—अग्र वचन होने से ऐन्द्रावायव ग्रह=पात्र का सबसे पूर्व ग्रहण होना चाहिए।

अपि वा धर्मविशेषात्तद्धर्माणां स्वस्थाने प्रतिकरणादग्रत्वमुच्यते ॥६३॥

सि०—ऐन्द्रावायव ग्रह विशेष धर्मवाले होने से उसी धर्म से पूर्णरूपेण युक्त हैं, अतः अग्रता का तात्पर्य है कि प्रकरणानुसार अपने स्थान में ही उनका अग्रत्व है। भाव यह है कि जहाँ मैत्रावरुण आदि ग्रह लिये जाते हैं, वहाँ ऐन्द्रावायव ग्रह उनसे पूर्व लिया जाएगा; ग्रह यथास्थान ही लेने चाहिएँ।

धारासंयोगाच्च ॥६४॥

धाराग्रहों का संयोग होने से सर्व की अग्रता का विधान नहीं है, अतः सबके आदि में प्रतिकर्ष नहीं करना चाहिए।

कामसंयोगे तु वचनादादितः प्रतिकर्षः स्यात् ॥६५॥

पूर्व०—जहाँ काम = फल का संयोग होता है, वहाँ ग्रह का सर्व आदि में प्रतिकर्ष होता है, क्योंकि ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

तद्देशानां वाऽग्रसंयोगात्तद्युक्ते कामशास्त्रं स्यान्नित्यसंयोगात् ॥६६॥

सि०—जहाँ 'अग्र' पद का सम्बन्ध उस-उस देश में स्थित ग्रहों के साथ है, वहाँ अग्रता का सम्बन्ध होने से स्वस्थान में फलबोधक विधि है, नित्य संयोग होने से। भाव यह है कि ग्रह का ग्रहण अपने नियत स्थान पर ही होगा।

परेषु चाग्रशब्दः पूर्ववत् स्यात्तदादिषु ॥६७॥

पूर्व०—ऐन्द्रावायव आदि ग्रह में श्रूयमाण 'अग्र' शब्द पूर्व अधिकरण के समान होता है। जिस-जिसकी अग्रता श्रूयमाण होती है, तदग्रों का कामसंयोग होता है।

प्रतिकर्षो वा नित्यार्थेनाग्रस्य तदसंयोगात् ॥६८॥

सि०—ऐन्द्रावायव से प्रतिकर्ष होता है, क्योंकि नित्यार्थ से अग्रता का काम = फल से संयोग नहीं होता।

प्रतिकर्षञ्च दर्शयति ॥६९॥

और, 'धारयेयुस्तं यं कामाय गृह्णीयुः' इत्यादि लिङ्गवाक्य भी प्रतिकर्ष के सूचक हैं।

पुरस्तादैन्द्रवायववादग्रस्य कृतदेशत्वात् ॥७०॥

अग्रता का स्थान निश्चित होने से आश्विन आदि ग्रहों का ऐन्द्रावायव ग्रहों से पूर्व प्रतिकर्ष होना चाहिए।

तुल्यधर्मत्वाच्च ॥७१॥

और, समानधर्मता होने से भी ऐन्द्रावायव ग्रह से पूर्व आश्विन आदि का ग्रहण करना योग्य है।

तथा च लिङ्गदर्शनम् ॥७२॥

प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त कथन की सिद्धि होती है।

सादनं चापि शेषत्वात् ॥७३॥

आसादन (वेदि पर यथास्थान रखना) भी अपकृष्ट होता है, क्योंकि वे ग्रहण के शेष हैं।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥७४॥

आसादन के प्रतिकर्ष में प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

प्रदानं चापि सादनवत् ॥७५॥

पूर्व०—प्रदान (आहुति देने) में भी आसादन के समान प्रतिकर्ष होता है, क्योंकि दोनों का परस्पर सम्बन्ध है।

न वा प्रधानत्वाच्छेषत्वात्सादनं तथा ॥७६॥

सि०—नहीं। प्रदान मुख्य कर्म है, अत: आसादन के समान प्रतिकर्ष (अदल-बदल) नहीं होगा।

त्र्यनीकायां न्यायोक्तेष्वाम्नानं गुणार्थं स्यात् ॥७७॥

पूर्व०—त्र्यनीक (द्वादशाह के पहले, पिछले और दसवें दिन को छोड़कर जो शेष नौ दिन हैं, उनका नाम त्र्यनीक है) में तीसरे दिन में अतिदेश शास्त्र से प्राप्त आग्रयणता न्याय्य है और पुन: कथन अर्थवाद=स्तुति के लिए है।

अपि वाऽहर्गणेष्वग्निवत्समानं विधानं स्यात् ॥७८॥

सि०—अहर्गणों में अग्निचयन के समान समान विधान है, अर्थवाद नहीं।

द्वादशाहस्य व्यूढसमूढत्वं पृष्ठवत्समानविधानं स्यात् ॥७९॥

पूर्व०—द्वादशाह पृष्ठ के समान व्यूढ और समूढरूप होने से समान विधान-वाला है।

व्यूढो वा लिङ्गदर्शनात्समूढविकारः स्यात् ॥८०॥

सि०—व्यूढ समूढ का विकार है। इस विषय में प्रमाण उपलब्ध होते हैं, अतः व्यूढ और समूढ दोनों समान विधानवाले नहीं हैं।

कामसंयोगात् ॥८१॥

काम का संयोग होने से व्यूढ समूढ का विकार है।

तस्योभयथा प्रवृत्तिरैककर्म्यात् ॥८२॥

व्यूढ और समूढ दोनों प्रकार के द्वादशाहों की प्रवृत्ति अविशेषतया होती है, क्योंकि दोनों की एक कर्मता है।

एकदशिनीवत् त्र्यनीका प्रवृत्तिः स्यात् ॥८३॥

पूर्व०—जैसे एकादशिन प्रकरण में आवृत्ति=अभ्यास है, उसी प्रकार त्र्यानीक में भी आवृत्ति है।

स्वस्थानविवृद्धिर्वाऽह्नामप्रत्यक्षसंख्यत्वात् ॥८४॥

सि०—स्वस्थान-विवृद्धिरूप आवृत्ति है, क्योंकि दिवसों की संख्या अप्रत्यक्ष है।

पृष्ठ्यावृत्तौ चाग्रयणस्य दर्शनात् त्रयस्त्रिंशे परिवृत्तौ पुनरैन्द्रवायवः स्यात् ॥८५॥

और, पृष्ठ्य की आवृत्ति में तेतीस दिनों में अग्रता का दर्शन होता है, पुनः दण्ड-कलित आवृत्ति में ऐन्द्रावायव होता है, अत: स्वस्थान में विवृद्धि होती है।

वचनात्परिवृत्तिरैकादशिनेषु ॥८६॥

एकादशिन प्रकरण में जो दण्डकलित आवृत्ति होती है, वह प्रमाण उपलब्ध होने से युक्त है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥८७॥

प्रमाण उपलब्ध होने से भी एकादशिन प्रकरण में दण्डकलित आवृत्ति स्वीकार करने योग्य है।

छन्दोव्यतिक्रमाद् व्यूढे भक्षपवमानपरिधिकपालमन्त्राणां यथोत्पत्तिवचनमूहवत्स्यात् ॥८८॥

व्यूढसंज्ञक द्वादशाह याग में मुख्य छन्दों का व्यतिक्रम होने से भक्ष, पवमान, परिधि और कपाल के मन्त्रों का जैसा पाठक्रम है, उसी प्रकार बोले जाएँगे। मन्त्रों में अदल-बदल नहीं होगा; ऊह केवल छन्दों में होगा।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य पञ्चमः पादः ॥

षष्ठः पादः

एकर्चस्थानानि यज्ञे स्युः स्वाध्यायवत् ॥१॥

पूर्व०—यज्ञ में रथन्तर आदि सामों का गान एक ही ऋचा में करना चाहिए, स्वाध्याय के समान।

तृचे वा लिङ्गदर्शनात् ॥२॥

सि०—यह गान एक ऋचा पर न होकर तीनों ऋचाओं पर होना चाहिए, लिङ्गबोधक प्रमाणों के उपलब्ध होने से।

स्वर्दृशं प्रति वीक्षणं कालमात्रं परार्थत्वात् ॥३॥

स्वर्दृक् शब्द के साथ वीक्षण का साक्षात् सम्बन्ध होता है, अन्यथा यह शब्द काल को लक्षित करता है, स्तुत्यर्थक होने से।

पृष्ठ्यस्य युगपद्विधेरेकाहवद्द्विसामत्वम् ॥४॥

पूर्व०—पृष्ठस्तोत्र का एकसाथ विधान होने से एकाह के समान दोनों सामों का एक दिन में अनुष्ठान करना चाहिए।

विभक्ते वाऽसमस्तविधानात्तद्विभागेऽप्रतिषिद्धम् ॥५॥

पूर्व०—'पृष्ठ्यः' पद में द्वन्द्व समास का अभाव और बहुव्रीहि समास का विधान होने से विभाग में भी बृहत् और रथन्तर का प्रतिषेध नहीं होता अर्थात् किसी दिन बृहत् साम का गान हो, किसी दिन रथन्तर का।

समासस्त्वेकादशिनेषु तत्प्रकृतित्वात् ॥६॥

पूर्व०—प्रकृति = ज्योतिष्टोम में सम्पूर्ण एकादशिनों का आलम्भ = दान होने से वहाँ पर समास होता है।

विहारप्रतिषेधाच्च ॥७॥

असमान अधिकरण का प्रतिषेध होने से अन्य दिनों में उन (पशुओं के आलम्भ) का प्रतिषेध किया जाता है और प्रायणीय में उनका आलम्भन होता है।

श्रुतितो वा लोकवद्विभागः स्यात् ॥८॥

सि०—द्वित्व (द्विवचनी) श्रुति होने से जैसे लोक में व्यवहार होता है, उसी प्रकार प्रायणीय और उदयनीय में विभाग होता है।

विहारप्रकृतित्वाच्च ॥९॥

और, विहार अर्थात् एक-एक पशु का दान प्रकृत है, इसलिए भी विभाग होना चाहिए।

यावच्छक्यं तावद्विहारस्यानुग्रहीतव्यं विशये च तदासत्तेः ॥१०॥

जहाँ तक हो सके विहार-वाक्य का अनुसरण करना चाहिए। संशय होने पर मुख्य प्रमाण के आधार पर निर्णय करना चाहिए।

त्रयस्तथेति चेत् ॥११॥

आक्षेप—यदि मुख्य वचन के आधार पर ही निर्णय होना है तो प्रायणीय में तीन ही पशुओं का आलम्भन=दान होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न समत्वात्प्रयाजवत् ॥१२॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, समान भाग होने से प्रयाज के समान। वस्तुतः साम्यत्व से ही प्रयाजवत् विभाग करना चाहिए।

सर्वपृष्ठे पृष्ठशब्दात्तेषां स्यादेकदेशत्वं पृष्ठस्य कृतदेशत्वात् ॥१३॥

पूर्व०—सर्वपृष्ठ में पृष्ठ शब्द के होने से रथन्तर आदि सभी पृष्ठों का एकदेशत्व है, क्योंकि पृष्ठ का स्थान पूर्व से ही निश्चित है।

विधेस्तु विप्रकर्षः स्यात् ॥१४॥

सि०—विधिवचन से देशभेद होता है।

वैरूपसामा क्रतुसंयोगात् त्रिवृद्वदेकसामा स्यात् ॥१५॥

पूर्व०—ज्योतिष्टोम याग की संस्था उक्थ्य में एक वैरूप साम होना चाहिए, क्योंकि साम का समग्र क्रतु के साथ सम्बन्ध है। जैसे त्रिवृत् अग्निष्टोम समग्र क्रतु में त्रिवृत्स्तोम है, उसी प्रकार उक्थ्य में भी एक साम होना चाहिए।

पृष्ठार्थे वा प्रकृतिलिङ्गसंयोगात् ॥१६॥

सि०—पृष्ठकार्य में ही वैरूप साम का निवेश है, प्रकृतिलिङ्ग के संयोग से।

त्रिवृद्वदिति चेत् ॥१७॥

आक्षेप—जैसे त्रिवृदग्निष्टोम में समग्र क्रतु में त्रिवृत्त्व का निवेश होता है, वैसे ही यहाँ भी होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न प्रकृतावकृत्स्नसंयोगात् ॥१८॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। प्रकृति में सम्पूर्ण क्रतु के साथ सम्बन्ध न होने से त्रिवृत्त्व नहीं है।

विधित्वान्नेति चेत् ॥१९॥

आक्षेप—जैसे धेनुविधि में क्रतु के साथ सम्बन्व है, वैसे ही यहाँ भी क्रतु के साथ सम्बन्ध होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न स्याद्विशये तन्न्यायत्वात्कर्माविभागात् ॥२०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। यह विधि धेनु के समान नहीं है। संशय की स्थिति में वह न्याय्य है, क्योंकि कर्मों का अभेद है।

प्रकृतेश्चाविकारात् ॥२१॥

और, प्रकृति=ज्योतिष्टोम का विकार न होने से भी सामों का कृत्स्न=सम्पूर्ण ऋतु संयोग नहीं है।

त्रिवृति संख्यात्वेन सर्वसंख्याविकारः स्यात् ॥२२॥

पूर्व०—त्रिवृदग्निष्टोम में त्रिवृत्=त्रैगुण्यरूप संख्या का विधान होने से हर वस्तु को तिगुना करना चाहिए, क्योंकि संख्यात्व सामान्य से सर्वसंख्या का विकार है।

स्तोमस्य वा तल्लिङ्गत्वात् ॥२३॥

सि०—त्रिवृदग्निष्टोम में केवल स्तोमों को ही त्रिवृत्=तिगुना करना पड़ता है। प्रमाणों से भी यही बात सिद्ध होती है।

उभयसाम्नि विश्वजिद्विभागः स्यात् ॥२४॥

पूर्व०—उभय सामवाले याग में विश्वजित् याग के समान विभाग होता है।

पृष्ठार्थे वाऽतदर्थत्वात् ॥२५॥

सि०—पृष्ठार्थ में दोनों का विनियोग है, अतः उनका विभाग न होकर समुच्चय है, क्योंकि उन दोनों का और कोई प्रयोजन नहीं है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२६॥

प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी यही सिद्ध होता है कि उभय सामवाले याग में रथन्तर और बृहत् दोनों सामों का समुच्चय है।

पृष्ठे रसभोजनमावृत्तेसंस्थिते त्रयस्त्रिंशेऽहनि स्यात्तदानन्तर्यात् प्रकृतिवत् ॥२७॥

पूर्व०—पृष्ठ में रसभोजन=घी या मधु का भक्षण विपरीत क्रम से करना चाहिए प्रकृतियाग के समान, त्रयस्त्रिंशत (तेतीसवें) अह् के संस्थित होने पर, क्योंकि इन दोनों में आनन्तर्य है।

अन्ते वा कृतकालत्वात् ॥२८॥

सि०—मधु या घृत-भक्षण षडह् के अन्त में होगा, क्योंकि इसका समय निर्धारित है।

अभ्यासे च तदभ्यासः कर्मणः पुनः प्रयोगात् ॥२९॥

पूर्व०—षडहरूप कर्म के पुनः-पुनः प्रयोग से षडह की आवृत्ति होने पर रस-भोजन की भी आवृत्ति होती है।

अन्ते वा कृतकालत्वात् ॥३०॥

सि०—कई षडह् होने पर रसभोजन अन्तिम षडह् के पश्चात् ही होगा, प्रत्येक षडह् के पश्चात् नहीं, क्योंकि इसके लिए समय का निर्धारण किया हुआ है।

आवृत्तिस्तु व्यवाये कालभेदात् ॥३१॥

व्यवधान होने पर कालभेद से आवृत्ति होती है। भाव यह है कि गवामयन यज्ञ में भक्ष प्रत्येक मास के अन्त में होना चाहिए।

मधु न दीक्षिता ब्रह्मचारित्वात् ॥३२॥

पूर्व०—सत्री लोग दीक्षित होते हैं। दीक्षित अवस्था में ब्रह्मचर्य का पालन करने से उन्हें मधु का भक्षण नहीं करना चाहिए।

प्राश्येत वा यज्ञार्थत्वात् ॥३३॥

सि०—यज्ञ में विशेष विधान होने से सत्री लोगों को मधु-भक्षण करना चाहिए। (जहाँ मधु का निषेध है, वहाँ मधु का अर्थ है शराब, परन्तु यहाँ मधु का अर्थ है शहद।)

मानसमहरन्तरं स्याद् द्वादशाहे व्यपदेशात् ॥३४॥

पूर्व०—भेद-व्यपदेश होने से 'मानसग्रह' द्वादशाह के पश्चात् होना चाहिए।

तेन च संस्तवात् ॥३५॥

द्वादशाह 'मानस' के द्वारा स्तुत होता है, इस स्तवन से भी भेद का ज्ञान होता है।

अहरन्ताच्च परेण चोदना ॥३६॥

और, 'मानसग्रह' का विधान द्वादशाह के पश्चात् होने से 'मानस' द्वादशाह से भिन्न दिवस का अङ्ग है।

पक्षे संख्या सहस्रवत् ॥३७॥

यदि तेरह दिन माने जाएँ तो बारह की संख्या का बाध होता है, यदि ऐसा कहा जाए तो द्वादश संख्या सहस्र संख्या (सहस्र संख्या हजार से अधिक के लिए भी प्रयुक्त होती है) के समान अधिक में भी प्रयुक्त होती है।

अहरङ्गं वांशुवच्चोदनाभावात् ॥३८॥

सि०—पृथक् विधान न होने से 'मानसग्रह' पृथक् कर्म नहीं है, अपितु द्वादशाह के दसवें दिन का अङ्ग है, सोमयाग में होनेवाले अंशुग्रह के समान।

दशमविसर्गवचनाच्च ॥३९॥

दशम विसर्ग-वचन से भी यही सिद्ध होता है कि 'मानसग्रह' दशम दिवस का अङ्ग है।

दशमेऽहनीति च तद्गुणशास्त्रात् ॥४०॥

'**दशमे अहनि**' इस वाक्य से भी 'मानसग्रह' दसवें दिन का अङ्ग है।

संख्यासामञ्जस्यात् ॥४१॥

'मानसग्रह' को दसवें दिवस का अङ्ग मानने पर संख्या का भी सामञ्जस्य हो जाता है।

पश्वतिरेके चैकस्य भावात् ॥४२॥

पशुओं के दान में एक के अतिरेक (बढ़ाने) से भी यही सिद्ध होता है कि 'मानसग्रह' अङ्ग है, कर्मान्तर नहीं है।

स्तुतिव्यपदेशमङ्गेनाविप्रतिषिद्धं व्रतवत् ॥४३॥

स्तुति का व्यपदेश व्रत की भाँति विप्रतिषिद्ध नहीं होता, क्योंकि अङ्ग से अङ्गी की स्तुति होती है।

वचनादतदन्तत्वम् ॥४४॥

वचन से तदनन्तता नहीं होती, अतः 'मानसग्रह' अङ्ग है, स्वतन्त्र कर्म नहीं। पत्नीसंयाज के पश्चात् 'मानसग्रह' का ग्रहण किया जाता है।

सत्रमेकः प्रकृतिवत् ॥४५॥

पूर्व०—सत्र में एक ही कर्त्ता=यजमान होता है, जैसे प्रकृति=ज्योतिष्टोम में एक ही यजमान होता है।

बहुवचनात्तु बहूनां स्यात् ॥४६॥

सि०—बहुवचन का प्रयोग होने से सत्र बहुतों द्वारा होना चाहिए, एक का बाध है।

अपदेशः स्यादिति चेत् ॥४७॥

आक्षेप—केवल क्रिया का सम्बन्ध होने से बहुवचन का प्रयोग है, यदि ऐसा कहो तो—

नैकव्यपदेशात् ॥४८॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, एक का व्यपदेश (दूसरे के साथ सम्बन्ध) होने से।

सन्निवापं च दर्शयति ॥४९॥

सन्निवाप का प्रयोग भी सत्र को बहुकर्तृक सिद्ध करता है।

बहूनामिति चैकस्मिन्विशेषवचने व्यर्थम् ॥५०॥

यदि केवल एक ही यजमान माना जाए तो बहुवचन का निर्देश निरर्थक हो जाएगा, अतः सत्र में एक नहीं, अनेक यजमान होते हैं, गृहपति उनमें सर्वश्रेष्ठ होता है।

अन्ये स्युर्ऋत्विजः प्रकृतिवत् ॥५१॥

पूर्व०—सत्र में प्रकृति=ज्योतिष्टोम की भाँति ऋत्विज यजमान से भिन्न होने चाहिएँ।

अपि वा यजमानाः स्युर्ऋत्विजामभिधानसंयोगात्तेषां स्याद्यजमानत्वम् ॥५२॥

सि०—यजमान ही ऋत्विज होते हैं, ऋत्विजों का नाम के साथ सम्बन्ध होने से उनका यजमानत्व है।

कर्तृसंस्कारो वचनादाधातृवदिति चेत् ॥५३॥

आक्षेप—वचन-सामर्थ्य से इन सबकी दीक्षा-संस्कार का विधान है, जैसा आधान में होता है, यदि ऐसा कहो तो—

स्याद्विशये तन्न्यायत्वात्प्रकृतिवत् ॥५४॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। संशय उत्पन्न होने पर यजमान ही ऋत्विज होते हैं, यही न्याय्य है, प्रकृति के समान।

स्वाम्याख्याः स्युर्गृहपतिवदिति चेत् ॥५५॥

आक्षेप—अध्वर्यु आदि शब्दों को भी गृहपति शब्द के समान यजमान का वाचक मानना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न प्रसिद्धग्रहणत्वादसंयुक्तस्य तद्धर्मेण ॥५६॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि जो प्रसिद्ध है, उसी का ग्रहण किया जाता

है। अध्वर्यु आदि से यजमान का ग्रहण नहीं हो सकता। ऋत्विक् धर्म से असंयुक्त=असम्बद्ध स्वामी की ही गृहपति आख्या (नाम) है।

बहूनामिति तुल्येषु विशेषवचनं नोपपद्यते ॥५७॥

बहुत यजमानों में जो गृहपति होता है, सत्रकर्ता कहलाता है, केवल यजमानों में विशेष वचन उपपन्न नहीं होता।

दीक्षिताऽदीक्षितव्यपदेशश्च नोपपद्यतेऽर्थयोर्नित्यभावित्वात् ॥५८॥

सत्र में दीक्षित और अदीक्षित का व्यवहार भी उपपन्न नहीं होता, क्योंकि वहाँ अर्थ (दीक्षित और अदीक्षित) का नित्य भाव है, अतः सत्र में सब कार्य यजमान द्वारा ही होते हैं।

अदक्षिणत्वाच्च ॥५९॥

सत्र में दक्षिणा भी नहीं दी जाती, क्योंकि वे स्वयं ही यज्ञ के स्वामी होते हैं। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि सत्र यजमान द्वारा ही सम्पन्न होता है।

द्वादशाहस्य सत्रत्वमासनोपायिचोदनेन यजमानबहुत्वेन च सत्रशब्दाभिसंयोगात् ॥६०॥

द्वादशाह सत्र भी होते हैं और अहीन भी। वे द्वादशाह सत्र हैं जिनमें 'आस' बैठने और 'उप+इ' कार्य आरम्भ करने आदि शब्द का प्रयोग होता है और जिसमें नियमानुसार सत्रह से कम और चौबीस से अधिक यजमान नहीं होते।

यजतिचोदनादहीनत्वं स्वामिनां चाऽस्थितपरिमाणत्वात् ॥६१॥

वे द्वादशाह अहीन कहलाते हैं जिनमें 'यजति' धातु का प्रयोग हो और यजमानों की संख्या निश्चित नहीं होती।

अहीने दक्षिणाशास्त्रं गुणत्वात् प्रत्यहं कर्मभेदः स्यात् ॥६२॥

पूर्व०—पौण्डरीक अहीन में जो दक्षिणा का विधान है, वह प्रतिदिन भिन्न-भिन्न होता है, क्योंकि वहाँ दक्षिणा गौण है और प्रतिदिन के कर्म में भी भिन्नता होती है।

सर्वस्य वैककर्म्यात् ॥६३॥

आक्षेप—पौण्डरीक याग ग्यारह दिन का एक कर्म है, अतः याग पूर्ण होने पर एक ही बार दक्षिणा देनी चाहिए।

पृषदाज्यवद्वाऽह्नां गुणशास्त्रं स्यात् ॥६४॥

समा०—'एक ही बार दक्षिणा देनी चाहिए'—ऐसा कहना ठीक नहीं। प्रतिदिन की दक्षिणाओं में भेद हो सकता है, पृषदाज्य के समान, क्योंकि यहाँ अहन=दिन प्रधान है और दक्षिणा गौण है, अतः प्रतिदिन दक्षिणा की आवृत्ति हो सकती है।

ज्योतिष्टोम्यस्तु दक्षिणाः सर्वासामेककर्मत्वात्प्रकृतिवत् तस्मात्तासां विकारः स्यात् ॥६५॥

आक्षेप—अहीन-याग विकार है, सम्पूर्ण कार्य के एक होने से। ज्योतिष्टोम की दक्षिणा भी एक होती है, प्रकृति के समान, अतः पौण्डरीक में भी दक्षिणा एक ही बार दी जानी चाहिए।

द्वादशाहे तु वचनात्प्रत्यहं दक्षिणाभेदस्तत्प्रकृतित्वात्परेषु तासां संख्याविकारः स्यात् ॥६६॥

समा०—द्वादशाह याग में प्रत्यक्ष वचन होने से प्रतिदिन अलग-अलग दक्षिणा दी जाती है। पौण्डरीक आदि याग भी द्वादशाह की प्रकृतिवाला है, अतः वहाँ भी कर्म के अनुसार दक्षिणा में भेद हो जाएगा।

परिक्रयाविभागाद्वा समस्तस्य विकारः स्यात् ॥६७॥

सि०—परिक्रया में विभाग न होने से समस्त का विकार होता है अर्थात् सम्पूर्ण यज्ञ को सम्पन्न करने के लिए ऋत्विक् का स्वीकार होता है, अतः दक्षिणा एक ही होनी चाहिए।

भेदस्तु गुणसंयोगात् ॥६८॥

द्वादशाह में जो भेद कथन है वह तो गुण (सुत्या-सम्बन्ध) के कारण है। पौण्डरीक याग में ऐसा कोई कथन नहीं है, अतः वहाँ दक्षिणा एक बार ही दी जाती है।

प्रत्यहं सर्वसंस्कारः प्रकृतिवत् सर्वासां सर्वशेषत्वात् ॥६९॥

पूर्व०—जैसे प्रकृति में समस्त दक्षिणा का संस्कार उसी समय हो जाता है, उसी प्रकार पौण्डरीक याग में भी करना चाहिए, क्योंकि यहाँ अहों=दिनों की प्रधानता है और दक्षिणा गौण है, अतः प्रतिदिन सारी दक्षिणा ले जानी चाहिए।

एकार्थत्वान्नेति चेत् ॥७०॥

आक्षेप—दक्षिणाओं का एकार्थत्व होने से प्रतिदिन उनके नयन (ले जाने) रूप संस्कार की आवश्यकता नहीं है, यदि ऐसा कहो तो—

उत्पत्तौ कालभेदात् ॥७१॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। दक्षिणाओं की उत्पत्ति में विशिष्ट काल का सम्बन्ध श्रूयमाण होता है, अतः भेद से ही संस्कार होना चाहिए, प्रतिदिन दक्षिणा ले जानी चाहिए।

विभज्य तु संस्कारवचनाद्द्वादशाहवत् ॥७२॥

सि०—पौण्डरीक याग का प्रकृतियाग है द्वादशाह, न कि ज्योतिष्टोम—ऐसा वचन है, अतः द्वादशाह के समान विभाग करके ही दक्षिणा ले जानी चाहिए।

लिङ्गेन द्रव्यनिर्देशे सर्वत्र प्रत्ययः साल्लिङ्गस्य सर्वगामित्वात् ॥७३॥

पूर्व०—लिङ्गवाक्य के द्वारा शब्द का निर्देश होने पर लिङ्गलक्षित सभी मानवी=मनु-सम्बन्धी ऋचाओं का बोध होता है, आग्नेय की भाँति लिङ्गवाक्य के सर्वगामी होने से।

यावदर्थं वाऽर्थशेषत्वादतोऽर्थेन परिमाणं स्यात्तस्मिंश्च लिङ्गसामर्थ्यम् ॥७४॥

सि०—जितनी मानवीय ऋचाओं से कार्यसिद्धि होती है, उतनी ऋचाओं का ग्रहण करना चाहिए, सबका नहीं। अर्थशेष होने से सामिधेनियों का ही उपादान होता है, उन्हीं में लिङ्गवाक्य का सामर्थ्य है।

आग्नेये कृत्स्नविधिः ॥७५॥

आग्नेय सूक्त में सम्पूर्ण मन्त्रों के अङ्गत्व का विधान है।

ऋजीषस्य प्रधानत्वादहर्गणे सर्वस्य प्रतिपत्तिः स्यात् ॥७६॥

ऋजीष के प्रधान होने से द्वादशरात्र आदि में सबकी प्रतिपत्ति=प्राप्ति होती है।

वाससि मानोपावहरणे प्रकृतौ सोमस्य वचनात् ॥७७॥

प्रकृति=ज्योतिष्टोम में सोम का मान=तोलना और उपावरण=बटोरना एक ही वस्त्र में हो जाता है, वचन के सामर्थ्य से। (प्रकृतियाग में जिस कपड़े पर तोलते हैं, उसी से बटोर भी लेते हैं, क्योंकि प्रकृतियाग एक ही दिन में समाप्त हो जाता है।)

तत्राहर्गणेऽर्थाद्वा सः प्रकृतिः स्यात् ॥७८॥

परन्तु द्वादशाह अहर्गण में (जो कई दिन चलते हैं) अर्थापत्ति से उपावहरण के लिए नया वस्त्र लाना चाहिए।

मानं प्रत्युत्पादयेत्प्रकृतौ तेन दर्शनादुपावहरणस्य ॥७९॥

पूर्व०—प्रकृति में उपावहरण के श्रवण से मान=तोलने के उद्देश्य से दूसरा वस्त्र लेना चाहिए।

हरणे वा श्रुत्यसंयोगादर्थाद्विकृतौ तेन ॥८०॥

सि०—सोम के उपावहरण के लिए ही अन्य वस्त्र की आवश्यकता होती है, क्योंकि यह भिन्न वस्त्र से किया जाता है। मान के लिए श्रुति में भिन्न वस्त्र के लिए निर्देश नहीं है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य षष्ठः पादः ॥

सप्तमः पादः

पशावेकहविष्ट्वं समस्तचोदितत्वात् ॥१॥

पूर्व०—अग्निषोम पशु में (सम्पूर्ण पशु घी, दूध आदि का साधन होने से) एक हवि की कल्पना होती है, समस्तरूप विधि पाये जाने से।

प्रत्यङ्गं वा ग्रहवदङ्गानां पृथक्कल्पनत्वात् ॥२॥

सि०—अङ्गों की पृथक् कल्पना होने से प्रत्येक अङ्ग में हवि का भेद होता है, ग्रह=पात्र के समान। (अङ्गरूप घृत आदि भी हवि के साधन हैं।)

हविर्भेदात्कर्मणोऽभ्यासस्तस्मात्तेभ्योऽवदानं स्यात् ॥३॥

पूर्व०—प्रत्येक अङ्ग पृथक् हवि है, अतः कर्म का भी अभ्यास होना चाहिए और इस प्रकार सब अवयवों (दूध, दही, घृत) आदि से आहुतियाँ दी जानी चाहिएँ।

आज्यभागाद्वा निर्देशात्परिसंख्या स्यात् ॥४॥

आक्षेप—जैसे गृहमेधीय में पञ्चम पक्ष में आज्यभाग का निर्देश है, वैसे ही यहाँ भी परिसंख्यार्थ सबका ग्रहण होता है।

तेषां वा द्व्यवदानत्वं विवक्षन्नभिनिर्दिशेत्पशोः पञ्चावदानत्वात् ॥५॥

समा०—पशु के घी, दूध आदि पाँच अवदान=अवयव श्रूयमाण होते हैं, उनमें से दो अवदानों की विवक्षा करते हुए उनका निर्देश किया जाता है।

अंसशिरोनूकसक्थिप्रतिषेधश्च तदन्यपरिसंख्यानेऽनर्थकः स्यात् प्रदानत्वात्तेषां निरवदानप्रतिषेधः स्यात् ॥६॥

पूर्व०—अंस, शिर, अनूकादि के प्रतिषेध से परिसंख्या नहीं होती। उनके निरवदान का प्रतिषेध किया जाता है, अतः यह सिद्ध है कि सभी अङ्गों द्वारा इज्या की जाती है।

अपि वा परिसंख्या स्यादनवदानीयशब्दत्वात् ॥७॥

सि०—अवदान विधिवाक्य के द्वारा होमार्थ को प्राप्त करता है, अतः अवदानीय शब्द होने से पक्षान्तर में परिसंख्या हो सकती है।

अब्राह्मणे च दर्शनात् ॥८॥

यागविशेष में ब्राह्मण से भिन्न के लिए अवशिष्ट हवि का भक्षण विहित है।

शृताशृतोपदेशाच्च तेषामुत्सर्गवदयज्ञशेषत्वं सर्वेषां न श्रपणं स्यात् ॥९॥

अग्निपक्व और अनग्निपक्व का उपदेश होने से भी परिसंख्या में उत्सर्गवत् अयज्ञ-शेषत्व होता है।

इज्याशेषात्स्विष्टकृदिज्येत प्रकृतिवत् ॥१०॥

पूर्व०—इज्या के शेषभूत में से स्विष्टकृत् होम करना चाहिए, जैसे प्रकृतियाग में होता है।

त्र्यङ्गैर्वा शरवद्विकारः स्यात् ॥११॥

सि०—तीन अङ्गों (पक्व, अपक्व और घृत) से स्विष्टकृत् होम करना चाहिए; जैसे शर नामक घास के विधान से कुशाओं का बाध होता है, वैसे ही केवल एक अङ्ग से स्विष्टकृत् होम नहीं करना चाहिए।

अध्यूघ्नी होतुस्त्र्यङ्गवदिडावविकारः स्यात् ॥१२॥

अध्यूघ्नी में होता के 'इडा' नामक भक्ष की कल्पना करनी चाहिए, त्र्यङ्गवत्=तीन अङ्गों के समान।

शेषे वा समवैति तस्माद्रथवन्नियमः स्यात् ॥१३॥

पूर्व०—'रथ' की भाँति यहाँ भी होतृभाग में नियम होता है। यदि अध्यूघ्नी अपूर्वा होती है तो वही इडा में होती है।

अशास्त्रत्वात्तु नैवं स्यात् ॥१४॥

सि०—इडा नामक भक्ष की अध्यूघ्नी में कल्पना करना अशास्त्रीय है।

अपि वा दानमात्रं स्याद्भक्षशब्दानभिसम्बन्धात् ॥१५॥

पूर्व०—भक्ष शब्द के साथ संयोग न होने से यह दान-मात्र है, इडा भक्षविकार नहीं है।

दातुस्त्वविद्यमानत्वादिडाभक्षविकारः स्याच्छेषं प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥१६॥

सि०—दाता के विद्यमान न होने से यह दान नहीं है। इडा के भक्ष का विकार ही होता है, शेष के प्रति समानता (जैसा यजमान है वैसा ही होता) होने से।

अग्नीधश्च वनिष्ठुरध्यूध्नीवत् ॥१७॥

अध्यूध्नी के समान वनिष्ठु भी अग्नीध ऋत्विक् के लिए होता है।

अप्राकृतत्वान्मैत्रावरुणस्याभक्षत्वम् ॥१८॥

पूर्व०—प्रकृति में विधान न होने से मैत्रावरुण नामक ऋत्विज के लिए हविशेष अभक्ष है।

स्याद्वा होत्रध्वर्युविकारत्वात्तयोः कर्माभिसम्बन्धात् ॥१९॥

सि०—मैत्रावरुण नामक ऋत्विज के लिए शेष हवि भक्ष है। मैत्रावरुण नामक ऋत्विज होता और अध्वर्यु का प्रतिनिधि है, उनके कर्मों के साथ सम्बन्ध होने से, अतः उसे भक्षत्व प्राप्त होता है।

द्विभागः स्याद्द्विकर्मत्वात् ॥२०॥

पूर्व०—होता और अध्वर्यु—दोनों का कार्य सम्पादन करने से मैत्रावरुण नामक ऋत्विज को दो भाग मिलने चाहिएँ।

एकत्वाद्वैकभागः स्याद् भागस्याश्रुतिभूतत्वात् ॥२१॥

सि०—दो भाग का कथन श्रूयमाण नहीं है, अतः एक ही भाग होना चाहिए, कर्म-निमित्तक लक्षण एक होने से।

प्रतिप्रस्थातुश्च वपाश्रपणात् ॥२२॥

पूर्व०—वपाश्रपण की भावना करने के कारण प्रतिप्रस्थाता नामक अध्वर्यु को भी हविःशेष का भक्षण होना चाहिए।

अभक्षो वा कर्मभेदात्तस्याः सर्वप्रदानत्वात् ॥२३॥

सि०—प्रतिप्रस्थाता के भक्षण का विधान नहीं है, क्योंकि कर्म में भेद है और सर्वप्रदान होने से शेष रहता ही नहीं है।

विकृतौ प्राकृतस्य विधेर्ग्रहणात्पुनः श्रुतिरनर्थकं स्यात् ॥२४॥

पूर्व०—गृहमेधीय प्रकरण में दर्शपूर्णमास की विधि का पुनः ग्रहण होने से श्रुति-वचन निरर्थक हो जाता है।

अपि वाऽऽग्नेयवद्द्विशब्दत्वं स्यात् ॥२५॥

अथवा, आग्नेय की भाँति दो वचनों से एक ही कर्म का विधान है।

न वा शब्दपृथक्त्वात् ॥२६॥

सि०—उक्त कथन ठीक नहीं। दृष्टान्त (अग्निमग्न आवह) में अग्नि शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों का सूचक है।

अधिकं वाऽर्थवत्त्वात् स्यादर्थवादगुणाभावे वचनादविकारे तेषु हि तादर्थ्यं स्यादपूर्वत्वात् ॥२७॥

अथवा, शास्त्रवचन अधिक=विशिष्ट अर्थ का बोधक है, क्योंकि 'आज्यभागौ

यजति'—यह वाक्य अर्थवाद, गुणवाद और प्राकृत धर्मों का प्रापक न होने से अपूर्व विधान है।

प्रतिषेधः स्यादिति चेत् ॥२८॥

आक्षेप—'आज्यभागौ यजति' से अतिरिक्त कर्म करने का निषेध है, यदि ऐसा कहो तो—

नाश्रुतत्वात् ॥२९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा कोई भी प्रतिषेधवचन श्रूयमाण नहीं होता।

अग्रहणादिति चेत् ॥३०॥

आक्षेप—अतिदेश से आज्यभागों का ग्रहण नहीं है, यदि ऐसा कहो तो—

न तुल्यत्वात् ॥३१॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि सभी अङ्ग समान हैं।

तथा तद्ग्रहणे स्यात् ॥३२॥

ऐसा मानने पर अतिदेश से आज्यभाग के ग्रहण करने का भी निषेध हो जाएगा।

अपूर्वतां तु दर्शयेद्ग्रहणस्यार्थवत्त्वात् ॥३३॥

सि०—ग्रहण की अर्थवत्ता होने से गृहमेधीय अपूर्व अर्थ का प्रतिपादक है।

ततोऽपि यावदुक्तं स्यात् ॥३४॥

गृहमेधीय प्रकरण में स्विष्टकृत् आदि जिस-जिसका प्रत्यक्ष वचन है, उन सबका अनुष्ठान होता है।

स्विष्टकृति भक्षप्रतिषेधः स्यात्तुल्यकारणत्वात् ॥३५॥

गृहमेधीय प्रकरण में प्राशित्रादि ऋत्विजों के लिए हविःशेष के भक्षण का प्रतिषेध है, तुल्य कारण होने से।

अप्रतिषेधो वा दर्शनादिडायां स्यात् ॥३६॥

पूर्व०—प्रतिषेध नहीं है, क्योंकि 'इडा' नामक हवि में भक्षण का श्रवण है।

प्रतिषेधो वा विधिपूर्वस्य दर्शनात् ॥३७॥

सि०—प्रतिषेध है, क्योंकि जो दर्शन=विधान कहा गया है, वह विधिपूर्वक भक्ष का ही होगा।

शंय्विडान्तत्वे विकल्पः स्यात् परेषु पत्न्यनुयाजप्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् ॥३८॥

पूर्व०—प्रायणीय और आतिथ्य इष्टियों में शंयुवाक और इडान्त भक्ष के पीछे जो कर्म की समाप्ति है, उसमें विकल्प होना चाहिए, अन्यथा पत्न्यनुयाज का प्रतिषेध निरर्थक हो जाएगा।

नित्यानुवादो वा कर्मणः स्यादशब्दत्वात् ॥३९॥

सि०—शंयुवाक के पश्चात् कर्म करने का कोई प्रमाण न होने से केवल अर्थवाद है।

प्रतिषेधवच्चोत्तरस्य परस्तात्प्रतिषेधः स्यात् ॥४०॥

पूर्व०—उत्तर के प्रतिषेध के सार्थक होने से पीछे के कर्मों का प्रतिषेध होता है।

प्राप्तेर्वा पूर्वस्य वचनादतिक्रमः स्यात् ॥४१॥

सि०—प्रथम शंयुवाक की प्रथम प्राप्ति है वचन से, अन्यथा शास्त्र का अतिक्रम हो जाएगा।

प्रतिषेधस्य त्वरायुक्तत्वात्तस्य च नान्यदेशत्वम् ॥४२॥

प्रतिषेध अनुष्ठान कर्म में 'त्वरा' शब्द का विधान होने से शंयुवाक का अन्यदेशत्व नहीं है।

उपसत्सु यावदुक्तमकर्म स्यात् ॥४३॥

पूर्व०—उपसद-कर्मों में जितना कहा गया है उतना ही नहीं करना चाहिए, अपितु अतिदेशशास्त्र से प्राप्त अवशिष्ट सब करना चाहिए।

स्रौवेण वाऽगुणत्वाच्छेषप्रतिषेधः स्यात् ॥४४॥

स्रौव (**स्रौवेण आघारमाघारयति**) वाक्य से आधार का विधान है, वही करना चाहिए, गौण होने से अवशिष्ट का प्रतिषेध है।

अप्रतिषेधो वा प्रतिषिध्य प्रतिप्रसववत् ॥४५॥

वस्तुतः प्रतिषेध नहीं है, यह तो प्रतिप्रसव=निषेध का निषेध है।

अनिज्या वा शेषस्य मुख्यदेवतानभीज्यत्वात् ॥४६॥

सि०—प्राकृत शेषहोम नहीं करना चाहिए, क्योंकि मुख्य देवता, जिसको आहुतियाँ प्रदान करनी हैं, एक (अग्नि) ही है।

अवभृथे बर्हिषः प्रतिषेधाच्छेषकर्म स्यात् ॥४७॥

पूर्व०—अवभृथ में बर्हि का निषेध होने से शेष समस्त कर्म करने चाहिएँ।

आज्यभागयोर्वागुणत्वाच्छेषप्रतिषेधः स्यात् ॥४८॥

अथवा, आज्यभागों के गौण होने से अवशिष्ट कर्मों का प्रतिषेध होता है।

प्रयाजानां त्वेकदेशप्रतिषेधादवाक्यशेषत्वं तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ॥४९॥

प्रयाजों में एकदेश (बर्हियाग) के प्रतिषेध से वाक्यशेषत्व नहीं होता, (शेष अङ्गों की प्राप्ति नहीं होती) अतः अतिदेशशास्त्र से प्राप्त **'आज्यभागौ यजति'** यह नित्यानुवाद है।

आज्यभागयोर्ग्रहणं नित्यानुवादो वा गृहमेधीयवत्स्यात् ॥५०॥

सि०—आज्यभागों का ग्रहण नित्यानुवाद=अर्थानुवाद नहीं, गृहमेधीय की भाँति यह अपूर्व अवभृथ है।

विरोधिनामेकश्रुतौ नियमः स्याद्ग्रहणस्यार्थवत्त्वाच्छरवच्च श्रुतितो विशिष्टत्वात् ॥५१॥

विरोधियों में किसी एक पदार्थ के श्रूयमाण होने पर नियम-विधि होती है तभी ग्रहणशास्त्र अर्थवाला होता है, अन्यथा प्राप्त अनुवादमात्र अनर्थक हो जाएगा। पक्षश्रुति प्रबल होने से यहाँ पर 'शर' के समान होता है।

उभयप्रदेशादिति चेत् ॥५२॥

आक्षेप—दोनों (खदिर और पलाश) का अतिदेश होने से नियम नहीं है, यदि ऐसा कहो तो—

शरेष्वपीति चेत् ॥५३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। यदि दोनों का अतिदेश माना जाए तो शरों में भी कुश का निवर्तन नहीं होगा।

विरोध्यग्रहणात्तथा शरेष्विति चेत् ॥५४॥

आक्षेप—विरोधी पदार्थों के ग्रहण न होने से शरों में भी ऐसा ही मानना पड़ेगा, यदि ऐसा कहो तो—

तथेतरस्मिन् ॥५५॥

समा०—इस भाँति इतर खदिर आदि में भी मानना पड़ेगा।

श्रुत्यानर्थक्यमिति चेत् ॥५६॥

आक्षेप—ऐसा मानने पर श्रुति निरर्थक हो जाएगी, यदि ऐसा कहो तो—

ग्रहणस्यार्थवत्त्वादुभयोरप्रतिपत्तिः स्यात् ॥५७॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। ग्रहणशास्त्र प्रयोजनवाला होने से दोनों की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः खदिर पलाश का निवर्तक है।

सर्वासाञ्च गुणानामर्थवत्त्वाद् ग्रहणमप्रवृत्ते स्यात् ॥५८॥

सर्व कामेष्टि-सम्बन्धी विधियों की और गुणों की अर्थवत्ता होने से अतिदेशशास्त्र से प्राप्त द्रव्य देवता में आकांक्षा न होने से कामेष्टि में विकृति में कहे द्रव्यदेवता का ग्रहण होता है। इस प्रकार प्राकृत द्रव्यदेवता के साथ विकृति द्रव्यदेवता का विकल्प तथा समुच्चय नहीं है।

अधिकं स्यादिति चेत् ॥५९॥

आक्षेप—समुच्चय अथवा विकल्प होता है, यदि ऐसा कहो तो—

नार्थाभावात् ॥६०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ आकांक्षा नहीं है।

तथैकार्थविकारे प्राकृतस्याप्रवृत्तिः प्रवृत्तौ हि विकल्पः स्यात् ॥६१॥

सि०—एक फलवाले खदिर और उदुम्बर द्रव्यविधि में प्राकृत खदिर की अप्रवृत्ति है, क्योंकि प्रवृत्ति होने पर विकल्प मानना पड़ेगा।

यावत् श्रुतीति चेत् ॥६२॥

आक्षेप—जितना विधान है उतना ही करना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न प्रकृतावशब्दत्वात् ॥६३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। प्रकृति और विकृति में कहे दोनों पदार्थों का ग्रहण करना शास्त्रविहित नहीं है।

विकृतौ त्वनियमः स्यात्पृषदाज्यवद्ग्रहणस्य गुणार्थत्वादुभयोश्च प्रदिष्टत्वाद् गुणशास्त्रं यदेति स्यात् ॥६४॥

पूर्व०—विकृति में विरोधियों में से किसी एक के ग्रहण का नियम नहीं है क्योंकि ग्रहण गौण है, पृषदाज्य के समान। दोनों के उपदिष्ट होने से जब व्रीहिरूप गुण विधायक शास्त्र की प्रवृत्ति होती है, तभी यवशास्त्र की प्रवृत्ति का बाध होता है, अत यव=जौ और व्रीहि=चावल का विकल्प है।

एकार्थ्याद्वा नियम्येत श्रुतितो विशिष्टत्वात् ॥६५॥

सि०—(व्रीहि और यव का) एक प्रयोजन होने से नियम-विधि है, किन्तु व्रीहियों को श्रुतिविशिष्टता हो जाने से यवों की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि आनुमानिक यवशास्त्र से श्रुति बलवती है।

विरोधित्वाच्च लोकवत् ॥६६॥

और, परस्पर विरोधियों में कभी सहप्रवृत्ति नहीं हो सकती, यह बात लोकव्यवहार से भी सिद्ध है।

क्रतोश्च तद्गुणत्वात् ॥६७॥

तथा, क्रतु का सम्बन्ध शुक्ल और कृष्ण व्रीहि के साथ होने से व्रीहि से ही याग करना चाहिए, यह सिद्ध होता है।

विरोधिनाञ्च तत् श्रुतावशब्दत्वाद्विकल्पः स्यात् ॥६८॥

विरोधियों में से किसी एक के श्रवण होने पर और अन्य के अतिदेश से प्राप्त होने पर अशब्दत्व होने से विकल्प हो जाता है।

पृषदाज्ये समुच्चयाद्ग्रहणस्य गुणार्थत्वम् ॥६९॥

पृषदाज्य में समुच्चय होने से आज्यग्रहण गुणार्थक है।

क्रत्वन्तरे वा तन्न्यायत्वात्कर्मभेदात् ॥७०॥

अथवा, दर्शपूर्णमास में कर्मभेद होने से चतुरवत्त दर्शन प्राप्त होता है।

यथाश्रुतीति चेत् ॥७१॥

आक्षेप—जिस यज्ञ में पञ्चावत्त श्रूयमाण होता है, वहाँ श्रुति के प्रमाण से कार्य करना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न चोदनैकत्वात् ॥७२॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि विधान एक होता है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य सप्तमः पादः ॥

अष्टमः पादः

प्रतिषेधः प्रदेशेऽनारभ्यः विधाने प्राप्तप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्पः स्यात् ॥१॥

पूर्व०—चोदकशास्त्र से प्राप्त और अनारभ्य विधान में प्रतिषेध होता है। प्रत्यक्ष और अतिदेशशास्त्र से प्राप्त का प्रतिषेध होने से विकल्प होता है।

अर्थप्राप्तवदिति चेत् ॥२॥

आक्षेप—जैसे लोक में अर्थ-प्राप्ति (विष खाना चाहिए या नहीं) में प्रतिषेध होता है, उसी प्रकार यहाँ भी प्रतिषेध है, यदि ऐसा कहो तो—

न तुल्यहेतुत्वादुभयं शब्दलक्षणम् ॥३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। तुल्य हेतु होने से प्राप्ति और प्रतिषेध दोनों ही शब्दलक्षण हैं, अतः विकल्प मानना ही ठीक है।

अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य विधिनामेकदेशः स्यात् ॥४॥

सि०—वाक्यशेष से प्रतिषेध ही मानना चाहिए। विधि के एकभाग में निषेध का सम्बन्ध होने से विकल्प मानना अन्याय्य है।

अपूर्वे चार्थवादः स्यात् ॥५॥

और, अपूर्व सोमयाग में आज्यभाग की प्राप्ति का अभाव होने से वह निषेध अर्थ-वाद है।

शिष्ट्वा तु प्रतिषेधः स्यात् ॥६॥

प्रथम विधान करने के पश्चात् निषेध करने पर वहाँ विकल्प होता है।

न चेदन्यं प्रकल्पयेत्प्रक्लृप्तावर्थवादः स्यादानर्थक्यात्परसामर्थ्यात् ॥७॥

अन्य विधेय का विधान न होने पर विकल्प होता है और अन्य का विधान होने पर विहित का अर्थवाद होता है। पर-द्रव्य के विधान के सामर्थ्य से और निषेध के व्यर्थ होने से।

पूर्वैश्च तुल्यकालत्वात् ॥८॥

पूर्वाधिकरण के समान योग-क्षेम होने से अर्थवाद है। चातुर्मास्य याग में त्र्यम्बक आहुतियों में अभिघारण या अनभिघारण का उल्लेख केवल अर्थवाद है, न विधि है, न निषेध।

उपवादश्च तद्वत् ॥९॥

और, उपवाद (उपशब्द से आरम्भ होनेवाला वाक्य **'उपवीता वा ऐतस्य'** इत्यादि) भी शिष्टा के समान समझना चाहिए, अर्थात्, ब्रह्मा के सामगान में विकल्प है।

प्रतिषेधादकर्मेति चेत् ॥१०॥

आक्षेप—प्रतिषेध होने से सामगान अकर्म है, यदि ऐसा कहो तो—

न शब्दपूर्वत्वात् ॥११॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। सामगान कर्तव्य है, क्योंकि उसका विधान है।

दीक्षितस्य दान-होम-पाक-प्रतिषेधेऽविशेषात्सर्व-दान-होम-पाक-प्रतिषेधः स्यात् ॥१२॥

पूर्व०—यज्ञ में दीक्षित यजमान के जो दान, होम और पाक का प्रतिषेध है, कोई विशेष वचन न होने से वह सारे दान, होम और पाक का प्रतिषेध है।

अक्रतुयुक्तानां वा धर्मः स्यात् क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥१३॥

अथवा, क्रतु के साथ जिनका सम्बन्ध नहीं है, ऐसे दान आदि का निषेध धर्म है, क्योंकि क्रतु में दान आदि के प्रत्यक्ष विहित होने से उनका निषेध धर्म नहीं है।

तस्य वाऽप्यानुमानिकमविशेषात् ॥१४॥

अथवा, उस निषेध का विषय अतिदेशशास्त्र से प्राप्त प्रयाजादि का होम और अग्निहोत्र है, क्योंकि वे प्रत्यक्ष विहित नहीं हैं, आनुमानिक हैं।

अपि तु वाक्यशेषत्वादितरपर्युदासः स्यात् प्रतिषेधे विकल्पः स्यात् ॥१५॥

सि०—वाक्यशेष होने के कारण पर्युदास (किसी विशेष अवस्था में निषेध) है। ज्योतिष्टोम में दीक्षित पुरुष न दान दे, न आहुतियाँ दे, न पकाए। यदि प्रतिषेध माना जाए तो विकल्प होगा।

अविशेषेण यच्छास्त्रमन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य तत्सन्दिग्धमाराद्विशेषशिष्टं स्यात् ॥१६॥

जो विशेष शास्त्रविहित है वह सामान्य शास्त्र से असम्बद्ध होता है, क्योंकि वह संदिग्ध होता है और विकल्प अन्याय्य होने से सामान्य-विधान विशेष विधि में नहीं होता।

अप्रकरणे तु यच्छास्त्रं विशेषे श्रूयमाणमविकृतमाज्यभागवत् प्राकृतप्रतिषेधार्थम् ॥१७॥

पूर्व०—वैमृध आदि विकृति में श्रूयमाण अप्रकरण-पठित वचन का अविकृतरूप में विधान हो तो वह प्राकृत अङ्गों के प्रतिषेध के लिए होता है, आज्यभाग के समान।

विकारे तु तदर्थं स्यात् ॥१८॥

विकार होने पर भी वह प्राकृत अङ्गों के प्रतिषेध के लिए ही होता है।

वाक्यशेषो वा क्रतुनाऽग्रहणात् स्यादनारभ्यविधानस्य ॥१९॥

सि०—अनारभ्य विधान का क्रतु के साथ सम्बन्ध न होने से यह वाक्यशेष है, अतः वैमृध आदि विकृति याग में सत्रह सामिधेनियाँ पढ़नी चाहिएँ।

मन्त्रेष्ववाक्यशेषत्वं गुणोपदेशात्स्यात् ॥२०॥

मन्त्रों में वाक्यशेष नहीं होता वर्णानुपूर्वीरूप गुण का उपदेश होने से। यहाँ पर प्रदान ही मुख्य कर्म होता है।

अनाम्नाते दर्शनात् ॥२१॥

जहाँ दर्विहोमों में स्वाहाकार आम्नात नहीं है, वहाँ भी स्वाहा बोला जाता है, विधान होने से।

प्रतिषेधाच्च ॥२२॥

और कहीं-कहीं स्वाहाकार का प्रतिषेध होने से भी स्वाहाकार का होना सिद्ध होता है, क्योंकि प्राप्त का ही प्रतिषेध हो सकता है।

अग्न्यतिग्राह्यस्य विकृतावुपदेशादप्रवृत्तिः स्यात् ॥२३॥

पूर्व०—अग्नि और अतिग्राह्य का विकृति में उपदेश होने से चोदकशास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती।

मासि ग्रहणं च तद्वत् ॥२४॥

और, 'मासि' ग्रहण भी प्राकृत धर्म का निवर्तक है।

ग्रहणं वा तुल्यत्वात् ॥२५॥

सि०—चोदकशास्त्र से (अतिग्राह्य का) ग्रहण होता है, समानता होने से।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२६॥

लिङ्गवाक्यों से भी यही सिद्ध होता है कि अतिग्राह्य की विकृति में प्राप्ति है।

ग्रहणं समानविधानं स्यात् ॥२७॥

अग्नि और अतिग्राह्य का विकृति में जो उपदेश है, वह प्रकृति के समान विधान है।

मासि ग्रहणमभ्यासप्रतिषेधार्थम् ॥२८॥

मासि ग्रहण अभ्यास के प्रतिषेध के लिए है।

उत्पत्तितादर्थ्याच्चतुरवत्तं प्रधानस्य होमसंयोगादधिकमाज्यम-तुल्यत्वाल्लोकवदुत्पत्तेर्गुणभूतत्वात् ॥२६॥

चतुरवत्त अवदान प्रधान द्रव्य से होना चाहिए, क्योंकि उसकी उत्पत्ति होम के लिए ही होती है और उसका होम के साथ संयोग भी है। आज्य तो संस्कार के लिए है। वह प्रधान-द्रव्य पुरोडाश के तुल्य नहीं है तथा उसकी उत्पत्ति भी गौण है, लोकव्यवहार के समान।

तत्संस्कारश्रुतेश्च ॥३०॥

उपस्तरण और अभिघारण पुरोडाश के संस्कार के लिए श्रूयमाण होते हैं, चतुर-वत्त अवदान में इनकी गिनती नहीं है।

ताभ्यां वा सह स्विष्टकृतः सहत्वे द्विरभिघारणेन तदाप्तिवचनात् ॥३१॥

सि०—चतुरवत्त उपस्तरण और अभिघारण के साथ होता है, क्योंकि स्विष्टकृत् के सहकृत्व में दो बार अभिघारण का श्रवण चार की पूर्ति के लिए है।

तुल्यवच्चाभिधाय सर्वेषुभक्त्यनुक्रमणात् ॥३२॥

समानता से कथन करके फिर सबमें भागों का कथन होने से यह सिद्ध होता है कि चतुरवत्ता उपस्तरण और अभिघारण से मिलकर पूर्ण होती है।

साप्तदश्यवन्नियम्येत ॥३३॥

पूर्व०—सप्तदश = सत्रह सामिधेनियों के विकृतियाग में जैसा नियम है वैसा उपांशुयाग में चतुरवत्त का नियम हो सकता है।

हविषो वा गुणभूतत्वात्तथाभूतविवक्षा स्यात् ॥३४॥

सि०—हविष् विधेय होने से होम सामान्य में चतुरवत्त हविष् की गुणत्व विवक्षा है अर्थात् उपांशुयाग में पुरोडाश में से ही चार भाग करके आहुतियों को चतुरवत्त किया जाएगा।

पुरोडाशाभ्यामित्यधिकृतानां पुरोडाशयोरुपदेशस्तत् श्रुतित्वाद्वैश्य-स्तोमवत् ॥३५॥

पूर्व०—असोमयाजियों को ही आग्नेय और ऐन्द्राग्न पुरोडाश की विधि है। सुवर्ण की कामना करनेवाले असोमयाजियों के अधिकार का श्रवण होने से उन्हें ही उक्त दो पुरोडाशों से याग करने का उपदेश है वैश्यस्तोम के समान।

न त्वनित्याधिकारोऽस्ति विधेर्नित्येन सम्बन्धस्तस्मादवाक्यशेषत्वम् ॥३६॥

अनित्य (स्वर्ग-कामना) का अधिकार नहीं, क्योंकि विधि का नित्य (दर्शपौर्ण-मास) के साथ सम्बन्ध होता है, अतः इस वाक्य के साथ सम्बन्ध न होने से वह वाक्य का शेष नहीं है।

सति च नैकदेशेन कर्त्तुः प्रधानभूतत्वात् ॥३७॥

अधिकारशेष के होने पर पुरोडाशों का असोमयाजी कर्त्ता के साथ सम्बन्ध नहीं

हो सकता और अधिकार होने पर प्रधानभूत कर्त्ता का निर्देश किया जाता है तथा दर्श-पौर्णमास का एकदेशभूत पुरोडाश भी फल का साधक नहीं हो सकता।

कृत्स्नत्वात्तु तथा स्तोमे ॥३८॥

वैश्यस्तोम किसी का एकदेश नहीं है, वह तो सम्पूर्ण है, अतः वहाँ फल होता है।

कर्त्तुः स्यादिति चेत् ॥३९॥

आक्षेप—गौण कर्ता के लिए यह उपदेश है, यदि ऐसा कहो तो—

न गुणार्थत्वात्प्राप्ते न चोपदेशार्थः ॥४०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रधान कर्त्ता को ही क्रियोपदेश से गुणभूत प्राप्त होता है। प्राप्त के पुनः उपदेश में कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

कर्मणोस्तु प्रकरणे तन्न्यायत्वाद् गुणानां लिङ्गेन कालशास्त्रं स्यात् ॥४१॥

पुरोडाश और यागरूप कर्म के प्रकरण में 'असोमयाग' पद के प्रयोग से काल=समय ही लक्षित होता है। सोमयाग के समय से भिन्न समय (दर्शपौर्णमास) में उक्त दोनों पुरोडाशों से यजन करना चाहिए।

यदि तु सान्नाय्यं सोमयाजिनो न ताभ्यां समवायोऽस्ति विभक्तकालत्वात् ॥४२॥

परन्तु यदि सान्नाय हविष् सोमयाजियों के लिए हो तो काल के भिन्न होने से उसका उक्त दोनों पुरोडाशों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता।

अपि वा विहितत्वाद्गुणार्थायां पुनः श्रुतौ सन्देहे श्रुतिर्द्विदेवतार्था स्याद्यथाऽनभिप्रेतस्तथाऽऽग्नेयो दर्शनादेकदेवते ॥४३॥

दर्श और पूर्णमास दोनों में आग्नेय पुरोडाश विहित है, पुनः श्रुति किसलिए, ऐसा सन्देह होने पर इसका समाधान यह है कि श्रुति दो देवताओं के विधान के लिए है। एक देवतावाली अग्नि में आग्नेय केवल अनुवादरूप है।

विधिं तु बादरायणः ॥४४॥

परन्तु दोनों की कालविधि होती है—ऐसा आचार्य बादरायण मानते हैं।

प्रतिषिद्धविज्ञानाद्वा ॥४५॥

सि०—यह कालविधि अधिक कर्मों की उत्पत्ति आग्नेय का अनुवाद और ऐन्द्राग्न की विधि नहीं है, प्रतिषिद्ध विज्ञान से दोनों का अनुवाद है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥४६॥

और, अन्यार्थ (श्रुतिप्रमाणों) से भी इसी अर्थ की पुष्टि होती है।

उपांशुयाजमन्तरा यजतीति हविर्लिङ्गाश्रुतित्वाद्यथाकामी प्रतीयेत ॥४७॥

पूर्व०—'उपांशुयाजमन्तरा यजति' इस वाक्य से उपांशुयाग का विधान है। किसी हविविशेष की श्रुति न होने से कर्ता चाहे जिस द्रव्य से उपांशुयाग कर ले।

ध्रौवाद्वा सर्वसंयोगात् ॥४८॥

सि०—'सर्व' शब्द का सब यागों के साथ सम्बन्ध होने से ध्रुवा नामक पात्रस्थ आज्य से ही उपांशुयाग करना चाहिए।

तद्वच्च देवतायां स्यात् ॥४९॥

पूर्व०—द्रव्य की भाँति देवता में भी अनियम है। उपांशुयाग किस देवता के लिए है, इसका भी कोई विधान नहीं है।

तन्त्रीणां प्रकरणात् ॥५०॥

सि०—प्रकरण के अनुसार किसी एक देवता का अवगम हो सकता है।

धर्माद्वा स्यात्प्रजापतिः ॥५१॥

पूर्व०—धर्म (विशेषताओं) के कारण प्रजापति ही उपांशुयाग का देवता होता है।

देवतायास्त्वनिर्वचनं तत्र शब्दस्येह मृदुत्वं तस्मादिहाधिकारेण ॥५२॥

जहाँ उपांशुयाग का विधान है, वहाँ उसके देवता का कथन नहीं और प्राजापत्य याग में उपांशु धर्मवाचक शब्द का स्पष्ट श्रवण नहीं, अतः शब्द-सादृश्य न होने से उपांशु-याग में मुख्य देवता अग्नि का ही स्वामित्व है।

विष्णुर्वा स्याद्धौत्राम्नानादमावास्याहविश्च स्याद्धौत्रस्य तत्र दर्शनात् ॥५३॥

अथवा, उपांशुयाग का देवता विष्णु है। हौत्रमन्त्र के आम्नान होने से दर्श = अमावास्या की हविः है। अमावास्या में ही वैष्णव हौत्र का दर्शन = विधान भी है।

अपि वा पौर्णमास्यां स्यात्प्रधानशब्दसंयोगाद्गुणत्वान्मन्त्रो यथाप्रधानं स्यात् ॥५४॥

अथवा, पौर्णमासी में उपांशुयाग होता है, क्योंकि मुख्य शब्द का उसी के साथ श्रवण होता है। मन्त्र गौणरूप होने से प्रधान के अनुसार कर्म होना चाहिए।

आनन्तर्यं च सान्नाय्यस्य पुरोडाशेन दर्शयत्यमावास्याविकारे ॥५५॥

अमावास्या का विकृतियाग जो साकंप्रस्थानीय है उसमें सान्नाय का आनन्तर्य पुरोडाश के द्वारा देखा जाता है, उपांशुयाग का नहीं, अतः अमावास्या में उपांशुयाग का अनुष्ठान नहीं होता।

अग्नीषोमविधानात्तु पौर्णमास्यामुभयत्र विधीयते ॥५६॥

वस्तुतः पौर्णमासी याग में अग्नीषोमीय देवता का विधान है, अतः पौर्णमासी और अमावास्या दोनों में उपांशुयाग कर्तव्य है।

प्रतिषिद्ध्य विधानाद्वा विष्णुः समानदेशः स्यात् ॥५७॥

सि०—प्रतिषेध करके विधान होने से पौर्णमासी में ही उपांशुयाग होता है और विष्णु, प्रजापति और अग्नीषोमीय उसके देवता हैं।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥५८॥

पौर्णमासी में चौदह आहुतियों के हवन के विधान से अन्य प्रमाण भी इसी अर्थ को दिखाते हैं कि अमावास्या में उपांशुयाग नहीं होता।

न चानङ्गं सकृत् श्रुतावुभयत्र विधीयेतासम्बन्धात् ॥५९॥

प्रधान के एक बार श्रूयमाण होने से वह दो स्थानों पर विहित नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों का परस्पर सम्बन्ध नहीं है।

विकारे चाश्रुतित्वात् ॥६०॥

और, अमावास्या के विकृतियाग में उपांशुयाग का श्रवण न होने से अमावास्या में

उपांशुयाग कर्तव्य नहीं।

द्विपुरोडाशायां स्यादन्तरालगुणार्थत्वात् ॥६१॥

पूर्व०—दो पुरोडाशवाले पौर्णमासी में उपांशुयाग होना चाहिए, अन्तरालरूप गुण का विधान होने से।

अजामिकरणार्थत्वाच्च ॥६२॥

और, अजामित्व=असादृश्य करने के लिए भी द्विपुरोडाश दशा में ही उपांशुयाग सिद्ध होता है।

तदर्थमिति चेन्न तत्प्रधानत्वात् ॥६३॥

अन्तरालत्व होने से द्विपुरोडाश दशा में ही उपांशुयाग होता है, यदि ऐसा कहो तो—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि पौर्णमासी प्रधान है और अन्तराल गौण है, अतः एक पुरोडाशवाले पौर्णमासी में भी उपांशुयाग कर्तव्य है।

अशिष्टेन च सम्बन्धात् ॥६४॥

और, अश्रुत अन्तरालार्थ के साथ उपांशुयाग का सम्बन्ध करना चाहिए।

उत्पत्तेस्तु निवेशः स्याद्गुणस्यानुपरोधेनार्थस्य विद्यमानत्वाद्विधानादन्तरार्थस्य नैमित्तिकत्वात्तदभावेऽश्रुतौ स्यात् ॥६५॥

गुणत्व से अन्तराल श्रूयमाण नहीं होता। उत्पत्तिवाक्य के द्वारा ही अन्तराल में उपांशुयाग निविष्ट होता है। अन्तराल अर्थ द्विपुरोडाश में होता है, विधान होने से। जहाँ अन्तरालरूप निमित्त होता है वहाँ ही उपांशुयाग होता है; जहाँ अन्तराल नहीं होता वहाँ उपांशुयाग भी नहीं होता। यदि द्विपुरोडाशवाली पौर्णमासी न हो तो एक पुरोडाशवाली पौर्णमासी में उपांशुयाग होता है; परन्तु दो पुरोडाशवाली पौर्णमासी है, अतः एक पुरोडाशवाली पौर्णमासी में उपांशुयाग नहीं होता।

उभयोस्तु विधानात् ॥६६॥

सि०—विधान होने से एक पुरोडाश और द्विपुरोडाशवाली दोनों पूर्णमासियों में उपांशुयाग होता है।

गुणानाञ्च परार्थत्वादुपवेषवद् यदेति स्यात् ॥६७॥

गुणों के प्रधान के लिए होने के कारण गुणों के होने या न होने पर भी प्रधान कार्य होता है, 'उपवेषी' के समान, अतः उपांशुयाग एक पुरोडाशवाली पूर्णमासी में भी करना चाहिए।

अनपायश्च कालस्य लक्षणं हि पुरोडाशौ ॥६८॥

दोनों पुरोडाश काल को लक्षित करते हैं। एक पुरोडाश में भी यह लक्षण है।

प्रशंसार्थमजामित्वम् ॥६९॥

और जो उपांशुयाग को अजामित्व के लिए कहा है, वह तो केवल प्रशंसा के लिए है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य अष्टमः पादः ॥

॥ इति दशमोऽध्यायः ॥

एकादशोऽध्यायः

प्रथमः पादः

प्रयोजनाभिसम्बन्धात्पृथक् सतां ततः स्यादैककर्म्यमेकशब्दाभिसंयोगात् ॥१॥

सि०—पृथक्-पृथक् आग्नेय आदि याग एक कर्म हैं, क्योंकि उन सबका मिलकर एक नाम है और उन सबका प्रयोजन के साथ अभिसम्बन्ध है। (एक कर्म का अर्थ है एक फल होना, सब अङ्गों का एक फल होता है, अलग-अलग नहीं।)

शेषवद्वा प्रयोजनं प्रतिकर्म विभज्येत ॥२॥

आक्षेप—'शेष' के समान प्रतिकर्म फल का भेद होता है।

अविधानात्तु नैवं स्यात् ॥३॥

समा०—शेष और शेषी का साम्यरूप से विधान न होने से ऐसा नहीं हो सकता।

शेषस्य हि परार्थत्वाद्विधानात्प्रतिप्रधानभावः स्यात् ॥४॥

शेष=फल परार्थ=प्रधान के लिए होता है और इसका विधान भी है, अतः प्रत्येक प्रधान में इसकी आवृत्ति होती है।

अङ्गानां तु शब्दभेदात्क्रतुवत्स्यात् फलान्यत्वम् ॥५॥

पूर्व०—शब्दभेद होने से अङ्गों का फल पृथक्-पृथक् होता है, सौर्य आदि क्रतुओं के समान।

अर्थभेदस्तु तत्रार्थे ह्यैकार्थ्यादैककर्म्यम् ॥६॥

सि०—क्रतुओं में अर्थभेद है परन्तु यहाँ अङ्ग प्रधान कर्म के उपकारी हैं, अतः सब एक कर्म=फलजनक हैं।

शब्दभेदान्नेति चेत् ॥७॥

आक्षेप—शब्द भिन्न होने से अङ्गों का फल पृथक्-पृथक् होता है, यदि ऐसा कहो तो—

कर्मार्थत्वात्प्रयोगे ताच्छब्द्यं स्यात्तदर्थत्वात् ॥८॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। कर्मार्थत्व होने से उसी प्रधान प्रयोग वचन से ही अङ्गों का भी प्रयोग कहा गया है, क्योंकि वे उसी के लिए होते हैं।

कर्तृविधेर्नानार्थत्वाद्गुणप्रधानेषु ॥९॥

प्रधान और अङ्ग-विधियों में कर्त्ता को जो प्रधान विधि है, वह नाना अर्थवाली होती है। प्रधान विधि तो फलार्थ होती है और अङ्गविधि प्रधानार्थ होती है, अतः अङ्ग प्रधान से अनुगृहीत नहीं होते।

आरम्भस्य शब्दपूर्वत्वात् ॥१०॥

प्रत्येक व्यापार शब्दपूर्वक होता है, अतः प्रधान-प्रयोग वचन से ही अङ्गों का प्रयोग विधीयमान होता है।

एकेनापि समाप्येत कृतार्थत्वाद् यथा क्रत्वन्तरेषु प्राप्तेषु चोत्तरावत्स्यात् ॥११॥

पूर्व०—एक अङ्ग का अनुष्ठान करने से भी प्रयोग की समाप्ति होती है, क्योंकि उससे कृतार्थता हो जाती है, स्वर्ग-साधन सौर्य आदि में से किसी भी यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है, 'उत्तरा' के समान।

फलाभावादिति चेत् ॥१२॥

आक्षेप—सम्पूर्णता न करने से फल का अभाव होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न कर्मसंयोगात्प्रयोजनमशब्ददोषं स्यात् ॥१३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। प्रधान कर्म का फल के साथ संयोग होने से फलार्थत्व में कोई शब्ददोष नहीं है।

ऐकशब्द्यादिति चेत् ॥१४॥

आक्षेप—केवल एक वाक्य होने से दर्शपूर्णमासियों से तत्फल है, समिदादि से नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

नार्थपृथक्त्वात्समत्वादगुणत्वम् ॥१५॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि अर्थ में पृथक्त्व होता है और समानता होने से अगुणत्व भी होता है।

विधेस्त्वेकश्रुतित्वादपर्यायविधानान्नित्यवत् श्रुतिभूताभिसंयोगार्थेन युगपत्प्राप्तेर्यथा-क्रमं स्वशब्दो निवीतवत्तस्मात्सर्वप्रयोगे प्रवृत्तिः स्यात् ॥१६॥

सि०—एकदेश से भी अङ्गों के प्रयोग का कथन ठीक नहीं, क्योंकि विधि का एक श्रुतित्व होने से सर्वाङ्गोपसंहार से प्रयोग होता है। पर्याय से इन अङ्गों का विधान न होने से भी एकदेशापेक्षा युक्त नहीं हैं। अर्थ के द्वारा एक ही साथ प्राप्ति होने के कारण भी नित्यवत् श्रुतों का भी एकदेश अपेक्षित नहीं होता। क्रमपूर्वक सब अङ्गों का अनुष्ठान करना चाहिए निवीत की भाँति। यहाँ भी सर्वप्रधान प्रयोग के साथ सब अङ्गों का अनुष्ठान करना चाहिए।

तथा कार्मोपदेशः स्यात् ॥१७॥

ऐसा करने से कर्म (आहुतियों की संख्या) का उपदेश भी चरितार्थ होता है।

क्रत्वन्तरेषु पुनर्वचनम् ॥१८॥

भिन्न-भिन्न यागों में अलग-अलग फलश्रुति है। यहाँ सब कर्म मिलकर फल देते हैं, अतः सब अङ्गों का अनुष्ठान एकसाथ होना चाहिए।

उत्तरास्वश्रुतित्वाद्विशेषाणां कृतार्थत्वात्स्वदोहे यथाकामी प्रतीयेत ॥१९॥

'उत्तरा' यागों में दोहन विहित न होने से और वाग्विसर्ग आदि के विधान से कृतार्थ होने से यह निष्कर्ष निकलता है कि गौओं के दोहन में कर्त्ता स्वतन्त्र है, वह इच्छानुसार अपनी गौओं को दुह सकता है।

कर्मण्यारम्भभाव्यत्वात्कृषिवत् प्रत्यारम्भं फलानि स्युः ॥२०॥

काम्य-कर्म के अनुष्ठान में प्रत्येक प्रयोग से फल प्राप्त होना चाहिए, प्रत्येक आरम्भ से फल हुआ करते हैं, कृषि के समान।

अधिकारश्च सर्वेषां कार्यत्वादुपपद्यते विशेषः ॥२१॥

और, सब कर्मों का अनुष्ठान पुनः-पुनः करने से विशेष अधिकार उपपन्न=प्राप्त होता है अतः जितनी इच्छा है, उतना अभ्यास करे।

सकृत्तु स्यात्कृतार्थत्वादङ्गवत् ॥२२॥

पूर्व०—काम्य-कर्म का तो अङ्गवत् एक ही बार अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि एक बार अनुष्ठान करने से ही विधि चरितार्थ हो जाती है।

शब्दार्थश्च तथा लोके ॥२३॥

और, विधि शब्द के अर्थ का अनुष्ठान एक ही बार होता है, जैसे लोकव्यवहार में 'काष्ठ लाओ' ऐसा कहने पर एक ही बार काष्ठ (लकड़ी) लाया जाता है।

अपि वा सम्प्रयोगे यथाकामीप्रतीयेताश्रुतित्वाद्विधिषु वचनानि स्युः ॥२४॥

सि०—काम्य कर्मों के अनुष्ठान में कर्त्ता अपनी इच्छानुसार एक या अनेक बार काम्य-कर्म कर सकता है। एक ही बार कर्म करे, ऐसा कोई शास्त्रवचन नहीं है। विधि-वचन तो केवल काम्य-कर्मों का अनुष्ठान ही बताता है।

ऐकशब्द्यात्तथाङ्गेषु ॥२५॥

एक ही शब्द=वचन के होने से अङ्गों के अनुष्ठान में वैसा हो सकता है, परन्तु फल की इच्छा में नहीं, अतः काम्य-कर्मों की आवृत्ति होती है।

लोके कर्मार्थलक्षणम् ॥२६॥

लौकिक दृष्टान्त भी ठीक नहीं। लौकिक कर्म का फल प्रत्यक्ष होता है, अतः उसी के अनुसार कर्म होता है।

क्रियाणामर्थशेषत्वात्प्रत्यक्षमतस्तन्निर्वृत्त्याऽपवर्गः स्यात् ॥२७॥

दृष्ट प्रयोजनवाली क्रियाओं (कूटकर चावल निकालना आदि) का प्रयोग फल-निष्पत्ति पर्यन्त होता है, अतः प्रयोजन की सिद्धि तक आवृत्ति होनी चाहिए।

धर्ममात्रे त्वदर्शनाच्छब्दार्थेनापवर्गः स्यात् ॥२८॥

जहाँ अवहनन अदृष्ट फल के लिए होता है, वहाँ एक बार ही अवहनन करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से विधि चरितार्थ होती है।

क्रतुवद्वानुमानेनाभ्यासे फलभूमा स्यात् ॥२९॥

पूर्व०—अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि अभ्यास करने से भूमा=अधिक फल होता है, यह अनुमान से जाना जाता है। जैसे सौर्य आदि में फल कर्म से होता है, उसी प्रकार यहाँ भी होता है।

सकृद्वा कारणैकत्वात् ॥३०॥

सि०—एक बार ही अङ्ग का प्रयोग करना चाहिए, प्रधानरूप कारण एक होने से।

परिमाणं चानियमेन स्यात् ॥३१॥

जब अङ्ग के एक बार या अनेक बार करने का कोई नियम नहीं है, तब यज्ञ की आहुतियों की कोई सीमा नहीं रहेगी, अतः अभ्यास नहीं है।

फलारम्भनिवृत्तेः क्रतुषु स्यात् फलान्यत्वम् ॥३२॥

क्रतुओं में अभ्यास उचित है, क्योंकि वहाँ फल के आरम्भ से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है। क्रतुओं में फलभेद होता है। काम्यकर्मों में कर्म मुख्य है, सब कर्म मिलकर फल देते हैं, अतः वहाँ अभ्यास नहीं है।

अर्थवांस्तु नैकत्वादभ्यासः स्यादनर्थको यथा भोजनमेकस्मिन्नर्थस्या-
परिमाणत्वात्प्रधाने च क्रियार्थत्वादनियमः स्यात् ॥३३॥

पूर्व०—अङ्गों का अभ्यास फलवान् होता है। एक कर्मविषयक अभ्यास अनर्थक होता है, जैसे एक ही समय भोजन की आवृत्ति निरर्थक होती है। प्रधान फल नियत न होने से और प्रधान कर्म में क्रिया फल उत्पन्न करने में सहायक होने से वहाँ नियम नहीं होता।

पृथक्त्वाद्विधितः परिमाणं स्यात् ॥३४॥

चौदह और तेरह संख्या का नियम भिन्न अर्थवाला है। अर्थ भिन्न होने से उपकाराभ्यास न्याय प्राप्त होने पर आहुतियों की संख्या विधिपरक होती है।

अनभ्यासो वा प्रयोगवचनैकत्वात्सर्वस्य युगपच्छास्त्रादफलत्वाच्च
कर्मणः स्यात्क्रियार्थत्वात् ॥३५॥

सि०—प्रयोगवचन के एक होने से अङ्गों का अभ्यास नहीं होता। कर्म का अफलत्व होने से सब अङ्ग और प्रधान कलाप का एक साथ शासन है। अङ्गों का स्वयं कोई फल नहीं, परन्तु वे प्रधान कर्म के सहायक हैं।

अभ्यासो वा छेदनसम्मार्गाऽवदानेषु वचनात्सकृत्त्वस्य ॥३६॥

पूर्व०—अङ्गों का अभ्यास होता है, क्योंकि एक बार करने का विधान छेदन, सम्मार्ग और अवदान के सम्बन्ध में ही है।

अनभ्यासस्तु वाच्यत्वात् ॥३७॥

सि०—प्रयाजादि अङ्गों में अभ्यास नहीं होता, वे एक ही बार किये जाते हैं। छेदन आदि में जो अभ्यास कथन किया है, उसका प्रयोजन भिन्न है।

बहुवचनेन सर्वप्राप्तेर्विकल्पः स्यात् ॥३८॥

पूर्व०—बहुवचन से संख्याओं की प्राप्ति होने से संख्याओं का विकल्प होना चाहिए। (**'कपिञ्जलानालभेत'**—यहाँ 'कपिञ्जलान्' बहुवचन है, अतः तीन, चार, पाँच कोई भी संख्या ली जा सकती है।)

दृष्टः प्रयोग इति चेत् ॥३९॥

आक्षेप—'बहुवचन से तीन का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि ऐसे प्रयोग मिलते हैं,' यदि ऐसा कहो तो—

तथेहि ॥४०॥

समा०—उस प्रकार तो यहाँ भी कपिञ्जल का प्रयोग मयूर और कपोत में भी देखा गया है।

भक्त्येति चेत् ॥४१॥

आक्षेप—यहाँ कपिञ्जल शब्द का प्रयोग गौणवृत्ति से है, यदि ऐसा कहो तो—

तथेतरस्मिन् ॥४२॥

समा०—उसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी गौणवृत्ति से ही प्रयोग समझना चाहिए।

प्रथमं वा नियम्येत कारणादतिक्रमः स्यात् ॥४३॥

सि०—बहुसंख्या में प्रथम नियम्य होता है अर्थात् केवल तीन का ही ग्रहण होगा। इसका नाम है 'कपिञ्जल-न्याय'। कोई विशेष कारण होने पर ही तीन संख्या का अतिक्रमण होता है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥४४॥

इस अर्थ के साधक अन्य प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

प्रकृत्या च पूर्ववत्तदासत्तेः ॥४५॥

और, प्रकृति से अग्नीषोमीय से एकत्व प्राप्त होता है, क्योंकि पूर्ववत् उसका सामीप्य है। (तीन संख्या एकत्व के समीप है, चार आदि नहीं, अतः कपिञ्जलान् से तीन कपिञ्जल समझने चाहिएँ। प्रथम के त्याग करने में कोई प्रमाण नहीं है।)

उत्तरासु न यावत्स्वमपूर्वत्वात् ॥४६॥

पूर्व०—'उत्तर' गौओं में जितनी गौओं में यजमान का स्वत्व है, उतनी गौओं को दुहने का विधान है। यहाँ अपूर्व अर्थ होने से विधि है, अनुवाद नहीं है।

यावत्स्वं वाऽन्यविधानेनानुवादः स्यात् ॥४७॥

यजमान के पास जितनी गौ हैं उन सबका दोहन करना चाहिए, यह तो अनुवाद है, विधान दूसरा है। **'विसृष्टवागनन्वारभ्य'**—वाणी को छोड़कर उन गौओं को न छूए, इस वाक्य में विधान है। **'उत्तरा दोहयति'** फिर पिछली गायों को दुहता है, इस वाक्य में विधान नहीं है।

साकल्यविधानात् ॥४८॥

सारी गायों के दोहन का विधान होने से उत्तरा-दोहन अनुवाद है।

बह्वर्थत्वाच्च ॥४९॥

तथा, बहुत अर्थ का कथन होने से बहु-दोहन की प्रतीति होती है।

अग्निहोत्रे चाशेषवद्यवागूनियमः ॥५०॥

और, अग्निहोत्र में यवागू (यव की माँड) की आहुति का नियम समस्त पय की सान्नायार्थता को दिखाता है। (सान्नाय=दही और घी का घोल)

तथा पयः प्रतिषेधः कुमाराणाम् ॥५१॥

उपर्युक्त कारण से ही (यज्ञ में बहुत सा सान्नाय होना चाहिए) कुमारों को दूध देने का भी निषेध है।

सर्वप्रापिणापि लिङ्गेन संयुज्य देवताभिसंयोगात् ॥५२॥

ऐसा लिङ्गवचन भी विद्यमान है जो सब गौओं के दोहन का विधान करके उससे वत्स और मनुष्यों की तृप्ति करके उसका सम्बन्ध देवताओं से जोड़ता है।

प्रधानकर्मार्थत्वादङ्गानां तद्भेदात् कर्मभेदः प्रयोगे स्यात् ॥५३॥

पूर्व०—अङ्गों के प्रधान के लिए होने से प्रधान कर्मों में भेद होने पर अङ्गों के अनुष्ठान में कर्मभेद होता है।

क्रमकोपश्च यौगपद्ये स्यात् ॥५४॥

एक साथ तन्त्र[1] रूप अनुष्ठान करने से विहित=प्रधानों का क्रमकोप होता है।

तुल्यानां तु यौगपद्यमेकशब्दोपदेशात् स्याद्विशेषाग्रहणात् ॥५५॥

सि०—जिस कर्म के देश, काल और कर्त्ता समान होते हैं, उनका अनुष्ठान एक-साथ ही होता है। अङ्ग का उपदेश भी दर्श और पौर्णमासरूप एक ही शब्द से होता है और अङ्गों में कोई विशेषता भी नहीं, अतः तन्त्र से अनुष्ठान होना उचित है।

एकार्थ्यादव्यवायः स्यात् ॥५६॥

सारे अङ्गों का प्रयोजन एक होने से क्रमकोप भी नहीं है।

तथा चान्यार्थदर्शनं कामुकायनः ॥५७॥

इसी अर्थ को सिद्ध करने के लिए अन्य प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं, ऐसा आचार्य कामुकायन मानते हैं।

तन्न्यायत्वादशक्तेरानुपूर्व्यं स्यात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥५८॥

'अङ्गों का एकसाथ अनुष्ठान होना चाहिए' इस न्याय से सर्वत्र सहक्रिया होती है परन्तु जहाँ सह-अनुष्ठान सम्भव नहीं वहाँ आवृत्ति से अङ्गों का अनुष्ठान होता है, क्योंकि एक संस्कार से ही कार्य पूर्ण हो जाता है।

असंसृष्टोऽपि तादर्थ्यात् ॥५९॥

आक्षेप—असंसृष्ट आधार आदि भी प्रधान के लिए होने से प्रतिवर्तित होते हैं।

विभवाद्वा प्रदीपवत् ॥६०॥

समा०—किसी एक के सन्निधान में क्रियमाण होने पर भी अङ्ग सबके उपकारक होते हैं, अतः अङ्गों में सामर्थ्य होने से उनकी प्रवृत्ति नहीं है प्रदीप के समान। प्रदीप एक की सन्निधि में प्रदीप्त होकर सबका उपकार करता है।

---

१. जब एक ही कर्म बहुतों का उपकारक होता है, उसे तन्त्र कहते हैं, जैसे मध्य में रखा हुआ दीपक। जो कार्य अलग-अलग करने पड़ते हैं, उन्हें प्रवाप कहते हैं, जैसे चन्दन सबको अलग-अलग लगाना पड़ेगा।

अर्थात्तु लोके विधिः प्रतिप्रधानं स्यात् ॥६१॥

पूर्व०—लोकव्यवहार में फलरूप अर्थ प्रत्यक्ष होने से सकृत् = एक बार अनुष्ठान माना जा सकता है परन्तु विधि-प्राप्त कर्म तो प्रत्येक प्रधान के साथ होना चाहिए।

सकृदिज्यां कामुकायनः परिमाणविरोधात् ॥६२॥

आचार्य कामुकायन का मत है कि अङ्गों का अनुष्ठान एक बार होना चाहिए अन्यथा आहुतियों के परिमाण में विरोध आएगा।

विधेस्त्वितरार्थत्वात् सकृदिज्याश्रुतिव्यतिक्रमः स्यात् ॥६३॥

अङ्गों का अनुष्ठान प्रधान के लिए होने से एक ही बार अनुष्ठान करना शास्त्र-विरुद्ध है।

विधिवत्प्रकरणाविभागे प्रयोगं बादरायणः ॥६४॥

सि०—प्रकरण में विभाग न होने से तन्त्र से प्रयोग होता है, आचार्य बादरायण ऐसा मानते हैं।

क्वचिद्विधानान्नेति चेत् ॥६५॥

आक्षेप—कहीं-कहीं सहविधान होने से सर्वत्र सहविधान नहीं हो सकता, यदि ऐसा कहो तो—

न विधेश्चोदितत्वात् ॥६६॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि निर्वाप विधि का पृथक् कथन है।

व्याख्यातं तुल्यानां यौगपद्यमगृह्यमाणविशेषाणाम् ॥६७॥

पूर्व०—जैसा पूर्व व्याख्यान कर दिया गया है, जहाँ किसी विशेष के ग्रहण का कथन न हो और समानता हो, वहाँ सह-अनुष्ठान होता है।

भेदस्तु कालभेदाच्चोदनाव्यवायात् स्याद्विशिष्टानां विधिः प्रधानकालत्वात् ॥६८॥

सि०—कालभेद होने से प्रदान का भेद ही है। चोदक-व्यवाय = व्यवधान होने से कालभेद होता है। काल की प्रधानता होने से विशिष्टों की विधि होती है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥६९॥

अन्य प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त कथन की सिद्धि होती है।

विधिरिति चेन्न वर्तमानापदेशात् ॥७०॥

उक्त वाक्य विधिपरक है, यदि ऐसा कहो तो—ठीक नहीं, क्योंकि वर्तमानकाल का उल्लेख है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने एकादशाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

एकदेशकालकर्त्तृत्वं मुख्यानामेकशब्दोपदेशात् ॥१॥

सि०—प्रधानभूत छह अङ्गों में देश, काल और कर्त्ता की एकता होती है, क्योंकि उनका एक शब्द से विधान है।

अविधिश्चेत्कर्मणामभिसम्बन्धः प्रतीयेत तल्लक्षणार्थाभिसंयोगाद् विधित्वाच्चेतरेषां प्रतिप्रधानं भावः स्यात् ॥२॥

पूर्व०—यदि प्रधान कर्मों को उद्देशी के देश आदि का विधान न होता तो 'आग्नेय' आदि अङ्गों का देश, काल आदि के साथ सम्बन्ध हो सकता था परन्तु लक्षणों के संयोग से प्रत्येक प्रधान के साथ इतर विधियों का सम्बन्ध है।

अङ्गेषु च तदभावः प्रधानं प्रति निर्देशात् ॥३॥

पूर्व०—प्रयाजादि अङ्गों में देश, काल आदि का अभाव होता है, क्योंकि उनका प्रधान के प्रति निर्देश है।

यदि तु कर्मणो विधिसम्बन्धः स्यादैकशब्द्यात्प्रधानार्थभिसंयोगात् ॥४॥

सि०—यदि 'आग्नेय' आदि कर्म का विधि के साथ सम्बन्ध होता तो अलग-अलग अनुष्ठान होता परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि समुदायवाचक एक शब्द से निर्देश होने से उसका सम्बन्ध स्वर्गरूप प्रधान फल की प्राप्ति के साथ है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥५॥

ऐसा मानने पर अन्य प्रमाण भी सङ्गत हो जाते हैं।

श्रुतिश्चैषां प्रधानवत्कर्मश्रुतेः परार्थत्वात्कर्मणोऽश्रुतित्वाच्च ॥६॥

दर्शपौर्णमासरूप कर्म की श्रुति परार्थ है, अतः देशादि का श्रवण प्रधानवत् होता है। कर्म के अश्रुत होने से भी तन्त्रभाव सिद्ध होता है।

अङ्गानि तु विधानत्वात्प्रधानोपदिश्येरंस्तस्मात्स्यादेकदेशत्वम् ॥७॥

सि०—फलवाक्य से विधान होने के कारण अङ्ग प्रधान के साथ उपदिष्ट होते हैं, अतः अङ्गों का प्रधान के साथ एक ही देश तथा काल कर्तृत्व होता है।

द्रव्यदेवतं तथेति चेत् ॥८॥

आक्षेप—द्रव्य और देवता प्रधान और अङ्गों के भेद से होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न चोदना विधिशेषत्वान्नियमार्थो विशेषः ॥९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि द्रव्य और देवता उत्पत्ति-विधि के शेष होने से विशेष नियम के लिए हैं।

तेषु समवेतानां समवायात्तन्त्रमङ्गानि भेदस्तु तद्भेदात्कर्मभेदः प्रयोगे स्यात्तेषां प्रधानशब्दत्वात्तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥१०॥

प्रधानयाग में विहितों का सम्बन्ध होने से तन्त्र से अनुष्ठान होता है। द्रव्य और देवता का भेद होने से कर्म=अनुष्ठान में भी भेद होता है और प्रयोग में भी। छह यागों के प्रधान होने से और अङ्ग तथा अङ्गी का तन्त्र से अनुष्ठान करने से पौर्णमासी में चौदह आहुतियाँ देने का विधान भी उपपन्न हो जाता है।

इष्टिराजसूयचातुर्मास्येष्वेककर्म्यादङ्गानां तन्त्रभावः स्यात् ॥११॥

पूर्व०—दर्शेष्टि, पौर्णमासेष्टि, राजसूय और चातुर्मास्य में एक फल होने से तन्त्र से प्रयोग होता है।

कालभेदान्नेति चेत् ॥१२॥

आक्षेप—काल का भेद होने से तन्त्र से अनुष्ठान करना उचित नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

नैकदेशत्वात्पशुवत् ॥१३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि पशु की भाँति एकदेशत्व होता है।

अपि वा कर्मपृथक्त्वात्तेषां तन्त्रविधानात्साङ्गानामुपदेशः स्यात् ॥१४॥

सि०—दर्शयाग त्रय और पौर्णमासयाग त्रय का तन्त्र से विधान होने के कारण दर्शप्रयोग और पौर्णमासप्रयोग पृथक् होता है, अतः उन-उन प्रयोगों में अङ्गसहित प्रयोगों का उपदेश है, इसलिए विशेष ग्रहण करने में भेद होता है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥१५॥

पौर्णमासी में चौदह आहुति आदि के प्रमाण उपलब्ध होने से भी भेद ही सिद्ध होता है।

तदाऽवयवेषु स्यात् ॥१६॥

तब चातुर्मास्य आदि के अवयवों में भी देश-काल-भेद से तन्त्र-भेद हो जाएगा।

पशौ तु चोदनैकत्वात्तन्त्रस्य विप्रकर्षः स्यात् ॥१७॥

सवनीय पशु में एक विधान होने से तन्त्र से ही अनुष्ठान होना योग्य है।

तथा स्यादध्वरकल्पेष्टौ विशेषैककालत्वात् ॥१८॥

पूर्व०—इस प्रमाण से 'अध्वरकल्प' इष्टि में भी निर्वापान्त अङ्गकलाप का एक फल होने से तन्त्र से अनुष्ठान होना चाहिए।

इष्टिरिति चैकवत् श्रुतिः ॥१९॥

'अध्वरकल्प' इष्टि में एकवचन का प्रयोग होने से भी यही सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण इष्टि एक है, अतः तन्त्र से अनुष्ठान करना चाहिए।

न वा कर्मपृथक्त्वात्तेषां च तन्त्र विधानात्साङ्गानामुपदेशः स्यात् ॥२०॥

सि०—तन्त्र=अभेद से अनुष्ठान नहीं होगा। भिन्न-भिन्न काल में कर्मों का विधान होने से और तन्त्रशास्त्र के विधान से साङ्गकर्मों का उपदेश भेद से अनुष्ठान करने के लिए है।

प्रथमस्य वा कालवचनम् ॥२१॥

अथवा, प्रातःकाल का विधान प्रथम पुरोडाश के लिए है, दोनों के लिए नहीं।

फलैकत्वादिष्टिशब्दो यथान्यत्र ॥२२॥

एक फल का उपदेश होने से इष्टि शब्द में एकवचन का प्रयोग है, जैसा अन्यत्र भी उपलब्ध होता है।

वसाहोमस्तन्त्रमेकदेवतेषु स्यात् प्रदानस्यैककालत्वात् ॥२३॥

एक देवता प्रजापति=परमात्मा की प्रीत्यर्थ जो पशु का दान दिया जाता है उसमें वसाहोम=पुष्टपशु का दान एक ही बार करना चाहिए, क्योंकि प्रदान का समय एक ही होता है।

कालभेदात्त्वावृत्तिर्देवता भेदे ॥२४॥

और, समय और देवता का भेद होने से भेद से अनुष्ठान करना चाहिए।

अन्ते यूपाहुतिस्तद्वत् ॥२५॥

पूर्व०—नाना देवताओं में वसाहोम जैसे भेद से होता है, वैसे ही अन्त में यूपाहुति भी भेद से करनी चाहिए।

इतरप्रतिषेधो वा अनुवादमात्रमन्तिकस्य ॥२६॥

सि०—यह आहवनीय-प्रतिषेध है, अन्तविधि नहीं है, अतः भेद से नहीं करनी चाहिए। यह तन्त्र है।

अशास्त्रत्वाच्च देशानाम् ॥२७॥

और, देश का विधान न होने से भी यूपाहुति तन्त्र है।

अवभृथे प्रधानेऽग्निविकारः स्यान्न हि तद्धेतुरग्निसंयोगः ॥२८॥

पूर्व०—अवभृथ में प्रधान कर्म में अग्नि का विकार होता है, क्योंकि अग्नि के साथ प्रधान हेतुक-अङ्गों का संयोग नहीं है।

द्रव्यदेवतावत् ॥२९॥

जैसे द्रव्य (कपाल) और देवता (वरुण) प्रधान कर्मों में विहित हैं, वैसे ही आपः =जल भी प्रधान कर्मों में विहित हैं, अवभृथ कर्म के साथ अङ्गों का सम्बन्ध नहीं है।

साङ्गो वा प्रयोगवचनैकत्वात् ॥३०॥

सि०—अङ्गसहित प्रधान कर्म 'आपः' में कर्तव्य हैं, क्योंकि प्रयोगविधि में एकत्व पाया जाता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥३१॥

तथा, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

शब्दविभागाच्च देवतापनयः ॥३२॥

अवभृथ शब्द द्वारा विभाग होने से द्रव्य देवता का अपनय होता है, अतः अङ्गों के साथ उसका सम्बन्ध नहीं है।

दक्षिणेऽग्नौ वरुणप्रघासेषु देशभेदात्सर्वं विक्रियते ॥३३॥

सि०—वरुणप्रघास याग में दक्षिणाग्नि में देशभेद होने के कारण सब अङ्गों का अनुष्ठान अलग-अलग करना चाहिए, तन्त्र से नहीं।

अचोदनेति चेत् ॥३४॥

आक्षेप—कर्म का विधान होने से अङ्गों की प्राप्ति ही नहीं है फिर भेद अथवा तन्त्र के विचार का अवकाश ही कहाँ, यदि ऐसा कहो तो—

स्यात्पौर्णमासीवत् ॥३५॥

समा०—अङ्गों की प्राप्ति है, पौर्णमासी के समान।

प्रयोगचोदनेति चेत् ॥३६॥

आक्षेप—प्रयोगविधि है, यदि ऐसा कहो तो—

तथेह ॥३७॥

समा०—उसी प्रमाण से यहाँ भी है।

आसादनमिति चेत् ॥३८॥

आक्षेप—'मारुति' याग में आसादन है, यदि ऐसा कहो तो—

नोत्तरेणैकवाक्यत्वात् ॥३९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि उत्तरवेदि के साथ एकवाक्यता होने से यह आसादन अदृष्टार्थ नहीं है।

अवाच्यत्वात् ॥४०॥

और, आसादन होमवाच्य नहीं है, अतः प्रयोगविधि नहीं है।

आम्नायवचनं तद्वत् ॥४१॥

वैदिक वचन भी इसी बात की ओर संकेत करता है।

कर्तृभेदस्तथेति चेत् ॥४२॥

आक्षेप—जैसे अङ्गों में भेद होता है, वैसे ही कर्त्ताओं में भी भेद हो जाएगा, यदि ऐसा कहो तो—

न समवायात् ॥४३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि समवाय होने से अङ्गवत् कर्तृभेद नहीं होता। पञ्चत्व होने से कर्त्ता तन्त्र से होते हैं।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४४॥

और, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

वेदिसंयोगादिति चेत् ॥४५॥

आक्षेप—अन्तर्वेदि और बहिर्वेदि के साथ कर्त्ता का सम्बन्ध होने से कर्तृभेद होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न देशमात्रत्वात् ॥४६॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि देशमात्र का विधान होने से होता की स्थिति का ही कथन है।

एकाग्नित्वादपरेषु तन्त्रं: स्यात् ॥४७॥

पूर्व०—अपराग्नीक होम' एक अग्नि में होने से पत्नीसंयाज आदि अपराग्नियाँ भी तन्त्र से अर्थात् एकसाथ होनी चाहिएं।

नाना वा कर्तृभेदात् ॥४८॥

सि०—कर्त्ताओं में भेद होने से कर्म की आवृत्ति है।

पर्यग्निकृतानामुत्सर्गे प्राजापत्यानां कर्मोत्सर्गः श्रुतिसामान्यादारण्यवत्तस्माद्ब्रह्मसाम्नि चोदनापृथक्त्वं स्यात् ॥४९॥

पूर्व०—वाजपेययाग में परमात्मा का स्मरण करके जब पशुओं को छोड़ दिया जाता है, तब यागकर्म का भी उत्सर्ग हो जाता है, श्रुति के विधान से आरण्यवत्। इसी प्रकार ब्रह्मसाम में भी चोदना पृथक्त्व=कर्मान्तर होता है।

संस्कारप्रतिषेधो वा वाक्यैकत्वे क्रतुसामान्यात् ॥५०॥

सि०—एक वाक्य होने और क्रतुसामान्य होने से संस्कार कालमात्र का प्रतिषेध है।

वपानां चानभिघारणस्य दर्शनात् ॥५१॥

और, वपा के अनभिधारण के दर्शन होने से भी संस्कारों का प्रतिषेध होता है।

पञ्चशारदीयास्तथेति चेत् ॥५२॥

आक्षेप—प्राजापत्य के समान 'पञ्चशारदीय' नामक क्रतु में कर्म की अत्यन्त-निवृत्ति नहीं है, यदि ऐसा कहो तो—

न चोदनैकवाक्यत्वात् ॥५३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि अपूर्व कर्म का विधान है, अनेक गुण-विशिष्ट अपूर्व कर्मविधान में एकवाक्यता होने से।

संस्काराणां च दर्शनात् ॥५४॥

तथा, संस्कारों का श्रवण होने से भी दोनों अवस्थाओं में कर्म होना चाहिए।

दशपेये क्रयप्रतिकर्षात्प्रतिकर्षस्ततः प्राञ्चां तत्समानं तन्त्रं स्यात् ॥५५॥

पूर्व०—'दशपेय' नामक एकाह (एक दिनवाले) याग में क्रम का प्रतिकर्ष होने से सोमक्रय के पहले अङ्गों का भी प्रतिकर्ष है, अतः दोनों का समान तन्त्र है।

समानवचनं तद्वत् ॥५६॥

तन्त्र के समान होने से दशपेय और अभिषेचनीय—इन दोनों यज्ञों की समानता भी है।

अप्रतिकर्षो वाऽर्थहेतुत्वात्सहत्वं विधीयते ॥५७॥

सि०—प्रतिकर्ष नहीं है, विशेष प्रयोजन से दोनों के एकसाथ करने का विधान है।

पूर्वस्मिंश्चावभृथस्य दर्शनात् ॥५८॥

पूर्व अर्थात् अभिषेचनीय में अवभृथ का दर्शन भी है।

दीक्षाणां चोत्तरस्य ॥५९॥

'दशपेय' की दीक्षाओं का पृथक् विधान है, अतः दोनों का सह-अनुष्ठान नहीं है।

समानः कालसामान्यात् ॥६०॥

ऋतुरूप काल की समानता होने से समानता उपपन्न होती है, अन्यथा दोनों यागों के अङ्गों का अनुष्ठान तो भेद से ही होता है।

निष्कास्यावभृथे तदेकदेशत्वात्पशुप्रदानविप्रकर्षः स्यात् ॥६१॥

पूर्व०—आमिक्षा का एकदेश होने से अवभृथ में निष्कास के प्रदान का विप्रकर्ष होता है, पशु के समान।

अपनयो वा प्रसिद्धेनाभिसंयोगात् ॥६२॥

सि०—प्रसिद्ध कर्म के साथ निर्देश होने से निष्कास का अपनय होता है, वह भिन्न कर्म है। प्रदान का विप्रकर्ष नहीं होता।

प्रतिपत्तिरिति चेन्न कर्मसंयोगात् ॥६३॥

अन्य शेषत्व होने से निष्कास (तुष) से अवभृथ का अनुष्ठान करना प्रतिपत्तिकर्म है, यदि ऐसा कहो तो, यह कथन ठीक नहीं, कर्म के विद्यमान होने से।

उदयनीय च तद्वत् ॥६४॥

पूर्व०—उदयनीय में भी प्रधान कर्म से तद्वत्=अवभृथ के समान अपूर्व कर्म मानना चाहिए।

प्रतिपत्तिर्वाऽकर्मसंयोगात् ॥६५॥

अथवा, प्रापणीयशेष प्रतिपत्तिरूप कर्म है, उसका निर्वाप के साथ सम्बन्ध होने से।

अर्थकर्म वा शेषत्वाच्छ्रपणवत्तदर्थेन विधानात् ॥६६॥

श्रपण के समान सप्तम्यन्त पद का अर्थ निर्वाप के लिए विहित होने से शेषत्व होने के कारण निष्कास में निर्वाप है, प्रतिपत्ति नहीं है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने एकादशाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

अङ्गानां मुख्यकालत्वाद्वचनादन्यकालत्वम् ॥१॥

अङ्गकर्मों का अनुष्ठान प्रधान कर्म के साथ ही होता है (११.२.७.) परन्तु निर्देश होने पर उनका अनुष्ठान अन्य देश-काल आदि में भी हो सकता है।

द्रव्यस्याकर्मकालनिष्पत्तेः प्रयोगः सर्वार्थः स्यात्स्वकालत्वात् ॥२॥

वसन्तादिरूप स्वकाल में विहित होने से द्रव्य (आधान संस्कृतवह्नि) के अकर्म (प्रधानकर्म से भिन्न) काल में निष्पत्ति का प्रयोग सर्वार्थ (सबके लिए) होता है। इससे समस्त कर्मों के अर्थ में तन्त्र-आधान होता है, एक बार किया हुआ अग्न्याधान सब यज्ञों में काम आता है।

यूपश्चाकर्मकालत्वात् ॥३॥

अनुष्ठान के समय यूप की अनुपपत्ति होने से यूप तन्त्र होता है, क्योंकि वह सबके लिए होता है।

संस्कारास्त्वावर्तेरन्नर्थकालत्वात् ॥४॥

पूर्व०—पशु के नियोजन का अर्थकालत्व होने से यूप के प्रोक्षण, अञ्जन आदि संस्कारों की आवृत्ति होती है।

तत्कालास्तु यूपकर्मत्वात्तस्य धर्मविधानात्सर्वार्थानां च वचनादन्यकालत्वम् ॥५॥

सि०—संस्कारों का अपना काल होता है। वे दीक्षा के समय किये जाते हैं। यूप इनका कार्य होता है और ये यूप के धर्म के रूप में विधान किये गये हैं। यूप सर्वार्थ होता है, यूप में तन्त्रभाव है। विशेष निर्देश होने पर वे संस्कार भिन्न समय में भी किये जा सकते हैं।

सकृन्मानं च दर्शयति ॥६॥

और, सकृत्=एक बार मापने से भी यह सिद्ध होता है कि यूप में तन्त्रभाव है।

स्वरुस्तन्त्रापवर्गः स्यादस्वकालत्वात् ॥७॥

पूर्व०—अग्नीषोमीयतन्त्र से स्वरु (वह पहली चीपटी जो यूप बनाते समय लकड़ी

काटने से निकलती है, इससे पशु को चुपड़ने का काम लिया जाता है) की समाप्ति है, क्योंकि स्वरु का अपना कोई स्वतन्त्र काल नहीं होता।

साधारणो वाऽनुनिष्पत्तिस्तस्य साधारणत्वात् ॥८॥

सि०—जैसे समस्त पशुओं के लिए एक यूप होता है, वैसे ही स्वरु भी एक ही होना चाहिए।

सोमान्ते च प्रतिपत्तिदर्शनात् ॥९॥

और, सोमयाग के अन्त में स्वरु की प्रतिपत्ति=फेंकने का दर्शन होने से भी यह सिद्ध होता है कि स्वरु (तीनों पशुओं के लिए) एक ही होता है।

तत्कालो वा प्रस्तरवत् ॥१०॥

आक्षेप—जैसे प्रस्तर के प्रहरण में सोमान्त काल है, उसी प्रकार स्वरु का भी उतना ही काल है अर्थात् स्वरु की अवधि उतने काल तक है।

न वोत्पत्तिवाक्यत्वात्प्रदेशात्प्रस्तरे तथा ॥११॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। उत्पत्तिवाक्य होने से दर्शपौर्णमास में प्रस्तर-प्रहरण काल का विधान है, स्वरु-प्रहरण का नहीं।

अहर्गणे विषाणाप्रासनं धर्मविप्रतिषेधादन्त्ये प्रथमे वाहनि विकल्पः स्यात् ॥१२॥

पूर्व०—अहर्गणयाग में खुजाने के लिए प्रयुक्त होनेवाले काले सींग को पहले या अन्तिम दिन विकल्प से फेंका जा सकता है, दोनों पक्षों में धर्म का लोप नहीं होता, क्योंकि उसे फेंकने का कोई विशेष विधान उपलब्ध नहीं है।

पाणेस्त्वश्रुतिभूतत्वाद्विषाणानियमः स्यात्प्रातः सवनमध्यत्वाच्छिष्टे चाभिप्रवृत्तत्वात् ॥१३॥

सि०—सींग फेंकने में विकल्प नहीं है। सींग सभी दिनों में पास रहना चाहिए, क्योंकि याग के मध्य में निश्चित कालों में सींग से खुजाना होगा, हाथ से खुजाने का निषेध है, अतः दक्षिणादान के पश्चात् अन्तिम दिन ही सींग को फेंकना चाहिए।

वाग्विसर्गो हविष्कृता बीजभेदे तथा स्यात् ॥१४॥

नाना बीजेष्टि (जिन यज्ञों में अनेक प्रकार के बीजों का प्रयोग होता है) में अन्तिम बार बीज कूटनेवाली हविष्कृत् को बुलाने के पश्चात् वाग्विसर्ग करना (मौन तोड़ना) चाहिए।

पशौ च पुरोडाशे समानतन्त्रं भवेत् ॥१५॥

इसी प्रकार अग्नीषोमीय पशुयाग में जब पुरोडाश तैयार करनेवाली का आह्वान हो चुके तब मौन खोलना चाहिए।

अनियोगः सोमकाले तदर्थत्वात् संस्कृतकर्मणः प्ररेषु साङ्गस्य तस्मात्सर्वापवर्गे विमोकः स्यात् ॥१६॥

पूर्व०—सोमयाग में अग्निसंयोग (अग्नि से यज्ञ का सम्बन्ध जोड़ना) अङ्गसहित प्रधान के लिए होता है। आहुति से संस्कृत हुई अग्नि अङ्गों के लिए भी होने से अन्य अग्नि कार्यों के लिए भी है, अतः सब कर्मों की समाप्ति के पश्चात् उसका विमोक (अग्नि से यज्ञ का सम्बन्ध को तोड़ना) होना चाहिए।

प्रधानापवर्गे वा तदर्थत्वात् ॥१७॥

सि०—यह अग्निविमोक कर्म प्रत्येक प्रधानकर्म के अन्त में होना चाहिए, क्योंकि यह प्रधान के लिए ही होता है।

अवभृथे च तद्वत्प्रधानार्थस्य प्रतिषेधोऽपवृक्तार्थत्वात् ॥१८॥

इसी प्रकार अवभृथ में प्रधान याग का प्रतिषेध है, क्योंकि उद्देश्य की पूर्ति तो पहले ही हो जाती है, अतः प्रधानकर्म के अन्त में ही विमोक सिद्ध होता है।

अहर्गणे च प्रत्यहं स्यात्तदर्थत्वात् ॥१९॥

अहर्गण द्वादशाह में तो प्रतिदिन अग्निसंयोग और अग्निविमोक करना पड़ता है, क्योंकि वह प्रधान के लिए होता है।

सुब्रह्मण्या तु तन्त्रं दीक्षावदन्यकालत्वात् ॥२०॥

पूर्व०—द्वादशाह में उपसद के समय जो सुब्रह्मण्य का आह्वान है, उसमें तन्त्रभाव है। वह एक बार ही होना चाहिए दीक्षा के समान, क्योंकि इसका अपना अलग समय है।

तत्कालस्त्वावर्तेत प्रयोगतो विशेषसम्बन्धात् ॥२१॥

सि०—सुत्याकाल में जो सुब्रह्मण्य का आह्वान है, उसमें तन्त्रभाव नहीं है, उसकी आवृत्ति बार-बार करनी पड़ती है, विशेष पद (अद्य) का संयोग होने के कारण।

अप्रयोगाङ्गमिति चेत् ॥२२॥

आक्षेप—'अद्य' शब्द प्रयोग का अङ्ग नहीं है, यदि ऐसा कहो तो—

स्यात्प्रयोगनिर्देशात्कर्तृभेदवत् ॥२३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि अद्य प्रयोग का अङ्ग है, प्रयोग का निर्देश होने से, कर्त्ता के भेद के समान।

तद्भूतस्थानादग्निवदिति चेत्तदपवर्गस्तदर्थत्वात् ॥२४॥

एक बार आह्वान से संस्कृत देवता सर्वार्थ होता है, अतः उसका पुनः आह्वान नहीं होता इसलिए आवृत्ति नहीं होनी चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्येक कर्म उसी के लिए होने से प्रधानकर्म में अग्निविमोक होता है।

अग्निवदिति चेत् ॥२५॥

आक्षेप—जैसे अग्नि-आधान तन्त्र है, उसी प्रकार यहाँ भी है, यदि ऐसा कहो तो—

न प्रयोगसाधारण्यात् ॥२६॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि सुब्रह्मण्य-आह्वान आधान के तुल्य नहीं है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२७॥

और, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी यही सिद्ध होता है कि सुब्रह्मण्य का आह्वान प्रतिदिन करना चाहिए।

तद्धि तथेति चेत् ॥२८॥

आक्षेप—यूपाहुतिरूप कर्म तन्त्र है, उसी प्रकार यह भी तन्त्र है, यदि ऐसा कहो तो—

नाशिष्टत्वादितरन्यायत्वाच्च ॥२९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि एक तो इसका विधान नहीं है, दूसरे यहाँ इतर अग्निसंस्कार-न्याय ही उपयुक्त है।

विध्येकत्वादिति चेत् ॥३०॥

आक्षेप—द्वादशाहिक विधि तन्त्र-दृष्ट है और यह भी द्वादशाहिक विधि है, अतः विधि की सादृश्यता से यह भी वैसा ही होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न कृत्स्नस्य पुनः प्रयोगात् प्रधानवत् ॥३१॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि जैसे प्रधानकर्म प्रतिदिन किये जाते हैं उसी प्रकार सोमाभिषव आदि अन्य सम्पूर्ण विधियाँ भी पुनः की जाती हैं, अतः आवृत्ति ही है।

लौकिकेषु यथाकामी संस्कारानर्थलोपात् ॥३२॥

पूर्व०—लौकिक पदार्थों (देश, कर्त्ता तथा पात्र) के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है, उनका इच्छानुसार उपयोग किया जा सकता है, क्योंकि उनके यथेच्छ प्रयोग से संस्काररूप अर्थ का लोप नहीं होता।

यज्ञायुधानि धार्येरन्प्रतिपत्तिविधानादृजीषवत् ॥३३॥

सि०—यज्ञ के पात्रों को तो जीवनपर्यन्त धारण करना (काम में लाना) चाहिए, क्योंकि ऋजीष (साररहित सोम) की भाँति परिधानीय कर्म में उनकी प्रतिपत्ति का विधान है।

यजमानसंस्कारो वा तदर्थः श्रूयते तत्र यथाकामी तदर्थत्वात् ॥३४॥

पूर्व०—वे पात्र यजमान के संस्कार के लिए हैं, क्योंकि वे उसी के लिए श्रूयमाण होते हैं। उसके लिए होने से पात्रधारण में यजमान की इच्छा नियामक है।

मुख्यस्य धारणं वा मरणस्यानियतत्वात् ॥३५॥

सि०—मुख्य अथवा आद्य पात्र को धारण किये रहना चाहिए, क्योंकि मृत्यु का कोई समय निश्चित नहीं है।

यो वा यजनीयेऽहनि म्रियेत सोऽधिकृतः स्यादुपवेषवत् ॥३६॥

आक्षेप—जो यजमान यज्ञ के दिन ही मर जाए, वही इस संस्कार का अधिकारी होता है (उसी का शव पात्रों सहित जलाया जाना चाहिए) जैसे सामान्य यात्री को ही उपवेश का अधिकार होता है।

न शास्त्रलक्षणत्वात् ॥३७॥

समा०—उपवेश का दृष्टान्त उपयुक्त नहीं है, क्योंकि जहाँ शास्त्रलक्षण होता है, वहाँ पर प्रसंयाजी का सम्भव नहीं होता।

उत्पत्तिर्वा प्रयोजकत्वादाशिरवत् ॥३८॥

संस्कार के प्रयोजक होने से मरते समय नये पात्र बनवा लेने चाहिएँ, आशिर-वत् (जैसे आशिर के लिए नवीन गौ का दोहन होता है)।

शब्दसामञ्जस्यमिति चेत् ॥३९॥

आक्षेप—उस स्थिति में यज्ञपात्र शब्द का सामञ्जस्य कैसे होगा (क्योंकि यज्ञ के सम्बन्ध से ही यज्ञपात्र होते हैं), यदि ऐसा कहो तो—

तथाऽऽशिरे ॥४०॥

उसी प्रकार आशिर में भी जो अन्य गौ ली जाती है, वह वृत्तधुक् नहीं होती, यहाँ पर भी शब्द का असामञ्जस्य है।

शास्त्रात्तु विप्रयोगस्तत्रैकद्रव्यचिकीर्षा प्रकृतावथेहापूर्वार्थवद् भूतोपदेशः ॥४१॥

समा०—वहाँ पर शास्त्र से शब्द का असामञ्जस्य है। प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोम में गौ के द्रव्य अर्थात् दूध को यजमान की इच्छा के कारण आशिर में दोहन करते हैं, परन्तु यहाँ अपूर्व अर्थ की विधिवाले यज्ञ-सम्बन्धी पात्र का उपदेश है, अतः पात्रों का धारण ही होता है।

प्रकृत्यर्थत्वात्पौर्णमास्याः क्रियेरन् ॥४२॥

पूर्व०—पात्रों का धारण पौर्णमासी से आरम्भ होना चाहिए, क्योंकि वे पात्र प्रकृति=पौर्णमासी के लिए ही होते हैं।

अग्न्याधेये वाऽप्रतिषेधात्तानि धारयेन्मरणस्यानिमित्तत्वात् ॥४३॥

सि०—मृत्यु-समय के निश्चित न होने से उन पात्रों को अग्न्याधान से ही धारण करना चाहिए, क्योंकि कोई प्रतिषेध नहीं है।

प्रतिपत्तिर्वा यथान्येषाम् ॥४४॥

अथवा, जैसे अन्य द्रव्यों की अवभृथ में प्रतिपत्ति है, उसी प्रकार यज्ञपात्रों और अग्नियों की भी यजमान के शरीर में प्रतिपत्ति है।

उपरिष्टात्सोमानां प्राजापत्यैश्चरन्तीति सर्वेषामविशेषादवाच्यो हि प्रकृतिकालः ॥४५॥

वाजपेययाग में प्राजापत्याहुतियों को सब सोमाहुतियों के पश्चात् देना चाहिए, क्योंकि कोई विशेष निर्देश नहीं है और प्रकृतिकाल आनुमानिक है।

अङ्गविपर्यासो विना वचनादिति चेत् ॥४६॥

आक्षेप—कोई निर्देश न होने से अङ्गों का विपर्यास=क्रम का बाध होता है, यदि ऐसा कहो तो—

उत्कर्षः संयोगात्कालमात्रमितरत्र ॥४७॥

समा०—संयोग होने से परिधि-प्रहरण का उत्कर्ष न्याय है, अन्य स्थान पर तो केवल कालमात्र का बोध है।

प्रकृतिकालासत्तेः शस्त्रवतामिति चेत् ॥४८॥

आक्षेप—प्रकृतिकाल की आसत्ति=समीपता होने से शस्त्रसोमों का ही उपरिष्टात् प्रचार युक्त होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न श्रुतिप्रतिषेधात् ॥४६॥

समा०—श्रुति का बाध होने से उक्त कथन ठीक नहीं है।

विकारस्थान इति चेत् ॥५०॥

आक्षेप—विकारस्थान (उक्थ्य) में प्रचार हो जाएगा, यदि ऐसा कहो तो—

न चोदनापृथक्त्वात् ॥५१॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि सोमयाग और पशुप्रचार पृथक्-पृथक् कर्म हैं।

उत्कर्षे सूक्तवाकस्य न सोमदेवतानामुत्कर्षः पश्वनङ्गत्वाद्यथा निष्कर्षेऽनन्वयः ॥५२॥

पूर्व०—सूक्तवाक के उत्कर्ष में सोम देवताओं का उत्कर्ष नहीं होता, क्योंकि वे पशुयाग के अङ्ग नहीं हैं। जैसा कि पौर्णमासी देवताओं के निष्कर्ष में अमावास्या देवताओं का अनन्वय होता है।

वाक्यसंयोगाद्वोत्कर्षः समानतन्त्रत्वादर्थलोपादनन्वयः ॥५३॥

सि०—सवनीय पुरोडाश में जब अनुयाजों का उत्कर्ष होता है, तब संयोग होने से सूक्तवाक में भी देवताओं का उत्कर्ष होता है। समान तन्त्र और अर्थलोप होने से अनन्वय होता है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने एकादशाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

चोदनैकत्वाद्राजसूयेऽनुक्तदेशकालानां समवायात्तन्त्रमङ्गानि ॥१॥

पूर्व०—एक ही प्रकार का विधान होने से राजसूय याग में जिन अङ्गों का देश और काल उक्त नहीं है, ऐसे अङ्गों का अनुष्ठान तन्त्र से होगा, क्योंकि फल की उत्पत्ति में उनका समवाय=सम्बन्ध है।

प्रतिदक्षिणं वा कर्तृसम्बन्धादिष्टिवदङ्गभूतत्वात्समुदायो हि तन्निर्वृत्या तदेकत्वादेकशब्दोपदेशः स्यात् ॥२॥

सि०—दक्षिणा का भेद होने से प्रत्येक दक्षिणा के साथ कर्त्ता का सम्बन्ध होता है, क्योंकि इन कर्मों में दक्षिणा-भेद श्रूयमाण है, अतः इष्टि के समान कर्त्ता के भेद से अङ्गभेद होता है। फल की उत्पत्ति होने से समुदाय विवक्षित होता है, अतः उसका एक शब्द से उपदेश किया गया है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥३॥

और, अन्य प्रमाणों से भी यही बात सिद्ध होती है कि राजसूययज्ञ के अङ्गों का अनुष्ठान भेद से होगा, तन्त्रभाव से नहीं।

अनियमः स्यादिति चेत् ॥४॥

आक्षेप—प्रत्येक दक्षिणा के साथ कर्त्ता का नियम नहीं है, यदि ऐसा कहो तो—

नोपदिष्टत्वात् ॥५॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि समुदाय के लिए एक ही ऋत्विज के वरण करने का विधान है।

लाघवातिपत्तिश्च ॥६॥

और, ऋत्विक् का एक ही बार वरण करने से कार्य में लाघव=सरलता भी आती है।

प्रयोजनैकत्वात् ॥७॥

प्रयोजन एक होने से भी एक ही बार ऋत्विक् का वरण होना उचित है।

विशेषार्था पुनः श्रुतिः ॥८॥

पुनः श्रुति (दोबारा कहना) विशेष अर्थ को दिखलाने के लिए है।

अवेष्टौ चैकतन्त्र्यं स्याल्लिङ्गदर्शनात् ॥९॥

पूर्व०—अवेष्टि नामक इष्टि में तन्त्रभाव होता है, क्योंकि ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

वचनात्कामसंयोगेन ॥१०॥

सि०—साक्षात् वचन (आदेश) होने से तथा कामना के साथ सम्बन्ध (११.४.२) कथित होने से अवेष्टि में तन्त्रभाव नहीं है। वे अलग-अलग करने होते हैं।

क्रत्वार्थायामिति चेन्न वर्णसंयोगात् ॥११॥

यह इष्टि क्रत्वर्थ है, यदि ऐसा कहो तो—यह ठीक नहीं, ब्राह्मण आदि वर्णों का संयोग होने से। (राजसूय तो क्षत्रिय ही कर सकता है, परन्तु अवेष्टि को तीनों वर्णवाले कर सकते हैं।)

पवमानहविष्वैकतन्त्र्यं प्रयोगवचनैकत्वात् ॥१२॥

पूर्व०—पवमान हवियों में एकतन्त्रता है, प्रयोगवचन एक होने से।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१३॥

और, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी यही सिद्ध होता है।

वचनात्तु तन्त्रभेदः स्यात् ॥१४॥

सि०—वचन से तन्त्रभेद होता है। (अग्न्याधान में जो तीन पवमान आहुतियाँ देनी होती हैं, उन्हें अलग-अलग ही देना चाहिए।)

सहत्वे नित्यानुवादः स्यात् ॥१५॥

सहत्व में नित्यानुवाद होता है।

द्वादशाहे तत्प्रकृतित्वादेकैकमहरपवृज्येत कर्मपृथक्त्वात् ॥१६॥

पूर्व०—द्वादशाह नामक याग में ज्योतिष्टोमरूप प्रकृति के धर्म कर्तव्य होने से एक-एक कर्म दीक्षा और उपसद् सहित प्रति अह (दिन) समाप्त होता है, प्रत्येक कर्म भिन्न होने से।

अह्नां वा श्रुतिभूतत्वात्तत्र साङ्गं क्रियते यथा माध्यन्दिने ॥१७॥

अथवा, अहों (दिनों) की द्वादश=बारह संख्या प्रत्यक्ष श्रुत होने से प्रत्येक प्रधान याग अङ्गों सहित किया जाना चाहिए, माध्यन्दिन के समान।

अपि वा फलकर्तृसम्बन्धात् सह प्रयोगः स्यादाग्नेयाग्नीषोमीयवत् ॥१८॥

अथवा, अङ्गों का सह-प्रयोग है, फल और कर्त्ता का सम्बन्ध होने से, आग्नेय और अग्नीषोमीय याग की भाँति।

साङ्गकालश्रुतित्वाद्वा स्वस्थानां विकारः स्यात् ॥१९॥

सि०—अङ्गों (दीक्षा, उपसद्) सहित प्रधानों की कालश्रुति होने से स्वस्थान की वृद्धि है, स्वस्थानों का विकार होता है।

तदपेक्षं च द्वादशत्वम् ॥२०॥

द्वादश (बारह) संख्या उन (दीक्षा, उपसद् और सुत्या) की अपेक्षा से है।

दीक्षोपसदां च संख्या पृथक् पृथक् प्रत्यक्षसंयोगात् ॥२१॥

दीक्षा और उपसद् की संख्या अलग-अलग है, प्रत्यक्ष संयोग होने से।

वसतीवरीपर्यन्तानि पूर्वाणि तन्त्रमन्यकालत्वादवभृथादीन्युत्तराणि दीक्षाविसर्गार्थत्वात् ॥२२॥

इस प्रकार 'वसतीवरी' पर्यन्त पूर्वतन्त्र है, स्वकाल में विहित होने से और अवभृथ आदि उत्तरतन्त्र हैं दीक्षा-विसर्ग के लिए होने से।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥२३॥

दीक्षा, अह्न और उपसद् के साथ द्वादश का सम्बन्ध होने से अन्यार्थदर्शन भी उपपन्न हो जाता है।

चोदनापृथक्त्वे त्वैकतन्त्र्यं समवेतानां कालसंयोगात् ॥२४॥

आग्नेय और अग्नीषोमीय याग में पृथक्-पृथक् विधान होने पर भी अङ्गों-सहित प्रधान की एकतन्त्रता है, एक काल का संयोग होने से।

भेदस्तु तद्भेदात्कर्मभेदे प्रयोगे स्यात्तेषां प्रधानशब्दत्वात् ॥२५॥

प्रधानकाल का भेद होने से उन-उन प्रधानों के प्रयोग में अङ्गों का भी भेद होता है, उनके प्रधानविधि से विधेय होने के कारण।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥२६॥

इस प्रकार से पत्नीसंयाजान्त अहों का अन्यार्थदर्शन भी उपपन्न होता है।

श्वःसुत्यावचनं च तद्वत् ॥२७॥

'श्वःसुत्यावचनम्' यह लिङ्गवाक्य भी कर्मभेद में प्रमाण है।

पश्वतिरेकश्च ॥२८॥

और, पशु का अतिरेक (अन्तर) भी कर्मभेद को सूचित करता है।

सुत्याविवृद्धौ सुब्रह्मण्यायां सर्वेषामुपलक्षणं प्रकृत्यन्वयाबावाहनवत् ॥२९॥

पूर्व०—सुत्या-विवृद्धि में सुब्रह्मण्य=इन्द्र का आह्वान सब दिवसों का उपलक्षण है। ज्योतिष्टोमरूप प्रकृति में चतुरादि संख्या का अह्न में अन्वय होने से आवाहनवत् (जैसे आग्नेययाग में आह्वान की आवृत्ति है, वैसे ही यहाँ भी है)।

अपि वेन्द्राभिधानत्वात्सकृत्स्यादुपलक्षणं कालस्य लक्षणार्थत्वाद्विभागाच्च ॥३०॥

सि०—मन्त्र इन्द्रवाचक होने से उसका प्रयोग एक ही बार करना चाहिए और

कालवाचक चतुर-ग्रह आदि शब्द लक्षणार्थ होने तथा विभाग न होने से अविकार से प्रयोग होता है।

पशुगणे कुम्भीशूलवपाश्रपणीनां प्रभुत्वात्तन्त्रभावः स्यात् ॥३१॥

प्राजापत्य पशुयाग में कुम्भी, शूल और वपाश्रपणी का प्रभुत्व (कार्यक्षमत्व) होने से तन्त्रभाव होता है।

भेदस्तु सन्देहाद्देवतान्तरे स्यात् ॥३२॥

पूर्व०—भिन्न-भिन्न देवताओं के कारण सन्देह होने से अलग-अलग पात्र होने चाहिएँ।

अर्थाद्वा लिङ्गकर्म स्यात् ॥३३॥

सि०—सह-प्रयोग होने से भेद नहीं होता और एक ही पात्र होने पर उसपर कोई चिह्न लगा देना चाहिए।

अयाज्यत्वाद्वसानां भेदः स्यात्स्वयाज्याप्रदानत्वात् ॥३४॥

पूर्व०—स्निग्ध द्रव्य से ऋग्विशेष-मन्त्रों का उच्चारण करके होम करने के कारण कुम्भीरूप पात्र के भेद बिना अयाज्य होने से भेद है (पृथक्-पृथक् पात्र होने चाहिएँ)।

अपि वा प्रतिपत्तित्वात्तन्त्रं स्यात् स्वत्वस्याश्रुतिभूतत्वात् ॥३५॥

सि०—प्रतिपत्तिरूप कर्म होने से तन्त्ररूप ही कुम्भीपात्र है। 'स्व' सम्बन्धी कोई श्रुति नहीं है। स्वयाज्य अर्ध-ऋचा के अन्त में होतव्य है, इसके लिए कोई भी श्रुति नहीं है।

सकृदिति चेत् ॥३६॥

आक्षेप—यदि 'स्व' श्रुति नहीं है, 'तो एक ही बार' ऐसा बोलना अयुक्त है, यदि ऐसा कहो तो—

न कालभेदात् ॥३७॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, काल का भेद होने से।

जात्यन्तरेषु भेदः पक्तिवैषम्यात् ॥३८॥

भिन्न-भिन्न द्रव्यों के पाक में पात्रों का भेद होगा, क्योंकि सबके पकने का समय अलग-अलग है।

वृद्धिदर्शनाच्च ॥३९॥

पात्रों की वृद्धि (अलग-अलग पात्र) होने के प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

कपालानि च कुम्भीवत्तुल्यसंख्यानाम् ॥४०॥

समान संख्यावाले पुरोडाशों के कपाल तन्त्र हैं, जैसे प्राजापत्यों में कुम्भीतन्त्र होता है।

प्रतिप्रधानं वा प्रकृतिवत् ॥४१॥

सि०—प्रत्येक पुरोडाश के लिए अलग-अलग कपाल होना चाहिए, प्रकृति के समान।

सर्वेषां चाभिप्रथनं स्यात् ॥४२॥

तन्त्रभाव होने पर सब कपालों में पुरोडाश का अभिप्रथन (फैलाना) असम्भव होने से पात्रों का भेद होता है।

एकद्रव्ये संस्काराणां व्याख्यातमेककर्मत्वम् ॥४३॥

व्रीहि आदि एक द्रव्य में अवहनन (कूटना) आदि संस्कार का एक कर्मत्व कह दिया गया है। जहाँ मन्त्र का अर्थ भिन्न-भिन्न होता है, वहाँ उसकी आवृत्ति होती है और जहाँ मन्त्रार्थ एक ही है, वहाँ आवृत्ति निरर्थक है।

द्रव्यान्तरे कृतार्थत्वात्तस्य पुनः प्रयोगान्मन्त्रस्य च तद्गुणत्वात् पुनः प्रयोगः स्यात्तदर्थेन विधानात् ॥४४॥

राजसूयवाली नाना बीज-इष्टि में द्रव्य अलग-अलग होने से मन्त्र भी अलग-अलग पढ़े जाएँगे। प्रथम बीज में मन्त्र के कृतार्थ हो जाने से उसका पुनः प्रयोग होगा। अतिदेश-शास्त्र से विधान होने के कारण तथा तद्गुणत्व होने से मन्त्र का पुनः-पुनः प्रयोग होगा।

निर्वपणलवणस्तरणाज्यग्रहणेषु च एकद्रव्यवत्प्रयोजनैकत्वात् ॥४५॥

पूर्व०—दर्शपौर्णमास में निर्वपण (चार मुट्ठी अन्न निकालना), लवण (बर्हि को काटना), आस्तरण (फैलाना) और आज्यग्रहण (घी निकालने) में द्रव्य के समान तथा एक प्रयोजन होने से एक बार मन्त्रपाठ होना चाहिए।

द्रव्यान्तरवद्वा स्यात्तत्संस्कारात् ॥४६॥

सि०—भिन्न-भिन्न बीज के अवहनन के समान संस्कार्य द्रव्य में भेद होने से मन्त्रों की आवृत्ति होती है, अर्थात् उपर्युक्त चारों कर्मों में मन्त्र बार-बार पढ़े जाएंगे।

वेदिप्रोक्षणे मन्त्राभ्यासः कर्मणः पुनः प्रयोगात् ॥४७॥

पूर्व०—वेदि के प्रक्षालन में मन्त्र की आवृत्ति होनी चाहिए, कर्म के पुनः-पुनः होने से।

एकस्य वा गुणविधिर्द्रव्यैकत्वात्तस्मात्सकृत्प्रयोगः स्यात् ॥४८॥

सि०—वेदि का तीन बार प्रक्षालन (धोना) गौण विधि है, अतः मन्त्र एक ही बार पढ़ा जाएगा, क्योंकि वेदिरूप द्रव्य एक ही है।

कण्डूयणे प्रत्यङ्गं कर्मभेदात् स्यात् ॥४९॥

पूर्व०—अङ्गों के खुजाने में मन्त्र की आवृत्ति होनी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक अङ्ग को खुजाना एक भिन्न कर्म है।

अपि वा चोदनैककालमेककर्म्यं स्यात् ॥५०॥

सि०—अङ्ग खुजाने का मन्त्र एक ही बार पढ़ा जाएगा, विधिकाल एक होने से यह एक ही कर्म है।

स्वप्ननदीतरणाभिवर्षणामेध्यप्रतिमन्त्रणेषु चैवम् ॥५१॥

इसी प्रकार स्वप्न, नदीतरण, अभिवर्षण तथा अमेध्य दर्शन में मन्त्र की अनावृत्ति है, मन्त्रपाठ एक ही बार होगा।

प्रयाणे त्वार्थनिर्वृत्तेः ॥५२॥

दीक्षित मनुष्य के कहीं प्रस्थान करने पर मन्त्र एक ही बार बोला जाएगा।

उपरवमन्त्रस्तन्त्रं स्याल्लोकवत् बहुवचनात् ॥५३॥

पूर्व०—उपरव (गढ़ा खोदने का) मन्त्र तन्त्रभाव से पढ़ा जाएगा, लौकिक व्यवहार के समान, बहुवचन होने के कारण।

न सन्निपातित्वादसन्निपातिकर्मणां विशेषग्रहणे कालैकत्वात्सकृत् वचनम् ॥५४॥

सि०—तन्त्रभाव नहीं होगा। प्रत्येक गढ़े को खोदते हुए मन्त्र बार-बार पढ़ना होगा। उपरवमन्त्र अनुष्ठेय क्रिया में सीधा सहायक है। जो कर्म क्रिया में सीधे सहायक नहीं होते वहीं तन्त्रभाव से कर्म होता है, काल की एकता होने के कारण।

हविष्कृदध्रिगुपुरोऽनुवाक्यामनोतस्यावृत्तिः कालभेदात्स्यात् ॥५५॥

हविष्कृत, अध्रिगु-प्रैष, पुरोनुवाक्या और मनोता मन्त्रों की भी आवृत्ति होती है, काल का भेद होने से।

अध्रिगोश्च विपर्यासात् ॥५६॥

और, अध्रिगु-प्रैष के मन्त्रों की तो विपर्यास के कारण भी आवृत्ति होती है।

करिष्यद्वचनात् ॥५७॥

'करिष्यत्' (आरभध्वम्) इस वचन से भी अध्रिगु-प्रैष की आवृत्ति सिद्ध होती है।

॥ इतिपूर्वमीमांसादर्शने एकादशाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

॥ इति एकादशोऽध्यायः ॥

द्वादशोऽध्यायः

प्रथमः पादः

ग्यारहवें अध्याय में तन्त्र का वर्णन हुआ। अब बारहवें अध्याय में 'प्रसङ्ग' का विवेचन होगा। एक स्थान पर किया गया कोई कार्य जब अन्य स्थान पर भी लाभदायक होता है (जैसे एक घर में जलाया हुआ दीपक जब बाहर सड़क पर भी प्रकाश करता है) तब उसे 'प्रसङ्ग' कहते हैं।

तन्त्रिसमवाये चोदनातः समानामेकतन्त्रत्वमतुल्येषु तु भेदः स्यात्
विधिप्रक्रमतादर्थ्यात्तादर्थ्यं श्रुतिकालनिर्देशात् ॥१॥

प्रधान तन्त्रों के समवाय में एक देश, काल, कर्तृत्व होने पर विधिवाक्य से निर्दिष्टों का एक तन्त्र होता है और जो विभिन्न विधिबोधित कर्म हैं, वहाँ भेद होता है, क्योंकि श्रुति से प्रयोगारम्भ काल के भेद का निर्देश होने से अङ्गों के अनुष्ठान का क्रम तादर्थ्य होता है।

गुणकालविकाराच्च तन्त्रभेदः स्यात् ॥२॥

गुण और काल का विकार होने से भी तन्त्रभेद होता है।

तन्त्रमध्ये विधानाद्वा मुख्यतन्त्रेण सिद्धिः स्यात्तन्त्रार्थस्याविशिष्टत्वात् ॥३॥

सि०—एक मन्त्र के मध्य में विधान होने से मुख्य तन्त्र द्वारा सबकी सिद्धि हो जाती है, क्योंकि अर्थ की अविशिष्टता होती है।

विकाराच्च न भेदः स्यादर्थस्याविकृतत्वात् ॥४॥

और, अङ्गजनित उपकार के अविकृत होने से विकार के कारण भी भेद नहीं होगा।

एकेषां चाशक्यत्वात् ॥५॥

तथा, कुछ अङ्गों में भेद होने से अनुष्ठान हो ही नहीं सकता।

एकाग्निवच्च दर्शनम् ॥६॥

और, पशु तथा पुरोडाश का एकाग्निवत् दर्शन भी होता है।

जैमिनेः परतन्त्रत्वापत्तेः स्वतन्त्रप्रतिषेधः स्यात् ॥७॥

आचार्य जैमिनि के मत में परतन्त्रापत्ति (पर-तन्त्र की प्राप्ति होने) से स्वतन्त्र का प्रतिषेध होता है। (पाशुकतन्त्र पर-तन्त्र है, अतः पशुपुरोडाश में दो आहुतियाँ देनी चाहिएँ।)

नानार्थत्वात्सोमे दर्शपूर्णमासप्रकृतीनां वेदिकर्म स्यात् ॥८॥

पूर्व०—सोमयाग में जिसकी प्रकृति दर्शपौर्णमास है, उनके लिए अलग वेदि बनवानी चाहिए, भिन्न-फल होने से।

अकर्म वा कृतदूषा स्यात् ॥९॥

सि०—अलग वेदि नहीं बनवानी चाहिए। अलग वेदि बनवाने से लौकिक वेदि दूषित हो जाएगी।

पात्रेषु च प्रसङ्गः स्याद्धोमार्थत्वात् ॥१०॥

पूर्व०—होम के ग्रह-चमस आदि पात्रों में 'प्रसङ्ग' से कार्य होना चाहिए, क्योंकि वे पात्र होम के लिए ही होते हैं।

न्याय्यानि वा प्रयुक्तत्वादप्रयुक्ते प्रसङ्गः स्यात् ॥११॥

सि०—दर्शपौर्णमास के पात्रों का ज्योतिष्टोम में प्रयोग उचित है, क्योंकि वे पहले से ही प्रयोग में विद्यमान थे। उनका प्रयोग न होने पर ही वे प्रसङ्ग से प्रयुक्त हो सकते हैं।

शामित्रे च पशुपुरोडाशो न स्यादितरस्य प्रयुक्तत्वात् ॥१२॥

शमित्र अग्नि में पशु-पुरोडाश का पाक नहीं होता, क्योंकि उसके लिए शाला-मुख्य (गार्हपत्य) अग्नि पहले ही तैयार होती है।

श्रपणं चाऽग्निहोत्रस्य शालामुखीये न स्यात्प्राजहितस्य विद्यमानत्वात् ॥१३॥

तथा, अग्निहोत्र हविष् का पाक शालामुखी अग्नि में नहीं होगा, क्योंकि प्राजहित (गार्हपत्य) अग्नि पहले से ही विद्यमान है।

हविर्धाने निर्वपणार्थं साधयेतां प्रयुक्तत्वात् ॥१४॥

पूर्व०—सोम के आधारभूत दो हविर्धानों (शकटों) से ही पुरोडाश का पाक करना चाहिए, क्योंकि वे निर्वाप के लिए ही हैं और पहले से ही प्रयुक्त हैं।

अप्रसिद्धिर्वाऽन्यदेशत्वात्प्रधानवैगुण्यादवैगुण्ये प्रसङ्गः स्यात् ॥१५॥

सि०—हविर्धान नामक शकट में निर्वाप साधन की असिद्धि है, स्थान भिन्न होने से और प्रधान में वैगुण्य आने के कारण। विगुणता न होने पर ही उनका 'प्रसङ्ग' से प्रयोग हो सकता है।

अनसां च दर्शनात् ॥१६॥

और, 'अनसाम्' (शकट) में बहुवचन होने से भी यही सिद्ध होता है कि (इन दोनों शकटों के अतिरिक्त) शकट होना चाहिए।

तद्युक्तं च कालभेदात् ॥१७॥

और, प्रायणीय आदि इष्टियों में दीक्षा-जागरण अलग-अलग होना चाहिए, क्योंकि वहां कालभेद है।

मन्त्राश्च सन्निपातित्वात् ॥१८॥

तथा, वरुणप्रघास याग में दक्षिण-विहार में प्रतिप्रस्थाता को मन्त्र अलग-अलग बोलने चाहिएँ, क्योंकि वे समीप में उपकारक हैं।

धारणार्थत्वात्सोमेऽग्न्यन्वाधानं न विद्यते ॥१६॥

सोम सम्बन्धी दीक्षणीय आदि में अग्नि-अन्वाधान नहीं होता, क्योंकि अग्न्याधान समाप्तिपर्यन्त धारण के लिए होता है।

तथा व्रतमुपेतत्वात् ॥२०॥

उसी प्रकार सोमयाग में प्रायणीय आदि इष्टियों में दर्शपौर्णमास सम्बन्धी व्रत भी नहीं लेने पड़ते, क्योंकि वे तो पहले ही लिए हुए होते हैं।

विप्रतिषेधाच्च ॥२१॥

और, विप्रतिषेध होने से भी व्रत धारण करने की आवश्यकता नहीं होती।

सत्यवदिति चेत् ॥२२॥

आक्षेप—सत्य बोलना व्रत की भाँति होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न संयोगपृथक्त्वात् ॥२३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, संयोग में भेद होने से।

अहार्यं च पूर्वमिष्टेस्तदर्थत्वात् ॥२४॥

और देवता परिग्रह के लिए अग्नि-अन्वाधान की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि दीक्षणीय [illegible] ि के लिए है।

शेषवदिति चेत् ॥२५॥

आक्षेप—अङ्ग-देवता के लिए ऐष्टिक-अन्वाधान होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न वैश्वदेवो हि ॥२६॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वैश्वदेव पद समग्र देवता के लिए प्रयुक्त होने से अङ्गदेवता भी उसी में आ जाता है।

स्याद्व्यपदेशात् ॥२७॥

आक्षेप—ऐष्टिक अन्वाधान करना चाहिए, क्योंकि उनका भेद से कथन किया गया है।

न गुणार्थत्वात् ॥२८॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वह वर्णन तो केवल स्तुति के लिए है।

सन्नहञ्च वृत्तत्वात् ॥२९॥

पत्नीसंनहन (यजमान पत्नी को वस्त्र पहनाना) भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह पहले ही हो चुका है, अतः यहाँ भी 'प्रसङ्ग' लागू होगा।

अन्यविधानादारण्यभोजनं न स्यादुभयं हि वृत्त्यर्थम् ॥३०॥

दर्शपौर्णमास में अरण्य (वन की वस्तुओं का) भोजन और सोमयाग में ब्राह्मण का पयोव्रत—ये दोनों ही जीवन धारण के लिए होते हैं, अतः अन्य विधान होने के कारण अरण्य भोजन नहीं करना चाहिए, विधिवाक्य से प्राप्त होने पर भी।

शेषभक्षास्तथेति चेन्नान्यार्थत्वात् ॥३१॥

इडा-भक्ष आदि की भी उसी प्रकार निवृत्ति होनी चाहिए, यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं, वह तो होगा, क्योंकि उस भक्षण का उद्देश्य भिन्न है, वह वृत्यर्थ=जीवन-धारण के लिए नहीं होता।

भृतत्वाच्च परिक्रयः ॥३२॥

और, दर्शपूर्णमास में अन्वाहार्य दक्षिणा भी नहीं होनी चाहिए, क्योंकि उनका परिक्रय पहले ही कर लिया गया है।

शेषभक्षास्तथेति चेत् ॥३३॥

आक्षेप—अन्वाहार्य की भाँति शेषभक्ष की भी निवृत्ति है, यदि ऐसा कहो तो—

न कर्मसंयोगात् ॥३४॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, कर्मवाचक द्वितीया विभक्ति का प्रयोग पाये जाने से शेषभक्ष होगा (परन्तु परिक्रय=पारिश्रमिक के रूप में नहीं)।

प्रवृत्तवरणात्प्रतितन्त्रं वरणं होतुः क्रियेत ॥३५॥

कार्यारम्भ होने के पश्चात् वरण होने से प्रत्येक इष्टि में होताओं का वरण होगा।

ब्रह्मापीति चेत् ॥३६॥

आक्षेप—ब्रह्मा का भी प्रत्येक इष्टि में वरण होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न प्राङ् नियमात्तदर्थं हि ॥३७॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्मा का वरण पहले होता है। वरण के पश्चात् ब्रह्मा का कर्म होता है, वह कार्यार्थ ही है।

निर्दिष्टस्येति चेत् ॥३८॥

आक्षेप—ब्रह्मा के द्वारा अमावास्या से पहले दिन वेदि बनाने का निर्देश है, अतः ब्रह्मा भी प्रवृत्त (कार्यारम्भ के पश्चात्) वरण होता है, यदि ऐसा कहो तो—

नाश्रुतत्वात् ॥३९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि परिग्रह का विधान श्रुत नहीं है।

होतुस्तथेति चेत् ॥४०॥

आक्षेप—वरण से पूर्व ब्रह्मा की भाँति होता का भी कोई कार्य नहीं होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न कर्मसंयोगात् ॥४१॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वरण से पूर्व होता का सामिधेनीय कर्म से संयोग होता है।

यज्ञोत्पत्त्युपदेशे निष्ठितकर्मप्रयोगभेदात्प्रतितन्त्रं क्रियेत ॥४२॥

पूर्व०—आतिथ्या इष्टि में जो प्रोक्षण आदि कर्म किये जाते हैं, वे भिन्न प्रयोजन होने से प्रत्येक प्रयोग में अलग-अलग करने चाहिएँ।

न वा कृतत्वात्तदुपदेशो हि ॥४३॥

सि०—नहीं, प्रतिप्रयोग आवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि वे प्रोक्षण आदि तो पहले ही किये जा चुके हैं। यह भी उपदेश है कि आतिथ्या के लिए काटा हुआ बर्हि उपसदों और अग्नीषोमियों में भी काम आता है।

देशपृथक्त्वान्मन्त्रोऽभ्यावर्तेत ॥४४॥

देश-पृथक्त्व (भिन्न-भिन्न देश) होने से मन्त्र की बार-बार आवृत्ति करनी चाहिए।

सन्नहनहरणे तथेति चेत् ॥४५॥

आक्षेप—सन्नहन (बर्हि को बांधने) और हरण (बर्हि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लेजाने) से मन्त्रों की आवृत्ति करनी चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

नान्यार्थत्वात् ॥४६॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। इन मन्त्रों के पाठ अलग-अलग नहीं होंगे। इनमें 'प्रसङ्ग' नियम लागू होगा, क्योंकि स्तरण कर्म तो अलग-अलग हैं, परन्तु सन्नहन और हरण तो साझे की चीज हैं।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वादशाध्यास्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

विहारो लौकिकानामर्थं साधयेत् प्रभुत्वात् ॥१॥

पूर्व०—विहार (गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय) अग्नि लौकिक कर्मों को भी सिद्ध कर सकती है, क्योंकि उसमें सामर्थ्य है।

मांसपाकप्रतिषेधश्च तद्वत् ॥२॥

उसी प्रमाण से विहार-अग्नि में मांस पकाने का भी निषेध है। लौकिक पाक में ही मांस का प्रसङ्ग है, वैदिक कर्मों में नहीं।

निर्देशाद्वा वैदिकानां स्यात् ॥३॥

सि०—विहार-अग्नियों में केवल वैदिक कर्म ही करने चाहिएँ, लौकिक कर्म नहीं। आरम्भ में ही यह निर्देश दे दिया जाता है कि ये अग्नियाँ केवल यज्ञ के लिए हैं।

सति चोपासनस्य दर्शनात् ॥४॥

विहार-अग्नि के विद्यमान होने पर भी 'औपासन' अग्नि का भी दर्शन होता है। इससे यह भी सिद्ध है कि विहार-अग्नि लौकिक कर्मों के लिए नहीं है, यज्ञ के लिए ही है।

अभावदर्शनाच्च ॥५॥

मांस आदि अपवित्र वस्तुओं का विहार-अग्नियों में अभाव दर्शन होने से भी यही सिद्ध होता है कि ये अग्नियाँ लौकिक कर्मों के लिए नहीं हैं।

मांसपाको विहितप्रतिषेधः स्याद् वाऽऽहुतिसंयोगात् ॥६॥

अथवा, यज्ञ[1] के साथ सम्बन्ध होने के कारण जिह्वा के स्वाद के लिए मांसपाक का सख्त विरोध है।

वाक्यशेषो वा दक्षिणास्मिन्नारभ्यविधानस्य ॥७॥

अथवा, यह 'दक्षिणास्मिन्' इस अनारम्भ विधान का वाक्यशेष है।

---

१. यज्ञ एक ऐसा कर्म है जिसमें मनुष्य ही नहीं प्राणिमात्र का भी उपकार होता है, अतः जिह्वा के स्वाद के लिए पशुओं को मारकर पकाना यज्ञ की भावना के सर्वथा प्रतिकूल ही है।

सवनीये छिद्रापिधानार्थत्वात् पशुपुरोडाशो न स्यादन्येषामेवमर्थत्वात् ॥८॥

पूर्व०—सवनीय में पशुपुरोडाश नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह तो यज्ञ में होने-वाले दोषों को दूर करने के लिए होता है और यह कार्य अन्य पुरोडाशों से सम्पन्न हो जाता है।

क्रिया वा देवतार्थत्वात् ॥९॥

सि०—पशुपुरोडाश करना चाहिए, क्योंकि वह देवता के संस्कार के लिए होता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१०॥

तथा, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी इसी अर्थ की सिद्धि होती है।

हविष्कृत्सवनीयेषु न स्यात्प्रकृतौ यदि सर्वार्था पशुं प्रत्याहूता सा कुर्याद्विद्यमानत्वात् ॥११॥

सवनीय पशुपुरोडाश में हविष्कृत् (हवि बनानेवाली) का आह्वान नहीं होगा, क्योंकि वह पशुयाग में आहूत थी। वहाँ विद्यमान होने से वह सब कार्य सम्पन्न कर देगी, क्योंकि प्रकृति में सब कार्यों के सम्पादन के लिए उसका आह्वान किया गया था।

पशौ तु संस्कृते विधानात्तार्तीयसवनिकेषु स्यात्सौम्याश्विन-योश्चापवृक्तार्थत्वात् ॥१२॥

पूर्व०—संस्कृत-पशु में हविष्कृत् का विधान होने से तार्तीय-सवन के पुरोडाशों और सौम्याश्विनो में भेद होने से हविष्कृत् का आह्वान होता है। उस समय में पाशुकी हविष्कृत् कृतार्थ होने से अपवृक्त होती है।

योगाद्वा यज्ञाय तद्विमोके विसर्गः स्यात् ॥१३॥

सि०—तृतीय सवन के पुरोडाश में हविष्कृत् का आह्वान नहीं होता, क्योंकि हविष्कृत् तो यज्ञ की समाप्ति तक वहाँ रहती है। व्रत की समाप्ति के पश्चात् ही उसका विमोक=छुटकारा होता है।

निशि यज्ञे प्राकृतस्याप्रवृत्तिः स्यात्प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥१४॥

पूर्व०—निशियज्ञ में अमावास्या तन्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि यह इष्टि प्रत्यक्षशिष्ट=उपदिष्ट है।

कालवाक्यभेदाच्च तन्त्रभेदः स्यात् ॥१५॥

तथा, काल और वाक्यभेद से तन्त्रभेद होता है।

वेद्युद्धननव्रतं विप्रतिषेधात्तदेव स्यात् ॥१६॥

वेदि-खनन और व्रतग्रहण दर्शेष्टि के समान ही होंगे, अन्यथा होने से विप्रतिषेध=वैगुण्यता हो जाएगी।

तन्त्रमध्ये विधानाद्वा तत्तन्त्रा सवनीयवत् ॥१७॥

सि०—तन्त्र के मध्य में विधान होने से काम्येष्टि दर्श-तन्त्रवाली है, सवनीय-पुरोडाश के समान।

वैगुण्यादिध्माबर्हिर्न साधयेदग्न्याधानं च यदि देवतार्थम् ॥१८॥

निशियाग में दर्शेष्टि के सभी कृत्य प्रसङ्ग-नियम से लागू होते हैं परन्तु इध्म और

बर्हि दोनों नये लाने होंगे तथा अग्नि-अन्वाधान भी अलग से करना होगा, क्योंकि निरूढयाग का देवता अलग है।

आरम्भणीया विकृतौ न स्यात्प्रकृतिकालमध्यत्वात्कृता पुनस्तदर्थेन ॥१६॥

पूर्व०—आरम्भणीया इष्टि विकृति सौर्यादि में नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह प्रकृतिभूत दर्शपौर्णमास के काल में पड़ती है, अतः इसका पहले ही अनुष्ठान हो चुका है। इसे दोबारा करने की आवश्यकता नहीं है। अथवा एक बार आरम्भ-संयोग होने से वह एकारम्भ यावज्जीवन प्रयुक्त होता है।

स्याद्वा कालस्याशेषभूतत्वात् ॥२०॥

सि०—सौर्यादि विकृतियाग में आरम्भणीया इष्टि करनी चाहिए, क्योंकि विहित जो जीवनकाल है, वह प्रकृति का अङ्ग नहीं है।

आरम्भविभागाच्च ॥२१॥

और, आरम्भ का विभाग होने से भी विकृतियों में आरम्भणीया इष्टि करनी चाहिए।

विप्रतिषिद्धधर्माणां समवाये भूयसां स्यात्सधर्मत्वम् ॥२२॥

पूर्व०—जिन प्रधान यागों का अनुष्ठान एक साथ होता है, यदि उनके धर्मों में विरोध हो तो उन्हीं धर्मों का अनुष्ठान होगा जिनका सबसे अधिक यागों में सादृश्य होगा।

मुख्यं वा पूर्वचोदनाल्लोकवत् ॥२३॥

सि०—प्रधानकर्म के धर्मों का अनुष्ठान होना चाहिए, लोकव्यवहार के समान, क्योंकि वह पूर्वपठित है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥२४॥

तथा, ऐसा मानने पर अन्य प्रमाण भी संगत हो जाते हैं।

अङ्गगुणविरोधे च तादर्थ्यात् ॥२५॥

और, जब प्रधान के धर्म तथा अङ्ग के धर्म विरुद्ध हों तो अनुष्ठान प्रधान के ही अनुकूल होगा, क्योंकि अङ्ग प्रधान के लिए ही होते हैं।

परिविद्धं चर्थत्वादुभयधर्मा स्यात् ॥२६॥

परिधि में दोनों (परिधि और यूप) के धर्म घटित होते हैं, अतः परिधि उभय= दोनों धर्मोंवाली है।

यौप्यस्तु विरोधे स्यान्मुख्यानन्तर्यात् ॥२७॥

पूर्व०—जहाँ परिधि और यूप के धर्मों में विरोध हो वहाँ यूप के धर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि वह मुख्य के समीप है।

इतरो वा तस्य तत्र विधानात् ॥२८॥

सि०—वस्तुतः परिधि के धर्मों का अनुष्ठान होगा, पशु-नियोजन (पशु को बाँधना) परिधि में विहित होने से।

उभयोश्चाङ्गसंयोगः ॥२९॥

और, दोनों पक्षों का अङ्ग के साथ सम्बन्ध है, अतः परिधि के धर्मों का अनुष्ठान होगा।

पशुसवनीयेषु विकल्पः स्याद्वैकृतश्चेदुभयोरश्रुतिभूतत्वात् ॥३०॥

पूर्व०—सवनीय पशु में और सवनीय पुरोडाश में 'प्रसङ्ग' से विकल्प होता है। दोनों में अङ्गों का श्रवण न होने से, वे अतिदेश से प्राप्त होते हैं, अतः विकल्प है।

पाशुकं वा तस्य वैशेषिकाम्नानात्तदनर्थकं विकल्पे स्यात् ॥३१॥

सि०—पशु-सम्बन्धी प्रयोग तन्त्री है, विशेष आम्नान=विधान होने से। विकल्प होने पर वह आम्नान निरर्थक हो जाएगा।

पशोश्च विप्रकर्षस्तन्त्रमध्ये विधानात् ॥३२॥

और, पशु के तन्त्र का विप्रकर्ष होने से तन्त्र के मध्य में पुरोडाशों का विधान युक्त होता है। सवनीय पशु और सवनीय पुरोडाश में मुख्य है पशु, अतः उसी के धर्म प्रसङ्ग-नियम से पुरोडाश में भी लागू होंगे, विकल्प नहीं है।

अपूर्वं च प्रकृतौ समानतन्त्रा चेदनित्यत्वादनर्थकं हि स्यात् ॥३३॥

जहाँ प्रकृति और विकृति के तन्त्र समान हों वहाँ विकृति के तन्त्र ही मानने होंगे, क्योंकि नैमित्तिक इच्छा नित्यकर्म की इच्छा को बाँध लेती है।

अधिकश्च गुणः साधारणेऽविरोधात्कांस्यभोजिवदमुख्येऽपि ॥३४॥

साधारण में कोई विरोध न होने पर मुख्य न हो तो भी अधिक गुण का ग्रहण करना चाहिए कांस्यभोजनवत् (कांस्य-पात्र में भोजनव्रत पालनेवाले शिष्यादि के समान)। आग्रयण याग में केवल प्रसूनमय बर्हि का ही ग्रहण करना चाहिए।

तत्प्रवृत्त्या तु तन्त्रस्य नियमः स्याद्यथा पाशुकं सूक्तवाकेन ॥३५॥

पूर्व०—प्रसून-बर्हि के नियम की प्रकृति होने से द्यावा-पृथिवी तन्त्र का नियम है, जैसे सूक्तवाक मन्त्र की प्रवृत्ति से पाशुक तन्त्र का नियम है।

न वाऽविरोधात् ॥३६॥

इतरेतर हवियों से यह धर्म अविरुद्ध है, अतः तन्त्र का नियम लागू नहीं होता।

अशास्त्रलक्षणाच्च ॥३७॥

और, शास्त्र में भी ऐसा कोई विधान नहीं है, अतः तन्त्र का कोई नियम नहीं है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वादशाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

विश्वजिति वत्सत्वङ्नामधेयादितरथा तन्त्रभूयस्त्वादहतं स्यात् ॥१॥

पूर्व०—विश्वजित् नामक याग में वत्सत्वक् पहनने का विधान है, क्योंकि उसका नाम कथन किया गया है। अथवा अहन (दिनों) के भूयस्त्व=अधिक होने से अतिदेश-

शास्त्र द्वारा प्रहत (नये वस्त्र) की प्राप्ति है। यहाँ विकल्प नहीं होगा, नामधेय से प्राप्त वत्सत्वक् (कोई वस्त्र-विशेष) ही पहनी जाएगी।

अविरोधो वा उपरिवासो हि वत्सत्वक् ॥२॥

सि०—दोनों में कोई विरोध न होने से दोनों का समुच्चय होगा, न बाध होगा और न विकल्प। वत्सत्वक् उपरिवस्त्र के रूप में पहना जाएगा।

अनुनिर्वाप्येषु भूयस्त्वेन तन्त्रनियमः स्यात् ॥३॥

पूर्व०—अनुनिर्वाप्य हविष् में प्रहृत-भूयस्त्व से पुरोडाश तन्त्र की प्रसक्ति होनी चाहिए।

आगन्तुकाद्वा स्वधर्मा स्यात् श्रुतिविशेषादितरस्य च मुख्यत्वात् ॥४॥

सि०—श्रुतिविशेष से अनुनिर्वाप्य आगन्तुक (गौण) होते हैं। पशुपुरोडाश मुख्य है, अतः पशुपुरोडाश के ही तन्त्र का अनुष्ठान करना चाहिए।

स्वस्थानत्वाच्च ॥५॥

और, पशुपुरोडाश स्वस्थान में होने से भी पशुपुरोडाश का तन्त्र करना चाहिए।

स्विष्टकृच्छ्रवणान्नेति चेत् ॥६॥

आक्षेप—स्विष्टकृत् का श्रवण होने से पुरोडाश को तन्त्र भाव नहीं हो सकता, यदि ऐसा कहो तो—

विकारः पवमानवत् ॥७॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। वचन से विकार हो जाएगा। पवमानरूप गुण-विधान के समान प्रकृति में भी गुण-विधान है।

अविकारो वा प्रकृतिवच्चोदनां प्रति भावाच्च ॥८॥

अथवा, यहाँ विकार का विधान नहीं है, प्रकृतिवत् अतिदेश होने से अस्विष्ट-कृत्वाला वचन करना चाहिए। चोदना=विधान के प्रति भाव होने से स्विष्टकृत् वचन है।

एककर्मणि शिष्टत्वाद्गुणानां सर्वकर्म स्यात् ॥९॥

एक कर्म=यज्ञ में अनेक गुणों का विधान होने पर सब गुणों का समुच्चय होना चाहिए।

एकार्थस्तु विकल्पेरन् समुच्चये ह्यावृत्तिः स्यात्प्रधानस्य ॥१०॥

यदि सारे गुणों का प्रयोजन एक हो तो गुणों का विकल्प होगा, क्योंकि समुच्चय मानने पर प्रधान कर्म की आवृत्ति माननी पड़ेगी।

अभ्यस्येतार्थवत्त्वादिति चेत् ॥११॥

आक्षेप—उपयोगी होने के कारण प्रधान की भी आवृत्ति होनी चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

नाश्रुतित्वात् ॥१२॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रधान की आवृत्ति का श्रुति में विधान नहीं है।

सति चाभ्यासशास्त्रत्वात् ॥१३॥

और, जहाँ आवृत्ति करने की आवश्यकता है वहाँ शास्त्र में विधान दिया हुआ है।

विकल्पवच्च दर्शयति ॥१४॥

तथा, शास्त्र में एक ऐसा भी निर्देश है, जो विकल्प को सूचित करता है।

कालान्तरेऽर्थवत्त्वं स्यात् ॥१५॥

विकल्प कालान्तर में सफल प्रयोजनवाला होता है।

प्रायश्चित्तेषु चैकार्थ्यान्निष्पन्नेनाभिसंयोगस्तस्मात्सर्वस्य निर्घातः ॥१६॥

अनेक प्रायश्चित्तों में एक प्रयोजन होने से विकल्प होता है। एक प्रयोजन से उत्पन्न होनेवाले निमित्त के साथ प्रायश्चित्त का सम्बन्ध होता है, अतः एक ही प्रायश्चित्त के अनुष्ठान से सब दोषों का नाश हो जाता है, समुच्चय नहीं होता।

समुच्चयस्त्वदोषो निर्घातार्थेषु ॥१७॥

जो प्रायश्चित्त दोषों के निर्घात=नाश के लिए नहीं होते, अपितु निमित्तवाले प्रायश्चित्त हैं, वहाँ समुच्चय होता है।

मन्त्राणां कर्मसंयोगात्स्वधर्मेण प्रयोगः स्याद्धर्मस्य तन्निमित्तत्वात् ॥१८॥

पूर्व०—मन्त्रों का सम्बन्ध कर्म के साथ होने से मन्त्रों का स्वधर्म के साथ ही प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि पाठरूप धर्म पठन के लिए ही होता है।

विद्यां प्रतिविधानाद्वा सर्वकालं प्रयोगः स्यात्कर्मार्थत्वात् प्रयोगस्य ॥१९॥

सि०—अनध्याय (पाठ न करने) का विधान केवल विद्याध्ययन के लिए है, यज्ञ के लिए नहीं। यज्ञ में तो सभी दिनों में पाठ हो सकता है, क्योंकि मन्त्रों का प्रयोजन यज्ञकर्मों के अनुष्ठान के लिए ही है।

भाषास्वरोपदेशेषु ऐरवत्प्रवचनप्रतिषेधः स्यात् ॥२०॥

पूर्व०—भाषिक स्वर के उपदेश से प्रावचन स्वर का प्रतिषेध होता है, जैसे 'इरा' पद के उपदेश से 'गिरा' पद का निषेध होता है।

मन्त्रोपदेशो वा न भाषिकस्य प्रायापत्तेर्भाषिकश्रुतिः ॥२१॥

सि०—यह उपदेशमन्त्र का ही होता है, भाषिक स्वर का नहीं। ब्राह्मण ग्रन्थों में जो भाषिक स्वर दिया गया है, वह तो एकरूपता के कारण है।

विकारः करणाग्रहणे ॥२२॥

किसी कारण का ग्रहण न होने से 'इरा' पद से 'गिरा' पद का विकार युक्त ही है।

तन्न्यायत्वाददृष्टोऽप्येवम् ॥२३॥

पूर्व०—फिर तो इसी न्याय से मन्त्रकाण्ड (वेद) में अदृष्ट मन्त्रों में भी प्रावचन स्वर होना चाहिए।

तदुत्पत्तेर्वा प्रवचनलक्षणत्वात् ॥२४॥

सि०—जो मन्त्र केवल ब्राह्मणग्रन्थों में ही मिलते हैं, और भाषिक स्वर में ही मिलते हैं, उन्हें भाषिक स्वर से ही पढ़ना चाहिए।

मन्त्राणां करणार्थत्वान्मन्त्रान्तेन कर्मादिसन्निपातः स्यात्सर्वस्य वचनार्थत्वात् ॥२५॥

मन्त्र क्रिया को करने के लिए होने से मन्त्रपाठ पूरा होने के पश्चात् कर्म आरम्भ करना चाहिए, क्योंकि पूरा मन्त्र समस्त अर्थ को बतलाता है।

सन्ततवचनाद्धारायामादिसंयोगः ॥२६॥

पूर्व०—वसोर्धारा में मन्त्रपाठ के साथ ही क्रिया आरम्भ होनी चाहिए, 'सन्तत' (एकसाथ) शब्द के विद्यमान होने से।

कर्मसन्तानो वा नानाकर्मत्वादितरस्याशक्यत्वात् ॥२७॥

सि०—'वसोर्धारा' में कर्मों को एकसाथ करने का विधान है, मन्त्रों के साथ क्रिया का विधान नहीं, क्योंकि कर्म अनेक हैं। तथा क्रिया और मन्त्रों का सन्तत संयोग असम्भव है। ('वसोर्धारा' में बारह मन्त्र पढ़े जाने के पश्चात् ही क्रिया आरम्भ होनी चाहिए।)

आघारे च दीर्घधारत्वात् ॥२८॥

आघार में भी दीर्घधारा होने से सन्तत शब्द का संयोग है, कर्म तो मन्त्र के अन्त में ही इष्ट है।

मन्त्राणां सन्निपातित्वादेकार्थानां विकल्पः स्यात् ॥२९॥

यदि कई मन्त्र एक ही यज्ञ के कारण हों तो विकल्प से कोई एक मन्त्र पढ़ना पर्याप्त है, मन्त्रों का समुच्चय नहीं होगा।

संख्याविहितेषु समुच्चयोऽसन्निपातित्वात् ॥३०॥

परन्तु मन्त्रों की संख्या विहित होने पर मन्त्रों का समुच्चय होगा, क्योंकि उन सबसे ही कर्म होगा।

ब्राह्मणविहितेषु च संख्यावत् सर्वेषामुपदिष्टत्वात् ॥३१॥

पूर्व०—फिर तो ब्राह्मणग्रन्थों में विहित सब मन्त्रों का भी समुच्चय होना चाहिए, सबका उपदेश होने से संख्यावत्।

याज्यावषट्कारयोश्च समुच्चयदर्शनं तद्वत् ॥३२॥

और, जैसे याज्या और वषट्कार में समुच्चय दर्शन होता है, उसी प्रकार यहाँ भी समुच्चय है।

विकल्पो वा समुच्चयस्याश्रुतित्वात् ॥३३॥

सि०—ब्राह्मणग्रन्थों में जहाँ विनियोग में कई मन्त्र दिये हों, वहाँ विकल्प होता है, क्योंकि समुच्चय का श्रवण नहीं है।

गुणार्थत्वादुपदेशस्य ॥३४॥

और, ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक मन्त्रों का उपदेश गुणार्थक (विवरण के लिए) है, मन्त्र-प्राप्त्यर्थ नहीं है।

वषट्कारे नानार्थत्वात्समुच्चयः ॥३५॥

वषट्कार के दृष्टान्त में भिन्न-प्रयोजन होने से समुच्चय है।

हौत्रास्तु विकल्पेरन्नेकार्थत्वात् ॥३६॥

पूर्व०—हौत्र-मन्त्रों में विकल्प होना चाहिए, क्योंकि वे सब एक प्रयोजनवाले होते हैं।

समुच्चयो वा क्रियमाणानुवादित्वात् ॥३७॥

सि०—हौत्र-मन्त्रों में समुच्चय है, क्योंकि ये करण-मन्त्र नहीं हैं, अपितु क्रियमाण कर्म के अनुवादक हैं।

समुच्चयं च दर्शयति ॥३८॥

और, शास्त्र से भी यही सिद्ध होता है कि हौत्र-मन्त्रों में समुच्चय है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वादशाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

जपाश्चाकर्मसंयुक्ताः स्तुत्याशीरभिधानाच्च याजमानेषु समुच्चयः स्यादाशीः पृथक्त्वात् ॥१॥

कर्म प्रकाशक-लिङ्ग से शून्य होने के कारण यजमान द्वारा प्रयुक्त जप, स्तुति, आशी और अभिधान (बुलाने) के मन्त्रों का समुच्चय है, क्योंकि आशी आदि कर्म पृथक्-पृथक् हैं।

समुच्चयं च दर्शयति ॥२॥

और, शास्त्र-वचन भी समुच्चय ही बताते हैं।

याज्यानुवाक्यासु तु विकल्पः स्याद्देवतोपलक्षणार्थत्वात् ॥३॥

ऐन्द्रबार्हस्पत्यलिंगिक अनेक याज्यानुवाक्या और पुरोवाक्या युगलों का विकल्प होना चाहिए, क्योंकि वे देवता के स्मरण के लिए हैं।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४॥

तथा प्रमाण उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

क्रयणेषु तु विकल्पः स्यादेकार्थत्वात् ॥५॥

पूर्व०—सोम क्रय करनेवाले द्रव्यों में विकल्प होता है, क्योंकि उन सबका प्रयोजन एक है।

समुच्चयो वा प्रयोगे द्रव्यसमवायात् ॥६॥

सि०—प्रयोग में द्रव्यों का समवाय होने से समुच्चय ही है।

समुच्चयं च दर्शयति ॥७॥

और, शास्त्रवचन से भी समुच्चय सिद्ध होता है।

संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ॥८॥

संस्कार में उसकी प्रधानता होने से भी समुच्चय ही है।

संख्यासु तु विकल्पः स्यात् श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥९॥

संख्या के श्रवण में विरोध होने से संख्याओं में विकल्प होता है।

द्रव्यविकारं तु पूर्ववदर्थकर्म स्यात्तथा विकल्पे नियमः प्रधानत्वात् ॥१०॥

और, द्रव्यविकार में पूर्व अधिकरण के समान विकल्प है तथा विकल्प में नियम है। प्रधानत्व होने से समुच्चय नहीं है, विकल्प ही है।

द्रव्यत्वेऽपि समुच्चयो द्रव्यस्य कर्मनिष्पत्तेः प्रतिपत्तु कर्मभेदावेवं सति यथाप्रकृति ॥११॥

पूर्व०—द्रव्य होने पर भी समुच्चय होना चाहिए, क्योंकि होम-द्रव्य की उत्पत्ति कर्म से होती है। प्रतिपत्तु कर्म का भेद होने से समुच्चय है। इस प्रमाण से प्रकृति के समान होना योग्य है।

कपालेऽपि तथेति चेत् ॥१२॥

आक्षेप—तब तो कपाल में भी समुच्चय मानना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न कर्मणः परार्थत्वात् ॥१३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि कर्म परार्थ होता है।

प्रतिपत्तिस्तु शेषत्वात् ॥१४॥

पूर्व०—शेषत्व होने से प्रतिपत्ति है, अतः समुच्चय होता है।

शृतेऽपि पूर्ववत्त्वात्स्यात् ॥१५॥

आक्षेप—शृत (पके हुए दूध) में भी पूर्व की भाँति प्रतिपत्ति है।

विकल्पे त्वर्थकर्म नियमप्रधानत्वात् शेषे च कर्मकार्यसमवायात्तस्मात्तेनार्थकर्म स्यात् ॥१६॥

समा०—विकल्प में नियमप्रधानत्व होने से अर्थकर्म=विकल्प होता है और शेष में कर्मकार्य के समवाय से अर्थकर्म होता है, अतः विकल्प ही है, प्रतिपत्ति नहीं है।

उखायां काम्यनित्यसमुच्चयो नियोगे कामदर्शनात् ॥१७॥

पूर्व०—उखा में काम्य और नित्य अग्नियों का समुच्चय है, क्योंकि अग्नि के नियोजन (अग्नि को प्रज्वलित रखने) में काम=इच्छा का दर्शन प्राप्त होता है।

असति चासंस्कृतेषु कर्म स्यात् ॥१८॥

और, यदि समुच्चय न माना जाए तो असंस्कृत-अग्नि में कर्म करना पड़ेगा।

तस्य च देवतार्थत्वात् ॥१९॥

तथा, वह अग्नि (नित्य-अग्नि) देवता के लिए होती है, अतः समुच्चय है।

विकारो वा तदुक्तहेतुः ॥२०॥

सि०—नित्य-अग्नि और काम्य-अग्नि का समुच्चय इष्ट नहीं है। नित्य-अग्नि का काम्य-अग्नि से विकार होगा, इसके हेतु पहले (३.६.१०) ही दे दिये गये हैं।

वचनादसंस्कृतेषु कर्म स्यात् ॥२१॥

निर्देश होने से असंस्कृत-अग्नियों में भी कर्म हो सकता है।

संसर्गे चापि दोषः स्यात् ॥२२॥

समुच्चय होने पर प्रादाव्य और वैकारिक अग्नियों के संसर्ग में दोष श्रूयमाण होता है।

वचनादिति चेत् ॥२३॥

आक्षेप—वचन होने से संसर्ग है, यदि ऐसा कहो तो—

तथेतरस्मिन् ॥२४॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि उस प्रमाण से अन्य पक्ष में भी वचन है।

उत्सर्गेऽपि परिग्रहः कर्मणः कृतत्वात् ॥२५॥

नित्य-अग्नि (जो देवता के लिए है, सूत्र १६, उस) के परित्याग करने पर भी कोई दोष नहीं आता, क्योंकि कर्म तो पहले ही निष्पन्न हो चुका है।

स आहवनीयः स्यादाहुतिसंयोगात् ॥२६॥

पूर्व०—काम्य-अग्नि को आहवनीय मानना चाहिए, क्योंकि इसका आहुति के साथ संयोग है।

अन्यो वोद्धृत्याऽऽहरणात् ॥२७॥

सि०—काम्य-अग्नि आहवनीय अग्नि नहीं है, क्योंकि यह अग्नि निकाली गई और लाई गई है।

तस्मिन्संस्कारकर्म शिष्टत्वात् ॥२८॥

पूर्व०—उस वैकारिक अग्नि में आधान आदि संस्कार कर्म करने चाहिएँ, क्योंकि उनका विधान किया गया है, वह सब कर्मों के लिए विहित है।

स्थानाद्वा परिलुप्येरन् ॥२९॥

सि०—असंस्कृत-अग्नि संस्कृत-अग्नि के स्थान में होने से आधानादि संस्कारों का उसमें लोप है :

नित्यधारणे विकल्पो न ह्यकस्मात्प्रतिषेधः स्यात् ॥३०॥

पूर्व०—उखा अग्नि के नित्यधारण में विकल्प है, क्योंकि बिना कारण के प्रतिषेध नहीं हो सकता।

नित्यधारणाद्वा प्रतिषेधो गतश्रियः ॥३१॥

सि०—नित्यधारण होने से गतश्री-अग्नि के लिए प्रतिषेध है।

परार्थान्येको यजमानगणे ॥३२॥

यजमानों के गण में जो परार्थ=दूसरे के लिए कर्म हैं, उन्हें कोई भी यजमान विकल्प से कर सकता है।

अनियमोऽविशेषात् ॥३३॥

अहीन-क्रतु में 'शुक्रस्पर्श' कोई भी यजमान कर सकता है, क्योंकि कोई विशेष नियम नहीं है।

मुख्यो वाऽविप्रतिषेधात् ॥३४॥

अथवा, मुख्य यजमान को ही सत्र में 'धुरूस्पर्श' करना चाहिए, क्योंकि इस विषय में कोई प्रतिषेध नहीं है।

सत्रे गृहपतिरसंयोगाद्धौत्रवत् ॥३५॥

पूर्व०—सत्र में अञ्जन और अभ्यञ्जन संस्कार गृहपति को ही करना चाहिए, हौत्र के समान, क्योंकि अन्य यजमानों का उसके साथ सम्बन्ध नहीं है।

आम्नायवचनाच्च ॥३६॥

गृहपति ही इन संस्कारों को करे, क्योंकि ऐसा करने से गृहपति की समृद्धि होती है। इस विषय में शास्त्रप्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

सर्वे वा तदर्थत्वात् ॥३७॥

सि०—सभी यजमानों को इन संस्कारों को करना चाहिए, क्योंकि वे सभी के लिए हैं।

गृहपतिरिति च समाख्या सामान्यात् ॥३८॥

और 'गृहपति' समाख्या है। गृहपति का प्रयोग समानरूप से सभी यजमानों के लिए है।

विप्रतिषेधे परम् ॥३९॥

विरोध होने पर जो 'पर' होता है, उसी में कार्य होता है। (जहां यजमान तथा ऋत्विज—दोनों का कार्य एकसाथ कराना होता है, वहां ऋत्विजों का ही कार्य होता है।)

हौत्रे परार्थत्वात् ॥४०॥

हौत्र में कर्म परार्थ ही होता है।

वचनं परम् ॥४१॥

जो आम्नान वचन कहा है, वह केवल अर्थवाद है।

प्रभुत्वादार्त्विज्यं सर्ववर्णानां स्यात् ॥४२॥

पूर्व०—सामर्थ्य होने से ऋत्विककर्म सभी वर्णवाले कर सकते हैं।

स्मृतेर्वा स्याद् ब्राह्मणानाम् ॥४३॥

सि०—स्मृति के प्रमाण से ब्राह्मण-वर्ग को ही ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकार है।

फलचमसविधानाच्चेतरेषाम् ॥४४॥

फलचमस का विधान होने से क्षत्रिय और वैश्य को ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकार नहीं है।

सान्नाय्येऽप्येवं प्रतिषेधः सोमपीथहेतुत्वात् ॥४५॥

सोमपायी न होने के कारण भी क्षत्रिय और वैश्य का सान्नाय्य में भी प्रतिषेध है, अतः क्षत्रिय और वैश्य को ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकार नहीं है।

चतुर्धाकरणे च निर्देशात् ॥४६॥

चतुर्धाकरण (पुरोडाश को चार भागों में बाँटने) में भी ब्राह्मण का ही निर्देश होने से भी ब्राह्मण को ही ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकार है।

अन्वाहार्ये दर्शनात् ॥४७॥

अन्वाहार्य दक्षिणा में भी ब्राह्मण का ही अधिकार होने से भी ब्राह्मण को ही ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकार है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वादशाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

॥ इति द्वादशोऽध्यायः ॥

॥ समाप्तं चेदं मीमांसादर्शनम् ॥

मीमांसादर्शनम्

सूत्र-अनुक्रमणिका

* पहली संख्या अध्याय, दूसरी संख्या पाद, तीसरी संख्या सूत्र की है।

१. इन स्थानों पर भी देखें—४-४-३८, ४-४-४१, ५-१-७, ५-२-२०, ६-१-११, ६-१-३८, ६-५-१५, ६-७-१०, ८-१-३१, ८-३-५, ९-२-१८, १०-८-४६, १०-८-५८, ११-१-४४, ११-१-६९, ११-२-५, ११-२-१५, ११-२-२४, ११-४-३, ११-४-२३।

प

□□